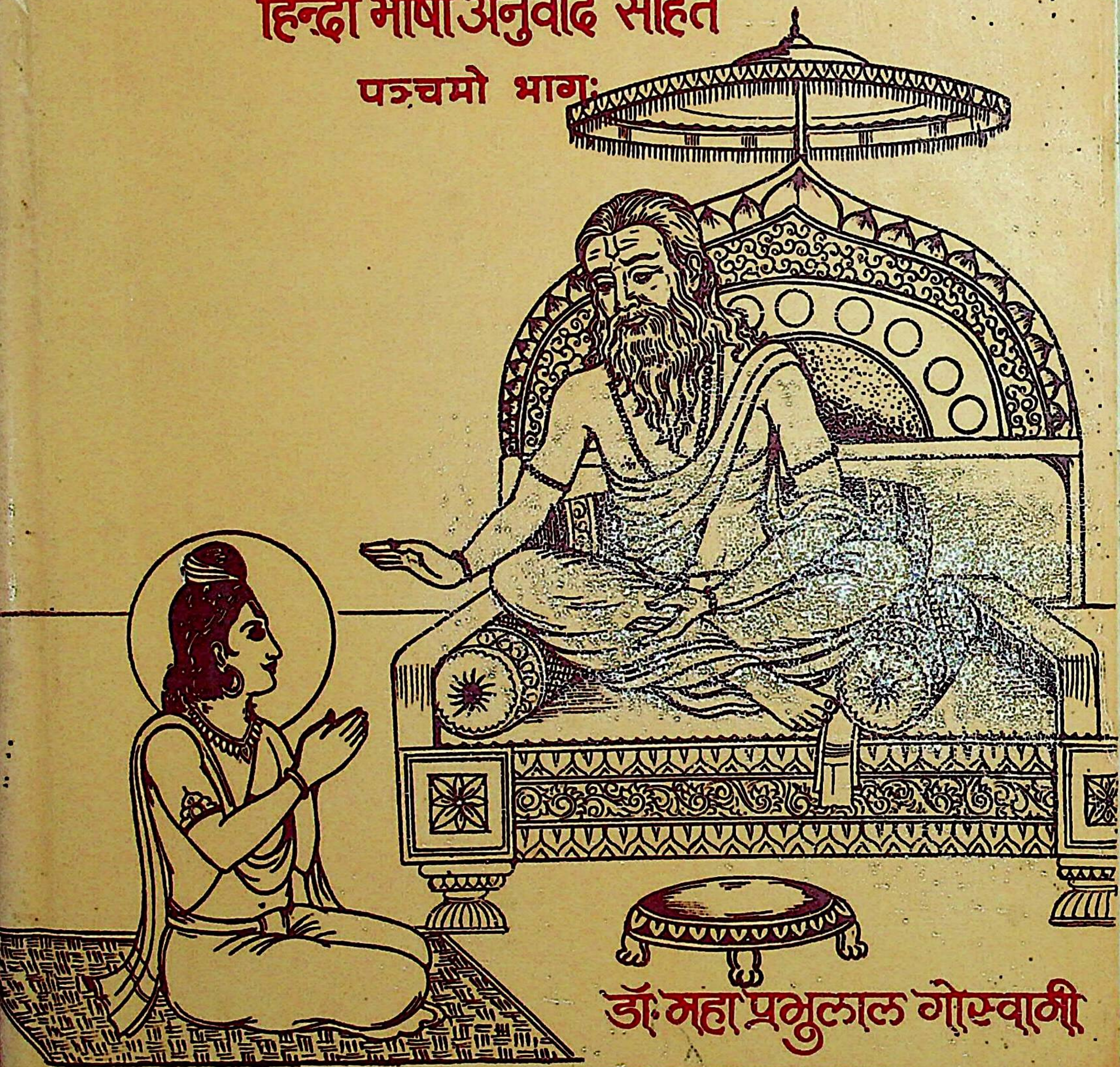
योगवासिष्ठः

हिन्दी भाषा अनुवाद सहित

पञ्चमो भागः



डॉ॰ महा प्रभुलाल गोस्वामी

तारा बुक न्सी

1·2 -Alm

प्रोच्यभारतीग्रन्थमाला—३२
Prācyabhāratīgranthamālā—32

योगवासिष्ठ

हिन्दी अनुवाद सहित

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

Prācyabhāratīgranthamālā—32

YOGAVĀSIṢṬHA

OF

MAHĀKĀVI VALMĪKI

with Hindi Translation KUSUMALATĀ

BY

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI

Volume V

Nirvāṇa Prakaraṇa Uttarārdha (Adhyāyas 72-216)

Tara Book Agency

Varanasi

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—३२

महाकविश्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः

डा० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिविरचितकुसुमलताख्य-
हिन्दीभाषानुवादेन सहितः

पञ्चमो भागः

निर्वाणप्रकरणस्य उत्तरार्धं (अध्यायः ७२-२१६)

तारा बुक एजेंसी
वाराणसी

ISBN 81-85403-86-5

प्रकाशक :
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा
वाराणसी २२१०१०

Published by
Tara Book Agency
Kamacha
Varanasi 221010

प्रथम संस्करणम्, १९९४
मूल्य : रु० २२५.००

First Edition, 1994
Price : Rs. 225.00

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

Printed at
Tara Printing Works
Varanasi

भूमिका

योगवासिष्ठ के चतुर्थ भाग में कुण्डलिनी जागरण का विस्तृत व्याख्यान मनीषियों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। इस अन्तिम भाग में निर्वाण का स्वरूप विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए हैं। आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति के भेद से मुक्ति और उनके साधन में भी भेद सिद्ध होता है। इन चार पुरुषार्थों में धर्म ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। इस अग्रज को यदि भलीभाँति आचरण के द्वारा प्रतिष्ठित न किया जाय तो निश्चित ही इसके तीन अनुज क्रुद्ध हो जाते हैं और उनकी प्राप्ति सर्वथा गगनकुसुम के समान हो जाती है। अतः, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति के लिए धर्म की सेवा अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य भी है। निर्वाण का अर्थ है दुःख या दुःखसाधन से चिरकाल के लिए छुटकारा। इस अवस्था की प्राप्ति में परिपूर्ण शान्ति की प्राप्ति होती है। इसीलिए सभी शास्त्र निर्वाण के लिए साधनों के चिन्तन में सचेष्ट हैं। सार्वभौम अद्वितीय एकतत्त्व की ओर विशेष अनुरक्ति ही मोक्ष का फल है जो सकल जन हितार्थ प्रवृत्ति का साधन है। खण्ड सत्य के आधार पर तो खण्ड वस्तु की प्रियता का चिन्तन होता है। आत्मा का या भगवान् का जो स्वरूप होगा उसी के अनुसार कार्यकलाप रहेगा। जहाँ तक अहं वहीं तक मम और उसी के आधार पर उसके कल्याण का चिन्तन होता है। अतः व्यापक सार्वभौम आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठा कर उसी की परिव्याप्ति होने से, प्राणिमात्र के लिए हित का अनुसन्धान करने की भावना होती है, अब यह विचारणीय है कि निर्वाण ऋषियों और मनीषियों की दृष्टि में किस रूप में व्याख्यात है।

निर्वाण—कतिपय मनीषियों की दृष्टि में इच्छामात्र ही अविद्या है और अविद्या का नाश ही निर्वाण है। "इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते। (महोपनिषद् ४।११६) किसी इच्छा का तनुभाव ही मोक्ष है। "वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते" (महोप० २।४१) यद्यपि तनुभाव शब्द का प्रयोग है, किन्तु यह 'तनु' शब्द नाश अर्थ का बोधक है। निःशेष रूप ने वासना का परित्याग ही मोक्ष कहा है।[1] अनित्य सांसारिक सुख-दुःख एवं अन्य सभी विषयों के प्रति ममतारूप बन्धन का क्षय ही मोक्ष है।[2] बन्धनक्षय ही मोक्ष है।[3] महाभारत में वासना की निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है।[4] भोगवासना का त्याग ही मुक्ति है।[5] पद्मपुराण में सुख-दुःखात्मक कर्म के लय को मोक्ष कहा है।[6] गरुडपुराण में ब्रह्म के साथ ऐक्य को ही मोक्ष कहा है।[7] चरकसंहिता में निःशेष-रूप में वेदना की निवृत्तिरूप अवस्था को ही मोक्ष कहा है।[8] शेषनाग ने अज्ञानमय ग्रन्थिभेद को ही मोक्ष कहा है।[9] अभिनवगुप्त ने अज्ञान ग्रन्थि भेदपूर्वक अभिव्यक्तता को मुक्ति कहा है।[10] सांख्य प्रवचन सूत्र में अविवेक विनाश को ही मुक्ति कहा गया है।[11] सभी कर्मों के क्षय को मोक्ष कहा है। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः (उमास्वाति १०।३) प्रधान दस उपनिषदों में साक्षात् स्पष्ट रूप में मुक्ति का निर्देश न होने पर भी मुक्ति के प्रतिपादक अनेक वाक्य मिलते हैं।

---

१. अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः।
मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः॥ "मोक्षः स्याद् वासनाक्षयः"। (मुक्तिकोप० २।३९, २६८)
२. अनित्यसंसारसुख-दुःखविषयसमस्तक्षेत्रममताक्षयो मोक्षः। (निरालम्बोपनिषद्)
३. बन्धक्षयो मोक्षः। (त्यक्तियोप० पृ० ७८) ४. मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते (महाभा० शा० प० ५)।
५. योगवा० २।३५।३, २। ६. पद्मपुराण उत्तर खण्ड, भा० २०४ श्लोक २३। ७. सा मुक्तिर्ब्रह्मणाचैक्यम्।
८. योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्। मोक्षो निवृत्तिविशेषो योगो मोक्ष-प्रवर्तकः॥ (चरकसंहिता ४।१।११६)
९. अज्ञानमयग्रन्थेर्भेदो यस्तं विदुर्मोक्षम्। (परमार्थसार० पृ० ७२)
१०. अज्ञानग्रन्थभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः। (परमार्थसार० ६४)
११. मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः। (सां० प्र० सू० ६।२०)

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूयाभिद्यते हृदयग्रन्थिः (मुण्डक उ० ३।१।३; २।२।८), निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यते (कठ० उ० ३।१५), तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति । (श्वेताश्वतर० ४।१५) तरति शोकमात्मवित्, अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । (छा० उ० ७।१।३, ८।१२।१) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" (श्वेताश्व० उ० ३।८) एतद्विदुरमृतास्ति भवन्ति" (बृ० उ० ४।४।१४) दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति । वेद के मन्त्र भाग में भी परमपुरुषार्थ के सम्बन्ध में निर्देश मिलता है (ऋग्वेद सं० ७ मण्डल, ५ अष्टक, ४ अध्याय, ५९ सूक्त, १२ मंत्र)। यजुर्वेदसंहिता में भी मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् (शु० यजुर्वे० ३।६०।१) निर्वाण जीव का काम्य है—इसका स्पष्ट निर्देश है। क्योंकि इस मन्त्र से मृत्यु से मुक्ति की कामना की गई है।

निर्वाण का क्रमिक विकास—जीव कहाँ से आया है और कहाँ जाकर क्या प्राप्त कर शोक-दुःख से छुटकारा पायेगा ये प्रश्न मानव को चिन्तापाश में आरम्भ से ही आबद्ध रखता है, इसके समाधान में ऋषियों के विचार की सहस्र धाराएँ नित्य अभिनव परिधान के साथ सम्मुख आ रही है और आती रहेगी साथ में नवीन उत्तरों के साथ। मृत्यु के बाद पुनः दुःख शोक न हो इसी के लिए अग्नि, वरुण, इन्द्र और आदित्य आदि के साथ सायुज्य, सालोक्य या सारूप्य लाभ करना ही निर्वाण है।[1] अनन्तर ब्रह्म को जगत् की सृष्टि का आदि एवं उसकी प्राप्ति ही जीव का एकमात्र लक्ष्य हो गया। देवताओं को सन्तुष्ट करने से ब्रह्मलाभ सम्भव है, अतः, देवता की उपासना के लिए मानव सचेष्ट हो गया। शतपथब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म में प्रवेश का द्वार अग्नि है, इसके द्वारा उपासक ब्रह्म में प्रवेश प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्म के साथ सायुज्य और सालोक्य की प्राप्ति होती है।[2] यह सायुज्य और सालोक्य ही निर्वाण शब्द का अर्थ है। इसीलिए कहा जाता है कि जो ब्रह्म को जानता है उसको मृत्यु का भय नहीं रहता है।

बन्धन—निर्वाण या मोक्ष का अर्थ बन्धन से छुटकारा होता है यदि बन्धन न रहे तो निर्वाण या मुक्त का कुछ अर्थ ही नहीं होगा। जन्म न हो तो मरण ही क्या होगा ?[3] वेद के अनुसार मन की विषयासक्ति ही बन्धन है। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् (ब्रह्मविन्दूप० २) वासना के द्वारा बन्धन ही बन्धन है।

बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्यात् वासनाक्षयः। (मुक्तिक उ० २।६।८) पदार्थों के प्रति दृढ़भावना को ही बन्धन कहा जाता है।

पदार्थ भावना दार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। (महा० उ० २।४१) पदार्थ भावना को पदार्थ वासना भी कहा जा सकता है।

पदार्थ वासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। (योगवसिष्ठ २।३५।३) द्रष्टा को दृश्य की सत्ता का बोध ही बन्धन है। द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते (महा० उ० ४।४७) द्रष्टा का दृश्यभाव ही बन्धन है। "द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्गबन्ध इत्यभिधीयते। (योगवासि० ३।१।२२) आत्मा को देहस्वरूप मानना ही बन्धन है।" देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते। (तेजोविन्दु प० ५।९०) अनात्मा देह आदि में आत्मा का अभिमान ही आत्मा का बन्धन है। "अनात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमान आत्मानो बन्धः (सर्वोप० १) विषयव्यसन युक्त तृष्णा ही बन्धन है और सर्व विषय व्यसननिर्मुक्ति ही मुक्ति है।[4] तृष्णा कहने से विषय व्यसन वासना की अवगति होती है, इसलिए शुद्ध तृष्णा को ही बन्धन कहा गया है। जीव संसार में बाह्य पदार्थ रूप, रस, विषय

---

१. In this times this was the Gods, and this union with the Gods after death was the supreme wish of the ancient vedic rishis, in order to attain fellowship (sayujjyam), companionship (salokya), community of being (sarupya) with Agni, Varuna, Indra, Aditya etc. (Deussen the Philosophy of the Upanishad published 1908. p. 312.

२. शतपथब्राह्मण ११।४।१।

३. बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता। मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मुक्तिर्न च (तेजोबिन्दु-प० ५।२४)

४. योगवासिष्ठ ५।१७।५।

आदि को सत्य मानकर बद्धमनोरथ होकर अवस्थान करता है—यही उनका बन्धन है। यह बन्धन ही सुदृढ़ संसार की शृङ्खला है। "तं बन्धमाहुराचार्याः संसारनिगडं दृढम्" (योगवा० ५।१७।३) भोग की इच्छा बन्धन है विषय या जगत् के भोग की बात कही गयी है। इस जगत् के भोग का त्याग या नाश को ही मुक्ति कहा गया है (भोगेच्छा मात्र को बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। (यो० ४।३५।३) उमास्वाति ने कहा है 'रागद्वेषादिकषाययुक्त हो जीव कर्मयोग्य पुद्गल का ग्रहण कहता है। पुद्गल शब्द का अर्थ जीव भाव को उत्पन्न करने वाला मन होता है यह पुद्गल ग्रहण ही बन्धन है और इसका त्याग मोक्ष है'। "सकषायत्वात् जीवः कर्मण्ये योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते, सम्बन्धः" (तत्त्वार्थाधिगम पृ० ८२-३), प्रकारान्तर के न रहने के कारण अविवेक ही बन्धन है (सां० प्र० भा० ६।१) अर्थात् प्रकारान्तर के असम्भव होने से सुख दुःखादिगुण धर्म का निर्गुण आत्मा के धर्म के रूप में ज्ञान ही बन्धन है और बन्धन ही जीव के दुःख का कारण है।

दुःख—शरीर ही आत्मा है—यह सङ्कल्प ही दुःख है। देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते। (तेजोवि० ५।९१) विषय संकल्प ही दुःख है। "विषयसङ्कल्प एव दुःखम् (निराल० उ०) अतः यह सिद्ध होता है कि बन्धन ही दुःख है। गीता में जन्म, मृत्यु और जरावस्था को दुःख कहा गया है। "जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते" (गीता, १४।२०)। वस्तुतः जन्म और मृत्यु ही जीव का यथार्थ बन्धन है, अतः इसका नाश ही मुक्ति है। बाधना स्वरूप ही दुःख है "बाधनालक्षणं दुःखम्" (न्यायद० १।१।२१)। बाधना शब्द का अर्थ पीड़ा या ताप होता है। दुःख से उत्पीड़ित होकर ही जीव दुःख के नाश की चेष्टा करता है (सांख्याका० १-४)। दुःख का आत्यन्तिक नाश ही मुक्ति है। प्रतिकूल वेदनीय दुःख है—इस प्रकार अनेक व्याख्यायें दुःख की दार्शनिकों ने की है।

मुक्ति को अपर पर्याय कैवल्य, निर्वाण, निःश्रेयस्, अमृत, अपवर्ग, अपुनरावृत्ति, स्वरूपप्राप्ति, ब्रह्म भवन, प्रत्यय, संज्ञानाश, आदि क्रिया है। किन्तु योगवासिष्ठ में निर्वाण शब्द का प्रयोग किया गया है। निर्वाण शब्द का निर्वाचन निर्वाणोऽवाते इससे होता है। बौद्धों ने निर्वाण की दीपनिर्वाण से तुलना की है जैसे दीप को बुझाने पर उसको कभी भी देखा नहीं जा सकता है, वैसे ही जोवत्व का अवसान करने पर उस जीव को पुनः खोजना सम्भव नहीं है। बौद्धों की दृष्टि में जीव के अवसान के कुछ भी अवशेष नहीं रहता है। वैदिकों दर्शनिकों की दृष्टि में जीव के अवसान होने पर भी निःशेष रूप में उसकी समाप्ति नहीं होती है वरन् सशेष निर्वाण को ही अवगत कराता है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मनिर्वाण या ब्रह्मलय समझते हैं। ब्रह्मनिर्वाण होने से जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है क्योंकि जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है। अविद्या के नाश से ब्रह्म की जो स्वरूप स्थिति है, उसी को ब्रह्म निर्वाण कहा जाता है। भेदाभेदवादी के मत में निवार्ण के अर्थ में ब्रह्मलय अवगत होता है, क्योंकि उनके मन में स्वरूपतः जीव ब्रह्म नहीं था मुक्ति में ब्रह्म हुआ। वैष्णवों के सिद्धान्त में निर्वाण को अद्वैती के अनुसार सशेष निर्वाण कहने पर भी ब्रह्मलय निर्वाण नहीं है। क्योंकि, मुक्ति होने पर भी उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्नरूप में रहता है। उनके मत में जडदेह का निर्वाह या प्राकृत शरीर का अभाव ही अवगत होता है। "अभावाज्जडदेहस्य विष्णु निर्वाण उच्यते (मध्वाचार्य ग्रन्थावली पृ० ६९४-१)। वैष्णवों के मत में मुक्त जीव वैकुण्ठ या गोलोक में रहता है, किन्तु उनका व्यक्तित्व रहता है। गोलोक प्राप्ति ही निर्वाण है। जीव अनात्म समूह की आत्मस्वरूप में ग्रहण करता है, अनात्म वर्ग का अत्यन्तिक रूप में वर्जन ही अपवर्ग है। आत्मा से अतिरिक्त ही अनात्म वर्ग है। न्याय दर्शन में अनात्म वर्ग मिथ्याज्ञान दोष प्रवृत्ति, जन्म एवं दुःख है, इनका आत्यन्तिक त्याग ही अपवर्ग है।

मुक्त जीव का स्वरूप—वैष्णवाचार्य रामानुज के मत में प्रत्यगात्मा = जीव दहराकाश=ब्रह्म के अनुकरण में अपहतपाप्मत्वादि गुण सम्पन्न होता है और बन्धन विमुक्त होता है, किन्तु, दहराकाश=ब्रह्म नहीं होता है'। श्रुति के द्वारा दहराकाश शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, क्योंकि अनुकरण करनेवाला कभी अनुकृत के साथ एक नहीं होता है। मुक्तजीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है किन्तु एक नहीं होता है ब्रह्मणोभावः न तु स्वरूपैक्याम् (ब्रह्मसूत्र श्रीभा०

१. ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य १।३।२१

१।१।१)। मुक्ति में जीव-जीव ही रहता है, भोग में ब्रह्मसाम्य प्राप्त करता है। जीव वैकुण्ठ में जाकर दासरूप में अवस्थित भगवान् की लीला का सहचर हो असीम आनन्द को प्राप्त करता है, देहाभिमान ही मुक्ति विरोधी है, जीव का व्यक्तित्व मुक्तिविरोधी नहीं है, अन्य वैष्णवों का भी इस अंश में बहुत साम्य है।

सांख्यमत में मुक्तजीव का व्यक्तित्व रहता है, वैष्णवों के समान शरीर मन आदि रहता है—यह नहीं मानते हैं। जैनदार्शनिक भी यह मानते हैं कि मुक्तजीव सिद्धशील में जाते हैं। वहाँ व्यक्तित्व और देहमन आदि से युक्त होकर वहाँ निवास करते हैं।

आचार्य शंकर ने जीव को स्वरूपतः परब्रह्म किन्तु संसारदशा में वह आत्मविस्मृत रहता है और इस विस्मृति का कारण अविद्या है। ब्रह्मज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति होनेपर जीव ब्रह्म हो जाता है (मुण्डक उ० सा० भा० ३।२।९) क्योंकि इनके मत में वास्तविक दृष्टि से ब्रह्म से अतिरिक्त कोई द्वितीय सद्वस्तु है। निर्मल जल को दूसरे निर्मल जल में डालने पर वह एकाकार हो जाता है। वैसे ही आत्मा के एकत्व द्रष्टा व्यक्ति की आत्मा भी ब्रह्म ही हो जाती है (कठ० उ० २।१।१५)। अतः अद्वैतवादि के मत में युक्तजीव का व्यक्तित्व एवं शरीर मन आदि नहीं रह सकता है।

प्रत्यभिज्ञावादि के मत में युक्ति में जीव परम शिव के साथ एक हो जाता है। इसलिए इस मत में भी युक्त जीव का व्यक्तित्व नहीं रह जाता है। वीरशैववादि के मत में मुक्त जीव नवीन रूप प्राप्त करता है क्योंकि जो जीव बन्धन दशा में ब्रह्म नहीं था किन्तु मुक्त होने पर ब्रह्म हो जाता है। इसलिए इस मत में भी मुक्त जींव का व्यक्तित्व नहीं रह जाता है। भेदाभेदवादि आचार्य भास्कर के मत में जीव और ब्रह्म का भेदाभेद औपाधिक है। मुक्ति में बुद्धि आदि जो उपाधि है उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः जीव ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। शुद्ध जल बिन्दु जैसे शुद्ध जल मिल जाता है, घन के टूटने पर घटाकाश जैसे महाकाश में मिल जाता है वैसे ही मुक्त जीव ब्रह्म से अविभक्त हो जाता है (ब्र० सू० भा० ४।४।३)। अतः इस मत में मुक्त जीव का व्यक्तित्व नहीं रह जाता है। बौद्ध मुक्ति को निःश्रेयस निर्वाण कहते हैं इसलिए इस मत में भी जीव का व्यक्तित्व नहीं रहता। योगवासिष्ठ का सिद्धान्त अद्वैतवाद के अनुरूप है। भेद मिथ्याज्ञानमूलक है। अतः जीव का अस्तित्व नहीं रहता है। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति इस प्रकार है।—

१. सांख्ययोगमत और वैष्णवमत—पूर्वरूप प्राप्ति या स्वरूप प्राप्ति
२. जैनमत—अभिनवस्वरूप प्राप्ति।
३. बौद्धमत—निःशेष निर्वाण दीप के निर्वाण के समान
४. शङ्कर आदि अद्वैतमत सशेषनिर्वाण—ब्रह्म निर्वाण ब्रह्मलय, या ब्रह्मभवन, निर्गुण ब्रह्म प्राप्ति।
५. भास्करमत (भेदाभेदमत)—सगुण ब्रह्मप्राप्ति।
६. वीरशैवमत—नवरूप प्राप्ति की भ्रमर के समान

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—अज्ञाननाश को ही मुक्ति कहा जाता है, इसमें विचारणीय है कि देहनाश के साथ ही अज्ञान का नाश होता है। देह के रहते अज्ञान का नाश नहीं होता है। ब्रह्मज्ञान के होने से अज्ञान का नाश हो जाता है। "ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः" (श्वेताश्वतर उप०-१।१।) अतः ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति है "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" छा० उ०२।२३।१) आचार्य शङ्कर ने कहा है कि तत्त्वज्ञान प्रवृत्त फल कर्म संस्कार का अवलम्बन किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है (ब्रह्म सू० शा० भा० ४।१।१५)। तत्त्वज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग न होने तक शरीरपात नहीं होता है। संस्कार के अनुवर्तन को दार्शनिक परिभाषा में बधितानुवृत्ति कहा जाता है। ज्ञान होने पर भी शरीर का रहना ब्रह्मज्ञानी का अनुभव सिद्ध है (ब्र० सू० शां० भा० ४।१।१५)। इसी को जीवन्मुक्ति कहा जाता है। शरीर के नाश होने पर ब्रह्मलीन या ब्रह्म प्राप्त होने को विदेहमुक्ति कहा जाता है। न्यायवैशेषिक,

सांख्ययोग, तन्त्र, बौद्ध और जैना आदि भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को मानते हैं। वैष्णवाचार्य ने अविद्यानाश को मोक्ष माना है, शरीर अविद्या जन्य है, अतः देह रहने तक अविद्या का नाश नहीं होता है। मुक्ति सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य मानी गई है। इन्हें परममुक्ति को निकृष्ट माना गया है। सूतसंहिता के मत में परममुक्ति ही यथार्थमुक्ति है।

वैदिकमुक्ति—वेद और उपनिषद में अमृतत्व प्राप्ति, ब्रह्मभवन, सर्वभवन, सर्वातीतभवन, व्यक्तित्वलोप, स्वरूप प्राप्ति आदि को ही मुक्ति माना है।

अमृतत्वप्राप्ति—जो वेदोक्त तत्त्व को जानते हैं वे ही अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं। "य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः" (ऋक्संहिता १।६।२३) जो ब्रह्म को जानता है वह सम्यक् स्थित होता है, वह पुनः संसार में नहीं आता है "य इत्तद्विन्दुस्त इमे सभासते" (ऋ० सं० १।११४ ३९) दीर्घतम ऋषि के मत में ब्रह्मज्ञान से ही जीव ब्रह्म में सम्यक स्थिति होने पर वह पुनः संसार में नहीं आता है यही अमृतत्व या मोक्ष है "तमेव विद्वान् न विलाप मृत्योः" (अथर्व सं० १३।८।४४) ब्रह्म को जानकर ऋषिगण मृत्यु से नहीं डरते हैं। इस प्रकार ऋषियों के अनेक वचन संहिता और उपनिषद् में मिलते हैं।

ब्रह्मभवन ही मुक्ति है—ब्रह्म को जानकर जीव ब्रह्म ही हो जाता है। स्वयम्भू ब्रह्मा ने कहा है "प्रथमोत्पन्न की भली-भाँति सेवाकर सर्वभूत को लोक समूह को सभी दिशा और विदिशा को सर्वथा ब्रह्मरूप में जानकर अर्थात् सार्वात्म प्राप्त कर सत्यस्वरूप परब्रह्म से सम्यक् प्रवेश करता है। "परीता भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजा मृतस्यात्मनात्मानमभिसंविशेत्" (वाज सं० मा० शा० १४।७।२।१९), बृ० उ० ४।४।१७)। लोग दिशाओं एवं स्वर्ग को ब्रह्म विस्तार जानकर, उनको सभी तरह से ब्रह्मरूप में जानकर शीघ्र ही उसका दर्शन करता है वही हो जाता है और वही रहता है। "परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परिदिशः परिस्वः। ऋतस्य तस्तं विततं विचृता तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्" (वा० सं० ३२।१२ काण्व सं० ४।५।३।९, तैत्ति० आ० १०।१।१७) इस प्रकार के अनेक श्रुतियों से ब्रह्मभवन का प्रतिपादन किया गया है। "यस्त्वमसि सोऽहमस्मि सत्वमसि", जो तुम हो मैं भी वही हूँ, जो मैं हूँ तुम भी वही हो, तब प्रजापति उसकी अभ्यर्थना करते हैं, वह पुण्य कर्म का परम फल प्रजापति के साथ ऐकात्म्य भाव की प्राप्ति है। योगवासिष्ठ में इसका बहुधा प्रतिपादन किया गया है।

सर्वभवन।—ब्रह्म सर्वात्मक है, अतः ब्रह्मज्ञजीव भी सर्वात्मिता की प्राप्ति करता है। जैमिनीय उ० ब्रा० १ १४।५।५) इसके अनेक उदाहरण है। जैसे ऋषि वामदेव ने सर्वात्मता को प्राप्त किया। उनसे दृष्ट और उपलब्ध तत्त्र ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के २६वे सूक्त में वर्जित है। मैं मनु हुआ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही दीर्घतमा का पुत्र हूँ, मेधावी कक्षिवान् ऋषि हूँ इत्यादि, हे मानव ! सर्वात्मक मुझे देखें। मैं ब्रह्म हूँ मैं सर्वरूप हूँ, (ऋक्सं० ४।२७।१, ऐत० आ० २।५।१)। इस प्रकार के विषय अनेक सूक्तों में उपलब्ध हैं। महर्षि अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् ने सर्वस्वरूपता का प्रतिपादन किया है (ऋ० सं० म० १० सूक्त १२५)।

महर्षि सनत्कुमार ने कहा है कि सर्वदर्शी अर्थात् सभी वस्तुओं में ब्रह्मरूप, अहं या आत्मा का दर्शन करते हैं। सभी को ब्रह्मरूप में देखने के कारण संसार की सभी वस्तुएं प्राप्त हो जाने से किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती है, ब्रह्मरूप में एक रूप हो जाते हैं, सृष्टिकाल में दृष्टि भेद तीन, पाँच, सात और नौ प्रकार होते हैं पुनः वह एकादश, एकाशत और एक सहस्र बीस होते है। "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं स पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः इति" स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः, शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः (छा० उ० ७।२६।२)। इस एकत्व की प्राप्ति होने पर मानव सभी के हित और सुख के लिए जीवन्मुक्त हो सयत्न रहेगा।

सर्वातीत यवनरूप मुक्ति में ब्रह्म ज्ञान से जीव ब्रह्म हो जाता है, सर्वात्मक ब्रह्मज्ञान से जीव सब हो जाता क्योंकि इस रूप में ब्रह्मद्वैतात्मक सजातीय और विजातीय भेदरहित होकर भी स्वगत भेद युक्त होता है, इसीलिए आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मात्मैक्यदर्शन कहा है, कर्म-सहित द्वैतैकात्मदर्शन-सम्पन्न विद्वान् देह के त्याग के बाद जगदात्मत्वया हिरण्यागर्भ स्वरूप को प्राप्त करते हैं (वृ० उ० ३।२।१३)। पुण्य सञ्चय का परमोत्कर्ष द्वैतैकत्वात्म प्राप्ति ही है (वृ० उ० १।२।६)। इसको सप्रपञ्च ब्रह्म भवन ही कहा है। योगवासिष्ठ में इस मत का विशिष्ट वर्णन है। विभिन्न उपनिषदों में इसका वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वातीत अवस्था में सर्वात्मक अवस्था का वर्णन ही श्रुति का उद्देश्य है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा "न प्रेत्य संज्ञास्तीति" (वृ० उ० २।४।१२)। मुक्ति में विशेष विज्ञान नहीं रहता है।

ब्रह्म साम्य भवन—जब द्रष्टा सुवर्ण वर्ण जगत् का कर्ता एवं जगत् के योनि कारण ईश्वर पुरुष ब्रह्म का दर्शन करता है, तब यह विद्वान् पुण्य और पाप का परित्याग कर निरञ्जन हो परम साम्य प्राप्त करता है। (मु० उ० ३।१।३) ऋग्वेद में एक के अर्थ में समान शब्द का प्रयोग होता है (ऋ० सं० १।१६४।२०)। अतः, एकीभाव या एकत्व ही वर्णित है। मुण्डकोपनिषद् में तो "एकी भवन्ति" (३।२।७) कहा है। निरतिशय साम्य अवस्था में ब्रह्म से जीव का कुछ भी भेद नहीं रहता है। "परमं प्रकृष्टं निरतिशयं साम्यम्, समतामद्वयलक्षणं— इत्यादि इसके भाष्य में शङ्कर ने कहा हैं। श्रुति ने समुद्र में गिरी हुई नदी का दृष्टान्त देकर कहा है कि तब ब्रह्म से जीव का कुछ भी भेद नहीं रहता है, जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है (मु० उ० भा० ३।२।८)। पतञ्जलि के योगदर्शन में और योगवासिष्ठ में ऋग्वेद का ब्रह्म साम्य प्रदर्शित किया गया है।

व्यक्तित्वलोप—उपनिषत् में कहा गया है कि मुक्त पुरुष का व्यक्तित्व नहीं रहता है। याज्ञवल्क्य ने कहा है—पञ्चभूतात्मक उपाधि के सम्पर्क में जीव का व्यक्तित्व उत्पन्न होता है। तत्त्वज्ञान होने पर उपाधि के साथ उसका भी विनाश हो जाता है (वृ० उ० २।४।१२, ४।५।१३)। यम ने नचिकेता से कहा—शुद्ध जल में निक्षिप्त शुद्ध जल जिस तरह एक ही जाता है। हे गौतम ! मननशील विज्ञानी पुरुष की आत्मा भी ब्रह्म के साथ एकीभाव प्राप्त करता है (वृ० उ० २।१।१४)। देहारम्भक प्रणादि पन्द्रह कलायें अपने-अपने करण में लीन होते हैं, चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ आदित्यादि अपने प्रति देवता में लीन हो जाते हैं। कर्म एवं विज्ञानात्मा अव्यय परब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त करते हैं (मु० उ० ३।२।६)। नदी का उदाहरण देते हुए समुद्र में प्राप्त नदियाँ अपने नाम और रूप से विमुक्त हो जाती है। इसी तरह परमपुरुषनिष्ठ तत्त्वज्ञानी की भी सोलह कलाएँ परमपुरुष में विलुप्त हो जाती है, नामरूप विनष्ट हो जाने से वह परम पुरुष हो जाता है, वह अंशज्ञानशून्य = पूर्ण और अमृत हो जाता है (प्रश्न० उ० ६।५)।

स्वरूप प्राप्ति—मुक्त होने पर जीव की संज्ञा या इन्द्रियजन्य विशेष ज्ञान नहीं रहता है एवं व्यक्तित्व भी नहीं रहता है। वैदिकों ने इसी मुक्ति को निर्वाण कहा है। योगवासिष्ठ में इसका विवरण प्राप्त है। किन्तु बौद्धों की तरह शून्य में इसका पर्यवसान नहीं होता है। नैरात्म्यवादी या शून्यवादी दार्शनिक मुक्ति को निर्वाण मानकर जिस अर्थ को समझते वैदिक या योगवासिष्ठकार यह नहीं मानते हैं। मुक्ति में उपनिषद् के अनुसार जीव ब्रह्म हो जाता है।[1] ब्रह्म भवन के कारण जीव भाव का व्यक्तित्व का एवं इन्द्रिय जन्म विशेष ज्ञान का विनाश या निर्वाण होता है, इसीलिए, इसको निर्वाण प्रकरण कहा है। निर्वाण का अर्थ ब्रह्मनिर्वाण होता है। इसी का संक्षेप निर्वाण है। जीव का विनाश न होकर वृद्धि या बृंहण ही होता है। अणुमात्र से बृहत्तम ब्रह्म होता है। शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार 'चिदानन्दैक रससन्मात्र' जीव का परमतत्त्व अथवा सर्वजगत् का बृंहण करता है और परब्रह्म से कहा जाता है। मुक्ति से पूर्व बन्धन दशा में भी जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही जीव के रूप में बन्धनग्रस्त होता है। अतः

---

१. द्रष्टव्य तैत्ति० उ० ३।५

मुक्ति में जीव पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, ब्रह्म या उत्तम पुरुष होता है। यह सम्प्रसाद इस शरीर से सम्यक् उत्थित होकर परम ज्योति को प्राप्त करता है—अपने रूप में प्रकाशित होता है, यही आत्मा है, यही अमृत और अभय है। यही ब्रह्म है। "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्मच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप सम्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति" (छवा० उ० ८।३।४)। इन्हीं श्रुतियों के आधार पर आचार्य बादरायण ने यह निश्चित किया है कि मुक्ति में जीव अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।[1] यही जीव की ब्रह्म प्राप्ति या जीव ब्रह्म को स्वरूप प्राप्ति कहा गया है। यह सत्य है कि योगवासिष्ठ में साक्षात् श्रुति में कहा गया सिद्धान्त ही विभिन्न गाथाओं के आधार पर परिपुष्ट किया गया है।

बादरायण व्यासकृत वेदान्त सूत्र पर अद्वैताचार्य मत में मुक्ति—वेदान्त सूत्र में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (१।१।१) से आरम्भ कर "अनावृत्तिःशब्दात्" इससे उपसंहार किया गया है।

आचार्य जैमिनि और बादरि मत में मुक्त जीव का स्वरूप—जैमिनि ने कहा है कि मुक्त जीव ब्रह्म सम्बन्धीय निष्पापसर्वज्ञरूप में निष्पन्न होता है। मुक्त जीव अपने स्वरूप में होता है, इसका उपदेश सनत्कुमार ने नारद को और प्रजापति ने इन्द्र को दिया था। यानवाहनादि के आरोहण के समय या हास-परिहास के समय आमोद-प्रमोद पूर्वक विचरण करते हैं, किन्तु, आत्मसन्निहित का स्मरण नहीं करते हैं (छा० उ० ८।१२।३)। मुक्तात्मा निष्पापत्वादि ब्राह्मगुणविशिष्ट एवं स्वाधीनत्वादिब्रह्मस्वरूपैश्वर्ययुक्त स्वरूपसम्पन्न होते हैं, इनके अनुसार शरीर और इन्द्रियादि भी मुक्त जीव के रहते हैं (ब्रह्मसू० ४।४।११)। भूमाविद्या के उपदेश के समय मुक्त पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं, शरीर भेद के बिना अनेक प्रकार सम्भव नहीं है। वादी के अनुसार शरीर और इन्द्रियादि मुक्त के नहीं रहते हैं। इसके बाद उपदेश किया गया है कि आत्मा मनरूपी नेत्र से सभी काम्य विषयों का दर्शन और आनन्द-भोग करता है। इसीलिए मन के द्वारा दर्शन यह श्रुति में कहा गया है, अतः, इनके मत में मन के रहने पर भी शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहती हैं, फलतः, स्वरूप स्मृति ही मुक्ति है, सशरीर और शरीर उभयबोधि का श्रुति है। अतः, बादरायण का कहना है कि मुक्त आत्मा जब सशरीरभाव का सङ्कल्प करता है तो सशरीर होता है और जब अशरीर भाव का सङ्कल्प करता है तो तब अशरीर होता है। "द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः" (ब्रह्मसू० ४।४।१२)।

औडुलोमि के मत में मुक्त जीव का स्वरूप—संसार बन्धन से मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ अभिन्नता को इस प्रकार कहा है। संसारावस्था में जीव के ब्रह्मस्वरूप से भिन्न होने पर भी मुक्तावस्था में अभेद होता है। इस होने वाले अभेद का लक्ष्य करके ही याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मवाचक आत्मशब्द का संसारावस्था के जीव के लिए प्रयोग माना है। जीव और ब्रह्म का औपाधिक भेद बताने के लिए शङ्कर और भास्कर ने अग्नि के विस्फुलिङ्ग का उदाहरण दिया है। भेद स्वाभाविक हो या औपाधिक मुक्ति होना जीवब्रह्म से सर्वथा अभिन्न हो जाता है। मुक्त पुरुष शुद्ध चेतनस्वरूप हो जाता है, क्योंकि, यही जीव का स्वरूप है। पारमार्थिक दृष्टि से मुक्त आत्मा निर्द्धर्मक होने पर भी शुद्ध एवं अखण्ड चैतन्यमात्र होने पर भी उसमें व्यवहारवश ब्राह्मगुणैश्वर्य के सद्भाव का सामञ्जस्य किया जा सकता है। अतः, विरोध नहीं है।

आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त में मुक्ति—आचार्य शङ्कर ने कहा है कि जीव की अपने स्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति है (ब्रह्म सू० ४।४।१–२)। स्वरूप प्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि मोक्ष में अपूर्व या आगन्तुक किसी अन्य धर्म की प्राप्ति होती है।[2] जो जिसका स्वरूप रहता है, वह उसमें नित्य वर्तमान रहता है, स्वरूप का विपर्यय होने से वस्तु का ध्वंस हो जायेगा। संसार की दशा में अज्ञान की दशा में तिरोहित होने अनुभवमात्र होता है। मोक्ष में

---

१. ब्रह्मसूत्र १।३।१९, सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ४।४।१।

२. Gaudapāda १४।९४।

तत्त्वज्ञान से अज्ञान का आवरण तिरोहित होने से आविर्भाव हुआ है—ऐसी प्रतीति होती है। देहात्मबोध का परित्याग कर परज्योतिः सम्पन्न हो स्वरूप अभिनिष्पन्न होता है। स्वरूपोपलब्धि होने पर सभी दुःखों से विनिर्मुक्त हो जाता है। देहात्माभिमान सम्पन्न आत्मा ही प्रिय और अप्रिय का स्पर्श नहीं करता है (छा० उ० ८।१२।१)। वही उत्तम पुरुष है। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्वबन्धन ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है, अतः स्वरूपबोध से अतिरिक्त किसी लाभ की अपेक्षा नहीं है। स्वरूप प्राप्त जीव ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। लवण का टुकड़ा समुद्र में पड़ने पर वह उसमें मिल जाता है। मुक्त जीव भी इसी प्रकार ब्रह्म में लीन हो जाता है। जीव ब्रह्म को पृथक् करने वाली अविद्या और उसका संस्कार मोक्षदशा में पारमार्थिक दृष्टि से नहीं रहता है। अहं ब्रह्मास्मि (बृ० उ० १।४।१०) और तत्त्वमसि (छा० उ० ६।८।७) से इसी अर्थ को कहा गया। तत्त्वद्रष्टा विद्वान् जब हिरण्यवर्ण, जगत् स्रष्टा ब्रह्मयोनि ईश्वर पुरुष का साक्षात्कार करता है तब वह पुण्य पापरहित हो निरञ्जन या निर्लेप हो परमब्रह्म हो जाता है। परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३।१।३) यह श्रुति मुक्तजीव परमब्रह्म के साथ साम्य का निर्देश करती है। परम साम्य और अद्वय अभिन्नार्थक है। इसके पूर्ववाक्य में एकत्व की विवक्षा की गई है। जैसे नदी नाम और रूप का परित्यागकर समुद्र हो जाती है, मोक्ष जीव भी वैसे ही परब्रह्म हो जाता है। निरुक्तकार ने भी लिखा है 'समित्येकी भावे। विजातीय, सजातीय एवं स्वगत जितने भी श्रेष्ठ की कल्पना हो सकती है, 'अविभाग' शब्द से सभी के सद्भाव की सम्भावना निषिद्ध हो जाती है, "एकमेवाद्वितीयम्" (ऐ० उ० ६।२।१) इस श्रुति में इसी अर्थ का प्रतिपादन होता है। मुक्त-जीव वास्तविक दृष्टि से चैतन्यस्वरूप हो जाता है, किन्तु व्यवहार की दृष्टि से ऐश्वर्यसम्पन्न रहता है। जो पारमार्थिक सत्य, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, सभी विकारों से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयं ज्योतिः स्वरूप अर्थात् स्वप्रकाशस्वभाव, जिसमें स्वकार्यसहित धर्म और अधर्म का भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का स्थानराहित्य अर्थात् सर्वधर्मातीत, कालत्रयातीत अशरीरत्व ही मोक्ष है। ब्रह्मोपासक देहपात के बाद देवयान मार्ग से ब्रह्म में उपनीत हो पुनः नहीं लौटते हैं। उपासनादि के द्वारा सालोक्य आदि की प्राप्ति होती है, किन्तु वहाँ कर्म के तारतम्य से उपासक के फल में भी तारतम्य रहता है। ब्रह्मैकत्व मुक्ति में उत्कर्षापकर्ष रूप तारतम्य सम्भव नहीं है। "न तु मुक्तौ कश्चिदतिशयासद्भावोऽस्ति" (ब्र० शां० भा० ३।४।५२)। मोक्ष में दर्शनादि व्यवहार नहीं रहता है, एकमात्र ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है, इस अवस्था में कौन किसको देखेगा, कौन किससे जिज्ञासा करेगा, क्योंकि सब कुछ अद्वैत ही हो जाता है (बृ० उ० ४।५।१५)। यह व्यवहार शून्यावस्था है, "मुक्तस्यापि सर्वैकत्वात् समानो द्वितीयाभावः" सभी को अद्वैत हो जाने से द्वितीय कुछ भी नहीं देखता है। इस अवस्था में विज्ञान घन आत्मा वर्तमान रहता है किन्तु उपाधियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

यह मुक्ति नित्य सिद्ध है, यह कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती है, मिथ्याज्ञान के ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान प्रकाशित होता है। ब्रह्म और मोक्ष एक ही बात है। शङ्कर का कहना है कि गुण मानने पर अविद्या जो इसकी योनि है, उसको मानना पड़ेगा। कतिपय वेदान्ती भेद और अभेद का सामञ्जस्य दिखाते हुए कहते हैं कि मोक्षावस्था में ब्रह्म और जीव एक हो जाता है, अतः अभेद सत्य है और संसार दशा में जीव और ब्रह्म का भेद है, अतः यह भी सत्य है। शङ्कर ने कहा है कि "तत्त्वमसि आदि श्रुतियों के द्वारा जीव और ब्रह्म का अभेद ही कहा गया है। एकत्व-दर्शन को भूमा और अमृत कहा गया है और नानात्वदर्शन अल्प और मर्त्य है। इससे यह प्रतीत होता है कि भेदज्ञान और असत्य है और अभेद ज्ञान सत्य है—यह जीव की नित्य सिद्धावस्था है। अज्ञानवश जीव अपने को बद्ध और ब्रह्म से अलग मानता है, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति होते ही जीव का स्वतः सिद्ध ब्रह्मस्वरूप स्फुरित हो जाता है। (ब्र० सू० शा० भा० १।३।१९) इस मत में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

आत्मतत्त्वविवेक में आचार्य उदयन ने कहा है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" मैत्रेयी ब्राह्मण की सारतम उपदेश भारतीय सभी शास्त्रों का सार है। भारतीय जनता का जीवन-प्रवाह और आशा आकाङ्क्षा पर्यवसित होता है। इसी ब्राह्मण में कहा गया है "एतावदरे खल्वमृतत्वम्"।

आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यान ही मोक्षलाभ का यही एकमात्र साधन है। प्रियतमा मैत्रेयी को उपदेश देकर याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण किया था। इसी उपदेश का विस्तार करने के लिए भारतीय दर्शनों की असंख्य धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। भारतीय दर्शनों का परिचय देने में ही सहस्र जीवन व्यतीत हो जायेगा फिर भी यह अशेष नहीं होगा, अनादिकाल से जो दार्शनिक चिन्ता भारत वसुन्धरा पर मुखरित है, उसको दो चार ग्रंथों को लिखकर समाप्त नहीं किया जा सकता। अन्त में आचार्य ने कहा है आत्मसाक्षात्कार का कारण आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही है। उपनिषद् के वाक्यों के द्वारा आत्मा का श्रवण और शुद्ध अर्थ के सम्भावित अर्थ की सत्यता के लिए श्रुति के अनुरूप युक्तियों के द्वारा श्रुत अर्थ का मनन और मनन के द्वारा सम्भावित अर्थ का साक्षात्कार के लिए निदिध्यासन आवश्यक है। एक ही आत्मतत्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने पर वह आत्मतत्व अपरोक्ष रूप में भासमान होता है और आत्मतत्व का अपरोक्ष रूप में अवभाषण ही मोक्ष है। आत्मतत्व के निदिध्यासन में प्रवृत्त अधिकारी के सम्मुख समस्त जगत्-प्रपञ्च आत्मा के बहिर्भूत रूप में प्रकाशित प्रतीत होता है। इस अवस्था का अवलम्बन कर कर्ममीमांसक लोक में स्थान लाभ करता है। बाह्य अर्थ में ही दृष्टि की प्रबलता होने पर चार्वाक मत का उत्थान होता है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंस्वमात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" अनात वस्तु के ग्रहण में पटु इन्द्रियाँ बाह्य विषय को ही देखती है, आत्मदर्शन ही करती है। इस अवस्था में इसके लिए चार्वाक मत का अभ्युदय होता है। जिस दृष्टि को अवलम्बन कर कर्ममीमांसकों की प्रवृत्ति होती है उनकी उन दृष्टि के निवारण के लिए ही श्रुति कहती है "कर्मभिर्त्युमृषयो निषेदुः प्रजवन्तो द्रविणमृच्छमाना अथापरे ऋषयो मनिषिणः परं कर्मभ्योमृतममृतत्वः" (वात्सायन भाष्य—८.१.६९)। इसके बाद आत्मोपासक आत्मा के प्रकर्षता से आत्मा को अर्थाकार में देखते हैं। इसी अवस्था में उपासक यह अनुभव करते हैं मैं सर्वात्मिक हूँ इस दृष्टि का अवलम्बन कर ब्रह्म परिणामवाद त्रिपण्डि सिद्धान्त पर्यवसित होता है और विज्ञान मययोगाचार बौद्धों का अभ्युत्थान होता है। आत्मा जो अर्थाकार है वह आत्मैवेदं सर्वं इस श्रुति के द्वारा कहा जाता है। उपासक इसी अवस्था में रुक न जाय इसलिए श्रुति अर्थाकार को आत्मस्वरूप नहीं है यह बताने के लिए अगन्धं अरसं अचक्षुरश्रोतं इत्यादि कहा गया है। आत्मा की विषयाकारिता के विशेष के लिए आत्मोपासक विषय का अभाव देखते हैं। इस अवस्था में रूप, रस आदि विषयों का स्फुरण नहीं रहता है। प्रपञ्चरहित आत्मस्वरूप भासमान होता है। इस अवस्था का अवलम्बन कर वेदान्तकार मात्र उपसंहृत होता है। यह वेदान्त की प्राथमिक उदयन ने कही है। विषयरहित चिन्मात्र वस्तु सम्भावित न होने से इस अवस्था का अवलम्बन कर शून्यवादि माध्यमिक बौद्ध अपने सिद्धान्त को व्यक्त करते हैं। इस निरात्मवाद का प्रतिपादक असदेवेदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियों को इस सिद्धान्त का अनुग्राहक माना। इस अवस्था से उपासकों को विरत करने के लिए और नैरात्मवाद से ऊपर उठने के लिये "अन्धतमः प्रविसन्ति चेकेचात्महनो जनाः" इत्यादि श्रुतियाँ प्रवृत्त होती हैं। इसके बाद उपासक आत्मा के साथ विषय का भेद दर्शन करता है; अनन्तर शक्ति ही विश्व की जननी आत्मा निर्लिप्त है। इस सिद्धान्त का उत्थान होता है; श्रुतियाँ भी 'प्रकृतेःपरस्वात्' इत्यादि वाक्यों से आत्मा को निर्लिप्तरूप में प्रतिपादन करती है। विवेक दृष्टि (भेद दृष्टि) के प्रात्याख्यान के लिए श्रुति कहती है—"नान्यत् सत्' अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त कोई भी सत् पदार्थ नहीं है। इस अवस्था में केवल आत्मा ही प्रकाशमान रहता है। इसी दृष्टि का अवलम्बन कर अद्वैत मत का उपसंहार होता है। इस अवस्था के प्रतिपादन के लिए 'भर्तावाचो निर्वतन्ते अप्राप्यमनसा सह' यह श्रुति कहती है; आत्मा वाक्य और मन से अतीत है यह कभी भी देय नहीं हो सकती है। इसलिए श्रुति इसका प्रत्याख्यान नहीं करती। इस अवस्था में जब केवल आत्ममात्र प्रकाशित रहता है तब विषय प्रदर्शन नहीं होता। इसी विषय के प्रतिपादन के लिए न पश्यतित्याहुःरेकी भवति इत्यादि श्रुति कहती है। वस्तुतः निषेधरूप से वस्तु का प्रतिपादन होने पर निषेध्यमान वस्तु का उल्लेख कर उस वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। निषिध्यमान वस्तु का उल्लेखपूर्वक परमार्थ वस्तु का प्रतिपादन यथार्थ प्रतिपादन नहीं है। इसलिये द्वैत निषेध का उल्लेखपूर्वक समीचीन

नहीं हो सकता। इसीलिये निषेध मुख से तत्व प्रतिपादन से विरत करने के लिए श्रुति कहती है—"न द्वैतं नाऽपि चाद्वैतं"। इसी के अनुरूप एक श्लोक दक्षस्मृति के सप्तम अध्याय के अट्ठासी संख्या में उपलब्ध होता है और भामती और कल्पतरु में भी ४.१.३ सूत्र पर उल्लेख मिलता है—यद्यदद्वैते न तोषोस्ति मुक्त एवासि सर्वदा इसीलिए आत्मविषयक निर्विकल्प ज्ञान उदित होता है। आत्ममात्रविषयक निर्विकल्पक ज्ञान ही मोक्षनगर के प्रवेश का श्रेष्ठतम ज्ञान है। यदि न्यायदर्शन उपसहृत होता है इसी के प्रतिपादन के लिए श्रुति कहती है निष्काम, आप्तकाम, आत्मकाम ब्रह्म हो कर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। वहाँ से वह पुनः नहीं लौटता है वही ततत्वरूप हो जाता है (वात्स्यायन भाष्य ४.१.६९)। रघुनाथ शिरोमणि ने भी इसके व्याख्या में कहा है—"शुद्ध स्वप्रकाश चित् स्वरूप ब्रह्म प्रतिपादकवेदान्तानाम् उपसंहारः प्रतिपाद्यान्तरविरहात्"।

योगवासिष्ठ और निर्वाण स्वरूप—योगवासिष्ठ के वर्णन के अनुसार जिसकी सत्ता से सम्पूर्ण जगत् सत् के रूप से भासमान होता है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है, अभिन्न निमित्तपादान के रूप में विश्व का उत्पादन है, उसी में सभी पदार्थ वर्तमान रहते हैं। वह सभी विश्वजनन की शक्तियों से सम्पन्न है, आत्मा होने के कारण वह सर्वत्र ओत-प्रोत है, उस परम तत्त्व की सर्वत्र स्थिति है, ब्रह्म से ही प्रकट होता है और उसमें ही सब लीन हो जाता है।

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतन्त्रवत्। सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्। (६।२।१८४।४६)
यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च। यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥ (१।१।१)

योगवासिष्ठ का यह कथन "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" एवं "तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति" इस श्रुति के अनुसार जो जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२) व इस सूत्र में वर्णन मिलता है, उसी के अनुरूप इस योगवासिष्ठ का वर्णन है। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् इस श्रुति और आनन्दमयाधिकरण के सूत्रों में वर्णित विषय को आधार बनाकर योगवासिष्ठ में कहा है, जिससे पृथ्वी और स्वर्ग में अर्थात् चराचर विश्व में आनन्द की उपलब्धि होती है, उस ब्रह्मानन्दस्वरूप तत्त्व को नमस्कार है अर्थात् वह परम तत्त्व सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। वह परम ब्रह्म ही द्रष्टा, दृश्य और उस ज्ञान-स्वरूप परम तत्त्व को नमस्कार है। यह योगवासिष्ठ का सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस श्रुति में वर्णित तत्त्व एवं इसके आधार पर "शास्त्रयोनित्वात् (१।१।३) सूत्र में वर्णित विषयों को संग्रहीत किया है।

"ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः। कर्ता हेतुः क्रिया यस्मातस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः"
"स्फुरन्ति सीकरा यस्मादनन्दस्याम्बरेऽवनौ। (१।२।२)
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥ (१।१।३)

योगवासिष्ठ के उपक्रम वाक्य में अपने प्रतिपार्य विषय को संगृहीत कर उपसंहार प्रकरण निर्वाण में इसका पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है, अतः अद्वय ब्रह्म को प्रतिपादन में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है।

अद्वैतियों ने ब्रह्म को वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म मन और वाणी से अतीत है। योगवासिष्ठ में भी इस विषय का वर्णन करते हुए कहा है कि ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता है वह शब्द और इन्द्रियों से परे हैं। स्वानुभूति मात्रगम्य ब्रह्म किसी भी तरह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है।

अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रिमनामकम्। ६।२।६२।१७
स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम्। ६।२।१९५।६९

ब्रह्म को नेति, नेति के द्वार ही कहा जा सकता है। ब्रह्म न चेतन है, न जड है, न सत् है, न असत् है, न अहं है, न एक है और न अनेक है अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिए उसका किसी विशेष रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है—

न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान्। (यो० वा० ५।७२।४१)

इसी प्रकरण में ५।७२।४२ और ४३ में भी इसी प्रकार (कहा गया) है।

वाणी से परे होने के कारण एक या अनेक, शून्य या भावात्मक ब्रह्म का क्या स्वभाव नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जिसका शब्द के द्वारा वर्णन ही नहीं किया जा सकता है, मुक्त पुरुष ही इसका अनुभव कर सकते हैं।

यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः॥ (यो० वा० ३।५।५)

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्त्वात्यसम्भवात्॥ ६।१७।२४

शुद्ध चिन्मात्र परमार्थ संवित् स्वरूप ही ब्रह्म है। अवर्णनीय होते हुए भी इतना ही कहा जा सकता है, वह बहुत उत्तम, सूक्ष्म, सर्वात्मक शुद्ध अनुभव स्वरूप, शून्य से शून्य परमानन्द स्वरूप है।

सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमाकम्। ६।१९।२७
न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।

मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम्॥ ३।११९।२३

जैसे जाल में लहरों से उत्थान-पतन से उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय से उसमें किसी तरह भेद नहीं होता है। वह अकर्ता और उदासीन होकर कुछ भी नहीं करता है। जैसे प्रकाश के उत्पादन से प्रदीप उदासीन रहता है, वैसे ही सृष्टि के कर्तव्य में ब्रह्म उदासीन ही रहता है। (द्रष्टव्य यो० वा० ४।५६।१७ से ३३ तक)।

योगवासिष्ठ के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है, ब्रह्म से सब कुछ अभिन्न है (३।६५।१९-१३)। परमार्थ दृष्टि से योगवासिष्ठ में जगत् मन सभी से तादात्म्य माना है (द्रष्टव्य ६।४९।२९ से ३२ तक।) जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य अनेक पद्यों से प्रकाशित किया गया है। अन्त में अद्वैत की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है—करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति, सब ब्रह्म ही है, इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। कला, काल, देश, द्रव्य क्रिया आदि चिदाकाश है, जो कुछ भी दिखाई देता है, वह चिद्रूप परम ब्रह्म ही है।

पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि॥ ६।२।२८

योगवासिष्ठ अन्त में ब्रह्म से अतिरिक्त सभी को मिथ्या मानता है। यह सृष्टि माया है, स्वप्न के समान भ्रम है, मिथ्या रचित चक्र के समान, कल्पना के समान चञ्चल है, जल के भ्रमर के समान सुन्दर दिखाई पड़ता है।

मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्ति मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी॥ (४।४७।४१)

सत्य कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता है। आदि अन्त और मध्य में सदा अविकृत रहता है।

आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत्। (५।५९) जगत् सत्य और असत् से परे अनिर्वचनीय है। यह भ्रान्ति मात्र है "न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विलासते। (३।४४।२४) मृगतृष्णा की बहती हुई नदी के समान जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है। अन्त में योगवासिष्ठ में जगत् के विषय में यही कहा है, जगत् भ्रान्तिमात्र पारमार्थिक दृष्टि से असद्रूप है।

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यं जगदिति स्थितम्।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रम् सन्मयम्। (४।१।२ एवं ४।१।१२)

इस विषय का वर्णन सर्वत्र विशद रूप से किया गया है। सम्पूर्ण विश्व अज्ञान का जाल है। इस जगत् की तभी तक सत्ता है जब तक अज्ञान है।

"यावदज्ञानकलना यावद्ब्रह्म भावना इत्यादि। यो० वा० ६।२।३० से ३५ तक।

इस अविद्या का ज्ञान से नाश हो जाता है। अविद्या का नाश होने पर जगत् का भ्रम भी विलीन हो जाता है'(द्रष्टव्य यो० वा० ६।२।३६ से ४१ तक) । अविद्या का विलय ही उसका नाश हो जैसे वायु का वेग वायु में लीन हो जाता है वैसे ही स्वप्न, भ्रम और सङ्कल्प भी संवित् में ही लीन हो जाता है।

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ (३।५७।४४)

योगवासिष्ठ के अनुसार मोक्ष और उसका साधन—मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन तत्त्वज्ञान है। भव सागर से पार होने के लिए ज्ञान से अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है, वन में वास, किसी स्थान विशेष में वास, तप, क्रियाओं का त्याग, क्रियाओं का अधिष्ठान तीर्थाटन, विद्या, ध्यान, योग, तप आदि सभी स्वर्ग की प्राप्ति के साधन हो सकते हैं, किन्तु भव-बन्धन से मुक्ति का एकमात्र साधन तत्त्वज्ञान ही है।

संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता।
नापि स्वदेशावासित्वं न कष्टतपः क्रिया ॥ ६।१९९।३०
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्या।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्न चाध्वरैः ॥ ६।१९९।२४
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता। ६।१७४।१८
ततो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः।
नास्ति संसारतरणे पाशबन्धस्य चेतसः। ५।६७।२

तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है इसका प्रतिपादन करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है तत्त्वज्ञ ज्ञानरूपी नौका से शीघ्र ही भवसागर से पार हो जाते हैं। ज्ञान से ही परमसिद्धि की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान रूपी विषूचिका प्राचीनतम रोग है—यही जगत् और अविचार है इसकी शान्ति विना ज्ञान के सम्भव नहीं है। आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार से प्राणियों के दुःख शान्त हो जाते हैं और असीम आनन्द को प्राप्त करता है। विभिन्न साधनों के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अतः, राम को ज्ञानी बनने के लिए योगवासिष्ठ में पुनः-पुनः दिया है। विषय का असीम को अपने ससीम रूप में बाँध लेता है। मानव संसार में आबद्ध हो जीवन यापन करता है। अतः, विषय ही नहीं है वरन् ब्रह्म ही सभी रूप में मायावश अभिव्यक्त होता है। जो चीज नहीं है, उनका ज्ञान क्या होगा ? अतः जगत् से निर्मुक्त होना चाहिए। ज्ञान से दुःख शून्यता आती है और जीवन्मुक्त स्वरूप का अनुभव होता है।

"ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते"। (यो० वा० ५।९३।२४)

योगवासिष्ठ में वाल्मीकि ने श्रीराम को उपदेश देते हुए कहा है, तत्त्वज्ञान से ही मानव दुःख से छुटकारा पाता है, अज्ञान के कारण ही दुःख होता है, अतः, ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। हे राम ! दुःख से विमुक्ति का अन्य कोई भी मार्ग संसार में नहीं है।

ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानदज्ञानसंक्षयः।
ज्ञानादेव परासिद्धिर्नान्यस्माद्राम वस्तुतः ॥ (यो० वा० ५।८८।१२)

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने से एवं मन को विषय से उपरत करने से ही जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यदि तत्त्वज्ञान के लिए मानव के सचेष्ट हुए विना संसारसागर से आवागमन से छुटकारा नहीं मिल सकता है।

कलना सर्वजन्तूनां विज्ञानेन शमेन च।
प्रबुद्धा ब्रह्मतामेति क्रमतीतरया जगत् ॥ (यो० वा० ५।१३।५९)

आत्मा यदि रक्षा नहीं करता है तो अन्य किसी भी उपाय से त्राण नहीं पा सकता है, इसलिए आत्मा को पूजा करो, आत्मा की आराधना करो, आत्मदर्शन कर आत्मरूप में स्थित रहो। आत्मा ही जीव का बन्धु है, आत्मा ही जीव का शत्रु है, आत्मा से त्राण की प्राप्ति न होने पर रक्षा की प्राप्ति का अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ (यो० वा० ६२।१६२।१८)

चितस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से समबुद्धि की प्राप्ति होती है। ब्रह्म के साक्षात्कार से अप्राप्त और अपूर्व वस्तु की प्राप्ति के लिए आवश्यकता नहीं रह जाती है। नियति के अनुसार प्राप्त दारिद्र्य या, राजसुख के उपभोग से, विविध चेष्टाओं से राग और द्वेष से, मित्रता से, करुणा, उपेक्षा या प्रसन्नता से, शक्ति के शुद्ध उपयोग से, वैराग्य, निषिद्ध या अनिषिद्ध भोगों के त्याग से, युक्त या अयुक्त वाञ्छित या अवाञ्छित भोगों का निर्विकार रूप से उपभोग करने से, सभी दृष्टियों में, चेष्टाओं में, सदा समानभाव रखने से, गत की उपेक्षा आगत की प्राप्ति से, आपात दृष्टि से सुखप्रद और दुःखप्रद होने पर भी सर्वत्र समदृष्टि रखकर जो संसारयात्रा करता है, मैं यह हूँ, मेरा यह है, इनका त्याग कर सब ब्रह्म ही है, इस दृष्टि को दृढ़ करने से सभी भोगों के सुख को अनायास प्राप्त करता है। अतः ब्रह्म का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और ब्रह्म का साक्षात्कार करने से आत्मानन्द को अनायास प्राप्त करता है, अतः आत्मदेव होकर आत्मभाव से अद्वितीयता को प्राप्तकर आत्मानन्द को प्राप्त करता है। यह वही स्थिति है कि जब सब आत्मा ही हो गया तो कौन किसको किससे देखेगा और रागद्वेष से आबद्ध होगा ?

"मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् (यो० वा० ६३।३९।३९)
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ (यो० वा० ६३।३९।४०)
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यजेत्।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (यो० वा० ६३।३९।४९)

योगवासिष्ठ में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि अनादि अनन्त स्वयं प्रकाश ब्रह्म ही सम्यक् ज्ञान है। विभिन्न आकारों में उपलब्ध सांसारिक पदार्थ आत्मस्वरूप ही हैं, क्योंकि, आत्मा से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है—इस प्रकार निश्चयात्मक दर्शन ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। यही अनन्तानन्द चैतन्य, एकरस अद्वितीय तत्त्व है। इस तत्त्व की प्राप्ति शास्त्राध्ययन, मनन दृढ़तम वैराग्य से मन के पवित्र होने पर होती है।

अनाद्यनन्ताभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ (यो० वा० ५।७९।२)
इमाः घटपटाकाराः पदार्थशतपंक्तयः।
आत्मैव नान्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम् ॥ (यो० वा० ५।७९।३)
पूर्वं राघवाशास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥ (यो० वा० ५।५।१४)

अनासक्त रूप से विना प्रयास और विना इच्छा से प्राप्त वस्तु ही जीवन्मुक्त भोग करता है।

परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने के बाद एक अद्वय तत्त्व का स्वयं प्रकाश होता है। सभी पदार्थ चिन्मय स्वरूप ही जाते हैं। मानस सङ्कल्प की भूमि पर ही सम्पूर्ण विश्व मिथ्याभूत स्वप्न के समान अवभासित

होता मन का स्वरूप भी अनन्त और असीम है। उसकी सङ्कल्पशक्ति ही मन को आकार प्रदान करती है। योग-वासिष्ठ की दृष्टि में यही मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, मल, माया, प्रकृति, ब्रह्मा आदि देवगण, जीव अतिवाहिक शरीर, इन्द्रिय, पुर्यष्टक, भौतिक शरीर और बाह्य वस्तु ये सभी उसी के सङ्कल्प के नाम हैं। जीव, अहङ्कार और शरीर को धारण करता है। जीव के सङ्कल्प से ही सभी की उत्पत्ति आदि होती है। मन की शक्तियों के अनुसार ही सभी आकार उपस्थित होते हैं। अपनी वासना के अनुसार ही निर्मित वस्तु उसकी कामना की पूर्ति के लिए लगे रहते हैं।

परम पूर्णता, परमानन्द की प्राप्ति अद्वय ब्रह्मानुभव से ही सम्भव है, ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति से पूर्व विविध सिद्धियों के आधार पर विचरण करता रहता है। सिद्धि की प्राप्ति का एकमात्र साधन मन की शुद्धि, कुण्डलिनी देवी का जागरण और योग को माना है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप से अवगत करने के लिए (१) जाग्रत्, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति, (४) तुरीय अवस्थाओं को अच्छी तरह समझना चाहिए। आत्मा और चराचर ब्रह्माण्ड में कोई भेदक तत्त्व नहीं है। आत्मा जीव तक ही सीमित नहीं है, वरन् ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत है। आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को जानने पर जीवन में पूर्णता होती है। आत्मा को देश और काल से परिच्छिन्न मान कर ही जीवन और मरणरूपी विश्व में विचरण करता है, स्थूल शरीर तक परिमित रहना ही जीवन और मौत का भय उत्पन्न करता है किन्तु देश-काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म का ज्ञान होने पर जीवन-मरण तो तुच्छ हो अभय होकर जीवन-यापन करन की शक्ति प्राप्त करता है।

योगवासिष्ठ आध्यात्मिक दृष्टि का सागर है, अतः यह कहा जा सकता है कि जो इस शास्त्र में है वही सर्वत्र उपलब्ध है, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।
इदं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥ (यो० वा० ३।८।१२)

———

आभार प्रदर्शन

ग्रन्थ की भूमिका आदि में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है उनके लेखकों का सादर आभार ज्ञापित करता हूँ। अच्युतग्रन्थमाला के अनुवाद से विशेष सहायता मिली है, अतः मैं उसका ऋणि हूँ।

तारा प्रेस के अध्यक्ष भ्रातृकल्प श्री रमाशङ्कर पण्डया जी को धन्यवाद देना ही पड़ेगा, क्योंकि ये सदा मेरी प्रेरणा के स्रोत का कार्य करते रहे हैं। इसके अनुवाद के लिये प्रवृत्ति शुभोदय श्री रविप्रकाश पण्डया का एकमात्र आग्रह ही है। पुराणेतिसाहाचार्य पं० कृपासिन्धु शर्मा, प्राचार्य, ब्रह्मर्षि बलदेव संस्कृत विद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड वाराणसी ने अशुद्धयादि परिमार्जन का महनीय कार्य कुशलतापूर्वक किया है। इसकी प्रेस कापी आदि के निर्माण में पं० अयोध्याप्रसाद त्रिपाठी ने सहायता प्रदान की है। अस्तु मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ एवं साधुवाद देता हूँ। मेरे अनुजकल्प डा० शशिकान्त दीक्षित की पत्नी श्रीमती इन्दुमति दीक्षित ने भी पुनः-पुनः प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद कर हमलोगों के लिये बोधगम्य करायें। अतः इनको हृदय से आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कुसुमलता गोस्वामी एवं पुत्री श्रीमती साधना शर्मा ने मुझे गृहकार्यों से निश्चिन्त कर इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिए सहयोग प्रदान किया है, ऐसा इस युग की ललनाओं के द्वारा संभव नहीं है। मेरे लिए एकमात्र हितचिन्तक डा० श्री महेन्द्रकुमार शर्मा, श्री शैलेन्द्रकुमार शर्मा तथा भ्रातृ-पुत्र डा० राधाकान्त गोस्वामी के उज्ज्वल भविष्य के लिए सतत मंगलकामना के साथ इनको आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

सहृदय विद्वज्जन मेरे दोषों पर दृष्टि न देकर रागद्वेष-वैराग्य के साथ गुणग्राहक दृष्टि से ही अध्ययन करेंगे। मेरे जैसे अज्ञजनों से दोष तो पद-पद पर सम्भावित ही है।

विदुषां वशंवदः

महाप्रभुलाल गोस्वामी

मकर संक्रान्ति

(वि० सं० २०५०)

सार-संक्षेप

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध

वसिष्ठजी ने निर्वाण का विशद विवेचन करते हुए कहा—भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोकवासियों के साथ पद्मासन लगाकर बैठ गए और फिर किसी न टूटनेवाली समाधि में स्थित हो गए। उन्हीं का अनुसरण कर वासना की अधिष्ठात्री देवी सती-साध्वी कुमारी विद्याधरी भी ध्यानमग्न हो शान्त हो गयी। उसका कोई भी अंश शेष नहीं रह गया। वह शून्यस्वभावा हो गयी। ब्रह्माजी का संकल्प धीरे-धीरे विरस होने लगा। जिस समय उनके संकल्प में विरसता आयी, उसी क्षण से तुरन्त ही पर्वत, द्वीप और समुद्रोंसहित पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता और धान आदि को उत्पन्न करने की सारी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। ब्रह्माजी के द्वारा उपेक्षित होने पर पृथ्वी आदि तथा असुर आदि—ये दो तरह के महाभूत सब ओर से क्षुब्ध हो उठे। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम—ये सब-के-सब महाप्रलय के कोलाहल से व्याकुल हो गये। उनका अधिकार एवं प्रभाव ब्रह्मलोक में मिल गया। वे अपने स्थान से नीचे गिरने लगे। भूकम्पों के कारण बड़े-बड़े पर्वत जोर-जोर से झूमने और झोंके खाने लगे, मानो वे झूला झूलने के सुख का अनुभव कर रहे हों। उनके ऊपर की वृक्षश्रेणियाँ कटकट शब्द के साथ टूट-टूटकर गिरने लगीं। भूकम्प के कारण कैलास, मेरु और मन्दराचल की कन्दराएँ हिलने लगीं और कल्पवृक्षों से टूटकर लालसंग के पुष्पगुच्छों की वर्षा होने लगी। लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र और वनपर्यन्त सारा जगत् कल्पान्तकाल की उत्पात-वायु के झोंके से परस्पर टकराकर हताहत होते हुए प्राणियों के कोलाहल से व्याप्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो गया। मानो रुद्रदेव के बाणों से दग्ध हुआ त्रिपुरनगर भरे हुए समुद्र में गिर रहा हो।

जब विराट्स्वरूप स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने प्राणों का आकर्षण एवं निरोध किया, तब वातस्कन्ध नाम से स्थित आकाशजन्मा वायु ने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदि को धारण करने की जिम्मेदारी छोड़ दी। ब्रह्माजी ने जब प्राण वायुरूप वातस्कन्ध का अपने भीतर उपसंहार करना आरम्भ किया, तब पूर्वोक्त मर्यादा को त्याग कर साम्यावस्था को पहुँचने के लिए वायु में क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस क्षोभ के कारण निराधार होकर आकाशमण्डल से तारे टूटटूट कर गिरने लगते हैं। उस समय आकाश से भूतल पर गिरते हुए तारे वृक्ष से झड़ते हुए फूलों के समान जान पड़ते थे। ब्रह्माजी के संकल्प रूप ईंधन के प्रलयोन्मुख होने पर भूकम्प से चञ्चल हुए देवगिरि सुमेरु के शिखर देवताओं के नगरों तथा कल्पवृक्षों के समूहों सहित धड़ाधड़ धराशायी होने लगे।

पहले न तो कोई असत् वस्तु थी और न सत् ही; किन्तु सभी विकारों से रहित एकमात्र चिन्तन परमाकाश ही था। उसी परमाकाश ने अपने स्वरूप का परित्याग न कर भिन्न वस्तु के रूप में कल्पना की। चिद्रूप होने से वह चेतन कहा गया है। परमात्मा शून्यरूप आकाश को ही देह रूप में देखने लगा। इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि ये जो ब्रह्मा हैं, वे ही यह वर्तमान जगत् बनकर स्थित हैं। विराट् ब्रह्मा का जो देह है, वही यह जगत् है। संकल्पाकाश रूप ब्रह्माजी को भ्रम हुआ, इस जगत् के रूप में भासित हो रहा है और उसी को ब्रह्माण्ड कहा गया है। यह सारा जगत् आकाशरूप ही है। वास्तव में न तो जगत् है और न कहीं 'तुम' और 'मैं' के भाव ही हैं। चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा स्वयं ही अद्वैत आत्माकाश में जगत् आदिरूप प्रकाश से प्रकाशित ही अनुभव का विषय हो रहा है। यह जगत् अद्वैत को छोड़ देने पर कुछ है, ऐसा जान पड़ता है और अद्वैत को त्याग देने पर कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में जगत् को द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित, शून्य, निर्मल और निरामय चेतनाकाश रूप ही समझो। सत्यानुभवरूप परमात्मा में जो अनेक प्रकार के अज्ञान प्रतीत होते हैं, वे ही विचित्र भ्रम पैदा करके सुविस्तृत दृश्य जगत् का महान् दृश्य उपस्थित करते हैं।

ये विराट् रूपधारी विधाता समष्टि मनरूप होने के कारण स्वयं ही मन हैं, अतः इनके लिए दूसरे मन की आवश्यकता नहीं है। यहीं नहीं, ये विराट् पुरुष स्वयं ही इन्द्रियाँ हैं। अतः इन्हें दूसरी इन्द्रियों के उपभोग की आवश्यकता नहीं होती। इन्होंने ही तो अन्य सब शरीर में इन्द्रियों की सृष्टि की है। इन्द्रिय समुदाय इनकी कल्पना-मात्र ही है। इन्द्रिय और चित्त में अवयवावयवी सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ अवयव हैं और चित्त अवयवी—दोनों का शरीर एक है, अतः इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पूर्णतः एकता है।

मेरे सामने ब्रह्मलोक था। ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये थे। मैंने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दिशाओं में दृष्टि डाली। उस समय अपने सम्मुख देखा, मध्याह्न-काल में तपते हुए सूर्य के अतिरिक्त पश्चिम दिशा में भी एक दूसरा सूर्य प्रकट हुआ, जो स्पष्ट दिखाई देता था। वह पश्चिम दिशा ने मध्य भाग में दाह-सा उत्पन्न कर रहा था, मानो किसी पर्वत के ऊपर वहाँ की वनस्थली में दावानल प्रज्वलित हो उठा हो, आकाश में अग्निलोक प्रकट हो गया हो अथवा महासागर में बड़वाग्नि उद्दीप्त हो उठी हो। फिर तो क्रमशः नैऋत्यकोण, दक्षिण दिशा, अग्निकोण, पूर्व दिशा, ईशानकोण, उत्तर दिशा, वायव्यकोण तथा पश्चिम दिशा में भी एक-एक सूर्य प्रकाशित हो उठा। उनको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। विधाता की प्रतिकूलता पर विचार करने लगा। इतने में ही भूतल से भी शीघ्र ही एक सूर्य प्रकट हुआ, मानो समुद्र से बड़वानल ऊपर को उठ गया हो। फिर दिशाओं के मध्यवर्ती आकाश में ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ। दिशाओं के मध्यवर्ती सूर्य को ग्यारहवाँ कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उसके ऊपर भी बारहवाँ सूर्य प्रकट हो चुका था। इस प्रकार एक भूतल पर, एक मध्य आकाश में और एक उससे भी ऊपर—तीन सूर्य एक के ऊपर एक के क्रम से दिखायी देते थे। इस तरह कुल मिलाकर बारह सूर्य प्रकट हुए थे। इनमें ग्यारहवाँ सूर्य भगवान् रुद्र का ही शरीर और उसके भीतर तीन सूर्यों के रूप में मानो तीन नेत्र प्रकट हो गये थे। वह अकेला ही बारह सूर्यों के बराबर देदीप्यमान था। वह बारह सूर्यों का समुदाय-सा जान पड़ता था, जो सम्पूर्ण दिशाओं में प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। सूर्य की प्रचण्ड किरणों से ही सब कुछ स्वाहा हो रहा था, लौकिक अग्नि नहीं दिखायी देती थी विना अग्नि के ही होने वाले उस अग्निदाह से मेरे सारे अङ्ग दावानल से झुलसे हुए की भाँति व्यथित हो उठे। तब मैं उस प्रदेश को छोड़कर बहुत दूर चला आया।

वहाँ से दसो दिशाओं में उदित हो तपते हुए बारह सूर्यों के समुदाय को देखा, जिसके प्रचण्ड तेज से सातों विशाल महासागर काढ़े की भाँति खौल रहे थे और उनसे महान् खल-खल प्रकट हो रहा था। समस्त लोकों और नगरों के भीतरी भाग प्रचण्ड ज्वालाओं तथा अंगारों से भर गए थे। आग की लपटें लाल रंग के गाढ़े कपड़ों के समूह की भाँति दिखायी देती थीं, जिन्होंने सारे पर्वतों को सिन्दूरी रंग का बना दिया था। लोकपालों के जलते हुए बड़े-बड़े घरों में ज्वाला व्याप्त दिशारूपी वस्त्र सुस्थिर विद्युत् की भाँति दीप्तिमान दिखाई देते थे। उस समय वनों के समूह, ग्राम, नगर, मण्डल, द्वीप, दुर्ग, जंगल, स्थल, पृथ्वी के समस्त छिद्र, उसके ऊपर का महान् आकाश, दसों दिशाएँ, द्युलोक तथा उसके ऊपर का भाग—ये सब-के-सब जल रहे थे। गड्ढे, रहट, बाजार, हाट, अट्टालिका और नगरसमूह से सुशोभित दिशाओं के तटप्रान्त, पर्वतों के शिखर, सिद्धों के समूह, पर्वत, सागर, सरोवर, तालाब, तलैया, नदी, देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, तथा पुरुष-समूह रुद्रदेव के नेत्रों की सनसनाती हुई ज्वालाओं से दग्ध हो रहे थे।

जब भूमण्डल और पर्वत-समूह का विस्तार अङ्गार-राशि से भर गया, सर्वत्र ज्वाला-मालाओं का समूह छा गया और द्वादश सूर्यों का तेज सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित होने लगा; जब ब्रह्मरूपी प्रस्तर रहित सरोवर में ज्वाला-रूपी दलों से सुशोभित एवं चिनगारीरूप केसरों एवं उल्मुकों से युक्त प्रलयाग्निरूपी कमलिनी के वायुप्रधान सर्प एवं पर्वतरूप मूल पाताल तक महान् अङ्गाररूपी कीचड़ में मग्न हो गये, तब आकाश को संचरण के योग्य देख मशक में पानी ढोने वाले ऊँटों की सेना के समान कल्पान्तकालिक संवर्तक नाम वाले मेघों के समूह जो काजल की भाँति काले थे, गर्जन-तर्जन करते हुए निकट आ गये। फिर तो वहाँ प्रबल प्रचण्डधार वृष्टि होने लगी।

जब पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चारों महाभूतों में परम विक्षोभ उत्पन्न हो गया, तब उस महाप्रलय की वेला में तीनों लोक ऐसे जान पड़ते थे, मानो तमाल के वन उड़ रहे हों। सारी त्रिलोकी भस्म-मेघ, धूम-मेघ, महाकल्पान्तकारी-मेघ, वाष्परूपी-मेघ तथा ऊपर छाये हुए जलकणरूपी-मेघ—इन पाँच प्रकार के मेघों से आच्छादित हो रही थी। आकाश में लगातार खम्भों के समान मोटी मूसलाधार वृष्टि हो रही थी।

उस समय धूम और भस्म के बादल प्रकट होने लगे, पानी की बाढ़ से जनपद और नगरों के समूह धराशायी होने लगे। ऊँची-ऊँची तरंगें उठने लगीं और भूतल तथा पर्वत डूबने लगे। भँवरों में पड़कर घर्घर-ध्वनि करने वाले और आपस में टकराकर एक दूसरे को विदीर्ण कर देने के लिए उद्यत ऊँचे-ऊँचे पर्वत समुद्र में बिखरे पत्तों के समान चक्कर काट रहे थे। घूमते हुए सैकड़ों धूमकेतुओं के उत्पात उठ रहे थे। इससे इस जगत् की ओर देखना अत्यन्त कठिन हो गया था। सातवें पातालतल का सारा संसार अपने स्थान से च्युत हुए द्वीपों और सागरों सहित भूमण्डल के बड़े-बड़े खण्डों और लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलों से पूर्ण-सा जान पड़ता था। नीचे सातवें पाताल तक, मध्य में भूमण्डल एवं पर्वतों तक और ऊपर आकाशमण्डल तक एकार्णव बना हुआ सारा जगत् प्रलय-वायु से परिपूर्ण हो रहा था।

जब वायु, वर्षा, हिम और दूसरे-दूसरे उत्पातों के आगमन से भूमण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्र के जल का वेग इस तरह बढ़ने लगा। वह एकार्णव आकाश-गङ्गा के प्रवाह में पड़ी हुई मेघधाराओं के गिरने से वेगपूर्वक बढ़ने लगा। प्रचण्ड वायु के द्वारा उत्पन्न किये गये अपूर्व जल-प्रवाहरूपी कुल पर्वतों से युक्त हुआ वह महार्णव महान् घुर्घुर और भयानक घर्घर ध्वनि के साथ अपने विशाल वेग को बढ़ाता जा रहा था। उस समय न तो आकाश था, न दिगन्त था, न नीचे का लोक था, न ऊपर का लोक था, न कोई भूत वर्ग था और न कहीं सृष्टि ही थी। सर्वत्र केवल जल-ही-जल दृष्टिगोचर होता था।

दृष्टि डालते ही समाधि में अविचल भाव से स्थित हुए परमेष्ठी ब्रह्मा अपने मुख्य-मुख्य परिवार के साथ दिखायी दिये, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पत्थर की बनी हुई प्रतिमा हों। वहाँ देवताओं तथा शुद्ध अन्तःकरण वाले मुनियों का समुदाय भी बैठा था। शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण, अग्नि तथा अन्य देवर्षि भी वहाँ देखने में आये। देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्यों के नायक भी वहाँ उपस्थित थे। वे सब-के-सब पद्मासन लगाये इस तरह ध्यान मग्न होकर बैठे थे, मानो चित्र में अङ्कित किये गये हों। जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष अपने सामने के स्वप्नगत नगर को नहीं देखता है, वैसे ही मैंने वहाँ किसी को भी नहीं देखा।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को सृष्टि रचने की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्व काल की जगत्-वासनाओं का जगद्रूप में उद्भव होता है। इसलिये वासना की शान्ति को निर्वाण समझना चाहिये और वासना की सत्ता को ही संसार रूपी भ्रम जानना चाहिये। चित्त की वृत्ति को जगाकर बहिर्मुख कर देने से बन्धन होता है और उसे परमात्मा में लीन कर देने पर निर्वाण प्राप्त होता है। चित्तवृत्ति का जागरण ही संसाररूपी शिशु को प्रकट करने वाला गर्भाशय है। उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् असत् होकर भी सत् के समान भासित होता है। चित्त के संकल्प का जाग्रत् होना ही बन्धन बताया गया है और उसे सुलाकर—आत्मा में लीन करके अपने चैतन्य-स्वरूप का अनुभव करना ही मोक्ष कहा गया है।

इस तरह ब्रह्मलोक के वे सभी निवासी, जैसे बत्ती जल जाने से दीपक बुझ जाते हैं, वैसे ही वासना का नाश होने से अदृश्य हो गये। ब्रह्माजी के ब्रह्मलीन हो जाने पर पूर्वोक्त बारह सूर्य अपनी प्रभा से प्रकाशित हो पृथ्वी आदि जगत् की भाँति उस ब्रह्मलोक को भी जलाने लगे। ब्रह्माजी के नगर दग्ध करके उन्हीं की भाँति ध्यान परायण हो वे भी तैल रहित दीपक की भाँति निर्वाण-पद को प्राप्त हो गये। इस प्रकार जब ब्रह्मलोक पर्यन्त वह

सारा ब्रह्माण्ड एकार्णव के जल से परिपूर्ण हो गया, तब वे कल्पान्तकारी मेघ छिन्न-भिन्न हो उस जलराशि में ही विलीन हो गये।

इसी बीच में वहाँ एक भयंकर रूप देखा, जो आकाश के मध्य भाग से प्रकट हुआ था। उसकी आकृति कल्पान्तकालिक जगत् के समान काली थी। उसने सारे आकाश को व्याप्त कर रखा था और देखने में मानो कल्पभर की सारी रातों का एकत्र संचित हुआ अन्धकार ही देह धारण ऐसा जान पड़ता था, करके खड़ा हो गया हो। वह प्रातःकाल के एक लाख सूर्यों का प्रकाशमान तेज अकेला ही धारण करता था। उसके तीन नेत्र थे, जो तीन सूर्यों के समान दिखायी देते थे और सुस्थिर विद्युत्-समूह के समान भयंकर जान पड़ते थे। उन नेत्रों की प्रभा से उसका मुख मण्डल अत्यन्त देदीप्यमान दिखायी देता था। वह पुरुष अपने अङ्गों से ज्वालापुञ्ज बिखेर रहा था। उसके पाँच मुख, दस भुजाएँ और प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र थे। उसने अपने हाथ में एक त्रिशूल ले रखा था। उस अनन्त आकाश में उसका वह विशाल शरीर व्याप्त हो रहा था। वह पुरुष आगे की ओर बढ़ा आ रहा था। आकाश के समान विशाल और मेघ के समान श्याम शरीर को धारण करके वह खड़ा था। एकार्णव में डूबे हुए ब्रह्माण्ड से बाहर आकाश में उसकी स्थिति थी। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश हाथ-पैर आदि शरीर को धारण करके दृष्टिपथ में आ रहा हो। अपनी नासिका से निकली हुई साँस के आने-जाने से वह उस एकार्णव को कम्पित किये दे रहा था। वह अपने बाहु दण्ड से क्षीर सागर को विक्षुब्ध कर देनेवाले भगवान् विष्णु के समान जान पड़ता था। ऐसा लगता था मानो उस कल्पान्तकालीन महासागर की जलराशि ही ही पुरुष रूप धारण करके खड़ी हो गयी हो। उसके हाथ में त्रिशूल था और उसके तीन नेत्र थे। इन लक्षणों से पहचान लिया कि ये भगवान् रुद्र हैं और दूर से ही उन परमेश्वर को नमस्कार किया।

रामजी ने पूछा—रुद्रदेव ने वैसा भयंकर रूप क्यों धारण किया था ? वे काले और विशालकाय क्यों हुए थे ? उनके पाँच मुख कौन-कौन और कैसे हैं ? वे कैसे और कौन-सी दस भुजाएँ धारण करके वहाँ उपस्थित हुए ? उनके तीन नेत्र कौन-कौन-से थे ? उनका शरीर ऐसा भयंकर क्यों था ? वे अकेले क्यों थे ? वहाँ प्रकट होने में उनका प्रयोजन क्या था ? वे किससे प्रेरित होकर आये थे ? उन्होंने वहाँ क्या किया था ? और उनकी छाया कौन थी ?

वसिष्ठजी ने कहा वे परमेश्वर अहंकार के अभिमानी रूप से रुद्रनामधारी होकर प्रकट हुए थे। उस समय उनकी जो मूर्ति दिखायी दी थी, वह निर्मल आकाश रूपी ही थी। महातेजस्वी भगवान् रुद्र आकाश रूपधारी होने के कारण आकाश के सामान ही श्याम वर्ण से युक्त दिखायी देते थे। चेतनाकाश मात्र ही उनका सारभूत स्वरूप है, इसलिये आकाशात्मा कहे गये हैं। सम्पूर्ण भूतों के आत्मा और सर्वव्यापी होने के कारण ही विशालकाय बताये गये हैं। अहंकार रूपी रुद्र की प्रत्येक शरीर से सम्बन्ध रखने वाली जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन्हीं को ज्ञानी पुरुष रुद्रदेव के पाँच मुख बताते हैं। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओर से प्रकाश स्वभाव कही गयीं हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा उनके पाँच विषय (बोलना, ग्रहण करना, विचरना, मल त्याग करना और विषय सुख की उपलब्धि कराना)—ये दस क्रमशः दाहिनी-बायीं भुजाएँ हैं। उस प्रलय काल में सम्पूर्ण भूतों से परित्यक्त होकर आकाशमात्र रूपधारी रुद्रदेव एक क्षण तक वहाँ सबको विक्षुब्ध करते हुए-से स्थित रहते हैं। फिर कारण भूत अहंकार-शरीर से रहित हो परम शान्त हो जाते हैं। सत्त्व, रज और तम—तीन गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान्—तीन काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि—त्रिविध अन्तःकरण; अ, उ. और म्—प्रणव के तीन अक्षर तथा ऋक्, साम और यजुष्—तीन वेद ही भगवान् रुद्रदेव के नेत्र रूप से स्थित हैं। उन्होंने मुट्ठी में त्रिलोकी रूप त्रिशूल को धारण कर रखा है। उस समय समस्त भूतगणों में भी उनके सिवा दूसरा कोई स्थित नहीं था। इसलिये वे वहाँ अहंकारात्मक रुद्र के रूप में देहाभिमानी-से होकर खड़े थे।

वे परमेश्वर वहाँ उद्यमपूर्वक श्वास-वायु के वेग से उस महासागर को पी जाने के कार्य में प्रवृत्त हुए। उनके फैले हुए मुख का भीतरी भाग ज्वालामालाओं से व्याप्त दिखायी देता था। उनकी श्वास वायु से आकृष्ट हुआ महासागर उनके भीतर उसी तरह समा गया, मानो वह बडवानल में विलीन हो गया हो। अहंकार स्वरूप भगवान् रुद्र ही कल्पपर्यन्त बडवानल होकर समुद्र में निवास करते हैं और उसका जल पीते रहते हैं। किन्तु प्रलय काल में, साँप बिल में और पाँचों प्राणवायु प्राणियों के मुखाकाश में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह सारा समुद्र वेगपूर्वक रुद्रदेव के मुख के भीतर एक ही क्षण में समा गया। उन श्याम रूपधारी रुद्र ने थोड़ी ही देर में उस जल को इस तरह पी लिया, जैसे सूर्यदेव अन्धकार को और सत्पुरुषों का सङ्ग दोष समूह को पी जाता—नष्ट कर देता है। तत्पश्चात् ब्रह्मलोक से लेकर पातालतक सारा स्थान धूलि, धूम, वायु, समुद्र तथा भूतगणों से रहित होकर शून्य, सम एवं शान्त आकाश मात्र रह गया। यह सारा जगत् आकार रहित होने पर भी स्वप्न नगर के समान साकार दिखायी देता है। जैसे चैतन्य शक्ति का प्रकाश होता है, वैसा ही यह जगत् भी स्थित है। जैसे आकाश में श्यामता और शून्यता है, जैसे वायु में गतिशीलता है, उसी तरह चेतनाकाश परमात्मा में यह जगत् स्थित है।

तदनन्तर उस समय उस महाकाश में मैंने देखा, भगवान् रुद्र मत्त से होकर अकाण्ड ताण्डव में प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूर तक फैली हुई थी। उनका शरीर आकाश के समान ही व्यापक दिखायी देता था उनका आकार बहुत बड़ा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो एकार्णव का जल ही तत्काल देह धारण करके खड़ा हो गया हो। इसके बाद मुझे दिखायी दिया कि उनके शरीर से छाया-सी निकल रही है, जो ताण्डव-नृत्य में उनका अनुकरण एवं अनुसरण करने वाली है। उस समय मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि द्वादश सूर्यों के विद्यमान न रहने पर जब आकाश में महान् अन्धकार छा रहा है, तब यह छाया कैसे स्थित हुई है? इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि वह तत्काल नृत्य करती हुई शीघ्रतापूर्वक उनके आगे जाकर खड़ी हो गयी। उसका शरीर भी भी बहुत विस्तृत था तथा वह भी अपने तीन नेत्रों से सुशोभित हो रही थी। उसका रंग घोर काला था और ही दुर्बल थी। अङ्गों में नस-नाड़ियों के जाल सुस्पष्ट दिखायी देते थे, जर्जर हो रही थी। आकृति विशाल थी, मुख पर आग की ज्वालाएँ व्याप्त थीं। वन के चञ्चल पत्र-पुष्प आदि मुकुट बनकर उसके मस्तक की शोभा बढ़ाते थे। वह कोयले के समान काली थी मानो काली रात्रि ही उसका रूप धारण करके आ गयी हो, अन्धकार लक्ष्मी ही मूर्तिमती हो गयी हो। वह बहुत लम्बी थी। उसका मुँह विकराल दिखायी देता था। वह इस तरह खड़ी थी मानो आकाश को नापने के लिये उद्यत हो। अपने बड़े-बड़े घुटनों और भुजाओं के भ्रमण से वह समस्त दिशाओं को मानो नाप लेना चाहती थी। वह ऐसी दुर्बल थी मानो बहुत काल तक उसे उपवास करना पड़ा हो। उसके विशाल शरीर में सर्वत्र गड्ढे-ही-गड्ढे दीख रहे थे। वह काजल की सी काली और मेघ माला की भाँति वायु के वेग से चञ्चल जान पड़ती थी। जब वह बहुत बड़ी और दुर्बल होने के कारण खड़ी होने में भी असमर्थ हो गयी, तब विधाता ने मानो उसे नस-नाड़ियों की लम्बी रस्सियों से बाँध दिया जिससे वह अच्छी तरह खड़ी रह सके। नस-नाड़ियों और अंतड़ियों की रस्सियों द्वारा उसके सिर और हाथ-पैर आदि सभी अङ्ग बँधे हुए दिखायी देते थे। अनेक वर्णों के सूर्यादि देवताओं तथा दानवों के मस्तक रूपी कमलों के समूहों की माला उसके कण्ठ में शोभा दे रही थी। हवा से प्रज्वलित तथा निर्मल प्रभा से पूर्ण अग्नि की ज्वाला ही उसके लिये आँचल थी। उसके लम्बे-लम्बे कानों में नाग झूल रहे थे। उसने दो मनुष्यों की लाशों को कुण्डल के रूप में धारण कर रखा था। जैसे सूखी लौकी की लता में दो बड़े-बड़े लटक रहे हों, उसी प्रकार उसकी छाती में कुछ-कुछ हिलते हुए काले रंग के दो स्तन दिखायी देते थे, जो बहुत बड़े होने के कारण जाँघ तक लटक रहे थे। उसके शरीर को देखकर यह अनुमान कर लिया कि यह वही कालरात्रि है, जिसके विषय में साधु पुरुषों ने यह निर्णय किया है कि 'ये भगवती काली हैं।' उसके तीन नेत्र आग की ज्वाला से परिपूर्ण थे। ललाट प्रान्त इन्द्रनील-मणि के समान चमक रहा था। दोनों ठोड़ियाँ गहरी होने के कारण भयंकर जान

पड़ती थीं। प्रवह आदि वायु रूपी तागों में पिरोयी हुई तारावलियाँ उसके कण्ठ देश में मुक्ताहार का काम दे रहीं थीं। वह वर्षा कराने वाले कल्पान्त काल के मेघों की भाँति शोभा पाने वाली भ्रमणशील भुजाओं द्वारा सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को व्याप्त करके खड़ी थी। वे भुजाएँ अपने नखों को बिखेर रही थीं। हिमालय और सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानों में चाँदी और सोने की बालियाँ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे। ब्रह्माण्ड रूपी घुँघुरुओं से बनी हुई विशाल माला उसके कटिभाग में करधनी का काम दे रही थी। शिखर, वन और नगर रूपी पुष्प गुच्छों से युक्त तथा पुराने नगर, वण, द्वीप और ग्राम रूपी कोमल पल्लवों से अलंकृत सातों कुल पर्वत उस भगवती काली के गले की पुष्प मालाएँ बने हुए थे।

उस देवी के अङ्गों में मैंने पुर, नगर, ऋतु, तीनों लोक, मास तथा दिन-रात रूपी फूलों की मालाएँ देखी थीं। उसके शरीर में व्यक्त रूप से स्थित नगर, ग्राम और पर्वत आदि मानो पुनर्जन्म पाने के आनन्द से उल्लसित हो उसके साथ-साथ नाच रहे थे। कभी-कभी वह नहीं नाचती थी तो भी पर्वत, वन और काननों सहित नाना आकार वाला सारा जगत् जो मरकर फिर लौटा था, नाचता ही रहता था। वह कालरात्रि जब चतुराई के साथ नृत्य करने लगती थी, तब चन्द्रमा, सूर्य, दिन और रात उसके नखाग्र-भाग की रेखाओं के भीतर विद्यमान प्रभा में मिलकर घूमते हुए सुवर्ण-सूत्र के समान दीर्घाकार प्रतीत होते थे। जब भगवती कालरात्रि का ताण्डव-नृत्य होने लगता था, तब इन्द्र आदि देवता और असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्ति से और-ही-और बनकर वायु से उड़ाये गये मच्छरों के समान अथवा अस्थिर विद्युत् के समान आते-जाते दिखायी देते थे। भगवती के शरीर में जो सर्ग दिखायी देता था, उसमें सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण एवं भ्रम आदि विभिन्न प्रकार के भाव कभी सदा एक साथ और कभी पृथक्-पृथक् रूप से सुशोभित होते थे। सम्पूर्ण कलाओं से युक्त देवी कालरात्रि चैतन्य-शक्ति रूपा जगन्मयी, अनन्त एवं विशाल आकाश कोश के सदृश विशुद्ध शरीर वाली है। वह देवी सूप, कुदाल, ओखली, चटाई, फाल, घट, पिटारी, मूसल, डोल या बाल्टी, बटलोई और खम्भे—इत्यादि वस्तुओं को भी फूल के समान मानकर उनकी माला धारण करके नृत्य करती थी।

रामचन्द्रजी ने पूछा—जब प्रलय काल में सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी कालरात्रि अपने किस शरीर से नाच रही थी? सूप, फाल और घट आदि से उसका माला धारण करना क्या है? यदि ये सब वस्तुएँ ही तो फिर त्रिलोकी का नाश क्या हुआ? और यदि त्रिलोकी नष्ट हो गयी थी तो काली के शरीर में इन सब वस्तुओं की स्थिति क्यों और कैसे सम्भव हुई? निर्वाण को प्राप्त हुआ जगत् फिर आकर नाचने कैसे लगा?

वास्तव में न वह पुरुष था, न वह स्त्री थी, न वह नृत्य हुआ, न वे दोनों रुद्र और काली वैसे विशेषणों से युक्त ही थे। उनके आचार-व्यवहार भी वैसे नहीं थे और उनकी वे आकृतियाँ भी नहीं थीं। जो कारणों का भी परम कारण है—वह अनादि, चिन्मय आकाश स्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाश रूप, अविनाशी, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द घन, शिव स्वरूप साक्षात् ब्रह्म ही भैरव (रुद्र) के आकार में दिखायी देता था। जगत् का नाश हो जाने पर उस रुद्रदेव के रूप में स्थित हुआ वह चेतनाकाश स्वरूप परमात्मा ही था।

जन्म, मरण, माया, मोह, मन्दता, अवस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षणकाल, दीर्घकाल, सत्, असत्, सदसद्भाव, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, रूप आदि विषयों का बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण, उन्हीं विषयों का मन के द्वारा चिन्तन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तेज, जल, वायु, आकाश तथा पृथ्वी आदि के रूप में जो यह दृश्य-प्रपञ्च फैला हुआ है, यह सब शुद्ध निरामय चेतनाकाशरूप परमात्मा ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपता का परित्याग न कर सर्वस्वरूप होकर स्थित है। मैंने जिस चिन्मय परमाकाश का वर्णन किया है, वह परमात्मा ही यहाँ शिव कहा गया है। यह सनातन पुरुष है। यही विष्णुरूप से स्थित होता है और यही पितामह ब्रह्मा है। यही चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम,

कुबेर, अग्नि, वायु, मेघ और महासागर है। यही भूत, भविष्य और वर्तमान काल है। जो वस्तु है और जो नहीं है, वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है।

जिस चिन्मय परमाकाशस्वरूप परमात्मा का वर्णन किया है, वही श्रुतियों में शिव कहा गया है और वही प्रलयकाल में रुद्र होकर नृत्य करता है। चिद्घन परमात्मा का स्पन्द है, वही भगवान् शिव का स्फुरण है। वही हम लोगों के सामने वासनावश नृत्यरूप के रूप में प्रकाशित होता है। अतः प्रलयकाल में वे भगवान् शिव भयंकर आकृति वाले रुद्र होकर जो वेगपूर्वक नृत्य करते हैं, उसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा का अपना सहज विलास समझना चाहिये।

रामजी ने पूछा—अब यह बताइये कि जो काली नृत्य करती है, उसका क्या स्वरूप है? तथा वह जिन सूप, फाल, कुदाल और मूसल आदि वस्तुओं की माला धारण करती है, उनका स्वरूप क्या है?

वसिष्ठजी ने कहा—वे जो भैरव या रुद्र बताये गये हैं, उन्हीं को चेतनाकाश-स्वरूप शिव कहते हैं। उनकी जो मनोमयी स्पन्दशक्ति है, उसे काली समझो। वह शिव से भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति-शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी गति-शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता या दाहक-शक्ति एक ही हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दघन शिव और उनकी स्पन्दशक्ति स्पन्दन या मायाशक्ति के द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं। शिव को ब्रह्म ही समझना चाहिये। उस शान्त-स्वरूप शिव का वर्णन बड़े-बड़े वाणीविशारद विद्वान् भी नहीं कर सकते। मायःमयी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मस्वरूप शिव की इच्छा कहीं जाती है। वह इच्छा इस दृश्याभासरूप जगत् का उसी तरह विस्तार करती है, जैसे साकार पुरुष की इच्छा काल्पनिक नगर का निर्माण करती है। इस प्रकार शिव की इच्छा ही कार्य करती है। निराकार ब्रह्म शिव की वह मायामयी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा ही इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् का निर्माण किया करती है। वही अपने अन्तर्गत चिदाभास के द्वारा उद्दीप्त होकर जीव-चैतन्य अथवा अथवा चितिशक्ति कही गयी है। वही जीने की इच्छा वाले प्राणियों का जीवन है। वह स्वयं ही जगत् के रूप में परिणत होने के कारण समस्त सृष्टि की उपादान है। दृश्याभासों में अनुभूत होने वाले उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्यरूपी चार प्रकार के फलों का सम्पादन करने के कारण वही क्रिया भी कहलाती है। ब्रह्माण्डरूप धारण करने वाली वह शक्ति या काली प्रलयकाल में जब समुद्र आदि के जल से भीगी होती है, तब बडवाग्नि की शिखा के समान तपने वाले ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य आदि की ज्योतियों से सुखायी जाती है; इसलिये उसे 'शुष्का' भी कहते हैं। दुष्टों पर स्वभावतः अत्यन्त क्रोध करने के कारण वह 'चण्डिका' कही गयी है। उसकी अङ्गकान्ति उत्पल-नील कमल के समान है; इसलिये उसका नाम 'उत्पला' भी है। एकमात्र जय में प्रतिष्ठित होने के कारण उसे 'जया' कहा गया है। सिद्धियों का आश्रय होने से वह 'सिद्धा' कही गयी है। चूँकि जया है, इसीलिये 'जयन्ती' भी है। विजय का आधारभूत होने से उसे 'विजया' कहा गया है। अत्यन्त पराक्रम के कारण वह 'अपराजिता' नाम से प्रसिद्ध है। उसका निग्रह करना किसी के लिये भी दुष्कर कार्य है, अतः उसका नाम 'दुर्गा' है। ओंकार की सारभूता शक्ति होने से वह 'उमा' कही गयी है। अपने मन्त्र का गान या जप करने वालों के लिये त्राणकारक तथा परमपुरुषार्थ रूप होने के कारण उस देवी का नाम 'गायत्री' है। जगत् के प्रसव की भूमि होने से उस जगज्जननी का नाम 'सावित्री' है। स्वर्ग और अपवर्ग के साधनभूत कर्म, उपासना एवं ज्ञानमयी दृष्टियों का प्रसार करने के कारण 'सरस्वती' कहा गया है। पार्वती रूप में उस देवी के अङ्ग और शरीर अत्यन्त गौर हैं, इसलिए वह 'गौरी' कहलाती हैं। वह महादेवजी के आधे शरीर में संयुक्त है अतएव भगवान् शिव को 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं। सुप्त और जाग्रत् जितने भी त्रिभुवन के प्राणी हैं, उनके हृदय में नित्य-निरन्तर आकारादि मात्राओं से रहित शब्दब्रह्म प्रणव के नाद का उच्चारण होता रहता है। वह नाद अर्धमात्रा स्वरूप होने से 'इन्दुकला' कहलाता है। वह इन्दुकला ही 'उमा' है। शिव और शिवा (रुद्र और काली) दोनों ही आकाशरूप हैं। अतः उनका शरीर काला दिखायी देता है इसीलिये उन्हें कालभैरव और काली कहते हैं।

स्फुरण मात्र ही जिसका एक स्वरूप है, वह भगवती काली 'क्रियाशक्ति' है। वही 'दान दें' 'स्नान करें' और 'अग्नि में आहुति दें' इत्यादि विधिवाक्यों द्वारा विहित दान, स्नान और यज्ञ आदि श्रेष्ठ शरीर धारण करती है। वास्तव में वह अनादि, अनन्त चिति-शक्ति है और अपनी इच्छा से ही अपने में सम्पूर्ण वैदिक क्रिया रूप से प्रकाशित होती है। वह आकाशरूपिणी है। वही स्पन्दन (स्फुरण) रूप धर्म वाली कान्तिमती दृश्यलक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। उस काली देवी के जो नाना प्रकार के अभिनय और नृत्य हैं, वे ही ब्रह्मा जी की सृष्टि में ये जन्म, जरा और मरण की रीतियाँ हैं। वह नील कमलिनी के समान कान्ति वाली होने के कारण 'काली' कहलाती है। वही 'क्रियाशक्ति' एवं 'ब्रह्माण्डकालिका' कही गयी है। वह अपने ही अवयवभूत इस दृश्य-लक्ष्मी को हृदय में धारण करती है।

जो तत्त्वज्ञ नहीं है, उसकी दृष्टि में वह चितिशक्ति ही क्रिया-रूप है। वह अनामय (निर्विकार) है तथापि स्वभाव से ही नृत्य करती है। उस क्रिया-रूपा चिति-शक्ति के कुदाल और पिटारी आदि आभूषण हैं। जैसे वायु की गति या चेष्टा वायु से भिन्न नहीं है, वैसा ही शिवस्वरूप परमात्मा की इच्छा-स्वरूपा वह कालरात्रि उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायु के भीतर की चेष्टा वायुरूप ही है; अतएव उसे चेष्टा नहीं भी कह सकते हैं, वैसे ही शिव की इच्छा शिव के स्वरूप से भिन्न नहीं है, अतएव शिवरूप ही है। इसीलिए वह अनिच्छा ही है। इस दृष्टि से शिव में इच्छा का अभाव है।

वह कालरात्रि जब उस महाकाश में नृत्य कर रही थी, उस समय उसने प्रेमावेशवश स्वयं अपने आवरण-कारी अंश को हटाकर निकटवर्ती शिव का स्पर्श कर लिया, परम कारणरूप शिव का स्पर्श होते ही वह कालरात्रि धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भाव को प्राप्त होने लगी। पहले तो वह अपने विशाल आकार का परित्याग करके पर्वताकार बन गयी। फिर नगराकार होकर विचित्र कल्पना-रूप पल्लव से सुशोभित वृक्ष के समान सुन्दरी बन गयी। इसके बाद उस आकार को भी छोड़कर वह व्योमाकार हो शिव के ही स्वरूप में प्रविष्ट हो गयी। शिव से शिव से रहित हो वे शिवस्वरूप परमात्मा एकाकी शिवरूप में ही शेष रह गये। उस पूर्ववर्णित आकाश में सर्व-संहारकारी रुद्र सारे उपद्रवों की शान्ति होने पर अकेले शान्तभाव से स्थित हुए। वह शिव परमेश्वर शिव की इच्छा-रूपा प्रकृति कही गयी है। वही जगन्माया के नाम से विख्यात है। वह परमेश्वर शिव की स्वाभाविक स्पन्द-शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृति से परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हीं का स्वरूप है। वे शिवरूप-धारी शान्त परमात्मा शरत्काल के आकाश की भाँति निर्मल एवं परम शान्तिमान् हैं।

जब मैं खड़ा-खड़ा देख रहा था, तब मुझे दिखायी दिया कि वे भगवान् रुद्र तथा ब्रह्माण्ड के वे दोनों खण्ड या कपाल चित्र-लिखित के समान निश्चेष्ट हैं। तदनन्तर एक ही मुहूर्त में आकाश के बीच रुद्रदेव ने ब्रह्माण्ड के उन दोनों खण्डों को अपनी सूर्यरूपिणी दृष्टि से देखा फिर पलक मारते-मारते उन दोनों ब्राह्मणखण्डों को अपनी श्वासवायु के द्वारा खींचकर उन्होंने पाताल-गुफा के समान मुंह में डाल लिया। तदनन्तर वे एक ही मुहूर्त में बादल के समान हल्के और छोटे हो गये। फिर छड़ी के समान और उसके बाद बित्ते भर के हो गये। तत्पश्चात् जिन्हें वैसे विशाल रूप में देखा गया था, वे रुद्र मुझे काँच के टुकड़े की एक कणिका के समान दिखाई दिये। इसके बाद मैंने आकाश से दिव्यदृष्टि द्वारा देखा, वे परमाणु के बराबर हो गये थे। परमाणुरूप होने के पश्चात् वे अदृश्य हो गये।

तदनन्तर उस विद्याधरी का, उस शिला का तथा उस संसारभ्रमण का स्मरण करके मैं आश्चर्यचकित हो गया, इसके बाद मैंने पुनः उस सुवर्णशिला को ध्यान से देखना आरम्भ किया। फिर तो मुझे काली के शरीर में स्थित हुए संसार की भाँति उसमें सर्वत्र नूतन सर्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वह घनीभूत मण्डलाकार सुवर्णमयी विस्तृत पाषाणशिला एकरूप में ही स्थित थी और सन्ध्याकाल के मेघ की भाँति परम सुन्दर दिखाई देती थी।

उसके बाद चेतनाकाशस्वरूप निर्विकार अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्मरूप से स्थित हुए मैंने जब समाहित-चित्त होकर देखा तो अपने शरीर के भीतर ही मुझे सृष्टिरूपी वृक्ष एक अङ्कुर के रूप में स्थित दिखायी दिया। तदनन्तर पृथ्वी की धारणा से युक्त होकर मैं ध्यान करने लगा। पृथ्वी की धारणा करने पर उसके अभिमानी जीव की स्वरूपता प्राप्त कर मैं द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादिरूपी देह से युक्त हो वहाँ के जगत् का अनुभव करने लगा। मैं सम्पूर्ण भूमण्डल बन गया। नाना प्रकार के वन और वृक्ष मेरे शरीर के रोम हो गये। नाना प्रकार की रत्नावलियाँ मेरे शरीर में व्याप्त थीं और अनेकानेक नगर मेरे लिये आभूषण का काम दे रहे थे। पृथ्वी का रूप धारण करके मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीप नामक प्राणियों के भोग्यस्थलों और जंगल-समूहों से व्याप्त हो गया। नाना प्रकार के पदार्थों की श्रेणियों से भरे हुए अनेकानेन मण्डलकोश मुझमें दृष्टिगोचर होने लगे तथा मैं लता, सरोवर, सरिता और कमलसमूहों से सुशोभित होने लगा।

रामजी ने पूछा—अब यह बताइये कि उस समय आपने विभिन्न भूभागों के भीतर कहीं ब्रह्माण्डों के दर्शन किये थे या नहीं ?

वसिष्ठजी ने कहा—पहले शिला में जैसे सम्पूर्ण जगत् देखा गया था, वैसे ही उस समय भूमण्डल के सभी स्थानों में मुझे जगत् का जाल-सा बिछा हुआ दिखायी दिया। वह सारा दृश्यमय प्रपञ्च द्वैतमय होता हुआ भी वास्तव में शान्त अद्वैत ही है। सभी स्थानों में जगत् है और सर्वत्र सबके आधाररूप से ब्रह्म विराजमान है। अतः सब कुछ परम शान्त चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही है और सभी अनेक प्रकार के आरम्भों से परिपूर्ण है। यद्यपि यह दृश्य 'सत्' और 'अहम्' इत्यादि रूप से अनुभव में आता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थ दशा में है ही नहीं और यदि है तो वह सब अजन्म—निर्विकार ब्रह्म ही है।

मैंने धारणाद्वारा पृथ्वी का रूप धारण करके जैसे वहाँ नाना प्रकार के जगत् देखे थे, वैसे ही जलतत्त्व की धारणा से कलरूप होकर वहाँ भी जगत् का दर्शन किया। रसरूप होने के कारण मैंने जिह्वासम्बन्धी एक-एक अणु के साथ रहकर उत्तम अनुभव प्राप्त किया, जिसे मैं अपने शरीर का नहीं, केवल ज्ञानरूप आत्मा का ही अनुभव मानता हूँ। जलकण का रूप धारण करके हवा के रथपर चढ़कर मैंने आकाश की निर्मल गलियों में सुगन्ध की भाँति विचरण किया। जल की समता प्राप्त करा देने वाली उस जलमयी धारणा के द्वारा अजड होकर भी जड जल-सा बनकर तथा समस्त पदार्थों के भीतर ज्ञातारूप से रहता हुआ भी दूसरों के द्वारा अज्ञात होकर रहा।

तत्पश्चात् मैं तेजस्तत्त्वकी बढ़ी हुई धारणा के द्वारा चन्द्रमा, सूर्य, तारा और अग्नि आदि विचित्र अवयवों से युक्त तेज बन गया। तेज के सदा सत्त्व-प्रधान होने के कारण मैं प्रकाशरूप बनकर चमक उठा। संसार में जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाश के ही अङ्ग हैं। अतः सदा प्रकाश की गोद में शयन करनेवाले शुक्ल, कृष्ण और अरुण आदि समस्त वर्णों का स्वरूपदाता पिता हो गया। अपने तेजस्वरूप से मैं दिग्वधुओं के लिए स्वच्छ दर्पण बन गया। रात्रिरूपी कुहरे को नष्ट करने के लिए वायु-स्वरूप हो गया। चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि का तो जीवन-सर्वस्व ही था। मैं स्वर्गलोक के लिए कुंकुम का आलेप बन गया। मैं तेज बनकर सुवर्ण आदि में सुन्दर रंग बन गया, मनुष्य आदि में पराक्रम हो गया, रत्न आदि में चकाचौंध पैदा करने वाली कान्ति बन गया और वर्षाऋतु में विद्युत् का प्रकाश हो गया। तेज की धारणा से तेजोमय होकर मैं उन वृत्र आदि असुरों के मस्तक पर वज्र का प्रहार बन गया, जो अपने थप्पड़ से शत्रुओं का सिर फोड़ डालते थे। साथ ही सिंह आदि के हृदय में पराक्रम बनकर बैठ गया। रणाङ्गण में निर्भय विचरण करने वाला जो उद्भट पराक्रम वीरपुरुषों के भीतर प्रसिद्ध है, वह भी मैं ही बन गया। वह भी साधारण पराक्रम नहीं, अपितु जो कठोर लोहकवचों को तोड़नेवाले खड्गों के परस्पर आघातों से उत्पन्न हुई टंकारध्वनि से अत्यन्त पटु तथा महान् आडम्बर से युक्त हो। सूर्यस्वरूप होकर मैंने दसों दिशाओं में फैले हुए किरणरूपी हाथों से जगत्रूपी पक्षी को, जिसके बड़े-बूढ़े पर्वत अङ्ग थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको

यह सारा भूतल एक छोटे से गाँव के समान दिखाई दिया। चन्द्रमा के रूप में प्रकट होने पर मेरा आकार अमृत से भरी हुई झील के समान हो गया। मैं द्युलोकरूपी सुन्दरी का मुख बन गया। निशारूपिणी निशाचरी के हास्य-सा लगने लगा और रात्रि में यत्र-तत्र प्रवेश करनेवाले पुरुषों के लिये प्रकाश-दीप का काम देने लगा। मैंने अग्नि बनकर दावानल की ऐसी ज्वाला फैलायी, जिससे लकड़ियों का तत्काल विदारण हो जाता था और मेरी दुर्निवार दीप्ति बढ़ जाती थी। बड़े-बड़े काष्ठों के फूटने और फटने से अत्यन्त कठोर शब्द उत्पन्न होते थे। यज्ञाग्नि बनकर मैंने हविष्यादि का भी कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किया। कहीं लोहार आदि की प्रयोगशालाओं में मैंने तप्त लौहपिण्ड-आदि से ताडित होने पर उन ताडनकर्ताओं को जलाने के लिए आग की चिनगारियाँ प्रकट की थीं। जैसे सोया हुआ पुरुष चेतन होता हुआ भी जडता का अनुभव करता है, वैसे ही चेतनाकाश अपने संकल्प से दृश्यभाव को प्राप्त होकर जड़ता का-सा अनुभव करता है।

तदनन्तर मैं जगत् को देखने के कौतूहल से धीर-चित्तवृत्ति के द्वारा वायुमयी विस्तृत धारण करके वायु रूप हो गया और लता वल्लरी रूपिणी ललनाओं को नचाने लगा। कमल, उत्पल और कुन्द आदि पुष्प समूहों की सुगन्ध का संचय करके उसकी रक्षा करने लगा। नन्दन वन में मेरा आना-जाना अत्यन्त मधुर और उदार होता था; क्योंकि वहाँ बड़ी मधुर सुगन्ध सुलभ होती थी। चन्द्र मण्डल में जो श्रेष्ठ अमृत है, उसका चिरकाल तक उपभोग करके पूर्ण रूप से घिरे हुए मेघों की घटारूप शय्या पर सोकर तथा कमल वनों को कम्पित करके मैं प्राणियों के श्रम का निवारण किया करता था। आकाश रूपी पुष्प का मैं ही सौरभ था। अतएव उसके गुण भूत सभी शब्दों का मैं सहोदर भाई बन गया। प्राणियों के अङ्गों और उपाङ्गों में प्रेरक बनकर उनकी नाड़ी रूप नालियों में जल सा हो गया था। मैं सुगन्ध रूपी रत्नों का लुटेरा विमान रूपी नगरों की आधारभूमि, दाहरूपी अन्धकार का निवारण करने के लिये चन्द्रमा तथा शीतरूपी चन्द्रमा की उत्पत्ति के लिये क्षीरसागर था। एक ही क्षण में मैं समस्त पर्वतों को उखाड़ कर फेंकने में समर्थ था। वायु रूप बनकर मैंने छः प्रकार की क्रियाएँ करते-करते प्रलय पर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया। मेरे वे छः कर्म थे हिम और घी आदि को जमा देना—उसका पिण्ड बनाना, कीचड़ आदि को सुखाना, मेघ आदि को धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्ध को इधर-उधर ले जाना तथा ताप हर लेना। समस्त ब्रह्माण्ड रूप होने के कारण यद्यपि सारे पाताल मेरे चरण बन गये थे, मैं भूतल को उदर के रूप में धारण कर रहा था और आकाश मेरा मस्तक था, तथापि मैंने अपनी परम सूक्ष्म चिन्मात्र स्वरूप पताका कभी त्याग नहीं किया था। इस प्रकार चिदाकाश रूप से स्थित हुए मैंने भूमि, जल, अग्नि और वायु स्वरूप धारण किया।

इस प्रकार धारणा के द्वारा सिद्ध हुए पृथ्वी आदि के रूप से जगत् शरीर का अवलोकन करने के बाद पूर्वोक्त कौतुक दर्शन के संकल्प और प्रयत्न से निवृत्त हो मैं पुनः पहले के समाधि स्थान आकाश-कुटीर के प्रदेश की ओर लौट आया। वहाँ आने पर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहीं भी स्थित नहीं दिखायी देता है। वहाँ अपने सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्ध पुरुष को मैं देख रहा हूँ, जो अकेला है। वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और अभीष्ट परम पद को प्राप्त हो चुका था। उसने पद्मासन बाँध रखा था। वह परम शान्त था और समधि में चित्त के स्थिर हो जाने से उसका शरीर हिलता-डुलता नहीं था। भस्म निर्मित त्रिपुण्ड की रेखाओं से युक्त, सौम्य तथा समान विस्तार वाले कन्धों से उसकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। उसका मन उदार ब्रह्मतत्त्व में विश्राम ले रहा था। इसलिये उसका शरीर सुस्थिर और मुख अत्यन्त प्रसन्न था। उस प्रसन्न मुख से सुशोभित उसके मस्तक की जो निश्चल अवस्था थी, उसके कारण वह सिद्ध बड़ा सुन्दर दिखायी देता था। नाभि के निकट उत्तान भाव से रखे हुए उसके दोनों हाथों की शोभा दो प्रफुल्ल कमलों की शोभा के समान जान पड़ती थी। उन हाथों की शोभा के रूप में मानो हृदय-कमल के प्रकाश ही बाहर प्रकट हो गये।

मैंने सोचा "जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा हैं, जो मेरी तरह सोच-विचार कर एकान्त महाकाश में विश्राम लेने की इच्छा से इस दिगन्त में आ पहुँचे हैं। 'मैं समाधि के योग्य एकान्त स्थान पा जाऊँ" इस चिन्ता में ही पड़कर ये सत्य संकल्पशाली महात्मा इधर आये हैं और इन्हें यह कुटी दिखायी दी है। उसके बाद दीर्घकाल तक जब मैं नहीं लौटा हूँ, तब मेरे पुनः आगमन की बात इनके ध्यान में नहीं आयी है और इन्होंने शवरूप में पड़े हुए मेरे शरीर को यहाँ से हटाकर स्वयं इस कुटिया में आसन जमा लिया है। मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया। अतः अब इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षि लोक को चलूँ"—ऐसा निश्चय कर मैं वहाँ से चलने को उद्यत हुआ, वैसे ही मेरे पूर्व संकल्प का क्षय हो जाने से वह कुटी अदृश्य हो गयी और वहाँ केवल आकाश मण्डल रह गया। फिर तो समाधि में स्थित हुए वे सिद्ध बाबा निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लगे।

मैंने पहले यह संकल्प किया था कि जबतक मैं यहाँ रहूँ, तबतक यह कुटी भी रहे, परन्तु अब वह संकल्प क्षीण हो जाने से कुटिया नष्ट हो गयी और सिद्ध महात्मा क्षणभर में वहाँ से गिर पड़े। तब सुजनता या कौतुकवश मैं उन गिरते हुए सिद्धपुरुष के साथ उस मनोमय आतिवाहिक शरीर से ही आकाश से भूतल की ओर चला। गिरते समय उनका पैर पूर्ववत् पृथ्वी से जा लगा और मस्तक ऊपर की ओर ही उठा रहा। वे पद्मासन लगाये हुए ही वहाँ गिरे थे। उनके प्राण ने अपान वायु को ऊपर की ओर खींच रखा था। इसीलिये वे पहले जिस प्रकार बैठे थे, उसी अवस्था में आकाश से नीचे आ गये। वे सिद्ध पुरुष इतने ऊँचे से गिरने पर भी समाधि से जगे नहीं; क्योंकि चित्त के परमात्मा में दृढ़ता पूर्वक लगे रहने के कारण वे अचेतन से हो रहे थे। साथ ही उनका कोई अङ्ग भी भङ्ग नहीं हुआ; क्योंकि वे योग के प्रभाव से रूई के ढेर की भाँति बहुत ही हल्के बन गये थे। तब मैंने उन्हें समाधि से जगाने के लिये प्रयत्न आरम्भ किया और बादल का रूप धारण करके आकाश में गर्जन-तर्जन के साथ वर्षा आरम्भ कर दी। ओले और वज्र गिरने लगे। जैसे बादल या वर्षा मोर को जगाती हैं, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-कौशल से उस दिगन्त में उन सिद्ध पुरुष को जगाया। समाधि से जागने के बाद उनके समस्त अङ्गों की शोभा प्रकाशित होने लगी और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो वर्षा काल में धारावाहिक वृष्टि से विकसित हुआ कमलों का वन हो। समाधि से जागने पर मैंने उनसे शुद्ध भाव से पूछा—'मुनीश्वर! आप कहाँ हैं और यह क्या कर रहे हैं? आप कौन हैं? इतनी दूरी से आप नीचे गिरे हैं, फिर भी आप अपने चित्त में उसका अनुभव क्यों नहीं कर रहे हैं?' मेरे इस प्रकार पूछने पर उन्होंने मेरी ओर देखा। फिर अपनी पूर्व गति का स्मरण करके वे मुझसे बोले—जबतक मैं अपने वृत्तान्त का स्मरण न कर लूँ, तब तक आप मेरे उत्तर के लिये प्रतीक्षा कीजिये। इतना कहकर उन्होंने अपने पूर्व वृत्तान्त को शीघ्र ही स्मरण कर लिया।

सिद्ध ने कहा—इस समय मैंने आपको पहचान लिया है। अतः प्रणाम करता हूँ। अब तक ऐसा न करने से मेरे द्वारा जो अपराध बन गया है, इसे आप क्षमा करें; क्योंकि क्षमा सत्पुरुषों का स्वभाव है। जैसे कमलों में भौंरा भ्रमण करता है, उसी प्रकार मैंने सुदीर्घ काल तक भोग रूपी सुगन्ध से पूर्ण मोह कारक देवोद्यान-भूमियों में चिरकाल तक भ्रमण किया है। तदनन्तर चित्तरूपी जल-तरङ्गों के हिलोरों से युक्त दृश्य रूपिणी नदी में उसके मण्डलाकार आवर्तों (भँवरों) द्वारा निरन्तर बहाये जाते हुए मैंने दीर्घकाल के बाद विवेक का आविर्भाव होने पर संसार से उद्विग्न हो इस तरह विचार किया—'अहो! इस संसार में शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्र को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; अतः इतने ही मात्र में—ऐसे तुच्छ विषय भोग में क्यों रमण करूँ? विषयों में विषों की विषमता भरी है, सुन्दरी स्त्रियाँ काम रूप मोह को ही देने वाली हैं तथा राग सरस पुरुष को भी विरसता प्रदान करने वाले हैं; इनमें लोटने वाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुवा? इस शरीर में शीघ्र प्राप्त होने वाली जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था एक विशाल बगुली के समान है। वह यही सोचती रहती है कि मैंने इस जीवन रूपी कीचड़ या सेवार में बहुत बड़ी मछली पा ली है। इसी भाव से वह इस शरीर को तत्काल उदरस्थ कर लेना चाहती है।

यह शरीर समुद्र में दीखने वाले बुलबुले के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है। यह सामने स्फुरित होता हुआ सहसा दीपशिखा के समान बुझकर अदृश्य हो जाता है।

'यह जीवन एक महानदी है। इसमें नाना प्रकार के विक्षेप बड़ी-बड़ी लहरों के समान हैं। कालचक्र ही इसमें भँवरे बनकर उठता है। जन्म और मरण ही इसके दो ऊँचे और विशाल तट में है तथा इसमें सुख-दुःख की छोटी'छोटी तरङ्गें उठती रहती हैं। जैसे समुद्र पत्नी सरिताएँ भूतल पर अपने शरीर को आन्दोलित करती हुई समुद्र की ओर दौड़ रही हैं, उसी प्रकार जनता विषयों की ओर दौड़ी जा रही है। यहाँ आयु ही उत्पात-वायु है। मित्र ही बड़े भारी शत्रु हैं। बन्धु ही बन्धन हैं और धन ही बड़ी भारी मौत है। सुख ही अत्यन्त दुःख है। सम्पत्तियाँ ही भारी विपत्तियाँ हैं। भोग ही संसार के महान् रोग हैं तथा रति ही भारी दुःख है। सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं। यहाँ का सुख केवल दुःख देने के लिए है और जीवन भी मृत्यु की धरोहर है। यह माया का विस्तार कितना दुःखद है—विषयसेवनरूप जो भोग हैं, उन्हें सर्पों का फन ही समझना चाहिए; क्योंकि वे थोड़ा-सा भी स्पर्श होने पर डँस ही लेते हैं। किन्तु विचारदृष्टि से देखने पर प्रतिक्षण विनाशशील ही हैं। जो भोगों की अभिलाषा से उनके प्रति तृष्णा बाँधे बैठे हैं, उन लोगों का उसी तरह पग-पग पर अपमान होता है, जैसे बन्धन-स्तम्भन में बँधे हुए जंगली हाथियों का हुआ करता है।

सम्पत्तियाँ और युवती स्त्रियाँ ये तरङ्गों की गोद के समान क्षणभङ्गुर हैं। इतना ही नहीं, वे सर्प के फन की छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा? जो आरम्भ में रमणीय प्रतीत होने वाले किन्तु अन्त में अत्यन्त नीरस सिद्ध होने वाले विषयभोगों में रमते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं। धन राग-द्वेषादि द्वन्द्व दोषों से आक्रान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी अत्यन्त कठिन होता है तथा प्राप्त हो जाने पर भी वे स्थिर नहीं रहते हैं। अतः ये अधम पुरुषों के लिए ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भ में मधुर लगती है, परन्तु अन्त में दुःख ही देने वाली है, वह लौकिक सम्पत्ति जगत् को मोह में ही डालती है। उसका विलास क्षणभर के लिए ही होता है। कोई महान्-से-महान् पुरुष क्यों न हो, उनके जीवन में भी एक दिन मृत्यु अवश्य उपस्थित होगी। देहधारियों की आयु शाखा के अग्रभाग में लटकी हुई ओस की बूंद के समान शीघ्र ही नष्ट होसे वाली है। जरा अवस्था को प्राप्त होते हुए पुरुष के केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं। उसकी और सब वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं। परन्तु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है, वह नित्य नयी ही बनी रहती है। हाथ की अञ्जलि में रखे हुए जल की भाँति यह जीवन शीघ्र ही स्खलित हो जाता है। वह नदी के प्रवाह की भाँति चला जाता है और लौटता नहीं है। इस जगत् में जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थों में अमरणीयता है। स्थिर वस्तुओं में भी अस्थिरता का दर्शन किया है और सत्य दीखनेवाले पदार्थों में भी असत्यता दिखायी दी है। इसीलिये यहाँ से विरक्त हो उठा हूँ। मन के सर्वथा वासनाशून्य हो जाने पर जब परमात्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और स्वर्ग के भी किन्हीं भोगों में नहीं मिल सकता।

इस तरह दीर्घकाल तक विचार करने से अब अहंकारशून्य हो मैंने अपनी बुद्धि के द्वारा स्वर्ग और अव-सर्ग से भी विरक्ति प्राप्त की है। इस कारण मैं भी आपकी ही भाँति चिरकाल तक एकान्त में विश्रान्त के लिए आकाश के इस स्थान तक आया और यहाँ मुझे आपकी कुटी दिखाई दी। आपकी ही यह कुटी है और आप पुनः यहाँ पधारेंगे, यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी। यह सब तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। उस समय तो अनुमान से मैंने यही जाना था कि यह कोई सिद्ध पुरुष था, जो यहाँ अपना शरीर त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त हो गया है। यही मेरा वृत्तान्त है और यह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मैंने सब बातें आपको बता दीं।

श्री वसिष्ठजी ने सिद्ध से कहा—मैंने भी तो आपके विषय में कोई विचार नहीं किया, इसी से उस कुटी को आकाश में स्थिर नहीं कर दिया। उसे स्थिर कर दिया होता तो आपकी स्थिति भी सुस्थिर हो गयी होती।

आप को इस प्रकार नीचे नहीं गिरना पड़ता अतः हम दोनों से परस्पर अपराध हुए हैं, इसलिये दोनों ही दोनों को क्षमा कर दें। उठिये, अब हम दोनों सिद्धलोकों में चलकर पूर्ववत् निवास करें। तदनन्तर हम दोनों गुलेल से फेंके गये दो पत्थर की गोलियों के समान एक साथ ही तीव्र गति से आकाश में उड़े। हमारी स्थिति दो तारों के समान हो रही थी। ऊपर जाकर हम दोनों ने एक दूसरे को प्रणामपूर्वक विदा किया। फिर वे सिद्ध महात्मा अभीष्ट स्थान को चले गए और मैं अपने अभीष्ट स्थान में।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—आपका यह शरीर तो पृथ्वी पर गिरकर धूल के परमाणुओं में मिल गया होगा। फिर आप किस शरीर से सिद्धलोक में विचरे?

वसिष्ठजी ने कहा—मुझे याद आ गया। उसके बाद का वृत्तान्त सुनो। जगत् रूपी गृह में सिद्धों के समूहों में तथा लोकपालों के पुरियों के भ्रमण करते हुए मुझ वसिष्ठ की आत्मकथा इस प्रकार है—एक दिन मैं इन्द्रपुरी में, गया, परन्तु वहाँ स्थूल शरीर से रहित हो सूक्ष्म देह से गए हुए मुझको न तो किसी ने देखा और न पहचाना ही। मन का मनन ही एकमात्र मेरा स्वरूप था। मैं पृथ्वी आदि से सर्वथा रहित था। संकल्प-कल्पित पुरुष की भाँति मेरा कोई दृश्य आकार नहीं था। मुझसे किसी का स्पर्श न होने के कारण मैं घट-पट आदि पदार्थों का अवरोधक नहीं था। जगत् के पदार्थ समुदाय भी मुझे कहीं आने जाने से रोक नहीं पाते थे। मैं अपने अनुभव की ओर ही उन्मुख था अर्थात् अपना अनुभव ही मेरा शरीर था। तथा अपने समान स्थिति वाले मनोमय पुरुषों के साथ ही मैं व्यवहार करता था।

रामचन्द्रजी ने पूछा—यदि देहरहित एवं आकाशस्वरूप होने के कारण आप किसी को दिखायी नहीं देते थे तो उस सिद्ध ने आपको उस सुवर्णमयी भूमि में कैसे देखा था?

वसिष्ठजी कहा—मुझ जैसा ज्ञानयोग से सिद्ध पुरुष संकल्पकल्पित पदार्थों का जिस तरह अवलोकन करता है, उस तरह असंकल्पित पदार्थों को नहीं ग्रहण करता क्योंकि उसका शरीर सत्यसंकल्पमय होता है। निर्मल अन्तःकरण वाला सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष भी लौकिक व्यवहारों में मग्न होने पर क्षण भर में ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। उस समय मैंने यह संकल्प किया था कि यह सिद्ध पुरुष मुझे देखे। इसलिये उसने मुझे देखा; क्योंकि वह मेरे संकल्पित अर्थ का भाजन था। परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध मनोरथ वाले दो सिद्धों में जो अधिक शुद्ध अन्तःकरण वाला और पुरुषोचित प्रयत्न से युक्त होता है, वही अपने अभीष्ट-साधन में विजयी होता है। जब मैं सिद्ध समूहों तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण कर रहा था, उस समय व्यवहार-समूहों के प्राप्त होने से मुझे अपनी अतिवाहिकता विस्मृत हो गयी थी—मैं अपने सूक्ष्म शरीर को भूल गया था। जब ऐसी स्थिति आ गयी, तब मैं उस महाकाश में दूसरों के साथ व्यवहार करने में प्रवृत्त हुआ। परन्तु मेरा रूप ऐसा चञ्चल था कि वहाँ मुझे कोई देख नहीं पाता था। उस समय न तो मुझे सूर्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र आदि देख पाते थे और न देवता, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओं की ही मुझ पर दृष्टि पड़ती थी। वे लोग मेरी बात तक नहीं सुन पाते थे। यह सब सोचकर किसी के हाथ बिके हुए सत्पुरुष की भाँति मैं मोह में पड़ गया—किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। इसके बाद मैंने सोचा, 'मैं तो सत्यकाम हूँ। जो भी संकल्प करूँगा—सत्य होगा', यह बात ध्यान में आते ही मैंने संकल्प किया—'ये देवता लोग मुझे देखें'। ऐसा संकल्प होते ही उस देवलोक में मेरे सामने रहने वाले सभी देवता मुझे तत्काल देखने लगे, जैसे नगर में आये हुए इन्द्रजालमय वृक्ष को सभी दर्शक शीघ्र ही देखने लगते हैं। तत्पश्चात् देवताओं के घरों मेरा सब व्यवहार चलने लगा। मैं अपने यथोचित आचार का पालन करता हुआ निःसंकोच वहाँ रहने लगा। जिन लोगों को मेरे वृत्तान्त का ज्ञान नहीं था, उनमें से जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे अपने आँगन में आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगों ने पृथ्वी से मेरी उत्पत्ति की कल्पना करके मुझे 'पार्थिव वसिष्ठ' कहा—फिर इसी नाम से लोक में मेरी प्रसिद्धि हुई। जो लोग आकाश में रहते थे, उनमें से जिन महानुभावों ने मुझे

आकाश में भगवान् सूर्य देव की किरणों से प्रकट हुआ देखा, उन्होंने लोक में 'तैजस् वसिष्ठ' नाम देकर मुझे प्रसिद्ध किया तथा जिन आकाश वासी सिद्धों ने वायु से मेरा प्राकट्य देखा, उन्होंने मुझे 'वात-वसिष्ठ' की संज्ञा दी तथा जिन मुनीश्वरों ने मुझे जल से उठते देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम दिया। इस प्रकार दृष्टि भेद से मेरी यह जन्म परम्परा कल्पित हुई है। तभी से लोक में मैं कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस् और कहीं पर मारुत वसिष्ठ नाम से विख्यात हुआ।

इस तरह कहीं आकाश आदि पञ्चभूत रूप से स्फुरित होने पर भी मैं एकमात्र चिन्मय स्वभाव वाला निराकार, चेतना काश रूप परब्रह्म ही हूँ तथा तुम लोगों के बीच उपदेश आदि व्यवहार की सिद्धि के लिये स्थूल आकार से युक्त भी दिखायी देता हूँ। जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष सारा व्यवहार करता हुआ भी ब्रह्माकाश रूप से ही स्थित रहता है, उसी तरह विदेहमुक्त भी ब्रह्मरूप से ही स्थित होता है। किन्तु जिस पुरुष की बुद्धि संसार वासनावश देह और इन्द्रिय के द्वारा भोगने योग्य अयोग्य वस्तु—विषय भोग में आसक्त होती है तथा जिसके मन में कभी मोक्ष की आकांक्षा नहीं जाग्रत् होती, वह मन्द बुद्धि मानव मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीड़ा है (क्योंकि वह भोगरूपी गन्दी चीज को पसन्द करता है, मनुष्य तो वही है जो मोक्ष के लिये प्रयत्नशील हैं)। चित्त का सर्वथा शान्त एवं शीतल होना मोक्ष है तथा उसका सन्तप्त होना ही बन्धन है। ऐसे मोक्ष में भी लोगों की रुचि नहीं हो रही है। यह संसार कितना मूढ़ है? यह मानव-समुदाय स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है। इसीलिये एक दूसरे की स्त्री और धन का अपहरण करने के लिये लोलुप हो रहा है। जब मुमुक्षु होकर शास्त्रों के अर्थ का विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि (तत्त्व-साक्षात्कार) प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो जाता है।

जब वसिष्ठ मुनि इतना उपदेश दे चुके, तब वह दिन बीत गया। भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले गये। इधर उस राजसभा के लोग सायं कालिक कृत्य के हेतु स्नान करने के लिये मुनिवर वसिष्ठ को नमस्कार करके उठ गये तथा रात बीतने पर सूर्य देव की किरणों के उदय के साथ ही फिर उस सभा में लौट आये।

इस आख्यायिका से जो विज्ञान दृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही समझना चाहिये कि सारी सृष्टियाँ चेतना काश में ही स्थित हैं। यहाँ जो कुछ भी दीखता है, उसे चिन्मय ब्रह्म ही समझना चाहिये।

यह जगत् परमात्मा का स्वप्न है, इसलिए चिन्मय है, ब्रह्माकाशरूप है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है।' इस इस दृष्टि से सबको सत्य जगत् का ही अनुभव होता है, असत्य का नहीं। 'पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्व आदि के क्रम से इस जगत् की उत्पत्ति होती है।' ऐसी दृष्टि रखने वाले आचार्य महानुभावों के मत को भी सत्य ही समझना चाहिये; क्योंकि इस भाव का चिन्तन करने से ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य ब्रह्म का विवर्त है—ब्रह्म ही इस दृश्य जगत् के रूप में भासित हो रहा है' ऐसी बातें कहने वाले महापुरुषों का मत भी सत्य ही है; क्योंकि इस तरह आलोचना करने पर इसी रूप में समस्त पदार्थों का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग 'सम्पूर्ण जगत् को परमाणुओं का समूह रूप' ही मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है; क्योंकि उन्हें जिस-जिस पदार्थ के विषय में जैसा-जैसा अनुभव हुआ, उस-उस अनुभव के अनुसार की गयी उनकी कल्पना भी ठीक ही है। 'इस लोक या परलोक में जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। वास्तविक तत्त्व इन दोनों से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।' इस तरह का जो प्रौढ़ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य ही है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'बाह्य—पृथ्वी आदि चार भूतों का समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्मा की सत्ता नहीं है।' ऐसा कहने वाले जो नास्तिक हैं, परन्तु वे भी अपनी दृष्टि से ठीक ही कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियातीत आत्मा को अपने स्थूल देह में ही ढूंढ़ते हैं, परन्तु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो 'प्रत्येक पदार्थ को क्षण भङ्गुर' बताते हैं, उनका वह मत भी युक्ति संगत ही है; क्योंकि सभी पदार्थों का निरन्तर परिवर्तन एवं उलट-फेर देखने में आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है। इसलिये उसके विषय में जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है। 'जैसे घड़े के भीतर बन्द हुआ गोरैया घड़े का मुंह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बन्द और देह के बराबर आकार वाला जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है।' इस मत को मानने वाले लोगों की कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी तरह म्लेच्छों का यह मत है कि 'जीव देह के बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाड़ा जाता है, वह वहीं रहता है। ईश्वर कालान्तर में उसके विषय में विचार करते हैं। तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरक में डाला जाता है।' आत्मसिद्धि के लिये की हुई म्लेच्छों की यह कल्पना उनके भाव के अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशों में वह दूषित नहीं मानी जाती है। जो सन्त महात्मा हैं, वे 'ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण और जन्म आदि में समभाव' रखते है। यह भी ठीक ही है; क्योंकि विभिन्न विचारधारा के विद्वानों का जो मत है, वह सब सर्वात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये अपने-अपने मत के अनुसार साधन करने पर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकों के मत में 'जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है। अतः पारलौकिक लाभ के लिये किये गये तीर्थ-स्नान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं।' ऐसी जो उनकी भावित भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिये। 'यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य ही है, किन्तु अनिवर्चनीय है' इस प्रकार मानने वाले वादियों का मत भी असत्य नहीं है; क्योंकि सर्व शक्तिमान् ब्रह्म की जो मायाशक्ति है, वह न तो शून्य रूप है और न सत्य ही है, किन्तु उसे अनिवर्चनीय समझना चाहिये। इसलिये जो अपने जिस निश्चय में दृढ़ता पूर्वक स्थित है, वह यदि बालोचित चपलता या मूढ़ता के कारण उस निश्चय से हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय में विद्वानों के साथ विचार कर ले, विचार के बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसी को ग्रहण करे। दूसरे जैसे-तैसे निश्चय को नहीं ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रों के स्वाध्याय और सद्व्यवहार की दृष्टि से जिस देश में जो भी उत्तम बुद्धि से युक्त हो, उस देश में वही विद्वान् या पण्डित है। अतः सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिये उसी का आश्रय लेना चाहिये। उत्तम शास्त्र के अनुसार व्यवहार करने वाले तथा तत्त्वज्ञान के लिये परस्पर वाद-विवाद करने वाले सत्पुरुषों में जो सबको आह्लाद प्रदान करने वाला और अनिन्दनीय हो, वही श्रेष्ठ है, जिनके सूर्य तुल्य प्रकाश से दिन प्रकाशित एवं सार्थक होते हैं। जो मूढ़ हैं, वे सभी मोहरूपी महासागर में संसार चक्र के आवर्तन-प्रत्यावर्तन से ऊपर-नीचे होते हुए तृण के समान बहते रहते हैं।

विवेक पुरुष संसार से विरक्त हो परम पद परब्रह्म परमात्मा में विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पाकर हर्षित होते हैं, न किसी के प्रतिकूल वर्ताव से कुपित होते हैं। न आवेश में आते हैं, न आहार का संग्रह करते हैं, न लोगों से उद्विग्न होते हैं और न स्वयं ही लोगों को उद्वेग में डालते हैं। वे किसी भी बुरी-अच्छी कामना से हठपूर्वक कष्ट साध्य वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। ये प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमा की किरणों समान अपने सङ्ग से अन्तःकरण में आह्लाद प्रदान करते हैं। कर्तव्यों का विवेचन करते और क्षण भर में ही विवाद का निर्णय कर देते हैं। उनका आचरण दूसरों को उद्वेग में डालने वाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और बुद्धिमानों के समान समुचित आचरण करते हैं। बाहर से उनका आचरण सबके समान ही होता है, किन्तु भीतर से वे सर्वथा शीतल होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा शास्त्रों के अर्थों में बड़ा रस लेते हैं। जगत् में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-बुरा है, इसका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान होता है। त्याज्य और ग्राह्य का भी वे ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्र के विरुद्ध कार्यों से वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनों के बीच रहने या सत्संग करने के रसिक

होते हैं। घर पर आये हुए याचक रूपी भ्रमर का वे प्रफुल्ल कमलों के समान अपने ज्ञान का अनावृत सुगन्ध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुस्वद भोजन देकर आदर-सत्कार करते हैं। जनता को अपनी ओर खींचते हैं और लोगों के पाप-ताप हर लेते हैं। वर्षाकाल के मेघों की भाँति वे स्निग्ध एवं शीतल होते हैं। धीर स्वभाव वाले ज्ञानी पुरुष राजाओं के नाशक और देश को छिन्न-भिन्न करने वाले व्यापक जन-क्षोभ को रोक देते हैं।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डल के समान सुन्दर अङ्गवाली गुणशालिनी पत्नी के समान विपत्तिकाल में उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और सम्पत्ति के समय सुख पहुँचाते हैं। साधु पुरुष वैशाख मास या वसन्त के समान अपने सुयशरूपिणी पुष्प से सम्पूर्ण दिशाओं को निर्मल बनाते, उत्तम फल की प्राप्ति में कारण बनते और कोकिल के समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओं में, बुद्धिनाश के अवसरों पर, भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मरण—इन छः ऊर्मियों के प्राप्त होने पर, व्याकुलता की दशा में तथा घोर संकट आने पर साधु पुरुष ही सत्पुरुषों के आश्रयदाता होते हैं। काल-सर्प से भरे हुए अत्यन्त भयंकर संसार-सागर को सत्संगरूपी जहाज के बिना दूसरी किसी नौका से पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणों में से एक भी गुण को सामने रख कर उसमें दीखने वाले सब दोषों की उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिए। सारे कामों को छोड़कर सत्पुरुषों का सङ्ग करे; क्योंकि यह सत्संगरूपी कर्म निर्बाधरूप से इहलोक और परलोक दोनों का साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुष से अधिक दूर नहीं रहना चाहिए। विनययुक्त वर्ताव करते हुए सदा साधुपुरुषों का सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुष समीप जानेवाले मनुष्य का उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण ही स्पर्श करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्प वाले वृक्ष के निकट जाने से उसके पुष्प-पराग विना यत्न के ही सुलभ हो जाते हैं।

जो वस्तु शास्त्रीय विचार से उपलब्ध होती है तथा जिसकी सत्ता हेतुओं और युक्तियों द्वारा सिद्ध सिद्ध है, वही सत् कही गयी है। शेष सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्र हैं। जो तीनों कालों में कभी हुई ही नहीं, वह वस्तु सत् कैसे हो सकती है? मूर्ख की दृष्टि में इस संसार का जैसा स्वरूप है, उसे वही जानता है। हम लोगों को उसका अनुभव नहीं है। मृगतृष्णा की नदी के जल में जो मछली रहती है, वही उसकी मिथ्या चञ्चल लहरों के आवर्तन-प्रत्यावर्तन को जानती होगी। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में तो केवक एकमात्र चेतनाकाश ही बाहर-भीतर, तुम-मैं इत्यादि सब कुछ बनकर प्रकाशित हो रहा है।

अब प्रश्न है कि जिन लोगों का यह पक्ष (मत) है कि 'जबतक जीवे, तब तक सुख से जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। जो शरीर जलकर भस्म होकर बुझ गया, उसका पुनः आगमन कहाँ से हो सकता है?' उनके लिये इस संसार में दुःख-शान्ति का क्या उपाय है?

संवित् का जो-जो निश्चय होता है, वह अपने भीतर अखण्डरूप से उसी का अनुभव करती है। इस बात का सब लोगों को प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तःकरण में नित्य-निरन्तर जैसी बुद्धि का उदय होता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। यदि संवित् के बोध से पुरुष दुखी हुआ है तो जबतक यह विरुद्ध बोध रहेगा, तब तक जीव दुःखमय बना रहेगा। यह जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्माकाश का स्फुरणमात्र ही है, ऐसी भावना दृढ़ हो जाय तो वह दुःख का बोध कैसे हो सकेगा? जो जगत् वस्तुतः कूटस्थ अद्वितीय चेतनाकाशरूप है, उस जगत् से किसको कैसे दुःख का बोध हो सकता है। जीव की जैसी दृढ़ भावना होती है, उसी के अनुसार वह सुखी या दुखी होता है, ऐसा निश्चय है। जिनके मत में चेतन से शरीर की कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष वन्दनीय हैं; परन्तु जिनके मत में शरीर से चेतन की उत्पत्ति होती है, उन नराधमों से बात तक नहीं करनी चाहिये।

चिन्मात्र ही पुरुष है, वही इस प्रकार नाना रूपों में अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्मा के सिवा दूसरी किस वस्तु की सत्ता यहाँ सम्भव हो सकती है? मेरे सारे अङ्ग चूर-चूर होकर परमाणु के तुल्य हो हो जायँ अथवा बढ़कर सुमेरु पर्वत के समान विशाल हो जायँ, इससे मेरी क्या क्षति हुई अथवा क्या वृद्धि हुई? क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय हैं।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसी-से अकस्मात् विरक्त ही होता है। वह धन के लिये याचक होकर नहीं घूमता और भीतर से वीतराग होकर जी ऊपर से रागयुक्त-सा जान पड़ता है। शास्त्र के अनुसार व्यवहार करते हुए क्रमशः जो सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उनसे वस्तुतः वह अछूता रहता है तो भी उनका स्पर्श-सा करता जान पड़ता है। वह उन सुख-दुःखों से हर्ष और विषाद के वशीभूत नहीं होता। अवश्य ज्ञानी महात्मा दूसरों के सुख से प्रसन्न और दूसरों के ही दुःख से दुखी देखे जाते हैं, परन्तु वे भीतर से अपने समतापूर्ण स्वभाव का परित्याग कभी नहीं करते; क्योंकि वे संसाररूपी नाट्यशाला के नट हैं। अपने कहे जानेवाले पुत्र आदि जितने पदार्थसमूह हैं, वे सब वस्तुतः पानी के बुलबुलों के समान मिथ्या हैं। अतः तत्त्वदर्शी महात्मा का उनके प्रति (मोहरूप) स्नेह नहीं होता है। पर वह ज्ञानी महात्मा स्नेहरहित होने पर भी घनीभूत स्नेह से आर्द्र हृदयवाले पुरुष की भाँति यथायोग्य वात्सल्य-वृत्ति का दर्शन कराता हुआ व्यवहार करता है। वह बाहर से समस्त शिष्टाचारों के पालन में संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त बना रहता है। उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का आवेश नहीं होता तो भी बाहर से कभी-कभी आविष्ट-सा दिखाई देता है।

अश्व के सदृश ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए कलुषित चित्त वाले दम्भी मनुष्य भी तो झूठमूठ में अपनी तपस्या की दृढ़ता दिखलाने के लिए ऐसे लक्षणों से युक्त हो सकते हैं। फिर, कौन सच्चे महात्मा हैं और कौन दम्भी, इसे कौन जान सकता है ?

ये लक्षण सत्य हों या असत्य, किन्तु ऐसे लक्षणों से युक्त स्वरूप का होरा हर हालत में अच्छा ही है (इन लक्षणों से सम्पन्न पुरुष दम्भी हो तो भी आदरणीय ही है)। जो वेदार्थ-तत्त्व परमात्मा के ज्ञाता हैं, उनमें तो ये गुणसमूह स्वाभाविक अनुभव के बल से ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे जीवन्मुक्त पुरुष वीतराग तथा क्रिया के फलों में आसक्ति से शून्य होते हुए ही रागयुक्त पुरुषों के समान चेष्टा करते हैं। वे दुखियों को देखकर सहसा करुणा से भर जाते हैं। चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब हुए समस्त दृश्यप्रपञ्च को वे कपटभूमि के समान असत् देखते हैं। स्वप्न में हस्तगत हुए सुवर्ण को जैसे जाग्रत्काल में असत् माना जाता है, वैसे ही वे इस जगत् को असत् समझते हैं।

जिन्हें ज्ञेय पदार्थ—परमात्मा का भलीभाँति ज्ञान हो चुका है और जो उन ज्ञानी महात्माओं के समान ही पवित्र अन्तःकरण वाले हैं, वे ही उन महात्माओं के महत्त्व को ठीक-ठीक जान पाते हैं, जैसे साँप के पदचिह्नों को साँप ही समझ पाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो अपने सर्वोत्तम भाव को छिपाये फिरते हैं। भला, गाँव और नगरों के धनों से जिसका खरीदा जाना असम्भव है, ऐसी कौन-सी चिन्तामणि बाजार में बिकने के लिये आती है ? उन तत्त्वज्ञानी महात्माओं का भाव अपने गुणों को छिपाये रखने में ही होता है, दूसरों के सामने प्रदर्शन करने में नहीं; क्योंकि वे वासना से शून्य, द्वैतहीन एवं अभिमान से रहित होते हैं। श्रीराम ! उन महात्माओं को एकान्त सेवन, असम्मान, बुरी स्थिति तथा साधारण लोगों द्वारा की गयी अवहेलना—ये सब चीजें जैसा सुख पहुँचाती हैं, वैसा सुख उन्हें बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी नहीं दे सकतीं।

तत्त्वज्ञान का सारभूत जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभव से ही जानने योग्य है, उसे दूसरे को दिखाया नहीं जा सकता। तत्त्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता, केवल स्वप्रकाश रूप से उसका अनुभव करता है। 'लोग मेरे इस गुण को जानें और मेरी पूजा करें' ऐसी इच्छा अहंकारियों को ही होती है। जिनका चित्त अहंकार से मुक्त है, उनके भीतर ऐसी इच्छा का उदय नहीं होता है। आकाश में गमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे तो मन्त्र और औषध के प्रभाव से अज्ञानियों के लिये भी सिद्ध सुलभ हो जाते हैं। कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो लक्ष्यसिद्धि के लिये जैसा क्लेश सहन करने में समर्थ हो, वह वैसा ही फल कर्मानुसार अवश्य प्राप्त कर लेता है। चन्दन की सुगन्ध की भाँति विहित और निषिद्ध कर्मों का फल सबी के हृदय में अपूर्व रूप से विद्यमान है। समय

पाकर प्रकट हुए उस फलको उसका अधिकारी जीव अवश्य पाता है। 'यह आकाशगमन आदि फल कुछ भी नहीं है—अत्यन्त तुच्छ है अथवा मन का भ्रममात्र है, या अधिष्ठानभूत चिदाकाशमात्र है'—जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्म की बवंडररूप उन मन्त्रौषधि-साध्य क्रियाओं का साधन कैसे करेगा ? उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही। किसी प्राणी में उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता। इस पृथ्वी पर, स्वर्ग में अथवा देवताओं के यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारचेता परमात्मज्ञानी को लुभा सके। जिसके लिये सारा संसार तिनके के समान तुच्छ हो गया है, जिसमें रजोगुण का लेश भी नहीं है, उस ज्ञानी महात्मा के लिये एकमात्र परमात्मा से भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है ?

लोकसंग्रह के लिये जिसने जगत् के व्यवहारों का पूर्णरूप से निर्वाह किया है, जिसका हृदय परिपूर्ण निष्काम है, वह मननशील जीवन्मुक्त पुरुष अपने स्वरूप में ज्यों-का-त्यों स्थिर रह कर यथाप्राप्त शिष्टाचार का अनुसरण करता है। जो भीतर से नित्य शान्त और मौनी है तथा जिसकी मनोभूमि सत्त्वगुणमय हो गयी है, वह महात्मा भरे हुए महासागर के समान सब ओर से पूर्ण होता है तथा उसका आशय गम्भीर होने के साथ ही सुस्पष्ट होता है। तत्त्व-ज्ञानी पुरुष अमृत से भरे हुए सरोवर के समान अपने आत्मा में स्वयं ही आनन्द की हिलोरें लेता है तथा निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमा के समान दूसरों को भी आह्लाद प्रदान करता है।

'यह सारा विश्व भ्रम मात्र है, मिथ्या इन्द्रजाल है'—ऐसे दृढ़ निश्चय के कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओं से सर्वथा रहित हो जाता है। ज्ञानी महात्मा अपने शरीर के सर्दी-गर्मी आदि दुःखों को भी इस तरह अवहेलनापूर्वक देखता है, मानो वे दूसरे के शरीर में हों। केवल परहित के लिये फल-फूल धारण करने वाला लता के समान धीर वृत्ति से तथा करुणा के कारण उदार वृत्ति से वह महात्मा दुखी प्राणियों का परिपालन करता है। वह संसार से विरक्त होकर ऐसी सारभूत स्थिति को अपनाता है, जिसमें जल मात्र ग्रहण करके भी सन्तोष माना जाता है। साधारण लोगों के समान यथा प्राप्त व्यवहार का सम्पादन करता हुआ वह महात्मा चराचर भूतों के ऊपर परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित होता है।

कोई महात्मा पर्वत की गुफा को ही घर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रम में निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई प्रायः इधर-उधर घूमता रहता है। कोई भिक्षाचर्या से निर्वाह करता है, कोई एकान्त में बैठकर तपस्या करता है, कोई मौन व्रत धारण किये रहता है, कोई परमात्मा के ध्यान में संलग्न होता है, कोई प्रख्यात पण्डित होता है, कोई श्रुतियों का श्रोता होता है, कोई राजा, कोई ब्राह्मण और कोई मूढ़ के समान स्थित रहता है, कोई सिद्ध गुटिका, अञ्जन और खड्ग आदि से सिद्ध होकर आकाशगमी बना रहता है, कोई शिल्प कला से जीवन-निर्वाह करता है, कोई पामर के समान रूप धारण किये रहता है। कोई सारे वैदिक आचारों का परित्याग कर देता है तो कोई कर्मकाण्डियों का सरदार बना रहता है, किसी का चरित्र उन्मत्तों के समान होता है और कोई संन्यास-मार्ग का आश्रय लेता है।

शरीर आदि और चित्त आदि कुछ भी पुरुष का स्वरूप नहीं हैं। केवल चेतन-तत्त्व ही पुरुष है। उसका कभी नाश नहीं होता है। यह आत्मा अच्छेद्य है—इसे कोई काट नहीं सकता। यह अदाह्य है—इसे कोई जला नहीं सकता। यह अक्लेद्य है—इसे कोई पानी से भिगो या गला नहीं सकता। यह अशोष्य है—इसे कोई सुखा नहीं सकता। यह आत्मा नित्य, सर्व व्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है। तत्त्वज्ञ पुरुष पाताल में समा जाय, आकाश को लाँघकर उसके ऊपर चला जाय अथवा सम्पूर्ण दिशाओं में वेगपूर्वक भ्रमण करे, जिससे पर्वत आदि से टकराकर वह पिस जाय या चूर-चूर हो जाय, परन्तु उसका जो चिन्मात्र स्वरूप है वह अजर-अमर

बंधा रहता है, यह कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आकाश के समान अनन्त सदा शान्त, अजन्मा और कल्याणमय परमात्म स्वरूप ही है।

शम, दम आदि साधन से सम्पन्न पुरुष को चाहिये कि वह उद्वेग छोड़कर प्रतिदिन गुरु-शुश्रूषा आदि नियमपूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्र का विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनों के लिये हितकर तथा कल्याणकारी है। आप सब सभासद भाँति-भाँति की असम्भावना एवं विपरीत भावना आदि को अपने हृदय में स्थान दिये हुए हैं। इसलिए मिल-जुलकर अभ्यास न करने से आप लोगों का जाना हुआ भी यह आत्मज्ञान भूल जाने के कारण अनजाना-सा हो रहा है। जो जिस वस्तु को चाहता है, वह उसके लिये यत्न करता है। वह यदि थककर उस प्रयत्न से निवृत्त न हो जाय तो अपनी अभीष्ट वस्तु को अवश्य प्राप्त कर लेता है। इस शास्त्र के सिवा कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन आज तक न तो हुआ है और न आगे होगा ही। इसलिये परम बोध की प्राप्ति के लिये इसी का बारम्बार विचार एवं मनन करना चाहिये। इस शास्त्र का भली भाँति विचार करके स्थित हुए पुरुष को स्वयं ही उत्तम परमात्म तत्त्व का बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान और शाप की भाँति यह विलम्ब से अपना फल नहीं प्रकट करता। यह परमात्मबोध संसार-मार्ग के श्रम को हर लेने वाला है। जो न तो पिता ने, न माता ने और न शुभ कर्मों ने ही अब तक सिद्ध किया है, वही आपका परम कल्याण यह महारामायण-शास्त्र तत्काल सिद्ध कर देगा, यदि आप अभ्यासपूर्वक इसे भली-भाँति जान लें। यह संसार-बन्धनमयी विपूचिका (हैजा) बड़ी भयंकर है और दीर्घकाल तक टिकी रहने वाली है। आत्मज्ञान के सिवा दूसरी किसी दवा से यह कभी शान्त नहीं होती।

मनुष्यो ! आपात मधुर, शून्य एवं निस्सार विषयों का आस्वादन करते हुए खाली हवा चाटने वाले सर्पों के समान आकाश रूपी अनन्त संसार की ओर पैर न बढ़ाओ। बड़े कष्ट की बात है कि तुम्हारे दिन केवल लौकिक व्यवहार में ही इस तरह बीत रहे हैं कि वे कब आये और कब गये, इसका तुम्हें पता ही नहीं लगता। इन्हीं बीतते हुए दिनों के द्वारा तुम लोग केवल अपनी मौत की राह देख रहे हो। तुम मान और मोह से रहित होकर तत्त्वज्ञान के द्वारा उत्तम मोक्ष-पद को प्राप्त करो। अधम संसार-गति में न पड़ो। आत्मज्ञान के द्वारा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है। जो आज ही मरण रूपी आपत्ति से बचने का उपाय नहीं करता है, वह मूढ़ रुग्णावस्था में, जब मौत सिरपर सवार हो जायगी, तब क्या करेगा ?

मैं न तो मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ, न राक्षस ही हूँ, अपितु आप लोगों का सूक्ष्म संविद्रूप विशुद्ध आत्मा हूँ और इस प्रकार उपदेश देने के लिये यहाँ बैठा हूँ। आप लोग भी शुद्ध चैतन्य मात्र ही हैं। अत्यन्त निर्मल चिन्मात्र स्वरूप मैं आप लोगों के पुण्य से ही यहाँ उपस्थित हूँ। आप की आत्मा से भिन्न नहीं हूँ। जब तक मौत के काले दिन नहीं आ रहे हैं, तभी तक सब वस्तुओं में वैराग्य रूपी पहला सार पदार्थ समेट कर रख लो। जो इस शरीर में रहते हुए ही नरक रूपी रोग की चिकित्सा नहीं कर लेता, वह औषध शून्य प्रदेश (परलोक) में पहुँच कर उस रोग से पीड़ित होने पर क्या करेगा ? जब तक समस्त पदार्थों की ओर से वैराग्य नहीं प्राप्त होता तब तक उन पदार्थों की वासना क्षीण नहीं होती है। आत्मा का पूर्णरूप से उद्धार करने के लिये वासना को क्षीण करने के सिवा दूसरा कोई उपाय कभी सफल नहीं होता। पदार्थों की सत्ता होती है, तभी उनमें अनुकूलता बुद्धि होने से वासना होती है। किन्तु ये पदार्थ तो खरगोश के सींग आदि की भाँति हैं ही नहीं। जगत् के सभी पदार्थ तभी तक मनोहर प्रतीत होते हैं, जब तक कि उनके स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं किया जाता। विचार करने पर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। अतः वे जीर्ण-शीर्ण होकर न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं।

निर्मल आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जो लौकिक दुःख और सुख से रहित अक्षय परमानन्द रूपता प्राप्त होती है, वही मोक्ष है। वह शरीर के रहने या न रहने पर भी समान रूप से ही उपलब्ध होता है। उसी मोक्ष-सुख में सबका पूर्ण विश्राम हो।

स्वप्न और जाग्रत्–दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं ?

स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न के संसार में स्वप्नगत बन्धुजनों के साथ विहार करने के पश्चात् वहाँ मृत्यु को प्राप्त होता है। स्वप्न-शरीर की निवृत्ति ही स्वप्नद्रष्टा की मृत्यु है। स्वप्न-संसार में मरकर जीव जब स्वप्नगत प्राणियों से वियुक्त होता है, तब इस जाग्रत्-संसार में जागता है और निद्रा से मुक्त कहलाता है। जो स्वप्न का द्रष्टा है, वह स्वप्न-संसार में अनेकानेक सुख-दुःख-दशाओं का, मोह का तथा रात और दिन के उलट-फेर का अनुभव करके वहाँ मरता—स्वप्न-शरीर का त्याग करता है। फिर निद्रा टूट जाने के कारण निद्रा के अन्त में वह यहाँ शयन स्थान में मानो नया जन्म लेता है और जाग्रत्-शरीर से सम्बद्ध होता है। तदनन्तर 'ये स्वप्न में देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे' इस विश्वास से युक्त होता है। जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न के संसार में मृत्यु को स्वप्न-शरीर का त्याग करके दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न के लिये पुनः जन्म लेता या जाग्रत्-शरीर से सम्बद्ध होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न देखने वाला पुरुष जाग्रत्-संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिये पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैसे एक जाग्रत् में मरकर दूसरे जाग्रत् में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत् प्रपञ्च के विषय में 'वह स्वप्न एवं असत् था' ऐसी प्रतीति को नहीं प्राप्त होता, उसी तरह एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त हुआ पुरुष बाद वाले स्वप्न की प्रतीति को नहीं प्राप्त होता, वह जाग्रत् की ही प्रतीति ग्रहण करता है। यह उसकी बुद्धि की मूढ़ता का ही परिणाम है। जैसे बाद वाले स्वप्न में जाग्रत की प्रतीति भ्रममात्र ही है, वैसे ही पूर्व-जाग्रत् को स्वप्न और असत् न समझना भी मूढ़ता ही है। स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्न में भी फिर अन्य स्वप्न-दर्शन का अनुभव करता हुआ उस स्वप्न को ही जाग्रत् रूप से ग्रहण करता है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न नाम की दो अवस्थाओं में जीव न तो स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता ही है। किंतु उन-उन जाग्रत् और स्वप्न के शरीरों में अभिमान करता और छोड़ता है। यही उसका जन्म लेना और मरना है। स्वप्न-द्रष्टा जीव स्वप्न में मरकर इस जागरण अवस्था में जागा हुआ कहलाता है और इस जाग्रत् में मरा हुआ जीव अन्यत्र जाग्रत्रूप स्वप्न में जागा हुआ कहा जाता है (इस तरह स्वप्न और जाग्रत् की समता ही सिद्ध होती है)। एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थिति होने पर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्न की अपेक्षा वर्तमान होने से जाग्रत् समझा जाता है। इसी प्रकार जाग्रत् में मरकर दूसरे जाग्रत्रूप स्वप्न में जगे हुए पुरुष के लिए पहली जाग्रदवस्था अवश्य ही स्वप्न हो जाती है। इस दृष्टि से जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अतीत घटना के समान हैं। वर्तमानकाल में दोनों में से किसी की भी सत्ता नहीं है। इस कारण वे परस्पर एक दूसरे के उपमान और उपमेय बने हुए हैं। वर्तमान अवस्था में तो स्वप्न भी जाग्रत् के समान ही प्रतीत होता है और बीता हुआ जाग्रत् भी स्वप्न के समान ही है। वास्तव में दोनों ही असत् हैं। केवल चिदाकाश ही स्वप्न और जाग्रत् के रूप में स्फुरित होता है। जैसे स्वप्न में दीखने वाले नगर, पर्वत और गृह आदि चिन्मय आकाश ही हैं, उसी तरह जाग्रत् में भो ये नगर, पर्वत आदि चिदाकाशमय ही हैं। स्वप्न और जाग्रत्—दोनों अन्त में विकल्प शून्य, शान्त, अनन्त, एक चिन्मात्र ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार तत्त्व के विषय में वादियों का विवाद व्यर्थ है।

रामचन्द्रजी ने पूछा ! चेतनाकाशरूप जो परब्रह्म है, वह कैसा है ? यह कृपापूर्वक फिर बताइये। आपके मुखारविन्द से इस अमृतमय उपदेश को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।

वसिष्ठजी ने कहा—पृथ्वी आदि से रहित जो स्वप्न-जगत् है और पृथ्वी आदि से युक्त जो जाग्रत्काल का जगत् है—ये दोनों ही प्रकार के जगत् चिदाकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओं में केवल चिन्मयमणि (आत्मा) ही विभिन्न वस्तुओं के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार इस जाग्रत्-कालिक दृश्यप्रपञ्च के रूप में केवल चिदाकाश ही स्फुरित हो रहा है। इस चिदाकाश का जो स्वानुभवैकगम्य निराकार रूप है, वही भूतल आदि के रूप से दृश्य नाम धारण करके प्रतीति का विषय हो रहा है।

इस भूतल आदि के रूप से दृश्य की प्रतीति होना ही अविद्या है। जिन अज्ञानियों के अन्तःकरण में अविद्या विद्यमान रहती है, उनकी उस अविद्या का कोई अन्त नहीं है। लोका-लोक पर्वत की किसी स्वर्णमयी-सी शिला के भीतर विद्यमान चिदाकाश के एक कोने में किसी प्रदेश के अन्तर्गत एक त्रिलोकी बसी हुई है, जो इसी त्रैलोक्य के समान है और वहाँ भी यहीं की व्यवस्था के अनुसार देश, काल आदि की मर्यादा नियत है। वहाँ जम्बूद्वीप नाम का भू-भाग है, वह भूमण्डल का भूषणरूप है। वहाँ की समतल भूमि पर जहाँ गमनागमनादि व्यवहार सुगमतापूर्वक होते हैं, एक नगरी थी, जिसका नाम था ततसिति। उस नगरी में विपश्चित् नाम से विख्यात कोई राजा थे, जो अपनी विद्वत्ता के कारण श्रेष्ठ सभासदों से सुशोभित अपनी राजसभा में विशेष शोभा पाते थे। राजा विपश्चित् बड़े स्वाभिमानी नरेश थे। उनकी बुद्धि सदा ब्राह्मणों के हित-चिन्तन में लगी रहती थी। इसीलिये वे देवताओं में ब्राह्मण-स्वरूप अग्निदेव का ही भक्तिपूर्वक पूजन करते थे। अग्नि के सिवा दूसरे किसी देवता को वे नहीं मानते थे। राजा विपश्चित् के मन्त्रियों में चार प्रधान थे, जो चारों दिशाओं में स्थित चार महासागरों के समान मर्यादा-पालन के लिये नियुक्त थे। समुद्र मत्स्यों और मगरों के समूह से युक्त होते हैं तो वे मन्त्री हाथी और घोड़ों के समुदाय से सम्पन्न थे। समुद्रों में भंवरों का व्यूह होता है तो इनके मन्त्री लोग सैनिकों के चक्रव्यूह से युक्त थे। समुद्र तरङ्ग-मालाओं से व्याप्त होते हैं तो मन्त्री लोग सैनिकों की श्रेणियों से घिरे हुए थे। समुद्रों में निष्कम्प पर्वतों के बल की अधिकता होती है तो ये मन्त्री लोग अडिग सैनिकों की शक्ति से सर्वथा बढ़े-चढ़े थे।

एक दिन उनके पास पूर्वदिशा से एक चतुर गुप्तचर आया। उसने एकान्त में राजा से मिलकर यह बड़ी भयंकर बात सुनायी—पूर्वदिशा के सामन्त की ज्वर से मृत्यु हो गयी है, मानो वे शत्रुविजयी आपकी आज्ञा पाकर यमराज को जीतने के लिये गये हैं। उनके मरने के बाद आपके दूसरे सामन्त दक्षिण देश के नायक सब ओर से पूर्व और दक्षिण दिशा को जीतने के लिये आगे बढ़े, परन्तु शत्रु ने पूर्व और पश्चिम की सेनाओं द्वारा आक्रमण करके उन्हें भी मार डाला। उनके मरने पर आपके तीसरे सामन्त जो पश्चिम दिशा के शासक थे, अपनी सेना के साथ दक्षिण और पूर्व दिशाओं को शत्रुओं से छुड़ाने के लिये प्रस्थित हुए, इतने में ही शत्रुओं ने पूर्व और दक्षिण देश के राजाओं के साथ मिलकर बीच रास्ते में ही युद्ध करके उन्हें भी स्वर्गलोक में पहुँचा दिया।'

वह गुप्तचर इस प्रकार कह ही रहा था कि एक दूसरा गुप्तचर प्रलयकाल के जल-प्रवाह की भाँति राजमहल में प्रविष्ट हुआ। वह बड़ी उतावली के साथ आया था और अत्यन्त पीड़ित जान पड़ता था। नये गुप्तचर ने कहा—उत्तर दिशा के सेनाध्यक्ष पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। वे बाँध टूटने पर वेग से बहने वाले जल-प्रवाह की भाँति सेना-सहित इधर ही आ रहे हैं।

यह सुनकर राजा ने अब समय बिताना व्यर्थ समझा और अपने सुन्दर महल से बाहर निकलते हुए इस प्रकार कहा—'सामन्त-नरेशों और मन्त्रियों को कवच आदि से सुसज्जित करके शीघ्र बुलाया जाय, शस्त्रागार खोल दिये जायें, भयानक अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायें, समस्त योद्धा अपने-अपने शरीर में कवच बाँध लें, पैदल सैनिक शीघ्र तैयार होकर आ जायें, सेनाओं को तुरंत गणना की जाये, श्रेष्ठ सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय, सेनापतियों की नियुक्ति हो और सब ओर गुप्तचर भेजे जायें।' राजा विपश्चित् रोषावेश में भरे थे। वे बड़ी उतावली के साथ जब इस प्रकार आज्ञा दे रहे थे, उसी समय द्वारपाल भीतर आकर महाराज को प्रणाम करके घबराये हुए स्वर में बोला।

द्वारपाल ने कहा—उत्तर दिशा के सेनापति दरवाजे पर खड़े हैं और जैसे कमल सूर्य के दर्शन की इच्छा करता है, उसी प्रकार वे राजाधिराज महाराज का दर्शन चाहते हैं।

राजा ने कहा—जल्दी जाओ। पहले सेनापति को ही भीतर ले आओ। उनसे सब वृत्तान्त सुनकर मैं यह जान सकूंगा कि दिगन्तों में कैसी घटना घटित हुई है।

राजा के इस प्रकार आदेश देने पर द्वारपाल ने सेनापति को तत्काल भीतर भेजा। राजा ने देखा, उत्तर दिशा के नायक सामने खड़े होकर मुझे प्रणाम कर रहे हैं। इनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। प्रत्येक अङ्ग में बाण धँसे हुए हैं, जोर-जोर से साँस चल रही है, मुँह से खून निकल रहा है, निर्बल होने पर ही ये शत्रु से पराजित हुए हैं। सेनापति ने लगातार साँस लेते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने शरीर की व्यथा को सहन करके महाराजा को प्रणाम किया और शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

आपके तीन दिशाओं के सामन्त बहुत बड़ी सेना के साथ मानो आपकी आज्ञा से ही यमराज को जीतने के लिए यमलोक को चले गये। तदनन्तर उनके देशों की रक्षा आदि करने में मुझे असमर्थ समझकर बहुत-से भूपाल मेरा पीछा करते हुए बलपूर्वक यहाँ आ पहुँचे हैं। महाराज के इस राज्य में शत्रुओं की बहुत बड़ी सेना आ गयी है। अब जो कर्तव्य प्राप्त है, उसे कीजिए। शत्रुओं को मार भगाइये। महाराज के लिये किसी पर भी विजय पाना कठिन नहीं है।

युद्धस्थल में क्षत-विक्षत होने से अत्यन्त पीड़ित हुए उत्तर दिशा के सेनानायक जिस समय उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उसी समय सहसा दूसरा पुरुष भीतर आकर यों बोला—'नरेश्वर ! इस मण्डल के बहुत से लोग पीपल के पत्ते की तरह काँप रहे हैं। चारों ओर शत्रुओं की बड़ी भारी सेनाएँ खड़ी हैं। जैसे लोकालोक पर्वत के तट सारी वसुधा को घेरे हुए हैं, वैसे ही हमारे शत्रुओं ने इस भूमि को घेर लिया है। उनके हाथों में चक्र, गदा, प्रास और भालों के समूह चमक रहे हैं। पताकाओं, अस्त्र-शस्त्रों, अन्य चपल सामग्रियों से युक्त रथ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे उड़नेवाले त्रिपुरसमूहों के समान जान पड़ते हैं।'

यह कहकर प्रणाम कर वह पुरुष तुरन्त लौट गया, मानो समुद्र की लहर कोलाहल करके शान्त हो गयी हो। राजा के महल में खलबली मच गयी। उसकी दशा प्रचण्ड आँधी से व्याप्त हुए विशाल वन के समान हो गयी थी। मन्त्री, राजा, योद्धा, आज्ञाकारी सेवक, हाथी, घोड़े, रथ, स्त्रियाँ, परिचारक वर्ग और नागरिकों के समुदाय सभी घबराए हुए थे। सब ने भय के कारण आत्मरक्षा के लिए अपने हाथों में हथियार उठा लिए थे।

इसी बीच में जिनके अन्तरिक्ष लोक पर दैत्यों ने आक्रमण किया हो, उन देवराज इन्द्र के समीप जैसे मुनि आते हैं, उसी प्रकार राजा विपश्चित् के पास उनके अन्य सब मन्त्री आए और इस प्रकार बोले—हमने यही निर्णय लिया है कि अब हमारे शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायों द्वारा वश में किये जाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिये उन पर दण्ड का ही प्रयोग कीजिए।

राजा ने कहा—अच्छा, अब आप लोग शीघ्र ही युद्ध के लिए जाइये और नगर रक्षा एवं व्यूह रचना की व्यवस्था कीजिए। मैं स्नान करके अग्निदेव का पूजन करने के पश्चात् समराङ्गण में आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा ने गङ्गाजल से भरे हुए घड़ों द्वारा स्नान किया। तत्पश्चात् वे अग्निशाला में गये। वहाँ शास्त्रीय विधि से अग्निदेव का आदरपूर्वक पूजन करके उन्होंने इस प्रकार विचार किया—'मैं विजय प्रदान करने वाले देवता अग्नि को यहीं अपने मस्तक की आहुति दे दूँ।'

ऐसा निश्चय करके राजा ने कहा—अग्निदेव ! मेरा यह मस्तक आपको आहुति के रूप में समर्पित है। आज मेरे द्वारा यह अपूर्व पुरोडाश दिया जा रहा है। यदि मेरे द्वारा दी हुई मस्तक की इस आहुति से आप सन्तुष्ट हों तो आपके इस कुण्ड से मेरे चार शरीर प्रकट हों। वे चारों भगवान् नारायण की चार भुजाओं के समान बलवान् और शोभा से दीप्तिमान् हों। उन चार शरीरों से मैं चारों ही दिशाओं में बिना किसी विघ्न बाधा के शत्रुओं का वध करूँ। मेरे मन में आपके दर्शन की इच्छा है; अतः आप मुझे दर्शन देने की भी कृपा करें।

ऐसा कहकर उन महीपाल ने तलवार हाथ में लेकर अपने मस्तक को उसी प्रकार शीघ्र काट डाला, जैसे किसी बालक ने खेल-खेल में ही कुछ हिलते हुए कमल को तोड़ लिया हो। फिर उन्होंने अग्निदेव के

उद्देश्य से कटे हुए उस मस्तक की ज्यों ही आहुति दी, त्यों ही वे नरेश अपने शरीर के साथ ही अग्नि में गिर पड़े। उस शरीर को अपना आहार बनाकर अग्नि देव ने उसे चौगुना करके उन्हें लौटा दिया सच है, महापुरुषों के उपयोग में आयी हुई वस्तु तत्काल ही वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर वे पृथ्वीनाथ चार शरीर धारण करके अग्नि कुण्ड से बाहर निकले। उस समय वे तेजः पुञ्ज से प्रज्वलित हो रहे थे और क्षीरसागर से प्रकट हुए तेजस्वी नारायण देव के समान जान पड़ते थे। राजा के वे चारों शरीर सूर्य की-सी प्रभा से प्रकाशित हो रहे थे और साथ ही उत्पन्न मुकुट, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र एवं वस्त्रों से सम्पन्न थे। कवच, शिरस्त्राण, किरीट-रत्न, कङ्कण, बाजूबन्द, हार और बड़े-बड़े कुण्डल के साथ ही वे चारों शरीर प्रकट हुए थे। वे सबकी रक्षा करने में समर्थ और उच्च आशयवाले थे। सबकी आकृति एक-सी थी। वे समान अवयवों से सुशोभित थे और सब-के-सब चञ्चल उच्चैःश्रवा के समान उत्तम अश्वों पर आरूढ़ थे। उन सब के पास सुनहरे बाणों से भरे हुए तरकस थे। वे चारों महामनस्वी थे और सभी एक समान डोरी वाले धनुष धारण किये हुए थे। उन सबके शरीरों में सर्वथा समानता थी और वे सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न थे। वे पुरुष जिस हाथी, रथ और घोड़े पर सवार होते थे, वह शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र तथा अस्त्र-शस्त्र आदि दोषों का लक्ष्य नहीं होता था। वे चारों चन्द्रमा की प्रभा के समान अपनी हास्य-छटा से चारों ओर प्रकाश बिखेरते थे और आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निदेव से सुन्दर विग्रहधारी चार विष्णु, चार समुद्र अथवा चार वेदों के समान प्रकट हुए थे।

तदनन्तर नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ चारों दिशाओं में बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। चारों विपश्चित् चारों ओर शत्रुओं से लोहा लेने के लिये चतुरङ्गिणी सेना के साथ समराङ्गण में जा पहुँचे। उन्होंने शत्रुओं की सेना को समुद्र के समान उमड़ती देख उसे पी जाने का विचार किया और सब ओर वायव्यास्त्र का संधान किया, उसके साथ ही पर्जन्यास्त्र को भी छोड़ा। फिर तो उनके भीषण धनुषों से बाण आदि अस्त्रों की नदियाँ बहने लगीं। साथ ही तलवार आदि की वर्षा होने लगी। उस महान् युद्ध में शत्रुओं की सेना का घोर संहार हुआ। समस्त सैनिक जो मरने से बच गये थे, भागने लगे। वे चारों विपश्चित् इस तरह भागते हुए शत्रुओं की सेना का पीछा करते-करते बहुत दूर चले गये। सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण एकमात्र चेतन परमेश्वर से प्रेरित हो समान अभिप्राय वाले उन चारों वीरों ने सम्पूर्ण दिशाओं में विजय प्राप्त कर ली। जैसे नदियों के प्रवाह समुद्र तक जाते हैं, वैसे ही उन्होंने समुद्र के किनारे तक शत्रुओं का पीछा किया। दूर तक बिना विश्राम किये चलते रहने से विपश्चित् के सैनिकों के जीवन-निर्वाह और युद्ध आदि के सारे साधन प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियों के जल की भाँति क्षीण होते गये। उनके शत्रुओं का भी यही हाल हुआ। प्रतिदिन दौड़ते हुए उनकी और शत्रुओं की सारी सेनाएँ मुमुक्षुओं के पुण्य और पाप की भाँति निरन्तर नष्ट होने लगीं। जब सारे सैनिक नष्ट हो गए, तब उनके वे दिव्यास्त्र सफल होकर आकाश में ही शान्त हो गये, जैसे जलाने योग्य ईंधन आदि का अभाव हो जाने पर आग की ज्वालाएँ स्वयं ही बुझ जाती हैं। म्यानों, तरकसों तथा रथ, घोड़े, हाथी और वृक्ष समुदाय आदि स्थानों में पड़े हुए अस्त्र-शस्त्र सायंकाल घोंसलों में छिपकर नींद लेने वाले पक्षियों के समान निश्चेष्ट हो गये। उस समय शून्यतारूपी जल से भरा हुआ निर्मल आकाश बढ़े हुए विस्तृत एकार्णव के समान जान पड़ता था। उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जल-जन्तु मानो शान्त होकर कीचड़ में विलीन हो गये थे। बाणरूपी जलकणों की वर्षा के कारण फैला हुआ कुहरा वहाँ से हट गया था, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्त अब नहीं उठते थे। वाँ निर्मल सौम्यता विराज रही थी। बादलों से वेगपूर्वक वर्षा करने से उत्तुङ्ग तरङ्गों की भाँति ऊँची-ऊँची जल-धाराएँ शान्त हो चुकी थीं। नक्षत्ररूपी रत्नराशि अन्दर छिप गयी थी और सूर्यरूपी बडवानल उसके एक देश में विद्यमान था। सूर्य आदि के विस्तृत प्रकाश से युक्त, गम्भीर एवं प्रभापूर्ण, धूलरहित वह स्वच्छ आकाश महात्माओं के रजोगुण रहित, आत्मप्रकाश से पूर्ण, गम्भीर एवं प्रसन्न मन की भाँति शोभा पा रहा था। उन चारों विपश्चितों ने चारों समुद्रों को आकाश के छोटे भाइयों के समान देखा, जो विमल, विस्तृत एवं सम्पूर्ण दिशाओं को परिपूर्ण करके स्थित थे। ऊँची-ऊँची तरङ्गें, जिनमें जल-जन्तु भी ऊपर को उठ जाते थे, इस तरह नीचे गिरती थीं, मानो

आकाश के टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिर रहे हों। अपनी उठती हुई तरङ्गों द्वारा अगवानी-सी करते हुए क्षार समुद्र के विशाल तट पर जब विपश्चित् की सेना पहुँची, तब उन्हें अपने सामने गगनचुम्बी पर्वत के शिखर पर भ्रमरों के समान काली वनपंक्ति शोभा पाती दिखायी दी, जो इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवल, तमाल, हिंताल और ताड़के पत्तों के ताण्डव-नृत्य से विभक्त-सी जान पड़ती थी।

तदनन्तर वहाँ पार्श्ववर्ती मन्त्री आदि ने उन चारों विपश्चितों को उस समय भिन्न-भिन्न वन, वृक्ष, समुद्र, पर्वत, ग्राम, मेघ और वनेचर दिखाये।

यहाँ युद्ध में लगे हुए सीमाप्रान्त के राजाओं के अस्त्र-शस्त्रों की राशियाँ चमचमा रही हैं और इनकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ इधर-उधर विचर रही हैं। युद्ध में वीरों द्वारा सम्मुख मारे गये सहस्रों वीरों को विमानों पर चढ़ा-चढ़ाकर स्वर्गीय अप्सराएँ उन विमानों द्वारा आकाश में लिए जा रही हैं। जो युद्ध में सामने आये हुए योद्धाओं को धर्म के अनुकूल चलते हुए योग्य अवस्था में वध करता है, वही शूरवीर तथा स्वर्ग का अधिकारी है, दूसरा नहीं। आकाश प्रबल मेघरूप महासागर से भरा हुआ है। उधर दृष्टिपात कीजिये, उसने चञ्चल तारों के विशाल हार पहन रखे हैं। इधर घने अन्धकार के समान वह नीला दिखायी देता है। उधर दृष्टि डालिये, वह चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणों से धोया हुआ सा जान पड़ता है। आकाश यद्यपि जगत् के सम्पूर्ण दोषों से पूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है। मैं समझता हूँ इस आकाश को तत्त्वज्ञानी पुरुष की भाँति सर्वानर्थ-शून्यता का सुख प्राप्त है। धूम, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, सन्ध्या, तारावृन्द, विमान, गरुड़, पर्वत, देवता और असुर—इन सबके क्षोभ आकाश में ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर यह अपने स्वभाव (निर्विकारता एवं शान्ति) का कर्म त्याग नहीं करता। जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत एवं विचित्र दिखायी देती है। यह जो त्रिभुवनरूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया—ये दो दम्पति चिरकाल से रहते और इसकी रक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे माली और मालिन फूलों से भरे हुए उपवन में रहते और उसकी देख-भाल करते हैं। यद्यपि काल और क्रिया के द्वारा इस त्रिभुवन-भवन की रक्षा नहीं होती, अपितु प्रतिदिन इनके द्वारा इसके नाश की ही व्यवस्था होती रहती है तथापि आजतक नष्ट नहीं हो रहा है, यह कैसी आश्चर्यजनक माया है!

मालूम होता है आकाश वृक्ष आदि की अधिक उन्नति को रोकता है—उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता। यदि कहें कि आकाश में कोई निरोधक व्यापार है ही नहीं, फिर वह किसी की उन्नति के अवरोध का कर्ता कैसे हो सकता है तो वह ठीक नहीं है। यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् है और महान् में उसकी महिमा से ही कर्तृत्व का उदय हो जाता है। जहाँ लाखों जगत् उत्पन्न और विलीन होते हैं। इसलिये शास्त्रसिद्ध ईश्वर का लक्षण आकाश में घटित होने के कारण वह ईश्वररूप ही है। जिसमें इस जगत्रूपी भ्रम का उदय और अस्त होता है, जो असीम होने के कारण समस्त वस्तुओं को अपने शरीर में धारण करता है और त्रिलोकीरूपी मणियों का सुविस्तृत आधार है, वह महाकाश चित्स्वरूप है और परब्रह्म ही है; ऐसा मेरा विश्वास है। यहाँ सुवेल पर्वत के शिखर पर निर्मल कान्तिवाली एक सुवर्णमयी शिला है, जो सारी की सारी सूर्य की किरणों के पड़ने से अपनी प्रभा से इस तरह उद्भासित हो रही है, मानो तट तक आने वाली समुद्र की चञ्चल लहरों से फेंका गया बडवानल का कोई कण प्रकाशित हो रहा हो। इस पर्वतीय ग्राम की गौओं के झुण्ड में तुरंत खिली हुई कलिकाओं के दलों के भीतर छिपे-छिपे गुञ्जारव करनेवाले मदान्ध भ्रमरों के दर्शन से उद्दीपित कामना वाले गिरि-गह्वर निवासी पामर लोगों को भी जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नन्दनवन में विहार करने वाले देवताओं को भी सुलभ नहीं है। इस पर्वतराज के जंगलों में बसे हुए ये गाँव अपनी शोभा महत्ता से चन्द्रमा को भी पराजित कर रहे हैं। जिनके एक बगल में प्रकाशित मनोहर चन्द्रमण्डल मण्डन (आभूषण) का काम दे रहा है और दूसरी बगल में जल के भार से भरे हुए मेघरूपी गजराज विश्राम करते हैं; ऐसे पर्वत-तटों पर फैले हुए इन गाँवों में जो विलासलक्ष्मी लक्षित होती है, वह ब्रह्माजी के वैभवशाली राज्यों में

भी कहाँ सुलभ है ? स्फटिक मणि के खम्भों की राशियों के समान सुरम्य एवं मोटी धार से गिरने वाले निर्झर-सलिल से सुशोभित इस ग्राम गुफा में ये मोरनियाँ कैसा नृत्य कर रहीं हैं। जहाँ निर्झरों से झरते हुए जल का कलकल नाद फैल रहा है, ऐसे इस पर्वतीय ग्राम के कुञ्जों में विलासिनी मयूरियाँ और फूलों के भार से झुकी हुई लताएँ भी नाच रही हैं।

सहचर ने कहा—पुष्प-परागों से विभूषित नाना प्रकार की वायु बह रही है, जो केले की कलियों के स्वच्छ गुच्छ को विकसित करने में विशेष निपुण है।

यह ताड़ का पेड़ खम्भे की तरह सीधा खड़ा है; अतः इस पर किसी का चढ़ना कठिन है। इसीलिए यह किसी याचक को किंचिन्मात्र भी न तो फल देता है और न पत्ता ही। इसकी यह ऊँची आकृति भी याचकों की अभिलाषाओं को पूर्ण न कर सकने के कारण रूपहीन ही है—शोभा नहीं पाती है।

जो गुणहीन जड (वृक्ष अथवा उदारता आदि गुणों से रहित मूर्ख) हैं, उनके लिए राग (शृङ्गार) ही शोभावर्द्धक होता है। यह फूला हुआ पलाश का पेड़ राग—फूलों के शृङ्गार से ही वन में राजा की भाँति सुशोभित होता है।

मैंने कुछ और ही समझा था; परन्तु यह कनेर है, विकार का ही भाजन है। इसे देख मन में यह सोच कर विषाद होता है कि कहाँ-से-कहाँ मैं इसके पास आ गया। इसमें सुगन्ध तो नाममात्र को नहीं है। गुणहीन जन्तु की भाँति इसका अनुकरण करने से क्या लाभ होगा ?

कल्पवृक्षों के वन की शीतल छाया में विश्राम करते हुए ये सिद्ध और विद्याधर रूप पथिक वीणा आदि वाद्यों के साथ गीत गा रहे हैं। वन में इस कल्पवृक्ष के एक-एक पत्ते पर देव-सुन्दरियाँ विश्राम करती, गाती और हँसती हैं ? ये सिद्ध, विद्याधर आदि नन्दन वन में भी वैसा आनन्द नहीं पाते हैं, जैसा कि इन शुद्ध, शान्त, नीरव वनस्थलियों में पाते हैं। ये रमणीय और निर्जन वनस्थलियाँ मुनि के विरागी चित्त को और विषयी के रागी हृदय को सामान्य रूप से आनन्द प्रदान करती हैं। खिले हुए चम्पा के वन जब हवा से हिलते हैं, तब जलते हुए पर्वतों के समान जान पड़ते हैं। उस अवस्था में वहाँ से दूर मँडराते हुए भ्रमर और छाये हुए मेघ धूममाला के समान प्रतीत होते हैं। क्षार समुद्र के तट का यह भू-भाग उपहार हाथ में लेकर आए हुए राजाओं से भर गया है और उन सबका कोलाहल यहाँ व्याप्त हो गया है, जो बड़ा भद्दा मालूम होता है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के क्षार सागर तक इस जम्बूद्वीप में जो नरेश इस भयंकर युद्ध से जीवित बच गये हैं, उन सबके मस्तक पर अपने चरण रखने का अनुग्रह कीजिये तथा भिन्न-भिन्न जनपदों के भू-भाग की प्रत्येक दिशा में चिरकालिक रक्षा के लिये नीतिशास्त्र के अनुसार क्षमापूर्वक योग्य व्यक्तियों को शान्त चित्त से शासन-व्यवस्था का अधिकार दीजिए। तत्पश्चात् अस्त्र-शस्त्र और अनुपम सेनाओं का बँटवारा कर दीजिए।

वसिष्ठजी कहते हैं—तदनन्तर उन चारों विपश्चितों ने समुद्रतट की भूमि पर बैठकर राज्य का यह सारा प्रयोजन (मण्डल की सीमा बाँधने आदि का कार्य) सिद्ध किया। इतने में ही मेघमाला के समान काली रात आयी और सब ओर फैल गयी। तत्पश्चात् वे सभी विपश्चित् जो दिन का कार्य पूरा कर चुके थे, सोने के लिये अपनी शय्याओं पर आरूढ़ हुये। वे नदियों के प्रवाह की भाँति बहुत दूर समुद्र तक चले आए थे। इसलिये मन-ही-मन आश्चर्य से चकित हो इस प्रकार विचार करने लगे—'यह सब ओर फैली हुई दृश्य-जगत् की शोभा कितनी विस्तृत होगी ? इस जम्बूद्वीप के बाद खारे पानी का समुद्र है। उसके बाद प्लक्षद्वीप की भूमि है। तत्पश्चात् क्षार समुद्र से दुगुना बड़ा इक्षुरस का समुद्र है। उसके बाद कुशद्वीप है। तदनन्तर सुरा का सागर है। इसी प्रकार क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद ही क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी। इसलिये हमलोग भगवान् अग्निदेव से प्रार्थना करें। उनके वरदान से हम

अनायास ही इन सम्पूर्ण दिशाओं का अन्तिम सीमा तक अवलोकन कर सकेंगे।' ऐसा सोचकर यथास्थान बैठे हुए वे सब विपश्चित् एक साथ ही भगवान् अग्नि का आवाहन करने लगे। तब भगवान् अग्निदेव इन चारों के समक्ष साकार होकर प्रकट हुए और बोले—'पुत्र ! मुझसे वर माँगो।'

विपश्चित् बोले—हम इस पञ्चभूतात्मक दृश्यजगत् का अन्त देखना चाहते हैं, जहाँ तक इस देह से जाना सम्भव हो सके, वहाँ तक इस देह से, जहाँ यह न जा सके वहाँ मन्त्र के प्रभाव से संस्कारयुक्त किये गये इसी शरीर से, तथा जहाँ इस संस्कारयुक्त शरीर की भी गति न हो सके, वहाँ मन से जाकर हम दृश्य जगत् का अन्त देखें। जो जिस रूप में मन से प्रत्यक्ष होने योग्य तथा जानने योग्य हो उस सभी पञ्चभूतात्मक पदार्थों का हम दर्शन कर सकें—यह उत्तम वर आप हमें दें। सिद्ध योगी अपने योग के प्रभाव से जहाँ तक जा सकते हों, वहाँ तक का मार्ग हम इसी शरीर से पूर्ण करें। यहाँ योगियों की भी पहुँच न हो, उस अगम्य दृश्य को हम मन से ही देखें। सिद्ध योगियों के गम्य मार्ग पर चलते समय हमारी मृत्यु न हो तथा जिस मार्ग में देह का रहना सम्भव ही न हो, वहाँ हमारा मन ही यात्रा करें।

वसिष्ठजी ने कहा—उनके इस प्रकार वर माँगने पर 'ऐसा ही होगा' यों कह कर अग्निदेव सहसा एक ही क्षण में अदृश्य हो गये, मानो वडवानल रूप से समुद्र में जाने के लिये उन्हें जल्दी लगी रही हो। इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये। तत्पश्चात् रात्रि आयी और कुछ देर ठहर कर वह भी चली गयी। इसके बाद सूर्यदेव आए। साथ ही उन विपश्चितों के हृदय में विशाल समुद्र को लाँघने की इच्छा भी आयी। प्रातःकाल मुख्य-मुख्य मन्त्रियों के मना करने पर भी वे चारों विपश्चित् हठपूर्वक नीतिशास्त्र के अनुसार पृथ्वी के राज्यविभाग और उनके शासन की भलीभाँति पूरी व्यवस्था करके दिगन्त के दर्शन की अतिशय उत्कण्ठा से भर गये, मानो उनके शरीर पर किसी ग्रह का आवेश हो गया हो। उस समय उनका सारा परिवार रोते हुए मुख से करुणाजनक क्रन्दन कर रहा था। उन चारों ने उन्हें ऐसा करने से रोका और स्वयं आसक्तिशून्य होने के कारण अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, शत्रुओं के पराभव की इच्छा, राज्य, स्त्री एवं पुत्र आदि को त्याग कर वे यह कहते हुए चल दिए कि 'हमलोग समुद्र के पार जाकर दिगन्त का दर्शन करके अभी क्षण में लौटे आ रहे हैं।'

अग्निदेव प्रसन्नता से प्राप्त मन्त्र की शक्ति से पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त करके वे उत्तम सिद्ध हो गये थे। अतः उस समय उन्होंने पैदल ही समुद्र में प्रवेश किया। वे चारों विपश्चित् प्रत्येक दिशा में समुद्र के भीतर प्रविष्ट होकर स्थल की ही भाँति जल में भी पैरों से ही चलने लगे। जल के भीतर भू-पृष्ठ की भाँति तरङ्गसमूहों पर पैर रखकर अकेले-ही-अकेले जाये को उद्यत वे चारों विपश्चित् अपनी सेना से बहुत दूर निकल गये। वे एक-एक पग चलकर जब महासागर के भीतर प्रवेश करने लगे, तब तट पर खड़े हुए उनके सम्बन्धी उन्हें तब तक देखते रहे, जब तक कि वे शरत्काल के आकाश में प्रविष्ट हुए मेघखण्डों के समान अदृश्य नहीं हो गये। इद्यपि उन्हें चञ्चल गजराजों के समान उठी हुई तरङ्गमालाओं से टकराना पड़ता था, तथापि वे तटपर बने हुए पथरीले परकोटों के समान अपना धैर्य नहीं छोड़ते थे। वे चारों विपश्चित् समुद्र की जलराशि में आगे बढ़ने लगे। जल के मगर उनके सहचर (साथी) थे। वे शौर्यसम्पन्न नाकों और केकड़ों से व्याप्त भँवरों में चारों ओर से घिर जाते थे। बीच में जाने पर बहुसंख्यक मेघों के समान रूपवाली और व्यक्ताव्यक्त किरणराशि से सुशोभित होनेवाली भ्रान्त मुक्ता-मणियों तथा वृक्षों की लता के समान दीखने वाली जलमय तरङ्गों के जलकणरूपी फूलों द्वारा वे पग-पग पर अपने शरीर को विभूषित एवं सुशोभित करते जा रहे थे।

उन चारों विपश्चितों में से पश्चिम दिशा का अन्त देखने के लिए प्रस्थित हुआ था, वह अपने को अमर मानने वाले एक मत्स्य के द्वारा निगल लिया गया। वह मत्स्य मत्स्यावतारधारी भगवान् विष्णु के कुल में उत्पन्न हुआ था और उसका वेग झेलम की प्रखर धार में बहने वाली नौका के समान तीव्र था। किन्तु उस मत्स्य

के लिए उस राजा को पचाना बड़ा कठिन काम था। इसलिए क्षीरसागर में पहुँच कर उसने उसे उगल दिया; तब वह क्षीरसागर को लाँघकर दूर दिगन्त में चला गया। दक्षिण दिशा का अन्त देखने के लिए चला हुआ विपश्चित् जब इक्षुरस से समुद्र में पहुँचा, तब उसके तटवर्ती यक्ष नगर में निवास करने वाली एक यक्षिणी ने, जो वशीकरण विद्या में अत्यन्त निपुण थी, उसे देखा। देखकर अपने विद्या के बल से आकृष्ट करके उसे अपना प्रेमी बना लिया। पूर्व दिशा की चरम सीमा देखने के लिये आगे बढ़ा हुआ विपश्चित् जब गङ्गा जी के मुहाने पर पहुँचा, तब उसने एक मगर पर आक्रमण किया, जो उसे निगल जाने के लिये उद्यत था। उसने उस मगर को गंगा में खींचकर चीर डाला, तब गंगा ने विपश्चित् को पीछे लौटाकर कान्यकुब्ज नगर में छोड़ दिया उत्तर दिशा का अन्त देखने के लिये चले हुए विपश्चित् ने उत्तर कुरु देश में श्री उमा-महेश्वर की आराधना करके अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर लिया। उस सिद्धि के कारण दिगन्त में मरण का भय उसे बाधा नहीं पहुँचाता था। मार्ग में कितने ही मगर और जलहस्ती उसे निगलते और उगलते गये, किन्तु उस सिद्धि के प्रभाव से उसके शरीर को कोई क्षति नहीं पहुँची। वह बहुत से द्वीप-द्वीपान्तरों और कुल पर्वतों को लाँघता हुआ आगे बढ़ गया। पश्चिम दिशा में गये हुए विपश्चित् को जिसकी अङ्गकान्ति कुश के ही समान थी, कुशद्वीप में पक्षिराज गरुड़ ने अपनी पीठ पर बिठा लिया और बड़े वेग से अनेक समुद्रों के पार पहुँचा दिया।

पूर्व दिशा वाला विपश्चित् कान्यकुब्ज देश से चलकर जब क्रौञ्च द्वीप के एक पर्वत पर गया, तब वहाँ वन के भीतर रहने वाला कोई राक्षस उसे निगल गया। परन्तु उस राजा ने राक्षस की अंतड़ियों को काटकर उसके वक्षः स्थल को विदीर्ण कर दिया। दक्षिण दिशा की ओर गया हुआ विपश्चित् दक्ष के शाप से क्षण भर में यक्ष हो गया। फिर सौ वर्षों के बाद शाकद्वीप में उसे उस शाप से छुटकारा मिला। उत्तर दिशा का यात्री विपश्चित् छोटे-बड़े नदी-नाले और समुद्रों को बड़े वेग से लाँघता हुआ स्वादिष्ट जल वाले महासागर के उस पार सुप्रसिद्ध सुवर्णमयी भूमि में जा पहुँचा, किन्तु वहाँ एक सिद्ध के शाप से शिला हो गया। तदनन्तर सौ वर्ष के बाद अग्नि देव के अनुग्रह से उस सिद्ध ने विपश्चित् को शाप से मुक्त कर दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। पूर्व का यात्री विपश्चित् आठ वर्षों तक नारियल के वृक्षों से भरे हुए एक देश के निवासियों का राजा होकर रहा। वह बड़ा धर्मात्मा था। इसलिये उसे वहाँ अपने पूर्व जन्म की स्मृति हो आयी। वह नारियल के फलों से जीवन निर्वाह करने लगा। मेरु पर्वत के उत्तर एक कल्प वृक्ष का वन था, जिसमें एक अप्सरा के साथ उसने दस वर्षों तक निवास किया। पश्चिम जाने वाला विपश्चित् पक्षियों पर विश्वास जमाने उन्हें वश में कर लेने की विद्या का मर्मज्ञ था (अतएव पहले गरुड़ ने उसे पीठ पर बिठाकर समुद्र के पार पहुँचा दिया था)। फिर वह शाल्मलि द्वीप के सुविख्या सेमल के वृक्ष पर एक मादा पक्षी के घोंसले में उसके साथ क्रीड़ा करता हुआ कई वर्षों तक रहा। फिर कोमल लता-वल्लरियों से अलंकृत मन्दराचल पर मन्दार वृक्षों के निकुञ्ज-गव्हन में मन्दरी नाम वाली एक किन्नरी ने विपश्चित् की एक दिन सेवा की।

तत्पश्चात् पूर्व दिशा के विपश्चित् ने क्षीरसागर-तटवर्ती वन के भीतर कल्पवृक्षों की वन श्रेणियों में नन्दन वन की देवियों—अप्सराओं के साथ कामासक्त होकर सत्तर वर्ष व्यतीत किये।

रामजी ने पूछा—जब वे सभी विपश्चित् एक चैतन्यमय थे और उन सबका शरीर भी एक ही था, तब शरीर एक होते हुए उनकी इच्छाएं विभिन्न कैसे हो गयीं ?

वसिष्ठ जी ने कहा—जैसे स्वप्नावस्था में चित्त स्वयं अपने में ही स्वप्न-दृष्ट पदार्थों के रूप में नाना प्रकार का हो जाता है, उसी तरह एक चैतन्य घनाकाश सर्व व्यापी अखण्ड होते हुए भी मायावश भिन्न-सा बन जाता है। इसलिये जिस विपश्चित् के समक्ष जो वस्तु आयी, वह उसी में तन्मयता को प्राप्त होकर उसी के वश में हो गया। एक देश में स्थित रहते हुए भी योगी सर्वत्र व्याप्त होकर तीनों कालों में सब काम करते और सब

पदार्थों का अनुभव करते हैं। दसों दिशाओं में स्थित वे विपश्चित् यद्यपि वास्तव में एक चैतन्यमय थे, तथापि उन्होंने अज्ञानवश वैसा ही व्यवहार किया, जिससे उन्हें सुख-दुःख आदि की प्राप्ति हुई। जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने भूमि पर शयन किया, द्वीप-द्वीपान्तरों में सुख-दुःख का उपभोग किया, वन-श्रेणियों में विहार किया, मरुस्थलों की यात्रा की, पर्वत मालाओं में निवास किया, सागर-कुक्षियों में भ्रमण किया, अनेक द्वीपों में विश्राम किया, मेघमालाओं से आच्छादित पर्वत शिखरों पर गुप्त रूप से वास किया, सागर मालाओं में जन्म धारण किया तथा आँधियों में, जल तरङ्गों में पर्वतों और समुद्रों के तटों पर एवं नगरों में विविध क्रीड़ाएँ की।

रामजी ने पूछा—एक देश में स्थित रहते हुए भी योगी लोग चारों ओर व्याप्त होकर तीनों कालों में सम्पूर्ण कार्य कैसे करते हैं?

इस जगत् में अज्ञानियों की दृष्टि में जो स्थूल वस्तु है, उससे हम ज्ञानियों का कोई प्रयोजन नहीं है; किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि से जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ; सुनो। तत्त्वज्ञों की दृष्टि से चिन्मात्र सत्ता सामान्य के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। दृश्य के अत्यन्ताभाव का ज्ञान होने पर सृष्टि और प्रलय की दृष्टि का विनाश होने के पश्चात् चिन्मात्र सत्ता सामान्य में निरन्तर विश्राम को प्राप्त हुए सर्वेश्वर का यहाँ सर्वदा सर्वत्व और सर्वात्मत्व ही वर्तमान है। ऐसी दशा में भला बताओ तो सही, कौन कैसे कहाँ कब और क्यों कर उसका निरोध कर सकता है? वह सर्वव्यापी सर्वात्मा जब जहाँ जिस रूप में प्रकट होना चाहता है, तब वहाँ उसी रूप में प्रकट हो जाता है; क्योंकि उस सर्वात्मा में कौन-सी वस्तु नहीं है? तुम ऐसा समझो कि अतीत, वर्तमान और भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-निकट तथा निःशेष और कल्प आदि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही सत्ता सामान्य-स्वरूप सर्वात्मा में सर्वदा ही वर्तमान हैं। किन्तु वास्तव में माया से उल्लास को प्राप्त हुआ यह दृश्य-प्रपञ्च न उत्पन्न हुआ है और न निरुद्ध हुआ है; बल्कि ज्यों-का-त्यों स्थित है।

वे विपश्चित् पूर्णतया प्रबुद्ध नहीं थे, बल्कि बोध दृष्टि तथा अबोध दृष्टि के मध्य में वे दोलायमान से स्थित थे। उन अर्धप्रबुद्ध विपश्चितों में चारो ओर से नित्य मोक्ष तथा बन्धन के लक्षण दृष्टिगोचर होते थे। उस पूर्वोक्त संशयग्रस्त धारणा से युक्त होने के कारण वे विपश्चित् परब्रह्म-प्राप्त योगी न थे, किन्तु धारणा से प्राप्त हुए सिद्धि वाले धारणा-योगी थे। जिन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है तथा जिनमें अविद्या का लेश मात्र भी नहीं है, वे विपश्चित् यदि ऐसे ज्ञान योगी होते तो क्या वे अविद्या की ओर दृष्टिपात करते? वे तो अग्नि देव के वरदान से सिद्धि प्राप्त धारण-योगी थे। उनमें अविद्या वर्तमान थी, इसी कारण वे आत्म विचारहीन थे। जीवन्मुक्तों का भी शरीर देह धर्म से युक्त रहता है; किन्तु उस शरीर के भीतर जो उनका चित्त है वह अचल ही रहता है अर्थात् उसमें देह धर्म नहीं व्याप्त होते। अतः जीवन्मुक्त पुरुष शरीर को चाहे टुकड़े-टुकड़े करके काट डाला जाय अथवा उसे राज सिंहासन पर बैठाया जाय—इस प्रकार की रोने और हँसने की दोनों अवस्थाओं में उसे न तो कुछ दुःख का अनुभव होता है और न सुख का ही। जीवन्मुक्त पुरुषों का शरीर आदि आत्म स्वभाव से कभी पृथक् नहीं है। इसलिये जीवन्मुक्त पुरुष मरा हुआ भी मरता नहीं, रोता हुआ भी रोता नहीं और हँसता हुआ भी हँसता नहीं अर्थात् वह मरणादि अवस्थाओं में हर्ष-शोक से युक्त नहीं होता। तथापि व्यवहार काल में अज्ञानी और ज्ञानी जीवन्मुक्त के आचरण प्रायः एक-से ही होते हैं। प्रह्लाद, बलि, वृत्र आदि यद्यपि वीतराग जीवन्मुक्त ही थे पर उनके व्यवहार रागियों-से होते थे। हाँ, बन्धन तथा मोक्ष का कारण तो वासना और वासना शून्यता ही है।

रामजी ने पूछा—तदनन्तर वे विपश्चित् उन दिगन्तों में तथा द्वीपों, सागरों, काननों और पर्वत-भूमियों में जाकर क्या करते हुए निवास करते रहे?

वसिष्ठजी ने कहा—उनमें से एक विपश्चित् क्रौञ्चद्वीप के सीमा-भूत पर्वत के पश्चिमी तट पर एक हाथी दाँतों एवं गण्डस्थलों से उस पर्वत की शिला पर कमल की तरह पीस डाला गया। दूसरे विपश्चित् को, जिसका शरीर

शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, एक राक्षस ने आकाशमार्ग से ले जाकर समुद्रवर्ती बड़वानल में झोंक दिया, जिससे वह वहीं जलकर भस्म हो गया। तीसरे को एक विद्याधर इन्द्र-सभा में ले गया। वहाँ उसने इन्द्र को प्रणाम नहीं किया, जिससे इन्द्र ने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। उस शाप से वह जलकर भस्म हो गया। चौथा कुशद्वीप की सीमा पर स्थित पर्वत की तलहटी में बहने वाली नदी के कछार में बड़ी सावधानी से जा रहा था, परंतु किसी महाबली नगर ने उसके आठ टुकड़े कर दिये, जिससे वह मर गया। इस प्रकार वे चारों भूपाल (विपश्चित्) दिगन्तों में जाकर मृत्यु को प्राप्त हो गये। मृत्यु के पश्चात् उन विपश्चितों की संवित् ने पूर्वसंस्कारवश आकाशात्मा बनकर आकाश में पृथ्वीमण्डल को देखा। फिर दृश्य और दर्शन के मध्य में, भूमण्डल का अनुभव ही जिसकी आकृति है, उस अविद्या की निष्ठा—इयत्ता को देखने के लिये द्वीप-द्वीपान्तरों में भटकते रहे।

उनमें जो विपश्चित् पश्चिम दिशा की ओर चला था, वह सातों द्वीपों तथा सातों महासागरों को लाँघकर घनभूमि (पूर्वोक्त स्वर्णमयी भूमि) में जा पहुँचा। वहाँ उसे भगवान् जनार्दन के दर्शन हुए। फिर उन्हीं भगवान् से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्त करके वह उसी स्थान में पाँच वर्ष तक समाधिस्थ हुआ बैठा रहा। तदनन्तर वह देह का परित्याग करके निर्वाण को प्राप्त हो गया। पूर्व दिशा में गया हुआ विपश्चित् पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल के निकट अपने शरीर को स्थापित करके उसमें चन्द्रत्व की भावना करता रहा। चिरकाल के बाद जब उसका पूर्वशरीर नष्ट हो गया, तब वह चन्द्रलोक में स्थित हो गया। दक्षिण दिशागामी विपश्चित् शाल्मलिद्वीप में जाकर अपने शत्रुओं की जड़ उखाड़ करके आज भी वहाँ राज्य कर रहा है। और उत्तर दिशाको प्रस्थान करने वाला विपश्चित् सप्तमाम्बुधि—स्वादूदक-सागर में जा पहुँचा, जिसमें चञ्चल एवं विशाल तरङ्गें किलोल कर रहीं थीं। वहाँ उसने एक मगर के पेट में एक हजार वर्ष तक का निवास किया। उस समय वह उसी मगर के पेट का मांस खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इस प्रकार जब वह मगरराज मर गया, तब वह उसके पेट से निकलकर दूसरे मगर की तरह समुद्र से बाहर आया। तदनन्तर हिम के समान स्वच्छ जल से भरे हुए उस सागर की अस्सी हजार योजन की विस्तार वाली घनी भूमि को लाँघकर वह दस हजार योजन के विस्तार वाले एक विशाल मैदान में जा पहुँचा, जिसकी भूमि स्वर्णमयी थी और मध्य भाग बहुत बड़ा था। उसमें देवता लोग विहार करते थे। वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उस भूमि में देवगणों के मध्य मरने से उस विपश्चित् को उसी प्रकार उत्तम देवत्व की प्राप्ति हो गयी, जैसे अग्नि के बीच पड़ा हुआ काष्ठ क्षणभर में ही अग्निरूप हो जाता है। फिर वह एक प्रधान देवता होकर उस लोका-लोक पर्वत पर गया, जो भूमण्डलरूपी वृक्ष का थाला-सा स्थित है।

उसका दिगन्तदर्शनरूपी पूर्वसंस्कार उसे पूर्णतया अभ्यस्त था ही, अतः वह उस उत्कृष्ट निश्चय से प्रेरित होकर ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यों ही उस लोका-लोकगिरि के शिखर से अन्धकारमय गर्त में जा गिरा। वहाँ उसने देखा कि पर्वत शिखर सरीखे विशालकाय मांसभक्षी पक्षी उसके उस देव-शरीर को नोच-नोचकर खा रहे हैं और पूर्वचिन्तित दिगन्तदर्शन के कार्य में उसका मनोमय शरीर ही प्रसार कर रहा है; क्योंकि जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश परम पावन था। इसी कारण उस निर्मल हृदय वाले विपश्चित् को अपने सूक्ष्म शरीर में आधिभौतिकता का बोध तो नहीं हुआ, परन्तु मन के व्यापार से रहित शान्त स्थितिरूप उत्तम बोध की प्राप्ति नहीं हुई। उसे तो आतिवाहिक शरीर का ही विशेषरूप से ज्ञान था, इसी कारण उसने अपने मन को आगे बढ़ते हुए देखा। आतिवाहिक के ज्ञान से उसे गर्भवास-तुल्य अन्धकार दीख पड़ा। उस अन्धकार की समाप्ति पर ब्रह्माण्डकटाहरूपी भूखण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जो वज्र-सदृश सारवान्, स्वर्णमय और करोड़ों योजन विस्तार वाला है। उसके बाद उसे भू-खण्ड से आठगुना विस्तार वाला जल मिला, जो ब्रह्माण्ड कटाह की भूमि के समान समुद्र की पीठ की भाँति स्थित था। उसे पार करने के बाद वह एक तेजयुक्त स्थान में जा पहुँचा, जो प्रलयाग्नि की घनीभूत लपटों के पिण्डीभूत कोटर के समान चमकीला था और जहाँ बहुत से सूर्य अपना प्रकाश फैला रहे थे, जिससे वह अत्यन्त भीषण लग रहा था। उस तैजस आवरण में वह दाह-शोक आदि से रहित मनोमय देह से विचरण कर रहा था। इतने में उसे ऐसा भान हुआ कि वह वायुरूप

आवरण में आ पहुँचा। उस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि मेरा सूक्ष्म आत्मा ही ले जाया जा रहा है और वह चित्त-मात्र आत्मा किस प्रकार ले जाया जा रहा है—यह भी मालूम हुआ। ऐसे ज्ञान के बल से उस धीरात्मा ने उस वायुनगर को पार किया। उसके बाद वह उससे भी दसगुने विस्तृत शून्य स्थान में जा पहुँचा। उसे लाँघकर वह असीम महान् आकाश में प्रविष्ट हुआ। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, जिससे सब कुछ आविर्भूत होता है तथा जो कुछ नहीं है और सब कुछ है, उस महान् आकाश में मनोमय देह से भ्रमण करता हुआ वह बहुत दूर चला गया। वहाँ उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा जगत् देखा। फिर संसार की रचनाएँ, सृष्टियाँ और दिशाएँ दृष्टिगोचर हुईं। तत्पश्चात् पर्वत, आकाश, देवता, मनुष्य और पञ्चमहाभूतों के अन्त में घनीभूत आकाश दीख पड़ा। पुनः जगत्, दिशाएँ, आकाश और दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ परिलक्षित हुयीं। यों दीर्घकाल से विहार करता हुआ वह आज भी वहाँ स्थित है। चिरकाल से अभ्यस्त हुए अपने जगत्-सत्यतारूप निश्चय से वह विरत नहीं हो रहा है; क्योंकि अविद्या का अन्त तो है नहीं, किन्तु जब उसकी सत्यता जान ली जाती है, तब वह भी ब्रह्मरूप हो जाती है। वास्तव में तो पूर्णात्मा ब्रह्मरूप हो जाती है। वास्तव में तो पूर्णात्मा ब्रह्म में अविद्या है ही नहीं। यह दृश्य है, यह अविद्या है, यह तो उसकी कल्पना है। वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होने के कारण उन पूर्वदृष्ट स्थानों में ही तथा उन्हीं के सदृश अन्य सृष्टियों तथा वनखण्डों में अपनी वासना की उत्कटता के कारण चिरकाल से दूर से दूर बारबार भ्रमण कर रहा है।

रामजी ने पूछा—एक विपश्चित् तो भगवत्कृपा से मुक्त हो गया और दूसरा अभी तक अविद्या में भ्रमण कर रहा है। शेष चन्द्रलोक और शाल्मलि द्वीप में निरुद्ध हुए उन दोनों विपश्चितों की फिर क्या दशा हुई ?

वसिष्ठजी ने कहा—उन दोनों विपश्चितों में से एक चिरकाल से अभ्यस्त हुई वासनाओं के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के शरीरों से द्वीप-द्वीपान्तरों में भ्रमण करता हुआ उत्तर-दिग्वर्ती विपश्चित् की ही गति को प्राप्त हुआ। उसी की तरह परमाकाशरूपी खोखले में क्रमशः ब्रह्माण्ड के आवरणों का परित्याग करके लाखों सृष्टियों को देखता हुआ वह आज भी उसी तरह स्थित है। उन दोनों में से जो दूसरा था, उसकी चन्द्रमा के निकट अपने शरीर को रख कर अभ्यास करने के कारण चन्द्रमृग में पूर्णतया आसक्ति हो गयी, जिससे वह प्रति मास चन्द्रमा के साथ भ्रमण करने वाली देहों से युक्त हो गया। तत्पश्चात् उनका परित्याग करके वह पर्वत पर मृगरूप में स्थित है।

रामजी ने पूछा—चारों विपश्चितों की एक ही वासना थी, फिर वह उत्तम-अधम फल प्रदान करने वाली भिन्न-भिन्न कैसे हो गयी ?

वसिष्ठजी ने कहा—प्राणी की भलीभाँति अभ्यस्त हुई वासना देश, काल और क्रिया के वश से कोमल और अत्यन्त परिपाकवश दृढ़मूल होती है। उनमें जो कोमल है, वह अन्यरूपता को प्राप्त होती है, किन्तु जो बद्ध-मूल है, उसमें शीघ्र अन्यरूपता नहीं होती। देश, काल और क्रिया आदि की जो एकता है, वही वासना की एकता है। उन दोनों में भिन्नता आ जाने पर जो बलवती होती है, उसी की विजय होती है। इस प्रकार वे विपश्चित् एक साथ उत्पन्न होकर शरीर-भेद से चार रूपों में हो गये। उनमें से आदि के दो को तो अविद्या ने आकृष्ट कर लिया, एक वासना के वशीभूत होकर मृग बन गया और एक की मुक्ति हो गयी।

इस प्रकार उन विपश्चितों का सारा वृत्तान्त मैंने स्पष्ट रूप से तुम्हें कह सुनाया। यह अविद्या कारण-ब्रह्म की भाँति अनन्त ही है; क्योंकि वह तत्स्वरूप ही है। यों अज्ञानी विपश्चित् उस ब्रह्माण्ड-मण्डप के अन्दर भटकते रहें, परन्तु उन्हें अविद्या का ओर-छोर नहीं मिला। यह अनन्तरूपा अविद्या ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि वह ब्रह्ममयी है। इसीलिये जब तक इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक इसकी सत्ता है; तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो इसका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी कारण वे विपश्चित् परब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर पहुँच कर अविद्या द्वारा कल्पित कतिपय अन्य संसार-रूपों में भटकते रहे। उनमें से एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया। शेष दो अपने प्राक्तन प्रबल संस्कार के वशीभूत होकर आज भी कहीं भटक रहे हैं।

रामजी ने पूछा—आपने हमारे हिए महान् आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनाया है। अब यह बतलाने की कृपा कीजिये कि वे विपश्चित् जिन लोकों में उत्पन्न हुए थे, वे यहाँ से कितनी दूर हैं और वे कितनी दूरी पर कैसे लोकों में भ्रमण कर रहे हैं ?

वसिष्ठजी ने कहा—वे दोनों विपश्चित् जिन लोकों में स्थित हैं, वे लोक प्रयत्नपूर्वक विचार करने पर भी मेरी बुद्धि के विषय नहीं हुए। हाँ, मृगयोनि को प्राप्त हुआ तीसरा विपश्चित् जिस लोक में स्थित है, वह संसार सम्भवतः हमारी बुद्धि में है। वह विपश्चित्, जिसकी बुद्धि तब तक के संसार-भ्रमण से खिन्न नहीं हुई थी, भ्रान्ति-वश बहुत से लोकों में भ्रमण करके उस ब्रह्माण्ड में किसी पर्वत की कन्दरा में मृगयोनि में उत्पन्न हुआ।।

रामजी ने पूछा—यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइये कि वह किस दिशा में, किस मण्डल में, किस पर्वत पर, किस वन में मृगरूप से स्थित है ? वहाँ वह क्या करता है ? शस्यस्यामला भूमि में निवास करता हुआ कैसे दूब चरता है ? बुढ़ापे के समान शिथिल ज्ञानवाला वह अपने उस उत्कृष्ट विपश्चित्-जन्म का कब स्मरण करेगा ?

वसिष्ठजी ने कहा—त्रिगर्तराज ने जिस क्रीडामृग को तुम्हें भेंटरूप में प्रदान किया है और जो तुम्हारे क्रीडामृगागार (अजायब घर) में विद्यमान है, उसी को तुम वह विपश्चित् समझो। तब श्री रघुनाथजी की आज्ञा से बालकों द्वारा लाया गया वह मनोहर मृग उस विशाल राजसभा में प्रविष्ट हुआ। फिर तो सभी सभासद् टक-टकी लगा कर उसकी ओर देखने लगे। वह शरीर से बलिष्ठ था और उसका चेहरा भी प्रसन्न था। वह अपने शरीर की चित्तियों से तारारूपी बिन्दुओं से युक्त आकाश की विडम्बना कर रहा था, नील कमलरूपी नेत्रों को बारम्बार गिराने से सुन्दरी नायिकाओं के चञ्चल कटाक्षों का तिरस्कार कर रहा था। उसके दर्शन के लिए लालायित हुई सभा का अनादर करने वाले अपने मनोऽभिराम चकित कटाक्षों से खम्भों में जड़ी हुई मरकतमणि की नीली कान्ति को तृण समझ कर उसे खाने की इच्छा से वह चञ्चलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ लगा रहा था, क्षणभर में अपने कान, नेत्र और गर्दन को ऊपर उठा लेता और फिर तुरन्त ही नीचे कर लेता—यों अपनी चपलता से सभासदों को कौतूहल में डाल रहा था। इस प्रकार राजा, मुनि और मन्त्रियों सहित सभी लोग उस मृग को देखकर 'भगवान् की माया अनन्त है' यों कहते हुए बहुत देर तक आश्चर्य में डूबे रहे।

तदनन्तर श्रीराम ने वसिष्ठ से पूछा—'मुने ! किस उपाय द्वारा प्राक्तन विपश्चित्देह की प्राप्ति होकर इस विपश्चित् के दुःख का अन्त होगा ?'

वसिष्ठजी ने कहा—जैसे आग में डाल देने से सुवर्ण अपने निर्मल रूप को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस विपश्चित् के लिए भी अग्नि ही शरण है। उसमें प्रवेश करने से यह मृग अपने पूर्व विपश्चित्-देह को प्राप्त हो जायगा। यह सब मैं अभी करता हूँ और तुमलोगों को कौतुक दिखलाता हूँ। यह मृग अभी तुम लोगों के सामने आग में प्रवेश करेगा।

वाल्मीकि जी ने कहा—उत्तम विचार वाले मुनिवर श्री वसिष्ठ ने वहाँ यों कहकर अपने कमण्डलु के जल से विधिपूर्वक आचमन करके इन्धन रहित ज्वालापुञ्ज स्वरूप अग्नि का ध्यान किया। उनके ध्यान करते ही सभा के मध्य भाग से अग्नि की लपटें लपलपाने लगीं। उन ज्वालाओं का आकार अङ्गार से रहित था, उनमें इन्धन का भी सम्पर्क नहीं था; धूम और कज्जल का तो नाम-निशान नहीं था। वे निर्मल ज्वालाएँ धक्-धक् करके धधक रही थीं। उनकी परम मनोहर कान्ति फैल रही थी और वे स्वर्ण-मन्दिर सी सुन्दर लग रही थीं। खिले हुए पलाश का-सा तो उनका आकार था और वे सन्ध्याकालीन मेघ की सी रंगवाली प्रकट हुई थीं। उस ज्वाला समूह को देखकर सभासद्गण तो दूर हट गये थे, परन्तु पूर्वजन्म के भक्तिभाव से आदर सहित देखते हुए उस मृग को उनके दर्शन से परम हर्ष हुआ। उस अग्नि का अवलोकन करने से उस मृग का पाप क्षीण हो गया और उस अग्नि में प्रवेश करने के लिये उसकी इच्छा जाग्रत् हो उठी। फिर तो वह तुरन्त ही सिंह की तरह उछल कर दूर तक पीछे

हट गया। इसी बीच में मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ जी ध्यानमग्न होकर विचार करने लगे और अपने दृष्टिपातों से मृग का पाप नष्ट करते हुए अग्निदेव से यों बोले—

'ऐश्वर्यशाली हव्यवाहन ! इस मनोहर मृग की पूर्व जन्म की भक्ति स्मरण करके इसके इसपर कृपा कीजिये और इसे विपश्चित् बना दीजिये।' राजसभा में वसिष्ठ मुनि के यों कहने पर वह मृग दूर से दौड़कर उसी प्रकार अग्नि में प्रवेश कर गया, जैसे वेगपूर्वक छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है। उस ज्वाला समूह में प्रविष्ट हुए उस मृग का शरीर दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति संध्या कालीन मेघ में विश्रान्त हुआ-सा स्पष्ट दीख रहा था। तदन्तर सभासदों के देखते-देखते ही वह मृग ज्वालाओं के बीच में मनुष्य के रूप को प्राप्त हो गया। ज्वालाओं के अन्दर वह पुण्या कृति पुरुष दिखायी पड़ा। वह स्वर्ण-सा कान्तिमान् था। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कमनीय थे, जिनसे वह बड़ा ही सुन्दर लग रहा था।

तदुपरान्त वह ज्वाला-पुञ्ज वायु के झोंके से बुझे हुए दीपक के समान उस सभा के मध्य से ऐसे अदृश्य हुआ, जैसे आकाश से सायंकाल के मेघ विलीन हो जाते हैं। फिर तो वहाँ देवालय की दीवालों के टूट जाने पर उसके मध्य स्थित देव-प्रतिमा के समान तथा परदे के अन्दर से बाहर निकले हुए नट की तरह केवल वह पुरुष ही खड़ा रह गया। वह परम शान्त था। उसके गले में रुद्राक्ष की माला शोभा पा रही थी, कन्धे पर स्वर्णमय यज्ञोपवीत लटक रहा था और शरीर अग्निताप से निर्मल हुए वस्त्रों से आच्छादित था। इस प्रकार वह तुरन्त ही उदित हुए चन्द्रमा के समान भला लग रहा था। सूर्य की प्रभा-सरीखा वह परमोत्कृष्ट आभा से युक्त था। उसके शरीर की कान्ति देखकर सभासदों के मुख से बरबस निकल पड़ा—'अहो ! कैसी अद्भुत आभा (शोभा) है !' इसलिये वह 'भास' नाम से विख्यात हुआ। तत्पश्चात् वह भास वहीं ध्यानमग्न होकर बैठ गया और मन-ही-मन अपने पूर्व जन्मों के सम्पूर्ण वृत्तान्तों का स्मरण करने लगा। उस समय सारे सभासद आश्चर्यचकित होकर चुपचाप बैठे थे। तब तक भास दो ही घड़ी में अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तों का स्मरण करके उन पूर्वजन्मों की स्मृति से लौट आया और उसका ध्यान भङ्ग हो गया। उसने उठकर क्रमशः सारी सभा पर दृष्टिपात किया। फिर हर्षपूर्वक वसिष्ठ जी के निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और यों कहने लगा—आप ज्ञान-सूर्य रूपी प्राण प्रदान करने वाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है।' तब वसिष्ठ जी भी उसके सिर पर हाथ फेरते हुए यों बोले—चिरकाल के बाद आज तुम्हारी अविद्या का सर्वथा विनाश हो जाय।' तदनन्तर जब वह 'श्रीरामजी की जय हो' यों कहता हुआ उनके चरणों में प्रणाम कर रहा था, उसी समय राजा दशरथ अपने आसन ने कुछ उठकर उससे हँसते हुए-से बोले।

दशरथ जी ने कहा—आपका स्वागत है। आप अनेक जन्मरूपी संसार में भ्रमण करने से थक गये हैं। अतः आइये, यहाँ इस आसन पर विराजिये और विश्राम कीजिये।

वाल्मीकिजी ने कहा—महाराज दशरथ के यों कहने पर वह भास नामक विपश्चित् विश्वामित्र आदि सभी मुनियों को प्रणाम करके आसन पर बैठ गया।

तब श्रीदशरथजी ने कहा—खेद है, जैसे जङ्गली हाथी आलान में बँधे रहने के कारण दुःख भोगता है, उसी तरह इस विपश्चित् ने भी चिरकाल तक अविद्या के वशीभूत होकर दुःख का अनुभव किया है। अज्ञान से उत्पन्न हुई दुर्दृष्टि की कैसी विषम गति है ! यह आकाश में ही अनेक सृष्टियों के आडम्बर-भ्रम का दर्शन कराती है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है, जो सर्वव्यापक आत्मा में आत्मा में ये कितने संसार फैले हुए हैं, जिनमें यह विपश्चित् चिरकाल तक भ्रमण करता रहा। अपने स्वभावरूप विभव से सम्पन्न इस चेतन आत्मा के संकल्प की, जो वस्तुतः शून्य है, कैसी अद्भुत महिमा है। यह शून्य होते हुए भी परमात्मघनरूपी आकाश के अंदर इस प्रकार के अनेकों जगत् के रूप प्रतीत होता है। तदनन्तर श्रीविश्वामित्रजी के द्वारा पूछे जाने पर विपश्चित् भासने अपने देखे हुए विभिन्न दृश्यों, स्थानों, लोकों तथा प्राणियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही विपश्चित् भास ने आकाश से एक विशाल शव के गिरने की कथा सुनायी। फिर अग्निदेव के साथ हुए अपने संवाद की चर्चा करते हुए भास ने कहा कि मेरे पूछने पर अग्निदेवता ने शव का आदि से अन्त तक पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाया और यह कहा कि 'वह शव मच्छर की योनि को प्राप्त हुआ था। उस अतिक्षुद्र शरीर वाले स्वेदज मच्छर की आयु केवल दो ही दिनों की हुई। उसका शरीर इतना हल्का था कि वह फूंक मारने से ही उड़ जाता था।' इस बात को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी के मन में जिज्ञासावश श्रीवसिष्ठजी से पूछा—इस जगत् में क्या समस्त प्राणियों की उत्पत्ति योनि से ही होती है अथवा अन्य किसी प्रकार से भी सम्भव है ?

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियों की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। पूर्वजन्म के अनुभव से बद्धमूल हुए शरीरतादात्म्य के भ्रमवश प्राणियों की जो उत्पत्ति होती है, वह भ्रान्तिज कही जाती है; क्योंकि वह दृश्य के सङ्ग से होती है। नित्यमुक्त ब्रह्मा को कभी भी जगद्भ्रान्ति तो होती नहीं, फिर भी वह सृष्टि के आदि में चतुर्विध जीवरूप से जो स्वयं अपने संकल्प से उत्पन्न होता है, उसका वह जन्म ब्रह्ममय कहा जाता है। वह योनिज नहीं होता। उस मच्छर ने जगद्भ्रान्तिवश जन्मधारण किया था। वह ब्रह्म-विवर्त से नहीं उत्पन्न हुआ था। अब (अग्नि के द्वारा कहा गया) उसका अगला वृत्तान्त सुनो !

अग्नि ने कहा—उसने पृथ्वी पर ईख के झुरमुटों में हरी-हरी घासों पर तथा मूंज-कास आदि के अंबारों गूंजते हुए दूसरे मच्छरों के साथ स्वयं भी गूंजते एवं क्रीड़ा करते हुए अपनी आयु का आधा दिन पूरा का पूरा भोग विलास में व्यतीत कर दिया। फिर वह बाल-लीलावश अपनी पत्नी मच्छरी के साथ हरी-हरी घासों के मध्यभागरूपी हिंडोले में बहुत देर तक झूला झूलता रहा। झूले के परिश्रम से थककर जब वह वहीं कहीं विश्राम कर रहा था, तब तक हरिण के खुराग्ररूपी पर्वत के गिरने से चकनाचूर हो गया। प्राणत्याग करते समय उसकी दृष्टि हरिण के मुख पर लगी थी, इसलिये पूर्व भावना के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का ग्रहण करके वह मृगयोनि में पैदा हुआ। वह हरिण वन में घूम रहा था कि एक व्याध ने उसे अपने धनुष द्वारा मार डाला। मरते समय उसकी दृष्टि व्याध के मुख पर पड़ी थी, इसलिये अगले जन्म में वह व्याध होकर पैदा हुआ। वह व्याध अनेक वनों में घूमता-घामता किसी मुनि के तपोवन में जा पहुँचा। वहाँ वह विश्राम कर रहा था कि उसकी मुनि से भेंट हो गयी। तब मुनि उसे ज्ञानो-पदेश करने लगे—

'रे व्याध ! तू क्यों भ्रम में पड़ा है। इस क्षणभङ्गुर संसार में अपने दीर्घकालव्यापी दुःख के लिये धनुष से इन मृगों को क्यों मारता है ? अहिंसा-अभयदान आदि शास्त्रमर्यादा का पालन क्यों नहीं करता ? वायु से टकराये हुए मेघमण्डल में लटकते हुए जल की बूंद की भाँति आयु विनाशी है। भोग बादलों की घटा के मध्य कौंधनेवाली बिजली की तरह चञ्चल हैं। जवानी के भोग-विलास जल के वेग के समान चपल हैं। शरीर क्षण-विध्वंसी है; अतः इस संसार से भयभीत होकर तू निर्वाण की खोज कर।'

तब व्याध ने पूछा—यदि ऐसी बात है तो बताइये कि दुःख का पूर्णतया विनाश करने के लिये जो न कठोर हो और न कोमल हो—ऐसा कौन-सा व्यवहारक्रम हो सकता है ?

मुनि ने कहा—तुम इसी समय बाणों सहित इस धनुष को सदा के लिये त्याग दो और मुनि के से आचरण का आश्रय लेकर दुःखरहित हो यहीं निवास करो।

वसिष्ठजी ने कहा—मुनि के यों उपदेश देने पर उसने धनुष और बाणों का परित्याग करके मुनियों का सा आचरण अपना लिया। फिर बिना माँगे जो कुछ मिल जाता था, उसी पर जीवन-निर्वाह करते हुए वह वहीं रहने लगा। कुछ ही दिनों में शास्त्राचार की विवेकशीलता ने उस मौनी के मन में उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे पुष्प गन्धद्वारा मनुष्यों के हृदय में अपना स्थान बना लेता है।

मुनि बोले—सृष्टि की उत्पत्ति का वस्तुतः कोई कारण नहीं है। अतः उसकी उत्पत्ति का अभाव स्पष्ट है। इसलिये सृष्टि शब्द और उसका अर्थ दोनों ही सर्वथा नहीं हैं। ऐसी स्थिति में कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ ज्ञान है, कहाँ अज्ञान है और कहाँ जन्म-मरण आदि है ? वास्तव में तो वह निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसकी अपेक्षा आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी उसी प्रकार स्थूल लगता है जैसे परमाणुओं के निकट पर्वत। वह चिदाकाश अपने आकाशरूप शरीर के विषय में स्वभावतः जो कुछ संकल्प करता है, उससे वह अपने को जगद्रूप से जानता है। जैसे स्वप्न में केवल चेतन जीव ही नगररूप से प्रतीत होता है, वास्तव में वहाँ नगर आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही आत्माकाश में शान्त, अखण्ड, अप्रत्यक्ष चिन्मात्र ही जगद्रूप से भासित होता है। जैसे नेत्रों में तिमिर रोग जाने से प्रकाशमय आकाश में धुआँसा-सा दीख पड़ता है, उसी तरह चिद्रूपी दृष्टि में अज्ञान-रूपी तिमिर रोग के कारण जगत् का भान होता है। परंतु वस्तुतः न भान है न अभान, न प्रातिभासिक जगत् है न व्यावहारिक तथा भूताकाश भी नहीं है; बल्कि केवल निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय चिदाकाश ही है। जिस हेतु से कारण के बिना स्वप्न में केवल शुद्ध द्रष्टा ही भासित होता है, उसी हेतु से जाग्रत् में भी कारण का अभाव है और उसमें न द्रष्टा है न दर्शन। जैसे एक काल सृष्टि और प्रलय—दोनों रूपों में व्याप्त है अथवा बीज अंकुर से लेकर पुष्प फलपर्यन्त सभी अवस्थाओं में वर्तमान है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है। जो एक की दृष्टि ने महान् दीवालरूप है, वही दूसरे की दृष्टि में निर्मल आकाश-सा दीखता है। यह बात स्थिर-स्वप्न, संकल्प और भ्रम आदि अवस्थाओं में देखी गयी है। जैसे आत्मा एक निर्मल चिदाकाशस्वरूप होकर स्वप्न में जाग्रत् की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न में भी भासित होता है। दोनों अवस्थाओं में उसकी जरा-सी भी अन्यथा प्रतीति नहीं होती। अतः व्याध ! समस्त मनोव्यापार का त्याग कर देने पर तुम जैसा रहते हो, वही तुम्हारा निरामय स्वरूप है, तुम वस्तुतः बाहर-भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मारूप से निरन्तर स्थित हो।

ब्रह्मा आदि जो स्वयंभू अपने-आप उत्पन्न होने वाले हैं, वे सृष्टि के आदि में स्वयं ही प्रकट होते हैं; क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्रस्वरूप होते हैं। अतः उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टि में न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप शरीरवाले वे सदा सर्वात्मारूप से स्थित रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में जैसे परब्रह्मस्वरूप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं, उसी तरह सैकड़ों-हजारों दूसरे जीव भी प्रकट होते हैं; किंतु जो अज्ञानी हैं, वे अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वे असात्त्विक जीव इस जड दृश्यमय द्वैत प्रपञ्च को सत्य समझकर ही पहले मृत्यु को प्राप्त हुए थे। अतः अब उनका कर्मसहित पुनः जन्म दिखायी देता है; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन अचेतन देहात्मरूप होकर अवस्तु का आश्रय ग्रहण किया है। सर्वात्मरूप चेतन की निर्मलता स्वाभाविक है। नित्य ब्रह्म स्व-स्वभाव में ही स्थित है। जिसे वह परमात्म-स्वरूप ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। तब जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विनाश में कठिनाई ही कौन-सी है। जब तक पाण्डित्य की—परमात्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तभी तक माया संसारभय को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। पाण्डित्य वही है, जिससे पुनः इस संसारचक्र में पतन नहीं होता। इसलिये विशुद्ध ज्ञान से भरपूर उस पाण्डित्य की प्राप्ति के लिये अविराम प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा अन्य किसी उपाय से तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

मुनि ने कहा—जो परमधामरूपी गन्तव्य स्थान के मार्ग के ज्ञाता हैं तथा जिन्हें आत्मज्ञान का पूर्णबोध है, ऐसे पण्डित जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्र का ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तृण के समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोक में कहीं भी ऐसा सुख अथवा ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है, जो पाण्डित्य से बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जाने से माला में सर्प की भ्रान्ति तुरंत मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपञ्च क्षणमात्र में ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म का जो प्रतिभास है, वही यह जगत् कहा जाता है। इसी कारण ये पृथ्वी आदि पञ्चभूत कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति में इन कारणों की अपेक्षा

नहीं है। जैसे स्वप्नद्रष्टा को स्वप्न में दीखने वाले मनुष्यों की स्थिति काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है, उसी तरह जाग्रत्स्वरूप स्वप्न में दीखने वाले मनुष्यों की स्थिति भी पूर्वकामना के अनुसार कल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं।

जैसे स्वप्नावस्था में तुम्हारे अन्तःकरण के संकल्प में नगर दीखता है, वैसे ही ब्रह्म के संकल्प में यह सृष्टि वर्तमान है और जैसी कार्यकारणता तुम्हारे स्वप्नकाल में कही गयी है, वैसी ही कार्यकारणता यहाँ भी है।

यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् असत् है, तथापि स्वप्न की तरह इसका अनुभव होता है। यदि 'जगत् नहीं है' यो कहा जाय तो पूर्ण चेतन ही इस रूप में विकसित होता है। जैसे हम लोगों का यह जगत् है, वैसे ही आकाश में अन्य प्राणियों के लाखों जगत् हैं; परन्तु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोवर, सागर और कूप में पृथक्-पृथक् निवास करने वाले मेढकों को अपने-अपने निवास स्थान का ही अनुभव रहता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरे के दृश्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही घर में सैकड़ों मनुष्यों के सैकड़ों स्वप्न-नगर होते हैं; उसी प्रकार आकाश में बहुत से जगत् भासित होते हैं, परंतु अज्ञानियों के अनुभव में आने से ही उन आकाशीय जगतों की सत्ता है और ज्ञानियों के अनुभव का विषय न होने से वे असत् हैं। जैसे एक घर में सैकड़ों मनुष्यों के सैकड़ों स्वप्न-नगर विकसित होते हैं और नहीं भी होते, उसी तरह आकाश में जगत् है और नहीं भी है।

यह भुवन चिन्मात्र में स्थित है। 'त्वम्', 'अहम्' आदि रूप जगत् भी चिन्मय है। इस न्याय से उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् परमाणु के अंदर तक चला जाता है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। मैं परमाणुरूप हूँ, अतः समस्त जगत् के आकार में स्थित हूँ। इसी कारण मैं सर्वत्र यहाँ तक कि परमाणु के अंदर भी विद्यमान हूँ। यह चिदाकाशरूप में चिन्मात्र परमाणु होकर जगद्रूप से जहाँ स्थित रहता हूँ, वहीं तीनों लोकों को देखता हूँ। मेरे अन्तरात्मा में तीनों लोकों का जैसा रूप विकसित होता है, वैसा बाहर नहीं होता; क्योंकि कहीं भी किसी ने उसे देखा है। स्वप्न अथवा जाग्रत् में जब-जब अथवा जहाँ-जहाँ जगत् का जो भान होता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर-सहित समस्त दृश्य चेतन आत्मा का भान ही है। जब स्वप्न में प्राणी का विस्तृत जगत् भासित होता है, तब वह चिदणुस्वरूप आत्मा का ही भान होता है और वह स्वप्न-स्थानरूप से होता है।

समागत मुनि ने कहा—उस प्राणी के शरीर तथा मेरे शरीर आदि का वास्तव में अस्तित्व न होने के कारण यह सब आदि-अन्तरहित चिदाकाश ही है। इसका रूप कर्ता, और कर्म और करण से हीन, क्रमशून्य चिद्घन है। ये घट, पट और अवट आदि चिदाकाश के विकास हैं, अतः ये स्पष्ट आकारवाले कहाँ से हो गये। वस्तुतः यह चिन्मात्र का भी विकास नहीं है, बल्कि केवल चिन्मात्राकाश ही है; फिर उसका कैसा और क्या विकास। क्या कहीं आकाश का विकास होता है? भला, शून्य वस्तु कैसे विकसित होगी। चिन्मात्र का विकास महान् चिद्घनरूप शुद्ध ब्रह्म है। वही जगत् की तरह अवभासित हो रहा है। ऐसी दशा में दृश्य कहाँ और द्रष्टापन तो फिर आ ही कहाँ से सकता है? अतः जो कालतः आदि-अन्तशून्य, देशतः आदि-मध्यहीन, वस्तुतः अद्वितीय, कारण, कार्य और तदधीन प्राणियों से परे, भुवन, शैल और दिगन्तों के कारण नाना-अनाना रूप, अप्रमेय, सर्वव्यापक चेतन है, वही सब कुछ है।

ऐसा निर्णय करके मैं इस दृश्य में स्थित हूँ। मेरा सन्ताप और राग नष्ट हो गया है। मैं आशङ्का और अहंकार से शून्य होकर निर्वाणरूप हो गया हूँ। न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसी का आधार हूँ। मैं मान और आश्रय से रहित होकर अपने चित्-स्वभावों में स्थित हूँ तथा सर्वथा शान्त होकर सृष्टि रूप से प्रकट हूँ। मैं शान्ति लाभ कर रहा हूँ, चारों ओर से निर्वाण-सुख में निमग्न हूँ और केवल आत्मसुख में स्थित हूँ। मैं विधि-निषेध से परे हो गया हूँ। अब मेरे लिए न कुछ बाह्य है न आन्तर। इस प्रकार मैं यहाँ यथा प्राप्त स्थिति के अनुसार निवास करता हूँ। तुम तो आज सहसा मेरे सामने आ गये हो।

व्याध ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मैं आप और ये समस्त देवता आदि सबके सब परस्पर एक-दूसरे के सत्-असत्-स्वरूप स्वप्नपुरुष हो जायँगे।

मुनि ने कहा—तुम्हारा कथन ठीक है; क्योंकि यह सब-का-सब परस्पर स्वप्न के समान स्थित है तथा अपने में एक-दूसरे का सत्-असत्-सा अनुभव होता है। जिसने दृश्य को जैसा समझा है, उसे तदनुकूल ही उसका अनुभव होता है। वह दृश्य वस्तु अनेक है और एक भी है। (अज्ञानियों के लिए अनेक है, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी हैं उनके लिए) जाग्रत्-काल में वह स्वप्न नगर के समान तथा पहले न देखे हुए दूर देश में स्थित दृश्यमान नगर के सदृश प्रतीतिमात्र ही है; अतः वह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्-असत् ही है। इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ वर्णन कर दिया। मेरे निरन्तर ज्ञानोपदेश करते रहने से तुम ज्ञानसम्पन्न हो गये हो। यों तो तुम स्वयं ही ज्ञानवान् हो और सब कुछ जानते हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। यह ज्ञान अभ्यास द्वारा परिपक्व हुए बिना मनके अन्दर वैसे ही नहीं प्रवेश करता, जैसे कमण्डलु आदि के आकार में परिणत हुए बिना काष्ठ में जल नहीं टिक सकता। एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवनरूपी अभ्यास से बोध में विश्राम प्राप्त होने पर जब द्वैत और अद्वैत की दृष्टि शान्त हो जाती है, तब चित्त निर्वाण कहलाता है। जो अभिमान और मोह से रहित हैं; जिन्होंने स्वप्नदोष—आसक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म-ज्ञान में लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से निवृत्त हो गयी हैं तथा जो सुख-दुःखसंज्ञक द्वन्द्वों से विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा के उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

यह सुन कर वह अपने व्याध-कर्म का परित्याग करके मुनियों के साथ रह कर तपस्या करने को उद्यत हो गया। फिर तो उसने उन्हीं मुनियों के साथ उन-उन भावनाओं से भावित होकर सदा उसी लोक में निवास करते हुए अनेकों सहस्र वर्षों तक अत्यन्त घोर तपस्या की। अपने तपःकाल में ही उसने उन मुनि से पुनः पूछा—'मुनिवर। मुझे आत्मविश्रान्ति कब प्राप्त होगी ?'

मुनि ने कहा—मैंने तुम्हें जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, वह तुम्हारे हृदय के अन्दर मौजूद तो है, किंतु वह पुरानी लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी अग्नि ने समान बलहीन है, इसलिये जिसे जला डालना उचित है, उस दृश्य पर वह आक्रमण करने में असमर्थ है। अभ्यास की कमी के कारण अभी तुम्हें कल्याणप्रद ज्ञान से विश्राम की प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ काल के पश्चात् अभ्यास के सुदृढ़ हो जाने पर तुम्हें पूर्ण विश्राम प्राप्त हो जायगा।

वसिष्ठजी ने कहा चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्यप्रपञ्च के रूप में फैला हुआ है। इसलिए ये घट' गड्ढे और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं। जैसे स्वप्न में शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थों के रूप में भासित होती है और जैसे जल ही तरङ्गरूप में प्रतीति होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्यरूप में प्रकाशित हो रहा है। तत्त्वज्ञ पुरुष घट-पट आदि समस्त भौतिक पदार्थों को ब्रह्मघन, चैतन्यघन, परमार्थघन और शान्तस्वरूप एकरस आनन्दघन का ही प्रसार मानते हैं।

आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति—ये जो शब्दार्थ-दृष्टियाँ हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुष के के लिए खरगोश के सींग की भाँति असत् हैं। इनमें से कोई कभी भी सम्भव नहीं है। केवल चेष्टाशून्य, शान्तस्वरूप, व्यावहारिक नाम आदि से रहित, ज्ञाता (साक्षी) परमात्मा ही सर्वत्र विद्यमान हैं। वह जो चिन्मय प्रकाश के स्फुरण से आकाशस्वरूप शरीर (मूर्त जगत्), जो कि बिना दीवाल के चित्र-सा पदार्थों की सत्तामात्र है, प्रतीत होता है; वास्तव में अविनाशी ही है। जैसे जल में तरङ्गें होती हैं, उसी प्रकार शान्तस्वरूप परमात्मा में सदा और सर्वत्र वह जगत् चिन्मयरूप से ही विद्यमान है। जगत् जिस रूप में प्रतीत हो रहा है, वैसा ही प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होने के कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही है। सारा दृश्य कुछ है और नहीं भी है। सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूप में इस जगत् की स्थिति है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है

या असत् है—संसारचक्र के विषय में उठने वाले इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर—जगत् का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं।

चिन्मय आकाश में ही जो चिन्मय आकाश का स्फुरण हो रहा है, उसी ने उसी को जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है? पूर्णपरब्रह्म परमात्मा से ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकट न करने पर प्रकट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जो स्वयं मेरे अनुभव में आ रहा है, उस आत्मतत्त्व को इस प्रकार अत्यन्त विशद रूप से बारम्बार उच्च स्वर से प्रकट कर रहा हूँ, तो भी कुछ मन्दाधिकारी लोगों के भीतर जो मूढ़ता घर किये बैठी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत् में 'यह जाग्रत् सत्य ही है' ऐसे विश्वास का आज भी त्याग नहीं कर रही है। यह महान् खेद का विषय है। जो समझदार होने के कारण तत्त्वज्ञान का अधिकारी है, वह भी उस भ्रान्त धारणा को शीघ्र नहीं छोड़ रहा है। यह कैसा मोह है!

वसिष्ठजी ने कहा—जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी है—आत्मस्वरूप परमात्मा में लगी हुई है तथा जिसे सुख के साधन सुख और दुःख के साधन नहीं दे पाते हैं, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियों की चित्तवृत्ति सब ओर फैले हुए विषयभोगों में आसक्त हो उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा में अविचल निष्ठा रखनेवाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुष की विवेकशालिनी बुद्धि वहाँ से विचलित नहीं होती, वह जीवन्मुक्तक कहलाता है। जिसका चित्त अपनी चपलता छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा में विश्राम लेकर वहीं रम गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका मन परमात्मा में विश्राम लेने के पश्चात् फिर वहाँ से हटकर इस दृश्य जगत् में नहीं रमता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जो विशुद्ध बोधस्वरूप ज्ञानी महात्मा एकमात्र चेतनाकाशमय परमात्मा के चिन्तन में अनायास ही दृढ़तापूर्वक संलग्न होने के कारण किसी लौकिक सुख का अनुभव नहीं करता है, वह परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। जिसके सभी पदार्थों के विषय में सारे सन्देह विवेक द्वारा वास्तव में नष्ट हो गये हैं, वह परमपद-स्वरूप परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। व्यवहार में लगे होने पर भी जिसके मन में कहीं किसी भी पदार्थ के प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है, वह परमात्मा में विश्रान्त कहलाता है। जो प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करता है तथा जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प से शून्य होते हैं, वह परमात्मा में विश्रान्त कहा गया है। जिस महापुरुष ने विश्रामशून्य, आधाररहित तथा लम्बे संसार मार्ग में उसकी चिन्मात्ररूपता का साक्षात्कार करके आत्मा में विश्राम पा लिया है, उसकी सर्वत्र विजय है। जन्म-जरा आदि सांसारिक दुःख से ऊपर उठकर भवसागर के पार पहुँचा हुआ श्रेष्ठ ज्ञानी महात्मा परम विश्रान्ति-सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा में प्रतिष्ठित होता है।

सारे जगत् का अभाव करके परम पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष खूब छककर ब्रह्मानन्दमय अमृत का पान करता और सुख से सोता है; कैसी अद्भुत बात है? आत्मज्ञानी पुरुष विषयानन्द के अभाव में भी निरतिशय पाकर महान् आनन्द में निमग्न हो जाता है, अविनाशी अद्वैत सुख का अनुभव करता है तथा दूसरे प्रकाशों से प्रकाशित न होने वाले परमात्मा के महान् प्रकाश से सम्पन्न हो सुख से सोता है; यह कैसी विलक्षण स्थिति है? जिसके काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि रूप अन्धकार का नाश हो गया है, जो परमात्मा के महान् प्रकाश का रसिक बन गया है तथा केवल अमूर्त आनन्दरस में ही आस्वाद का अनुभव करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही सुख से सोता है; यह कितनी अद्भुत बात है? आत्मज्ञानी पुरुष का जो सुखपूर्वक शयन है, उसमें अनन्त दुःखों के अनुभव के विषय में वह विरत होता है और वर्णाश्रमोचित व्यवहार में लोकसंग्रह के लिये वह लगा रहता है—उससे विरत नहीं होता। बाह्य पदार्थों में उसकी आसक्ति नहीं होती है तथा वह आन्तरिक सुख का निरन्तर अनुभव करता रहता है। जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा स्थूल है, उस आत्मा को चिदाकाशरूपी शय्यापर सुलाकर आत्मज्ञानी पुरुष अपूर्व सुख से

सोता है। इस हमारे जगत् को अपने आत्मस्वरूप चेतनाकाश के एक कोने में स्वप्न के समान देखता हुआ वह विशद चिदाकाशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुख सोता है। लोक-परम्परा के अनुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोरम तृणराशि से निर्मित चटाई पर विश्राम को प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है।

रामजी ने पूछा—जीन्मुक्त पुरुष का मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीड़ा करता है ? उसकी क्रीडा का क्या स्वभाव है ? अपने आत्मस्वरूप में अवस्थिति ही उसकी क्रीडा है अथवा रमणीय भोग-स्थानों में विहार करने से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी को वह अपनी क्रीडा समझता है ?

वसिष्ठजी ने कहा—जो अपना परम्परा-प्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसंग्रह के लिये किया जाने वाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्न से अभ्यास में लाया गया सत्-शास्त्रों का अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वर-ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है—वे तीनों प्रकार के कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं हैं, वास्तव में एक ही हैं। केवल उपाधिभेद से तीन नामों द्वारा कहे गये हैं। वह एकमात्र त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुष का स्वाभाविक मित्र है। वह मित्र पिता के समान आश्वासन देने वाला, स्त्री के समान लज्जा द्वारा अकर्तव्य से रोकने वाला तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे संकटों में भी सदा साथ देने वाला है। उसके सेवन में किसी प्रकार की शङ्का के लिये स्थान नहीं है। वह परमानन्द की सिद्धि में पूर्ण सहायक है तथा क्रोध के अवसरों पर भी कोपरहित होने के कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है। ऐसे स्वकर्म नामक अपने सस्त्रीक मित्र के साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है, किसी दूसरे से प्रेरित होकर नहीं।

रामजी ने पूछा—उसके इस मित्र की स्त्री और पुत्र आदि कौन हैं तथा उनका स्वरूप क्या है ?—उनमें कौन-कौन से गुण हैं ? यह संक्षेप से ही मुझे बताइये।

वसिष्ठजी ने कहा—इस स्वकर्म नामक मित्र के 'स्नान,' 'दान,' 'तप' और 'ध्यान' नाम वाले चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्गुणों से सारी प्रजा उनमें भली-भाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नी का नाम 'समता' है, जो इसे बहुत ही प्रिय है। वह सदा अपने प्रियतम की हृदय वल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखा के समान दर्शन मात्र से ही लोगों को आह्लाद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतम में अनुराग रखती है। करुणा के कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती है। चित्त को चुरा लेने वाली और आनन्द की जननी है। सदा पति के साथ रहती और कभी अलग नहीं होती है। जो सदा धैर्य और धर्म में लगायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता रानी की प्रतीहारी (द्वारपालिका) है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देने में तत्पर रहती है। वह उस धर्म-धुरन्धर धन्यभागी धीर पुरुष के आगे-आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजा के मित्र की दूसरी स्त्री 'मैत्री' है, जो राज्य पर बढ़े हुए शत्रुओं को पराजित करने के लिये राजा को उचित मन्त्रणा प्रदान करती है। वह सदा 'समता' के साथ राजा के कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर चलती है। इसके सिवा इन माननीय नरेश को आर्य मर्यादा रूपी समस्त कार्यों के विषय में बड़ी चतुराई के साथ उपदेश देने वाली आचार्य स्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करने वाली धनाध्यक्षा है। इस तरह के उत्तम परिवार वाले मित्र एवं मन्त्री रूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो लौकिक लाभ में हर्ष मानता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है। निर्वाण मोक्ष में मन लगाये रहने वाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहार में तत्पर होने पर भी चित्रलिखित योद्धा की भाँति ज्यों-का-त्यों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वाद-विवादों में वह पत्थर की प्रतिमा की भाँति मूक बना रहता है। बेमतलब की बातों को सुनने में वह परले सिरे का बहरा बना रहता है। लोकाचार के विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट होता है और सदाचार का विवेचन करते समय वह सहस्र जिह्वावाले वासुकि एवं देवगुरु बृहस्पति के समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणी से सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरों के कुटिलतापूर्ण दोषों को वह शीघ्र ही ताड़ लेता है। वस्तुविषयक

अत्यन्त दुरूह सन्देह का भी पलक मारते-मारते निर्णय करके शीघ्र ही उसके स्वरूप का विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टि में समता और हृदय में उदारता होती है। वह दानवीर होने के कारण सबको यथा योग्य धन वितरण करता है। उसका स्वभाव कोमल, स्नेहमय और मधुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्यकीर्ति होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञान के प्रकाश से अलोकित है। वे प्रयत्न से ऐसे नहीं बनते हैं। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित नहीं हो, वह प्रकाश उनका स्वाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों का यह स्वभाव सिद्ध गुण बताया गया है।

शान्त तत्त्वज्ञानी पुरुष चलते-फिरते, खड़े होते, जागते और सोते समय भी सदा एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मा में ही समाहित रहता है। जो भेद में भी अभेदनिष्ठ है, दुःख में भी सुखमयी स्थिति वाला है और बाह्य संसार में रहकर भी अन्तर्मुख होने के कारण संसार में नहीं है। ऐसे ज्ञानी महात्मा के लिये दूसरा कौन-सा कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष रह जाता है? बाहर के कार्य—व्यवहार करता हुआ भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदय से न तो कुछ त्याग करता है और न ग्रहण ही करता है। वह सदा अकार्य नित्य परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित रहता है। ज्ञानी पुरुष अज्ञान के आवरण से मुक्त होता है। उसका अन्तःकरण सदा शक्ति और आनन्द का ही अनुभव करता है। उसके शत्रु-मित्रादि-विषयक विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसमें आत्मसुख स्वरूप सारवस्तु की ही प्रचुरता होती है तथा वह सदा परम शान्ति रूप अमृत से तृप्त रहता है।

चारों ओर सुन्दर जगत् के रूप में यह परब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। वह स्फुरण और अस्फुरण (सृष्टि और प्रलय काल) में भी अपने निर्विकार स्वरूप में ही अकेला स्थित रहता है। दृश्य-प्रपञ्च के रूप में भासित होकर भी निर्मल, प्रशान्त चेतनाकाश रूप ही है। परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में अनादि काल से प्रलय और सृष्टि के उदय रूप से ही उदित है। अज्ञ जनता के निश्चय को छोड़कर तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि में ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् सदा निर्विकार ब्रह्मरूप ही है। यदि तरङ्ग चेतन हो और वह युक्ति से यह समझ ले कि मैं तरङ्ग नहीं, जल ही हूँ तो उसकी तरङ्गता कैसे रह सकती है? वेदान्तियों, जैनियों, सांख्यवादियों, बौद्धों, व्यास आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा वैष्णव आदि आगमों ने भली-भाँति से प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूप में भो हमारा प्रतिपाद्य ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से विभिन्न नामों द्वारा उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है। उन वादियों के अपने-अपने निश्चय के अनुसार पारलौकिक ऐहलौकिक सुख रूप सारे फलों के रूप में वह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। ब्रह्म की ऐसी महिमा है; क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मा है।

वसिष्ठजी ने कहा—सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी समुद्र की तरङ्गें हैं। उनमें चैतन्य ही जल है। जीवन्मुक्तों के अनुभव आने वाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियों के दुःखमय जगत् से भिन्न है। वह सच्चिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें द्वैत और एकत्व आदि के दुःखमय भेद किस निमित्त से रह सकते हैं? दृश्य का अत्यन्ता भावरूप जो बोध है, उसी को परम पद कहा गया है। वही ब्रह्म है और 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है। (क्योंकि 'तत्सर्वमभवत्' इस श्रुति से यही बात सिद्ध होती है) तथा वह कुछ भी नहीं है। (क्योंकि 'नेति-नेति' कहकर श्रुति ने इसी का समर्थन किया है)। ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को इसी रूप में जानता है। सम्यक् ज्ञान से परम निर्वाण रूप मोक्ष की प्राप्ति बतायी गयी है। उसमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है, न एकत्व; न कुछ है, न कोई है। वह समस्त सदसद्भावों की सीमा का अन्त कहा गया है। जहाँ दृश्य की सत्ता अत्यन्त असम्भव है, जो शुद्ध बोध का उदय रूप है, जहाँ समस्त विक्षेपों का अभाव हो जाता है तथा जो निरतिशयानन्द रूप से स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्मा को ही परमपद समझना चाहिये।

यह परमात्मा जबतक अज्ञात रहता है, तभी तक अविद्यारूप मल की स्थिति है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त चिन्मय परमाकाश

रूप है, उस परमात्मा में मल कहाँ से हो सकता है (क्योंकि ज्ञान होते ही अविद्यारूपी मल धुल जाता है)। विचार दृष्टि से देखा जाय तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है; क्योंकि यह परम चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध कहा गया है। जो एक मात्र सच्चिदानन्दमय है, उसका अपने आप में कल्पित संकल्प ही इस दृश्य-प्रपञ्च के रूप में फैला हुआ है। वास्तव में तो परब्रह्म में न पृथ्वी आदि भूत हैं, न शरीर है और न चैतन्य से भिन्न दूसरा ही कोई दृश्य-भाव है; किन्तु एक मात्र चिन्मय परमात्मा ही अपने संकल्प द्वारा समष्टि मनोरूप होकर जगत् के आकार में बारंबार हो रहा है। विचार दृष्टि से देखने पर यह जगत् का स्फुरण भी कुछ नहीं है। केवल सच्चिदानन्दघन ही स्वयं अपने स्वरूप से भासित हो रहा है। जहाँ से वाणी लौट आती है, उस निरतिशयनन्दमय परमपद की प्राप्ति से तूष्णी-म्भव—स्वरूप भूत निश्चलता ही शेष रहती है। (वह निश्चलता व्यवहार काल में भी नहीं हटती है)। जीवन्मुक्त पुरुष संसार के व्यवहार में तत्पर हुआ भी शुद्ध चिदाकाश रूप ही होता है और उसी रूप में वह मूकवत् स्थित है। चिदाकाश, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान् और परमात्मा—इन सब शब्दों को पर्यायवाची ही समझना चाहिये। ब्रह्म नेत्र की भाँति उन्मेष और निमेष रूप है अथवा वायु के समान स्पन्द और अस्पन्द रूप है। उसका जैसा प्रलय रूप निमेष है, वैसा ही सृष्टि रूप उन्मेष भी है। इन्हीं का नाम जगत् है। उसने आँखें खोलीं तो संसार की सृष्टि हो गयी और आँखें बन्द की तो जगत् का प्रलय हो गया। परन्तु वह परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष—दोनों अवस्थाओं में एक रूप ही रहता है। इस कारण यह सम्पूर्ण जगत् जिस रूप में स्थित है, इसी रूप में इसे शान्त, अजन्मा, अजर, सभी अवस्थाओं में सम और चिदाकाश रूप ही समझना चाहिये।

जिसका चित्त जिस वस्तु में रस लेता है, उसका वह चित्त वैसा ही हो जाता है। अतः एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का रसिक हुआ जो ज्ञानी का मन है, वह ब्रह्मभाव को ही प्राप्त हो जाता है और जिसका मन जिसमें रस पाता है, उसने उसी को सत् समझा है। जिसकी ज्ञानदृष्टि में दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् तथा मूर्त-अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उसकी दृष्टि में यहाँ अथवा और कहीं भी न तो कर्ता-भोक्ता जीवच की सत्ता है और न उसका अभाव ही है (क्योंकि एकमात्र वही ब्रह्मरूप से शेष रह जाता है)। सहस्रों वादी मिलकर भी सत् से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता का उपपादन नहीं कर सकते तथा उससे भिन्न जगत् का कोई यथार्थ कारण नहीं उपलब्ध होता। इसलिए स्वतः यह बात सिद्ध हो गयी कि आदिकाल से ही चिदाकाश अपने आप को ही दृश्यरूप से देखता है जैसे स्वप्न में 'स्वयं चिन्मय जीवात्मा ही स्वप्न-जगत् के रूप से भासित होता हैं, वैसे ही यहाँ सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश के सिवा इस दृश्य का अन्य कोई कारण नहीं पाया जाता।

तत्वज्ञानी की दृष्टि में कोई अज्ञानी है ही नहीं (वह एकमात्र ब्रह्म के सिवा दूसरी किसी वस्तु को देखता ही नहीं है)। अतः जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे आकाश-वृक्ष के सदृश अज्ञानी के विषय में विचार करना कैसा होगा ? अज्ञान का बोधस्वरूप आत्मा के ही भीतर भान होता है; अतः वही उसका अधिष्ठान है। जगत् अज्ञान का अङ्ग है, अतः अज्ञानरूप ही है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति—दोनों निद्रा के अन्तर्गत होने से निद्रा के ही अङ्ग हैं; इसलिये उन्हें केवल निद्रारूप ही कहा जा सकता है, वैसे ही जगत् का स्वरूप भी अपने अधिष्ठानभूत चिन्मय परमात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे शुद्ध जलराशि में लहर, भँवर और द्रवता आदि के रूप में जल ही प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म में सर्ग नामक ब्रह्म ही भासित होता है। जैसे निर्मल वायु में स्पन्दन, आवर्त और विवर्त आदि की प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मरूपी वायु में सृष्टिरूपी स्पन्दन भासित होता है। जैसे महाकाश में अनन्तता, छिद्रता और शून्यता आदि धर्म आकाशरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार सृष्टि भी परात्पर ब्रह्मरूप ही है। जैसे निद्रा निद्रा आदि में स्पष्टरूप से उपलब्ध होने पर भी ये सारे स्वप्नगत पदार्थ असन्मय ही हैं, उसी प्रकार ये सृष्टि के पदार्थ भी हैं, स्वतः इनकी सत्ता नहीं है। परंतु सत्स्वलप परमात्मा में उपलब्ध होने के कारण उससे अभिन्न ही हैं। जैसे निद्राकाल में मनुष्य एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थित होता है, वैसे ही अजन्मा परमात्मा अपनी सत्ता में ही

एक सर्ग से दूसरे सर्ग के रूप में स्थित होते हैं। जैसे साम्प्रतिक सर्वदर्शनरूप परमात्मा में वर्तमान घट, पठ आदि शब्द और उनके अर्थ स्थित हैं, उसी प्रकार अद्वितीय महाचैतन्यरूप परमात्मा में भूत और भविष्य काल की सारी सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे परमात्मा में ही सृष्टिरूप परमात्मा का भान होता है, वैसे ही चिति में ही चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गों का चिति के द्वारा ही भान होता है।

इस जगत् में न कोई आकृति है, न संसार है, न संसार का अभावरूप मोक्ष है, न जन्म है, न नाश है, न सत्ता (भावविकार) है और न असत्ता ही है। केवल परम शान्त ब्रह्म का ही अपने आप में स्फुरण होता है अथवा यहाँ ब्रह्म से भिन्न किसी प्रकार का स्फुरण भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म अनेकानेक सृष्टिरूपी पुतलियों के समुदाय से भरा हुआ है, तथापि वस्तुतः उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, जड़ें, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ों का भूमि में प्रवेश—ये सब अलभ्य हैं। वह आदि-अन्त से रहित है, काल के द्वारा भी उसके जन्म और नाश नहीं होते तथा वह पूर्णरूप से विशुद्ध एवं सच्चिदानन्दघन है।

चिन्मय प्रकाशरूप परमार्थाकाश ही, जो सब पदार्थों से रहित है, स्वप्न की भाँति द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप से प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह जगत् एकमात्र चेतनाकाश ही है। आकाश में भ्रमवश होनेवाली वृक्षसमूहों की स्फुरणा के समान ब्रह्मरूपी समुद्र में जो नाम-रूपात्मक जलकणों का स्फुरण हो रहा है, वही यह सृष्टि है। आकाश में जो वृक्षसमूह की प्रतीति होती है, वह तो आकाश से भिन्न सी लगती है; क्योंकि उसमें आकाश की शून्यता नहीं दिखाई देती। परन्तु परब्रह्मरूपी महासागर में जो सृष्टिरूपी जलबिन्दु विद्यमान हैं, वे उससे किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं हैं।

रामचन्द्रजी ने कहा—एक संदेह का निवारण कीजिये। एक दिन की बात है, मैं विद्यामन्दिर के भीतर विद्वानों की सभा में बैठा था। विदेह जनपद से वहाँ एक श्रेष्ठ तपस्वी श्रीसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण आया। मैंने उसे प्रणाम किया और पूछा—'ब्रह्मन् ! आप लंबा रास्ता तै करके आये हैं; इसलिये थक गये होंगे। किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये यत्नशील से दिखायी देते हैं। बताइये, आज कहाँ से आपका शुभागमन हुआ है ?'

ब्राह्मण ने कहा—मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये विशेष प्रयत्नशील हूँ। मैं विदेह देश का ब्राह्मण हूँ और विद्याध्ययन कर चुका हूँ। मेरे दाँत कुन्द के फूल की भाँति उज्ज्वल हैं, इसलिये मुझे लोग 'कुन्ददन्त' कहते हैं। एक दिन मेरे मन में संसार वैराग्य हुआ और मैं भ्रमजनित क्लेश की शान्ति के लिये देवताओं, ब्राह्मणों तथा मुनीश्वरों के स्थानों में भ्रमण करने लगा। तब श्रीपर्वत पर एक तपस्वी से भेंट होने पर वे मुझे गौरी-आश्रम में स्थित वृद्ध तपस्वी के पास ले गये। वृद्ध तपस्वी ने श्रीपर्वतवासी तपस्वी की, उनके सात भाइयों की, उन सबके तप की, वरदान और शाप की एवं घर के अंदर ही उन सातों के सप्तद्वीपाधिपति होकर अन्त में प्रलय-काल में विलीन होने की बातें बतायीं। तदनन्तर उन आठवें अपने मित्र तपस्वी की मृत्यु से दुखी हुआ मैं उन कदम्ब वृक्ष के नीचे रहने वाले तपस्वी के पास गया। वे तीन मास प्रतीक्षा करने के बाद समाधि से विरत हुए। तब मैंने नम्रता-पूर्वक उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया।

कदम्ब वृक्ष के नीचे रहने वाले तपस्वी ने कहा—मैं समाधि से विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही बड़ी उतावली के साथ मैं फिर समाधि में ही प्रवेश करूँगा। इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यास के बिना तुम्हें नहीं लगेगा। इसलिये दूसरी युक्ति सुनो और वैसा हो करो। अयोध्या नाम की प्रसिद्ध पुरी में दशरथ नामक राजा राज्य करते हैं। उनके पुत्र श्रीराम नाम से विख्यात हैं। उनके कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठ सभा में मोक्ष के उपाय की दिव्य कथा कहेंगे। चिरकालतक उस कथा को सुनकर तुम भी मेरी ही भाँति पावन परमपद में विश्राम प्राप्त करोगे। ऐसा कहकर वे तापस मुनि समाधिरूपी अमृत के महासागर में निमग्न हो गये और मैं इस देश में आपके पास आया हूँ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—हे गुरुदेव ! वही वह कुन्ददन्त नामक द्विज है, जिसने मेरे पास बैठकर यहाँ मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को सुना है। आप इससे पूछिये। इसका संशय निवृत्त हुआ या नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! श्रीरघुनाथजी के ऐसा कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठ ने कुन्ददन्त की ओर देखकर पूछा—'निष्पाप विप्रवर कुन्ददन्त ! कहो, क्या तुमने मेरे इस उत्तम मोक्षदायक उपदेश को सुनकर ज्ञेय तत्त्व को जाना ?'

कुन्ददन्त बोला—समस्त संशयों का विनाश करने वाला मेरा चित्त ही इस समय मेरी विजय का सूचक है। मेरे सारे संदेहों की निवृत्ति हो गयी और मैंने अवश्य जानने के योग्य अखण्ड ब्रह्मतत्त्व को जान लिया। विशुद्ध ज्ञेय तत्त्व का मुझे ज्ञान हो गया। मैंने क्षयरहित द्रष्टव्य वस्तु का दर्शन कर लिया और पाने योग्य सब कुछ मैं पा गया। इस समय ब्रह्मरूप परमपद में विश्राम कर रहा हूँ। मैंने आपके मुख से सुनकर चिन्मय परमात्मतत्त्व को ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब परमार्थ सच्चिदानन्दघनरूपी मेघ है, जो चिन्मय आकाश में अपने से अभिन्न जगत् के रूप में छाया है। सर्वात्मक होने के कारण सर्वरूपी सर्वव्यापी परमात्मा का सर्वत्र सदा सबके द्वारा और सब कुछ होना पूर्णरूप से सम्भव है। सरसों के एक दाने के छिद्र के भीतर असंख्य ब्रह्माण्डों का किस प्रकार होना सम्भव है और किस प्रकार उनका होना कदापि सम्भव नहीं है, यह सब मैंने पूर्णरूप से समझ लिया। जो-जो वस्तु जब जिस रूप में यहाँ भासित होती है और सम्पूर्ण प्राणियों के अनुभव में आती है, वह-वह उस समय उस रूप में केवल सर्वघन परमात्मा ही है। इस तरह विचार करने से सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ आदि अन्त से रहित एक नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है।

वाल्मीकिजी ने कहा— कुन्ददन्त के इस प्रकार कहने पर प्रशंसनीय महात्मा भगवान् वसिष्ठ मुनि ने यह परमार्थोचित वचन कहा।

वसिष्ठजी ने कहा—हर्ष की बात है कि महात्मा कुन्ददन्त को शास्त्रश्रवण से विज्ञानानन्दघन परमात्मा में विश्राम प्राप्त हो चुका है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है—इस तत्त्व को ये हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह देख रहे हैं। हैं। निश्चय ही भ्रममात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा यह विश्व इन्हें अजन्मा ब्रह्म ज्ञात होने लगा है। भ्रान्ति इनके लिये ब्रह्मरूप ही हो गयी है। वही ब्रह्म जो शान्त, एक और निर्विकार है। जैसे, जिसके द्वारा, जहाँ, जिस प्रकार का, जितना, जब और जिस हेतु से है, वह वैसे, उसके द्वारा, वहाँ, उस प्रकार का, उतना, उस काल में और उसी हेतु से कल्याणमय, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्यापी, सुशून्य, अशून्य, आदि-अन्त से रहित एवं अक्षय ब्रह्म ही है। व्यवहार में ब्रह्म स्वयं दृश्य द्रष्टा, स्वयं चेतन, स्वयं जड, स्वयं सब कुछ और स्वयं कुछ भी नहीं है। वास्तव में वह सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आप में स्थित है। दृश्यजगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यजगत् है। वह न तो शान्त है, न अशान्त है; न निराकार है और न साकार ही है।

जैसे जागने पर स्वप्न आदि निराकार भासित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर यह शरीर भी निराकार ही प्रतीत होता है। चैतन्यमात्र ही इसका स्वरूप है। यह स्वप्न की भाँति अनुभव में आने पर भी असत् ही है। ये भ्रमवश दिखायी देने वाले सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि भाव वास्तव में नहीं हैं। जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्र से अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे चित्रकार द्वारा बनायी जाने वाली चित्रगत सेना बुद्धिस्थ चित्र से भिन्न नहीं है, वैसे ही स्रष्टा की चित्तता-दशा में मूर्त सृष्टि नाना रूपों में प्रतीत होती हुई भी उससे भिन्न न होने के कारण नानात्व से रहित है। जैसे समुद्र में जलराशि का स्फुरण होने पर ही उसमें भँवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध चिदाकाश का अपने सत्यसंकल्प के अनुसार जो स्फुरण है, उसी को जगत् कहते हैं। परमात्मचैतन्य में समुद्र में जलराशि की भाँति वस्तुतः चिदात्मक जगत्भावों का जो अकस्मात् भान होता है, उसे मनीषी पुरुष संकल्प आदि नाम देते हैं। काल से, अभ्यासयोग से, विचार से, समभाव से, जाति

की सात्त्विकता से और अन्तःकरण के सात्त्विक एवं निर्मल होने से सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुष की बुद्धि द्वैत और अद्वैत से रहित चिन्मात्रस्वरूप हो जाती है। चिदाकाशरूप परमात्मा चिदाकाश में ही स्फुरित होनेवाले अपने इस रूप को—द्रष्टा-दृश्यरूप जगत् को देखता हुआ सदा साक्षीरूप से प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है। एक चेतनसत्ता के उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं; क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। जैसे शून्यत्व और आकाश में कोई भेद नहीं है, उसी तरह जगत् और ब्रह्म में भी भेद नहीं है।

सृष्टि के आरम्भकाल में परमात्मा के मन में अपने में प्रकृतिसहित विलीन हुए प्राणियों के पूर्वकृत कर्म-वासनानुसार जो कुछ नियत रूप से भान हुआ, वह जैसा था और जिस प्रकार के कार्य-कारणभाव से स्थित था, वह आज भी उसी रूप में स्थित है और वही जगत् कहलाता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा को जिसका जैसे संकल्प होता है, वह उसी रूप में हो जाता है। सत्यसंकल्प परमात्मा की अनुभूति साररूप है। अतः उसे जिस वस्तु का भान हुआ, वह अभानरूप कैसे हो सकता है?

चेतन जीव की जो उत्पत्ति बतायी गयी है उसका अभिप्राय इतना ही है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह बात समझ में आ जाय। जीव की उत्पत्ति वास्तविक है, यह बताना अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः चेतनस्वरूप जीव चिन्मय परब्रह्म परमात्मा का अंश है; इसलिए कृत्रिम नहीं है। किन्तु अज्ञान से चेत्य अर्थात् दृश्य जगत् की ओर उन्मुख हो जाने के कारण ही वह जीव शब्द से कहा जाता है। जीवनसे अर्थात् प्राण और कर्मेन्द्रियों को धारण करने से तथा चेतन से अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को धारण करने से वह जीव कहलाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस यथार्थ आत्म-स्वरूप को भूलकर चिन्मय जीवात्मा जब यह देखने लगता है कि मैं यह मनुष्य आदि शरीर हूँ और यह पृथ्वी आदि मेरा आधार है, तब वह उसी में दृढ़ आस्था बाँध लेता है असत्य में सत्य बुद्धि करके ही जीव भावनाशक बँध जाता है और अपने भीतर बारम्बार भावना एवं नानात्व का अनुसरण करने लगता है। जो जिसमें अत्यन्त आसक्त होगा, वह उसे क्यों न देखेगा? जगत् की जो भ्रान्ति हो रही है, वह असत्य ही है, तो भी भावना के कारण इस प्रकार प्रौढ़ता को प्राप्त हो गयी है। सबके कारणभूत सनातन ब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई जगत् का कारण नहीं है। वह कारण भी कार्यता के बिना सम्भव नहीं है और निर्विकार कूटस्थ सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्म में कार्यता और कारणता आदि का होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए इस जगत् की प्रतीति अज्ञान के कारण ही हो रही है।

वसिष्ठजी ने कहा—ज्ञान की ज्ञेयतापत्ति अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञेय—जड दृश्य समझ लेना ही बन्धन है और उस ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धि का सर्वथा निवारण ही मोक्ष कहलाता है।

रामजी ने पूछा—ज्ञान की ज्ञेयता-बुद्धि का निवारण कैसे होता है? उस ज्ञेयता-बुद्धि का सर्वथा निवारण हो जाने पर यहाँ वस्तुता बुद्धि कैसे निवृत्त होती है?

वसिष्ठजी ने कहा—शम, दम, आदि साधनों से युक्त सच्चिदानन्द परमात्मा का सम्यग्ज्ञानरूप प्रबोध प्राप्त होने से भ्रान्ति-बुद्धि दूर हो जाती है। उस भ्रान्ति-बुद्धि के दूर हो जाने पर इस प्रकार ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धि की अत्यन्ता भावरूपा परम शान्तिमयी स्वरूपभूता निराकार मुक्ति प्राप्त होती है।

श्रीरामजी ने पूछा—कैवल्य बोधरूप सम्यग्ज्ञान क्या कहलाता है, जिसकी पूर्णरूप से प्राप्ति हो जाने पर यह जीव बन्धन से छुटकारा पा जाता है?

वसिष्ठजी ने कहा—सबका अधिष्ठानभूत जो चिन्मात्र ज्ञान है, वह त्रिकाल में भी ज्ञेयरूप नहीं हो सकता। वह केवल अव्यय ज्ञान अवर्णनीय है। इस प्रकार जो आन्तरिक बोध है, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

रामजीने पूछा—ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्मा के अन्दर उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है? साथ ही 'ज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति कैसे करनी चाहिये। अवबोधनार्थक 'ज्ञा' धातु से भव में ल्युट् प्रत्यय होने पर ज्ञान शब्द बनता है या करण में प्रत्यय होने पर?

वसिष्ठजी ने कहा—बोधमात्र ही ज्ञान है। अतः यहाँ भावसाधनमात्र ज्ञात को ही ग्रहण किया गया है अर्थात् भाव में प्रत्यय करने से जो ज्ञान शब्द बनता है, वही यहाँ अभीष्ट है। ज्ञान और ज्ञेय में कोई भेद नहीं है, जैसे पवन और स्पन्दन में (वायु और उसकी गतिशीलता में) भेद नहीं होता है।

रामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो यह ज्ञान, ज्ञय आदि का भ्रम जो खरगोश के सींग की भाँति मिथ्या ही है, तीनों कालों में व्यवहार के योग्य कैसे सिद्ध होता है ?

वसिष्ठजी ने कहा—बाह्य पदार्थों के भ्रम से ही यहाँ भ्रमबुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिए। वास्तव में किसी भी बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय आदि का भेदभ्रम मिथ्या ही है। (स्वप्नकाल में अथवा भ्रान्तिज्ञान में सहस्रों असत् पदार्थ व्यवहार में आते हैं। अतः यह यह ज्ञान और ज्ञेय आदि का भ्रम असत्य होने पर भी इसका अज्ञानियों के व्यवहार में आना असम्भव नहीं है।)

रामजी ने पूछा—तुम, मैं आदि जो यह प्रत्यक्ष दृश्यपदार्थ है, जो भूत आदि रूप से अनुभव में आया है, वह है ही नहीं, यह कैसे समझा जाय ?

वसिष्ठजी ने कहा—सृष्टि के आरम्भकाल में विराट् पुरुष ब्रह्मा आदि के रूप में कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसलिये किसी ज्ञेय अथवा दृश्य वस्तु की सत्ता असम्भव ही नहीं है।

रामजी ने पूछा—भूत, भविष्य और वर्तमान काल में होने वाला जो यह जगत् का दर्शन है, जिसका प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, इसके होते हुए आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; इसलिये कभी किसी को इसका दर्शन भी नहीं हुआ।

वसिष्ठजी ने कहा—स्वप्न के पदार्थ, मृगतृष्णा का जल तथा संकल्पित पदार्थ—ये सब न तो कभी उत्पन्न हुए और न वास्तव में कभी देखे गये। फिर भी, भ्रमवश इनकी प्रतीति हो जाती है। इसी तरह मैं, तुम आदि रूप जो जगत् है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न तत्त्वदृष्टि से देखने पर कभी उपलब्ध ही हुआ। इसलिए सर्वथा मिथ्या है, तथापि भ्रमवश इसकी प्रतीति होती है।

रामजी ने पूछा—मैं, तुम, यह इत्यादि रूप से पूर्णतः अनुभव में आनेवाला यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह कैसे समझा जाय ?

वसिष्ठजी ने कहा—कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। प्रलयकाल में तीनों लोकों का जो पूर्णतः लय हो गया, तब पुनः इसकी उत्पत्ति के लिए कोई कारण ही नहीं रह गया था (कारण न होने से सृष्टि हुई ही नहीं, इसलिये जो कुछ दीखता है, सब मिथ्या प्रतीति मात्र है)।

रामजी ने पूछा—महाप्रलय हो जाने पर जो अजन्मा, अविनाशी परब्रह्म अवशिष्ट रह गया, वही नूतन सृष्टि की उत्पत्ति का कारण कैसे नहीं हो सकता ?

वसिष्ठजी ने कहा—कारण में जो कार्य सत्‌रूप से विद्यमान है, वही उससे प्रकट होता है, जो उसमें है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है। क्या कभी घट से पट की उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं।

रामजी ने कहा—महाप्रलय आने पर जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में रहता है। वही सृष्टि के समय पुनः उससे प्रकट हो जाता है।

वसिष्ठजी बोले—महाप्रलय के अन्त तक उस ब्रह्म में जगत् की सत्ता का किसने अनुभव किया है तथा उसकी वह सत्ता वहाँ किस रूप में रहती है ?

रामजी ने कहा—ब्रह्म में जगत् की सत्ता उस समय ज्ञान स्वरूपा ही होती है और ज्ञानियों के अनुभव में भी आती है। अतः वह प्राकृत आकाश के समान शून्य-रूप तो नहीं होती। इसलिये उस सत्ता को असत् नहीं कहा जा सकता।

वसिष्ठ जी बोले—यदि ऐसी बात है तो वह ज्ञान ही तीनों लोकों का स्वरूप है। किन्तु जो विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है, उसके जन्म और मरण कैसे हो सकते हैं ?

श्रीराम जी ने पूछा—यदि इस प्रकार सृष्टि उस ब्रह्म में स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँ से और कैसे आ गयी ? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—कार्य-कारणता का अभाव होने से ही ब्रह्म में न सृष्टि है न प्रलय। यह जो जगत् भासित होता है, वह जिसको और जिस रूप में भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

रामजी ने पूछा—यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्र का चालक चेतन है, वह जड यन्त्र रूप कैसे हो सकता है ? द्रष्टा ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है ? काठ दाहक बनकर अग्नि को जला दे, क्या यह कभी सम्भव है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—द्रष्टा दृश्य भाव को नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्य की सत्ता सम्भव ही नहीं है। केवल द्रष्टा ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र सच्चिदानन्दघन स्वरूप एवं सर्वात्मा है।

राम जी ने पूछा—तब सृष्टि के आदि में अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ब्रह्म ही जगत् का संकल्प करता हैं। इसी से इस जगत् का भान होता हैं। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत् का प्राकट्य कैसे हो सकता था ?

वसिष्ठ जी ने कहा—किसी भी चेत्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्य के अत्यन्त अभाव के ही कारण चेतन की नित्यमुक्तता और अवर्णनीयता सिद्ध होती है।

रामजी ने पूछा—यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँ से उत्पन्न हुए हैं, जगत् का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदि का अनुभव क्यों होता है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारण की सत्ता न होने से आदि काल में ही किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशा में चेत्य कहाँ से होगा ? इसलिये सब कुछ शान्त स्वरूप परब्रह्म ही है। सृष्टि की प्रतीति केवल भ्रम मात्र है।

रामजी ने पूछा—जो वाणी की पहुँच से बाहर है, चेत्य और चलन आदि से रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परब्रह्म में किसको किस निमित्त से और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञान स्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है ? फिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बला है ?) इसका उत्तर मुझे दीजिये।

वसिष्ठ जी ने कहा—सृष्टि रूप भ्रम का कोई कारण नहीं है; इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता हैं कि उसकी सत्ता त्रिकाल में भी नहीं है। तुम, मैं आदि सब कुछ एकमात्र शान्त स्वरूप निर्विकार ब्रह्म ही है।

रामजी ने पूछा—फिर तो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त सभी वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

वसिष्ठ जी ने कहा—देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञानमात्र ही है। अज्ञान से भिन्न इनकी सत्ता न है, न पहले कभी थी।

रामजी ने पूछा—तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और एकत्व की सम्भावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध्य रह जाता है न बोधक। बोध्य-बोधक के अभाव में बोध का होना भी कैसे सम्भव होगा ? (जिसका बोध होता है वह कर्म कारक तो होना ही चाहिये। कर्म मानने पर द्वैत की आपत्ति होती है और कर्म न मानने पर बोध किस वस्तु का हो, यह प्रश्न खड़ा हो जाता है।)

वसिष्ठ जी ने कहा—अज्ञानी जीव ही बोध के द्वारा अपने अज्ञान विनाशरूप फल का आश्रय होकर आत्मबोधता (बोधकर्मता) को प्राप्त होता है। इसी से बोध शब्द भी बोध्यता (बोधरूप फल वाली सकर्मकता) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अज्ञानियों को समझाने के लिये ही कहने योग्य हैं। हम-जैसे जीवन्मुक्तों के लिये नहीं (जीवन्मुक्त पुरुष तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी से रहित हो शुद्ध ज्ञान स्वरूप हो जाता है। उसके लिये बोध की सकर्मता का निरूपण अनावश्यक हो जाता है)।

रामजी ने पूछा—'मैं जीवन्मुक्त हूँ' ऐसा अनुभव होने से यह सिद्ध है कि बोध ही अहंता रूप परिणाम को प्राप्त होता है। यह बोध अहंभाव को प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जल से भी बढ़कर निर्मल, चिन्मय, परमात्मस्वरूप आप-जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों में यह बोध भिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—बोध स्वरूप जीवन्मुक्त की स्वरूप भूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानी का मैं और तुम भी उसके स्वरूप भूत ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसमें जो द्वैत रूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दन की भाँति अद्वैत रूप ही है।

रामजी ने पूछा—संसार को स्वप्न की भाँति मिथ्य समझ लेने मात्र से कौन-सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदि में पदार्थों की साकारता कैसे शान्त होती है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—अध्यात्मशास्त्र के पूर्वा पर के विवेक पूर्वक विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता या स्थूलता की भावना शान्त हो जाती है। वे सब-के-सब चिन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निश्चय हो जाता है। इसी तरह स्वप्न के पदार्थों में भी (जागने पर) स्थूलता की भावना निवृत्त हो जाती है।

रामजी ने पूछा—जिसकी भावना स्थूलता को छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मता को प्राप्त हो गयी है, वह जगत् को कैसा देखता है ? उसका यह संसारभ्रम कैसे शान्त होता है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—वासना के क्षीण हो जगत् को उजड़ा हुआ, असत् के सदृश, आकाश में दीखने वाले गन्धर्व नगर के समान और वर्षा द्वारा मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है।

रामजी ने पूछा—वासना के क्षीण हो जाने पर जिसके लिये जगत् की स्थिति स्वप्न के तुल्य हो जाती है, उस पुरुष की जागतिक पदार्थों के विषयमें जब स्थूलता की भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—जिसकी दृष्टि में जगत् केवल संकल्प रूप है, उस पुरुष की वह अति सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर क्रम से विलीन हो जाती है। इस तरह सर्वथा वासनाशून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

रामजी ने पूछा—जो अनेक जन्मों से बद्धमूल अनेक शाखा-प्रशाखाओं से सुशोभित तथा जन्म-मरणरूपी बन्धन में डालने वाली है, वह घोर वासना किस उपाय से पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

वसिष्ठ जी ने कहा—यथार्थ तत्त्वज्ञान से जब यह भ्रममात्र दृश्यचक्र स्थूलरूपता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासना का क्षय होने लगता है।

रामजी ने पूछा—जब दृश्यचक्र स्थूलाकारता से रहित अनुभूत हो जाता है, तब और क्या होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

वसिष्ठजी ने कहा—स्थूलकारता का भ्रम मिट जाने पर जब जगत् की केवल चित्तमात्ररूपता अवगत हो जाती है और चित्तवृत्तियों के निरोध से जगत् में गौरव बुद्धि नहीं रहती है, तब जगत् के प्रति होनेवाली आस्था शान्त हो जाती है।

रामजी ने पूछा—चित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्वरूप का भलीभाँति विचार कर लेने पर क्या होता है ? यह बताइए।

वसिष्ठजी ने कहा—चेतन का चेतनीय विषयों की ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है। इस समय जो चर्चा चल रही है। यही इसका विचार है। इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है।

रामजी ने पूछा—चित्त के रहते हुए चेतन का अचेत्य परमात्मा की ओर उन्मुख होना कितनी देर के लिए सम्भव हो सकेगा ? (क्योंकि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर ही परमात्मा में अटल स्थिति हो पाती है) अतः यह बताइये कि निर्वाण-पद प्रदान करनेवाली जो चित्त की अचित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? (दूसरे शब्दों में चित्त के नाश का ही उपाय बताने की कृपा करें)।

वसिष्ठ जी ने कहा—जब चेत्य जगत् की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब अतिशक्ति जीवात्मा कैसे और वहाँ से उसका चिन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्य की सत्ता न होने से चित्त की सत्ता भी चिरकाल से ही नहीं है। फिर किसके नाश का उपाय बताया जाय ?

राम ने पूछा—जिस चेत्य का सबको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव हो रहा है, उसका इस तरह अपलाप, उसकी सत्ता को अस्वीकार कैसे किया जा रहा है ?

वसिष्ठजी ने कहा—अज्ञानी की दृष्टि में जो जगत् का स्वरूप है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानी की दृष्टि में उसका जैसा स्वरूप है, वह अद्वितीय ब्रह्ममय होने के कारण वाणी का विषय नहीं है। (अतः यहाँ अज्ञानियों के ही जगत् की सत्ता का निवारण किया गया है।)

रामजी ने पूछा—अज्ञानियों का त्रैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है तथा तत्त्वज्ञानियों का जगत् जैसा है, वह वाणी का विषय कैसे नहीं हो सकता ?

वसिष्ठजी ने कहा—अज्ञानियों का जो जगत् है, वह आदि-अन्त से युक्त तथा द्वैतरूप है। परंतु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वह नहीं है। उनकी दृष्टि में जगत् की सत्ता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आदिकाल से ही कभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

रामजी ने पूछा—जो आदिकाल से ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी सत्ता कभी सम्भव नहीं है। वह असद्रूप और आभासशून्य है। यदि जगत् का भी यही स्वरूप है तो उसका अनुभव कैसे हो रहा है ?

वसिष्ठजी ने कहा—जाग्रत्-जगत् स्वप्न-जगत् के समान असत् होता हुआ ही सत् के तुल्य प्रतीत हो रहा है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई; क्योंकि उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। यह स्वप्न के तुल्य प्रकट होकर अर्थ-क्रियाकारी भी प्रतीत होता है।

रामजी ने पूछा—स्वप्न आदि में और संकल्प एवं मनोरथ आदि में जो दृश्य का अनुभव होता है, वह जाग्रत् व्यवहार के अनुभव से उत्पन्न जाग्रत् रूप संस्कार से होता है। किन्तु यह जाग्रत् किससे अनुभव में आता है ?

वसिष्ठजी ने कहा—यदि जाग्रत् के संस्कार से ही स्वप्न का भान होता है तो सपने में गिरा हुआ अपना घर कैसे प्रातःकाल जागने पर सुरक्षित रूप से उपलब्ध होता है।

रामजी बोले—हे भगवन् ! जाग्रत्-पदार्थ का स्वप्न में भान नहीं होता; किन्तु अन्य पदार्थ ही स्वप्न में भासित होता है। वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है, यह बात मेरी समझ में आ गयी। अब इतना ही पूछना शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म अपूर्व जगत् के रूप में कैसे भासित होता है ?

वसिष्ठजी ने कहा—सब कुछ अपूर्व-सा ही भासित होता हो, ऐसा नियम नहीं है। कोई पदार्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ है, चित्त में अपूर्व प्रतीत होता है और कोई जिसका पहले अनुभव हो चुका है, अपूर्व नहीं प्रतीत होता। वह अनुभव सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में किये हुए अभ्यास के अनुसार ही भासित होता है।

रामजी ने पूछा—इस तरह आपके उपदेश से यह बात तो समझ में आ गयी कि जाग्रत्-जगत् भी स्वप्न के समान ही है। किन्तु यह स्वप्न-तुल्य प्रतीत होने वाला जगत्‌रूपी यक्ष भी क्रूर ग्रह की भाँति कष्ट देता है। अतः किस प्रकार इस रोग की चिकित्सा की जाय ?

वसिष्ठजी ने कहा—यह जो संसाररूपी स्वप्न है, इसका क्या कारण हो सकता है ? कार्य से कारण भिन्न नहीं है, यह बात सर्वत्र देखी गयी है। इस प्रकार इस विषय में विचार करो।

रामजी ने कहा—स्वप्न की उपलब्धि का कारण है चित्त। इसलिये स्वप्न-जगत् चित्तरूप ही है। इसी प्रकार आपके विचार से यह जाग्रत्-जगत् भी जो आदि-अन्त से रहित और असार है, चित्तरूप ही है। इस निश्चय से जगत् रूपी रोग की चिकित्सा स्वतःसिद्ध है।

वसिष्ठजी ने कहा—मैं कह चुका हूँ कि चेतन का चेत्य की ओर उन्मुख होना ही चित्त है। इस दृष्टि से चित्त महान् चैतन्यघन ही है। वही जगत् के आकार में स्थित है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी चिन्मय ब्रह्म से भिन्न नहीं है; क्योंकि आदिकाल से ही यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इसलिये यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च अजर-अमर, शान्त, अजन्मा एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है।

रामचन्द्रजी बोले—आपके सदुपदेश से मैं यह मानता हूँ कि जीवात्मा को भ्रान्ति के कारण द्रष्टापन और भोक्तापन के साथ सृष्टि के जन्म-नाश आदि सारे भ्रम परमपद-स्वरूप परब्रह्म में प्रतीत हो रहे हैं।

वसिष्ठजी ने कहा—जो रस से भी रस-तत्त्व के ज्ञाता हैं—सार से भी सार वस्तु को मथकर निकालने और जानने में समर्थ हैं, ऐसे विद्वानों की विचार-व्यापार से युक्त जो कोई नवीन दृष्टि है, वह पहली है तथा समस्त विचारों और शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिपाक से परिनिष्ठित जो परम तत्त्वरूप अर्थ है, उसका अपरोक्ष अनुभव कराने वाली जो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओं की दृष्टि है, वह दूसरी है। उन्हीं दो दृष्टियों का अवलम्बन करके मैंने सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप पर तब तक के लिये इस प्रकार विचार किया और विचार करना आवश्यक समझा है, जब तक कि यह बोध न हो जाय कि जितनी भी दृष्टियाँ और उनके द्रष्टा के द्रष्टापन हैं, वे सब त्रिकाल में भी नहीं हैं। सारा जगत् असत् है—शून्य है। उसकी प्रतीति भ्रममात्र है। वस्तुतः न तो कोई शून्यता है और न भ्रम ही है। नित्य-निरन्तर, सर्वत्र एकमात्र अपरोक्ष परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही विराजमान है।

रामजी ने कहा—यदि ऐसी बात है तब तो यह सारा जगत् सदा सर्व पदार्थ रूप परमार्थमय ब्रह्म ही है, जो न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। जगत् की प्रतीति के रूप में यह भ्रान्ति ही भासित हो रही है। तात्त्विक दृष्टि से तो वह भ्रान्ति भी नहीं है, केवल परब्रह्म की ही सत्ता है।

वसिष्ठ जी ने कहा—दृश्य की उत्पत्ति सम्भव न होने के कारण न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि की त्रिपुटी कुछ नहीं है। केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। जैसे स्वप्न आदि में एक ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी रूप होता है, वैसे ही जाग्रत् में भी एक मात्र वह जीवात्मा ही स्वयं द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी को धारण करके विराजमान होता है। अतः भासने योग्य पदार्थ, भान तथा भासक स्वयं प्रकाश चेतन ही है, सर्ग आदि में सृष्टि के तुल्य स्फुरित होता हुआ वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अज्ञानी लोगों को यह सृष्टि भले ही आश्चर्य के तुल्य प्रतीत हो। परन्तु ज्ञानी महात्माओं की दृष्टि में तो यह स्वभाव भूत ब्रह्मरूप ही है। सृष्टि के आदि में जब कि एक विशुद्ध चेतन ही विद्यमान है, तब उसमें संसार की उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है ? दृश्य की सत्ता किसी तरह भी सम्भव न हो सकने के कारण केवल ब्रह्म ही जगत् रूप से भासित हो रहा है। इस तरह चिदाकाश स्वरूप परमात्मा ही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि रूप से स्फुरित होता है। अतः यह जो जगत् है, परमात्मा ही है। शून्यता और आकाश के भेद की कल्पना भी अज्ञान मात्र ही है। इस तत्त्व को समझ लेने पर भी जब तक यह सुन्दर अनुभव से युक्त एवं दृढ़ न जाय, तब तक साधको पाषाण की भाँति

मौन एवं निर्विकल्प होकर एकमात्र परमात्मा में ही स्थित रहना चाहिये। जिन विषय भोगों को बार-बार भोगकर परम वैराग्य के कारण त्याग दिया गया है, उन्हें अज्ञानी पुरुषों के कहने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

रामचन्द्र जी ने कहा—यहाँ सब कुछ शान्त, आलम्बन रहित, विज्ञान स्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पना रहित एवं विशुद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्द घन परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है, न द्रष्टा है, न सृष्टि है, न जगत् है, और न जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है, वह सब असत् ही है। इस भ्रान्ति की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? इस बात का विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव हो जाने पर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारण का विचार करना कहाँ तक संगत हो सकता है ? निर्विकार एवं ज्ञान स्वरूप परब्रह्म में भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्ति रूपता का ज्ञान है, वह भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे मृगतृष्णा में जल का, गन्धर्व नगर का और नेत्र दोष के कारण उत्पन्न दो चन्द्रमा का भ्रम विचार से उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नामक भ्रम की भी विचार से उपलब्धि नहीं होती। वह भ्रान्ति कहाँ से आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है, उसी पर विचार करने से लाभ होता है। जो है ही नहीं, उस पर विचार करने से क्या लाभ होगा ? इसलिये कभी कोई भ्रान्ति सम्भव नहीं है। यह आवरण रहित नित्य विज्ञानानन्द घन ब्रह्म ही सब ओर व्याप्त है। आज यहाँ जो कुछ भी जगत् भासित होता है, यह परब्रह्म ही है। निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परब्रह्म में यह पूर्ण परब्रह्म ही विराज रहा है। जन्मरहित, अमर, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के अयोग्य, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित, निर्विकार तथा सब ओर से निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है। वही 'अहम्' (मैं) पद से कहा गया है। फिर भी वह अहंकार से सर्वथा रहित है। अनेक रूप से प्रतीत होने पर भी वह एक है तथा विशुद्ध एवं सदा प्रकाशमान है। आदि, मध्य और अन्त से रहित जिस परमपद को देवता तथा ऋषि भी नहीं जानते हैं, वही यह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। कहाँ है जगत् और कहाँ उसकी दृश्यता ? द्वैत और अद्वैत की भावना को उभाड़ने वाले जो वाक्य सन्देह और भ्रम हैं, उनसे हमारा क्या प्रयोजन है ? वास्तव में सबका आदि, अनामय स्वरूप एक परम शान्त ब्रह्म ही परिपूर्ण है। अपरिच्छिन्न उदय वाले—सर्वव्यापी इस परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञानी की दृष्टि में स्फुरित होने वाला संसार रूपी पिशाच तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नष्ट हो जाता है। वह जड़ की भाँति व्यवहार में लगा हो तो भी उस ज्ञानी की पूर्व की भेद बुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जल के भीतर लहर नष्ट हो जाती है। यहाँ वास्तव में न तो अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुख का उदय ही है। विद्या-अविद्या, सुख-दुःख—सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विशुद्ध सच्चिदानन्द घन ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म मैं ही हूँ। सदा ही सब कुछ एकमात्र मैं ही हूँ। मेरा कहीं अन्त नहीं है। मैं परम शान्त हूँ, सब कुछ नहीं हूँ। एकमात्र सत्-स्वरूप ही हूँ अथवा वह भी नहीं हूँ, मैं ही परम आश्चर्य रूप निर्वाण नामक परमशान्ति-स्वरूप हूँ।

रामचन्द्र जी कहते हैं—जिसको बोध प्राप्त हो गया है, वह ध्यानस्थ महात्मा केवल अपने चित्स्वभाव में स्थित रहता है। वह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्याग ही करता है। समाधि या ध्यान से उठने पर भी वह सदा जैसे-का-तैसा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है, जैसे दीपक प्रकाश फैलाता हुआ भी कुछ करता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है। वह मन के मनन से युक्त होने पर भी कहीं आसक्त न होने के कारण वास्तव में मन, अभिमान औरमनन से रहित ही है। उस योगी को समाधि से उठने पर विश्वरूप नामक, और समाधिकाल में ब्रह्म नामक चिन्मात्र स्वरूप परमार्थ सत्य का ही सर्वत्र दर्शन होता है। उसे सृष्टि और संहार सब चिन्मात्र ही प्रतीत होते हैं। संसार त्रिविध तापों से अत्यन्त सन्तप्त है और निर्वाण अत्यन्त शीतल है (क्योंकि उसमें समस्त तापों की शान्ति हो जाती है)। वास्तव में अत्यन्त शीतल निर्वाण ही शाश्वत है। यह तप्त संसार तो तीनों कालों में है ही नहीं। जैसे स्वप्न में अपने भाई-बन्धु के मरने या जीने पर भी स्वप्न से जगे

हुए पुरुष की उस स्वप्न गत वृत्तान्त में सत्यता-बुद्धि नहीं होती (अतएव उसे वहाँ की घटना से हर्ष और शोक नहीं होते हैं)। वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृश्य पदार्थों में सत्यता-बुद्धि नहीं होती (इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओं से हर्ष-शोक का अनुभव नहीं होता।) सम्यक् ज्ञान होने पर देह से सम्बन्ध रखने वाले भोग पदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायों से ज्ञानी को उसी तरह सर्वथा विरक्ति रहती है, जैसे स्वप्न से जगे हुए पुरुष की स्वप्नगत पदार्थों में ममता और आसक्ति नहीं रहती। वैराग्य से बोध की और बोध से वैराग्य की वृद्धि होती है। वे दीवाल और प्रकाश के समान एक-दूसरे से अभिव्यक्त होते हैं। अन्धकार में दीपक जलाने से दीवाल अभिव्यक्त होती है और दीवाल पर पड़ने से प्रकाश की विशेष अभिव्यक्ति होती है। जिस बोध से वैराग्य सम्पन्न होता है, वस्तुतः उसी का नाम बोध है। जिससे धन, स्त्री, पुत्र आदि की सुख-सुविधा-बुद्धि पहले से भी बढ़ जाती हो, वह बोध या बुद्धिमानी के रूप में जडता ही स्थित है। बोध का बोधत्व इतना ही है कि उससे वैराग्य की वृद्धि हुई अर्थात् वैराग्य होने से ही बोध सार्थक समझा जाता है। जिस पुरुष में वैराग्य नहीं है, उसकी विद्वत्ता भी मूर्खता ही है। बोध और वैराग्य रूपी उत्कृष्ट सम्पत्ति ही मोक्ष कहलाती है। उस मोक्षरूप अनन्त शान्त पद में स्थित हुए पुरुष को कभी शोक नहीं करना पड़ता। जो सदा अपने आत्मा में रही रम रहा है, शान्त, विरक्त एवं अहंकार रहित हो गया है, उस ज्ञानी पुरुष की समान संकल्प रहित एवं निर्मल स्थिति हो जाती है। सहस्र-सहस्र प्रयत्नशील पुरुषों में से कोई विरला ही ऐसा बलवान् और उत्साही होता है, जो उठकर वासना जाल को उसी तरह छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे कोई-कोई सिंह पिंजड़े को तोड़ डालता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उस पुरुष के भीतर वासनाशून्य भाव प्रकट होने पर उसे यह सुदृढ़ बोध प्राप्त हो जाता है कि सारा दृश्य ब्रह्म ही है। इससे उसकी बुद्धि एकमात्र निर्वाण रूप परब्रह्म में ही सुस्थिर हो जाती है। तत्पश्चात् उसमें मोक्ष नामक अनन्त शान्ति का उदय होता है।

वसिष्ठजी ने कहा—ज्ञानवान् पुरुष की समाधि-अवस्था में अथवा व्यवहारकाल में जो शिला के समान घनीभूत निश्चल स्थिति है, वह निर्मल मुक्ति कहलाती है। पाप और दुःख का निवारण करनेवाले उस मोक्षपद में स्थित होकर हमलोग समाधि और व्यवहार में भी इसी तरह समभाव से रहते हैं।

रामजी ने कहा—जैसे मृगतृष्णा में जल, समुद्र आदि के जल में तरङ्ग और भँवर, सुवर्ण में कटक-कुण्डल आदि आभूषण तथा स्वप्न और संकल्प में पर्वत—ये सब विना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ब्रह्म में यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ और उसमें कोई आकार भी नहीं है। इस प्रकार सर्वथा असत् होकर भी वह अज्ञानियों को भासित होता है। पहले ही यह कुछ भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि इसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। इसलिये वन्ध्यापुत्र के समान इस जगत् की सत्ता केवल काल्पनिक है। कल्पना के सिवा और किसी रूप में इसकी सत्ता नहीं है। इस जगत्-भ्रान्ति का कारण ही क्या है, जिससे यह प्रकट होती? कारण के बिना किसी भी कार्य का होना कहीं भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः निर्विकार, अजर, अमर ब्रह्म भी इसका कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि पूर्वावस्था का क्षय हुए विना कोई भी वस्तु यहाँ कहीं भी सविकार नहीं हो सकती। यदि वाणी का अविषय ब्रह्म ही कारणरूप से विद्यमान है तो कहाँ, किसको और किस प्रकार जगत् शब्द के अर्थ की प्रतीतियाँ होंगी। वास्तव में यह जगत् आकाश के समान निर्मल, शिला के समान घनीभूत और पाषाण के समान मौन, शान्त, अक्षय ब्रह्म ही है। यह परम सम-स्वरूप, एक, अनादि, अनन्त, शान्त ब्रह्म महाकाश ही है। इसमें जगत् की बात ही कहाँ है? जैसे जल में लहरों के उठने और शान्त होने से जल में भिन्नता नहीं आती, उसी प्रकार ब्रह्म में सृष्टि और प्रलय से भी कोई भिन्नता नहीं आती। सारासार-तत्त्व के ज्ञाता कोई महात्मा पुरुष इस विशुद्ध परमपद में उसी तरह एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जल की बूँद जलराशि में मिलकर एक हो जाती है। परब्रह्म परमात्मा में परब्रह्मस्वरूप ही जो अपर जगत्—भासित होता है, वह विचार करने से परब्रह्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि निर्मल, शान्त, परब्रह्म में जगत् और उनके व्यवहारों का होना सम्भव नहीं है।

वसिष्ठजी ने पूछा—यदि ऐसा मान ले कि यह दृश्य जगत् कारणभूत ब्रह्म में उसी प्रकार स्थित है, जैसे बीज में अंकुर तो यहाँ सृष्टि आदि की सत्ता कैसे नहीं सिद्ध हो सकती ?

रामजी ने कहा—बीज में अंकुर यदि अंकुररूप से ही रहता तो उसमें ढूंढ़ने पर मिलता। किन्तु बीज को फोड़कर देखने पर वह दिखायी नहीं देता है। यदि कहीं बीज के भीतर अवयवों की सूक्ष्म सत्ता है तो वह तो बीज ही है, अंकुर नहीं है। ब्रह्म के भीतर भी जगत् की सत्ता इसी तरह सिद्ध नहीं होती है। जो जगत्-सत्ता उपलब्ध होती है, वह यदि सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में हो तो वह तो नित्य ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता कदापि सिद्ध नहीं होती है। यह जो कोई अनिर्वचनीय जगत् दीखता है, तत्त्वज्ञान हो जाने पर अनुभव में ही नहीं आता है। अज्ञानावस्था में भी प्रतीत होने के कारण सत्ता और वस्तुतः असत्ता से परिपुष्ट यह जगत् स्वानुभवैकगम्य होने से अनिर्वचनीय ही है। सारा प्रपञ्च परम शान्त, निष्क्रिय, अखण्ड, आभासशून्य, अनादि, अनन्त एवं स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। मुझे अपने उस परमात्मस्वरूप का यथार्थ अनुभव है, जो जन्म और मृत्यु से रहित, शान्त, अनादि, अनन्त, महान् उपाधिशून्य और निराकार है। जो संवित् (चित्तवृत्ति) भीतर स्फुरित होती है, वही वाक्यरूप में बाहर प्रकट होती है। जैसे जो बीज भूमि में बोया गया है, वही अंकुररूप से प्रकट होता है। यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है और ज्ञानवान् की दृष्टि में मिथ्या। जो इसे ब्रह्मरूप में देखता है, उसके लिये ब्रह्म है तथा जो शान्त महात्मा पुरुष हैं, उनके लिये यह शान्त होकर अन्त में शून्यरूप ही रह जाता है। मैं चिदाकाश हूँ। आप चिदाकाश स्वयं चिदाकाश हैं। आप एकमात्र चिदाकाशभाव को प्राप्त हो एकाकाशरूपता में ही स्थित हैं। आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं और ब्रह्माकाशभाव में ही स्थित हैं। मैं अपने आकाशतुल्य विशुद्ध स्वरूपानुभव के द्वारा सर्वात्मक चिदाकाश-सदृश आपको ज्ञेय, पूर्णानन्द ब्रह्म से अभिन्न जानकर प्रणाम करता हूँ। वास्तव में चित्-स्वरूप होने के कारण ही यह जगत् बिना किसी कारण के ही उसमें उत्पन्न और विलीन होता-सा भासित होता है। अतः यह निर्मल परमाकाशरूप ही है। सम्पूर्ण शास्त्रीय युक्तियों तथा समस्त पदों से अतीत जो निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद है, उसी को पाकर आप ब्रह्माकाशस्वरूप हो गये हैं। समस्त शास्त्रों के अर्थों से परे, चिह्न अथवा आकार से रहित, नामरूप से हीन, अनुभवस्वरूप, शुद्ध, चिन्मय, एक, अजन्मा एवं सबका आदि निर्मल चिदाकाश ही यहाँ विराजमान है। उसमें किसी प्रकार के नाम की कल्पना के लिये स्थान नहीं है। उस ब्रह्म में मल की आशंका ही व्यर्थ है—वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दघन है।

रामचन्द्रजी ने कहा—कृपा कीजिये जिससे बहँगी ढोनेवाले उन कीरकों के इस प्रसंग का तात्पर्य भलीभाँति समझ में आ जाय और कोई सन्देह न रह जाय।

वसिष्ठजी ने कहा—जो भूमण्डल के मनुष्य हैं, ये ही वे बहँगी ढोने वाले कीरक हैं और उनका जो दारिद्र्य-जनित दुःख था, वह इन मनुष्यों का महान् अज्ञान है। जो महान् वन बताया गया है, वह सद्गुरु, सत्-शास्त्र आदि का क्रम है। वे जो आहार जुटाने के लिए उद्योगशील थे, उसके द्वारा इन भोगार्थी मनुष्यों की ओर संकेत किया गया है। अत्यन्त कृपण मनुष्य अन्य सब कार्यों की उपेक्षा करके मुझे भोगराशियाँ प्राप्त हों, इस उद्देश्य से शास्त्र आदि में—उनसे बताए हुए उपायों में प्रवृत्त होता है। भोग परवश होकर भोग सामग्री के लिये ही शास्त्रों में प्रवृत्त होने पर भी जीव क्रमशः अभ्यास करके अपने लिए परम अभीष्ट आदि पद (परब्रह्म परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है। जैसे लकड़ी के लिए उद्यत हुए भारवाहक को मणि प्राप्त हो गयी, वैसे ही भोग-संग्रह के लिए शास्त्र में प्रवृत्त हुए मनुष्य भी निष्काम भाव से शास्त्रोक्त साधनों का अनुष्ठान करके परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई यह सोचकर कि देखूँ तो शास्त्र और विवेक-विचार से क्या लाभ होता है' यों सन्देहयुक्त कौतूहलवश शास्त्रों में प्रवृत्त होता है। फिर तदनुकूल साधन करके उत्तम पद को प्राप्त कर लेता है। जिसे परब्रह्मरूप उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ, वह पुरुष धन और भोग के लिए सन्देहपूर्वक शास्त्र आदि में प्रवृत्त होता है (जब उसे अभीष्ट

वस्तु की प्राप्ति होने से शास्त्र आदि पर पूरा विश्वास हो जाता है, तब तदनुकूल पारमार्थिक साधनों का आश्रय लेकर) वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है। लोग अपनी वासना के अनुसार किसी और ही प्रकार के फल को आशा से शास्त्रोक्त साधनों में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु बहँगी ढोने वाले कीरकों को जैसे मणि मिल गयी, वैसे ही उन्हें भी और ही उत्कृष्ट फल (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

जो स्वभाव से ही निरन्तर परोपकार में लगा होता है, वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा, उसका आचार-व्यवहार सबके लिए प्रमाण होता है। साधु पुरुषों के सदाचार से प्रेरित होकर ही अज्ञानी लोग शास्त्रोक्त फल में सन्देह रहते हुए भी भोग प्राप्ति की आशा से शास्त्र आदि में प्रवृत्त होते हैं। भोग के लिए शास्त्रोक्त कर्म में प्रवृत्त हुआ पुरुष उससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है, जैसे लकड़ी की इच्छा रखने वाले कीरक को वन से चिन्तामणि प्राप्त हो गयी थी। जिस प्रकार वन से किसी को चन्दन-काष्ठ, किसी को साधारण रत्न और किसी को चिन्तामणि मिल जाती है; उसी प्रकार शास्त्र से कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई धर्म-अर्थ-काम तीनों और कोई सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। शास्त्र आदि में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का ही मुख्य रूप से उपदेश है। ब्रह्म की प्राप्ति तो वाणी का विषय ही नहीं है। इसलिये ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में भी पद और वाक्यों की मुख्य वृत्ति से उसका निरूपण सम्भव नहीं हो सका है। जैसे वसन्त आदि ऋतुओं की शोभा उनके लाये हुए फूल, फल और पल्लव आदि की उत्पत्ति से सूचित होती हुई स्वयं अपने अनुभव से ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति शास्त्र के सम्पूर्ण वाक्यार्थों से व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ध्वनित होती हुई केवल अपने अनुभव से ही जानी जाती है। जैसे सुन्दरी युवती में मणि, दर्पण और चन्द्रमा आदि सबसे बढ़कर स्वच्छ लावण्य उपलब्ध होता हैं, वैसे ही यद्यपि शास्त्र में धर्म आदि तीनों वर्गों से उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान विद्यमान है, तथापि समस्त पदों से परे जो परम बोध है, वह अश्रद्धालु मनुष्य को न तो शास्त्र से, न गुरु के उपदेश-वाक्य से, न दान से और न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है। ये शास्त्र आदि यद्यपि श्रद्धालु को ब्रह्मप्राप्ति कराने में कारण नही हैं- तथापि श्रद्धालु को एकमात्र परमात्मा में विश्राम प्राप्त कराने की पूर्णतः कारण बन जाते हैं; कैसे ? सो बताया जाता है, सुनो। शास्त्र का बारम्बार अभ्यास करने से श्रद्धालु का चित्त विशुद्ध हो जाता है, तब वह अनायास शीघ्र ही उस पावन परमपद का साक्षात्कार कर लेता है। सत्शास्त्र से अविद्या का सात्त्विक भाग उन्नत बनाया जाता है और उस सात्त्विक भाग से इसका तामसिक भाग क्षीण हो जाता है। सत्-शास्त्ररूपी उत्कृष्ट जल से अविद्याजनित मल को धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य वस्तु-शक्ति के प्रभाव से परम शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। जैसे ईख के रस से अपने ही अनुभव से स्वादिष्ट माधुर्य की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशरूप उपाय से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ का साररूप आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आकाश में आलोक के सब ओर फैले रहने पर भी प्रभा और दीवाल के संग से ही वह सुस्पष्ट रूप से अनुभव में आता है, उसी प्रकार महावाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी पुरुष के योग से ही आत्मज्ञान का अपरोक्ष अनुभव होता है। वही शास्त्रश्रवण सफल है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है, जिससे समता प्राप्त होती है और वही समता सफल है, जिसके जाग्रत् होने पर जाग्रत् में भी सुषुप्ति की भाँति परमात्मा के स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति हो जाती। इस प्रकार यह सब कुछ सत्-शास्त्र एवं सद्गुरु के उपदेश आदि से प्राप्त हो जाता है। इसलिए पूरा प्रयत्न करके सत्-शास्त्र आदि का अभ्यास करना चाहिये। शास्त्रों के अर्थ का विचार करने से, गुरुजनों के उपदेश-वाक्य से, सत्संग से, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शरण— इन नियमों के पालन से और मन एवं इन्द्रियों को वश में करने से वह सम्पूर्ण विश्वपद से अतीत, सर्वेश्वर, सबका आदि, अनादि एवं सच्चिदानन्दमय परम पद प्राप्त होता है।

वसिष्ठजी ने कहा—जो बात बार-बार कही जाती है, वह अज्ञानी के हृदय में निश्चय ही बैठ जाती है। पहले मैंने स्थिति-प्रकरण का वर्णन किया था, जिससे यह बात भलीभाँति समझ में आ जाती है कि इस प्रकार उत्पन्न हुआ जगत् केवल भ्रममात्र है। तत्पश्चात् उपशम की युक्तियों द्वारा यह बात बतायी गयी थी कि इस जगत्

में उत्पन्न हुए प्रत्येक पुरुष को उत्कृष्ट उपशम के गुण से गौरवशाली होना चाहिए। उपशम प्रकरण में कहे गये उपशम के क्रमिक साधनों द्वारा मनुष्य को अत्यन्त उपशान्त होकर यहाँ सन्ताप रहित हो जाना चाहिये। जिसने प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है, उस तत्वज्ञानी को सांसारिक व्यवहारों में कैसे रहना चाहिए, यह थोड़ी-सी बात मेरे मुँह से तुम्हें और सुननी है। जगत् में जन्म पाकर मनुष्य को बाल्यावस्था में ही जगत् की इस वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करके यहाँ चिन्तारहित होकर रहना चाहिये। जो सबके साथ सौहार्द (मैत्री) को जन्म देने वाली है और सबको आश्वासन प्रदान करती है, उस समता का पूर्ण रूप से आश्रय लेकर संसार में विचरण करना चाहिये। समतारूपिणी सुन्दर लता का फल परम पवित्र होता है, जो सम्पूर्ण साधन-सम्पत्तियों से युक्त होने के कारण सुन्दर तथा समग्र सौभाग्य की वृद्धि करने वाला है। जिनकी समग्र चेष्टाएँ समता के कारण सुन्दर होती हैं तथा जो न्याय से प्राप्त वर्णाश्रम व्यवहार में लगे रहते हैं, उन महापुरुषों की सेवा में यह सारी सांसारिक विभूति सेविका की भाँति उपस्थित हो जाती है। समता से जो सारभूत अक्षय सुख प्राप्त होता है, वह न तो राज्य से मिल सकता है और न प्रेयसी जनों के समागम से ही सुलभ हो सकता है। तुम समता को सम्पूर्ण द्वन्द्वों की शान्ति की चरम सीमा, रोषावेश तथा संशयरूपी रोग का नाश करने वाली और सम्पूर्ण दुःखरूपी आतप (धूप) के ताप से बचाने के लिए मेघ समझो। जो समतारूपी अमृत से ओतप्रोत है, उसके लिए सारे शत्रु बन जाते हैं। वह यथार्थदर्शी होता है। ऐसा मनुष्य तीनों लोकों में दुर्लभ है। प्रबुद्ध हुए अपने चित्तरूपी चन्द्रमा के सारभूत अमृत से भी बढ़े-चढ़े साम्य का अनुभव करते हुए ही जनक आदि समस्त तत्वज्ञ जीवन-निर्वाह करते हैं। समता का अभ्यास करनेवाले जीव का क्रोध, लोभ आदि अपना दोष भी शान्ति एवं उदारता के रूप में परिणत होकर गुण बन जाता है, दुःख भी नित्य सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है।

समतारूपी सौन्दर्य से सुन्दर लगने वाले महात्मा पुरुष को योगशास्त्र वर्णित सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा के प्रति क्रम से मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षारूपिणी महिलाएँ सदा गले लगाती हैं। उसके प्रति वे आसक्त-सी रहती हैं। समता से युक्त पुरुष सदा अभ्युदयशील होता है। समतायुक्त पुरुष के चित्त में कभी चिन्ता का उदय नहीं होता तथा इस जगत् में ऐसी कोई सम्पत्तियाँ नहीं हैं, जो समतासम्पन्न पुरुष को प्राप्त न हुई हों। जो अपने और पराए सभी कार्यों में समभाव रखने वाला है, साधु स्वभाव (अपराधियों को भी क्षमा करनेवाला) है, जिसका सबके प्रति उत्तम व्यवहार है तथा जो चिन्तामणि के समान उदार है, ऐसे पुरुष को मनुष्य और देवता सभी चाहते हैं। जो सदाचार सम्पन्न और सबका हित करने वाला है, अत्यन्त सम्पन्न रहता है तथा जिसका चित्त सबके प्रति समान है, ऐसे मनुष्य को न तो आग जलाती है और न जल ही डुबाता या गलाता है। जो पुरुष आनन्द और उद्वेग से रहित होकर जो कार्य जैसे होना चाहिए, उसे उसी तरह करता है तथा सबको समान दृष्टि से देखता है, उसकी तुलना करने में कौन समर्थ हो सकता है? सदाचार सम्पन्न और सबका हित करने वाले तत्वज्ञ पुरुष पर मित्र, बन्धु, शत्रु, राजा, व्यवहारपरायण मनुष्य तथा बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी विश्वास करते हैं। तत्वज्ञान सम्पन्न शमदर्शी पुरुष अपने न्याय प्राप्त स्वाभाविक कर्म की परम्पराओं में लगे हुए न तो अनिष्ट की प्राप्ति से भागते हैं और न इष्ट की प्राप्ति से सन्तुष्ट होते हैं समता से सम्पन्न चित्त वाले महात्मा पुरुष समस्त देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं। समदर्शी पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, न्यायप्राप्त होने से जिस पर आक्रमण करता है और अनुचित जान कर जिसकी निन्दा करता है, उसके उन सब कार्यों की सारी जनता सदा प्रशंसा करती है। समदर्शी पुरुष द्वारा किया गया कार्य शुभ दिखायी दे या अशुभ, देर से पूरा हुआ हो या आज ही तत्काल हो गया हो, उसे सब लोग उत्तम मानकर उसका अभिनन्दन करते हैं।

लगातार बड़े भयानक सुख-दुःख उपस्थित हों तो भी समदर्शी पुरुष उनसे थोड़ा-सा भी उद्विग्न नहीं होते हैं। राजा शिबि ने अपनी इस समदर्शिता के ही कारण शरण में आए हुए कबूतर की रक्षा के लिए प्रसन्नचित्त से अपना शरीर काट कर निकाला हुआ मांस दे दिया था। समतायुक्त हृदय वाले एक भूपाल (शिखिध्वज) प्राणों

से भी बढ़ कर प्रियतमा भार्या को अपने सामने ही परपुरुष के द्वारा आक्रान्त हुई देख क्षुब्ध नहीं हुए थे। त्रिगर्त देश के राजा ने सैंकड़ों मनोरथों से प्राप्त हुए इकलौते पुत्र को, जो दाव में हारा गया था, अपनी समबुद्धि के ही कारण बिना किसी घबराहट के राक्षस के हाथ में सौंप दिया। राजाओं में श्रेष्ठ भूपाल जनक उत्सव के लिए सजायी गयी अपनी मिथिला नगरी में आग लग जाने पर समभाव से ही उसे देखते रहे (उनके मन में विषाद नहीं हुआ)। समदर्शी शाल्वराज ने न्यायत: वेचे गये अपने ही मस्तक को कमलदल की भाँति तत्काल काट डाला था। सौवीर नरेश ने कुन्द पुष्पों की राशि के समान कान्तिमान् तथा श्वेत पर्वत के समान सुशोभित ऐरावत हाथी को, जो उन्होंने इन्द्र से जीता था, यज्ञ में ऋत्विजों के कहने से सूखे तिनके की भाँति त्याग दिया—इन्द्र को वापस लौटा दिया। ऐसा उन्होंने अपनी समतायुक्त बुद्धि से ही प्रेरित होकर किया था। समबुद्धि से ही अपनी जीविका के लिए काम-धन्धा करने वाले कुण्डप नामक एक चाण्डाल ने एक गौ को मजदूरी में लेने की शर्त ठहरा कर एक ब्राह्मण की पाँच गौओं को; जो कीचड़ में फँस गयी थीं, निकाला और मजदूरी में मिली हुई उस गाय को पुष्कर तीर्थ में उसी ब्राह्मण के हाथों में दान कर दिया था। इससे तत्काल आए हुए विमान पर चढ़कर वह देवलोक को चला गया। समता का भरपूर अभ्यास करने वाले कदम्ब वनवासी एक राक्षस ने समस्त प्राणियों का विनाश करने वाली अपनी राक्षसी त्याग कर दिया। बालचन्द्रमा के समान सुन्दर जडभरत ने अपनी समबुद्धिता के कारण ही भिक्षा में मिले हुए आग के अङ्गारे को गुड़ के लड्डू की भाँति खा लिया था। ऋषि-मुनि और सिद्ध, जो देवताओं द्वारा सम्मानित हुए हैं, वे व्रत एवं तपस्या की समृद्धि का सञ्चय करते समय समदर्शिता के ही कारण उद्विग्न नहीं हुए थे। रन्तिदेव आदि राजा तथा धर्मव्याधा आदि दूसरे साधारण मनुष्य भी समदर्शिता का दृढ़ अभ्यास करने से महापुरुषों के भी पूजनीय हो गये थे। इहलोक और परलोक में सुख की सिद्धि के लिए और मोक्षरूप पुरुषार्थ में प्रवृत्ति के लिये भी उत्तम बुद्धिवाले पुरुष सदा समदर्शिता से ही व्यवहार करते हैं। किसी को भी किसी तरह की पीड़ा न देता हुआ पुरुष न मरण की इच्छा करे न जीवन की। न्याय से जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका समतापूर्वक आचरण करता हुआ विचरे। जो समतावश गुण और दोषों को एक-सा जानता है, जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख और छोटे-बड़े समान हैं, जो मान और अपमान को एक-सा समझता है और प्राप्त व्यवहारों का भी सुचारु रूप से सम्पादन करके पवित्र हो गया है। समता से सुशोभित होनेवाला वह पुरुष सर्वत्र निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करता है।

रामजी ने पूछा—जीवन्मुक्त पुरुष सदा एकमात्र ज्ञान में ही स्थित रहते और आत्मा में ही रमते हैं। ऐसी दशा में वे कर्मों का परित्याग क्यों नहीं कर देते हैं ? क्योंकि उन्हें कर्म से कोई प्रयोजन नहीं है।

वसिष्ठजी ने कहा—जिसकी हेय दृष्टि और उपादेय दृष्टि अर्थात् अमुक कर्म त्याज्य है और अमुक ग्राह्य है—ये दोनों दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं, उसे कर्म का त्याग करने से क्या प्रयोजन है ? अथवा कर्म का आश्रय लेने की भी क्या आवश्यकता है ? ज्ञानी के लिये इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो उद्वेग कारक होने के कारण त्याज्य हो अथवा ऐसा कर्म भी नहीं है, जो तत्त्वज्ञ के लिये अवश्य करने योग्य होने से उपादेय हो। तत्त्वज्ञ पुरुष को न तो कर्मों के त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों का आश्रय लेने से। इसलिये वर्ण और आश्रम के अनुसार जो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है। जब तक आयु है, तब तक यह शरीर निश्चित रूप से चेष्टा करता रहता है, अतः वह शान्त भाव से यथा प्राप्त चेष्टा करे। उसका त्याग करने की क्या आवश्यकता है ? सदा निर्विकार रहने वाली समता युक्त निर्मल बुद्धि से जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है। इस भूतल पर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो बुद्धि से यथा प्राप्त वर्णाश्रम-धर्म का अनुसरण करते हैं। उनके सिवा दूसरे राजा जनक-जैसे तत्त्वज्ञ राजर्षि तथा अन्य वीतराग पुरुष भी हैं, जो अनासक्तचित्त एवं चिन्ता रहित होकर तुम्हारे सदृश राज्य करते हैं। कुछ लोग वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहार का अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्र में लगे रहते हैं और पञ्च-महायज्ञों से अवशिष्ट अमृतमय अन्न का भोजन करते हैं। चारों वर्णों में से कुछ लोग सदा ध्यान और देव-पूजन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकार की चेष्टाओं एवं

प्रयत्नों में लगे रहते हैं। कुछ महान् आशय वाले महापुरुष अपने अन्तःकरण में सम्पूर्ण फलों की आसक्तियों का त्यागकर सब प्रकार के नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानी की भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन सूनी वनस्थलियों में ध्यान लगाते हैं, जहाँ सपने में भी मनुष्यों के दर्शन नहीं होते और भोले-भाले मृगछौने भरे रहते हैं। कुछ लोग उन पुण्यतीर्थों, आश्रमों या देवालयों में रहते हैं, जो पुण्य की वृद्धि करने वाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं तथा जहाँ का सदाचार मन और इन्द्रियों के निग्रह से सुशोभित होता है। कुछ समतापूर्ण हृदय वाले पुरुष राग-द्वेष का परित्याग करने के लिये शत्रु-मित्रों से भरे हुए अपने देश को छोड़कर अन्य देश में चले जाते और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। कितने ही विद्वान् संसार-बन्धन का उच्छेद करने के लिये एक वन से दूसरे वन में, एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर घूमते फिरते हैं। महापुरी वाराणसी परम पावन तीर्थराज प्रयाग, श्रीपर्वत, सिद्धपुर, बदरिकाश्रम, परम पुण्यमय शालग्राम तीर्थ कलापग्राम की गुफा पुण्यमयी मथुरापुरी, कालञ्जर पर्वत, महेन्द्र वन, गन्ध मादन पर्वत, दर्दुर पर्वत, सह्यगिरि, विन्ध्यगिरि, मलय पर्वत अन्यान्य स्थानों और आश्रमों में अनेक बहुदर्शी तपस्वी रहते हैं। इनमें से कुछ लोगों ने विधिपूर्वक संन्यास लेकर अपने पूर्व-आश्रम के कर्मों का त्याग कर दिया है, क्रमशः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में स्थित हैं किन्हीं की बुद्धि तत्त्वज्ञान से प्रबुद्ध है और कितने ही नित्य उन्मत्तों-सी चेष्टा करते हैं। कोई स्वदेश से दूर चले गये हैं। कितने ही अपना घर-द्वार छोड़ चुके हैं। कुछ लोग एक ही स्थान पर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं और कुछ लोग रमते राम होकर भ्रमण करते हैं। आकाश और पाताल में निवास करने वाले इन देवता, दैत्य आदि महापुरुषों में से किन्हीं की बुद्धि प्रबुद्ध होती है, वे लोक-सगुण के ज्ञाता, सम्यग् ज्ञान से निर्मल तथा निर्गुण-सगुण तत्त्व का साक्षात्कार किये होते हैं। कुछ लोगों की बुद्धि सर्वथा प्रबुद्ध नहीं होती है, इसलिये उनका चित्त संशय के झूले में झूलता रहता है। वे पापाचार से निवृत्त होकर सत्पुरुषों का अनुसरण करते हैं। कुछ लोगों की बुद्धि आधी प्रबुद्ध होती है, वे ज्ञान के अभिमान में आकर शास्त्रोक्त कर्म और आचार को त्याग देते हैं और लोक-परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार इस जन समुदाय में जन्म-मरणरूप संसार से छुटकारा पाने की इच्छा वाले बहुत-से लोग नाना प्रकार से व्यवहार करते हुए स्थित हैं। उनकी दृष्टियाँ बहुविध प्रारब्ध-भोग के अनुकूल होती हैं। संसार-सागर से पार होने में न तो कारण है, न अपने देश में ही रहना कारण है और न साध्य तपस्या ही कारण है। कर्म का परित्याग करना अन्य कर्मों का आश्रय लेना भी संसार की निवृत्ति में कारण नहीं है। सत्कर्मों के आचरणों से जो ख्याति लाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फल समूह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने में कारण नहीं हैं। संसार-सागर से उद्धार पाने के लिये तो एकमात्र अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति ही कारण है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह सागर से पार हो जाता है। जिसका मन आसक्ति से रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मों का अनुष्ठान और अशुभ कर्मों का त्याग करता हुआ फिर संसार-बन्धन में नहीं आता। जिसकी बुद्धि खोटी—विषयों में आसक्त है, जिसने अपने मन को विषयों में खुब छोड़ रखा है, वह शठ संसार-समुद्र में डूबता ही है। जिसकी बुद्धि ने विषयों में रसानुभव किया है, उसकी वह बुद्धि दुःख पर दुःख देने वाली है। शहद के घड़े में घुसी हुई मक्खी की तरह उसे न तो वहाँ से हटाया जा सकता है और न मरा ही जा सकता है। काकतालीय संयोग से कदाचित मोक्ष की सिद्धि के लिये अपने चित्त की स्वयं ही परमात्म साक्षात्कार की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। परमात्मा का साक्षात्कार होने पर तत्त्व की उपलब्धि करके निर्मलता को प्राप्त हुआ चित्त निर्द्वन्द्व, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

तुम स्वभाव से ही परमार्थस्वरूप और राग आदि दोष से रहित हो। तुम्हारी बुद्धि सम है। तुम्हारा स्वरूपानुभव नित्य उदित है। तुम महात्मा हो। अतः शोक और शङ्का से रहित एकाकी रहो। जन्म और मरण

से मुक्त जो पावन परमपद है, वह तुम्हीं हो। विशुद्ध चिन्मय ब्रह्मरूप जगत् में प्रकृति, मल, विकार, उपाधि, का बोध आदि कहीं किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं। सुस्पष्ट रूप से नित्य चैतन्यधाम ब्रह्म ही विराज रहा है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा समझ कर निःशङ्क भाव से एकाकी रहो।

वाल्मीकिजी ने कहा—वसिष्ठजी ऐसा उपदेश दे चुके, तब उस सभा के सभी सदस्य समस्त एषणाओं से रहित और ध्यान में एकाग्र हो अपनी निर्मल बुद्धि के द्वारा ब्रह्मपद को प्राप्त हो गये। साथ ही वे मुनि भी मौन हो ब्रह्मानन्द के सहज अपरोक्ष अनुभूति में प्रवृत्त हो गये। ठीक उसी तरह, जैसे कमलों की राशि में गुनगुनाता हुआ भ्रमर चुप होकर मकरन्द का पान करने लगा हो।

सभी सदस्यों के द्वारा उच्चस्वर से दिये गये साधुवाद की ध्वनि भी वहाँ गूँजने लगी। इन सबसे ऐसा महान् कोलाहल प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण दिशाओं को भर दिया। वह कोलाहल वायुपूरित छिद्र वाले कीचकों की मुरली जैसी ध्वनि के समान मधुर था। सिद्धों के साधुवाद के साथ ही देवताओं की दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं, जिनकी प्रतिध्वनि से समस्त पर्वत व्याप्त हो गये। देवताओं की दुन्दुभियों के बजने के साथ ही दिशाओं की ओर से फूलों की वर्षा होने लगी, जो हिम की धारावाहिक वृष्टि के समान मनोहर जान पड़ती थी। उसने सम्पूर्ण दिङ्मण्डल को आच्छादित कर दिया। साधुवाद के शब्दों के साथ देववाद्यों की ध्वनि तथा पुष्पवृष्टि के घोष का वह मिलित शब्द-समुदाय वहाँ बड़ी शोभा पाने लगा। सारा भुवन भारी कोलाहल से भरकर अद्भुत शोभा पाने लगा। उत्सव से मतवाला हो उठा। देवताओं और चारणों से भर गया तथा भाँति-भाँति के फूलों से अलंकृत होकर राजभवन के समान ही शोभा पाने लगा। धीरे-धीरे दुन्दुभियों की तुमुल ध्वनि, सिद्ध समूहों के साधुवादजनित कोलाहल और पुष्प-राशियाँ एक साथ ही द्युलोक और भूलोक के अन्तराल में उसी तरह फैलने लगीं, जैसे सागर में उठी हुई उत्ताल तरङ्गें तटवर्ती पर्वत के पास पहुँच जाती हैं। देवताओं का वह कोलाहलपूर्ण समारम्भ जब क्षणभर में शान्त हो गया, तब सिद्धों के ये वचन कानों में सुनायी देने लगे।

सिद्धों ने कहा—कल्पपर्यन्त सिद्ध पुरुषों की अनेकानेक सभाओं में मोक्ष के उपायों की सहस्रों बार व्याख्याएँ हुई और सुनी गयीं, परंतु उनमें जो मोक्ष के उपाय बताये गये, वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनि के इस वाक्य-विलास से—इस महारामायण के श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवण से तिर्यग्योनि के जीव, स्त्रियाँ, बालक और सर्प भी परमानन्द को प्राप्त हुए हैं, इसमें संशय नहीं है। वसिष्ठजी ने नाना प्रकार के दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियों द्वारा जैसे रामचन्द्रजी के प्रति परमात्म-तत्त्व के ज्ञान का वर्णन किया है, वैसे ये साक्षात् अपनी धर्मपत्नी अरुन्धतीजी के प्रति भी करते हैं या नहीं, इसमें संशय है। मुनिवर्णित मोक्ष-उपाय के अनुष्ठान से तिर्यग्योनि के जीव भी दुःख-शोक से मुक्त हो गये हैं। फिर इस भूतल पर कौन से ऐसे मनुष्य हैं, जो इसके अनुष्ठान से मुक्त न होंगे। हम लोग अपने कानों की अञ्जलि से इस ज्ञानामृत का पान करके परम उत्कृष्ट बोध-श्री को प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियाँ पूर्ण तथा नवीन हो गयी हैं।

सिद्धों की इस बात को सुनते हुए सभी की भूमि कमल, पारिभद्र, पारिजात, संतानक और हरिनन्दन आदि फूलों की धारावाहिक वर्षा से भर गयी है। फूलों के भार से वहाँ का विशाल चँदोवा इस तरह लटक रहा था, मानो जल से भरा हुआ बादल नीचे झुक आया हो। इस प्रकार उस सभा की अपूर्व शोभा का दर्शन करते हुए सभासदों ने उस समय के अनुरूप भूरि-भूरि प्रशंसापूर्ण साधुवाद देकर सर्वथा उद्यत हो सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा साष्टांग प्रणाम करके नमस्कारयुक्त कुसुमाञ्जलि से वसिष्ठजी का पूजन किया। सभा में आये हुए राजाओं की प्रणाम परम्परा जब कुछ शान्त हुई, तब हाथ में अर्घ्यपात्र लेकर राजा दशरथ ने मुनि की पूजा करते हुए कहा—

राजा दशरथ ने कहा—आपके सदुपदेश से प्राप्त हुए बोधस्वरूप, क्षय-वृद्धिरहित, सर्वोत्कृष्ट निरतिशयानन्दमय आत्मवस्तु से मेरे भीतर परम पूर्णता प्रकट हो गयी है। इस भूतलपर तथा स्वर्ग में देवताओं के यहाँ भी ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है, जो आप पूज्य महापुरुष को कभी पूजन के रूप में प्राप्त न हुई हो, तथापि मैं अपने

लिये अवश्यकर्तव्य इस गुरुपूजन की विधि को सफल बनाने के लिये अवसर के अनुरूप कुछ प्रार्थना करता हूँ। आप क्षमा करेंगे। मैं पत्नियों सहित अपने इस शरीर से, लौकिक और पारलौकिक सुख के लिये संचित किये गये शुभ कर्म तथा समस्त भृत्यों और सामन्तोंसहित इस विशाल राज्य से आपकी पूजा करता हूँ। ये सारी वस्तुएँ निजी आश्रम की भाँति ही आपके अधीन हैं। आप अपनी अभीष्ट इच्छा के अनुसार मुझे अपनी आज्ञा के पालन में नियुक्त करें।

वसिष्ठजी ने कहा—हम ब्राह्मणलोग प्रणाममात्र से ही संतुष्ट हैं। राज्य का पालन करना आप ही जानते हैं, यह आपको ही शोभा देता है। ब्राह्मण कहाँ भूमण्डल के पालन का भार उठाते हैं ?

राजा दशरथ बोले—आपके इस गौरवपूर्ण उपदेश के सामने यह राज्य है ही कितना ! इस तुच्छ वस्तु को समर्पित करते हुए हम विशेष लज्जित हो रहे हैं। अतः आप जैसा उचित समझें वही करें।

वाल्मीकिजी ने कहा—जब महाराज दशरथ इस प्रकार कह चुके, तब श्रीराम उन महागुरु के चरणारविन्दों में पुष्पाञ्जलि अर्पित करने के लिये उनके सामने खड़े हुए और नतमस्तक होकर बोले—आपने महाराज को निरुत्तर कर दिया है। मेरे पास तो प्रणाम के सिवा दूसरी कोई सार वस्तु है ही नहीं। अतः मैं यही लेकर आपके इन दोनों चरणों की वन्दना करता हूँ' यों कहकर श्रीराम ने गुरु के चरणों में मस्तक रख कर वन्दना की और अपनी अञ्जलि के फूल उसी प्रकार चढ़ाये, जैसे वन पर्वत के चरणप्रान्त में अपने पल्लवों से ओस के कण समर्पित करता है। उस समय उनके दोनों नेत्र आनन्द के आँसुओं से भरे हुए थे। व्यवहारनीति के ज्ञाता रघुवीर ने बड़ी भक्ति के साथ गुरुदेव को बारम्बार प्रणाम किया। दूर खड़े हुए राजाओं, राजकुमारों और मुनियों ने दूर से ही पुष्पाञ्जलि समर्पण एवं प्रणाम करते हुए वसिष्ठजी की वन्दना की। उस अवसर पर वहाँ की गयी पुष्पाञ्जलियों की वर्षा से आच्छादित मुनिवर वसिष्ठजी उसी तरह दिखाई नहीं देते थे, जैसे हिम की वृष्टि से आच्छन्न हो गिरिराज हिमालय दिखाई नहीं देता है। सबका साधुवाद सुनते हुए अनिन्द्यात्मा वसिष्ठ विश्वामित्र आदि को सम्बोधित करके बोले—आपलोगों ने जो मेरा यह तुच्छ भाषण सुना है, इसमें जो कोई बात स्पष्ट नहीं कही गयी हो, दूषित अर्थ से युक्त हो अथवा निरर्थक हो, उसे इस समय कृपा करके आप मुझे बतावें।'

सभासद् बोले—एकमात्र परमार्थ-तत्त्व से सुशोभित होने वाले आपके वचन में कोई दूषित या अनुचित अर्थ होगा, यह आज नयी ही बात हमारे सुनने में आयी है। अनन्त जन्मदोष से हमारा जो पाप या मल सञ्चित था, उसे आपने आज यहाँ उसी तरह धो डाला है, जैसे आग सुवर्ण के दोष को दग्ध कर देती है। जैसे आकाश में फैली हुई शीतल चन्द्रमा की दीप्ति से कुमुद विकसित होते हैं, उसी तरह परब्रह्म की व्याख्या करने वाली और परमानन्दमयी शीतल आप की वाणी द्वारा हम सब लोग विकास को प्राप्त हुए हैं। समस्त प्राणियों को महान् बोध प्रदान करने वाले, एकमात्र गुरु को हम सब लोग प्रमाण करते हैं।

वाल्मीकिजी ने कहा—तदनन्तर उन सबने पुनः मेघ की गर्जना के समान गम्भीर तथा ऊँची आवाज में एक साथ 'आप मुनिनाथ को नमस्कार है' कह कर आकाश से सिद्धों द्वारा छोड़े गये नवीन पुष्पाञ्जलि-समूहों से वसिष्ठजी को उसी तरह आच्छादित कर दिया, जैसे बादल हिम की वर्षा से पर्वत को ढँक देते है। इसी प्रकार रघुनाथजी के अवतार का वृत्तान्त जानने वाले उन सिद्धों ने राजा दशरथ की तथा चार स्वरूपों में प्रकट हुए लक्ष्मीपति नारायण के अवतार श्रीराम की भी प्रशंसा की।

सिद्ध ने कहा—हमलोग चार स्वरूपों में प्रकट हुए भाइयों सहित नित्यमुक्त राजकुमार श्रीराम को, जो दूसरे नारायण के समान विराज रहे हैं, नमस्कार करते हैं। चारों समुद्र जिसके लिए खाई के समान हैं, उस संपूर्ण भूमण्डल के पालक तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में भी कभी नष्ट न होने वाले राजचिह्नों से सुशोभित महाराज दशरथ को भी हम सिर झुकाते हैं। मुनि सेना के स्वामी, भूमण्डल के पालक, भगवान् भास्कर के समान भूरि तेजस्वी एवं उत्तम यश से सम्पन्न मुनिवर वसिष्ठ को तथा तपोनिधि विश्वामित्र को भी हम प्रणाम करते हैं, क्योंकि इन्हीं के प्रभाव से हम सबने भ्रान्ति के विस्तार को भगाने वाली इस परम उत्तम ज्ञानयुक्ति को सुना है।

रामजी ने कहा—परम निर्मल हूँ, अपने-आपमें ही विश्राम सुख का अनुभव करता हूँ, बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से परे हूँ, मन की भी मुझ तक पहुँच होनी कठिन है, निर्विकार हूँ। आकाश को मुट्ठियों से नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बाँध नहीं सकती हैं। मैं देहातीत और सर्वत्र समभाव से स्थित हूँ। हर्ष, विषाद और आशा से रहित, स्थित, एक तक समतापूर्ण दृष्टि से सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होने के कारण सर्वत्र निःशङ्क होकर विचरता हूँ। सर्वोपरि सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, विषयसुख की बिल्कुल इच्छा नहीं है।

वसिष्ठजी ने कहा—जैसे आकाश शान्त आकाश में विश्राम प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मा में पूर्ण विश्राम प्राप्त है। सौभाग्य की बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोध के द्वारा रघुकुल की भूत, भविष्य और वर्तमान परम्परा को पवित्र कर दिया है। अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्रजी की याचना पूर्ण करके पिता के साथ इस पृथ्वी का पालन करते हुए सुख से रहो। बारंबार चर्चा होने से भ्रम का निवारण होता है जिससे बोध शुद्ध होकर निखर उठता है। रूप और नाम—दो ही प्रकार के दृश्य हैं। इनमें पहला अर्थ है और दूसरा शब्द—दोनों ही भ्रम हैं और इनका मार्जन आवश्यक है। अर्थ क्या है? भ्रम को समझने का एक संकेत। अर्थ की कोई वास्तविक सत्ता होते हैं, उन सबके अर्थ पृथक्-पृथक् होने पर भी उनसे अनेक वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अर्थ-भ्रमका परिमार्जन हुआ। अर्थ के बिना शब्द जल के कलकल नाद की भाँति निरर्थक है, अतः वह शब्दता को छोड़कर अर्थरूपता को प्राप्त होता है; इस तरह अर्थभ्रम के मार्जन के साथ उस शब्द-भ्रम का मार्जन भी हो जाता है। वास्तव में यह दृश्य स्वप्न की भाँति चेतन का संकल्प मात्र है। जगत् की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई है? जब जाग्रत् ही मिथ्या है, तब स्वप्न की क्या बात है? क्योंकि जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्न दृष्ट पदार्थ बनकर स्मरण के समान अपने अर्थभूत वस्तु से शून्य होकर सामने आता है। इसलिये वह चेतन का संकल्प होकर दूसरे आकार में विस्तार को प्राप्त हुआ है। स्वप्न-जगत् रूप निर्मल चिदाकाश रूपवान् होता हुआ भी रूपरहित है, उसी प्रकार त्रिभुवन भी साकार दीखता हुआ भी निराकार ही है।

रामजी कहा—इस प्रकार विचार करने से न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ कष्ट ही हुआ है। यह जगत् जैसे का तैसा चिन्मय ब्रह्म है और अपने आप में ही स्थित है। जैसे द्रव ही जल है, उसी तरह चेतन में स्फुरण नामक जो स्वरूप का विस्तार है, वही यह जगत् कहा गया है, सम्यग्दर्शन से जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गयी है, उसकी दृष्टि में यह जो जगत् का भान है, वह अभानरूप ही है। वास्तव में सब कुछ शून्य चिदाकाश ही है और वही परमार्थ है। अज्ञानी की बुद्धि में जगत् जैसा भी प्रतीत होता हो, होता रहे, उस पर हमें विचारने की आवश्यकता नहीं है।

वसिष्ठजी ने कहा—तुमने इस विषय को जैसा समझा है और आगमों ने भी जैसा इसका वर्णन किया है, वह सब ज्यों-का-त्यों ठीक है। तब बताओ, हम यहाँ और क्या वर्णन करें?

रामचन्द्रजी ने पूछा—यह चिन्मय महाकाश ब्रह्माण्ड के रूप में कैसे परिणत हो गया? इस ब्रह्माण्ड की विशालता कितनी है और यह कब तक रहेगा?

वसिष्ठजी ने कहा—जिनका बिना किसी कारण के भान होता है, उसका वह भान कुछ भी नहीं है। वास्तव में परमार्थ स्वरूप ब्रह्म ही उस रूप में दीखता हुआ अपने परमार्थ स्वरूप से ही स्थित है। इस विषय में कभी किसी ने अपने उत्तम बोज की पुष्टि के लिये मुझ से एक महान् प्रश्न किया था। तुम उस उत्कृष्ट एवं महान् प्रश्न को सुनो। त्रिलोकी में जिसकी बड़ी ख्याति है और जो दोनों ओर से दो समुद्रों द्वारा घिरा हुआ, है वह कुशद्वीप इसी भूतलपर स्थित सात महाद्वीपों में से एक है। वह भूमण्डल को कंगन के आकार में घेरकर बसा हुआ है। वहाँ पूर्वोत्तर दिशा में इलावती नाम से प्रसिद्ध एक सुवर्णमयी-सी नगरी है। उस नगरी के पूर्वभाग में एक राजा थे, जिनका नाम प्रज्ञप्ति था। जगत् के सारे प्राणी उनमें अनुरक्त थे। वे इस सृष्टि में दूसरे इन्द्र के समान प्रतिष्ठित थे। एक समय किसी कारणवश मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरे हुए सूर्य की भाँति उस राजा के समीप जा पहुँचा। उसने पुष्प, अर्घ्य और आचमनीय आदि द्वारा मेरी पूजा की और पास बैठकर मुझ से बहुत-से प्रश्न किये।

जगत् के सारे पदार्थ सदा ही असत् हैं और सदा ही ये सत् भी हैं; क्योंकि इनकी स्थिति कल्पना के अनुसार हैं। जहाँ अमुक वस्तु इस रूप में ही है, ऐसी निश्चित बुद्धि होती है, वहाँ वह पदार्थ वैसा ही होता है, फिर वह सद् हो या असत्। इस विषय में आग्रह नहीं है। जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा चिदात्मा ही स्वप्नगत जगत् के आकार में भासित होता है, उसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में समस्त कारणों का अभाव होने से चिदाकाश ही इस जाग्रत्-जगत् के आकार में भासित होता है। इसलिये इस जाग्रत्कालिक जगत् में स्वप्नजगत् से भिन्नता क्या है? इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में भासित होता है, इसलिये इस जगत् में ब्रह्म से भिन्नता क्या रही? इस प्रकार निर्विकार परब्रह्म परमात्मा की ही जगत् के रूप में स्थिति होने के कारण जगत् विशुद्ध ब्रह्म ही है। लोक, वेद और महान् शास्त्रोंद्वारा पूर्वापर विचार करके मैंने यही अनुभव किया है और इस अनुभूति—ज्ञान को ही यहाँ प्रकट किया है। समस्त भूतों में नित्य चिदात्मा ही सत्तारूप से सर्वत्र परिपूर्ण है—इस बात को महात्मा पुरुषों ने भी बारंबार कहा है, तथापि जगत् की नित्य चैतन्यरूपता का अपलाप (निराकरण) करके जो मूढ़ मनुष्य अन्धकारपूर्ण कूप में रहने वाले मेढकों के समान व्यर्थ ही टर्र-टर्र करते हैं, आपाततः वर्तमान नाम-रूप के अनुभव को ही प्रमाण मानकर यह कहते हैं कि संवित् या चेतनता कोई नित्यवस्तु नहीं है। वह शरीर से ही प्रकट होती है; इसलिये शरीर ही उसका कारण है। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि जड से ही चैतन्य की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी भ्रान्त धारण से जो लोग मोह में पड़े हुए हैं, वे उन्मत्त हैं—पागल हैं और मूर्ख हैं। ऐसे लोग हमलोगों की ज्ञानचर्चा में भाग लेने योग्य नहीं हैं। जिनका मस्तिष्क ठीक है, उनमें और पागलों में क्या बातचीत हो सकती है? वैसे ही मूर्खों और तत्त्वज्ञानियों में संलाप होना कैसे सम्भव है? जिस विद्वत्कथा से सारे संदेहों का निवारण न हो जाय, वह तीनों लोकों में कहीं भी क्यों न हुई हो मूर्ख-कथा ही समझना चाहिए।

ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्य समझ लिया गया है, इसलिये दृश्य के रूप में प्रतीत होता है और जब उसकी ब्रह्मस्वरूपता का बोध हो जाता है, तब यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है। इसलिये यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगर के रूप में स्थित है। संकल्प नगर में जब जिस-जिस वस्तु के विषय में जैसा संकल्प किया जाता है, वह-वह वस्तु उस समय वैसी ही आकृति धारण करके अनुभव में आने लगती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पगृह में जो यह प्रजा है, वह तुम्हारे संकल्प के अनुसार बनी है, उसी तरह ब्रह्म के संकल्प से सम्पन्न हुए जगत् में यह प्रजा ब्रह्म के संकल्प के अनुसार ही होती है। अपने इस संकल्प नगर में जैसा तुमने चाहा है, वैसा सब कुछ यहाँ स्थित है और आगे जैसा संकल्प करोगे, वैसा ही सब कुछ देखोगे। चिदाकाश के संकल्प-नगर के भीतर स्थित हुए इस दृश्य-जगत् का ऐसा स्वभाव ही है कि यह कभी प्रकट होता है, कभी लुप्त हो जाता है और फिर क्षणभर में ही प्रकट हो जाता है। बच्चों के संकल्प-नगर के समान तथा आकाश में स्थित केशों वर्तुलाकार के गोले आदि की भाँति ये सत्-असत् रूप असंख्य सर्ग चेतनाकाशमय परमात्मा में भासित होते हैं। तुम एक संकल्प-नगर का निर्माण करके दूसरे संकल्प के वशीभूत हो स्वयं ही उसी क्षण उसका विनाश कर डालते हो। यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है, वैसे ही चिदाकाश के संकल्प-नगर में जो उन्मज्जन-निमज्जन—उन्मेष-निमेष होते हैं, वह ब्रह्म के स्वभाव का निर्मल विकास ही है, ऐसा समझो। इसलिये चैतन्यघन, अनादि-अनन्त ब्रह्माकाश ही त्रिलोकाकाश बना हुआ है। इस कारण वह सब उस आवरण-रहित ब्रह्म परमात्मा के सत्यसंकल्प से सैकड़ों योजन दूर और अनेक युगों के व्यवधान के बाद भी समीप और वर्तमान काल में किये गये कर्म की भाँति अपना फल प्रकट करने वाला होता है। देशान्तर और कालान्तर में भी जो आवरणशून्य एकमात्र आत्मा है, उसमें देश और काल दोनों का सदा सांनिध्य रहता है; इसलिये कौन-सा ऐसा कर्म और फल है, जिसे वह न जानता हो। जैसे चमकती हुई मणि में अपनी कान्ति से दीप्तिविशेष के आविर्भाव-तिरोभाव का अनुभव होता है, उसी प्रकार चिदाकाशरूपी मणि में जगतों के सृष्टि, प्रलय और विविध फलभोगरूप परिवर्तन अनुभूत होते हैं। शास्त्र के विधि और निषेध सम्बन्धी वचनों का प्रयोजन है लोकमर्यादा की रक्षा। वह सर्वव्यापी ब्रह्म के संकल्प में स्थित है, इसलिये परलोक में भी जीव को फल की प्राप्ति कराने वाली होती है। ब्रह्म न

कभी उदित होता है, न अस्त। जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि की कल्पना से युक्त जो तुम्हारा कल्पना-नगर है, वह स्वयं तुम हो, उसी प्रकार ब्रह्म के संकल्प से प्रकट हुआ जगत् स्वयं ब्रह्म ही है। जब वह जगत् के रूप में भासित होता है, उस समय 'जगत् की सृष्टि हुई', ऐसा कहा जाता है; परंतु यह केवल कहने के लिये है, वास्तव में नहीं है।

चिद्घन परमात्मा का यह सुस्पष्ट स्वभाव ही है कि वह जिस-जिसका संकल्प करता है, तत्काल ही वे पदार्थ वहाँ अवयवोंसहित प्रकट हो जाते हैं। संकल्प-कल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूप से स्थित होने पर भी परब्रह्म में चिन्मयरूप से भासित होते हैं तथा स्वभावतः अनेक आकार वाले होने पर भी उनका सार-तत्त्व एक ही होता है अर्थात् वे सद्रूप से एक ही होते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त शक्तिशाली ब्रह्म किंचित्-अकिंचित् तथा सत्-असत् दोनों रूपों से स्थित है। वह सर्वात्मक है, इसलिये प्राणियों में और तृण-गुल्म तथा पेड़-पौधे आदि में, जहाँ पर जो वस्तु जैसे और जिस स्वभाव से स्थित है, वहाँ पर वैसे स्वभाव से युक्त होकर वह स्वयं ही विराजमान है। संकल्प-नगर रूप इस जगत् में जो असम्भव हो ऐसी कोई बात नहीं है। वह जगत् अपने संकल्पकर्त्ता इस चिदात्माकाश परब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसलिये तुम सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही समझो।

यदि ध्यान करने वाला उपासक आत्मज्ञान के सुख की अनुभूति से वञ्चित होने के कारण यही चिन्तन करे कि 'मैं इस चन्द्रमा में ही प्रवेश करूँ' तो वह इसी में प्रवेश करता है। 'मैं चन्द्र मण्डल के सुख से सम्पन्न होकर चन्द्रमा में प्रवेश करूँ' ऐसा चिन्तन करने वाला उपासक वैसे ही सुख का भागी होता है, यह निश्चय है। यह उपासक दृढ़ निश्चय के साथ जैसे स्वभाव का ध्यान करता है, उसकी अक्षय चेतना वैसे ही स्वभाव का अनुभव करती है। जैसे सभी ध्यानकर्ताओं को अपने-अपने संकल्प के अनुसार पृथक्-पृथक् चन्द्रत्व का अनुभव होता है, वैसे ही स्त्री चिन्तन करने वाले पुरुषों की अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार अलग-अलग काल्पनिक स्त्री-लाभ की प्रतीति होती है। जो घर से बाहर न निकलकर भी सातों द्वीपों का राजा बना बैठा है, उसका वह कल्पनासिद्ध साम्राज्य उसके घर में ही चिदाकाश के भीतर भासित होता है। दान, श्राद्ध, तप और जप आदि अमूर्त कर्मों का परलोक में जो मूर्तिमान् फल प्रकट होता है, वह कैसे सम्भव है? उनकी बुद्धि उन दान आदि सत्कर्मों के संस्कार से भावित होती है। अतः वे परलोक में अमूर्त रहकर ही मूर्तिमान् फल को देखते और अनुभव में आता है। मन और ज्ञानेन्द्रियों से वेदना और अवेदनाकार भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति के द्वारा विषय प्राप्ति के लिये वह चिन्मय जीव मनसहित कर्मेन्द्रियों से प्रेरित हो सचेष्ट एवं निश्चेष्ट होता है। फिर उस भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर वह निर्मल, शान्त, चिन्मय आत्मा ही शेष रहता है। इस लोक में किये गये दान से परलोक में चिन्मय संकल्प रूप भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति होती है। उसे संकल्प स्वरूप जीव प्राप्त करता है। ऐसा विद्वानों का कहना है। फिर परलोक में क्यों न मिले। इस कल्पनामय संसार में अकृत्रिम संकल्प ही चिन्मय फलरूप होकर चारों ओर उपलब्ध होता है। भले ही वह दान न करने के कारण दारिद्र्यजनित दुःख के रूप में प्राप्त हुआ हो अथवा दान करने से ऐश्वर्य भोग के रूप में उपलब्ध हुआ हो। वह सब-का-सब होता है चिन्मय ही। यह सारा जगत् आकारशून्य तथा चिन्मय ब्रह्म का संकल्प मात्र है।

राजा ने पूछा—सृष्टि के आदि में जब एक निराकार चिदाकाश ही था, तब उसके द्वारा देह की कल्पना कैसे सम्भव हुई (क्योंकि शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति देखी जाती है, अव्यक्त चैतन्य में भ्रान्ति आदि नहीं देखी जाती। ऐसी दशा में पहले भ्रान्ति की सिद्धि हो, तब देह की सिद्धि हो सकती देह की सिद्धि हो तभी भ्रान्ति की सिद्धि हो सकती है, यह अन्योन्याश्रय दोष आता है)। शरीर के बिना चैतन्य की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव है?

वसिष्ठजी ने कहा—देह शब्द का जो अर्थ समझा है, वह तत्त्वज्ञानी के प्रति उसी तरह असम्भव है, जैसे आकाश में पत्थरों का नाचना। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में जो ब्रह्म शब्द का अर्थ है, वही देह शब्द का भी अर्थ है। इन दोनों के अर्थ में वैसे ही भेद नहीं है, जैसे अम्बु और अम्भस् शब्दों के अर्थ में (अम्बु और अम्भस् दोनों जल के ही वाचक हैं, उसी तरह ब्रह्म और देह एक ही अर्थ के बोधक हैं)। स्वप्न देह के समान यह शरीर भी ब्रह्म ही है,

उससे भिन्न-सा मानकर उसका दृष्टान्त क्यों दिया जाता है ? तो इसके उत्तर में निवेदन है कि यह तुम्हारे समझने के लिये युक्ति मात्र दी गयी है। वास्तव में स्वप्न देह को उससे भिन्न बताना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि स्वप्न का तुम्हें अनुभव है, इसलिये उसके द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। स्वप्न में यह शरीर कौन है, ये स्वप्नगत पदार्थ किसके हैं अथवा किसमें स्वप्न बुद्धि है, इत्यादि रूप से विचार करके ज्ञानी के द्वारा समझे गये भ्रमरूपी स्वप्न से अज्ञानी को बोध कराया जाता है। ब्रह्म में न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न और ही कुछ है। किन्तु मन-वाणी से अगोचर, तुरीय ओङ्कार स्वरूप परम पुरुषार्थमय, स्वयं प्रकाश चिदाकाश ही इस जगत् के रूप में भासित होता है। आज जो यह विश्व इस तरह भासित-सा होता है, इसे अभासित ही समझो। पहले जिस तरह सच्चिदानन्दघन रूप से भासित था, उसी तरह वह अब भी अत्यन्त निर्मल है। जाग्रत् रूप आदि अवस्थाएँ इसमें कदापि नहीं हैं। यह द्वैत-अद्वैत सब कुछ ब्रह्ममय ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मा से पूर्ण का ही प्रसार होता है। अतः पूर्ण परमात्मरूप से ही यह जगत् स्थित है। न तो कभी इसका भान हुआ है और न अभान। स्फटिक शिला के घनीभूत मध्य भाग की भाँति यह सदा सच्चिदानन्दघन ही है। लोक, शास्त्र, वेद आदि में जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभव से सिद्ध है, वह सिद्ध ही है। वही वस्तु स्वानुभव से जानी जाती है अतः परमपुरुषार्थ रूप से फल देती है। अन्य सब वस्तुओं का निराकरण करके जिस एक वस्तु का चिरकाल तक चिन्तन करते हैं उसकी अवश्य प्राप्ति होती है।

रामजी ने पूछा—सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के लोक तथा वहाँ के निवासी कैसे दिखायी देते हैं ? यह मुझे बताइये।

वसिष्ठजी ने कहा—सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्य अपूर्व महात्मा प्राणियों के लोकों को विशेष धारणाओं द्वारा देखने का प्रयत्न करो तो प्रतिरात, प्रतिदिन, आगे, पीछे ऊँचे और नीचे देख सकते हो और न देखना चाहो तो नहीं देख सकते हो। जैसे सिद्धों के ये कल्पनालोक हैं, उसी तरह हमारा यह लोक भी काल्पनिक ही है। सिद्धों ने लोकों की रचना करके अपने संकल्प से उन सबको स्थिर कर लिया है। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार शान्तस्वरूप चिदाकाश ही है। जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया, उसकी दृष्टि में यह वैसा ही प्रतीत होता है। उससे भिन्न प्रकार का नहीं। जो वस्तु दृढ़ निश्चय से प्रकाशित होती है, वह चिन्मय स्वभाव से युक्त होने के कारण प्रकाश रूप से ही भासित दिखायी देती है। किन्तु यह विश्व किसी को दृढ़ निश्चयपूर्वक विदित नहीं है; इसलिये इसमें स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति नहीं है। इसलिये यह सब शून्य और निराकार है। ब्रह्म जैसा पहले था, ठीक वैसा ही अब भी है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। जैसे स्वप्न में चिदाकाश अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना ही स्वप्नगत पदार्थों के रूप में भासित होता है, उसी प्रकार चिदाकाश अपने स्वरूप से विकृत हुए बिना ही इस विश्व के रूप में प्रतीत होता है। वह इस विश्व-विवर्त का अधिष्ठान ही है। न तो कारण है और न विकारी है। संकल्प में चित्त जैसे आकार की कल्पना करके पर्वत आदि की लीला से उदित होता है, वास्तव में न वह पर्वत है और न वह आकाश है, उसी तरह ब्रह्म में जगत् की स्थिति है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रतीत होता है, ब्रह्म से भिन्न जगत् की कोई सत्ता नहीं है। परम बुद्धिमान् महात्मा सब प्रकार की चेष्टाओं से विरत होते हुए भी कठपुतलियों के समान व्यवहार करते हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे संकल्प-नगर निराकार होता हुआ भी चित्त के समक्ष साकार-सा स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में स्थित यह जगत् निराकार होने पर भी साकार-सा दीखता है; परन्तु वास्तव में निराकार ही है। ये तीनों लोक चिरकाल से अनुभूत और अर्थक्रियाकारी होने पर भी स्वप्न-नगर के समान निराकार तथा शून्य ही है। चिरकाल से पुरुष के नित्य अनुभव में आने पर भी यह जगत्रूपी पदार्थ उसी तरह कुछ भी नहीं है, जैसे स्वप्न में ही अपना मरण। स्वप्न में मरे हुए पुरुष को अपना दाह-संस्कार भी होता दिखायी देता है। वह असत् होकर भी सत्-सा भासित है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मा में दीखने वाला जगत् भी असत् ही है; किन्तु भ्रम से सत्-सा प्रतीत होता है।

ब्रह्माकाश चिन्मय होने के कारण स्वयं ही अपने को 'मैं अहंकारात्मक समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा अनुभव-सा करता है। उसका यह संवेदन ही परमेष्ठी हिरण्यगर्भ का स्वरूप है और यह त्रिलोकी उस हिरण्यगर्भ का

ही संकल्प है। ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्मा कभी उत्पन्न हुआ और न इस दृश्यजगत् की ही उत्पत्ति हुई। अजन्मा परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ववत् जैसे-का-तैसा विराजमान है। चिदाकाश में जो जगत् का रूप भासित होता है, वह उसकी प्रातिभासिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या ही है। दिखायी देने पर भी असत् ही है। जगत् के रूप में यह सूनी ही भ्रान्ति प्रकट हुयी है अथवा वह भी प्रकट नहीं हुयी है। भ्रान्ति क्या है और कहाँ से आयी है, सर्वत्र सदा सब कुछ निराकार ब्रह्म ही तो है। जगत् ब्रह्मरूपी जल का भँवर है। इसमें द्वैत और एकत्व कैसा ? भँवर और जल में कहाँ द्वैत है; और जब द्वैत ही नहीं है तब एकता भी कहाँ क्या हुई ? जैसे वायु अपने स्पन्दन को, आग अपनी उष्णता को और पूर्ण चन्द्रमा अपनी शीतलता को जानता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी सत्ता को स्वयं ही अर्थरूप होकर जानता है। इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही अपने इस स्वरूप-स्फुरण को तथा 'अहम्' आदि अहंकारात्मक समष्टि को जानता है। सृष्टि, उसका अभाव तथा आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र तथा सर्वदा है। अविद्या दृष्टि से कभी इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ और विद्यादृष्टि से देखने पर यह जगत् कभी कुछ रहा ही नहीं। बद्ध पुरुष की दृष्टि से ब्रह्म सदा त्रिभुवन-सा भासित होता है। किन्तु मुक्त की दृष्टि से शान्त एवं सब ब्रह्म ही है।

रामजी बोले—उस परमपद में अहंभाव का भान होने पर आगे क्या होता है, आप यह जान चुके हैं। अतः आप से इस विषय को मैं सुनना चाहता हूँ।

वसिष्ठजी ने कहा—परमपद में अहंभाव की स्फूर्ति होने पर उसमें सबसे पहले आकाशसत्ता का अध्यास होता है; फिर दिक्-सत्ता कालसत्ता और भेदसत्ता का उदय (अध्यास) होता है। जब आत्मा को देह आदि में अहं का भान होता है, तब देह से भिन्न स्थल में 'यहाँ मैं नहीं हूँ' इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद कहलाता है। इस रीति से आत्मा ही नाना प्रकार का कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेद स्वीकार करके बिना क्रम के ही द्वैतरूप होकर आकाश में उदित होता है। फिर इन पूर्वोक्त आकाशात्मक पदार्थ भेद-सत्ताओं के नामकरण की बुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे जाति, गुण और क्रिया आदि की दृष्टि से इनमें परस्पर भेद किया जा सके। परन्तु वास्तव में वह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार परमपद में अहंभाव से देश, काल आदि की कल्पनाओं के सिद्ध होने पर अर्थात् उस परब्रह्म परमात्मा के देश-कालादि रूप से स्थित होने पर जो यह दृश्य नामक आभासरूप वस्तु की प्रतीति होती है, वह सब निर्बाध ब्रह्म ही है, जो ब्रह्म से भिन्न-सा प्रतीत होता है।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—महामुनि वसिष्ठजी जब इतना कह चुके, तब तत्काल ही आकाश से वर्षा करने के लिए जल से भरे हुए मेघ के समान गम्भीर घोष के साथ देवताओं की दुन्दुभियाँ बज उठीं। भूतल पर हिम की वर्षा के समान दिव्य पुष्पों की वृष्टि होने लगी, जिसने समस्त दिग्वधुओं के मुख उज्ज्वल कान्ति से सुशोभित कर दिये। उस सभा में यथास्थान नीचे बैठे हुए समस्त सभासदों ने वे दिव्य पुष्प लेकर वसिष्ठजी के चरणों में पुष्पाञ्जलि अर्पित की।

तत्पश्चात् राजा दशरथ ने कहा—आपके उपदेश से हमारी आत्मा परमपद में सुखपूर्वक प्रवेश पाने के योग्य हो गयी है। हम संसाररूपी अत्यन्त विस्तृत एवं दुर्गम मार्ग पर चिरकाल से चलते रहने के कारण थक गये थे। परन्तु आज आपकी उपदेश-वाणी शुद्ध हो उस परमपद में उसी तरह विश्राम कर सुख उठा रहे हैं, जैसे शरत्काल के उज्ज्वल मेघ हिमालय आदि पर्वत पर विश्राम करते हैं। पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अवश्य करने योग्य कर्मों की अवधि आज पूरी हो गयी—हम लोग कृतकृत्य हो गये। हमने आपत्तियों की चरम सीमा देख ली—अब इनसे पिण्ड छूट गया; क्योंकि हमें ज्ञेय-तत्त्व का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान हो गया और हम परमपद में विश्राम पा रहे हैं।

रामजी ने कहा—आपकी वाणी सुनकर इतना सुख मिल रहा था, मानो अमृत का अभिषेक प्राप्त हो रहा हो। उसे बारंबार याद करके मैं परम पूजित और शान्त होने पर भी रह-रहकर हर्षित-सा हो उठता हूँ। अब मुझे न तो कोई कर्म से प्रयोजन है और न उसे न करने (छोड़ने) से है। मैं जैसे हूँ, उसी तरह निश्चिन्त हूँ। आपके उस उपदेश-वचन से विश्राम-सुख का जैसा उपाय प्राप्त हुआ है, वैसा दूसरा कौन होगा, दूसरी दृष्टि भी कैसी होगी ? हमें विश्रामसुख की असीम विस्तारवाली भूमि प्राप्त हो गयी है।

लक्ष्मणजी ने कहा—मुनिवर वसिष्ठजी की वाणी से जो बोध प्राप्त हुआ है, वह अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से बढ़ी हुई दुर्वासनाओं के कारण उत्पन्न होने वाले संशयों का नाशक तथा संचित किये गये सैकड़ों पुण्यों के उत्तम फल को प्रकट करनेवाला है। ऐसी निरतिशयानन्द प्रकाशरूप आत्मदृष्टि के प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी लोग अपने दुर्भाग्य के कारण सैकड़ों दोषपूर्ण दशाओं द्वारा दुःख की आग से सूखे काठ की भाँति जलाये जा रहे हैं।

विश्वामित्रजी ने कहा—हमारे लिये बड़े हर्ष की बात है कि वसिष्ठजी के मुख से हमें यह परम पवित्र महान् ज्ञान सुनने को मिला, जिससे हम सहस्रों बार गङ्गा में स्नान किये हुए के समान अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं।

नारदजी ने कहा—मैंने ब्रह्मलोक में, स्वर्ग में और भूतल पर भी आज से पहले जिसे नहीं सुना था, उस परम तत्त्वज्ञान को सुनकर मेरे दोनों कान पवित्र हो गये।

शत्रुघ्न ने कहा—आपके उपदेश से मैं परमानन्द में निमग्न हूँ। परमपद को प्राप्त हो गया हूँ और सदा के लिये परिपूर्ण हूँ। केवल सुखस्वरूप से स्थित हो गया हूँ।

राजा दशरथ बोले—हमारे अनेक जन्मों के संचित पुण्य से ही इन धीर मुनीश्वर ने हमको उस परम उत्तम ज्ञान का उपदेश दिया, जिससे हम सभी पवित्र हो गये।

वाल्मीकिजी ने कहा—जब राजा के साथ समस्त सभासद वहाँ इस तरह की बातें कह रहे थे, उस समय महर्षि वसिष्ठ ने कहा 'इतिहास-कथा सुनने के पश्चात् ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इसलिये इन ब्राह्मणसमूहों को सब प्रकार की मनोवाञ्छित वस्तुएँ देकर इनकी अभिलाषा पूर्ण करो। वेदार्थतुल्य इस महारामायण के श्रवण का पूरा-पूरा तथा अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्ष की उपायभूत कथा-वस्तु की समाप्ति होने पर एक तुच्छ एवं दरिद्र मनुष्य को भी अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मण का पूजन करना चाहिये।'

राजा दशरथ ने सहस्रों वेद-वादी ब्राह्मणों को बुलवाकर पूजन किया। दस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया पश्चात् दान-दक्षिणा भी दी। ब्राह्मणों का पूजन करके देवताओं, पितरों, राजाओं, पुरवासियों, मन्त्रियों, सेवकों, दीन-दुखियों तथा अन्धों को भी भोजन एवं दान-मान से संतुष्ट किया। संसार की सीमा के अन्त में पहुँचे हुए राजा दशरथ ने उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया। महाराज दशरथ अविनाशी परमपद को प्राप्त हो चुके थे।

वाल्मीकिजी ने कहा—इसी कमनीय तथा निर्मल ब्रह्मात्मदृष्टि का दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करके वीतराग संदेहशून्य शान्तचित्त जीवन्मुक्त होकर सुख से रहो। इस ज्ञान का आश्रय ले बुद्धि यदि आसक्तिशून्य रही तो घने मोहान्धकार में पड़ने और मूढ़ होने पर भी नष्ट नहीं होगी। बुद्धि तो स्वाभाविक ही आसक्ति के बन्धन से मुक्त है। परंतु आज इस मोक्षसंहिता को सुनकर वास्तव में मुक्ततर हो गये—सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त हो गये। इन पवित्र तथा ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करने वाले मोक्षोपायों का यदि कोई बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। फिर महात्मा पुरुष के लिये तो कहना ही क्या है? सत्पुरुषों की नीति (शिक्षा) से, उनकी उत्तम सेवा से, उनके सामने प्रश्न करने से तथा उनकी उदारतापूर्ण ज्ञानचर्चा में भाग लेने से प्रमादशून्य श्रेष्ठ बुद्धिवाले अधिकारी पुरुष उसी प्रकार ज्ञेय आत्मतत्त्व को जान लेते हैं, जैसे श्रीवसिष्ठजी से श्रीराम आदि ने जाना था। तृष्णारूपी चर्ममयी रस्सी से दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अज्ञानी के हृदय में जो देह और इन्द्रिय आदि के प्रति तादात्म्याध्यासरूप तथा पुत्र-कलत्रादि के प्रति ममतारूप ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गयी हैं, वे सब इस मोक्षशास्त्र की कथाओं पर विचार करते रहने से सर्वथा खुलकर एकरसता को प्राप्त हो जाती हैं। दूसरी बहुत-सी बातें कहने से क्या लाभ? इतना ही जान लो कि जो लोग इन महामहिमाशाली मोक्षोपायों का ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठतम होकर फिर कभी संसारबन्धन में नहीं पड़ेंगे। जो सत्पुरुष इस ग्रन्थ को बहुश्रुत विद्वान् के सामने स्वयं भली-भाँति विचारकर इसे पूर्णतः समझ लेने के पश्चात् स्वयं भी सुनने की इच्छा वाले लोगों को उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होंगे। उन्हें दूसरे वचनों का आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है? जो अर्थानुसन्धान की अपेक्षा न रखकर केवल इसका

पारायण करेंगे अथवा जो इस पुस्तक को लिखेंगे तथा जो उत्तम तीर्थक्षेत्र में व्याख्यानुकुशल श्रेष्ठ वक्ता को इसकी कथा कहने के लिए नियुक्त करेंगे, वे यदि सकामभाव वाले होंगे तो राजसूय-यज्ञ के फलसे युक्त हो बारम्बार स्वर्गलोक में जायेंगे और यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्गुरु के मुखारविन्द से सत्-शास्त्र के श्रवण का सुयोग पाकर तीसरे जन्म में उसी तरह मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष धन-सम्पत्ति को पा लेते हैं। पूर्वकाल में अचिन्त्य रूप वाले ब्रह्मा जी ने मेरे द्वारा रचित इस ग्रन्थ पर पूर्ण विचार करके यह बात कही थी कि 'इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्म का निर्वचन होने के कारण यह मोक्षमयी उत्तम संहिता है।' उन महर्षि की यह वाणी असत्य नहीं हो सकती। मोक्षोपाय नामक कथात्मक प्रबन्धरूप इस महारामायण की कथा समाप्त होने पर उत्तम बुद्धि वाले श्रोता को चाहिए कि वह वक्ता को प्रयत्नपूर्वक सुन्दर भवन देकर अभीष्ठ अन्न-पान के दान से ब्राह्मणों का पूजन करे। इतना ही नहीं, उन सबको यथाशक्ति मनोवाञ्छित धन की दक्षिणा आदि भी देनी चाहिये। बोध प्रदान करने के लिए सैंकड़ों कथा-क्रमों से विशाल कलेवर हुए इस निर्मल, दृष्टान्तों और युक्तियों से सम्पन्न तथा ब्रह्मतत्त्व की विस्तृत व्याख्या से युक्त महारामायण शास्त्र को श्रवण कराया है। इसे सुनकर जीते-जी ही समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्म के फल से युक्त अक्षय सम्पत्ति प्राप्त करके सदा के लिये पूर्ण परमानन्द में निमग्न हो जाओ।

राजा अरिष्टनेमि ने कहा—आप की यह दृष्टि संसार-बन्धन का विनाश करनेवाली है, जिसके पड़ते ही मैं संसार-सागर से पार हो गया सत्पुरुषों की मैत्री सात पग साथ चलने से ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है।

अगस्ति ने कहा—मोक्ष का साधन ज्ञान है या कर्म—ऐसा संशय नहीं करना चाहिये। संशय करने से जीव परम पुरुषार्थरूपी स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। संशयात्मा का विनाश हो जाता है।

सुतीक्ष्ण बोले—आप की कृपा से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया। मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी। जैसे दीपक रहने पर उसके प्रकाश के सहारे नट, नर्तक आदि रङ्गमञ्च पर नृत्य-अभिनय आदि क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह जिस साक्षी स्वयं-ज्योति नित्य प्रकाश परमात्मा के निष्क्रियरूप से स्थित होने पर ही सब सचेष्ट मूर्तियाँ अपनी-अपनी चेष्टाओं में प्रवृत्त होती हैं तथा जैसे सुवर्ण ही कंगन, बाजूबंद, केयूर और नूपुरों के रूप में स्फुरित होती है एवं जैसे जल में तरङ्गमालाएँ प्रकट होती हैं, उसी तरह जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य स्फुरित होती है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उस पूर्ण ब्रह्म में ही यह पूर्ण ब्रह्मरूप जगत् स्थित है। ऐसा विचारकर मेरे समक्ष वर्ण और आश्रम के अनुसार जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उस व्यवहार का अनुसरण करता हूँ। संत-महात्माओं के वचन का कौन उल्लङ्घन कर सकता है। मैं आपके प्रसाद से ज्ञेय-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो गया हूँ। मैं आप के कृपाप्रसाद से भवसागर से पार हो गया हूँ और अपने पूर्ण परमानन्द से सम्पूर्ण जगज्जाल को मैंने पूरित कर दिया है। अब मैं संशयरहित हो गया हूँ। 'यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म में ही लीन होता और ब्रह्म से ही जीवन-धारण करता है'—इस प्रकार सामवेद में श्रुति के द्वारा जिसका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है। जो ब्रह्मानन्द-स्वरूप अथवा ज्ञानोपदेश द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वों से रहित, आकाश-सदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्यों के लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्णय, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियों के साक्षी, समस्त भावों से परे तथा तीनों गुणों से रहित हैं, उन परब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजी को हम नमस्कार करते हैं।

—:०:—

विषय-सूची

निर्वाण उत्तरार्ध

७२

वसिष्ठ उवाच

अथाकृष्टवति प्राणान् स्वयंभुवि नभोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥१॥

ते हि तस्य किल प्राणास्तेन क्रान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो धत्ते भूतैकधारिणीम् ॥२॥

वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमारुते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥

निराधाराः सवाताग्निदाहोल्मुकवदापतन् ।
व्योम्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥

कालपाकचलन्मूला जगत्खण्डफलालयाः ।
प्रशान्तपवनाधारा विमानावलयोऽपतन् ॥ ५ ॥

प्रलयोन्मुखतां याते ब्राह्मे सङ्कल्पनेन्धने ।
सिद्धानां गतयः शेमुरिद्धानामर्चिषामिव ॥ ६ ॥

प्रभ्रमन्त्योऽम्बरे कल्पमारुतैस्तनुतूलवत् ।
स्वशक्त्यपचये मूकाः सिद्धसन्ततयोऽपतन् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पद्रुमजालानि सेन्द्रादिनगराणि च ।
पेतुर्भूकम्पलोलस्य शिरांस्यमरभूभृतः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

चिति सङ्कल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्वपुः ।
किमङ्गं यस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥ ९ ॥

७२

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—अनन्तर विराट्स्वरूप ब्रह्मा जी के द्वारा प्राणवायुओं का निरोध करने पर वातस्कन्ध नाम से स्थित आकाश में उत्पन्न वायु ने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदि को धारण करने की मर्यादा छोड़ दी ॥ १ ॥

वातस्कन्ध नाम से स्थित वायु ही विराट्रूप ब्रह्मा के प्राण हैं, उनका उनके द्वारा उपसंहार करने पर उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतों को धारण करनेवाली मर्यादा को ग्रह-मण्डल में कौन रख सकता है ? ॥ २ ॥

इसीलिए ब्रह्माजी के द्वारा प्राणवायुरूप वातस्कन्ध का अपने में उपसंहार करना आरम्भ करने पर साथ-साथ उपसंहार से एक बन जाने के लिए पूर्वोक्त मर्यादा का त्यागकर ग्रह आदि में क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभ के कारण निराधार होकर आकाश-मण्डल से तारे भूमिपर टूटकर वैसे ही गिरने लग गये जैसे वायु के बहने के समय अग्निदाह होने पर अङ्गारे गिरते हैं, इनकी शोभा वृक्ष से गिरे फूलों की-सी प्रतीत हो रही थी ॥ ३-४ ॥

इस भूखण्ड में जो पुण्यफल कमाया जाता है, उसको भोगने के लिए स्थान एक विमान है। इन विमानों का उपभोग करने में कारणभूत कर्मरूप मूल काल-विपाक से कट गया और आधारभूत पवन के शान्त हो जाने से वे टूटकर आकाश से जाने लगे ॥ ५ ॥

ब्रह्माजी का सङ्कल्परूप इन्धन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब दीप्त ज्योतियों के सदृश सिद्धों की गतियाँ (सिद्धियाँ) भी शान्त हो गईं ॥ ६ ॥

जब अपनी शक्ति का विनाश हो गया, तब प्रलय के पवनों से छोटे तूल के सदृश आकाशमण्डल में उड़ती हुई, शब्दोच्चारण में भी असमर्थ सिद्धों की पंक्तियों की पंक्तियां आकाश से गिरने लगीं। अर्थात् खेचर आदि सिद्धियां विनाशी एवं तुच्छ हैं ॥ ७ ॥

कल्पवृक्षों के समूह, इन्द्र आदि के साथ उनके नगर और भूकम्प से चञ्चल सुमेरु पर्वत के शिखर गिरने लगे ॥ ८ ॥

श्रीरामजी ने कहा—गुरुदेव चतुर्मुख ब्रह्माजी चिति के सङ्कल्पस्वरूप मन हैं और वे विराट् एवं ब्रह्माण्ड शरीर हैं, यह प्रसिद्ध है, इस सङ्कल्पस्वरूप चतुर्मुख के भूलोक आदि अवयव ही नहीं है क्योंकि निराकार मन

कथमेतानि चाङ्गानि ब्रह्मंस्तस्य स्थितानि च ।
कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥१०॥
ब्रह्मा सङ्कल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।
जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥११॥

वसिष्ठ उवाच

आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।
चिन्मात्रपरामाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥ १२ ॥
तत्स्वामाकाशतां चैतच्चेत्यमित्यवबुध्यते ।
स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥ १३ ॥

के साकार अङ्ग नहीं होते। यदि होते हैं, तो भूर्लोक कौन-सा अङ्ग है ? स्वर्ग कौन सा अङ्ग है एवं रसातल कौन-सा अङ्ग है ? ब्रह्माजी की स्थूल देह तो ब्रह्माण्डरूप विराट् है, इस विराट् शरीर के भीतर सत्यलोक निवासी चतुर्मुखदेह उस विराट् के मन से कल्पित एक प्रातिभासिक रूप है, चार मुखवाली देह ब्रह्माजी की स्थूल देह नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर तो उसकी स्थिति विराट् देह के भीतर हो नहीं सकती, आज तक किसी की भी स्थूल देह में दूसरी स्थूल देह देखी या सुनी नहीं गई है। इस स्थिति में प्रातिभासिक मानसिक चतुर्मुख देह एक तरह से स्वप्न-सी है, प्राणों के उपसंहार से विराट्देह के स्तम्भक प्राणस्थानीय वायु आदि का विनाश नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वप्नदेह में प्राणोपसंहार से मरण दीखने पर जाग्रत्-शरीर में प्राण का उपसंहार होकर किसी भी मनुष्य की स्थूलदेह का विनाश नहीं देखा जाता है ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! यदि चतुर्मुख साकार माना जाय तो अल्पनाप वाले ब्रह्माजी के ये अतिविस्तृत पृथ्वी आदि अङ्गबन कर कैसे स्थित हो सकते हैं ? अपने ही शरीररूप इस ब्रह्माण्ड के अन्दर सत्यलोक में कैसे रह सकते हैं ? ॥ १० ॥

हे भगवन् ! मेरा व्यक्तिगत निश्चय यह है कि यह सङ्कल्पमात्र-स्वरूप ब्रह्माजी निराकार हैं और यह जगत् साकार है। इसलिए यदि इस विषय में इसमें अन्य कोई दूसरा प्रकार हो तो मुझसे कहिये ॥ ११ ॥

वसिष्ठ जी ने कहा—भद्र श्रीराम जी ! पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरह के सत् आदि विकारों से रहित चिन्मात्ररूप

विद्धि तच्चेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥१४॥
शुद्धं व्योमैव चिद्व्योमः स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥ १५ ॥
अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
सङ्कल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६ ॥
तत्सङ्कल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
असत्तमेवानुभवत्सन्निवेशं खमेव खे ॥ १७ ॥

परमाकाश ही था, वही सब तरह की अभिलाषाओं और दिशाओं को एकमात्र पूर्ण करनेवाला था पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् स्थूलदेह मनोमय देहरूप और इसका अनुभव कराने के लिए मूल वस्तु के दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बाँधते हैं ॥ १२ ॥

इसी परमाकाश ने अपने असली स्वरूप का अपरित्याग कर स्वयं विकार को न प्राप्त कर अपनी अवकाश रूपता की वैसे ही कल्पना की, जैसे चन्द्र ने द्वितीय चन्द्र रूप की कल्पना की इसी से उसने चेत्य को अपने से भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होने से वह चेतन भी हुआ ॥ १३ ॥

बोध्य, बोध और बोद्धारूप त्रिपुटी जब मनन से घनीभूत बन जाता है तब मनका वेष धारण कर स्थित चेतन जीव ही वह है, यह आप समझे त्रिपुटी तक अभ्यास से उत्पन्न स्थिति जाल है, उनमें कुछ भी परस्पर अलग-अलग हो जाने वाला साकार रूप नहीं है, किन्तु वह विशुद्ध चिदाकाश ही है। यह चिदाकाश ही पहले की तरह अपने स्वरूप में विद्यमान है। इसलिए यह जो दिखाई पड़ने वाला जगत् है, वह शिव स्वरूप परमात्मा है। परमात्मा से अलग कुछ भी नहीं है ॥ १४, १५ ॥

वह विशाल अहङ्कार की भावना कर स्फुरित होता है, और 'अहम्' रूप धारण करता है, सङ्कल्पात्मक वह भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है अहङ्कार की कल्पना के बाद स्थूल देह की कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है ॥ १६ ॥

सङ्कल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, अहंरूप भावना से भावित किया गया स्थूल देह के रूप का अनुभव करता है। वास्तव में यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाश में आकाश रूप के सदृश ही हैं ॥ १७ ॥

वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि।
सङ्कल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८ ॥
शून्यमेव यथाकारि सङ्कल्पनगरं भवान्!
पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥ १९ ॥
संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम्।
अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २० ॥
यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तदाततम्।
इदं संवरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१ ॥
यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना।
अद्वैतान्निरहङ्कारात्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२ ॥
एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत् स्थितम्।
विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३ ॥

यह जिस आकार की भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तव में सङ्कल्पात्मक शून्य ही देह के रूप में स्थित है ॥ १८ ॥

ब्रह्मा भी शून्य में शून्य रूप आकाश को देहरूप में वैसे ही देखता है, जैसे आप शून्यस्वरूप सङ्कल्प नगर को साकार देखते हैं, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥ १९ ॥

संवित् आत्मा स्वयं निर्मल है, इसलिए इस प्रकार के जगत् का जब तक अनुभव करने की इच्छा रखता है, तब तक उस प्रकार का अनुभव कर फिर उसे अपनी इच्छा से स्वयं ही शान्त कर देता है ॥ २० ॥

जब हमलोगों को तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपञ्च, जो शून्य रूप होते हुए भी सत्य सा बनकर स्थित है, शान्त हो जाता है ॥ २१ ॥

जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाने पर इसी जन्म में मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है और अद्वैत भाव की प्राप्ति और अहङ्कार का विलय हो जाता है, अनन्तर केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥ २२ ॥

हे श्रीराम जी! इस प्रकार जो यह ब्रह्मा है, वही यह स्थित जगत् है। अर्थात् यह विराट् ब्रह्म का जो देह है, वही यह जगत् है ॥ २३ ॥

सङ्कल्पाकाशरूपी ब्रह्मा जी की जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासमान होता है और वही ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसलिए भ्रान्ति से ही ब्रह्माण्ड में स्थूल देहता है। विचार से वह मनोमय ही है, इसलिए उसके

सङ्कल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता।
तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
सर्वमाकाशमेवेदं सङ्कल्पकलनात्मकम्।
वस्तुतस्त्वस्ति न जगत् त्वत्तामत्ते च न क्वचित् ॥ २५ ॥
क्व चिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत्।
किं जायते किमत्रास्ति कारणं सहकारि तत् ॥ २६ ॥
अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते।
अलीकं स्वदतेऽलीकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७ ॥
जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः।
आत्मनाऽऽत्माम्बरेऽद्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८ ॥
इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम्।
चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९ ॥

अङ्गों के उपसंहार से उपसंहार होता है, यह सिद्ध है अर्थात् जाग्रदुन्मुखता में स्वप्न के देहाङ्गों के उपसंहार से हुआ, जैसे स्वप्न के भूमि आदि लोकों का उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदि का उपसंहार दोनों ही सङ्कल्पा काश रूप हैं ॥ २४ ॥

सभी कल्पनात्मक यह जगत् सङ्कल्पाकाश स्वरूप है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत् की सत्ता है और न कहीं अहन्ता और ममता की ही सत्ता है ॥ २५ ॥

चैतन्यरूप निर्मल आकाश वस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस कारण से जगत् की सत्ता हो सकती है? उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्ति में सहकारी कारण कौन हो सकते हैं? ब्रह्म चैतन्य में विचारने पर जगत् की सर्वथा ही असंभावना है ॥ २६ ॥

इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत् प्रिय-अप्रिय रूप से प्रकाशमान है। इस तरह निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही भ्रान्ति से जगत्-रहित आकाश को असत् जगत् के रूप में देखता है ॥ २७ ॥

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मों के भास से स्वयं स्वतः प्रियाप्रिय रूप से प्रकाशित होता है। अपने से ही अद्वैत चिदाकाश में जगत् के रूप में वैसे ही स्पन्दित होता है जैसे वायु से स्पन्दन होता है ॥ २८ ॥

यह न द्वैतरहित है, न अद्वैत-रहित है और न द्वैताद्वैत रहित ही समझे है। उस चिदाकाश को ही आप जगत् समझें जो स्वयं स्वच्छ एवं विकार शून्य है ॥२९॥

शान्ताशेषविशेषोऽहं तेन राघव संस्थितः।
सन्नेवासन्निवातस्तस्त्वमेवमेवाऽऽस्व निर्ममः॥ ३०॥
निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः।
सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वाऽत्र किं ग्रहः॥ ३१॥

अनादिनित्यानुभवो य एकः
स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत्।
सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
सुविस्तृता दृश्यमहादृशस्ताः॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे पाषाणोपाख्याने निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः॥ ७२॥

हे राघव ! इस कारण मैं सभी तरह के विशेषणों से निर्मुक्त होकर स्थित हूँ। मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहार में असत् देहादिरूप ही हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थ में सद्रुप और व्यवहार में असत् देहादिरूप बनकर ममता-शून्य हो स्थित हो जाइए॥ ३०॥

हे श्रीरामभद्र ! आप समस्त वासनाओं को छोड़ दें मन का सन्ताप छोड़ दे, व्यर्थ के वाग्जाल में मत फँसे, अपनी अब सारी चपलताओं को तिलाञ्जलि दे दें यह सब करके आपको जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय उसे दें या न दें इसमें किसी तरह का कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधि से उठकर जाग्रत्-दशा में यथाप्राप्त व्यवहारों को कीजिये या समाधि में स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है॥ ३१॥

हे श्रीराम जी ! अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षिचेतन है, यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनाम का पदार्थ नहीं है। अनुभवैकरसरूप ब्रह्म में अनेक तरह के अज्ञान हैं, वही चित्र-विचित्र भ्रान्तियों को पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं अर्थात् समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही हैं, भ्रान्ति के आकार में परिणत नानाविध अज्ञान ही दृश्यों के अनुभव हैं॥ ३२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

७३

श्रीराम उवाच

बन्धमोक्षजगद्बुद्धिर्न शून्या नापि सन्मयी।
नास्तमेति न चोदेति किमप्याद्यमसौ किल॥ १॥
उपदिष्टमिदं ब्रह्मंस्त्वया बुद्धमलं मया।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ २॥

७३

श्रीरामजी ने कहा—बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्बुद्धि न तो शून्य है और न सन्मय ही है और न सत्य अर्थवाली ही है। जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता, ऐसा कोई आद्य पदार्थ है, यह मैंने जाना। आद्य पदार्थ सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है, इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयों का परिमार्जन करने पर कोई भी वाणी एवं मन से अगम्य ब्रह्म है, यही आपने तात्पर्यवृत्ति से उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया। हे भगवन् ! इस विषय में आप फिर मुझको उपदेश दे अमृत सुन रहे मुझको अभी तृप्ति नहीं हो रही है 'भूर्लोक ब्रह्माजी का कौन सा अङ्ग है ? भूर्लोक आदि उसके अङ्ग कैसे हो सकते हैं ? सत्यलोक में उसका निवास कैसे है ? ये किये गये तीन प्रश्नों के लिए उपोद्घातरूप से वर्णित—शुद्ध ब्रह्म में जगत् के अध्यारोपको क्रमशः और तात्पर्य से ठीक-ठीक जानने की इच्छा से श्रीरामजी अपने ज्ञात अंश को बताने के लिए स्मरण दिलाते हैं॥ १–२॥

सर्गादिसम्भ्रमदृशः शून्यतादिदृशस्तथा ।
न काश्चन विभो सत्या असत्याश्च न काश्चन ॥ ३ ॥
एवं स्थिते तु यत्सत्यं तत्सवं बुद्धवानहम् ।
तथापि भूयो बोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५ ॥
तस्य नाशे महानाशे महाप्रलयनामनि ।
ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६ ॥
शिष्यते शान्तमस्यच्छं किमप्यजमनादि सत् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यदवगम्यते ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! सृष्टि आदि के परिज्ञान तथा शून्यता आदि के परिज्ञान न तो कोई सत्य हैं और न कोई असत्य ही हैं न उनके विषय अबाधित हैं और न बाधित ही हैं, क्योंकि तत्-तत् व्यवहार करने वाले पुरुषों की दृष्टि से ब्रह्म ही उस तरह से स्थित रहता है। उनकी अर्थक्रिया के विषय में भी किसी को विवाद नहीं है। असत् कार्यपक्ष माना ही नहीं जा सकता है, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म में सर्वशून्यता बनाने की शक्ति भी हो सकती है तथा माया से सब तरह के विरोधों का परिमार्जन भी हो सकता है ॥ ३ ॥

हे महाराज ! यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरह से मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टि का अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहें ॥ ४ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप, नाना प्रकार के धर्मों से पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदि से युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है; उसका महाप्रलयशब्द से कहे जाने वाले महानाक्ष में=प्राकृत प्रथय में—अर्थात् जब कि स्थूल भूतों का सूक्ष्मभूतों में नाश हो जाने पर भूतसूक्ष्मों के साथ अव्याकृत में प्रवेश हो जाता है, तब जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुत्, रुद्र, महेन्द्र आदि के शरीरों का अन्तिम भावविकार हो जाता है—शान्त, अतिस्वच्छ, अज अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु नही बच जाती है। उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती है अर्थात् किसी तरह की वाणी उसे कह नहीं सकती, इसे छोड़कर दूसरा कोई भी जानने लायक पदार्थ नहीं है ॥ ५–७ ॥

सर्षपापेक्षया मेरुर्यथाऽतिविततांकृतिः ।
तथाऽऽकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८ ॥
शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे त्रसरेणवः ।
तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९ ॥
अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
शान्ते तस्मिन् परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥१०॥
असङ्कल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
अन्तर्महांश्चिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥११॥
असत्यामेव तामन्तर्भावयन् स्वप्नतस्त्वतः ।
ततः स ब्रह्मशब्दार्थं वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२ ॥

अन्य की अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा वैसे ही अतिस्थूल है जैसे सरसों की अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है ॥ ८ ॥

अन्य की अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्ड-मण्डल ब्रह्म की अपेक्षा वैसे ही अतिसूक्ष्म (अणुतर) है जैसे पर्वतराज सुमेरु की अपेक्षा ये त्रसरेणु सूक्ष्म हैं ॥ ९ ॥

कालमान को बताने वाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियों का विनाश हो जाने के कारण प्रलयकाल मान-कलना से रहित हो जाता है, इस तरह का प्रलयकाल ब्रह्माजी की जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसी के समान उतने समय तक रहता है। इतने लम्बे समय तक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशांत सबके आदि उस महा चिदाकाश में मायारूप आवरण से युक्त, भीतर सुषुप्तप्राय चिदाकाश स्वप्नोमुख के सदृश अपने भीतर परमाणुरूपता का (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपता का) मानो अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है। वस्तुतः यह तो सङ्कल्प-शून्य, महाशान्त है। इसकी आकृति दिशा, एवं काल आदि से परिच्छिन्न नहीं की जा सकती ॥ १०–११ ॥

परमाणुरूपता असत्य होने पर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्न के समान पहले भावना करता है, फिर अपने में ब्रह्मशब्दार्थ की भावना करता है मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, इस प्रकार भावना करता है और साथ-साथ में अपनी असीम चिद्रूपता की भी भावना करता है ॥१२॥

चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चिस्त्वाच्चिदणुतां निजाम् ।
तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥१३॥
यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनाऽऽत्मनि ।
मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४ ॥
ततश्चिद्भाव एषोन्तरेक एव द्वितामिव ।
पश्यन् स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५ ॥
चिद्भाव शून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
पश्यन् दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६ ॥
प्रकाशमणुमात्मानं पश्यंस्तदनुभावतः ।
उच्छूनतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७ ॥

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कार का जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसी से उसे ही मानों देखता है। इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥ १३ ॥

अणुचित् अपनी आत्मा में उक्त अणुता ठीक वैसे ही देखती है अर्थात् स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है जैसे एक ही पुरुष स्वप्न में अपने आप अपनी आत्मा में अपने को मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरण का द्रष्टा है। एक वस्तु में विरुद्ध दृश्य-द्रष्टा के धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शङ्का हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्न के सदृश विरोध का पर्यालोचन न होने से वैसा हो सकता है ॥ १४ ॥

अनन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है ॥१५॥

यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है अर्थात् आकार से एकदम ही रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥ १६ ॥

जैसे बीज अपनी अङ्कुरता का सङ्कल्प करता है वैसे ही वह द्रष्टारूप आत्मा माया के बल से अपने को प्रकाश-स्वभाव उक्त परमाणुरूप = परिच्छिन्नस्वरूप देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसी की सामर्थ्य से अपनी उपचयरूपता का सङ्कल्प करता है ॥ १७ ॥

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान-साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थों के

देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दृशः ।
अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८ ॥
चिदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
यदा भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥१९॥
उपलब्धं विदुर्द्रव्यं द्रष्टृताऽप्युपलब्धता ।
आलोकनं दर्शनता दृगालोकनकारणम् ॥ २० ॥
एवमुच्छूनता भाति मितानन्ताऽथ वा क्रमात् ।
असत्यैव नभस्येव नभोरूपैव निष्क्रमात् ॥२१॥
चिदणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
येन पश्यति तच्चक्षुः सङ्ग्रहोऽक्षदृशामिति ॥ २२ ॥

स्वभाव से स्थित होते हैं, परन्तु उनकी अभिधा-शक्ति का उदय नहीं रहता है ॥ १८ ॥

जहाँ यह चितिरूप अणु सा प्रतीत हुआ, वहाँ देश का भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, वह क्रिया हो गई ॥ १९ ॥

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टता है, वह उपलब्धृता भी है, आलोकन ही दर्शन है और देखने में जो कारण है, वह दृग् है अर्थात् उसी समय त्रिपुटी का विभाग करनेवाली उपाधियों की साक्षी की एवं उसके प्रकाश में हेतुभूत पदार्थ की कल्पना भी हो जाती है ॥ २० ॥

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीम-रूपता या संख्या से इयत्ता भी क्रम से उसमें देशादि परिच्छेदों से जानी जाती है। वास्तव में तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है। उसमें कोई क्रम नहीं है। तथापि इसे आकाश में आकाशरूपता के सदृश जान लेना चाहिए अर्थात् इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी-विशेष, उनके साक्षी और निमित्तों की भी कल्पना सर्वत्र जान लें ॥ २१ ॥

चितिरूप अणु को अर्थात् जीव को सूर्य आदि के प्रकाश का जिस गोलकच्छिद्र से भान होता है या जिस अतीन्द्रिय करण से वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, इसी तरह श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियों में समझें, यह संक्षेप से जान लेना चाहिये अतः इसमें रूपादित्रिपुटी के सिद्ध हो जाने पर चक्षु आदि करणों के विभाग की भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है ॥ २२ ॥

चिदणुप्रतिभासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
तन्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
चिदणुप्रतिभाकाशपिण्ड एव घनस्थितः ।
अनुसन्धानविवशश्चेतत्तीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २३ ॥
एवं चिदणुसन्धानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
तदेव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
ततो मनस्तदारूढमहङ्कारपदं गतम् ।
देशकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
चिदणोरस्य भावस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
स तत्रोत्तरकालेन पूर्वाभिख्यां करिष्यति ॥ २७ ॥

चितिरूप अणु का प्रतिभास होने पर भीतर सर्वप्रथम (पूर्व की) जो इन श्रोत्र आदि पांचों के शब्दादि विषयों की नामरूप शून्य अवस्था है, वह तन्मात्र शब्द से कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है अर्थात् कान आदि पांच इन्द्रियां हैं, उन्हीं के नामरूपभेद-कल्पना के पहले की जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्द से कही जाती है ॥२३॥

उस क्रम से चितिरूप अणु का प्रतिभासरूप जो आकाश है, वही घन स्थिति होकर स्थूल देह रूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदि के अनुसन्धान से पाँच इन्द्रियाँ प्रकाशित होती हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार अणुरूप चितिका ज्ञान दृश्य पदार्थों के बार-बार अनुभव से पुष्ट हो जाता है। फिर इसी का नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है, इन्द्रियों से अनुभूत विषयों का स्मृति के समय में जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसाय समय में जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती है ॥ २५ ॥

अनन्तर सङ्कल्प विकल्प दशा में मन बन जाता है, अभिमान से अहंभाव एवं ममभाव से अभिमानी होकर अहङ्कार पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार आत्मा ने देशकाल का भी विभाग किया है ॥ २६ ॥

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयों का जिस देश या काल रूप आधार में जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है अर्थात् जिस चिदणुरूप जीवको जिस देश या कालरूप आधार में शब्दादि विषयों का विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधार का उत्तर काल से भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल—यह नामकरण कर देता है, यहीं नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीव के लिए है अर्थात् काल और देश

अन्यस्मिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वाभिख्यां करिष्यति ।
एवं दिगभिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २८ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामार्थवेदनम् ।
भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
इत्थं स्वानुभवेनैष व्योम्नैव व्योमरूपभृत् ।
अतिवाहिकनामान्तर्देहः सम्पद्यते चितेः ॥ ३० ॥
एष एव चिरं बालं तत्र भावनया तया ।
गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
व्योम्ना व्योम्न्येव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥

में पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तर काल की कल्पना को लेकर ही प्रवृत्त होती है ॥ २७ ॥

वही चितिरूप जीव दूसरे देश-काल में ज्ञान होने पर उनका 'ऊर्ध्व' नाम रख लेता है, इसी प्रकार दिशा में पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामों की वह क्रमशः कल्पना कर लेता है ॥ २८ ॥

अनन्तर यद्यपि आकाश के सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि सङ्कल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दों के अर्थों के ज्ञान के रूप में हो जाता है अर्थात् देश, काल और वस्तुओं की एवं उनके नामों की कल्पना बतलाई गई, अब जिन्हें शब्द शक्ति का ज्ञान है, ऐसे पुरुषों को शब्द श्रवण होने पर तत्-तत् अर्थों का जो विज्ञान है उसके रूप में भी वह आत्मा ही होता है ॥ २९ ॥

इसी प्रकार से अपने ही सङ्कल्प के प्रभाव से यह आकाश के सदृश निर्मल रूप धारण करने वाला चिदाकाश अपने आप ही चिति के अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर, फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, इस प्रकार समस्त जगत् के स्वरूप में विवर्तित हो जाता है ॥ ३० ॥

समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पना स्वरूप होने के कारण आतिवाहिक शरीर का अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकता की प्रतीति कैसे होती है? इसके समाधान में कहते हैं।

यही चिदणु जीव दीर्घ काल की उक्त भावना से अपने में पूर्ण रूप से अधिभौतिकता का निश्चय कर कर लेता है ॥ ३१ ॥

निर्मल चिदाकाश ने चिदाकाश में ही अपने असत्सङ्कल्प से कथित विभ्रम की रचना की है, यह सत् के

सङ्कल्पनामुपादत्ते स्वदेहे गमनाकृतिः।
शिरःशब्दार्थदां काञ्चित् पादशब्दार्थदां क्वचित्॥३३॥
उरःपार्श्वादिशब्दार्थमयीं क्वचिदनाविलाम्।
भावाभावग्रहोत्सर्गशब्दाद्यर्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
नियताकारकलनां देशकालादियन्त्रिताम्।
विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियव्रातवेष्टिताम् ॥ ३५ ॥
सोऽणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम्।
हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥३६॥
एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः।
एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते कृमिः ॥ ३७ ॥
न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम्।
शून्यं शून्ये विलसितं ज्ञाप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भिता ॥ ३८ ॥

सदृश हो वैसे ही चारों ओर फैला है, जैसे ताप-नदी का जल ॥ ३२ ॥

वह गगन रूप चिदणु रूप अपनी देह की कल्पना करनी होती है, तब इस तरह की कल्पना करता है, कहीं कोई कल्पनाएँ सिर शब्द के अर्थ को देने वाली, कोई पैर शब्द के अर्थ को देने वाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दों के अर्थों को देने वाली हैं। वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दों के अर्थों को कल्पना, कहीं देश काल से निमन्त्रित कल्पना, कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियों से युक्त कल्पना करता है। इस प्रकार शरीरों के अवयवों की एवं बाह्य अर्थों के हानादि व्यवहारों की कल्पना करके रहता है ॥ ३३–३५ ॥

अनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पना से कल्पित अपने हाथ, पैर आदि से युक्त तथा चित्त आदि की कल्पना से युक्त मनुष्य आदि का आकार देखता है ॥ ३६ ॥

इसी तरह अपनी ही कल्पना से चिदणु जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है अर्थात् ईश्वरों की देहों की भी कल्पना उसके सङ्कल्प से होती है, अन्य की बात ही क्या ॥ ३७ ॥

वास्तव में तो यह कुछ भी बना नहीं है, किन्तु यह अपने असली स्वरूप में ही स्थित है, शून्य का ही विलास है और चिति में ही बढ़ी है अर्थात् सभी तरह की यह कल्पना मिथ्या ही है ॥ ३८ ॥

प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यवीरुधाम्।
सार्गार्गलप्रदो मुक्तेः संसारासारवारिदः ॥ ३९ ॥
कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु।
सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४० ॥
नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके।
अवष्टब्धुमसौ मुष्ट्या शक्यते न तु केनचित् ॥ ४१ ॥
तेनाब्धिमेघसंग्रामसिंहगर्जोजितात्मना ।
अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२ ॥
जाग्रतः स्वप्नसंदृष्टयोद्धारभटिवेदनम्।
यथास्मृति गतं नासन्न सत्तद्वदसौ स्थितः ॥ ४३ ॥
बहुयोजनलक्षौघप्रमाणोऽपि बृहद्वपुः।
परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगत्त्रयः ॥ ४४ ॥

भद्र, व्यष्टि शरीरों का नियत त्रैलोक्य रूप बल्लियों का बीज है, वही है मुक्ति के द्वार की प्रतिबन्धक विषय-सृष्टि रूप अर्गला (शृङ्खला) देने वाला तथा संसार रूप मूसलाधार वृष्टि करने वाला मेघ भी वही है, अर्थात् व्यष्टियों के सदृश समष्टि रूप हिरण्य गर्भ भी अपनी कल्पना से ही बना है ॥ ३९ ॥

सब कार्यों का कारण, काल, क्रिया आदि का नियामक सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छा से वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥ ४० ॥

न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीर में हड्डियां ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठी से नहीं पकड़ सकता ॥ ४१ ॥

विराट् पुरुष भी प्रपञ्च शून्य अपने स्वरूप में वैसे ही स्थित है, जैसे स्वप्न में मेघ, संग्राम और सिंहों की भीषण गर्जना से युक्त स्वरूप रहने पर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है ॥ ४२ ॥

जगत् का यह प्रपञ्च वैसे ही स्थित है, जैसे स्वप्न देखे गये योद्धाओं के कोलाहल का ज्ञान जाग्रदवस्था में स्मृति पथ में आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है ॥ ४३ ॥

अनेक लाखों योजन के समूहों तक विशाल प्रमाण-वाला, बृहत्-शरीर भी यह त्रैलोक्य रोम के सूक्ष्म भाग के अन्तमें स्थित केवल एकमात्र माया से ही परमाणु के अन्दर भी भासमान होता है अर्थात् एकमात्र माया से

कुलशैलगुणौघात्मा जगद्वृन्दात्मकोऽपि सन् ।
कुलायं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५ ॥

जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६ ॥

स्वयंभूरेव कथितो विराडेष स उच्यते ।
ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७ ॥

सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलादिदेहकः ॥ ४८ ॥

तेजोऽणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।
क्रमेण स्फारसंवित्तिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९ ॥

स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
यः स एवानिलाभिख्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः॥५०॥

उन हजारों वस्तुओं की, जिनकी हम कभी सम्भावना नहीं कर सकते, इस संसार में उत्पत्ति दीखती है ॥४४॥

सात महाकुल पर्वतों तथा गुणों के समूहों का आश्रय एवं ब्रह्माण्डों का समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव बट के बीजमात्र छिद्र को भी नहीं पूर्ण कर सकते हैं ॥ ४५ ॥

सैकड़ों करोड़ लम्बे जगत् के विस्तार से विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं। स्वप्न के पर्वतों के समान वस्तुतः इन्होंने देश को व्याप्त नहीं कर रखा है ॥ ४६ ॥

यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्-शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं। किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी ! वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ४७ ॥

सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हीं की रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्र जी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा शैलसमूहों की देह भी यहीं हैं ॥ ४८ ॥

परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करने से चित्त-शरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रम से विस्पष्ट चित्ति होकर अर्थात् महाज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ' इस तरह जगत् के शरीररूप से स्थित हो गया ॥ ४९ ॥

स्पन्द की संवित् से वे स्पन्द का अनुभव करते हैं। उनके जो प्राण हैं उन्हीं की संज्ञा अनिल पड़ी है। वे वातस्कन्धरूप से स्थित हैं ॥ ५० ॥

प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनादनुभूयते ।
तेन यः सोऽयमाकाशे वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१ ॥

चित्ताद्ये कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
तेजःकणा असन्तोऽपि त एते धिष्ण्यतां गताः ॥ ५२ ॥

प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
वातस्कन्धाभिधां धत्ते जगत्तद्धृदयं महत् ॥ ५३ ॥

प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेष सः ।
जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४ ॥

प्रतिच्छन्द्याद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५ ॥

चितिस्तस्याऽऽद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता ।
तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता ॥ ५६ ॥

स्पन्द की संवित् से तो वे प्राण और अपान के स्पन्द का अनुभव करते हैं उनके प्राण के स्पन्द को उनके ब्रह्माण्डाकाश में हमने वातस्कन्ध के नाम से पहले कहा है ॥ ५१ ॥

विराट् ने अपने चित्त से जिनकी कल्पना की वे ही ये तेज के कण, बालक द्वारा अपने चित्त से कल्पित पिशाच की तरह असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदि की स्थानता को प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपता को प्राप्त हैं ॥ ५२ ॥

उनके उदर में जनित जो प्राण तथा अपान के आवर्तनरूपी झूला है, वही उसकी उदारता 'वास्तस्कन्ध' संज्ञा को धारण करती है। महान् जगत् उसी का हृदयगत अस्थि आदि है ॥ ५३ ॥

जगत् के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करने वाले समस्त जीवों में प्रत्येक जीव-भेद की इच्छा से कल्पित व्यष्टिशरीरों के प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥ ५४ ॥

इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीव की इच्छा से प्रकटित हुए जो जगद्रूप से अनेक देह हैं उनके भी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥ ५५ ॥

आज भी उसकी अभिलषित चिति ही प्रत्येक जीव के भीतर वैसे ही उदित हो रही है, जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भ की इच्छारूपा चिति पहले ही उत्पन्न हुई। अर्थात् एक प्रथम बीज से अनेक वृक्ष तथा बीजों की परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतन की इच्छा से प्रत्येक जीव से ब्रह्माण्ड परम्परा उदित होती है ॥ ५६ ॥

श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः ।
ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्ठीवनसीकरा ॥ ५७ ॥
तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः ।
शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम् ॥५८॥

वपुर्विराजो जगदङ्ग विद्धि
सङ्कल्परूपस्य हि कल्पनात्म ।
आकाशशैलावनिसागरादि
सर्वं चिदाकाशमतः प्रशान्तम् ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवाशिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चन्द्र, सूर्य और पवन ये तीनों उस हिरण्यगर्भ के कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवन के सीकर हैं अर्थात् प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूक के कफविन्दु हैं ॥ ५७ ॥

पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बी की जाति-जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवों को ऊपर-नीचे के कपालों तथा ब्रह्माण्डों के आवरणों को दूरी के कारण हम लोग नहीं देख पाते हैं ॥५८॥

इस संसार को आप विराट् पुरुष का शरीर समझें। वह भी कल्पनात्मक उस विराट् की एकमात्र कल्पनारूप ही है। वह न तो कोई बाह्यसाधन से साध्य है और न वस्तुतः मन की कल्पनारूप कुछ है। इसलिए आकाश, तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान विराट् आत्मवर्णन निर्वाणप्रकरण नामक कुसुमलता अनुवाद का तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

७४

वसिष्ठ उवाच

तस्मिन् कल्पे तु सङ्कल्पे तस्य तद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १ ॥
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघुत्वस्य वपुर्जगत् ॥ २ ॥
सङ्कल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं सङ्कल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३ ॥
ब्रह्मात्मैष स्वसङ्कल्पं स्वमण्डमकरोद्द्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहङ्गवत् ॥ ४ ॥

महाराज वशिष्ठ जी ने कहा—उस शिला के उदर में देखे गये ब्रह्मकल्पात्मक उस विराट् के सङ्कल्प में स्थित ब्रह्माण्डात्मक शरीर उसकी विचित्र आचारों से चित्त को हर लेने वाली जन्म, कर्म, अवयव आदि की व्यवस्था है, वह आप सुने अर्थात् उस ब्रह्मा का कौन अङ्ग यह भूलोक है और कौन अङ्ग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्न का, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्न का तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रोता को सावधान कर रहे हैं ॥ १ ॥

आदि, अन्त और मध्य से रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराडात्मा का प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है अर्थात् उस विराट् का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है। उस विराट् का शरीर उसकी दृष्टि से अत्यन्त ही लघुतर है ॥ २ ॥

वह ब्रह्मा अपने सङ्कल्पित ब्रह्माण्ड-शरीर से बाहर सङ्कल्परहित हो अर्थात् सङ्कल्प-शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र हो सङ्कल्पनात्मक अपने अण्ड को चारों तरफ देखता है। वास्तव में वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाशरूप ही है ॥ ३ ॥

जैसे अपने पुष्ट अण्ड का पक्षी दो भाग करता है वैसे ही लिङ्गसमष्टि के अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्मा ने अपने सङ्कल्परूपी सुवर्णमय अण्ड का दो भाग किया, अर्थात् उस विराडात्मा का सिर, पैर और नितम्ब बतलाने के लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड के ऊपर तथा नीचे के भाग को उसका कपाल तथा पैर बताते हैं ॥४॥

अण्डस्यैकं नभोदूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
भुवोऽधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्पना ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रखम् ॥६॥
दूरं विमुक्तयोः सन्धिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥ ७ ॥
द्यौस्तालुविपुलं तस्य तारारुधिरबिन्दवः ।
संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८ ॥
देहान्तःकृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।
लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥ ९ ॥
ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १० ॥

उस अणु के ऊपर के दो भाग को उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचे का भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया। अर्थात् उस अणु के दोनों भाग में जो ऊपर का भाग था वही आकाश तथा नीचे का जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ। यद्यपि उस विराट् पुरुष ने उन दोनों में आकाश तथा भूलोक आदि की कल्पना की, लेकिन फिर भी अपने से अतिरिक्त न तो उसने आकाश की कल्पना की और न इस भूलोक की। ब्रह्माण्ड के सबसे ऊपर का जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुष का सिर कहलाता है तथा नीचे का जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनों के बीच का जो अन्तरिक्ष—आकाश है, वह उस विराट् पुरुष का नितम्ब कहलाता है ॥ ५-६ ॥

बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डों की अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त शून्य श्यामवर्ण आकाश की रेखा के रूप में लोगों को दिखाई देती है॥७॥

अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुष का विशाल तालु है, तारागण रुधिर के विन्दु हैं तथा देह में सुर नर आदि बुद्धि तथा प्राण की वृत्तियों के भेद हैं ॥ ८ ॥

भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीर के भीतर रहनेवाले रक्त-मांस आदि अपवित्र पदार्थों के लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीर के छिद्र हैं तथा याम्यादि नरक के लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचे के सूराख हैं ॥ ९ ॥

इस भूमण्डल के नीचे का ब्रह्माण्डखण्ड उसके पैर का विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त हैं वे उसके जानुमण्डल के छिद्र हैं ॥ १० ॥

जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका ।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११ ॥
जलैर्गुडगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२ ॥
कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः ।
मृद्व्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जलिका घनाः ॥१३॥
चन्द्रार्कौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४॥
अग्निलोकस्तथौर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाता प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५ ॥
कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६ ॥

जलों से चलायमान सुराखों से पूर्ण, अनेक छिद्रों वाली, काम, रोग, जरा, मरण आदि से व्याकुल तथा समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं—करधनी एवं कटिसूत्र की जगह पर हैं, ऐसी पृथिवी उस विराट् पुरुष की मध्यस्थ वस्ति, जाँघ एवं नितम्बमण्डली है ॥ ११ ॥

जलों से गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ी हैं तथा नदियों का जल उसके शरीर का रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल है ॥ १२॥

शून्य दिशाएँ उसके कुक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके यकृत्-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्बी के समूह हैं ॥ १३ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत कफ कहा गया है ॥ १४ ॥

अग्निलोक तथा पृथिवी के अन्दर की अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है। वातस्कन्धों में प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदय में स्थित प्राण और अपान हैं ॥ १५ ॥

कल्पवृक्षों के वन आदि में प्रसिद्ध साँपों के झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुष के अनन्त रोम हैं ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुरुमस्तकम्।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता॥ १७॥
स्वयमेष मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते।
आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः॥ १८॥
स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्राऽस्तिता कृता।
यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल॥ १९॥
अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः।
न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः॥ २०॥
तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचत्।
सङ्कल्पा एव पुंवृत्त्या चलन्त्यारुपितद्विताः॥ २१॥

ब्रह्माण्ड के खण्ड का सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है। ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वप्रान्त के छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है॥ १७॥

समस्त समष्टि मन के आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही है, इसलिए इनको सभी कल्पनाओं में किसी दूसरे मन का इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता। मनरूप विधाता को भी किसी दूसरे मन की आवश्यकता होनेपर अनवस्था हो जायगी। जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृता को प्राप्त करता है तब भला किसका (मन का) कहाँ से कैसे संभव होगा॥ १८॥

इसी तरह इन्हें इन्द्रियों का भी उपयोग नहीं करना पड़ता है, क्योंकि वे स्वयं इन्द्रियरूप हैं। इसलिए इन इन्द्रियों की अस्तिता इनसे हम लोगों में कल्पित है और वे सब इन्द्रियाँ वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है अर्थात् इन्द्रियों की कल्पना में इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है॥ १९॥

अवयव और अवयवी के सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनों में एकता ही है॥ २०॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत् की क्रिया भी उसी की क्रिया है, इसलिए क्रिया के विषय में अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है।

संसार के जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसी के कार्य हैं अर्थात् संसार की सम्पूर्ण क्रियाएँ उसी की क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्मा के सङ्कल्प ही सब जीवों के रूप से भेद का आरोप करके जगत् के समस्त व्यवहार के रूप में चलते हैं अर्थात् सम्पूर्ण विश्व की क्रिया भी उसी की क्रिया है॥ २१॥

जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी।
स एवेदं जगत्यस्मत्सङ्कल्पात्मास्य नेतरत्॥ २२॥
तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगन्मृतम्।
यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः॥ २३॥
जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव।
जगद्यत्स विराडेच यो विराट् तज्जगत्स्मृतम्॥ २४॥
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।
सङ्कल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्व्योमरूपिणः॥ २५॥

समष्टि जगत् के समस्त जगत् के जन्म और मरण को ही उस ब्रह्म का जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे-जैसे व्यक्तिविशेष के जन्म और मरण को उस ब्रह्म का जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत् में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगों का सङ्कल्प वही है। उस ब्रह्म का समष्टि तथा व्यष्टि से अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है अर्थात् तब तो हम लोगों का मरण और जन्म भी उसी का मरण और जन्म है। ऐसी स्थिति में द्विपरार्ध काल तक उसके जीवन की जो प्रसिद्धि, उसमें विरोध होने लगेगा, यह विरोध नहीं है॥ २२॥

उसकी सत्ता से जगत् की सत्ता तथा उसके मरण से अर्थात् अभाव से जगत् का मरण अर्थात् अभाव है। ब्रह्म और जगत् की सत्ता है वैसे ही जैसी स्पन्द और वायु की सत्ता एक है॥ २३॥

वायु और उसके स्पन्द के समान जगत् और विराट् पुरुष की सत्ता एक ही है। जो जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है॥ २४॥

जगत्, ब्रह्मा और विराट् ये तीनों एक अर्थ के वाचक शब्द हैं तथा ये दोनों अर्थात् विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्मा के सङ्कल्पमात्र ही है 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध जो सङ्कल्प है वह भी तो निःस्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करने पर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है॥२५॥

श्रीराम उवाच

सङ्कल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम् ।
अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
तथास्ते निजदेहेऽन्तः सङ्कल्पात्मा पितामहः ॥ २७ ॥
नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८ ॥
यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
सङ्कल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥२९॥
बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जङ्गमः ।
किं नास्ते तत्र देहेन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३० ॥
साकारो गगनात्माऽस्तु निराकारं खमस्तु वा ।
आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१ ॥
आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
अहं त्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२ ॥
आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
दुच्छब्दमम्बुरयवच्च विरोपिताङ्गः ।
नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाले
तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा हे भगवन् ! सङ्कल्प से चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारता को प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीर के भीतर रहते कैसे हैं ? ॥२६॥

वशिष्ठ जी ने कहा—जैसे मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदय में कल्पित रत्नमण्डप के भीतर स्थित देव में प्रविष्ट होकर उस देवता की छत्र, चामर, व्यञ्चन, दर्पण, ताम्बूल आदि से परिचर्या कर रहे अपने को उस देवता के समीप में स्थित आप अनुभव करते हैं, सङ्कल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीर के भीतर वैसे ही स्थित रहते हैं ॥ २७ ॥

विदेही पुरुषों का जीव अपने स्थूल शरीर के भीतर हृदयपुण्डरीक में अवस्थित रहता है। वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पण के अन्तर्गत प्रतिबिम्ब के सदृश वे ब्रह्मा जी हैं॥ २८ ॥

आप भी अपने स्थूल शरीर के भीतर अपनी स्थिति जब भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ सङ्कल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते?॥ २९॥

जब स्थावर पदार्थ भी बीज के भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्वसक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देह के भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चिति की कल्पनारूप हैं, अर्थात् जब स्थावरों में भी अपने बीज से अन्य शरीर धारण करने की सामर्थ्य विद्यमान है, तब सर्वशक्तिसम्पन्न चिति की कल्पनारूप ब्रह्ममूर्ति के विषय में क्या कहना है ॥ ३० ॥

ऐसी स्थिति में ब्रह्माजी ब्रह्माण्डाकार से साकार होते हुए भी चिदाकाशस्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मन के रूप से निराकार चिदाकाशस्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्ष में बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर जो कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही स्वरूप से बाहर स्थित हैं, अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हीं का भेद होता है, आन्तर सद्रूप की जो कल्पना है उसका भेद नहीं होता ॥ ३१ ॥

वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्डरूप से स्थित है तथा भीतर 'अहं, त्वम्' इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूतभौतिकमय है। लेकिन अपने स्वरूप में आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थर के समान जड़ होकर भी वस्तुतः वह चिदेकरसरूप होने के कारण जड़रूप से स्थित नहीं है ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमा के समान पहले रत्न आदि से आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जाने पर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जल के प्रवाह के सदृश अवरुद्ध और छिन्न-भिन्न अङ्ग होने पर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थिति को नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकार के कार्यसमूह में विहार करते हुए भी शिला के उदर के समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं—क्रोध, हर्ष विषाद आदि से उसमें विकार की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुष की ही है, यह बात नहीं है, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियों की भी ऐसी ही स्थिति है, ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय महारामायण के मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में विराडात्म निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

७५

वसिष्ठ उवाच

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥ १ ॥
द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्वक्त्रे वनदाहमिवाचले ॥ २ ॥
वह्निलोकमिव व्योम्नि वडवाग्निमिवार्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिङ्मुखे ॥ ३ ॥
सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिङ्मुखे ॥ ४ ॥
कुबेरकुकुभि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्तटे ।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥ ५ ॥
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।
उदभूद्भूतलात्तावदर्कं औवं इवार्णवात् ॥ ६ ॥
एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिबिम्बमिवोत्थितम् ।
उदभूत्त्रयमर्काणामन्तरे दिग्गणाम्बरे ॥ ७ ॥
तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।
तद्द्वादशपरोमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥ ८ ॥
सर्वदिक्कं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाऽनलः ।
अथोद्बुज्जगत्खण्डशोषणग्रीष्मवासरः ॥ ९ ॥
अनग्निरग्निदाहो द्रागदृश्योल्मुकगुल्मकः ।
अनग्निनाऽग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥१०॥
अङ्गानि दावदग्धानि खिन्नानीव ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥११॥

७५

वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! जब ब्रह्मदेव ध्यान में लवलीन हो गये तब इन्द्र के सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वत के शिखरपत्तन देखने के बाद मैंने धीरे से दिशाओं की ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशा की ओर साफ उदित दिशाओं के मुंह में दाह के सदृश तथा पर्वत के ऊपर वनदाह के समान, मध्याह्नकाल के सूर्य से भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान् को देखा ॥ १–२ ॥

इसके बाद आकाश में अग्निलोक के तुल्य तथा सागर में वडवानल के समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्य को मैंने नैर्ऋत्यदिशा में उदित देखा ॥ ३ ॥

अनन्तर दक्षिण दिशा में, उसके बाद अग्निकोण में, फिर पूर्वदिशा की ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोण में उदित हुए इस तरह भिन्न-भिन्न सूर्यों को मैंने देखा ॥४॥

उसके बाद उत्तरदिशा में, वायव्यकोण में, तथा पश्चिम दिशा में भिन्न-भिन्न सूर्यदेव भगवान् को देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया ॥ ५ ॥

इतने में व्याकुल हो ज्यों ही मैं दैव की प्रतिकूलता को विचारने लगा, जैसे सागर से औवं—वड़वानल प्रादुर्भूत होता है वैसे ही शीघ्र ही भूतल से सूर्य प्रादुर्भूत हुआ ॥ ६ ॥

दिग्गणों के मध्याकाश में ग्यारहवां सूर्य उदित हुआ। उस ग्यारहवें सूर्य में, दर्पण में प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्ब की तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए दसों दिशाओं के बीच उदित हुए सूर्य के अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्र का यह एक रौद्र शरीर है। वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इस गायत्री से प्रकाशित होता है। एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरों से प्रसूत चौबीस हजार श्लोकों के पूर्वरामायण के सार-संग्रहस्वरूप आदित्यहृदय में 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोक से तीन मूर्तियों के मूलभूत परम-शिव के रूप से नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् उसी को सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं ॥ ७ ॥

उस ग्यारहवें सूर्य में वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्र के शरीर हैं। उस भगवान् रुद्र के शरीर के मध्य में तीन नेत्र हैं। बारह सूर्यों के आकार के बराबर परिणामवाला प्रदीप्त सूर्यों का समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओं को खूब जोर से ऐसे जलाने लगा, जैसे सूखे जंगल को अग्नि। अनन्तर जगत्खण्ड को शुष्क बना देनेवाला ग्रीष्म ऋतु का दिन प्रकट हुआ ॥ ८–९ ॥

हे कमलनयन ! इसके बाद झट बिना अग्नि के ही अग्नि का दाह तथा अदृश्य उल्मुकों के गुल्मक उत्पन्न हुए। अग्नि रहित उस सौराग्नि के दाह से मेरे सभी अङ्ग दावाग्नि से दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये। उसके बाद उस प्रदेश को छोड़कर मैं बहुत दूर आकाश में आरूढ़ हो गया ॥ १०, ११ ॥

दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवन्नभः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥१२॥
तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहत्तत्र सताराव्ज्वालेव भगणं चलम् ॥१३॥
महाकुहकुहाशब्दं क्वथत्सप्ताब्धिडम्बरम् ।
सज्वालोल्मुल्कनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥१४॥
ज्वालाघनपटाटोपसिन्दूरीकृतपर्वतम् ।
दीप्यमानमहागारस्थिरविद्युत्ककुत्पटम् ॥१५॥
स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
विदधद् भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥१६॥
काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
क्वथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दातिघर्घरम् ॥१७॥

प्रबल हथेली के आघात से मारे जा रहे गेंद की तरह आकाश में जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्डतेजयुक्त तप रहे बारह सूर्यों को दसों दिशाओं में भी देखा। तथा उन दिशाओं में तारों के सहित आकाश को व्याप्त कर देने वाली ज्वाला के समान चंचल वर्तुलाकार वृहत् नक्षत्र चक्र देखा ॥ १२, १३ ॥

वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दों से युक्त सातों समुद्र को खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वाला सहित उल्मुकों से सारे लोक और समस्त नगरों के भीतरी भाग को अच्छी तरह परिपूर्ण कर देने वाले बारह सूर्यों को देखा ॥ १४ ॥

उस सूर्य मण्डल ने ज्वाला सदृश घन रक्त वस्त्राडम्बरों से सारे पर्वतों को सिन्दूरी रङ्ग का कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालों के घरों में स्थिर बिजली की तरह उसने समस्त दिशामण्डल को बना दिया था ॥ १५ ॥

चट-चट शब्द करते हुए नगरों के मण्डल को उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दों के आडम्बरों से युक्त कर दिया था। शिला के समान घनीभूत, भूतल पर उद्भूत हुए दण्डाकार धुमों से भुवन स्थान मण्डल को हजारों काँच के खम्भों से वह परिपूर्ण बना रहा था। काढ़ा रूप में परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतों के ऊँचे आक्रन्दन से उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥ १६, १७ ॥

भूतलोकपुरापातस्फुटच्चटचटोद्भटम् ।
ताराविसरणोद्घातघृष्टरत्नधरातलम् ॥१८॥
सर्वस्थलालयचलद्दह्यमानजनव्रजम् ।
क्षीणाक्रन्दक्वथद्भूतगणदुर्वासदिक्तटम् ॥१९॥
उत्तप्ताम्बूदराखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
सर्वदिक्कानलप्लोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥२०॥
विदलद्दग्धदिग्दन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
धराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥२१॥
पतत्पर्वतनिष्पिष्टप्लुष्टपत्तनमण्डलम् ।
पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥२२॥

वह बारह आदित्यों का मण्डल, जिनका मैंने अवलोकन किया, चारों ओर से समस्त प्राणियों के लोकों एवं उनके अन्तर्गत नगरों के पतन से फट रहे पदार्थों के चटचटा शब्दों से प्रचण्ड था। अश्विनी आदि तारासमूहों के पतन के अभिघातों से धरातल के रत्नों को वह घिस रहा था ॥ १८ ॥

सभी स्थानों में अपने-अपने घरों के भीतर उसके ताप से जल रहा जन-समुदाय इधर-उधर जोरों से भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दन पूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदाय से वह सारे दिक्तटों को दुर्गन्ध युक्त बना रहा था ॥ १९ ॥

सारे महासागरों के जल जन्तुओं को, जो उनके उदर में रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलों से व्याकुल कर रहा था। सारी दिशाओं में व्याप्त अग्नि के दाह से उसने भिन्न-भिन्न अनेक नगरों के प्राणियों को मारकर उन्हें रोदन से शून्य बना रहा था—उनमें रोने वाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रहा था ॥२०॥

मैंने बारह आदित्यों का वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजों के दाँतों रूपी खम्भों से दिगन्त पर्वतों को अधोभाग में धारण करा रहा था तथा पर्वतों की कन्दराओं के छिद्रों को धूम मण्डलों से कुण्डलमय बना रहा था अर्थात् परिपूर्ण कर रहा था ॥ २१ ॥

वह जले हुए नगरों के मण्डलों को गिर रहे पर्वतों के द्वारा पीस-पीस कर चूर्णरूप में परिणत कर रहा था और पचपच शब्दों से शब्दमय हो रहे महापर्वतों के हाथियों को वह पकाने में संलग्न था ॥ २२ ॥

तापतप्तोन्नमद्‌भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
हृदयस्फोटनिःसारपतद्विद्याधराङ्गनम् ॥२३॥
आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्द्धनिःसरणामरम् ।
नाकलोकज्वलज्जालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥२४॥
शुष्कार्णवसदापक्वविवर्तोग्रजलेचरम् ।
ओर्वेणाबिन्धनाभावात्प्रोड्डीयेव सहस्रधा ॥२५॥
गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ।
अथोदभूज्वलऽज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥२६॥
ताण्डवायेव कल्पाग्निस्तरलोल्मुकमाल्यवान् ।
तारं पटपटाटोपी रटड्डूट इवोड्डूटः ॥२७॥

सन्ताप से सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतों को वह ऐसा बना रहा था, मानो उन्हें ज्वर आ गया हो। हृदय फटने से सारहीन हो जाने के कारण विद्याधरों एवं उनकी अङ्गनाओं को गिराने में वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥ २३ ॥

उस समय कुछ लोग जोर-शोर से चिल्लाने तथा रोने से थक गये थे एवं योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्र को फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणों को निकाल देने से अमर भी हो चुके थे। स्वर्ग लोक में जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पाताल पर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥ २४ ॥

सूखे समुद्रों में उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहने के कारण नक्र आदि जल-जन्तु परस्पर खूब टकरा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखने में उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलने से वड़वानल मानो उड़कर स्वयं आकाश में चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरह से नृत्य करते हुए उसने अप्सराओं को जिससे उछल कर पकड़ लिया, वह बारह आदित्यों का मण्डल मैंने वहां देखा ॥ २५ ॥

अनन्तर प्रलयाग्नि रूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटी में ताण्डव नृत्य करने को तैयार हो गया वह जल रही ज्वाला रूपी किंशुक पुष्प के वर्ण की तरह वस्त्रों से सुशोभित था, बड़े वेग से फट रहे बाँस आदि के कारण पटपट आदि शब्दों के आडम्बर से युक्त था अर्थात् वह उनसे नाना तरह के बाजों का आडम्बर रखने वाला था। चंचल उल्मुक रूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे भट की तरह अलङ्कृत

ज्वालोद्‌भुजोः धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
जज्वलुंर्नजालानि पुराणि नगराणि च ॥२८॥
मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥२९॥
श्वभ्ररूपारघट्टाघट्टपट्टनोदारदित्क्तटः ।
शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥३०॥
सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवार्चिषाम् ॥३१॥
आसन् क्ष्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोज्ज्वलोर्ध्वजाः ।
भमड्डूमिति भाङ्कारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥३२॥
ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥३३॥

दीखता था, प्रज्वलित ज्वालारूपी अपनी लम्बी भुजाओं से समन्वित तथा धूमरूपी केशों से वह विभूषित था। उस प्रलय की अग्नि से वनों के समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलों के द्वीप-दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवी के समस्त छिद्र, पृथिवी के ऊपर का महाकाश, दसों दिशाएँ, भू लोक के ऊपर का हिस्सा ये सबके सब जलने लगे ॥ २८, २९ ॥

कहीं सुन्दर गर्तों से शोभित, कहीं पर अरघट्ट यन्त्रों से अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओं से युक्त अनेक नगरों से रमणीय दिशाओं का तट, पर्वतों के शिखर, उन शिखरों पर बास करने वाले सिद्धों के समूह, उन सिद्ध समूहों से युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, सर्प और पुरुषों के साथ सभी दिशाएँ सब भगवान् रुद्र के नेत्रों की ज्वालाओं के शनशना शब्दों से जलने लगे ॥ ३०, ३१ ॥

भंभं भांकार भयंकर शब्दों से बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ, दुष्ट राक्षसियों की तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक-फेंककर क्रीड़ा करने में तत्पर हो गई, ये सभी अपने मस्तक के ऊपर ज्वाला-समूहों से उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं अर्थात् ज्वाला जालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥ ३२ ॥

उत्तम गर्तों से युक्त पर्वत भूमियों की गुफाओं से ज्वालाएँ खूब निकलने लगीं। उन ज्वालाओं के उदर में स्थित समस्त भूत जातियां लाल रङ्ग की हो गईं ॥ ३३ ॥

स्थलपद्मोदरालीनामजहुः श्रियमश्रियः ।
सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्भोदसुन्दरैः ॥३४॥
धगद्धगिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्गतैः ।
आसीद्रक्तांशुकैः कीर्णं सन्ध्याभ्रैरिव वा नभः ॥३५॥
उत्फुल्लकिंशुकवनैरुड्डीनैरिव वाऽऽवृतम् ।
और्वेण चाऽऽवृता आसन् फुल्लाशोकवना इव ॥३६॥
इव स्थलाब्जवलिता रविरा इव चार्णवाः ।
नानावर्णज्वलज्ज्वालाधूमविन्यास बन्धवान् ॥३७॥
रूढं वह्निमिवाधातुं चित्रसौधलताश्रयम् ।
अनन्त इव विन्यासवनयौवनपावकः ॥३८॥
उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ।
अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविवल्गनैः ॥३९॥

सम्पत्ति रहित उन सब दिशाओं ने तत्काल निकले हुए रक्त के समान ज्वालाजालों से, जो सिन्दूरी रङ्ग के मेघों की तरह सुन्दर थे, स्थल कमल के उदर में लीन शोभा को धारण किया। धक्-धक् शब्दों से गाते हुए सारे संसार में व्याप्त ज्वालाओं के जालों से आकाश मानो रक्त वस्त्रों से या सन्ध्याकालीन मेघों से आकीर्ण हो गया। अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वाला समूहों से आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उड़कर वहाँ चले गये विकसित किंशुक के वनों से ढंका हो। हे श्रीरामचन्द्रजी ! ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरों की भी हो गई, वड़वानल से संवृत्त सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानो उनमें अशोक के वन खिल गये हों, या स्थल कमलों से वे संवलित हो गये हों अथवा प्रातःकालीन सूर्य के समूहों से वे व्याप्त हो चुके हों ॥ ३४, ३६ ॥

युवावस्था को प्राप्त दावानल चित्र लिखित—कोठों पर की मिथ्या अग्नि को मानो यथार्थ अग्नि बनाने के लिए नाना वर्णों की प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूमविन्यासों की श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओं की श्रेणि वाले सर्पराज के समान, विस्तार को प्राप्त हो गया, अनेक सूर्यों के उदय और अस्तमय आदि से विन्ध्याचल भी विधुर हो गया ॥ ३७, ३८ ॥

तथा दक्षिण देश में प्रसिद्ध सह्यनामक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनों की गर्जनासहित अङ्गार के समान क्षुब्ध हुए विटपों से कुछ धीरे से मानो असह्यता को प्राप्त हो गया ॥ ३९ ॥

शनैरीषदिव क्षुब्धैः सह्योऽसह्यत्वमाययौ ।
मध्यमध्यकचत्कार्ष्ण्यभ्रमद्धूममालिमालितम् ॥४०॥
वलज्ज्वालाब्जमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ।
खेऽद्रीणां शिखरे व्योम्नि शिखाशिखरशेखराः ॥४१॥
ननृतुर्नीरसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ।
तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वकपाटभूः ॥४२॥
तर्जनप्रोत्पतद्भूतघानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ।
क्वणच्छ्रेणी मृज्जलाग्निर्नानावर्णाननारुणा ॥४३॥
हृत्प्रकोष्ठे जगल्लक्ष्म्याः सौवर्णीवाभवत्तदा ।
शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ॥४४॥

बीच-बीच में जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूमरूपी भ्रमरों से मालित तथा धूम-संवलित ज्वालारूपी कमलों से मलिन हुआ आकाश सरोवर के तुल्य हो गया ॥ ४० ॥

ज्वालारूपी चूड़ामणि से अलङ्कृत तथा धूमों के आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पात विशेष रूपी केशपाशों से भूषित मृत्युरूपी वेश्याएं पर्वतों की कन्दराओं तथा शिखरों पर एवं पर्वतादि से शून्य आकाश प्रदेश में भी करुणादि रस से शून्य होकर नाचने लगी ॥ ४१ ॥

ब्रह्माण्ड का ऊर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभाग में स्थापित अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त होती हुई भाड़ की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँ पर भूने जा रहे दानों की जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियों के समूह ही विद्यमान थे ॥ ४२ ॥

उस प्रलयकाल में अपनी छाती पीट-पीट कर रो रही जगत्-लक्ष्मी के हृदय पर स्थापित हुए हाथ में अनेक द्वीपों की खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियों से, काच एवं उसकी कान्ति से युक्त सुवर्ण की जगह पर स्थित नाना वर्णों के मुखों एवं मणियों से लाल हुई यह पृथिवी सुवर्णविरचित मनोहर शब्द कर रहे कंकणों की पंक्ति-सी हो गई ॥ ४३ ॥

उस समय सभी पर्वत चटचटाशब्दों, सभी वृक्ष कटकटा शब्दों तथा सभी देश हलहला शब्दों के साथ अच्छी तरह विदलन को प्राप्त हो गये ॥ ४४ ॥

देशा हलहलोल्लासैरलं विदलनं ययुः।
अब्धयः क्वथिताकाराः फेनिलोल्लासमांसलाः ॥४५॥
वीचीकरतलाघातांश्चक्रुरर्कमुखे मुखे।
अन्योऽन्यवेल्लितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ॥४६॥
जहुर्वीचोकरैर्देहे जडाः प्रकुपिता इव।
आशाकाशशिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ॥४७॥
पपाठ शब्द आग्नेयो ज्वालातटतटोद्भवः।
लोकपालपुरापाततप्ताङ्गाररराद्रिभित्तयः ॥४८॥
दिशो दशापि वैवश्यं ययुरुन्मत्तवृत्तयः।
काञ्चनद्रवसाद्रीन्द्रद्रुमागारगुहागृहः ॥४९॥

कथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गए थे ऐसे) तथा फेनिल होने के कारण उन फेनों के उल्लास से परिपुष्ट हुए सारे समुद्र अपने जल में पड़े सूर्य-प्रतिविम्ब रूप तिलक से समन्वित अपने मुख में तरङ्गरूपी करतलों से आघात पहुँचाते हुए मानो रोने लग गये तथा पुनः वे सबके सब आपस में सम्बद्ध होकर तरङ्गों के आघात से मिट्टी तथा पत्थर आदि को बिलकुल बराबर कर देने के कारण भुतलरूपता को प्राप्त पर्वत का तरङ्गरूपी अपने हाथों से वैसे ही ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देह में प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदि का ग्रास करने लग जाते हैं ।। ४५, ४६ ।।

कहीं पर सारी दिशाओं तथा सारे आकाश को ग्रास कर जाने वाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरों के गुहामुख से निकले हुए 'गुहगुह' इस तरह के शब्दों का प्रदेशान्तर में गिरितट के सङ्घट्टन से उत्पन्न अग्नि का शब्द पाठ करने लगा अर्थात् अपने गुरुजी के द्वारा कहे गए शब्दों का अनुसरण जैसे शिष्यध्वनि करती है वैसे ही गुहामुख से निःसृत 'गुहगुह' शब्दों का अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ।। ४७ ।।

उस समय प्रलयकालीन मेघों की निवृत्ति से वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी लोकपालों के नगरों के गिरने से दाह में सन्तप्त हुए अंगारों से परिपूर्ण पर्वतों की भित्तियाँ होती हुई उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलता को प्राप्त होने लगीं॥४८॥

जैसे आतप में हिम गल जाता है; वैसे ही समीप के अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहों के सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरे से गल जाता है ।। ४९ ।।

शनैश्चार्वाकृतिर्मेरुरासीद्धिम इवातपे।
क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवान् जतुवद्द्रुतः ॥५०॥
सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः।
तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः ॥५१॥
आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम्।
नश्यन्नपि महान् ह्लादं न खेदं सम्प्रयच्छति ॥५२॥
चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम्।
न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम् ॥५३॥
प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत्।
द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ॥५४॥
तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः।
नभो विभुतयाऽनाशि हेमाऽऽकृष्टतयाऽक्षयम् ॥५५॥

सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरण से युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलय की आग से एक ही क्षण में लाह के सदृश वैसे ही पिघल गया, जैसे दुर्जन से सज्जन पिघल जाते हैं ।। ५० ।।

उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशा में भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभ से युक्त ही स्थित रहा। उदारात्मा महापुरुष तो नाश के समय भी अपने उत्तम गुण को नहीं छोड़ते ।। ५१ ।।

महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं, किसी को दुःख नहीं देते, स्वयं दग्ध होने पर भी वह चन्दन जीवन धारण कर रहे प्राणियों के आनन्द के लिए ही ज्यों का त्यों स्थित रहा ।। ५२ ।।

उत्तम वस्तु कभी भी निकृष्टता को नहीं प्राप्त होती है, प्रलयकालीन अग्नि से जल रहा भी सोना सर्वथा नाश को नहीं प्राप्त हुआ अर्थात् सर्वथाविनष्ट नहीं हुआ ।। ५३ ।।

उस प्रलयकालीन अग्नि में सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए। उन्हीं दोनों का शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जाने पर भी उनका नाश नहीं हुआ अर्थात् जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत् में सार है, उसी की प्रशंसा करनी चाहिए ।। ५४ ।।

आकाश तो व्यापक होने से अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होने से अर्थात् दोषों से निचोड़ कर शोधितरूप होने से अक्षय है। रजः और तमः से निचोड़ कर निकाले गये अर्थात् जिसमें रज और तम बिलकुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्व को ही ब्रह्मसुख की अभिव्यक्ति होने में मैं

सत्त्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ।
चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ॥५६॥
दग्धाब्दाद्रिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वह्निवारिदः ।
रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ॥५७॥
शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ।
वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ॥५८॥
शस्येवाङ्गनदोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ।
न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ॥५९॥
तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनाऽदहत् ।
दाहस्फुटद्द्रुमस्थूलशिलाचटचटारवाः ॥६०॥
लकुटोपललौष्टौघैरयुध्यन्तेव भूभृतः ।
ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ॥६१॥

सब सुखों का सार समझता हूँ। मैं रजः अथवा तमः को सुखों का सार नहीं समझता हूँ ॥ ५५ ॥

मेघरूपी पर्वतों को जलाने वाला महाधूम की ज्वाला सहित प्रलयाग्निरूपी मेघ इधर-उधर चल रहे जंगलों की तरह आकाश में स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अंगारों की वृष्टि करने वाला हो गया ॥ ५६ ॥

सभी तरह के जलों के बिलकुल सूख जाने के कारण अर्थात् संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जाने के कारण स्मृति के अभाव से अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्यस्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरह के जीवों का तथा सर्वथा शुष्क हो जाने से आकाश के वृक्ष के पत्तों के पात्रस्वरूप, प्रलयाग्नि की ज्वाला से दग्ध हुए जलसहित मेघों का ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए तत्त्वज्ञानी के दोषों की तरह कहीं भस्म भी न दीख पड़ा ॥ ५७, ५८ ॥

उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वत को न लांघ सकी थी, तभी तक कल्पान्त के लिए कुपित रुद्र भगवान् ने अपनी नेत्राग्नि से उस कैलास को जला दिया ॥ ५९ ॥

दाह से तड़कते हुए वृक्षों के तथा महाशिलाओं के चट-चट शब्दों वाले उस कैलास पर्वत के नीचे के सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थर के ढेलों के समूहों से मानो युद्ध करने लगे अर्थात् युद्ध करते हुए के समान प्रतीत होने लगे ॥६०॥

ये सभी पर्वत ज्वालाओं के घनघटाटोपों से अवतंस-

बभूर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ।
सर्गः कदाचिद्देवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ॥६२॥
कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादस्मरणीयताम् ।
तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ॥६३॥
वह्न्योऽपह्नवं चक्रुर्जगतामसतामिव ।
ववुरसनिनिपातपीडिताङ्गाः
कचदनलोल्मुकगुल्ममण्डलाभाः ।
प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
द्दलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥६४॥
व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
दत्ताभ्राभ्रमदुल्मुकाहतिवहत्साङ्गारगौरार्चिषः

सहित चंचल अग्र शिखरों वाले आकाश में विकसित हो रहे महाकमलों के अनेकों जंगल की तरह हो गये ॥६१॥

'कभी तो सृष्टि अवश्य ही रही होगी' इस प्रकार सृष्टि हो गई। मूर्खों को जगत् की असारता का स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥ ६२ ॥

ताप और उपताप में परम अर्थात् सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरों को मारने में तत्पर प्रलयकाल के पवनों ने सम्पूर्ण भुवनों का, शशशृङ्ग आदि असद्रूप पदार्थों की तरह, सर्वथा अत्यन्ताभाव कर दिया ॥ ६३ ॥

उस प्रलय के प्रवृत्त होने पर वज्रपातों से प्राणियों के अङ्गों को पीड़ित करने वाले तथा प्रकाशमान अग्नि के उल्मुकों से संयुक्त होने के कारण गुल्म अर्थात् ऐसा पौधा जो एक जड़ से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी या डंठल न हो। जैसे—ईख-शर आदि। अर्कप्रकाश में गुल्मगण के अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये। मण्डलों के सदृश शोभायमान प्रलय के समय के पवन देवताओं की पंक्तियों को विदलित करते हुए अग्नि के बीच से निकल कर सारी दिशाओं को चाटते हुए से बहने लगे ॥ ६४ ॥

चंचल ज्वालापल्लवों से तड़कते हुए अग्निमय वृक्षों के वनों से उत्पन्न भस्मसहित उष्णता से आकाश को व्याप्त करने वाले, अथवा मेघों को उत्पन्न करने वाले भ्रमण करते हुए उल्मुकों के अभिघात से निकल रही अंगारसहित पीली ज्वालाओं से युक्त, कज्जलरूप से गिर

अश्यत्पावकभृङ्गमध्यविलसज्ज्वालावलीश्यामला　निःशेषाग्निनिकाशसुस्तवजवा वेगेन वाता ववुः ।६५।

इत्यार्षे श्रीवाशिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

रही तथा पावक की शृङ्गप्राय शिखा के मध्य में विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओं की पङ्क्तियों से श्याम-वर्ण एवं सम्पूर्ण जगत् में अग्नियों को प्रकाशित करने से स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेग से बहने लगे ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत-वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपाय निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान विराट् आत्मवर्णन निर्वाणप्रकरण नामक कुसुमलता अनुवाद का पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

७६

वसिष्ठ उवाच

अथ कल्पान्तमरुति वहत्यवधुताचले ।
बलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १ ॥

समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोल्लङ्घने घने ।
अघनेषु घनिष्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥ २ ॥

भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३ ॥

दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्गणे ॥ ४ ॥

कुतोऽप्याकाशकुहरादृप्तदैत्यगणा इव ।
पुष्करावर्तका मेघाश्चक्रुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुड्यविस्फोटनोद्भटम् ।
अन्योऽन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥ ६ ॥

लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोल्बणम् ।
एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोग्ररवघर्घरम् ॥ ७ ॥

ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
स्वर्लोकरोदःपातालतलतोऽतिमगुल्मकम् ॥ ८ ॥

७६

वसिष्ठ जी ने कहा—अनन्तर जब पर्वतों को कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरङ्गों के द्वारा बलपूर्वक आकाश-मण्डल में आवर्त पैदा कर देने वाला कल्पान्त पवन बह रहा था, समुद्र अपने चिह्नों से रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जल की दरिद्रतारूप दुःख जब भाग चुके थे, घनी अघनी हो गये थे, भूतल अपने अंश से रहित हो चुका था और अग्नि से भुन गया था, कालप्रभाव से पाताल भी अनिर्वचनीय पाताल को अर्थात् विनाश को प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण-शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाश में मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोक से व्याप्त हो चुकी थीं; तब किसी एक आकाश के गर्त से क्रुद्ध दैत्यगणों के सदृश निकल कर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि करने लग गये ॥ १-५ ॥

यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूर से वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह अत्यन्त भयङ्कर थी, ब्रह्मा जी ने अपने अण्डे का जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्ड की भित्ति के विस्फोट से जैसी उन्नत दहलाने वाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रों की ध्वनि के सदृश वह बीभत्स थी ॥ ६ ॥

लोक, समुद्र एवं नगरों में प्रतिध्वनि के रूप से उत्पन्न घन कोलाहलों के कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्व में वर्णित कुलाचल पर्वतों के कन्धों पर सम्बद्ध दाह के उग्रशब्दों के साथ मिल जाने के कारण वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ।। ७ ॥

उस शब्द ने समस्त ब्रह्माण्डरूपी शङ्ख के उदर को भर दिया था, भरने पर ब्रह्माण्डभित्तियों के प्रतिरोध के कारण हुए अनेक आवर्तनों से वह बड़ा ही निविड़ बन गया था, इसीलिए मानो स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतल तक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गईं ॥८॥

समस्तदूरदिग्भित्तिहेलाहेलनघर्षुलम् ।
महाप्रलयसम्पन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९ ॥
प्रसृतप्रलयाखण्डेन्द्रमत्तैरावतबृंहितम् ।
आकल्पक्षुब्धमेघाब्धिनिर्ह्रादमिव संभृतम् ॥१०॥
महाप्रलयसंक्षुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
ब्रह्माण्डोग्रारघट्टेऽस्मिन्वार्यन्त्रमिव सारवम् ॥११॥
अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्नवकेऽत्यजम् ॥१२॥
यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
तरन्ति तरलास्फालमुल्मुकाशनिवृष्टयः ॥१३॥
तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥१४॥

दूर-दूर की सम्पूर्ण निशारूपी असीम भित्तियों को वह ध्वनिरूप शब्द लीला से लेखन द्वारा मानो खोद रहा था, महाप्रलय में मिश्रित होकर सात समुद्रों का काढ़ा बन गया था, काढ़ा हो जाने के कारण समुद्र एक तरह से पानक रस (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रों के मद्य को वह मानो पी जाने की ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥ ९ ॥

वह ध्वनि क्या थी, विजय पाने के लिए प्रस्थान किए हुए महाप्रलय नामक इनके मत्त ऐरावत हाथी की गर्जना-सी थी। वह शब्द क्या था, अल्पकाल तक रोके जाने से क्षुब्ध हुए मेघरूपी समुद्रों का दीर्घकाल से सञ्चित एक ही समय में निकला हुआ निर्दोष सा था ॥ १० ॥

महाप्रलय के कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागर के मंथन का वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्डरूपी जो महान् उग्र अरघट्ट यन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारा यन्त्र का एक तरह से वह शब्द था ॥ ११ ॥

वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुनने के बाद मैं आश्चर्य के मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्नि में भी मेघ की स्थिति कैसे हो सकती हैं। यह विचार कर नीचे की दिशा को छोड़कर शेष नव दिशाओं की ओर ताका ॥ १२ ॥

मैंने उन दिशाओं में मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रों की वृष्टियाँ हो रही हैं ॥ १३ ॥

उस अग्नि के ताप से दसों दिशाओं में भी अनेक करोड़ों योजन दूर तक के सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥ १४ ॥

अनन्तरं क्षणाद्व्योम्नि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥१५॥
एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिता ।
यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सद्दृशाम् ॥१६॥
अथ वारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः ।
यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥१७॥
तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोड्डीनाङ्गारविहङ्गमाः ।
लोलोल्मुकवनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥१८॥
सन्ध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः ।
भ्रेमुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥१९॥
सज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन् ।
हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥२०॥

अनन्तर मैंने क्षणभर में अतिदूर आकाश में ऊपर से शीतल वायु का और नीचे के अग्नि के सदृश गरम वायु का त्वचा से अनुभव किया ॥ १५ ॥

आकाशमार्ग में मेघ इतने दूर प्रदेश में स्थित थे कि उस प्रदेश में न तो नीचे के अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आँखों से देख सकते थे ॥ १६ ॥

अनन्तर पश्चिमदिशा से कल्प की वायु बहने लगी, उस वायु में विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत तृण के सदृश उड़े जा रहे थे ॥ १७ ॥

उस वायु के द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अङ्गाररूपी पक्षियों से युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशा की ओर तत्काल जाने लगे, चञ्चल लुआठे के समान ही उनमें जङ्गल प्रतीत हो रहे थे ॥ १८ ॥

आकाशमण्डल में सन्ध्याकाल के अभ्रों के सदृश आकार वाले अङ्गाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायु से शोधित अङ्गारों की धूलि उड़ रही थी ॥ १९ ॥

जैसे पंखवाले उड़ रहे हेमाद्रि आदि पर्वतों का समूह जाता है, वैसे ही वह ज्वाला युक्त एवं अनेक तरह के विलासों से पूर्ण कुपित पवन अग्नि दिशा की ओर जा रहा था ॥ २० ॥

धराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥२१॥
अर्णवेष्वनलार्णस्सु क्वथनोत्फालवारिषु ।
वनेष्वस्मृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥२२॥
ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
साङ्गनाबालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥२३॥
कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्माग्रावसरोवरे ।
ज्वालापल्लवशालिन्याः सबीजायाः सटोल्मुकैः ॥२४॥
अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
आपातालं निमग्नेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥२५॥
उष्ट्रसैन्यमिवाऽऽलक्ष्य गतिमन्निकटं नभः ।
आययावञ्जनश्यामः कल्पाम्बुदगणः क्वणन् ॥२६॥

जब अतिविस्तृत भूमण्डल और पर्वतमण्डल ज्वाला-रहित अङ्गारों का ढेर बन गया, तथा ज्वाला की पंक्तियों का समूह धूलिशून्य होने के कारण चमकते हुए बारह सूर्यों का स्पष्ट तेजरूप बन गया उसी समय कल्पान्त का मेघ भी आ धमका ॥ २१ ॥

जब समुद्र अग्निरूपी जल से लबालब तथा काढ़े के समान उछलते हुए जल से पूर्ण हो गए और सारे जंगल पत्तों के स्मरण से शून्य = पत्रशून्य एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षों के आधार बन गये तब कल्पान्त के मेघ आने लगे ॥ २२ ॥

जब भार्या, बालक एवं वृद्धों के साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोक के नगर जलकर आकाश में गिरने लगे तब कल्पान्त के मेघ आने लगे ॥ २३ ॥

भद्र ! कल्पान्त की अग्नि एक तरह से कमलिनी ही प्रतीत हो रही थीं, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवों की शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरों से शून्य ब्रह्माण्डरूपी सरोवर ही उसका उत्पत्ति-स्थान था, इस तरह की बीजयुक्त कमलिनी के केसर-सदृश विस्फुलिङ्गों से घटित उल्मुकों के द्वारा जब वायुरूप अर्थात् वायुप्रधान सांप एवं पर्वतरूप मूल पातालपर्यन्त अङ्गाररूपी कीचड़ में फँस गये, तब मशक में जल ढोने वाली ऊँटों की सेना के सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाश को देखकर कल्पान्त के मेघ, जो काजल के सदृश काले-काले थे, गरजते हुए निकट आ गये ॥ २४–२६ ॥

स्थिरकल्पानलज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥२७॥
भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वारदिक्तटः ।
ब्रह्माण्डकुडचनिबिडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥२८॥
कल्पान्तक्षुभिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृत्तिमान् ।
तडिज्जलचरः सारनिर्ह्रादः खमिवागतः ॥२९॥
मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥३०॥
हेमसम्भाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
जाडचस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥३१॥
अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
प्राग्द्रुतोद्रुतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥३२॥

भद्र ! वह मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्त की अग्नि की ज्वालाओं के सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतों से सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोने में ही सात समुद्रों का असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥ २७ ॥

समस्त दिशाओं के तट भासुर नीहारसमूहों से छिद्र-रहित भित्तियों के सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्ड की भित्तियों के घनमण्डलों को तोड़-फोड़ देने में अतिदक्ष मालूम हो रहे थे ॥ २८ ॥

उस मेघ को देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्त से क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाश में आ धमका है । क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्यों की परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और उसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥ २९ ॥

उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोक में जाकर पुनः पहले की अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाश-मण्डल में आया है ॥ ३० ॥

सुवर्ण के समूह के समान विद्युत्-समूहों का रूप धर लेने के कारण मानो वह उस हिमालय का स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालय ने अपनी जड़ता के कारण काष्ठ के सदृश समस्त जल को अचलरूप से स्तम्भित कर दिया है ॥ ३१ ॥

अनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाश-

अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषभीषणा ।
चटद्गडगडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥३३॥
प्रथिनोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।
शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥३४॥
रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसम्भारभासुरैः ।
धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥३५॥
धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥३६॥
सा बभूवाथ साङ्गारजगद्गेहविलासिनी ।
कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रिया ज्वलनया भुवः ॥३७॥

ज्वालालवोल्लनडम्बरमम्बरं त-
द्दृच्चढस्थलाब्जदलजालमिवालमासीत् ।
ज्वालाभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥३८॥

उद्यद्बृहच्चटचटारवपूरिताशो
भीमोऽभवत्सलिलदानलसन्निपातः ।
दुर्वारवैरिविषमो महतां बलानां
सङ्ग्राम उग्र इव हेतिहतोग्रहेतिः ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

मण्डल को ब्रह्माण्ड के विस्फोट के सदृश अतिकठोर वज्र-तुल्य निर्घात से छा दिया। इसने तो अखिल दिशाओं को पहले से ही पिघले हुए उद्भट तुषार से व्याप्त कर दिया था ॥ ३२ ॥

यह वृष्टि अग्निदाह के सदृश वन तथा आकाश-मण्डल में विद्युत् के प्रकाश से अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहट से सारे ब्रह्माण्ड को तोड़ रही थी ।। ३३ ।।

उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कार के सैकड़ों शब्दों से उसमें सिंहनाद के शब्दों को भी मात कर दिया था शीतल जलकण एवं नीहार से उसने आकाश को भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ।। ३४ ।।

भद्र ! पृथ्वी एवं आकाशरूपी मण्डप के लिए निर्मित वैदूर्यमणि के (लहसुनिया के) स्तम्भों के समूह के सदृश भासुर धारासम्पातों से वह पृथ्वी का भार ढोने वाले पर्वतों को भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥३५॥

पृथ्वी को चट-चट शब्द के साथ विदारित करने के कारण उसने अङ्गारों के समूह भी फोड़ दिये थे। गर्जना के साथ प्रबल जल के पातों से लोकान्तरों को गिराने के लिए भी वह व्याकुल हो रही थी ॥ ३६ ॥

अनन्तर अङ्गारों से युक्त जगत्-रूपी घर में विलास करती हुई वह वृष्टि वाष्पशोभा की सखी के सदृश ज्वलनरहित पृथ्वीपर आकर मिल गई ॥ ३७ ॥

भद्र ! वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओं के खण्डों के विलासों से भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलों के अनेक समूह उगे हुए हों तथा उस आकाशमण्डल में स्फुरित हो रहे, शीतल जल-कणरूप पंखों के समूहों से युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओं में घुम रही भ्रमरपंक्तियां हों ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामजी ! उस समय बड़े भयङ्कर चटचट शब्दों से दिशाओं को भर देनेवाला जो मेघों और अग्नियों का समागम हुआ, वह एक दूसरे से पराजित न हो सकने वाले वैरियों के समान महान् उग्र, कुशल सेनाओं के परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त अर्थात् परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त संग्राम के सदृश अति भयङ्कर लगता था ।। ३९ ।।

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय महारामायण के मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में पुष्करावर्तडम्बर निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता का छिहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ।

७७

वसिष्ठ उवाच

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
जाते परमसङ्क्षोभे बभूवास्मिन् जगत्त्रयम् ॥ १ ॥
तापिच्छविपिनोड्डीतिनिभभस्माभ्रभासुरम् ।
महार्णवमहावर्तवृत्तिधूमविवर्तनम् ॥ २ ॥
नीलज्वालालवोल्लासं हेलाटिमिटिमारटि ।
कृतभस्माभ्रसम्भारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ ३ ॥
उच्छलद्दीर्घत्कारैच्छमच्छमयात्मकैः ।
तूर्यमुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ॥ ४ ॥
भ्रमद्भस्माभ्रधूम्राभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभित्तिभाङ्कारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
प्रसरैरम्बरोड्डीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ ६ ॥
जलानलानिलोल्लासस्फुटत्कोटिगताश्मनाम् ।
प्रविघट्टनटङ्कारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ ७ ॥
नभःस्तम्भनिभाबन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः ।
कर्षणैः कल्पवल्लीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ ८ ॥
गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः ।
अभ्रैरिव नभोभीमैः पूर्यमाणाखिलार्णवम् ॥ ९ ॥
तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः ।
तपद्भिरर्कैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥१०॥

७७

वसिष्ठजी ने कहा—युगक्षयमें जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—इन चार महाभूतों का परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगत् की जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनें ॥ १ ॥

उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवन के समान उड़ रहे भस्मरूप अभ्र से भासुर हो गये तथा महासमुद्रों के भ्रमणशील महावर्तों के सदृश भ्रमणशील धूमों से व्याप्त हो गये ॥ २ ॥

गीले काष्ठ आदि के जलने से उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थीं, इन नील ज्वालाओं के विलासरूपी क्रीड़ाओं से उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रों के महान् ढेरों से लोकान्तरों के मध्य को भी भर दिया था ॥ ३ ॥

उस त्रिलोक में चारों ओर घनघोर वृष्टि का व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टि के कारण आर्द्र लकड़ियों से छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानो तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥४॥

समस्त त्रिलोक में पाँच तरह के मेघ छा गये अर्थात् वह सारा त्रिलोक भ्रमणशील भस्मरूपी मेघों से युक्त तथा धूमरूपी मेघों से व्याप्त हो गया। उसमें महाकल्प के मेघों का सौन्दर्य छा गया। वाष्परूपी मेघों के विभ्रम से वह समन्वित हो गया। उद्भ्रान्त सीकरों रूपी मेघों ने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डभित्ति की अन्तिम सीमातक हो रहे भाङ्कार शब्दों से अति भीषण वायु के गमनों से आकाश मण्डल में उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादि नगरों के समूह से वह व्याप्त हो गया था ॥ ६ ॥

उस समय वहाँ यह हालत हो रही थी कि जल, अग्नि एवं वायु का जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े-बड़े पत्थर ऊपर की ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टङ्कारध्वनि निकल रही थी, उससे सबका कान जड़ हो गया था ॥ ७ ॥

आकाश में खम्भों के सदृश जल की अन्धा-धुन्ध अविच्छिन्न-धाराओं के वर्षण के द्वारा जो कल्पान्त अग्नियों का विनाश हो रहा था, उससे वहाँ छम-छम शब्दों की सघन ध्वनि हो रही थी ॥ ८ ॥

भद्र ! उस समय त्रिलोक के सारे समुद्र नदियों के समूहों से जिनमें गङ्गा जी एक तरङ्ग-सी प्रतीत हो रही थीं तथा जो आकाश मण्डल के भयङ्कर मेघों के सदृश थे परिपूर्ण हो रहे थे ॥ ९ ॥

उस समय त्रिलोक में जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघों के आधार पीठ का तमाल वृक्ष के पत्तों के नीचे लगने वाले पुष्प गुच्छों के सदृश तप रहे सूर्य मानो आस्वाद ले रहे थे ॥ १० ॥

वहद्गिरिसरिद्वयूहशिखरिद्वीपपत्तनम् ।
कल्पानिलघनक्षोभकृत्तपर्वतकुट्टनम् ॥११॥

उस समय पर्वतों के ऊपर से जो नदियों के समूह वह रहे थे, उनसे बड़े-बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बहने लगे और कल्पान्त पवन के भयङ्कर क्षोभ से बड़े-बड़े पर्वत चूर्णित होने लगे ॥ ११ ॥

ग्रहतारागणैरुग्रैर्व्यग्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः ।
पतद्भिर्द्विगुणालातलतासावर्तपातिभिः ॥१२॥

ग्रह और तारों का समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरे प्रहार करने में तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकार में परिणत हो अन्त में गिर भी रहे थे, इसलिए आकाश मण्डल में भी इन्होंने पृथ्वी की अपेक्षा द्विगुण आलातलता को पैदा कर दिया था ॥ १२ ॥

आवहोत्थजलाद्रीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् ।
महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥१३॥

सारे त्रैलोक्य में उस समय चारों ओर बहने वाले प्रचण्ड पवन के कारण उत्पन्न हुए जल के पर्वताकार बड़े-बड़े तरङ्गों के आघातों से पर्वत टूट-फूट जा रहे थे और पर्वत प्रान्तों को कूट-कूटकर पवन प्रलय में ले जा रहा था ॥ १३ ॥

घनसीकृतबाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः ।
अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिबिडमन्थरम् ॥१४॥

घने जल कणों से मुक्त वाष्प के मेघों से तथा कल्पकालीन नील वर्ण के मेघों से सारे त्रिलोक में सूर्यों के किरण समूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥ १४ ॥

विशीर्णवसुधापीठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः ।
उह्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः सङ्कटार्णवम् ॥१५॥

पर्वतों का आधार पीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड हो चुका था, इसलिए पर्वत तट गल रहे थे, इधर उनको प्रलय का पवन उड़ा रहा था इस स्थिति से लुढ़क रहे पर्वतों के गिरने से त्रिलोक में सारे समुद्र महान् सङ्कट में फँसे-से मालूम हो रहे थे ॥ १५ ॥

ऊर्म्युच्चदुपलच्छिन्नघनैर्घस्मरमारुतैः ।
समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्भग्नदिक्तटम् ॥१६॥

उठ रही तरङ्गों से ऊपर आकाश की ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रलय-पवनों ने उनकी सारी दिशाओं के तटों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डकुड्यक्रोडाग्रकुट्टकैः कटुटांकृतैः ।
कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्घट्टितैकार्णवारटि ॥१७॥

ब्राह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थल में चोट पहुँचाने वाले, कठोर टंकार सहित प्रलयकालीन मेघ के समान वृक्षरूपी हाथों के आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागर में छाती पीट-पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लगा था ॥ १७ ॥

स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः ।
यथास्वाभावं तिष्ठद्भिर्मरुबुध्नैर्वृताम्बरम् ॥१८॥

जल के अभाव से मरुस्थल के समान हो गये अधोभाग वाले अन्तरिक्ष में स्थिति हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोक के सम्मिलित अनेक भण्डों से जो तीनों लोक आकाश को ढँकने लग गया ॥ १८ ॥

मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः ।
अन्योन्यदर्शनाद्वातवेल्लितैर्भ्रामितायुधम् ॥१९॥

तीनों लोक में प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले अङ्गों वाले देव और दानव, सबके ऊपर एक-सी विपत्ति आने पर भी परस्पर वैरदृष्टि रखने के कारण एक दूसरे को देखकर मारने के लिए हथियार घुमाने लगे ॥ १९ ॥

कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरत्तृणैः ।
आरब्धार्जुनवाताख्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥२०॥

कल्पान्त पवनों के द्वारा उड़ाये गये लोकान्तर के जीर्णतृणों ने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वात को सफेद बनाकर उस त्रिलोक में अर्जुनवातनामक रोग का एक स्तम्भ खड़ा कर दिया अर्थात् उसे आलम्बन युक्त कर दिया अर्थात् 'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेष का नाम है। जिसे यह रोग होता है उस रोगी को यह रोग आकाश में ले जाकर खूब नचाता है। परन्तु उस रोग में अर्जुन की वर्णता नहीं रहती है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे ॥ २० ॥

उह्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः ।
पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकटुटांकृतम् ॥२१॥
वातोद्व्यूहगिरिव्रातगुहाभाङ्कारभासुरम् ।
पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीपुरैः ॥२२॥
कृतकर्कशनिर्ह्रादैरसुरैरिव मारुतैः ।
उह्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥२३॥
पुरमण्डलदैत्याग्निसुरनागविवस्वताम् ।
निकुरम्बं दधद्व्योम्नि मशकानामिवोच्चयम् ॥२४॥
नश्यन्नगवराभोगैर्भग्नैर्भग्नसुरालयैः ।
आवर्तघर्घरारावैर्जलमूर्ध्वमधोऽनलम् ॥२५॥
कुर्वज्जलाद्रिनिष्पेषैर्दिक्पालपुरकुट्टनम् ।
निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥२६॥

कल्पान्त पवन से उड़ाये जा रहे शिला-समूहों से जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरों के तट-प्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्काल जनित कठोर शब्दों से वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण जगत् कल्पान्त के प्रचण्ड पवनों के संघटनों से उत्पन्न पर्वतों की गुफाओं के भाङ्कार शब्दों से भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकार में परिणत लोकपाल-नगरों एवं अन्य नगरों से पूर्ण हो गया ॥ २२ ॥

असुरों के समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओं के द्वारा उड़ाये जा रहे वनसमूह में संमृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदि से सारा जगत् आवृत हो गया ॥ २३ ॥

उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डल में नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्य के समूहों को मच्छरों के समान धारण कर रहा था ॥ २४ ॥

उस समय तीनों जगत् का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था—बड़े-बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो गये थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे—इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे-पुलटे हो गये अर्थात् दोनों या कठौत के समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दों के साथ ऊपर की ओर तो जल भर गया और नीचे की ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥ २५ ॥

उस समय जल के पर्वताकार तरङ्गों के आघातों से दिक्पालों के नगर कूटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वों के नगर छिन्न-भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥ २६ ॥

कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् ।
वातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥२७॥
पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमद्भित्तीनि शातयत् ।
रत्नैः खणखणायन्ति पयांसीव पयस्वताम् ॥२८॥
पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
चक्रावृत्त्या भ्रमद्रूपैरमरैः सागरैरिव ॥२९॥
डीनोड्डीनैः परिवृतं विचलद्वातवेल्लितैः ।
दग्धादग्धैः पदार्थैः खे शीर्णपर्णगणैरिव ॥३०॥
हेमस्फटिकवैदूर्यमुसारमणिमन्दिरैः ।
दिवः पतद्भिराकीर्णमुद्यज्झणझणस्वनैः ॥३१॥
उत्पेतुर्धूमभस्माब्दाः पेतुर्वारां पुरोत्कराः ।
उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुर्भूतलाद्रयः ॥३२॥
आवर्तघर्घरारावा मिथो विदलनोद्यताः ।
जुघूर्णुरर्णवाकीर्णपर्णवत्प्रौढपर्वताः ॥३३॥

प्रशान्त अङ्गारों के सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े-बड़े पदार्थों का वायुओं के द्वारा धूलियों के समान निःसारतापूर्वक कुट्टन हो रहा था ॥ २७ ॥

जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्यों के नगरों को, जो मेघों के जल के सदृश रत्नों से खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न-भिन्न होने लग गया ॥ २८ ॥

सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगों से युक्त सातों लोकों के घरों से तथा सागरों के सदृश चक्रों के आकार में घूम रहे देवताओं से व्याप्त हो गया ॥ २९ ॥

आकाशमण्डल में जीर्णशीर्ण पत्तों के समूहों के सदृश चञ्चल वायुओं के द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड़ रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थों से तीनों लोक व्याप्त थे ऐसे पदार्थों की उस समय जगत् में भरमार दिखाई दे रही थी ॥ ३० ॥

आकाश से झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदि के मन्दिरों से तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥ ३१ ॥

उस समय धूम और भस्म के मेघ उठने लगे, वृष्टि के जल से पुरों के समूह आ गिरने लगे, बड़ी-बड़ी तरंगें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥ ३२ ॥

आवर्त के सदृश घर्घर ध्वनि करने वाले और परस्पर विदलन करने में उद्यत प्रौढ पर्वत, समुद्र में बिखरे पत्तों के सदृश, घूर्णित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

क्रन्दच्छिष्टामरगणं चलत्सज्जीवभृतकम् ।
भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥३४॥
मृतार्धमृतया भूतसन्तत्याऽनिललोलया ।
अभृन्नीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥३५॥
जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
वहद्वहद्गिरिपुरव्रातपूर्णसरिच्छतम् ॥३६॥
शाम्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
चलाब्धिविवलनान्दोललोलशैललसत्तटम् ॥३७॥
तृणराशिसरिन्न्यायसिन्धुद्वीपार्णवोत्कटम् ।
अत्यन्तदूरचिद्व्योमक्षणज्वालासहावनम् ॥३८॥
वर्षशाम्यद्धुताशोत्थभस्मामोदपतत्सुरम् ।
भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मितसर्गकम् ॥३९॥

शिष्ट और देवगण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े जीवन से युक्त दया के पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैंकड़ों धूमकेतुओं के उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥ ३४ ॥

पवनों द्वारा उड़ाए गये मृत और अर्धमृत जीव-समूहों से, जो ठीक जीर्ण पत्तों के समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥ ३५ ॥

उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वतशिखरों के सदृश मोटी-मोटी गिर रही जलधाराओं के निर्भरों से आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरों के समूहों को भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैंकड़ों नदियों के समान बहने लग गया ॥ ३६ ॥

उस समय जगत् में अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त अग्नि शमशम शब्दपूर्वक शान्त हो रही थी और चञ्चल समुद्रों के विविध विचलन-आन्दोलनों से लोल हुए पर्वतों के कारण जगत् के तट सुशोभित हो रहे थे ॥ ३७ ॥

उस काल में समस्त जगत् नदियों में मिली हुई तृण-राशि के सदृश समुद्र में मिले हुए बड़े-बड़े द्वीपों के कारण बड़ा ही विकट लग रहा था। [तत्त्व-ज्ञान से प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्नि से एक क्षण में नष्ट हो जाने वाले जगत् का प्रलयकाल में जो देर से दाह हुआ, इसमें आश्चर्य क्यों है ?] तत्त्वज्ञान की दुर्लभता के कारण अत्यन्त दूर चिदाकाश में सारे जगत् की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहने में समर्थ नहीं थी ॥ ३८ ॥

उस समय त्रिलोकी में वृष्टि शान्त हो जाने के कारण अग्नि से उत्पन्न भस्म की गन्ध से देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥ ३९ ॥

निरर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥४०॥
अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥४१॥
उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
रजोभिर्विवृतैर्हेमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥४२॥
भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः स द्वीपसागरैः ।
पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥४३॥
आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥४४॥
एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥४५॥

उस समय निरर्गल नाद का उल्लास हो रहा था, त्रिलोक में सृष्टि का लोप हो जाने से क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तव में सृष्टि के लोप से परमात्मा का ही विलास होने लगा। यदि तत्त्वदृष्टि से देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाश से शून्य ही है ॥ ४० ॥

अथवा यह जगत निरन्तर परिवर्तनकारी वायु से निर्वृत है एवं निरन्तर बीजराशि के सदृश बार-बार पूरा हो जानेवाला है ॥ ४१ ॥

अधिक क्या कहें, सारे जगत् में लुआठों के एक दूसरे के साल हुए आघातों से अग्निचूर्ण और सुवर्णजनित फैली हुई अपार धूलियों से आकाश का कोटर सुवर्ण-कुट्टिम-सा बन गया ॥ ४२ ॥

उस समय सातवें पाताल तक जगत् अपने स्थान से च्युत द्वीप एवं सागरों से युक्त भूमण्डल के बड़े-बड़े खण्डों से एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डल से पूर्ण हो गया था ॥ ४३ ॥

नीचे सातवें पाताल तक, मध्य में भूमण्डल एवं पर्वत तक और ऊपर आकाश-मण्डल तक प्रलयवायुओं के द्वारा सारा जगत् पूर्णरूप से एक समुद्राकार हो गया था ॥ ४४ ॥

अनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैंकड़ों नदियों के द्वारा जलकल्लोलों से भुवन में ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्ख के चित्त में कोप ॥ ४५ ॥

मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
ततस्तालद्रुमाकारधारयाऽऽसारसारया ॥४३॥
ततो नदीप्रवाहोग्रजलपातैकपातया ।
सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेधया ॥४७॥
वह्निर्विदाहकृद्‌वृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
शास्त्रसज्जनसङ्गत्या गाढमापत्पदं यथा ॥४८॥

ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्धम् ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्ध पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्त्तवृष्टिविसंष्ठुलजगद्वर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

अनन्तर पहले तो मुसल के आकार में, फिर खम्भे के आकार में और फिर ताल वृक्ष के आकार में उत्तरोत्तर अतिस्थूल घनघोर वृष्टि की धाराएँ गिरने लगीं ॥ ४६ ॥

अनन्तर नदी प्रवाह के उग्र जलपात के सदृश जलपात करने वाली तथा सातों द्वीपों से युक्त भूपीठ के सदृश महास्थूल धाराओं से वृष्टि होने लगी ॥ ४७ ॥

उक्त महावृष्टि से दाह करने वाली अग्नि वैसे ही शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनों की सङ्गति से करोड़ों दुःखों से निबिड़ आपदाओं का स्थान शान्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

जिसमें ऊपर और नीचे के भ्रमण शील अनेक पदार्थ थे, भीतर जल-कणों के कारण शैल रूपी मज्जा खनखन-ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त ब्रह्माण्ड रूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकों की तोड़-फोड़ कारक क्रीड़ाओं से चञ्चल हुआ विशुद्ध बिल्व-फल विनष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में पुष्करावर्त्तवृष्टि विसंष्ठुलजगद्वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का सतहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

७८

वसिष्ठ उवाच

वातवर्षहिमोत्पातपातभग्ने धरातले ।
जडवेगोऽगमद्‌वृद्धिं कलाविव महीपतिः ॥ १ ॥
गङ्गाप्रवाहपतितधारापातविवर्धितः ।
सरित्सहस्रैः सहसा मेरुमन्दरभासुरैः ॥ २ ॥
आदित्यपथसम्प्राप्तकन्दरो जडमन्थरः ।
एकार्णवः समुच्छून आसीन्मूर्ख इवेश्वरः ॥ ३ ॥
विपुलावर्तवृत्त्याऽऽत्तविवृत्ताद्रिजरत्तृणः ।
स्फुरत्तुङ्गतरङ्गाग्रनिगीर्णादित्यमण्डलः ॥ ४ ॥

७८

वसिष्ठ जी ने कहा—जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरह के उत्पातों के आगमन से नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्र का जलवेग कलि में राजा की वृद्धि के समान वृद्धि को प्राप्त किया ॥ १ ॥

वह समुद्र आकाश गङ्गा के प्रवाहों में पतित मेघ-धाराओं के गिरने से खूब बढ़ा या उस तरह की मेघ-धाराओं से जनित हजारों नदी धाराओं से खूब बढ़ा। अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वत के सदृश भासुर तरङ्गों से बहाये जा रहे पर्वत कन्दराओं को उसने आदित्य के मार्ग में पहुँचा दिया। थोड़े में यही कहना है कि मूर्ख राजा के सदृश जल से मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ॥ २, ३ ॥

इस बढ़े हुए समुद्र ने अपने आवर्त स्वभाव के कारण बड़े-बड़े पर्वतों को जीर्ण तृण के समान पकड़कर चक्कर

मेरुमन्दरकैलासविन्ध्यसह्यजलेचरः ।
गलितावनिपङ्कान्तर्लीनव्यालमृणालकः ॥ ५ ॥
अर्धदग्धद्रुमवनव्यूहशैवलसङ्कटः ।
त्रैलोक्यभस्मसंसृष्ट आसीत् कर्दमकुत्सितः ॥ ६ ॥
नभःस्तम्बबृहद्घनोत्तालभास्करपुष्करः ।
धाराजालमहाम्भोदविलीननलिनीदलः ॥ ७ ॥
डिण्डीरपर्वतप्रान्तनदद्धुन्मत्तवारिदः ।
भ्रमदिन्द्रानिलार्केन्दुपुरपत्तनपूरणैः ॥ ८ ॥
काष्ठवत्प्रोह्यमाणोग्रसुरासुरजनोत्करः ।
शनैः क्रमोच्छूनतया लिहन्नादित्यमण्डलम् ॥ ९ ॥
तरत्तारतराराबधाराधरसमुद्भवौ ।
बुद्बुदैः परिसंदिग्धप्रोह्यमाणमहाचलः ॥१०॥

में डाल दिया तथा चञ्चल उत्तुङ्ग तरङ्गों के अग्र भागों से वह आदित्य मण्डल को भी निगल गया ॥ ४ ॥

उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जल-चर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गई थी, उसके कीचड़ में भीतर लीन शेषादि सर्प कमल दण्ड से मालूम हो रहे थे ॥ ५ ॥

उस समुद्र में अर्धदग्ध वृक्षों से युक्त वन समूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोक के भस्म से उत्पन्न कीचड़ से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ॥ ६ ॥

आकाश रूपी कमलनाल की जो बड़ी कणिकाएं थीं उनमें बीजभूत किरणों के द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल-से प्रतीत हो रहे थे और धारा समूह रूपी महामेघ ही उसमें जल के ऊपर संलग्न होने के कारण विलीन प्राय कमलिनी के पत्ते थे ॥ ७ ॥

उसमें उत्पन्न झरनों के बड़े-बड़े पर्वतों के प्रान्त भाग में उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरों के समूहों से वह भर भर गया था ॥ ८ ॥

उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्यों के समूह काठ के समुद्र धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्य मण्डल को एक तरह से चाटने लग गया ॥ ९ ॥

उस समय समुद्र में जो महागर्जना कर रहे मेघों से बुल्ले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥ १० ॥

भ्रमद्बुद्बुदविश्रान्तभ्रान्तकल्पान्तवारिदः ।
उत्तालैस्तैरनाधारैः पश्यन्नपरवारिदम् ॥११॥
महाप्रवाहवार्योघघोषघुङ्घुमिताम्बरः ।
एकप्रवाहसहितसव्योमकुलपर्वतः ॥१२॥
चण्डवातकृतापूर्वजलौघकुलपर्वतैः ।
महाघुरघुरारावघर्घरोग्रमहारयः ॥१३॥
ब्रह्माण्डखण्डसंघट्टपरावृत्तिभिरुद्धतः ।
कुर्वन्योजनलक्षाणि विततान्युन्नतानि च ॥१४॥
तृणैरिव तरङ्गेषु दोलान्दोलनमद्रिभिः ।
कुर्वन्द्रिरुपलाघातभग्नभास्करमण्डलः ॥१५॥

उस समुद्र में इधर-उधर नाच रहे बुल्लों पर कल्पान्त के महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरह से आँखों की पुतली-से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियों से इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियों से समुद्र समीप के दूसरे मेघ को मानो देख रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥ ११ ॥

भारी प्रवाह से युक्त जल के ओघ से जो भयङ्कर घोष हो रहा था, उससे आकाश को भी वह सावधान कर रहा था। अपने एक ही प्रवाह में उसने आकाश सहित सातों कुल पर्वतों को अपने उदर में कर लिया ॥ १२ ॥

प्रचण्ड पवन के द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे, उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुल पर्वतों की मानो रचना कर दी थी, इन रचित कुल पर्वतों से उदित हुए घुरघुर महाध्वनि से घर्घर उग्रमहाध्वनि पूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्ड खण्डों के परस्पर संघट्टनों का जो पुनः-पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण-क्षण में बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर-नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थों को अपने उदर में वह निगलता जा रहा था ॥ १४ ॥

जैसे तरङ्गों पर तृण झूलते हैं, उसकी तरङ्गों पर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतों के द्वारा पत्थरों को फेंककर वह सूर्य-मण्डल को भी नष्ट कर रहा था ॥ १५ ॥

शून्यब्रह्माण्डविपुलजलघातकुलायके ।
नीलानचलकाकोलान् जहन्सलिलजालकैः ॥१६॥
मृतामृतमहद्भूतमज्जनोन्मज्जनाकुलान् ।
तरङ्गमकरावर्तप्रतिबिम्बान्वितानिव ॥१७॥
मृतशिष्टान् पुरभ्रष्टान्फेनाद्रितटिकोटिषु ।
दधज्जलबलश्रान्तांस्त्रिदशान् मशकानिव ॥१८॥
विपुलाद्यतनाकाशविपुलानम्बुबुद्बुदान् ।
सहस्रसंख्यान् कलयन् लोचनानीव वासवः ॥१९॥
शरद्व्योमसमाभोगैर्वलद्भिर्बुद्बुदेक्षणैः ।
पश्यन्निव नदीधारान्मेघानाताम्रपूरकान् ॥२०॥
पुष्करावर्तकाभ्राणां बहुभिर्वीचिमण्डलैः ।
कुर्वन्नालिङ्गनानीव सपक्षाद्रिवदुत्थितैः ॥२१॥

उस शून्य ब्रह्माण्ड रूप घोंसले के भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जल समूह से ही बना था, विद्यमान नील-पर्वत रूप महान् द्रोणकाक-पक्षियों का (डोम कौओं का) वह समुद्र अपने जलरूपी जालों से आहरण कर रहा-सा मालूम पड़ता था ॥ १६ ॥

मृतक एवं जीवित प्राणियों के, मज्जन और उन्मज्जनों से व्याकुल तथा तरङ्ग और मकराकार आवर्तों में प्रतिबिम्बित हुए-जैसे नील-पर्वतरूपी डोम कौओं का जलरूपी जालों से मानो वह हरण कर रहा था ॥ १७ ॥

मरने से बचे हुए अपने-अपने नगरों से च्युत हो गये थे, मानो जल के बल पर विश्राम किये हुए देवताओं को—मच्छरों के सदृश—फेनरूपी पर्वतों की तटी और कोटियों पर (शिखरों पर) धारण कर रहा था ॥ १८ ॥

उस समुद्र में जो बुल्ले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियों की दृष्टि से चाँदी के कड़ाहे के सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि इस प्रसिद्ध आकाश के सदृश थे, और ये ठीक समुद्र के नेत्रों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रों से वह इस प्रकार देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥ १९ ॥

शरत् काल के आकाश के सदृश विशाल उठ रहे बुद्बुदों रूपी नेत्रों से वह नदियों के समान धारा वाले चारों ओर लालिमा से व्याप्त मेघों को मानो देख रहा था ॥ २० ॥

यह प्रलय काल का समुद्र पक्ष सहित पर्वतों के तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरङ्ग-मण्डलों से पुष्करावर्तक आदि मेघों का मानो आलिङ्गन कर रहा था ॥ २१ ॥

त्रिजगद्ग्राससंतृप्तः प्रगायन्निव घर्घरैः ।
स्वैर्नृत्यन्निव चोग्राद्रिकटकैर्वीचिदोर्द्रुमैः ॥२२॥
नदीधाराधरैरूर्ध्वं मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्कगैर्वृतः ॥२३॥
धारात्रिपथगापूरैर्निपतद्भिर्निरन्तरम् ।
मग्नोन्मग्नोह्यमानाद्रिशृङ्गडिण्डीरबुद्बुदः ॥२४॥
उह्यमानदलत्स्वर्गखण्डकन्धनभभ्रमरः ।
वहद्विद्याधरीवृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥२५॥
एकार्णवपयःपूरैर्घर्घरारावरंहसि ।
त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोह्यमाणे महाम्भसि ॥२६॥
नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽवीचिवशोऽपि च ।
शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥२७॥

तीनों लोक के ग्रास से संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घर शब्दों से एक तरह का गीत गा रहा था और उग्र पर्वत रूपी कंकणों से अलंकृत तरङ्गरूपी भुजाओं से वह मानो नाच कर रहा था ॥ २२ ॥

धरा से शून्य वह सागर ऊपर नदी के सदृश धाराओं वाले मेघों से, मध्य में दग्ध पर्वतों से तथा नीचे पङ्क में रहने वाले नागों से आवृत था ॥ २३ ॥

निरन्तर गिर रही धाराओं से सुशोभित गङ्गा जी की बाढ़ से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वत शिरों के डूबने और उतराने से पानी के झाग और बुल्ले उठ रहे थे ॥ २४ ॥

उसमें बहते हुए छिन्न-भिन्न स्वर्ग के अनेक खण्डों में देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियों की पङ्क्तिरूपी पद्मिनी से बहुत ही सुन्दर दीख रहा था ॥ २५ ॥

एकमात्र समुद्रों के जलों की उस बाढ़ से घर्घर-शब्द-युक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्य के खण्डों के संहारक, बेरोक-टोक बहाये जा रहे उस महासागर में उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरङ्गों की चपेट में न आ गया हो, यह दुःख की बात है। हे श्रीराम जी ! इस संसार में काल के गाल में पड़े हुए प्राणी की कौन रक्षा कर सकता है ? ॥ २६, २७ ॥

नाकाशमासीन्न दिगन्त
　आसीदधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
　दासीत्परं केवलमेव वारि ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने एकार्णववर्णनं नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और सर्ग न था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में एकार्णव वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

७९

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कः प्रभामिव ॥ १ ॥
यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २ ॥
समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३ ॥
सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथाऽन्येऽपि सुरर्षयः ।
देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४ ॥
लिपिकर्मार्पिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५ ॥
अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।
बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाऽऽशु यथैव ते ॥ ६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमब्जजम् ।
पुरो विनिद्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८॥

७९

महाराज वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीराम चन्द्र जी ! तपोलोक पर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागर के जल में डूब गया तब सत्यलोक के निकट आकाश में स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातः-काल में सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥ १ ॥

इतने में मैंने प्राणादि-उपासनाओं के द्वारा सालो-क्यादि मुक्ति को प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजी के साथ विदेह कैवल्य को प्राप्त करने की इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवार के सहित ब्रह्माजी को शैल से विनिर्मित हुए-सा देखा अर्थात्—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' ॥ २ ॥

वहाँ मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियों के समूह को देखा। हे श्रीरामचन्द्रजी ! उस समूह के भीतर मैंने शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्नि को देखा तथा इनके अतिरिक्त वहाँ मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियों को देखा। इतना ही नहीं और सुनिए—वहाँ देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्यों के नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा। हे श्रीरामचन्द्र जी ! पद्माशन लगाकर बैठे हुए, चित्र-लिखित-जैसे, ध्यान में परायण वे सबके सब निर्जीव के समान वहाँ स्थित थे ॥ ३–५ ॥

अनन्तर उसी स्थान पर वे प्रलय के बाहर सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे सब भी तुरत उन्हीं की तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥ ६ ॥

इसके बाद मुहूर्तमात्र में मैंने सामने ब्रह्माजी को ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्न में देखे गये पदार्थों को अपने सम्मुख उपस्थित देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जाग्रदवस्था में स्वाप्निक पदार्थों का जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है, वैसे ही मैंने ब्रह्मा जी को आत्ममात्रपरिशेष ही देखा वही विधाता का विदेहकैवल्य है ॥ ७ ॥

ब्रह्माजी के परिवार के जितने लोग थे, उन सबको

अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा।
कठिनाकाण्डविध्वस्तं पृथिव्यामिव पत्तनम्॥ ९॥
सर्व एव न च क्वापि ते तथा तादृशास्तदा।
ऋषयो मुनयो देवा सिद्धा विद्याधरादयः॥१०॥
ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि तिष्ठता।
यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्वं एव ते॥११॥
वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः।
स्वप्नलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः॥१२॥
आकाशात्मैव देहोऽयं भाति वासनया स्फुटः।
तदभावात्तु नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा॥१३॥
अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते।
बोधे तद्वासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते॥१४॥

भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियों को ज्ञान से बाधित पूर्ववासना की तरह बिलकुल वैसे ही नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्नकाल में देखे गये नगर को अपने सामने उपस्थित नहीं देखता है॥ ८॥

ब्रह्माजी के चरम साक्षात्कार के समय सबके विदेह-कैवल्य को प्राप्त हो जाने से उस ब्रह्मदेव का वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके सङ्कल्प से सिद्ध था, वह किसी भयंकर आकस्मिक नाशक हेतु से विध्वस्त हुआ पृथिवी में नगर की तरह शून्य अरण्य के समान हो गया॥ ९॥

ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध, तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँ से कहीं भी अन्यत्र नहीं गये॥ १०॥

इसके बाद आकाश में स्थित मैंने ध्यान से जाना कि वे सभी लोगों ने तो ब्रह्माजी के समान ही नामरूप का परित्याग कर निर्वाण को प्राप्त कर लिया है॥ ११॥

वासना के विलीन हो जाने पर वे अदर्शन को प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप में ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध जागे हुए प्राणियों के स्वप्नकाल के लोक॥ १२॥

चिदाकाशरूप यह शरीर वासना के कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है। वासना के अभाव में तो यह वैसा नहीं भासमान था जैसा कि बोधवान् जागे हुए जीव को स्वप्न नहीं भासमान होता है॥ १३॥

वासना रहने पर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होने पर जब प्राणी की वासना वैसे ही शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता जैसे स्वप्न में आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रत्काल में नहीं दीखता वैसे ही॥ १४॥

जाग्रत्यपि तथैवायं वासनायाः परिक्षये।
नैवातिवाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राऽऽधिभौतिकः॥१५॥
स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते।
आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम्॥१६॥
अपह्नुते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः।
स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुप्तबुद्धोधयेत्किल॥१७॥
देहकारणकः स्वप्नो देहाभावान्न दृश्यते।
इति चेत्तददेहानां परलोकोऽपि नास्ति च॥१८॥

जाग्रत्काल में भी, वासना का सर्वथा नाश हो जाने से न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासमान होता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है; अर्थात् वासना न रहने से वे दोनों नहीं भासमान होते है अर्थात् स्वप्न से उठने पर जाग्रत्काल में एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थों का बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होने पर तो आधि-भौतिक आदि तीनों शरीर का बाध होता है॥ १५॥

इस विषय में स्वप्न का अनुभव ही दृष्टान्तरूप से लक्षित है। यह वृद्ध से लेकर बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध है तथा पुराणादि में प्रतिपादित है॥ १६॥

जो शठ स्वयं अपने को तथा दूसरों के अनुभव को भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरों के अनुभव से सिद्ध स्वप्न के बाध का अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुष को अर्थात् सचमुच न सोये हुए पुरुष को भला कौन उठा सकता है?॥ १७॥

इस शरीर का कारण पिता आदि का शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीर का कारण तो पिता आदि का शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता है, यदि कोई यह शङ्का करे, तो उसकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मत से इस पार्थिव शरीर से रहित प्राणियों का, जो यज्ञादि के द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करने वाले हैं, पर-लोक भी नहीं है। इसी दशा में हमें उसको नास्तिक कहने में तनिक भी संकोच न होगा॥ १८॥

इत्येतदभविष्यच्चेत्तच्छरीरकसंक्षये ।
नाभविष्यदयं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥१९॥
अवयवविभागात्मन्यवश्यं भाविनि क्षये ।
न कदाचिदनित्थं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥२०॥
न कदाचिज्जगन्नाशो देहोद्भूतगुणादिकम् ।
मदशक्तिरिव ज्ञप्तिरुदेतीति च वक्षि चेत् ॥२१॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस रीति से यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्वसृष्टि के प्रलय के अन्त में सत् शरीरों का सर्वथा क्षय होने पर इस सृष्टि के आदिकाल में शरीरहेतुक शरीर न रहने से यह सृष्टि भी नहीं होती। और यह सृष्टि सबकी आँखों के सामने सर्वदा विद्यमान ही हैं इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहने का साहस नहीं कर सकता अर्थात् पिता आदि का शरीर जिस देह का कारण है उस देह को भी सर्वथा असद्रूप मानने पर तो सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ को भी असद्रूप होने में कोई अड़चन न होगी और उस दशा में उनकी सर्गादि-अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी ॥१९॥

पृथिवी आदि पञ्चभूतों के सावयव होने से विभागों का अवसान हो जाने पर संयोग का विनाश ध्रुव है। अतः अवयवविभागस्वरूप इस जगत् का जब विनाश अवश्यम्भावी हैं तब इस दशा में 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाह से विपरीत नहीं है—यह जैमिनीय मत असंगत है ॥ २० ॥

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकार के देहाकार से तथा घट, पट आदि आकार से सम्मिलित होकर 'जगत्' नाम से कहे जाते हैं। पृथिवी आदि भूतस्वरूप होने के कारण उस जगत् का कभी नाश नहीं होता। जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणों वाला इन चारों धर्मों का समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं और वह शरीर भी उन हाथ, पैर आदि अनेक अवयवों की नाना प्रकार की रचनाओं के कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जाति का हो जाता है। यद्यपि इन चारों भूतों के मध्य में किसी भी एक भूत में ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्यों से मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमक के साथ एकत्र मिला दिए जाने पर उन एकत्र मिले हुए द्रव्यों में जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकार में परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतों में ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है। इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणों से सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है। भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो, तो इसका उत्तर सुन लो ॥ २१ ॥

तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
स्मृत्यादीनां सवेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२ ॥
अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
अन्यत्रापि प्रमाणत्वं वन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३॥
न चैतदिष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
अन्यच्चास्तामेतदङ्ग ममेदमपरं शृणु ॥२४॥

तब तो सम्पूर्ण वस्तुओं का संक्षय उनको बतलानेवाले अठारह पुराण, महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्मा के हित और सहित तथा धर्म और अधर्म के प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि सब व्यर्थ हो जायँगे ॥ २२ ॥

यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकों के मत में उन वेदादि शास्त्रों का वैयर्थ्य और अप्रामाण्य इष्ट ही है। वे सबके सब अप्रमाण हो जायँ, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इसपर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक ! निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रों का इस अर्थ में अप्रामाण्य हो जाने पर 'इस वन्ध्या स्त्री ने सौ लड़के पैदा किए' इस वाक्य के समान भोगलाम्पटयलोभद्वेषादि हजारों दोषों से दुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥ २३ ॥

तुम्हारे कथन को लोक में विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजन के सृष्टि आदि का सम्भव न होने से तुम्हारे मत के अनुसार तो जगत् का उच्छेदप्रसंग अनिवार्य होगा। किञ्च, देहात्मवाद में क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्ष में तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनों में सर्वदा ऐकमत्य न होने से वैमत्य के कारण देह का सभी अवयव उन्मथन करने लग जायँगे। अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्ष में यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयव के कट जाने पर अवयवी का नाश हो जाने से 'जीवन' का ही अभाव हो जायगा—इत्यादि और भी

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या।
प्रमृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिध्यति ॥२५॥
अथ सापि मुधाभ्रान्तिर्यावद्देहं प्रदृश्यते।
इति चेत्तन्मुधा नाम सत्यमित्येव वो भवेत् ॥२६॥

हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे। हे चार्वाक ! इस मेरे कथन से कायाकार में परिणत भूतसंघात में मदशक्ति की तरह ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मत में मेरा यह एक दूसरा दोष सुनो ॥ २४ ॥

यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्त्यात्मक द्रव्य में मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूत-संघात में, जो कि ज्ञान स्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है, तब तो गुणी देह का नाश हो जाने पर गुण का भी अवश्य नाश हो जाने से दूसरे देशों में मरे हुए जीव देह के नष्ट हो जाने पर अपने देश में पिशाचादिका शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरों के शरीर में प्रविष्ट होकर अपने पूर्व जन्म के आत्मीयों को पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं ? अर्थात्—प्रदेशान्तरों में मरे हुए व्यक्तियों की पिशाचादि-देहता जो लोक में प्रसिद्ध है वह सिद्ध न होगी ॥ २५ ॥

वह पिशाचादि की कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचों को हमने अपनी आँखों के सामने उपस्थित हुए आज तक नहीं देखा और हमारे मत में प्रत्यक्ष के सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं। प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाण की संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्वादि का सहचार ग्रह होने पर भी वज्रमणि आदि में व्यभिचार देखा गया है। उत्पातादि अन्य समय में गाय के पेट से गदहे की उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादि की प्रतिमाओं से बिना अग्नि के भी धूम उठते देखा गया है। तथा सर्वत्र लिङ्गों में देशान्तर और कालान्तर में व्यभिचार शङ्का का निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आपके अनुमान प्रमाण का तो बिलकुल योग नहीं है। सादृश्य के विषय में यत्किञ्चित् या पूर्ण—यों विकल्प होने से उपमान प्रमाण की भी सिद्धि नहीं होती। जिसके मूल में अन्य प्रमाण नहीं है, ऐसे शब्दों से लोक में अर्थसिद्धि दृष्टिगोचर न होने से तथा समूल शब्दों के अनुवादक होने से शब्द

एवं चेत्तत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम्।
इत्येषाऽपि न संवित्किं सत्यतामुपगच्छति ॥२७॥

प्रमाण का योग नहीं बैठता है। इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते। किंच, पिशाचग्रस्त पुरुष का पिशाच वाग्व्यवहार भी जबतक देह विद्यमान रहता है तभी तक दीखता है उसके मरण के बाद नहीं। इसलिए उस देह को ही सान्निपातिक भ्रान्ति की तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ' यह व्यर्थ की भ्रान्ति है। यदि यह सब तुम कहो, तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारी ही बातों से इन सबका खण्डन हो जाता है। इसमें प्रबल कारण यह है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाकों का वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त है। चूंकि अनुमान प्रमाण को तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्ति से तुम अपने मत का तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान रूप होने से वे युक्तियां भी प्रमाण नहीं हो सकतीं। दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्य के उपमानगम्य होने से वह तुम्हारे मत [illegible]नांग के बाहर है। स्वपक्ष में अनुकूल और परपक्ष में प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्क के अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिघटित होने के कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते। आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धि के अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनको तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को प्रमाण रूप से स्वीकार करना अनिवार्य होगा। अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं यह तुम चार्वाकों को मानना ही पड़ेगा ॥ २६ ॥

इस तरह यदि तुम शब्द आदि का प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुति को तुम्हें प्रमाण मानने में कोई आपत्ति न होगी। जब श्रुति प्रमाण है तब 'परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है'—इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित् भी क्यों न सत्यता को अर्थात् प्रामाण्य को प्राप्त होगी ? कहने का तात्पर्य यह है कि यदि अन्य के बोध के लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे ? क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः

न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि।
प्रतिभाऽस्य न सत्या स्यात् परलोकात्मिका कथम् ।२८।
पिशाचोऽस्तीति चेत्संवित् सत्यार्था तेन संविदः ।
मृतस्याऽस्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ।२९।
काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
परलोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति सकारणा ।।३०।।

प्रामाण्य है, इसमें तो किसी को भी विवाद नहीं है, हां, यह बात दूसरी है कि कारण दोष तथा बाधक ज्ञान से उसका कहीं पर अपवाद हो जाता है। लेकिन यहाँ पर तो न कोई कारण में दोष है और न 'स्वर्ग, नरक आदि नहीं है' ऐसा बाधक प्रमाण ज्ञान ही है ॥ २७ ॥

अन्य शरीर में स्थित पिशाच की अर्थात् सबके अनुभव से सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीर में, पिशाचविषयिणी प्रमा ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्य होने से ही लोक में सत्यरूप से प्रसिद्ध है। वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुष की प्रतिभा भी, जो मद-शक्ति-समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है, कदापि सत्य प्रमाणित न होगी। अमत्त पुरुषों के अनुभवसिद्ध अर्थों का खण्डन करने वाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुष की प्रतीति से सिद्ध मदशक्ति का दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन नहीं कर सकता। ऐसी दशा में तुम्हारी दृष्टान्ता-सिद्धि के कारण ज्ञान में भूतगुणत्व की सिद्धि न हो सकने से परलोकात्मक स्थिति का अर्थात् स्वर्गनरकादि स्थिति का तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ॥ २८ ॥

सर्वजनप्रसिद्ध ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य होने से पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणी का भी परलोक है यानी कोई-न-कोई दूसरा लोक अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी—अर्थात् जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्ति के बल से हम मृत प्राणी के परलोक का अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं। हमें युक्ति ढूंढ़ने के लिए कहीं और जगह जाने की आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

पिशाचग्रस्त की पैशाची ज्ञप्ति श्रुति के समान किसी दृढ़तर प्रमाण से जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है—अचानक उदित हुई है। ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होने से प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणों के सहित विद्यमान परलोकार्थ-संवित्ति भला प्रमा क्यों नहीं है ॥ ३० ॥

याऽन्तर्वेत्ति यथा संवित् सा तथाऽनुभवत्यलम् ।
अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ।।३१।।
मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिंस्तेन किं सदसच्च किम् ।।३२।।
तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रस्फुरन्वेत्ति संविदम् ।
वासनाकारणं पश्चाद्बुद्ध्वा संपश्यति भ्रमम् ।।३३।।

जो संविति जिस पदार्थ की सत्ता को अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थ की सत्ता को वह अपने भीतर वैसी ही भली-भांति अनुभव करती है। शुक्ति-रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ता का अवगाहन करती है, परन्तु पूर्वकाल की संवित् का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकाल की संवित् से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकाल की बाधसंवित् सीप में चांदी की त्रैकालिक असत्ता बतलाती है। ऐसी स्थिति में प्रथम संवित् के बल से रजत में प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित् के बल से असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभव से दोनों ही सिद्ध हैं अर्थात् अनुभव का सहारा लिए बिना अर्थ के रूप का अपलाप करना कोई बच्चों का खेल नहीं है ? ॥ ३१ ॥

जीवित दशा में देह के उपस्थित रहने पर श्रुति आदि प्रमाण के बल से अथवा मृत दशा में देह के उपस्थित न रहने पर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभास के बल से 'परलोक है'—इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही तो फिर उस मृत्यु से क्या ? जीवित प्राणी के अनुभव से सिद्ध सत् है और मृत के अनुभव से सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकार से है, इसका अपलाप ही क्यों होगा दोनों में किसी का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया ॥ ३२ ॥

इसलिए वेदादि का प्रमाण सिद्ध होने से ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होने से स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहार से पहले निजस्वरूपभूत संवित् को, जो स्वतः नित्यसिद्ध है जानता है, जैसे अग्नि अपनी औष्ण्य-प्रकाशरूपता को जानती है। उसके बाद वासनाओं की उत्पत्ति में उपादानकारण सर्वजगत् की वासनामय आतिवाहिक देह को जानकर फिर स्थूल देहादि संसार के भ्रम को देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवित् की सिद्धि देह के अधीन नहीं है अर्थात्

तत्क्षयाच्छममायाति द्रष्टृदृश्यदृगामयः ।
तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥३४॥

उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
तच्छान्ति विद्धि निर्वाणं सत्यत्तां संसृतिभ्रमम् ॥३५॥

उत्पन्नैव च सानादौ परब्रह्मण्यसम्भवात् ।
उत्पन्ना समयाद्याऽसौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥३६॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकार में परिणत हुए भूतों से संवित् का उद्भव होता है, इसलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर मृत प्राणी को पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इस पर उससे यह कहना चाहिए कि मित्र, संवित् शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रत्युत उसकी सिद्धि के बल से ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपञ्च की पीछे सिद्धि होती है। वासना के सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपञ्च की सिद्धि में हेतु नहीं है, इसलिए संवित् की उत्पत्ति देह के अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महराज वसिष्ठजी उस चार्वाक के प्रति वचन का उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोक से पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासना के क्षय से ही सम्पूर्ण दृश्य का उच्छेद होता है इस उठाई गई बात का समर्थन करने के लिए प्रस्ताव करते हैं ॥ ३३ ॥

वासना के क्षय से द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है तथा वासना की सत्ता रहने पर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को संसार रचने की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकाल की जगद्वासनाओं का जगत्-रूप से उद्भव होता है। इसलिए वासना की शान्ति को आप निर्वाण समझिये और उसकी सत्ता को संसाररूप भ्रम जानिए ॥ ३५ ॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्म से तो वह उत्पन्न नहीं हुई है, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरयनन्तरमवाह्यम्' इत्यादि श्रुतियों से कारण होने का निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियां भी इसी का समर्थन करती हैं। पूर्वकालीय जगत् से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकाल में स्वयं नष्ट हो जाता है; उसमें दूसरे को पैदा करने की शक्ति ही कहाँ रह सकती है। यदि यह कहिये कि प्रलय में जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाय विकार से सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरह की स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इस पर मैं आपसे यह पूछता हूँ कि वैसी जगत् की स्थिति क्या प्रलय में अपनी सत्ता से रहती है या ब्रह्म की सत्ता से ? यदि आप यह कहे कि अपनी सत्ता से रहती है, तो आपके इस पक्ष में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से विरोध पड़ता है। अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरे की सत्ता से स्थित रहता है यह भी कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा। इसलिए दोनों पक्षों में सृष्टि और प्रलय में कोई विशेषापत्ति न होने से अभासमान की सत्ता की प्रसिद्धि के अभाव में जगत् नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोष से ग्रस्त ही है। ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं। सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्ग में वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असङ्ग अद्वय परब्रह्म में अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं। फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोध के उपाय रूप से जब तक बोध नहीं हो जाता, तब तक के लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्त से अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लें, क्योंकि बिना कारण के जगत् की उत्पत्ति नहीं होती है, यह शास्त्रसिद्ध है। हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है ॥ ३६ ॥

एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
यदत्रैवापरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥३७॥

इतना जो यह परिज्ञान है उसी को तत्त्वज्ञानी लोग निर्वाण कहते हैं। इसलिए हे राघव ! इस ब्रह्म के विषय में जो प्राणी का अपरिज्ञान है उसी को आप बन्ध समझे अर्थात् बिना असङ्ग अद्वय ब्रह्म का श्रुतियों से परिज्ञान किये बिना वासना की अनुत्पत्ति बताना उचित नहीं है। ब्रह्म का परिज्ञान हो जाने पर तो सम्पूर्ण संशयों के बीजभूत अज्ञान का उच्छेद हो जाने से निर्वाण

विज्ञानघन एवायं कचनाकचनात्मकः ।
स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येव वा स्वयम् ॥३८॥
संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवरूपिणि ।
बन्धदृङ्मोक्षदृक् चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥३९॥
संविदुद्बोधने बन्धस्तदनुद्बोधने शिवम् ।
असत्सद्वज्जगद्भाति संविदुद्बोधनोदरम् ॥४०॥
अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
प्रबुद्धबन्ध इत्याहुर्यदिच्छसि तदाहर ॥४१॥
निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
बोधैकतानमपयन्त्रणमस्तशङ्कम् ।
अद्वैतमैक्यरहितं च निरस्तशून्य-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥७९॥

ही सम्पन्न है। इसलिए वासना की उत्पत्ति आदि में अनुपपत्ति की शङ्का करना ठीक नहीं है ॥ ३७ ॥

विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है। ज्ञात होने पर यह स्वयं ही स्वप्रकाशरूप से अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होने पर अर्थात् श्रुति आदि प्रमाणलाभ के पहले यह स्फुरित नहीं होता है ॥ ३८ ॥

'मैं बद्ध हूँ' इस भावना से बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ' इस भावना से मोक्षदर्शन जब आत्मा को अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंश के परिवर्तनमात्र से प्राप्त होता है तब भला उसके साधन में क्लेश ही कितना है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! संवित् को अर्थात् चित्त की वृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मा में लीन कर देने पर निर्वाण प्राप्त होता है। संवित् के उद्बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत् के समान भासता है। इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति को बहिर्मुख कर देने पर यह असत् संसार सत् के समान भासित होता है अर्थात् इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्ति के द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं ॥ ४० ॥

सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदन को तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं। इसलिए इन दोनों में आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन ले ॥ ४१ ॥

बन्ध-मोक्ष आदि की सारी शङ्काएँ छोड़कर आप निर्वाणरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्य से रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोश के सदृश विशद अन्तःकरण से युक्त, शान्त एवं बन्धन से बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहें ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में वासनाभावप्रतिपादन वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का उन्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

८०

वसिष्ठ उवाच

इति ते सर्व आयता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणदशा इव ॥ १ ॥
अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।
जगद्वद्ब्रह्मलोकं तमदहन् भास्वरार्चिषः ॥ २ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—इस तरह आए हुए वे सभी ब्रह्मलोक निवासी बत्ती से रहित दीप के समान अदृश्य हो गये। अर्थात् विधाता की वासना से कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपञ्चों का जो प्रारब्धक्षय के अनन्तर क्षणभर में ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलय का, जो स्वप्नबाध के सदृश है, उसका मुक्त पुरुषों की दृष्टि से 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रमम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्ग में वर्णन हो चुका। अब बद्ध पुरुषों की दृष्टि से, विधाता की देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकों का अपने-अपने कारण में लयद्वारा माया शबल ब्रह्म में लयरूपी प्रलय का उपवर्णन करने के लिए उपक्रम किया है ॥ १ ॥

अनन्तर जब विधाता की देह मायाशबल ब्रह्मरूपता

वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरिञ्चिवत् ।
तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःस्नेहदशदीपवत् ॥ ३ ॥
ततः एकार्णवापूरो विरिञ्चिनगरान्तरम् ।
रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४ ॥
आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा ।
तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५ ॥
तत्तदूर्मिगिरिव्रातखगैरावलिताः खिलाः ।
विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिल्यिरे ॥ ६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
यावदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७ ॥

को प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्यों ने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओं से युक्त थे, पृथिवी आदि की तरह उस ब्रह्मलोक को भी भस्मीभूत बना डाला ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी ! विधाता के नगर को जलाकर तथा विधाता के समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाण को वैसे ही प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्ती से रहित दीप अर्थात् प्रारब्धवश अधिकार का अन्त हो जाने पर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपञ्च का नाश हो जाने से पूर्वोक्त के समान ही विदेहकैवल्य को प्राप्त हो गये ॥ ३ ॥

अनन्तर सुन्दर विशाल तरङ्गों से युक्त एक महासागर की बाढ़ ने विधाता के नगरान्तर को इस प्रकार से परिपूर्ण कर दिया, जैसे रात में सारी पृथिवी को अन्धकार परिपूर्ण कर लेता है ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्- केवल एकमात्र रस से परिपूर्ण पके हुए अङ्गूर के फल के सदृश, जल से परिपूर्ण होगा ॥ ५ ॥

उन-उन अनेक तरह के तरङ्गों से तैरते हुए पर्वत-समूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिए जाने के कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तों के पुष्करावर्त आदि मेघ सब जल में ही विलीन हो गये ॥ ६ ॥

इसी बीच में वहाँ मैंने कोई एक भयंकररूप देखा, जो आकाश से अर्थात् ठीक आकाश के मध्य से अभ्युदित हुआ था। मैं वह रूप देखते ही मारे भय के काँप गया ॥ ७ ॥

कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८ ॥
तरुणादित्यलक्षाणां तेज आभास्वरं दधत् ।
आदित्यत्रयसङ्काशैः स्थिरविद्युच्चयोल्बणैः ॥ ९ ॥
नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥१०॥
आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव विततकृतिम् ।
खमिवासि घनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥११॥
स्थितमेकार्णवापूर्णाद् ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
व्योमैव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥१२॥
घोणानिलपरावृत्तिविधूतैकमहार्णवम् ।
गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥१३॥
कल्पार्णवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।
मूर्तियुक्तमहङ्कारमस्तकारणमागतम् ॥१४॥
कुलाचलबृहद्वृन्दमिवोड्डयनडम्बरैः ।
पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥१५॥
ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥१६॥

कल्पान्त जगत् के आकार के समान, आकाश को भर देने वाला काला वह रूप देखने में ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कल्पतक का प्रत्येक रात का एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥ ८ ॥

लाखों तरुण आदित्यों के प्रकाशमय तेज को वह धारण कर रहा था। देदीप्यमान बिजली के समूह-जैसे तीन सूर्यों के सदृश नेत्रों से युक्त उसका मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था। वह ज्वालाओं के पुञ्ज को खूब उगल रहा था। उसके पांच मुख थे, दस भुजाएं थीं और उसके नेत्र तीन थे। वह अपने हाथ में शूल लिए हुए था, अन्तशून्य आकाश में वह मानो आ रहा था, उसका आकाश की तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघ की तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था। एकमात्र महासागर के परिपूर्ण ब्रह्माण्ड के बाहर आकाश में वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदि के रचनाविशेषों से लक्षित अब आकाश-जैसा था। अपनी नाक की श्वासवायु के गमनगमन से वह उस एक महासागर को कम्पित कर रहा था। वह अपने भुजदण्डों से क्षीरसागर को क्षुभित

श्रीराम उवाच

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
किं पञ्चवदनः कस्माद्दशबाहुः स तिष्ठति ॥१७॥
किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किं प्रयोजनः ।
केनेरितः किमकरोच्छायाऽऽसीद्वद का मुने ॥१८॥

वसिष्ठ उवाच

काकुत्स्थरुद्रनामासावहङ्कारतयोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ॥१९॥
व्योमाकृतिः स भगवान् व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्व्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥२०॥
सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुषक्तानि [1]पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यलम् ॥२१॥
तानि तस्य मुखान्याहुस्तत्पद्मपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥२२॥
सर्वभूतनरैः सार्द्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदाऽसौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥२३॥

कर देनेवाले गोविन्द भगवान् के सदृश था । उसे देखने से ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रों की बाढ़ ही मानो पुरुषाकार से स्वयं उपस्थित हो गयी हो, तथा सबका कारण होने से स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहङ्कार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो । प्रतीत हो रहा था कि मानो उड़ने में अत्यन्त कुशल अपने पक्षसमूहों से समस्त कुलपर्वतों के महावृन्द ने ही स्वयं अपने स्थान से उड़कर सारे आकाश को पूर्ण कर दिया है । वैसा रूप देखने के अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रों से 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा जानकर मैंने दूर से ही उस भगवान् परमेश्वर को नमस्कार किया ॥ ९–१६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! सभी श्रुतियों में प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरह का—भयानक स्वरूपवाला क्यों है ? अर्थात् काले रङ्ग का वह क्यों है, उसकी महा भयानक विशाल आकृति क्यों है, उसके पाँच मुख कौन हैं, उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं, वह रहता कहाँ है, उसकी तीन आँखें कौन हैं, वह उग्र क्यों है, उसका स्वरूप क्या है, सृष्टि आदि में उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहार में प्रवृत्ति क्यों है, यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है ? उसने क्या किया, उस परमेश्वर के रुद्ररूप होनेपर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी, यह सब कहिये ॥१७–१८॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे काकुत्स्थ ! वह परमेश्वर ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदि के विषयरूप सङ्कल्प, अध्यवसाय आदि के बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहङ्कारता से सम्पूर्ण जगत् के अभ्यास के मूलस्तम्भभूत तथा समस्त प्राणियों को रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियों के रोगों को दूर भगाने में निलित्तभूत होने के कारण रुद्रनाम से आविर्भूत है । वही प्राणियों को रुलाने में विषमाभिमानरूप तथा प्राणियों के रोगों को दूर करने में एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥ १९ ॥

वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाशमात्र सार होने के कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है । सम्पूर्ण प्राणियों की जो आत्मा है तद्रूप होने से तथा सर्वव्यापी होने से वह महान् आकारवाला है ॥ २० ॥

उस अहंकार की सम्पूर्ण जीवों के प्रत्येक शरीर में बिलकुल अनुषक्त जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उन्हीं को तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान् के पांच मुख कहते हैं । एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओर से प्रकाशस्वभाव हैं ॥ २१ ॥

वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियां हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पांच कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय हैं, वे ही पाँचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं—इस क्रम से उसकी दस भुजाएँ हैं ॥ २२ ॥

अर्थात् तब इस तरह की मूर्ति से वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशंका है, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्यों के आकारों के अध्यारोप से व्यामूढ़दृष्टि होने के कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभाव का दुर्ग्रह होने से ही वह उस तरह की मूर्ति से युक्त नहीं दीख पड़ता है ।

जैसे अपने में अध्यारोपित कार्यरूप पट तन्तु का परित्याग कर देता है; वैसे ही चार प्रकार के शरीरों तथा तत्-तत् जीवों के साथ प्रलयकाल में परमकारण

१. खाली इत्यपि पाठः ।

स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साऽऽकृतिः ।
तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥२४॥
चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति ।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥२५॥
सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन् काले खमूर्तिमान् ।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेष्यति ॥२६॥
ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहङ्कारबुद्धयः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥२७॥
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसन्निवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥२८॥

मायाशबल ब्रह्म को प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजी ने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाशमात्रपरिवेशरूप वर्णित अपनी मूर्ति में आ गया । अर्थात् कारणरूप अपनी मूर्ति में स्फुट हो गया । कहने का तात्पर्य यह है कि कारणस्वभाव के दुर्ग्रह से ही वह इस तरह की मूर्ति से पहले न दीख पड़ा ॥ २३ ॥

वह रुद्र समस्त कार्यविशेषों के प्रलय के बाद अवशिष्ट कारण के एक अंशमात्र के आकारवाला है । उसकी देहाकृति का जो मैंने वर्णन किया है यथार्थ में वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है । उपासक लोग अपनी वासना से एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान् देखते हैं ॥ २४ ॥

चिदाकाशगत विशाल भूताकाश में तथा समस्त भूतों की देह में वायु के समान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है ॥ २५ ॥

उस प्रलयकाल में एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतों से परित्यक्त हो चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परम शान्ति को प्राप्त होकर लेता है ॥ २६ ॥

सत्त्व, रजः और तमः ये तीन गुणों के आकार; भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि; अ, उ, और म् ये तीनों प्रणव के अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान् के तीनों नेत्र रूप से संस्थित हैं । अपने मुष्टिच्छिद्र में उसने त्रिशूल रूपी तीनों लोक धारण कर रक्खे हैं 'किमुग्रात्मा' यहाँ किम् शब्द का उग्र और आत्मा दोनों में अन्वय होने से 'किमुग्रः, किमात्मा' ये जो दो प्रश्न पूछे गये हैं उनमें प्रथम प्रश्न का यह उत्तर है अर्थात् किस त्रिशूल के धारण से वह उग्र है, इस गूढार्थक प्रश्न का, जो श्रीरामचन्द्र जी को अभिप्रेत है, यह उत्तर है ॥ २७, २८ ॥

यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यन्न विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥२९॥
सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥३०॥

चूंकि समस्त भूत समूहों में उस परमेश्वर से भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणों की जो देह है उसी रूप से वह स्थित है । अर्थात् समस्त भूतों में अहङ्कारात्मक रुद्र के अभिध्यान से ही वह देहात्मत्वाभिमानी है ॥ २९ ॥

स्वविरचित सम्पूर्ण जीवों को अपने-अपने कर्मों के अनुसार विषयभोग रूप उपलम्भ तथा क्रमशः ज्ञानसाधन प्राप्ति के अन्त में स्वात्मतत्त्व की उपलब्धि रूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मों के ज्ञान एवं फल देने का स्वभाव है वही सृष्टि आदि में प्रयोजक होने से उसका प्रयोजन है; अर्थात् समस्त जीवों को उनके तत्-तत् कर्मों के अनुसार विषय फल प्रदान करने का तथा अधिकारी पुरुषों को ज्ञान प्रदान करने का जो स्वभाव है वही उस परमेश्वर का सृष्टि आदि में प्रयोजन है । भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं । चिन्मात्राकाश रूप शिवस्वरूप परमात्मा अर्थात् वाणी और मन के अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपने से ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस सङ्कल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एक से बहुत होने की इच्छा से प्रेरित होकर जगत् की रचना करता है और उसी अपने चित्स्वरूप से प्रलय के लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्ग क्रम के विपरीत क्रम से जगत् को निगल कर अर्थात् स्वविरचित जगत् का संहार कर आकाश रूप से स्थित हो जाता है । अनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमय रूप से निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाश भाव का भी परित्याग कर भूमानन्द स्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, गौडपादाचार्य ने कहा है—'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ॥ ३० ॥

तेनैव च निगीर्णः सन् परमां शान्तिमेत्यसौ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥३१॥
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसन्निवृत्तये ॥३२॥
अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात्।
प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाक्रष्टुं महार्णवम् ॥३३॥
अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम्।
प्राणाकृष्टो महाम्भोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥३४॥
स एव वाडवो भूत्वा वह्निराकल्पमर्णवे।
अहङ्कारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥३५॥
पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात्।
पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥३६॥
समुपेत्यापिबद्रुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः।

निर्मल चिदाकाशरूप यही परमेश्वर महाकाल रुद्र का रूप धारण कर प्रलय लाकर सारे जगत् को एक महासागर के रूप में परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागर के रूप में परिणत हो जाता है तब उस महासागर का जल पीकर पुनः शरीर न धारण करने के लिए परशान्ति को प्राप्त करता है ॥ ३१, ३२ ॥

वैसा भयङ्कर रूप देखने के बाद मैंने देखा कि वहां यह परमेश्वर उद्यम करके अर्थात् उद्यत होकर श्वास वायु के वेग से उस महासागर को पी जाने में प्रवृत्त हो गये ॥ ३३ ॥

अनन्तर श्वास वायु से आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुख में, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओं से व्याप्त था, वैसे ही प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानल में जल ॥ ३४ ॥

वही अहङ्कार रूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्र में बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलय काल आ जाता है तब वह समुद्र के उस सारे जल को पी जाता है ॥ ३५ ॥

जैसे जल पाताल में, सांप बिल में और पञ्च पवन प्राणियों के मुखाकाश में प्रविष्ट होता है वैसे ही एक ही क्षण में बड़े वेग से आकर वह भगवान् रुद्र के मुख में प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान् ने भी उस सारे जल को केवल एक मुहूर्त में ही इस प्रकार पी लिया,

कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्सम्पर्क इवागुणम् ॥३७॥
आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत्।
रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥३८॥
केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः।
इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु तान् रघुनन्दन ॥३९॥
एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः।
निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥४०॥
द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः।
भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधःपातालसप्तकात् ॥४१॥
पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम्।
व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥४२॥
तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः।
दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद् दुर्लक्ष्यगगनासितः ॥४३॥

जैसे सूर्य भगवान् अन्धकार को तथा सज्जनों का सम्पर्क दोष समूह को पी लेता है ॥ ३६, ३७ ॥

इसके बाद ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक सब स्थान वैसे ही शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम, वायु और मेघ इन भूतों से रहित सब तरह के वैषम्य से निर्मुक्त आकाश हो जाता है ॥ ३८ ॥

उस समय वहां आकाश के समान निर्मल तथा स्पन्द शून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे। हे रघुनन्दन ! उन्हें आप सुने [मैं कहता हूँ] ॥ ३९ ॥

उनके मध्य में एक तो काले रङ्ग के आकाश के सदृश आकृति वाले निराधार भगवान् रुद्रदेव, स्पन्दन शून्य सौरभ बिम्ब की तरह, आकाश में स्थित थे ॥ ४० ॥

दूसरा सप्त पाताल के बहुत दूर पृथिवी और आकाश तल के सदृश ब्रह्माण्ड-सदन का अधोभाग स्थित था ॥४१॥

शैलेन्द्रों तथा देवताओं के साथ पाताल, भूतल तथा स्वर्ग के बिलकुल भस्म हो जाने के कारण अर्थात् तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहने वाले सभी पदार्थों के भस्मरूप बन जाने के कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पङ्करूप में परिणत हुए पार्थिव भाग से व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्ड-सदन का अधोभाग ऊर्ध्वभाग की अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्ध स्वरूप था ॥ ४२ ॥

उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्ड खण्ड का ऊर्ध्वभाग स्थित था। बहुत दूर होने के कारण वहाँ तक आँखों की ज्योतियों की पहुँच न हो सकने से वह दुर्लक्ष्य काले वर्ण के आकाश के सदृश था ॥ ४३ ॥

दूरविश्लिष्टयोर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्मनिर्मलमाततम् ॥४४॥
चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
चतुष्टयादत्र नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥४५॥

श्रीराम उवाच

बहिः किं विद्यते ब्रह्मन् ब्रह्मसद्मकटाहतः ।
कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ॥४६॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
सन्ध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥४७॥
ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥४८॥

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्ड के उन दोनों खण्डों के बीच में जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि-अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था। हे श्रीरामचन्द्रजी ! वही उनमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया। मेरी आँखों के सामने उपस्थित इन चार पदार्थों के बीच में इन चारों से अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४४, ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे राजन् ! आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखर्परों के बाहर क्या है, उनके कौन-कौन आवरण हैं, वे कितने हैं तथा बिना आधार के वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं ? कृपा कर यह कहिये ॥ ४६ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—उन ब्रह्माण्ड खण्डों के पार में उनसे दश गुण अधिक विस्तृत जल है और वह जल इन दोनों खण्डों के अति विस्तृत सन्ध्याकाश को छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृत रूप से स्थित है ॥ ४७ ॥

उसके बाद जल के दशगुण ज्वालात्मक तेज अवस्थित है। उसके अनन्तर जल के समान ही उस जल को पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥४८॥

उसके बाद उस पवन के समान ही दशगुण विमल आकाश स्थित है। अनन्तर परमपवित्र, अतिसूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥ ४९ ॥

उस मायाशबल ब्रह्म के स्वप्रकाश में योगि-माहेश्वर-पाञ्चरात्र तथा कापिल आदि तन्त्रों में महत्, अहङ्कार आदि तत्त्वभेद के आवरण के विषय में भिन्न-भिन्न

ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
ततः परमसत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥४९॥
अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥५०॥

श्रीराम उवाच

ऊर्ध्वे ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
तज्जलादि महाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥५१॥

वसिष्ठ उवाच

सपार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥५२॥

कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूप से स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गई उनकी स्वरूपकल्पना की सृष्टियाँ पुराणों में मिलती हैं, श्रुतियों में नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि योगी, महेश्वर, पाञ्चरात्र तथा कपिल आदि के मत के अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाश में महत्तत्त्व आदि दृष्टि की कल्पनाएँ भी एक-एक से दशगुण अधिक हैं। लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होने से हमने उनकी उपेक्षा कर दी है अर्थात् आकाश से परे उससे दशगुण अधिक अहङ्कार-तत्त्व, उससे दशगुण अधिक महतत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृति का वर्णन जो पुराण आदि में मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शङ्का के लिए कहते हैं ॥ ५० ॥

हे मुनीश्वर ! ब्रह्माण्डखण्ड के ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दशगुण अधिक विस्तारवाला होने के कारण महान् आकार वाले जलादि को कहाँ कौन कैसे धारण करता है ? ॥ ५१ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—पार्थिव पदार्थों का जो भाग ब्रह्माण्डखर्पर है वह कमलपत्र के समान स्थित है। उसी भाग को वे आधाराधिभाव से इस प्रकार आश्रयण करते हैं, जैसे वानरी के शिशु अपनी माँ को। अर्थात् जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ को पेट में अच्छी तरह पकड़ के दौड़ने पर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है। अथवा उस ब्रह्माण्डखर्पर की ओर उसकी आकर्षणशक्ति से आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वानरी के बच्चे अपनी माँ की ओर दौड़ते हैं ॥ ५२ ॥

अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥५३॥
अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
न स्थितिं प्रतिमुञ्चन्ति स्वां यथाऽवयवा इव ॥५४॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
किमाकृति धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥५५॥

वसिष्ठ उवाच

अधृतं धृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥५६॥
किमस्य नाम पतति किं वा केनास्य धार्यते ।
यथा संवित्तिकचनं तथैतदवतिष्ठते ॥५७॥

ब्रह्माण्ड नामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे तृषित प्राणी जल की ओर दौड़ते हैं ॥ ५३ ॥

उसी का आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ वैसे ही अवस्थित हैं, जैसे शरीर में संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थिति को नहीं छोड़ते ॥ ५४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! आप कृपा कर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं, उनका आकार क्या है, किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है, अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ? ॥ ५५ ॥

यह जो आधारादिकी चिन्ता हो रही है, वह सत्यतादृष्टि में ही है। मिथ्यादृष्टि में तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदि का कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्त से वसिष्ठ जी उत्तर देते हैं—

वसिष्ठजी ने कहा—यद्यपि इसको किसी ने धारण नहीं किया है; फिर भी परमात्मा की अचिन्त्य धारणात्मिका शक्ति से यह अच्छी तरह धृत ही है। यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है। हे श्रीरामचन्द्र जी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य निराकार होने पर भी स्वप्ननगर के समान साकार है ॥ ५६ ॥

इस मायिक जगत् का क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसको कोई धारण करेगा। यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित्ति का स्फुरण है अर्थात् चितिशक्ति के स्फुरण के अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥ ५७ ॥

यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि तथा च व्योम्नि शून्यता ।
यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्गगने तथा ॥५८॥

चितौ सङ्कल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्गृहम् ।
खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥५९॥

पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ॥६०॥

स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
उत्पतन्त्या चितोद्भूतमुत्पतच्चैव तिष्ठति ॥६१॥

एति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
जायते जन्मसंवित्या व्योम्नि सर्गादिवेदनैः ॥६२॥

जैसे आकाश में केशोण्ड्रक (केशगुच्छ) श्यामता है तथा जैसे आकाश में शून्यता है एवं पवन में जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाश में यह जगत् है ॥ ५८ ॥

चिति में ब्रह्माण्डनामक सङ्कल्प नगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्‌रूपी घर हैं। चिदाकाश में निराकार चिदाकाश ही प्रतिनियताकार के समान अर्थात् नियत आकार वाले के सदृश स्थित है ॥ ५९ ॥

पतन के अभ्यास से युक्त संवित् से उत्पन्न यह जगत् रात-दिन गिरने में तत्पर है। तथा गमन-अभ्यास से युक्त संवित् से यह रात-दिन गमन में ही तत्पर है ॥६०॥

स्थिति के अभ्यास से युक्त संवित् से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा ऊर्ध्वगमनमयी चिति से उद्भूत यह संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है ॥ ६१ ॥

महाकल्पादि के सङ्कल्पों द्वारा नाशसंवित् से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि-सङ्कल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित् से चिदाकाश में वह उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

आभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
दृष्टावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः।
भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ॥६३॥

इत्यार्षे श्रीवाशिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

जैसे शरत्कालीन आकाश की ओर देख रहे पुरुष की दृष्टि में बेर के आकार के सदृश असत्य मोतियों का समूह सत्य के समान भासमान होता है, वैसे ही असत्य रूप में ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप के समान भासमान रहा है। चिदाकाश में जितने जगत्-भ्रान्ति से स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करने में भला कौन समर्थ है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय महारामायण के मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण के उत्तरार्ध में पाषाणोपाख्यान में भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादन निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता का अस्सीवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

८१

वसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततातकृतिम् ॥१॥
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम्।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥२॥
अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम्।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥३॥
बडवाग्निदृशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम्।
एकार्णवार्णो द्रागदेहबन्धेनेव समुत्थितम् ॥४॥
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥५॥
सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥६॥
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥७॥

८१

वसिष्ठजी ने कहा—हे राघव ! इसके बाद मैंने उस महाकाश में मत्त उस रुद्र भगवान् को नृत्य करने में प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूर तक फैला हुआ था, आकाश के सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त कर ली थी, अपनी व्यापकता का उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका यह आकार था, मेघ के सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओर से खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चञ्चल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्र के स्थान में थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजल से युक्त थे, इसीलिए वे देखने में नील प्रभाज्वालाओं के बन्धनस्तम्भ की तरह मालूम पड़ रहे थे, वड़वाग्नि की तरह तो उनकी आँखें थीं, चञ्चल भुजारूपी तरंगमालाओं से उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकाल के महासागर का जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो। अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्र के नृत्य का अनुकरण करती हुई उनके शरीर से मानो छाया निकल रही है ॥ १–५ ॥

देखते ही सहसा मेरे मन में ऐसी आशंका उठी कि भला सूर्यों के उपस्थित न रहते महान् अन्धकार से परिपूर्ण आकाश में यह छाया कैसे स्थित है ॥ ६ ॥

यह मैं जब विचार कर ही रहा था कि इतने में तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्र के सामने आकर खड़ी हो गई। डील-डौल में विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखों से शोभित हो रही थी ॥ ७ ॥

कृष्णा कृशा शिरालङ्गी जर्जरा वितताकृतिः ।
ज्वालाकुलानना लोलवनसंभारशेखरा ॥८॥
भिन्नाऽञ्जनतमःश्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
तमःश्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥९॥
अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥१०॥
कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥११॥
कृशाऽशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥१२॥
तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।

वह रंग में काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगों में नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अंग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओं से व्याप्त था, चञ्चल वनसमृद्धि की तरह पुष्प, उसका मस्तक पल्लव आदि से विभूषित श्यामल था ॥ ८ ॥

घनीभूत अञ्जनरूप तम के समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखने में वह दूसरी मूर्तिमती यामिनी-जैसी, शरीरयुक्त अन्धकार की शोभा की तरह तथा साकार श्यामवर्ण आकाश की क्रांति-जैसी प्रतीत हो रही थी ॥९॥

वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था। वह ऐसी खड़ी थी, मानो अपनी लम्बी देह से आकाश नापने को उद्यत हो या आकाश से अपनी समता कर रही हो। वह मानो अपनी दीर्घ जानु और भुजाओं के भ्रमण से समस्त दिशाओं के मुख को ही नापने की इच्छा कर रही थी ॥ १० ॥

उसे देखने से यही प्रतीत हो रहा था, मानो बहुत दिनों तक अधिक उपवास करने से ही यह ऐसी दुबली हो गई है। उसको लम्बी देह में सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे। कज्जल के सदृश श्याम वर्ण की वह पवन से आकुल मेघों की माला-जैसी थी ॥ ११ ॥

उसे देखने से ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होने से भी जब विधाता ने असमर्थ देखा है तब मानों उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियों से बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥ १२ ॥

वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षों तक

मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥१३॥
अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
आमूलात् सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥१४॥
विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
कृतमालाऽमलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥१५॥
प्रलम्बकर्णा लुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताछीला दीर्घा लोलाऽसितस्तनी ॥१६॥
कुमारबर्हिपिच्छौघैर्ब्राह्ममूर्द्धजमण्डलैः ।
लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥१७॥
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपाततः ।
तमोर्णवोद्ध्वंलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥१८॥

ऊपर-नीचे आ-जाकर मैंने योगबल से उसके सिर और पादनखों का अवलोकन किया ॥ १३ ॥

नाड़ियों के समूहों तथा अँतड़ियोंरूपी रस्सियों से ग्रथित सिर से लेकर पैर तक सभी अंगों से युक्त वह इस प्रकार स्थित थी, जैसे मूल से लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतों से ग्रथित कण्टकों की निवासभूमि खदिरादि लता है ॥१४॥

नाना वर्णों के सूर्य आदि देव तथा दानवों के मस्तक रूपी कमलों के समूहों की माला उसके कण्ठ में विराजमान थी, निर्मल आलोकवाले पवन से प्रदीप्त अनल उसका आंचल था ॥ १५ ॥

उसके लम्बे दोनों कानों में चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डल के रूप में विराजमान थे। शुष्क तुम्बी-लता की तरह अति दीर्घ, अत्यन्त चंचल तथा काले वर्ण के उसके दोनों स्तन जाँघ तक लटक रहे थे ॥ १६ ॥

उसका खट्वाङ्गमण्डल मयूरों के पिच्छसमूहों तथा ब्रह्मा के केशों के मण्डलों से चिह्नित चन्द्रादि सुराधीशों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों से अलंकृत था ॥ १७ ॥

दन्तरूपी चन्द्रमाला से वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतों के प्रकाशों के पतन से अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागर के आवर्तों से व्यालोल (चंचल) ऊर्ध्व-लेखा-जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥ १८ ॥

शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरुसंस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥१९॥

बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥२०॥

क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥२१॥

क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥२२॥

एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षणं चानन्तपादाढचा निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥२३॥

आकाश में उत्पन्न वृक्ष के ऊपर आरूढ़ शुष्क तुम्बी-लता की तरह वह ऊँचे आकाशरूपी वृक्ष के ऊपर आरूढ़ थी। वायु के द्वारा पटपट शब्दों से विभूषित तथा जाँघ तक सभी चञ्चल अवयवोंवाली वह नीचे तक अपने चञ्चल अवयवों से युक्त तथा वायु के द्वारा पटपट शब्दों से अलंकृत शुष्क तुम्बीलता की तरह ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥ १९ ॥

महातरंगरूपी लम्बी भुजाओं वाली, श्यामल तथा उल्लासों से परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तों से चञ्चल प्रलय-कालीन महासागर की तरङ्गमाला की तरह भासमान हो रही थी ॥ २० ॥

क्षण में ही कभी तो वह एक भुजा से युक्त आकार-वाली हो जाती थी और कभी क्षण में ही अनेक भुजाओं से व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षणभर में ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओं से जगद्रूपी नृत्यमण्डप को ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥ २१ ॥

क्षणभर में ही उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखों से युक्त बन जाती थी। शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभर में ही विना मुखवाली भी वह हो जाती थी।

वह शीघ्र एक पैर से युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे। क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने ही में वह अनन्त पैरों से समन्वित हो जाती थी तथा क्षण में ही वह विना पैर की हो जाती थी ॥ २३ ॥

कालरात्रिरियं सेति मयाऽनुमितदेहिका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥२४॥

ज्वालापूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्वरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥२५॥

लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥२६॥

इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैःप्रभास्वरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥२७॥

नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रमण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रामयन्ती नभस्तले ॥२८॥

वह रूप देखकर मैंने उसकी देह का अनुमान कर लिया कि हो न हो यह वही कालरात्रि है। अन्य सज्जन महानुभावों ने भी इसको 'यह भगवती काली हैं, यह निर्णय किया है ॥ २४ ॥

उस भगवती की तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्र के मस्तक के काठ में प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओं से परिपूर्ण हो जायँ। और उसकी ललाट भूमि की उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वत का प्रस्थभाग है, जहाँ पर पृथिवी जल रही हो ॥ २५ ॥

उसके दोनों जवड़े तो लोकालोक पर्वत के प्रसिद्ध इन्द्रनील के उग्र गड्ढे की तरह ही भयंकर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होने से वहाँतक कुण्डलों की कान्ति का प्रकाश बिलकुल नहीं पहुँच पाता था। वातस्कन्धरूपी तागों में पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकपालों की माला उसके गले में विराजमान हो रही थी ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वत के समान ऊँचे नगर के बाहर से दर-वाजे पर पद्मराग आदि की प्रभा से रञ्जित दरवाजे के उन्नत भीतरी छेद में विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैल की तरह भयानक भीषण काक से वह भयङ्कर लगती थी ॥ २७ ॥

नाच रही भुजलतारूपी पुष्पों से युक्त नखों की शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलों से वह आकाशतल में सैकड़ों पूर्ण-चन्द्रों को नचाती हुई की तरह प्रतीत हो रही थी ॥२८॥

भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखावृहत्प्रभाः ॥२९॥
नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैः काननिताशेषगगनाप्रोग्रमूर्तिभिः ॥३०॥
तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥३१॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥३२॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निःश्वासवायुना ।
घनघुङ्घुमदिक्चक्रगगनग्रामघोषिणा ॥३३॥
घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।

कल्पान्त मेघों के समान स्फुरित हो रही प्रभाओं से युक्त हाथी के दाँतों की तरह पर्वत-प्रान्तों के ऊपर महा प्रभाओं से युक्त मोटी-मोटी जल-धाराश्रेणी को बरसा रहे गजमुक्ताओं तथा प्रलयकाल में गिर रही तारों की श्रेणी-जैसी भासमान नखों की पङ्क्तियों की विशाल प्रभाओं को बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओं से भगवती काली सारे दिङ्मण्डल को व्याप्त कर दिया था ॥ २९ ॥

रङ्ग में बिल्कुल काले अतएव उग्र स्वरूप के अपने उन भ्रान्तभुज-द्रुमों से, जो नखोंरूपी पुष्पों से विभूषित अङ्गुलीरूपी लतासमूहों से सुशोभित थे, उस भगवती काली ने सारे आकाशप्रान्त को जङ्गल की तरह बना दिया था ॥ ३० ॥

वह भगवती काली सभी ओर चलायमान अपने-जङ्घासमूह से जले हुए खजूर आदि के महान् जङ्गलों से सुशोभित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे-अच्छे तमाल, ताल आदि के वृक्षों से स्थूल बनी हुई पृथिवी का अनुकरण कर रही थी ॥ ३१ ॥

अनन्त महाकाश में भी पारंगत अपने केशों से वह सञ्चरणशील अन्धकाररूपी हाथी का आकाश में विस्तृत निवास को मानो सिद्ध कर रही थी ॥ ३२ ॥

प्रतिध्वनियों से घनीभूत दिङ्मण्डलवाले गगनरूपी गाँव में उद्घोषणशील अपने उस नि श्वास पवन के साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिए जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं। देखने से ऐसा

नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥३४॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्द्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥३५॥
यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥३६॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिकापट्टपट्टिका ।
आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणि लोकान्तराणि च ॥३७॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरू रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुङ्घुमैर्माला महती कटिमेखला ॥३८॥
स्रजः कुलाचलाः श्रृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
जरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥३९॥

प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नट के साथ चली जा रहीं हैं, जो नियत अनुनयवाला है और प्रबल वायु के फूत्काररूपी अव्यक्त शब्द से परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥ ३३, ३४ ॥

इसके बाद आकाश में स्थित अनन्त आकाश के सदृश व्यापकरूप मैंने योगबल से उस भगवती को देखा कि वह नृत्यवश आवेश के कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गई है ॥ ३५ ॥

इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलास-पूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती काली ने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों से एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देह में धारण कर लिया ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! युगान्त काल के प्रसिद्ध पुष्करा-वर्तक आदि (मेघ समूह) उसके वक्षःस्थल में इन्द्रनील की पट्टपट्टिका के रूप में विराजमान थी। तीनों-लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अङ्ग में मणिमय आदर्श मण्डल बन गये थे ॥ ३७ ॥

हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कान की चाँदी और सोने की मुद्रिका बनकर शोभा बढ़ा रहे थे। ब्रह्माण्डों की घुंघुम शब्दों से परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी ॥ ३८ ॥

शिखरों, वनों एवं नगरों के गुच्छकों से परिपूर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, नगर आदि रूप कोमल पल्लवों से भरे सातों कुल पर्वत उसके गले की मालाएँ थीं ॥ ३९ ॥

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥४०॥
मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिकाः।
धर्माधर्माविभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥४१॥
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥४२॥
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥४३॥
चतुर्दशविधाभूतजातयो याः सुरादिकाः।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥४४॥
तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्ममुदेव ते ॥४५॥
जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थावरं तदा।

उस भगवती काली के अङ्गों में नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन-रात तथा तीनों लोक की मालाएँ विराजमान थीं—वह सब मैंने देखा ॥ ४० ॥

हे भद्र ! यमुना, त्रिपथगा = भागीरथी आदि नदियां गले के मोती आदि के हार के रूप में थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानों के (पूर्वोक्त कानों से अतिरिक्त कानों के) भूषण बन गये थे ॥ ४१ ॥

उस कालरात्रि के धर्मरूपी दूध का क्षरण करने वाले चारो वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्रार्थ रूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके कुचाग्र थे ॥ ४२ ॥

त्रिशूल, पट्टिश भाला, वाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुग्दर इनसे बना जो आयुधों का समूह था, वही पुष्पमाला के रूप में उसने धारण किया था ॥ ४३ ॥

जो देवता आदि चौदह तरह की भूत जातियां हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रि के रोम पंक्तियों के रूप में अवस्थित थीं ॥ ४४ ॥

उसकी देह में अव्यक्त रूप से स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानो अपना पुनर्जन्म पाने के आनन्द से उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥ ४५ ॥

हे भद्र ! सारा संसार उसके नर्तन में कांप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थिर तो था ही नहीं, किन्तु केवल जङ्गमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट हो इसके शरीर रूपी परलोक में

नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥४६॥
निगीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥४७॥
आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत्।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥४८॥
सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम्।
जगन्नृत्यति नानात्म मृत्वा पुनरुपागतम् ॥४९॥
तज्जगन्नर्त्तनं चारु तद्देहादर्शसंस्थितम्।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥५०॥
विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम्।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥५१॥
सङ्ग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णववृताम्बरम्।
हेलाविवलनावर्त्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥५२॥

सुख से स्थित सारा जगत् नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥ ४६ ॥

निगीर्ण जगत् को उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त कर वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत् रूपी सर्प को जीर्ण बनाने और नचाने के कारण ठीक चातकी की तरह (मयूरी की तरह) मालूम हो रही थी ॥ ४७ ॥

समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीर में आदर्श-प्रतिबिम्ब में स्थित के समान मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत् के सदृश ही था ॥ ४८ ॥

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदि के साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहता था ॥ ४९ ॥

उक्त सुन्दर जगत् का नृत्य उसी के देहरूपी आदर्श में स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकाल तक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था अर्थात् निरन्तर चल रहा था ॥ ५० ॥

वह नृत्य क्या था, मानो उसमें समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वत समूह घूम रहा था, अमर और दानव मच्छरों के समूह के समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥ ५१ ॥

संग्राम भूमि में छोड़े गए चक्रों के भ्रमण के सदृश शोभायमान द्वीपों एवं समुद्रों से सारा आकाश मण्डल

नीलमेघांशुकावृत्तिवातघुङ्घुमिताम्बरम् ।
काष्ठास्थ्यादिस्फुटास्फोटपटत्पटपटारवम् ॥५३॥

जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैरमिश्रैर्मुकुरे यथा ।
व्याप्तमाभोगिभाङ्गारैरङ्गैरङ्गभ्रमैस्तथा ॥५४॥

मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलबृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेतनमत्तनुतनूरुहः ॥५५॥

अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥५६॥

पुराणि घर्घरारावैर्दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
सगृहाट्टालशारतव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥५७॥

तस्यां भ्रमन्त्यां चतुर चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।

व्याप्त हो गया था, हेला से उत्पन्न भ्रमणों से अर्थात् आवर्त वायुओं से मानो पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकार में जोर से उड़ाये जा रहे थे ॥ ५२ ॥

उस नर्तन में ऊपर नील मेघरूपी वस्त्रों का परिचालन होने पर वायुओं से आकाश मण्डल घुङ्घुम ध्वनि से पूर्ण हो गया था और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदि के सन्धि भेद से हो रही पटपट ध्वनि से वह व्याप्त हो गया था ॥ ५३ ॥

परस्पर संयोग और विभाग से प्रत्येक क्षण में कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थों से युक्त अङ्गों एवं अङ्ग भ्रमणों के कारण दर्पण के सदृश उसकी देह में उनका सूत्य विशाल भँवरों से मानो मूर्तिमान् भय की तरह व्याप्त था ॥ ५४ ॥

कहीं मेरु पर्वत अपने चञ्चल कुलाचल रूपी बड़े-बड़े हाथों का सञ्चालन कर नृत्य करता था, उसके अभ्ररूपी वस्त्रों से युक्त (आच्छन्न) छोटे-छोटे कल्प वृक्ष रूपी रोमों का घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥ ५५ ॥

समुद्र भी अपनी मर्यादा का मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वी से कभी आकाश में तथा आकाश से कभी पृथ्वी में आते-जाते थे ॥ ५६ ॥

किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थी के सामान के साथ नगर घर्घर ध्वनि करते हुए नीचे की ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तव में कुछ नहीं नीचे की ओर लुढ़क रहा था ॥ ५७ ॥

नखाग्रलेखालोकान्तर्भान्ति काञ्चनसूत्रवत् ॥५८॥

विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥५९॥

खमेव तस्याः सम्पन्नं कवरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥६०॥

द्वीपाब्धयोऽन्त्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥६१॥

तदाऽनुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्यैर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥६२॥

तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥६३॥

जब भगवती कालरात्रि चतुरता पूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र, सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्र भाग की रेखाओं के अन्दर विद्यमान प्रभा में मिलकर घूमते हुए, सुवर्ण सूत्र के सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५८ ॥

हे भद्र ! कालरात्रि ने नीहार के तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघों से बरसाये गये जो जल-बिन्दु थे, वे उसके स्वेद-बिन्दु की तरह मालूम पड़ते थे ॥ ५९ ॥

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश जूड़ा बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमि मण्डल उदर बना था और दिशा समूह बाहु बन गये थे ॥ ६० ॥

उस भगवती की जो आँतों से युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थें, जो पसलियाँ थीं, वे सारे पर्वत थें और जो चञ्चल प्राण और अपान थें, वे सारे आवह आदि पवन स्कन्ध रूप आकाश-सौध की शालिकाएँ ही थीं ॥ ६१ ॥

जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीर के ऊपर हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतों ने झूले के आनन्द का अनुभव किया ॥ ६२ ॥

उड़ रही पर्वत रूपी मञ्जरियों से युक्त पूर्व वर्णित ब्रह्माण्ड माला का इधर-उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवती ने अपनी ताण्डव-लीला से मानो फिर महाप्रलय आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्गः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥६४॥
नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्धनघूत्कारघोषिणी ॥६५॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किञ्चिद्विवर्तते ॥६६॥
बृहन्नासागृहागेहनिर्गताघनघुङ्घुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥६७॥
नभःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥६८॥
तदङ्गजजगद्वस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
दृष्टिर्धीरापि मे मोहे सन्ना सेनेव सङ्गरे ॥६९॥
प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥७०॥
मेरवः पर्णवद्व्यूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवोर्व्योऽब्जलता इव ॥७१॥
सह्या मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥७२॥
द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥७३॥
विशदाकाशसंकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥७४॥

वे सुर, असुर, नाग आदि के समूह ही भगवती के रोम थे, इसका शरीर स्पन्दन रहित होकर नहीं ठहर सकता था, इसलिए चक्र की तरह वह बराबर घूम रहा था ॥ ६४ ॥

हे भद्र ! कर्म फलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठान के कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठान रूप यज्ञ—इन तीन सूत्रों का उसने यज्ञोपवीत धारण किया था, आकाश में नाचती हुई वह मेघों की ध्वनियों को लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिए ठीक ब्रह्मचारिणी की तरह प्रतीत हो रही थी ॥ ६५ ॥

वस्तुतः उस नृत्य में कुछ भी नहीं हिल रहा था, परन्तु भूतल और आकाश चक्र के व्याज से एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरे के सदृश वे दोनों बन जाते थे, इससे कुछ समय के लिए भूतल आकाश बन जाता था, यह देखने वालों की एक भ्रान्ति ही थी ॥ ६६ ॥

उस भगवती के बड़ी-बड़ी नासिका गुहारूपी घरों से निकले हुए मेघ के सदृश घुंघुं शब्द कर रहे उग्र पवन के रूप में बह रहे थे, इन वायुओं से घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥ ६७ ॥

हे भद्र ! सारा आकाश-मण्डल उस भगवती के चातुर्यपूर्ण पद्धति से सञ्चालित हुए सैकड़ों हाथों के कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवों से व्याप्त की तरह हो गया था ॥ ६८ ॥

उसके अङ्गों से जनित जगत्पदार्थों के साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न श्रम के कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राम में सेना कुण्ठित हो जाती है ॥ ६९ ॥

उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रों के सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओं के घर लुढ़कने लगे ॥७०॥

उसकी नाभि में पृथ्वी कमल-लता के सदृश उस समय शोभायमान हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तों के सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव की तरह भासमान हो रहे थे और इन पर हिमाचल हिमकण की तरह प्रतीत हो रहा था ॥ ७१ ॥

उस भगवती की देह में अनेक सह्य पर्वत पृथ्वी पर पक्षियों के सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाश में विद्याधरों के सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाश के अन्दर घूम रहे राजहंसों के सदृश भासमान हो रहे थे ॥ ७२ ॥

उसके देहरूपी सरोवर में अनेक द्वीप तृणों के सदृश, समुद्र वलयों के सदृश और देवताओं के आलय पद्मों के सदृश भासमान हो रहे थे ॥ ७३ ॥

भगवती का शरीराङ्ग विशद आकाश के सदृश विशाल था, स्वप्न में उत्पन्न महान् अञ्जन पर्वत के सदृश था तथा एक पिण्ड में बने हुए बारहों आदित्यों के समान उसकी कान्ति थी, उसकी जंघाएँ विशाल थीं, इस प्रकार के उसके अङ्ग में कहीं पर सुवर्ण पर्वत के ऊपर उगे जङ्गल में अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए की तरह विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगन रूप आंगन में अपने शत्रु विन्ध्याचल को न सहने योग्य सह्य, कैलास,

विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवनेऽसह्यश्च सह्यो गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चाचलो मन्दरः ।
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे जङ्गमतां गता वनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥७५॥

अब्धिर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोच्चैर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्गतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥७६॥

व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
वातावकीर्णतृणविभ्रमणक्रमेण ॥७७॥

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वरवारिणीव
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥७८॥

ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।
अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥७९॥

संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
बिन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्कराश्च ।
कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥८०॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलातलेखाः ॥८१॥

मलय, महेन्द्र-पर्वत, क्रौञ्च-पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानो कोप से नाच रहे थे, इनके पक्षपात से सारी वसुमती और विद्याधरों के नगर नाच रहे थे—इस तरह उसके शरीर में सभी स्थावर जङ्गम भाव को प्राप्त हो गये थे ॥ ७४, ७५ ॥

एक और आश्चर्यमय बात है कि उसकी देह में पर्वत पर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊंचे आकाश कोटर में नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्यों के साथ पृथ्वी के नीचे चलित होकर कहां चला गया, यह जाना ही नहीं गया । नानाविध पुष्पों से युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगर से समन्वित वन-गण सूर्य मण्डल में नाच रहा था—इस तरह चञ्चल जगत् समुद्र में चञ्चल तृण के समान दिशा-चक्र में भ्रमण कर रहा था ॥ ७६ ॥

आकाश में पर्वत घूम रहे थे, दिशाओं में समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर, मण्डल, नदियां, सरोवर—ये सब आश्रयभूत लोक से लोकान्तर में, दर्पण के भीतर-जैसे, प्रविष्ट हो झंझावात के द्वारा असङ्कीर्ण तृणों का उड़ना जैसे लोक में विख्यात है, वैसे ही उड़ रहे थे ॥ ७७ ॥

साथ ही मत्स्य समुद्र की तरह मरु-भूमि में घूम रहे थे, नगर पृथ्वी के सदृश आकाश में स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाश में प्रतीत हो रहे थे । अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलय के मेघ उत्पात-वायुओं से घिरे हुए पर्वतों पर स्थित थे ॥ ७८ ॥

किसी यन्त्र-चक्र में हजारों की संख्या में दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रम से वेग से हो रही मणियों की वृष्टि के सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रों का समूह घूम रहा था । इसकी शोभा उस तरह की थी, जैसे आपकी सभा में विद्याधरों एवं देवताओं के गण द्वारा प्रीति से छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर-बाहर भ्रमण करती है ॥ ७९ ॥

भगवती कालरात्रि के शरीर में प्रलय एवं सृष्टियों के समूह दिन-रात के भाग में प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रि के समूह मलिन एवं अमलिन रजत के बिन्दु के सदृश अतिस्वल्प मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल-कृष्ण-पक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनील मणि के बनाये गये धवल एवं काले आदर्श-मण्डल के सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥ ८० ॥

हे राघव ! उसकी देह में सूर्य, चन्द्र आदि के मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्र समूह तक वर्तुलाकार शोभा से युक्त गले के हार के सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगन-मण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे । इनमें भ्रमण कर रही विद्युत् अलातचक्र-सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान् प्रकाश कर रही थी ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठत्त्रिजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्झगिति जातझणज्झणानि ।
तेजांसि झङ्कृततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥८२॥

सङ्ग्राममत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणा-
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥८३॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरातपन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
वाताबधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥८४॥

संसारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्द्धं पृथक् च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥८५॥

भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नामसंख्या ॥८६॥

उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।
एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥८७॥

तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्द्वयवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्ड्रकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥८८॥

भगवती के नृत्य में कल्पान्त काल में लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर-नीचे परिवर्तनों के कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करने वाली मणि के रूप में बन गये। झंकार से ऊपर-नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरह के गुणयुक्त (सूत्रयुक्त) नूपुर, वलय आदि भूषण के रूप में बन गये ॥ ८२ ॥

अब एक दूसरा आश्चर्य सुने, देवी के ताण्डव नृत्य काल में वीरजनों का बड़ा-बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन सङ्ग्राम में मत्त प्रतिभटों के लिए निकाले गए खड्गों की मरीचियों की प्रभा से ग्रीष्मकाल के दिनों को भी मलिन कर रहे थे। देवी के नृत्य के समय ऊपर-नीचे होने वाले संचालनों से योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठान भूत ब्रह्म की स्थिरता के कारण वे स्थिर थे ॥ ८३ ॥

दूसरा आश्चर्य सुने, भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदि से युक्त इस भगवती कालरात्रि का जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्ति से दूसरे-दूसरे बनकर वायु से चालित मच्छरों के सदृश या बिजली के सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलास से आते और जाते दीख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

भगवती के शरीर में जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण आदि परस्पर विरुद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग-अलग रूप से विलसित होते मालूम पड़ रहे थे ॥ ८५ ॥

भगवती के शरीररूपी चिदाकाश में मिथ्यारूप ही चमक रहे, अतएव चिदाकाशरूप—शून्यरूप सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थों की अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिभ्रम—इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालूम नहीं हो सकती थी ॥ ८६ ॥

भगवती की देह में उत्पात, शान्ति आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व-समूह एकत्र को तरह प्रतीत होता था, जैसे एक कोश में एकत्र रत्नों का समूह। क्योंकि भगवती के शरीर में नाना रसों से पूर्ण अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थीं ॥ ८७ ॥

परमार्थ-दशा में चिदाकाशमय उसकी देह में स्वभाव-भूत अर्थात् अशास्त्रीय ज्ञान से सिद्ध मायारूपी आवरणात्मक अस्फुट अनुभव से उत्पन्न जगत्-स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय चारों ओर ऐसे कलित होते थे, जैसे तिमिर रोग से मलिन हुई दृष्टि से आकाश में केशोण्ड्रकों के स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥ ८८ ॥

जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
सञ्चाल्यमानमुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥८९॥
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसङ्कल्पसर्गवत् ॥९०॥
क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥९१॥
क्षणमालक्ष्यते किञ्चिन्न किञ्चिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रेव क्षणमाकाशपूरिणी ॥९२॥
यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥९३॥

हे भद्र ! अविचल अधिष्ठानरूप स्थिति में विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभ दृष्टि से क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूप से अचल पर्वत चलित होनेवाले दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥८९॥

जैसे बालक के सङ्कल्प का सर्ग प्रतिक्षण पूर्व स्थिति को त्याग कर अन्य स्थिति को ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्य से चमक रहे विशिष्ट प्रताप से युक्त माया के अन्दर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थिति का त्याग और अन्य स्थिति का ग्रहण करते रहते थे ॥९०॥

भगवती के देह में क्रियाशक्ति है, अत एव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत्-रूपी मूंग के दाने ढेर के रूप में पहले एकत्र होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं अर्थात् चारों ओर फैल जाते हे अर्थात् सब पदार्थों का उत्पादन करने के लिए ही कारकों की क्रिया-शक्ति उपयोग में आती है, आगे के भावविकार तो स्वयं ही काल आने पर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूंग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलने में तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहाँ समझें ॥ ९१ ॥

भगवती माया एक क्षण में तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षण में वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षण में एक अंगूठे के बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षण में आकाश को भी भर देने वाली मालूम पड़ती है, अर्थात् माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगद्रूपा होने के कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूप की प्रतीत होती है ॥ ९२ ॥

सर्वविध कलाओं से परिपूर्ण जगदात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाश-कोश के सदृश विशुद्ध स्वरूप वाली ही है ॥ ९३ ॥

कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥९४॥
सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वात्
संशान्तखैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषजगमुन्मिषितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥९५॥
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चित्त्वाद्द्रवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥९६॥

वह देवी कालरात्रि तीनों कालों में स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत् की चित्-शक्ति है, इस कारण से वह चितेरे के उदार मन में स्थित चित्र-संसारसमूह के सदृश यथास्थित उस विचित्ररूप से वैसी प्रकाशित होती है । इस प्रकार के प्रकाशन में उस चिति-शक्ति का परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासना के परिपाक के अनुसार वेग भी रहता है ॥ ९४ ॥

अविद्या से आवृत चिति-शक्ति के कारण वह देवी समस्त संसाररूप एक शरीरधारिणी होकर एक प्रकार से चित्रभित्ति ही बन कर स्थित रहती है और विद्या से अविद्या के हट जाने पर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जाने के कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्व-विध प्रपञ्च से निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुष की दृष्टि से गम्य एवं विद्या-अविद्या से क्रमशः व्यञ्जित हो रहे स्वरूप से उपलक्षित तथा परमार्थ रूप से अनादि-अनन्त चिदेकरूप को धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशमान रहती है ॥ ९५ ॥

उस देवी के शरीर में विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोश में यह दृश्य एक रेखा में रचित कमल-चक्रादि के समान प्रतीत होता है और आकाशमात्र शरीर-धारिणी उसमें चिद्रूप के कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर इस तरह भासमान होता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्र-कोश में ऊर्मि-रेखा प्रतीत हो रही हो ॥९६ ॥

महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरी भैरवाकृतेः ॥९७॥
शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निदग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥९८॥
कुद्दालोलूखलवृसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ॥९९॥
एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृत्तक्षुब्धं क्षयक्षतम् ॥१००॥
वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव विततकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥१०१॥
डिम्बंडिम्बं सुडिम्बं पचपच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्तो शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।
पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या
॥१०२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उस कालरात्रि और उसके नृत्य का तात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्य की उत्प्रेक्षा आदि से वर्णन करते हैं ।

समस्त आकाशमण्डल को पूर्ण कर देने वाली वह महान् भैरवी कालरात्रि-देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्र के सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥ ९७ ॥

हे भद्र ! मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकाल के महारुद्र के ललाट-स्थान का दृढ़तापूर्वक आश्रयण कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अत एव स्थाणु के रूप में बचे हुए अरण्यों से युक्त भूमिवाली; कल्पान्त वायुओं से कम्पित वनमाला के सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥ ९८ ॥

कुदार, ओखरी, आसन, हल की फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटली, स्तम्भ आदि की माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥ ९९ ॥

हे श्रीरामजी ! इस तरह के नानाविध पुष्पमाला समूहों के फूलों को, जो नृत्य में क्षुब्ध तथा भङ्ग से क्षत हो जाते थे, बिखरती हुई तथा नूतन बनाती हुई सी नाच कर रही थी ॥ १०० ॥

इस प्रकार भयङ्कर रूप धारण करने वाली उस कालरात्रि के द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकार के आकाश के सदृश विशाल भयङ्कर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवी के सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥ १०१ ॥

रक्त एवं आसवों से पूर्ण यमराज के महिष का महान् सींग हाथ में लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, प्रझम्य आदि तालबोधक शब्दवाद्यों के द्वारा भगवती एकदम नाच रही थीं, उसने अपने गले में मुण्डों की माला पहिने थी, सिर में गरुड़ के पंख धारण किये थे, प्रलय में सारे जगत् को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी और कल्पान्तरुद्र भगवान् भैरव को नमन भी कर रही थी । इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रि के द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें । [अथवा इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—देवी कालरात्रि भगवान् भैरव की स्तुति कर रही थी—हे भैरव ! आप सब लोगों के अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपञ्च को सबसे पहले खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीर को भी अन्तिम साक्षात्कार में आकर खा डालिए । इसके बाद पञ्चम आदि योग की भूमिकाओं में लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तक के योग को भली-भाँति पचाकर विदेह कैवल्य के द्वारा जला डालिए । उस तरह नाचकर रही भगवती के साथ-साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें] ॥१०२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में कालरात्रि वर्णन निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का इक्यासीयवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

८२

श्रीराम उवाच

किमेतद्भगवन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥१॥
किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या दुहसंस्थितम्।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

नासौ पुमान्न चासौ स्त्री न तन्नृत्तं न तावुभौ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥३॥
अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम्।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥४॥
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृति।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव सः ॥५॥
चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवावृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥६॥

८२

इसकी सङ्गति दिखाते हुए कहते हैं कि पूर्व सर्ग में बड़े विस्तार के साथ समस्त प्रपञ्च का वर्णन किया गया है तथा प्रलीन हुए उस प्रपञ्च की नृत्य कर रही काल-रात्रि के भूषण आदि भाव से अङ्ग में उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदि का भी वर्णन किया गया है। इस विषय में नष्ट की पुनः उत्पत्ति की संभावना न मानते हुए श्रीराम चन्द्र जी ने पूछा।

श्रीराम चन्द्र जी ने कहा—हे भगवन्! जब प्रलय में सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अङ्ग से नाच कर रही थी? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदि के द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारण का जो आपने वर्णन किया है वह क्या है? मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदि की माला को जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे सम्भावना करूँ॥ १॥

तीनों जगत् का नष्ट क्या हुआ, फिर काली की देह में स्थित क्या रहा और निर्वाण को प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाण को प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा? यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है॥ २॥

वसिष्ठ जी ने कहा वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न उसने नृत्य ही किया है। सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र—ये दोनों ही जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचार के भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी अर्थात् यदि परमार्थ दृष्टि से मेरे कथन में व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्र से अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदि रूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदि का विभाग—यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेद की बिल्कुल संभावना ही नहीं है। परन्तु भ्रान्त दृष्टि से तो तनिक भी व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सत्ता से सर्वदा सत्रूप जो वस्तुएँ हैं; उनके विनाश और अविनाश के विशेष रूप का निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओं की भी स्वप्न में प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदि के वर प्रभाव से पुनरागमन प्रसिद्ध ही है। इसलिए जबतक अज्ञान है; तबतक जगत् के आकार का चित्त में सबकी दृष्टि में संस्कार रूप से सद्भाव रहने से अत्यन्त भ्रान्ति-ग्रस्त पुरुषों के द्वारा केवल जगत् के रूप से, सर्वजगत् से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदि के उपासकों के द्वारा उक्त रूप से योगसिद्धि के प्रभाव से उक्त रूप का दर्शन हो सकता है॥ ३॥

किन्तु जो कारणों का कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाश स्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाश स्वरूप अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था॥ ४॥

निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धारण कर प्रलय काल में भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकों की वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत् की शान्ति के समय भगवान् उस भैरवी आकृति से युक्त स्थित रहता है॥५॥

चेतन होने के कारण वह परमेश्वर अपने चेतन स्वरूप

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥७॥
कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोच्यताम् ।
कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत् स्थितिः ॥८॥
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो नहि स तद्रसः ॥९॥
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥१०॥
स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥११॥
तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥१२॥
तदेतत्त्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विनाभाभासनं नभः ॥१३॥

वैभव को छोड़कर इस प्रकार स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदि रूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण अर्थात् चेतन ब्रह्म में ही जगत् का उपसंहार श्रुतियों में प्रसिद्ध है। लोक में निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत् का संहार करने वाले परमेश्वर में 'उमा-सहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूप की संभावना अवश्य करनी चाहिए ॥६॥

हे प्राज्ञ ! चेतन के बिना चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है ? हे प्राज्ञ ! कहिए न, तिक्तता के बिना भला मरिच कैसे रह सकता है ? अर्थात् जैसे कटक, केयूर आदि के आकार में परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता अर्थात् किसी-न-किसी अलङ्कार के रूप में सुवर्ण का परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है; वैसे ही चिति में भी चेत्याकार का अनिवार्य अवलम्बन लोक में प्रसिद्ध है इसलिए निराकारपक्ष की ही बिल्कुल असम्भावना सिद्ध होती है ॥ ७ ॥

कटक आदि अलंकारस्वरूपता को प्राप्त किए बिना सुवर्ण की स्थिति कैसे रह सकतीहै, क्योंकि स्वभाव के बिना अर्थात् अपने स्वभाव को छोड़कर किसी भी पदार्थ की स्थिति कैसे रह सकती है ? ॥ ८ ॥

माधुर्य के बिना इक्षुरस कैसे रह सकता है ? क्योंकि माधुर्य से रहित जो इक्षु का रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥ ९ ॥

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाश का कहीं कुछ नष्ट हो जाय अर्थात् नष्ट हुए भी पदार्थों का स्मृति में भान होता है, इसलिए चिविदृष्टि से किसी भी पदार्थ का निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है ॥ १० ॥

उस ब्रह्म को स्वसत्तामात्र से अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगदाकार से अन्यरूप स्वीकार करने के लिए पहले आकाश से अभिन्न अपनी आत्मा को बना लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपने से अभिन्न आकाश को बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्व का सम्पादन न होने पर आकाश की रचना ही कैसे हो सकेगी ? क्योंकि सदात्मकता का लाभ ही तो आकाशादि की उत्पत्ति कही जाती है, इस-लिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिपादित मूर्ता-मूर्तस्वरूप सद्रूप से अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त रूप की प्रसिद्धि न होने से किसी पदार्थ के नाश की ही सिद्धि नहीं है ॥११॥

आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्ति-मयात्मक ब्रह्म की स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है, वही इस जगत्-त्रय का सर्ग और प्रलय है। वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओं के रूप में स्थित है। तत्त्वावेदक प्रमाण के विना ही नाश और उत्पत्ति—ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टि से भासमान होते हैं। भाव यह है कि तिमिररोगयुक्त दृष्टि से चन्द्र की व्योमादिरूपता के भासनके समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्धसत्तातिरिक्त अर्थ-शून्य ही हैं; अर्थात् जगत् का स्वरूप क्या है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत् का रूप है'। वह ब्रह्मसत्ता तत्त्व के अवबोधक प्रमाण के विना लौकिकदृष्टि से जगत्प्रलय आदि के आकार से ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकार से रज्जु भासती है। परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाण के द्वारा तो वह यथार्थरूप से भासती है ॥ १२-१३ ॥

जननं मरणं मायामोहमान्द्यमवस्तुता।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥१४॥
विद्याविद्याविदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम्।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥१५॥
सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥१६॥
रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम्।
तेजोवार्यनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥१७॥
एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः।
अजहद्व्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥१८॥
एतत्सर्वं च विमलं खमेवात्र न संशयः।

जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चञ्चलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवी आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥ १४–१८ ॥

यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही स्थित है इससे भिन्न कुछ नहीं है। इस विषय में स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्मा का मैंने अभी आप से वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियों में 'शिव' नाम से कहा गया है। यही सनातन शिव होता है, जिसका मैंने रुद्रमूर्ति के नाम से उपन्यास किया है ॥२०॥

वही परमात्मा विष्णु आदि के आकार से उपासना करनेवालों के लिए 'हरि' वेष से स्थित हो जाता है। एवं औरों के लिए वही पितामह भी होता है। यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदि के स्वरूप की वासना से वासित बुद्धि वालों के लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता है ॥ २१ ॥

अस्मादनन्यत्स्वप्नादिर्दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ॥१९॥
चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥२०॥
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥२१॥
अनिलो जलदोऽम्भोधिर्द्यौ यद्वस्त्वस्ति नास्ति च।
इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥२२॥
एवंविधाभिः सञ्ज्ञाभिर्मुधा भावनयेदृशाः।
स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥२३॥
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवाऽऽत्मनि स्थितम्।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥२४॥

यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है। तीनों काल में जिस वस्तु की सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी! 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥ इस तरह श्रुति में प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोश के गुणादि-उपाधि-प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं ॥ २२ ॥

अन्यथा-ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरह की संज्ञाओं से ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मस्वभावमात्र का बोध होने पर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टि से अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत् के रूप से स्थित है तथा तत्त्व-दृष्टि से वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूप में स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी! आप शान्त हो जाइये ॥ २४ ॥

यह जीव जब तक परब्रह्मात्मक अपने स्वभाव को नहीं जानता तब तक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागर में जन्म-मरण-भ्रमणादिरूप नाना तरङ्गों की

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥२५॥

ज्ञाते तु शान्ति स तथोपयाति
यथा न सोऽब्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवस्वरूपवर्णनं नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

की कल्पना है। परन्तु जब यह अपने स्वरूप को जान लेता है तब तन्मयता को प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूप में स्थित हो जाता है ॥ २५ ॥

अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर तो वह जीव वैसे शान्ति को प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें तरङ्ग ही। यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में पुष्करावर्तवृष्टि विसंष्ठुलजगद्वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का बयासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

८३

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रपरमाकाश एष यः कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥१॥
याऽसौ तस्याऽऽकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनां वर ।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥२॥
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः ।
मयैव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥३॥
यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥४॥

८३

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूप से कहा गया है। यही प्रलयकाल में रुद्र होकर नृत्य करता है अर्थात् आपकी अविद्या-भ्रान्ति के निरास द्वारा तात्त्विक शिव स्वभाव दृष्टि के उद्‍घाटन के लिए मैंने जगत्-प्रलय के समय रुद्र-नृत्य आदि का, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है, ऐसा आपको भ्रम नहीं कर चाहिए ॥ १ ॥

हे पुण्यात्माओं में श्रेष्ठ श्रीराम चन्द्र जी ! उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरह का वह चिद्घन चिदाकाश ही उस रीति से स्फुरित होता है ॥ २ ॥

तत्त्वदृष्टि से मैंने उस भयानक आकृति को उस समय शान्त चिदाकाश मात्र देखा है। वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्व-दृष्टि से हीन कोई ही प्राणी उसे वैसा नहीं देखता है ॥ ३ ॥

वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी—ये सब जिस तरह मायामात्र हैं, 'कल्पादि सबके सब जैसे माया-मात्र हैं' यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जाने के कारण तत्त्वदृष्टि से जान लिया ॥ ४ ॥

केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकारविशेष से भैरवाकारता को प्राप्त दिखाई देता है। सच पूछिए तो उस तरह का यथार्थ में कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु

चिद्व्योमैव परं शून्यं सन्निवेशेन तेन तत्।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥५॥

वाच्यवाचकसम्बन्धं विना बोधो न जायते।
यस्मात्तस्मात् त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥६॥

यदेव वाच्युपारूढमेतद् राम सदैव ते।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥७॥

न भैरवी सा नैवाऽसौ भैरवो नैव संक्षयः।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥८॥

स्वप्ननिर्माणपुरवत् सङ्कल्परणवेगवत्।
कथार्थसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥९॥

उपासकों की वासना के अनुसार भैरवाकारता को प्राप्त वह वैसा ही दीखता है ॥ ५ ॥

वाच्यवाचक सम्बन्ध के बिना बोध नहीं होता है, इसलिए कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का ही मैंने आपसे वर्णन किया है अर्थात् कल्पनादृष्टि से देखी गई वस्तु का वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचक की अर्थ तथा शब्द की सम्बन्ध-कल्पना के बिना निर्विशेष का व्युत्पादन न हो सकने से ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझाने के लिए किया है ॥ ६ ॥

चिरकाल के अभ्यास के कारण जगत् में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए; आपकी वाणी में यह जो कुछ दृढ़ता को प्राप्त है, वह सब क्षण भर में मायात्मता को अर्थात् सत्यत्व की भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्ति से सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥

वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही है, किन्तु वह सम्पूर्ण ही भ्रान्तिमात्र है, है, परमार्थरूप से चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥८॥

स्वप्न में जिसका निर्माण हुआ है उस नगर की तरह मनोरथ के युद्ध के वेग के समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है; ऐसे यथार्थों के रस की तरह, मनोराज्य के विलास की तरह यह सब रूप में समान भासमान हो रहा है ॥ ९ ॥

यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा।
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि तथाचिद् भाति चिद्घने ॥१०॥

चिन्मात्राकाशमेवाऽच्छं कचति स्वात्मनाऽऽत्मनि।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तया ॥११॥

यथा चिद्व्योम्नि कचति स एवाऽऽत्मा तथा पटे।
तथा कचति तत् तत्र कल्पान्तानलनर्त्तने ॥१२॥

शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्याऽनृत्ततास्थितिम् ॥१३॥

चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥१४॥

अचित् चिद्घन में भ्रान्ति से वैसे ही भासित हो रहा है जैसे स्वप्न-नगर भासमान होता है, जैसे स्वच्छ आकाश में मौक्तिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाश में केशोण्ड्रक (केशगुच्छ) भासमान होता है ॥ १० ॥

प्रबोध होने पर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूप में अपने से भासमान है। जब प्रबोध नहीं रहता है, तब चिदात्मा ही जगत्-रूप से वैसा भासता है, यह निश्चित है ॥ ११ ॥

पट में वैसे ही स्फुरित होता है और उस कल्पान्त की अग्नि तथा नृत्य में भी वह उस रूप से वैसे ही स्फुरित होता है जैसे चिदाकाश में स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवी के आकार को जो तत्त्वतः निराकार हैं वर्णन किया, अब मैं उनकी नृत्यस्थिति का आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्य स्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥ १३ ॥

चिन्मात्र पर ब्रह्म परमात्मा की चेतनता भी बिना किसी स्पन्द के वैसे ही स्थित नहीं रह सकती, जैसे भ्रान्ति से दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तु-भूत रजत आदि रूप के बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, क्योंकि भ्रान्ति के स्वभाव का विपर्यासकत्व-नियम सर्वत्र समान है। अर्थात् जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगह की भ्रान्ति का स्वरूप कोई दूसरा हो ॥ १४ ॥

स्वभावाच्चेतनं तस्माद् रुद्रत्वेन तथा स्थितम् ।
हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥१५॥

यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥१६॥

यः स्पन्दश्चिद्घनस्याऽस्य शिवस्याऽस्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशात्स्वचमेव विराजते ॥१७॥

अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्घनस्पन्दनं निजम् ॥१८॥

इसलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारों से सुशोभित होनेवाले अलङ्कार‌रूप से स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभाव से रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥ १५ ॥

जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्म वाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥

जो इस चिद्घन का स्पन्द है वही इस भगवान् शिव का स्पन्द है। वही हम लोगों के सामने अपनी वासना-वश नृत्यरूप से विराजमान होता है ॥ १७ ॥

प्रलयकाल में वह भगवान् शंकर भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घन का निजी स्पन्दन ही समझें ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे महर्षे ! प्रामाणिक दृष्टि से वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्प में आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्ष में मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरह से सत्तावान्-सा है वह सब कल्पान्त में नष्ट हो जाता है; तो फिर कल्पान्त में महाशून्य उस परमाकाश में चेत्य-रहित चिति कैसे रहती है ? तथा आश्रय के अभाव में चेतयिता कैसे रहता है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रिया के अभाव में चिद्घन कैसे चेतता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि उस दशा में त्रिपुटी का रहना किसी तरह नहीं बन सकता। यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्य को अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसी से त्रिपुटी की सिद्धि हो सकती है, तो इसपर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलय में विशेषता

श्रीराम उवाच

प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
यदवास्तवि तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१९॥
तत्कल्पान्तमहाशून्ये एतस्मिन् परमाम्बरे ।
कथञ्चिन्नाम वा चेत्यं चेता चेतति चिद्घनः ॥२०॥

वसिष्ठ उवाच

एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥२१॥
न किञ्चिच्चेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥२२॥

ही क्या रही ? क्योंकि अचेतित—चितिक्रियाशून्य सर्व-जगद्घटित रुद्र और देवी के शरीर में उस नृत्य की किसी तरह सम्भावना नहीं की जा सकती है। भाव यह है कि कि एक समय में द्वैत और ऐक्य की भावना कदापि नहीं हो सकती है ॥ १९-२० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—ऐसी यदि आपकी शंका है, तो अपने द्वैत और ऐक्य के सन्देहरूपी सागर की शान्ति के लिए यह उत्तर सुनिए—सबका प्रलय होने पर परि-शिष्ट चिन्मात्र आकाश का यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी काल में कोई भी कोई दूसरी वस्तु नहीं चेतना, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मै-वाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्'—जहाँ सब इसका आत्मा ही हो गया, वहाँ कौन किससे किसको देखेगे। अर्थात् उस दशा में द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चिति क्रिया सम्भव नहीं है।

ऐसी दशा में नित्यमुक्त आत्म-स्वभाव ही प्रलय है—यह सिद्ध होता है, अतः सब तरह से आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ, अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित है। ऐसी दशा में, अप्रामाणिक दृष्टि से द्वितीय विकल्प का आश्रयण करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है ॥२१,२२॥

जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्म का अविज्ञात आत्म रूप ही प्रलय में भी रुद्र, देवी और उसके नृत्य रूप से प्रथित होता है। इतने से ब्रह्म के वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूप में किसी तरह की हानि होती है आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूप इस ब्रह्म की

यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वल्गति ।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥२३॥
यथा स्वप्ने चिदेवाऽन्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।
पुरादि न तु तत्किञ्चिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥२४॥
आत्मनाऽऽत्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम् ।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥२५॥
स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं धत्ते कल्पनया स्वया ॥२६॥
स्वयमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावखे ।
अयं सोऽहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥२७॥
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥२८॥
न चेतति क्वचित् किञ्चित्कश्चिच्चेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवाऽवशिष्यते ॥२९॥
निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
तच्च जीवदृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥३०॥
कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विश्वरूपदर्शनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥८३॥

अपनी सत्ता में ही अवस्थिति रहती है अर्थात् पथ में कल्प की विलक्षणता के लिए प्रलय में अविद्या आदि किसी चेत्य को आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसी से त्रिपुटी, जगद्घटित रुद्र और देवी का शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशा में रह सकते है, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असम्भावित नहीं है—सबकी उस दशा में संभावना की जा सकती है ॥ २३ ॥

स्वप्न में एकमात्र चिति ही अन्तःकरण में ग्राम और नगर-सी होती है—नगर आदि का स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थ में वहां पुर आदि कुछ नहीं रहते। जो कुछ वहां रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥ २४ ॥

समस्त ज्ञेय को भली-भांति जानकर भी चिति अपने से अपने में सर्वदा ही ज्ञेय को शून्य जानती है। तथा प्रलय काल में भी सृष्टि के प्रारम्भ क्षण से प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है। भाव यह है कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! यह चिति स्वस्वभाव रूप कोटर में भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पना से क्षण, कल्प तथा जगत् की भ्रान्ति को धारण करती है अर्थात् एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टि काल में भी प्रलय को अतीत एवं अनागत सभी तरह के हजारों प्रलयों के साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यह चिदाकाश निजस्वभाव रूप आकाश में स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध कल्पना किया करता है ॥ २७ ॥

न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह मौन भी नहीं है, किन्तु चिन्मात्र ही स्थित है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलय में जो विशेष है वह भी अपने अनुभव से ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होने से इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता है ॥२८॥

चिति के स्वयं चेत्यस्वरूप होने के कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता अर्थात् चिन्तन का विषय नहीं बनाता। इसलिए हे श्रीराम चन्द्र जी ! यह निश्चित है कि चेत्य और चेतन क्रिया के न होने से चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चिति से भिन्न न तो चेत्य है, न चेतन क्रिया है। एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है ॥ २९ ॥

इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपञ्च में निर्विकल्पक समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीव की पाषाण के समान मौनावस्था है। इसलिये आप बिल्कुल चुपचाप स्थित रहें ॥३०॥

आप भी परमेश्वर के समान लोकदृष्टि से अपने राज्य-परिचालन आदि आचारसमूह का, पिता-पितामह आदि से जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रम से, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टि से परमार्थतः मौन होने के कारण मान, मोह, मद आदि भेद से रहित अङ्गों तथा उनके अभिमानी जीव से रहित हो आकाशकोश के समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहें ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में विश्व-रूपदर्शन नामक कुसुमलता अनुवाद का तिरासीवां अध्याय समाप्त हुआ।

८४

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति।
किं शूर्पफलकुद्दालमुसलादिस्रजावृता ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥२॥

यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥३॥

स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥४॥

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नाऽन्यथा किल।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥५॥

स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥६॥

करोत्येवं शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥७॥

८४

श्रीरामजी ने कहा—हे मुने! आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बताइये और वह जो सूप, हल की फाल, कुदार, मुसल आदि की माला पहिने थी, उस माला के सूप आदि का क्या स्वरूप है? कृपया मुझसे यह भी कहे। इस श्लोक में 'कालः किमिव नृत्यति' पाठान्तर भी है, इस पाठ में भी कालात्मक काली के स्वरूप का ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थ में नृत्य एवं सूप आदि की माला का ही वर्णन है ॥ १ ॥

शिवजी के स्वरूप का निरूपण किये बिना शिवशक्ति के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिए दोनों का साथ-साथ स्वरूप बताने का उपक्रम किया है।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जो वह भैरव है, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजी की वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये। यही माया है, यही शिवजी में एक रूप से अध्यस्त होकर उन्हीं की सत्ता और स्फूर्ति से स्वयं सत्ता एवं स्फूर्ति से युक्त बनती है, इसलिए शिवजी से अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आने पर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुण की प्रधानता से अपने में चारों ओर चिति का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हैं तथा जगत्संस्कार से घटित हो जाती है—इसी कारण से सृष्टि आदि का सङ्कल्प-विकल्प करने के कारण मन की समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥२॥

जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूपा माया दोनों सदा एक ही स्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं है ॥ ३ ॥

जैसे स्पन्दन से वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णता से अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिव से भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥ ४ ॥

स्पन्दनरूप मायाशक्ति से वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं। शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदों के अवाच्य हैं ॥ ५ ॥

माया की जो स्पन्दन शक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिव शिव की इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभास का उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुष की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है। अर्थात् 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि से वह स्पन्द शक्ति ही शिवजी की इच्छा है, यह कहा गया है। वही इच्छा सत्यकाम परमात्मा के मनोराज्य-ऐसे जगत् का निर्माण करती है ॥ ६ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि शिव की उक्त इच्छा ही कार्य करने में दक्ष है, अतः समस्त आकार से रहित शिवजी की स्पन्दन-शक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभास का निर्माण करती है। वही इच्छा अपने भीतर के चिदाभास के द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियों का जीवन है ॥ ७ ॥

प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
दृश्याभासानुभूतानां करणात् सोच्यते क्रिया ॥८॥
वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥९॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात्।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥१०॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याद् दुर्गा दुर्ग्रहरूपतः।
ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥११॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥१२॥

वही जगत् के आकार में परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टि की प्रकृति भी वही है। दृश्यों में (पदार्थों में) प्रतीत होनेवाले उत्पत्ति आदि विकारों का सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है ॥ ८ ॥

वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदि के जलों से आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह वडवाग्नि की लपट के सदृश लपटधारी आदित्य आदि की ज्योतियों से सूख जाती है। दुष्टों के लिए क्रोध की मूर्ति होने से चण्डिका तथा उसका कमल के सदृश वर्णवाली होने से उत्पला कही जाती है ॥ ९ ॥

जब वह एकमात्र जयत्‌निष्ठ हो जाती है, तब जया; सिद्धों की शरण होने से सिद्धा, जया होने से जयन्ती तथा विजय का आश्रय होने से विजया कही जाती है ॥ १० ॥

महाशक्ति के कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होने के कारण दुर्गा, तथा ॐकार की सारभूत शक्ति होने के कारण उमा भी वही कही जाती है ॥११॥

जप करनेवालों के लिए परमपुरुषार्थरूप होने के कारण गायत्री, प्रसव की भूमि होने से सावित्री तथा स्वर्ग-अपवर्ग के साधन एवं समस्त कर्मोपासना के विज्ञानों का विस्ताररूप होने से सरस्वती भी कही जाती है ॥१२॥

माया का स्वरूप अति गौर है, अतः वही शिवजी के शरीर की चिरसङ्गिनी है। सुप्त और जाग्रत् जितने प्राणी त्रैलोक्य में स्थित हैं, उनके हृदय में आकारादि मात्राओं से रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणव के नाद का उच्चारण सदा होता रहता है, इससे जो अङ्गुष्ठपरिमित हृदयकमल के

गौरी गौराङ्गदेहत्वाद् भवदेहानुषङ्गिणी।
सुप्तानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्धृदि ॥१३॥
नित्यं त्रलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते।
शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥१४॥
नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिकृष्टं विलोक्यते।
अस्ति नभो नभस्येव तौ नभो नभसि स्थितौ ॥१५॥
नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाऽप्रजौ।
हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद् बहुत्वाल्पत्वभेदतः ॥१६॥
नानात्वं हलशूर्पादिस्रग्धरत्वं च तच्छृणु।
सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥१७॥

छिद्र में लिङ्गाकार से स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तक में भूषणभूत विन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है। शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित नील प्रतीत होता है। ॥ १३, १४ ॥

चिद्रूप शिव और शिवा ने मांसमय अपने शरीर के सदृश श्यामवर्ण आकाश को सृष्टिसङ्कल्प दृष्टि से कल्पित किया है, इसलिए श्याम की तरह एवं जड़-सा दिखाई देता है, अपने स्वरूप में निराधार अर्थात् शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाशरूप कैसे हो सकते हैं? जैसे आकाश में स्थित है वैसे ही स्थित है आकाशरूप वे ही आकाश में ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाश के ही सदृश समझें।

हाथ, पैर, मुंह तथा सिर आदि की बहुलता एवं अल्पता के भेद से अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि का धारण है, उसे आप सुनें। हे भद्र! एकमात्र स्पन्दन-रूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि-अनन्त-रूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छा से समस्त वैदिक क्रियारूप स्वयं बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात्, जुहुयात्' दो, नहाओ और होम करो इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तव में वह देवी स्पन्दन धर्मयुक्त कमनीय दृश्यश्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवती के जो नानाविध अभिनयों से पूर्ण नृत्य हैं, वे सब ब्रह्मा के कर्मफलरूप सब प्राणियों के जन्म, स्थिति आदि के प्रकार हैं यह जानना चाहिए अर्थात्

दद्यात्स्नायाच्च जुहुयादित्याद्यग्रशरीरिणी ।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भांताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥१८॥
साऽऽकाशरूपिणी कान्ता दृश्यश्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्त्तनाः ॥
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ॥१९॥
क्रियाऽसौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ।
स्पन्दाद् करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ॥२०॥
काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ।
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ॥२१॥
न कदाचन चिद्देवी निर्दृश्यावयवा क्वचित् ।

शिवजी और शिवा दोनों आकाश के सदृश है और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाश के जेठे भाइयों के समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं। [जब अमूर्त हैं, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादि माला का धारण कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर आगे देते हैं ॥ १६–१९ ॥

क्रियारूपा देवी होने से उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तु से कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस प्रतिस्थिति में अपना ठीक स्वरूप निबाहने के लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदि की मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है अर्थात् अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥ २० ॥

हे भद्र ! यह काली है। तात्पर्य यह है—'कल गतौ संख्याने च' इस धातु से काल और काली दोनों शब्दों का निर्माण हुआ है। वैयाकरण लोगों का कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है अर्थात् कामधेनु से जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातु से जो भी अर्थ निकालना हो, तो निकाला जा सकता है। इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्ड-रूप बीज कोशों की निर्माणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारों को प्राप्त भी कराती है स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललता के सदृश श्यामला भी बन गई है। इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इन पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मी को हृदय में धारण करती है अर्थात् काली शब्द की व्याख्या में भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड शरीर होने से समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ॥२२॥
यथाऽङ्गं शून्यता व्योम्नः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
ज्योत्स्नायाश्चेत्यमेवं हि दृश्यमङ्गं चितेः क्रिया ॥२३॥
शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ।
न मनागपि तत्राऽस्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ॥२४॥
सा क्रियैव तथारूपा सति बोधवशाद् यदा ।
व्यावृत्त्यैव तथैवाऽऽस्ते शिव इत्युच्यते तदा ॥२५॥
चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ।
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥२६॥

वास्तव में चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दों से वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं। हे भद्र ! केवल यही आप जानिए कि वह शिवस्वरूप से अभिन्न होने के कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है, अर्थात् जगत्-रूप अङ्गों को धारण करने पर भी उसकी असंगो-दासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होने के कारण वास्तव में निरवयवता ही है ॥ २२ ॥

चिति का क्रिया एवं दृश्य वैसे ही है, अंग जैसे आकाश का शून्यत्व है, वायु का स्पन्दन है, चन्द्रिका का खिलने वाला कुमुद आदि अङ्ग है ॥ २३ ॥

वास्तव में उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानें। उसमें तनिक भी स्तिमितता या स्पन्दधर्मता नहीं है, अर्थात् इसप्रकार उसका कलात्मक, जगदङ्गवाले क्रियास्वरूप का वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बताते हैं ॥ २४ ॥

अज्ञान दशा में वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश अर्थात् ज्ञानवश क्रियास्वभाव से मुक्त होकर वास्तवरूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिव-संज्ञा पड़ जाती है; उसे शिव ही कहा जाता है; अर्थात् उसका जो क्रियात्मक स्वरूप है, वह तो अबोधकाल में दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशा में प्रत्यक्ष होता है ॥ २५ ॥

कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवी का अपने स्वरूप में जो अविद्या से प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभाव से स्थित है, वही क्रिया कही जाती है और विद्या से जब उसकी वास्तविक विशुद्धि अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥ २६ ॥

कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ॥२७॥
सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ।
सद्वीपसागराः पृथ्व्यः सवनावनयोऽद्रयः ॥२८॥
साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ।
सविधिप्रतिपेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ॥२९॥
सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ।
भूपालोलूखलवृसीशूर्पयूपादिसंयुताः ॥३०॥
सङ्ग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ।
सभुशुण्डीगदाप्रासहयेभभटभासुराः ॥३१॥
ज्ञातयो भूतसङ्घानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
चतुर्दशाऽब्धिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥३२॥

चितिशक्ति की स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी, जिसने कि कल्पित स्वरूप धारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ उसके अभिन्न अवयव ही हैं। जिसने कल्पित जगत्‌रूप देह धारण किया है, उस काली के नृत्य में कल्पित गीतों के सदृश कल्पित सूर्य आदि की माला का धारण करना भी उचित ही है ॥ २७ ॥

सब उसके अनन्य अवयव हैं—विद्यमान जनता वर्ग से युक्त सृष्टियाँ, आलोक से भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरों से पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमि से युक्त पर्वत; अंग-उपांगों से, विद्यास्थान तथा गीतियों से, विधि-निषेधरूप अर्थों से एवं शुभाशुभ कल्पनाओं से युक्त वेद; पुरोडाशरूप द्रव्य से वर्णित होनेवाले, लाजे, ओखरी, आसन, सूप, स्तम्भों से युक्त दक्षिणाग्निवाले यज्ञ; त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधों से एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी योधा आदि से युक्त सग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवी के अंग हैं ॥२८–३२॥

श्रीरामभद्र ने कहा—हे भगवन् ! रुद्र और काली के शरीर को धारण की हुई चिति के अङ्ग में प्रलयकाल में भी अतीत, अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है, उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत् स्वभाव अर्थक्रिया-समर्थ आत्मा में स्थित है, अर्थात् सत् हैं या मृगतृष्णा जल के सदृश असत्य = सत्स्वभाव से रहित हैं ? यह कहे पूर्व सर्ग में अर्थात् कैसे द्वैत और ऐक्य एक काल में रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ-क्रिया का सम्पादन नहीं कर सकते। अपने अस्तित्व के प्रभाव से कार्य का अस्तित्व पैदा करना ही कारणों की कार्यार्थ-क्रिया है और उपादान के साथ कार्यों की अर्थ-क्रियाकारिता या सत्ता का अपहरण नाश है। एक समय में कार्यों में सत्ता या सत्ता का अपहरण उनका कारण नहीं कर सकता है। ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणों की सत्ता के साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलय में अपनी-अपनी अर्थ-क्रिया का निर्वाह कभी नहीं कर सकते इस आशय को लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

चितेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्गे स्थितास्तथा ।
ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उताऽसत्या वदेति भो ॥३३॥

वसिष्ठ उवाच

रामाऽसौ किल चिच्छक्तिस्तया यच्चोदितं तथा ।
तत्प्रचेतितमेवाऽतः सत्यं चेदमिवाऽखिलम् ॥३४॥
तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
सत्यं तदन्तरेवाऽस्ति चितेर्नाऽसत्यमर्थतः ॥३५॥

वास्तव में तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्-तत् भोक्ता प्राणियों के भेद के द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तु के रूप में सत्यसङ्कल्प अर्थात् चिति ने सङ्कल्प किया, उसका उसी के रूप में उन भोक्ताओं ने भी अनुभव किया। अतः, उन अनुभवकर्ताओं की दृष्टि से यह समस्त जगत् सत्य के समान है और अन्यों की दृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि के कारण असत्य-सा भी है अर्थात् जगत् और प्रलय की कभी भी न तो आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य सङ्कल्प का अनुसरण करनेवाली चिति ने जिसे सत्यस्वरूप से प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूप से प्रकाशित किया वह असत्य है। इसलिए किसी भी पदार्थ का स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता। इस बात से यह निष्कर्ष निकला कि प्रलय-काल में ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चिति का वैसा सङ्कल्प था तथा नहीं भी थे, क्योंकि चिति का अन्य सङ्कल्प भी था ॥ ३४ ॥

बाह्य मुख आदि बिम्ब को लेकर जैसे दर्पण में प्रति-

चिद्रूपस्य तथाऽप्यन्तः सत्सङ्कल्पपुरं भवेत् ।
दृढध्यानाद्विशुद्धायाश्चितेर्भवतु सा कथम् ॥३६॥

आदर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गः सङ्कल्पनेऽस्तु वा ।
स आत्मन्यर्थकारित्वात् सत्य इत्येव मे मतिः ॥३७॥

मम नार्थाय स इति वक्षि चेत्तत्कथं भवेत् ।
देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय सम्प्रति ॥३८॥

यथा देशान्तरग्रामस्तद्गतस्यार्थकृद् भवेत् ।
सर्वं तथैव तद्भावं गतस्यार्थविनिश्चयात् ॥३९॥

यद् यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवाऽतत्तामुपेयुषः ॥४०॥

तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्याऽन्यस्य नाऽखिलाः ॥४१॥

भूतभव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्वप्नपूर्गणाः ।
सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥४२॥

प्राप्यन्ते योगसिद्धेन तद्भावं तु गतेन ते ।
अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥४३॥

बिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासना को लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसी में विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभाविता के प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥ ३५ ॥

अनुभव के बल से पदार्थ की सत्यता होने पर भी चेतनरूप या अचेतनरूप में प्रवेश न हो सकने के कारण जगत् सङ्कल्पनगर के सदृश मिथ्या ही होगा। जब दृढ़ ध्यान से चिति का आवरणरूप मल हट जायगा, तब वह प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती है, फिर सत्यता की चर्चा ही क्या ? ॥ ३६ ॥

हे भद्र ! दर्पण में प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्न में दृश्यमान या सङ्कल्प में कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियों की दृष्टि से सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी ही है, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है अर्थात् अज्ञानियों की दृष्टि से जगत् में प्रतीत्यात्मक सत्यता स्वप्न आदि के पदार्थों में भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है ॥ ३७ ॥

हे राघव ! यदि आप यह कहें कि आदर्श के भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करने में समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं है, तो इस पर मैं यह कहता हूँ, सुनिये। ठीक ही है, वह दर्पण में रहनेवाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थान में स्थित वस्तु दूसरे स्थान में कुछ अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थान में स्थित वस्तु दूसरे स्थान में कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, एतावता क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेश में रक्खे हैं, वे क्या आपके घर में आकर कुछ अर्थ करने में समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थों की इस समय जैसे देशान्तर में अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदि में प्रतिबिम्ब आदि की भी अर्थक्रियाकारिता है। जैसे देशान्तर में स्थित गाँव उसमें गये हुए पुरुष के लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदि के द्रष्टा के रूप को प्राप्त हुए पुरुष के लिए स्वप्नादि के समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थ का निश्चय है ॥ ३८–३९ ॥

हे भद्र ! जो पदार्थ यथार्थ में सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टा के प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्य के प्रति वह असत्य है अर्थात् तत्-तत् अर्थक्रिया को देखनेवाले द्रष्टा की दृष्टि से ही सत्य ठहरता है, दूसरे की दृष्टि से नहीं, यों प्रतिबिम्बादि की सत्यता व्यवस्थित हो जाती है ॥ ४० ॥

चितिशक्ति के कोश में अवस्थित समस्त सृष्टियाँ स्वप्नादि द्रष्टृरूपता को प्राप्त पुरुष के प्रति सत्य हैं और अन्य के प्रति सब असत्य हैं, क्योंकि तद्गत सत्यता का प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा ही है ॥ ४१ ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्य के जितने भी सङ्कल्प, स्वप्न आदि के नगर आदि हैं, वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म स्वरूप का तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तु का तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥ ४२ ॥

स्वप्नद्रष्टा पुरुष से भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय-प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदय में जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थों को वैसे ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् दूसरे के स्वप्नों में अनुभूत होने वाले पदार्थों को योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं जैसे अन्य स्थान में विद्यमान पर्वत, गाँव आदि पदार्थ वहाँ गमन करने से प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम्।
न लुठत्येव लुठितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥४४॥
तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत्।
न लुठत्येव मुकुरप्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥४५॥
स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम्।
भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने वद ॥४६॥
कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मुधा।
कदा स्वप्नपुरं भग्नं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥४७॥
भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रीर्यावदग्रगा।
त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगल्लक्ष्मीमवास्तवीम् ॥४८॥
संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे।
यथा पुरानुभवनं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥४९॥
अहमिति जगदिति नाऽन्तर्भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः।
परमाकाशकृशाख्या शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

यदि पलँग धीरे से अन्य स्थान में हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रा में सोया हुआ पुरुष शयन स्थान से अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है। बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रि का शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत्-चलित नहीं ही हुआ, यह भी हो सकता है। दर्पण में प्रतिबिम्ब के सदृश उसके शरीर में जगत् स्थित रहता है ॥ ४४–४५ ॥

त्रैलोक्य का महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्ति मात्र ही है। जो भ्रान्तिमात्ररूप हैं, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है ? यह बतलाइये ॥ ४६ ॥

कब स्वप्ननगर सत्य रहा, कब स्वप्ननगर असत्य रहा, कब स्वप्ननगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा ? ॥४७॥

भगवती काली के अङ्गों में स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समय की जगत्-लक्ष्मी को भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानें ॥ ४८ ॥

हे राघव ! संकल्प, इस त्रैलोक्यानुभव को भी आप भ्रान्तिरूप वैसे ही समझे जैसे मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशा में नगरों का अनुभव भ्रान्तिमात्र है ॥ ४९ ॥

चितिरूप आत्मा के अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नाम की कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाश की कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है। आकाश में कृशता या कालिमा नहीं है, वह केवल भ्रान्ति से वैसा दीखता है। इसलिए इस दृश्यश्री को निपुणता से देखा जाय, तो वह शान्त हो जाती है ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में कालरात्रि वर्णन निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

८५

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥१॥
क्रियाऽसौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया।
अस्या विभूषणं शूर्पकुद्दालपटलादिकम् ॥२॥

८५

श्रीवशिष्ठजी ने कहा—वर्णित रीति से भगवती कालरात्रि भयंकर नृत्य करती है, उसके नृत्य का क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलों से उसने सारे आकाश को एक घना जङ्गल की तरह बना रक्खा है ॥१॥

हे श्रीरामजी ! चितिशक्ति का असली तत्त्व न जानने पर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभाव से वहाँ नृत्य करती है। वास्तव स्थिति तो यह है कि चितिशक्ति में किसी तरह का नृत्यादि विकार है ही नहीं। इसी क्रियात्मक चिति के सूप, कुदार पटल आदि भूषण हैं ॥ २ ॥

शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च।
भावाभावपदार्थौघकलाकालक्रमादि च ॥३॥

चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद् धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥४॥

पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा।
यथा स्पन्दोऽनिलस्याऽन्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥५॥

अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥६॥

नृत्यन्त्याऽथ यदा तत्र तथा तस्मिन् पराम्बरे।
काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥७॥

निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम्।
वाडवोऽग्निः स्वनाशायाऽऽवहन्त्येवाऽम्बुलेखया ॥८॥

बाण, शक्ति, गदा, भाला, मूसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, काल के क्रम आदि भी उसी के भूषण हैं ॥ ३ ॥

जैसे हृदय में मनोराज्य-कल्पना ही नगराकार को धारण करती है, वैसे ही चिति का स्पन्दन ही अपने भीतर जगत् को धारण करता है। अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानें, अर्थात् जैसे—लुआठी का स्पन्दन चक्र के आकार में दिखाई देता है, वैसे ही उक्त चिति का स्पन्दन जगत् के आकार में दिखाई देता है ॥ ४ ॥

जैसा पवन का (स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजी की इच्छा है। इससे पवन के भीतर का स्पन्दन जैसे पवन के स्वरूप से अलग नहीं है, किन्तु पवनस्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजी की इच्छा शिवजी के स्वरूप से अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है। अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिव से अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए अर्थात् शिवजी की इच्छारूपा वह कालरात्रि शिवजी से अभिन्न है ॥५॥

शिवजी की निराकार इच्छा साकार जगत् वैसे ही पैदा करती है जैसे आकार रहित वायु का स्पन्दन आकाश में साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है ॥ ६ ॥

अनन्तर जैसे बह रही समुद्रजल की रेखा अपने विनाश के लिए वाडवाग्नि का स्पर्श करती है, वैसे ही

स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिस्ततः परमकारणे।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥९॥

अनन्ताकारतां त्यक्त्वा सम्पन्ना गिरिमात्रिका।
ततो नगरमात्राऽसौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥१०॥

ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाऽऽकृतिं ततः।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥११॥

एकि एवाऽभवदथो शिवया परिवर्जितः।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥१२॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छिवसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥१३॥

उस चिदाकाश में नृत्य कर रही उस कालरात्रि ने काकतालीय योग से अत्यन्त प्रेम से निकटवर्ती शिवजी ने स्पर्श कर लिया। जैसे ही उसने स्पर्श किया वैसे ही उसका आवरण करने वाला शक्तिरूप अंश थोड़ा-सा हट गया ॥ ७–८ ॥

हट जाने के अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजी के स्पर्श से वह काल-रात्रि धीरे-धीरे अपने अव्यक्तभावको तथा छोटेपन को प्राप्त होने लग गई ॥ ९ ॥

पहले उसने अपने विशाल आकार का परित्याग किया, पञ्चीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र वासनारूप पल्लव के कारण वृक्ष के सदृश सुन्दरी बन गई ॥ १० ॥

अनन्तर अव्याकृत आकाश के सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजी के आकार में उसी प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्र में प्रविष्ट होती है ॥ ११ ॥

अनन्तर शिवा से रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये। ये पूर्ववर्णित चिदाकाशरूप गगन में सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकार के उपद्रवों की शान्ति से कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥ १२ ॥

श्रीरामभद्र ने कहा, हे भगवन् ! शिवजी से स्पर्श को प्राप्त भगवती शिवा कालरात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सा रामः प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥१४॥
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥१५॥
भ्रमति प्रकृतिस्तावत् संसारे भ्रमरूपिणी।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥१६॥
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम्।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥१७॥
संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥१८॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।

श्रीवशिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! वह प्रकृति है, वह परमेश्वर की इच्छारूपा शक्ति है। शास्त्रों में विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दन शक्ति भी वही है ॥ १४ ॥

प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृति से परपुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरत्काल के सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥ १५ ॥

वह शिवजी की इच्छारूपा केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वर की चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसार में तबतक भ्रमण कर सकती है, जबतक नित्यतृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट आदि-अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्मा को नहीं देख लेती। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्ति में तबतक स्पन्दन रहता है, जबतक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्ट की प्राप्ति= परमात्मा की प्राप्ति हो जाने पर तो उसकी शक्ति हो जाती है ॥ १६, १७ ॥

यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्ति की आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योग से यह चितिदेवी जब शिवजी का स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥ १८ ॥

पुरुष को छूकर समुद्र में नदी के सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥ १९ ॥

तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवाऽर्णवे ॥१९॥
आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अर्णव एव सा।
यदा तदा तमेवाऽऽशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥२०॥
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवाऽऽसाद्य शाम्यति।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथाऽऽयसी ॥२१॥
पुंसश्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम्।
यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥२२॥
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम्।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥२३॥
साधुर्वसति चोरौघे तावद्यावदसौ न तम्।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥२४॥

नदियों का स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्र का संग होने पर भी उसका वही रूप रहता है। जब यही वास्तविक स्थिति है, तब वह उसको (समुद्र को) प्राप्त कर तत्काल ही उसी में एकरूप से लीन हो जाती है ॥ २० ॥

हे राघव ! लोहनिर्मित छुरी आदि की धारा अपनी उत्पत्ति के कारण लोहशिला को प्राप्त कर उसी में जैसे शान्त हो जाती है अर्थात् लोहे में मिल जाने पर धारा कुछ काम नहीं कर पाती, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूप चितिशक्ति उस शिव देव को ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है संसार में कुछ काम नहीं कर पाती ॥ २१ ॥

वन आदि की छाया में प्रविष्ट पुरुष की निजी छाया, जैसे उसी के रूप की हो जाती है, वैसे ही पुरुष में प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥ २२ ॥

हे भद्र ! अपना सनातन पुरुष भाव को प्रकाशित कर देने के अनन्तर फिर वह न इस संसार में भ्रमण करता है और न प्रकृतिभाव को ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमन में निमित्त कारण अज्ञान का बाध हो जाता है ॥२३॥

साधु पुरुष तब तक चोरों के समुदाय में रहता है, जबतक कि वह उसे जानता नहीं अर्थात् भ्रान्ति से चोर को अपना हितैषी समझकर तबतक उसके बीच में रहता है, जबतक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता। परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीच में रमण या वास नहीं करता है ॥ २४ ॥

द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥२५॥

चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाऽब्धिताम् ॥२६॥

तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाऽऽशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गो ॥२७॥

संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्याऽनुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

जबतक परम आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपञ्च में चिति (अज्ञ चिति अर्थात् जीव) रमण और भ्रमण करती है। जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥ २५ ॥

चिति में निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति अज्ञानयुत चिति = उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्र में नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥ २६ ॥

जबतक उस परब्रह्म परमात्मा को चिति साक्षात् नहीं देखती, तबतक विशाल मोह के प्रभाव से आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गों में और उन जन्म आदि दशाओं में भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर इस प्रकार डूब जाती है, जैसे कि मधु में भ्रमर डूबता है ॥ २७ ॥

हे रामभद्र ! लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्मा को प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायन (अमृत) को प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उद्धरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में वासनाभावप्रतिपादन वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का पच्चासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

८६

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥१॥

स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्र इवार्पिताः ।
निस्पन्दा एव तत्राऽऽसन् प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥२॥

८६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उस महाकाश में उस प्रकार से अवस्थित वे महारुद्र जिस प्रकार से अपनी देहगत उक्त भ्रान्ति का त्याग कर शान्त हो जाते हैं, अब उस प्रकार का श्रवण करें ॥ १ ॥

हे भद्र ! ब्रह्माण्ड की ऊपर-नीचे की दोनों खोपड़ियाँ तथा वह रुद्र तीनों उक्त चिदाकाश में उस समय चित्र-लिखित के सदृश निश्चल अर्थात् चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥ २ ॥

ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे।
खण्डौ विलोकयामास दृशाऽर्केणेव रोदसी ॥३॥

ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवाऽऽनने ॥४॥

अतिष्ठदेक एवाऽसावेकं खे खमिवाऽखिले।
भुक्तब्रह्माण्डखण्डोग्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥५॥

ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाऽभवत्।
ततोऽभवद् यष्टिसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥६॥

ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः।
ततः सोऽणूभवन् दृष्टो मया खाद्दिव्यदृष्टिना ॥७॥

परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ।
इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत्।
तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ॥८॥

अनन्तर एक मुहूर्तमात्र में अन्य आकाश में उस रुद्र ने उक्त खण्ड को (ब्रह्माण्ड के ऊपर-नीचे के दो हिस्से) को उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टि से देखा, जिस तरह द्यु और मूर्ति है ॥ ३ ॥

अनन्तर एक निमेषमात्र में उस रुद्र ने अपने मुख से खींचे गये श्वासवायु से उन दोनों खोपड़ियों को अपने समीप लाकर पाताल-गुहा के सदृश मुख में फेंक दिया अर्थात् मुख के भीतर डाल दिया ॥ ४ ॥

जैसे आकाश में आकाश एकरूप हो उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पक्वान्न के मण्डल को ग्रस लिया था, वैसे ही एकरूप हो गये ॥ ५ ॥

उसके बाद एक मुहूर्तमात्र में मेघ के सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टि के सदृश हो गये, इसके बाद प्रादेशमात्र = अंगूठे से लेकर तर्जनीतक के नापवाले—विते भर के हो गये ॥ ६ ॥

अनन्तर ऐसे रुद्र की काच के छोटे टुकड़े के सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा। फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डल से भी छोटे अणु होने लग गये ॥ ७ ॥

अनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये। इस प्रकर उस तरह जगत् से लेकर रुद्र देहतक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्काल के मेघखण्डों के सदृश मेरे देखते-देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥ ८ ॥

इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके।
विनिगीर्णे क्षुधार्तेन हरिणेनेव पर्णके ॥९॥

अथाऽभून्निर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ॥१०॥

इत्यहं दृष्टवांस्तत्र कल्पान्तमुरुविभ्रमम्।
दर्पणप्रतिबिम्बाभं शिलाशकलकोटरे ॥११॥

अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तच्च विभ्रमम्।
राजद्वारगतो ग्राम्य इवाऽहं विस्मयं गतः ॥१२॥

तामालोकितवान् भूयः कलधौतशिलामहम्।
यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाऽङ्गके ॥१३॥

बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्ष्णा वा न ते यथा।
सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्त्येव तदा तथा ॥१४॥

भगवान् शंकरजी ने आवरणयुक्त ब्रह्माण्डरूपी कपाट उसी प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्ते को निगल जाता है ॥ ९ ॥

अनन्तर वह दृश्यरूप कालुष्य से रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया। वह आदि, मध्य और सीमा से शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥ १० ॥

इस प्रकार उस शिला के टुकड़े के कोटर में (खोड़रे में) मैंने दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह महान विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥ ११ ॥

हे राघव ! अनन्तर उस अंगना का, उस शिला का एवं उस संसारभ्रम का स्मरण कर मुझे इस प्रकार विस्मय प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वार पर आकर परम विस्मयरूप को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पुनः उस सुवर्ण की शिला को मैंने पूर्व प्रदेश से अन्य प्रदेशों में भी देखा। उसके अशेष अंगों में सभी जगह कालरात्रि के अंगों के सदृश अनेक सृष्टियाँ विद्यमान थीं ॥ १३ ॥

बुद्धिरूपी नेत्र से वे सृष्टियाँ उन शिला-खण्डों में दीख

दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला।
दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ॥१५॥
साऽवस्थिता शिलैवैकरूपा निबिडमण्डला।
कलधौतमयी स्फारा सन्ध्याजलदसुन्दरी ॥१६॥
ततोऽहं विस्मयाविष्टः प्रविचारितवान् पुनः।
शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ॥१७॥
यावत्तमपि पश्यामि जगदारम्भमन्थरम्।
तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ॥१८॥
पुनरन्यं तथैवाऽहं प्रदेशं परिदृष्टवान्।
सर्गसंरम्भवलितं यावत्तमपि तादृशम् ॥१९॥
यं यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै।

पड़ती हैं और अद्वैत दृष्टि से वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब काल में सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा ही हो सकता है ॥ १४ ॥

यदि मांसमय दृष्टि से दूर पर स्थित वस्तु के सदृश आपाततः देखी जाय तो वह केवल अकेली शिला ही देखने में आयेगी, उसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥ १५ ॥

घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकाल के मेघ के सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥ १६ ॥

हे श्रीराघव ! इसके बाद अत्यन्त आश्चर्य से युक्त होकर मैंने फिर उस शिला के दूसरे भाग के विषय में उसी प्रकार की दिव्यदृष्टि से विचार किया ॥ १७ ॥

विचार कर ज्यों ही मैंने उसे देखा, वैसे ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरह के जगद् के आरम्भ से (सृष्टियों से) खचा-खच भरा ही मेरी दृष्टि में आया। पहले जिस प्रदेश को देखा था, उसी तरह से वह भी छिद्राकाश में (आकाश में) अनेक तरह के अर्थों से सुन्दर ही लग रहा था ॥ १८ ॥

इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेशों को भी देखा, तो वह भी उसी प्रकार से अनेक तरह की सृष्टियों के आडम्बरों से परिपूर्ण ही था ॥ १९ ॥

जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव बिम्बितम् ॥२०॥
मयाऽतिकौतुकेनाऽथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः।
अन्विष्टा भूमिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ॥२१॥
यावत्सर्वत्र तत्तादृग्जगदस्ति यथास्थितम्।
बुध्यैव दृश्यते नाऽक्षणा परया विविधाकृति ॥२२॥
क्वचित्प्रथमसर्गात्मजायमानप्रजापति।
कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनरात्र्यृतुवत्सरम् ॥२३॥
क्वचित्किंचिन्महीपीठसम्पन्नजनमण्डलम्।
क्वचित्किञ्चिदखातोग्रचतुःसागरखातकम् ॥२४॥
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातसुरसञ्जातदानवम्।
क्वचित्किञ्चित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ॥२५॥

हे भद्र ! उस शिला के जिस-जिस प्रदेश को मैं देखता था, उस-उस प्रदेश में, निर्मल दर्पण प्रतिबिम्ब के सदृश, जगत् दिखाई देता था ॥ २० ॥

इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुक से उस पर्वत की सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदि के ऊपर जहाँ कहीं भी दृष्टिपात किया, वहाँ सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरह के आकारों से युक्त जगत् को विद्यमान देखा। हे भद्र ! यह उत्तम बुद्धि से (अधिभौतिक देहभाव की भ्रान्ति से यह शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस (बुद्धि से) ही देखा जाता है, चर्मचक्षु से नहीं देखा जाता है ॥२१, २२ ॥

उस उस प्रदेश में जो जो जो विशेष विक्षेप देखा, अब उसे प्रदर्शन करते हैं—

कहीं पर प्रारम्भिक सृष्टि के लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रात की कल्पना की जा रही थी ॥ २३ ॥

कहीं पर पृथ्वी की पीठ मनुष्यों के समूहों से भरी थी, तो कहीं पर राजा सगर के पुत्रों ने चार समुद्ररूपी विकट खाइयाँ अभी तक नहीं खोद पायी थीं ॥ २४ ॥

कहीं पर कोई जगत् तो देवताओं की उत्पत्ति से शून्य और दानवों की उत्पत्ति से शून्य था, युक्त देखने में आया, तुम तो कहीं पर कुछ जगत् सत् युग के आचरण और सज्जन प्राणियों से भरा मैंने देखा ॥ २५ ॥

क्वचित्किञ्चित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ।
क्वचित्किञ्चित्पुरव्यूहदैत्यसङ्गरदुस्तरम् ॥२६॥
क्वचित्किञ्चिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
क्वचित्किञ्चिदसम्पन्नसर्गमेकाम्बुजोद्भवम् ॥२७॥
क्वचित्किञ्चिज्जरामृत्यून्मुक्तभूतलमानवम् ।
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातचन्द्रशून्यशिरःशिवम् ॥२८॥
अनिर्मथितदुग्धाब्धिमृत्युमत्सुरपूरितम् ।
असञ्जातामृताश्वेभवैद्यगोकमलाविषम् ॥२९॥
शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
क्वचित्किंचिच्च गर्भाङ्गकर्त्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥३०॥
अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।
क्वचित्किञ्चिच्च पूर्वान्यसन्निवेशक्रमस्थिति ॥३१॥
अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
क्वचित्किञ्चिन्न कल्पान्तसंक्षोभमिव संस्थितम् ॥३२॥
क्वचित्किञ्चिच्च दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
क्वचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायद्गन्धर्वकिन्नरम् ॥३३॥
क्वचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
भूतभव्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥३४॥
तदाऽनुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ॥३५॥
एकत्र कल्पविक्षुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ।
एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ॥३६॥
एकत्र समनुक्षुब्धसुरासुरनरेश्वरम् ।

हे भद्र ! कहीं पर कुछ जगत् कलियुग के आचरणों से युक्त तथा दुर्जन प्राणियों से भरे थे, तो कहीं पर कुछ जगत् नगरों की राशियों एवं दैत्यों के संग्रामों से अति संकीर्ण थे ॥ २६ ॥

कहीं पर जगत् बड़े-बड़े पर्वतों के समूहों से इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहीं पर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए थे ॥ २७ ॥

कहीं पर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वी के सभी मानव जरामरण से रहित थे और कहीं पर भगवान् शङ्कर ऐसी स्थिति में दिखाई दिये कि उनके मस्तक पर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूषणरूप चन्द्र की उत्पत्ति ही वहां नहीं हुई थी ॥ २८ ॥

हे भद्र ! कहीं पर तो क्षीर-सागर का मथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओं से पूर्ण था तथा वहां अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥ २९ ॥

कहीं पर शुक्राचार्य की मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करने वाली महती तपश्चर्या में विघ्न डालने के लिए देवता उत्कण्ठित दिखाई दे रहे थे, तो कहीं पर भावी शत्रुओं के नाश के निमित्त दिति के पेट में घुसकर गर्भ के अवयवों को काटने के लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥ ३० ॥

कहीं पर जगत् में धर्म में ग्लानि न आने के कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञान से पूर्ण थी, कहीं पर तो पदार्थ स्थिति पूर्व सिद्ध अवयव रचना के क्रम से विलक्षण ही थी ॥ ३१ ॥

कहीं पर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्र के अर्थों के अनुसार आचरण तथा विचार में तत्पर दिखाई दिया तथा कहीं पर महाप्रलय के क्षोभ से रहित अतएव सुन्दर निश्चल रूप से स्थित दिखाई पड़ा ॥ ३२ ॥

कहीं पर तो जगत् में दैत्यों के समूहों से देवताओं के घर लूटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत् में देवताओं के उद्यानों में गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥ ३३ ॥

कहीं किसी जगत् में देवता और दानवों में समुद्र-मथन के लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द देखने में आया ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल के महान् जगदाडम्बर को मैंने उस समय विश्वरूप महादेव जी के स्वरूप में अर्थात् मायायुत चिदाकाश में देखा ॥ ३५ ॥

कहीं पर जगत् कल्प काल के कुपित पुष्करावर्त मेघों के कारण व्याकुल था, तो कहीं पर शान्त समस्त भूतों के समूहों से उपद्रव रहित था ॥ ३६ ॥

कहीं पर कुपित देवता, दानव एवं राजाओं से व्याप्त था, कहीं पर सूर्य की उत्पत्ति ही न होने के कारण निरन्तर अनाशित अन्धकार से पूर्ण था ॥ ३७ ॥

एकत्राऽसम्भवद्भानुनित्याभिन्नतमोघनम् ॥३७॥
एकत्राऽसंभवद्धान्तं कान्तं ज्वालोदरोपमम् ।
एकत्र नलिनीनालनिलीनमधुकैटभम् ॥३८॥
एकत्र पद्ममञ्जूषासुप्तबालनवाब्जजम् ।
एकत्रैकार्णवोदग्रवृक्षविश्रान्तमाधवम् ॥३९॥
एकत्र कल्परजनीनिःशून्यतिमिराकुलम् ।
शिलाजठरनिस्पन्दं व्योमैव वितताकृति ॥४०॥
सुषुप्तजठराकारमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सुषुप्तमिव सर्वतः ॥४१॥
एकत्र पक्षविक्षुब्धशैलकाकाकुलाम्बरम् ।
एकत्र वज्रनिष्पेषद्रवद्भूधरभासुरम् ॥४२॥
एकत्रोद्वृत्तमत्ताब्धिह्रियमाणधराचलम् ।
एकत्र पुरवृत्रान्धबलिसङ्गरसङ्कुलम् ॥४३॥

कोई सूर्योदय के कारण अन्धकार से रहित अतएव ज्वालोदर के समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था, और कहीं भगवान् के नाभि-कमल की नाल में मधु और कैटभ छिपे हुए थे ॥ ३८ ॥

किसी जगत् में तो महाप्रलय में उन्नत अग्रभाग वाले अक्षय वट के पत्ते के ऊपर भगवान् नारायण विश्राम ले रहे थे ॥ ३९ ॥

किसी जगत् में प्रलय रूपी महारात्रि का अति शून्य रूप अर्थात् प्रकाश रहित गाढ़ अँधेरा छाया हुआ था, तो किसी में शिला के पेट के सदृश निश्चल विशाला कृति आकाश ही दीख पड़ता था ॥ ४० ॥

कोई तो सोया हुआ और जठर के सदृश मालूम पड़ रहा था, कोई अतर्कित विलक्षण तथा ज्ञान योग्य ही नहीं था, इसलिए चारों ओर सुषुप्त के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ४१ ॥

किसी जगत् में परों से अत्यन्त क्षुब्ध पर्वतरूपी कौओं से सारा आकाश मण्डल आच्छन्न था और किसी में वज्र से चूर्णित अतएव द्रवीभूत पर्वतों के कारण अपूर्व भासुरता दीख पड़ती थी ॥ ४२ ॥

किसी में तो तरङ्ग मालाओं से आकुल प्रमत्त समुद्र पृथ्वी और पर्वतों को ले जाते हुए दीख पड़े और कहीं पर त्रिपुरासुर, वृत्रासुर, अन्धकासुर तथा बलि के संग्राम हो

एकत्र मत्तपातालगजकम्पिवसुन्धरम् ।
एकत्र शेषशिरसः कल्पान्तलुठितावनि ॥४४॥
क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम् ।
रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराघवम् ॥ ५॥
भूस्थपादेन देवाद्रिशिरस्थशिरसा परम् ।
पश्याम्यम्बरमाक्रान्तं क्वचिद्वै कालनेमिना ॥४६॥
क्वचिच्चापसुरैर्नित्यं दानवैरेव पालितम् ।
क्वचिच्च भ्रष्टदनुजैरमरैरेव पालितम् ॥४७॥
जिष्णुयुक्तेन गुप्तेन विष्णुपाण्डवकौरवैः ।
क्वचिद्भारतयुद्धेन निहताक्षोहिणीगणम् ॥४८॥

श्रीराम उवाच

किमहं भगवन् पूर्वमभवं कथयेति मे ।

रहे थे, इससे वह बड़ा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था ॥ ४३ ॥

कहीं पर मत्त पाताल गजों से वसुन्धरा कम्पित हो रही थी और कहीं शेष के मस्तक से कल्पान्त में पृथ्वी लुढ़क रही थी ॥ ४४ ॥

किसी स्थान में छोटे बालकरूप राम जी राक्षस रावण को नष्ट कर रहे थे, तो किसी में राक्षस रावण ही सीता-हरण द्वारा राघव को ठग रहा था ॥ ४५ ॥

कहीं पर कालनेमि राक्षस ने भूमिपर धरे अपने पैर से तथा सुमेरु पर्वत के मस्तक पर रक्खे अपने मस्तक से महान् आकाश आक्रान्त कर रक्खा था, यह भी मुझे देखने में आया ॥ ४६ ॥

कहीं पर सारा जगत् देवों को हटाकर दानवों द्वारा पालित था और कहीं पर दानवों को हटाकर देवों द्वारा ही पालित था ॥ ४७ ॥

कहीं पर जगत् अर्जुन युक्त स्वजन पालक कृष्ण से पाण्डव तथा कौरवों के द्वारा महाभारत-युद्ध से अनेक अक्षौहिणियों का विनाश किया जा रहा था ॥ ४८ ॥

श्रीराम जी ने कहा—हे भगवन् ! क्या मैं पहले उत्पन्न हुआ था, यदि उत्पन्न हुआ था, तो क्या इन्हीं अवयवों से

अभवं चेदनेनैव सनिवेशेन तत्कथम् ॥४९॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वं एव विवर्त्तन्ते राम भावाः पुनः पुनः।
पूर्यमाणा यथा माषाः क्रमेणाऽन्येन तेन वा ॥५०॥

सर्वक्रमसमाः केचित्तयैवाऽन्येन वा मिथः।
स्फुरन्त्यर्थसमा भावाः केचिदब्धितरङ्गवत् ॥५१॥

पुनस्त्वं पुनेरवाऽहं पुनः पुनरिमे जनाः।
न कदाचन नैवाऽन्ये संभवन्त्यखिलं परे ॥५२॥

त एवाऽन्येऽथवाऽम्भोधौ तरङ्गा इव निर्णयः।
यद्वन्न जायते तद्वद् भूतानां भ्रमतां भवेत् ॥५३॥

आयान्ति यान्त्यनन्तानि भूतानीह भवभ्रमैः।
तान्येवाऽन्यानि चाऽन्यानि समानि विषमाणि च ॥५४॥

आवृत्तिमन्ति तान्येव तथैवाऽन्यानि चाऽभितः।
विद्धि सीकरजालानि भूतानि जगदम्बुधेः ॥५५॥

वित्तबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ।
तैरेव केचिज्जायन्ते भूयो भूयः शरीरिणः ॥५६॥

अर्द्धैस्तैः सदृशाः केचित्केचित्पादेन तैः समाः।
तज्जीवास्तैर्विसदृशा भवन्त्यन्यशरीरिणः ॥५७॥

सर्वैरेभिः समाः केचित्कालेनैव विलक्षणाः।
कालेन सदृशाः केचिदनेन च विलक्षणाः ॥५८॥

कालेनाऽऽकुलचेष्टयाऽन्य इव ते गच्छन्त्यधोर्ध्वं पुन-
र्देहालेखनखेदितान्यगणितान्यन्यानि चाऽन्यान्यलम् ।

उत्पन्न हुआ, या दूसरे अवयवों से, यदि इन्हीं से उत्पन्न हुआ तो यह कैसे सम्भव है ? यह मुझसे कहे ॥ ४९ ॥

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—हे श्रीरामभद्र ! सभी पदार्थ बार-बार दूसरे या उसी क्रम से अवयव संनिवेश आकृति धारण करते हैं, जैसे कि बार-बार घड़े आदि में भरे जा रहे उड़द उसी या अन्य क्रम से अवयव संनिवेश (आकृति) धारण करते हैं ॥ ५० ॥

कोई पदार्थ, जिनके सब क्रम समान हैं, शब्दों के अर्थों के तुल्य उसी आकृति से स्फुरित होते हैं या कोई समुद्र की तरङ्गों के सदृश उसी अथवा परस्पर भिन्न आकृति से स्फुरित होते हैं ॥ ५१ ॥

हे राघव ! फिर-फिर तुम, फिर-फिर हम और ये मनुष्य भी फिर-फिर उत्पन्न होते ही रहते हैं। वास्तव में तत्त्वदृष्टि से चेतनात्मा में कभी ये या दूसरे या यह सारा जगत् न उत्पन्न होता है या न स्फुरित ही होता है ॥५२॥

समुद्र में ही तरङ्गें दूसरी बार आयीं या दूसरी तरङ्गें आयीं, यह जैसे अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है, वैसे ही भ्रमण कर रहे प्राणी वे ही आये या दूसरे इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है अर्थात् माया दृष्टि से वे ही उत्पन्न होते हैं या अन्य उत्पन्न होते हैं, इस विषय का तो निर्णय है ही नहीं ॥ ५३ ॥

हे भद्र ! इस संसार में उत्पन्न हो रहे अनेकविध भ्रमों के कारण-भूत समुदाय आते और जाते रहते हैं। कोई तो उसी रूप से आते हैं, कोई अन्य रूप से आते हैं, कोई समान रूप से आते हैं और कोई विषम रूप से आते हैं ॥ ५४ ॥

चारों ओर भूत उसी रूप से घूमते हैं और अन्य रूप से भी घूमते हैं, अधिक क्या कहें ये भूत-जगत्-रूपी सागर के जलकण रूप ही हैं, यह आप जाने ॥ ५५ ॥

संसार के कोई प्राणी तो पूर्वके ही धन, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं को लेकर ही बार-बार उत्पन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

कोई जीव पूर्व के उन धन आदि से आधे समान होकर आते हैं और कोई चतुर्थांश से समान होकर आते हैं, तो कोई जीव ठीक वे ही (उसी शरीर के) बनकर आते हैं और कोई अन्य शरीर धारण कर बिल्कुल असमान होकर आते हैं। इससे जीवों की एकता होने पर शरीर भी समान ही होने चाहिए, यह नियम नहीं रहा ॥ ५७ ॥

किसी समय धन आदि से एक रूप होते हुए भी ये जीव काल के प्रभाव से अन्य समय में ठीक उनसे विपरीत हो जाते हैं। किसी समय काल के प्रभाव से सदृश होते हैं, तो शरीर के प्रभाव से विसदृश होते हैं ॥ ५८ ॥

वे ही जीव राग, द्वेष, भोग लंपटता आदि दोष पूर्ण विचित्र-विचित्र धर्मा-धर्म चेष्टाओं के कारण काल वश विचित्र देह धारण कर दूसरे दूसरे रूपवाले बनकर नीचे एवं ऊपर के लोकों में बार-बार आते-जाते रहते हैं, इस-

भूताम्बूनि वहन्ति संसृतिमये तान्यम्बुधौ चञ्चले चक्रावृत्तिमयानि सङ्कुलयितुं शक्नोति कस्तान्यलम्॥५९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कालरात्रिवर्णनं षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

लिए चञ्चल संसारमय समुद्र में चक्राकार आवर्तमय जो प्राणी रूप जल बह रहा है, वे सदृश हैं, विसदृश हैं, अथवा वे ही हैं या अन्य हैं, इस विषय का निर्धारण भलीभांति कौन पुरुष कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में कालरात्रि वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का छियासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

८७

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्व्याप्यनन्तो निरामयः।
दत्तावधानो वपुषि तदा पश्याम्यहं क्वचित् ॥१॥

यावदन्तर्गतः सर्गः संस्थितोऽङ्कुरितोपमः।
कुसूलस्येव बीजस्य सिक्तस्यैवाङ्कुरो हृदि ॥२॥

ऊर्ध्वमुच्छून एवाऽन्तः सेकाद्बीजे यथाऽङ्कुरः।
आकारवत्यनाकारे चित्त्वाचित्त्वे तथा जगत् ॥३॥

यथोन्मिषति दृश्यश्रीः सुषुप्तार्द्बोधमेयुषः।
जाग्रद्वा विगते स्वप्ने चिन्मात्रस्य स्वचेतनात् ॥४॥

तथैवाऽऽत्मनि सर्गादावनुभूतस्वरूपिणि।
हृदि सर्गोदयो नाऽन्यरूप आकाशरूपतः ॥५॥

श्रीराम उवाच

आकाशरूप आकाशे परमाकाश कथ्यताम्।
भूयो निपुणबोधाय कथं सर्गः प्रवर्तते ॥६॥

८७

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—शिला, तृण, गुल्मादि में विचित्र सर्ग देखने के बाद निरामय, सर्वव्यापी, अनन्त, चिदाकाश स्वरूप तथा समाहित चित्त होकर जब मैं देखने लगा, तो मैं क्या देखता हूँ कि मेरे शरीर के ही भीतर सर्ग स्थित है, जिसकी उपमा अङ्कुरित बीज से दी जा सकती है। यह सर्ग डेहरी के भीतर स्थित वृष्टि से सिक्त हुए बीज के अङ्कुर के सदृश है अर्थात् जैसे मैंने ध्यानपूर्ण दृष्टि से सुवर्ण-शिला, वृक्ष, तृण आदि समस्त पदार्थों में सृष्टियाँ देखी थीं वैसे ही अपने शरीर के अवयवों में भी ध्यानपूर्ण दृष्टि से अनेक सृष्टियाँ देखीं ॥ १, २ ॥

मूर्त-अमूर्त, चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं में यह वैसे ही है जैसे बीज में भीतर विद्यमान अङ्कुर सींचने से विकसित होकर ऊपर भी निकल आता है ॥ ३ ॥

जैसे सुषुप्ति-अवस्था से स्वप्नावस्था को प्राप्त चिन्मात्र पुरुष की स्वचेतन से स्वाप्नदृश्यश्री विकसित होती है अथवा जैसे स्वप्नावस्था के हट जाने पर प्रबोध को प्राप्त पुरुष का जाग्रत्प्रपञ्च विकसित होता है वैसे ही सृष्टि के प्रारम्भ में जिसने अपने स्वरूप का पृथक् रूप से अनुभव किया है ऐसी आत्मा में यह सृष्टि उदित होती है। हृदयाकाश में हुआ यह सृष्टि का उदय आकाशस्वरूप से (चिदाकाश से) पृथक् नहीं है ॥ ४, ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे परमाकाश हृदयाकाशरूप वसिष्ठजी ! चिदाकाशरूप आप में सृष्टि कैसे प्रवृत्त होती है, यह आप मुझसे पुनः कहिये, क्योंकि इसका मुझे ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाय ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम यथा पूर्वं स्वयंभूत्वं मया तदा।
अनुभूतमसत्सद्वदिदं स्वप्नपुरोपमम् ॥७॥

तमालोक्य महाकल्पसंभ्रमं व्योमरूपिणा।
भागेऽन्यत्र शरीरस्य संविदुन्मेषिता मया ॥८॥

यदैव साऽमला संवित्किञ्चिदुन्मेषिता स्थिता।
तदैवाऽहं क्वचित्तत्र पश्याम्याकाशतामिव ॥९॥

गतं स्वभावं चिद्व्योम तथा त्वं राम निद्रया।
जाग्रद्वा स्वप्नलोकं वा विशन्वेत्सि समं घनम् ॥१०॥

दिङ्मात्राकाशमेवाऽऽदौ ततोस्मीत्येव वेदनम्।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उस समय मैंने अपने में सत् के के तुल्य प्रतीत होनेवाले वस्तुतः स्वप्न नगर के समान असत् इस स्वयंभूरूपता का पहले जिस तरह अनुभव किया, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनें ॥ ७ ॥

उस सुवर्ण शिला आदि में महाकल्प के सम्भ्रम को देखकर चिदाकाशस्वरूप मैंने शरीर के अन्य भाग में स्थित संवित् को सृष्टि देखने के संकल्प से कौतुकवश उन्मेषित किया अर्थात् जगाया ॥ ८ ॥

वह निर्मल संवित् मेरे द्वारा जैसे ही कुछ उन्मेष को प्राप्त हो स्थित हुई वैसे ही मैं वहाँ कहीं पर आकाशता के समान अवलोकन करने लग गया ॥ ९ ॥

जैसे नींद आ जाने से उसके द्वारा स्वप्न के जाग्रत् लोक या स्वप्न के स्वप्न लोक में प्रविष्ट होते हुए आप अपनी आत्मा के ही समान घन उसके आधार स्वभाव को समझते हैं। स्वभाव को प्राप्त चिदाकाश का मैंने वैसे ही अनुभव किया, यह आप सम्भावना कर लें अर्थात् यह आकाशता चिद्घन के भीतरी शून्यभाव प्राप्तिरूप सौक्ष्म्य का आधिक्य न था, किन्तु चित्सौक्ष्म्य की अपेक्षा जाड्य अधिक होने से स्थूलता ही थी ॥ १० ॥

दिङ्मात्र आकाश ही सर्वप्रथम चिन्तन करने से चित्त होता है। तदनन्तर 'मैं आकाश हूँ' ऐसा जो वेदन है वह अहङ्कार कहलाता है। उसके बाद 'आकाशमेव' ऐसे निश्चय से और पूर्वभाव के विस्मरण से वह बुद्धि कहलाता है और वही बुद्धि ही जब सङ्कल्प, विकल्प, काम तथा विचिकित्सा

तद्घनं कथ्यते बुद्धिः सा घना मन उच्यते ॥११॥

तद्वेत्ति शब्दतन्मात्रं तन्मात्राणीतराण्यथ।
पञ्चेन्द्रियाणि तत्स्थौल्यादितीन्द्रियगणोदयः ॥१२॥

सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं जगद् दृश्यघनोदयम्।
यथा तथैव सर्गादौ दुःखं भाति निमेषतः ॥१३॥

तुल्यकालमनन्तेऽस्मिन् दृश्यजालावभासने।
कथयन्ति क्रमं केचित् केचिन्न कथयन्ति च ॥१४॥

परमाणुकणे कान्ते सम्पन्नमनुभुतवान्।
अहं चेतनमात्मानं वस्तुतोऽमलमेव खम् ॥१५॥

यथा स्वभावतो व्योम्नि चलत्येवाऽनिशं मरुत्।

आदि की नानाविध कल्पनाओं वाली बन जाती है तब 'मन' इस नाम से कही जाने लगती है ॥ ११ ॥

इस तरह वह पहले शब्द-तन्मात्रा की कल्पना करता है। उसके अनन्तर अन्य तन्मात्राओं की कल्पना करता है। तदनन्तर उनकी स्थूलता से पाँच इन्द्रियों की कल्पना करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के समुदाय का उदय होता है अर्थात् वही इस तरह विषयों की कल्पना करने के अनन्तर उनकी ग्राहक इन्द्रियों की भी कल्पना करता है ॥ १२ ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में जब दुःखरहित शुद्ध आत्मा इन्द्रियों द्वारा विषयों की ओर अभिमुख होता है, तब निमेषमात्र में ही उसको दुःख वैसे ही भासमान होने लगता है जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रविष्ट हो रहे पुरुष को दृश्य के घने आविर्भाव से युक्त जगत् का भान क्षण भर में होता है अर्थात् इन्हीं विषयों तथा इन्द्रियों के कारण ही पहले दुःख-रहित रहनेवाले आत्मा को स्वप्न की तरह व्यवहार में दुःखों की प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

इस अनन्त परब्रह्म परमात्मा में जब एक ही समय में सारा दृश्य-जाल भासमान होने लगता है, तब कोई तो उसमें क्रम का वर्णन करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं ॥ १४ ॥

क्षणमात्र में दीर्घकाल की कल्पना के समान सुन्दर परमाणु के अन्दर भी दीर्घ देश की कल्पना से सम्पन्न ब्रह्माण्डात्मक चेतन आत्मा का मैंने ही अनुभव किया = अवलोकन किया। वास्तव में तो वह आत्मा निर्मल चिदा-काश रूप ही है ॥ १५ ॥

तथा स्वभावात् सर्वत्र पश्यत्येव वपुस्त्विति ॥१६॥
यादृशं चेतितं रूपं शक्त्या परमया तया ।
तच्छक्नोत्यन्यथाकर्तुं नैषा यत्नेन भूयसा ॥१७॥
ततः पश्याम्यहं यावत्सम्पन्नोऽप्यणुरूपकः ।
चित्त्वाच्चेतस्तदेवाऽऽशु तथाभूतोऽस्मिसंस्थितः ॥१८॥
ततोऽहं बुद्धवान् रूपं तनु तेजःकणाकृति ।
तदेव भावयन् पश्चात् गतोऽहं स्थूलतामिव ॥१९॥
प्रेक्षे तावदहं किञ्चिदिति बोधाल्लघोस्ततः ।
मनागालोकनायैव सम्प्रवृत्तोऽनुभूतवान् ॥२०॥
यन्नाम तत्र यत्किञ्चित्तस्येहाऽद्य रघूद्वह ।
शृणु नामानि मुख्यानि कल्पितानि भवादृशैः ॥२१॥

मन स्वभाव से सर्वत्र शरीर आदि का अवलोकन वैसे ही करता रहता है जैसे वायु स्वभाव से ही आकाश में निरन्तर चलता रहता है अर्थात् जैसे वायु का सञ्चालन स्वभाव है वैसे ही शरीर आदि की कल्पना करना मन का स्वभाव है ॥ १६ ॥

प्राथमिक मन की कल्पनारूप उस परम शक्ति ने संसार के रूप आदि की जैसी कल्पना की है उसे स्वयं बड़े प्रयत्न से भी यह बदल नहीं सकती अर्थात् उत्तर कल्पनाओं में वही स्थिर नियति बनी रही ॥ १७ ॥

यही कारण है कि उसके बाद मैं अपरिच्छिन्नस्वरूप रहने पर भी उसके द्वारा की गई परिच्छेद की कल्पना से वह परिच्छिन्न बन गया। चितिरूप होने से उस चित्त के ही रूप में शीघ्र वैसा मैं स्थित हुआ ॥ १८ ॥

अनन्तर चिति के प्रतिबिम्ब की व्याप्ति से तेज के कण की तरह आकृति वाले सूक्ष्म लिङ्ग शरीर का मैंने अनुभव किया और फिर उसी सूक्ष्म शरीर की भावना करते-करते मैं स्थूलदेहता को प्राप्त किया ॥ १९ ॥

अनन्तर 'मैं कुछ देखूं' इस साधारण बोध से जब कुछ देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं उस स्थूल शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियों की कल्पना द्वारा रूप आदि का अवलोकन करनेवाला बन गया हूँ ॥ २० ॥

हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ ! यहाँ सुनाई पड़ने वाला नाम वस्तुतः वह उस चिति का नाम है। परन्तु आपके सदृश महानुभावों ने जिनकी कल्पना की है ऐसे कुछ मुख्य नामों का अब मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप श्रवण करें ॥२१॥

द्रष्टुं प्रवृत्तो रन्ध्रेण येन तच्चक्षुरुच्यते ।
यच्च पश्यामि तद्दृश्यं दर्शनं तु फलं ततः ॥२२॥
यदा पश्यामि कालोऽसौ यथा पश्यामि स क्रमः ।
प्रौढा नियतिरित्यस्य यत्र पश्यामि तन्नभः ॥२३॥
स्थितोऽस्मि यत्र देशोऽसावित्यद्यैषा प्रकल्पना ।
तदा त्वहं चिदुन्मेषमात्रात्तन्मात्रकारणम् ॥२४॥
पश्यामीति ततस्तत्र मनाग्बोधो ममोदभूत् ।
ततो रन्ध्रद्वयेनाऽहमपश्यं यत्तदप्यखम् ॥२५॥
याभ्यामपश्यं रन्ध्राभ्यां त इमे लोचने स्थिते ।
ततः किञ्चिच्छृणोमीति संविदित्युदिता मम ॥२६॥
ततः किञ्चिन्मनाङ्मात्रं झङ्कारं श्रुतवानहम् ।
प्रध्मातस्येव शङ्खस्य शब्दं व्योम्नः स्वभावजम् ॥२७॥

जिस छिद्र से मैं देखने के लिए प्रवृत्त हुआ, वह नेत्र कहलाता है, जिसे मैं देखता हूँ, वह दृश्य रूप कहा जाता है और दर्शन तो उसका फल ही है ॥ २२ ॥

जब मैं देखता हूँ, वह काल है, जैसे देखता हूँ, वह क्रम है और जहाँ मैं देखता हूँ, वह आकाश है। इस तरह इस आत्मा की प्रौढ़ नियति प्रवृत्त हुई। अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों के बाद देश, काल आदि की दृढ़ नियति भी सम्पन्न हो गई ॥ २३ ॥

जिस जगह मैं स्थित हूँ, वह देश कहलाता है, वह मेरी आज की कल्पना है। यह आप मुझसे पूछ सकते हैं कि उस समय आप कैसे रहें ? सुने, उस समय मैं चिति का उन्मेष मात्र होने से केवल तन्मात्र का कारण था ॥ २४ ॥

देह में चक्षु आदि छिद्रों की कल्पना आदि के दर्शन आदि जनित कौतुक के बाद वहाँ पर मैं देखूं, इस प्रकार का सामान्य बोध का मुझमें उदय हुआ। अनन्तर जब मैं नेत्ररूप दोनों छिद्रों से देखने लगा, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह भी सब आकाश से भिन्न ही है ॥ २५ ॥

जिन दो छिद्रों से मैंने देखा वे दोनों ये मेरे नेत्र हैं। इसके बाद 'मैं कुछ सुनूं' यह वृत्ति मुझमें उदित हुई ॥२६॥

तत्पश्चात् मैंने वहाँ पर कुछ थोड़ा-सा एक झंकार सुना। वह जोर से फूंके गये शंख के शब्द के समान आकाश का स्वाभाविक शब्द था ॥ २७ ॥

याभ्यामहमथाऽश्रौषं त इमे श्रवणव्रणे ।
प्रदेशाभ्यां विचरता मरुता विततस्वनम् ॥२८॥
स्पर्शसंवेदनं किञ्चिदहमत्राऽनुभूतवान् ।
येन नाम प्रदेशेन तेन सा त्वक्च कथ्यते ॥२९॥
येन स्पृष्टमिवाऽङ्गं तत्तदाऽहमनुभूतवान् ।
सत्संवेदनमात्रात्मा सोऽयं वायुरिति स्मृतः ॥३०॥
स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रमिति वेदिनि संस्थितम् ।
आस्वादसंविद्याऽभून्मे तदास्वाद्यरसेन्द्रियम् ॥३१॥
प्राणान्मे घ्राणतन्मात्रमुदितं व्योमरूपिणः ।
इत्थं न किञ्चित्सम्पन्नं सर्वं सम्पन्नमत्र मे ॥३२॥
एवमिन्द्रियतन्मात्रजालं चेत्तत्र संस्थितः ।
यावत्तावद्विदः पञ्च [illegible] ममोदिताः ॥३३॥

मैंने जिन दो छिद्र-प्रदेशों द्वारा सञ्चरणशील वायु की सहायता से बहुत दूर तक फैले हुए शब्द का श्रवण किया; वे दोनों कर्णच्छिद्र हुए ॥ २८ ॥

अनन्तर जिस प्रदेश से मैंने वहां जो थोड़ा-बहुत स्पर्श संवेदन का अनुभव किया, उसको त्वक् कहते हैं ॥ २९ ॥

जिससे छुए हुए के समान तत्-तत् अङ्गों का मैंने अनुभव किया, वह एक मात्र सत्यसङ्कल्पस्वरूप पवन कहा गया है ॥ ३० ॥

इस प्रकार अनुभव करनेवाले मुझमें स्पर्श-इन्द्रिय-तन्मात्रा की सिद्धि हुई और जो मुझमें आस्वाद लेने की संवित् इच्छा प्रादुर्भूत हुई वही आस्वादन करने योग्य रसभेदों से युक्त रसनेन्द्रिय हो गई ॥ ३१ ॥

घ्राण के सङ्कल्प से आकृष्ट प्राणवायु के भेदरूप अपान से घ्राणेन्द्रिय और तन्मात्रा उत्पन्न हुई । इस प्रकार आकाशस्वरूप मुझे देह, इन्द्रिय और विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ प्राप्त हो गया । लेकिन वास्तव में कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ ॥ ३२ ॥

इस तरह जब सब इन्द्रियां और तन्मात्राओं के समुदाय मुझमें स्थित हो गये तब ये सबकी सब पांचों इन्द्रियों की भोग-वृत्तियां बलात् मुझमें उदित हो गईं । उनका शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्धमात्र ही शरीर है । वे मिथ्या होने से ही वस्तुतः आकारशून्य हैं, किन्तु भ्रान्ति-

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रशरीरकाः ।
अनाकारास्तथा भातस्वरूपिण्यो भ्रमात्मिकाः ॥३४॥
एवंरूपमहं जालं भावयन् यत्तदास्थितः ।
तदहङ्कार इत्यद्य कथ्यते त्वादृशैर्जनैः ॥३५॥
एष एव घनीभूतो बुद्धिरित्यभिधीयते ।
साऽथ बुद्धिर्घनीभूता मन इत्यभिधीयते ॥३६॥
अन्तःकरणरूपत्वमेवमत्राऽहमास्थितः ।
आतिवाहिकदेहात्मा चिन्मयव्योमरूपवान् ॥३७॥
पवनादप्यहं शून्यः केवलाकाशमात्रकः ।
सर्वेषामेव भावानां शून्याकृतिररोधकः ॥३८॥
अथैवंभावनाच्चाऽहं यदा तत्र चिरं स्थितः ।
तदाऽहं देहवान् दृष्ट इति मे प्रत्ययोऽभवत् ॥३९॥

वश इनका स्वरूप प्रकाशित होता है अर्थात् अनन्तर पाँचों इन्द्रियों की भोगवृत्ति मुझमें हठात् उदित हो गई ॥ ३३-३४ ॥

इस तरह देह, इन्द्रिय तथा विषय की भावना करता हुआ उनका अभिमानी होता हुआ मैं स्थित हुआ । उसी को आजकल आपके सदृश जन 'अहङ्कार' इस नाम से कहते हैं ॥ ३५ ॥

दृढ़ अध्यवसाय से विशेष बढ़कर यही अहङ्कार 'बुद्धि' इस नाम से पुकारा जाता है और बाद में यह बुद्धि घनीभूत हो जाती है तब यह 'मन' इस नाम से कही जाती है । यह भी आपको जान लेना चाहिये कि वही मन पुनः-पुनः विषयों का चिन्तन करने से 'चित्त' रूप में सम्पन्न हो जाता है ॥ ३६ ॥

इस तरह वस्तुतः चिदाकाशरूप सूक्ष्म शरीरधारी मैं ही अन्तकरणरूपता को प्राप्त होकर स्थित हूँ ॥ ३७ ॥

पवन से भी सूक्ष्म केवल आकाशमात्र अर्थात् शून्य-स्वरूप मैं आकृतिशून्य ही हूँ, इसीलिए सभी कल्पित हो रहे भाव पदार्थों का मैं न तो निरोधक हूँ और न निवारक ही हूँ ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उस पूर्वकल्पित ब्रह्मात्मक देह में भावना करके जब मैं चिरकाल तक स्थित रहा, उस समय मुझे यह प्रतीति हुई कि मैंने स्वयं अपने को ही चतुर्मुख देह-धारी मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति मुझमें उस समय उदित हुई ॥ ३९ ॥

तेनाऽहंप्रत्ययेनाऽथ शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ।
शून्य एव यथा सुप्तः स्वप्नोड्डीननरो रवम् ॥४०॥

अथ पूर्वं कृतः शब्दो बालेनेव तदोमिति ।
ततः स एष ॐकार इति नीतः पुनः प्रथाम् ॥४१॥

ततः स्वप्ननरेणेव यत्किञ्चिद् गदितं मया ।
तदेतद्विद्धि वाचं त्वं पश्चान्नीतां प्रथामिह ॥४२॥

ब्रह्मैव सोऽस्मि सम्पन्नः सृष्टेः कर्ता जगद्गुरुः ।
ततो मनोमयेनैव कल्पिताः सृष्टयो मया ॥४३॥

एवमस्मि समुत्पन्नो न तु जातोऽस्मि किञ्चन ।
दृष्टवानस्मि ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डान्तं न किञ्चन ॥४४॥

एवं जगति सम्पन्ने ममैतस्मिन् मनोमये ।
न किञ्चित्तत्र सम्पन्नं तच्छून्यं व्योम केवलम् ॥४५॥

वैसी वृत्ति होने से स्वप्न में उड़कर आकाश में सञ्चरण कर रहे सुप्त मनुष्य जैसे शब्द करता है उसी तरह मैंने भी शब्द करना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

इसके बाद पहले-पहल मैंने बालक की तरह जो शब्द किया वह ॐ था। वही शब्द आगे चलकर संसार में 'ॐकार' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ अर्थात् विशेष शब्द का अभिलाप करने में कोई विनिगमक न होने के कारण सर्व-साधारण अर्थवाले शब्दसमष्टयात्मक ॐकार का ही मैंने पहली बार उच्चारण किया ॥ ४१ ॥

अनन्तर स्वप्नावस्था में स्थित मनुष्य के शब्द के समान पूर्व कल्प में अभ्यस्त व्याहृति, गायत्री, वेदादि जो कुछ मैंने कहा, उसी को आप इस संसार में वाणीरूप जानें, जो पीछे वाणी नाम से प्रसिद्ध हुई ॥ ४२ ॥

इस तरह सृष्टि का कर्ता जगद्गुरु मैं ब्रह्मा ही हो गया और इसके अनन्तर मनोमय ब्रह्मशरीर को धारण करने-वाले मैंने सृष्टियों की कल्पना की ॥ ४३ ॥

इस तरह मैं ब्रह्मरूप से समुत्पन्न हूँ, मैंने किसी दूसरी वस्तु के रूप में जन्म नहीं लिया है। ब्रह्मस्वरूप होकर मैंने अपना ही स्थूलदेहभूत आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड देखा। ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत मैं कुछ नहीं देख सका ॥ ४४ ॥

इस प्रकार मेरे इस मनोमय जगत् के सम्पन्न हो जाने पर भी वास्तव में कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ है, वह सब शून्य केवल आकाश ही था ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार अर्थात् मेरी इस सृष्टि के समान ही यह

इत्थं संशून्यमेवेदं सर्वं वेदनमात्रकम् ।
मनागपि न सन्त्येते भावाः पृथ्व्यादयः किल ॥४६॥

जगन्मृगतृडम्बूनि भान्ति संविदि संविदः ।
न बाह्यमस्ति नो बाह्ये खे तद्व्योम तथा स्थितम् ॥४७॥

मरौ नास्त्येव सलिलं संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमन्तःसन्तप्ता स्वसंभ्रमवती भ्रमम् ॥४८॥

नास्त्येव ब्रह्मणि जगत्संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमेव संवित्त्वादेवं भ्रान्तेश्च सम्भ्रमम् ॥४९॥

असदेवेदमाभाति हृद्येव जगदाततम् ।
सङ्कल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिवत् ॥५०॥

पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तच्चित्तावेशनं विना ।
यथा न किञ्चित्तच्चित्तावेशनादनुभूयते ॥५१॥

सब वेदनमात्र शून्य ही है। ये पृथिवी आदि भावपदार्थ कुछ भी तथ्य नहीं हैं, यह निश्चित है अर्थात् यही प्रकार सारी सृष्टियों में जानना चाहिये ॥ ४६ ॥

ज्ञानस्वरूप परमात्मा में ज्ञान ही जगत्‌रूप मृगतृष्णा जल भासमान होते हैं। यह हमारा बाह्य जगत् बाह्याकाश में नहीं है, किन्तु ब्रह्माकाश ही वैसा स्थित है ॥ ४७ ॥

मरुस्थल में जल बिल्कुल नहीं है, किन्तु बिना कारण के ही अन्तःकरण से क्षुब्ध हो अपने में सम्भ्रम धारण कर बुद्धि उसमें जल देखती है, लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी ! बुद्धि का वैसा देखना वस्तुतः उसका भ्रम है, वह जल को नहीं देखती, बल्कि जल के भ्रम को वह उस तरह देखती है॥ ४८ ॥

इसी तरह ब्रह्म में जगत् नहीं है, यह ठीक है, फिर बिना कारण के ही अज्ञानावृत संवित्स्वभाव से संविदात्मा वैसा उसे देखती ही है। उसका वैसा देखना वस्तुतः उसकी भ्रान्ति है। वह एकमात्र अपनी भ्रान्ति से वैसे सम्भ्रम को देखती है, न कि ब्रह्म में जगत् को। अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि वह ब्रह्म में जगत् क्या देखती है, बल्कि भ्रान्ति का सम्भ्रम (विलास) देखती है ॥ ४९ ॥

जैसे सङ्कल्पप्रयुक्त मनोराज्य तथा स्वप्नकाल में निर्मित नगर आदि व्याप्त रहता है वैसे ही असद्रूप ही यह जगत् अन्तःकरण में ही व्याप्त है ॥ ५० ॥

जैसे समीप में सोये हुए मनुष्य के स्वप्न का उसके स्वप्नद्रष्टा के चित्त में प्रवेश किए बिना कुछ भी अनुभव

तथा जगत्तद्दृषदं सम्प्रविश्याऽनुभूयते ।
आदर्शबिम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाऽप्यसत् ॥५२॥

आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
तत्तन्न दृश्यते किञ्चिद्गिरिरेव प्रदृश्यते ॥५३॥

आतिवाहिकदेहेन परं बोधदृशा यदि ।
प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चाऽमलः ॥५४॥

सर्वत्र सर्गनिर्वाणं प्रज्ञालोकेन लक्ष्यते ।
ब्रह्मात्मैवाऽन्यथा चेत्तन्न किञ्चिदभिलक्ष्यते ॥५५॥

यत्पश्यत्यवदाता धीः सोपपत्तिविचारणा ।
न तन्नेत्रैस्त्रिभिः शर्वो नेन्द्रो नेत्रशतैरपि ॥५६॥

यथा स्वमावृतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
तदाऽहमभवं ध्याता धराधारणयाऽन्वितः ॥५७॥

तथा धराधारणया धरारूपधरोऽभवम् ।
अत्यजन्नेव चिद्व्योमवपुः सम्राडिवाऽचिरात् ॥५८॥

धराधारणया चैव धराधातूदरं गतः ।
द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥५९॥

सम्पन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् ।
नानारत्नावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥६०॥

ग्रामगह्वरपर्वाढ्यं पातालसुषिरोदरम् ।
कुलाचलभुजाश्लिष्टद्वीपाब्धिवलयान्वितम् ॥६१॥

नहीं किया जा सकता, परकायप्रवेश द्वारा उसके चित्त में प्रवेश करने से तो उसका अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही जगत्कल्पना के अधिष्ठानभूत चितिशिला में प्रवेश किये बिना दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारवाले जगत् का अनुभव नहीं होता, चितिशिला में प्रवेश कर उसका अनुभव होता है। दिखाई देने पर भी वह वैसा नहीं है, किन्तु असत् ही है ॥ ५१, ५२ ॥

यदि आप आधिभौतिक भावमय नेत्र से देखना चाहें, तो वे शिलान्तर्गत तत्-तत् ब्रह्माण्ड आपको तनिक भी नहीं दिखाई दे सकते, एकमात्र लोकालोक पर्वत को ही आप देख सकते हैं ॥ ५३ ॥

आतिवाहिक देह से यदि परमबोध दृष्टि से देखा जाय, तो वह सृष्टि निर्मल परमात्मस्वरूप ही योगियों को दिखाई देती है ॥ ५४ ॥

तत्त्वदृष्टि से यदि देखा जाय, तो सृष्टि का निर्वाण एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देता है। इससे विपरीत रूप से देखने पर तो वह कुछ भी नहीं अभिलक्षित होता ॥ ५५ ॥

शुद्ध बुद्धि उपपत्ति तथा विचार युक्त होकर जो देखती है; उसे अपने तीनों नेत्रों से न तो भगवान् शङ्कर जी देख पाते हैं और न अपने हजार नेत्रों से इन्द्र भगवान् ही देख पाते हैं अर्थात् तत्त्वदृष्टि और योगी की दृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रशंसा करते हैं ॥ ५६ ॥

योग दृष्टि से जब मैंने यह जान लिया कि जैसे सृष्टियों से व्याप्त आकाश है; वैसे ही पृथिवी भी अनेक सृष्टियों से व्याप्त है, तब पृथिवी की धारणा से युक्त मैं ध्याता होकर स्थित हुआ वहाँ जीवन्मुक्त योगियों की दृष्टि से देख रहे स्वयं तत्त्वज्ञानी श्रीवसिष्ठजी को जब 'आकाश की तरह यह सारी पृथिवी भी सृष्टियों से व्याप्त है' यह बुद्धि उदित हो गई तब क्रमशः पृथिवी आदि एक-एक भूत में अहंभाव की धारणा से उन्होंने जो-जो कौतुक अपने-आप देखा उन सबका आगे चलकर वर्णन किया ॥ ५७ ॥

लेकिन सर्वप्रथम पृथिवी की धारणा से जो उन्होंने देखा, उसी का वर्णन करने के लिए 'यथा' इत्यादि से भूमिका बाँधते हैं।

जैसे चक्रवर्ती राजा केवल स्वदेह में अहंभाव का त्याग न कर समस्त भूमण्डल के ऊपर ममता का भाव धारण करता है, उसी तरह चिदाकाश शरीर में भी ब्रह्माहं भाव का परित्याग न कर अहं भाव की धारा से 'पृथ्वी मैं ही हूँ' इस तरह की पृथिवी में अहं भाव की धारणा से पृथिवी रूपधारी बन गया ॥ ५८ ॥

अनन्तर हे श्रीरामचन्द्र ! उस पृथिवी की धारणा से पृथिवी के अभिमानी जीव की स्वरूपता प्राप्त कर द्वीप, पर्वत, तृण, वृक्षादि की देह का मैंने अनुभव किया ॥५९॥

तब मैं नाना प्रकार के वन तथा वृक्षरूपी रोमों से परिपूर्ण, अनेक तरह की रत्नावलियों से व्याप्त तथा विभिन्न तरह के नगर रूपी आभूषणों से सुशोभित भूतलस्वरूप हो गया ॥ ६० ॥

मैं अनेक गाँव-गुफारूपी पर्वों से परिपूर्ण, पाताल बिलरूपी उदर से युक्त, सात कुल पर्वत रूपी भुजाओं से आश्लिष्ट द्वीप तथा समुद्ररूपी कङ्कणों से अन्वित भूपीठ हो गया ॥ ६१ ॥

तृणौघतनुरोमाढ्यं गिरिखण्डकगुल्मकम् ।
दिग्वारणकटव्यूहधृतं शेषशिरःशतैः ॥६२॥
ह्रियमाणं महीपालैः शोभमानेभतन्तुभिः ।
प्राणिभिर्भुज्यमानाङ्गं वर्धमानं व्यवस्थया ॥६३॥
हिमवद्विन्ध्यसुस्कन्धं सुमेरुदारकन्धरम् ।
गङ्गादिसरिदापूरमुक्ताहाररणत्तनुम् ॥६४॥
गुहागहनकच्छादिसागरादर्शमण्डलम् ।
मरूपरस्थलश्वेतसुवराम्बरसुन्दरम् ॥६५॥
भूतपूर्वैः परापूर्णं परिपूतं महार्णवैः ।
अलङ्कृतं पुष्पवनैः समारब्धं रजोघनैः ॥६६॥

भूपीठ रूप मैं दिग्गजों के मस्तक-समूहों तथा शेषनाग के हजार सिरों से थामा गया, तृणों के समुदाय रूप सूक्ष्म रोमों से खूब ढका गया और गुल्मरोग की गाँठों की तरह पर्वतों के समूह मुझ में दिखाई देने लगे ॥ ६२ ॥

सेना-समूह रूपी तन्तुओं की गांठ, जैसे जिनके हाथी खूब सुशोभित हो रहे थे, ऐसे अनेक राजगण परस्पर युद्ध द्वारा भूपीठ रूप मेरा हरण करने लगे, अनेक प्राणियों से मेरा अङ्ग उपभुक्त होने लगा और ग्राम, नगर तथा प्रदेश आदि की व्यवस्था से मैं खूब बढ़ने लग गया ॥ ६३ ॥

हिमालय तथा विन्ध्याचल मेरे सुन्दर कन्धे थे, सुमेरु पर्वत ऊंची गर्दन था, गङ्गा, यमुना आदि नदियों के प्रवाहरूपी मुक्ताहारों से मेरा शरीर झङ्कार-युक्त हो उठा ॥ ६४ ॥

गुहाओं के गहन कछार आदि देशों तथा आदर्श-मण्डल की तरह अनेक सागरों से मैं परिपूर्ण हो गया और मरुदेश तथा ऊपर स्थल रूपी सफेद सुन्दर वस्त्रों से भासमान होने लगा ॥ ६५ ॥

पहले पैदा हुए महासागरों से प्रलय काल में बिल्कुल परिपूर्ण, परन्तु इस समय तो स्नान कर ऊपर आये हुए के समान सब ओर से मैं पवित्र, पुष्पों की वनमालाओं से अलंकृत तथा चन्दन की जगह पर स्थित सघन धूलियों से लिप्त था ॥ ६६ ॥

कृषक सब मेरे ऊपर प्रतिदिन हल जोतने लग गये और शीतल पवन पङ्खा डुलाने लगे। मैं सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से तापित तथा वर्षा के जल से सिक्त होने लग गया ॥ ६७ ॥

नित्यं कृषीवलैः कृष्टं वीजितं शिशिरानिलैः ।
तापितं तपनैस्तप्तैरुक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥६७॥
विपुलाग्रस्थलोरस्कं पद्माकरकृतेक्षणम् ।
सितासितघनोष्णीषं दशाशोदरमन्दिरम् ॥६८॥
लोकालोकमहाखातवलयोग्रास्यभीषणम् ।
अनन्तभूतसंघातपरिस्पन्दैकचेतनम् ॥६९॥
व्याप्तमन्तर्बहिश्चैव नानाभूतगणैः पृथक् ।
देवदानवगन्धर्वैर्बहिरन्तस्तु कीटकैः ॥७०॥
पातालेन्द्रियरन्ध्रेषु नागासुरकृमिव्रजैः ।
सप्तस्वर्णवकोशेषु नानाजातिजलेचरैः ॥७१॥

विशाल, सम भूप्रदेशरूपी वक्षःस्थल से अलङ्कृत, पद्माकार रूपी नेत्रों से विभूषित, सफेद और काले मेघरूपी पगड़ी से सुशोभित तथा दसों दिशाओं का उदर ही मेरा घर था ॥ ६८ ॥

मैं लोकालोक पर्वत के समीप में स्थित, जिसका मैंने आपसे पहले वर्णन किया है, महाखातवलयरूप उग्र मुख से भीषण हो गया। उस समय अनन्त प्राणि समूहों का परिस्पन्दन ही मेरा परिस्पन्दन तथा उनका एकीभूत चेतन ही मेरा चेतन हुआ ॥ ६९ ॥

अनेक प्रकार पृथक्-पृथक् भूत समूह रूपी कीड़ों से बाहर तथा भीतर से मैं व्याप्त हो गया अर्थात् उन प्राणियों में जो देव, दानव तथा गन्धर्व थे, उनसे तो बाहर से मैं व्याप्त हुआ तथा जो साधारण नानाविध कृमि, कीट आदि थे उनसे भीतर से मैं व्याप्त हो गया। मेरे कहने का तात्पर्य यह कि भूतल रूप मुझसे बाहर तथा भीतर से अनेक तरह के प्राणियों का समुदाय पूर्णरूप से भर गया ॥ ७० ॥

भूतलरूप मैं पातालरूपी इन्द्रियछिद्रों में नागों तथा असुररूपी कृमिसमूहों से एवं सात समुद्रों के अन्दर स्थित जलचरों से व्याप्त हो गया ॥ ७१ ॥

आपसे अधिक मैं क्या कहूँ, संक्षेप में मैं आपसे यही कह देना उचित समझता हूँ कि भूतलरूप मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीपनामक प्राणियों के भोग्य स्थल

व्याप्तं नदीवनसमुद्रदिगन्तशैल-
द्वीपाख्यजन्तुविषयस्थलजङ्गलौघैः ।
नानावलीवलितमण्डलकोशखण्डं
वल्लीसरःसरिदरातिगणाब्जखण्डैः ॥७२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्यप्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

और जङ्गलों के समूहों से व्याप्त हो गया। नाना प्रकार के पर्वत, नदी आदि की पंक्तियों तथा जनपंक्तियों से वेष्टित गण्डलकोशों के अनेक खण्ड मुझमें दिखाई देने लगे तथा लताओं, अनेक सरोवर, सरिताओं, शत्रुसमूहों एवं असंख्य कमलखण्डों से मैं व्याप्त हो गया ॥ ७२ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्य वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का सतासी अध्याय समाप्त हुआ।

८८

वसिष्ट उवाच

भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव ।
अनुभूतं नदनदीस्वसंवेदनसंस्थितेः ॥१॥

क्वचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् ।
क्वचिदुत्ताण्डवस्त्रैणमहोत्सवमहासुखम् ॥२॥

क्वचिद् दुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्दं दुरीहितम् ।
क्वचित्सकलसस्यौघसंपन्नघनसौहृदम् ॥३॥

क्वचिदग्निमहादाहदग्धदेहोग्रवेदनम् ।
क्वचिज्जलप्लवालूनपुरपत्तनखण्डकम् ॥४॥

क्वचिच्चपलसामन्तकृतलुण्ठनमण्डलम् ।
क्वचिदुद्दामदौरात्म्यरक्षःपैशाचमण्डलम् ॥५॥

क्वचिज्जलाशयोल्लासवेल्लनोत्पुलकाग्रकम् ।
कन्दरोदरनिष्क्रान्तवातवेल्लितवारिदम् ॥६॥

८८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे मनुकूल में उत्पन्न श्रीरामजी ! जिस तरह मैंने आपसे वर्णन किया, उस तरह मैं भूपीठरूप बन गया। उसके बाद अर्थात् पूर्ववर्णित साधारणरूप से समस्त भूधर्मों से घटित अपने को देखने के बाद नद, नदी, समुद्र आदि विशेषाकारों को जानने की इच्छा से मैंने जैसा अनुभव किया, उसे आप सुने ॥ १ ॥

कहीं पर तो भूपीठ में पति, पुत्र, भाई आदि के मरण से विलाप कर रही स्त्रियों की करुणवेदना सुनाई देती थी, तो कहीं पर उन्नत ताण्डव नृत्य कर रही रमणियों के महान् उत्सवों से आनन्द की धूम मची थी ॥ २ ॥

कहीं पर दुर्निबार दुर्भिक्ष के कारण बीभत्स क्रन्दन हो रहा था, कहीं पर दुष्ट चेष्टाओं का जाल बिछा था, कहीं पर सुवृष्टि के कारण फले हुए धानों की सम्पत्ति से चारों ओर घन सौहार्द निखर रहा था ॥ ३ ॥

कहीं पर अग्नि के महादाह से देहों के जल जाने के कारण लोग उग्र वेदना से छटपटा रहे थे, तो कहीं पर जल की बाढ़ से नगर एवं कसबों के कुछ हिस्से छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥ ४ ॥

कहीं पर जिले के जिले चञ्चल सामन्तों के द्वारा लूट लिये गये थे, तो कहीं पर जिले पहले सिरे के दुरात्मा राक्षस एवं पिशाचों से भरे पड़े थे ॥ ५ ॥

कहीं पर जलाशयों की पूर्ति क्यारियों एवं बगीचों का सिञ्चन हो जाने के कारण सस्य, गुल्म आदि का अग्रभाग बड़ा ही पुलकित प्रतीत हो रहा था, कहीं पर गुफाओं के उदरच्छिद्र से निकली हुई वायु ने मेघमण्डल को वेष्टित कर रक्खा था ॥ ६ ॥

संविद्वोधोन्नमत्स्वाङ्गकेशोत्थाङ्कुरलोमकम् ।
वारिवाहनविक्षोभनतोन्नतलसत्तलम् ॥७॥
सभ्रूभङ्गभैरवश्वभ्रपुराद्रिवनपत्तनम् ।
संविन्मण्डलसञ्चाललेखाङ्कमृदुकल्पनम् ॥८॥
क्वचित्सामन्तसंक्षुब्धसैन्यसंहरणं रणे ।
क्वचित्सौम्यसुखासीनसर्वसामन्तमण्डलम ॥९॥
अरण्यं क्वचिदाशून्यमुल्लसद्वातझङ्कृति ।
जङ्गलं क्वचिदालूनव्युप्तसंपन्नसस्यकम् ॥१०॥
हंसकारण्डवाकीर्णसरःफुल्लाम्बुजं क्वचित् ।
क्वचिन्मरुस्थलस्थूलस्तम्भनार्जुनमारुतम् ॥११॥
क्वचिन्नदनदीवाहहेलानिकषघर्घरम् ।

कहीं पर मारे हर्ष के पुलकित अपने अङ्ग-केशों के सदृश अङ्कुररूपी रोम उगे हुए थे, कहीं पर जल के जबर्दस्त प्रवाह से उत्पन्न विक्षोभ के कारण भूतल ऊंचा नीचा हो रहा था और इससे भला लगता था ॥ ७ ॥

कहीं पर नगर, पर्वत, वन और पत्तनों के अन्दर गड्ढे हो गये थे, इन गड्ढों के भीतर बड़ी-बड़ी शिलाएं पड़ी थीं, इससे वे गड्ढे एक प्रकार से सभ्रूभङ्ग से अतएव अत्यन्त भयङ्कर लगते थे। कहीं पर नगर आदि में रहनेवाले मनुष्यों के मण्डलों के सञ्चलन में उनके पैर की रेखा के चिह्न पड़ने की शङ्का से भूतल कुछ मृदु कम्पन भी कर रहा था ॥ ८ ॥

कहीं पर रण में सामन्तों द्वारा क्षुब्ध सैन्य का संहार किया जा रहा था, कहीं पर शान्त समस्त सामन्तसमूह सुखपूर्वक बैठा हुआ था ॥ ९ ॥

कहीं पर चारों ओर जनता से शून्य जङ्गल ही जङ्गल था, उसमें उल्लास वायुओं के झकोरों से झङ्कार हो रहा था। कहीं पर जङ्गल में पहले काटा गया फिर बोया गया, फिर तैयार हुआ धान दीख पड़ता था ॥ १० ॥

कहीं पर हंस, बतक आदि पक्षियों से व्याप्त सरोवरों में सुन्दर-सुन्दर कमल खिले थे, कहीं पर मरुभूमि में आंधी से उड़ी हुई धूलियों से स्थूल खम्भों को पैदा करने वाले धूलिधूसर वायु बह रहे थे ॥ ११ ॥

कहीं पर नद, नदी आदि के प्रवाहों के खेलपूर्वक परस्पर संघर्षों से घर-घर ध्वनि हो रही थी, कहीं पर

क्वचिदङ्कुरकार्याङ्गसिक्तबीजस्य जृम्भणम् ॥१२॥
क्वचिदन्तस्तु कीटास्यमृदुस्पन्दनवेदनम ।
मां त्वमेवाऽऽशुबुद्धेह त्रायस्वेतीव बोधनम् ॥१३॥
शाखापरिकराभोगं मृद्भागाङ्गनिपीडनैः ।
मूलजालमवष्टभ्य क्वचिद् विटपधारिणम् ॥१४॥
अन्योन्यमलमाक्रम्य दिक्तटाङ्गनिपीडनैः ।
क्वचिदद्रचस्थिनिबिडैरर्णवोल्लासवेल्लितम् ॥१५॥
शुष्कपल्लवसंकोचनिबिडाङ्गनिपीडनम् ।
अमर्षणैः करैरार्कैः स्वरसाकर्षणं क्वचित् ॥१६॥
शृङ्गमन्दिरमातङ्गप्रहाराशनिभूरुहाम् ।
निबिडाङ्गोत्कटस्थैर्यपरुषापतनं क्वचित् ॥१७॥

अंकुर आदि को उत्पत्ति के निमित्त नहर, अरहट्ट आदि यन्त्रों से सींचे गए खेत में धान आदि बीजों का वर्धन हो रहा था ॥ १२ ॥

कहीं पर भीतर कीटमुखों का मृदु स्पन्दन अनुभूत हो रहा था और कहीं पर कीड़े। हे श्रीवसिष्ठजी ! मुझे यहाँ शिला आदि के सङ्कट में फँसा हुआ जानकर आप ही मेरी रक्षा कीजिये यह बता रहे थे ॥ १३ ॥

हे भद्र ! कहीं पर वटवृक्षों के जङ्गल में पृथ्वी में शिखाओं के घुस जाने के कारण मृत्तिकाभाग के अङ्गों को पीड़ित करने वाले शाखा समूहों का विशालस्वरूप दीख पड़ता था, तो कहीं पर मूलजाल को पकड़कर वृक्षों का धारण दिखाई देता था ॥ १४ ॥

कहीं पर पर्वतों की शिलाओं के सदृश घनीभूत वृक्षों ने परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट होकर दशाओं के तटरूप अङ्गों को भर दिया था, इससे समुद्र के विलास से वेष्टित-सा सारा भूपीठ भासमान हो रहा था ॥ १५ ॥

कहीं पर इतने घने वृक्ष उगे थे कि पृथ्वीपर सूर्य अपनी किरणों को ठीक-ठीक रीति से फैला नहीं सकता था, इसलिए अपनी गति को रोकने के अपराध से क्रुद्ध सूर्यकिरणों के द्वारा अपना रस खींच लेने के कारण अरण्य में सूखे पल्लव संकुचित हो गये थे और घने अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निष्पीडन भी हो रहा था ॥ १६ ॥

कहीं पर पर्वतों की चोटियों पर रहनेवाले हाथियों के दन्तप्रहार रूप वज्रों के कठोर आघात वृक्षों के घने अवयवों में विद्यमान दृढ़ स्थिरता की ओर होते भी मैंने देखा ॥ १७ ॥

निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
क्वचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमङ्कुरोल्लासनं नवम् ॥१८॥

मक्षिकायूकमशकनिवाससदृशं क्वचित् ।
कुड्यलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥१९॥

शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
पाषाणीभूतसलिलं क्वचित् परुषमारुतम् ॥२०॥

उद्दालीभूतमृद्वङ्गमज्जदन्तःकृमिव्रजम् ।
क्वचिदुद्भूवदङ्गादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥२१॥

शनैरन्तर्निलीनाम्बुकृताह्लादं बहिश्चर ।
सोन्नामाङ्कुररोमौघं क्वचिद् वर्षविजृम्भितम् ॥२२॥

तनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीदलास्तरणैः ।
विहरणमिव मे विहितं सरोभिरङ्गेषु निर्वाणम् ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

कहीं पर यह दृश्य देखा कि नेत्रों को मूँदे हुए प्रसन्न-शरीर समाधिनिष्ठ महात्माओं को अपूर्व रोमांकुरों का चमत्कारी उल्लास हो रहा है। वह रोमांकुरोल्लास सूचित करता था कि उनको सूक्ष्मतत्त्व का अनुभव हो गया है॥१८॥

कहीं पर मक्खी, जूँ एवं मच्छरों के समूहों के निवास के समान मैले-कुचैले वस्त्र के सरीखा ही भूतल था और कहीं पर तो छोटी-मोटी भित्तियों के खण्डों तथा प्रमाद से कमलकोश में सोये हुए दुष्ट भ्रमरों को मर्दित करने के कारण शत्रुरूप हाथियों द्वारा क्रीडा से हल के सदृश वप्र आदि का कर्षण भी हो रहा था ॥ १९ ॥

कहीं पर हिमालय आदि प्रदेशों में शीत-शीत से छिन्न-भिन्न अङ्गों वाले जीवों की जर्जर हुई त्वचा को पूर्णरूप से व्याप्तकर स्थित था, कहीं पर जल को भी पाषाण बना रहा था और कहीं पर कठोर पवन चल रहा था ॥ २० ॥

कहीं पर विदलित कोमल अङ्गों के भीतर कीटसमूह घुस रहा था, कहीं पर अङ्ग आदि उत्पन्न हो रहे थे और कहीं जल में मज्जन ही हो रहा है इस प्रकार मैंने अपने भूतलरूप शरीर में अनुभव किया ॥ २१ ॥

हे भद्र ! अपने भूतलरूप शरीर में मैंने कहीं पर यह अनुभव किया कि बीजों में वृष्टि की अधिकता हुई, इससे धीरे-धीरे उनके भीतर प्रविष्ट जलकणों से पहले आह्लाद हुआ, फिर उसके बाद उनके बाहर प्रकट हुए अंकुररूपी रोमों की अभिवृद्धि हुई ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी ! मेरे भूतलरूप अङ्गों में कहीं पर सरोवरों ने मन्द-मन्द पवन से हिलाये गये कोमल कमलनियों के दलों के आस्तरणों के द्वारा अपूर्व आनन्दरूप क्रीडा का, मानो मेरे लिए, निर्माण कर दिया ॥ २३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में भूमण्डलगत विशेष वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का अठासी अध्याय समाप्त हुआ।

८९

श्रीराम उवाच

पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा जगन्ति समवेक्षितुम् ।
संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ॥१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इदं च मानसं चाऽहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।
नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ॥२॥

८९

श्रीरामभद्र ने कहा। कौतुक से अपनी आत्मा में सकल जगत् को देखने के लिए प्रवृत्त हुए आप पार्थिव धारणा बाँधकर क्या हम लोग जिस मृत्पाषाणादिरूप भूलोक को देख रहे हैं, तद्रूप हो गये अथवा मनोमात्रमय अर्थात् मनोराज्य के सदृश मृत्तिकादिशून्य स्वप्नमय भूलोक हो गये ? यह कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा। यदि आप काल्पनिक दृष्टि से पूछते हैं, तो आपकी दृष्टि से प्रसिद्ध मिट्टी, पत्थर आदि रूप से प्रसिद्ध जो भूमण्डल है, वही केवल मन का विकार होने से मानस भी है, इसलिए मैं जो विस्तृत भूमण्डलरूप हो गया, वह मानस और यह प्रसिद्ध—दोनों रूप का ही बन गया था। यदि आप तात्त्विक दृष्टि से पूछते हैं, तो वास्तव में न तो मैं मानसरूप हुआ और न प्रसिद्ध जगद्रूप ही हुआ था ॥ २ ॥

अमानसं महीपीठं न संभवति किंचन ।
यदसद्वेत्सि यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ॥३॥
चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।
यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिधं स्मृतम् ॥४॥
तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।
संकल्पपुरवद्व्योम्नि कचत्येतन्मनोनभः ॥५॥
एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।
धारणाभ्याससंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ॥६॥
नेदं भूमण्डलं तद्वै तदन्यद्धि मनोमयम् ।
आकाशमात्रकचनमचेत्यं कचनं चितेः ॥७॥
तदेवाऽऽकाशमात्रात्म तथाभूतं चिरं स्थितम् ।

यदि आप सत् मानते हैं या यदि असत् मानते हैं, दोनों ही पक्षों में यह भूपीठ कुछ भी अमानस हो ही नहीं सकता। यह केवल मन की कल्पना ही है, क्योंकि मन के अस्तित्व में ही उसमें अस्ति-नास्ति कल्पना होती है ॥३॥

मैं शुद्ध चिदाकाश ही हूँ, उस चिदाकाशरूप मुझमें जो चिदात्मा का कुछ स्फुरण हो जाता है, उसी का नाम सङ्कल्प कहा गया है ॥ ४ ॥

प्रसिद्ध मन, वह भूमण्डल, वह जगत् और वह प्रसिद्ध पितामह—ये सबके सब चिदाकाश में, आकाश में संकल्प नगर के सदृश, केवल मनरूप नभःस्फुरित होते हैं, अतः ये मनोमय ही हैं ॥ ५ ॥

इस तरह वह जो कुछ मैं बन गया, वह सब मेरा संकल्प था, अतः, वह विस्तृत मनोरूप ही रहा। केवल धारणाभ्यास से पुष्ठ हो वह भूमण्डल होकर स्थित हो गया था ॥ ६ ॥

वह मानस भूमण्डल मिट्टी पत्थर आदि रूप यह भूमण्डल नहीं है, उससे विलक्षण मनोमय है, चिदाकाश-मात्र का स्फुरण है, चिति का चेत्यभिन्न स्फुरण है ॥ ७ ॥

चिदाकाशमात्रस्वरूप होता हुआ वह दीर्घकाल तक वैसा ही स्थित रहता है, धारणा के अभ्यास से पुष्ट हो जब 'इदम्' यह व्यवहार से उसका अनुभव होने लगता है तब वह मानसत्व का मनोमयरूपता का परित्याग कर देता है। सारांश यह है कि स्वप्न आदि में केवल मानसरूप अतएव अस्थूल पृथ्वी आदि का जाग्रत् के सदृश 'इदम्' व्यवहार से ही अनुभव होता है, इसलिए उनमें मनोमयता रहने पर भी तिरोहित हो जाती है, इस स्थिति

इदंप्रत्ययलब्धत्वान्मानसत्वं समुज्झति ॥८॥
इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमण्डलं ।
अस्तीति जायते बुद्धिर्व्योम्नीव चिरवेदनात् ॥९॥
न्यायेनेदमिवाऽनेन न स्थितं वसुधातलम् ।
न्यायेनेदमिवाऽनेन न स्थितं वसुधातलम् ।
इदं चैवैकमेवाऽद्य सर्गस्याऽऽद्यमुपागतम् ॥१०॥
यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योम्नि भासते ।
तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥११॥
विद्धि चिद्रूपबालस्य मनोराज्यं जगत्त्रयम् ।
महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥१२॥

में दूध जब दधि रूप में बन जाता है, तब उसमें जैसे दूध स्वरूपता का अनुभव नहीं होता, वैसा यहाँ मानसत्व का अनुभव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए, किन्तु यही कहना चाहिए कि, तरङ्ग, कुण्डल एवं साड़ी के रूप में ही जैसे जल, सुवर्ण एवं कपासरूपता है, वैसे ही यहाँ पर मानसत्व ही है, किन्तु उक्त व्यवहार के बल से वैसा अनुभव नहीं होता, यह जानना चाहिए ॥ ८ ॥

यह भूमण्डल स्थिर, अत्यन्त कठोर, अति विस्तार वाला है, इस प्रकार की बुद्धि, आकाश में नीलताबुद्धि के समान, चिरकाल के अभ्यास से ही उत्पन्न होती है ॥९॥

'घट आदि तो केवल वाणी के ही विकार है, वास्तव में तो वे कुछ नहीं हैं, मिट्टीरूप ही हैं, मिट्टी ही सत्य हैं'। इस श्रुतिदर्शित न्याय से यदि देखा जाय, तो अज्ञानियों की दृष्टि से प्रसिद्ध इदंरूप यह पृथ्वीतल है ही नहीं, किन्तु मनोरूप आदि सृष्टि का जो सूक्ष्मरूप एक ही था, वही 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इस श्रुति से उपदर्शित यह इदम् स्थूलरूप बनकर स्थित है ॥ १० ॥

सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही इसे स्थूल जगत् के रूप से वैसे ही चिदाकाश में स्थित है, जैसे स्वप्न में चिदा-काश ही नगर के रूप से चिदाकाश में भासमान होता है ॥ ११ ॥

चितिरूपी बालक का ब्रह्माजी का त्रिजगत्, यह भूतल आदि सब दृश्य भी सदा एक मनोराज्य ही है, यह आप जानें ॥ १२ ॥

चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नाऽन्यः
संकल्पस्तन्मयं जगत्।
वस्तुतस्तु न सत्यात्म
न पिण्डात्म न भासुरम् ॥१३॥
दृश्यमस्त्यपरिज्ञातं परिज्ञातं व विद्यते।
परिज्ञातं तदेवाऽस्य शृणोषि यदिदं चिरम् ॥१४॥
सर्वं चिन्मात्रमाशान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि।
भूमण्डलात्म दृश्यात्म द्वैतैक्याभ्यां विवर्जितम् ॥१५॥
मणिर्यथा स्वभावेन शुक्लपीतादिकांस्त्विषः।
अकुर्वन्नेव कुरुते चिदाकाशस्तथा जगत् ॥१६॥
यतो न किंचित्कुरुते न च रूपं समुज्झति।
तस्मान्न मानसं नेदं किंचिदस्ति महीतलम् ॥१७॥

चिद्रूप आत्मा का सकल्प चिद्रूप से भिन्न नहीं है इसलिए जगत् तन्मय ही है। वस्तुतस्तु जगत् न तो सत्यरूप है, न पिण्डरूप है और न भासमान ही है ॥१३॥

यह दृश्य अपरिज्ञात चेतनरूप है और चेतन का परिज्ञान हो जाने पर तो कुछ भी नहीं है। तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर तो तत्त्व वस्तु ही इसका स्वरूप बन जाती है। हे भद्र! इसका मैं दीर्घकाल से उपदेश दे रहा हूँ और आप उसे सुनते भी हैं, फिर आप क्यों प्रबुद्ध नहीं होते, अज्ञानियों की दृष्टि से यह जगत् अज्ञातचितिरूप है और तत्त्वदृष्टि से निष्कर्ष निकाला जाय, तो शुद्ध चिन्मात्ररूप ही ठहरता है ॥ १४ ॥

सब कुछ चारों ओर से शान्त चिदाकाशमात्ररूप ही है, अपने आप ही आत्मा में वह स्फुरित होता है, भूमण्डलरूप और दृश्यरूप चिति ही है, जो द्वैत एवं एकता से रहित है ॥ १५ ॥

चिदाकाश भी कुछ व्यापार न कर इस जगत् का स्वभावतः वैसे ही निर्माण करता है; जैसे वैडूर्य आदि मणि कुछ व्यापार न करती हुई भी स्वभावतः शुक्ल, पीत आदि किरणों का निर्माण करती है ॥ १६ ॥

चेतनरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपना असली स्वरूप छोड़ता है, इसलिए न तो यह मृत्पाषाणादिमय महीतल कुछ है और न मनोमय ही कुछ है ॥ १७ ॥

महीतलमिवाऽऽभाति चिद्व्योमैव निरन्तरम्।
आत्मन्येवाऽतलं व्योम यथाऽमलतलं स्थितम् ॥१८॥
स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम्।
भूमण्डलमिवाऽत्यच्छं खमेव विशतान्तरम् ॥१९॥
इदं भूमण्डलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः।
स्वरूपमेव कचति तव स्वप्नपुरं यथा ॥२०॥
इदमाकाशमात्रात्म तदप्याकाशमात्रकम्।
अज्ञानात्म परिज्ञानाज्ज्ञानान्नेदं न तत्क्वचित् ॥२१॥
त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयभाविनाम्।
संभ्रमः स्वप्नसंकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥२२॥
भूतान्यथो भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च।

निरन्तर चिदाकाश ही महीतल के सदृश भासमान होता है, तलभावशून्य चिदाकाश ही अपने स्वरूप में स्वभावतः निर्मलतल हो स्थित है ॥ १८ ॥

प्रसिद्ध यह यथास्थित जगत् और वह धारणाकल्पित जगत् दोनों एकमात्र आत्मा का स्वाभाविक स्फुरणमात्र ही है, अत्यन्त निर्मल चिदाकाश ही भेद में प्रवेश कर रहे स्वभाव के बल से अर्थात् मायाबल से भूमण्डल के समान बनकर स्थित है ॥ १९ ॥

यह प्रत्यक्ष भूमण्डल और वह धारणाकल्पित भूमण्डल—दोनों ही महाचिति के स्वरूपभूत हो इस प्रकार स्फुरित होते हैं, जैसे आपका स्वरूपभूत स्वप्ननगर होकर स्फुरित होता है अर्थात् चिति के विवर्तभाव में धारणाकल्पित (समाधिकल्पित) भूमण्डल और यह प्रत्यक्ष भूमण्डल दोनों ही समान हैं ॥ २० ॥

यह प्रसिद्ध भूतल चिदाकाशमात्ररूप है और मेरी धारणा से कल्पित भूतल भी चिदाकाशमात्ररूप है। परन्तु वह जो भासमान होता है, उसमें कारण है—अज्ञानोपहित आत्मा का ज्ञान। आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो यह दोनों भूमण्डल कहीं पर भी नहीं रहते ॥ २१ ॥

भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में होनेवाले त्रैलोक्य का समस्त भूतजाल केवल भ्रान्तिरूप ही है, वह सङ्कल्प के समान है, उसकी समता ठीक मनोराज्य से की जा सकती है ॥ २२ ॥

जो हो चुके हैं, जो होनेवाले हैं तथा जो वर्तमान में हैं, वे सभी भूमण्डल सर्वाधिष्ठान होने के कारण सर्व-

भूमण्डलानि तान्यङ्ग सत्ता सामान्यतां गता ॥२३॥
अहमेव समग्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाऽखिलम् ॥२४॥

चिन्मात्रमेतदजरं परमात्मतत्त्वं
शुद्धात्मतामजहदङ्गगतं विभर्ति ।
सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्तभेदं
बुद्धं सदङ्ग न विभर्त्ति तु किंचनाऽपि ॥२५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोननवतितमः सर्गः ॥८९॥

साधारण भाव को प्राप्त आत्मसत्ता के ही स्वरूपभूत है अर्थात् आत्मसत्ता से अलग नहीं है ॥ २३ ॥

वे सत्तासामान्यरूप हैं, इसी कारण वे और उनके भीतर विद्यमान सब वस्तुएँ मैं ही हूँ, जो धारणा मैंने मन से उनका अनुभव किया और साक्षी दृष्टि से निःशेष दर्शन भी किया ॥ १४ ॥

चिन्मात्ररूप, जरावस्था से शून्य परमात्मतत्त्व ही अबोधकाल में अपनी शुद्धरूपता का परित्याग न करके ही यथास्थित इस समस्त जगत् को मानो सद्रूप बनाकर धारण करता है, ज्ञात हो जाने पर तो वह कुछ भी धारण नहीं करता, यही इसकी मुक्ति है ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में दृश्यमतोमात्रत्वप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का नवासी सर्ग समाप्त हुआ ।

९०

श्रीराम उवाच

अनन्तरं वद ब्रह्मन् जगन्ति भवता तदा ।
भूमण्डलानां हृदये क्वचिद् दृष्टानि नैव वा ॥१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

परात्मजाग्रत्स्वप्नोर्वीमण्डलौघात्मना मया ।
ततोऽनुभूतं हृदये दृष्टं च परया दृशा ॥२॥

यावत्तथैव सर्वत्र जगज्जालमवस्थितम् ।
सर्वं दृश्यमयं शान्तमपि द्वैतमयात्मकम् ॥३॥
जगन्ति सन्ति सर्वत्र सर्वत्र ब्रह्म संस्थितम् ।
सर्वं शून्यं परं शान्तं सर्वमारम्भमन्थरम् ॥४॥
सर्वत्रैवाऽस्ति पृथ्व्यादि स्थूलं तच्च न किंचन ।
चिद्व्योमैव यथा स्वप्नपुरं परमजातवत् ॥५॥

९०

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इसके बाद मुझसे यह कहिए कि जैसे प्रसिद्ध जगत् को वस्तुओं में प्रत्येक में आपने अनेक जगत् देखे वैसे ही आपने साधारणाभ्यास से जिस महीपीठ को देखा उसके विविध प्रदेशों के भीतर भी आपने कहीं जगत् देखा या नहीं । (मण्डल शब्द प्रदेशभेद का वाचक है) ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—पृथ्वी धारण से परमात्मा के जाग्रत् पृथ्वीमण्डल और स्वप्न पृथ्वीमण्डल समूहरूप बन कर मैंने तत्-तत् पृथ्वी के प्रदेशविशेषरूप उसके हृदय में जो कुछ साक्षिदृष्टि से देखा और मन से विचारपूर्वक अनुभव किया, उसे कहता हूँ, सुनें। स्वप्न का ग्रहण स्वप्न की पृथ्वी के अनेक प्रदेशों में भी अनन्त जगत् का अवलोकन हो सकता है, यह बतलाने के लिए किया गया है ॥ २ ॥

पहले देखी गई चाँदी की शिला के सदृश ही चाँदी की शिला में मैंने जैसे समस्त जगत् देखे थे, वैसे ही धारणा से दृष्ट भूमण्डल के सभी स्थानों में जगत्जाल के समान स्थित मैंने देखा । समस्त दृश्यमय द्वैतमय होता हुआ भी यथार्थ में शान्त अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

सभी स्थानों में जगत् हैं और सभी जगह ब्रह्म भी स्थित है तथा सब कुछ शून्यात्मक एवं परशान्तरूप है और सब अनेक तरह के आरम्भों से पूर्ण भी है ॥ ४ ॥

सर्वत्र पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थ हैं और यथार्थ में वह कुछ नहीं भी हैं, अनुत्पन्न स्वप्न नगर के सदृश है, यदि कुछ है तो केवल पर चिदाकाश ही वस्तु है ॥ ५ ॥

नेह नानाऽस्ति नो नाना न नास्तित्वं न चाऽस्तिता।
अहमित्येव नैवाऽस्ति यत्र तत्र कुतोऽस्ति किम् ॥६॥
अनुभूतमपीदं सदहमित्यादिरूपकम्।
नास्त्येव यदि वाऽप्यस्ति तद् ब्रह्माऽजमनामयम् ॥७॥
यत्स्वप्नपुरमेवेदं सर्गादावेव चिन्नभः।
अस्तितानास्तिते तत्र कीदृशे क्व कुतः स्थिते ॥८॥
यथाऽहं दृष्टवांस्तानि जगन्त्यवनिरूपधृक्।
तथा मया जलीभूय दृष्टं तादृशमेव तत् ॥९॥
वारिधारणया वारि भूत्वा जडमिवाऽजडम्।
समुद्रमन्दिरेष्वन्तश्चिर गुलगुलायितम् ॥१०॥

इस प्रपञ्च में जब न तो नाना (अनेक) वस्तु है, न अनाना (एक) वस्तु है, न अस्तित्व है और न नास्तित्व ही है। जो 'अहम्'=मैं शब्द से दर्शनादि का अभिमानी कहा जाता है, वह भी नहीं है। जब वह भी नहीं है, तब कैसे कौन-सी वस्तु है? अर्थात् एक, अनेक या सत्य वस्तु तब सिद्ध हो सकती है, जब एक, अनेक आदि का दर्शन करनेवाला दर्शनाभिमानी संसार में प्रसिद्ध हो, परन्तु ऐसा दर्शनाभिमानी ही नहीं है ॥ ६ ॥

हे राघव! यद्यपि यह दृश्य सत् और 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूप से अनुभूत होता है, तथापि उनका अस्तित्व परमार्थ दशा में है ही नहीं। यदि अस्तित्व है, तो वह अज निर्विकार ब्रह्म का ही है अर्थात् जो कुछ दृश्य भासमान होता है, वह ब्रह्मरूप ही है ॥ ७ ॥

सृष्टि के आदि में अर्थात् सृष्टि के पूर्व चिदाकाश ही था, इसलिए सृष्टि के बाद चिदाकाश में देखा गया भी यह स्वप्ननगर के सदृश ही है, इसलिए उसमें अस्तित्व और नास्तित्व ही कैसे, कहाँ, किस हेतु से रह सकते हैं अर्थात् जब दृश्यों में प्रतियोगी अस्तित्व का स्थान नहीं है, तब अस्तित्व के अभाव नास्तित्व का भी स्थान नही है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ ८ ॥

जलधारण से ललरूप बनकर वैसे ही जल जगत् देखा जैसे मैंने पृथ्वी धारण से पृथ्वीरूप बनकर पूर्वोक्त जगत् देखे ॥ ९ ॥

हे राघव! मैं यद्यपि चेतनरूप ही हूँ, फिर भी मैं जलधारणा से जड़ जलरूप के समान बन गया। अनन्तर जलरूप होकर मैंने समुद्ररूपी मन्दिरों के भीतर दीर्घकाल तक गुड़-गुड़ शब्द किया ॥ १० ॥

तृणवृक्षलतागुल्मवल्लीनां स्तम्भनाडिषु।
मृद्वलक्षितमारूढं तवाऽङ्गेष्विव यूकया ॥११॥
सर्वोत्थानोपमास्तम्भे तच्छेदे वलयोपमा।
मृद्वचा कर्णाहिगत्येव रचना प्रकृतोदरे ॥१२॥
वल्लीतमालतालादिपल्लवेषु फलेषु च।
विश्रम्य पुष्टयाऽऽकृत्या रेखाविरचनं कृतम् ॥१३॥
मुखेनाऽऽविश्य हृदयमृतुवैघुर्य्यधारिणा।
हृता विधुरिता भुक्ता लूना देहेषु धातवः ॥१४॥
सुप्तं पल्लवतल्पेषु प्रालेयकणरूपिणा।
तुल्यकालमशेषेषु दिक्षु सर्वास्वखेदिना ॥१५॥

ठीक ही मैं तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, बल्ली आदि के डण्ठलों में मन्दगति से छिपे-छिपे वैसे ही चढ़ गया जैसे आपसे अङ्गों में जूँ आदि नजर बचाकर मन्दगति से चढ़ जाती है ॥ ११ ॥

सूक्ष्म तन्तु के आकार के एक छोटे कीड़े को कांतर को कर्णाहि कहते हैं। वह जैसे मन्दगति से छिपे-छिपे लाकर कान में घुस जाता है। बस ठीक उस कीड़े के सदृश मैंने अत्यन्त मृदु गति से छिपे उन तृण, वृक्ष आदि के वनों में तृणादि की ऊर्ध्वस्थिति के सदृश, ऊर्ध्वस्थिति की तथा उनके पोरों और छद्रों में कोमल वलयाकार वाली= गेंडुली-सी रचना भी की ॥ १२ ।,

लताओं और तमाल, ताल आदि पेड़ों के पल्लवों तथा फलों में रसरूप से विश्रान कर काल से पुष्ठ उन पत्ते आदि के आकारों के द्वारा भीत शिरा आदि रेखाओं की रचना भी मैंने की ॥ १३ ॥

जीवों की देहों में जलपान के समय मुख के द्वारा हृदय में प्रवेश कर वसन्त आदि ऋतुओं के कारण होने वाली विषमता एवं लेनेवाले मैंने कहीं वात, पित्त और फलरूप धातुओं को धारण किया, कभी उन्हें कुपित किया, कुछ को जठराग्नि से पचा डाला, किन्हीं को खण्डित किया ॥ १४ ॥

थकावट का अनुभव न करने वाले हिमकन का रूप धारण किए हुए मैंने एक ही समय में समस्त दिशाओं में सम्पूर्ण पल्लवरूपी शय्याओं पर शयन भी किया ॥ १५ ॥

नानाह्रदनदीगेहग्राहिणा विरताध्वना ।
विश्रान्तं सेतुसुहृदः प्रसादेन क्वचित्क्वचित् ॥१६॥
विदा विदनुसंधानाङ्कडेन तदनाश्रयात् ।
जडाशयेषूल्लसितं जलेनाऽऽवर्तवर्त्तिना ॥१७॥
मया दुष्कृतिनेवोर्ध्वशिलास्वस्थेन भूभृताम् ।
स्वावर्तवर्तिना श्वभ्रपातेषु शतधा गतम् ॥१८॥
धूम्ररूपेण निर्गत्य दारुभ्यो गगनार्णवे ।
कणरत्नेन नीलर्क्षमण्यन्तर्वर्तिना स्थितम् ॥१९॥
विश्रान्तमभ्रपीठेषु विद्युद्वनितया सह ।

जो ह्रद अनेक नदियों के घर हैं अर्थात् मार्ग के निवासस्थान (विश्रामगृह) हैं, उनका आश्रयण करते हुए तथा निरन्तर प्रवाह के कारण अविरत गतिवाले मैंने बाँधरूपी मित्र के प्रसाद से कहीं-कहीं विश्राम भी किया ॥ १६ ॥

मैं, चिद्रूप हूँ, चितिरूपी मैंने अचित् अंश का विषयरूप से अनुसन्धान किया, उसमें भी विषयांशमात्रता के कारण चित्स्वभाव का आश्रयण नहीं किया, अतः में जड़ जलरूप ही हो गया। इस प्रकार जड़ जलरूप हुआ, मैं जड़ाशयप्राय जलाशयों में हजारों भ्रमों के साथ आवर्तक सदृश वर्तन करता हुआ खूब उल्लास करता रहा ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्त के लिए भृगुपतन में प्रवृत्त हुए पापी के सदृश पर्वतों की ऊपर की शिलाओं से गिर रहे निर्झररूप मैंने गर्तपातों में जीर्ण-शीर्ण हो हजारों रूपों से स्थिति की ॥ १८ ॥

लकड़ियों से धूम के रूप में निकल कर मैं आकाशरूपी समुद्र में नीले रङ्ग के नक्षत्र मणियों के भीतर रत्नकण बना और मैंने वहाँ स्थान जमा लिया। श्रीवसिष्ठजी की इस उक्ति से यह मालूम होता है कि हम लोगों के लिए अदृश्य नीले वर्ण के भी नक्षत्र आकाशमण्डल में हैं ॥ १९ ॥

काटी हुई इन्द्रनील मणि के सदृश नील वर्ण वाले भगवान् विष्णु लक्ष्मी जी के साथ शेषनाग के अङ्गों पर जैसे विश्राम करते हैं, वैसे ही मेघों की पीठ पर नील वर्ण वाले मैंने भी विद्युत् रूपी वनिता के साथ विश्राम किया ॥२०॥

परमाणुमय सृष्टि में पिपीलिका आदि परमसूक्ष्म देहात्मक सृष्टि में तत्-तत् प्राणियों के पिण्डरूप एवं उनके भीतर के परम सूक्ष्म नाडीरूप पदार्थों में सूक्ष्म-जलरूप बनकर मैं सर्वात्मा ब्रह्म की तरह स्थित रहा ॥ २१ ॥

भिन्नेन्द्रनीलनीलेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥२०॥
परमाणुमये सर्गे पिण्डरूपेष्वलक्षितम् ।
स्थितमन्तःपदार्थेषु ब्रह्मणेवाऽखिलात्मना ॥२१॥
प्राप्य जिह्वाणुभिः सङ्गमनुभूतिः कृतोत्तमा ।
यामात्मनो न देहस्य मन्ये ज्ञानस्य केवलम् ॥२२॥
न मया न च देहेन नाऽन्येनाऽऽस्वादितात्म यत् ।
तदन्तर्विवृतं चेत्यमज्ञानाय तदप्यसत् ॥२३॥
सर्वर्तुरसरूपेण नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥२४॥

मैं मधुर रसरूप भी तो बन गया था। रसरूप बनकर मैंने जिह्वारूप अणुओं के साथ संसर्ग प्राप्त किया। संसर्ग प्राप्त कर रसास्वादरूपी उनकी वह उत्तम अनुभूति की, जिसे मैं देह की नहीं मानता, किन्तु केवल ज्ञानरूप आत्मा की मानता हूँ, अर्थात् वह अनुभूति विषयानन्द के आकार में आविर्भूत आत्मा का स्वरूप है, यह मैं मानता हूँ ॥ २२ ॥

जो विषयरूप चेत्य है, उसका न तो मैंने (अधिष्ठान चेतनने) न स्वाद लेने वाले पुरुष की देहने और न जीवने ही स्वाद लिया है, क्योंकि उसमें न आत्मसुख का कोई अंश है और न आस्वाद की योग्यता ही है। इस प्रकार के विषयों का चिति ने अपने अन्दर जो स्फुरण किया है, वह जीवों के अज्ञानार्थ (व्यामोहार्थ) ही है। जिससे वह विषय उत्पन्न हुआ, वह अज्ञान भी असत् ही है, जो स्वयं असत् है, उससे असत् अर्थ की ही उत्पत्ति मानना उचित है अर्थात् कुछ लोग विषय को ही आनन्द रूप और आस्वाद लेने योग्य मानते हैं, परन्तु यह मानना उचित नहीं है, विषय तो असत् और दुःखरूप है तथा वह आस्वाद लेने योग्य है ही नहीं, अतः विषय को अलग कर आनन्द को बताते हैं ॥ २३ ॥

समस्त ऋतुओं में उत्पन्न होने वाला जो रस है, तद्रूप बनकर भ्रमरों को उच्छिष्ट रस देते हुए मैंने सब दिशाओं में अनेक तरह के आमोदों से पूर्ण फूलों का खूब उपभोग किया अर्थात् विषय स्वाद योग्य हैं, यदि यह पक्ष है, तो उसमें विषयाधिष्ठान चेतन के द्वारा आस्वादित ही विषयों को, जो कि उसके उच्छिष्ट प्राय हैं, दूसरे चखते हैं, यही कल्पना की ॥ २४ ॥

चतुर्दशप्रकाराणां भूतानामङ्गसन्धिषु।
उषितं चेतनेनेव जडेनाऽप्यजडात्मना ॥२५॥
सीकरोत्कररूपेण रथमारुह्य मारुतम्।
आमोदेनेव विहितं विमलव्योमवीथिषु ॥२६॥
राम तस्यामवस्थायां परमाणुकणं प्रति।
अनुभूतमशेषेण यथास्थितमिदं जगत् ॥२७॥
अजडेन जडेनेव समया जालया तथा।
अन्तः सर्वपदार्थानां ज्ञाता-(त्राऽ ?)-ज्ञातेन संस्थितम् ॥२८॥

जगतां तत्र लक्षाणि नाशोत्पातशतानि च।
मया दृष्टानि रूढानि कदलीदलपीठवत् ॥२९॥
एवं जगच्चाऽजगद्वा साकारं वा निराकृति।
चिन्मात्रगगनं सर्वमाकाशाधिकनिर्मलम् ॥३०॥

न किंचन त्वं च न किंचनेदं
शुद्धः परो बोध इदं विभाति।
स चाऽपि नो किंचन नाऽपि शून्य-
माकाशमेवाऽसि विकासमास्स्व ॥३१॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जलजगद्वर्णनं नाम नवतितमः सर्गः ॥९०॥

यद्यपि मैं यथार्थ में अजड़ रूप ही हूँ, फिर भी कल्पना-वश जड़ जलरूप होकर मैंने चौदह प्रकार के प्राणियों के अङ्गों की सन्धियों में चेतन की तरह निवास किया ॥२५॥

मैंने जलकण का रूप भी धारण किया था। उस रूप को धारण कर मैंने पवन रूपी रथ पर चढ़कर निर्मल आकाश के मार्गों में, आमोद के सदृश, जनाह्लाद और विहार किया ॥ २६ ॥

जल की धारणा काल में भी मैंने प्रत्येक परमाणु के कण में पूर्ण रूप से यथास्थित इस जगत् को देखा अर्थात् वहाँ भी परमाणु तक की सभी वस्तुओं में सर्वत्र चाँदी की शिला के सदृश, सृष्टियों का मैंने अनुभव किया ॥ २७ ॥

एकमात्र जल को विषय करनेवाली एकरूप उस जल-धारणा से स्वयं अजड़ होता हुआ भी जड़ जल-सा बनकर तथा सब पदार्थों के भीतर ज्ञातारूप होता हुआ मैं अज्ञात रूप से स्थित रहा ॥ २८ ॥

वहाँ केले के दल के सदृश भीतर और उसके भी भीतर उत्पन्न लाखों जगत् तथा सैकड़ों नाश एवं उत्पात मैंने देखे प्रत्येक वस्तु के अन्दर जो जगत् देखा उनके भी भीतर के प्रत्येक पदार्थ में वैसे ही अन्य-अन्य अव्यवस्थित जगत् भीतर-भीतर मैंने देखा ॥ २९ ॥

इस प्रकार से जगत् हो चाहे न हो, साकार हो चाहे न हो, साकार हो चाहे निराकार हो, सभी अवस्थाओं में सब केवल चितिरूप आकाश ही है, यह प्रसिद्ध आकाश से अधिक निर्मल है अर्थात् यद्यपि अधिष्ठान चिति कल्पित अनन्त जगतों से व्याप्त है, तथापि उसमें किसी तरह की भी मलिनता नहीं है ॥ ३० ॥

आप कुछ नहीं है अर्थात् न आपकी तीन अवस्थाएँ हैं और न देह, इन्द्रिय आदि ही हैं, न यह कुछ है अर्थात् न आकाश आदि बाहरी प्रपञ्च ही है, किन्तु परम विशुद्ध बोध ही इस जगत् के रूप में भासमान होता है। वह—शोधित 'तत्' 'त्वम्' पदार्थरूप—बोध भी वास्तव में कुछ नहीं है अर्थात् न तो वह दृश्य-स्वभाव है, न अदृश्यस्वभाव है और न अदृश्य-शून्य-स्वभाव है, किन्तु अखण्डकाशरूप है, वही आप हैं। इसलिए आप उक्त आत्मरूप बनकर उत्तरोत्तर विकाश प्राप्त कर लें अर्थात् रामजी द्वारा देखे जाने वाले जगत् में भी उक्त न्याय को लगाते हुए सबके अधिष्ठान भूत शुद्ध चिन्मात्र वस्तु में श्रीरामजी की प्रतिष्ठा कराते हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में जलजगवत् वर्णन निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का नब्बे अध्याय समाप्त हुआ।

९१

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभवं तेजस्तेजोधारणयेद्धया ।
चन्द्रार्कतारकाग्न्यादिविचित्रावयवान्वितम् ॥१॥
नित्यं सत्त्वप्रधानत्वात् प्रकाशाकृति राजवत् ।
सर्वं दृश्यमृते सर्वचौरध्वान्तप्रतापयुक् ॥२॥
दीपादिभिः शनैः स्निग्धैर्वंशाशतविहारिभिः ।
प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थं प्रतिगेहं सुराजवत् ॥३॥
लोकालोके च हृषितैश्चन्द्रार्काद्यंशुरोमभिः ।
परप्रकाशैकरतैर्दूरोत्क्षिप्ताम्बराम्बरम् ॥४॥
अन्धकारस्य दैन्यस्य समस्तगुणनाशिनः ।
दृश्यं सद्दृश्यमनिशं सर्वस्य गुणशालिनः ॥५॥
तमस्तमालपरशुः परशुद्धिकरं पदम् ।
सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तादिजनजीवितम् ॥६॥
शुक्लकृष्णारुणादीनां नित्यं ज्योत्स्नाङ्कशायिनाम् ।
पुत्राणामिव वर्णानां सर्वेषां देहदः पिता ॥७॥
घनस्नेहरसं पृथ्व्या रक्षितानलवेधनम् ।
गृहं प्रति घनानन्दैर्वृतदीपकपुत्रकम् ॥८॥
दृष्टं पातालकेष्वीषत्तमोरूपेषु पावकम् ।
अर्धदृष्टं रजोरूपे भूतले भूतमालिते ॥९॥

९१

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—उसके बाद जल-धारणा से विचित्र कौतुक देखने के बाद प्रबल तेज धारणा से मैं चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि आदि विचित्र अवयवों से सम्पन्न तेज बन गया ॥ १ ॥

तेज निरन्तर प्रकाशप्रधान होता है, इससे मैं एकमात्र प्रकाश रूप आकार से चमकने लग गया। मैं अन्धकार पर ऐसा प्रतापी बन गया जैसा कि चक्षु के गोचर अपने हरे हुए पदार्थों को छोड़कर भाग रहे चोरों पर राजा प्रतापी होता है ॥ २ ॥

हजारों वत्तियों से विहार करनेवाले तेलयुक्त दीपक आदि के द्वारा धीरे से मैंने प्रत्येक घर में प्रत्येक पदार्थ को वैसे ही कर लिया जैसे श्रेष्ठ राजा तरह-तरह की वेश-भूषा से परिभ्रमण करनेवाले स्नेह युक्त गुप्तचरों द्वारा सबके घर का वृत्तान्त प्रत्यक्ष कर लेता है ॥ ३ ॥

मैंने तेजरूप बनकर केवल दूसरों के प्रकाशन में ही तत्पर रहनेवाले, अतएव जनों एवं भुवनों के प्रकाश में अतिसन्तुष्ट तथा पुलकित रहनेवाले चन्द्र, सूर्य की किरण रूपी अपने रोमों के द्वारा सबको ढक देनेवाले अन्धकाररूपी वस्त्र के सदृश दृश्यमान आकाशरूप वस्त्र को उठाकर दूर फेंक दिया ॥ ४ ॥

यह विद्यमान सम्पूर्ण जगत् समस्त गुणों को छिपा देनेवाले अन्धकाररूपी दीनता का विषय है अर्थात् अन्धकाररूपी दीन जगत् में जो रूप आदि गुण हैं, उनको दिखाने नहीं देती और दूसरे की दीनता को दूर करने में समर्थ सभी गुणशाली पुरुष उत्तम दीनतारहित जगत् को देखना चाहते हैं, अतः तेज का अन्धकार को समस्त जगत् से हटा देना युक्त ही है ॥ ५ ॥

मैं जिस तेज के रूप में परिवर्तित हुआ, वह तेजरूपी तमाल वृक्ष के लिए तो फरसा है, उत्तम शुद्धि का स्थान है; तथा तेजरहित सुवर्ण, मणि, माणिक्य आदि का लोक में समादर नहीं होता, अतः वह तेज सुवर्ण आदिरूप जनों के आदर का हेतु है अथवा सुवर्ण, मणि, माणिक्य, मोती आदि के रूप से समस्त जनों का जीवन-साधन है ॥ ६ ॥

संसार में जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाश के ही अंश हैं, अतः सदा आलोक की (तेज की) गोद में शयन करनेवाले शुक्ल (श्वेत), कृष्ण, अरुण आदि समस्त वर्णों का, पुत्रों को देह देनेवाले पिता के सदृश, वह तेज स्वरूपदाता पिता है ॥ ७ ॥

यह तेज पृथ्वी के साथ अत्यन्त घनी प्रीति रखता है, इसीलिए तेज अग्नि द्वारा पृथ्वी को (मिट्टी को) नहीं जलाता। पृथ्वी भी अपना स्नेह व्यक्त करने के लिए हर एक घर में बड़े प्रेम से भीत, महल आदि का रूप लेकर तेज के पुत्र दीपकों की वायु आदि के झकोरों से रक्षा करती है ॥ ८ ॥

तमोगुण की अधिकता से युक्त पातालकुहरों में यह तेज.स्वल्प प्रकाश करता है और अनेकविध भूतों की परम्परा से युक्त, रजोगुण की विपुलतावाले भूतल में यह आधा प्रकाश करता है अर्थात् तमोभाग, रजोभाग एवं सत्त्वभाग की बहुलता से युक्त पाताल आदि लोकों में तेज के प्रकाश का तारतम्य बताते हैं ॥ ९ ॥

सत्त्वात्मसु महासत्त्वं नित्यत्वं देवसद्मसु ।
जगज्जीर्णकुटीदीपः कूपोऽम्भस्तमसो महान् ॥१०॥
दिग्वधूविमलादर्शो निशानीहारमारुतः ।
सत्त्वं चन्द्रार्कवह्नीनां कुङ्कुमालेपनं दिवः ॥११॥
केदारं दिनसस्यानां तमोच्छूनामनुग्रहः ।
नभःकाचबृहत्पात्रक्षालनाम्बु समुल्लसत् ॥१२॥
सत्ताप्रदतयाऽर्थानां प्रकाशकतयाऽपि च ।
चिन्मात्रपरमार्थस्य सहोदर इवाऽनुजः ॥१३॥

क्रियाकमलिनीभानुर्भूतलोदरजीवितम् ।
रूपालोकमनस्कारचमत्कारश्चितेर्यथा ॥१४॥

सत्त्वगुणमय = सत्त्वगुण की प्रचुरता से युक्त देवलोक में यह निरन्तर महान् प्रकाश करता है। हे भद्र ! यह तेज जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण कुटिया का दीपक है और अन्धकार के लिए महा अगाध कूप है अर्थात् यह अन्धकार को अपने अन्दर वैसे ही निगल जाने वाला है; जैसे अगाध कूप जल को अपने उदर में निगल जाता है ॥ १० ॥

दिशारूपी वधुओं के लिए तो यह तेज निर्मल आदर्श है अर्थात् उनको अलग-अलग करके प्रदर्शित करता है निशारूपी नीहार के लिए वायु है अर्थात् वायु के सदृश उनको नष्ट कर देता है, चन्द्र, सूर्य और अग्नि के लिए तो जीवन सर्वस्व है और स्वर्गलोक के लिए कुङ्कुम का तिलक है ॥ ११ ॥

दिवसरूपी घानों के लिए वह क्यारी है, तम से (अन्धकार से) आक्रान्त रूपादि के लिए तो वह साक्षात् दया की मूर्ति ही है और गगनरूप महान् काचपात्र के लिए प्रक्षालनार्थ अतिस्वच्छ जल है ॥ १२ ॥

तेज पदार्थों में सत्ता का प्रदान करनेवाला तथा उनको प्रकाशित भी करनेवाला है, इसलिए चिन्मात्ररूप जो परमार्थ वस्तु है, उसका एक तरह से वह सहोदर छोटा भाई है। छोटा भाई इसलिए है कि जड़ होने के कारण वह उससे जघन्य है ॥ १३ ॥

तेज क्रियारूप कमलिनी के लिए सूर्य है और भूतल के हृदय का जीवन है। चाक्षुष वृत्ति और मानस वृत्ति के ऊपर आरूढ़ चिति का जैसे विषयगत अज्ञान की निवृत्ति करना चमत्कार है, वैसे ही इस तेज में भी विषयावरण अन्धकार की निवृत्ति करना चमत्कार है ॥ १४ ॥

नभस्तलगतासंख्यनक्षत्रमणिमालितः ।
दिनर्तुवत्सराबृंह्यवाउवाग्न्यादिफेलिनः ॥१५॥
चन्द्रार्कादितरङ्गान्तरजडं पङ्किलो महान् ।
बृहद्ब्रह्माण्डखातस्थो नित्यमेकार्णवोऽक्षयः ॥१६॥
हेमादिषु सुवर्णत्वं वरादिषु पराक्रमः ।
काचकच्यं च रत्नादौ वर्षादिष्ववभासनम् ॥१७॥
ज्योत्स्ना मुखेन्दुबिम्बेपु पक्ष्मलेक्षणलक्ष्मसु ।
स्नवत्स्नेहामृतापूरो हाससौहार्दभासनम् ॥१८॥

कपोलबाहुनेत्राक्षिभ्रूकरालकलासकः ।
निजोऽजेयतया जातो विलासः कामिनीजने ॥१९॥

यह तेज बड़े विस्तृत इस ब्रह्माण्ड के खन्दक का एक महान् अविनाशी समुद्र है। आकाश-तल में विद्यमान असंख्य नक्षत्र रूपी मणियों से भरा है, इसमें दिन, ऋतु, संवत्सर आदि कालभेदरूप चारों ओर वृद्धिगत वाडवाग्नि आदि से उत्पन्न महान् क्षोभ के कारण फेन उत्पन्न होता है। चन्द्र, सूर्य आदिरूप तरङ्गों के भीतर प्रसृत रज से जल के बिना कभी कीचड़ भी इसमें भरा रहता है अर्थात् यह तेज विशाल ब्रह्माण्ड के खन्दक में रहने वाला बड़ा समुद्र ही है, इस प्रकार उत्प्रेक्षा करने के लिए रूपक से कल्पित धर्मों से तेज को विशेषित करते हैं ॥ १५, १६ ॥

मैं तेज बनकर सुवर्णादि में सुन्दर रङ्ग बन गया, मनुष्यादि में पराक्रम बन गया, रत्न आदि में कान्ति विशेष बन गया और वर्षा ऋतु में बिजली की चमक बन गया ॥ १७ ॥

हे राघव ! मुख के सदृश चन्द्र बिम्बों में मैं ज्योत्स्ना बन गया, बरौनीवाले नेत्ररूपी चिह्न से युक्त मुखरूपी चन्द्र बिम्बों में तो ज्योत्स्ना के सदृश बह रहे स्नेह रूपी अमृत का पूर या हास सौहार्दयुक्त कमनीय कान्ति बन गया ॥ १८ ॥

कामिनी जनों में मैं कपोल, बाहु, नेत्र, भौंह, हाथ, केश आदि को अति सुन्दरता से प्रकाशित करनेवाला, सर्वत्र अजेय रूप से प्रसिद्ध स्वाभाविक काम का विलास बन गया ॥ १९ ॥

तेज की धारणा से तेज होकर मैं वृत्र आदि असुरों के जो त्रिभुवन को तृण के समान समान समझते थे तथा

तृणीकृतत्रिभुवनचपेटास्फोटितद्विषाम् ।
शिरःसु वज्रीकरणं वीर्यं सिंहादिचेतसि ॥२०॥
कटुकङ्कटकुट्टाकखड्गसंघट्टटाङ्कृतैः ।
पटु स्फुटाटोपरटिभटेष्वटनमुद्भटम् ॥२१॥
देवेषु दानवारित्वं सुरारित्वं सुरारिषु ।
सर्वभूतेषु स्वोजस्त्वमुन्नामः स्थावरादिषु ॥ २२॥
अथ ते मरुवद्भास्वांस्तत्राऽहमनुभूतवान् ।
जगदाकाशकोशेषु तेषु तामरसेक्षण ॥२३॥
दिगन्तदशनिस्तीर्णैः करजालैर्जगत्खगम् ।
गृह्णद्वद्ग्रचञ्चमर्कत्वं ग्रामवद्दृष्टभूतलम् ॥२४॥
कामोत्पले कोशचक्रं वाडवं तिमिरार्णवे ।

अपनी चपेटाओं से अपने शत्रुओं को कंपा डालते थे, मस्तक पर वज्र प्रहार बन गया और सिंह आदि के हृदय में वीर्यरूप बन गया ॥ २० ॥

वीर पुरुषों में रणाङ्गणों में निर्भय विचरण करने का कारण जो उद्भट पराक्रम प्रसिद्ध है, वह भी मैं बन गया, जैसा-तैसा पराक्रम नहीं, किन्तु अति कठोर लोह कवचों को तोड़ने वाले खड्गों के परस्पर आघातों से उत्पन्न टङ्कार ध्वनि से अत्यन्त पटु तथा बड़े भारी आडम्बरों से युक्त पराक्रम बन गया ॥ २१ ॥

देवों में दानवों का शत्रु, दानवों में देवताओं का शत्रु, सब भूतों में उत्तम बल तथा वृक्ष आदि स्थावरों में उन्नति रूप भी मैं बन गया ॥ २२ ॥

हे कमलदल—लोचन ! तदनन्तर अपनी धारणा से कल्पित उन जगदाकाश के कोशों में मैं सूर्य होकर नीचे कही जाने वाली समस्त वस्तुओं का अपने अन्दर ऐसे अनुभव करने लगा, जैसे कि प्रसिद्ध मरुस्थली अपने अन्दर नदी आदि की कल्पना का अनुभव करती है ॥ २३ ॥

मैंने अपने सूर्य के स्वरूप का अनुभव किया, उस रूप से मैंने दसों दिशाओं में फैले हुए हाथ रूपी किरणों से जगद्-रूपी पक्षी को, जिसके कि बड़े-बड़े पर्वत अवयव थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटे से गाँव के सदृश प्रतीत हुआ ॥ २४ ॥

मेरा सूर्य स्वरूप चन्द्र की कामना करने वाले कुमुदों के लिए कोश बन्धन का हेतु चक्र बना; अन्धकार रूपी समुद्र के लिए वाडवाग्नि, ब्राह्मण रूपी घर के लिए दीपक और दिन रूपी फल समूह के लिए वृक्ष बना ॥२५॥

ब्रह्माण्डसदने दीपं वृक्षं दिनफलावलेः ॥२५॥
रसायनह्रदाकारमिन्दुत्वं वदनं दिवः ।
निशानिशाचरीहासं विकासं रजनीविशाम् ॥२६॥
जगल्लावण्यलक्ष्मीणां सर्वासामुपमास्पदम् ।
रजनीरोहिणीनारीकैरवाणां परं प्रियम् ॥२७॥
नेत्रवृन्दस्य वक्त्रस्य द्युलतापुष्पजालकम् ।
स्वर्गौघमशकव्यूहं तारकापटलं मृदु ॥२८॥
वणिङ्मात्रे वणिग्घस्ततुलातोलनदोलितम् ।
रत्नत्वं जलकल्लोलहस्तान्दोलनमब्धिभिः ॥२९॥
अब्धाऽब्धौ शफरावर्तमब्धा गोमञ्जरीगणः ।
अब्दादौ दावदहनं वैद्युतं द्योतनं तनौ ॥३०॥

इसी तरह मैं चन्द्ररूप भी बन गया। मेरा चन्द्र का जो स्वरूप हुआ, उसका आकार अमृत से लबालब भरी झील के सदृश था, वह स्वर्ग के मुख के सदृश मुख था, निशारूपी निशाचरी का अर्थात् अभिसारिका का हास के सदृश हास था तथा रात्रि में प्रवेश करने वालों का प्रकाश कर्ता था ॥ २६ ॥

वह मेरा चन्द्र का रूप समस्त जगत् की सुन्दरता रूपी लक्ष्मियों के लिए उपमान तथा रात्रि, रोहिणी रूपी नारी एवं कुमुदों के लिए उत्तम स्नेह का भाजन था ॥ २७ ॥

जितने संसार में प्राणी हैं, उन सबके नेत्र और मुख का आह्लाद और विकास का हेतु होने के कारण वह अत्यन्त ही प्रिय लगता था। अनन्तर मैं मृदु तारा समूह बन गया अर्थात् अपने में समस्त तारों के स्वरूप का अनुभव करने लगा। यह मेरी तारात्मता आकाशरूपी लता की मानो पुष्पराशि थी, और थी स्वर्ग सुखरूपी मकरन्द के प्रवाह में आसक्त मानो मच्छरों की कतार ॥ २८ ॥

मैं रत्न बन गया। कुछ समय मेरा यह स्वरूप बाजारों में जौहरियों के हाथों से काटे पर तोलने के कारण आन्दोलित हो उठा था तथा कुछ समय समुद्रों द्वारा जल-कल्लोल रूपी हाथों से कम्पित किया गया था ॥ २९ ॥

समुद्र का जल पी जाने वाला बाडवानल भी मैं बन गया। मैंने अपने बाडवानल रूप से समुद्र में डरे हुए छोटे-छोटे मत्स्यों के परिभ्रमण का खूब-कौतुक देखा।

दारुदारणदुर्वारदीप्तं ज्वलनमाततम् ।
यज्ञाग्निदाहकल्याणं विस्फोटकठिनारवम् ॥३१॥
कचत्काञ्चनमाणिक्यमुक्तामणिमयं महः ।
तपस्तां नीतमाक्षिप्य पाण्डित्यमिव पामरैः ॥३२॥
विश्रान्तं स्तनशृङ्गेषु मुक्ताहारतया तया ।
असुरोरगगन्धर्वनरनायकयोषिताम् ॥३३॥
पादाहतिं गतं मार्गे तिलकत्वं वधूमुखे ।
खद्योतेन मया लब्धं पश्याऽवस्थासु चापलम् ॥३४॥
क्वचिद्विद्युत्तया तेषु शफर्या चाऽर्णवेष्विव ।
खस्थेषु विकृतं चारु वार्यावर्त्तविराविषु ॥३५॥
क्वचिद्दीपतयाऽऽनीय कलिकाकोमलाङ्गया ।
अन्तःपुरेषु कान्तानां सुरतालोकनं कृतम् ॥३६॥
क्वचित्कज्जलजालस्य ज्वालाकनकदाकृते ।
खेदिना घनकूर्माभं संगेनैव स्वकोटरे ॥३७॥
कल्पान्तेषु क्वचित्सर्वजगद्भ्रमघनभ्रमात् ।
खे कज्जलासिते लीनं रुद्रेभ इव विद्युता ॥३८॥
क्वचिदाकल्पमापीय वाडवाग्नितया जलम् ।
जगत्सु गगनेष्वन्ते ननृते जलराशिषु ॥३९॥
क्वचिदुल्मुकदन्तेन मया ज्वालाभुजात्मना ।
विलोलधूमावर्त्तोग्रकुन्तलेनाऽऽकुलौजसा ॥४०॥

जल को स्वाहा करने वाला सूर्य-किरण का समूह बनकर मैंने अपने शरीर में प्रकाश का अनुभव किया। मेघ, पर्वत आदि में मैंने बिजली और दावाग्नि का स्वरूप धारण कर लिया और उन शरीरों में अपने में अपूर्व प्रकाश का अनुभव किया ॥ ३० ॥

मैंने अग्नि बनकर इस प्रकार दीप्तिपूर्वक जलना आरम्भ किया कि उससे लकड़ियों का विदारण तत्काल हो जाता था, इसी से लकड़ियों के विस्फोटों से चारों ओर दुर्वार कठिन शब्द उत्पन्न होते थे तथा यज्ञाग्नि होकर मैंने हविष् दाह का भी आनन्द लूटा ॥ ३१ ॥

जब मैं अग्नि बना तब सुवर्ण, माणिक्य, मोती, मणि आदि जो चमकीली ज्योतियाँ थी, उनका कोशागार के दाह द्वारा पराभव कर उनके स्वामियों को ऐसा सन्ताप पहुँचाया, जैसे बलवान् अनेक मूर्खों के द्वारा वितण्डा से एक पण्डित को सन्ताप पहुँचाया जाता है। इस विषय की कहावत है कि एक पलाश के पेड़ को देख कर पण्डित ने कहा—यह पलाश वृक्ष है। इसपर वहाँ विद्यमान अनेक मूर्खों ने मिल कर कहा, नहीं यह पाकरका पेड़ है। झगड़ा बढ़ा और मूर्खों ने पण्डित की मुक्कों से पूजा आरम्भ की, पण्डित भी दुःखी होकर कहने लगा, हाँ, यह पाकर का पेड़ है ॥ ३२ ॥

अनन्तर मैं मोती बन गया और मोतियों के हार रूप से असुर, नाग, गन्धर्व और नरनायकों की रमणियों के स्तनो पर मैंने दीर्घकाल तक विश्राम किया ॥ ३३ ॥

खद्योत बनकर मैंने मार्ग में गमन कर रहे मनुष्यों के पैरों से खूब रगड़ खाने का अनुभव किया स्त्रियों के ललाट पर तिलक रूपता का भी अनुभव किया। स्थान भेदों से प्राप्त हुई उत्कर्षापकर्षरूप अवस्थाओं में मेरी चपलता अनियतता तो जरा देखिये ॥ ३४ ॥

जल के आवर्तों से शब्दायमान आकाशस्थ मेघों में विद्युत् का रूप लेकर मैंने समुद्र में मछली के सदृश अत्यन्त सुन्दर ढंग से चेष्टाएँ कीं ॥ ३५ ॥

मैंने कहीं दीपक रूप भी ले लिया। दीपक के रूप में जब मेरी अन्तःपुर में स्थापना हुई, तब रमणियों की सुरतक्रीड़ा का भी मैंने अवलोकन किया। दीपक के रूप में पुष्प-कलिका के सदृश मेरे कोमल अङ्ग खूब शोभायमान होते थे ॥ ३६ ॥

बत्ती के आगे के हिस्से में कभी-कभी काजल का एक जाल-सा बन जाता है। यह दीप ज्वाला रूप सोने के टुकड़े को तोड़-फोड़ देता है, यही इसका स्वरूप है, हे भद्र ! इस कज्जल जाल के ही समागम से कभी मन्दप्रभ बनकर ज्वालादि अङ्गों को समेट लेने के कारण दीपक रूप में मैं घन कूर्म का रूप भी बना लेता था ॥ ३७ ॥

कभी कल्पान्त की अग्नि बनकर मैंने कल्पान्त में समस्त जगत् में खूब परिभ्रमण करने के कारण उस समय मुझे जो बड़ा परिश्रम हुआ, उससे कज्जलश्याम आकाश में कहीं ऐसा विलीन हो जाता था, जैसे इन्द्र के वाहन काले मेघों में विद्युत् विलीन हो जाती है ॥ ३८ ॥

कहीं बडवाग्नि के रूप से मैंने कल्पपर्यन्त खूब जल-पान किया, तदनन्तर सब जगत् और सब जल जब आकाश यानी शून्यरूप हो गये, तब आकाश में नृत्य किया ॥ ३९ ॥

मैंने जब अग्नि की देह धारण की थी, तब मेरे ही उल्मुक (जलती लकड़ियाँ) दाँत बन गए, ज्वालाएँ हाथ बन गईं और चञ्चल धूम के आवर्त केश हो गये। इस

पुरपल्लवदाहेषु कवलीकृतजन्तुना ।
कृताः कृताष्ट काष्ठादिपदार्थाः खादनोचिताः ॥४१॥
हतेन शस्त्रपाषाणैरयःपिण्डादिवासिना ।
हन्तृदाहार्थमुद्गीर्णाः कणकोपलताः क्वचित् ॥४२॥
क्वचिन्महाशिलाकोशे पाषाणमणिना मया ।
समस्तभूतादृश्येन स्थितं युगशतान्यपि ॥४३॥

श्रीराम उवाच

मुने तस्यामवस्थायामनुभूतं त्वया सुखम् ।
उत दुःखमिति ब्रूहि बोधाय मम मानद ॥४४॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा याति नरः सुप्तो जडतां चेतनोऽपि सन् ।
चिद्व्योम गच्छेद् दृश्यत्वं तथा जाड्यं प्रचेतति ॥४५॥

रूप से जब नगर और प्ररूढ़ लतापल्लवों का दाह करना आरम्भ किया तब हृदयादि आठ गुणों को स्थिर बनाने वाले। हे श्रीरामजी ! जन्तुओं को ग्रास कर जाने वाले मैंने काष्ठ आदि पदार्थों को अपना खाद्य बना दिया ॥ ४०, ४१ ॥

लोहार आदि कारीगरों की प्रयोग-शालाओं में लोह पिण्डों में रहकर मैंने मुगदर तथा पत्थरों से ताडित होकर ताडन करने वाले को जलाने के लिए चिनगारियाँ तथा पत्थर के छोटे-छोटे कङ्कर उगले ॥ ४२ ॥

कहीं पर मैंने बड़ी बड़ी चट्टानों के अन्दर पाषाण-मणि का हीरा, पन्ना आदि का रूप लेकर समस्त भूतों की दृष्टि से ओझल होकर सैंकड़ों युग तक निवास किया ॥ ४३ ॥

श्रीरामभद्र ने कहा—हे नारद ! हे मुनिवर ! उस पाषाण आदि अवस्था में क्या आपने सुख का अनुभव किया, यह मुझसे ज्ञान के लिए कहिए ॥ ४४ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—जैसे सुप्त पुरुष चेतनरूप होता हुआ भी जड़ता का अनुभव करता चिद्रूप आकाश दृश्य-भाव को प्राप्त होकर वैसे ही अनुभव करता है अर्थात् चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभूत मैंने केवल कौतुकवश जगद्रूपता का आरोप देखा था, इसलिए उक्त पाषाण, मणि आदि अवस्थाओं में मुझको तनिक भी दुःख नहीं हुआ, किन्तु सुख ही हुआ, इस प्रकार उत्तर देने के लिए वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं ॥ ४५ ॥

आत्मानं चेतति ब्रह्म पृथ्व्यादीव यदा तदा ।
सुप्तं जडमिवाऽऽस्तेऽन्तः स्यादस्य न तदन्यथा ॥४६॥

वस्तुतस्तस्य खोर्व्यादि नाऽसद्रूपं न सन्मयम् ।
द्रष्टृदृश्यमिवाऽऽभाति ब्रह्म चैतत् समं स्थितम् ॥४७॥

एतत्सत्यपरिज्ञानं यस्योत्पन्नमखण्डितम् ।
न तस्य पञ्च भूतानि न दृश्यद्रष्टृविभ्रमः ॥४८॥

तदा मयैवं शुद्धेन तत् कृतं ब्रह्मरूपिणा ।
ब्रह्मरूपादृते किंचिदेतत्कर्तुं न युज्यते ॥४९॥

यदा सर्वमिदं दृश्यं जातं ब्रह्म निरामयम् ।
तदा ब्रह्मपदस्थेन मयाऽऽत्मैवैवमीक्षितः ॥५०॥

जब ब्रह्म अपने को पृथ्वी आदि के रूप के समान समझने लगता है तब सुषुप्त के सदृश जड़ के समान बनकर रहता है। वास्तव में इसका जो भीतरी सच्चिदानन्दात्मक स्वभाव है, उसका अन्यथाभाव कभी नहीं होता, इसलिए दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४६ ॥

ब्रह्म में जो आकाश, पृथ्वी आदि स्वरूप भासमान होते हैं, वे वास्तव में ब्रह्म के सद् या असदात्मक स्वरूप नहीं हैं, किन्तु इसी प्रकार से द्रष्टा-दृश्य से वे भासमान होते हैं, इसलिए ब्रह्म तो सदा ही एक-सा अविकृत ही अवस्थित है ॥ ४७ ॥

जिस पुरुष को यह सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसको दृष्टि में न तो पाँच भूत ही हैं और न उसे दृश्य-द्रष्टा का विभ्रम ही भासमान होता है अर्थात् अज्ञान होने पर ही दुःख आता है, किन्तु वह नहीं है ॥ ४८ ॥

उन धारणाओं में मैंने जो कुछ उस प्रकार का जगन्निर्माण किया, वह सब विशुद्ध ब्रह्मरूप बनकर ही किया, क्योंकि जगन्निर्माण करनेवाले का शुद्ध ब्रह्मरूप के बिना कुछ रूप हो ही नहीं सकता ॥ ४९ ॥

जब परमार्थ-दशा में यह सब कुछ दृश्य निर्विकार ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ तब ब्रह्मपद में ही रहकर मैंने अपनी आत्मा को उक्त नानाविध जगत् के रूप में देखा, यह बात निश्चित रूप से आप जान लें ॥ ५० ॥

यदा पुनरहं पञ्चभूतानीत्येव भासयन् ।
भवामि जड एवाऽहं तदा चेतामि किं किल ॥५१॥
सुप्तोऽस्मीति दृढं भावं बुद्धवांश्चेतनोऽपि सन् ।
नैद्रमेवैत्यलं जाड्यं लसच्चेतति किंचन ॥५२॥
यस्तु ज्ञानप्रबुद्धात्मा देहस्तस्याऽऽधिभौतिकः ।
शाम्यत्युदेति विमलो बोधात्मैवाऽऽतिवाहिकः ॥५३॥
आतिवाहिकदेहेन तेन बोधात्मनाऽणुना ।
बृहता वा यथाकामं निर्वाणात्माऽवतिष्ठते ॥५४॥
बोधदेहेन हृदयं शिलानामप्यभेदिनाम् ।
प्रविश्याऽऽशु विनिर्याति याति पातालमम्बरम् ॥५५॥

पृथ्वी आदि की धारणाओं के द्वारा अपने को पृथ्वी आदि पाँच भूतों के रूप में प्रकाशित कर रहा मैं यदि जड़ रूप ही बन जाता, तो मैं उनका अनुभव ही कैसे कर सकता ? अर्थात् यदि पाषाण, मणि आदि का रूप होने पर मुझमें चैतन्य न रहता, तो उनका अनुभव और आज स्मरण मुझको होता ही नहीं ॥ ५१ ॥

'मैं सोया हूँ' इस दृढ़ भाव को चेतन होकर भी मैंने जाना, उस दशा में निद्रा दोष से उपस्थित किया गया अज्ञान ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति से प्राप्त करायी गयी जड़ता धारण करता है और प्रकाशमान स्वप्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो उस समय प्रकाशमान रहती और अनुभव करती रहती है, यदि यह बात न होती तो सुषुप्तिकाल में अनुभूत अज्ञान का जाग्रत्काल में स्मरण कैसे होता ? ॥ ५२ ॥

जिस पुरुष की आत्मा सत्यज्ञान से जग गई है, उसकी आधिभौतिक देह तत्काल विलीन हो जाती है अर्थात् देह में आधिभौतिकता को प्राप्ति हो नहीं रहती और निर्मल बोधरूप आतिवाहिक देह की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से स्थूल व्यष्टि-समष्टि देह को आधिभौतिक भावना नष्ट हो जाती है, इसलिए भी जड़ दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ५३ ॥

बोधरूपी उक्त आतिहाहिक देह छोटी हो चाहे बड़ी हो, उससे अपनी इच्छानुसार पुरुष निर्वाणरूप (समस्त प्रपञ्चों से रहित जीवन्मुक्तरूप) होकर स्थित हो जाता है ॥ ५४ ॥

बोधरूप देह के प्रभाव से अभेद्य पाषाण शिलाओं के भीतर प्रवेश करके पुरुष अनायास बाहर निकल जाता है, पाताल में चला जाता है और आकाशमण्डल में भी विचरण करता है ॥ ५५ ॥

तस्मान्मया पुरा राम बोधदेहेन तत्तदा ।
तथा कृतमनन्तेन चिन्मयव्योमरूपिणा ॥५६॥
वज्रपाषाणपातालनभोऽवरगमागमान् ।
कुर्वतस्तादृशस्याऽऽशु न विघ्न उपजायते ॥५७॥
बोधमात्रशरीरेण यावदास्ते जडेष्वसौ ।
पदार्थेषु तथाभूतस्तावत्तत्राऽवतिष्ठते ॥५८॥
स्वेच्छयैव चलित्वाऽथ ततोऽन्यत्र प्रयाति चेत् ।
तत्तत्रैव स्थितिं याति तत्तथैवाऽऽगतिर्यथा ॥५९॥
बोधमात्रं विदुर्देहमातिवाहिकमव्ययम् ।
इदानीं त्वं तमेवेहे बुधोऽनुभवसि स्वयम् ॥६०॥

इसीलिए उस समय बोधरूप देह के कारण अनन्त चिन्मय आकाशरूपी मैंने पृथ्वी आदि की धारणा बाँधकर पृथ्वी आदि स्वरूप का निर्माण किया था ॥ ५६ ॥

वज्र, पत्थर, पाताल, आकाश एवं स्वर्ग आदि में यातायात कर रहे उसी तरह के विशुद्ध आत्मा को तनिक भी विघ्न उपस्थि नहीं होता है ॥ ५७ ॥

बोधमात्र शरीर से यह आत्मा जड़ पदार्थों में जब तक रहता हे तब तक बोधमात्र शरीर से ही उनमें रहता है, अन्य रूप से नहीं ॥ ५८ ॥

अपनी ही इच्छा से यदि कोई चलकर फिर अन्यत्र जाता है, या वहाँ स्थिति करता है, या वहाँ से वापस चला आता है, तो दुख नहीं होता, ठीक इसी प्रकार की यहाँ भी स्थिति है अर्थात् अपनी इच्छा से किए गये कौतुकों में मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वैसा करना इष्ट ही था, अनिष्ट नहीं अर्थात् यह सब कौतुक अपनी इच्छा से ही किए गये थे, इसलिए भी दुःख की प्राप्ति नहीं हुई ॥ ५९ ॥

एकमात्र तत्त्वज्ञान ही अविनाशी आतिवाहिक देह है; यह तत्त्वज्ञों का मत है, इसलिए अब आप यदि इच्छा करें, तो आतिवाहिक देह और धारणा द्वारा जगद्भाव का अवलोकन कर सकते हैं अर्थात् आप भी तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आतिवाहिक देहभाव और धारणाओं के अनुसार जगद्भावरूपी कौतुकों का दर्शन आपके लिए भी सुलभ है, अतः मेरे कहे गये विषय की परीक्षा करें ॥६०॥

चिन्मात्रव्योमरूपोऽस्मीत्यर्कादाविति बोधतः।
आत्मैवाऽस्तमुपानीतः सन्नेवाऽसन्निवाऽऽत्मना ॥६१॥

स्थितं स्वप्नादिजगति तमसेवाऽसतेव च।
आवृतेनेव वाऽन्यासामलभ्येन स तादृशम् ॥६२॥

तरङ्गलेखयाऽङ्गारसरितः स्वाङ्गलग्नया।
मनोराज्यधियेवाशुक् प्रोत्पन्नस्तद्वदेहया ॥६३॥

कज्जलालिकया वह्निविपिनं पुष्पशोभया।
फुल्लस्थलाम्बुजाकारं किंशुकाशोकरूपया ॥६४॥

विततारम्भयाऽप्युच्चैर्ज्वालाज्वलतयेद्धया।
उपोत्थायाऽङ्ग गलितं खललक्ष्म्येव लोलया ॥६५॥

तेजस्तयाऽपि परमाणुकणोदेरेऽपि
दृष्टेत्थमेवमिह राम मया जगच्छ्रीः।
अन्या च सा न च चिदम्बरतः परस्मा-
त्स्वप्ने पुराचलगणोऽत्र निदर्शनं वः ॥६६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने तैजसजगद्वर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥९१॥

इस तरह सूर्य आदि लोकों में 'चिन्मात्रस्वरूप आकाशरूप मैं ही हूँ', इस बोध से अपनी आत्मा के असली स्वरूप से ज्ञात होता हुआ भी सूर्यादिलोक जगत् के बोध से असत्ता तथा अस्त को प्राप्त होने के समान हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञ लोग सूर्य आदि समस्त जगत् को जगद्-रूप से असत् बनाकर आत्मरूप से स्थापित कर लेते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

जैसे जाग्रत्-पुरुष की दृष्टि में विद्यमान ही जगत् सुप्त पुरुष में प्रसिद्ध स्वप्नादि जगत् में अज्ञानता के कारण असत् के समान, शून्यभाव के कारण आवृत के समान या स्वप्नद्रष्टा पुरुषों के द्वारा अलभ्य-सा बनकर स्थित है वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए अर्थात् हम लोगों की दृष्टि में जगत् तो सत्य है, फिर वह असत् के समान बनकर स्थित है, यह कैसे कहते हैं ? इस शंका पर स्वन आदि जगत् के विद्यमान रहते जाग्रत् जगत् कैसे असत् के समान रहता है ॥ ६२ ॥

जैसे कोई कौतुकी पुरुष मनोराज्य से कल्पित अंगारों की नदी के तरंगों का अंग से स्पर्श हो जाने पर भी दुःखी नहीं होता है, वैसे ही मैं अपनी थोड़ी इच्छा के कारण पाषाण, मणि आदि रूप हो जाने पर भी दुःखग्रस्त नहीं हुआ ॥ ६६ ॥

इस तरह अग्निरूपधारी मैंने काजलरूपी भ्रमरों के समूहों से समन्वित एवं अशोकरूप फूलों की शोभा से युक्त प्रदीप्त ज्वालाओं के कारण अग्नि से व्याप्त जंगल को विकसित स्थलकमल के सदृश बना दिया ॥ ६४ ॥

दुष्ट पुरुष की लक्ष्मी के सदृश बढ़ी हुई तथा घटा-टोपपूर्ण चञ्चल ऊँची-ऊँची ज्वालामालाओं के रूप से तत्काल ही उत्कर्ष प्राप्त कर मैं सहसा नष्ट भी हो गया ॥ ६५ ॥

तेजस्वरूप बनकर मैंने परमाणु कणों के भीतर इसी तरह की जिस प्रत्येक जगत्-शोभा का अवलोकन किया, वह जगत्-शोभा और आप जिसे देख रहे हैं, वह जगत्-शोभा दोनों सर्वोच्च चिदाकाश से भिन्न नहीं हैं, इस विषय में दृष्टान्त—आपके स्वप्न के प्रसिद्ध नगर या पर्वत विद्यमान हैं ॥ ६६ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में तैजसजगद् वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का इक्यानबे अध्याय समाप्त हुआ।

९२

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वातमयीं कृत्वा जगत्प्रेक्षणकौतुकात्। धारणां धीरया वृत्त्या विततामहमागतः ॥१॥

९२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर मैंने जगत् देखने की उत्कण्ठा से वायुमय धारणा बाँधी, फिर धीर वृत्ति से वायुरूप में स्थिति प्राप्त हो जाने तक की लम्बी वायुमय धारणा को प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

संपन्नोऽस्म्यनिलो वल्लीललनालोकलासकः।
कमलोत्पलकुन्दादिजालकामोदपालकः ॥२॥
सीकरोत्करनीहारहेलाहरणतत्परः।
सुरतश्रान्तसर्वाङ्गसमाह्लादनतर्षुलः ॥३॥
तृणगुल्मलतावल्लीदलताण्डवपण्डितः।
लतौषधिफलोल्लासकुसुमामोदमण्डितः ॥४॥
मृदुर्मङ्गलकालेषु ललनालोकलालकः।
भीम उत्पातकालेषु पर्णवत्प्रौढपर्वतः ॥५॥
नन्दने कुन्दमन्दारमकरन्दरजोरुणः।
नरकेऽङ्गारसंभारभूरिनोहारभासुरः ॥६॥
सागरे सरलावर्तलेखानुमितसर्पणः।

मैं वायु बन गया। मैं वायु बनकर लतारूपी ललनाओं के साथ विलास करता था तथा कमल, उत्पल, कुन्द आदि फूलों की सुगन्ध को, स्वायत्त कर, रक्षा करता था॥ २॥

मैं जलकणों की राशि को इधर उधर बखेरने तथा नीहार-समूह को लीला से दूर दूर तक हरण करने में निरत रहता था और सुरतक्रीडा से क्लान्त युगलों के समस्त अंगों में आह्लाद पहुँचाने में रात-दिन सतृष्ण रहता था॥ ३॥

तृण, गुल्म, लता, वल्ली तथा पत्तों को ताण्डव नृत्य सिखलाने में महापण्डित भी मैं बन गया एवं लता और औषधियों के फलों के उल्लासों तथा कुसुमों के आमोदों से विभूषित हो गया॥ ४॥

मङ्गल के अवसरों में भावी कल्याण को सूचित करने के लिए मैं मृदु अर्थात् मन्द, सुगन्ध एवं शीतल होकर ललना-जनों के प्रेम का भाजन बन जाता था, उत्पात समय में तो भावी उत्पातों को सूचित करने के लिए भयङ्कर तीक्ष्ण, उष्ण और असह्य बन जाता था, प्रलयकाल में तो पर्वतों को भी पत्तों के सदृश उड़ा देता था॥ ५॥

भद्र! नन्दन में स्वर्ग में कुन्द, मन्दार आदि के मकरन्द और पराग (पुष्पधूलि) से धूसर तथा नरक में अङ्गारों की राशि तथा विपुल नीहार से लदा रहता था॥ ६॥

जब मैं समुद्र में रहता था, तब मेरी गति सरल तरङ्गों की रेखाओं से अनुमित होती थी और जब मैं

दिवि वारिदसंचारमृष्टामृष्टेन्दुदर्पणः ॥७॥
नक्षत्रक्षत्रसैन्यस्य रथो रंहो विवृंहितः।
त्रैलोक्यसिद्धसंचारविमानधरणेहितः ॥८॥
सहोदर इव क्षिप्रगामित्वादस्य चेतसः।
अनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः स्पन्दानन्दनचन्दनः ॥९॥
तुषारसीकरासारजरारोमविजर्जरः।
आमोदयौवनोन्मादो मौनमार्दवशैशवः ॥१०॥
नन्दनामोदमधुरा मधुरोदारसंसृतिः।
चारुचैत्ररथोन्मुक्तो हृतकान्तारतश्रमः ॥११॥
चिरं गङ्गातरङ्गाङ्गदोलान्दोलनसश्रमः।
श्रमस्वरूपाज्ञतया निवारिततत्श्रमः ॥१२॥

आकाश में रहता था, तब मैं कभी चन्द्रमारूपी दर्पण को मेघरूपी मल हटाकर स्वच्छ बना देता था और कभी मेघरूपी मलिनता लाकर मलिन बना देता था॥ ७॥

मैं नक्षत्ररूपी राजसेना का बड़े वेग से आगे की ओर बढ़ा हुआ रथ था [प्रवह नामक वायु नक्षत्रचक्र को घुमाता है, यह ज्योतिषशास्त्र का सिद्धान्त है], त्रिलोकी में समस्त सिद्धों के सञ्चार एवं देवताओं के विमानों के धारणमें सदा अनुकूल रहता था॥ ८॥

मेरी इतनी शीघ्र गति थी कि मैं चित्त या मन का सहोदर भाई के समान था, मैं यों तो अनङ्ग था, फिर भी मैं किसी अङ्ग से रहित न था तथा अपने स्पन्दनों से चन्दनों के बनों को आनन्दविभोर बना देता था॥ ९॥

तुषार-कणों की जब महती वृष्टि होती थी, तब तुषार कणरूपी धवल रोमों के कारण मैं बूढ़ा के समान लगता था, कुसुम आदि आमोदों से मैं यौवन के उन्माद से चूर के समान हो जाता था तथा मौन एवं मृदुता के कारण मैं बालकरूप भी हो जाता था॥ १०॥

नन्दन-वन में मधुर सुगन्धि के कारण मेरा गमन अति मधुर और उदार होता था तथा जब मैं कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से प्रस्थान करता तब कान्ता-जनों के सुरत श्रम को हर देता था॥ ११॥

भगवती भागीरथी के तरङ्गरूपी हिण्डोलों के आन्दोलनों से मुझे श्रम के समान अवश्य लगता था, परन्तु दूसरों के परिश्रमों की निवृत्ति करने के उत्साह से उसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो पाता था, इसीलिए दूसरों के असीम श्रमों को मैं तत्काल ही नष्ट कर देता था॥ १२॥

पुष्पभारानताः स्पर्शैर्वसन्तवनिताऌताः ।
चिरं चपलयन् लोलदलहस्तालिलोचनाः ॥१३॥
चिरं भुक्त्वेन्दुबिम्बाग्रं सुप्त्वा पूर्णाभ्रतल्पके ।
विधूय कमलानीकमपनीतरतश्रमः ॥१४॥
समस्तरजसामेको व्योमगामी तुरङ्गमः ।
आमोदमदमातङ्गसमुल्लासमहासुहृत् ॥१५॥
धोरेणाऽप्यतडिच्छृङ्गं पयोदपशुपालकः ।
तन्तुः सीकरमुक्तानामरिधर्मा रजोरुजाम् ॥१६॥
आकाशकुसुमामोदः सर्वशब्दसहोदरः ।
नाडीप्रणालीसलिलं भूताङ्गोपाङ्गवर्तकः ॥१७॥
मर्मकर्मकरैकात्मा हृद्गुहागेहकेसरी ।

ऋतुराज वसन्त की वनिता जैसी लताओं को मैं नर्म स्पर्शों से दीर्घकाल के लिए चपल बनाता था। वे लतावनिताएँ फूलों के भारों से नत रहती थीं, उनके चञ्चल दल हाथ से प्रतीत होते थे और भ्रमर नेत्र से लगते थे ॥ १३ ॥

चन्द्रबिम्ब में सर्वश्रेष्ठ अमृत का दीर्घकाल तक पान कर, पूर्ण मेघरूपी शय्यापर शयन कर तथा कमलों की पङ्क्ति को कँपाकर दूसरे के या अपने सुरतजनित परिश्रम का निवारण करता था ॥ १४ ॥

मैं समस्त धूलियों के लिए आकाशगामी घोड़ा तथा आमोदरूपी मत्त-मातङ्ग का उल्लासप्रद महान् मित्र था ॥ १५ ॥

तड़ित रूपी सींग को (गोपाल-बालकों के वाद्य को) प्राप्त कर उसके नाद से मैं मेघरूपी दुधारु पशुओं का एक पालक के समान बन गया, जल कणरूपी मोतियों के लिए मैं सूत बन गया तथा धूलिनाशक जल के लिए मैंने शत्रुता मोल ली, क्योंकि जल को मैं सुखा देता था ॥ १६ ॥

आकाश रूपी फूल का मैं आमोद था, इसीलिए आकाश के गुण सब शब्दों का मैं सहोदर भाई भी बन गया तथा प्राणियों के अङ्ग-उपाङ्गों में प्रवर्तक बनकर उनकी नाडीरूपी प्रणालियों में (नालियों में) जलरूप के समान भी हो गया ॥ १७ ॥

सब प्राणियों का प्राणभूत तथा हृदय आदि मर्म स्थान रूप घर का मैं सिंह था, मैं निरन्तर नियम से संचरण करता रहा, तथा मैं अग्नि के बल का ज्ञाता था,

नित्यमेकान्तपथिकः सारविज्जातवेदसः ॥१८॥
आमोदरत्नलुण्टाको विमाननगरावनिः ।
दाहान्धकारशीतांशुः शैत्येन्दुक्षीरसागरः ॥१९॥
प्राणापानकलारज्ज्वा प्राणिनां यन्त्रवाहकः ।
आरिमित्रं च द्वीपानां द्वीपसंचारणे रतः ॥२०॥
पुरोगतोऽप्यदृश्यात्मा मनोराज्यपुरोपमः ।
तालवृन्ततिले तैलमालानं स्पन्ददन्तिनः ॥२१॥
एकक्षणलवेनैव चालिताखिलभूधरः ।
वर्णावलितरङ्गाणां गङ्गावाह इवैककृत् ॥२२॥
धूमाम्बुवाहरजसां महावर्तकृदम्भसाम् ।
द्युनदीवाहवार्योघनभोनीलोत्पलालिकः ॥२३॥

क्योंकि दुर्बल जानकर दीपक को बुता देता था और बलिष्ठ जानकर मित्र भाव से अग्नि को बढ़ा भी देता रहा ॥ १८ ॥

सुगन्धरूपी रत्नों का मैं लुटेरा था, अर्थात् जबरन कलीरूपी गाँठ खोलकर चुरा लेने वाला विमान रूप नगरों का धारण करनेवाला था, दाह (ताप) रूपी अन्धकार के लिए मैं चन्द्रमा था और शैत्यरूपी चन्द्रमा के लिए क्षीरसागर था ॥ १९ ॥

प्राण, अपान की कलारूप रज्जु से मैं प्राणियों के यन्त्रों का चालक था, द्वीपों का तरङ्गों से खण्डन और धूलियों से संवर्धन करने के कारण शत्रु-मित्र दोनों था तथा द्वीपों में संचार करने में सदा निरत रहता था ।२०।

मैं सामने रहता था फिर भी मेरे स्वरूप को कोई देख नहीं पाता था, अतएव मैं मनोराज्य से कल्पित नगर के सदृश था। पंखेरूपी तिलों में मैं तेल के सदृश तथा स्पन्दरूप हाथी के लिए मैं बन्धन-स्तम्भ आलान था ॥ २१ ॥

प्रलयकाल में एक क्षणांश में ही बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फेंक देता था। अनेक वर्णरूप तरङ्गों को गङ्गा-प्रवाह के सदृश धूलि के सम्मिश्रण से एकरूप बना देता था ॥ २२ ॥

मैंने वायुरूप होकर धूम, मेघ, रज और जलों का एक आवर्त के समान खड़ा कर दिया था तथा आकाश-गङ्गा के प्रवाहरूप मकरन्द के जल-समूह से युक्त आकाश रूप नील कमल का मैं भ्रमर था ॥ २३ ॥

शरीरावेष्टितोन्मुक्तपुराणतृणचोपनः ।
स्पन्दपद्मवनादित्यः शब्दवर्षैकवारिदः ॥२४॥
व्योमकाननमातङ्गः शरीरगृहगर्गटः ।
धूलीकदम्बविपिनमालालिङ्गननायकः ॥२५॥
स्त्यानीकरणसंशोषधृतिस्पन्दनसौरभैः ।
सशैत्यैः कर्मभिः षड्भिरलब्धक्षण आक्षयम् ॥२६॥
रसाकर्षणसव्यग्रो नित्यं भ्रातेव तेजसः ।
हरणादानकर्तॄणामङ्गानां विनियोगकृत् ॥२७॥
शरीरनगरे नाडीमार्गगतिनिर्गलः ।
रसभाण्डे परावर्तादायुर्मणिमहावणिक् ॥२८॥
शरीरनगरीनाशनिर्माणैकपरायणः ।
रसकिट्टकलाधातुपृथक्करणकोविदः ॥२९॥

झंझावातरूप शरीर के वेष्टन से निर्मुक्त जीर्ण-शीर्ण तृणों में मैं मन्द मन्द गति देता था, स्पन्दनरूप (सामान्य क्रियारूप) कमलवन का मैं आदित्य अर्थात् विकास का हेतु था और शब्दरूप वृष्टि के लिए मैं मुख्य मेघ था ॥ २४ ॥

व्योमरूपी जंगल का मैं मतवाला हाथी था, शरीर रूपी घर का मैं गर्गट (निरन्तर शब्द करने वाला एक तरह का यन्त्र) था, धूलिरूप रमणीसमूह का तथा वनमालारूप नायिका समूह का आलिङ्गन करने में मैं नायक था ॥ २५ ॥

वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकार की क्रियाएँ करते करते प्रलय पर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया । मेरे वे छः कर्म थे हिम, घी आदि का पिण्ड बनाना, कीचड़ आदि को सुखाना, मेघ आदि को धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्ध को इधर उधर ले जाना तथा ताप हरना ॥ २६ ॥

रस के आकर्षण के लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता था, इससे तेज का मैं भाई के समान बन गया था और हरण, आदान आदि करने वाले हाथ आदि अङ्गों का मैं चालक था ॥ २७ ॥

शरीररूपी महानगर में नाड़ी के मार्गों से किसी तरह की विघ्नबाधा (रोकटोक) के बिना अप्रहित गमन करता था तथा अन्नरसमय देहपात्र में प्राणादि के रूपों से आवागमन कर आयुरूपी मणि के रक्षण में महावणिक् बन गया था ॥ २८ ॥

शरीररूपी नगरों के नाश और निर्माण में अकेले मैं तत्पर रहता था । अन्नरसों के मल, सूक्ष्मतर सारभागरूप त्वचा आदि छः कलाओं एवं वात-पित्त-कफरूप धातुओं के पृथक्करण में मैं महापण्डित था ॥ २९ ॥

प्रतिसूक्ष्माणुकं देहे ततो दृष्टं मया जगत् ।
तत्रेत्थं रूपवानस्मि स्फुटमाभोगि सुस्थिरम् ॥३०॥
परमाणुप्रति त्वत्र प्रोह्यन्त इव सर्गकाः ।
न च किंचित्किलोह्यन्ते खाकृते किमिवोह्यते ॥३१॥
सचन्द्रार्कानिलाग्नीन्द्रपद्मवेश्रवणेश्वराः ।
सब्रह्महरिगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥३२॥
ससागरगिरिद्वीपदिगन्तरमहार्णवाः ।
सलोकान्तरलोकेशक्रियाकालकलाक्रमाः ॥३३॥
सस्वर्गभूमिपातालतललोकान्तरान्तराः ।
सभावाभाववैधुर्यजरामरणसंभ्रमाः ॥३४॥
एवं नाम तदा राम भूतपञ्चकरूपिणा ।
मया प्रतिहृतं तत्र त्रैलोक्यनलिनोदरे ॥३५॥

अनन्तर वायु मण्डल में भी परमाणु तक के एक-एक द्रव्य के अन्दर भी मैंने रजत की शिला के सदृश सुस्थिर अतिविशाल जगत् देखे । उन जगतों में भी इसी तरह पृथ्वी आदि जगत् के रूप में मैं ही रहा ॥ ३० ॥

यद्यपि यहाँ प्रत्येक परमाणु में अनेक सृष्टियाँ बहती हुई के समान प्रतीत होती हैं, तथापि परमार्थ दृष्टि से विचारने पर न तो कुछ है, न कोई बहती के समान हैं, क्योंकि शून्याकार ब्रह्म में बहना ही क्या ? ॥ ३१ ॥

उन सृष्टियों में चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं महेश्वर, ब्रह्मा, हरि और गन्धर्व थे; विद्याधर तथा शेषराज थे । सागर, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ एवं महान् समुद्र थे; अन्यान्यलोक, लोकपाल, क्रिया, काल एवं कल्प के क्रम थे ॥ ३२, ३३ ॥

वहाँ स्वर्ग, भूमि, पातालतल तथा अन्यान्य लोकान्तर थे, भाव, अभाव, वैधुर्य, जरा, मरण, आदि की भ्रान्तियाँ भी वहाँ विद्यमान थीं ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामजी ! इस प्रकार उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतों का रूप धारण कर मैंने उस त्रिलोकीरूप कमल के उदर में खूब बिहार किया अर्थात् आकाशभाव में भी आकाश के जो विलास हैं, उनका भी अनुभव समझ लें ॥ ३५ ॥

रसः पीतोऽनुभूतश्च क्ष्माजलानिलतेजसाम् ।
मूलजालेन वृक्षाणां प्राणिनां वसता मया ॥३६॥
रसायनघनाङ्गेषु चन्दनद्रवशोभिषु ।
लुठितं चन्द्रबिम्बेषु तुषारशयनेष्विव ॥३७॥
सर्वर्तुवनजालेषु नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥३८॥
ततोन्नतासु मृद्वीषु स्वास्तीर्णास्वम्बराजिरे ।
सुप्तं शुभ्राभ्रमालासु नवनीतस्थलीष्विव ॥३९॥
सुभनःपत्रमृदुषु नीललक्ष्मीविलासिषु ।
सुरसिद्धाङ्गनाङ्गेषु दूरास्तस्मरवासनम् ॥४०॥
कृतः कुमुदकह्लारकमले नलिनीवने ।
कोमलः कलहंसीभिर्लीलाकलकलारवः ॥४१॥

पृथ्वी, जल, वायु और तेज के समूहरूप वृक्षों के शरीर में निवास करते हुए मैंने मूलजाल के द्वारा पृथ्वी का रस पीया और उसका प्रचुर अनुभव (स्वाद) लिया ॥ ३६ ॥

अमृत से पूर्ण = घनीभूत अङ्गोंवाले तथा चन्दन के द्रव के समान शीतलत्व आदि गुणों से सुशोभित चन्द्रबिम्बों पर, जो तुषार की शय्याओं-ऐसे थे, खूब लोट-पोट ली ॥ ३७ ॥

अपने उपभोग के बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमर को देते हुए मैंने सभी ऋतुओं में सब ओर विविध आमोदों से पूर्ण पुष्पराशियों का खूब आनन्द लिया ॥ ३८ ॥

विस्तीर्ण, उन्नत, कोमल तथा आकाशरूपी आँगन में कलापूर्ण रीति से बिछाई हुई धवल अभ्रमालाओं के ऊपर जो मक्खन की स्थलियों के समान थीं, शयन किया ॥ ३९ ॥

शिरीष के फूलों से भी अधिक कोमल तथा नीलकमल की तरह मनोहर कान्तिवाली देवाङ्गनाओं तथा सिद्ध-सहचरियों के मध्य में काम की वासना को दूर फेंककर ही शयन किया ॥ ४० ॥

कुमुद, कह्लार तथा कमलों से पूर्ण रम्य वनों में तथा कमलनियों के जङ्गल में मैंने मधुरभाषिणी हंसियों के साथ बड़ा ही सुमधुर लीलाकलकल निनाद किया ॥४१॥

सरत्सरिच्छिरासारा मूलभूमण्डलान्विताः ।
अङ्गरूढाः स्फुरद्भूता लोमालय इवाऽद्रयः ॥४२॥
खाद्रयः प्रथिता दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैः ।
आदर्शैरिव विश्रान्तमङ्गेषु प्रतिबिम्बिभिः ॥४३॥
भूतसर्गेण विश्रान्तं सिद्धविद्याधरादिना ।
मद्देहे चेतितेनेव मक्षिकायूकरूपिणा ॥४४॥
मत्प्रसादेन मुदितैर्लब्धमर्कादिभिर्वपुः ।
कृष्णरक्तसितापीतहरितैर्हरितैरिव ॥४५॥
समुद्रमुद्रया सप्तद्वीपसप्तात्मरूपया ।
संस्थया स्थापिता भूमिः प्रकोष्ठे वलयोपमा ॥४६॥
विद्याधरपुरन्ध्रीणां परामृष्टाङ्गयष्टिना ।
अदृष्टेनैव विहितः पुलकोल्लास आत्मना ॥४७॥

बह रही नदी रूपी सारवान् नाड़ियों के मूलभूत भूमण्डलों से युक्त तथा स्फुरणशील व्याघ्रादि भूतगणों से शोभित पर्वतों को ब्रह्माण्डरूपधारी मैंने अपने अङ्गों से रोमों की पत्तियों की तरह धारण किया ॥ ४२ ॥

जगत् में जो गगन, पर्वत आदि प्रसिद्ध हैं, उन्होंने नदीरूप सूत्र एवं समुद्रों के साथ मेरे अङ्गों में प्रतिबिम्ब सहित आदर्शों की तरह विश्राम किया ॥ ४३ ॥

सिद्ध, विद्याधर आदि प्राणियों के समूहों ने ब्रह्माण्डभूत मेरे शरीर में बिश्राम किया। वे मेरी देह में मक्खी और जूँऐं से प्रतीत होते थे ॥ ४४ ॥

मेरी कृपा से प्रसन्न होकर सूर्य आदि देवताओं ने शरीर से कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत, हरित, वर्णों से स्निग्ध होकर वृक्षों के सदृश मेरे शरीर में स्थिति प्राप्त की न कि मक्खी, जूँ आदि के सदृश भीत एवं प्रतिक्षण हटाये जाने के कारण उद्विग्न होकर उन्होंने ब्रह्माण्डभूत आपकी देह में निवास किया ॥ ४५ ॥

ब्रह्माण्डरूप होकर मैंने सात समुद्रों से वेष्टित तथा सात द्वीपों के कारण सात रूप धरनेवाली अर्थात् सात अङ्गों से द्वीपों के कारण सात रूप धारण करने वाली अर्थात् सात युक्त भूमि को अपनी कलाई में कङ्कण के सदृश धारण कर लिया था ॥ ४६ ॥

मैंने विद्याधरों की रमणियों की अङ्गरूपी यष्टियों का स्पर्शकर उनमें अपने अमन्द आनन्द से पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दीं। मैंने यद्यपि उनमें पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दी थीं, तथापि वे मुझको देख नहीं पाती थीं ॥ ४७ ॥

सरिच्छिरामलस्फाररसानि सुषिराणि च।
जगन्त्येवास्थिजालानि ममाऽऽसन् संस्थितानि च ॥४८॥
असंख्यैर्व्योममातङ्गैश्चन्द्रार्कचलचामरैः ।
उदुम्बरान्तर्मशकैरिव मद्धृदये स्थितम् ॥४९॥
सर्वपातालपादेन भूतलोदरधारिणा।
खमूर्ध्नाऽपि तदा राम न त्यक्ताऽथ पराणुता ॥५०॥
दिक्षु सर्वासु सर्वत्र सर्वदा सर्वकारिणा।
सर्वात्मनाऽप्यसर्वेण शून्यरूपेण संस्थितम् ॥५१॥
किंचित्त्वं सदकिंचित्त्वं साकृतित्वं निराकृति।
अनुभूतं सजाड्यं च चेतनत्वममलं मया ॥५२॥
मैनाकमुग्धपीनस्य सागरस्याऽवनिं प्रति।
सन्ति सर्गसहस्राणि स्थाणुभूतान्यथो मया ॥५३॥
जगन्त्यङ्गे मयोढानि गूढानि प्रकटान्यपि।
प्रतिबिम्बपुराणीव मुकुरेणाऽजडात्मना ॥५४॥
एवं जलानिलाग्नित्वं भूमित्वं खात्मना मया।
कृतं चितेव स्वप्नेषु वत मायाविजृम्भितम् ॥५५॥
अपि तस्यामवस्थायां जगन्त्याकाशकोशके।
मया दृष्टान्यसंख्यानि परमाणुकणं प्रति ॥५६॥
परमाणुप्रति व्योम परमाणुप्रति स्थितम्।
सर्गवृन्दं यथा स्वप्ने स्वप्नान्तरयुतं पुरम् ॥५७॥
स्वमेवाऽहमभूवं भूमण्डलं द्वीपकुण्डलम्।
सर्वात्मनाऽपि न व्याप्तं किंचनाऽपि मया क्वचित् ॥५८॥

नदीरूप नाड़ियों से निर्मल शुद्ध भीतर स्थित प्रचुर रस से पूर्ण, नाना छिद्रों से युक्त पर्वत आदि जगत् मेरे शरीर में अस्थिपञ्जर तथा मांस आदि बन गये थे ॥४८॥

मेरे हृदयाकाश में असंख्य ऐरावत आदि हाथी, जिन पर चन्द्र, सूर्य रूपी चँवर डुल रहे थे, गूलर के अन्दर मच्छरों की तरह स्थित थे ॥ ४९ ॥

ब्रह्माण्डस्वरूप-दशा में यद्यपि समस्त पाताल मेरे चरण बन गये थे, भूतल मेरा उदर बन गया था और आकाश मेरा मस्तक हो गया था, फिर भी मैंने अपनी चितिमात्रस्वभावरूप सूक्ष्मता कभी नहीं छोड़ी अर्थात् मैं अतिविस्तृत ब्रह्माण्डरूप था, तथापि मैंने परम सूक्ष्म चिन्मात्रस्वभावता का परित्याग नहीं किया ॥ ५० ॥

मैं समस्त दिशाओं में, सभी स्थलों में, सभी कालों में सर्वात्मा बनकर सब कुछ व्यवहार उस समय कर रहा था, वस्तुतः असल में असर्वात्मक अतएव समस्त द्वैत पदार्थों से शून्य चिन्मात्र स्वरूप से स्थित था ॥ ५१ ॥

उस दशा में किञ्चिद्रूपता-अकिञ्चिद्रूपता, साकारता-निराकारता, जड़ता-चेतनता आदि समस्त परस्पर अति-विरुद्ध धर्मों का मैंने अपनी आत्मा में एक साथ खूब अनुभव किया अर्थात् उस समय मैंने परिच्छिन्नता-अपरिच्छिन्नता आदि सब विरुद्ध धर्मों का एक साथ अपनी आत्मा में अनुभव किया ॥ ५२ ॥

अनन्तर मैनाक पर्वत के सदृश भीतर छिपी हुई पर्वत शिलाओं से मनोहर तथा असीम विस्तार वाले समुद्र के पेट में स्थित प्रत्येक प्रदेश के अन्दर हजारों स्थाणुरूप जो सृष्टियाँ विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया समुद्र के पेट में जितने प्रदेश पड़े हैं, उनमें भी अनेक जगत् विद्यमान हैं, उनका भी मैंने वैसे ही अनुभव किया ॥ ५३ ॥

चेतनस्वरूप मैंने अपने अङ्गों में गुप्त प्रकट कर अनेक जगत् को वैसे ही धारण किया जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब-रूप से अनेक नगरों को धारण करता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार जल, वायु एवं अग्निरूपता, भूमिरूपता का अपनी आत्मा से मैंने वैसे ही निर्माण किया, जैसे स्वप्नों में प्रसिद्ध आत्मचिति मायाविस्तृत नगरादि का निर्माण करती है ॥ ५५ ॥

उस अवस्था में मैंने आकाशकोश में स्थित प्रत्येक परमाणु के भीतर भी असङ्ख्य जगत् को देखा ॥ ५६ ॥

उस अवस्था में प्रत्येक परमाणु के भीतर असीम आकाश स्थित था और उस आकाश में भी उड़ रहे अनेक परमाणु विद्यमान थे, उन परमाणुओं के भीतर भी मैंने उस तरह के असंख्य संसार देखे, जैसे कि स्वप्न के अन्दर अन्य स्वप्न के नगर दिखते है ॥ ५७ ॥

मैं आध्यासिक आत्मा का ही स्वरूपभूत भूमण्डल तथा द्वीपकुण्डलरूप बन गया था। इस प्रकार सर्वात्मक होते हुए भी मैंने परमार्थरूप से कहीं किसी का भी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि परमार्थदशा में मैं असङ्ग अद्वयरूप ही हूँ ॥ ५८ ॥

समुत्पादयताऽशेषं लतातरुतृणाङ्कुरम् ।
भूतलेन रसाः कृष्टा मयाऽर्थेनैव पुंभृताम् ॥५९॥
अवदाततमे युद्धबोधकालमुपेयुषि ।
जगल्लक्षाणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च कानिचित् ॥६०॥
चिति यास्तु चमत्कारं चमत्कुर्वन्ति यत्स्वतः ।
स्वचमत्कृतयोऽन्तस्थास्तदेताः सृष्टिदृष्टयः ॥६१॥
अनुभूतं कृतं कष्टं यावत्क्वचन किंचन ।
परमार्थचमत्कारादृते नेहोपलभ्यते ॥६२॥
प्रत्येकं विश्वरूपात्मा सर्वकर्ता निरामयः ।
प्रबुद्धः शुद्धबोधात्मा सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥६३॥
सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
एतत्प्रबुद्धविषयमप्रबुद्धं न वेद्म्यहम् ॥६४॥
आकाशकोशविशदात्मनि चित्स्वरूपे
येयं सदा कचति सर्गपरम्परेति ।
सान्तस्तदेव किल ताप इवाऽन्तरुष्मा
भेदोपलम्भ इति नाऽस्ति सदस्त्यनन्तम् ॥६५॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

शरीरधारी मनुष्य आदि जीव के उपकारार्थ ही लता, तृण, अङ्कुर आदि सबका उत्पादन करते हुए मैंने वर्षा से गिरे जलों को भूतलरूप बनकर खींच लिया ॥ ५९ ॥

बोधकाल वैसे ही अज्ञान-संहारक है जैसे युद्ध जीव-संहारक है। बोधदशा प्राप्त करने पर अति स्वच्छ हुए मुझमें लाखों जगत् रह सकते हैं और कोई भी नहीं रह सकता है ॥ ६० ॥

चिति के भीतर जो उसके अनेक चमत्कार हैं, वे चमत्कार जो सत्ता-स्फूर्ति रूप से दूसरा चमत्कार स्वयं करते हैं, अर्थात् सत्ता स्फुरण को जगत् में आरोपित कर प्रकट करते हैं ये ही दूसरे चमत्कार इन सृष्टि-दृष्टियों के रूप में = संसार के रूप में प्रतीत होते हैं अर्थात् किस रूप से वे जगत् रहते हैं और किस रूप से नहीं रहते, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चिति के चमत्कारमात्र रूप से रहते हैं और उसके विपरीत रूप से नहीं रहते हैं ॥ ६१ ॥

मैंने कहीं भी जो कुछ अनुभव किया, जो कुछ बनाया, जो कुछ कष्ट सहा, वह सब परमार्थभूत चिदात्मा का चमत्कार ही था, क्योंकि उसके बिना यहाँ कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता ॥ ६२ ॥

इसलिए अध्यारोपदृष्टि से प्रत्येक में अपनी सत्ता का समर्पण करने के कारण मैं विश्वरूपात्मा और सबका कर्ता हूँ; तथा अपवाददृष्टि से प्रबुद्ध होकर मैं शुद्धबोधस्वरूप और कर्तृत्वादि विकारों से रहित हूँ, क्योंकि सब-कुछ तो ब्रह्मात्मक ही है ॥ ६३ ॥

अत एव प्रत्येक वस्तु के अन्दर स्थित ब्रह्म में समस्त जगत् का अध्यास होने के कारण ब्रह्मस्वरूप सबकी आत्मा सर्वगामी और सबका आधारभूत है, यह बात प्रबुद्ध योगियों के लिए है ज्ञानी महात्माओं की दृष्टि में जगत् का स्वरूप यह निकलता है और अज्ञानी अप्रबुद्धों की कथा तो मैं जानता ही नहीं। अबुद्ध अज्ञानी जगत् का जो स्वरूप समझ कर बैठे हैं, उनको ज्ञानी देख ही नहीं सकता ॥ ६४ ॥

आकाशकोश के सदृश अत्यन्त निर्मल चिति के स्वरूप में जो यह अनेकविध सृष्टियां की परम्परा प्रकाशित हो रही है, वह अन्त में चिदात्मक ब्रह्मरूप ही है, उससे अलग नहीं है। जगत् और ब्रह्म दोनों शब्द एकार्थक ही हैं, भिन्नार्थक नहीं हैं, केवल कल्पनामात्ररूप से भेद का उपलम्भ वैसे ही होता है जैसे कोई यह शब्द-प्रयोग करे कि 'ताप के भीतर उष्णता है' तो उस प्रयोग में 'ताप', 'भीतर' और 'उष्णता' ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, उनका पृथक् अर्थ नहीं है, परन्तु प्रयोग कल्पनामात्र है अर्थात् अद्वय परमात्मा में जो विद्वान् सर्वत्र सर्वात्मकता कहते हैं, वह केवल कल्पनामात्र है ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में परमार्थ और सर्ग का ऐक्य वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का बानवे अध्याय समाप्त हुआ।

९३

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथैवंरूपसंवित्तेः परावृत्य प्रयत्नतः ।
तमम्बरकुटीकोशदेशमागतवनाहम् ॥१॥

यावत्तत्र न पश्यामि स्वदेहं क्वचन स्थितम् ।
पश्यामि केवलं सिद्धं कमप्यन्यं पुरः स्थितम् ॥२॥

उपविष्टं समाधाननिष्ठमिष्टं पदं गतम् ।
सौम्योदयमिवाऽऽदित्यं दग्धेन्धनमिवाऽनलम् ॥३॥

बद्धपद्मासनं शान्तं समाधाननिरिङ्गनम् ।
गुल्फद्वितयमध्यस्थवृषणं विषयातिगम् ।४॥

मृष्टसौम्यसमाभोगस्कन्धबन्धुरकन्धरम् ।
सुस्थिरोदारविश्रान्तस्फारकस्थितिसुन्दरम् ॥५॥

नाभीनिकटगोत्तानपाणिद्वितयदीप्तिभिः ।
हृदयाम्भोजतेजोभिर्बहिष्ठैरिव भासितम् ॥६॥

श्लिष्टपक्ष्मेक्षणं क्षीणसर्वेक्षं स्वच्छतां गतम् ।
सरो निमीलिताम्भोजमिव सुप्तं दिनात्यये ।७॥

अविक्षुभितमाशान्तमन्तःकरणकोटरम् ।
दधानं धीरया वृत्त्या शान्तोत्पातमिवाऽम्बरम् ॥८॥

अपश्यता निजं देहं तं मुनिं पश्यता पुरः ।
इदं मया तदा तत्र चिन्तितं चारुचेतसा ॥९॥

अयं कश्चिन्महासिद्धः संप्राप्तोऽस्मिन् दिगन्तरे ।
विचार्याऽहमिवैकान्तं विश्रामार्थी महाम्बरम् ॥१०॥

९३

वसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर धारणा के प्रभाव से उत्पन्न हुए जगत्-शरीर को देखने के बाद—उक्त कौतुक-दर्शनाभावात्मक संवित् से (संकल्प से) मैं निवृत्त हो गया, फिर उस पहले के अपने समाधि स्थान आकाश-कुटिया के प्रदेश की ओर वापस लौट आया ॥ १ ॥

मैं अपनी पहले की कुटिया पर पहुँच गया। मैंने वहां चारों ओर खूब खोज की। कहीं पर भी मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दिया, परन्तु मैंने सामने बैठे किसी दूसरे सिद्ध को देखा ॥ २ ॥

वे सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर आसन जमाये हुए थे। उन्होंने परम प्रीति का भाजन निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म-पद प्राप्त कर लिया था। वे ऐसे भासमान हो रहे थे, हे सौम्य ! जैसे उदय से युक्त आदित्य तथा इन्धन को दग्ध कर अग्निदेव भासमान होते हैं ॥ ३ ॥

उन्होंने पद्मासन लगाया था। उनके सारे शरीर में शान्ति-ही-शान्ति भरी थी। समाधि द्वारा इच्छित ब्रह्मपद में चित्त के स्थिर हो जाने से उनका शरीर तनिक भी हिलता-डुलता न था, उनके अण्डकोश दोनो एड़ियों के बीच में दबे थे तथा वे विषयों से परे थे ॥ ४ ॥

समान (बराबर) विस्तारवाले दोनों कन्धों से, जिनके ऊपर भस्म से त्रिपुण्ड्ररेखाएँ खिंची थीं, जिनका गाम्भीर्य अत्यन्त ही सुहावना था, उनकी ग्रीवा की शोभा देखते बनती थी। सनातन उदार ब्रह्म वस्तु में उनका मन एकदम विश्रान्ति ले रहा था, इससे उनका मुख प्रसन्न था, इस प्रसन्न वदन से सोभित उनके मस्तक की जो निश्चल स्थिति हुई थी, उससे वे सिद्ध बड़े ही रम्य थे ॥ ५ ॥

नाभि के निकट भाग में चित कर रखे हुए उनके दो हाथों की शोभा ठीक खिले हुए दो कमलों की शोभा के सदृश थी, मालूम पड़ता था कि वे करकमल क्या हैं मानो बाहर आए हुए हृदयकमल के प्रकाश ही हैं। उनकी दीप्ति से वे प्रकाशमान थे ॥ ६ ॥

उनके दोनों नेत्रों की पलकें बन्द थीं, उनके बाह्य इन्द्रियों के समस्त व्यापार क्षीण हो गये थे और वे अत्यन्त निर्मल हो गये थे, इसलिए ऐसे भासमान हो रहे थे जैसे रात में मूंदे हुए कमलों से युक्त निर्मल तालाब भासमान होता है ॥ ७ ॥

विक्षोभों से रहित तथा पूर्णरूप से शान्त अन्तःकरण-रूप कोठर को उन्होंने धीर वृत्ति से ऐसे धारण किया था मानो समस्त उत्पातों से रहित आकाश को धारण किया हो अर्थात् शान्त क्षोभरहित उनका अन्तःकरण आकाश के सदृश अत्यन्त विशाल था ॥ ८ ॥

उस कुटिया में जब मैंने अपनी देह नहीं देखी और सामने उक्त मुनि को देखा, तब वहाँ मैंने अपने शुद्ध अन्तः-करण से यह विचार किया ॥ ९ ॥

यह कोई बड़े सिद्ध महात्मा हैं। मैंने पहले जैसे एकान्त महाकाश की विश्राम के लिये इच्छा की थी, उसी तरह

समाधियोग्यमेकान्तं लभेयेतीह चिन्तया।
कुटी दृष्टेयमेतेन सत्यसंकल्पशालिना ॥११॥
मदागमनमेतेन ततोऽचिन्तयता चिरम्।
तं स्वदेहं शवीभूतमपास्येह कृता स्थितिः ॥१२॥
तदिहास्तमहं यामि स्वं लोकमिति निश्चयम्।
यावद्गन्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तावत्संकल्पनक्षयात् ॥१३॥
सा निवृत्ता कुटी तत्र संपन्नं व्योम केवलम्।
स सिद्धोऽपि निराधारः पतितोऽधः समाधिमान् ॥१४॥
स्वप्नसंकल्पसंशान्तौ स्वप्नसंकल्पपत्तनम्।
यदा सा सुकुटी नष्टा मत्संकल्पोपशान्तितः ॥१५॥

इन्होंने भी विश्राम के लिए इसकी इच्छा की और सत्य संकल्प के प्रभाव से इस दिशा की ओर आ गये हैं ॥१०॥

मैं समाधियोग्य एकान्त स्थान पाऊँ इस चिन्ता से इन्होंने यहाँ आगमन किया है और यहाँ आकर सत्य-संकल्पवश अपनी समाधि के योग्य यह कुटिया देखी है ॥ ११ ॥

उसके बाद दीर्घकाल तक मेरी उपेक्षा के कारण शवरूप यहाँ स्थित मेरी देह को देखा, देखने के बाद यह नहीं जाना कि मैं यहाँ फिर आऊँगा इससे मेरे शरीर को इन्होंने अन्यत्र फेंक कर इस कुटिया में अपना आसन जमाया है ॥ १२ ॥

अब मेरा तो शरीर वह नष्ट हो गया, अतः मैंने यह निश्चय किया कि इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षिलोक को जाऊँ, इस प्रकार निश्चय कर जैसे ही मैं जाने के लिए उद्यत हुआ, वैसे ही मेरे पूर्वसंकल्प के नष्ट हो जाने से वह कुटिया भी अदृश्य हो गई और वहाँ केवल शुद्ध आकाशमण्डल ही रह गया। वह सिद्ध भी समाधि अवस्था में ही निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लग गये ॥ १३, १४ ॥

स्वप्न-सङ्कल्प की शान्ति हो जाने पर जैसे स्वप्न का नगर ध्वस्त हो जाता है, वैसे ही मेरे संकल्प की शान्ति हो जाने से जब वह कुटिया नष्ट हो गई, तब मेघ से जल-समूह के सदृश वहाँ से गिरने लगे। उस समय वह ऐसे प्रतीत

स पपात ततो ध्यानी जलोत्पीड इवाऽम्बुदात्।
खादिवाऽनिलनुन्नोऽब्द इन्दुबिम्बमिव क्षये ॥१६॥
वैमानिक इवाऽपुण्यश्छिन्नमूल इव द्रुमः।
खात्यक्त इव पाषाणः स पपात ततोऽवनौ ॥१७॥
अहं यावदियं तावत्कुटिकाऽस्त्विति कल्पने।
क्षीणे कुटीक्षये जाते स सिद्धः पतितः क्षणात् ॥१८॥
पतता तेन सिद्धेन ततः सौजन्यकौतुकः।
मनसैवाऽहमगमं नभतो वसुधातलम् ॥१९॥
सोऽपतत्पवनस्कन्धवलनावर्तवृत्तिभिः।
सप्तद्वीपसमुद्रान्ते गीर्वाणरमणावनौ ॥२०॥

हो रहे थे, मानो वायु से छिन्न किया गया मेघखण्ड आकाश से गिर रहा हो या प्रलय काल में चन्द्रबिम्ब आकाश से गिर रहा हो या पुण्य का क्षय हो जाने पर वैमानिक गिर रहा हो या मूल के कट जाने पर वृक्ष गिर रहा हो या आकाश से फेंका गया पत्थर गिर रहा हो। वे आगे कही जानेवाली काञ्चन भूमि के ऊपर गिरे ॥ १५–१७ ॥

मेरा पहले का सङ्कल्प यह रहा कि यह कुटिया तब तक रहे जब तक कि मेरी यहाँ स्थिति बनी रहे। यह मेरा सत्य सङ्कल्प जब सप्तर्षिलोक में जाने के संकल्प से क्षीण हो गया, तब तत्काल ही वह सिद्ध गिर पड़े ॥ १८ ॥

अनन्तर गिर रहे उस सिद्ध के साथ मैं उस आतिवाहिक देह से सुजनता वश कहिये या कौतुक वश कहिये आकाश-मण्डल से वसुधातल की ओर गया ॥ १९ ॥

प्रवह आदि पवन स्कन्धों का जो परिवर्तन है, इससे जनित आवर्त-वृत्तियों से अर्थात् जैसे आवर्त में घूम रहा जल नीचे घुस जाता है, वैसे ही वह सिद्ध सात द्वीप और चार समुद्रों के पार की देवताओं की आश्रय काञ्चन भूमि पर गिरे ॥ २० ॥

जब वे आकाश से पृथ्वी पर गिरे, तब वे वैसे ही गिरे जैसे कि आकाश की उत्तम कुटिया में पद्मासन बाँधकर स्थित थे। पहले तो उनका पैर का हिस्सा पृथ्वी में जम गया और उनका मस्तक भी ऊँचा ही रहा, क्योंकि प्राणवायु से अपने को, ऊपर आकर्षण से, ऊर्ध्वगामी पहले से ही उन्होंने कर रक्खा था। तात्पर्य यह है कि जैसे कुएँ

प्राणापानोर्ध्वगामित्वात्खाद् यथास्थितमेव सः।
सृष्टपूर्वोर्ध्वमूर्ध्वोर्व्यां बद्धपद्मासनोऽपतत् ॥२१॥
न प्रबुद्धो बभूवाऽसौ विवरं तमचेतनः।
पाषाणदेह इव वा तूलात्मेवेव वा लघुः ॥२२॥
मया तदवबोधार्थमथ यत्नवता तदा।
कृत्वा जलदतां व्योम्नि वृष्टं गर्जितमूर्जितम् ॥२३॥
करकाशनिपातेन तेन तस्मिन् दिगन्तरे।
मयूरं प्रावृषेवाऽमुं बुद्धया बोधितवानसौ ॥२४॥
बभूवाऽऽभासिताङ्गश्रीर्विकानितविलोचनः ।
धारानिकरफुल्लात्मा प्रावृषेवाम्बुजाकरः ॥२५॥
प्रबुद्धं संप्रशान्तायां दृष्टौ तमहमग्रतः।
अपृच्छं स्वच्छया वृत्या निवृत्तं परमार्थतः ॥२६॥

में उतर रहा घड़ा या तुम्बी रज्जु से या डंठल से ऊपर की ओर स्तम्भित रहता है, वैसे ही वह सिद्ध प्राण और अपान से ऊपर की ओर स्तम्भित रहने के कारण गिरने पर भी निम्न मस्तक नहीं हुए ॥ २१ ॥

वह सिद्ध इतने ऊँचे से गिरे, फिर भी उनका शरीर न तो टूटा और न उनकी समाधि ही भङ्ग हुई, क्योंकि वह योग-बल के प्रभाव से वज्र शरीर बन गये थे या तूल पिण्ड के सदृश अत्यन्त हलके बन गये थे ॥ २२ ॥

अनन्तर उनको समाधि से जगाने के लिए प्रयत्नवान् होकर मैंने उस समय मेघरूप धारण किया और मेघ बनकर खूब बरसा और तेज गर्जना की ॥ २३ ॥

मेघरूप होकर मैंने अपनी बुद्धि के प्रभाव से ओलेरूपी वज्र की वृष्टि द्वारा उस महात्मा को समाधि से वैसे ही जगाया जैसे मेघ वर्षा से मयूर को जगाता है ॥ २४ ॥

समाधि से जागने के बाद उनके समस्त अङ्गों की शोभा प्रकाशित होने लग गई और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वह ऐसे प्रतीत हुए मानो वर्षाकाल में धारापातों से विकसित हुआ कमल-वन हो ॥२५॥

परमार्थ ब्रह्म में स्थिति की हेतु भूत समाधि के शान्त हो जाने पर जब मेरे सामने वह प्रबुद्ध हो गये, तब मैंने बहुत ही स्वच्छ भाव से उनसे यह पूछा ॥ २६ ॥

क्व स्थितोऽसि करोषीदं किंच भो मुनिनायक।
कस्त्वं कस्मादलं दूरान्न भ्रंशमपि चेतसि ॥२७॥
इत्युक्तो मामसौ प्रेक्ष्य संस्मृत्य प्राक्तनीं गतिम्।
उवाच वचनं चारु चातको जलदं यथा ॥२८॥

सिद्ध उवाच

प्रतिपालय मे यावत्स्ववृत्तान्तं स्मराम्यहम्।
कथयिष्यामि ते पश्चात्पाश्चात्यं वृत्तमात्मनः ॥२९॥
इत्युक्त्वा चिन्तयित्वाऽऽशु स यथावृत्तमक्षतम्।
स्मृतवान् सायमह्नीव समाचरितमात्मनः ॥३०॥
मामथोवाच वचनं चारु चन्द्रांशुशीतलम्।
आह्लादनमनिन्द्यं च निरवद्य सुखोदयम् ॥३१॥

सिद्ध उवाच

अधुना त्वं मया ब्रह्मन् परिज्ञातोऽभिवादये।

हे मुनिश्रेष्ठ ! आप कहाँ हैं, यह आप क्या कर रहे हैं, आप हैं कौन और इतनी दूर से आपका नीचे पतन हुआ, फिर भी आप अपने चित्त में उसका अनुभव क्यों नहीं करते ? ॥ २७ ॥

जब मैंने ऐसा प्रश्न किया, तब उन्होंने मेरी ओर दृष्टि की, फिर पूर्व गति का स्मरण कर जैसे चातक मेघ से सुन्दर वचन कहता है वैसे ही मुझसे सुन्दर वचन कहे ॥ २८ ॥

सिद्ध ने कहा— हे मुने ! कुछ क्षण आप ठहरिये, तब तक मैं अपना वृत्तान्त याद कर लूं। फिर मैं आपसे पूर्व जन्म का सारा किस्सा कह सुनाऊँगा ॥ २९ ॥

ऐसा कह कर उन्होंने सोचकर समस्त जन्मान्तरों के वृत्तान्तों के साथ अपना पूर्व वृत्तान्त जैसे पुरुष पूर्वाह्न मे आचरित वृत्तान्त का सायं काल में स्मरण करता है वैसे ही तुरन्त स्मरण किया ॥ ३० ॥

इसके बाद वह मुझसे यह वचन बोले। उनका वचन सुन्दर, चन्द्र-किरणों के सदृश शीतल था, आह्लाद-कारक था तथा अनिन्द्य, निर्दोष एवं सुखोत्पादक था ॥ ३१ ॥

सिद्ध ने कहा—हे ब्रह्मन् ! हाँ, अभी मैंने आपको जाना, पूर्व में नहीं जाना, अतः आपको मैं अभिवादन करता हूँ। मैंने प्रथम दर्शन में आपको अभिवादन नहीं किया, इससे जो मेरा अपराध हुआ, उसे क्षमा कीजिये,

अतिक्रमोऽयं क्षन्तव्यः स्वभावो हि सतां क्षमा ॥३२॥

मुने चिरमहं भ्रान्तो देवोपवनभूमिषु।
भोगामोदविमोहेषु षट्पदः पद्मिनीष्विव ॥३३॥

दृश्यनद्यामथो चित्तजलकल्लोलहेलया।
चक्रावर्त्तोह्यमानेन मयोद्विग्नेन चिन्तितम् ॥३४॥

संसारसागरे दृश्यकल्लोलैरहमाकुलः।
कालेनोद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥३५॥

संविन्मात्रैकसारेषु रम्यं भोगेषु नाम किम्।
अवतिष्ठे गतोद्वेगसंविद्व्योम्न्येव केवलम् ॥३६॥

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रादृते परम्।
नेह किंचन नामाऽस्ति किमेतावत्यहं रमे ॥३७॥

क्योंकि अपराध क्षमा करना सज्जनों का सहज स्वभाव ही है ॥ ३२ ॥

मैंने दीर्घकाल तक भोगरूपी सुगन्ध से पूर्ण मोहकारक देवताओं की उपवन भूमियों में उत्तरोत्तर वैसे ही परिभ्रमण किया जैसे कमलों में भौंरा भ्रमण करता है ॥ ३३ ॥

अनन्तर चित्तरूपी जल तरङ्गों के हिलोरों से दृश्यरूपी नदी में चक्रावर्तनों से रात-दिन बहते रहे मैंने दीर्घकाल के बाद विवेक का आविर्भाव होने पर संसार से उद्विग्न होकर इस प्रकार विचार किया ॥ ३४ ॥

संसार रूपी सागर में दृश्यरूपी तरङ्गों से मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया और दीर्घकाल के बाद ऐसे उद्वेग को प्राप्त हुआ जैसे कि वृष्टि के अभाव में चातक उद्वेग को प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

जिनका सार केवल ज्ञान ही है, उन भोगों में रम्य वस्तु है ही कौन ? यदि उनमें संविद्रूप से प्रकाशमान सुख ही रम्य वस्तु है, तो सुख से भिन्न सुख साधन दुःखरूप होने से उनका सार दुःख ही ठहरा, इसलिए दुःखांश को छोड़कर सारभूत सुख संविदाकाश में ही केवल अवस्थित रहूँ, दूसरे समस्त असार से अब मतलब ही क्या ॥ ३६ ॥

इस संसार में शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्र को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए ऐसे तुच्छ पदार्थों में क्या रमण करें अर्थात् अपरिच्छिन्न सुख को छोड़कर परिगणित परिच्छिन्न असुख में रमण करना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

चिन्मात्राकाशमेवैतत्सर्वं चिन्मात्रमेव वा।
तत् किमत्राऽसदाकारे रमे नष्टमतिर्यथा ॥३८॥

विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः।
रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥३९॥

जीर्णा जीवितजम्बालजरच्छफरिकामतिः।
कायं द्रुतगताऽऽदातुं जरेच्छति बृहद्बकी ॥४०॥

कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव।
स्फुरन्नेव पुरोऽन्तर्धिं याति दीपशिखा यथा ॥४१॥

विविधाकुलकल्लोला चक्रावर्तविधायिनी।
मृतिजन्मबृहत्कूला सुखदुःखतरङ्गिणी ॥४२॥

ये शब्द आदि जितने विषय हैं, वे यदि स्वतः सत्तावान् चिदात्मा में चिदात्मा से भिन्न माने जायँ, तो वे शून्यात्मक अर्थात् असत् ही होंगे यदि चिदात्मा से अभिन्न माने जायं, तो चिदात्मा के स्वरूप ही होंगे—यों दोनों तरह असद् आकार वाले उन शब्दादि में, उन्मत्त के सदृश, मैं क्या रमण करूँ ॥ ३८ ॥

शब्द आदि विषय विष के सदृश मरण, उन्माद आदि विषमता पैदा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ कामरूप विमोह में ही फँसानेवाली हैं, राग सरस पुरुष को भी नीरस बना देने वाले हैं, इसलिए इनमें पड़नेवाला पुरुष कौन नष्ट नहीं हुआ। हिरण, हाथी आदि एक-एक वस्तु में आसक्ति रखने के कारण वध एवं बन्धन को प्राप्त होते हैं, यह सबको विदित है ॥ ३९ ॥

जल्दी प्राप्त होने वाली बुढ़ौती एक तरह की बड़ी बकी है, यह सब जीवन जीर्ण होने लगता है, तब सोचती है कि मैंने जीर्ण जीवनरूपी शैवाल में बड़ी मछली पकड़ ली। इस प्रकार बुद्धि करके वह तत्काल ही शरीर को अपने उदरस्थ कर लेने की इच्छा करती है अर्थात् इस तरह शरीर में भी आसक्ति उचित नहीं है ॥ ४० ॥

यह शरीर समुद्र में बुल-बुले के सदृश जल्दी ही नष्ट होने वाला पदार्थ है, इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते दीपशिखा के सदृश, विलीन हो जाता है ॥ ४१ ॥

यह जीवन नाम की तो एक महानदी है। इसमें विविध प्रकार के विक्षेप तो ज्वारभाटे हैं, चक्र-परिवर्तनों

यौवनोल्लासकलिला जराधवलफेनिला ।
काकतालीययोगेन संपन्नसुखबुद्बुदा ॥४३॥
व्यवहारमहावाहरेखाजडरवाकुला ।
रागद्वेषघनोल्लासा भूतलालोलदेहिका ॥४४॥
लोभमोहमहावर्ता पातोत्पातविवर्तनी ।
हा तप्ता जीविताख्येयं नदीनदनशीतला ॥४५॥
अपूर्वाण्युपगच्छन्ति तथा पूर्वाणि यान्त्यलम् ।
संसारसरिदम्बूनि संगतानि धनानि च ॥४६॥
प्रवृत्ता ये निवर्तन्ते तैरलं हतभावकैः ।
अपूर्वा ये प्रवर्तन्ते तेष्वयथाऽऽस्थेह कीदृशी ॥४७॥

के सदृश उसमें नानाविध भ्रमण ही आवर्त हैं, मरण और जन्म उसके दोनों तरफ के किनारे हैं तथा सुख-दुःख तरङ्ग हैं ॥ ४२ ॥

उसमें यौवन का उल्लास ही कीचड़ भरा पड़ा है, जरारूपी धवल फेन है, काकतालीय के योग से उसमें कभी-कभी सुखरूप बुल-बुले भी उठते रहते हैं ॥ ४३ ॥

उसमें व्यवहार महाप्रवाह की रेखा है—इस व्यवहार रूप महाप्रवाह की रेखा से उसमें नानाविध मूर्खप्रलापरूपी जल के शब्द हुआ करते हैं अर्थात् वह जलरवों से व्याकुल रहती है, राग-द्वेषरूप मेघों से वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है, भूतल पर उसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है ॥ ४४ ॥

इस जीवन नदी में सदा लोभ-मोह के आवर्त उठते रहते हैं, पतन और उत्पतन से उसका निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इस प्रकार की यह जीवन नदी शब्दमात्र से तो अत्यन्त शीतल है, परन्तु अर्थतः वास्तव में तीनों तापों का प्रदान करती हुई बहती जाती है, इसलिए इसकी भी आशा करना महान् खेद का विषय है ॥४५॥

संसाररूपी नदी के जल स्थानीय जो इष्ट-पुत्र, मित्र आदि के समागम तथा धन हैं, वे पहले के तो चले जाते हैं और नवीन आते रहते हैं अर्थात् कोई भी स्थिर नहीं रहते ॥ ४६ ॥

जो पहले प्राप्त हुए हैं, वे तो निवृत्त हो जाते हैं और जो कभी प्राप्त हुए ही नहीं, वे प्राप्त होते हैं, इसलिए ऐसे नष्ट स्थिति वाले पदार्थों की प्राप्ति से क्या और इनमें

सर्वस्याः सरितो वारि प्रयात्यायाति चाऽऽकरात् ।
देहनद्याः पयस्त्वायुर्यात्येवाऽऽयाति नो पुनः ॥४८॥
शतशः परिवर्तन्ते प्रतिपिण्डं क्षणं प्रति ।
कुलालचक्रकाभावा इव भावा भवाम्बुधौ ॥४९॥
चरन्ति चतुराश्चोरा विषमा विषयारयः ।
हरन्ति भावसर्वस्वं जागर्मि स्वपिमीह किम् ॥५०॥
आयुषः खण्डखण्डाश्च निपतन्तः पुनः पुनः ।
न कश्चिद्वेत्ति कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥५१॥
इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्त्यहो ॥५२॥

आस्था ही क्या करना है मानो न तो उनसे कोई मतलब निकलेगा और न वे विश्वास करने योग्य ही हैं अर्थात् इस स्थिति में जो जानेवाले हैं और जो आनेवाले हैं, उनके विषय में हर्ष-शोक करना उचित नहीं है ॥ ४७ ॥

संसार में जितनी नदियाँ हैं, उनका जल तो पर्वत, मेघ आदि आकर स्थान से आता और जाता रहता है, परन्तु देहरूपी नदी का आयुरूपी जल तो चला ही जाता है, फिर पुनः लौट कर नहीं आता ॥ ४८ ॥

इस संसाररूपी सागर में प्रतिदेह और प्रतिक्षण भाव अर्थात् योग्य वस्तुओं का, कुम्हार के चाक पर चढ़ाये गये सकोरों के सदृश, सैकड़ों बार परिवर्तन होता ही रहता है ॥ ४९ ॥

भयंकर शत्रुभूत चतुर विषयरूपी चोर चारों ओर घूमते रहते हैं और विवेकरूपी सर्वस्व का अपहरण करते हैं, इसलिए अब जागूँ यहाँ सोया क्यों हूँ ॥ ५० ॥

आयु के टुकड़े-टुकड़े क्षण-क्षण में बार-बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी काल के द्वारा विनष्ट किए गये आयु के दिनों को जान नहीं पाता ॥ ५१ ॥

आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है, इस प्रकार रात दिन संकल्प-विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गयी और अब मेरी मृत्यु आ गई ॥ ५२ ॥

भुक्तं पीतमनन्तासु भ्रान्तं च वनभूमिषु ।
दृष्टानि सुखदुःखानि किमन्यदिह साध्यते ॥५३॥

सुखदुःखानुभवनाद्भूयो भूयो विवर्तनात् ।
अनित्यत्वाच्च भावानां स्थिता निष्कौतुका वयम् ॥५४॥

भु क्तानि भोगवृन्दानि दृष्टा चाऽनित्यता भृशम् ।
नोपल ्स्यत एवाऽतिविश्रान्तिरिह कुत्रचित् ॥५५॥

भ्रान्तमुत ङ्गशृङ्गासु मेरुपवनभूमिषु ।
लोकपालपुर ेषूच्चैः संप्राप्तं किमकृत्रिमम् ॥५६॥

सर्वत्र दारुभि र्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्मृदा ।
दुःखान्यनित्यता ेति कथमाश्वास्यते वद ॥५७॥

न धनानि न मित्राणि न सुखानि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं क ालेनाऽऽकलितं जनम् ॥५८॥

खूब खाया और पीया, अनन्त विभूतियों में विचरण किया, सुख-दुःख भी खूब भोगे, अब करने को क्या बचता है ? ॥ ५३ ॥

सुख-दुःख के बार-बार के अनुभव से, बार बार अनेक तरह के परिवर्तनों से तथा पदार्थों की नश्वरता से अब हम भोगों से ऊब उठे हैं अर्थात् उनमें अब किसी तरह की उत्कण्ठा नहीं रही ॥ ५४ ॥

यद्यपि नाना तरह के अनेक भोग भोगे, बार-बार पदार्थों की अस्थायिता भी देख ली, परन्तु कहींपर भी यहाँ उत्तम शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकी ॥ ५५ ॥

यद्यपि मैंने उत्तुङ्ग शिखरों वाले मेरुपर्वत की उपवन भूमियों में खूब विहार किया तथा लोकपालों की महान् नगरियों में खूब विहार किया, तथापि क्या आज तक मैंने स्वाभाविक (अकृत्रिम) सुख पाया अर्थात् नहीं ही पाया ॥ ५६ ॥

सभी जगह के वृक्ष काष्ठों से ही व्याप्त हैं, प्राणिसमूह मांस से व्याप्त हैं, पृथ्वी मिट्टी से भरी पड़ी है, और दुःख एवं नश्वरता सारे संसार को घेर कर खड़ी है, उनमें विश्वास कैसे हो ? ॥ ५७ ॥

न तो धन, न मित्र, न सुख और न बान्धव ही उस पुरुष की रक्षा कर सकते हैं, जो कि काल के गाल में फँस चुका है ॥ ५८ ॥

बालू के ढेर के सदृश यह पुरुष अत्यन्त अस्थिर है, पर्वतों के मध्य में बरसे हुए मेघ के वेग में विद्यमान जल

जनो जीमूतजठाजलवद्गिरिकुक्षिषु ।
यात्यन्तःशून्य एवाऽस्तं पांसूपचयपेलवः ॥५९॥

न मे मनोरमाः कामा न च रम्या विभूतयः ।
इदं मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं च जीवितम् ॥६०॥

क्वेव कस्य कथं नाम कुत आश्वासना मुने ।
अद्य श्वो वाऽऽपदं पापो मृत्युर्मूर्ध्नि नियच्छति ॥६१॥

शरीरं पर्णवद्भ्रंशि जीवितं जीर्णसंस्थिति ।
धीरधीरतया ग्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥६२॥

नीतं मनोरथैरेव नीरसैर्वायुराततम् ।
न मम स्वं चमत्कारकारि किंचिदपीहितम् ॥६३॥

मोहोऽद्य मान्द्यमायातो देहो नेहोपयुज्यते ।
अनास्थैवोत्तमाऽवस्था स्थानास्थैवाऽधमा स्थितिः ॥६४॥

जैसे क्षण-क्षण में नष्ट होता रहता है, भीतर से बचाव का उपाय नहीं करता और आखिर में नष्ट हो जाता है, ठीक वैसे ही वह पुरुष विषयों के अन्दर आसक्त होकर क्षण में विनाश की ओर अन्त में मरण ही प्राप्त करता है ॥५९॥

न तो स्त्रियाँ ही अच्छी हैं और न अनेक तरह की विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ही रमणीय हैं । तथा यह भौतिक विभू... अङ्गना के कटाक्षभङ्ग के समान अति चञ्चल है अर्थात् बहुत जल्दी ही नष्ट हो जानेवाला है ॥६०॥

हे मुने ! अब आप कहिए ... कि मनुष्य कहाँ, किसका, किस प्रकार और कैसे विश्वास रख सकता है ? अर्थात् मानो इन सब प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से मनुष्य के लिए कोई स्थान आदि ऐसा है ही नहीं कि विश्वास रखकर विश्राम ले, क्योंकि क्रूर मृत्यु आज या कल अवश्य ही माथे पर आपदाएँ प्राप्त करावेगा ही ६१ ॥

शरीर तो पत्ते के सदृश गिर जानेवाला है, जीवन की स्थिति भी जीर्णशाली है, बुद्धि अधीरता से निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिए हुए हैं ॥ ६२ ॥

नीरस विषयों ने और उनके मनोरथों ने इस बड़ी आयु को ले लिया, परन्तु चमत्कारजनक अर्थात् उत्तम पुरुषार्थरूप चमत्कार की जननी सम्पत्ति मेरे लिए कुछ भी पैदा नहीं की ॥ ६३ ॥

आज ही मेरा मोह मन्द पड़ गया है, देह यहाँ किसी काम के लिए उपयोगी नहीं है, विषयों में आसक्ति न करना सबसे श्रेष्ठ स्थिति है और जीवन में आस्था बाँधकर बैठे रहना सबसे अधम स्थिति है ॥ ६४ ॥

आपदापतितैवेयमहो मोहविधायिनी ।
नित्यमित्येव मन्तव्यं सक्तव्यं नेह संसृतौ ॥६५॥
विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः ।
यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥६६॥
विवेकामोदसर्वस्वं चेतःकुसुमकोशतः ।
हृत्वा मूर्छां प्रयच्छन्ति विषया विषवायवः ॥६७॥
असदेव तथा नाम दृष्टं सत्तामुपागतम् ।
यथाऽसदेव सद्रूपं संपन्नमसदेव यत् ॥६८॥
दोलायन्त्योऽवनौ देहं सागरान् सागराङ्गनाः ।
यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥६९॥
धावन्ति विषयाँल्लक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः ।

विवेकी पुरुषों को सम्पत्ति आदि की प्राप्ति में भी निरन्तर यही मानना चाहिये कि यह बड़ी भारी आपत्ति ही आई, क्योंकि वही विषयसम्पत्ति पुरुष में बड़ा मोह पैदा करती है, इसलिए इस तुच्छ संसार में तो कभी आस्था बाँधनी ही नहीं चाहिए ॥ ६५ ॥

निरन्तर के लिए विधि-प्रतिषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी कभी के लिए विधि-निषेध के प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोक में उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानों से जल ॥ ६६ ॥

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूल के कोश से विवेक सुगन्धरूपी सर्वस्व का अपहरण कर कर्मशास्त्र में प्रवृत्त मूर्च्छा प्रदान करता है; अर्थात् ऐहिक और आमुष्मिक विषय कर्मियों को ही विवेक से भ्रष्ट कर अनर्थ की ओर पहुँचाते हैं ॥ ६७ ॥

वास्तव में विषयों का स्वरूप तो असत् ही है, परन्तु भ्रम से सद्बुद्धि के कारण उसे सद्रूपता प्राप्त हुई है, अतः वस्तुतः यह वैसा है नहीं, जैसे माया के आवरण वश सद्रूप ब्रह्म असत्-सा बन गया वैसे ही माया के विक्षेप वश असत् सत् ही बन गया । माया में यह बड़ी पटुता है कि वह अघटित वस्तु को भी घटित कर देती है ॥ ६८ ॥

जैसे दोनों तट भूमियों पर प्रवाह को झूले के सदृश आन्दोलित करती हुई नदियाँ सागरों की ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोह-ग्रस्त जनता विषयों की ओर दौड़ती जाती है अर्थात् बाह्य दृष्टियों को विषयोन्मुखी दृष्टि स्वाभाविक है ॥ ६९ ॥

स्पृशन्ति न गुणान् भूयः कृतघ्नाः सौहृदं यथा ॥७०॥
उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवाऽतिशत्रवः ।
बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाऽतिनैधनम् ॥७१॥
सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥७२॥
आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥७३॥
बहून् कालपरावर्त्तानिष्टानिष्टान् सुखं मनाक् ।
पश्यन् प्रियवियोगांश्च याति जर्जरतां जनः ॥७४॥
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥७५॥

व्यक्त चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्य की ओर ही स्वभावतः जाते हैं, फिर वे विवेक आदि गुणों का इसी तरह स्पर्श नहीं करते, जैसे कि कृतघ्न पुरुष सहृदयता को ॥ ७० ॥

आयु तो एक उत्पात वायु ही है, जो मित्र हैं, वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धु वर्ग हैं, वह तो बन्धन रूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्यु का ही एक तरह से साधन समझे ॥ ७१ ॥

आसक्ति पैदा करने के कारण सुख अतिदुःखरूप ही हैं, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसार में महारोग हैं और भोगों से प्रेम महान् अरति अर्थात् व्यग्रतारूप ही है ॥ ७२ ॥

सभी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ ही हैं, सुख केवल दुःख के लिए ही हैं, जीवन मरण के ही लिए है । अहो ! यह माया का बढ़ाव महान् खेद-कारक है ॥ ७३ ॥

काल चक्र के प्रभाव से परिवर्तनशील इष्टानिष्ट-प्रसङ्गों को, विषयों के किञ्चित् सुख को तथा प्रियजनों के वियोगों को देखता हुआ मनुष्य जीर्ण भाव को प्राप्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

विषय-सेवनरूप भोग तो सर्पों के फण ही समझ लेने चाहिए, क्योंकि उनके साथ तनिक ही स्पर्श किया, तो तत्काल ही डश लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

आयुर्याति निरायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
उदर्कभङ्गुराकारैः करालैः कष्टचेष्टितैः ॥७६॥
भोगाशाबद्धतृष्णानामपमानः पदे पदे ।
आलानमवलीनानां वन्यानामिव दन्तिनाम् ॥७७॥
संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥७८॥
सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥७९॥
आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥८०॥
द्वन्द्वदोषोपरुद्धानि दुःसाध्यान्यस्थिराणि च ।

यह आयु तो आयास शून्य आत्मा की प्राप्ति कराने में सामर्थ्य रहित, भयङ्कर तथा परिणाम में नष्ट होनेवाली अनेक कष्टदायक चेष्टाओं से व्यर्थ ही चली जाती है ॥ ७६ ॥

भोगों की अभिलाषा से बद्ध तृष्ण जीवों का पद-पद पर ऐसे ही अपमान होता है—जैसे कि खान, पान, उपवास आदि से कृश हुए बन्धन स्तम्भ में बद्ध जङ्गली हाथियों का होता है ॥ ७७ ॥

सम्पत्तियाँ तथा ललनाएँ तरङ्गों के उत्सङ्ग के सदृश अतिक्षणभङ्गुर हैं, अतः ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा, जो साँप के फणरूप छाते की छाया भूत उन सम्पत्ति आदि में रमण करेगा, इससे सम्पत्ति आदि क्षणभङ्गुर ही नहीं हैं, किन्तु तत्काल मृत्यु-प्रद भी हैं, यह जाने ॥ ७८ ॥

मान लिया जाय कि विषय भोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अङ्गनाओं के अपाङ्गभङ्ग के सदृश अति चञ्चल ही है ॥ ७९ ॥

विषय तो आपात रमणीय हैं अर्थात् इन्द्रियाँ सङ्ग काल में ही रम्य भासमान होती हैं, ये परिणाम में अत्यन्त नीरस हैं, इसलिए ऐसे विषयों में जो पुरुष रमण करते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं, क्योंकि विषयों के व्यसनियों को पद-पद पर अधर्म ही होता है ॥ ८० ॥

धन द्वन्द्वदोषों से आक्रान्त हैं अर्थात् उनका उपार्जन करने के समय शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्दों का सामना करना ही पड़ता है। अतः वे कष्टसाध्य हैं, और

धनान्यभव्यसेव्यानि मम जातु न तुष्टये ॥८१॥
आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥८२॥
आपातरमणीयानि विमर्दविसराण्यति ।
दुःखान्यापत्प्रदातॄणि संगतानि खलैरिव ॥८३॥
शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥८४॥
अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि ।
चलन्त्यायूंषि शाखाग्रलम्बाम्बूनीव देहिनाम् ॥८५॥
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥८६॥

वे स्थिर भी नहीं हैं, क्योंकि राजा, चोर आदि से उनका विनाश पद-पद में सम्भावित है ॥ ८१ ॥

लक्ष्मी ऊपर-ऊपर से मधुर है, अन्त में दुःख देनेवाली हैं, केवल लोक को मोह में डालने वाली है तथा उसका विलास क्षण के लिए ही होता है ॥ ८२ ॥

दुष्टों के साथ किये गये मैत्री आदि सम्बन्ध जैसे आपातरमणीय, थोड़े से संघर्ष में विनाशी, दुःखरूप तथा आपत्ति देने वाले होते हैं, वैसे ही धन के साथ किये गये सम्बन्ध भी आपातरमणीय, थोड़े में नष्ट होने वाले, दुःखरूप तथा आपत्ति देने वाले होते हैं ॥ ८३ ॥

यौवन की शोभाएँ शरत् काल के मेघ की छाया के सदृश झटपट चली जाने वाली नश्वर हैं और विषय अविचार से रमणीय तथा परिणाम में सन्तापदायी हैं ॥ ८४ ॥

चाहे बड़े से बड़े ही क्यों न हों, उनके जीवन के ऊपर मृत्युरूप अन्तक अवश्य उपस्थित हो ही जायगा। देहियों के आयुष्य तो शाखा के अग्रभाग में लटक रहे जल के ओस की बूंदों के सदृश स्खलित हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

वृद्धावस्था प्राप्त कर रहे पुरुष केश तथा दाँत क्षीण-क्षीण हो जाते हैं, जीर्ण अवस्था वाले के लिए सब कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, परन्तु अकेली तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है ॥ ८६ ॥

भोगाभोगातिगहने सर्वस्मिन् कायकानने।
परमुल्लासमायाति तृष्णैका विषमञ्जरी ॥८७॥
बाल्यं यौवनवद्याति यौवनं याति बाल्यवत्।
उपमानोपमेयत्वं भङ्गुरत्वं मिथोऽनयोः ॥८८॥
जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा।
प्रवाह इव वाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥८९॥
झटित्येवाऽऽगतो देहः कुतोऽप्यर्जुनवातवत्।
याति पश्यत एवाऽस्तं तरङ्गाम्बुदवीपवत् ॥९०॥
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरताऽपि च।
सत्येष्वसत्यताऽर्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥९१॥
सुखं यदात्मविश्रान्तौ गते मनसि सत्त्वताम्।
पाताले भूतले स्वर्गे तन्न भोगेषु केषुचित् ॥९२॥

भावी देहों की परम्परारूप शरीररूपी अरण्य में, जो भोगों के विस्तार से अतिगहन हैं एकमात्र तृष्णारूपी विषमञ्जरी ही अत्यन्त लहलहाती नजर में आती है अर्थात् अब भोगों को भोग लिया जाय, जन्मान्तर में विवेक, वैराग्य आदि प्राप्त हो जायँगे, यह सोचा जाय, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जन्मान्तर में विवेकादि प्राप्त होंगे, यह आशा ही नहीं करनी चाहिए ॥ ८७ ॥

बाल्य अवस्था युवावस्था के सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्य अवस्था के सदृश चली जाती है, इस प्रकार इन दोनों में परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान है अर्थात् बाल्य आदि अवस्थाओं में भी विवेकादि की आशा नहीं है ॥ ८८ ॥

अञ्जलि से जैसे जल क्षणभर में चला जाता है, वैसे ही यह जीवन क्षणभर में गल जाता है। नदी के प्रवाह के सदृश बह गयी आयु फिर लौटकर वापस नहीं आती ॥८९॥

किसी भी अज्ञात कारण से, अर्जुन वायु के सदृश, यह दुःखदायी देह आया तो है परन्तु देखते-देखते ऐसे झट से नष्ट हो जाता है, जैसे तरङ्ग, मेघ और दीपक ॥ ९० ॥

हम लोगों को विषयों में नीरसता इसलिए हुई कि रम्य वस्तुओं में अस्थिरता ही देखी और सत्यरूप समझे गये पदार्थों में असत्यरूपता देखी ॥ ९१ ॥

मन के वासनानिर्मुक्त हो जाने पर जो आत्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस विश्रान्ति से जो सुख मिलता है, वह न तो पाताल में, न भूतल में, न स्वर्ग में और न किन्हीं भोगों में ही प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥

अपि संपूर्णहृद्यार्थाः पञ्चाऽपीन्द्रियवृत्तयः।
तावज्जयन्ति मामेता भृङ्गं चित्रलता इव ॥९३॥
अद्य दीर्घेण कालेन निरहङ्कृतिना मया।
स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यमिदमासादितं धिया ॥९४॥
चिरमेकान्तविश्रान्त्यै तेनैतन्नभसः पदम्।
त्वमिवाऽऽगतवानत्र दृष्टवानस्मि तां कुटीम् ॥९५॥
अद्यैतत्संपरिज्ञातं यदेषा भवतः कुटी।
आगन्ता त्वं पुनश्चेति मया तन्न विचारितम् ॥९६॥
तदा त्वत्र मया ज्ञातं कश्चित्सिद्धोऽयमात्मना।
देहं त्यक्त्वेह निर्वाणं गत इत्यनुमानतः ॥९७॥
एतन्मे भगवन् वृत्तमेषोऽस्मीति यथास्थितम्।
मया ते कथितं सर्वं यथा जानासि तत्कुरु ॥९८॥

जितने प्रिय बुद्धि से गृहीत मनोरम विषय हैं वे सब तथा पांचों इन्द्रियों की वृत्तियाँ क्या मुझको जीत सकती हैं अर्थात् ये मुझको ऐसे जीत नहीं सकती जैसे कि चित्रगतलता भ्रमर को नहीं जीत सकती अर्थात् इस समय में दृढ़ वैराग्य से युक्त मुझपर सम्पूर्ण विषयों को लेकर भी समस्त इन्द्रियों के व्यापार विजय नहीं पा सकते ॥ ९३ ॥

आज दीर्घकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् निरहङ्कार हुए मैंने अपनी विवेक-बुद्धि से यह स्वर्ग-अपवर्ग के प्रति विरक्ति प्राप्त की है ॥ ९४ ॥

हे मुने ! इसी कारण आपकी तरह मैं भी दीर्घकाल तक विश्रान्ति करने के निमित्त इस आकाशस्थान में, जो कि आपकी कुटिया की कल्पना का भाजन रहा, आया और मैंने उस कुटिया को देखा ॥ ९५ ॥

हे महाराज ! आपकी यह कुटी है और भविष्य में यहाँ पर आप पधारेंगे, यह उस समय मैंने नहीं विचारा। आज ही मुझे यह ज्ञात हुआ है ॥ ९६ ॥

हे मुने ! उस समय तो मैंने अनुमान से यह समझा था कि कोई सिद्ध यहाँ रहता होगा और वह अपने आप अपना शरीर छोड़कर यहाँ मुक्ति को प्राप्त हो गया है ॥ ९७ ॥

हे भगवन् ! 'तुम कहाँ स्थित हो' इत्यादि जितने आपने मुझसे प्रश्न किये थे और मेरी जो खरी-खरी यथास्थिति रही, वह सब मैंने कही। अब इसके बाद मुझ अपराधी के ऊपर दण्ड या अनुग्रह इन दोनों में से जो कुछ भी आपकी समझ में आता हो, वह कीजिए ॥ ९८ ॥

सिद्धेनं यावदवधानपरैर्विचार्यं निर्णीतमुत्तमधियाऽन्तरशेषवस्तु । तावत्त्रिकालकलनं न विदन्ति किंचि-दित्यब्जजादिमनसोऽपि मुने स्वभावः ॥९९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥९३॥

हे मुने ! आपके जैसे सिद्ध भी जब तक समाधिनिष्ठ होकर उत्तम बुद्धि से अपने भीतर समस्त वस्तुओं का विचार-पूर्वक निर्णय नहीं करते, तब तक वे त्रिकाल के सब वृत्तान्तों का ज्ञान नहीं कर पाते। इसी तरह का ब्रह्मा आदि के मन का भी स्वभाव है, फिर मेरे जैसे पुरुषों की तो बात ही क्या ? इसलिए आपके वृत्तान्त का अपरिज्ञान एवं शरीर का हटाना आदि जो मैंने आपके प्रति अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिए, यह तात्पर्य निकला ॥ ९९ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पाषाणोपाख्यान में आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथा वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का तिरानवे अध्याय समाप्त हुआ।

९४

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ हेममयाकाशविस्तीर्णायां महाभुवि ।
सौहार्ददिव सिद्धस्य तस्येदमहमुक्तवान् ॥१॥
त्वया न केवलं तावन्मयाऽपि न विचारितम् ।
आध्यात्मिरहिता नाम न संभवति देहिनाम् ॥२॥
कस्मान्मया तवोदन्तं विचार्याऽसौ स्थिरीकृता ।
न कुटी व्योम्नि तेन त्वमभविष्यः स्थिरस्थितिः ॥३॥
उत्तिष्ठ सिद्धलोकेषु निवसावो यथास्थितम् ।
स्वास्पदस्थितयः सौम्याः स्वात्मसिद्धौ सुसाधनम् ॥४॥
इति निर्णीय तावुच्चैरुत्पतौ तारकोपमौ ।
सममेकपुटोड्डीनौ व्योमयन्त्रोपलाविव ॥५॥
प्रणामपूर्वमन्योन्यमथ कृत्वा विसर्जनम् ।
गतः सोऽभिमतं देशमहं चाऽभिमतं गतः ॥६॥

९४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उसके बाद आकाश के समान विस्तीर्ण सात समुद्र और सातों द्वीपों के बाहर स्थित काञ्चनमय विशाल भूमि में मैत्री के कारण ही मैंने उस सिद्ध से यह कहा हे मित्र ! अकेले आपने ही विचार नहीं किया हो यह बात नहीं है, किंतु मैंने भी विचार नहीं किया। साधारण लोगों की बात जाने दीजिये, जो बड़े बडे योगी हैं, उनको भी ध्यानपूर्वक सब विषयों में मनो-योग के बिना भूत, भविष्यत् पदार्थों का परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता ॥ १–२ ॥

[यदि प्रणिधान (ध्यान) द्वारा सब विषयों में मनो-योग हो सकता तो आपका पतन कदापि न होता और संकल्पकुटी स्थिर बनायी गई होती, यह कहते हैं—'कस्मात्' इत्यादि से।]

हे मित्र ! मैंने आपका वृत्तान्त विचार कर वह कुटी आकाश में चिरस्थायिनी क्यों न बना दी। यदि मैं ऐसा कर देता तो अवश्य ही आपकी स्थिति स्थिर हो गई होती, आपका पतन न हो पाता। हे मित्र ! हम दोनों से ही परस्पर अपराध हुआ, अतः परस्पर दोनों को क्षमा कर देनी चाहिए ॥ ३ ॥

अब उठिये, हम दोनों सिद्ध लोकों में पूर्ववत् निवास करें—आप नन्दनवन में चलकर विहार कीजिये और मैं सप्तर्षिलोक में जाकर रहूँ। बिना हलचल के अपने स्थान में रहना अपनी विक्षेपशून्य स्थिति के लिए उत्तम साधन है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! ऐसा निर्णय कर तारों के सदृश वे दोनों सिद्ध गुलेल से उड़े हुए दो पत्थरों के समान एक-साथ बड़ी तेजी से उड़े ॥ ५ ॥

परस्पर प्रणामपूर्वक एक दूसरे को बिदा कर वह सिद्ध अपने अभीष्ट देश को चला गया और मैं भी अपने अभिमत देश में आ गया अर्थात् वह सिद्ध नन्दन वन को गये और मैं सप्तर्षिलोकों में आया ॥ ६ ॥

इति वृत्तान्तमखिलमुक्तवानस्मि राघव।
तवाऽऽश्चर्यमयीं पश्य संसृतीनां विचित्रताम् ॥७॥

श्रीराम उवाच

भगवंस्तव देहोऽसौ पृथिव्यामणुतां गतः।
भ्रान्तः केन शरीरेण सिद्धलोकांस्ततो भवान् ॥८॥

वसिष्ठ उवाच

आ स्मृतं शृणु वृत्तान्तं ततो मम जगद्गृहे।
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु च ॥९॥

अहमिन्द्रपुरं प्राप्तो न कश्चित्तत्र दृष्टवान्।
मामिमं देहरहितमातिवाहिकदेहिनम् ॥१०॥

हे राघव ! इस प्रकार पाषाणोपाख्यान एवं सिद्ध का सारा वृत्तान्त मैंने आपसे कह सुनाया। देखिये, संसृतियों की कैसी आश्चर्यमयी विचित्रता है ॥ ७ ॥

कुटी में स्थित जो आपका स्थूल शरीर था, उसे उस सिद्ध ने फेंक दिया, यह मेरा अनुमान है, ऐसा आपने ही मुझसे कहा है। फेंका गया जो पार्थिव शरीर है वह तो समय पाकर पृथ्वी में धूल-रूप हो जाता है, यह अर्थतः ही ज्ञात हुआ। ऐसी स्थिति में एकमात्र मानसिक शरीर से सिद्धों के लोकों में जाकर वहाँ के निवासी जनों के साथ आपने कैसे व्यवहार किया ? न तो मनोमात्र आत्मा दूसरों के साथ व्यवहार कर सकता है और न दूसरे ही उसके साथ व्यवहार कर सकते हैं, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! जब आपका यह भौतिक शरीर पृथ्वी में धूल बन गया, अर्थात् धूलमय हो गया तब आपने किस शरीर से सिद्ध लोकों में सञ्चार किया ? ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! हाँ, मुझे स्मरण हो आया, सुनिए उसके बाद की मेरी आत्मकहानी। सुवर्णमयी भूमि से चलकर जगत्रूपी घर में सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण करता हुआ मैं इन्द्र भगवान् के नगर में पहुँचा। क्योंकि मैं इस स्थूल शरीर से रहित मनोमात्र शरीरधारी था, अतः वहाँ मुझे कोई देख न सका ॥ ९, १० ॥

अहं किल तदा राम संपन्नो गगनाकृतिः।
न चाऽऽधारो न चाऽऽधेयश्चिदाकाशमयात्मकः ॥११॥

न ग्रहीता न च ग्राह्यस्त्वादृशार्थावबोधिनाम्।
न चैव देशकालानां क्वचिदावृत्तिकारकः ॥१२॥

मनोमननमात्रात्मा पृथ्व्यादिपरिवर्जितः।
संकल्पपुरुषाकारः पदार्थानामरोधकः ॥१३॥

अरुद्धश्च पदार्थौघैः स्वयं स्वानुभवोन्मुखः।
व्यवहर्त्ता तथाभूतैरेवं पुंभिर्मनोमयैः ॥१४॥

स्वप्नानुभूतयो राम दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः।
अनुभूत्यपलापं तु यः कुर्यात्तेन तेऽस्त्वलम् ॥१५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मैं गगनाकार हो गया था। न तो मेरा कोई आधार था और न कोई आधेय था। मैं तो चिदाकाशप्रचुर जो मन है, तद्रूप ही हो गया था ॥ ११ ॥

उस समय न तो मैं आपके सदृश स्थूल पदार्थों के अवबोध करनेवालों की तरह ग्रहणकर्ता था और न ग्राह्य ही था। हे श्रीरामचन्द्रजी ! उस समय मैं प्रेषण, प्रतीक्षण आदि के द्वारा दूसरों के देशों और कालों का परिवर्तन करनेवाला भी नहीं था ॥ १२ ॥

मन का मनन मेरा स्वरूप था, मैं पृथ्वी आदि से बिल्कुल रहित था, मेरा आकार संकल्प के पुरुष के तुल्य था और मैं स्पर्श न होने के कारण स्तम्भ, कुम्भ आदि विविध पदार्थों का रोधक नहीं था ॥ १३ ॥

अपने अनुभव की ओर उन्मुख हुआ मैं अर्थात् स्वानुभवरूप में स्वयं भी पदार्थ समूहों से अवरुद्ध नहीं होता था। इस तरह मैं स्वप्नमनोराज्य के समान मनोमय भूतों के साथ ही व्यवहार करता था ॥ १४ ॥

इस तरह के अर्थ की सम्भावना में स्वप्न के अनुभव पूर्ण दृष्टान्त हैं। जो अनुभव का अपलाप कहते हैं—अनुभव को प्रमाण नहीं मानते हैं उन नैयायिकों के साथ बातें करना ठीक नहीं है, व्यर्थ है। ज्ञानमात्र में अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह की कारणता के समान त्वक् एवं मन के संयोग की भी कारणता है, इसीलिए सुषुप्ति में त्वङ्मनोयोग का अभाव रहने से ज्ञान का अभाव है ऐसा जो नैयायिक प्रलाप करता है, वह मूर्ख है, उसके साथ

यथा स्वप्नचरो गेहे व्यवहर्ता न दृश्यते।
तथा तदा न दृष्टोऽस्मि पुरस्थोऽपि नभोगतैः ॥१६॥
अहमन्यान् प्रपश्यामि पार्थिवाकारभासुरान्।
मामातिवाहिकात्मानं न कश्चिदपि पश्यति ॥१७॥

श्रीराम उवाच

न दृश्यते विदेहत्वाद् भवान् व्योमवपुर्यदि।
तत्कथं तेन सिद्धेन दृष्टोऽसि कनकावनौ ॥१८॥

आपको संभाषण करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि भाषण करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि जाग्रत् काल में स्मृति होने से सुषुप्ति में भी सुख-स्वप्नादि का ज्ञान होता ही है। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति॥ शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥' इत्यादि श्रुति के साथ विरोध भी होता है तथा निमि के शाप से जब मैंने शरीर का परित्याग कर दिया, तो भी मुझे दुःख का अनुभव तो होता था, उसी के निवारण के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से मिले हुए वरुण से उत्पन्न शरीर का मैंने ग्रहण किया था॥ १५॥

जैसे घर में सोये हुये स्वप्न में विचरण करनेवाले स्वप्न में व्यवहार कर रहे पुरुष को उस घर के दूसरे प्राणी नहीं देख पाते, वैसे ही उस समय आकाश में विहार करनेवाले देवताओं ने सामने स्थित रहने पर भी मुझे नहीं देखा॥ १६॥

पार्थिव आकार के तुल्य भासुर अर्थात् देदीप्यमान अन्य प्राणियों को मैं तो देखता था, लेकिन स्थूलशरीरधारी मुझे वहाँ कोई भी नहीं देखता था॥ १७॥

[न दृश्यते इत्यादि श्लोक से रामचन्द्र ने यह जिज्ञासा की है। मुझे वहां कोई नहीं देखता था, यह आपका कहना आपके ही पूर्व के कथन से विरुद्ध है; क्योंकि अभी अपने पहले कहा है कि मैं वहाँ सिद्ध देखा गया। मैं अन्य प्राणियों को देखता था, आपका यह कहना भी असंगत है, कारण कि मन की बाहर स्वतन्त्रता न होने से स्वप्न में अपने मनोमय पदार्थों का ही अवलोकन होता है।]

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—महर्षे, आकाशमय शरीरधारी आप यदि विदेह होने के कारण अर्थात् पार्थिव शरीर शून्य होने के कारण किसी के द्वारा नहीं दिखते रहे, तो फिर उस सुवर्णमयी पृथिवी में उस सिद्ध के द्वारा आप किस रूप में देखे गये?॥ १८॥

वसिष्ठ उवाच

अस्मदादिर्जनो नाम यथा संकल्पकल्पितान्।
नाऽसंकल्पितमाप्नोति सत्यकामवपुर्यतः ॥१९॥
व्यवहारेषु मग्नेन लौकिकेष्वमलात्मना।
क्षणाद्विस्मर्यते पुंसा सातिवाहिकतात्मनः ॥२०॥
मया पश्यतु मामेष इति संकल्पितं तदा।
तेन मां दृष्टवानेष स्वसंकल्पार्थभाजनम् ॥२१॥
जनो जरठभेदत्वान्न संकल्पार्थभाजनम्।
स एष जीर्णभेदत्वात् सत्यकामत्वभाजनम् ॥२२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हमारे सदृश ज्ञानयोगसिद्ध पुरुष जैसे सङ्कल्प से कल्पित पदार्थों का अवलोकन करता है, वैसे ही असंकल्पित पदार्थों को प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सत्यसङ्कल्पशरीर वाला है॥ १९॥

अब यह शङ्का है कि ज्ञानसिद्ध महानुभावों का सदा ही सूक्ष्म शरीर रहता है, उनका तो स्थूल शरीर होता ही नहीं, यह आपने अनेक बार मुझसे कहा कहा है, ऐसी दशा में उनका स्थूलदेह बुद्धि से दूसरे को देखना, उससे बातचीत करना आदि सत्य सङ्कल्प कैसे हो सकता है? इसका समाधान किया जा रहा है।

निर्मलात्मा सूक्ष्म शरीरधारी सिद्धपुरुष भी लौकिक व्यवहारों में मग्न होकर क्षण भर में ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि और विवेक काल में सत्य सङ्कल्पन होता है वैसे ही व्युत्थान व्यवहार काल में सूक्ष्म शरीरभाव का विस्मरण भी होता है, इसलिए उनका परदर्शन, संवाद आदि का सङ्कल्प सम्भव है॥२०॥

उस समय मैंने यह सिद्ध मुझे देखे, ऐसा सङ्कल्प किया था, इससे उस सिद्ध ने मुझे, जो स्वसङ्कल्पित अर्थ का भाजन था, देखा अर्थात् यह जो सिद्ध था, वह भी सत्य-संकल्प तथा सिद्ध था, अतः मुझे देख सकता था॥ २१॥

चिरकाल की वासना से जिस पुरुष का भेद बहुत दृढ़ हो चुका है, वह साधारण पुरुष चिरकाल की वासना से भेदबुद्धि के दृढ़ होने के कारण सङ्कल्पित अर्थ का भाजन नहीं होता, किन्तु भेदवासना मिट जाने के कारण यह सिद्ध सत्य सङ्कल्प का भाजन था, अर्थात् साधारण लोगों की अपेक्षा सिद्धपुरुष में विशेषता बताते हैं॥ २२॥

द्वयोस्तु सिद्धयोः सिद्धविरुद्धेप्सितयोर्मिथः।
अधिकैकावदातात्मा जयी पुरुषयत्नवान् ॥२३॥
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु मे।
विस्मृता व्यवहारौघैः साऽऽतिवाहिकताऽऽत्मनः ॥२४॥
यदा तदाहमपरैर्व्यवहर्तुं महाम्बरे।
प्रवृत्तो न च मां कश्चित्तत्र पश्यति चञ्चलम् ॥२५॥
अत्यन्तमप्यारटतः शब्दो न श्रूयते मम।
केनचित्सुरलोकेषु स्वप्नपुंस इवाऽनघ ॥२६॥
अवष्टब्धुं प्रवृत्तस्य नाऽन्यावष्टब्धये मम।
संपद्यते किंचिदपि मनोमननदेहिनः ॥२७॥
एवं व्योमपिशाचोऽहं संपन्नो रघुनन्दन।
मयाऽनुभूता काऽप्येषा देवागारपिशाचता ॥२८॥

अब यह आशङ्का है कि जहाँ दो सिद्ध परस्पर विरुद्ध सङ्कल्प करें—जैसे एक तो यह सङ्कल्प करे कि 'मैं' इसे देखूँ और दूसरा यह सङ्कल्प करे कि 'मुझे यह न देखे' ऐसी स्थिति में वहाँ कैसी व्यवस्था होगी ?

परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध अभीष्ट वाले दो सिद्धों में जो अधिक निर्मलात्मा यत्नवान् रहता है वह बाजी मार ले जाता है। जैसे एक राज्यसिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे दो राजकुमारों में जिसमें शौर्य आदि अधिक मात्रा में रहते हैं, उसी की विजय होती है वैसे ही यहाँ भी ॥ २३ ॥

सिद्धों की सेनाओं तथा लोकपालों की पुरियों में विचरण करते हुए मेरी वह सूक्ष्मरूपता व्यवहारों की अधिकता से जब विस्मृत हो गई—जब मैं अपना सूक्ष्म स्वरूप भूल गया तब महाकाश में अन्य लोगों के साथ व्यवहार में प्रवृत्त हो गया, परन्तु मेरा ऐसा चञ्चल रूप था कि वहाँ मुझे कोई नहीं देख पाता था ॥ २४, २५ ॥

हे निष्पाप ! मैं वहाँ सुरलोकों में अत्यन्त जोर से शब्द कर रहा था, फिर भी वहाँ जैसे स्वप्न के पुरुष का शब्द कोई नहीं सुनता वैसे ही मेरा वह शब्द कोई नहीं सुन पाता था ॥ २६ ॥

वहाँ पर जब कोई गिरता तथा नीचे से ऊपर की ओर चढ़ता तो वैसे अवसरों को मैं झट अपने हाथ आदि का उसे अवलम्बन देने के लिए उद्यत हो जाता था। लेकिन हे रामजी ! उनके सहारे के लिए उद्यत होने पर भी मननशील मनरूप शरीरधारी मेरा हाथ आदि कुछ भी उसके अवलम्बन के लिए समर्थ होता था ॥ २७ ॥

हे रघुनन्दन ! इस तरह मैं आकाश का पिशाच हो गया और देवताओं के घरों में इस एक अनिर्वचनीय पिशाचता का मैंने अनुभव किया ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् किमाकाराः किमास्पदाः।
किंजातीयाः किमाचाराः कीदृशा कीदृशाशयाः ॥२९॥

वसिष्ठ उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् यादृशास्तादृशान् शृणु।
न सभ्योऽसौ न यो वक्ति प्रसंगापतितं वचः ॥३०॥
पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाऽऽकृतिम् ॥३१॥
छायया भयदायिन्या त्वन्यत्र भ्रमरूपया।
ते चित्ताक्रमणं कृत्वा बोधयन्ति नराशयम् ॥३२॥
घ्नन्त्यदन्ति पिबन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम्।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—कृपाकर यह बताइये कि इस लोक में पिशाच किस आकार के होते हैं, वे कहाँ रहते हैं, किस जाति के होते हैं, उनका आचार कैसा होता है तथा वे किस तरह के अभिप्रायवाले होते हैं ? ॥ २९ ॥

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—इस लोक में पिशाच जिस तरह के होते हैं, उनका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिए। जो मनुष्य प्रसङ्गप्राप्त वचन नहीं बोलता वह सभ्य नहीं है ॥ ३० ॥

कोई पिशाच आकाश के सदृश सूक्ष्म शरीर वाले—मनोमय देहवाले स्वप्न के समान कल्पित हाथ, पैर आदि से युक्त होते हैं और आप ही के समान आकार को देखते हैं ॥ ३१ ॥

अन्य मनुष्य के चित्त में प्रविष्ट होकर भ्रमरूप भयदायिनी अपनी छाया से आक्रमण करके वे सब पिशाच नानाविध दुःख आदि प्रदान करने वाली चेष्टाओं से मनुष्य के आशय को उद्बोधित करते हैं ॥ ३२ ॥

उसका यदि मरण के अनुकूल कर्माशय होता है तो मर्मस्थान में पहुंचकर इनमें कोई पिशाच शीघ्र प्राणियों को मारते हैं और स्वयं अपने ऋण के अनुबन्ध के अनुसार उसके देहधातुओं का भक्षण करते, रुधिर आदि पीते तथा बल एवं सत्त्व को नष्ट करते हैं और चित्त में आक्रमण करके जीवों को नष्ट कर डालते हैं ॥ ३३ ॥

आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसन्निभाः।
केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि खात्मकाः ॥३४॥

केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः।
केचिद् भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥३५॥

ग्रहीतुं नैव युज्यन्ते ग्रहीतुं शक्नुवन्ति नो।
आकाशशून्यवपुषः पश्यन्त्याकृतिमात्मनः ॥३६॥

शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥३७॥

इच्छाद्वेषभयक्रोधलोभमोहसमन्विताः।
मन्त्रौषधतपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥३८॥

इनमें कोई आकाश के सदृश, कोई नीहार के तुल्य और कोई स्वप्नकाल के मनुष्यों के आकार के समान आकारवाले साकार होते हुए भी शून्यात्मक होते हैं ॥३४॥

कोई मेघखण्ड के समान, कोई वायुमय देहवाले और कोई प्राणी की भ्रान्ति के अनुसार देहधारी होते हैं। हे श्रीरामचन्दजी ! ये सबके सब बुद्धि-मनोमय ही होते हैं ॥ ३५ ॥

इन पिशाचों को पकड़ना सम्भव नहीं है और ये भी यदि किसी को पकड़ना चाहें, तो पकड़ नहीं सकते हैं। आकाश के समान शून्य शरीर वाले वे अपनी आकृति का स्वयं अनुभव करते हैं और परस्पर देखते हैं ॥ ३६ ॥

तथा वे सब शीत और आतप से उत्पन्न हुए सुख और दुःख का भी अनुभव करते हैं। किन्तु वे बाहर के जल आदि पी नहीं सकते, अन्न आदि खा नहीं सकते, किसी पदार्थ का अवलम्बन नहीं कर सकते—स्वयं खड़े नहीं हो सकते तथा लेने-देने आदि यथेष्ट व्यवहार भी वे नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

वे सब इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ और मोह से युक्त रहते हैं और मन्त्र, औषध, तप, दान, धैर्य एवं धर्म से वशीभूत होते हैं ॥ ३८ ॥

सत्त्व का अवष्टम्भरूप योगधारणा का जो एक भेद है, उससे भूतों के अवलोकन के अनुकूल बीजाक्षर से घटित रजतादि पत्र के ऊपर लिखित कण्ठ आदि में धारण किए गये यन्त्र तथा आराधित मन्त्र से वे दिखाई देते हैं तथा

सत्त्वावष्टम्भयन्त्रेण मन्त्रेणाऽऽराधितेन वा।
दृश्यन्तेऽपि च गृह्यन्ते कदाचित् केनचित् क्वचित् ॥३९॥

देवयोनिर्हि सा तेन केचिद्देवोपमादयः।
केचिन्नरसमश्रीकाः केचिन्नागसमन्वयाः ॥४०॥

श्वशृगालोपमाः केचिद् ग्रामजङ्गलवासिनः।
कुल्यावकररथ्यासु वसन्ति निरयेषु च ॥४१॥

एतदास्पदमेतेषामित्याकाराः प्रकीर्तिताः।
पिशाचा एवमाचारा जन्मैषां श्रूयतामिदम् ॥४२॥

अचेत्यचिन्मयं ब्रह्म सर्वशक्तिस्वभावतः।
यत्स्थितं बुद्धमेवाऽन्तश्चेत्यं संकल्पयन्निव ॥४३॥

भूतविद्या जाननेवाले किसी एक पुरुष के द्वारा कभी वशीभूत होकर सेवा आदि में नियुक्त भी किए जाते हैं; किसी देश में यह प्रसिद्ध है अर्थात् किस उपाय से उन्हें मनुष्य देख पाते हैं ॥ ३९ ॥

चूंकि यह भूतयोनि भी देवयोनि ही है, इसलिए इन पिशाचों में कोई देवरूप ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, कोई मनुष्यों के समान लक्ष्मी से सम्पन्न होते हैं और कोई साँपों के सदृश होते हैं अर्थात् देवयोनि के ग्यारह भेदों के भीतर यह भूतयोनि है, इसलिए अणिमा आदि ऐश्वर्यों के तारतम्य से सुखभोग भी उनमें है। यह सूचित करते हुए उनकी जाति तथा आकृति के भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥ ४० ॥

इनमें कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपमा कुत्तों तथा शृगालों से दी जा सकती है। कोई ऐसे होते हैं, जो गाँवों में तथा जङ्गलों में निवास करते हैं तथा कोई ऐसे भी होते हैं जिनका नहरों, कुओं, मार्गों एवं नरक सदृश अपवित्र देशों में ही सदा वास रहता है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! इनके यही सब रहने के स्थान हैं, इसी तरह के आकार के तथा ऐसे ही आचार के वे पिशाच होते हैं, यह सब मैंने आपसे कह दिया अर्थात् आपने जो प्रश्न किया था कि वे किस आकार के होते हैं उनका आचार क्या है तथा वे कहाँ रहते हैं, इसका उत्तर मैंने आपको दे दिया। अब इनका आप यह जन्म सुने ॥ ४२ ॥

कार्यब्रह्म से विलक्षण जो मायाशबल ब्रह्म है, वह समस्त शक्तियों के स्वभाव के विषय का सङ्कल्प करते

तं जीवं विद्धि स प्रौढस्त्वहंकार इति स्मृतः।
सोऽहंकारः स्मृतः पुष्टो मन इत्युदितात्मभिः ॥४४॥
स एव कथ्यते ब्रह्मा संकल्पाकाशरूपवान्।
असदेवाऽसो बीजं जगतो विगताकृतिः ॥४५॥
एवं मनःस्थितो ब्रह्मा सदेहोऽप्यमलं नभः।
तत्स्वप्नपुरुषाकारः सन्नेवाऽसद्वपुः सदा ॥४६॥
पृथ्व्यादिमूर्तिरहितस्त्वातिवाहिकदेहवान् ।
पृथ्व्यादयः किल कुतः संकल्पपुरुषस्य खे ॥४७॥
भवन्मनो यथाकाशपुरं पश्यति कल्पितम्।
तथा मनो विरञ्चित्वं पश्यत्यात्मनि कल्पितम् ॥४८॥
यद्वेत्ति कल्पितं तत्तत्पश्यत्यनुभवत्यपि।
यो यावन्मात्रकस्तत्स कस्मात्किल न पश्यति ॥४९॥

स यत्पश्यति तत्तादृक् शून्यात्मा शून्यमम्बरे।
ब्रह्म ब्रह्मणि वा ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥५०॥
तथा संप्रतिभासोऽस्य चिरकालैकभावनात्।
घनीभूतः स्थितः पुष्टः सुदीर्घस्वप्नसुन्दरः ॥५१॥
आतिवाहिकदेहस्य तस्य तच्चिरभावनात्।
सर्गानुभवनं भूरि ब्रह्मणो ब्रह्मरूप्यपि ॥५२॥
गतं प्रकटतोत्कर्षादाधिभौतिकदेहताम्।
तेनैव सर्ग इत्युक्तो भेदसन्ततिभासुरः ॥५३॥
स ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्ममात्रात्मनोस्तयोः।
अजातयोरेव सदा तदात्मजगतोर्द्वयोः ॥५४॥
अभिन्नयोरेव भृशं शून्यत्वाम्बरयोरिव।
ऐकात्म्येनैव वसतोः पवनस्पन्दयोरिव ॥५५॥

हुए मनोमय पुरुष के समान भीतर अवबुद्ध होकर स्वरूप से जो स्थित है उसी को जीव नामक प्रथम अङ्कुर समझिये। अभिमान से परिपूर्ण वही अहङ्कार कहा गया है तथा परिपुष्ट हुए उस अहङ्कार को ही उन महानुभावों ने, जिन्हें आत्मा का आविर्भाव हो गया है उसे मन कहा है ॥ ४३, ४४ ॥

वह मनरूप जो जीव है वही समष्टि रूप से सङ्कल्पाकाशरूपधारी ब्रह्मा कहलाता है। असद्रूप इस जगत् का बीज भी एकमात्र असद्रूप ही है, उसकी कोई आकृति नहीं है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मन ही ब्रह्मा बनकर स्थित है। वह ब्रह्मा सदेह होने पर भी निर्मल आकाशरूप ही है। स्वप्न के पुरुष के आकार के सदृश उपस्थित रहने पर भी उसका वह शरीर असत् ही है ॥ ४६ ॥

पृथ्वी आदि पञ्चभूतों की मूर्ति से रहित होने पर भी वह ब्रह्मा सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न है आकाश में सङ्कल्प पुरुष के पृथ्वी आदि कहाँ से हो सकते हैं? ॥ ४७ ॥

आपका मन जैसे आकाश में कल्पित नगर का अवलोकन करता है वैसे ही अपने कल्पित विरञ्चिरूपता का भी अवलोकन करता है ॥ ४८ ॥

एकमात्र यह कारण है कि ब्रह्मा अपने जिस जिस सङ्कल्प को जानता है तत्तत् पदार्थों के आकार से उसका अवलोकन करता है और स्वयं उसका अनुभव भी करता है। जो जिस परिमाण का जीव है वह सब चिरूप सत् ही है। इसलिये ज्ञानशक्ति से सम्पन्न वह क्यों न अवलोकन करे ॥ ४९ ॥

निराकार मनरूप वह ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूप चिदाकाश में एकमात्र जिस शून्य स्वरूप ब्रह्माण्डाकार का अवलोकन करता है वही जगत् कहलाता है ॥ ५० ॥

तथा इसका प्रतिभास ही इस समय चिरकाल की एकमात्र भावना से घनीभूत पुष्ट होकर सुदीर्घ स्वप्न के समान सुन्दर अवस्थित है ॥ ५१ ॥

सूक्ष्म शरीरधारी उस ब्रह्मा का यह सर्गानुभव ब्रह्मस्वरूप होने पर भी चिरकाल की भावना से अधिक प्रकटता के उत्कर्ष से यानी अधिक प्रकट होने से आधिभौतिक शरीरता को प्राप्त हो गया है, जो अनेक भेद समूहों से भासुर है ॥ ५२, ५३ ॥

वह ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्म स्वरूप ही हैं। ब्रह्मात्मरूप जीव और जगत्, ये दोनों अनुत्पन्न हैं तथा ये दोनों ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि आकाश और शून्यत्व और ये दोनों ऐसे एक रूप से स्थित हो रहे हैं जैसे कि पवन और स्पन्दन ॥ ५४, ५५ ॥

ब्रह्मा जी भी इन दोनों में भूतमयता वैसे ही देखते हैं। जैसे आप अपने सङ्कल्प पुरुष में तथा असत् होते भी

वेत्ति भूतमयत्वं तन्मिथ्यैव न तु वास्तवम् ।
तथा यथा त्वं संकल्पपुरुषस्य सतोऽसतः ॥५६॥
ततः शरीरधातूनां तेन पृथ्व्यादिकाः कृताः ।
अभिधाः पञ्च चित्पुष्टा जगदित्येव ताः स्थिताः ॥५७॥
यथा त्वसत्य एवाऽयं संकल्पः सत्य एव ते ।
तथाऽसावात्मसंकल्पं सत्यमेवाऽनुभूतवान् ॥५८॥
स स्वयं चिन्मयाकाशः ससंकल्पश्चिदम्बरम् ।
अतः स्वप्नो जगत्सर्वं कृतो नाशोद्भवौ स्थितौ ॥५९॥
यथैवैतन्मनः सत्यं तदंशाः सत्यमेव ते ।
तथैव तत्कृताश्चन्द्ररुद्रार्केन्दुमरीचयः ॥६०॥
एवं स्थिते जगज्जालं तन्मनोराज्यमुच्यते ।
तच्च शून्यं निरालम्बमाकाशकचनं चिति ॥६१॥

सद्रूप नगर आदि में पृथ्वी आदि पञ्चभूतमयता देखते हैं परन्तु वह भूतमयता मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ५६ ॥

भूतमयता देखने के बाद ब्रह्माण्डात्मक अपने शरीर के धातुओं के कठिन एवं द्रवीभूत भागों की, जो चिति सत्ता से पुष्ट हैं, पृथ्वी आदि पाँच संज्ञाएँ उन्होंने की हैं। वे ही पाँचों मिलकर 'जगत्' इस नाम से प्रसिद्ध होकर स्थित हैं ॥ ५७ ॥

उस ब्रह्मा ने भी अपने सङ्कल्प का सत्यरूप वैसे ही अनुभव किया जैसे आप अपने असत्य सङ्कल्प को बिलकुल सत्यरूप ही अनुभव करते हैं ॥ ५८ ॥

परमार्थतः उनका सङ्कल्प भी वैसे ही चिदाकाश रूप ही है जैसे वह ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश ही हैं। अतः यह समस्त जगत् उस ब्रह्म देव का एक स्वप्न है तथा उनके सङ्कल्प जनित इसके नाश और प्रादुर्भाव भी दोनों स्वप्न के तुल्य स्थित हैं ॥ ५९ ॥

उनके द्वारा निर्मित उनकी वृत्ति रूप वे चन्द्र, रुद्र, सूर्य तथा चन्द्रकिरण आदि भी सत्य ही हैं जैसे यह मनरूप ब्रह्मदेव सत्य हैं। प्रवृत्ति आदि अर्थ क्रिया के सम्पादन में समर्थ हैं ॥ ६० ॥

ऐसी स्थिति में यह समस्त जगत् सत्य उस ब्रह्मदेव का एकमात्र मनोराज्य ही कहा जाता है और यह सब चिति में निरालम्ब शून्य आकाश का स्फुरण रूप ही है ॥ ६१ ॥

यथा स्वप्नपुरं व्योम संकल्पाद्रिर्यथा नभः ।
तथा ब्रह्मजगच्चैव खमेवाऽच्छमनाकृति ॥६२॥
एवमाभासमात्रस्य कचतोऽनिशमव्ययम् ।
सर्गादिमध्यान्तदृशो मुधैवाऽत्रोदिताः स्थिताः ॥६३॥
किंचिदाकाशकोशस्य तव वा मम वाऽनघ ।
जगतो वाऽपि जायेत किं वा नश्यति मे वद ॥६४॥
तत्किमर्थमनर्थाय निरर्थकमपार्थकाः ।
कस्मादम्युदिता ब्रूहि रागद्वेषभयादयः ॥६५॥
वस्तुतोऽङ्ग न सर्गादिर्न सर्गो नाऽप्यसर्गता ।
विद्यते सकृदाभातमिदमित्थं सदैव तत् ॥६६॥
आशून्ये विपुलाभोगे स्वच्छचिज्जलपूरिते ।
कलनापङ्ककलिले भविष्यति चिदम्बरे ॥६७॥

जैसे स्वप्न का नगर चिदाकाशरूप है जैसे सङ्कल्प का पर्वत चिदाकाश स्वरूप है वैसे ही ब्रह्मदेव का यह जगत् निराकार स्वच्छ चिदाकाशरूप ही है ॥ ६२ ॥

इस तरह एकमात्र आभास स्वरूप से सर्वदा स्फुरित हो रहे इस जगत् की जन्म, यथार्थ में तो एकमात्र अविनाशी वह ब्रह्म ही सर्वत्र स्थित है ॥ ६३ ॥

इसलिए हे निष्पाप श्रीरामचन्द्र जी, यह मुझसे कहिये कि चिदाकाश स्वरूप मेरा, आपका या संसार का ही क्या उत्पन्न होता है तथा क्या नष्ट होता है अर्थात् एकमात्र यही कारण है कि आत्मा की चिदाकाशरूपता का अनुसन्धान करने पर आपके, मेरे या अन्य किसी के भी ये सर्ग आदि कुछ भी नहीं हैं ॥ ६४ ॥

कहिये यह निरर्थक संसार क्यों अनर्थ के लिए उदित हुआ है ? बिना किसी मतलब के अर्थात् बिलकुल अर्थशून्य ये राग, द्वेष, भय, रोग आदि क्यों उदित हुए हैं ? ॥६५॥

वस्तुतः न तो सृष्टि का कोई कारण है, न सर्गता है और न असर्गता ही है, किन्तु सिर्फ एक बार अवभासित हुआ पुनः आवरण होने के कारण प्रपञ्चरूप से प्रसिद्धि को प्राप्त यह प्रत्यग्रूप ब्रह्म ही सर्वदा विद्यमान है ॥ ६६ ॥

सर्वदा शून्य, विपुल आभोगवाले, स्वच्छ चितिरूपी जल से परिपूर्ण, चिदाकाश रूपी अविनाशी खेत के अज्ञान-कल्पनारूपी पङ्क से व्याप्त होने पर उसमें उस चिदाकाश-स्वरूप बीज से ही चिदाकाशात्मक यह अनन्त पञ्चभूतरूप

अन्तरिक्षाक्षयक्षेत्रे स्वात्मनो गगनात्मिका।
तस्माद्बीजादियं जाता भूरिभूतशिलावलिः ॥६८॥
नाऽस्ति किंचिदिह क्षेत्रं व्युप्तं नाम न किंचन।
न बीजमस्ति नो जातं किंचित्सर्वं च संस्थितम् ॥६९॥
याः शिलावलयस्तत्र पुष्टास्ता विबुधादयः।
यास्तु वर्णोज्ज्वला एताः स्वःस्थिता बुद्धबुद्धयः ॥७०॥
यास्त्वर्धपक्वास्ता एता नरनागादिजातयः।
यास्त्वश्याना रजोनष्टास्ताः कृमिस्थावरादयः ॥७१॥
यास्तु गुर्व्यः फलैर्हीनाः शून्याकाराः क्षयक्षताः।
अशरीराः शरीरिण्यस्ताः पिशाचादिकाः स्मृताः ॥७२॥
नहि संकल्पितुः स्वेच्छा क्वचित्पर्यनुयुज्यते।
तास्तथेच्छा विरिञ्चस्य तथा नाम तथोदिताः ॥७३॥
सर्वा एव चिदाकाशरूपिण्यो भूतजातयः।
आतिवाहिकदेहिन्यः पृथ्व्यादिरहितात्मिकाः ॥७४॥
ताश्चिराभ्यासवशतस्त्वाधिभौतिकसंविदम्।
प्राप्ता दीर्घानुभवनात्स्वप्नजाग्रद्दशामिव ॥७५॥
पिशाचाद्यास्तथा एते तथा भूताधिभौतिकाः।
तिष्ठन्ति तुष्टमनसः स्वसंसारविहारिणः ॥७६॥
पश्यन्ति काश्चिदन्योन्यं ग्राम्या ग्राम्येयकानिव।
स्वप्नैकलोकवास्तव्या इवैता भूतजातयः ॥७७॥
काश्चिद्बहुनरप्राप्तस्वप्ननिर्माणलोकवत्।
नाऽन्योन्यमपि पश्यन्ति नानासंस्थानसंस्थिताः ॥७८॥

ब्रह्माण्डबीजशिलाओं की पंक्ति उत्पन्न हुई हैं और आगे चलकर भी होगी ॥ ६७–६८ ॥

वस्तुतः यहाँ पर न तो कोई खेत है, न कुछ उसमें बोया गया है, न कोई बीज है और न कुछ उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु एकमात्र कल्पना से सब कुछ यहाँ स्थित है ॥ ६९ ॥

उस कल्पनारूपी पङ्क से व्याप्त उस चिदाकाशरूपी खेत में जो ब्रह्माण्डरूपी शिलाओं की अनेक पंक्तियाँ परिपुष्ट हुई हैं, वे सब देव आदि जातियाँ हैं। इनमें जो अत्यधिक सौन्दर्य से उज्ज्वल रत्नरूप हैं, वे तो देव, ऋषि आदि की जातियाँ हैं ॥ ७० ॥

इनमें जो शिलाएँ अर्ध उज्ज्वल हैं वे नर, नाग आदि की जातियाँ हैं तथा जो मलिन और रजोगुण से दूषित शिलाएँ हैं वे सब कृमि, कीट, स्थावर आदि हैं ॥ ७१ ॥

इनमें जो बड़ी, बड़ी वजनदार, कान्ति, प्रकाश आदि फलों से हीन, शून्याकार, क्षयक्षत, देहाकार से रहित तथा शरीर से युक्त शिलाएँ हैं वे सब पिशाच आदि कही गई हैं ॥ ७२ ॥

उस खेत में उत्तल देवादिरूप रत्न ही पैदा होवें, यही संकल्प हिरण्यगर्भ को क्यों नहीं हुआ, वृथा पाषाणरूप पिशाचादि जातियां पैदा करने का उनका क्यों सङ्कल्प हुआ, यह आक्षेप आप सङ्कल्प करनेवाले विधाता की इच्छा के ऊपर कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि विधाता की वे इच्छाएँ पैदा होने वाले जीवों के पूर्वजन्म की कर्मवासना के अनुसार ही हुई हैं, अतएव वे पिशाचजातियाँ भी वैसी ही यानी अपने पूर्वजन्म की कर्मवासना के अनुसार ही उदित हुई हैं ॥ ७३ ॥

वास्तव में तो सभी भूतजातियाँ पृथिवी आदि पञ्चभूतों से रहित स्वरूपव्यापी मनोरूप सूक्ष्मदेह से युक्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ७४ ॥

चिरकाल के अभ्यास के वश वे सबके सब आधिभौतिक संवित् को ऐसे प्राप्त हो गये हैं जैसे दीर्घकाल के अनुभव से यानी दीर्घकाल की भावना से स्वप्न जाग्रत् ? दशा को प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

ये पिशाच आदि भी चिरकाल के अभ्यास से आधिभौतिक रूपता को प्राप्त होकर अपने संसार में विहार करते हुए अपनी योनि के भोग्य भोगों से सन्तुष्टचित्त हो अवस्थित रहते हैं। तात्पर्य यह कि उनकी पिशाच देह और कुत्सित भोग भी उन्हें अत्यन्त प्रिय ही लगते हैं, बीभत्स नहीं ॥ ७६ ॥

स्वप्नलोक में निवास करनेवालों के सदृश कोई-कोई पिशाचों की ये जातियाँ भी परस्पर एक दूसरे को वैसे ही देखती हैं अर्थात् दर्शन आदि के द्वारा एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं, जैसे गाँव में रहनेवाले प्राणी गाँव के निवासियों को ॥ ७७ ॥

इनकी नाना संस्थानों में अवस्थित कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जो बहुधा मनुष्य के स्वप्न में निर्मित होनेवाले लोगों की तरह परस्पर भी नहीं देखती ॥ ७८ ॥

स्थिता यथैता जगति पिशाचाद्याः कुजातयः।
प्रायस्तथैताः कुम्भाण्डयक्षप्रेतादयः स्थिताः ॥७९॥
यथा तत्रेह वै निम्ना जलं तत्राऽवतिष्ठते।
तथा यत्र पिशाद्यास्तमस्तत्राऽवतिष्ठते ॥८०॥
मध्याह्नेऽपि पिशाचश्चेदजिरे तिष्ठति स्वयम्।
तत्तस्याऽन्धं तमस्तत्र संनिधानं करोत्यलम् ॥८१॥
न निहन्ति च तद्भानुर्न चान्यस्तत्प्रपश्यति।
स एव चाऽनुभवति पश्य मायाविजृम्भितम् ॥८२॥
अग्नेरादित्यचन्द्रादेस्तैजसं मण्डलं यथा।
पिशाचादेरजन्यात्म तामसं मण्डलं तथा ॥८३॥
याति तेजस्यनोजस्त्वं तमस्योजःप्रधानताम्।
उलूकवत्पिशाचाद्या आश्चर्यं तत्स्वभावतः ॥८४॥
एषा पिशाचाजनितस्य जातिः
प्रोक्ता मया ते समयानपेता।
पिशाचतुल्यः सुरलोकपाल-
लोकेषु जातोऽहमिति प्रसङ्गात् ॥८५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णन-प्रसंगेन जगद्ब्रह्मणोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥९४॥

हे श्रीरामचन्दजी, इस संसार में जैसे पिशाच आदि दुष्ट जातियाँ स्थित हैं प्रायः वैसे ही ये कुम्भाण्ड, यक्ष तथा प्रेत आदि भी स्थित हैं अर्थात् पिशाचजातियों की तरह कुम्भाण्डादि जातियों की भी प्रायः सूक्ष्मदेहता होती है तथा इनमें भी चेष्टा आदि ठीक वैसे ही पाये जाते हैं ॥ ७९ ॥

जैसे इस संसार में गहरी जमीन में जल स्थित रहता है वैसे ही जहाँ पिशाच आदि रहते हैं वहाँ पर उनके पाप के तारतम्य से थोड़ा-बहुत तमोगुण भी स्थित रहता है अर्थात् जैसे ऊँच-नीच जमीन के तारतम्य में जल की स्थिति में तारतम्य रहता है वैसे ही पाप के तारतम्य से उनमें तमोगुण का तारतम्य स्थित रहता है ॥ ८० ॥

यदि मध्याह्नकाल में धूप से युक्त आँगन में भी पिशाच विद्यमान रहे, तो वहाँ पर भी घोर अन्धकार अच्छी तरह उसकी सन्निधि करता ही है यानी उसके सम्मुख अवस्थित हो ही जाता है ॥ ८१ ॥

उस अन्धकार को सूर्य नहीं नष्ट करते और उसको दूसरा कोई देखता भी नहीं है। एकमात्र वह पिशाच ही उसका अनुभव करता है। माया का विकास कैसा है यह देखें ॥ ८२ ॥

पिशाच आदिकों की व्यवहारसिद्धि के लिए इन्धन आदि से अनुत्पन्नस्वरूपवाला तामस-मण्डल वैसे ही विद्यमान रहता है जैसे हम लोगों के प्रकाश के लिए अग्नि तथा सूर्य आदि का तैजसमण्डल विद्यमान है ॥ ८३ ॥

उल्लू के समान पिशाच आदि अपने स्वभाव से ही प्रकाश में निर्बल हो जाते हैं और अन्धकार में ओज की प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं यानी प्रबल हो जाते हैं। देखिये, यह कैसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

पिशाच योनि में उत्पन्न जीव की जाति का मैंने आपसे वर्णन कर दिया, जैसा कि आपने मुझसे पूछा था। पूछी गई बातों का अवश्य उत्तर देना ही चाहिए, यह व्यवस्थाओं का सम्प्रदाय है, इससे शून्य यह पिशाच जाति न थी। अर्थात् सुरलोकपालों के लोक में मैं पिशाचतुल्य हो गया, यह जो मैंने आपसे कहा था, उसी के प्रसङ्ग में आपने मुझसे पिशाच जाति के विषय में पूछ दिया था ॥८५॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पिशाचवर्णन प्रसंग से जगद् और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का चौरानबेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९४ ॥

९५

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्भूतपञ्चकवर्जितः ।
विहरन्नहमाकाशे पिशाच इव संस्थितः ॥१॥
न मां पश्यन्ति चन्द्रार्कशक्रा हरिहरादयः ।
न देवसिद्धगन्धर्वकिन्नरा नाऽप्सरोगणाः ॥२॥
नाऽऽक्रामन्ति मयाऽऽक्रान्ता न च शृण्वन्ति मद्वचः ।
इत्यहं मोहमापन्नो विक्रीत इव सज्जनः ॥३॥
अथ चिन्तितवानस्मि सत्यकामा इमे वयम् ।
पश्यन्तु मां सुरगणास्तेन तस्मिन् सुरालये ॥४॥
द्रष्टुं प्रवृत्ता मामग्रे वास्तव्याः सर्व एव ते ।
झटित्येव पुरं प्राप्तमिन्द्रजालद्रुमं यथा ॥५॥
अथ गीर्वाणगेहेषु सम्पन्नो व्यवहार्यहम् ।
यथास्थितसमाचारः स्थितो निःशङ्कचेष्टितः ॥६॥
यैरविज्ञातवृत्तान्तैर्दृष्टोऽहमजिरोत्थितः ।
वसिष्ठः पार्थिव इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥७॥
व्योमन्यादित्यरश्मिभ्यो दृष्टोऽहं यैर्नभोगतैः ।
वसिष्ठस्तैजस इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥८॥
वातात् समुदितो दृष्टो यैरहं गगनास्पदैः ।
सिद्धैर्वातवसिष्ठाख्यस्तैरहं समुदाहृतः ॥९॥
यैरहं सलिलाद् दृष्टः प्रोत्थितस्तैर्मुनीश्वरैः ।
उक्तो वारिवसिष्ठोऽहमिति मे जन्मसन्ततिः ॥१०॥
ततःप्रभृति लोकेऽहं पार्थिवः प्रथितः क्वचित् ।
अम्मयः क्वचिदन्येषां तैजसो मारुतः क्वचित् ॥११॥

९५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—तदनन्तर उस समय पञ्चभूतों से रहित केवल चिदाकाशमात्र शरीरधारी मैं पिशाच के समान आकाश में विहार कर रहा था ॥ १ ॥

उस समय मुझे न तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा हरि, हर आदि देख पाते थे और न सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ ही देख पाती थीं ॥ २ ॥

मैं पादन्यास, आरोहण आदि के द्वारा उनके ऊपर आक्रमण करता था, परन्तु वे मेरे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। वे लोग मेरा वचन भी नहीं सुन सकते थे, इसलिए मुझे मोह हो गया—मुझे पूर्वापरकर्तव्यता का कुछ भी प्रतिसन्धान न रहा। अतः उस समय में विक्रीत सज्जन के समान हो गया ॥ ३ ॥

अनन्तर मैंने विचार किया कि हम तो सत्यकाम हैं, इसलिए मैंने यह कल्पना किया कि ये देवगण मुझे देखें। मेरे सङ्कल्प करते ही देवलोकवासी उन देवताओं में सबके-सब ही, जो मेरे सामने रह रहे थे, नगर में प्राप्त इन्द्रजाल वृक्ष के सदृश मुझे देखने में शीघ्र ही प्रवृत्त हुए ॥ ४, ५ ॥

उन देवताओं के घरों में सर्वविध शङ्काओं से शून्य चेष्टावाला तथा यथास्थित अपने सब आचारों से सम्पन्न मैं सम्भाषण आदि के द्वारा व्यवहार शील हो गया। वहाँ उनके साथ अब मेरा कोई संकोच नहीं रह गया था ॥ ६ ॥

जिन महानुभावों को मेरा वृत्तान्त मालूम नहीं था, उन लोगों ने सर्वप्रथम मुझे आँगन में आविर्भूत हुआ देखा। अतः उस पृथ्वी से ही मेरी उत्पत्ति की कल्पना करते हुए उन सज्जनों ने पार्थिव वसिष्ठ नाम से लोकों में मुझे प्रसिद्ध कर दिया ॥ ७ ॥

मुझे आकाशवासी जिन महानुभावों ने आकाश में भगवान् सूर्यदेव की किरणों से निकला हुआ देखा, उन्होंने तैजस वसिष्ठ नाम से मुझे विख्यात किया ॥ ८ ॥

तथा मुझे आकाशवासी जिन सिद्धों ने वायु मण्डल से आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगों के द्वारा मैं वात वसिष्ठ कहा जाने लगा ॥ ९ ॥

जिन मुनीश्वरों ने मुझे जल से आविर्भूत हुआ देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम से पुकारा। इस प्रकार विभिन्न कल्पनाओं द्वारा मेरी यह जन्म परम्परा है अर्थात् जिन जिन महानुभावों ने जहाँ से मुझे जैसे निकलते देखा उन्होंने वैसे ही मेरे नाम और जन्म की कल्पना की ॥१०॥

तभी मैं लोकों में कहीं पार्थिव कहीं तैजस और कहीं पर मारुत वसिष्ठ नाम से लोगों से प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अथ कालेन मे तत्र तस्मिन्नेवाऽऽतिवाहिके ।
आधिभौतिकता देहे रूढा रूढान्तरेरिता ॥१२॥
यदेतदातिवाहित्वमाधिभौतिकता च खम् ।
द्वयमप्येकदेहात्म ततः कचति मे चितिः ॥१३॥
एवमात्म क्वचिद् व्योमकचनात्माऽप्यहं नभः ।
परमेव निराकारं युष्मास्वाकारवानपि ॥१४॥
जीवन्मुक्तो व्यवहरंस्तथाऽऽस्ते ब्रह्मखात्मकः ।
तथैवाऽदेहमुक्तोऽपि तिष्ठति ब्रह्ममात्रकः ॥१५॥
मम न ब्रह्मतापेता तादृग्व्यवहृतेरपि ।
असंभवादन्यदृशो युष्मदादिष्वहं त्वहम् ॥१६॥
यथाऽज्ञस्य स्वप्ननरे निर्जन्मनि निराकृतौ ।

अनन्तर काल पाकर मेरे उसी सूक्ष्म शरीर से आधिभौतिकता प्रादुर्भूत हुई, जो चिरकाल के अभ्यास से परिणत हुए मन से प्राप्त थी अर्थात् मन से ही प्राप्त की गई ॥ १२ ॥

अतिवाहिककता सूक्ष्मता और आधिभौतिकता ये दोनों ही चिदाकाशरूप ही हैं। चिदाकाश रूप से एक ही देहात्मा है, यही मैंने तत्त्वतः समझा है इसलिए हे श्रीरामचन्द्र जी मेरी चिति ही आत्मभाव से स्फुरित होती है, न कि देहात्मभाव से देहात्मभाव स्फुरित है ॥ १३ ॥

इस तरह कहीं आकाशादि पञ्चभूत रूप से स्फुरित होने पर भी मैं चिदेक स्वभाव निराकार परम चिदाकाश रूप ही हूँ।

लेकिन आप लोगों में उपदेशादि व्यवहार की सिद्धि लिए आकारवान् भी मैं दीखता हूँ ॥ १४ ॥

अर्थात् सदेह और विदेह मुक्त—ये दोनों एक ही रूप हैं।

विदेहमुक्त भी ब्रह्माकाश रूप से वैसे ही अवस्थित रहता है जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ ब्रह्माकाश रूप से स्थित रहता है ॥ १५ ॥

ब्रह्म से अन्य दृष्टि का संभव न होने से वैसा व्यवहार करते रहने पर भी मेरा ब्रह्मत्व नष्ट नहीं हुआ वैसे ही स्थित रही तथा आप जैसे सज्जनों के बीच उपदेश देने के लिए मैं वसिष्ठ देह स्थित हूँ ॥ १६ ॥

निराकार तथा जन्मशून्य स्वप्न के मनुष्य में अज्ञानी को जैसे आधिभौतिकता बुद्धि होती है वैसे ही मुझे तथा

आधिभौतिकताबुद्धिस्तथा मे जगतोऽपि च ॥१७॥
एवमेवाऽवभासन्ते सर्वं एव स्वयंभुवः ।
सर्गाश्च च तु जायन्ते प्रयाता इव चोदिताः ॥१८॥
एव सोऽहमिहाऽऽकाशवसिष्ठः पुष्टतामिव ।
गतोऽद्य स्वात्मनाऽभ्यासाद्भवतां वा भवत्स्थितिः ॥१९॥
आकाशात्मान एवैते सर्वं एव स्वयंभुवः ।
यथात्वे तन्मनोमात्रमिमे सर्गास्तथैव हि ॥२०॥
अहमादिरयं सर्गस्त्वपरिज्ञानदोषतः ।
वेताल इव बालानां गतो वो वज्रसारताम् ॥२१॥
परिज्ञातस्तु कालेन स्वल्पेनैवोपशाम्यति ।
वासनातानवात्स्नेहो बन्धौ दूरगते यथा ॥२२॥

अन्य जगत् को भी होती है ॥ १७ ॥

इसी तरह ब्रह्मा के शरीर तथा तत्कृत सर्ग जो जगत् तथा अन्य लोगों को उदित हुए—जैसे अवभासित हो रहे हैं वे सब के सब पर की दृष्टि से ही आधिभौतिक हैं। वस्तुतः वे नहीं हैं, वे तो कभी उत्पन्न ही नहीं होते ॥१८॥

वह मैं आकाशवसिष्ठ हूँ, आज यहाँ अपने मन के अभ्यास से ही परिपुष्टता को प्राप्त हुआ। अथवा आपके मन के अभ्यास से आपकी बुद्धि के अनुसार यह मेरी भौतिकदेह स्थिति है ॥ १९ ॥

मेरे ही समान ब्रह्मा की दृष्टि में आये जितने सर्ग हैं, वे सब के सब ब्रह्माकाशात्मक ही हैं जैसे स्वयं ब्रह्माजी मनोमात्र हैं वैसे ही उनकी सब सृष्टि भी है। अतः परीक्षक दृष्टि से यह सब जगत् मनोमात्र ही हैं अर्थात् मेरी अपनी दृष्टि से जैसे यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक है वैसे ही हिरण्यगर्भ की अपनी दृष्टि से भी यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक ही है ॥ २० ॥

'अहम्', 'त्वम्', जगत् आदि सारी सृष्टि अपरिज्ञान के दोष से आप अज्ञ जनों की दृष्टि में वज्र के तुल्य ऐसे ही दृढ़ता को प्राप्त हो गई है जैसे कि बालकों की दृष्टि में वेताल ॥ २१ ॥

दूर गये हुए स्वजन में जैसे काल पाकर वासना कम हो जाने से स्नेह उपशान्त हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ रूप में जब यह संसार अच्छी तरह परिज्ञात हो जाता है तब यह थोड़े ही समय के बाद उपशांत हो जाता है ॥ २२ ॥

घनत्वमहमासाद्य तथा सर्वस्य शाम्यति।
परिज्ञाता यथा स्वप्ननिधेरादेयभावना ॥२३॥
शाम्यन्ति संपरिज्ञाताः सकला दृश्यदृष्टयः।
यथा मरुनदीवेगवारिग्रहणबुद्धयः ॥२४॥
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः।
एतदासाद्यते नित्यं किमेतावति दुष्करम् ॥२५॥
संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः॥२६॥
भोगाभोगः किलाऽयं यः स जीवन्मुक्तबुद्धिना।

ज्ञान होने पर अहङ्काररूप स्थूलता सबकी ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि भली-भाँति ज्ञात हो जाने पर स्वाप्निक धन में उपादेयता की वासना ॥ २३ ॥

ये समस्त दृश्य दृष्टियाँ भली-भाँति ज्ञान हो जाने पर ऐसे बिलकुल शान्त हो जाती हैं, जैसे मरुभूमि की नदी के वेग में जलग्रहण की बुद्धियाँ ॥ २४ ॥

महारामायण के सदृश शास्त्रों के एकमात्र अवलोकन से ही यह जीवन्मुक्तत्व सदा प्राप्त किया जा सकता है। इतने में क्या दुष्करता है ॥ २५ ॥

संसार में अधिक आसक्ति के कारण जो अध्यात्मशास्त्र पराङ्मुख रहता है, उसकी निन्दा करते हैं—

जिस प्राणी की बुद्धि संसारवासनावश देहेन्द्रिय-भोग्यादिरूप अवस्तु स्वभाव में संसक्त रहती है। मोक्ष-विषय में जिसकी आकांक्षा नहीं होती वह प्राणी कुत्ता है अथवा कीट है, मनुष्य नहीं है क्योंकि जैसी अपवित्रता तथा भोगों में आसक्ति कुत्तों तथा कीट-पतङ्गों में पायी जाती है वैसे ही अपवित्रता एवं भोगों में आशक्ति उस प्राणी में भी विद्यमान है ॥ २६ ॥

[जैसे अत्यन्त पवित्र हविः पुरोडाशादिरूप ही अन्नदेव, द्विज आदि खाते हैं तथा उच्छिष्ट, पुरीष आदि अपवित्र पदार्थ कुत्ते एवं कीट, पतङ्ग आदि सब खाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त महानुभाव लोग शुद्धचिन्मात्रानन्दस्वरूप शास्त्रादि भोगों का उपभोग करते हैं, किन्तु जो मूर्ख हैं वे लोग अत्यन्त अपवित्र विषयरूप भोग का उपभोग करते हैं।]

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन्मुक्तबुद्धि पुरुष द्वारा उपयुक्त हो रहा भोगों का समूह कैसा होता है तथा अन्यथा वस्तु-वेदनरूप मौर्ख्य का सेवन करनेवाला जो मूर्ख प्राणी है

कीदृशो भुज्यमानः स्यात्कीदृक्स्यान्मौर्ख्यसेविना ॥२७॥
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः।
अन्तःशीतलतोदेति परार्थ्येषु हिमोपमा ॥२८॥
मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः संतप्तचित्तता।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढ़ता ॥२९॥

अयं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतः
परस्परं स्त्रीधनलोलुपो जनः।
यथार्थसंदर्शनतः सुखी भवे-
न्मुमुक्षुशास्त्रार्थविचारणादितः ॥३०॥

उसके द्वारा उपयुक्त हो रहा भोग कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिए ॥ २७ ॥

किञ्च, अज्ञ प्राणियों के भोग्यार्थों में (भोग्य पदार्थों में) अग्नि की तरह तृष्णा, क्रोध, लोभादिरूप सन्ताप ही ही उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रों का परिशीलन करने वाले विद्वानों को तो समस्त पदार्थों में सर्वोत्कृष्ट अन्तः-शीतलता प्रादुर्भूत होती है, यह एक दूसरी विशेषता है।

एकमात्र महारामायण-जैसे शास्त्रों के अवलोकन से ज्ञानियों को समस्त पदार्थों में हिमसदृश सर्वोत्कृष्ट अन्तः-शीतलता प्रादुर्भूत होती है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! शीतलचित्तता यानी चित्त का शीतल होना मोक्ष है तथा सन्तप्तचित्तता यानी चित्त का सन्तप्त होना ही बन्ध है। परन्तु ऐसे भी मोक्ष में संसार का अभिलाष नहीं होता। अहो संसार की मूढ़ता कैसी आश्चर्यमयी है ॥ २९ ॥

यह प्राणी स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है। एकमात्र यही कारण है कि परस्पर युद्ध, चोरी, हरण आदि से भी स्त्री तथा धन आदि के सम्पादनों में यह लोलुप है। यह नानाविध भ्रान्ति के सन्तापों से जल रहा प्राणी मुमुक्षुशास्त्रों के अर्थों के विचारपूर्वक निदिध्यासन आदि उपायों से यथार्थ वस्तु के अर्थात् आत्मा के सन्दर्शन से ही सन्तापशून्य पूर्णानन्दरूप होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार से विरक्त होकर प्राणी जब श्रुति आदि के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि से आत्मा तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है तब सर्वविध सन्तापों से शून्य सुखी हो जाता है—आनन्दघनपरब्रह्मपरमात्मस्वरूप हो जाता है ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम। श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणोरैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥९५॥

श्री वाल्मीकि जी ने कहा—मुनि जी के इतना कहने पर दिन बीत गया। सूर्य भगवान् अस्ताचल को चले गये। इधर मुनियों की सभा भी सायंकाल के कृत्य के लिए स्नान करने चली गई और रात बीतने पर भगवान् सूर्य की किरणों के साथ फिर मुनियों की सभा आकर जम गई ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के देवदूतोक्त मोक्षोपायनिर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध में पिशाचवर्णन प्रसंग से जगत् और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का पंचानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९५॥

९६

वसिष्ठ उवाच

पाषाणाख्यानमेतत्ते कथितं कार्यकोविद।
अनयेमाः स्फुरद्दृष्ट्या सृष्टयो नभसि स्थिताः ॥१॥
न च स्थितं किंचनाऽपि क्वचनाऽपि कदाचन।
स्थितं ब्रह्मघने ब्रह्म यथास्थितमखण्डितम् ॥२॥
ब्रह्म चिन्मात्रकं विद्धि तद्यथा स्वप्नदृष्टिषु।
पुरं भवन्निजात्रूपान्न कदाचन भिद्यते ॥३॥
स्वयंभूत्वसमापत्तौ तथा दृश्यव्यवस्थितौ।
स्वरूपमजहत्त्वेव चिदाकाशमजं स्थितम्॥ ॥
न स्वयंभूर्न च जगन्न स्वप्नपुरमस्त्यलम्।
स्थितं संविन्महादृष्ट्या ब्रह्म चिन्मात्रमेतया ॥५॥
यथा पुरं भवत्स्वप्ने चिद्रूपं स्वात्मनि स्थितम्।
अखण्डमेवमासृष्टेरामहाप्रलयस्थितेः ॥६॥

९६

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे कार्यज्ञ श्रीरामचन्द्र जी! आपसे मैंने यह पाषाणोपाख्यान कहा। पाषाणाख्यायिका से जो विज्ञान दृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही आप निश्चय कीजिये कि सभी सृष्टियाँ चिदाकाश में या शून्यता में ही स्थित हैं ॥ १ ॥

किसी भी काल में कहीं भी कुछ भी वस्तु स्थित नहीं है, किन्तु अखण्ड यथावस्थित ब्रह्म ही चैतन्यानन्दघनरूप स्वभाव में स्थित है और कुछ नहीं है ॥ २ ॥

राघव, आप ब्रह्म को केवल चेतन रूप ही जान लीजिये। वह अपने असली स्वभाव से कभी भी ऐसे ही च्युत नहीं होता जैसे कि आत्मा स्वप्न में नगर रूप होता हुआ भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता, इससे विवर्त का लक्षण यही निकला कि स्वरूप से च्युत न हुए पदार्थ की अन्यरूप से प्रतीति विवर्त है। यह लक्षण जगत् में प्रसिद्ध ही है अर्थात् जगत् चैतन्य मात्र का विवर्त है, यह सबको अपने स्वप्न के अनुभव से सिद्ध है ॥ ३ ॥

चिदाकाश ब्रह्म समष्टिजीव के रूप में चाहे सूक्ष्म उपाधि को प्राप्त करे चाहे स्थूल दृश्यरूप उपाधि को प्राप्त करे, उभयथापि अपना निर्विकार स्वरूप त्यागे बिना ही स्थित है अर्थात् जैसे स्वप्न आत्मा का विवर्त है, वैसे ही समस्त जगत् ब्रह्मात्मा का विवर्त, यह जानना चाहिए ॥ ४ ॥

न तो समष्टि हिरण्यगर्भ की स्थिति है, न जगत् की स्थिति है, न स्वप्न-नगर की ही असली स्थिति है, किन्तु इस परिपूर्ण आत्मदृष्टि से केवल चिन्मात्र ब्रह्म की ही स्थिति विद्यमान है ॥ ५ ॥

सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त की अवस्था तक जगद्रूप होकर भी ब्रह्मरूप चैतन्य अपने स्वरूप वैसे ही स्थित है जैसे स्वप्न में नागरादिरूप होकर भी चिन्मय आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है ॥ ६ ॥

हेमहेमाश्मनोः स्वप्नपुरचेतनयोर्यथा ।
भेदो न संभवत्येवं न भेदश्चितिसर्गयोः ॥७॥
चितिरेकाऽस्ति नो सर्गो हेमाऽस्ति न तद्रूमिका ।
स्वप्नाचले चिदेवाऽस्ति न तु काचन शैलता ॥८॥
चिदेव शैलवद्भाति यथा स्वप्ने निरामया ।
तथा ब्रह्म निराकारं सर्गवद्भाति नेतरत् ॥९॥
चिन्मात्रमिदमाकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
महाकल्पसहस्रेषु नोदेति न च शाम्यति ॥१०॥
चिदाकाशो हि पुरुषश्चिदाकाशो भवानयम् ।
चिदाकाशोऽहमजरश्चिदाकाशो जगत्त्रयम् ॥११॥

जैसे सुवर्ण और सुवर्ण-पत्थर का = सुमेरु पर्वत पर सुवर्णपत्थर प्रसिद्ध हैं अथवा स्वप्न-नगर और स्वप्न-द्रष्टा आत्मा का परस्पर कभी भेद नहीं हो सकता चिति और सृष्टि का भी परस्पर कभी भी वैसे ही भेद नहीं हो सकता अर्थात् जितनी सृष्टियाँ हैं, उन सबका जो अनुभव होता है, उसमें चिति की बराबर अनुवृत्ति होती है, उससे भी यह निश्चय होता है कि चिति ही जगत् के रूप से स्थित है ॥ ७ ॥

जो भी कुछ है, वह केवल चिति ही है, सृष्टि नहीं, हेम के विकार कटकादि स्थल में जैसे वास्तव में सुवर्ण ही है, कटकादि नहीं वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। स्वप्न-पर्वतस्थल में क्या है ? चिति ही तो स्वप्नपर्वत है, उसको छोड़कर दूसरा कोई पर्वत का रूप वहाँ नहीं रहता ॥ ८ ॥

निराकार विकाररहित ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में भासमान होता है, दूसरा नहीं जैसे स्वप्न में एकमात्र निर्विकार आत्मचिति ही पर्वत के सदृश भासमान होती है, यह वैसे ही जानिए ॥ ९ ॥

चिन्मात्र निर्मल एवं निर्लेप आकाशरूप यह आत्मा नाश-रहित, जन्म-रहित तथा वृद्धि आदि विकारों से वर्जित है, अतः हजारों महाकल्पों में भी यह न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है ॥ १० ॥

जीवरूपी पुरुष चेतनरूप निर्मल आकाश ही है, अतः ये आप चिदाकाशरूप हैं, मैं अजर चिदाकाशरूप हूँ और ये तीनों जगत् भी निराकार चिदाकाश रूप हैं ॥ ११ ॥

चिदाकाशं वर्जयित्वा शवमेव शरीरकम् ।
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसौ चिदाकाशो न शाम्यति ॥१२॥
अतो न किंचिन्म्रियते न च किंचन जायते ।
चित्त्वात्ततश्चित्कचनं जगदित्यनुभूयते ॥१३॥
चिन्मात्रपुरुषो जन्तुर्म्रियते यदि नाम वा ।
ततोऽमरिष्यत्तत्पुत्रो निःसन्देहं पितुर्मृतौ ॥१४॥
एकस्मिन्प्रमृते जन्तावमरिष्यंस्तु सर्वदा ।
एवं एव जनाः शून्यमभविष्यन्महीतलम् ॥१५॥
न चाऽद्यापि मृतं राम चिन्मात्रं कस्यचित्क्वचित् ।
न च शून्या स्थिता भूमिस्तस्माच्चित्पुरुषोऽक्षयः ॥१६॥

यदि शरीर में चिदाकाश न रहे तो वह निर्जीव ही हो जायगा। यह चिदाकाश काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता और न नष्ट ही किया जा सकता है, अर्थात् आत्मा छेदन, ज्वलन एवं नाश इन सबका अविषय है ॥ १२ ॥

इन सब कारणों से न कुछ मरता है और न कुछ उत्पन्न होता है। चिति में प्रकाशन स्वभाव है, इसी से चित्प्रकाश ही जगत् के रूप में भासमान होता है ॥ १३ ॥

यदि चेतनमात्र स्वरूप जीव का मर जाना ही मान लिया जाय, तो पिता के मर जाने पर उसका पुत्र भी मर जायगा, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पिता पुत्र तो एकरूप ही हैं, भिन्न नहीं है, इसलिए चेतनात्मा जीव नहीं मरता, यही मत निश्चित है अर्थात् चिति का मरण या भेदन मानने में कोई प्रमाण नहीं है और यदि मानोगे तो सभी का मरण हो जायगा ॥ १४ ॥

यदि एक प्राणी के मरने पर सदा ही सब जन्तु मर जाते, तो ऐसी स्थिति में सारा भूतल जनों से रहित शून्य ही हो जाता, अतः आत्मा मरता नहीं अर्थात् एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में स्थित है इस श्रुतिसिद्धान्त के अनुसार भूतात्मा का मरण मरने पर सब प्राणी मर जायँगे ॥ १५ ॥

आज तक किसी भी स्थान में किसी का भी चिन्मात्र-रूप मरा नहीं है और चेतन से शून्य भूतल भी किसी समय नहीं रहा है, इसलिए पुरुषात्मा चेतन को अनश्वर ही समझें ॥ १६ ॥

एकं चिन्मात्रमेवाऽहं न शरीरादयो मम।
इति सत्यनुसन्धाने क्व जन्ममरणादयः ॥१७॥
अहं चिन्मात्रममलमित्यात्मानुभवं स्वयम्।
अपहन्त्यात्महन्तारो निमज्जन्त्यापदर्णवे ॥१८॥
चिदहं गगनादच्छा नित्याऽनन्ता निरामया।
किं जीवितं मे किंवाऽपि मरणं वा सुखासुखे ॥१९॥
व्योमात्मचेतनमहं के शरीरादयो मम।
इत्यात्महाऽपह्नुतेऽन्तर्योऽनुभूतं धिगस्तु तम् ॥२०॥
चिदाकाशमहं स्वच्छमनुभूतिरिति स्फुटा।
यस्याऽस्तमागता मूढं तं जीवन्तं शवं विदुः ॥२१॥
अहं वेदनमात्रात्मा कानि देहेन्द्रियाणि मे।
लब्धात्मानमिति स्वच्छं प्रविलुम्पन्तिनाऽऽपदः ॥२२॥
चिन्मात्रं शुद्धमात्मानं योऽवलम्ब्य स्थिरः स्थितः।
नाऽऽधयस्तं विलुम्पन्ति महोपलमिवेषवः ॥२३॥
चित्त्वं स्वभावं विस्मृत्य बद्धास्था ये शरीरके।
तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥२४॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च देहोऽहमिति भावनात्।
नश्यत्युदेत्येतदेव चिदेवाऽहमिति स्थितेः ॥२५॥
चिदाकाशमहं शुद्धं के मे मरणजन्मनी।
एवं स्थिते स्युः किंनिष्ठा लोभमोहमदादयः ॥२६॥
चिदाकाशादृते देहान् योऽन्यत्सारमवाप्नुयात्।
तस्मै तद्युज्यते वक्तुं सन्ति लोभादयस्त्विति ॥२७॥

मैं एकमात्र चेतनात्मस्वरूप ही हूँ, मेरा शरीर आदि अनर्थों के साथ संसर्ग है ही नहीं—इस तरह का जब ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ अर्थात् इस स्थिति में चेतनात्मा के परिज्ञान से ही जन्म-मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ अर्थात् इस स्थिति में चेतनात्मा के परिजान से ही जन्म-मरणादिरूप अनर्थ की निवृत्ति सिद्ध हुई ॥ १७ ॥

मैं निर्मल चेतनमात्ररूप हूँ, इस तरह के आत्मा के अनुभव का जो पुरुष कुतर्कों से खण्डन करते हैं वे पुरुष आपदाओं के समुद्र में डूबते ही रहते हैं ॥ १८ ॥

मैं चेतनरूप हूँ, गगन से भी अति स्वच्छ हूँ, सनातन हूँ, व्यापक हूँ और सब तरह के विकारों से शून्य; इसलिए क्या मेरा जीना, क्या मरना और क्या सुख-दुःख ॥ १९ ॥

मैं आकाश के सदृश निर्मल निर्लेप केवल चेतनस्वरूप हूँ, ये शरीर आदि अनर्थ मेरे होते कौन हैं? इस तरह विद्वानों के द्वारा अन्तःकरण में अनुभूत अनुभव का जो अपने कुतर्कों के बल से खण्डन करता है, वह पुरुष अपनी आत्मा का ही हनन करता है, ऐसे पुरुष को हजार बार धिक्कार है ॥ २० ॥

मैं चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्मात्मा हूँ, इस तरह का विस्पष्ट अनुभव जिस पुरुष का नष्ट हो गया हो वह भले ही जीता हो, लेकिन उस मूढ को विज्ञजन मुर्दा ही जानते हैं ॥ २१ ॥

मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा हूँ, मेरे देह, इन्द्रिय होते कौन हैं? इस तरह के अपरोक्ष ज्ञान से आत्मा को प्राप्त करने वाले, अविद्यादि मलों से निर्मुक्त अतएव अतिविशुद्ध हुए पुरुष को मरण आदि आपदाएँ नष्ट नहीं कर पातीं ॥ २२ ॥

चिन्मात्ररूपी विशुद्ध आत्मा को पकड़कर जो पुरुष अचल बनकर स्थित है, उस महापुरुष को मानसिक पीड़ाएँ उस तरह छिन्न-भिन्न नहीं करतीं, जिस तरह महा पाषाण को बाण ॥ २३ ॥

जो पुरुष अपने चेतन स्वभाव को भूलकर तुच्छ शरीर में आस्था बाँधकर बैठे हैं, उन्होंने असली सोने को छोड़ कर राख को ही सोना समझ कर ग्रहण किया है, यही वास्तव में जानना चाहिए ॥ २४ ॥

मैं देहरूप ही हूँ, इस भावना से पुरुष का बल, बुद्धि और तेज नष्ट हो जाता है और मैं चेतनात्मा ही हूँ, इस ज्ञाननिष्ठा से उसका बल, बुद्धि और तेज उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है ॥ २५ ॥

मैं आकाश के सदृश अति स्वच्छ विशुद्ध परमात्मारूप हूँ, मेरा जन्म-मरण ही क्या? इस प्रकार की निष्ठा हो जाने पर पुरुष में लोभ, मोह आदि दोष रहेंगे ही कहाँ? क्योंकि वे आत्मा में तो रहते नहीं, इसलिए ज्ञानी पुरुष की वे क्या क्षति पहुंचायेंगे ॥ २६ ॥

चिदाकाश को छोड़कर दूसरे-दूसरे तुच्छ स्थूल आदि देहों को जो पुरुष अलग से सत्यरूप आत्मा समझ कर देखता है, उसी मूढ़ के लिए यह कहना उचित है कि लोभ आदि अनर्थ हैं ॥ २७ ॥

न छिद्ये न च दह्योऽहं चिन्मात्रं वज्रवच्चितिः।
न देही निश्चयो यस्य तं प्रत्यन्तकरस्तृणम् ॥२८॥
अहो नु मुग्धता ज्ञानदृष्टीनां यद्विदन्त्यलम्।
शरीरशकलाभावे नश्याम इति मोहिताः ॥२९॥
अहं चिन्नभ एवेति सत्ये भावे स्थिरे सति।
वज्रपातयुगान्ताग्निदाहाः पुष्पोत्करोपमाः ॥३०॥
चिन्मात्रममरं नाऽहं यन्नश्यामीति रोदिति।
अनष्ट एव तद्देहो जातापूर्वा खरोलिका ॥३१॥
इदं चेतनमेवाहं नाऽहं देहादिदृष्टयः।
इति निश्चयवान्योऽन्तर्न स मुह्यति कर्हिचित् ॥३२॥

मैं न तो छेदा जाता हूँ, न मैं जलाया जाता हूँ, मैं वज्र के सदृश दृढ़ चेतनमात्र स्वरूप हूँ, न मैं शरीर हूँ। इस प्रकार का निश्चय जिस महामति को है, उस महामति के प्रति यमराज भी तृण के सदृश तुच्छ हैं ॥ २८ ॥

हे भद्र ! बड़ा ही आश्चर्य का विषय है कि पण्डितों को भी मोह-व्यामोह देखा जाता है, इसीलिए वे शरीररूप एक जड़ टुकड़े का नाश उपस्थित हो जाने पर हम नष्ट हो रहे हैं, इस प्रकार मोहित होकर जोर से चिल्लाने लग जाते हैं ॥ २९ ॥

मैं चिदाकाश स्वरूप ही हूँ, इस प्रकार का परमार्थ सत्यरूप भाव जब स्थिर हो जाता है, तब वज्रपात और युगान्त के (प्रलय काल के) अग्निदाह भी फूलों की ढेरी से हो जाते हैं ॥ ३० ॥

मैं अमर चिदात्मा रूप नहीं हूँ, देह रूप हूँ, इसी से नष्ट हो रहा हूँ, इस प्रकार समझ कर पुरुष जो रोदन करता है, उसका वह रोदन तो आत्मा के नष्ट न होने पर ही होता है, इसलिए विवेकी दृष्टि से नट के सदृश रोदन विडम्बना एक परिहास का खेल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ॥ ३१ ॥

यह सदा अपरोक्ष रूप चेतन रूप ही मैं हूँ, देह आदि दृश्यरूप मैं नहीं हूँ, इस प्रकार के निश्चय से जिस पुरुष का अन्तःकरण पूर्ण है, वह महात्मा कहीं पर भी मोह में नहीं फँसता ॥ ३२ ॥

मैं चेतनात्मक आकाश हूँ, मेरे विनाश का कोई भी सटीक हेतु नहीं है, सारा जगत् चेतन-सत्ता से व्याप्त है। अतः तुम लोगों को यहाँ जन्म-मरण आदि का संशय ही नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

अहं चेतनमाकाशो नाशो मे नोपपद्यते।
चेतनेन जगत्पूर्णं केव संदेहिताऽत्र वः ॥३३॥
चेतनं वर्जयित्वाऽन्यत्किंचिद्भूयं जना यदि।
यदुच्यतां महामूढाः स्वात्मा किमपलप्यते ॥३४॥
तच्चेतनं चेन्म्रियते तज्जनाः प्रत्यहं मृताः।
ब्रूत किं न मृता यूयं तन्मृतं किल चेतनम् ॥३५॥
तस्मान्न म्रियते किंचिन्न च जीवति किंचन।
जीवामीति मृतोऽस्मीति चिच्चेतति न नश्यति ॥३६॥
चिच्चेतति यथा वा यत्तत्तथा साऽऽशु पश्यति।
आबालमेषोऽनुभवो न क्वचित्सा च नश्यति ॥३७॥

यदि चेतन के स्वरूप को छोड़कर और अन्य किसी जड़रूप पदार्थ बनकर मनुष्य प्रश्न करते हैं तो आप उनसे कहिए कि हे महामूढ़ ! अपनी आत्मा का अपलाप क्यों करते हो अर्थात् चेतन से अन्य हम लोग हैं, ऐसा जो कहते हैं, वे क्या चैतन्य युक्त होकर कहते हैं अथवा चैतन्य से शून्य होकर कहते हैं, पहला पक्ष लेते हैं, तो अपना चेतन-स्वभाव जानकर वैसा कहना ही नहीं बनता। यदि दूसरा पक्ष लेते हैं, तो जो चैतन्य से शून्य हैं, वे हम अचेतन हैं, इसका अनुभव या अपलाप, अधिक क्या कहें किसी का भी अपलाप नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

आत्मरूप चेतन यदि मरता हो, तो प्रतिदिन अर्थात् निरन्तर आत्मरूप जीव मरे हुए ही हैं, यह मानना होगा, फिर क्या आप लोग मरे हुए ही हैं, यह कहिए, क्योंकि चेतन को तो आप लोगों ने मृत ही माना अर्थात् यदि चैतन्य अपना मरण देखता है, यह माना जाय तो वह सदा ही अपना मरण देखा करेगा, ऐसी स्थिति में जी रहे पुरुषों को सदा ही मरण का अनुभव होता रहेगा ॥ ३५ ॥

इससे न कुछ मरता है और न कुछ जीता ही है। मैं जीता हूँ या मैं मरा हूँ, इस प्रकार चिति केवल भ्रान्ति का अनुभव करती है, वास्तव में वह मरती नहीं है अर्थात् इस प्रकार जब मरण ही अप्रसिद्ध है, तब तद्भिन्न जीवन की कल्पना व्यर्थ है ॥ ३६ ॥

चितिरूप आत्मा जिस प्रकार से जिस वस्तु का भ्रान्ति से अनुभव करता है, उसको उस प्रकार से तत्काल ही देख लेती है, यह बालक तक का अनुभव है, अतः चिति कहीं भी नष्ट नहीं होती अर्थात् अविनाशी चेतन के अनुसार ही

परिपश्यति संसारं परिपश्यति मुक्तताम्।
सुखदुःखानि जानाति स्वरूपात्तन्न भिद्यते ॥३८॥
अपरिज्ञातदेहात्तु धत्ते मोहाभिधां स्वयम्।
परिज्ञातस्वरूपात्तु धत्ते मोक्षाभिधां स्वयम् ॥३९॥
नाऽस्तमेति न चोदेति न कदाचन किंचन।
सर्वमेव च चिन्मात्रमाकाशविशदं यतः ॥४०॥
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम् ॥४१॥
यद्यद्यथा जगति चेतति चेतनात्मा
तत्तत्तथाऽनुभवतीत्यनुभूतिसिद्धम्।
दृष्टं विषामृतदृशेव पदार्थजातं
नाऽतोऽस्ति संविदविधेयमिति प्रसिद्धम् ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अमरत्वप्रतिपादनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥९६॥

ही सबको वस्तुओं का अनुभव होता है, उससे विरुद्ध प्रकार से नहीं ॥ ३७ ॥

चिति संसार देखती है, मुक्ति देखती है, और सुख दुःख भी जानती है, इतना होने पर भी अपने स्वरूप से कालभेद, देशभेद या वस्तुभेद द्वारा भिन्न नहीं होती ॥३८॥

चिति अपने असली स्वरूप को न जानने के कारण स्वयं मोह नाम धारण करती है अर्थात् संसार ग्रस्त हो जाती है और जब अपना असली रूप जान जाती है, तब मोक्ष नाम को स्वयं धारण कर लेती है अर्थात् मोक्षरूप बन जाती है ॥ ३९ ॥

किसी समय कोई कुछ भी न तो नष्ट होता है और न पैदा ही होता है, क्योंकि जो भी कुछ है, वह सभी आकाश के समान अतिविशद चैतन्य मात्र रूप आत्मा ही है ॥४०॥

ऐसी कोई चीज नहीं है, जो सत्य न हो या ऐसी कोई चीज नहीं है, जो झूठी न हो, क्योंकि अपनी-अपनी मति के अनुसार जिसने जैसा निश्चित किया, उसके सामने वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है, परन्तु यह वस्तु-स्थिति नहीं है अर्थात् इन सब बातों से निचोड़ यह निकला कि जगत् के नाना रूपों में सत्यता या असत्यता केवल अपने-अपने मन्तव्यों के अनुसार स्थित है, वास्तव में नहीं ॥ ४१ ॥

हे श्रीराम जी ! इस जगत् में पुरुष भ्रान्ति से जिस वस्तु को जिस रूप से कल्पना कर लेता है, उस वस्तु का उसी रूप से अनुभव करने लग जाता है, यह बात सर्वविदित है। इसलिए ये सब पदार्थ विषामृत दृष्टि के सदृश (अर्थात् विष को अमृत समझने के सदृश) कालादिवश अनित्यादि ज्ञानरूप संविद के अनुसार ही व्यवस्थित है, अतः कुछ भी वस्तु चिति रूप आत्मा से भिन्न है ही नहीं, यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण के मोक्षोपायनिर्वाणप्रकरण के उत्तरार्द्ध में अमरत्वप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का छियानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९६ ॥

९७

वसिष्ठ उवाच

संविन्मयत्वाज्जगतः स्वप्नस्य परमात्मनः।
ब्रह्माकाशतया सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥१॥
भ्रमस्य चाऽतिदृश्यत्वाददृश्यत्वान्महाचितेः।
मदशक्तिवदात्मेति सत्यताऽस्याऽपि युज्यते ॥२॥

९७

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—परमात्मा स्वप्न रूप जो यह जगत् है, वह चितिरूप तथा ब्रह्मरूप आकाशात्मक है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस स्थिति में सत्यरूप जगत् का ही सब अनुभव करते हैं, इसलिए कुछ भी असत्य नहीं है, यह कहा गया ॥ १ ॥

जगद्रूप भ्रम अत्यन्त ही दृश्य है और उसका अधिष्ठान महाचैतन्य अदृश्य है। सारांश यह कि रज्जु सर्प स्थल में रज्जु भी दृश्य है और साँप भी दृश्य है, दोनों दृश्य होने

असत्त्वादृश्यविश्रान्तेरलभ्यत्वान्महाचितेः ।
उपलब्धुरभावाच्च शून्यनाम्नीव सत्यपि ॥३॥

चिन्मात्रं पुरुषोऽकर्ता समेत्यव्यक्ततो जगत् ।
एवं दृष्टेः सत्यमेतदेवमर्थानुभूतितः ॥४॥

विवर्तो ब्रह्मणो दृश्यमित्येवंवादिनोऽपि सत् ।
मतमेवं स्वरूपाणामर्थानामनुभूतितः ॥५॥

परमाणुसमूहात्म जगदित्यपि सत्यतः ।

के कारण जब रज्जु का दर्शन होता है, तब सर्प का बाध हो जाने के कारण सर्प की असत्यरूपता हो जाती है। जगद् भ्रम में तो केवल जगद् भ्रान्ति देखी जाती है, परन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म तो देखा नहीं जाता, अतः रज्जु सर्प से यह जगत् विलक्षण है। जब यह वस्तुस्थिति हुई तब मदशक्ति के समान स्वयं अदृश्य होकर दृश्य भ्रम का हेतु बनकर कार्य रूप से ही आत्मा अपनी सत्ता प्रकट करता है, अतः जगत् का स्वरूप सत्य है, यह कथन युक्ति-सङ्गत है ॥ २ ॥

परमार्थ वस्तु में भी शून्यता के समान व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि संसार काल में सर्व दृश्य विश्रान्ति रूप मोक्ष प्राप्त रहता नहीं और उसके बिना अद्वितीय चिदात्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसी तरह मोक्ष काल में भी अन्तःकरण वाले प्रमाता जीव तथा उपलम्भक प्रमाण आदि का बाध हो जाने से अभाव है, इसलिए आत्मा की एक तरह से अप्रसिद्धि के समान स्थिति है, इसलिए वैसा कहा गया है ॥ ३ ॥

हे भद्र ! महाज्ञानी कपिल मुनि जी यह कहते हैं कि पुरुष चिन्मात्र है, वह कोई कार्य नहीं करता, उसी के भोग और मोक्ष के निमित्त सृष्टि प्रवृत्त होती है, यह सारा जगत् सुख-दुःख और मोहरूप है, इसलिए सत्त्व आदि तीन गुणों की साम्य अवस्था रूप मूल कारण अव्यक्त से (प्रधान से) प्रकृति से महत्त्व आदि के क्रम से यह सारी सृष्टि हुई है। कपिल जी का यह मत भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, यह निर्विवाद है ॥ ४ ॥

वेदान्तियों का जो मत है—यह सारा दृश्य वर्ग ब्रह्म का विवर्त है, वह भी सत् है। क्योंकि उस तरह विमर्श करने पर उसी तरह के समस्त पदार्थ अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

संवेद्यते यथा यद्यत्तत्तथैवाऽनुभूतितः ॥६॥

यथा दृष्टं तथैवेदमिह लोके परत्र च ।
नाऽसन्न सदिति प्रौढा सत्यमाध्यात्मिकी गतिः ॥७॥

बाह्यमेवाऽस्ति नाऽस्त्यन्यदित्यन्ये सत्यवादिनः ।
स्वामन्यक्षगणातीतं प्राप्नुवन्ति न ते यतः ॥८॥

अनारतविपर्यासदर्शनात् क्षणभङ्गधीः ।
युक्तैव तद्विदामाद्यं सर्वशक्ति हि तत्पदम् ॥९॥

[इसी प्रकार कणाद, गौतम, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, जैन आदि के मतों में जो यह माना गया है कि सारा जगत् परमाणुओं का समूह ही है, वह भी सत्य है, क्योंकि वैसी उनकी कल्पना उनके अनुभव के अनुसार ठीक ही है।]

जिन वादियों की कल्पना है कि यह जगत् परमाणुओं का समूह रूप ही है और वही यथार्थ रूप से अनुभूत होता है, वह भी सत्य है, क्योंकि उनको जिस-जिस पदार्थ के विषय में जैसा-जैसा अनुभव हुआ उस-उस अनुभव के अनुसार की गई उनकी कल्पना ठीक ही है ॥ ६ ॥

इस लोक और परलोक में जो कुछ देखा जाता है, वह वैसा ही है, न वह सत् है या न असत् ही है अर्थात् इन दोनों कोटियों में उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार प्रौढ़ दृष्टि-सृष्टिवादी लोग जो मन की कल्पना मात्र रूप जगत् की स्थिति मानते हैं, उनका भी ठीक ही है, क्योंकि उनका वैसा ही अनुभव है ॥ ७ ॥

इसी तरह जो दूसरे वादी अर्थात् चार्वाक हैं, वे कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूतों का ही यह जगत् है, दूसरा आत्मरूप नहीं है, यह भी उनका कथन सत्य है—वे भी सत्यवादी ही हैं, क्योंकि वे अपनी देह में चक्षु आदि इन्द्रियों से अगम्य आत्मा को, विमर्श करते हुए भी, देख नहीं पाते हैं या जान नहीं कर पाते हैं ॥ ८ ॥

जो क्षणिकवादी हैं, उनका जो यह कहना है कि प्रति क्षण में परिणाम को प्राप्त करने वाले पदार्थ में निरन्तर उलट-पुलट देखने में आता है, अतः सब पदार्थ क्षणिक ही हैं, यह भी उनका कहना सत्य है, क्योंकि उनकी बुद्धि (क्षणभङ्ग बुद्धि) के अनुसार वैसी स्थिति हो सकती है ॥ ९ ॥

कलविङ्कघटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम् ।
तथात्मसिद्धेर्म्लेच्छानां तद्देशेषु न दुष्यति ॥१०॥
समाः सन्तश्च विप्राग्निविषामृतमृतिष्वपि ।
भान्त्येवं तद्विदां सर्वमिदं सर्वात्मकं यतः ॥११॥
स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम् ।
अन्विष्टा याति नो प्राप्तिं बुद्धिमत्सर्वकर्तृता ॥१२॥

जैसे घड़े में बन्द बटेर घड़े का मुंह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बन्द देह जितना बड़ा जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है, वैसी ही जैनों की कल्पना है, यह भी सत्य है, इसी प्रकार यवन लोग मानते हैं कि जीव देह जितना ही बड़ा है उसका उत्पादन ईश्वर ने किया है। शरीर जहाँ गाड़ा जाता है, वही पर वह रहता है, कभी कालान्तर में ईश्वर उसके विषय में विचार करते हैं, तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है या स्वर्ग नरक में उसको छोड़ देते हैं, यह भी म्लेच्छों का मत युक्त ही है क्योंकि उनकी वैसी ही भावना है ॥ १० ॥

जो सन्त पुरुष हैं वे तो ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण, जन्म आदि सभी में जो कभी-कभी अत्यन्त विषम रूप धारण कर आते जाते रहते हैं, निरन्तर समान भाव ही रखते हुए देखे जाते हैं, यह भी ठीक है, क्योंकि जितनी भी वस्तु या सिद्धान्त स्थितियाँ हैं, वे सब यह अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म ही हैं, इसलिए सभी वादियों को अपना-अपना अभिमत सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

यह जगत् स्वभाव से ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट हो जाता है, जगत् का कोई भी कर्ता नहीं है, यों स्वभाव वादियों का जो मत है, वह भी युक्त ही है। इन स्वभाव वादियों के मत में यह दलील है कि यद्यपि घट, पट आदि स्थल में बुद्धिमान् कुलाल आदि कर्ता देखे जाते हैं, परन्तु वृष्टि, वायु आदि स्थल में खोजे जाने पर भी कोई कर्ता देखने में नहीं आता, इसलिए सब पदार्थों का एक बुद्धिमान् कर्ता हाथ लग सकता ही नहीं। असमय की वर्षा, उत्तम खेत में उत्पन्न तृण आदि, जो धान पैदा करने वाले खेतिहरों के अनिष्ट हैं, कर्ता के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते रहते हैं, वे अपने कर्ता की कल्पना सह नहीं सकते, क्योंकि सबका अनिष्ट करने वाला कोई है नहीं और न उसे अकाल वर्षण और पर खेत में तृण आदि के उत्पादन से प्रयोजन है, यह कल्पना की जा सकती है ॥ १२ ॥

एकः सर्वत्र कर्तेति सत्यं तन्मयचेतसाम् ।
सोऽयं निश्चयवान्सोऽत्र तदाप्नोतीत्यबाधितम् ॥१३॥
अयं लोकः परश्चाऽस्ति स्नानाग्न्यादि च नेतरत् ।
एतदेतादृशं सत्यं विद्धि भावितभावनम् ॥१४॥
अशेषं शून्यमेवेति बौद्धानामेतदेव सत् ।
लभ्यते तद्विचारेण यत्र किंचन नैव हि ॥१५॥

अङ्कुर आदि सब कार्यों का एक ही कर्ता है, इस प्रकार की कल्पना करने वाले तन्मय अन्तःकरण वाले वादियों का मत भी युक्त है, क्योंकि इस तरह एक कर्ता का निश्चय कर उपासना करने वाला अपने अन्तःकरण में तदुपास्य सर्वकर्ता एक परमात्मा को प्राप्त करता है। पूर्व वादी के सदृश उसे बाधित नहीं मानता। अकाल-वृष्टि और अच्छे खेत में तृण आदि सबके लिए अनिष्ट नहीं हैं और सब कर्मों के फलदाता ईश्वर दुष्कर्म फलरूप अनिष्ट का भी यदि कर्ता हो जाय, तो कोई दोष भी नहीं हो सकता अर्थात् पृथ्वी, अङ्कुर आदि सब कार्यों में एक ही कर्ता है, यों कल्पना जो कोई करते हैं, वह भी सत्य है, क्योंकि इस प्रकार के निश्चय वाले उपासकों को एक कर्ता ईश्वर की प्राप्ति, उसकी अनुकम्पा, वरदान आदि प्राप्त होते देखे जाते हैं ॥ १३ ॥

आस्तिकों के मत में जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है, अतः परलोकार्थियों के लिए तीर्थ-स्नान, अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं। इस तरह की उन आस्तिकों के द्वारा यह जो निर्धारित कल्पना है, वह भी सत्य ही है ॥ १४ ॥

समस्त प्रपञ्च शून्यात्मक ही है, इस प्रकार की बौद्धों की कल्पना है। उनकी यह कल्पना भी सत्य ही है, क्योंकि ऐसे विचार से उनको सर्वशून्यता हाथ लग ही जाती है। शून्यवाद में पदार्थों में अशून्यतापादक जब प्रमाण ही नहीं है, तब प्रमेय-शून्यत्वकल्पना कोई असम्भव है ही नहीं ॥ १५ ॥

वितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥१६॥
नेदं शून्यं न चाऽशून्यमित्यवस्तु न तद्विदाम् ।
सर्वशक्तिर्हि सा शक्तिर्न तद्विद्यत एव तत् ॥१७॥
तस्मात्स्वनिश्चये यस्मिन् यः स्थितः स तथा ततः ।
अवश्य फलमाप्नोति न चेद्बाल्यान्निवर्तते ॥१८॥
विचार्य पण्डितैः सार्धं श्रेष्ठवस्तुनि धीमता ।
स रूढो निश्चयो ग्राह्यो नेतरत्र यथा तथा ॥१९॥
संभवत्युत्तमप्रज्ञः शास्त्रतो व्यवहारतः ।
यो यत्र नाम तत्राऽसौ पण्डितस्तं समाश्रयेत् ॥२०॥

आत्मचिति एक चिन्तामणि-सी है और कल्पवृक्ष-सी है, इसलिए वह आकाशवत् निर्मल होती हुई भी अपने से ही अपने स्वरूप में जो भी अभीष्ट रहता है, उसे तत्काल ही सम्पादन करती है ॥ १६ ॥

यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार एक तृतीय अनिर्वचनीय प्रकार को माननेवाले अनिर्वचनीय वादियों का मत भी सत्य ही है, क्योंकि सर्वशक्तिरूप ब्रह्म की जो माया शक्ति न तो शून्यरूपा है और सत् (विद्यमान ब्रह्मरूपा) भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥ १७ ॥

इसलिए जिस किसी अपने निश्चय में दृढ़रूप से स्थित जो भी कोई हो, वह यदि चपलतावश उस निश्चय से हटे नहीं, तो उस-उस निश्चय के अनुसार अवश्य फल प्राप्त कर सकता है। अथवा अज्ञान के कारण अपने अभीष्ट निश्चय से न हटे, तो निश्चयानुसार अवश्य फल पाता है। इससे जब तक अज्ञान रहता है, तबतक अनेक सिद्धान्त सत्य हैं, अज्ञान के हट जाने पर आत्मज्ञान-काल में तो आत्मा ही सत्य ठहरता है, दूसरा नहीं ॥ १८ ॥

भद्र ! बुद्धिमान् पुरुष को सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय में विद्वानों के साथ विचार-विमर्श कर लेना चाहिए, फिर विचार के बाद जो भी दृढ़ निश्चय, उसी को ग्रहण करना चाहिए, दूसरे जैसे-तैसे निश्चय को ग्रहण नहीं करना चाहिए अर्थात् अविचारों से जिस किसी का सिद्धान्त मान लेना अच्छा नहीं ॥ १९ ॥

अध्ययन और सदाचरण से जिस देश में को भी उत्तम बुद्धि से युक्त हो, उस देश में वही पण्डित है, उसी का आश्रय लेना चाहिए ॥ २० ॥

सतां विवदमानानां सच्छास्त्रव्यवहारिणाम् ।
यः समाह्लादकोऽनिन्द्यः स श्रेष्ठस्तं समाश्रयेत् ॥२१॥
सर्व एवाऽनिशं श्रेयो धावन्ति प्राणिनो बलात् ।
परिनिम्नं पयांसीव तद्विचार्यं समाश्रयेत् ॥२२॥
कल्लोलैरुह्यमानानां नृणां संसारसागरे ।
अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव बिन्दवः ॥२३॥

श्रीराम उवाच

जगत्पूर्वं लतेवाऽपि विश्रान्ता वितते पदे ।
पूर्वापरविचारेण के पराभावदर्शिनः ॥२४॥

सत् शास्त्र के अनुसार व्यवहार करनेवाले, तत्त्व-बोधार्थवाद करनेवाले सज्जन पुरुषों के मध्य में भी सर्वश्रेष्ठ आह्लादकारक तथा निन्दनीय निषिद्धाचरणों से रहित हो, वह पण्डित है, बुद्धिमान् उसी का अवलम्बन करें ॥ २१ ॥

सभी पुरुष रात-दिन जोर-शोर से अपने निश्चय के अनुसार माने गये अभीष्ट पदार्थ की ओर ऐसे ही दौड़ते हैं जैसे कि नीचे की ओर जलराशि दौड़ती है और उसे प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें परम पुरुषार्थ का साधन कौन है, इसका विचार कर सत् शास्त्र एवं सद्गुरु का पुरुष को आश्रय लेना चाहिए ॥ २२ ॥

हे रामजी ! संसारसागर में मनरोधरूपी तरङ्ग परम्पराओं से बहे जा रहे मनुष्यों के दिन ऐसे अलक्षित रूप से व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकों के अग्रभाग पर लटके हुए जलबिन्दु अर्थात् सत्-शास्त्र और सद्गुरु दोनों का जल्दी से जल्दी आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वास योग्य नही ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—गुरुवर, अतिविस्तृत परम-ब्रह्मरूप पद में पहले से ही प्राणियों की भोग-तृष्णा जगद्-रूप हजारों वृत्तों के वितनों के जाल का विस्तार कर, लता के सदृश स्थित है। ऐसी स्थिति में पूर्वापर जगत्-स्वरूप अनर्थ के विचार तथा सारासार के विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान्, जिनका आपने कथन किया, कौन होंगे, अर्थात् ऐसे विद्वान् ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते।
येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव ॥२५॥

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चक्रावर्तविवर्तनैः।
सर्वे तृणवदुह्यन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ ॥२६॥

नष्टात्मसंस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम्।
देवा दिवि दवेनाद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥२७॥

पातिता मदसंपन्ना दानवा दानवारिभिः।
गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥२८॥

न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम्।
गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ॥२९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—देव, दानव, मनुष्य आदि हर एक जाति में कुछ श्रेष्ठ विद्वान् हैं, जिनका कि 'यो-यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियों में उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान् सूर्य के सदृश उन्हीं विद्वानों के प्रकाश से दिवस दिवसरूप होते हैं अर्थात् वस्तुतः ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदि में प्रयत्नपूर्वक खोजने से वैसे विद्वान् मिल सकते हैं ॥ २५ ॥

उन विद्वानों को छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागर में संसारचक्रों के आवर्तन-परावर्तन से ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृण के सदृश बहते रहते हैं ॥ २६ ॥

जिन देवताओं की आत्मा में निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्ग में भोगरूपी अग्नि की ज्वालाओं में ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्नि से पर्वत पर वृक्ष जलते रहते है ॥ २७ ॥

मद से चूर दानवशत्रु देवताओं के द्वारा नारायणरूपी गड्ढे में ऐसे गिराये गये हैं, जैसे कि बाँधने के खम्भे से रहित गज बड़े गड्ढे में गिराया गया हो ॥ २८ ॥

गन्धर्व लोगों की तो बात ही जाने दीजिए। वे तो गानरूपी मद्य में रात-दिन आसक्त रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञान का लेश भी दिखला नहीं सकते। हरिणों के सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याध के समीप वे जा रहे हैं ॥ २९ ॥

विद्याधरों में ब्रह्मविद्या की योग्यता है; इसलिए वे विद्या के आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकों की ओर वे

विद्याधराश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः।
स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नाऽऽदरम् ॥३०॥

यक्षा विक्षोभितभुवो दक्षतामक्षता इव।
दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥३१॥

दन्तिनामिव मत्तानां रंहसा हरिणाऽरिणा।
कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥३२॥

भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया।
धूमान्धकारानिलया ज्वालयाऽऽहुतयो यथा ॥३३॥

नागजालमृणालानि मग्नानि धरणीतले।
नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥३४॥

आदर नहीं रखते, केवल मोह में फँसकर भोगविद्याओं में ही रात-दिन पड़े रहते हैं—उन्हीं में मस्त रहते हैं ॥ ३० ॥

यक्षों की भी बात न्यारी है, वे मनुष्यों की निवास भूमि को क्षुब्ध किए हुए हैं, अपने को अविनाशी-सा समझते है यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदि के बलों से विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरों के ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं ॥३१॥

जो राक्षस हैं, उनका तो शत्रुभूत विष्णु के द्वारा पूर्व में अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्य में करेंगे। राक्षस काम, बल और शौर्य के कारण हाथी के सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं। इसलिए इनके प्रमाद का फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥ ३२ ॥

जैसे अग्नि में गिरी आहुतियाँ अपने को निरन्तर धूमयुक्त ज्वालाओं से जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियों को खा जाने की चिन्ता से, जो कि अज्ञानरूपी धूमान्धकार को वायु के सदृश क्रोध, हिंसा आदि की ज्वालारूप बना देती है, अपने को जले हुए ही देखते हैं अर्थात् पिशाच तो सदा भूख से ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरने की चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

यह पाताललोक में जो नागों का जालरूप विष-तन्तुओं का समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षों के मूल समूह के सदृश जड़ विवेकहीन ही है अर्थात् इसी तरह नागजाति में भी विवेक नहीं है ॥ ३४ ॥

विवरं शरणं येषां कीटानामिव भूतले।
तेषामसुरबालानां विवेकेषु कथैव का ॥३५॥

अल्पमात्रकणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम्।
पिपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥३६॥

सर्वासां भूतजातीनां व्यग्राणां व्यर्थदीर्घया।
क्षीबाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥३७॥

न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम्।
जलेऽगाधे निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥३८॥

नीयन्ते नियमाधूता मानवा मानवायुभिः।
काम्पिकैः स्फुटतापूताः किरारुनिकरा इव ॥३९॥

पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः।
दुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः पामरा इव ॥४०॥

कीटों के सदृश भूतल के छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकों के विवेक की तो कथा ही क्या यानी असुरों में तत्त्वज्ञान का जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥ ३५ ॥

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिका के समानधर्मा ही है, क्योंकि छोटे से कणों के लिए रात-दिन वे घूमा करते हैं अर्थात् बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न देवों से लेकर असुर तक के लोगों को जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरों के लिए तो क्या कहा जायेगा ॥ ३६ ॥

मद्यपियों के सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियों के दिन निरर्थक लम्बी-लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओं से व्यतीत होते जाते हैं, विवेक का नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥ ३७ ॥

विषयों में डूब रहे किसी पुरुष के भीतर निर्मल विवेक वैसे ही कभी स्पर्श नहीं करता जैसे अगाध जल में डूब रहे पुरुष का धूलि स्पर्श नहीं करती ॥ ३८ ॥

देह आदि में होनेवाले अभिमान एक प्रकार से प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओं के झकोरों से मनुष्य अक्रोध आदि नियमों से चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओं के अधीन हो जाते हैं। इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य। जैसे सूप चलाने वाले खेतिहरों के द्वारा धान्य को शुद्ध बनाने के लिए वह खरिहान में उड़ाया जाता है और उस। सार रहित धान्य को वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

जो योगिनियों का गण है, वह तामस भोगासक्ति रूप तालाब के दल-दल में जो कि सुरापान, रुधिरपान तथा मांस भोजन रादि रूप कीचड़ों से भरा है, पामरों के सदृश फंसा हुआ है, उनको भी विवेक की मात्रा नहीं है, यह समझना चाहिए ॥ ४० ॥

केवलं यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कवरुणानिलाः।
जीवन्मुक्ता हरिब्रह्मगुरुशुक्रानलादयः ॥४१॥

प्रजापतीनां सप्तर्षिदक्षाद्याः कश्यपादयः।
नारदाद्याः कुमाराद्याः सनकाद्याः सुरात्मजाः ॥४२॥

दानवानां हिरण्याक्षबलिप्रह्लादशम्बराः।
मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥४३॥

विभीषणाद्या रक्षस्सु प्रहस्तेन्द्रजिदादयः।
शेषतक्षककर्कोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥४४॥

ब्रह्मविष्ण्विन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुक्तदेहिनः।
मुक्तस्वभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥४५॥

मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः।
जीवन्मुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥४६॥

देवादि में यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु हरि, हर, ब्रह्मा, बृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि; प्रजापतियों में सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार; दानवों में हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि; राक्षसों में विभीषण आदि, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि; नागों में शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, इन्द्रलोक में निवास करने वाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं। इसी तरह कोई तुषित देवयोनि भेद सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं। ॥ ४१–४५ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ ! मनुष्यों में राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोड़ों राजा आदि में जीवमुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ ४६ ॥

भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
बोधान्वितानि विरलानि भवन्ति किन्तु ।
वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
कल्पद्रुमास्तु विरलाः खलु संभवन्ति ॥४७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
विवेकिविरलत्ववर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥९७॥

अनेक तरह के असङ्ख्य प्राणी चारों ओर दिशाओं में भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञान सम्पन्न बहुत ही विरले होते हैं, ठीक ही है, फलों, पल्लवों से युक्त वृक्ष होते तो असङ्ख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥४७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
विवेकिविरलत्व वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का सत्तानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९७॥

९८

वसिष्ठ उवाच

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः ॥१॥
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाऽऽवध्नन्त्याहरन्ति च ।
उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च ॥२॥
न नास्तिक्यान्न चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवेदिकाः ।
मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः ॥३॥
सङ्गादाह्लादयन्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥४॥
अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव ।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः ॥५॥
शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपरावराः ।
हेयोपादेयवेत्तारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥६॥

९८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्म में विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओं के लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोह की अल्पता ही जब तत्त्वज्ञों का लक्षण है, तब उनकी निर्दोषता में तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥

महात्मा तत्त्वज्ञानी न तो किसी से प्रसन्न होते हैं, न किसी पर क्रोध करते हैं, न किसी विषय में अभिनिवेश आसक्ति करते हैं, न खाद्य वस्तुओं का संग्रह करते हैं, न लोगों से उद्विग्न होते हैं और न लोगों को ही उद्विग्न करते हैं ॥२॥

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावना से जनित अभिमान प्रयुक्त हठ से न कष्टकारक वैदिक अनुष्ठान में निरत रहते हैं। उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं अर्थात् शरीर को अधिक क्लेश पहुँचाने वाले पारलौकिक वैदिक कर्मों में भी शुष्क वैदिक के सदृश हठ से प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते हैं ॥३॥

तत्त्वज्ञ लोग अपने सङ्ग से चन्द्र किरणों के सदृश अन्तःकरण को उल्लास युक्त बना देते हैं। करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मों का जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्यों से विवेक कर एक क्षण में ही सन्देह मिटा देते हैं ॥४॥

तत्त्वज्ञों के आचरण से कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं। बाहर से उनका आचरण सभी के सदृश होता है, परन्तु भीतर से वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥५॥

तत्त्वज्ञ शास्त्रों के अर्थों में बड़ा ही रस लेते है, उत्तम और अधम लोकों को जानते है, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भली भाँति जानते हैं तथा समय पर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥६॥

लोकशास्त्र के विरुद्ध आचरणों से सदा विरत रहते हैं, सज्जनों के बीच स्थिति में यानी सदाचरण में अत्यन्त

विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
अनावरणसौगन्ध्यैः परास्पदसुखाशनैः ॥७॥
पूजयन्त्यागतं फुल्ला भृङ्गं पद्मा इवार्थिनम् ।
आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥८॥
शीतलास्पदवत्स्निग्धाः प्रावृषीव पयोधराः ।
भूभृद्भङ्गकरं घोरा देशभङ्गदमाकुलम् ।
रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ॥९॥
उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ।
चन्द्रबिम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ॥१०॥
यशःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ।
पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ॥११॥
कल्लोलवहुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ।
लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ॥१२॥

रसिक होते हैं । उपदेश से हृदय कमल को खोल कर उसमें भरे गये ज्ञान के सौगन्ध्यों से तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादि से आये हुए अतिथियों की पूजा करते हैं । पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगत भ्रमर का आश्रयदान आदि से सत्कार कर रहे विकसित कमलों के सदृश लगते हैं । जनता के सन्तापों का अपहरण करने के कारण वे जनता को अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकाल के मेघों के सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यान के सदृश स्निग्ध होते हैं । तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओं के नाशक, देश को छिन्न-भिन्न करने वाले तथा दुर्भिक्ष आदि से जनित जनता के क्षोभ को तपस्या के प्रताप, सत्कर्मों के अनुष्ठान, साम आदि उपायों से ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्प को पर्वत ॥ ८, ९॥

नाना विध उत्तम गुणों से पूर्ण, चन्द्रबिम्ब के सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम भार्या के सदृश अनेक गुणों से पूर्ण शान्ताकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियों में उत्साह देते हैं और सम्पत्तियों में सुख पहुँचाते हैं ॥१०॥

यशोरूपी फूलों से सारी दिशाओं को निर्मल बनाने वाले, भावी उत्तम फल के हेतु तथा कोकिल के सदृश मधुरभाषण करने वाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥११॥

अज्ञानी राजा आदि के चित्त को एक महार्णव ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरह के कल्लोल ही बड़े-बड़े आवर्त हैं, व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त

वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ।
तच्च रोधयितुं शक्तास्तटस्थाः साधुपर्वताः ॥१३॥
आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ।
संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ॥१४॥
एभिश्चिह्नैस्तथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ।
आश्रयेतैकविश्रान्त्यै श्रान्तः संसारवर्त्मना ॥१५॥
यस्मादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ।
विना सत्सङ्गमन्येन पोतकेन न तीर्यते ॥१६॥
आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ।
इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ॥१७॥
एकोऽपि विद्यते यस्य गुणस्तं सर्वमुत्सृजन् ।
अनादृतान्यतद्दोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ॥१८॥

शिशिर पवन से विक्षिप्त तरङ्गों के व्याज से हेमन्त के सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हंस आदि के निवास स्थान पद्मवन को विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े-बड़े तरङ्ग हैं । उस महार्णव को उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकने में अत्यन्त समर्थ हैं ॥१२, १३॥

आपदाओं में, बुद्धिनाश में भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मरण आदि कल्लोलों में, व्याकुल देशों में तथा दुरन्त सङ्कटों में सज्जनों की सन्त ही गति हैं ॥१४॥

हे श्रीरामजी, इन लक्षणों से तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणों से उन उत्तम अन्तःकरण वाले महात्माओं का परीक्षण कर आप आत्मा में शान्ति प्राप्त करने के निमित्त उनका आश्रयण किजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्ग में भ्रमण करते-करते श्रान्त हो गये हैं ॥१५॥

यह संसाररूपी साँपों से भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्सङ्गरूपी जहाज को छोड़कर दूसरे किसी भी जहाज से नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्सङ्ग का आश्रयण करना ही होगा ॥१६॥

हमको आत्मा या सत्पुरुष के सम्बन्ध में विचार करने से क्या प्रारब्धवश जो भी कुछ समय पर हो जायगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा भीतर प्रमाद कर गर्तकीट के सदृश कभी भी पुरुष को नहीं बैठे रहना चाहिए ॥१७॥

मैंने अभी-अभी आपसे जिन उत्तम गुणों का वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसी में उपलब्ध हो

गुणान्दोषांश्च विज्ञातुमाबाल्यात्स्वप्रयत्नतः ।
यथासंभवसत्सङ्गशास्त्रैः प्रागिधयमेधयेत् ॥१९॥
दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।
स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्क्रमात् ॥२०॥
याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ।
यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ॥२१॥
एष सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ।
देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ॥२२॥
सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥२३॥
न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद्भवे-
द्भजेत साधून्विनयक्रियान्वितः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं
विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥२४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः सर्गः ॥९८॥

जाय, तो दूसरे गुणों की या उसमें विद्यमान अन्य दोषों की परवाह न कर उतने गुण के उद्देश्य से उस महात्मा का आश्रयण करना चाहिए ॥१८॥

गुण और दोषों को जानने के लिए बाल्यावस्था से लेकर अपने आप प्रयत्न करना चाहिए, अपने प्रयत्न से ही यथासंभव सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रों से पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥१९॥

यदि दोष का कुछ लेश होवे, तो उसका अनादर कर सज्जन की नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोष वाले पहले के परिजनों का क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥२०॥

उनका परिहार न करने पर शोधित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादि से कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्ति सुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोक में जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोक में इस प्रकार दोष परिजनों के अपरिहार में देखे जाते हैं ॥२१॥

यह जगत् का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही देश-कालवश जनता के दुरदृष्टों के कारण महोत्पातरूप से भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्र की लुब्ध (लोभी) अमात्यों के समर्थन से वसिष्ठजी की कामधेनु के हरण में प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर वैर की वृद्धि से जगत् में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥ २२ ॥

सब कार्यों को छोड़ कर सज्जनों का ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूप से इहलोक एवं परलोक दोनों का साधन है अर्थात् दोनों लोकों की प्राप्ति करता है ॥ २३ ॥

भद्र, किसी भी काल में सज्जन सद्गुरु से दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओं से युक्त होकर साधु पुरुषों की निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओं के पास जानेमात्र से विसरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवाले में ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलों की सुगन्ध तिलों में सम्बन्धमात्र से मिश्रित हो जाती है अर्थात् इस प्रकार सज्जनसमागम, गुणोपार्जनक्रम से जबतक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तबतक, बीच में कभी छोड़ना नहीं चाहिए ॥ २४ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूत द्वारा कहे गये मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में सज्जनसमागम प्रशंसा नामक कुसुमलता अनुवाद का अट्ठानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९८ ॥

९९

श्रीराम उवाच

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
मन्त्रौषधितपोदानतीर्थपुण्याश्रमाश्रयाः ॥१॥
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
कथं स्थिताः किमारम्भास्तेषां दुःखक्षयः कथम् ॥२॥

९९

श्रीरामजी ने कहा—हम मनुष्य-जाति के लोगों के दुःखक्षय के लिए तो शास्त्र, सत्सङ्ग, मन्त्र, ओषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रम में निवास आदि उपाय हैं; परन्तु कृमि, कीट, पतङ्ग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर

वसिष्ठ उवाच

सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च।
आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥३॥
भूतानामणुमात्राणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
किन्त्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वचलसंनिभाः ॥४॥
यथा विराट् प्रयतते बालखिल्यास्तथैव खे।
बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याऽहंकृतिजृम्भिताम् ॥५॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः।
शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥६॥

आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपाय से होगा, उपाय के अभाव में उनका जीवनयापन कैसे ? अर्थात् वे किस तरह जी सकते हैं ॥ १, २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इस संसार में जितने भी जीव हैं वे स्थावर हों, या जङ्गम हों, वे सब अपने-अपने योग्य भोगों के उचित सुखसत्ता में ही विश्राम किये रहते हैं और उसी से अपना-अपना जीवन भी धारण किये हुए हैं, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत्-योनियों में भोग्य जो विषयसुख की मात्रा है, वही तत्-तत् जीवों का महान् पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्रा से वे विश्रान्ति लेते हैं और उसी की आशा से अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥ ३ ॥

छोटे-छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनि के अनुसार हम मनुष्य जाति के लोगों की तरह ही सुख भोगने की इच्छाएँ रहती ही हैं, परन्तु हम लोगों को उन भोगों में एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करने में कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषों की अधिकता के कारण तथा विवेक की मात्रा के अभाव से उन भोगों में अधिक आस्था है और उनको पाने में उन्हें पर्वत के सदृश बड़े-बड़े विघ्नों का सामना भी करना पड़ता है ॥ ४ ॥

जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभाने की अनेक चेष्टाओं के द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशों के अग्रभाग के सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालक की मुट्ठी के छेद की अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाश में प्रयत्न करते हैं, कैसी अहङ्कार की महिमा है ॥ ५ ॥

एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाश में उत्पन्न होते हैं और वहीं पर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्न से तनिक भी हटते नहीं ॥ ६ ॥

पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
अस्मद्दिवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥७॥

त्रसरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः।
गमने व्यग्रता तस्य गरुडस्येव लक्ष्यते ॥८॥

अयं सोऽहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम्।
जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोच्चैर्गुणैः कृमेः ॥९॥

देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम्।
क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥१०॥

इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोग की आस्था बहुत है, ग्रास तथा निवास का सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओं से यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिका के लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जनप्रयत्न के लिए क्षण के सदृश पर्याप्त ही नहीं है अर्थात् कण आदि के उपार्जन में पिपीलिका आदि का अधिक प्रयत्न देखा जाता है ॥ ७ ॥

यह एक और नवीनता सुनिये—तिमि नाम के अत्यन्त छोटे त्रसरेणु के बराबर के जीव गमन में ऐसी व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड की गमन में व्यग्रता दीखती हो ॥ ८ ॥

यह, वह मैं, यह मेरा है, वह मेरा है, इस तरह कल्पित अध्यासरूप जगत् जैसे मनुष्यों के लिए अनेक ऊँचे गुणों के कारण अत्यन्त आस्था का भाजन है, ठीक वैसे ही कृमि के लिए भी है अर्थात् देह में और देहभोग्य वस्तुओं में अहंममता का अध्यास मनुष्य और कृमि दोनों को एक सा है ॥ ९ ॥

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयों की प्राप्ति के निमित्त व्यग्र बुद्धि से जैसे हम लोगों का जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटों का भी उक्त व्यग्र बुद्धि से जीवन क्षीण हो जाता है अर्थात् विषयों की आस्था के कारण आयु का जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदि का समान है ॥ १० ॥

पादपाः किंचिदुन्निद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥११॥
शरीरनाश एवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत् ।
अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥१२॥
जन्तो द्वीपान्तरं यादृग्विक्रीतः परिपश्यति ।
पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥१३॥
अस्माकमिव संसारस्तिरश्चां सुखदुःखदः ।
पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥१४॥
हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः ।
पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥१५॥

वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ-कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही रहते हैं यानी घनी नींद से सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्यों के जैसे अपने-अपने उचित विषयभोग में निद्रा एवं जागरण—दोनों से युक्त रहते हैं ॥ ११ ॥

शरीरकाल में सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगों के सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन सुख पैदा करनेवाला है ॥१२॥

पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थों को वैसे ही उदासीनता से मुग्धदृष्टि से देखते हैं जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीप को उदासीनता से मुग्धदृष्टि होकर देखता है ॥१३॥

तिर्यग्योनि पशुओं को भी वैसे ही है जैसे हम मनुष्यजाति के जीवों को संसार सुख-दुःख देनेवाला है, केवल भेद इतना है कि उत्कर्षापकर्ष बुद्धि के कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥१४॥

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मन से भीतर सुख दुःख से खींचे जाते हैं और बाहर से नाथ रज्जु के द्वारा नासिका प्रदेश से खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनता से खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करने में समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरह के द्वीपान्तर में विक्रीत पामर जन भी होते हैं, इसलिए दोनों की समता है ही ॥१५॥

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निन्द्रादेवी की गोद में अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो

सुप्तानां यादृगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुद्दामवेदनम् ॥१६॥
यादृगस्माकभीत्यर्थक्रमसंसारपातिनाम् ।
पदार्थवेदनं तादृक्तिरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥१७॥
आह्लादमात्रसौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥१८॥
रागद्वेषभयाहारमैथुनोत्थं सुखासुखम् ।
तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥१९॥
ऋते पदार्थभूतार्थभविष्यद्वस्तुबोधतः ।
शेषं बभ्रुहिगोमायुगजादीनां नृभिः समम् ॥२०॥

सुखशून्य नींद में हमें जैसे महाक्लेश का अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेश का अनुभव पेड़, पौधे, अंकुर आदि को होता है। श्लोक में अंकुर का ग्रहण अति सुकुमार होने के कारण उसे कृमि, कीड़ों आदि के काटने पर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करने के लिए है ॥१६॥

पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनि वाले जीवों को भी वैसे ही सदा होता है—जैसे देशविप्लव के समय पलायन द्वारा धावन आदि गति के लिए कुश, काँटे, जली हुई बालू पर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतों पर पड़े हुए हम लोगों को चारों ओर से भय की आशंकों से पूर्ण पदार्थज्ञान होता है ॥१७॥

यदि मन विकल्प-ज्ञान से शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्द में और भोजन, निद्रा, मैथुन आदि से होनेवाले सुखों में इन्द्र और कोड़े की मन की प्रसन्नतारूप सौम्यता एक-सी है। केवल विकल्प ही दोनों के लिए इन्द्र और कीड़े के लिए हिमालय के समान अलङ्घ्य है ॥१८॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्री-संग जनित सुख दुःख तथा जन्म-मरण के समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़े का समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१९॥

शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थों के सिवा शेष ज्ञान नकुल, साँप, सियार, हाथी आदि का मनुष्य का-सा ही है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है यानी नकुल, साँप, सियार, हाथी आदि को शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, मनुष्य को हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्य को है वैसा ही नकुल आदि को भी है ॥२०॥

निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः।
स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥२१॥

आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्थास्तथाऽद्रयः।
जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किंचित्कदाचन ॥२२॥

अखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भूरुहाम्।
द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात् खमेवैकमतो जगत् ॥२३॥

परिज्ञातं जगद्यावदपरिज्ञानसंयुतम्।
न त्वं नाऽहं न चैवाऽस्ति नास्ती न च भविष्यति ॥२४॥

यथास्थितं सदैवेदं मौनमेव शिलाघनम्।
अनाद्यन्तप्रविच्छिन्नमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥२५॥

पूर्वं सर्गाद्यथैवाऽऽसीत्तथैवैकं समस्थितम्।
भविष्यत्यधुनाऽनन्तं कालमेवं तथैव च ॥२६॥

नैवाऽऽत्मता न परता न जगत्ता न शून्यता।
न मौनता न मौनित्वं किंचिन्नेहोपपद्यते ॥२७॥

त्वं यथास्थितमेवाऽऽस्व यथास्थितमहं स्थितः।
सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहाऽस्ति किंचन ॥२८॥

परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे वद।
विद्यते किल तच्छान्तं चिद्व्योमाऽच्छमनामयम् ॥२९॥

गाढ़ निद्रावाले वृक्षादि की अत्यन्त मूढभाव से जो अपने में स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाश का अनुभव करते हुए सदा समाधि में स्थित हैं ॥२१॥

अर्थात् इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रा में मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्ता में स्थित हैं, जंगम जीवों में तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि से जगत् की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। हां, कतिपय अज्ञानी जंगम जीवों की दृष्टि से जगत् की कल्पना हो सकती है। किन्तु उनकी दृष्टि उक्त बहुत से लोगों की दृष्टि से विरुद्ध जगत्सत्ता की सिद्धि नहीं कर सकती, वृक्ष आदि गाढ़ निद्रा में है और पर्वत आदि अपनी सत्ता में स्थित हैं। जो जंगम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, मोक्ष आदि अवस्थाओं में चिदाकाश-रूप ही हैं। जंगम जीवों में से किन्हीं को कभी स्वप्न में अर्धविकास से और कभी जागरणावस्था में पूर्ण विकास से भासमान भी जगत् बहुतों की दृष्टि के अनुरोध से चिदाकाश ही है ॥२२॥

जो पर्वत आदि की सत्ता और जो वृक्षों की निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होने के कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टि से जगत् एक अज्ञानोपहित चिन्मात्र ही है ॥२३॥

औरों की दृष्टि से भी आत्मतत्त्व जबतक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्व का परिज्ञान होने पर तो न तुम हो, न मैं हूं, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत् का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटि में जगत् की स्थिति नहीं है ॥२४॥

शिला के समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूप से अप्रच्युत, उत्पत्ति-नाश से रहित निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है। वह जैसे निद्रा आत्मा में ही स्वाप्नजगत् वैचित्र्य की कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि से अपने में ही जगद्वैचित्र्य की कल्पना कर रहा है, वास्तव में वह निर्विकार है ॥२५॥

सृष्टि के पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान काल में भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥२६॥

न तो आत्मता है, न परता है, न जगत्ता है, न मौनता है, न मौनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूप में कुछ भी उपपन्न नहीं है। सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर और भेद क्यों कर होंगे ॥२७॥

आप अपने स्वरूप में ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूप में ही स्थित हूं, परम आकाश में सुख और दुःख का नाम नहीं है और पराकाश के सिवा यहां कुछ नहीं है ॥२८॥

जरा बतलाइये तो सही स्वप्न नगर में परमाकाशता को छोड़कर क्या है? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्न नगर है ॥२९॥

अपरिज्ञप्तिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते साऽपि न क्वचित् ॥३०॥
परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किंचन ।
ग्रहस्तदेनं प्रति किं स्नेहो वन्ध्यासुते तु कः ॥३१॥
स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नमणावणौ ।
किमुपादेयता काऽऽस्था प्रबोधेऽसौ न किंचन ॥३२॥
यन्न किंचित्प्रबोधेऽस्ति नाऽप्रबोधेऽस्ति तत्क्वचित् ।
यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥३३॥
विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा ।
बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाऽखिलम् ॥३४॥
यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसां क्षतिः ।
तथा देहेन निहते देहे नाऽस्ति चितेः क्षतिः ॥३५॥

केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला है। जब परम ब्रह्म का परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञान का भी कहीं पता नहीं रहता ॥३०॥

जब जगत्‌रूपी स्वप्न का ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती। जगत् के प्रति अभिनिवेश आसक्ति वन्ध्यापुत्र में स्नेह करने के सदृश ही उपहासास्पद है ॥३१॥

स्वप्नकाल के ज्ञात होने पर प्रत्येक अणु में जगत्-स्वप्न की सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्था में जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या उपादेयता है और क्या उस पर आदर किया जाय ॥३२॥

जिस वस्तु की प्रबोधावस्था में कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्था में भी कहीं पर नहीं है। जो अप्रबोधावस्था में उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीति के रूप से प्रसिद्ध होता है ॥३३॥

न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है। ये सब न वस्तुएं अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तव में कुछ नहीं हैं ॥३४॥

एक देह से दूसरी देह के नष्ट होने पर चित् की कुछ भी क्षति वैसे ही नहीं होती है जैसे एक लहर के आघात से दूसरी लहर के छिन्न-भिन्न होने पर जल की कुछ हानि नहीं होती अर्थात् ऐसी स्थिति में मिथ्या देह आदि के मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जाने पर भी उन दोनों के अधिष्ठानरूप-आत्मा का कुछ भी नहीं हानि होती ॥३५॥

चिताकाश एवाऽहं देह इत्युपजायते ।
संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥३६॥
प्रबुद्धस्यैव चिद्व्योम्नः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
पृथ्व्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥३७॥
सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्व्यादिवस्तुधीः ।
स्वप्नार्थे सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥३८॥
पूर्वात्पूर्वतरस्याऽस्य स्वप्नस्याऽवयवस्थितौ ।
सत्येवाऽसत्यरूपायां पृथ्व्यादिकलना कृता ॥३९॥
सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथाऽसत्यैव सत्यताम् ।
परमामागता तत्तु सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ॥४०॥
वस्तुतस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाऽऽततं स्थितम् ।
न च तत्संस्थितं किंचित्स्मर्ताऽस्मर्ता किमात्मकः ॥४१॥

आकाशरूप चित् में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्था में भ्रमात्मक ज्ञानरूप देह के नष्ट होने पर क्या नष्ट हुआ ॥३६॥

ज्ञा[illegible]त चिदाकाश ही स्वप्न जगत् रूप से प्रसिद्ध है। चूंकि यह जगत् स्वप्न-जगत् के समान पृथिवी आदि से शून्य है, इसलिए स्वप्न रूप है ॥३७॥

पूर्व चित् के स्वप्न से सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि पदार्थ बुद्धि का उदय हुआ। स्वप्न के पदार्थ में सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥३८॥

इस प्रकार पूर्व से पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्न के अवयवों में मूढों ने सत्य पृथ्वी आदि की कल्पना ऐसे ही कर डाली जैसे कि आधुनिक अपत्य वस्तु में सत्य कल्पना की जाती है ॥३९॥

वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यता को प्राप्त हो गई। किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मल का रत्ती भर भी सम्बन्ध नहीं है ॥४०॥

वास्तव में अपने स्वरूप से अच्युत सच्चिदानन्द रूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यरूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा। ऐसी परिस्थिति में जब उसके अनुभव की सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करने वाला या विस्मरण करने वाला भला कौन होगा! अर्थात् असत्यस्वरूप जगद्भ्रान्ति को मूढों ने अपनी

एवंमात्रापरिज्ञानमेवाऽत्र प्रतिबोधकम् ।
अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटप्रविघाटनम् ॥४२॥
पारिशेष्यान्न पृथ्व्यादि किंचित्संभवति क्वचित् ।
यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥४३॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बाद्‍बिम्बं भाति जगत्तथा ।
चिद्‍व्योमनि स्वतो भातमबिम्बादेव बिम्बितम् ॥४४॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बं न दृष्टमपि किंचन ।
तथा चिद्‍व्योमगं विश्वं न दृष्टमपि किंचन ॥४५॥
लभ्यते यद्विचारेण यत्सकारणकं स्थितम् ।
तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥४६॥

कपोलकल्पना से सच सदृश मान लिया है, यों 'इव' से सत्य से उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पना में सत्यार्थ-कल्पना की समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो ॥४१॥

यथार्थस्वरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्र विषयक अज्ञान ही जगत् में=असत्य में सत्यत्व की समानता का प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्व का परिज्ञान ही आवरणरूप अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति-कपाट का उद्‍घाटन है अर्थात् तब असत्य पदार्थ में अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यता की समानता का प्रतिबोधक क्या होगा? ऐसी आशङ्का पर स्वप्रकाश सत्यस्वरूप का अज्ञान ही असत्य में सत्यत्व के सादृश्य का प्रतिबोधक है ॥४२॥

अज्ञान-कार्य के साथ अज्ञान का नाश होने पर चिन्मात्र शेष रहने से पृथ्वी आदि किसी का कहीं पर भी संभव नहीं है। जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥४३॥

जैसे दर्पण में निमित्तभूत बाहरी बिम्ब से भीतर प्रतिबिम्ब की प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्ब के बिना ही अपने-आप चिदाकाश में प्रतिबिम्बित जगत् प्रतीत होता है ॥४४॥

वैसे ही चिदाकाश में प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थ दृष्टि में वैसे ही कुछ भी नहीं है जैसे दर्पण के अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तव में कुछ नहीं है ॥४५॥

जो वस्तु शास्त्रीय विचार से प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाण रूप कसौटी से प्रमाणित है वही सत् है

भवेद्‍भ्रमात्मकमपि किंचिदर्थक्रियाकरम् ।
स्वप्नाङ्गनाऽपि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥४७॥
यत्तद्भान तु सा चिद्भा परमं तच्चिदम्बरम् ।
इति क्वाहं क्व विश्वश्रीः क्व त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥४८॥
मृत्वा पुनर्भवनमस्ति किमङ्ग नष्टं
मृत्वा न चेद्भवनमस्ति तथापि शान्तिः ।
विज्ञानदृष्टिवशतोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
स्तन्नेह किंचिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥४९॥
मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदज्ञ एव
जानात्यसौ नहि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।

उससे अन्य तो प्रतिभा मात्र है, वह तीनों कालों में सत्ताशून्य है न भूतकाल में था, न वर्तमान में है और भविष्यत् में होगा। भला वह सत् कैसे हो सकता है ॥४६॥

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती हैं, जैसे स्वप्न स्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्यों की सत्य वीर्य विसर्जन रूप अर्थक्रिया करती ही है ॥४७॥

['अहम्' आदि जगत् की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकार की नहीं है। जो जगत् का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्य का प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भान का व्यवर्तक दृश्यरूप यदि भान से पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भान का व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करने पर जगत् का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थिति में कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्व-शोभा है, कहाँ आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं?].

हे उदारमति! आपकी जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टि से चिन्मात्रस्वरूप हैं, देह के विनाश से मरकर फिर अन्य देह की उत्पत्ति से उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयानन्दरूप चैतन्य का नाश और उत्पत्ति से तनिक भी स्पर्श नहीं है यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपञ्च का उपशम ही है। इसलिए उक्त दोनों ही पक्षों में तनिक भी दुःख की प्राप्ति नहीं है ॥४९॥

मूर्ख को जिस प्रकार का दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगों की जानकारी के बाहर की बात है। देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदी के जल में

मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
जानाति तच्चपलवीचिविवर्तनानि ॥५०॥
अन्तर्बहिस्त्वमहमित्यपि चैवमादि
सर्वात्मकं तपति चिन्नभ एकमेव।
शाखाशिखाविटपपत्रफलैकदेहः
संकल्पवृक्ष इव बोधखमात्रसारः ॥५१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥९९॥

'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपता का अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी नदी की) चञ्चल लहरों का लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा—नदी की भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा अर्थात् तब मूर्ख को मरण और जन्म में क्योंकर दुःख प्राप्त होता है? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसके प्रति उस दुःखप्राप्ति का मूर्ख को ही अनुभव होता है ॥५०॥

तत्त्वज्ञ की दृष्टि से तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत् बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलों के रूप द्वारा संकल्पवृक्ष बनकर मनोराज्य में प्रकाशमान होता है ॥५१॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
परमार्थनिरूपण नामक कुसुमलता अनुवाद का निन्यानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९९॥

१००

श्रीराम उवाच

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये।
तेषां येषामयं पक्षः श्रूयतामुच्यतां ततः ॥१॥
यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्।
तत्तथैवाऽनुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥३॥
यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्व्योम सर्वगम्।
तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थरयाऽत्यसंभवात् ॥४॥

१००

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—निम्नलिखित प्रश्न ध्यान देकर सुनने की कृपा करें तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देने का अनुग्रह करें। जब तक जीवन रहे आराम से जीवें, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। [जीते जी अपनी मृत्यु का प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरों की मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्यु का भी उसी तरह अनुमान हो सकता है। यदि कहिये चार्वाकों के मत में अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष के सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते। अच्छा, उनके मत में देह-नाश ही मृत्यु हो। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मत में देह-नाश ही सकल दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वाञ्छनीय ही है। इस आशय से कहते हैं—'भस्मीभूतस्य'।] सकलदुःखों की निवृत्ति को प्राप्त भस्मीभूत देह का पुनः आगमन कैसे हो सकता है। ऐसा जिनका सिद्धान्त है, इस संसार में उनकी दुःखशान्ति के लिए कैसी युक्ति है? ॥१.२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—संवित् जो-जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्यों का त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है अर्थात् संवित् को अपने निश्चय के अनुसार ही विवर्त का अनुभव होता है, ऐसा नियम है। उक्त नियम में ही संवित् की देहात्मभाव में भी उपपत्ति होती है और मोक्ष में भी उपपत्ति होती है ॥३॥

जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त है वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है। वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगों से कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्त के मर्म को जाननेवाले विद्वानों के अनुभव से सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तु का अत्यन्त असंभव है ॥४॥

सर्गादौ तदृतेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि।
अकारणत्वान्नाऽस्त्येव ब्रह्मैवेदमतस्ततम् ॥५॥
समस्तवेदशास्त्रार्थं ये महाप्रलयादि च।
नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥६॥
सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वं ब्रह्मेदमित्यलम्।
स्थितं सानुभवं योवत् येषां तैर्न कथाक्रमः ॥७॥
नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये।

सृष्टि की पूर्वावस्था में, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलय का ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्म के सिवा कोई पदार्थ ही नहीं; उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्व में होने की संभावना हो। इसलिए यह ब्रह्म ही जगत् के रूप से व्याप्त है ॥५॥

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सब वेद जिस परम पद का प्रतिपादन करते हैं, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' उसी को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध सकल वेद और शास्त्रों के प्रतिपाद्य महाप्रलयरूप ब्रह्म को, जीवों की ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्ति को तथा मुक्ति के साधन तत्त्वज्ञान को जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढता का क्या ठिकाना है। मोक्षशास्त्र के अप्रामाणिक होनेपर तुल्ययुक्ति से कर्मशास्त्र की अप्रमाणता का भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं। जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टि में वे मरे हुए से हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान के उपदेश के अयोग्य हैं ॥६॥

जिन महापुरुषों का देह, इन्द्रिय आदि की सकल व्यवहारों में नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रों से अविरुद्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकार के ज्ञान से प्रचुरमात्र में पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषों के साथ भी उपदेशकथा करना उचित नहीं है। केवल जिज्ञासु पुरुषों के लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥७॥

हृदय में जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूप से सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है। देह हो चाहे न हो। भाव यह है कि चार्वाकों के संमत देहात्मभाव में भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित् का उदय ही अन्वय और व्यतिरेक से हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होने से हेतु नहीं है ॥ ८ ॥

भयते तन्मयेनैव पुंसा देहोऽस्तु माऽथवा ॥८॥
बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत्।
विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥९॥
जगच्चिद्व्योमकचनमात्रमेवेति भाविते।
तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥१०॥
न कानिचित्प्रधावन्ति एकनिश्चयसंविदाम्।
पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नभसामिव ॥११॥

हे श्रीरामजी! यदि संवित् के बोध से पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा। अर्थात् इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादि-ज्ञान की दृढता से उस में दुःखमयता सबको अनुभव से सिद्ध है ॥ ९ ॥

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादिका वेदन कैसे हो सकेगा? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाश से कैसे किसको दुःख का बोध होगा? कोई द्वितीय हो और कोई दुःख का निमित्त हो तभी तो दुःख का संभव है। जब एकमात्र आनन्दघन चिदाकाश ही है तब दुःखबोध की क्या कथा है। अर्थात् यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीति से दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाश का स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करने से उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन होने पर भ्रान्ति से कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटी की शान्ति हो जाती है। देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है ॥ १० ॥

[उक्त अर्थ में 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्था में अद्वैत को देख रहे पुरुष को कौन मोह और कौन शोक) इस श्रुति को अर्थतः उदाहृत करते हैं—'न कानिचित्' इत्यादि से।]

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषों को किन्हीं सुख या दुःखों का ऐसे ही स्पर्श नहीं होता जैसे कि आकाश को धूलियों का स्पर्श नहीं होता ॥ ११ ॥

[अपने अपने दृढ निश्चय के अनुसारी पदार्थ के अनुभव में संवित् की प्रमाणता और चित्तिवृत्ति की सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभाव में पहली की (संवित् की)

संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
आबालमेतत् संसिद्धं केनाऽपह्नूयते कथम् ॥१२॥

न देहः पुरुषो वाऽपि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
संवित् सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥१३॥
सा सत्याऽप्यथवाऽसत्या तथा देहोऽनुभूयते ।
स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥१४॥
संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
स यथानिश्चयो नूनं तत् सत्यमिति निश्चयः ॥१५॥

प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्ति में दूसरी (चित्तवृत्ति की सत्यता) नहीं है इस आशय से कहते हैं—'संवित्' इत्यादि से ।]

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनों का नियम नहीं है। किन्तु निश्चय इस तरह के सत् और असत् अर्थ के अनुभव में कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है। भाव यह कि अनुभव विरुद्ध का आश्रय लेकर अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥

[इसलिए सकलवादियों के अभिमत तत्-तत् वेषों को धारण करने में समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियों को समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं, इस अभिप्राय से कहते हैं—'न देहः' इत्यादि से ।]

चार्वाकों का अभिमत शरीर, सांख्यों का अभिमत पुरुष और मीमांसक आदि का अभिमत जीव या भोक्ता संवित् से पृथक् उपलब्ध नहीं होता अतः सब वादियों के कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं। वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥१३॥

वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथ्वी आदि कारणों की अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देह का अनुभव होता है जैसे स्वप्न में, पाताल में, आकाश में, जल में और स्वर्ग में केवल कल्पना से ही देह का अनुभव होता है ॥ १४ ॥

संवित् चाहे सत्य हो चाहे असत्य हो, संविद्मात्र ही आत्मा है। उक्त संवित्मात्र आत्मा जिस प्रकार के निश्चयवाला होता है वह सत्य (उसकी क्रिया [व्यवहार-क्रिया] में समर्थ) होता है इस में तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्धयति ।
सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एष एवेति मे मतिः ॥१६॥
तस्मादबोधता याऽऽस्ते यथा संवित्तथैव सा ।
भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभागिनि ॥१७॥
देशकालक्रियाद्रव्यवेदशास्त्रैषणाश्रमैः ।
अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥१८॥
आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥१९॥

[संवित् ही जब सब वादियों के अभिमत आत्मादि के रूप से स्थित होती है तो ऐसी परिस्थिति में सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थों के तत-तत् अभिमत अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं—'प्रामाण्यम्' इत्यादि से ।]

संविद्-मात्र आत्मा से ही सब शास्त्रों का प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्-अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियों का उपजीव्य होने और पुरुषार्थहेतु होने से सब सिद्धान्तों का शिरोमणि सिद्धान्त है ॥ १६ ॥

[तो क्या संवित् ही तत्-तत् वादियों के अभिमत देहादि के आकार से तत्-तत् निश्चय के अनुसार परिणत होती है ? इस पर नकारात्मक उत्तर देते हैं—'तस्मात्' इत्यादि से ।]

संवित् में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्-तत् वादियों की जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदि के समय वैसे ही बन जाती है। वही जब तत्त्वज्ञान रूप से परिणाम होने पर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥ १७ ॥

इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश काल में स्नान, दान आदि कर्मों से, रसायन, मन्त्र, ओषधि आदि द्रव्यों से, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियों से वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥ १८ ॥

आत्यन्तिक बाध से क्षीण हुई अविद्या की पुनः प्राप्ति की आशङ्का भी नहीं है। यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभर में आविर्भूत हो जायगी, तो जीव का दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसी से भी शान्त न हो सकेगा। आशय यह है कि बोध

संविदेव नृणां जीवः स यदा दृढभावनः।
तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येष निश्चयः ॥२०॥
संविच्चेदस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने।
नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवाऽवशिष्यते ॥२१॥
यत्तयैव च संवित्त्या वेदनेनैव लभ्यते।
अयं स्वभावज्ञप्त्याऽन्तर्जाड्य पुंसेव निद्रया ॥२२॥

श्रीराम उवाच

दिक्ष्वधस्ताच्च नाऽन्तोऽस्या भावी नाऽपि जगत्क्षयः।
अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताभावबुद्धिना ॥२३॥
विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता।
पश्यता च यथादृष्टं सर्वक्षयमपश्यता ॥२४॥
तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने।
इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥२५॥

वसिष्ठ उवाच

अत्रैकं तावदुचितं पूर्वमेव तथोत्तरम्।
द्वितीयमुत्तरं न्याय्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥२६॥
ईदृग्भावस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान् पुरुषोत्तम।
स तावच्चेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥२७॥

होनेपर जब अविद्या छिन्न-भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भाव में कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब-जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायगा ॥ १९ ॥

संवित् ही मनुष्यों का जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥ २० ॥

संवित् का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियों के संसारनाश में वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिला के समान जड़ अन्धकार ही अन्ध का शेष रह जाता है। आशय यह है कि प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्ध को दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगों की वही शरण है। उसके अभाव में सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायगा। मोक्ष की आशा तो दुराशा ही हो जायगी ॥ २१ ॥

स्वप्रकाशरूप उसी से प्रत्यगात्मसंवित् रूप जीव को निद्रा द्वारा अपनी जड़ता के सदृश अन्धकार तुल्य अज्ञान से ही यह प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, यदि संवित् का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायगा ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—इस सृष्टि का पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओं में ऊर्ध्व दिशा में ऊपर और नीचे भी अन्त नहीं हैं, न यह आगे उत्पन्न होने वाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत् के प्राग् अभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव इन तीनों अभावों को तिलाञ्जलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत् का विनाश न देख रहे जिस पुरुष ने जगत् को उक्त रीति से सत्यता की भावना की, उसके संसार रूपी दुःख की निवृत्ति में कैसी युक्ति है। हे ब्रह्मन ! बोध की वृद्धि के लिए मेरे इस सन्देह को पुनः निवृत्त करने की कृपा कीजिये ॥२३-२५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यहाँ पर एक तो पूर्वोक्त ही शास्त्रशून्यवे हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में मृतक से ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादी के प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है. वही उचित है। ऐसी परिस्थिति में चैतन्य से जब तक संवित् का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्य का बोध कराकर पूर्व निश्चय उसी का विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुभव में अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥२६॥

हे पुरुषोत्तम ! इस प्रकार के आशयवाले जिस पुरुष का आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देह से अतिरिक्त चेतन को आत्मा मानने वाला है या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देह को आत्मा मानने वाला है, या स्थूल देह को आत्मा मानने वाला है, या शुद्ध संवित् को आत्मा मानने वाला है, या अज्ञान से आवृत संवित् को आत्मा मानने वाला है या संवित् का अपलाप करने वाला है। यदि वह चेतनामात्र का (चिदाभास रूप का) अस्तित्व

स चाऽऽकारविनाशेन युज्यते नाऽत्र संशयः।
अथाऽविनाशो देहश्चेत्तद्दुःखस्याऽत्र कः क्रमः ॥२८॥
भवेद् भागविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः।
अवश्यं तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥२९॥
मृतः स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम्।
ज्ञानधौता न या संविन्न सा तिष्ठत्यसंसृतिः ॥३०॥
अथवा नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान् यदि।
ततस्तादृग्वेदनतो भवत्येव दृषज्जडः ॥३१॥

स्वीकार करता है तो उसे क्रम से आत्मतत्त्व का अनुभव होता ही है, उसके संसार से उद्धार में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि देहादि आकार वाली उपाधि का विनाश होने से वह परमात्मा के साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। यदि उसकी विनाशी अवयव देह में आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओर से विनाश की शङ्का से दुःख होगा ही। यदि अविनाशी में आत्मत्व का निश्चय हो तो उसे देहाकार समझने मात्र अपराध से उसको दुःख प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देने पर—ज्ञान चर्चा सुनाने पर वह भी आत्मतत्त्व को प्राप्त हो ही जायगा ॥२७, २८॥

अवयवघटित स्थूल शरीर को आत्मा समझने वाले ने स्थूल देह के अवश्यम्भावी विनाश का विचार नहीं किया। जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसी के रोके रोका नहीं जा सकता है—अवश्यम्भावी है। इससे वह भी स्थूल देह से अतिरिक्त आत्मा को मानता है, यह सिद्ध होता है ॥२९॥

शुद्धसंवित् को आत्मा मानने वाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीला से जगत् का दर्शन करता हुआ भी मृत्यु के बाद विदेहता मात्र से कैवल्य को प्राप्त होकर फिर संसार को नहीं जानता है—नहीं देखता है। जो संवित् तत्त्वज्ञान से शुद्ध नहीं है, वह संसार की प्राप्ति के बीज का नाश न होने से संसार के बिना नहीं रहती, अवश्य संसार में आती है। उसका भी किसी न किसी जन्म में ज्ञान का उदय होने से संसार से निस्तार हो जाता है ॥३०॥

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकार का निश्चय वाला सवित् का अपलाप करने वाला हो तो इस प्रकार के ज्ञान से वह चिरकाल तक पत्थर के समान

यथावेदनमर्थेषु चिरत्वे देहक्षयात् क्षते।
मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नाऽनुभवादिति ॥३२॥
असंभवच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये।
जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते ॥३३॥
ये चाऽपि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः।
तेषामिदमिवाऽशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥३४॥
स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतो भवेत्।
भूतस्थैर्ये तथाऽस्थैर्ये सुखं चैवाऽसुखं समम् ॥३५॥

जड़ होता ही है ॥३१॥

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञान के अनुसार ही देहपात के बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्ति के सदृश मृत्यु को ही (नैयायिकों के मोक्ष के तुल्य) दुःख शून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्द के अनुभव से उस मूर्ख ने श्रेय का दर्शन नहीं किया ॥३२॥

जिनके मत में शुद्धसंवित् के अस्तित्व का संभव नहीं है, वे जब शरीर रहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़ को तत्त्व मानने वाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकार से पूर्ण होते हैं। इस विषय में श्रुति भी है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकार से आच्छन्न असुर्य नामक लोकों में जाते हैं) ॥३३॥

क्षणिक और विकारी चित् को आत्मा मानने वाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत् को स्वप्न नगर के समान देखते हैं, उनका यह सारा का सारा जगज्जाल प्रवृत्त ही रहता है, निवृत्त नहीं होता अर्थात् जो विज्ञान-वादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्न नगर के तुल्य हैं, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहार सिद्धि पूर्वोक्त मतवाले के समान है ॥३४॥

स्थिरता और क्षणिकता से जगद् व्यवहार वैचित्र्य बुद्धि में क्या अन्तर होगा! भूत चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान ही होंगे अर्थात् जो लोग जगत् को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनों के ही सुख-दुख भोग-पर्यन्त सभी व्यवहर समान हैं ॥३५॥

स्थिरमस्त्वस्थिरं वाऽपि मह्यादि महतामपि ।
चिद्भामात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥३६॥
संविदा संविदोऽसत्तामिहाऽव्याप्य विनष्टया ।
निर्णीयाऽङ्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्बालकैरलम् ॥३७॥
येषां चिद्भ्यः शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
शरीरेभ्यो चिदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥३८॥
चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशकृमिजालवत् ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥३९॥

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं। जब तक अज्ञान का साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है अर्थात् तत्त्वज्ञानियों का भूमि आदि भूतों की क्षणिकता और स्थिरता में कोई आग्रह नहीं है। अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्म से ही सारवान् है। इसलिए शुक्ति और रजत के मूल्य के विचार की भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरता क विचार व्यर्थ है ॥३६॥

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनों का स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित् से संवित् की जड़ता और क्षणिकता का निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकार के मूर्खों से संभाषण तक नहीं करना चाहिये अर्थात् संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ता को व्याप्त नहीं कर सकती, संवित् की व्याप्ति के बिना उन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित् के क्षणिकत्व का कथन संभव नहीं है ॥३७॥

जिनके मत में चित् से शरीरों की उत्पत्ति है, वे पुरुष श्रेष्ठ वन्दनीय हैं। जिनके मत में शरीर से चित् की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमों से भाषण करना भी ठीक नहीं है अर्थात् इसलिए कूटस्थ चित् से विवर्त रूप से चिद से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपञ्च की उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं; क्योंकि उनके मत में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्यायसे विकारको असत्य समझने पर चित् ही अवशिष्ट रहती है। अचिद् देह आदि से चित् की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख हैं। चित् के विनाश से जड़ का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थ का साधन ही है ॥३८॥

जैसे माट, मटकों में भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छड़ों के समूह की तरह तिरछे, ऊपर और नीचे के लोकों में गमन, आगमन द्वारा संसार को प्राप्त होता है अर्थात् जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवों के रूप से ऊपर नीचे लोकों में गमन आदि द्वारा संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है ॥३९॥

चेत्यते येन कर्ताऽन्यो बीजौघेन स तत्परः ।
तथैवाऽनुभवत्यन्तः स्वयमेव विवल्गति ॥४०॥
यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाऽऽशु तेन तत् ।
चिद्रूपेणाऽऽप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥४१॥
यथा धूमस्य नभसि यथाम्भोधौ महाम्भसः ।
आर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्व्योम्नि संसृतेः ॥४२॥
पुरो भवति चिद्व्योम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
तथाऽऽदिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत् स्थितम् ॥४३॥

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभाव से अपनी समष्टिता की भावना कर उनकी वासना के अनुसार ही सृष्टि के आदि में बहुत प्रकार से भिन्न व्यष्टिरूप कर्ता की अपने अन्तःकरण में भावना करता है, वह उक्त भावना में आसक्त होकर उसी भावना से नाना कर्तृरूप का अन्तःकरण में स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसार को प्राप्त होता है अर्थात् हिरण्यगर्भ की जो कर्तृरूप नाना जीवों का समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित् की स्वकल्पना के आग्रहवश ही है ॥४०॥

जो जिस पदार्थ की जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक सबपर प्रसिद्ध है अर्थात् इस प्रकार से भी वही सिद्ध हुआ जिसकी हमने पहले प्रतिज्ञा की थी ॥४१॥

जैसे आकाश में धुएँ की विचित्र विचित्र भ्रमियाँ आवर्त होता है और जैसे महासागर में जलराशि की विभिन्न भ्रमियाँ होती है सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश में जागत्सृष्टि की विचित्र भ्रमिताँ होती हैं, इसलिए उन जीवचैतन्यों की विचित्र विचित्र वासनाओं के अनुरूप तत्-तत् सृष्टि के चेतनों की विचित्रता से अनन्त सृष्टि-वैचित्र्य है ॥४२॥

जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही मनुष्य के प्रति नगरी का रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टि से लेकर चिदाकाश ही जगत् का रूप धारण कर स्थित है ॥४३॥

सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै ।
पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवाऽऽदौ जगत्स्थितेः ॥४४॥
अज्ञानां स्वप्ननगरे वसुधा विविधाः कृताः ।
यास्ता एव जगत्स्वप्ननगरे पुष्टतां गताः ॥४५॥
चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः ।
केवाऽत्र रञ्जनाऽन्या खे यद्वाभाति खमेव तत् ॥४६॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्कं शीतलाऽऽह्लादकारिणी ।
तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥४७॥
अद्यैवाऽऽद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम् ।
चिदुन्मेषनिमेषाभ्यां स्वात्मोदेत्यस्तमेति च ॥४८॥
यद्यथा वेत्ति यत्तत्सत्तथैवाऽनुभवत्यलम् ।
यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमिवाऽत्र न विद्यते ॥४९॥
शरदाकाशविशदं संविदः सौम्यमानसाः ।
असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥५०॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
तिष्ठन्ति कार्यव्यवहारदृष्टौ
निरामया यन्त्रमया इवैते ॥५१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

सृष्टि के आत्मा में जगत्स्थिति के सहकारी कारण पृथिवी आदि महाभूत वैसे ही नहीं है सरकारी कारणों के बिना ही सृष्टि के आदि में केवल प्रतिभामात्र से सिद्ध होने के कारण भी जगत् की स्वप्नसमता ही है ॥४४॥

स्वप्ननगर में नगर के अवयवरूप महल, पर आदि के उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये थे, वे ही जगत्रूपी स्वप्ननगर में पूर्ण विकास द्वारा पुष्टता को प्राप्त हुए हैं ॥४५॥

द्वैत और ऐक्य से विहीन ये सकल चिदाकाशरूप ही है। चिदाकाश में दूसरी रंजना (राग—द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ॥४६॥

त्रिविध ताप की शान्ति करने के कारण शीतल, आह्लादजनक चित्रूपी चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बखेर रही है। उक्त चेतनारूपी आलोक का ही पदार्थरूप से स्फुरण यह जगत् है ॥४७॥

सृष्टि के पूर्व और सृष्टि के बाद (प्रलय में) सृष्टि रहित स्वभाववाले चिन्मय आकाश में केवल आज ही (वर्तमान क्षण में ही) सृष्टि का दर्शन प्रसिद्ध है और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है। वह आत्मचित् के परिच्छिन्नरूप से उन्मेष होनेपर पलक भर में स्वप्न के तुल्य उदित होता है और आत्मचित् के अपरिच्छिन्नरूप से निमेष होनेपर अपने आप स्वप्न की भाँति अस्त हो जाता है ॥४८॥

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) अतः जिस जिस वस्तु की सृष्टि के आदि में जैसा जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये सारा का सारा जगत् चिन्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? अर्थात् चित् यदि अपनी सत्ता के बल से सत् बना कर जगत् को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है ॥४९॥

शरत् ऋतु के समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्व का साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित् से पृथक्रूप से असत् ही हैं और चिद्रूप से तो सत् ही हैं ॥५०॥

मान और मोह से विहीन; संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदि की आसक्ति से रहित), लोक-प्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरों की कार्यव्यवहारदृष्टि में स्थित होते हैं ॥५१॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में नास्तिक्यनिराकरण नामक कुसुमलता अनुवाद का सौवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०० ॥

१०१

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥१॥
तच्चाऽवदातमाकाशं तन्मये द्रष्टृदृश्यते ।
तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥२॥
न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥३॥
इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
संविद्व्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥४॥
इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्खमात्मनि ।
निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥५॥
संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
भावाभावादयोऽस्याब्धेस्तरङ्गावर्तवृत्तयः ॥६॥
संविदाकाशमेवाऽहं भवानपि जना अपि ।
म्रियामहे नो कदाचित् संवित्किल कदा मृता ॥७॥
संविदो नाऽस्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
चित्त्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क्व वा स्थिते ॥८॥

१०१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चिन्मात्र ही पुरुष है। वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदि रूप से एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदि के रूप से अवस्थित है ॥१॥

वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है। द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं। चिन्मात्र ही जब यह जगत् है। इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँ से हो सकती है ! ॥२॥

बृहस्पति द्वारा प्रणीत बुद्धशास्त्र के अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्ध के मत से क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मत में भी विषयों का सर्वथा अभाव होने के कारण ही राग-द्वेष कहाँ से हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है। किन्तु संवित् से अन्य उसके मत में नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है, जिसकी कि संभावना से वह संवित् की नित्यता स्वीकार नहीं करता ! अर्थात् हेय और उपादेय के अभाव में राग और द्वेष की प्रसिद्धि नहीं होती—यह विज्ञानैकस्कन्धवादी बौद्ध को भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है ॥३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियों के मत में तो यह जगत् नाम का स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्ट की दृष्टियाँ (यह इष्ट हैं यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा उन्मूलक राग और द्वेष किस आकार के होंगे, यह कहिये अर्थात् संवित् का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्त में तो राग-द्वेष की किसी तरह प्राप्ति है ही नहीं ॥४॥

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाभ्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है। उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मा में (संविदाकाश में) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँ पर यह इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरह की दृष्टि कैसी ! अर्थात् अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाभ्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाश में कोई अन्तर नहीं है ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! नर, अमर, नाग, स्थावर तथा जंगम—ये सबके सब संविद्रूप ही हैं। भाव, अभाव, आदि भी इसी संविद्रूप सागर की तरङ्ग, भ्रमि आदि वृत्तियाँ हैं अर्थात् संसार के सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदि की भी संभावना नहीं हो सकती ॥६॥

मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनों के अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं। हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। बतलाइये तो सही संवित् क्या आज तक कभी मरी है ! ॥७॥

हे विशाल नयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित् का कोई संवेद्य नहीं है। यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यता को प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया-कर्म भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व—ये दोनों कहाँ रहे अर्थात् सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब संवित् से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या है, अपने में ही स्वसंवेद्यता की कल्पना तो अपने कन्धे पर अपने को चढ़ा लेने की कल्पना के सदृश ही है ॥८॥

संविन्मात्रादृते तस्मादद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
कथ्यतां म्रियते तच्चेत्तदद्येमे कुतो वयम् ॥९॥
वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
संविदाकाशमुत्सृज्य यन्मयन्ते तदुच्यताम् ॥१०॥
संविदाकाशमेवैतत् केनचिद् ब्रह्म कथ्यते ।
केनचित् प्रोच्यते ज्ञानं केनचिच्छून्यमुच्यते ॥११॥
केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित् पुरुषाभिधम् ।
केनचिच्च चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥१२॥
चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न क्वचिदन्यताम् ।
यस्मात् स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नेतरत् ॥१३॥

कहिये, उस संवित् के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं? ॥९॥

सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक) आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाश के सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है? अर्थात् इन सब बातों का निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियों के अपने-अपने अभिमत पदार्थों के आकार से सर्वत्र प्रतीत होता है। उसके विना अन्य कोई गति नहीं है ॥१०॥

इस संविदाकाश को ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥११॥

कोई (१) मदिरा मद के तुल्य अर्थात जैसे अन्नादि विविध वस्तुओं का संमिश्रण ही मदरूप में परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकार में परिणत पृथिवी आदि महाभूतों का धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाकों का मत है (देहाकार में परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥१२॥

इस तरह इसके स्वरूप के विषय में नाना तरह की कल्पना होने पर भी यह चिन्मात्र स्वरूपवाली चितिशक्ति कहीं अन्यरूपता को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकार से विकल्पित यह अपने आत्मा को स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकार की कल्पना करने पर भी चिति के स्वरूप के विषय में किसी तरह की क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पों की साक्षी होने से स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है ॥१३॥

चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥१४॥
मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा म्रियेत चेत् ।
तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥१५॥
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम् ।
भवेत् कथं कथय किं किलाऽऽकाशस्य संक्षयः ॥१६॥
जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥१७॥
जगद्धानं दधद्दाहं चिन्नभःस्फटिकाचलः ।
अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥१८॥

मेरे सारे अङ्ग चूर्ण-चूर्ण हो जायँ, या सुमेरु पर्वत सदृश विशाल हो जायँ, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई? ॥१४॥

हम लोगों के पितामह आदि के शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी। यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्याय से हम लोगों का भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥१५॥

यह सविदाकाश अक्षय है। न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इस में तनिक भी सन्देह नहीं है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाश का नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहें ॥१६॥

इस तरह संविद् के नाश का संभव न होने से जगद्रूप स्फुरणवाले उदय और अस्तमय से रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मा में ही स्थित है ॥१७॥

चिदाकाशरूपी स्फटिक-पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाश को धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्नि से उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। यह आदि, अन्त तथा मध्य से शून्य है अर्थात् जैसे स्वच्छ स्फटिक-पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवन को पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब वह्निभाव को प्राप्त अपने ही द्वारा उस वन को जलाकर स्वरूपमात्र में अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥१८॥

यथा यथाऽन्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
किमप्यङ्गाऽभ्रचक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥१९॥
यथाऽम्बुधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
स्थितोऽदधत्तथैवेदं चिदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥२०॥
चिन्मात्रमेव पुरुषः खवत् स च न नश्यति ।
कदाचनाऽपि तद् व्यर्थं यन्नश्यामीति शोकिता ॥२१॥
देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥२२॥
मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राऽप्युपचयो महान् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥२३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञान का प्राबल्य होने पर अन्त में बिलकुल नष्ट होकर वैसे ही स्वरूप में प्राप्त हो जाता जैसे अन्धकार द्वारा रात में बनाया गया कुछ एक तरह का मेघसंघात जगत् का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देर के बाद पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है ॥१९॥

चिदाकाश भी अपने स्वरूप में ही जगद्रूपी अङ्ग धारण करता हुआ वैसे ही स्थित है जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरङ्ग आदि में आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अङ्ग धारण करता रहता है ॥२०॥

चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए 'मैं नष्ट होता हूँ' इस तरह का जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥२१॥

जीर्ण शरीरत्याग से अन्य नूतन शरीर की प्राप्ति होनेपर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये। अरे मूढ़ पुरुषों, हर्षरूप मरण के उपस्थित होने पर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? अर्थात् जीर्ण शरीर के त्याग से अत्यन्त नूतन शरीर की प्राप्ति में निमित्तभूत मृत्यु के उपस्थित होनेपर हर्ष मनाना ही उचित है शोक करना उचित नहीं है ।।२२।।

मृत प्राणी पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थोत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र उस मरण से ही शान्ति को प्राप्त हो गये अर्थात् पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्यु से ही सर्वविध अनर्थों का निवारण हो जाता है ॥२३॥

मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
नाऽस्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्थमभिजृम्भते ॥२४॥
मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥२५॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः ।
भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥२६॥
कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
तानि मा कार्ष भोस्तस्माल्लोकद्वितयसिद्धये ॥२७॥
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामिति भाषसे ।
भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामिति नेक्षसे ॥२८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है; किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूप से स्फुरित हो रहा है अर्थात् इस प्रकार जब जन्म और मरण के रहते भी दुःख की प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशा में भला दुःख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥२४॥

यदि मृत प्राणी को पुनः देह का लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगों से ग्रस्त कारागृह के सदृश पूर्व शरीर का नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥२५॥

कुकर्मों से जो भय है, वह तो इस लोक में तथा परलोक में भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकों की उत्तम फल-प्राप्ति के लिए कुकर्म ही नहीं करनो चाहिये मृत्यु के बाद कुकर्मियों को नरक आदि के श्रवण से यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियों को भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्ड का भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मों का फल प्राणी को इसी लोक में जीते जी भोगना पड़ता है,' यों पाप कर्मों के फलश्रवण में यहाँ भी उन्हें भय होता ही है, इसलिए समान भय होने से आप कुकर्म ही न करें ॥२६, २७॥

मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरने के बाद भी मैं चिद्रूप से सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

क्व नाम जन्ममरणे क्व भवाभवभूमयः।
संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥२९॥
संविदाकाशमात्रात्मा पिब भुङ्क्ष्वाऽऽस्स्व निर्ममः।
आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥३०॥
स्वप्रवाहवलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
भवान् भुङ्क्तेऽभयो भव्यः पावनान् पावनादपि ॥३१॥
मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितात् ।
अनादृत्याऽन्तरेवाऽऽस्ते सुमधीरवहेलयन् ॥३२॥
न दुःखमेति मरणात् सुखमेति न जीवितात्।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥३३॥
मरणजीवितजन्मजरत्तृणा-
न्यविमृशन्विगतेच्छमवासनः ।
विदितवेद्य इहाऽज्ञ इवोदितो
वसति वीतभयस्त्वचलो यथा ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥१०१॥

विचार कर देखिये न, वस्तुतः जन्म और मरण कहाँ हैं, उत्पत्ति और विनाश की भूमियाँ कहाँ हैं, यह सब संविद् नामक चिदाकाश ही चिदाकाश में विवर्तभाव को प्राप्त हो रहा है ॥२९॥

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये. पीजिये। आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये। आप तो आकाशकोश के सदृश निर्मल हैं। भला आप में इच्छा का उदय कहाँ से हो सकता है? ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओं का इच्छाशून्य व्यवहार होने से उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता ॥३०॥

अपने प्रवाह-बल से प्राप्त प्रयत्न से तथा देश और काल के वश से प्राप्त हुए शब्दादि विषयों का, और उनमें भी जो पावन से भी अत्यन्त पावन हैं, उनका यानी जो मन को मलिन बनाने तथा उसके विक्षेप में हेतु नहीं हैं उनका भव्यात्मा पुरुष निर्भय होकर उपभोग करता है ॥३१॥

बीच-बीच में आ टपके देशकाल के वश उदित हुए नानाप्रकार के दोषों का अनादर कर के उनकी अवहेलना करता हुआ वहीं एकान्त पर्वत की गुफा में निर्विकल्पक समाधि में सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है अर्थात् बीच-बीच में यानी देश में जब किसी तरह का उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुष को दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वत की गुफा में समाधिसुख का अनुभव कर के उस दुःख-प्राप्त काल की अवहेलना कर देता है ॥३२॥

निर्विकल्पक समाधि में निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्यु से दुःख को प्राप्त होता है और न जीवन से सुख को ही प्राप्त होता है। वह किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करता और न किसी से द्वेष ही करता है। वह वासना-शून्य होकर समाधि-स्थित रहता है ॥३३॥

जीवन-मरण तथा जन्म को जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छा-शून्य तथा वासना से रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदित-वेद्य होनेपर भी अतिमूढ की तरह भयशून्य हो इस संसार में ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥३४॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में परम उपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एक अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

१०२

श्रीराम उवाच

परिज्ञाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि।
संपद्यते वद ब्रह्मन् कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः।
यावज्जीवं कथं चैव किमाचारोऽवतिष्ठते ॥२॥

१०२

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! आदि और अन्त से शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तु का भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष किन-किन लक्षणों से विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तु का जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त

उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
वनमध्ये स्थितस्याऽपि स्वजना मृगपोतकाः ॥३॥
आकीर्णं शून्यमेवाऽस्य विपदश्चाऽतिसंपदः ।
स्थितस्याऽपि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥४॥
असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवाऽस्यकर्मता ॥५॥
जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
करोति सर्वमाचारं न करोति च किंचन ॥६॥
रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्घृणो बन्धुवत्सलः ।
निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयाऽन्वितः ॥७॥
सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारबहिष्कृतः ।
वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥८॥
तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु सः ।
परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥९॥
नाऽभिनन्दति संप्राप्तं नाऽप्राप्तमभिवाञ्छति ।
आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥१०॥
दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनाऽपराजितः ॥११॥

नरोत्तम कैसा होता है और जीवन-पर्यन्त वह किस तरह के स्वभाव से तथा किस आचार मुक्त होकर अवस्थित रहता है, यह आप सुनें ॥२॥

जंगल के बीच में रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुष-श्रेष्ठ के पत्थर भी मित्र, वन के वृक्ष भी बन्धु तथा मृगों के बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदि में संयोग तथा वियोग होनेपर भी उसकी स्थिति एक-सी बनी रहती है। मित्र आदि के संयोग और वियोग में उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥३॥

महान् राज्य में स्थित रहनेपर भी उस पुरुष के लिए मनुष्यों से ठसाठस भरा स्थान भी बिलकुल शून्य है, उस महात्मा के लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदि का नाश भी) सम्पत्तिरूप है। वध, बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकार के दुःख ही उनके लिए महान् उत्सव के तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखों को वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सव के समान मानता है ॥४॥

उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःख को ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है। यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके सब कर्म अकर्मता ही है ॥५॥

वह जाग्रदवस्था में स्थित रहनेपर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मा में स्थित रहता है। जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभाव में स्थिति होने से मृत प्राणी के तुल्य है। समस्त आचार भी यह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मा में प्रतिष्ठित होने से कुछ नहीं करता ॥६॥

उनकी विषयसुखों में एकमात्र आत्मसुख की दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टि से तो वह अत्यन्त निरक्त है। चूंकि किसी व्यक्तिविशेष में वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए उसमें करुणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मताबुद्धि से निरुपाधि प्रेम होने के कारण वह बन्धुओं में वत्सल है। दयाविषय द्वितीय वस्तु को वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीर की उपमा द्वारा वह दूसरे के शरीर में भी सुख-दुःख का अवलोकन करने से अत्यन्त करुणा से युक्त है। इसी तरह परिपूर्ण होने से वह तृष्णा से शून्य है, किन्तु अज्ञ जनों का उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उसके हित की तृष्णा से अन्वित है ॥७॥

सर्वाभिनन्दित आचारों से युक्त होनेपर भी वह समस्त आचारों से बहिष्कृत है। शोक, भय तथा आयास से रहित होनेपर भी वह अज्ञ जनों का दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥८॥

न तो उस जीवन्मुक्त प्राणी से संसार भयभीत होता है और न वही संसार से भीत होता है। अन्य उनकी दृष्टि में संसार में रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसार से परम उद्विग्न यानी वैराग्य को प्राप्त हुआ रहता है ॥९॥

वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तु का न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्त की अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषाद में कारणभूत पदार्थ के अनुभूत होनेपर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥१०॥

किसी दुःखी प्राणी को देख लेनेपर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित प्राणी को कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुष के मिल जानेपर उससे सुख की कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदय से सम्पूर्ण अवस्थाओं में सुख एवं दुःख से अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥११॥

कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किंचिन्न रोचते।
स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥१२॥
नाऽऽलम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित्।
नार्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥१३॥
यथाशास्त्रव्यवहृतेः सुखदुःखैः क्रमागतैः।
अनागतोऽपि चाऽऽयाति न हर्षं न विषादिताम् ॥१४॥
संप्रहृष्टाश्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा।
न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसाराररभटीनटाः ॥१५॥
आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु।
बुद्बुदेष्विव तोयानां न स्नेहस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥१६॥
अस्नेह एव सुघनस्नेहार्द्रहृदयो यथा।
वत्सलो दर्शयन् वृत्तिं ज्ञस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥१७॥

सुकृत कर्म से अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टा से जो शून्य होना है, वह उन महात्माओं का स्वभाव ही है अर्थात् महात्मा का यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥१२॥

वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसी में आसक्ति का अवलम्बन करता है और न कहीं विरक्ति का ही अवलम्बन करता है। वह धनों के लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता। वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥१३॥

शास्त्रानुकूल व्यवहार से क्रमशः प्राप्त हुए सुख-दुखों से संस्पृष्ट न होने पर भी उनका स्पर्श-सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषादिता को कभी प्राप्त नहीं होता है ॥१४॥

वे महात्मा लोग सुख-दुख के कारणों से प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयानन्द प्रतिष्ठा से उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभाव का वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसाररूपी नाट्यशाला के नट हैं ॥१५॥

तत्त्वद्रष्टा महात्माओं को मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थ समूहों से ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जलों के बुद्बुदों में ॥१६॥

स्नेहरहित होने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष सुघन स्नेह से आर्द्र हृदय वाले के समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥१७॥

अज्ञनी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विष से मूर्छित से हो कामादि-सन्ताप की शान्ति के लिए अत्यधिक आसक्ति

वायूनिव प्रवाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान् मुधा।
देहसत्ताविषान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥१८॥
बहिः सर्वसमाचारमन्तः सर्वार्थशीतलम्।
नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इति तिष्ठति ॥१९॥

श्रीराम उवाच

स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक।
वद सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥२०॥
अश्ववद् ब्रह्मचर्येण चरन्ज्ञोऽचारुचेतसः।
मिथ्या तपस्विदार्ढ्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

असत्यं वाऽस्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम्।
विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥२२॥

के कारण विषयों के उदर में लीन होते हैं तथा विषयों के उदर में लीन होते हुए भी वे उन विषयों का कुछ थोड़ा-सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदी के प्रवाह में पड़े नरकीय पुरुष ऊपर भाग से कुछ थोड़ा-सा व्यर्थ वायुओं का स्पर्श कर पाते हैं। तत्त्वतः विषय का अनुभव करके वे विश्रान्ति को नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है अर्थात् अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियों की तरह अनासक्तिपूर्वक विषयों का भोग नहीं जानते ॥१८॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहर से समस्त शिष्टों के आचारों को करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थों से शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट-सा स्थिर रहता है ॥१९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! तत्त्वज्ञानी का ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है। यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणों से युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोक में देख पड़ता है ॥२०॥

हे मुने ! अश्व की तरह ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावों की नकलकर झूठमूठ में अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलाने के लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्या की दृढ़ प्रख्याति करने के लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशय से ऐसे होते हैं ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालत में अच्छा ही है यानी

अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवद्।
गतहासा हसन्त्यज्ञान् सहसा करुणाकुलाः ॥२३॥
चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम्।
पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥२४॥
अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तवः ॥२५॥
ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः।
जानन्ति तांस्तथैवाऽन्तरहेः पादानिवाऽहयः ॥२६॥

दुर्लभ होने से उक्त लक्षणों से सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन लक्षणों से सम्पन्न पुरुष की उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो। और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं उनमें तो ये लक्षण स्वभावानुभव बल से ही प्रतिष्ठित होते हैं। हठात् सम्पादित नहीं होते अर्थात् अपने को तपस्वी बतलाने के लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणों का फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणों से युक्त पुरुषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसे पुरुषों का अनुसरण करने पर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है ॥२२॥

वीतराग तथा क्रिया के फलों में आसक्ति शून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागी के समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हास से युक्त होकर अज्ञानियों के ऊपर हँसते हैं ॥२३॥

वे लोग समस्त दृश्य को चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कपट भूमि के तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्न में परिज्ञात हस्तगत सुवर्ण को असद्रूप देखते हैं ॥२४॥

जैसे चन्दन की लकड़ी की सुगन्ध को कृमि, कीट आदि जन्तु दूर से नहीं जान पाते वैसे ही इनकी उस अन्तःकरण की शीतलता को कोई नहीं जान पाते ॥२५॥

जो विज्ञेय पदार्थ का भलीभाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हीं के समान पवित्र अन्तःकरण वाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरण में उन्हें ठीक उसी तरह ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपों के पैरों को साँप जानते हैं यद्यपि तत्त्वज्ञानी के स्वरूप को अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं ॥२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भाव को छिपाये-फिरते हैं, क्योंकि

भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः।
ग्राम्यैर्धनैः किलाऽनर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥२७॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने।
निर्वासना गतद्वैता गवमानाः किलाऽङ्ग ते ॥२८॥
एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञाप्रयस्तु तान्।
सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥२९॥
स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता।
नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥३०॥

गाँवों तथा नगर आदि के धनों से जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणि को भला बाजार में बेचने के लिए कौन फैलायेगा अर्थात् दाम्भिक लोग सर्वत्र अपने में तत्त्वज्ञ के लक्षणों का प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानी हैं, वे लोग अपने स्वरूप को छिपाये फिरते हैं; उन्हें इसकी चाह नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें। हे श्रीरामजी, इसी विशेषता से वे पहिचाने जा सकते हैं ॥२७॥

[जबर्दस्ती अपने गुण का प्रचार करने कराने वालों को सभी लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है—संसार को वैसे ही धोखा देता है। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है।]

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन तत्त्वज्ञानी महानुभावों का अपने गुणों को छिपा रखने में ही तात्पर्य रहता है। दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति कराने में नहीं, क्योंकि वे लोग वासना से शून्य, द्वैतरहित एवं अभिमान से रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है जैसे बेचने के लिए बाजार में फैलाई गई चिन्तामणि को कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है ॥२८॥

उन महात्माओं को एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदि का अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान—ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदि की समृद्धि होने पर जनसमाज के द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदि से तत्त्वज्ञानी के आत्मसुखानुभव से विच्छेद पड़ने लगता है ॥२९॥

विदितवेद्यता का (तत्त्वज्ञता का) जो सार निरतिशय आनन्दरूप है, वह एकमात्र स्वानुभव से ही ज्ञेय है। वह किसी दूसरे को दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमी को भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूप को जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूप से अनुभूत होता है ॥३०॥

गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥३१॥
क्रियाफलानि चिद्व्योमगमनादीनि राघव।
अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥३२॥
यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः।
अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्त्वज्ञ एव वा ॥३३॥
आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि।
सर्वस्यैवाऽस्ति तन्नूतं तद्वता समवाप्यते ॥३४॥
अहन्तावासमाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु।
यस्याऽस्त्यसो साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥३५॥
इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति ज्ञस्तु वेत्ति यः।
सोऽवासनः कर्मवात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥३६॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन।

मेरे इस गुण को संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियों को होती है, जीवन्मुक्त विवेकियों को नहीं होती ॥३१॥

हे राघव ! इस संसार में आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मन्त्र, ओषधि के वश से अज्ञानियों को भी बहुधा प्राप्त हो जाते हैं ॥३२॥

जो जैसा क्लेश सहन करने में समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है। चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥३३॥

चन्दन के आमोद की तरह विहित और निषिद्ध कर्मों का फल सभी जन्तुओं के अपने हृदय में ही अपूर्व रूप से विद्यमान है। समय पाकर अविर्भूत हुए उसे अवश्य तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥३४॥

सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओं में 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रियाफल को सिद्ध कर लेता है ॥३५॥

जो ज्ञानी यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रम मात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाश मात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधी से भ्रमण प्राय आकाश-गमन आदि सिद्धि फलवाली मन्त्रौषधादि क्रियाओं की क्यों सिद्धि करने जायगा ॥३६॥

तत्त्वज्ञानी का इस संसार में न तो कर्म से ही कोई प्रयोजन है और न कर्माभाव से कोई प्रत्यवायप्राप्तिरूप

न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३७॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित्।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥३८॥
जगदेव तृणं यस्य न किंचिद्रज एव वा।
किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥३९॥
निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः।
यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥४०॥
नित्यान्तःशीतलो मौनी सत्त्वीभूतमनोवनिः।
परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥४१॥
रसायनपरापूर्णह्रदवत् ह्लादमात्मनि।
धत्ते करोति वाऽन्यस्य सकलेन्दुरिवाऽमलः ॥४२॥
मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः।
न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥४३॥

अनर्थ है तथा ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों में इस विवेकी का, किसी आत्म प्रयोजन की अपेक्षा करके, आश्रयणीय कोई भी नहीं है ॥३७॥

पृथिवी पर, स्वर्ग में, देवताओं में, अन्तरिक्ष या कहीं पर कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानी के लोभ के लिए हो यानी उसे लुभा सके ॥३८॥

जिसके लिए सारा संसार तृण के बराबर है, जिसमें रजोगुण का लेश भी नहीं है उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्मा के लिए आत्मा से अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥३९॥

लोकसंग्रह के लिए जगत् के व्यवहारों का पूर्णरूप से निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वस्वरूप में ज्यों का त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचार का अनुसरण करता है ॥४०॥

अन्तःकरण में शीतल, मौनी, सत्त्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागर के समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥४१॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृत से भरे सरोवर के समान अपने आत्मा में स्वयं आनन्द की हिलोरें लेता रहता है है तथा निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमा के समान दूसरे को भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥४२॥

मन्दार की मञ्जरी के कुञ्जों से पिञ्जर देवताओं के नन्दनवन की भूमि मनुष्य को वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा पण्डितों की बुद्धियाँ देती हैं ॥४३॥

चन्द्रबिम्बैर्वसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरभालोकभोगिषु ॥४४॥
भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥४५॥
शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
अन्यदेहगतानीव ज्ञः पश्यत्यवहेलया ॥४६॥
करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिधीरया ।
नीरसो नीरसारां तु सारतां सरति स्थितिम् ॥४७॥
व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
चराचराणां भूतानामुपर्येवाऽवतिष्ठते ॥४८॥

सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियों में चन्द्रबिम्बों से, सौगन्ध्यभोगियों में वसन्त से तथा सौभाग्यभोगियों में तत्त्ववेत्ताओं के रागादि से अनुपहत आशयों से सार ग्रहण करता है ॥४४॥

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजाल के समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकार का निश्चय करके दिन-प्रति-दिन अपनी इच्छाओं का त्याग करता जाता है। अर्थात् तत्त्वज्ञानियों के आशयों से किस सार का ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत्को मिथ्या देखता है उसके बाद क्रमशः तमस्त अपनी इच्छाओं का त्यागकर देता है ॥४५॥

अपने शरीर में प्राप्त भी शीत, आतप आदि दुःखों को ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थ के समान अनादर से देखता है अर्थात् तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्व की सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मी का जो सहन करना है, तद्रूप सार को ग्रहण करता है ॥४६॥

एकमात्र दूसरे के उपयोग के लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लता के सदृश, करुणा के कारण उदार वृत्ति से अन्य दुःखी प्राणी का परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरह की उत्तमवृत्ति में जिसमें सन्तोष का हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्ति से स्थितिरूप सारता को प्राप्त करता है अर्थात् अनन्तर समस्त भूतों के ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथा प्राप्त जलमात्र से भी सन्तोष करलेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सार को ग्रहण करता है ॥४७॥

प्रज्ञाप्रासादमारूढस्त्वशोच्यः शोचते जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्रज्ञोऽनुपश्यति ॥४९॥
चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
परं पारमुपागत्य परां विश्रान्तिमेति सः ॥५०॥
हसन् स शान्तया वृत्त्या प्राक्तनीर्जागतीर्गतीः ।
स्मयमान इवाऽऽस्तेऽन्तर्जनताश्च घनभ्रमाः ॥५१॥
एताः कान्तारनिर्मग्नमिताः संसारदृष्टयः ।
असत्यो हृतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥५२॥
दृष्ट्वाऽष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे तृणायते ।
इत्युपैत्युपशान्तत्वात् स्मयमानोऽपि न स्मयम् ॥५३॥

यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहार का सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकी पुरुष समस्त चराचर प्राणियों के ऊपर (उत्कर्ष में अथवा ऊर्ध्वमूलभूत ब्रह्म में) अवस्थित रहता है ॥४८॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी प्रासाद के ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियों के विषय में शोक करता है। वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वतपर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनों को देखते हैं ॥४९॥

भ्रमरूपी सागर में राग, द्वेष आदि लहरों से चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा पर पारको प्राप्त होकर परम विश्रान्ति को प्राप्त करता है अर्थात उसी समय वह चिरकाल से पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखों से मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥५०॥

प्राक्तन संसार की गतियों को अतिशान्त वृत्ति से हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रम से परिपूर्ण यानी महान् अज्ञान से भरे समूहों के प्रति अपने अन्तःकरण में मुस्काता हुआ-सा स्थित रहता है ॥५१॥

ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियां, जो जंगल में रास्ता न मिलने से अन्धा बनकर इधर-उधर भटक रहे अन्धपुरुष से उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मय को प्राप्त होता है ॥५२॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृण के समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होने से गर्व नहीं करता है ॥५३॥

कश्चिद्गिरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याश्रमाश्रयः।
कश्चिद् गृहस्थाश्रमवान् कश्चिद्बहु रटन् स्थितः ॥५४॥

कश्चिद्भिक्षाचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः।
कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥५५॥

कश्चिद्विपश्चिद्विख्यातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः।
कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिदज्ञ इव स्थितः ॥५६॥

गुटिकाञ्जनखड्गादिसिद्धः कश्चिन्नभोगतः।
कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥५७॥

कश्चित्त्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः।
कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रव्रज्यां कश्चिदाश्रितः ॥५८॥

पुरुषो न शरीरादि न च वित्तादि किञ्चन।
पुरुषश्चेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥५९॥

अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसावक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥६०॥

इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति।
तथा तिष्ठतु तत्रात्र स्थानस्थानियमेन किम् ॥६१॥

पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेषणमेव येन
चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥६२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मरणाद्यभावोपदेशो नाम द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥१०२॥

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतों की गुफा को अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रम में रहता है, कोई गृहस्थ आश्रम में ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर-उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुष का कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥५४॥

कोई भिखमंगों के आचरण से युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्त में तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है, और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यान में ही परायण रहता है ॥५५॥

कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति-स्मृति का श्रोता भी दीखता। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई आज्ञानी के समान स्थित रहता है ॥५६॥

कोई गुटिका, अञ्जन या खड्ग आदि से सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कला से अपनी जीविका का सम्पादन करता है और कोई पामर के समान रूप धारणकर स्थित रहता है ॥५७॥

कोई समस्त आचारों से शून्य होता है, तो कोई आचार-अनुष्ठान में श्रोत्रियों का नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुष के तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यासधर्म धारण कर स्थित रहता है ॥५८॥

पुरुष शरीर आदि और चित आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एक मात्र चेतन ही है। वह कभी नष्ट नहीं होता ॥५९॥

यह चेतन पुरुष किसी से छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जल से भिगा नहीं सकता और कोई इसे सुखा भी नहीं सकता है; यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है ॥६०॥

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहाँ जैसे रहना चाहे वैसे ही यहाँ या वहाँ जहाँ कहीं पर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा के परिपालन में आस्था रखने से या किसी तरह के नियम से कोई मतलब नहीं है। आशय यह है कि ऐसे पुरुषोत्तम के तत्त्वपरिज्ञान से वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम-मर्यादा का परिपालन करने से, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादा का पालन न करने पर भी उसकी पुरुषोत्तमता में किसी प्रकार की हानि नहीं होती ॥६१॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जाने की इच्छा से पाताल में प्रवेश कर जाय, आकाश को लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डल में भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतों से वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोश के सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है—उपप्लव रहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥६२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में मरण आदि अभाव उपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एकसौदोवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०२ ॥

१०३

वसिष्ठ उवाच

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च।
चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥१॥
तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित् स न नश्यति।
यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम् ॥२॥
न चाऽन्यदन्यच्चिन्मात्रं क्वचित् किञ्चन कस्यचित्।
सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम साऽन्यता ॥३॥
सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः।
चिन्मात्रस्याऽवदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥४॥
शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम्।
हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥५॥
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्नभः।
देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छैर्दृष्टा पिशाचता ॥६॥
यावच्छरीरसत्ता चेच्चेतनस्य तदुच्यताम्।
शवः कस्मान्न चलति सत्यखण्डे शरीरके ॥७॥
पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत् स सर्वदा।
किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥८॥

१०३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में अन्तःकरण के साक्षीरूप से तथा सुषुप्ति-दशा में अज्ञान, स्वप्नादि के साक्षीरूप से प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से और व्यवहार से तथा स्मृति प्रमाणों से जो आदि एवं अन्त से रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है। उसका भला नाश किस कारण से होगा! यदि कहो, उससे असाधित कारण से उसका नाश होगा सो उससे असाधित कारण हो प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाश का हेतु कैसे हो सकता है? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। यदि आप काल को उसके नाश का निमित्ति बतावें, तो काल भी उसके नाश का निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि काल की भी सिद्धि तो उसी के अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है ॥१॥

चूंकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता। यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा? ॥२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र से भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एक मात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उत्तरकाल में सर्वांश में सादृश्य है। उसकी भला कैसी भिन्नता होगी? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है। भाव यह कि पूर्वकाल की चिति से उत्तरकाल की चिति का भेद किंमूलक है? क्या मध्य में विच्छेद ज्ञान से उसकी कल्पना की जाती है या वह पहली से विलक्षण है इसलिए भेद की कल्पना की जाती है? विच्छेद ज्ञान से वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चित् है, अनुभव रहते विच्छेद की सिद्धि नहीं हो सकती। पूर्व चित् से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो 'अचित्' हो जायगी। पूर्व और उत्तर काल की चित् में सर्वांश में अनुभव की समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी? अर्थात् पूर्व और उत्तर चित् की भिन्नता मिथ्या ही है ॥३॥

जब सभी लोगों को हिम शीतल है, अग्नि ऊष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्र में ही भेद कैसे भासेगा? अर्थात् यदि कोई कहे कि पुरुष के भेद से चित् का भेद होगा, तो उस पर काल भेद की तरह पुरुष भेद से भी चित् का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदि में शैत्य आदि की तरह चिति में भी किसी को विलक्षणता का अनुभव नहीं होता ॥४॥

शरीर के नाश से ही यदि चिन्मात्र नाश हो गया, तो मरण से ही संसार का नाश हो गया, फिर हर्ष की जगह विषाद क्यों? ॥५॥

शरीर का नाश होने पर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता। क्योंकि बन्धुओं का शरीर नष्ट होने पर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥६॥

जब तक शरीर है तभी तक चेतन की भी सत्ता है, यदि यह कहा जाय, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहने पर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है? ॥७॥

पिशाच देखना यदि जीव का धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता। बन्धु के मृतक बन जाने पर ही क्यों देखता है? ॥८॥

जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्तादृशत्वं नरः कथम् ।
मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥९॥
तस्मात् सर्वात्मकं त्वेतच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।
यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्तत्राऽवगच्छति ॥१०॥
अबाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।
तादृश्येवाऽनुभूतिर्हि तत्स्वभावोऽत्र कारणम् ॥११॥
अन्यन्न संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।
यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥१२॥
सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाऽद्याऽवभासते ।
विकल्पश्रीजंगद्भासा केवलं भाति चिन्नभः ॥१३॥

बन्धु मरण ज्ञान विशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धु के जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तर में उसकी कल्पित मृत्यु सुनने पर पिशाचता को मनुष्य क्यों नहीं देखता ॥९॥

इसीलिए चित् के भेद और विनाश का योग न होने से चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है, वस्तुकृत परिच्छेद से भी वह नियन्त्रित नहीं है। अतः जिस जिस वस्तु को चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूप को ही तत् तत् वस्तु के रूप से वह जानती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी वेद्य वस्तु चिति से पृथक् नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सत्यसंकल्प होने के कारण जिसके मार्ग में कोई विघ्नबाधा उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगों की अनुभूति है। संवित् का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥११॥

सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी संवित् के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टि के आरम्भ में कारण कदापि नहीं हो सकते। ब्रह्म से अतिरिक्त जो भी कारण वादियों को जँचता हो, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होने में जो युक्ति हो, उसका उपादान करें। मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥१२॥

द्वैत न तो सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है ॥१३॥

यह आभासमात्र विवर्तमात्र 'दृश्य' रूप से लोगों को ज्ञात होता है। 'दृश्य' रूपसे ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत,

आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
दृश्यमित्यवबोधेन तदृते स्यात्क्व दृश्यया ॥१४॥
स्वचमत्कारचातुर्यं चारु चिन्नभसा रसात् ।
बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यबोधान्न बुध्यते ॥१५॥
बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
भेदोऽत्र वाचि न त्वर्थे तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्यता ॥१६॥
या चाऽऽसीद्दृश्यतैषां तां विद्धि त्वमविचारणाम् ।
सा चेदानीं विचारेण विनष्टाऽतः क्व दृश्यता ॥१७॥
अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥१८॥

मरुनदी आदिरूप विश्व की चिदाकाश के बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥१४॥

चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरी को ही आसक्ति-वश जाग्रत् और स्वप्नबोध से 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्था में बोध न होने से नहीं जानता है ॥१५॥

बोध और अबोध चिदाकाश का ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़ का नहीं है, इसलिए चिदाकाश-रूप से वह एक ही है। बोध के बिना अबोध का रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जानेपर अबोध का संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहु का सिर) 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्र से भेद है, किन्तु अर्थ में कुछ भेद नहीं है। इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥१६॥

जो इन लोगों की दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानि आत्मतत्त्व के अविचारक ही वह फल था और वह विचार से अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है अर्थात् अथवा समझिये कि आत्मतत्त्व के अविचार से ही चित् में दृश्यता थी और इस समय विचार करने पर वह नष्ट हो गई है ॥१७॥

इस आत्मज्ञान के विचार में ही बुद्धि का यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये। यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सिद्धि देनेवाला है। सूत्र में भी कहा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहिये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' अर्थात् विद्या से अविरुद्ध फलवाले फलोन्मुख कर्म से प्रतिबन्ध का अभाव होनेपर इस जन्म में भी विद्योत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होनेपर जन्मान्तर में भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियों में देखा गया है ॥१८॥

अविद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥१९॥
त्रोद्वेगं संपरित्यज्य गृहीत्वाऽनुदिनं क्षणम् ।
लोकद्वयहितं पथ्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥२०॥
विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
भवतां भूरिभागानां संभूयाऽभ्यसनं विना ॥२१॥
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥२२॥
तस्मादस्मान्निवर्तध्वमसच्छास्त्रविचारणात् ।
शान्ति प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥२३॥
विवेके चाऽविवेके च वहत्येषा मनोनदी ।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगों का यहाँ पर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यास के बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त हो सकता है ॥१९॥

शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न पुरुष को आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदि का परित्याग कर और क्षणभर के लिए गुरुसेवा आदि का नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्र का प्रतिदिन विचार करना चाहिये । यह इस लोक और परलोक—दोनों लोकों में हितकारी और कल्याणकारी है ॥२०॥

यह आत्मज्ञान तरह तरह की असंभावना, विपरीत-भावना आदि रखनेवाले आप लोगों के मिलजुल कर अभ्यास न करने से, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है अर्थात् उसपर भी बहुत से सहपाठियों के के साथ मिलकर अभ्यास करना आपस में एक दूसरे के अनुभव के आदान-प्रदान द्वारा अतिशीघ्र ज्ञानप्रतिष्ठा का हेतु है, ऐसा कहते हैं ॥२१॥

जो जिस वस्तु को चाहता है, उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीच में ही अपना विचार न बदल दे, तो उसे अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान दुर्लभ है, इस भय से श्रवण का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ॥२२॥

इसलिए असत् शास्त्रों की विचारणा से आप लोग निवृत्त हो जाइये । जैसे युद्ध से विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्-शास्त्र के अभ्यास से आप लोगों को अवश्य शान्ति प्राप्त होगी अर्थात् अनात्मशास्त्रों के

यत्रैव वाह्यते यत्नात्तत्रैव स्थितिमृच्छति ॥२४॥
अस्माच्छास्त्रादृते श्रेयो न भूतं न भविष्यति ।
ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥२५॥
स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
संसाराध्वश्रमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥२६॥
यन्न पित्रा न वा मात्रा न चाऽपि सुकृतैः कृतम् ।
श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥२७॥
भवबन्धमयी साधो विषमेयं विषूचिका ।
आत्मज्ञानादृते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥२८॥
महामोहमयी माया मिथ्यैवाऽहमिति स्थिता ।
शास्त्रार्थभावनेनाऽऽशु मुच्यतां परशोच्यता ॥२९॥

अभ्यास से विमुख हुए पुरुषों को इस शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये ॥२३॥

यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्न से विरोधी दूसरे स्रोत को रोकने के यत्न से बहाई जाय, वहीं पर स्थिर हो जाती है ॥२४॥

इस शास्त्र के सिवा विवेक का सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोध की प्राप्ति के लिए इसी का पुनः पुनः मनन करना चाहिए ॥२५॥

जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्र का विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूप से आत्मतत्त्व बोध का, जो कि संसाररूपी मार्ग की थकावट दूर करनेवाला है, अनुभव होता है वरदान अथवा शाप के समान चिरकाल के विलम्ब से उसका अनुभव नहीं होता ।।२६॥

आपका जो हित पिता ने नहीं किया या जो हित माँ ने नहीं किया अथवा जो हित पुण्यों ने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा; यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें । अर्थात् यह शास्त्र माता, पिता आदि की भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है ॥२७॥

हे सज्जन शिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय से कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥२८॥

'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी माया का और उक्त माया से प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयता का शास्त्रार्थ भावना द्वारा ही परित्याग कीजिये ॥२९॥

यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम्।
शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाऽहयः ॥३०॥
यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः।
व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥३१॥
तावदाश्वासनैषाऽस्ति भवतां भवभागिनाम्।
दिनानि कतिचिद्यावन्नाऽऽयाति मरणावधिः ॥३२॥
आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ।
तं यत्राङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥३३॥
क्रीणन्ति प्राणपण्येन घनं मानं धनभ्रमाः।
यथाशास्त्रैः कथं बुद्धया न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥३४॥
पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे।
कथं तैः सह्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥३५॥

आरम्भ में आपाततः मधुर प्रतीत होने वाले शून्य स्वरूप विषयों का आस्वाद ले रहे आप लोग एक मात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टि की ओर—भूखे अतएव रसशून्य वायु को चाट रहे सर्पों के समान न बढ़ें ॥३०॥

बड़े खेद की बात है, दिनों द्वारा ही मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे आप लोगों के जीवन के सारे दिन व्यवहार में ही व्यतीत होते हैं। कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगों को ज्ञात नहीं होता ॥३१॥

कुछ ही दिनों तक जब तक कि आयु की मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार में निमग्न हुए आप लोगों के लिए सत् शास्त्र की अवलम्बन योग्यता द्वारा यह आश्वासन है ॥३२॥

दिन पर दिन समीप में आ रही मृत्यु के प्राप्त होने पर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अङ्ग-अङ्ग का छेदन भी शीतल चन्दनलेप के समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

मूर्ख लोग युद्ध आदि में प्राणों की बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमान का उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायों से प्राप्त हुई तत्त्वबुद्धि से अजर-अमर मोक्षपद का उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥३४॥

जो विवेकशील पुरुष अनायास एक मात्र आत्मतत्त्व ज्ञान से ब्रह्माकाश में स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करने में समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्र की उपेक्षा से अपने सिर पर अज्ञानरूपी शत्रु की लात कैसे सही जा सकती है ? ॥३५॥

हे पुरुषो ! आप लोग अभिमान तथा मोह से रहित

निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माऽधमाम्।
क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकाषो महापदाम् ॥३६॥
प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम्।
यं प्रदृश्येदमाकर्ण्य स्वात्मनैवाऽऽत्मताऽर्प्यताम् ॥३७॥
अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः।
संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥३८॥
अस्माद्ग्रन्थादृते ग्रन्थो नाऽन्यः स्वात्मावबोधने।
नूनमर्थंकरो ग्राह्यस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥३९॥
आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत्।
पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥४०॥
विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत्।
दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥४१॥

विवेक को प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगति को प्राप्त हों अधम संसारगति को प्राप्त न हों। आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओं की जड़ खोदी जाती है ॥३६॥

आप लोगों के उद्बोधन के लिए जी-जान से लगे हुए, आप लोगों के लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशों से नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठ की) ओर देखकर दयावश मेरे वचनों को आदर से सुनकर, उद्बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभाव का परित्याग कर यथार्थ ब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए। आशय यह है कि यह वसिष्ठ चिरकाल से हम लोगों के उद्बोधन में कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहट के इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दया से मेरा वचन ध्यान से सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये ॥३७॥

जो पुरुष आज ही मृत्युरूपी आपत्ति की चिकित्सा (प्रतीकार का उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्यु के सर पर सवार होनेपर व्याकुलावस्था में क्या करेगा ? ॥३८॥

अपने असली स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए इस ग्रन्थ को छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तेल चाहनेवाले तिलों का संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालों को यह अभिलषित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धि से इस ग्रन्थ का संग्रह करना चाहिये ॥३९॥

यह शास्त्र दीप की तरह आत्मरूप ज्ञान को प्रकाशित करता है, पिता के समान हितोपदेश देता है और कान्ता के सामान अत्यन्त आनन्द देता है ॥४०॥

नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञान को अनेक शास्त्रों से लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञान को इस ग्रन्थ के अभ्यास से जान जायँगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥४१॥

इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।
सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किंचन ॥४२॥
नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयन् ।
इदं शास्त्रं परं याति पुमान्नाऽस्त्यत्र संशयः ॥४३॥
यो ह्यद्याऽपि न संप्राप्तः पण्डितैरविखण्डितैः ।
स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥४४॥
शास्त्रकर्तरि मङ्क्तव्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
शास्त्रार्थं एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥४५॥
अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नाऽऽत्महन्तृभिः ॥४६॥

शास्त्रों में मुख्य आख्यानों में यह आख्या सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देने वाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है। इसमें तत्त्ववेत्ताओं के सम्प्रदाय में प्रसिद्ध वस्तु से अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है ॥४२॥

विविध आख्यानों और कथाओं से विस्मयजनक इस शास्त्र का कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥४३॥

सम्पूर्णशास्त्रों में पारंगत पण्डितों को भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्र से प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोने की खान में चालने, धोने से अलग किये गये बालू से सुवर्ण प्राप्त होता है ॥४४॥

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करने पर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्र के कर्ता को कहाँ से बोध हुआ यों उसके कर्ता में बोध के कारणों की छानबीन में निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियों से युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है। इसके विचारनेपर स्वानुभव से ही सब शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं। इसलिए इसी में सदा निमग्न होना ठीक है। शास्त्र के रचयिता में बोध है या नहीं यह शङ्का कहीं कभी ध्यान में नहीं लानी चाहिए ॥४५॥

अज्ञान से, डाह से अथवा मोह से इस शास्त्र की अवहेलना करने वाले अविवेकी आत्महत्यारों के साथ कदापि मित्रता नहीं करनी चाहिये। अर्थात् इस शास्त्र की अवहेलना करने वालों के साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये ॥४६॥

जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥४७॥
युष्मत्संविल्लवः शुद्ध एवं वक्तुमिह स्थितः ।
अहं नरो न गन्धर्वो नाऽमरो न च राक्षसः ॥४८॥
संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः ।
स्थितोऽस्मीति भवत्पुण्यैर्ननु नाऽस्मि न चाऽपरः ॥४९॥
श्यामायमाना नाऽऽयान्ति यावन्मरणवासराः ।
सारः संह्रियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ॥५०॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥५१॥

श्रोता लोग जिस प्रकार के अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण-धारणा के अभ्यास में पटु आप लोगों की बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगों को उपदेश देने के लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह सब मैं भली-भाँति जानता हूँ। अतः आप लोगों के महाभाग्योदय से जागी हुई करुणा से आप लोगों को उपदेश देने में प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीन जनों में मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरता का तो मुझ में नाम तक नहीं है; इसलिए आप लोगों का हित चाहने वाले मेरे वचनों पर आप लोग आदर करें, यह भाव है। अर्थात् मैं आप लोगों का आत्मा ही हूँ आप लोगों के पुण्य से शुद्ध आत्मतत्त्व का आप लोगों को उपदेश देने के लिए आया हूँ और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगों का मित्र-सा हो गया हूँ ॥४७॥

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ, और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगों का शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगों को आत्मज्ञान को उपदेश देने के लिए यहाँ पर स्थित हूँ। हे श्रीरामजी, आप लोग भी संविद्रूप ही हैं, अतिनिर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगों के पुण्योदय से स्थित हूँ। मैं आप लोगों की आत्मा से अतिरिक्त नहीं हूँ ॥४८, ४९॥

मैं आप लोगों का अत्यन्त आप्त हूँ, इसलिये जब तक रात्रि के समान अन्धकारपूर्ण मृत्यु दिवस पास में नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओं में वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लिजिये ॥५०॥

जो पुरुष इसी लोक में नरकरूपी व्याधि के प्रतीकार का उपाय नहीं करता, वह ओषधिरहित (जहाँ ओषधि दुर्लभ है) स्थान में जाकर नरकरूपी रोगों से छटपटाता हुआ क्या करेगा ॥५१॥

सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ॥५२॥

आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवादृते ।
नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनाऽपि कदाचन ॥५३॥

भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धि ते वस्तुभावना ।
किन्त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥५४॥

सर्व एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशरारवः ॥५५॥

प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥५६॥

सर्व एव जगद्भावाः कारणाभावतो भृशम् ।
सर्गादावेव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥५७॥

जब तक सकल पदार्थों में वैराग्य नहीं प्राप्त होता तब तक पदार्थों की वासना कम (निवृत) नहीं होती। अर्थात् यदि कोई आशङ्का करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इस पर वैराग्य के बिना वासनाओं तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती ॥५२॥

हे महामते ! आत्मा का पूर्णरूप से उद्धार करने के लिए वासना की निवृत्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥५३॥

यदि पदार्थ सत्यरूप से रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थों में यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु ये पदार्थ तो शश के सींग आदि की तरह यहाँ हैं ही नहीं; जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनपर जब तक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं। विचार करने पर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥५४, ५५॥

प्रामाणिक विचार करने पर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक-एक वस्तुरूप हैं या सर्ववस्तु रूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकार से पहले सैकड़ों बार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥५६॥

सभी जगत् के पदार्थ कारण के अत्यन्ताभाव से सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥५७॥

पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
भावानां कारणं नाऽस्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥५८॥

भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।
कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं व्योमन्यव्योमता कुतः ॥५९॥

साकारस्य हि साकारं वटधानादिवद्भवेत् ।
बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥६०॥

न किंचिदपि यत्राऽस्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
तत आकृतिमद्विश्वं भवतीति विडम्बनम् ॥६१॥

कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
वाचालत्वेन यन्नाम कल्प्यते मौर्ख्यमेव तत् ॥६२॥

सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
कार्यं भवेदन्यदेति बालैरप्यनुभूयते ॥६३॥

सभी इन्द्रियों से अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्म में मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों से वेद्य होने वाले पदार्थों के मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों से वेद्य कारण की प्रलय-काल में संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥५८॥

विविध नाम-रूपवाले पदार्थों का नाम-रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है। इसी एक रीति से वस्तु अवस्तु का कारण तथा अशून्य का कारण नहीं कहा जा सकता, यह कहते हैं—'कुतः' से। वस्तु में अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योम में अव्योमता कैसे हो सकती है ? ॥५९॥

वट के बीज के समान साकार का साकार ही बीज हो सकता है। बीज वह वस्तु हो उससे साकार विसदृश अन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥६०॥

जिसमें तनिक भी आकृति वाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बना वाक्य के समान निरर्थक है ॥६१॥

उस परमपद में कार्यकारणभावादि नहीं हैं, बकवास के कारण जो उसमें कार्यकारणभावादि की कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥६२॥

सहकारी और निमित्त कारण के अभाव में कारण से (उपादान कारण से) कार्य की उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्तकारण के अस्तित्व में होती है, यह बात बच्चों को तक विदित है ॥६३॥

तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम्।
किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते वदाऽऽतपे ॥६४॥
परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम्।
शशभृङ्गं धनुःप्रख्यमज्ञानादभिधीयते ॥६५॥
परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुरुते जगत्।
यदृच्छयैव तमसि शीर्यंते च यदृच्छया ॥६६॥
तदङ्गमिङ्गते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे।
अपूर्वात्मरजःशृङ्गं खातं वा स्याद्दिने दिने ॥६७॥

कहिये तो सही जगत्-मात्रज्ञानरूप चित् पृथिवी आदि का कारण कैसे हो सकता है। चित् में अचित् की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'छाया' से। भला कहिए तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है? अर्थात् जगद्ज्ञानरूप होने के कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञान में घटकारणता नहीं दिखाई देती ॥६४॥

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओं का समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई शश का सींग धनुष के तुल्य है, कहे वैसे ही यह भी अज्ञान से कहा जाता है अर्थात् इसी से परमाणुकारणवादी बौद्ध आदि के मत का खण्डन हो गया। कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) परमाणु समूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता ॥६५॥

यदि परमाणुओं का समूह मिलकर जगत् की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाश में उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह-जगह, घर-घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलि की अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी को दिखाई नहीं देता है, जालों के अन्दर सूर्य-किरणों में सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं। यदि कहिये उन्हीं के अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोग के अयोग्य होने से अद्रव्य हो जायगा। निरवयव का अन्य के साथ संयोग नहीं हो सकता। संयोग एक देश में होता है ऐसा नियम है। संयोग न होने से द्व्यणुक आदि की सिद्धि नहीं होगी। दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाश-पुष्प से परमाणुओं के संयोजन द्वारा जगत् की रचना

न च तद्दृश्यते किंचित्कस्य तत्कर्म तादृशम्।
भवेद् व्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥६८॥
नाऽबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्ग कस्यचित्।
बुद्धिपूर्वं तु यद् व्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥६९॥
जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नाऽस्ति तां विना।
न संभवत्यणुचयो नाऽन्यत्कर्तोपपद्यते ॥७०॥
वयमात्मान एवेमे खात्मानः खात्मका जनाः।
तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥७१॥

करना किसका काम है? क्या किसी असंसारी पुरुष का वह काम है या संसारी का? संसारी की शक्ति तो परमाणुओं से जगत् की रचना करने में कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है। यदि कहो कि संसार के अयोग्य ईश्वर या जड़ का यह काम है, तो उनसे ईश्वर का बिना प्रयोजन के जगत् का निर्माण व्यर्थ है। नित्यमुक्त ईश्वर को कोई प्रयोजनापेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टि का कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। और जड़ परमाणु अपने-आप जगत्सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है अर्थात् यदि परमाणु आपस में मिलकर जगत् की रचना करें तो उनका सदा आकाश में उड़ना, गिरना दिखाई देने के कारण प्रत्येक घर में प्रतिदिन पहाड़ की चोटी-सी और कुएँ का गड्ढा-सा हो हो जायगा ॥६६-६८॥

उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य किसी का अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्म को कौन पागल करेगा? ॥६९॥

जड़ वायु की बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है। बुद्धिपूर्वक चेष्टा के बिना परमाणुओं का एकत्रीकरण नहीं हो सकता। जड़ और सर्वज्ञ से (ईश्वर से) अतिरिक्त जीव, प्रलय में शरीर नहीं होने के कारण, असमर्थ ही था; इसलिए सृष्टि के आरम्भ में इसके किसी कर्त्ता की उपपत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् इस कथन से वायु ही परमाणु का संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापार के बिना ही अणुओं का संघात (मेलन) हो जायगा, इस आशंका भी निराकरण हो गया, ॥७०॥

ये हम लोग देह आदि मूर्तता से रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारे सदृश ही चिदात्मरूप ही हैं तथापि जैसे स्वप्न में आपके स्वप्नमानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पना से ही स्थित हैं ॥७१॥

तस्मान्न जायते किंचिद्विश्वं नाऽपि च विद्यते ।
इत्थं चिन्नभ एवाऽच्छं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥७२॥
विश्वाकाशं चिदाकाशे विष्वग्विश्रान्तिमागतम् ।
स्पन्दोद्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥७३॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ निमेषेणाऽतिदूरतः ।
संविदो यद्वपुर्मध्ये चिद्व्योम्नो विद्धि तद्वपुः ॥७४॥
स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नभः ॥७५॥
स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाऽऽशु तस्य सा ।
स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥७६॥
जगच्चिन्नभसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥७७॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्वपुः ।
शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥७८॥

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है। इस प्रकार जगत् के रूप से निर्मल चिदाकाश हीं अपने में अपने आप विकसित होता है ॥७२॥

जैसे वायु में स्पन्द, जल में द्रवता और आकाश में शून्यता इनसे (वायु आदि से) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाश में विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥७३॥

अत्यन्त दूर से भी दूर एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में दोनों देशों के मध्य में एक क्षणभर के लिए संवित् का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाश का स्वरूप समझिये ॥७४॥

सब पदार्थों का संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्व की चिदाकाश रूप से ही भावना करनी चाहिये शून्यरूप से भावना नहीं करनी चाहिये ॥७५॥

पूर्वोक्त चिदाकाश की स्वभाव से अभिन्न ही विवर्तभाव से जो परम स्थिति है उसी को आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नाम से पुकारते हैं ॥७६॥

इसलिए जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं जैसे पवन और स्पन्द दोनों का एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥७७॥

क्षणभर में एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में ज्ञान का सकल विशेषों से शून्य जो स्वरूप है वही अनुभव का मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥७८॥

स स्वभावोऽङ्गभूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥७९॥
आभासाकाशमेवेदं भामात्रमवभासनम् ।
विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥८०॥
न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
अनन्यदेव चिद्व्योम्नः शून्यत्वमिव खाज्जगत् ॥८१॥
न विश्वमस्ति नैवाऽऽसीन्न च नाम भविष्यति ।
इदमाभासते शान्तं चिद्व्योम परमात्मनि ॥८२॥
चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स्वप्ने कचति स्वयम् ॥८३॥
सर्गादावेव भावानामसत्तेत्यस्ति देहकः ।
कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नभश्चितेः ॥८४॥
स्वयंभ्वाख्यं शरीरं स्वं पूर्वः स्वप्नो महाचितेः ।
इतउत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥८५॥

वही अशेष विशेषों से शून्य चिदाकाश सब भूतों का स्वभाव है, उसी में पण्डित लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥७९॥

यह विश्व चिद्रूपी दर्पण में आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित् की प्रभारूप ही है। निराकार अविनाशी चितस्वभाव को ही विद्वान् पुरुष जगत् कहते हैं ॥८०॥

यह जगत् न तो उत्पन्न होता, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्य में होने वाला ही है। यह चिदाकाश से वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाश से शून्यता अभिन्न है ॥८१॥

न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा। यह परम शान्त चिदाकाश का आत्मा में ही अवभास हो रहा है ॥८२॥

जैसे स्वप्न में चिन्मात्र ही नगर, पर्वत आदि के रूप से प्रकाश में आता है वैसे ही इस जाग्रत् नामक स्वप्न में वह चिदाकाश ही स्वयं जगत् के रूप से प्रकाशित हो रहा है ॥८३॥

सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी आदि पदार्थों की सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देह का कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चिति का स्वप्न ही है ॥८४॥

स्वयम्भू नाम का अपना शरीर महाचिति का पहला स्वप्न है। तदनन्तर स्वयम्भू शरीर से उत्पन्न हुए हम लोग स्वप्न से दूसरे स्वप्न के सदृश हैं ॥८५॥

गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः।
परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥८६॥
ब्रह्मैवाऽसत्यपुरुषः सत्यवच्चानुभूयते।
स्थितं ततः प्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥८७॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत्।
यथा स्वप्ने तथाऽलीकमेवमाशु विनश्यति ॥८८॥
चिद्व्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति।
अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥८९॥
अनुभूतमलीकं चाऽप्यलीकं सत्यवत्स्थितम्।
संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥९०॥
साकारेव निराकारा स्थिता तद्वज्जगत्तया।
संविदाकाशमाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥९१॥

इसलिए जैसे गण्डमाला में (गण्डमाला में) निकले हुए फोड़े का गले से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्म से हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्ध की दृढ़-भ्रान्ति होने के कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्न से क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्म में शीघ्र नहीं जायगा ॥८६॥

जैसे गला ही गण्डमाला के रूप स्थित होकर गण्डमाला के ऊपर निकले हुए फोड़े के रूप से भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूप से पृथक् प्रतीत होता है। जभी से ब्रह्म जीवरूप हुआ तभी से यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥८७॥

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगत् के समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वप्न जगत् के समान ही नष्ट हो जाता है ॥८८॥

जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही जगत् का रूप धारणकर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत् नामक स्वप्न में भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत् का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

जैसे स्वप्न में संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदि के रूप से उदित होती है वैसे ही अलीक (असत्) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित् से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है। शून्यरूप नहीं है ॥९०॥

स्वप्ननगर आदि के समान ही निराकार होती हुई भी साकार-सी संवित् जगत् रूप से स्थित है। जैसे मेरु पर्वत के धूलि-कण परमाणु के समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाश से भी अणु है ॥९१॥

किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः।
कारणाभावतोऽन्यस्य नाऽऽकार उपपद्यते ॥९२॥
सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः।
यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥९३॥
भेदः स्वप्नाद्रिचिद्व्योम्नोर्न शून्याम्बरयोरिव।
यदेव चिन्नभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥९४॥
यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा।
स्पन्दास्पन्दैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥९५॥
तस्माच्चिन्नभ एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते।
सर्वं शून्यं निरालम्बं भासनं चिद्विवस्वतः ॥९६॥
शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम्।
सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥९७॥

आकाश से भी बढ़कर अणुता नाम का धर्म कहाँ प्रसिद्ध है ? जो कि संविदाकाश का (ब्रह्म का) धर्म होगा, इसलिए आकाश से भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है। जगत् का स्थूल आकार अणुरूप कारण के बिना नहीं बन सकता ॥९२॥

जो नगर आदि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत् से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्न में ईंट आदि के बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं। जाग्रद्वेदनाकाश में जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्त में स्वप्न में भी नगर है और वहाँ पर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदि से नगरनिर्माण नहीं होता है ॥९३॥

जैसे शून्य और आकाश का परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न-पर्वत और चिदाकाश में भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं। जो चिदाकाश है, वही स्वप्न-नगर है आशय यह है कि इस स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थों का परस्पर भेद न होने पर स्वप्नपदार्थों का चिदाकाश से भेद न होने के कारण जाग्रत्पदार्थों का भी चिदाकाश से अभेद सिद्ध हो गया ॥९४॥

चिदाकाश और स्वप्ननगर वैसे ही हैं जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन स्वरूपवाला वायु आकाश से अभिन्न है ॥९५॥

इसलिए चिदाकाश ही जगत् के आकार में दिखाई देता है। यह सब चिद्रूपी सूर्य का निराधार प्रकाशन है ॥९६॥

यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थर के समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥९७॥

तस्माद्वद कथं भावाः कुतो भावाः क्व भावधीः ।
क्व द्वैतं क्वैकता क्वाऽहं क्व भावाः क्व च भावनाः ॥९८॥
नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः ।
निर्वाण आस्स्व विगतामयशुद्धबोध-
बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ॥९९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥१०३॥

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं? कहां से ये उत्पन्न हुए हैं, कहां पदार्थ-बुद्धि है? कहां द्वैत है? कहां अद्वैत है? कहां मैं हूं? कहां पदार्थ हैं और कहां वासना है? ॥९८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्व के परिज्ञान से उक्त तत्त्व में एकरूप होकर सदा राज्य का परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूं, यह अभिमान न होने के कारण विकार से रहित, परस्पर विरोधि द्वैत और अद्वैत से मुक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल हो निरतिशय आनन्द को प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेप के कारण ये पदार्थ नहीं ही हैं ॥९९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में सकलभावाभावोपदेश से परमार्थैकताप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तीनवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१०३॥

१०४

वसिष्ठ उवाच

आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
तत्सङ्घोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिश्चेत्यपां स्थितिः ॥१॥
भूरेषां सङ्घः स्वप्नाभे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
कथं नाम किलाऽमूर्ताद्व्योम्नो मूर्तिः प्रवर्तते ॥२॥

१०४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है। उन दोनों के अत्यन्त संघर्ष से उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है। उक्त तेज की शान्ति (ऊष्णता और रूक्षता के शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जल का रूप है। आकाश, वायु, तेज और जलका सघ (इनका मेलन होने पर घनीभाव का हेतु गन्धभाव) पृथिवी है। इस प्रकार चित् से ही स्वप्न-सदृश जगद्भान में यह क्रम है यहां पर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाश से पृथिवी-पर्यन्त मूर्त पदार्थ-संघ कैसे हुआ? इसके उत्तर में यदि कोई कहे कि आकाश से क्रियास्पर्शप्रधान वायु ही उत्पन्न होता है। वह रूपहीन होने के कारण कुछ अंश में आकाश के तुल्य और क्रियास्पर्शप्रधान होने के कारण किसी अंश में मूर्त के तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेज को उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवय कूटस्थ आकाश से वायु की ही सिद्धि नहीं हो सकती। कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बन सकता है और न उसमें विकार हो सकता है। किन्च, यदि वह सम्पूर्णरूप से विकृत हो जाय, तो आकाश के अभाव से वायु आदि के लिए अवकाश हो नहीं रहेगा। यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायगा। यदि कहो अवयववान् भी हो क्या हानि है? तो समानरूप से वही स्पर्शवान् क्रियावान् भी हो जायगा, ऐसी स्थिति में वायु आदि की उत्पत्ति की व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवों की भी निरवकाशता हो जायगी। इस प्रकार रूपरहित वायु से भी रूपतन्मात्र की उत्पत्ति का आरम्भ से (आरम्भवादानुसार) या परिणाम से (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असभव ही है। कारण कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है। वायु में रूप का अभाव है। परिपाक से परिणाम होता है और तेज के बिना परिपाक की भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतों में भी समझ लेना चाहिये ॥१, २॥

गत्वा सुदूरमप्येतज्ज्ञप्तेरन्तेऽपरिकल्प्यते ।
तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्क इवाऽमले ॥३॥
ज्ञप्तिरेवाऽतिविमला स्वरूपात्मनि भाति यत् ।
तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥४॥
न क्वचित्सन्ति भूतानि पञ्च कुड्यादयो न वा ।
असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशास्विव ॥ ॥५॥
स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुराविवत् ।
कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्वद्वस्तु तत्सुखम् ॥६॥
चेतनाकाश एवाऽहं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
इत्यहं जगदित्येकं खमेवैकं शिलाघनम् ॥७॥
यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तनिवर्तनम् ।
यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥८॥
सति वाऽसति वा देहे
निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः ।
बुद्धेऽमले स्वभावे
निर्भरविश्रान्तिरस्तु सर्वेह ॥९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०४॥

यदि दूर की उड़ान भर कर अन्त में फिर लाचार होकर संवित् की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे वह स्वप्न आदि में स्वाप्नजगत् का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्त से सारे जगत् का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्त को मान लेने में कौन दोष है ? ॥३॥

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूप में भासित होती है. यह कथन 'वही जगत् है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठान के बल से तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुति के बल से सत्य ही हैं, यह सिद्धान्त-रहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥४॥

न तो कहीं पर पाँच भूत हैं और न घट, कुड्य आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदि में भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिक के समान सब को दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत् में असत् भी भूत-भौतिकपदार्थ चितिबल से सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥५॥

जाग्रत् में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत् के समान वैसे ही प्रकाश में आता है जैसे स्वप्न में चित्स्वभाव आत्मा ही नगर, पर्वत, आदि के तुल्य प्रकाशित होता है ॥६॥

मैं चेतनाकाश ही हूँ, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं। वस्तुतः केवल शिला के समान ठोस चिदाकाश का ही अस्तित्व है ॥७॥

जो आदि सृष्टि में जगत् की उत्पत्ति है और जो कल्प में (प्रलय में) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत् की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥८॥

निर्मल आत्मस्वरूप के ज्ञात हो जाने पर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है। उक्त मोक्ष देह के रहते या न रहते एक सा है (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में कोई भेद नहीं है)। उस मोक्ष में पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो। उतने से ही आपकी कृतकृत्यता है ॥९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में जगदसत्ताप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चारवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०४॥

१०५

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
स्वतः स्वप्नमिवाऽनन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥१॥
जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन न नोज्झितम् ॥२॥

१०५

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कल्पनारूप अपने से अभिन्न स्वभाव जगदाकार का स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है। अर्थात् स्वप्न में जिस प्रकार आत्मा अपने से अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदि का अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभाव का, जो अपने से अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है, अनुभव करता है ॥१॥

यह जाग्रत्, जो कि जगत् रूप से त्यक्त न होता

स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः।
स्वप्ने जगन्न किंचित्सदित्थमाभाति भासुरम् ॥३॥
त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते।
जाग्रत्यस्मिस्तथैवेदं मनागप्यत्र नाऽन्यथा ॥४॥
न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः।
स्वं वस्तुतस्तु चिद्व्योम्नो भानं बुद्धं जगत्तया ॥५॥
चिद्व्योम्ना स्वचमत्कारो व्योमन्यद्रद्र्यादिरूपभृत्।
जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥६॥
जगन्न किंचिदेवेदं चिद्रूपं च न किंचन।
एते किंचिदिवाऽऽभातो नभस्थिज्जगती मुधा ॥७॥
आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किंचन।
शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥८॥

हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठानरूप से शून्य आकाश ही है, निरा स्वप्न है ॥२॥

इस विषय में विविध नगरों से अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्न में जगत् का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है अर्थात् स्वप्न भी ऐसा ही होता है अतः वही इसका ठीक-ठीक उदाहरण है ॥३॥

इस जाग्रद् अवस्था में भी अवभासित हो रहा है, इसमें वैसे ही जरा भी स्वप्न से निरालापन नहीं है जैसे स्वप्न में यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है ॥४॥

जगत्-शब्द के अर्थ का जगत् का न तो जाग्रत् में संभव है और न स्वप्न में ही संभव है, वस्तुतः चिदाकाशका जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानी जन जगत् मान बैठे है ॥५॥

अपने आप होने वाले चिदाकाश ने अन्धकार से आवृत आत्मरूप आकाश में पर्वत, नगर आदि का स्वरूप धारण करने वाले अपने चमत्काररूप तुमको जाग्रत स्वप्न में जगत् समझा है ॥६॥

यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत् के शून्य होने से उसका भासक चित् का रूप भी कुछ नहीं है। ये अत्यन्त असत् चित् और जगत् ग्राह्य और ग्राहक ब्रह्म में मिथ्या ही भासित होते हैं ॥७॥

जैसे स्वप्नावस्था में भासित हुआ त्रैलोक्य वास्तव में कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही हैं ॥८॥

स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि।
आरम्भा एव नाऽऽरम्भा असत्सदिव चाऽऽततम् ॥९॥
अव्योमैवाऽतिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम्।
व्योमैवाऽचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥१०॥
अप्यब्दाब्ध्यद्रिनिर्घोषो मौनमेव यथा तथा।
न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्याऽपि किंचन ॥११॥
प्रजायते वा जातोऽपि बन्ध्यायास्तनयो यथा।
जातोऽप्यजात एवाऽऽस्ते यथाऽऽत्ममृतिविस्मृतौ ॥१२॥
सदसद्भवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा।
विपर्यस्यति सर्वं च रात्रिरेव यथा दिनम् ॥१३॥
असद्यत्संभवत्याशु दिनमेव यथा निशा।
असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥१४॥

हे महामते ! विविध प्रकार के गृह, उपवन आदि की निर्मितियों से शोभायमान स्वप्न में आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत् के समान व्याप्त है ॥९॥

ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशः वायु आदि बनकर पर्वत समूह और विविध नगरों का समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥१०॥

जाग्रत्-शब्द आदि भी वैसे ही शून्य ही हैं जैसे स्वप्न में मेघों, सागरों और पर्वतों की गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुष के प्रति प्रख्यात होने पर पास में सोये हुए दूसरे के (स्वप्न के अद्रष्टा के) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पास में सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जन को कुछ भी नहीं सुनता ॥११॥

यह जगत् उत्पन्न हुआ भी वैसे ही अनुत्पन्न ही है जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्न में उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत्-जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्यु की विस्मृति होने पर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हुँ, यों समझता है ॥१२॥

जैसे स्वप्न में सोये हुए पुरुष का अपनी शयनभूमि का अनुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यास को प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥१३॥

स्वप्न में जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥

असंभवः संभवति जगद्भानमिवाऽम्बरे ।
तम एव महालोको यः सनिद्रः स वासरः ॥१५॥
आलोक एवैति तमो यन्निद्रा स्वप्नवासरा ।
वसुधैव भवेद्व्योम श्वभ्रादिपतने यथा ॥१६॥
असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥१७॥
यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥१८॥

श्रीराम उवाच

नैतदेवमपि क्षिप्रात्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
स्वप्ने तद्दर्शनेनाऽन्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥१९॥

वसिष्ठ उवाच

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् ।

स्वप्न में असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाश में जगत् का भान, अन्धकार ही महान् प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता ॥१५॥

प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदि की नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं। स्वप्न में गड्ढे में गिरने का अनुभव होने पर शयनभूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है ॥१६॥

जैसे स्वप्न में असत्यरूप ही जगत् का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत् का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्न जगत् एवं जाग्रत्-जगत् दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है ॥१७॥

ये जाग्रत् और स्वप्न भी वैसे ही एक-से हैं इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है जैसे दो कल का और आज का सूर्य एक से होते हैं जैसे दो (युगमज) पुरुष एक से होते हैं ॥१८॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्न में तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न में तो तुरन्त ही स्वप्न का बाध करने वाली जाग्रत्प्रतीति होती है, उसके देखने से मन में अपने आप ही स्वप्न की आभासता का अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्न के तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रघुवर, यह स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न संसार में स्वप्न संसार के अपने बन्धु-बान्धवों के साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्यु

मृतिमाप्नोति तत्राऽसौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥२०॥
मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥२१॥
सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिविपर्ययान् ।
अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृतौ ॥२२॥
गतनिद्रतया पश्चान्निद्रान्त इह जायते ।
न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥२३॥
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्नवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥२४॥
जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्नवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥२५॥

को प्राप्त होता है, स्वप्न संसार में मरकर स्वप्न के प्राणियों से वियुक्त होकर जीव जाग्रत्संसार में जागता है, और निद्रामुक्त कहा जाता है। स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न संसार में अनेकानेक सुख-दुःखदशाओं, भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिन के विपर्यासों का अनुभव कर स्वाप्न शरीर का त्याग करता है। फिर नींद टूट जाने के कारण निद्रा के अन्त में शयन देश में उत्पन्न होता है और जाग्रत-देह से सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्न में देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे, यह जानता है। जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर (स्वाप्न शरीर का त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न को देखने के लिए पुनः जाग्रत-शरीर से सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखने वाला जाग्रत्संसार में मृत्यु को प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखने के लिए फिर पैदा होता है। आशय यह है कि केवल इतने से ही जाग्रत्-जगत् की स्वाप्न जगत् से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देश वाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीति बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न-स्थान में निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धु-बान्धवों को देखता है। स्वप्न देह के निवृत होने पर निद्रा रहित जाग्रत-देहस्थ होकर स्वप्न में देखे हुए बन्धु आदि की असत्ता का अनुभव करता है। अन्य देश में अन्य देह से देखे गये पदार्थों का—देहान्तर और देशान्तर में अन्य का दर्शन होने पर—अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्म के बन्धु-बान्धवों का इस जन्म में दर्शन न होने से बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न में समता ही है, वैषम्य नहीं है ॥२०-२५॥

न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिञ्जाग्रदात्मनि ।
पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥२६॥
स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
स्वप्नसंदर्शनं स्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥२७॥
स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥२८॥
स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥२९॥
स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रज्जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥३०॥
इतिहासमयावेव जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
परस्परं गतावेतावुपमानोपमेयताम् ॥३१॥

जैसे जाग्रत् में मरकर अन्य जाग्रत् में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपञ्च में वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकार की प्रतीति को प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न को प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बाद के) स्वप्न में जाग्रत् प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्न में जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत् में स्वप्नता और असत्ता का ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्न में भी अन्य स्वप्न दर्शन का अनुभव करता हुआ स्वप्न का ही जाग्रत्रूप से अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न नाम की दोनों अवस्थाओं में जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत स्वप्न के) शरीरों में अभिमान के ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥२६-२८॥

स्वप्न देखने वाला जीव स्वप्न में मरकर जागरण में जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत् में) मरा हुआ स्वप्न में जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत् की समता ही है विषमता नहीं है ॥२९॥

इस प्रकार एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में स्थिति होने पर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्न की अपेक्षा वर्तमान होने से विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है। इसी प्रकार जाग्रत् में मरकर अन्य जाग्रत्रूप स्वप्न में जागे हुए पुरुष का पूर्व जाग्रत् अवश्य स्वप्न है ॥३०॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (उपन्यास के कथार्थ के समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं, हैं, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरे के उपमान-उपमेय बने हुए हैं। 'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होने पर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होने पर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठ में इति, इह, असमं विषमं यातः असमयौ ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है। इस पाठ में जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है ॥३१॥

स्वप्नो जाग्रदिवाऽऽभाति जाग्रत्स्वप्नमिवोदितम् ।
वस्तुतस्तु द्वयमसच्चित्खं कचति केवलम् ॥३२॥
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतजातमशेषतः ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥३३॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥३४॥
वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिच्चमत्करणादृते ॥३५॥
किमन्यत्संवद प्राज्ञ किलाऽवश्यं चिदेव सा ।
ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रत्तादृगखण्डितम् ॥३६॥
जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्म खण्डितम् ।
जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मकुट्टिमम् ॥३७॥

वर्तमान दशा में तो स्वप्न भी जाग्रत् के तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत होता है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्न के समान ही उदित होता है। वास्तव में दोनों असत् हैं केवल चिदाकाश का ही स्वप्न जाग्रत् के रूप में स्फुरण होता है ॥३२॥

स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करने पर चिन्मात्र के सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते ॥३३॥

जैसे मृण्मय (मिट्टी का बना) पात्र मिट्टी से रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्कार रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं।।३४॥

जैसे हमारे स्वप्न की सकल वस्तुएँ चिच्चमत्कार रूप हैं वैसे ही जाग्रत् की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं। भला बताइये तो सही स्वप्न में जो पत्थर दिखाई देता है वह चित् के चमत्कार को छोड़कर और क्या हो सकता है? हे प्राज्ञ, इस विषय में विद्वानों के साथ युक्तिपूर्वक विचार विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये। विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होने पर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा। जैसा स्वप्न का स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जगत् का भी ॥३५, ३६॥

इसलिए अध्यारोपपक्ष में चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत् के आकार से विभक्त है और अपवादपक्ष में तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥३७॥

मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥३८॥
शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥३९॥
द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिक्तं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं लोपलभ्यते ॥४०॥
ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूष्मा नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्य चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥४१॥
यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥४२॥
यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
क्वाऽशून्यं लभ्यते व्योम क्वाऽघना लभ्यते मही ॥४३॥
चिद्व्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्व्योमाभासमात्रकम् ॥४४॥
स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्वदेव ।
स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तमनन्तमेकं
चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनाऽस्तु वादः ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥१०५॥

जैसे मृण्मयपात्र मिट्टी से विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्-शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥३८॥

जैसे पत्थर का बना हुआ पात्र पत्थर-विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चिद्भिन्न नहीं मालूम होता ॥३९॥

जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चिद्व्यतिरिक्त नहीं हो सकता जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥४०, ४१॥

स्पन्दमय (चलन-स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित-शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥४२॥

जो वस्तु जिससे बनी है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है। आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है। ॥४३॥

ये जाग्रत् के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाश के वैसे ही आभास हैं जैसे स्वप्न में घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं ॥४४॥

हे सुन्दर, जैसे स्वप्न में प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं जाग्रत् में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी वैसे संविन्मय गगन ही है इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए। इस प्रकार के तत्त्व के विषय में वादियों का विवाद वृथा है ॥४५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
जाग्रतस्वप्नैक्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पाचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०५॥

१०६

श्रीराम उवाच

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद् ब्रह्मन् ब्रह्म यत्परम् ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

समयोयंमयोर्भ्रात्रोर्व्यवहाराय नामनी ।
यद्वत्क्रियेते द्वे तद्वज्जाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥२॥

१०६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्राह्मन् ! जिसे अत्प परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है ? कृपया और कहिए। यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं फिर भी आपके मुखारविन्द से इस अमृत के तुल्य मधुर विषय को सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिला में प्रतिबिम्बतप्राय) समान रूप-रेखावाले जाग्रत्-स्वप्नरूप दोनों प्रपञ्चों के वैसे ही दो नाम रक्खे जाते हैं जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज भाईयोंके, व्यवहार के लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं ॥२॥

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव।
द्वयमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥३॥
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः।
निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥४॥
यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः।
भवेद्भावो नभः स्वच्छस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥५॥
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः।
यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥६॥
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥७॥
तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ।
यः स्यादुन्मनतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥८॥
रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्याऽमृतस्य यः।

दो जलों की तरह वस्तुतः इन दोनों में (जाग्रत् और स्वप्न में) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाश रूप एक ही हैं ॥३॥

एक देश से दूर दूसरे देश में पलक भर में गई हुई संवित् का मध्य में जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥४॥

जड़ों से पृथिवी का रस खींचते हुए वृक्ष का जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥५॥

जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरुष का जैसा सकल वैषम्यशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशा में 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥६॥

निद्रा आने के पूर्व और जागरण के अन्त में (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो जागरण में मन को भटकाने वाले विषयों का नाश हो गया हो अर्थात् जागरण के अन्त में) स्वस्थ पुरुष का जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥७॥

वर्षा ऋतु या शरद् ऋतु में वृद्धि को प्राप्त हो रहे पेड़, पौधे और झाड़ियों का जो ममताहीन आनन्द भाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥८॥

बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयों के भोग से रहित जीवित पुरुष का शरदाकाश के समान स्वच्छ जो

भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥९॥
यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपाषाणभूभृताम्।
चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥१०॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः।
यत्र वाऽस्तमयश्चित्खं तद्विद्धि विगतामयम् ॥११॥
यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्राः परिणमन्त्यलम्।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥१२॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥१३॥
दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथाऽन्यस्य समाभिधः।
यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥१४॥
यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति।
सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥१५॥

भाव है, वही चिदाकाश है ॥९॥

ब्रह्मा ने काठ, पत्थर और पर्वतों की जो निश्चेष्ट स्थिति का निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवों की सत्तात्मस्थिति रूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१०॥

जिससे सुषुप्ति के साक्षी, स्वप्न और जागरण के द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप त्रिपुटी का उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥११॥

विविध प्रकार के सभी पदार्थ ज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, उपादान रूप से उत्तरोत्तर परिणत होते हैं, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१२॥

जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१३॥

स्वर्ग में, भूमि में, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरे के अन्दर जो समनाम का ज्योति.स्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥१४॥

जिस नित्य असीम विराट् में मजबूत तागे में माला की तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥१५॥

यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यस्मिश्चैव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥१६॥
निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते।
निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥१७॥
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयौ।
स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तःस्थितं तद्विद्धि चिन्नभः ॥१८॥
नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णीय सर्वथा।
यन्न किंचित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥१९॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः।
दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥२०॥
विश्वं तन्मयमेवेदं यथाभूतं यथास्थितम्।
रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥२१॥

जिससे सृष्टि और प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है। इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया ॥१६॥

सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्रा के निवृत्त होने पर जिस प्रत्यगात्मा से विक्षेपशक्ति वश जाग्रस्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्व का आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्ति के शान्त होने पर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥१७॥

जिसके उन्मेष और निमेष से (पलक उठाने और गिराने से) जगत्सत्ता के प्रलय और उदय होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदय में स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥१८॥

यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरह से भली-भाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है। इस प्रकार सर्वनिषेध का अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥१९॥

आधे पलक में (झटपट) दूर से एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में मध्य में जो संवित् का रूप है वह चिन्मात्रस्वरूप कहा गया है। अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होने पर वृत्ति का विच्छेद होने या अन्य विषय का सम्पर्क होने से शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता। उपक्रम में उक्त का पुनः कथन उपसंहार बतलाने के लिए है ॥२०॥

बाह्य विषयभोगों और आभ्यन्तर विषयभोगों से युक्त तथा इस प्रकार का यथाभूत तथा यथास्थित यह सारा का सारा विश्व चिन्मय ही है ॥२१॥

ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति।
अनन्यरूपमपि सच्चिद्व्योम विमलाकृति ॥२२॥
पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान्नूनं निर्वासनाशयः।
प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥२३॥
निर्वासनः शान्तमना वद व्रज पिबाऽऽहर।
पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमौनवान् ॥२४॥
इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः।
मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविवोदितम् ॥२५॥
इदमादावनुत्पन्नं कारणाभावतः किल।
कारणेन विना कार्यं नहि नामोपपद्यते ॥२६॥
यद्वोपपद्यते किंचित्तदकारणकोद्भवम्।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिव लक्ष्यते ॥२७॥

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़े से विकास से अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥२२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियों से पदार्थों का अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्मा के ज्ञान से युक्त हो सुषुप्त की तरह स्थित होइये ॥२३॥

वासना विहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्द में निमग्न हो बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥२४॥

जो यह दृश्य आगे आप देखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जल के समान तथा चन्द्रमा में प्रतीत हो रहे द्वैत के (द्वित्व के) समान किसी प्रकार भी संभव नहीं हैं ॥२५॥

कारण के अभाववश यह सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ही नहीं हुआ। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उपपत्ति हो ही नहीं सकती ॥२६॥

यदि कहिये कि जो कोई बीज से अङ्कुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेक के दिखाई देने से, बिना कारण के उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारण के उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्म से ही होती है।

शङ्का—निर्विकार अद्वितीय ब्रह्म से अङ्कुर आदि की उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—यथास्थित परमरूप ही उद्भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥२७॥

तद्यथास्थितमेवाऽङ्ग पूर्वरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाऽच्छं द्वयेनाऽप्युपलक्षितम् ॥२८॥
तत्रेदंप्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्स्वप्नस्त्रीसमं विदुः ॥२९॥
तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नाऽस्ति तस्य किं नाम नश्यति । ३०॥
तत्तदेव परं शान्तं चिद्व्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिवोदितम् ॥३१॥
नहीदमग्ने यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चाऽपि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क्व द्रष्टृता किल ॥३२॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥३३॥

वसिष्ठ उवाच

असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यताऽस्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्याऽत्यसंभवात् ॥३४॥
यदिदं भासते किंचिद् द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।
जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥३५॥
स्वप्ने चिन्मात्र एवाऽऽस्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तया भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥३६॥
इहाऽऽदिसर्गात्प्रभृति नाऽस्त्युपादानकारणम् ।
किंचनाऽपि क्वचिदपि भातीत्थं ब्रह्म केवलम् ॥३७॥
यच्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥३८॥
यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाऽऽकारस्तथा चिन्नभसो जगत् ॥३९॥

ज्यों-का-त्योंही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होने पर द्वित्व से युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्ति से उद्भूतसा प्रतीत होता है ॥२८॥

अद्वितीय ब्रह्म में यह जगत् है इस तरह का जो दृढ प्रत्यय होता है, वह अनादि काल से प्राप्त अज्ञान से हुआ स्वप्न स्त्री समागम के तुल्य है ॥२९॥

इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥३०॥

विश्व (जगत्) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्व के आकार से स्थित है। वह परिणामवश जगत् के आकार से परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूप से च्युत हुए बिना स्वस्थ सौम्य वह जगत् सा उदित हुआ है ॥३१॥

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थों के अभाव से द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टृता भी नहीं है अर्थात् यदि कोई प्रश्न करे कि परिणाम से वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इस पर उसकी (दृश्य की) ब्रह्म समान सत्ता का अभाव होने के कारण उसका (द्रष्टा का) जगद्रूप परिणाम नहीं होता ॥३२॥

हे ब्रह्मन् ! यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्य का अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषय का प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहने की कृपा कीजिये ॥३३॥

कारण के अभाव से असद्रूप दृश्य की उत्पत्ति का ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' यह भी प्रौढ़िनिर्देश है, प्रौढिवाद का अत्यन्त असंभव है ॥३४॥

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्मा का परम रूप जानिये ॥३५॥

जैसे स्वप्न में चिन्मात्र ब्रह्म ही आकाश-उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपने में अपने आप जगद्रूप से भासित होता है ॥३६॥

यहाँ आदि सृष्टि से लेकर कहीं पर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप से स्फुरित होता है अर्थात् यदि कोई कहे कि तब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है; तो सकल कारणकलाप-शून्य सुषुप्तितुल्य प्रलयसे आविर्भूत होने के कारण ही यह स्वप्नसमान है ॥३७॥

अपने आप आत्मा में चिदाकाश का जो विशेष स्फुरण होता है वह उसी का जगत् नाम से आविर्भूत अवभासित होता है, चिदाकाश-स्फुरण के अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥३८॥

चिदाकाश का जगत् वैसे ही स्वभाव है जैसे भाव पदार्थ का स्वभाव भावता है जैसे शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान् का आकार स्वभाव है ॥३९॥

इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यदृगात्मकम् ॥४०॥
वस्तुतस्तु द्वयाभावान्नाऽऽभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्वाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥४१॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥४२॥

वसिष्ठ उवाच

चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाऽऽशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥४३॥

सैन्धवघन के समान एकरस परमार्थवस्तु ही माया में चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटी रूप होकर स्थित है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसी को जानिए। माया का त्याग होने पर तो द्वैत का अभाव होने से न भासक है और न भासन है, अनिर्वचनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधित का विचार ही क्या हो सकता है ? ॥४०, ४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथन के अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनों से शून्य है, तो कार्यकारतादि रूप भेद कैसे है ? द्रष्टा के बिना किसी की सिद्धि नहीं हो सकती है। और दूसरी बात यह कि वह किस उपादान कारण या निमित्तकारण से आया। यदि असत्य ही है, कहें तो कैसे सत्यता को प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगों को सत्यरूप से भासित होता है ? यह मुझे बतलाने की कृपा करें ॥४२॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियों की इच्छा, कर्म और वासना के उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूप से) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूप से उसी ने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भाव का अनुभव किया। इससे कार्यकारणभावादि भेद की सिद्धि है ॥४३॥

वह कार्य कारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है, इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्त-कारण है।

शङ्का—यह कैसे प्रतीत होता है ?

चिद्व्योमैवाऽयमाकारः स्वे व्योम्न्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥४४॥
भावाद्भावान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
तच्चिद्व्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥४५॥
कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिताः ।
जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥४६॥
द्रष्टा भोक्ताऽथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
तत्कथं किमिदं दृश्यमिति युज्येत नाऽन्यथा ॥४७॥
यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्व्योमैव विराजते ।
शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क्व विकल्प्यते ॥४८॥

उत्तर—चूंकि यह स्वरूपभूत चिदाकाश का ज्ञान होने पर ही मोह को प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोह को प्राप्त होता है। जैसे स्वप्न में स्वयं ही मोह को प्राप्त होता है, आत्मप्रबोध से मोह का त्याग करता है।

शङ्का—आत्मबोध में समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोह को प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर—स्वतन्त्र ईश्वर से 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोह में पड़ते हैं; ऐसा प्रश्न या आक्षेप करने वाला कौन है ! अर्थात् कोई नहीं ॥४४॥

दुग्धभाव से दधिभाव की प्राप्ति में और पिण्डभाव से घटभाव की प्राप्ति में पूर्वभाव की निवृत्ति होने और उत्तर भाव की उत्पत्ति न होने पर मध्य में पलक भर के लिए जो सन्मात्र रूप से प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित् का स्वरूप है, वही चिदाकाश है, यह मैं पहले कह चुका हूं। वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तुरूप से प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इस सब पर सत्यता की प्रतीति हुई है ॥४५॥

यह अविद्या से उत्पन्न हुई कार्यकारण भाव आदि दृष्टियों की जगत् की तरह कल्पना करता है। इसके प्रति आक्षेपकर्त्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति मैं किसलिये ऐसा करता हूं, यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥४६॥

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥४७॥

जिस स्वप्न में निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपों से विराजमान होता है, वहाँ पर कौन किस पर आक्षेप करे अर्थात् आत्मा से अन्य के कर्ता और भोक्ता होने पर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है ॥४८॥

आस्वयम्भुव एवेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥४९॥
एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
जगदित्युच्यतेऽविद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥५०॥
चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः ।
वेतालो बालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सन्निव ॥५१॥
जगत्ताऽऽत्मन्यसत्याऽपि चिद्व्योम्नैवाऽनुभूयते ।
सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥५२॥
अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट् ।
चेत्यते खे चितैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥५३॥
आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किंचन ।

स्वयम्भू से लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्व के परिज्ञान के अभाव से चिन्मात्र में प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होने पर तो वह तत्क्षण ब्रह्म ही हो जाती है ॥४९॥

यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रों में माया के नाम से पुकारी जाती है, लोक में 'जगत्' नाम से कहीं जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नाम से वर्णित है ॥५०॥

जैसे अविद्यमान भी पिशाच बालक को अपनी कल्पना-वश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाशप्रकाश को अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाच के रूप में ज्ञात हुआ है ॥५१॥

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाश को अपने स्वरूप में ही उस का अनुभव है । जैसे स्वप्न में चैतन्य की नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य-सी निरवयव होते भी सावयव-सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवसी प्रतीत होती है अर्थात् जैसे स्वप्न में असत् में सत् प्रतीति और निरवयव में सावयव प्रतीति होती हैं वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये ॥५२॥

मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूँ, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्न में पर्वतता और नगरता की प्रतीति की भाँति आकाश में चित् ही अहंता के अभ्यास से अनुभव करती है ॥५३॥

साकार कारण के अभाव से कुछ भी कार्य उत्पन्न

महाप्रलयचिद्व्योम्नि चित्स्थितेत्थमिदन्तया ॥५४॥
अकारणकमेवेदं व्योम व्योम्नाऽनुभूयते ।
जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥५५॥
सर्वं एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
समीपगत एवाऽन्तः कुर्वंतस्तु विचारणम् ॥५६॥
तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्ध्वा चिन्मात्रखं जगत् ।
अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नाऽऽस्थेतरोत्तमा ॥५७॥
यथाऽऽस्ते चलयद्देहं वार्यावर्तजगद्द्रवः ।
चेततीति तथा चित्त्वं स्थिता चित्तज्जगद्दृशा ॥५८॥
यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामणिर्यथा ।
तथा यद्भावितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥५९॥

नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाश में चित इस तरह जगद्रूप से स्थित है ॥५४॥

अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारण के ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाश में जगद्रूप से अनुभूत होता है ॥५५॥

सभी जीव-जन्तुओं ने दर्पण के सदृश अपने अन्दर जगद्भेद की कल्पना कर रक्खी है विचार न करने से (स्वरूपज्ञान सामर्थ्य से शून्य होने के कारण) जड़ होकर जीर्ण हो गये हैं । किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठ का तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूप से अपने अन्दर होने के कारण, समीपगत ही है ॥५६॥

तत्-तत् नामरूपस्वरूप का त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत् को चिन्मात्र जानकर चिदेकघन को पत्थर के समान अचल होना चाहिये । इस से अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥५७॥

जैसे जल अपने शरीर को परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरङ्ग आदि के रूप से जगत् में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतति' यों व्यापार रूप चित्ता की अपने में कल्पना कर जगद्रूप से स्थित है ॥५८॥

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चित् भी जिस वस्तु की मन में भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है अर्थात् जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओं की कल्पना करने की शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान परमात्मा में उक्त शक्ति है, इस में कहना ही क्या है ? ॥५९॥

चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥६०॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चितेर्वपुः ।
यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥६१॥
चिच्छायैवं कचत्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
अङ्गरिक्ताऽपि दृश्याऽन्तःशून्यता नीलतेव खे ॥६२॥
विसदृशकार्यानुभवो
न भवति सहकारिकारणाभावात् ।
सर्गादावत आद्या
चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥६३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥१०६॥

आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान शीघ्र ही अपने से अपने में अभीष्ट (वाञ्छित) का सम्पादन करती है ॥६०॥

पलक भर में एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति होने पर मध्य में जो चिति का अशेष विशेष शून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥६१॥

इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत् के वेष से स्पष्टतया स्फुरित होती है । जैसे आकाश में शून्यता नीलता के सदृश स्फुरित होती है वैसे अवयवरहित भी वह दृश्या है ॥६२॥

सृष्टि के प्रारम्भ में चित से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्य का उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशता में निमित्तभूत सहकारी कारणों का अभाव है । अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्व की असिद्धि है । अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्त से सिद्ध हो चुका ॥६३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्माणप्रकरण उत्तरार्द्ध में कार्यकारणनिरास नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छः सर्ग समाप्त हुआ ॥१०६॥

१०७

अचेत्यचिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नभः ।
अत्र चिच्चेतनं चेदं चेत्यमप्येवमात्मकम् ॥१॥
अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते ।
असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥२॥
काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि ।
खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥३॥
आकाशकाचकच्यात्म यदिदं किंचिदाततम् ।
न किंचिदेव तद्विद्धि किंचिद्वयोम्नि कुतो भवेत् ॥४॥

१०७

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होती है, विश्व की सिद्धि चिदाकाशमात्र के अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा । इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है । इस प्रतिज्ञा में शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थ के रूप से अभिप्रेत है, यह शेष है ॥१॥

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपञ्च मरा सरीखा है । यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं अर्थात् प्रतिज्ञा सिद्धि के दो फल हैं । स्थित जगत् के जगद्भाव की निवृत्ति और जो रहे हम लोगों के जीवभाव की निवृत्ति ॥२॥

व्यवहार में प्रतिष्ठित भी सब प्राणी काठ के समान मौन को अर्थात अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थता को ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावरजंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तता को प्राप्त हैं अर्थात् उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल सब पदार्थों की कूटस्थता और अमूर्तता है ॥३॥

आकाश में काच और केशों की नीलता के समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये । कारण कि चिदाकाश से क्या कहाँ से होगा ?

आकाश में केश समूह के समान नीलता, नदी, रथ, धूमपङ्क्ति और मोतियों के सदृश जो आकाश का स्फुरण

केशोण्ड्रकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
यत्त्वं कचति तत्राऽस्ति नाऽनुभूतेऽपि वस्तुता ॥५॥
तथैवाऽस्मिञ्जगन्नाम्नि चिद्व्योम्नि कचने चितेः ।
अनुभूतेऽपि निःशून्ये काऽऽस्थाऽऽस्थाभावकश्च कः ॥६॥
चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥७॥
किमास्था बालका ब्रूत ममेदमहमित्यलम् ।
आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥८॥
पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
किंचिच्च न ज्ञास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥९॥

होता है, उसके अनुभूत (अनुभव में आरूढ़) होने पर भी उसमें वस्तुता नहीं है अर्थात् आकाश की नीलता के सदृश भासित हो रहे विश्व की असत्यता का निश्चय उक्त प्रतिज्ञासिद्धि का फल जानिये ॥४, ५॥

वैसे ही इस जगत्-नामवाले चित् के स्फुरणरूप चिदाकाश में, जो अनुभूत होने पर भी निश्शेषतः शून्य है, कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है अर्थात् आकाश में स्फुरित हो रही मोतियों की माला के सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना ठीक नहीं है ॥६॥

पृथिवी आदि प्रपञ्च चिद्रूपी बालक की कल्पनाओं का राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्र से आकाश में उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ॥७॥

हे मूढ़ लोगो, कहो तो यह मेरा है यह मैं हूँ इस प्रकार की आस्था क्या ठीक है ? अर्थात अनुचित है ।

प्रश्न—यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उस पर आस्था करते हैं ?

उत्तर—हाँ, ठीक है, जैसे बालक के संकल्प में बालक को ही दिलचस्पी है अन्य को नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत् प्राय प्रपञ्च पर आस्था करते हैं, अभिज्ञ नहीं ॥८॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेक की झलक प्राप्त हो गई है, उन्हें असत् पृथिवी आदि का लाभ कराने वाला विचार, जो जन्म को निष्फल बनाने वाला है, छोड़कर जन्म को सफल बनाने वाले वैराग्य आदि साधनों का सहारा लेना चाहिये ।

पृथिवी आदि असत्-पदार्थों के विचार-विमर्शों से जन्म वृथा बीत जायगा, हे आकाश को धोने का उद्योग करने वाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा। जैसे सुवर्ण, रत्न आदि के लोभ की इच्छा से प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरे की खान का धोना-पोंछना छोड़कर आकाश को धोने-पोछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थों का विमर्श भी आकाश धोने के तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥९॥

सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावतः ।
यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाऽद्य भवेत्कुतः ॥१०॥
अजातेनाऽसताऽर्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥११॥
कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
चिद्व्योमेत्थमिदं शान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥१२॥
कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥१३॥
अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च खात्मकम् ।
कचतीत्थं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥१४॥

सहकारी आदि कारणों के अभाव से जो सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँ से उत्पन्न होगा ? अर्थात् पृथिवी आदि की असत्ता का, कोई कारण न होने से अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं ॥१०॥

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाश-तुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थ से व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्र का लालन-पालन करते हैं अर्थात् इस व्यवहार में तल्लीनता विद्वानों के लिए हास्यास्पद ही है ॥११॥

ये पृथिवी आदि कहाँ से हुए, किस से हुए; और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपने में अपने-आप स्फुरित होता है ॥१२॥

कार्य, कारण, काल आदिकी कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ों की दृष्टि में इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ों से हमें कोई मतलब नहीं है ॥१३॥

तत्त्वज्ञों की दृष्टि में पृथिवी आदि से रहित और मूढ़ों की दृष्टि में पृथिवी आदि से युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्न का पृथिवी आदि से रहित जगत् और जाग्रत् में प्रसिद्ध पृथिवी आदि से युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न आदि में चित्रूपी मणि पृथिवी आदि के रूप में स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार

अङ्गं यदेतस्य चिदम्बरस्य निराकृति स्वानुभवानुमानम्। तदेतदाभाति महीतलादि-रूपेण वेद्येति कृताभिधानम् ॥१५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥१०७॥

जगत् के रूप से स्फुरित होता है ॥१४॥

स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाश का निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूप से वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥१५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्याभाव प्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०७॥

१०८

श्रीराम उवाच

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते।
चिन्नभः स्वप्ननगरी दृश्यमानाऽपि शून्यकम् ॥१॥
तस्याऽज्ञस्य कियत्कालं किंरूपा स्यात्किमात्मिका।
कियती सा च वेत्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका।
तेषामस्यां ब्रह्मणीव नाऽस्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥३॥
सदृशं जगतोऽस्याऽस्ति क्वचिदम्बरकोणके।
कस्मिंश्चित्त्रिजगत्किंचिदनयैव व्यवस्थया ॥४॥
अस्ति कश्चिद्भुवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः।
पुरी ततमितिर्नाम्ना सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥५॥
तत्राऽऽसीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चिदिति विश्रुतः।
यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्विराजते ॥६॥
राजहंस इवाऽब्जिन्यामृक्षचक्रं इवोडुराट्।
सुमेरुरिव शैलौघे यः सभायामराजत ॥७॥
निवर्तते यतोऽशक्त्या वचनं गुणवर्णनात्।
कवीनामचलाकारा भवेद्वा भूधरो यथा ॥८॥

१०८

श्रीराम ने कहा—हे मुनीश्वर ! यह चिदाकाश की स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथच दृश्यरूप है, बाध न होने के कारण जिस पुरुष के प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानी के प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझ से पुनः कहने की महती कृपा करें ॥१, २॥

वसिष्ठ ने कहा—जिन अज्ञानियों में भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्म में देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इस में भी देशतः कालतः अन्त नहीं है। इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथा को सुनें ॥३॥

लोकालोक पर्वत की सुवर्णशिला से स्वच्छ किसी वस्तु में स्थित चिदाकाश के कोने में, उस कोने के भी किसी एक भाग में, इस त्रैलोक्य के तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदि की व्यवस्था से युक्त है ॥४॥

उसमें जम्बूद्वीप नामक भूमिका भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है। उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदि से होने वाली समथल भूमि होने से मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदि के गमनागमन आदि व्यवहार से युक्त समभूमि में ततमिति नाम से विख्यात एक नगरी थी ॥५॥

उस नगरी में विपश्चित् नाम से विख्यात राजा था; सकल शास्त्रों में विशेष विद्वान् होने के कारण, विशिष्ट सभ्यों से पूर्ण अपनी राजसभा में वह विशेष रूप से शोभित होता था, जैसे कमलिनी में राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियों में सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभा में शोभा पाता था ॥६, ७॥

सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणों के उत्कर्ष-वर्णन में प्रवृत्त कवियों की सूक्तियाँ उस विपश्चित् रूप चरम सीमा से गुणों की अनन्तता और निरुपमता के कारण वर्णन न कर सकने से लौट जाती थीं वर्णन नहीं कर सकती थीं।

प्रातः प्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।
यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥९॥
स ब्रह्मण्यमतिर्मानी वह्निमेवाऽधिदैवतम् ।
अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स्म नेतरम् ॥१०॥
समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।
आवर्तचक्रव्यूहाढ्याः कल्लोलबलमालिताः ॥११॥
मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
मन्त्रिणस्तस्य चत्वारो दिक्षु सप्तसागरा इव ॥१२॥
तैरशेषककुप्चक्रनाभिराभासितावनिः ।
आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥१३॥
तमेकदा ययौ पूर्वदिङ्मुखाच्चतुरश्चरः ।

फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियों को पर्वत के तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणों के उत्कर्ष से उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी। जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों, मृगों, तृणों और झाड़ियों को अपनी कान्ति से स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥८॥

प्रसन्नवदन तथा अपनी कान्ति से सकल दिशाओं को उद्भासित करने में उद्यत राजा विपश्चित् से, प्रखर प्रताप से उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियों को प्रातः वैसे ही प्राप्त होती थीं जैसे अपने कान्ति से दशों दिशाओं को जगमगाने वाले प्रातःकाल में खिले हुए कमल से सूर्य के आतप से उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है ॥९॥

राजा विपश्चित् को सदा ब्राह्मणों के हित का खयाल रहता था, अतएव देवताओं में वह्नि के ब्राह्मण होने के कारण वह देवताओं में अग्नि की ही भक्ति के साथ पूजा करता था, अग्नि के सिवा और किसी देवता को जानता तक न था ॥१०॥

उक्त राजा के मन्त्रियों में से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुल बाहुबलशाली, निर्भय सेना से प्रभावान्वित थे, चार दिशाओं में चार सागरों की भाँति शत्रुसेना के निरोध के साथ देशव्यवस्था करने के लिए नियुक्त थे। सागर मछलियों और मगरों के झुण्ड के झुण्ड से भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ों से युक्त थे, समुद्र आवर्तों की राशियों से भरे रहते हैं तो मन्त्री सेना के विविध व्यूहों से युक्त थे और समुद्र ज्वारभाटों से घिरे रहते हैं तो मन्त्री विशाल सेना से घिरे रहते थे ॥११, १२॥

उन मन्त्रियों के कारण वह राजा सकल दिशारूपी

स उवाच रहो रंहोगतिघोराक्षरं वचः ॥१४॥
देव दोर्द्रुमविश्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
श्रूयतां मन्मुखात्पश्चाद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥१५॥
पूर्वदिङ्मुखसामन्तो ज्वरेणाऽस्तमुपागतः ।
मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयाऽऽरब्धो जितारिणा ॥१६॥
तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणा हतः ॥१७॥
तस्मिन्मृते समागम्य यावद्वारुणदिक्पतिः ।
बलेनाऽऽयाति ककुभौ ते समादातुमादृतः ॥१८॥
पूर्वदेशनृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
तावदेवाऽरिभिरसावधर्ममार्गे रणे हतः ॥१९॥

पहियों का नाभि की (हाल की) तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्र के समान शत्रुओं द्वारा अनभिभवनीय और स्वयं विजेता हो गया था ॥१३॥

एक समय पूर्व दिशा से एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया। उसने एकान्त में राजा से कालगति के समान अनिवार्य होने के कारण कर्णकटु वचन कहा ॥१४॥

भगवन्, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊ के बन्धन से आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवी को आपने अपनी बाहुओं पर बाँध रक्खा है। आप कृपाकर मेरे मुँह से वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करने की कृपा कीजिये ॥१५॥

महाराज, पूर्व दिशा के सामन्त की, ज्वर से मृत्यु हो गई है। मानो शत्रुओं को परास्तकर चुके आप से आज्ञा पाकर वे यमराज को जीतने के लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥

उनके मरने के उपरान्त दक्षिण दिशा के अधिपति (आप के सामन्त) चारों ओर से पूर्व और दक्षिण दिशा को स्वागत करने के लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रु ने पूर्व और पश्चिमी सेनाओं द्वारा आक्रमण कर मार डाला ॥१७॥

उनके मर जाने के उपरान्त पश्चिम दिशा के अधिनायक (आप के सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओं को शत्रु से मुक्त करने की इच्छा से जा रहे थे त्यों ही रास्ते में शत्रुओं ने पूर्व देश और दक्षिण देश के राजाओं के साथ संग्राम में उन्हें मार दिया ॥१८, १९॥

वसिष्ठ उवाच

अथाऽस्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरश्चरः ।
उपप्लवो जडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥२०॥

चर उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।
मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥२२॥
राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
उद्घाट्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां घोरहेतयः ॥२३॥
श्लेष्यन्तां कञ्चुटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ।
कल्प्यन्तां च बलाध्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितश्चराः ॥२४॥

वसिष्ठ उवाच

वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ।
प्रतिहार उवाचेदं प्रविश्याऽऽकुलमानतः ॥२५॥

प्रतिहार उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
काङ्क्षत्यब्जमिवार्कस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥२६॥

राजोवाच

गच्छाऽविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंश्रवात् ॥२७॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
प्रणामपरमग्रेऽसौ राजाऽपश्यद् बलाधिपम् ॥२८॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषु संततम् ।
श्वासाकुलं वमद्रक्तं धैर्येणाऽबलनिर्जितम् ॥२९॥
स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।
संस्तभ्याऽङ्गव्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वसन् ॥३०॥

बलाध्यक्ष उवाच

देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।
त्वदाज्ञयेव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥३१॥
तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः ।
अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥३२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उक्त गुप्तचर जल्दी-जल्दी राजा से यह कह ही रहा था कि प्रलय में जलप्रवाह के समान दूसरा गुप्तचर राजप्रासाद में प्रविष्ठ हुआ ॥२०॥

गुप्तचर ने कहा—महाराज, उत्तर दिशा के अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाह के समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भद्र, यह सुनकर राजा ने विलम्ब को सब वस्तुओं और महलों के लिये खतरनाक समझकर सुन्दर प्रासाद से निकलते हुए यह कहा—

हे राजगण, सामन्त और मन्त्रिगण हरबा-हथियार से लैस कर लिवा लाये जायँ, शस्त्रागार खोल दिए जायँ, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेना की गिनती की जाय, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्षों की नियुक्तियाँ की जायँ और चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछाया जाय ॥२२-२४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपाल घबराहट के साथ प्रवेश कर प्रणाम पूर्वकराजा से यह कहा ॥२५॥

द्वारपाल बोला—हे महाराज उत्तर ! दिशा का सेनाधिपति ड्योढ़ी पर खड़ा है जैसे कमल सूर्य के दर्शनों की आकाङ्क्षा करता है वैसे ही महाराजाधिराज के दर्शन चाहता है ॥२६॥

राजा ने कहा—जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँह से वृत्तान्त के भली-भाँति श्रवण से दिगन्तों में क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥२७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—राजा के यह कहने पर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशा के अधिपति को राजा ने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयव में बाण व्याप्त थे, साँस जोर से चल रही थी, निर्बल होने के कारण वह शत्रु द्वारा जीता गया था। उसने धीरता से देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजा से जल्दी-जल्दी ये वाक्य कहे ॥२८-३०॥

सेनाधिपति ने कहा—हे राजन् तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेना के साथ मानो आपकी आज्ञा से यम को जीतने के लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशों का परिपालन करने में अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुत से राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आप के मण्डल में शत्रुओं की यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेना को जैसी दुर्दशा इन लोगों ने की है वैसी

महत्परबलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् ।
विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्याऽस्ति दुर्जयम् ॥३३॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्मिन् वदत्येवमार्तिमत्याजिविक्षते ।
सहसैवाऽभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥३४॥
पुरुषा मण्डलस्याऽस्य विपुला दललीलया ।
स्थितान्यरिबलात्युच्चैश्चतुर्दिक्कं नरेश्वर ॥३५॥
कचच्चक्रगदाप्रासकुन्तकाननकान्तिभिः ।
बलिता नोऽरिभिर्भूमिर्लोकालोकतटैरिव ॥३६॥
पताकायुधयोधङ्गाश्चलत्परिकराकुलाः ।
विसरन्ति रथास्तत्र प्रोड्डानत्रिपुरौघवत् ॥३७॥
करानुन्नामयन्तः खे मांसवृक्षवनोपमाः ।
बृहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिदवृन्दवत् ॥३८॥
नतोन्नतानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वीनतोन्नतैः ।
ह्लेषन्ते हयसंघाता वातस्पन्दमहाब्धिवत् ॥३९॥
रसन्ति तुरगापूराः फेनिलावर्तपातिनः ।
सर्वतो वलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥४०॥

ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥३१-३३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसके बाद युद्धभूमि में क्षत-विक्षत शरीर वाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतने में दूसरे आदमी ने प्रविष्ट होकर राजा से यह कहा—हे महाराज इस मण्डल के लोग पीपल के पत्तों की-सी कँपकँपी से विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओं की सेनाएँ प्रचुर मात्रा में व्याप्त हैं। शत्रुओं ने लोकालोक तटों की तरह हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालों के समूहों की कान्ति चमक रही है। पताका, शास्त्रास्त्र और योद्धाओं से भरे हुए चञ्चल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्री वाले रथ इधर-उधर चल रहे हैं। वे उड़े हुए त्रिपुरासुर के नगरों के समूह से प्रतीत होते हैं ॥३४-३७॥

वर्षा ऋतु के मेघों के सदृश हाथियों के झुण्ड, जो मांस के वृक्षों से भरे वन के तुल्य हैं, आकाश में सूड़ों को उठाते चिंघाड़ रहे हैं ॥३८॥

घोड़ों के झुण्ड, जो गति के क्रम से पृथिवी की समता, विषमता की नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायु से आन्दोलित महासागर की भाँति हिनहिना रहे हैं ॥३९॥

क्षीरसागर के जल के समान फेनयुक्त आवर्तों की (जलभ्रमियों की) भाँति इधर-उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ों के वृन्द शब्द करते हैं ॥४०॥

आकाशकान्तिसन्नाहैर्दिशं प्रति बलं बलम् ।
उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥४१॥
शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विषः ।
कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गगाः ॥४२॥
समत्स्यमकरव्यूहाः सचक्रावर्तवृत्तयः ।
उद्यन्ति सैन्यसंघट्टाः कल्लोला जलधेरिव ॥४३॥
परस्परामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः ।
कोपादिवोग्रहुँकारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ॥४४॥
इति कर्तुमहं देव विज्ञप्तिं स्वामिनेरितः ।
तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ॥४५॥
तमहं देव गच्छामि शक्त्यृष्टिशरसंगतः ।
मयेहाऽऽवेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ॥४६॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वाऽथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ ।
कृत्वा गुलगुलारावं शान्तो वीचिरिवाऽम्बुधेः ॥४७॥

आकाश के समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शास्त्रास्त्रों से युक्त सेना भी प्रत्येक दिशा में वैसे ही प्रकट होती है—जैसे प्रलयकाल के सागर का प्रवाह बड़े-बड़े ज्वार-भाटों से प्रत्येक दिशा में प्रकट होता है ॥४१॥

योद्धाओं के शरीर पर लगे हुए बाण, अस्त्र-शस्त्र, कवच, मुकुट और आभरणों की कान्तियाँ आपके प्रतापाग्नि की ज्वाला की भाँति विकसित होती हैं ॥४२॥

मत्स्य, मकर की सी आकृतिवाले व्यूहों से युक्त, तलवारों के आवर्त से युक्त सेना सघात वैसे ही आविर्भूत हो रहा है—जैसे मछली और मगरों के समूह से युक्त चक्राकार जलभ्रमिवाले कलोल सागर से आविर्भूत होते हैं ॥४३॥

भाले आदि हथियारों की श्रेणियाँ परस्पर टकराने के कारण मानो क्रोधवश भीषण हुंकारों से जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ॥४४॥

उस मण्डल की सीमा में स्थित छावनी से युद्ध के लिए जाते हुए स्वामी ने यह निवेदन करने के लिए श्रीमान् के समीप मुझे भेजा है ॥४५॥

हे महाराज शक्ति, ऋष्टि और बाणों से युक्त मैं जिन्होंने मुझे आप के पास भेजा था उन स्वामी के समीप जाता हूँ, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवा में निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—गुड़-गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्र की लहर के समान वह पुरुष राजा से यह निवेदन कर प्रमाणपूर्वक शीघ्रता से चला गया ॥४७॥

संभ्रान्तमन्त्रिनृपयोधनियोगिनाग-
नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् ।
राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं
चण्डानिलाकुलमहावनतुल्यमासीत् ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपाख्याने अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाऽष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥१०८॥

राजा के प्रासाद में खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधी से व्याकुल महावनकीसी हो गई। मन्त्री, राजा, योद्धा, राजा के आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये। सभी जीवों ने अपने प्राणों के भय से अपने-अपने बचाव के साधन हथियार उठा लिये ॥४८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में अविद्याक्षेपण में पार्थिवसंरम्भवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०८ ॥

१०९

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः।
मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥१॥

मन्त्रिण ऊचुः

देव निर्णीतमस्माभिर्यावन्न विषयोऽस्यः।
त्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥२॥
प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः।
अधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥३॥
पापा म्लेच्छा धनाढ्याश्च नानादेश्याः सुसंहताः।
बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नाऽऽस्पदं द्विषः ॥४॥
तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया।
नान्याऽस्ति शीघ्रमेवाऽतो रणोद्योगो विधीयताम् ॥५॥
वीराणां दीयतामाज्ञा पूज्यन्तामिष्टदेवताः।
आहूयन्तां च सामन्ता हन्यतां रणदुन्दुभिः ॥६॥
सन्नह्यन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः।
क्रियन्तां कालकम्पाभ्रमेदुराराजिता दिशः ॥७॥

१०९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सब मन्त्री राजा के समीप वैसे ही आये जैसे मुनिगण इन्द्र के, भूलोक और अन्तरिक्ष लोकपर दैत्य आक्रमण कर चुके, समीप आते हैं ॥१॥

मन्त्रियों ने कहा—महाराज, हमने सब विचार कर निश्चय कर लिया है। शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायों द्वारा काबू में आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्ड का विधान कीजिये ॥२॥

हे महाराज दान, संमान आदि से स्नेह अनुप्रवेश (अपने पक्षवालों का ही शरणागति के बहाने काकोलूकी-न्यास से उनके विनाश के लिए उनके देश में प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओं पर प्रेम और अनुप्रवेश रूप कीर्ति हरने वाले उपाय किये जायें, इसकी कथा ही क्या है ॥३॥

पापी, सीमाप्रान्त के निवासी, प्रचुर धनसम्पन्न, विविध देशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरी को जानने वाले बहुत से शत्रु साम, दान उपायों के योग्य नहीं हैं। अर्थात् जिनपर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्य की कमी हो उनपर साम, दान आदि उपायों की गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं हैं ॥४॥

इसलिए इनके विषय में साम-दान का प्रयोग करना अत्यन्त सुसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्ध का उद्योग कीजिये। इनके प्रतिकार का दूसरा उपाय है ही नहीं ॥५॥

वीरों को युद्ध के लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओं का जप-पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तों का आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जायें ॥६॥

सब योद्धाओं को कवच आदि से सुसज्जित कीजिये युद्ध का बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके सब युद्ध के लिए प्रस्थान करें और दिशाओं का गजघटाओं से काले काले प्रलय मेघों से जैसे पाट दीजिये ॥७॥

आस्फाल्यन्तां धनूंष्युच्चैः क्वणन्तु गुणपङ्क्तयः ।
भवन्तु जलदश्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥८॥
स्फुरज्ज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥९॥

राजोवाच

गम्यतां सङ्गरायाऽऽशु संविधानं विधीयताम् ।
स्नात्वाऽहं पूजयित्वाऽग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥१०॥
इत्युक्त्वा नृपतिः स्नातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥११॥
अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।
आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥१२॥
नीतमायुरनायासविलासविभवश्रिया ।
प्रजाभ्यो दत्तमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥१३॥
आक्रान्तवसुधापीठाः पादपीठे कृता द्विषः ।
लता फलभरेणेव नमिताः ककुभो दश ॥१४॥
प्रजाचित्तेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
भूमावारोपि कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥१५॥
कोशवद्भूरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्यबन्धवः ।
निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥१६॥
द्विषामाकम्पिता भेकगलाङ्गत्वगिवासवः ।
मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥१७॥
विहृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
भूम्यन्तभूभृतां मूर्ध्नि विश्रान्तं मेघलीलया ॥१८॥
धियेवोच्चैः पदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
विलब्धान्यविनष्टानि राष्ट्राणीष्टार्थकारिणा ॥१९॥
रक्षांस्यप्यविनीतानि बद्धानि निगडैर्घनैः ।
धर्मार्थकामैरन्योन्यं चयापचयवर्जितैः ॥२०॥
अखण्डितैर्मया नीतं पीतातियशसा वयः ।
इदानीं शष्पविश्रान्तप्रालेयभरभासुरम् ॥२१॥

धनुष खूब ताने जाँय, प्रत्यञ्चाएँ टंकार करें, अर्ध-मण्डलाकार धनुषों से दिशाएँ मेघश्यामला हों, धनुषरूपी कुण्डलों से देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यञ्चारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधाराओं को बर्षावें ॥८, ९॥

राजा ने कहा—संग्राम के लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये। नगररक्षा, व्यूहरचना आदि की व्यवस्था कीजिये। मैं भी स्नान के उपरान्त अग्निदेव की पूजा कर संग्रामभूमि में आता हूँ ॥१०॥

ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्यों के रहते भी अत्यावश्यक अन्यान्य कार्यों को छोड़कर भी राजा ने एक क्षण में जैसे वर्षाऋतु में नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गङ्गाजल से भरे हुए घड़ों से स्नान किया ॥११॥

स्नान करने के उपरान्त राजा ने अग्निगृह में प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धा से अग्नि की पूजाकर निम्न-लिखित बातोंपर विचार किया ॥१२॥

मैंने अनायास विलासविभवपूर्ण सम्पत्ति से आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासनमुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजा को अभयप्रदान किया। पृथ्वी पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को चरणों पर नवा डाला। जैसे लताएँ फलों के बोझ से नत हो जाती है वैसे ही कर आदि फल के भार से दसों दिशाओं को मैंने नवा दिया ॥१३, १४॥

प्रजा के चित्तरूपी चन्द्रबिम्बों में अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमि में तीनों लोकों में फैलानेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥१५॥

सुहृत् मित्र पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबान्धवों को विविध रत्नों से खजाने के समान भर दिया, समुद्र के किनारे नारिकेलरस का आसव छक कर पीया ॥१६॥

शत्रुओं के प्राणों को मेढक की गर्दन की त्वचा के समान खूब कँपा डाला, द्वीपद्वीपान्तर के कुल कुलपर्वतोंपर मेरे शासन की छाप लग चुकी ॥१७॥

दिगन्तों में प्रसिद्ध अपूर्व सुवर्णभूमियों में, जो सिद्ध-सेनाओं से पूर्ण हैं, मैंने खूब विहार किया, लोकालोक-पर्वतपर्यन्त पर्वतों के और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओं के सिरपर मेघों की लीला से विश्राम किया और पैर रक्खा ॥१८॥

जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्त में समाधि की बुद्धि से परमोच्च ब्रह्म में विश्राम लिया जाता है वैसे ही प्रजाओं का हितसम्पादन करनेवाले मैंने राष्ट्रों की अभिवृद्धि की और उपार्जन किया ॥१९॥

उद्धत (विनयरहित) लङ्का आदि द्वीपों में रहनेवाले राक्षसों को भी मजबूत हथकड़ियों द्वारा मैंने जकड़ा, परस्पर एक दूसरे से अबाधित, वृद्धि-ह्रासशून्य (सम्मान-रूप से संचित) धर्म, अर्थ और काम द्वारा अवस्था व्यतीत की। इस समय मानो अत्यन्त यशपान करने के

आगतं वार्धकं सर्वभोगसंरम्भमार्जनम् ।
तस्योपर्यरयो रौद्रा बलवन्तो रणैषिणः ॥२२॥
संभूय सर्वतः प्राप्ताः संदिग्धो वर्तते जयः ।
तदिहैवाऽनलायाऽस्मै देवाय जयदायिने ॥२३॥
मस्तकाहुतिमेवेमां समुद्धृत्य ददामि वै ।

राजोवाच

कृशानो देव मूर्धाऽयं तुभ्यमाहुततां गतः ॥२४॥
मया पूर्वं पुरोडाश इव देवेश दीयते ।
यदि तुष्टोऽसि भगवंस्तदनेन कृतेन मे ॥२५॥
चत्वारो भवतः कुण्डात्स्वदेहाः प्रोद्भवन्तु मे ।
बलवन्तः श्रिया दीप्ता नारायणभुजा इव ॥२६॥
तैश्चतुर्दिक्कमेवाऽरीन्वध्यामहमविघ्नतः ।
त्वया च दर्शनं देयं मह्यं मतिमते विभो ॥२७॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा स महीपालः खड्गमादाय चिच्छिदे ।
शिरःकमलमालोलं लीलयेवाऽऽशु बालकः ॥२८॥
छिन्नमेष शिरो यावज्जुहोत्यसितवर्त्मने ।
तावच्छरीरेण सह पपाताऽग्नौ स पार्थिवः ॥२९॥
भुक्त्वाऽथ वह्निस्तं देहं ददावस्मै चतुर्गुणम् ।
महतामुपयुक्तं हि सद्य एवाऽभिवर्धते ॥३०॥
चतुर्मूर्तिरथोत्तस्थौ पावकाद्वसुधाधिपः ।
प्रज्वलंस्तेजसां पुञ्जैर्नारायण इवाऽर्णवात् ॥३१॥
ते देहास्तस्य चत्वारो विरेजुर्भास्वरत्विषः ।
सहजातोत्तमोत्तंसभूषणायुधवाससः ॥३२॥
सकंकटशिरस्त्राणाः समौलिकटकाङ्गदाः ।
सहारकुण्डलाभोगाः सर्वाः सर्वे महाशयाः ॥३३॥
सर्व एव समाकाराः सदृशावयवान्विताः ।
चञ्चलोच्चैःश्रवःप्रख्यं हयरत्नमवस्थिताः ॥३४॥
सप्तवर्णशरापूर्णतूणीराः सुमहाशयाः ।
समानगुणकोदण्डाः समानवपुषः शुभाः ॥३५॥
समारोहन्ति ते यस्मिन्पुंसि नागे रथे हये ।
सर्वेषामरिदोषाणां नैव गम्यो भवत्यसौ ॥३६॥

कारण अतिधवलता को प्राप्त हुआ मैं तृणोंपर लदे हुए प्रचुर वर्फ के समान सफेद बुढ़ापे को प्राप्त हो गया हूँ। बुढ़ापे के ऊपर यानी इस बुढ़ापे में भीषण युद्धाकांक्षी बलवान् शत्रु दल बांधकर चारों ओर से लड़ने के लिए उपस्थित हैं। जीत होने में सन्देह है, इसलिए विजयप्रदान करनेवाले इन अग्निदेव के लिए यहींपर इस मस्तकाहुति को उठाकर देता हूँ। राजा ने कहा—हे अग्निदेव यह मेरा सिर आपके लिए आहुतिरूप बन चुका है। जैसे मैंने पहले आपके लिए पुरोडाश की आहुतियाँ दी हैं वैसे ही इसकी आहुति आज आपको देता हूँ। यदि मेरे इस काम से आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तो आपके कुण्ड से मेरे नारायण की भुजाओं के समान शोभायुक्त बलवान् चार शरीर उत्पन्न हों ॥२०-२६॥

हे विभो ! उन शरीरों से मैं चारों दिशाओं में अपने शत्रुओं का बिना किसी विघ्नबाधा के संहार करूँ और आपके दर्शनों की इच्छा से आपका स्मरण करनेवाले मुझे आप दर्शन दें ॥२७॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—यह कहकर उस राजा ने जैसे बालक अनायास चञ्चल कमल को तोड़ता है वैसे ही चञ्चल शिररूप कमल को खड्ग लेकर शीघ्र काट डाला ॥२८॥

ज्योंही वह राजा अपने कटे सिर का अग्नि में हवन करने लगा त्योंही शरीर के साथ अग्नि में गिर पड़ा ॥२९॥

उस शरीर को खाकर (आहुतिरूप से ग्रहणकर) अग्नि ने उसे चतुर्गुण शरीर दिया। महान् लोगों द्वारा स्वीकृत वस्तु शीघ्र ही वृद्धि को प्राप्त होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥३०॥

अर्थात् चार मूर्ति धारणकर तेज की राशियों से देदीप्यमान हो वह्निकुण्ड से ऐसे ही निकला जैसे कि तेज पुञ्जों से देदीप्यमान भगवान् सागर से निकले थे ॥३१॥

दीप्तकान्तिवाले उसके वे चार शरीर अत्यन्त सुशोभित हुए, उनके माला, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र भी ही उत्पन्न हुए थे और कवच, शिरस्त्राण भी साथ ही पैदा हुए थे। वे मुकुट, कंकण, बाजूबंद से युक्त थे, हार और कुण्डलों की कान्ति से जगमगा रहे थे। वे सब सबकी रक्षा करने वाले तथा महान् आशय वाले थे। सबकी रूपलेखा एकसी थी और सब एक से अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त थे, सबके सब चञ्चल उच्चैश्रवा के सदृश उत्तम घोड़ों पर चढ़े थे ॥३२-३४॥

उनके सोने के बाणों से भरे तरकस बंधे थे, एकसी प्रत्यञ्चा वाले उनके धनुष थे, सुन्दर समान शरीर वाले महामना वे मङ्गलमय पुरुष, हाथी, रथ और घोड़े पर सवार होते थे, वह शत्रुप्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि दोषों का लक्ष्य ही नहीं हो सकता था ॥३५-३६॥

पीत्वा धृत्वा चिरं कालं गर्भे पुरुषतापिताः ।
वेद्यामिव हितास्तत्र सागरा वडवार्चिषा ॥३७॥
रत्नाश्वदेहकुसुमोत्करपूर्णदेहा-
श्चत्वार इन्दुहसितैरवभासयन्तः ।
सम्मूर्तयो हरय एव यथाऽब्धयो वा
वेदा इवाहुतिहुतादनलात्प्रसस्रुः ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गत-विपश्चिदुपाख्याने अग्निप्रवेशाद्देहलाभो नाम नवाधिकशततमः सर्गः ॥१०९॥

वे चार देह क्या थे चार सागर ही थे। मानो बाडवाग्नि ने पहले पीकर चिर कालतक उन्हें अपने गर्भ में धारण किया, तदुपरान्त उन्हें पुरुष के आकार में परिवर्तित किया, तत्पश्चात् उन्हें वहाँ अग्निकुण्ड में रखा ॥३७॥

रत्नों से विभूषित और रत्नभूत अश्व शरीरों में पुष्प राशियों से पूर्ण देह वाले चन्द्रमा रूपी अपनी मन्द मुस्कान से दशों दिशाओं को जगमगा रहे वे चार विपश्चित् आहुतियों द्वारा प्रसन्न अग्नि से चार विष्णु ऐसे या चार सदेह समुद्र ऐसे अथवा चार मूर्तिमान् वेद ऐसे बाहर निकले ॥३८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में अग्निप्रवेश से देहलाभनामक कुसुमलता अनुवाद का एकसौनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०९ ॥

११०

वसिष्ठ उवाच

पुरोपकण्ठसंप्राप्तैश्चतुर्दिक्कं सहारिभिः ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्र प्रवृत्तं दारुणं रणम् ॥१॥
लुण्ठितग्रामनगरं प्रजाकुलमहाकुलम् ।
अग्निबाहज्वलद्देहं धूमाभ्रपटलावृतम् ॥२॥
शरजालमहाधूमच्छन्नार्कविलसत्तमः ।
क्षिप्रदृष्टरवि क्षिप्रमदृष्टरविमण्डलम् ॥३॥
अग्निदाहमहातापप्रतपत्पर्णकाननम् ।
लोलालातलताशूलमुसलोपलपूर्णखम् ॥४॥
अनलप्रतिबिम्बौघैर्द्विगुणज्वलनायुधम् ।
रणभग्नमहाशूरप्राप्तेन्द्रवनितासुधम् ॥५॥
उद्दामवारणारावै रणलम्पटहर्षदम् ।
भुशुण्डीमण्डलप्रासशूलतोमरवर्षदम् ॥६॥
भटकोलाहलोल्लासहृद्भङ्गमृतपामरम् ।
रजःपटलशुभ्राभ्रकृतद्युपथवारणम् ॥७॥
मरणव्यग्रसामन्तमुक्तनादव्रजद्व्रजम् ।
इतश्चेतश्च निपतद्वैद्युतोपहतप्रजम् ॥८॥
अग्निदग्धपतद्गेहप्रोज्झिताग्निमयाम्बुदम् ।
मरणाह्लाददासंख्यशरधारामयाम्बुदम् ॥९॥

११०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस बीच में वहाँ चारों ओर नगर के समीप पहुँचे हुए शत्रुओं के साथ भीषण संग्राम छिड़ा ॥१॥

उक्त युद्ध में नगर और गाँव लूटे गये, प्रजामण्डल में महाव्याकुलता छा गई, आग की लपटों से शरीर जलने लगे, धूमरूपी मेघों के घने स्तरों से आकाश-मण्डल छिप गया, बाणों की लगातार घनी वृष्टि और निविड़ धूम से सूर्य ढक गया अतएव चारों ओर अन्धकार फैल गया। वहाँ पर क्षण में सूर्यमण्डल दीख पड़ता था और क्षणभर में ओझल हो जाता था। अग्नि की लपटों के तेज संताप से वनों के सब पत्ते मुरझा गये थे, चञ्चल लुआठी, शूल, मूसल, पत्थर आदि की राशियों से आकाश पट गया था, अग्नि के प्रतिबिम्बों के पड़ने के कारण हथियारों की चमचमाहट दुगुनी हो रही थी, रण में काम आये हुए महाशूरवीर योद्धाओं को अप्सराएँ और सुधा प्राप्त हो रही थी, मदोन्मत्त हाथियों की चिंघाड़ से संग्रामोत्सुक वीरों को अपार हर्ष हो रहा था, बन्दूकों की गोलियों, भालों, शूलों और तोमरों की वर्षा हो रही थी, योद्धाओं के कोलाहल के उल्लास के सुनने मात्र से हृदय फटने के कारण अनेकों कायरों के प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, धूलिपटलरूपी सफेद मेघ ने अन्तरिक्ष को आच्छन्न कर दिया था, मरने के लिए व्याकुल हुए सामन्तों के दल के दल चिल्लाते हुये जा रहे थे, इधर-उधर गिर रही बिजलियों से (उल्कापातों से) प्रजा का विनाश हो रहा था, अग्नि से जले हुए अतएव गिर रहे गृह अग्नि की वर्षा करने वाले धूममय मेघों की सृष्टि कर रहे थे। असंख्य बाणों की वृष्टिरूपी धारा वाले मेघ मरणाह्लाद प्रदान कर रहे थे ॥२-९॥

जितसागरकल्लोलं तुरङ्गमतरङ्गकैः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारक्रेंकारकर्कशम् ॥१०॥
कोटकोटिकुटीकुड्यकण्टकोद्भटसद्भटम् ।
चटत्कुण्ठितकोटाट्टकूटाटननटच्छटम् ॥११॥
लुठत्पटनकुट्टाकसाटोपस्फुटपट्टिशम् ।
खे वटत्केतुपट्टाट्टपटत्पटपटारवम् ॥१२॥
दन्तिदन्तगुणोद्गनीर्णहेतिपाषाणघर्षणैः ।
तारक्रेंकारहुंकारैराहूतसुरवारणम् ॥१३॥
वहच्छरनदापूरपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
विचलच्चक्रकुन्तासिधारामकरकर्कशम् ॥१४॥
उन्नादयोधसंघट्टकंकटोत्कटटांकृतैः ।
लसज्झणझणारावैर्घाटतद्वीपमण्डलम् ॥१५॥
पादपातपरापिष्टशरसंजातकर्दमम् ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमाणरथाद्विपम् ॥१६॥

अश्वरूपी तरङ्ग सागरों के कल्लोलों को मात कर रहे थे, हाथियों के दातों के परस्पर टकराने के कारण कर्णकटु टकार ध्वनि हो रही थी, दुर्गों के सन्धिप्रदेशों में बनी हुई कुटियों की दीवारों पर श्रेष्ठ भट काटेदार बाण रोपने में व्यग्र थे, अग्नि की ज्वालाओं से वेष्टित अतएव अग्नप्राय दुर्गसन्धिस्थित अटारियों में पर्यटन द्वारा अग्निछटा नाच रही थी ॥१०, ११॥

घटाटोप के साथ टूटे फूटे हुए चलने में रुकावट डालने वाले तोमर इधर उधर लुढ़के हुए थे, अटारियों में जिनके ऊपर आकाश में वस्त्रपताकाएं लहरा रहीं थीं, पट-पट शब्द हो रहे थे, हाथियों के दातों के शुक्लतादि गुणों के उद्गिरण स (निकलने से), हथियारों की पत्थरों पर रगड़ लगने से और तीक्ष्ण टकार और हुंकारों से युद्धोत्साहोत्पादनवश दिग्गजों का मानो आह्वान हो रहा था ॥१२, १३॥

लगातार बह रही बाण-नदी के वेग से आकाशरूपी महासागर भर गया था, चल रहे चक्र, भाले, तलवार रूपी मगरों से वह संग्राम सागर भयावना लगता था। सिंहनाद कर रहे योद्धाओं के परस्पर टकराने पर कवचों की तीक्ष्ण टंकारों से हो रहे झङ्कारों से सब द्वीप गूंज उठे थे ॥१४, १५॥

पैरों के आघात से खूब पीसे गये बाणों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, बह रही रक्त की नदी के प्रवाह में रथ, हाथी तक बहे जा रहे थे ॥१६॥

सुपर्णहेलानिपतत्प्रोत्पतत्पट्टपट्टिशम् ।
शरवारितरङ्गार्तभग्नायुधजलेचरम् ॥१७॥
हेतिसंघट्टनिष्क्रान्तज्वालाप्रज्वलिताम्बरम् ।
वलीपलितनिर्मुक्तशूराक्रान्तत्रिविष्टपम् ॥१८॥
पाण्डुपांसुपयोवाहकचच्चक्राचिरद्युति ।
हेतिनिर्विवराकाशायुधानाधारभूतलम् ॥१९॥
कटद्भटभटाटोपरटत्प्रतिभटोत्कटम् ।
चटच्छकटसंघट्टपिष्टकाष्ठलुठद्रथम् ॥२०॥
कबन्धभटवेतालमिश्रकण्टकसंकटम् ।
वेतालभुज्यमानाग्र्यशवमांसहृदम्बुजम् ॥२१॥
शूरशातितशीरार्धशिरःकरखुरोरुकम् ।
कबन्धदोर्द्रुमस्पन्दवनीकृतनभस्तलम् ॥२२॥
तरल्लोलास्यवेतालहासघट्टितपेटकम् ।
कंकटोत्कटसाटोपभटभ्रुकुटिभीषणम् ॥२३॥

गरुड़ की लीला से पट्टिश नामक शस्त्रविशेष गिर रहे थे और उड़ रहे थे, बाणरूपी जलतरङ्गों से पीड़ित हुए योद्धाओं के आयुधरूपी जलचर टूक-टूक हो रहे थे ॥१७॥

कहीं पर आपस में टकरा रहे शस्त्रास्त्रों से निकली हुई ज्वालाओं से आकाश जल रहा था, देवत्व की प्राप्ति से बुढ़ापे के कारण वदन पर होने वाली झुर्रियों और सफेदी से मुक्त हुए शूरवीर लोगों से स्वर्ग पट रहा था ॥१८॥

धूलिरूपी मेघों में चक्ररूपी बिजलियाँ कौंध रही थी, शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरा होने के कारण अवकाश रहित भूतल वहाँ पर वारों का आधार नहीं रह गया था ॥१९॥

बाणों की वृष्टि कर रहे महाभटों घटाटोप से गरज रहे प्रतिभटों से संग्राम-भूमि बड़ी डरावनी लगती थी, पृथिवी को व्याप्त कर रहीं (ढक रहीं) गाड़ियों के आघातों से चूर-चूर हुए अन्य गाड़ियों के अवयवभूत काठों में रथ लड़-खड़ा रहे थे, सग्रामभूमि कबन्ध हुए भटों और वेतालों से मिश्रित शत्रुओं से ठसाठस भरी थी, तिल रखने को भी ठौर नहीं थी, वेताल श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भटशवों का हृदयकमलरूपी मांस खा रहे थे, शूरवीर पुरुषों द्वारा वीरों के सिर, हाथ जंघाएं और खुर काटे गये थे, कबन्धों के भुजरूपी वृक्षों की हलचल से आकाश-तल धन सा बन गया था, तैर रहे चञ्चल मुख वाले वेतालों ने हर्ष के आधिक्य से हंसी खुशी से अपनी-अपनी पेटियाँ शवों से भरी थीं, कवच पहनने के कारण

एकान्तमारणैकान्तमरणैकान्तभूषणम् ।
प्रहारदानग्रहणकार्पण्यापारदूषणम् ॥२४॥
शूरवारणसामन्तमदवारिविशोषणम् ।
मारणैकान्तरसिककृतान्तानन्दपोषणम् ॥२५॥
अविकत्थनगुप्तानां शूराणां जयघोषणम् ।
अशूराणां च गुप्तानां प्रभावुद्घोषणं परम् ॥२६॥
शौर्यादीनां प्रसुप्तानां स्वगुणानां प्रबोधनम् ।
घनमाधारभूतानां राष्ट्रेषु भुजशालिनाम् ॥२७॥
दन्त्यारूढरथास्फोटभग्नकटवारणम् ।
समस्तमत्तगन्धेभदानवःरिनिवारणम् ॥२८॥
सारसारवसामन्तमुक्तमत्तमतङ्गजम् ।
जरांज्जतकरानोककल्पितासीकवेदनम् ॥२९॥

घटाटोप वाले भटों की भ्रकुटि से रणभूमि भयंकर थी। वहाँ पर नियमतः स्वयं मरना या दूसरों को मारना यही भटों का एकमात्र आभूषण था एवं प्रहारों को देने और अपने ऊपर लेने में असामर्थ्य ही वहाँ पर महती निन्दा थी ॥२०-२४॥

उक्त संग्राम गजरूपी शूरवीर सामन्तों के मदजल का शोषण कर रहा था, वहाँ दूसरों को मारने में अत्यन्त रसिक वीरभट काल के आनन्द की पुष्टिकर रहे थे, अपने मुँह से अपनी वीरता का बखान न करने से छिपे हुए शूरवीर भटों का काम ही रण में उनकी वीरता देखने वाले लोगों को मुँह से उनके शार्य की घोषणा करा रहा था, छिपे हुए कायरों का भी काम ही दर्शकों द्वारा प्रभु के समीप उनकी अशूरता की घोषणा करा रहा था, उक्त संग्राम सोये हुए अपने शौर्य आदि गुणों का उद्बोधन करता था, भुजबलशाली अतएव राष्ट्र में दुर्बल लोगों के आधारभूत शूरवीरों का धन था ॥२५-२७॥

हाथी पर सवार होकर युद्ध करने वाले तथा रथियों के परस्पर युद्ध में बेचारे हाथियों के गण्डस्थल क्षतविक्षत हो गये थे, सकल मदोन्मत गन्धगजों के जिसके मद को सूंघकर अन्य गज भाग खड़े होते हैं, वह गन्धगज कहलाता है। मदजल उक्त युद्ध में सूख गये थे, मदोन्मत्त हाथियों के तालाबों में घुसने पर सारसों की तरह चीत्कार के साथ भाग रहे तरुण सामन्त भी वहाँ पर हाथियों को छोड़ जा रहे थे। बूढे होने पर भी खड्ग-विद्या में सिद्धहस्त भटों की सेना द्वारा अपनी खड्ग-प्रहरणता प्रकटन का समर्थन किया जा रहा था। भटों

दिनं दिनकरस्येव नृपस्य शरणं गतम् ।
अनागतभटव्रातपिष्टाधंमृतमानवम् ॥३०॥
मानवायुबलोन्मत्तनतप्रारब्धकुट्टनम् ।
घनानां प्राणपण्यानां नवमापणपत्तनम् ॥३१॥
पटनद्धपताकौधजातसंचारिदोर्द्रुमम् ।
रक्तोज्ज्वलत्वात्त्रैलोक्यलक्ष्म्या भूषणविद्रुमम् ॥३२॥
मन्दराहननोद्भूतक्षीरोदजलसुन्दरैः ।
छत्रैश्छादितहेत्योघपुष्पाढ्यगगनाङ्गनम् ॥३३॥
गणगीर्वाणगन्धर्वगीतशूराशयं कृतम् ।
तद्धातरलतालाग्रहेतिहालाहलायुधम् ॥३४॥
संघप्रहरणासंख्ययातुधानाक्षणज्क्षणम् ।
भुक्त्वा चाऽद्रिगुहागेहपूरितापूर्वदुर्द्रुमम् ॥३५॥

की सेना के न आने पर भी उनके आगमन की भ्रान्ति से भगदड़ होने पर परस्पर पैरों से कुचले गये मनुष्य अधमरे हो गये थे, अतएव दिन जैसे सूर्य की शरण में रहता है वैसे ही राजा के पैरों की शरण में वे अपने आप चले गये ॥२८-३०॥

अभिमानरूपी उन्माद वायु के कारण उन्मत्त हुए भटों द्वारा प्रणत (शरणागत) लोगोंपर भी प्रहारपर प्रहार किये जा रहे थे। वह संग्रामस्थल प्राणों द्वारा प्राप्त करने योग्य धनों का नूतन बाजार रूप नगर था। वस्त्रों से बँधी हुई पताकाओं के समूह ही लहरा रहे हस्तवृक्ष बन गये थे। खून से अत्यन्त लाल होने के कारण वह रणाङ्गण त्रैलोक्यलक्ष्मी का भूषणभूत मूंगा बन गया था ॥३१, ३२॥

युद्धभूमिका गगनरूपी आँगन मन्दराचल के आघात से उछले हुए क्षीरसागर के जल के समान सुन्दर छत्रों से से आच्छादित तथा शस्त्रास्त्रों के समूहरूपी फूलों से युक्त था। उक्त युद्धस्थल में प्रमथगणों, गन्धर्वों तथा देवताओं द्वारा शूरवीर भटों के उत्साह आदि के गीत गाये जा रहे थे, उनको (गणों और गन्धर्वों की) कान्ति से चञ्चल ध्वजाओं से तथा हथियार रूपी मद्य से उन्मत्त होने के कारण भट वहां पर बलराम रूप बन गये हैं ॥३३, ३४॥

उस युद्ध में बहुत बड़ा झुण्ड बांधकर अनायास प्रहार करनेवाले असंख्य राक्षसों द्वारा चुपचाप स्वयं भटमांस खाकर शवों के ढेर के ढेर उठा ले जाकर पर्वत गुहारूप अपने घर में अपने परिवार के—विषवृक्षसदृश—सब राक्षसों को भोजन कराया गया था ॥३५॥

कचत्कुन्तवनव्यस्तशिरःकरवृताम्बरम् ।
क्षेपणोन्मुक्तपाषाणपूरप्लुतककुब्लतम् ॥३६॥

महाचटचटाशब्दस्फुटद्द्रववृहद्द्रुमम् ।
नारीहलहलारावरणन्नगरमन्दिरम् ॥३७॥

मन्दरावानलाकारनभोभातायुधव्रजम् ।
परित्यज्य घनं गेहं दूरोर्वीविद्रुतप्रजम् ॥३८॥

सर्वतो हेतिवहनात्समक्षप्रेक्षकोज्झितम् ।
वर्जितं भीरुभिः पक्षिराजवृन्दमिवाऽहिभिः ॥३९॥

दन्तिदन्तविनिष्पिष्टशिष्टसद्भटसंकटम् ।
कटे मृत्योरिव नरद्राक्षापीडनयन्त्रके ॥४०॥

यन्त्रपाषाणसंघट्टपिष्टाम्बरगतायुधम् ।
योधनादनदद्दन्तिवृन्दवन्धुरकन्दरम् ॥४१॥

धराधरदरीरन्तःप्रतिश्रुत्प्रोतगर्जितम् ।
अर्जितं प्राणसर्वस्वमजर्यद्भिरुपार्जितम् ॥४२॥

भर्जितं हेतिदहनैरग्निदाहैश्च संततैः ।
तैरेवाऽन्यैरथाऽन्यैश्च द्वन्द्वयुद्धैरनिष्ठितम् ॥४३॥

वेष्टितं मृतशिष्टैश्च सारैः सुभटपेटकैः ।
कैलासैरिव संशुद्धैरीश्वराधारतां गतैः ॥४४॥

तैरुदारैः समाक्रान्तं ये मृत्योरपि मृत्यवः ।
मरणं जीवितं येषां जीवितं मरणं रणे ॥४५॥

रणे नभसि निर्लूनवरवारणवारिजे ।
सारसाः सरसीवाऽत्र रेजुरुत्पुद्धटा भटाः ॥४६॥

यन्त्राश्मक्षेपणानां प्रसरण-
सरिता घूकृतैः फूत्कृतैर्द्राक्

चमचमा रहे भालों की श्रेणियों से भालों के वन ऐसे प्रतीत हो रहे भालों से लड़नेवाले भटों द्वारा काटकर फेंके गये सिर और हाथों से रणभूमि का आकाश पट गया था, क्षेपणों से (गुलेल की तरह का एक देशी अस्त्र जिससे ढेले दूर-दूर तक फेंके जाते हैं) फेंके गये पत्थरों की राशियों से दिशारूपी लता ढाँपी गई थी ॥३६॥

ताल ठोकने आदि से उत्पन्न महान् चट-चट शब्दों से विशाल वृक्षों के टूटने कीसी ध्वनि हो रही थी एवं स्त्रियों के हाहाकार शब्दों से नगरों के घर-के-घर गूँज रहे थे ॥३७॥

आकाश में मन्द-मन्द ध्वनिवाली अग्नि के तुल्य अस्त्रास्त्रों की राशियाँ शोभित हो रही थीं, सबकी सब प्रजा अपना घर द्वार छोड़कर दूर देशों में भाग गई थी; हथियारों के चारों ओर चलने से युद्ध दर्शक लोगों ने भी भय से चारो ओर से युद्धभूमि का त्याग कर दिया था, भयभीत सांपों ने युद्ध भूमि का गरुड़ों के झुण्ड की तरह त्याग कर दिया था तथा उक्त युद्धभूमि में मनुष्य रूपी अंगूरों को पीसने के काल के यन्त्र ऐसे गण्डस्थल में हाथियों द्वारा दांतों से पिस चुके हुए से बचे हुए उत्तम भटों को बड़ी मुसीबत हो रही थी ॥३८-४०॥

आकाश में चल रहे हथियार प्रेक्षणी द्वारा फेंके गये पत्थर की टक्कर से चूर-चूर हो रहे थे और योद्धाओं के सिंहनाद से, चिंघाड़ रहे हाथियों के समूह से, कन्दराएं भर गई थीं ॥४१॥

उस युद्ध में शूरों के सिंहनाद पर्वतों की गुफाओं में पहुँचकर प्रतिध्वनियों से मिल गये थे और जन्म से लेकर बड़े प्रयत्न से उपार्जित बलसर्वस्व को प्रकट कर रहे शूरवीरों द्वारा चलाया गया था ॥४२॥

उक्त युद्धभूमि हथियार रूपी अग्नि से तथा चारों ओर फैली हुई अग्नि से भूनी गई थी तथा पूर्ववर्णित युद्धों से तथा अन्यान्य द्वन्द्व युद्धों से वहाँ युद्ध समाप्ति को नहीं प्राप्त हो रहा था ॥४३॥

मरे हुओं से अवशिष्ट, बलशाली, स्वामी की वञ्चना न करने वाले, हृदय में ईश्वर को धारण करने वाले, उत्तम भटरूपी कैलासों से वह युद्ध चारों ओर परिवेष्ठित था। कैलास भी अत्यन्त पवित्र, सारवान् और श्रीशङ्करजी का आधार है। जिनका रण से भागकर जीना मरने के समान अप्रिय है और रण में मरना जीने के समान प्रिय है ऐसे उदार पुरुषों से त्रैलोक्य भी जीता जाता है। वे ही काल के भी काल होते हैं यानी परमपद प्राप्त हैं। जैसे कहा है—दो ही पुरुष तो सूर्यमण्डल का भेदन कर परमपद को प्राप्त—होते हैं योगयुक्त संन्यासी और रण में सम्मुख मारा गया योद्धा ॥४४, ४५॥

अत्यन्त शूरवीर योद्धा कटे हुए सुन्दर-सुन्दर हाथी रूप कमलों से भरी हुई युद्धभूमि के आकाश में तालाब में सारसों के समान सुशोभित हुए ॥४६॥

गुलेल से फेंके गये पत्थरों के प्रवाहरूपी नदियों की ध्वनियों से तुरन्त ही बह कर आकाश में उड़े हुए मस्तकों

क्रान्तानां व्योम्नि मूर्ध्नां शर-
सलिलमुचां सैनिकानां च नादैः।
टांकारैरायुधानां नभसि
विसरतामश्वचक्रेभशब्दैः-
रासीन्निःसंधिबन्धोपलजठर-
जडं जीर्णकर्णं गतं तत् ॥४७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यान्तर्गत-विपश्चिदुपाख्याने संग्रामवर्णनं नाम दशाधिकशततमः सर्गः ॥११०॥

की फुफकारों से, बाणरूपी जल बरसा रहे सैनिकों के सिंहनादों से और आकाश में फैल रहे शस्त्रास्त्रों की सरसराहटों से एवं सात घोड़ों तथा हाथियों के हिनहिनाने और चिग्घाड़ने से व्याप्त युद्ध ने सबके कानों को बहिरा बना दिया था। यह रणस्थल कहीं पर भी सूराखसन्धि-सम्बन्ध से रहित पत्थर के समान जड़ हो गया था ॥४८॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में संग्रामवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११०॥

१११

वसिष्ठ उवाच

इति कल्पान्तसदृशे यत्ते समरसंभ्रमे।
पतन्तीषूत्पतन्तीषु सेनासु समरेऽजिरे ॥१॥
तूर्यभेरीमहाशङ्खखड्गेषु खे नदत्सु च।
धनुर्ध्वनिषु वीराणां तारक्रेंकारकारिषु ॥२॥
अन्योन्यकठिनास्फोटविकटे भटपेटके।
कवत्कटकटाटोपे कटुकुट्टितकङ्कटे ॥३॥
किंचित्प्रभज्यमानासु विशल्कक्ष्मासु संगरे।
विपश्चित्पक्षसेनासु लूयमानलतास्विव ॥४॥
उदभूत्पूरयन्नाशा नृपनिर्याणदुन्दुभिः।
चतुर्धाऽशनिसंपूर्णकल्पाभ्ररवमांसलः ॥५॥
स्फुटतां कुलशैलानां तुल्यकालमिवोत्कटः।
स्फुच्चटचटास्फोटैर्जडिताखिलदिक्तटः ॥६॥
लोकपालैरिवाऽऽकारैर्नारायणभुजैरिव।
स चतुर्भिश्चतुर्दिक्कं निर्जगाम महीपतिः ॥७॥
चतुरङ्गेण महता सैन्येन परिवारितः।
अट्टालवलयात्कृच्छ्रान्निर्गत्य नगराद्बहिः ॥८॥
ददर्शाऽऽत्मबलं रिक्तं बलवद्रिपुमण्डलम्।
गर्जन्तं च लयाकृत्या भीमं युद्धोद्धतार्णवम् ॥९॥

१११

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस प्रकार प्रलयतुल्य घमासान युद्ध चल रहा था, संग्राम भूमि में सेनाएँ हार और जीत रही थीं, तूरी, रणसिंगा और महाशङ्खों की ध्वनियाँ प्रतिध्वनि द्वारा आकाश में बज रही थीं, आकाश में तलवारें सरसराहट के साथ बोल रही थीं, वीरों के धनुषों की दीर्घ टंकार ध्वनियाँ हो रही थीं, भटगण परस्पर जोर-शोर से ताल ठोक रहे थे, निर्दयता से कूटे (पीटे) हुए कवच जोर के कट-कट शब्द कर रहे थे, राजा विपश्चित् की सेनाएँ कुछ हारसी रही थीं, काटी जा रही लताओं की भाँति सेना का बहुत बड़ा भाग मूर्छित हो रहा था, इतने में राजा विपश्चित् के रणभूमि प्रयाण की दुन्दुभि, जो वज्रयुक्त प्रलयकालीन मेघ की सी ध्वनि से पूर्ण थी, दिशाओं को अपनी ध्वनि से पूर्ण करती हुई बजी। उक्त दुन्दुभि-ध्वनि एक साथ टूट रहे कुलपर्वतों की ध्वनि के समान प्रचण्ड थी, उसने प्रकट हो रही अपनी गड़गड़ाहट से सकल दिक्तटों को स्तब्ध कर दिया था। वह राजा विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुजी की सदेह भुजा ऐसे चार शरीरों से रणभूमि के लिए चौतरफा निकला ॥१-७॥

चतुरङ्गिणी महती सेना से चारों ओर घिरे हुए राजा ने अटारियों से परिवृत नगर से कठिनाई के साथ निकलकर संग्राम संलग्न अपनी सेना को खाली (बलहीन) देखा और शत्रु सेना को बलयुक्त देखा। शत्रु सेना का क्या कहना था, वह युद्ध के लिए सन्नद्ध गरज रहा भयङ्कर चलनेवाला समुद्र ही थी, बाणरूपी जलकणों से खूब भरी थी, ककराकार सेना के व्यूहों से पूर्ण थी,

शरसीकरनीरन्ध्रं मकरव्यूहसंकुलम् ।
वारणव्यूहवलितं तरङ्गव्यूहविस्तृतम् ॥१०॥
चक्रावर्तवहद्व्यूहकल्लोलकलितान्तरम् ।
चलद्रथशतावर्तं पताकालहरीगणम् ॥११॥
प्रस्फुरच्छत्रफेनाढ्यं हयहेषितफीत्कृतम् ।
समुल्लसद्धेतिजलं कचद्धाराकरं परम् ॥१२॥
तरत्तरलमातङ्गतुङ्गौघतरङ्गकम् ।
हेत्यम्भसि कचत्पापमुद्गदगुलुगुलोदरम् ॥१३॥
दरीदलनसंक्षुब्धमरुज्जनितघुंघुमम् ।
नतोन्नतकृताद्रीन्द्रमहास्पन्दशरीरकम् ॥१४॥
मज्जन्मातङ्गतुरगहेलाहतमहीधरम् ।
अपारविचरत्पूरकल्लोलालमहाजलम् ॥१५॥
अकालकल्पान्तदशासमुत्थानघनाकृतिम् ।
आक्रान्तरोदसीरन्ध्ररुधिरैकमहार्णवम् ॥१६॥
कचदायुधखण्डौघडीनरत्नावृतोदरम् ।
चलद्व्यूहचलद्वचस्तयन्त्राश्मक्षेपणाश्मकम् ॥१७॥
रक्तसीकरनीहारसंध्याभ्रपटलानतम् ।
क्वचित्पांसुपयोवाहपीतहेतिपयोधरम् ॥१८॥
तमालोक्यरणाम्भोधिमगस्त्योऽस्य भवाम्यहम् ।
इति संचिन्त्य मनसा स पातुं तं रणार्णवम् ॥१९॥
अस्त्रं सस्मार वायव्यं चतुर्दिक्कं च संदधे ।
धनुषि शिखराधारे त्रिपुरान्त इवोद्यतः ॥२०॥
आत्मीयदेशसैन्यानां श्रेयोर्थं शान्तयेऽनलम् ।
नमस्कृत्याऽथ जप्त्वाऽऽशु स तत्त्याज दारुणम् ॥२१॥
यथा तथैव तत्याज तस्य साहायकाय सः ।
पर्जन्यास्त्रं महास्त्रेशं द्विषदातपशान्तये ॥२२॥
तस्मादस्त्रजुषो घोराद्धनुषः परिनिर्गताः ।
अष्टमूर्तेश्चतुर्दिक्कमाशाकुहरपूरकाः ॥२३॥
निर्ययुर्बाणसरितस्त्रिशूलसरितस्तथा ।
शक्तीनामुग्रसरितो भुशुण्डीसरितस्तथा ॥२४॥

हाथियों के झुण्डों से घिरी थी, सागर पक्ष में मगरों के समूहों से भरा हुआ। जलहस्तियों के समूह से भरा हुआ। अश्वों की कतारों से विस्तारयुक्त थी ॥८-१०॥

चक्राकार आवर्त के समान वह रहे सेना के व्यूहरूपी (रचना भेद रूपी) ज्वार भाटों से व्याप्त थी, चल रहे सैंकड़ों रथ ही उसमें सैंफड़ों जलभ्रमियाँ थीं, पताकाएँ ही छोटी-छोटी लहरें थीं, चमक रहे स्वेतछत्ररूपी फेन से वह लबालब भरी थी, घोड़ों का हिनहिनाना ही उसमें जलजीवों की फुफकार थी, हथियाररूपी जल चमाचम रहा था, विकसित हो रही बाणरूपी धाराओं की वह उत्तम आकर (थान) थी, तैर रहे चञ्चल हाथी और घोड़ों के झुण्ड ही उसमें तरङ्गें थीं, हथियाररूपी जल में काले सर्पों के ऐसे म्लेच्छ उसमें दीक पड़ रहे थे, द्राविड आदि भाटों की बातचीत से उसमें गुड़गुड़ शब्द हो रहा था, कन्दराओं के कटने से क्षुभित हुए वायु से उसमें घुम् घुम् शब्द हो रहा था, ऊंचे नीचे हाथी उसके विशाल कलेवर में पर्वतों के डूबने-उतरने से होने वाली महा हलचल पैदाकर रहे थे, डूब रहे हाथी घोड़े ही उसमें अनायास मापे गये (पक्ष काटने से पंगु बनाये गये) पर्वत थे। असीम चारों ओर फैला हुआ सेवासमूह ही उसकी कल्लोलों से (महातरङ्गों से) अलङ्कृत अपार जलराशि थी ॥११-१५॥

अनवसर में महाप्रलय के आविर्भाव के सदृश उसका आकार अत्यन्त घना था, खून के महासागर ने पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्यवर्ती अवकाश को ढंक दिया था, देदीप्यमान शस्त्रस्त्रों के खण्डों की राशिरूपी उच्छल रहे रत्नों से उसका मध्यभाग पटा था, चल रही सेनाओं में चल रहे क्षेपणी यन्त्र के (गुलेल के) पत्थर व्यस्त थे। रक्त के छोटे-छोटे कण और कुहरेरूपी सन्ध्याकाल के मेघ से युक्त थी, कहीं पर धूलिरूपी मेघ से अस्त्रशस्त्ररूपी जल का सागर पी डाला गया था ॥१६-१८॥

उक्त संग्राम सागर को देखकर मैं इसका अगस्त्य (अगस्त्य ने जिस प्रकार सागर को पी लिया था वैसे ही इसे पी डालूं) ऐसा मन में विचार कर उसने संग्राम सागर को पीने के लिए वायव्य अस्त्र का स्मरण किया और जैसे मेरुरूप धनुष में त्रिपुरासुर के वध के लिए उद्यत हुए शिवजी ने अस्त्र का सन्धान किया था वैसे ही चारों ओर उसने उसका सन्धान किया ॥१९-२०॥

राजा ने अपने देश के सैनिकों के हित के लिए शत्रुवधार्थ अग्निदेव को नमस्कार कर और जप कर शीघ्र जैसे उस भीषण अस्त्र को छोड़ा वैसे ही उसकी सहायता के लिए महान् अस्त्र श्रेष्ठ पर्जन्यास्त्र को शत्रुरूपी आतपकी शान्ति के लिए छोड़ा ॥२१, २२॥

चारों ओर वायव्यास्त्र और पर्जन्याशास्त्र से युक्त अतएव अष्टमूर्ति उस भीषण धनुष से दिशाओं के अवकाश को पाट देनेवाली बाणों की नदियाँ, त्रिशूलों की नदियाँ, शक्तियों की विकट नदियाँ, बन्दूकों की नदियाँ, मुद्गरों की नदियाँ, भालों की नदियाँ चक्रों की नदियाँ, कुल्हाड़ों

मुद्गराणां च सरितः प्रासानां सरितो रयात् ।
चक्राणां चैव सरितः परश्वधनदीरयाः ॥२५॥
तोमराणां च सरितो भिन्दिपालमहापगाः ।
पाषाणानां च सरितो वाताः कल्पान्तशंसिनः ॥२६॥
अशनीनां च सरितो विद्युतां सरितस्तथा ।
जलधारासरित्पूराः खड्गवर्षसमन्विताः ॥२७॥
सनाराचा महावर्षहर्षलोत्पातपीवराः ।
नागाश्च युगपर्यन्तस्फुटिताद्रीन्द्रजा इव ॥२८॥
तेनास्त्रवर्षवेगेन धुतः सोऽरिबलार्णवः ।
झटित्येव न कालेन पांसुराशिरिवाऽभितः ॥२९॥
सलिलाशनिशस्त्राणामासारैश्चण्डमारुतैः ।
सरांसीव विसेतूनि सैन्यानि परिदुद्रुवुः ॥३०॥
चतुरङ्गश्चतुर्दिक्कं बलौघः स पराङ्मुखः ।
ययौ प्रावृङ्गिरिनदीमहावाह इव द्रुतः ॥३१॥
वहत्स्वित्रबृहच्छिन्नपताकाकेतुपादपः ।
मरीचिपुष्पशबलविलोलासिलतावनः ॥३२॥

विलुठत्पुष्टपाषाणपृषद्रक्तद्रवावकः ।
घोरैर्घुरघुरारावैरलं हृदयभङ्गदः ॥३३॥
उह्यमानबृहद्दन्तिदन्तद्रुमविघट्टनैः ।
स्फूर्जच्चटचटारावतर्जितोद्गर्जिताम्बुदः ॥३४॥
हेतिवृत्तोग्रसंघट्टपुष्पजातझणज्झणः ।
तरत्तरलसारावतुरङ्गमतरङ्गकः ॥३५॥
रथादिभटचक्रौघशिलाक्रेकारपीवरः ।
पदातिरथहस्त्यश्वशिलासंघट्टसंकटः ॥३६॥
कटुचंकारचीत्कारक्रेंकारपरिपीवरः ।
मृता मृता वयमिति घनकोलाहलाकुलः ॥३७॥
सेनावारिमहावर्तचलद्गुलुगुलारवः ।
रक्तसीकरनीहारसन्ध्याम्बुदवितानकः ॥३८॥
हेतिवीचिवटाच्छिन्नवारिवामनवारिदः ।
वर्षपङ्किलभूपीठतटखण्डनमण्डितः ॥३९॥
कुन्तशूलगदाप्रासवहत्तलतलाद्भुतः ।
साक्रन्दभीरुजनताप्रतपन्मृगपोतकः ॥४०॥

की नदियाँ, तोमरों की नदियाँ भिन्दपाल (तोपों) की नदियाँ, पत्थरों की नदियाँ, वज्रों की नदियाँ और बिजलियों की नदियाँ वह निकलीं । कल्पान्त के (प्रलय के) सूचक प्रचण्ड वायु बहने लगे । जलधारा की नदियों के प्रवाह तलवारों की वृष्टि के साथ वह निकले । युगों के अवसान में टूट फूटकर धराशयी हुए कुलपर्वतों से निकले हुए, प्रचण्ड वायु से बढ़े हुए, उत्पातों के समान मोटे ताजे साँप बाणों के साथ वह निकले ॥२३-२८॥

उस शस्त्रास्त्र वृष्टि के लेग से वह पूर्वोक्त विशाल शत्रु-सेना-सागर शीघ्र ही धूल के ढेर की भाँति चारों ओरों ओर उड़ा दिया गया । उसमें कुछ भी समय नहीं लगा ॥२९॥

जल, वज्र और शस्त्रास्त्रों की वेगवती वृष्टि तथा प्रचण्ड आँधी से शत्रु सेना बाँधरहित तालाब के जल की भाँति चारों ओर भाग खड़ी हुइ । वह चतुरङ्गिणी सेना युद्ध से विमुख होकर वर्षाकाल की पर्वत नदी के महा-प्रवाह के तुल्य भागती हुई चारों दिशाओं को चली गई ॥३०, ३१॥

वायु के प्रवाह में वह रहे पसीने से तर कटे हुए बड़े-बड़े पताका-दण्ड ही उस गिरिनदी रूप सेना में वृक्ष थे, किरणरूपी फूलों से चितकबरे (मिश्रित) चञ्चल खड्ग ही लताओं के समूह थे, दौड़ाने की शक्ति न होने से खड़खड़ा रहे, मोटे ताजे पुरुषरूपी पत्थरों के बिन्दुरूपी खून के पनाले से वह अवर्णनीय थी, भयंकर घुर-घुर शब्दों से वह कायरों के हृदय को टुकड़े-टुकड़े करने वाली (डरावनी) थी, वह रहे महागजों के दाँतरूपी वृक्षों के परस्पर टकराने से प्रकट हो रहे कट-कट शब्द से गरज रहे मेघों को मात कर रही थी, हथियारों से पत्थरों की तेज टक्कर ही उसमें नदी के किनारे के पुष्प वृक्ष पर हुआ भँवरों का झंकार था, तैर रहे चञ्चल तथा चिल्ला रहे घोड़ें ही उसकी तरङ्गें थीं । रथादि के तथा भट-वृन्द के पत्थरों से टकराने पर हुए आर्तस्वररूपी मेढक तथा पक्षियों के शब्द से युक्त थी, पैदल सेना, रथ, हाथी और अश्वरूपी पाषाणों के परस्पर टकराने से वह संकुल थी, कर्णकटु टंकार, चीत्कार, क्रेंकार से पुष्ट थी, हम मरे हम मरे इस प्रकार के जनकोलाहल से भरी थी, सेनारूपी जल के बड़े-बड़े आवर्तों में गुड़-गुड़ ध्वनि हो रही थी, रक्त के कण तथा कुहरारूपी सन्ध्याकाल का मेघ उसका चँदवा था ॥३२-३८॥

शस्त्रास्त्ररूपी लहरों से वटवृक्षों के समान काटे गये मेघ जल से नम्र हुए थे । वर्षा से पङ्कयुक्त हुए भूप्रदेश के तट को तोड़ने से वह विशेष शोभित थी ॥३९॥

मार्ग बनाने के लिए भाले, त्रिशूल, गदा, बल्लों को धारण करने वाले भाग रहे भटों से बह रहे तालवन के समान अद्भुत थी, रो धो रहे कातर लोग ही उसमें गिर रहे मृगछौने थे ॥४०॥

मृतहस्त्यश्वयोधौघजीर्णपर्णनिरन्तरः ।
पिष्टदेहवसामांसपङ्कसंजातकर्दमः ॥४१॥
चूर्णीकृतखुरापिष्टमहास्थिघनसैकतः ।
उह्यमानशिलापूरकाष्ठकोटिकटङ्कटः ॥४२॥
उद्गर्जत्प्रलयाम्भोदैर्वहत्प्रलयवायुभिः ।
प्रपतत्प्रलयासारैः प्रलयाशनिसंकटैः ॥४३॥
पङ्किलाखिलभूपीठैः सलिलोपप्लुतस्थलैः ।
सितशैत्यवशाश्यानधाराकृतखपञ्जरैः ॥४४॥
समग्रनगरग्रामगृहज्वलितवह्निभिः ।
प्रजाश्वेभपदातीनामाक्रन्देनाऽपि घर्घरैः ॥४५॥
रथाम्भोधरनिर्ह्रादैर्दिवि भूमौ घनारवैः ।
चतुर्दिक्कं घनं तारक्रेंकारस्य चतुष्टयैः ॥४६॥
विद्युद्वलयविस्तारकारिसंघट्टघर्षणैः ।
शरशक्तिगदाप्रासभिन्दिपालादिवर्षणैः ॥४७॥
सर्वदिक्कमसंख्यानि बलानि बलशालिनाम् ।
भूभृतां विद्रवन्त्याशु विनेशुर्मशकौघवत् ॥४८॥
उद्दामपावकनोपमहेतिसार्थ-
मेघानलाकुलजनाशनिवर्षपातैः ।
आसन्बलानि चपलाब्धिजलाबलानि
पर्याकुलानि वडवाग्निमिवाऽऽविशन्ति ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विपश्चिदुपाख्याने चतुर्दिग्गतबलद्रवणं नामैकादशाधिकशततमः सर्गः ॥१११॥

मरे हुए हाथी, घोड़े और भटों के समूहरूपी जीर्णशीर्ण पत्तों से वह आच्छन्न थी, पीसे गये शरीरों के वसा और मांस के कीचड़ से उसमें चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था, चूर-चूर की हुई हड्डियाँ ही उसमें कुछ स्थूल बालू वाले तट थे और खुरों से खूब पीसी गई महा हड्डियाँ ही उसमें महीन बालू वाले तट प्रदेश थे। उसमें बह रहे पत्थर समूहों तथा लकड़ियों की चोटियों के आपस में टकराने से कटकट शब्द होता था ॥४१, ४२॥

गरज रहे प्रलयकाल के मेघों से, बह रहे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायुओं से, गिर रही प्रलयकालीन मूसलाधार वृष्टि से, प्रलयकाल के वज्रपातरूपी संकटों से, पङ्कमय सकल भूतलों से, जल से उपद्रवपूर्ण स्थलों से, तेज शीत से जम गई वर्षाधारों के आकार के आकाश में बने पिंजड़ों से, समस्त नगर, गाँव और घरों को जलाकर राख कर चुकी अग्नियों से, प्रजा, घोड़े, हाथी और पैदल सेनाओं के रोदन से, आकाश और भूमि में हो रहे तीक्ष्ण ध्वनि वाले रथ और मेघों के घर-घर शब्दों से, चारों ओर विपश्चित् के धनुष के चार तेज क्रेंकारों से, बिजली-रूपी कंकण का विस्तार करने वाले मेघों के परस्पर टकराने और रगड़ खाने से, बाणों, शक्तियों, मुद्गरों, बल्लमों, भालों और बन्दूकों की वर्षाओं से चारों ओर बलशाली राजाओं के असंख्य सैनिक भागते हुए मच्छरों के समूह की भाँति शीघ्र नष्ट हो गये। सीमान्त के राजाओं की सेनाएँ तीक्ष्ण वह्निराशि के सदृश शस्त्रास्त्र-समूहरूपी मेघों की आग से लोगों को घबड़ाहट में डाल देनेवाले वज्रपातों से व्याकुल होकर चञ्चल सागर जल में उबाले जा रहे जलचरों की तरह बाडवाग्नि में प्रवेश कर रही थी ॥४३-४९॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में विपश्चिदुपाख्यान में चतुर्दिग्गतबलद्रवण नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१११॥

११२

वसिष्ठ उवाच

लोकहाराम्बरव्यालं चेदिचन्दनकाननम् ।
छिन्नं परशुधाराभिः पतितं दक्षिणार्णवे ॥१॥
पर्णवत्प्रोह्य पूरेण पारसीकाः परस्परम् ।
प्रहरन्तो विमोहेन विनष्टा वञ्जुलावने ॥२॥

११२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स, चेदिरूपी चन्दनों का वन, जहाँ मोतियों के हार, वस्त्र और साँप दर्शनीय होते हैं, कुल्हाड़ियों की धाराओं से कटकर दक्षिण सागर में गिर गया ॥१॥

पारस देश के भट अस्त्र प्रवाह से पत्तों की भाँति बहाये जाते हुए मोहवश आपस में प्रहार कर वञ्जुला वन में विनष्ट हो गये ॥२॥

दर्दुराद्रौ दुरन्तेषु दरदीर्णहृदन्तराः।
दरीरन्ध्रेषु संलीना दरदा दानवा इव ॥३॥
चतुरायुधधाराग्रचूर्णनीहारधारिणः ।
विद्युद्वलयिनो वाता वेल्लितायुधवारिदाः ॥४॥
दन्तिनोऽन्योन्यमाभग्नदन्तदेहौघपीडिताः ।
मृत्यूदरोम्भकग्रासपिण्डपिण्डा इवाऽभवन् ॥५॥
तज्जा रैवतिका रात्रौ रौद्रतोमरताडिताः।
रूपिकाभिः पिशाचीभिर्भुक्ता भागीकृताङ्गकाः ॥६॥
तालीतमालगहने दशार्णाजीर्णजङ्गले।
गले पादं निधायाऽन्तः कृत्ताः सिंहैर्गतासवः ॥७॥
पश्चिमार्णवतीरस्था नालिकेरधरावनौ।
यवना विगतप्राणा निगीर्णा मकरोत्करैः ॥८॥
नाराचनिकरं नीलं निमेषं नाऽसहञ्छकाः।
रमठा नलिनीषण्डा इव ताण्डवितासवः ॥९॥

दरद देश के भट दर्दुर पर्वत पर आर-पार रहित (असीम) गुफाओं के बिलों में भय से विदीर्णहृदय होकर दानवों की भाँति विलीन हो गये ॥३॥

वाण, बल्लम, तलवार और कुल्हाड़ारूपी चार शस्त्रास्त्रों की धारा के अग्रभाग से हुए पत्थर, कवच आदि के चूर्णरूपी वर्फ को धारण करने वाले बिजलियों से आवेष्टित वरुणास्त्र से उत्पन्न हुए मेघ चले ॥४॥

आपस के आघातों से भग्नदन्त (जिनके दाँत टूट गये थे) देहों में रुधिर राशि से लथपथ पीड़ाक्रान्त हाथी मृत्यु के पेट की पूर्ति करने वाले ग्रास के बराबर के पिण्ड ऐसे हुए ॥५॥

भीषण तोमरों से पीटे गये दरद देश के ही कोई भट रात्रि में अपने रूप से पुरुषों को वञ्चित करने वाली पिशाचियों द्वारा उपभुक्त हुए और फिर उन्होंने उनके अङ्ग आपस में बांट लिये, यों बेचारे रैवतक पर्वत में विलीन हो गये ॥६॥

दशार्ण देश के भट ताल और तमाल से घने पुराने जंगल में सिंहों द्वारा गले में पैर डालकर हृदय चीरकर मार डाले गये ॥७॥

पश्चिम सागर के तटवर्ती देशों के यवनभट वेला-भूमि में मगरों के झुण्डों से निगल लिये जाने के कारण मर गये ॥८॥

शक लोग लोहमय वाण राशि को क्षण भर भी सहन न कर सके एवं रमठों के प्राण कमलिनी समूह की भाँति मारे भय के कांप उठे ॥९॥

श्रवणाभोगश्रृङ्गाग्रो महेन्द्रोऽद्रिर्दिवि व्रजैः।
विद्युतैर्वलितो नीलैर्जालैर्जलमुचामिव ॥१०॥
चामीकरवराकारा भग्ना तङ्गणवाहिनी।
मृता हृताम्बरा चोरैर्भुक्तैकान्ते निशाचरैः ॥११॥
द्यौरिवर्क्षभरैरासीत्तदासारं भुवस्तलम्।
विवर्तमानैरभितः कचद्भिर्ज्वलनायुधैः ॥१२॥
धाराधरधरारन्ध्रप्रतिश्रुद्घनधुंधुमा ।
जगद्गेहगुहासीद्वचौघनं गातुमिवोद्यता ॥१३॥
द्वीपान्तरजनाश्चक्रैर्जर्जरा जीवितं जहुः।
मीनजङ्गलजम्वाले जीर्णमत्स्या इवाऽजले ॥१४॥
यावद्द्वीपा जिताः कुक्षौ सह्याद्रौ सममूर्तयः।
आश्वस्य दिवसान्सप्त ययुरायासमन्थरम् ॥१५॥
गन्धमादनपुन्नागवनगुल्मेषु पुञ्जिताः।
विद्याधरकुमारीभिर्गान्धाराः परिरक्षिताः ॥१६॥

श्रवण नक्षत्र के संस्थान के (शरीर गठन के) समान तीन शिखराग्रों से युक्त महेन्द्र पर्वत स्वर्ग में जा रहे भटों से परिवृत होकर मेघों से परिवृत-सा हो गया ॥१०॥

तङ्गण भटों की सेना, जिसका आकार सुन्दर सुवर्ण के सदृश था, चोरों द्वारा वस्त्रादिलुण्ठन पूर्वक छिन्न-भिन्न की गई, फिर निशाचरों द्वारा एकान्त में चट कर दी गई थी, यों मटियामेट हो गई ॥११॥

तङ्गण सेना के भक्षण के समय वहाँ का भूमितल चारों ओर घूम रहे उल्मुक (लुआठी) लिये हुए अतएव चमक रहे निशाचरों से नक्षत्र-मण्डल से आकाश की नाई शोभित हुआ ॥१२॥

उक्त विपश्चित् की विजय होने पर जगद्रूपी गृहगुहा वाला अन्तरिक्ष लोक मेघों के पृथिवी-बिलों में गर्जन की प्रतिध्वनि से गम्भीर घुम्-घुम् विपुल मृदङ्गध्वनि युक्त होकर मानो उसका प्रचुर यश गाने के लिए उद्यत हुआ ॥१३॥

मछलियों के विहाररूप शिवार के छोटे से तालाब के भाग्यवश सूख जाने पर बड़ी-बड़ी मछलियों के तुल्य अशरण होकर खड्गों से जर्जर हुए अन्यान्य द्वीपों के भटों ने अपने प्राणों का परत्याग किया ॥१४॥

जीते हुए सकल द्वीपों के भट सह्याद्रि में छिपकर सात दिन तक विश्रामकर चिकित्सा आदि द्वारा घावों के पूरे होने से स्वस्थ होकर बाणवृष्टियों से क्लेशित होते हुए कठिनाई के साथ धीरे-धीरे अपने देशों को चले गये ॥१५॥

मारे भय के गन्धमादन पर्वत के पुंनाग वृक्षों के झुरमुट में इकट्ठे हुए गान्धार देश के भटों की विद्याधर-कुमारियों ने रक्षा की ॥१६॥

हूणचीनकिरातानां मुक्तैस्तैश्चक्रवर्षणैः।
कमलानीव लूनानि शिरांस्यभिमुखानिलैः ॥१७॥
निलीपा नलिनीनाले कण्टका इव निश्चलाः।
द्रुमे द्रुमे द्रुममया भयात्तस्याऽवसंश्चिरम् ॥१८॥
चारुसारङ्गरङ्गासु शैलकाननभूमिषु।
चतुर्दिक्कं तदापातैः संपन्नं क्षोभणं घनम् ॥१९॥
कण्टकस्थलनामानः कण्टकस्थलकर्कशाः।
कण्टकस्थलगा आसन्कण्टकस्थलमण्डले ॥२०॥
पारसीकाः परं पूरैः पारं प्राप्य पयोनिधेः।
निपेतुः पवनैः पूताः प्रलये तारका इव ॥२१॥
ववुरम्भोधिकुट्टाका दृषदां कटकाङ्किताः।
सर्वदिग्वनलुण्टाका वाताः प्रलयशङ्किताः ॥२२॥
आसारसाराः पङ्काम्बुप्लुताः सघनघुंघुमाः।
आसन्दशदिशोऽदृश्या बहुक्षुब्धायुधानिलैः ॥२३॥

हूण, चीन और किरातों के सिर विपश्चित् से छोड़े गये मुंह में आग से युक्त वेगवान् चक्रों से कमलों की तरह काटे गये ॥१७॥

निलीप नामक देश के भट कमलनाल में उगे हुए निश्चल कांटों के समान विपश्चित के भय के मारे प्रत्येक वृक्षमय से निश्चल हो चिर कालतक निवास करते रहे ॥१८॥

मृगों और पक्षियों के विहार के लिये सुन्दर रङ्ग-भूमिरूप पर्वत और वनभूमियों में विपिश्चित् के आगमनों से या शस्त्रास्त्रों के संपातों से चारों ओर अत्यन्त घबड़ाहट फैल गई ॥१९॥

करञ्ज वन के समान कठोर कण्टक-स्थलनामक भट दस्युओं के देश में करञ्ज आदि के वनों में छिप गये ॥२०॥

पारसी भट समुद्र के तरङ्गवेग से परली पार पहुँच-कर; वायु से पाक होकर प्रलयकाल में तारों के समान गिर पड़े ॥२१॥

समुद्र को तरङ्गों के आन्दोलनों द्वारा कूटने वाले, पत्थरों की मार से पर्वत शिखरों पर चिह्न करने वाले, सब दिशाओं के वनों को झकझोरकर विनष्ट करने वाले तथा प्रलय की आशङ्का पैदा करने वाले प्रचण्ड पवन बहने लगे ॥२२॥

दशों दिशाएँ अत्यन्त क्षुब्ध हुए शस्त्रास्त्रों और वायुओं द्वारा मूसलाधार वृटि से सम्पन्न होकर कीचड़ और जल से सराबोर, गंभीर घुम्-घुम् शब्द युक्त तथा अदृश्य हो गई ॥२३॥

निर्ह्रादकारिभिर्वातैर्वहच्छपच्छपारवम्।
प्रसस्रुर्भुवि नीहारा महार्णवरया इव ॥२४॥
विदूरस्था रथेभ्यश्च वीचिचीत्कारकारिणः।
सरोम्भस्यनिलैः पेतुः पद्मेभ्य इव षट्पदाः ॥२५॥
आयुधौघेऽपि चक्रौघात्पादातं बलमाविलम्।
रजोराशिरिवाऽऽसारे न समर्थं पलायने ॥२६॥
हूणा आमस्तकं मग्ना उत्तरार्णवसैकते।
विलिन्नास्तत्रैव पङ्कान्तः पूरणाविलशूलवद् ॥२७॥
तीरैलावनलेखासु शकाः पूर्वपयोनिधेः।
नीता बद्ध्वा दिनं मुक्ता न गता यमसादनम् ॥२८॥
मन्दं मन्द्रा महेन्द्राद्रौ क्रन्दन्तः पतिता दिवः।
आश्वासिता मुनिवरैर्निजाश्रममृगा इव ॥२९॥
प्रविष्टा याचनं सह्ये लब्धाः सुरबिलाद् द्वयम्।
अनर्थेनाऽर्थं आयाति काकतालीयतः क्वचित् ॥३०॥

सायें-सायें शब्द करने वाले वायुओं से महासागर के प्रवाह से बरफ छप्-छप शब्द के साथ पृथिवी पर गिरने लगा ॥२४॥

वायु से उड़ाये जा रहे विदूर देश के रथिक लहरों का-सा चीत्कार करते हुए कमलों से भ्रमरों की तरह रथों से तालाव के जल मे गिर गये ॥२५॥

उनकी पैदल सेना तो पास में शस्त्रास्त्र राशि के रहते भी विपश्चित् की चक्र राशि से आंख के अश्रुओं से भर जाने के कारण, मूसलाधार वृष्टि होने पर धूल राशि के समान, भागने में समर्थ नहीं हुई ॥२६॥

हूण देश के भट उत्तर सागर के रेतीले तट पर सिर तक डूबकर भूमि में गाड़ने के कारण मटमैला हुआ लोहे का शूल जैसे मोरचे से युक्त होने से क्लेदयुक्त हो जाता है वैसे ही क्लेद युक्त हो गये अर्थात् सड़ गये ॥२७॥

शकभटों को पूर्व सागर की तट भूमि की एला (इलायची) वन श्रेणियों में पहुँचा कर विपश्चित् ने उन्हें एक दिन तक बांधकर छोड़ दिया, अतएव वे यमलोक नहीं गये, नहीं मरे ॥२८॥

मन्द्र देश के भट धीरे-धीरे खिसकते-खिसकते द्युलोक के समान ऊँची पर्वत की चोटी से महेन्द्र पर्वत पर गिरे और अपने आश्रम के मृगों की भांति मुनिवरों ने खान, पान, स्थान आदि प्रदान द्वारा उन्हें आश्वासन दिया ॥२९॥

जो भट सह्याद्रि में प्रविष्ट हुए थे, वे तो मूकाम्बिका के समीप कुटजाद्य नामक सह्याद्रिशिखर के देवबिल में भाग्यवश प्रविष्ट हुए, उक्त बिल से उन्हें ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियां प्राप्त हो गईं। कभी-कभी भाग्यो-

पतिता दर्दुरारण्ये दशार्णा जीर्णपर्णवत् ।
भुक्त्वा विषफलान्यज्ञा मृतास्तत्रैव ते स्वयम् ॥३१॥
विशल्यकरणीं भुक्त्वा काकतालीययोगतः ।
हिमाद्रौ हैहया याता गृहं विद्याधरा इव ॥३२॥
पृष्ठनृम्लानकुसुमा धनुर्भिर्गृहमागताः ।
वङ्गा नाऽद्याऽपि दृश्यन्ते पिशाचत्वमिवाऽऽगताः ॥३३॥
अङ्गा वनफलैर्भुक्तैर्विद्याधरपदप्रदैः ।
विद्याधरीभिः क्रीडन्ति दिवि विद्याधराः स्थिताः ॥३४॥
तालीतमालखण्डेषु पतिताः वातिताङ्गकाः ।
पारसीका गता मोहं भ्रमाद्वैमानिका इव ॥३५॥
तरलासारमातङ्गं पतितं तङ्गणाङ्गणे ।
अङ्गैरङ्ग कलिङ्गानां चतुरङ्गं बलं हतम् ॥३६॥
क्रमत्यरिबले साल्वाः शरशैलोदकोदरे ।
पतिताः प्रभुणा सार्धमद्याऽप्येवोपलाः स्थिताः ॥३७॥
असंख्याः प्रपलायन्तः ककुभं कुकुभं प्रति ।
नराः सरत्तरङ्गेषु सागरेषु लयं गताः ॥३८॥
क्षेत्राटवीपुरजलस्थशैलकूल-
कुल्याप्रहारसरिदब्धिभृगुद्रुमेषु ।
ग्रामारपट्टिगिरिकूपगुहागृहेषु
भ्रष्टानि कः कलयितुं कुवलानि शक्तः ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥११२॥

दयाल में अचानक अनर्थ से भी अर्थ (पुरुषार्थ) हस्तगत हो जाता है, कारण कि मरने के लिए वे सुरबिल में घुसे थे, किन्तु उन्हें सिद्धियाँ मिल गई ॥३०॥

दाशार्ण देश के भट पुराने पत्ते के समान दर्दुराण्य में पहुँचे । वे मूर्ख विषफल खाकर वहीं पर अपने-आप मर गये ॥३१॥

हैहयदेश के भट हिमालय में काकतालीयन्याय से विशल्यकरणी औषधि को खाकर विद्याधरों की भाँति आकाशचारी होकर अपने घर चले गये ॥३२॥

इसी प्रकार वंग के भट भी हिमालय की औषधियाँ खाकर पृष्ठलग्न मनुष्यों की नाईम्लान (कुम्हलाए) शेखर पुष्पों से युक्त हो बाणों के चूक जाने से केवल धनुषों से युक्त हो अपने-अपने घर आये, मारे भय के आज भी बाहर न निकलने के कारण पिशाचता को प्राप्त हुए जैसे दिखाई नहीं पड़ते ॥३३॥

अङ्ग देश के भेद विद्याधरों का पद प्रदान करने वाले बनफलों के भक्षण से स्वर्ग में विद्यधर होकर वहां विद्याधरियों के साथ क्रीड़ा करते हैं ॥३४॥

पारसी भट ताल और तमाल के समूहों में प्रविष्ट हुए, प्रविष्ट होते ही शत्रुओं ने उनके अङ्ग-अङ्ग काट डाले, अतएव बेचारे मूर्च्छा को प्राप्त हो गये वहां पर भ्रान्तिवश विमानचारी ऐसे हो गये ॥३५॥

हे वत्स, कलिङ्गों की चञ्चल और निस्सार हाथियों से युक्त चतुरङ्ग सेना अङ्गदेशवासी भटों से घायल होकर तङ्गण देश में पहुँची ॥३६॥

साल्वदेश के भट बाण, पत्थर और जल से युक्त शत्रु सेना के आक्रमण करने पर अपने प्रभु के साथ धराशायी हो गये, वे आज भी उस देश के ग्राम देवता रूप प्रतिमा बनकर स्थित हैं ॥३७॥

प्रत्येक दिशा की ओर भाग रहे असंख्य भट तरंङ्गों से व्याप्त सागरों में लीन हो गये ॥३८॥

केवल सागरों में ही लीन नहीं हुए किन्तु खेतों में, जंगलों में, नगरों में, जलों में, स्थलों में, पहाड़ों में, नदी और समुद्रों के तटों में, नहरों में, ब्राह्मणों को दिये गये माफी ग्रामों में, नदियों में, समुद्रों में, वृक्षों में, कसबों में, खुश्क जगहों में, कुओं में, गुहाओं में, गृहों में विनष्ट हुए भगोड़े सैनिकों को बचाने में कौन समर्थ था ॥३९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में बलपरिभ्रंश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११२॥

११३

वसिष्ठ उवाच

बलान्यनुतरन्तोऽथ तदित्थं द्रवतां द्विषाम् ।
दूरादूरतरं प्राप्तावत्वारस्ते विपश्चितः ॥१॥
सर्वशक्तिमयैकेन चेतनेनेश्वरेण ते ।
प्रहिता दिग्जयं चक्रुः सर्व एव समाशयाः ॥२॥
दूरात्तावदविच्छिन्नमनुसस्रुर्बलानि ते ।
यावत्तीरं समुद्राणां प्रवाहाः सरितामिव ॥३॥
दूराविश्रान्तयानेन तेषां तत्सर्वसाधनम् ।
आत्मीयं परकीयं च क्षीणं कुसरिदम्बुवत् ॥४॥
आत्मीयान्यन्यदीयानि तेषां वीक्ष्य बलान्यलम् ।
क्षीणानीव मुमुक्षूणां पुण्यपापानि धावताम् ॥५॥
स्वयमस्त्राणि शान्तानि कृतकृत्यान्यथाऽम्बरे ।
ज्वालाजालानि वह्नीनां दाह्यस्याऽसंभवादिव ॥६॥
आलयेषु रथाश्वेभवृक्षौघादिषु हेतयः ।
आसन्निद्रालवो लीना दिनान्ते विहगा इव ॥७॥
तरङ्गा इव तोयेऽन्तर्नीहारा इव वारिदे ।
मेघा वायाविवाऽऽमोदा व्योमनीव निलिल्यिरे ॥८॥
धारापङ्कतलालीनशान्तहेतिजलेचरः ।
नाराचसीकरासारनीहारपरिवर्जितः ॥९॥
चक्रावर्तशतोन्मुक्तो युक्तः सौम्यतयाऽच्छया ।
प्रशान्तमेघसंरम्भतरङ्गोत्तुङ्गवर्षणः ॥१०॥
अन्तर्लीनर्क्षरत्नौघकोणसंस्थार्कवाडवः ।
शून्यतावारिरमलो व्योमैकाब्धिरभूत्पृथुः ॥११॥
लम्बप्रकाशगम्भीरं प्रसन्नं कान्तिमुत्तमम् ।
रजोविरहितं रेजे खं मनो महतामिव ॥१२॥
अथाऽर्णवांस्ते ददृशुराकाशस्याऽनुजानिव ।
विस्तीर्णान्विमलाकारान्पूरिताखिलदिक्तटान् ॥१३॥

११३

अनन्तर इस प्रकार भाग रहे शत्रुओं की सेना का पीछा कर रहे वे चार विपश्चित् अत्यन्त दूर चले गये। सर्वशक्ति शाली सब देहों में स्थित एक चेतन ईश्वर से दिग्विजय करने के लिए प्रेरित, तुल्य अभिप्रायवाले उन सबों ने दिग्विजय किया ॥१, २॥

नदियों के प्रवाहों की तरह उन्होंने दूर से अपनी सेनाओं का निरन्तर शत्रुसेना से सम्पर्क रखते हुए समुद्र के तट तक अनुसरण किया। दूर तक बिना विश्राम लिए चलने से विपश्चित् के सैनिकों के वे जीवन निर्वाह और युद्ध आदि के साधन प्रतिदिन के व्यय से छोटी-छोटी नदियों के जल की भाँति क्षीण हो गये ॥३, ४॥

दौड़ रहे विपक्षियों की, अपनी और दूसरों की दर्शनीय सेवाएँ मुमुक्षु जनों के पुण्य-पापों की तरह पूर्णरूप से मटियामेट हो गईं ॥५॥

इसके उपरान्त जैसे अग्नि की ज्वलाएँ दाह्य वस्तुओं के (लकड़ी आदि के) अभाव से शान्त हो जाती हैं वैसे ही अपना कार्य सम्पन्न कर चुके दिव्यास्त्र भी आकाश में लीन हो गये ॥६॥

तरकस, म्यान आदि अपने निवास गृहों में, रथों, हाथियों और वृक्षों के समूहों में अस्त्र सायंकाल के समय निद्रालु पक्षियों के समान लीन होकर निश्चेष्ट हो गये ॥७॥

उक्त आयुध, जैसे लहरें जल के अन्दर विलीन हो जाती हैं, जैसे कुहरा बादल में विलीन हो जाता है, जैसे बादल वायु में विलीन हो जाते हैं वैसे ही तरकस, म्यान आदि में विलीन हो गये ॥८॥

शून्यतारूपी जल से भरा निर्मल आकाशरूपी एकार्णव प्रलयकाल में प्रसिद्ध एकमात्र अति विस्तृत सागर बन गया, क्योंकि उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जलजन्तु मूसलाधार वृष्टि से हुए कीचड़ में विलीन होकर शान्त होकर शान्त हो चुके थे, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्तों से वह रहित था अतः निर्मल सौम्यता उसमें चारों ओर विराजमान थी, बाणरूपी जलकणों की वेगवती वृष्टि और कुहरा उससे हट चुका था, बादलों के घटाटोप से हुई तरंगों की भाँति ऊँची-ऊँची जलधाराएँ उसमें शान्त हो चुकी थीं, नक्षत्र-रूपी रत्न-राशि अन्दर छिप चुकी थी तथा सूर्यरूपी वडवाग्नि उसके एक देश में स्थित थी ॥९-११॥

एकार्णव-सा विस्तृत आकाश, जो विस्तृत (फैले हुए) सूर्य प्रकाश से गम्भीर अतएव कान्तियुक्त और धूलिपटल से रहित अतएव प्रसन्न था, महात्माओं के मन की भाँति सुशोभित हुआ। महात्माओं का मन भी आत्मज्ञान से गम्भीर होने से प्रकाशमय तथा रजोगुण से रहित होने के कारण प्रसन्न रहता है ॥१२॥

तदुपरान्त उक्त चार विपश्चितों ने आकाश के छोटे भाइयों के सदृश विस्तार युक्त, निर्मल आकार वाले, सम्पूर्ण दिशाओं तक फैले हुए चार समुद्रों को देखा ॥१३॥

तरङ्गकणकल्लोलमहागुलगुलाकुलान् ।
भूरिसीकरनीहारहारिहारिशरीरिणः ॥१४॥
स्थितानात्मानमास्तीर्य भमौ व्याध्यातुरानिव ।
श्वसनार्ताश्चलद्देहाञ्चिवर्तोमिमहाभुजान् ॥१५॥
जडानपि स्पन्दमयान्कल्लोलाकोटकोटरान् ।
संसारानिव विस्तीर्णांश्चक्रावर्तदशाकुलान् ॥१६॥
रत्नराशितटोद्योतपीवरीकृतभास्करान् ।
शङ्खराशिविशद्वातशब्दतर्जितघुंघुमान् ॥१७॥
मांसलोर्मिघटाघोषघर्घराम्बरडम्बरान् ।
वर्तुलावर्तविस्तारप्रभ्रमद्विद्रुमद्रुमान् ॥१८॥
मकरव्यूहनिर्ह्रादघर्घरोदरघुंघुमान् ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जत्पोतकृतारवान् ॥१९॥
उद्ग्रीवकूर्ममकरनिर्गीर्णोर्णनरोत्करान् ।
ऊर्मिबिम्बितसम्प्राप्तसहस्राकंनभोनिभान् ॥२०॥
भांकारकारिपवनपतद्भूत्यततोद्धटान् ।
ऊर्म्युदस्तमणिव्रातबलाञ्जणझध्वनीन् ॥२१॥
नानाजालैर्बलभुजैर्हेलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
नमदुन्नमदुद्द्रश्मिरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥२२॥
उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
क्वचित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतात् ॥२३॥
लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठतालिषु माधवान् ।
क्वचिदन्तरविश्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥२४॥
एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥२५॥

उनमें लहरों के खण्डों और कल्लोलों से चारो ओर महान् गुड़-गुड़ शब्द हो रहा था, प्रचुर जलकणरूपी कुहरे को हरने वाले मेघों से उनका कलेवर बड़ा रमणीय प्रतीत होता था, रोगाकुल पुरुषों की भांति वे अपनी काया को पसारे हुए थे, वे वायु से पीड़ित थे, अतएव उनका कलेवर चञ्चल था और वे तरङ्गरूपी बाहुओं को बार-बार ऊपर उठा रहे थे रोगाकुल के पक्ष में—सांस रोग से पीड़ित अतएव चञ्चल शरीर तथा पीड़ा के मारे बार-बार भुजाओं को ऊपर उठा रहे ॥१४-१५॥

वे संसार की तरह जड़ होते हुए भी चेष्टामय थे, कल्लोलरूपी टेढ़े-मेढ़े खोडरों से भरे थे, संसार पक्ष में षड्र्मियों से (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से) कुटिल जडाशयों से पूर्ण। चक्राकार आवर्तरूपी (जलभ्रमिरूपी) दशाओं से व्याकुल तथा विस्तीर्ण थे। रत्नों की राशियों को धारण करने वाले तटों की जगमगाहट से उदय समय में मानो वे सूर्य को विशाल बना देते थे। शङ्खों के झुण्डों में प्रवेश कर रहे वायु का शब्द ही मानो उनकी तर्जनध्वनि (डांट-डपट की हुंकार) थी। बड़ी-बड़ी लहरों की परम्पराओं की ध्वनियों से वे मेघों की गड़गड़ाहट से पूर्ण आकाश के आडम्बर से युक्त, थे, उनके गोल-गोल आवर्तों के विस्तार में मूंगे के वृक्ष जोर से घूम रहे थे, मगरों के झुण्डों के घर-घर शब्द ही उनके पेट की गुड़गुड़ाहट थी, ह्वेल मछलियों की पूंछों के अगले भाग की मार से फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजों के कोलाहल से भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरनिकरों को ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निकल रहे थे, हजारों लहरों में प्रतिबिम्बित सूर्यों से वे जिसमें सहस्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाश के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥

माल से लदे हुए तथा तने हुए पाल पर फर-फर ध्वनि करने वाले वायुओं के कारण चल रहे जहाजों की कतार ऊपर को उछल रही थी, लहरों में उलझी हुई रत्नराशियों के गिरने के धक्के से उनमें झंकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलों से युक्त सेनाओं की बाहुओं द्वारा अनायास सूर्य मण्डल का स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायों से पूर्ण तरंगरूपी बाहुओं से वे अनायास सूर्य मण्डल का स्पर्श कर रहे थे), ऊपर को छिटक रही किरणों से युक्त मणिमाणिक्यों के समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फांदने से फेन वाले आवर्तों में (जलभ्रमियों में) मगरों के झुण्ड के झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहीं पर हाथियों के सूंड़ों को ऊपर करने से वे क्षणभर के लिए बाँस के बन से बनाये जा रहे थे, हाथियों की पूंछ उनमें लहरियों की बौर-सी मालूम पड़ रही थी, हाथियों की पीठरूपी पंक्तियों में सटी हुई फेन राशि से वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे। कहीं पर (श्वेत द्वीप आदि में) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवार के साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थान पर असंख्य नाना प्रकार के सुर और असुरों के आवास बने थे, फेन आदि रूप तारों से युक्त नूतन तरङ्ग राशियों से वे आकाश का परिहास कर रहे थे, गुफा में स्थित मच्छर की तरह पातालरूपी गड्ढे में प्रविष्ट होकर बाहर निकलने में भयभीत पर्वत उनमें मूलशाखा से (जड़ों की शाखा के तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियों से तटवर्ती

गुहामशकवद्गर्तभीतशाखायिताचलान् ।
नयतोऽम्बुतरङ्गौघैर्वेलाद्रीनतिखर्वताम् ॥२६॥
खक्षेत्रारोपितानल्परत्नरश्मिपथाङ्कुरान् ।
शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥२७॥
नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥२८॥
इन्द्रनीलतटैर्व्युप्तमुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
क्वचिद्दर्शयतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥२९॥
रत्नांशुजालसंदिग्धास्तरङ्गादेशबिम्बिताः ।
परिवर्तयतः फुल्लास्तीरतालीवनावलीः ॥३०॥
एलालवङ्गकक्कोलफलमालां जिघृक्षुभिः ।
वेलावनलताभ्रष्टामात्तावृत्तीञ्जलेचरैः ॥३१॥
चूतनीपकदम्बाग्रविहगान्प्रतिबिम्बितान् ।
भूक्षानैर्विप्रलम्भेन कृताच्छोटाञ्जलेचरैः ॥३२॥
खेचरप्रतिबिम्बेन विद्रवद्भिरितस्ततः ।
भग्नबन्धबृहत्सेतून्क्षणं प्रति जलेचरैः ॥३३॥
अमूर्तान्प्रतिबिम्बेन हृदयस्थजगत्त्रयान् ।
चतुरो व्योमविपुलान्दिक्षु नारायणानिव ॥३४॥
अतिगाम्भीर्यनैर्मल्यविस्तारविभवैर्नभः ।
निगीर्य संदर्शयतो हृदयादिव बिम्बितम् ॥३५॥
जलचारिविहङ्गानां साकाशं प्रतिबिम्बितम् ।
आशयैर्दधतः शारैः पद्मान्भृङ्गमिवाऽऽत्मगम् ॥३६॥
तरङ्गतरलास्फालमारुतैराहताम्बरान् ।
कन्दरोद्गारगम्भीरैः कल्पान्तजलदालयान् ॥३७॥
गुहागुलुगुलावर्तनिर्घोषाशनिभीषणाम् ।
भृशं भावयतो ग्रस्तानगस्त्यौर्वानलानिव ॥३८॥
भूरिसीकरपुष्पाणि तरङ्गौघतरूणि च ।
प्राप्तान्यम्बुवनानीव लहरीमञ्जरीणि खम् ॥३९॥

पर्वतों को छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतों की अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे) ॥२२-२६॥

उन्होंने (चार सागरों ने) आकाश रूपी खेत में बहुत से रत्न किरण रूपी अङ्कुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपों के मुँह से गिरी हुई मोतियों से उनके बालूमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकार के रत्नों की किरणरूपी रेशमी सूत्रों से उनका कलेवर चित्र-विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरी में प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरी में प्रविष्ट किये जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओं से वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बीने जा रहे वस्त्रों के तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७-२८॥

कहीं पर वे इन्द्रनील मणियों के तटों से, जिसमें इतस्ततः बिखरी हुईं मोती वाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभा को सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्रमाओं से युक्त-सी दिखला रहे थे ॥२९॥

वे रत्नों की किरण राशियों का सन्देह कराने वाली तरङ्गों में प्रतिबिम्बित तट भूमि की विकसित ताल की वनपंक्तियों को तरङ्गों के परिवर्तनों से परिवर्तित कर रहे थे, तीरभूमि के वनों की लताओं से घिरे हुए इलाइची, लौंग, कक्कोलों के फलों को लेने की इच्छा करने वाले जलजन्तु उनमें बार-बार आ जा रहे थे, आम, भूकदम्ब की चोटियों पर बैठे हुए पक्षियों को जिनकी जल में परछाँइ पड़ी थी, भक्ष्य मांस आदि के प्रदर्शन के व्याज से लहर के समीप लाकर खा रहे जल-जन्तु उनमें चुटकी बजाने की-सी ध्वनि कर रहे थे, नभचर जन्तुओं के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण इधर-उधर दौड़ रहे जलजन्तु उनमें प्रति क्षण बड़े-बड़े (पुल) तोड़ रहे थे और बाँध रहे थे। उन्होंने चार दिशाओं में चार समुद्रों को देखा। वे अमूर्त थे किन्तु प्रतिबिम्बि से सारा त्रैलोक्य उनके हृदय में स्थित था, आकाश के समान वे विशाल थे, अतएव अमूर्त, त्रैलोक्य को हृदय में धारण किये हुए और आकाश के समान व्यापक नारायण के समान थे ॥३०-३४॥

अत्यन्त गम्भीरता, निर्मलता और विस्तार के वैभव से अपने में प्रतिबिम्बित आकाश को मानो हृदय से निकाल कर दिखला रहे थे, वे जलचर पक्षियों के आकाशसहित प्रतिबिम्ब को रत्नराशियों के किरणों से कर्बुरित अपने हृदयों से धारण कर रहे थे, अतएव कोश के बीच में स्थित भंवरों को धारण करनेवाले पद्मों के सदृश दीख रहे थे, तरंगों से चञ्चलतापूर्वक उछले हुए वायुओं के झोकों से आकाश तलपर आघात कर रहे थे, मध्यवर्ती पर्वतों की कन्दराओं में वायु के प्रवेश और निकलना रूप जो उद्गार था, उससे अनुमेय कन्दराओं के गाम्भीर्यों से वे प्रलयकाल के मेघों के निवासरूप थे, गुहाओं में आवर्तों की गुड़गुड़ाहट ध्वनियों से वे वज्र की की भाँति भीषण थे, अपने को पी डालनेवाले अगस्त्यों को और बड़वानलों को अपने गुहारूपी उदरों में खूब ग्रसे हुए दर्शा रहे थे, जलरूपी वनों को, जिनमें प्रचुर

सरत्तरङ्गजालानि प्रोड्डीनप्राणिमन्त्यथः ।
आकाशखण्डखण्डत्वात्पतितानीव विभ्रमात् ॥४०॥

एलालवङ्गचकुलामलकोतमाल-
हिंतालतालदलताण्डवखण्डिताग्रे ।
प्राप्ते पतल्लवणवारिधिदीर्घतीरं
रेखा बभावलिनिभाऽम्बरशैलमूर्ध्नि ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥११३॥

जलकण ही पुष्प थे, तरंगराशियाँ ही वृक्ष थे, छोटी लहरें ही मंजरी (बौर) थीं, आकाश में पहुँचे हुए दर्शा रहे थे, उड़े हुए मछली आदि जीवजन्तुओं से युक्त चल रही तरंगराशियों को आकाश के शस्त्रों से कटने पर खण्ड रूप से नीचे गिरे हुए टुकड़े से दर्शा रहे चार समुद्रों को उन्होंने देखा ॥३५-४०॥

आकाश तक पहुँचे हुए पर्वतों के शिखरों पर तटों के आगे पूर्ववर्णित रीतियों से तरङ्गों द्वारा स्वागत कर रहे क्षार-सागर के तट पर विपश्चित् सेना के पहुँचने पर चारों ओर इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़ के पत्तों के ताण्डवों से विभक्त भँवरों के समान काली वनपङ्क्ति शोभित हुई ॥४१॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अवि० विप० समुद्रवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११३॥

११४

वसिष्ठ उवाच

अथ तेषां तदा तत्र ततस्तांस्तानदर्शयम् ।
पार्श्वगा वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचरान् ॥१॥

देव पश्यास्य शैलस्य येयमभ्रंकषाऽग्रभूः ।
समरुन्मध्यदेशादेरश्मदेशमुपेयुषः ॥२॥

इमा बकुलपुन्नागनालिकेरकुलाकुलाः ।
विपिनावलयो वान्तविविधामोदमारुताः ॥३॥

लुनात्युपत्यकां वार्धिः शैलशालिशिलावलीः ।
वनालीर्लहरीदात्रैरापादफलपल्लवाः ॥४॥

अधित्यकासु मेघालीर्नृत्यतां स्वाम्बुभूभृताम् ।
धुनोति जलधिर्बालो गृहधूमावलीमिव ॥५॥

राकाब्धिपूरसंप्रोतशङ्खशाखास्तटद्रुमाः ।
चन्द्रबिम्बफलाः कल्पवृक्षा इव विभान्त्यमी ॥६॥

११४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, इसके पश्चात् विपश्चितों के पार्श्ववर्ती मन्त्री आदि ने वहाँ पहुँचने के बाद वहाँ पर भाँति-भाँति के वन, वृक्ष, सागर, पर्वत, मेघ और वनेचर कौतुक के लिए विपश्चितों को दिखलाये ॥१॥

महाराज ! तलहटी, मध्यभाग तथा चोटी के क्रम से आगे पाषाणमयता को प्राप्त (अत्यन्त पथरीले) इस शैल की आकाश से बातें करने वाली अतएव प्रचुर वायु से पूर्ण (अथवा क्रीड़ाविहार कर रहे गन्धर्व आदि से भरी हुई) शिखर भूमि को आप देखने की कृपा कीजिये ॥२॥

देव, मौलसिरी, केसर, नारियल के वृक्षों से भरी हुई इन वनस्थलियों पर भी, जो विविध सुगन्धियों से पूर्ण वायुओं को बहा रही हैं, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥३॥

यह महासागर लहरीरूपी हँसवों से पर्वत के पास की सम भूमि को और पर्वत पर शोभित शिलाओं को काटता है और चोटी से लेकर जड़ तक फलों पल्लवों से लदी हुई वल्लरी को भी काटता है ॥४॥

यह सागर वायु से हिलाई गई वृक्ष और लता रूपी भुजाओं के अभिनय से नाच रही, स्वेदतुल्य अपने जल कणों से व्याप्त, पर्वतों की ऊपर की भूमि पर बैठी हुई मेघपङ्क्ति को वैसे ही कम्पित करता है, जैसे कोई बालक अपने घर की धूल-पङ्क्तियों को पङ्खे से कम्पित करता है कृपा कर देखें ॥५॥

पूर्णिमा के दिन चन्द्रोदय के समय वृद्धि को प्राप्त समुद्र के प्रवाहों से जिनकी शाखाओं में शङ्ख उलझ गये थे, ऐसे ये तटवृक्ष चन्द्रबिम्ब के समान अमृत रस से भरे और सफेद फलों से पूर्ण कल्पवृक्ष से शोभित हो रहे है, तनिक दृष्टिपात करे ॥६॥

रत्नपुष्पभरापूर्णरक्तपल्लवपाणयः ।
भवन्तं पूजयन्तीव लतादारान्विता द्रुमाः ॥७॥
प्रोतोर्मिमकरग्रासैर्दृषद्दन्तैर्गुहामुखैः ।
ऋक्षवानृक्षवद्भूभृद्धत्ते घुरघुरारवम् ॥८॥
महेन्द्रो मन्द्रगर्जाभिरभिक्षिपति गर्जतः ।
पर्जन्यानूर्जितो जन्यः प्रतिजयान्यथा जडैः ॥९॥
चन्दनारूषितः श्रीमाञ्जेतुं जलधिवेल्लनाः ।
समुद्यत इवोच्चोऽसौ मल्लो मलयपर्वतः ॥१०॥
सर्वतः कचितोऽजस्रं रत्नवीचिभिरम्बुधिः ।
भूरत्नवलमभ्रान्त्या प्रेक्ष्यते सूर्यमार्गगैः ॥११॥
सरन्ति रत्नमूर्धानश्चलकानिलपायिनः ।
वानपूराः पर्वतकाः सर्पा इव नतोन्नतैः ॥१२॥
भ्रमन्तो वीचिशृङ्गेषु मकरेभाः करोत्कटैः ।
हरन्ति सीकाराम्भोदा मेघानुद्राविता इव ॥१३॥

लतारूपी धर्मपत्नियों से युक्त ये वृक्ष, जिनके लाल पल्लवरूपी हाथ रत्नों के तुल्य पुष्पों से भरे हैं, अपने घर में प्राप्त अतिथिरूप आपकी मानो पूजा करते हैं ॥७॥

यह ऋक्षवान् नाम का पर्वत लहरों में उलझे हुए मगरों को अपने में ग्रसने वाले सफेद पत्थररूपी दाँतों से युक्त गुहारूपी मुखों से ऋक्ष के समान (भालू के समान) घुर-घुर शब्द करता है ॥८॥

यह महेन्द्र पर्वत ऊपर से गरज रहे मेघों को नीचे से गम्भीर गर्जनाओं द्वारा सामने वैसे ही डाट-फटकार रहा है जैसे बलवान् युद्ध-कुशल भट रिपुओं को जड़ वचनों से ललकारता है ॥९॥

चन्दन के वृक्षों से व्याप्त, अतिशय शोभाशाली, अति उन्नत यह मलय पर्वतरूपी मल्ल (पहलवान) प्रतिमल्ल-रूपी सागर की लहररूपी भुजाओं की लपेट को जीतने के लिए उद्यत-सा हो रहा है ॥१०॥

चारों ओर से रत्न-मिश्रित तरङ्गों से निरन्तर व्याप्त समुद्र को आकाशचारी जीव, भूमि के रत्नकङ्कण की भ्रान्ति से देखते है ॥११॥

वन समूहों से भरे हुए छोटे-छोटे पर्वत, जिनके शिखरों पर रत्न विराजमान हैं वायुवश वन के कम्पित होने पर नीची ऊँची गतियों से चलने वाले बनकर सर्पों की भाँति सरकते हैं ॥१२॥

तरङ्गों के शिखरों पर घूम रहे समुद्री मगर और जंगली हाथी तरङ्ग शिखरों के निकलने और प्रविष्ट होने पर एक दूसरे के ग्रहण के लिए सूँड़ों और खोले हुए मुँहों से बादलों से अनुद्रुत जलकण गिराने वाले मेघों की भाँति कौतुक देखने वालों का मन हरते हैं ॥१३॥

आवर्तवलिताकारः सीकरोत्करकीर्णदिक् ।
पूर्णत्वात्तु शिरोऽशक्तोम्रियतेऽन्युत्करः करी ॥१४॥
विविधप्राणिसंपूर्णाः सजलाद्रिनतोन्नताः ।
यथैवाऽम्भोधयः सर्वास्तथैव द्वीपभूमयः ॥१५॥
आवर्तानात्मनोऽनन्यानप्यन्यानिव भास्वरान् ।
गृह्यमाणानसद्रूपान्दृश्यमानानपि स्फुटान् ॥१६॥
तरङ्गतरलानन्तजडानप्यम्बुधिश्चलान् ।
धत्ते ब्रह्म जगन्तीव सान्तानप्यन्तवर्जितान् ॥१७॥
यानन्तरिन्द्रवद्धानुमणीन्धत्तेऽम्बुधिर्बहून् ।
मन्थापहृतसर्वस्वो देवेभ्यः परिरक्षिताम् ॥१८॥
दृश्यमानान्महातेजस्तया पातालतोऽप्यलम् ।
प्रतिबिम्बविभङ्गयाऽन्तरसत्यानिव गोपितान् ॥१९॥
तेषां मध्यादेकमेकं प्रत्यहं पश्चिमार्णवे ।
निक्षेपाय क्षिपति यं तेन मन्ये दिनं भवेत् ॥२०॥

उनमें से एक हाथी भाग्यवश अगाध जल में भँवरों की पकड़ में आकर जलकणों की मूसलाधार बौछारों से दिशाओं को व्याप्त कर डूबने के कारण जल से भर जाने से सिर उठाने में असमर्थ हो सूंड़ ऊपर कर मर रहा है, जरा दृष्टिपात करे ॥१४॥

जैसे सागर विविध प्राणियों से पूर्ण, जल से भरे हुए तथा पर्वतों से ऊँचे निचे (विषम) हैं वैसे ही सब द्वीपभूमियाँ भी हैं ॥१५॥

जलधि अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से मालूम पड़ने वाले, दिखाई देते हुए भी चञ्चल, विनाशशील होते हुए भी अन्त रहित असीम आवर्तों को वैसे ही धारण करता है जैसे ब्रह्म अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होने वाले, दिखाई देते हुए भी असद्रूप, जड़ होते हुए भी चलने वाले, सान्त होते हुए असीम जगत् को धारण करता है ॥१६,१७॥

जैसे इन्द्र असुरों से रक्षा करते हुए मणियों को अपने अन्दर रखते हैं वैसे मन्थन के समय देवता और असुरों द्वारा हृत-सर्वस्व सागर मन्थन के समय देवताओं से परिरक्षित जिन बहुत सी मणियों को अपने अन्दर रखता है और महातेजरूप अतएव पाताल से भी भलीभाँति दिखाई दे रहीं जिन मणियों को प्रतिबिम्बरूप से असत्य सी बनाकर अन्दर छिपाकर रखता है, उन मणियों में से एक जिस मणि को प्रतिदिन पश्चिम सागर में रखने के लिए आकाश में फेंकता है, उससे दिन होता है, ऐसी मेरी मति है ॥१८-२०॥

नानादिग्देशपयसामब्धौ साधुसमागमः ।
यात्रायामिव लोकानां मिथः कलकलान्वितः ॥२१॥
जलेचरावरा नूनं सागरार्णवसंगमे ।
अन्योन्यवेल्लनाद्युद्धं न कदाचन शाम्यति ॥२२॥
ताम्यत्तिमितरङ्गाग्रनर्तनावर्तविभ्रमम् ।
वलयन्वायुरायाति वान्तसीकरमौक्तिकैः ॥२३॥
सरिन्मुक्तालतामध्यमध्यस्थाब्दमणीश्वराः ।
दीर्घाः खणखणायन्ते चञ्चलाः सर्वतोऽम्बुधेः ॥२४॥
महेन्द्राद्रेर्गुहागेहपरावृत्तार्णवाध्वनाम् ।
भांकारिण्यो भुवः सिद्धसाध्यानां सुसुखावहः ॥२५॥
मन्दरः कन्दरोद्गीर्णैः प्रसरैर्मातरिश्वनः ।
कम्पाकुलवनाभोगः पुष्पमेघांस्तनोति खे ॥२६॥
चूतनीपकदम्बाढ्यगन्धमादनकन्दरान् ।

नाना दिशाओं और देशों के जलों का कल-कल शब्द से मिश्रित परस्पर वैसे ही समागम होता है जैसे यात्रा में लोगों का कल-कल ध्वनि से युक्त परस्पर समागम होता है ॥२१॥

युद्ध में उत्साह रखनेवालों में जलचर ही श्रेष्ठतम होते हैं, ऐसा मेरा तर्क है, क्यों कि पूर्व और पश्चिम सागर के संगम में इनका सदैव परस्पर आस्फालनवश कभी भी युद्ध शान्त नहीं होता ॥२२॥

रतिस्वेद से श्रान्त हुई मछलियों के लहरों की चोटियों पर नाचने में जो आवर्तों का सा विलास हुआ उसको उड़ाये हुए जलकणरूपी या जलकणसहित पारितोषिकरूप मोतियों से वेष्टित करता हुआ प्रभु की भाँति यह वायु आ रहा है, देखिये ॥२३॥

नदीरूपी मोतियों की मालाओं के बीच-बीच में गूँथे हुए मेघरूपी उत्तमोत्तम चञ्चल रत्न सागर के कण्ठ में सबसे बढ़कर लम्बमान होने से आपस की टक्कर से खनखना रहे हैं ॥२४॥

महेन्द्र पर्वत की अरतिकारिणी (उदास) भूमियों में पहुँच कर उनमें अभिरुचि न होने से गुहारूपी गृहों में रति के लिए समुद्री मार्ग से लौटे सिद्ध और साध्यरूप देवयोनियों के रतिश्रम को हटाने से सुखकारी यह वायु बह रहा है ॥२५॥

यह मन्दराचल पर्वत कन्दराओं से निकले हुए वायु के झोकों से आकाश में पुष्पवर्षी मेघों का विस्तार कर रहा है अर्थात् शिखर पर छाये हुए मेघों को फूलों से पूर्ण कर रहा है, देखिये ॥२६॥

विशन्ति मेघहरिणास्तडित्तरललोचनाः ॥२७॥
हिमवत्कन्दरोद्गीर्णा बल्लीवलयताण्डवम् ।
तन्वाना वायवो यान्ति विभिन्नाब्दाब्धिवीचयः ॥२८॥
तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः ।
वलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः ॥२९॥
जलदान्वलयन्वायुरलकालकतां गतान् ।
इत आयाति पुष्पाभ्रं रचयन्वनवीथिषु ॥३०॥
कुन्दमन्दारसंदोहमधुरामोदमन्थरान् ।
तुषारसीकरोन्मिश्रानिवाऽत्र कलयाऽनिलान् ॥३१॥
नालिकेरलतालास्यलब्धतिक्तसुगन्धयः ।
पतन्ति पवनाः पश्य पारसीकपुरीः पुरा ॥३२॥
धुन्वानाः पुष्पितेशानवनकर्पूरवारिदान् ।
चालयन्तोऽनिला वान्ति कैलासकमलाकरान् ॥३३॥

ये बिजली रूपी चञ्चल नेत्रवाले मेघरूपी हरिण आम, धूलिकदम्ब और कदम्बों से परिपूर्ण गन्धमादन की कन्दराओं में प्रवेश कर रहे हैं ॥२७॥

हिमालय की गुफाओं से निकले हुए, मेघों और समुद्र की तरङ्गों को छिन्न-भिन्न करने वाले तथा लताओं को नचा रहे मन्द-सुगन्ध शीतल पवन बह रहे हैं ॥२८॥

हे देव ! आम और कदम्ब की शाखाओं की चोटियों के सम्पर्क से सुगन्ध वाले गन्धमादन पर्वत के ये वायु सागर की तरङ्गों को वेष्टित कर रहे हैं ॥२९॥

अलकापुरी के अलक चूर्णकुन्तल बने हुए मेघों को वेष्टित कर रहा तथा वनश्रेणियों में पुष्प मेघ की रचना कर रहा वायु इधर ही आ रहा है ॥३०॥

कुन्द और मन्दार पारिजात की पुष्पराशियों की सुमधुर सुगन्धि के भार से मन्दगति वाले अतएव तुषार कणों से संपृक्त जैसे वायुओं का इस गन्धमादन पर्वत पर स्पर्श कीजिये ॥३१॥

नारिकेल वृक्षों तथा मल्लिका आदि लताओं को नचाने से क्रमशः उनकी तीक्ष्ण मद्यगन्ध और सुगन्ध को प्राप्त पवन पारसीक पुरी में गिरते हैं ॥३२॥

भगवान् शिवजी के विकसित प्रमदवन के केले के कर्पूर से सुरभित, मेघों को कंपा रहे और कैलास के कमलाकरों को हिला रहे वायु बह रहे हैं ॥३३॥

करीन्द्रकुम्भनिष्क्रान्तमदमन्थरमूर्तयः ।
इमे शुकशुकायन्ते विन्ध्यकन्दरवायवः ॥३४॥
शबरीणां शरीरेषु शीर्णपर्णोत्करे गिरौ ।
नाराचैः पर्णशबरैर्वनाली नगरायते ॥३५॥
अब्ध्यद्रिसरिदम्भोदवनलेखाङ्गिका दिशः ।
त्वत्प्रतापवलैरेता हसन्तीवाऽर्करश्मिभिः ॥३६॥
अत्रोपशैलवनवीथिषु पुष्पशय्या
विद्याधरीविरचिताः परिवर्णयन्ति ।
पार्श्वद्वयस्थपरिवृत्तपदातसमुद्राद्-
व्यावृत्तमुग्धवनितापुरुषायितानि ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥११४॥

गजेन्द्रों के गण्डस्थल से चू रहे मदजल से मन्थर मूर्ति वाले ये विन्ध्याचल की कन्दरा के वायु, काश के डण्ठलों से होने वाली शुक्-शुक् ध्वनि करते हैं अथवा विन्ध्याचल के गुग्गों के साथ निकलने से उनके रंग से हरे से प्रतीत होते हैं ॥३४॥

शबरियों के शरीरों में वस्त्रों की कल्पना द्वारा जीर्णशीर्ण पत्तों के ढेर वाले मलयाचल पर्वत पर पत्ते पहनने वाले शबरों से तथा बाणों से पूर्ण अतएव थोड़े से अवशिष्ट मृगों-पक्षियों से युक्त मलयवनराजियाँ नगर-सी मालूम पड़ती हैं ॥३५॥

ये दिशाएँ जिनके सागर, पर्वत, नदियाँ, मेघ, वन-पक्तियाँ अवयव हैं, आपके प्रताप से परिपुष्ट हुई सूर्य की किरणों से मानो हँसती है ॥३६॥

इस प्रदेश में पर्वत तथा वनवीथियों के समीप रति के लिए विद्याधरों द्वारा रची गईं पुष्पशय्याएँ महावर की छाप से युक्त दोनों बाजुओं में स्पष्ट रीति से उठे हुए चरणचिह्न से पुरुष के रति-श्रान्त होने पर अधोदेश से व्यावृत्त हुई मुग्धवनिता के पुरुष आचरणों को सूचित करती हैं ॥३७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्माणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० दिग्दर्शन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११४॥

११५

पार्श्वगा ऊचुः

अत्रोत्तमाशय लतावलयालयेषु
लीलाविलोलललनाः कलयन्ति गीतम्।
उद्दामभावरसविस्मृतवासरेहा
विश्रम्य किंनरगणाः कलकाकलीकम् ॥१॥
एते हिमाद्रिमलयाचलविन्ध्यसह्य-
क्रौञ्चा महेन्द्रमधुमन्दरदर्दुराद्याः ।
दूरस्थिता दृशि सिताभ्रपटा वहन्ति
संशुष्कपर्णलवलाञ्छितलोष्टलीलाम् ॥२॥
अमी दूरालोकव्यवहितमहावर्त्मनिचयाः
पुरः प्राकाराणां कुलशिखरिणो बिभ्रति वपुः ।
विशन्तीरम्भोधिं कलय लुलिता भान्ति सरितैः
पटस्याऽन्तः सक्ताः प्रतनुसितसूत्रा इव दशाः ॥३॥

११५

पार्श्वचरों ने कहा—हे उदाराशय ! जिनकी ललनाएँ विहार क्रीडाओं में सदा आसक्त रहती हैं ऐसे किन्नरगण उत्कट संचारिभावों और संभोग शृङ्गार रस से दिवस-चेष्टाओं को भूलकर इस पर्वत पर लतानिकुञ्जों में अस्फुट मधुर तान वाले गीत गाते हैं और सुनते हैं ॥१॥

महाराज, देखिये, हिमालय, मलयाचल, विन्ध्याचल, सह्याद्रि, क्रौचाद्रि, महेन्द्र, मधु, मन्दर, दर्दुर आदि ये सफेद मेघरूपी वस्त्रों से ढँके हुए पर्वत दूर होने के कारण दर्शकों की दृष्टि में सूखे हुए पत्तों से वेष्टित ढेलों की रूपरेखा को धारण करते हैं अर्थात् अत्यन्त ऊँचे भी पर्वत दूर से दिखाई देने के कारण बहुत छोटे मालूम होते हैं ॥२॥

हे राजन् ! देखिये, ये कुलशैल, दूर से देखने पर जिनके मध्यवर्ती मार्ग समूह दूसरों को नहीं दिखाई देते, परस्पर सटे होने से चारों ओर नगर के प्राकार (चहार दीवारी) जैसे प्रतीत होते हैं । सागर में प्रवेश कर रहीं प्रवेशत्वरा से लड़खड़ाती हुई नदियाँ वस्त्र के भीतर लगी हुई महीन सफेद सूत की किनारी-सी लग रही हैं ॥३॥

दशाशाः शैलानामुपरि परितः प्रावृतघना
घनश्यामाकाराः खगकलकलालापलपिताः ।
लतामुक्तैः पुष्पैर्ललितवनलेखाभुजलता
हसन्त्यस्ते राजन् भवनवनिता भान्ति पुरतः ॥४॥

तालीतमालबकुलाकुलतुङ्गशृङ्ग-
मेकीकृताकृति वनं तरलं विभाति ।
अभ्याहतं जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गै-
स्तीरान्तलग्नघनशैवलजालकल्पम् ॥५॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा--
मितोऽपि शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥६॥

एते जम्बुनदीतटा रविकरैराभान्ति हेमाखिल-
ग्रामारण्यपुरस्थलीगिरितरुस्थाणवग्रहारोच्चयाः ।
ज्वालालीवलिताम्बरान्तरलिहो मुञ्चन्ति भासोऽभितः
सर्वा भूमिप भूरिहैवममरासेव्याऽस्ति नो मानुषैः ॥७॥

एते कदम्बवनकम्बलमम्बुदाभ-
माभान्ति भास्करपथानुगता वहन्तः ।
अस्याऽचलस्य वसुधेव तटं तवाऽस्तु
मा सूर्यरोधकनभस्थघनौघशङ्का ॥८॥

एषोऽसौ मलयोऽलयोऽग्रलवलीवल्लीलसच्चन्दन-
स्फीतामोदमदाप्रसेन तरवो यक्ते क्रियन्ते त्रिभिः ।
सज्वालोदहनाक्षसंस्थितकपोलोष्मोदयोत्ताण्डवे
अङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्यथोष्णककणास्तप्ता यथा योषिताम् ॥९

एषोऽब्धिधौतकलधौतजटाधिरूढ-
भोगीन्द्रभोगपरिवेष्टितचन्दनोऽगः ।
विद्याधरीवदनपङ्कजदीप्तिपुञ्ज-
हेमीकृताखिलशिलो मलयाभिधानः ॥१०॥

हे राजन् ! सामने दसों दिशाएँ, जिन्होंने चारों ओर पहाड़ों की चोटियों पर मेघों को फैला रक्खा है, जिनकी मेघ के सदृश श्यामल आकृति है, पक्षियों के कलरव ही जिनके वार्तालाप हैं, जिनकी वन-श्रेणिरूपी भुजलताएँ लताओं से वर्षाए गये फूलों से अलंकृत हैं, आपके अन्तःपुर की रानियों को हंस रहीसी मालूम पड़ती हैं ॥४॥

ताड़, तमाल, मौलसिरी के पेड़ों से भरे हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों से युक्त दूर से प्राकार के सदृश प्रतीत हो रहे शैलों में एकाकार तथा वायु से चञ्चल वन सागर की तरङ्गों से आकुल तीरभूमि से सटा हुआ सेवार समूह सा मालूम हो रहा है ॥५॥

इसमें भगवान् शेषशायी सोते हैं, इसमें उनके शत्रुओं का (असुरों का) निवास है, इसी में इन्द्र के भय से शरण में आये पर्वत निर्भय होकर सोते हैं, इसी में वड़वानल भी प्रलयकालीन मेघों के साथ वास करता है। ओह ! सागर का शरीर कितना विस्तीर्ण, कितना बलवान् और कितना भारसहिष्णु है। शायद ही इसके समान विस्तृत, बली और भारसह दूसरा हो ॥६॥

कोई दूसरा पार्श्वचर उत्तर दिशा की ओर मुड़े हुए विपश्चित् से मेरु की तराई में सुवर्णमय जम्बूनदी के तटों को दिखलाता हुआ कहता है।

ये जम्बूनदी के तट, जिनमें सब गाँव, वन, नगर, उपवन, पर्वत, वृक्ष, ठूंठ और विप्रों को दिये गये ग्राम सुवर्णमय हैं, सूर्य की किरणों से व्याप्त होकर चारों ओर जगमगाते है तथा ज्वालाओं की पङ्क्तियों से वेष्टित आकाश में पहुँचकर चारों ओर दीप्तियों की बौछार करते हैं। हे महाराज, यहाँ पर इस प्रकार की यह सारी भूमि देवताओं के उपभोग योग्य है, मनुष्यों के आवास-योग्य नहीं है ॥७॥

इस पर्वत की मेघ सदृश कदम्ब वन रूपी कम्बल को धारण कर रही सूर्य के मार्ग को चूमने वाली शिखर भूमियाँ शोभा पा रही हैं। अतः इन भूमियों में मेरी भूमि की तरह ही ये भी भूमियाँ ही हैं ऐसी आपकी बुद्धि हो, ये सूर्य को ढंकने वाली आकाशस्थ मेघ राशियाँ हैं, ऐसी शङ्का आप न करें ॥८॥

हे महाराज ! समीप में दिखलाई दे रहा यह मलयाचल है, इसके प्रभाव का क्या बखान करें, श्रेष्ठ लवलीलताओं से विभूषित चन्दन-वृक्षों की प्रचुर मनोहर सुगन्धि से इसके और वृक्ष भी चन्दन बन जाते हैं, देवता, असुर और मनुष्य उनका मुख कमल में भृंग के तुल्य तिलक लगाते हैं और इसकी मनोहर सुगन्धि से भगवान् शिवजी के कपोलों में गर्मी पैदा करने वाले ताण्डव नृत्य में उत्पन्न हुए गरम स्वेद बिन्दु स्त्रियों के सुरतश्रम से उत्पन्न स्वेद बिन्दुओं की भाँति अत्यन्त शीतल बनाये जाते हैं ॥९॥

इस मलयाचल पर्वत ने, जिसके सागर से धोये गये सुवर्णमय तटों पर उगे हुए चन्दन-वृक्ष साँपों से परिवेष्टित रहते हैं, विद्याधर स्त्रियों के वदन कमल के कान्तिपुञ्ज से सकल शिलाओं को सुवर्णमय बना दिया है ॥१०॥

कूजत्कुञ्जकठोरगह्वरनदीकत्कारवत्कीचक-
स्तम्भाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाचलोऽयं गिरिः
एतस्मिन्प्रबलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहणतरुस्तम्भेषु कुम्भीनसाः ॥११॥

कोमलकनकलतालय-
विलसितललनाविलोलवलयकृतम् ।
श्रवणरसायनपानं
विततमिहाऽऽकर्णयाऽस्य तटे ॥१२॥

करिकरटगलितमदजल-
वलितश्चलवीचिचञ्चरीकचयैः ।
चर्वित एष कदर्थित इव
कणनिकरो विरौति वारिनिधौ ॥१३॥

पश्याऽमलेन्दुरामृत-
नवनीतशरीरसुन्दरीवलितः ।
पितुरुत्सङ्गे कुरुते
जललीलां क्षीरवारिनिधौ ॥१४॥

यह क्रौञ्चाचल पर्वत है। इसमें रहने वाले कौए निकुञ्जों, पथरीली भूमियों गुफाओं और नदियों की तालध्वनियों से युक्त बज रहे बाँसों के गीतों को सुनने की तीव्र इच्छा से चुपचाप हो गये हैं। इसमें इधर-उधर उड़ रहे मयूरों की केका ध्वनियों से भयभीत हुए साँप खोखले वाले पुराने वृक्षों के तनों में अपने शरीर को छिपाये रहते हैं ॥११॥

हे राजन्! यहाँ इस क्रौञ्चाद्रि के तट पर कोमल कनकलता से निर्मित निकुञ्ज में कान्त के साथ क्रीडा कर रहीं ललनाओं के रत्यवस्था में चञ्चल कंकणों से किया हुआ कानों के लिए अतिमधुर होने से रसायनपान के तुल्य दूर तक फैले भूषण शब्द को आप सुनिये ॥१२॥

हाथियों के गण्डस्थलों से चुए हुए मदजलों से मिश्रित अतएव चञ्चल भ्रमर-वृन्द द्वारा चबाया हुआ सा पीडित कणसमूह सागर में मानो रोता है ॥१३॥

हे राजन्, अमृत-मंथन से उत्पन्न हुए नवनीत के सदृश स्वयं निर्मल चन्द्रमा वैसी ही सुन्दर शरीरवाली सुन्दरियों से परिवृत्त होकर क्षीरसागर में प्रतिबिम्बित हो पिता की गोद में जलक्रीड़ा करता है ॥१४॥

निर्मल मलयपर्वतशिखर में बाललताएँ नाचती हैं, देखिये, मतवाले कोकिलों की मीठी तान ही इनका पञ्चमस्वर है, चञ्चल भ्रमर वृन्द ही इनके नयन हैं, नूतन किसलयरूपी हाथों में उन्होंने फूल ले रक्खे हैं और

नृत्यन्ति मत्तकलकोकिलकाकलीकाः
पश्याऽमले मलयसानुनि बालवल्ल्यः ।
लोलालिजालनयनारुणपत्रपाणि-
पुष्पा मधूत्सवविलासविशेषवत्यः ॥१५॥

वंशानां हृदि पर्वतेषु जलधौ तोयार्थिनीनां तु ये
शुक्तीनां हृदये विशन्ति समये वर्षाम्भसां बिन्दवः।
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति करिणां कुम्भेषु वाऽन्यद्भवेत्
शुद्धौ मौक्तिकवत्स्युरुत्तमगुणा एतास्त्रिधा जातयः ॥१६॥

शैलेऽब्धौ पुरुषेऽवनौ जलधरे भेके शिलायां गजे
नानाकारधरा भवन्ति मणयः कर्माणि तेषां विभो ।
ह्लादोच्चाटनमारणज्वरभयभ्रान्तिप्रकाशान्धता-
खेदोत्तापनभूनभोगतिदृशो नाशो विधानं तथा ॥१७॥

वातायनोदरगवाक्षकवाटकक्षा-
द्वाराननैरिह पुराण्युदिते पठन्ति ।
श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेणुरन्ध्र-
वर्गेण मन्दर इवाऽमृतसिन्धुमिन्दुम् ॥१८॥

वसन्तोत्सव के विलासरूप पुष्परागों का तिलक लगा रक्खा है ॥१५॥

पर्वतों में विशेष बाँसों की गाँठ के छेद में और सागर में जलाकाङ्क्षिणी सीपों के भीतर स्वाति नक्षत्र में जो वर्षाबिन्दु प्रविष्ट होते हैं, वे मोती का रूप धारण करते हैं एवं मोतियों की तीसरी जाति गन्धगजों के मस्तकों में होती है। इन पूर्वोक्त मोतियों की ये तीन प्रसिद्ध जातियाँ स्थानशुद्धि होनेपर स्थूलरूपी उत्कृष्ट गुण से भी उत्तम गुणवाली होती हैं ॥१६॥

हे प्रभो! पर्वत में, सागर में, पुरुष में, पृथिवी में, मेघ में, मेढक में, पत्थर में और हाथी में नाना आकार-वाली मणियाँ होती हैं। कृपया आप उनके काम सुनिये, संतापनिवृत्ति, शत्रुओं का उच्चाटन, मारण, ज्वर, भीति, भ्रान्ति, अन्धता, खेद, उत्तापन तथा अपने स्वामी के प्रति व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थित वस्तुओं को प्रकाशित करना, दूर गमन की शक्ति पैदा करना, या भूमि में छिपकर गगन शक्ति, आकाश गति उत्पन्न करना, अतीत और भविष्य को दिखाना, रोग तथा दुर्भिक्ष का शमन करना, दूसरों द्वारा प्रयुक्त विष, कृत्या, यन्त्र, मन्त्र आदि का प्रतीकार करना आदि ॥१७॥

इस प्रदेश में नगर, चन्द्रमा के उदित होने पर खिड़की, झरोखे आदिरूपी मुँहों से अमृत सिन्धुभूत चन्द्रमा की ऐसे ही स्तुति करते हैं जैसे कि मन्दराचल गर्त, मेघ, गुफा, वनैले बाँसों के छिद्रों से अमृत सागररूप चन्द्रमा स्तुति करता है ॥१८॥

एतच्छृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
प्रालेयाद्रेः प्रतिततटवनं प्रोत्पतत्यभ्रमूर्ध्वं
वज्रस्तम्भो गगनसुतलोत्तोलनायेव भूमेः ॥१९॥

गङ्गातरङ्गहिमसीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
पुष्पाभ्रसंवलितपुष्पितकाननानि
राजन्विलोकय महेन्द्रगिरेस्तटानि ॥२०॥

देशान्तरेषु विततानि वनान्तराणि
पुष्पस्थलान्युपवनान्यथ पत्तनानि ।
तीर्थेषु पूतभुवनानि जलानि दृष्ट्वा
दौर्भाग्यभीतिरपयाति जवानुविद्धा ॥२१॥

शृङ्गाणि पूरितदिगन्तरमण्डलानि
श्वभ्राभ्रकन्दरनिकुञ्जकुलाकुलानि ।
व्योमोपमान्यपि च वारिधिकुण्डलानि
दृष्ट्वा गलन्ति कुकृतानि बृहत्तराणि ॥२२॥

रम्याश्चन्दनवीथयो हि मलये विन्ध्ये मदान्धा गजाः
कैलासे नृप पादजाति कनकं चन्द्रं महेन्द्राचले ।
दिव्याश्चौषधयस्तुषारशिखरे सर्वत्र रत्नानि वै
सन्त्यन्धाखुवदेष जीर्णसदने व्यर्थं जनो जीर्यते ॥२३॥

सोन्नतं जगदिवोरुतटाकं
वारिणा विवलितं तिमिरेण ।
प्रस्फुरन्ति च युगान्त इवैता
विद्युतः शफरिका इव लोलाः ॥२४॥

सावश्यायाश्याननीहारधारा
धारोद्गारान्वारिदान्मादयन्तः ।
शीतानीतोद्दामरोमाञ्चचर्चाः
प्रोद्यच्छब्दं वान्त्यहो वर्षवाताः ॥२५॥

हा वाति नीलजलदप्रसरानुसारी
वातः किरन्विटपिपल्लवपुष्पगुच्छान् ।
धीरोत्करद्रुमवनान्तरचारचारु-
रासारसीकरकदम्बकसारसारः ॥२६॥

मारुताः सुरतक्लान्तकान्तानिःश्वसितैरिमे ।
वहन्ति वृद्धिं गन्धं च लवं स्वर्गादिव च्युताः ॥२७॥

आकाश और पाताल की गुरुता और लघुता के परीक्षार्थ तोलने के लिए भूमि के वज्रस्तम्भ की तरह हिमालय की तट वन भूमियों से मेघ ऊपर उड़ता है। ऊपर की ओर मुँह की हुई मुग्ध (भोली) सिद्धाङ्गनाओं द्वारा बड़े आश्चर्य के साथ देखा गया वायु मानो इस पर्वत के शिखर ले जाता है क्या ॥१९॥

हे राजन्! गङ्गा तरङ्ग और हिम के कणों से शीतल महेन्द्र पर्वत के तटों को देखिये। इनके सुन्दर शिलातलों पर विद्याधर लोग बैठे हैं और इनके पुष्पित वन फूल और मेघों से व्याप्त हैं ॥२०॥

देश-देशान्तरों में फैले हुए अन्यान्य वनों, पुष्प-वाटिकाओं, उपवनों तथा नगरों को और तीर्थों में पवित्र स्थानों और जलों को देखकर दौर्भाग्यभीति बड़े वेग से दूर भाग जाती है ॥२१॥

दिशाओं के मध्यवर्ती अवकाश को पाट देने वाले गर्त, मेघ, गुफा और निकुञ्जों से परिपूर्ण आकाश तुल्य पर्वत शिखरों को तथा निर्मल सेतुबन्धादि तीर्थों को देखकर बड़े-बड़े ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥२२॥

राजन्, मलयाचल में चन्दन वृक्षों की मनोहर श्रेणियाँ हैं, विन्ध्याचल में मतवाले हाथी हैं, कैलास में श्रेष्ठ सुवर्ण है, महेन्द्राचल में चन्द्र (हीरा) है, हिमालय में दिव्य ओषधियाँ हैं, सब स्थानों में रत्न हैं, किन्तु भाग्यहीन पुरुष उनको न देखकर अन्धे चूहे की तरह जीर्ण-शीर्ण घर में वृथा दिन विताता है ॥२३॥

मेघरूपी अन्धकार से आवृत ये दिशाएँ प्रलय काल में जल से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक तक भरे जगद्रूपी एक तालाव-सी मालूम पड़ती हैं और उनमें चञ्चल बिजलियाँ तालाबों में मछलियाँ-सी फुरती हैं ॥२४॥

स्वयं हिमकणों से लदे हुए, भूमिस्थित तुषारपङ्क्ति को शोषण द्वारा हल्की बनानेवाले, जलधारा वर्षावाले तथा मेघों को मतवाले बना रहे शीतस्पर्श से शरीरों में प्रचुर रोमाञ्च पैदा करने वाले ये वर्षाऋतु के वायु साँय-साँय बहते हैं ॥२५॥

अहो, नीले बादलों का पीछा करने वाला यह धीर वायु बह रहा है। यह पेड़ों के पल्लव और फूलों के गुच्छों को बिखेर रहा है, अङ्कुर और पेड़-पौधों के वनों के अन्दर संचार से भला लगता है एवं मूसलाधार वृष्टि के जलकणों से अत्यन्त सुहावना है ॥२६॥

सुरत से क्लान्त (श्रान्त) कान्ताओं से निःश्वासों से ये वायु वृद्धि और सुगन्धित को वैसे ही धारण करते हैं। जैसे स्वर्ग से च्युत हुए जीव पूर्व पुण्यवासना के लेश को धारण करते हैं ॥२७॥

कुवलयकुवलयविकचन-
कुसुमलताविदलनोद्यता मृदवः ।
घनपटपाटनपटवो
विधुतोपवना वहन्त्यमी पवनाः ॥२८॥
संध्याभ्रलेशानुपयन्ति वाता
नभस्तले कोमलकम्पनेन ।
नृपाङ्गणे पुष्पविचित्रलेखा-
नुवासिते भृत्यवरा इवैते ॥२९॥
क्वचित्कुसुमगन्धयः कमलवर्गगन्धाः क्वचि-
त्क्वचित्कुसुमर्षिणो ललितकेसरासारिणः ।
क्वचिच्च हिमपाण्डवो हरितपीतलश्यामला
वहन्ति शिखरानिलाः सुरतमन्दघर्मच्छिदः ॥३०॥
क्वचिद्घुंकारकांकारैरङ्गारनिकरान्करैः ।
किंकरैर्विकिरत्यर्को मूर्खसंसर्गवानिव ॥३१॥
नररसायनतृप्तिविमुक्तया
प्रमदया सदयापितलज्जया ।
उपगते वपुषा न विषह्यते
विषविमूर्च्छनयेव समायता ॥३२॥
वलिततामरसा मृदुसीकराः
शशिकरोत्करवीचिविभेदिनः ।
सदहना इव तापमयाः पुरो
विरहिणीषु वनावनिवायवः ॥३३॥
इह हि पूर्वपयोधितटावटे
विकटपत्रपटाः कटकीतटाः ।
नवमदासवयौवनसंश्रया
कलय यान्ति कथं शवरस्त्रियः ॥३४॥
नवरसासवसारनिशागम-
क्षयभयातुरचित्ततयाऽङ्गना ।
त्यजति कान्तमियं न मनागपि
द्रुतमितो वलितेव पुरोऽहिभिः ॥३५॥
प्रभाततूर्यमुखरैर्दिवसैरिव तर्जिता
हृद्येव स्फुटिता नारी निलीना दयितोरसि ॥३६॥

भूमण्डल के कमलों को खिलाने और पुष्पलताओं को खोलने में सचेष्ट, मेघरूपी वस्त्रों की चीरफाड़ में दक्ष तथा उपवनों को कम्पित करने वाले ये मन्द सुगन्ध शीतल पवन बहते हैं ॥२८॥

ये वायु गगनतल में मन्द-मन्द कम्पन के साथ सान्ध्य मेघों के समीप वैसे ही जाते हैं। जैसे फूलों की विविध पङ्क्तियों से सुसज्जित (फूलों से सजाये गये) राजा के आँगन में मन्त्री आदि श्रेष्ठ भृत्य फूलों को बिना कुचले यत्न से चलते हैं ॥२९॥

ये पर्वत-शिखर के वायु कहीं पर फूलों की सुगन्धि से भरे हैं तो कहीं पर विविध कमलों की भीनी-भीनी गन्धवाले हैं, कहीं पर सुन्दर केसरराशि से लदे हैं तो कहीं पर बर्फ से सफेद हैं और कहीं पर हरे, पीले और काले पर्वतीय धातुओं से हरे, पीले और काले रंग के हैं। ये सुरत में क्लान्त लोगों के स्वेदबिन्दुओं को दूर करते हुए बह रहे हैं ॥३०॥

कहीं पर सूर्य मूर्खों की कुसंगति में पड़ पुरुष की तरह सेवकों की भाँति आज्ञाकारी सूर्यकान्तमणियों से गुफा आदि में जलाये जा रहे प्राणियों के हुंकार और चीत्कार पूर्ण रोदनों से युक्त अंगारों को अपनी किरणों से (हाथों) से फेंक रहा है ॥३१॥

पुरुषरूपी संगम द्वारा आस्वादनीय रसायन में अतृप्त अतएव मदवश लज्जारहित महिला द्वारा शरीर से आलिङ्गित पुरुष की सुरत समाप्ति के लिए आवश्यक अन्याय कार्य वर्णन रूप वञ्चनोक्ति विषविमूर्च्छना से हुई अपनी मृत्यु के समान नहीं सही जाती है ॥३२॥

कमलों की सुगन्धि से परिपूर्ण; शीतल जलकणों से लदे हुए, चन्द्रकिरणों के समूह की तरह स्वच्छ लहरियों को छिन्न-भिन्न करने वाले सामने बह रहे ये वनभूमि के स्वच्छ वायु विरहिणी नारियों के लिए अग्निपूर्ण के तुल्य संतापकारी होते हैं ॥३३॥

हे राजन् ! इस पूर्वसागर के तटरूप निचली भूमि में काँसे के कड़े पहनी हुई बड़े-बड़े पत्ते रूपी वस्त्र वाली शबरस्त्रियाँ, जो नवीन मदरूप आ सबको पैदा करने वाले यौवन से युक्त हैं, देखिये कैसे चल रही हैं ॥३४॥

यह महिला विलक्षण सुरतानन्द को देने वाले मद संभोग से युक्त रात्रि के बीतने के भय से दुःखी होकर सामने दिखाई दे रही साँपों से वेष्टित चन्दनलता की तरह द्रवित हुए अपने पति को जरा भी नहीं छोड़ती है ॥३५॥

नौबतखाने में बजी हुई प्रातःकाल की शहनाई से कोलाहल युक्त दिवसों द्वारा डाँटी-डपटी गई अतएव विदीर्ण हृदय-सी नारी अपने पति के वक्षःस्थल में विलीन हो गई है ॥३६॥

प्रोत्फुल्लकिंशुकैषा
दक्षिणजलधेस्तटेऽत्र वनराजी।
ज्वलिते जलतरङ्गैः
पौनःपुन्येन सिच्यतेऽम्बुधिना ॥३७॥
अस्या निर्यान्त्यनिलै-
र्धूमा इव कृष्णकेसराम्बुधराः।
अङ्गारा इव कुसुमा-
न्युपशान्ताङ्गारवच्च खगभृङ्गाः ॥३८॥
ईदृश्येव विलोकय
वनराजी सत्यवह्निना ज्वलिता।
गिरिशिरसि तूत्तरस्यां
दिशि दूरे धूयते च खे पवनैः ॥३९॥
क्रौञ्चाचलस्य भुवि मन्थरमेघचक्र-
गम्भीरताररवनर्तितबर्हिणीयम्।
पश्योत्थितं तुमुलमाकुलवर्षवात-
व्याधूतपुष्पफलपल्लवकाननीयम् ॥४०॥
अस्ताचले विकटकाञ्चनकूटकोटि-
संघट्टनस्फुटितजर्जरचारुसंधिः।
खर्वं रथः पतति स स्म रवेः सचक्र-
चीत्कारतारतरकूबररास एषः ॥४१॥
भुवनभवनप्रकारेऽद्रौ निशाकरभेरुकं
परिविकसितं भीतं भासा मलालिरुपाश्रितः।
तदिह जगतां वस्तु श्रेष्ठं न किंचन विद्यते
विधिरुपहतः कुर्याज्ञो यत्क्षणेन कलङ्कितम् ॥४२॥
त्रिभुवनहराट्टहासो
भुवनमहाभवन एष मङ्कोलः।
क्षीरसलिलावपूरो
गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः ॥४३॥
स्पृष्टप्रदोषमयमन्दरमथ्यमान-
चन्द्रार्णवोल्लसितदुग्धतरङ्गभङ्गैः।
पश्य प्रभापटलकैः परिपूरिताङ्गीः
पूरैरिवोग्रसरितः प्रसरद्भिराशाः ॥४४॥
एते पतन्त्यतुलातालकराललोल-
वेतालबालवलिता निशि गुह्यकौघाः।
हूणेश्वरस्य नगराणि निरस्तशान्ति
स्वस्तिश्रवादिविकलानि बलेन भोक्तुम् ॥४५॥

यहाँ दक्षिण महासागर के तीर पर इस वनपङ्क्ति को, जिसमें किंशुक के पेड़ फूले हैं, अतएव जो जली हुई सी दिखाई देती है, सागर अपनी जल तरङ्गों से बार-बार सींचता है, देखने की कृपा करें ॥३७॥

फूले हुए किंशुक वृक्षों से भरी हुई इस वनपङ्क्ति से धूम के समान काले-काले ऊपरी भाग से युक्त मेघ धूम के समान निकलते हैं, किंशुक के फूल अंगारों की भाँति निकलते हैं और पक्षी तथा भँवर बुझे हुए अंगारों की तरह निकलते हैं ॥३८॥

हे महाराज ! यहाँ से दूर पर्वत की चोटी पर उत्तर दिशा की ओर वास्तविक आग से जल रही ऐसी ही वनपङ्क्ति वायु द्वारा आकाश में कँपाई जाती है, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥३९॥

हे राजन् ! क्रौंचाचल की भूमि में मन्द-मन्द चलने वाले मेघवृन्द के गंभीर और तेज गर्जनों से नाच रहे मयूरों से पूर्ण तथा तेज वृष्टि और वायु से गिरे हुए फूल, फल और पल्लवों से पटे हुए ऊँचे वन-समूह को कृपया देखिये ॥४०॥

यह सूर्य का रथ अस्ताचल पर्वत में ऊँचे नीचे सुवर्णमय शिखरों की नोकों से टकराने के कारण सुन्दर जोड़ों में जर्जरित हो पहियों की घरघराहट से तीक्ष्णतर कूबरध्वनि वाला होकर नीची भूमि में उतर रहा है ॥४१॥

भुवनरूपी भवन के प्राकार (प्राचीर) रूप उदयाचल पर्वत के शिखर पर चन्द्रमारूपी माङ्गलिक फूल मङ्गल-सूचक होने से अमङ्गल से भयभीत हो चारों ओर कान्ति से विकसित हुआ। उस प्रकार के मङ्गलमय फूल के समीप भी अमङ्गलकारी विधि द्वारा प्रेरित हुआ कलङ्क-रूपी भ्रमर हो ही गया। ऐसी परिस्थिति में इस भुवन में ऐसी श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है, जिसे कलमुँहा विधि क्षणभर में कलङ्कित न कर दे। भाव यह कि पृथ्वी का स्पर्श न कर पर्वतशिखराकाश में चलने वाले चन्द्रमा की जब यह दशा है, तब और की तो कथा ही क्या है ॥४२॥

यह चन्द्रमा की चाँदनी प्रदोषकाल में नाच रहे त्रिभुवनसंहारकारी शिवजी का अट्टहास है या भुवनरूपी महाभवन की चूने आदि से होने वाली सफेदी है या आकाशरूपी समुद्र के दुग्धरूपी जल का स्वच्छ प्रवाह है ॥४३॥

सन्ध्या के धातुरागों से मिश्रित प्रदोषमय मन्दर से मथ्यमान चन्द्रमारूपी क्षीर सागर से उछले हुए दुग्धतरङ्ग खण्ड ऐसे फैल रहे प्रभाजालों से, जो शिवजी द्वारा छोड़ी गई गङ्गाजी के फैल रहे प्रवाह जैसे स्वच्छ हैं, परिपूरित अवयववाली दिशाओं को देखिये ॥४४॥

हे अनुपम ! ताल के वृक्षों के तुल्य कराल वेतालों के बच्चों से परिवृत ये गुह्यकगण रात्रि के समय शान्तिपाठ,

तावद्विभाति गगने परिपूर्णचन्द्रो
यावद्वधूवदनमेति न सद्मबाह्यम्।
अभ्युद्गतेऽङ्गणनभस्यबलाननेन्दा-
विन्दो सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥४६॥

वृद्धानि चन्द्रांशुनवाम्बराणि
गङ्गौघनिर्धूतशिलान्यमूनि ।
हिमाततान्युग्रलताजटानि
तुषारशैलेश्वरमस्तकानि ॥४७॥

स एष मन्दारवनावतंसो
दोलाप्सरोगेयविसारिवातः ।
क्वचिन्मणिद्योतविचित्रचित्रः
संदृश्यते व्योमनि मन्दराद्रिः ॥४८॥

प्रोन्निद्रनीरन्ध्रशिलीन्ध्रसान्द्र-
पुष्पार्घ्यपात्रभ्रमहामहीध्राः ।
सान्द्राभ्रनिर्ह्रादगभीरकुक्षौ
सर्क्षान्तरिक्षश्रियमुद्वहन्ति ॥४९॥

स्वस्तिवाचन आदि मङ्गलाचरणों से रहित अतएव उत्पातों से पीडित आपके शत्रु हूणेश्वर नगरवासियों को खाने के लिए जाते हैं ॥४५॥

आकाश में पूर्ण चन्द्रमा तभी तक शोभा पाता है जब तक कि वधू का मुँह घर के बाहर खुले आँगन में नहीं आता। घर के बाहर के आँगनरूपी आकाश में वधूमुख-रूपी चन्द्रमा के उदित होने पर तो उसकी सुन्दरता के सामने फीके पड़े चन्द्रमा और सफेद बादल के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥४६॥

ये हिमालय पर्वत के विशाल हिमाच्छन्न शिखर हैं। ये चन्द्रकिरणरूपी नूतन वस्त्र पहने हैं, गङ्गा के प्रवाह से इनकी शिलाएँ हिल रही हैं तथा बड़ी-बड़ी लताएँ इनकी जटा-सी मालूम हो रही हैं ॥४७॥

पारिजात के वृक्षों से विभूषित यह मन्दराचल, जिसका पवन झूल रही अप्सराओं के गीतों को फैलाता है और जो कहीं पर मणियों की प्रभा से विचित्रस्वरूप है, अति ऊँचा होने के कारण आकाश में दिखाई देता है ॥४८॥

खिले हुए और फूलों से भरे हुए कुकुरमुत्तारूप पुष्पपूर्ण अर्घ्यपात्रों को धारण करने वाले महान् पर्वत तेज मेघनिर्घोषों से गंभीर कन्दरा में नक्षत्रों से पूर्ण आकाश की शोभा धारण करते हैं ॥४९॥

यहाँ से उत्तर की तरफ प्रसिद्ध कैलास पर्वत पर

इतः स कैलासगिरिर्गरीयसा
प्रभाप्रवाहेण मितेन यस्य खम्।
शम्भोरिवाऽऽभाति सुतस्य कुट्टिमं
चन्द्रोऽपि च क्षीरसमुद्रगो यथा ॥५०॥

स्थाणूनां छिन्नशाखानां मृन्मयानां च वासवः।
संधत्ते पश्य दूराणां वातैर्मुक्तशिखा इव ॥५१॥

एते कदम्बकुलकुन्दसुगन्धिवाता
लिम्पन्ति मांसलतया मकरन्दवृष्टैः।
घ्राणं घनैः परिमलैरलिजालनीला
व्यालोक्य मेघपटलैः खमिवाऽभ्रकायाः ॥५२॥

उन्निद्रकुड्मलदलासु वनस्थलीषु
सच्छायशाद्वलघनेषु च जङ्गलेषु।
ग्रामेषु संततफलद्रुमसंकुलेषु
लक्ष्मीः स्वयं निवसतीव निवासहेतोः ॥५३॥

दृष्टि-निक्षेप कीजिये जिसके चारों ओर व्याप्त हुए विस्तृत प्रभाप्रवाह से आकाश नीचे की तरफ भगवान् शिवजी के पुत्र श्रीस्वामी कार्तिकेय का मोती के चूर्ण से बना क्रीडागृह का गचसा शोभित हो रहा है। ऊपर की तरफ जैसे क्षीरसागर में डूबा चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही शोभित होता है ॥५०॥

राजन्, कौतुकी इन्द्र कुल्हाडों से जिनकी शाखाएँ कट गई हैं ऐसे ठूँठ और अग्नि द्वारा जिनकी छप्पर आदि शाखाएँ नष्ट हो गई ऐसी मिट्टी की दीवार, जो एक दूसरे से दूर हैं,—दोनो में वृष्टिसेक से अङ्कुर पैदा कर दोनों को खुली शिखावाले से बनाकर वायु द्वारा मानो परस्पर बाँधने के लिए इकट्ठा करता है ॥५१॥

हे महाराज देखें, ये विविध प्रकार के कदम्बों और कुन्दों से सुगन्धित वायु मकरन्द की (फूलों के रस की) वर्षा से खूब घन, भ्रमरराशि से काले और मेघ के सदृश बन कर तथा सब तरह की सुगन्धियों से सनकर जैसे मेघ आकाश को व्याप्त करते हैं वैसे ही लोगों की नाक को व्याप्त कर रहे हैं ॥५२॥

वर्षा ऋतु में कलियों की विकसित पंखुरियों से सुशोभित वनस्थलियों में, छायादार वृक्षोंके झुण्डों तथा हरी-हरी दूब से आच्छन्न मैदानों से मनोहर जंगलों में एवं कतारबद्ध खड़े फलवाले पेड़ों से भरे हुए गाँवों में लक्ष्मी अतिशय शोभा देखने के कारण रहने के लिए अपने-आप बस जाती है ॥५३॥

वातायनागतलतावृतसौधकोश-
कोशातकीकुसुमकेसरमाहरद्भिः ।
आगुल्फकीर्णमुकुलाजिर एष वातै-
र्ग्रामो विभाति नगरं वनदेवतानाम् ॥५४॥
उन्निद्रामलचम्पकद्रुमलतादोलाविलोलाङ्गनाः
कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमाः ।
उत्फुल्लोज्ज्वलमञ्जरीसितलतागेहोल्लसद्बर्हिणः
पर्यन्तोन्नतसाललम्बजलदा रम्या गिरिग्रामकाः ॥५५॥
वातालोलविचित्रपत्रलतिकासंपूर्णनीलस्थलाः
कूजल्लावककोककुक्कुटघटा गायत्पुलिन्दाङ्गनाः ।
बालाव्याकुलतर्णका दधिमधुक्षीराज्यपानोज्ज्वलाः
कस्येवाऽमृतमण्डपा विरचिता रम्या गिरिग्रामकाः॥५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥११५॥

यह सामने का गाँव, जिसके आँगन झरोखों तक आई हुई लताओं से वेष्टित महान् घरों के मध्य में तोरई के फूल और केसरों को ला रहे वायुओं से घुटने तक फूलों से भरे हैं, वन देवताओं के नगर से मालूम पड़ते हैं ॥५४॥

हे महाराज देखें ये पर्वत के रमणीय ग्राम हैं, इनमें खिली हुई निर्मल चम्पक-वृक्षों की लता के झूलों में ललनाएँ क्रीड़ा कर रही हैं, झरने का जल झर-झर ध्वनि कर रहा है, सीमाओं में चारों ओर ताड़के वृक्ष फूले हैं, विकसित चटकीली मञ्जरियों से अलङ्कृत लतागृहों में मयूर नाच रहे हैं तथा चारों ओर ऊँचे-ऊँचे प्राचीर या वृक्षों पर मेघ लटके हैं ॥५५॥

वायुवश हिल रही लाल, पीले और हरे पत्तोंवाली छोटी-छोटी लताओं से इनके हरे-भरे मैदान भरे हैं, गौरेया, कोक और कुक्कुट चहचहा रहे हैं, शबरों की स्त्रियाँ गा रही हैं, बालकों द्वारा पालित होने से इनमें बछड़े आनन्दमग्न हैं यानी उनमें किसी प्रकार की घबड़ाहट नहीं है और बालक तथा अव्याकुल बछड़े दही, शहद, दूध और घी पीने से खूब तगड़े हैं। इस प्रकार के पर्वत ग्राम ब्रह्मा के विश्राम के लिए निर्मित मण्डप से लग रहे हैं ॥५६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एकसौपन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११५ ॥

११६

अनुचरा ऊचुः

देव पश्याऽत्र संग्रामलग्नसीमान्तभूभृताम् ।
कचन्ति हेतिसंघाता विसरन्ति बलानि च ॥१॥
हतान्हतानभिमुखान्वीरान्वीरैः सहस्रशः ।
आरोप्याऽऽरोप्य खं यान्ति पश्य पश्याऽङ्गना रथैः ॥२॥
विजिगीषोः पुनः प्राप्ते संकटे प्रकटे रणे ।
धर्म्यं विराजते युद्धं यौवने सुरतं यथा ॥३॥
लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् ।
धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥४॥

११६

अनुचरों ने कहा—महाराज, यहाँ पर युद्धरत सीमाप्रान्त के राजाओं के अस्त्र-शस्त्रों की राशियाँ चमचमा रही हैं। चतुरङ्गिणी सेना विलक्षण रीति से इधर-उधर चल रही है, कृपाकर देखें ॥१॥

हे महाराज ! देखे, देखिये, अप्सराएँ वीरों द्वारा संग्राम में अभिमुख मारे गये हजारों वीर योद्धाओं को चढ़ा-बढ़ाकर विमानों द्वारा आकाश में जा रही हैं ॥२॥

रण में शत्रुओं का संकट उपस्थित होने पर बलवान् विजेता से धर्म के बिना उसका वध शोभा नहीं देता, किन्तु युवावस्था में धर्मयुक्त (विहित) सुरत के समान धर्म से युक्त युद्ध ही शोभा देता है ॥३॥

लोगों द्वारा अनिन्दित लक्ष्मी, श्रीयुक्त आरोग्य, धर्मयुक्त युद्ध और दूसरे के लिए जीवन—ये ही जीवन के उत्तम फल हैं। लोकनिन्दित सम्पत्ति आदि जीवन के फल नहीं हैं ॥४॥

अविरोधेन धर्मस्य बुद्धे संमुखमागतम् ।
योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥५॥
हस्तस्थितासिवरनीलसरोजदाम-
श्यामो हयोत्थघनरेणुनिशागमोऽत्र ।
आलोकय क्रमणमेष कथं करोति
प्रोन्नामहेतिभरभूषणभाजि लक्ष्म्याः ॥६॥
एते कचन्ति शरशक्तिगदाभुशुण्डी-
शूलासिकुन्तपटुतोमरचक्रपूर्णाः ।
तापाः सताण्डवकचप्रचले चलेऽग्नौ
देहेन वल्गति भुवीव फणीन्द्रसंघाः ॥७॥
पश्याम्बरं बलवदम्बुधराब्धिपूर्णं
पश्याम्बरं तरलतारकतारहारम् ।
पश्याऽम्बरं सुघनसक्तमसैकसारं
पश्याऽम्बरं विशदचन्द्रकरावसिक्तम् ॥८॥

यत्राऽनेकसुरासुरास्पदघटा तारापदेशं गता
ऋक्षाणां च यदास्पदं विसरतां सर्वोन्नतानां च यत् ।
तस्मिञ्छून्यमिति प्रतीतिरधुनाऽप्यस्तं गता नाऽम्बरे
कोऽन्यो मार्जयितुं जनोऽज्ञरचितं लोकापवादं क्षमः ॥९॥
मेघाटोपैः प्रलयदहनैरद्रिपक्षाभिघातै-
स्तारापूरैरमरदितिजक्षुब्धसंग्रामसंघैः ।
व्योमाऽद्याऽपि प्रकृतिविकृतिं नाम नाऽऽयात्यसंख्यै-
रन्तः साराशयगुणवतां लक्ष्यते नो महिम्नः ॥१०॥
आन्दोलयस्यविरतं गगनार्कमङ्के
नारायणं च शशिनं च तथेतराणि ।
तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो
चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः ॥११॥
आकाश काशसि तु यत्र शशाङ्कबिम्बं
त्वत्कीर्णकज्जलतमोमलिनोऽसि तत्त्वम् ।

जो युद्ध में सामने आये हुए योद्धा को धर्म के अविरोध से योद्धा के अनुरूप योद्धा के अनुरूप, अनुरूप का तात्पर्य यह है कि यदि योद्धा एक हो तो एक ही उससे लड़े, यदि किसी सवारी पर हो तो सवारी वाला ही, धनुष सहित हो तो धनुष युक्त ही, खड्ग युक्त हो तो खड्गयुक्त ही, आयुध रहित हो तो आयुध रहित ही बाहुयुद्ध करता हुआ लड़ें, अन्यथा नहीं। मारता है, वही शूर स्वर्गगामी होता है, दूसरा नहीं ॥५॥

हे राजन् ! उद्यत शस्त्रास्त्ररूपी भूषणों से भासुर इस शूरवीर पुरुष में संग्राम लक्ष्मी के हाथ में स्थित श्रेष्ठ तलवार रूपी नील कमलों की माला से श्याम, घोड़ों के खुरों से उठी धूलि से हुआ अन्धकार रूपी वह निशागम संग्राम भूमि में कैसे क्रमण करता है। आशय यह कि क्या लक्ष्मी इसको इस रात्रि के समय रूप स्वयंवर में बरती है या नहीं, यह कौतुक देखिये ॥६॥

वाण, शक्ति, गदा, बन्दूक, त्रिशूल, तलवार, भाले, तेज तोमर, चक्र आदि हथियारों से लदे हुए ये योद्धा इधर-उधर घूम रहे केशरूप तिनके और काठों से चञ्चल पर्वत पर प्रज्वलित वनाग्नि की तरह चमकते हैं और उन पर शर, शक्ति आदि के समूह सागर के देह के कम्पित होने पर पृथ्वी पर फैले हुए वहाँ के सर्पादिसमूह जैसे चमकते हैं ॥७॥

हे महाराज ! बलवान् मेघरूपी सागर से भरे हुए आकाश को देखिये, चञ्चल तारेरूपी लम्बे हार से युक्त आकाश पर दृष्टिपात कीजिये, खूब घने अन्धकार के तुल्य काले आकाश को देखिये तथा निर्मल शुभ्र चन्द्र-किरणों से धवलित आकाश को देखिये ॥८॥

जिस आकाशतल में सुर और असुरों के अनेक विमान तारों के सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अश्विनी आदि नक्षत्रों का निवास स्थान है, जो रात-दिन चलने वाले महोन्नत सूर्य, चन्द्र आदि का भी स्थान है, उस चौगिर्द भरे हुए भी आकाश में मूर्ख जनों को 'शून्य' ऐसी प्रतीति अब तक नष्ट नहीं हुई। जहाँ पर इस प्रकार का विशाल और शक्तिशाली आकाश अज्ञों द्वारा लगाये गये अपवाद को मिटाने में समर्थ नहीं हुआ वहाँ दूसरा कौन पुरुष लोकापवाद को मिटाने में समर्थ होगा ? ॥९॥

मेघों के अगणित आडम्बरों से, प्रलयकाल की असंख्य अग्नियों से, पर्वतों के कोधपूर्ण परों के आघातों से, तारों के वृन्दों से तथा देवता और दैत्यों के संग्रामों से आकाश आज तक भी प्रकृति-विकृति को प्राप्त नहीं होता है। सचमुच जिनके स्थिराशयतारूप गुण हैं, उन्हीं की महिमा का अन्त नहीं दिखाई देता ॥१०॥

हे साधो ! हे आकाश ! तुम सूर्य को निरन्तर अपनी गोद में झुलाते हो, केवल सूर्य को नहीं, भगवान् नारायण, उनके अनुचर अन्यान्य देवता, चन्द्रमा, अन्यान्य ग्रहों तथा चमकीले बिजली आदि तेजों को भी अपनी गोद में झुलाते हो, फिर भी अपने अन्दर के अन्धकार का त्याग नहीं करते, यह महान् आश्चर्य है ॥११॥

हे आकाश, तुम मलिन हो, जहाँ पर चन्द्रबिंब छिद्र-रूप तुमसे व्याप्त हो काजल के तुल्य काला हुआ वही पर कलङ्क के बहाने मैला सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में तुम अपने सम्पर्क से सम्पूर्ण चन्द्रबिम्ब

सङ्गान्न यन्नयसि तत्खलु चित्रमुच्चैः
को नाम वाऽन्तरमलं मलिनीकरोति ॥१२॥
पूर्णस्याऽपि जगद्दोषैः सर्वदैवाऽविकारिणः।
खस्य मन्ये बुधस्येव सुखं सर्वार्थशून्यता ॥१३॥
कल्पाभ्रद्रुमवीरुदुन्नतिदृशां कर्ताऽसि धर्ताऽसि च
आकाशेन्दुघनार्ककिन्नरमरुत्स्कन्धामराणामपि।
सर्वं रम्यमसंकुलाशयसमस्वच्छस्वभावस्य ते
यत्त्वेतद्दहनत्वमङ्ग तदहो मुख्याय खेदाय नः ॥१४॥
आकाश काशमसि निर्मलमच्छमुच्चै-
राधार उन्नततयोत्तममुत्तमानाम्।
त्वामेत्य किन्तु विरलं करकाघनोऽयं
लोकं विदर्मयति तेन परोऽसि नीचैः ॥१५॥
आकाश कर्षकष एव निकर्षणं ते
मन्ये चिरं समुचितं न तु किंचिदन्यत्।
शून्योऽसि यज्जलधरर्क्षविमानचन्द्र-
सूर्यानिलान् वहसि भासि न चाऽर्थशून्यः ॥१६॥
अह्नि प्रकाशमसि रक्तवपुर्दिनान्ते
यामासु कृष्णमथ चाऽखिलवस्तुरिक्तम्।
नित्यं न किंचिदपि सद्वहसीति मायां
न व्योम वेत्ति विदुषोऽपि विचेष्टितं ते ॥१७॥
अकिंचनोऽपि कार्याणि साधयत्वाततशयः।
अन्तःशून्यमपि व्योम सर्वस्योन्नतिकारणम् ॥१८॥
न तृणसलिलं नैव ग्रामो न नाम च पत्तनं
न च दलभरस्निग्धच्छायस्तरुर्न च सत्प्रपा।
तदपि गगनाध्वानं सूर्यः प्रयाति दिने दिने
विषममपि यत्प्रारब्धं यत्त्यजन्ति न सात्त्विकाः ॥१९॥

को जो काला नहीं करते यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। अथवा मलिन के संसर्ग से जिसके अन्दर भी मैल हो, वही बाहर भी मलिन किया जाता है जो अन्दर निर्मल है उसे कौन मलिन कर सकता है ? ॥१२॥

यद्यपि आकाश जगत् के सम्पूर्ण दोषों से भरा है फिर भी सदा अविकारी आकाश को तत्वज्ञानी के समान सर्वानर्थ शून्यतारूप सुख है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥१३॥

हे उदारमते ! हे आकाश ! तुम अपनी उन्नति चाहने वाले प्रलयकालीन मेघों, वृक्षों और लताओं की—अवकाश प्रदान द्वारा—उन्नति के कर्ता हो, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, किन्नर, वायुस्तरों और देवताओं को धारण करते हो (आधार हो), सम और निर्मल स्वभाव वाले तुम्हारे सब कार्य रमणीय ही हैं, सुन्दर ही हैं, लेकिन अग्नि और सूर्य के प्रज्ज्वलन को देने के कारण तुम्हारा यह काम हमारे खेद के लिए है, सुख के लिए नहीं है। यह वनाग्नि और सूर्य के सन्ताप से सन्तप्त पुरुष की उक्ति है ॥१४॥

हे आकाश ! तुम अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, चमकदार और उन्नत होने के कारण उत्तम देवता आदि के उत्तम आधार भी हो, किन्तु अवकाश युक्त तुम्हारा आसरा लेकर यह ओले बरसाने वाला बादल लोगों को ओलों से घायल करता है, उसके दोष से तुम अत्यन्त अपकृष्ट हो गये हो ॥१५॥

हे आकाश ! मैं तुम्हें सोने के समान कसौटी के पत्थर पर घिसना बहुत अच्छा समझता हूँ। कसौटी के पत्थर के सिवा दूसरी तुम्हारी परीक्षा लेने की जगह नहीं है। क्योंकि तुम शून्य होते हुए भी बादलों, तारों विमानों, सूर्य, चन्द्र और वायुओं को धारण करते हो, चमकते हो और निष्प्रयोजन भी नहीं हो। सोने के सब गुण तुम में विद्यमान हैं, अतएव तुम्हारे गुणों की परीक्षा के लिए भी सोने के गुणों की परीक्षा लेने का स्थान समुचित है, यह भाव है ॥१६॥

हे आकाश ! तुम दिन में सूर्य के आतप से चमकदार रहते हो, रात में सन्ध्या की लालिमा से तुम्हारा कलेवर लाल हो जाता है, रात्रि में तुम काले बन जाते हो। अथ च सदा कुछ भी सद् वस्तु को धारण नहीं करते हो, इसलिए सकल वस्तुओं से रिक्त हो अतः तत्त्वज्ञानी रूप तुम्हारे चरित्र को कोई नहीं जानता है।।१७॥

हे आकाश ! तुम अकिञ्चन हो तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी विपुल बुद्धि वाले तुम सब कार्यों को, अवकाश प्रदान द्वारा, सिद्ध करते हो, अन्तःशून्य हो फिर भी सबकी उन्नति के कारण हो ॥१८॥

आकाशमार्ग में पथिक के विश्राम के साधन न तृण हैं और न जल है, गाँव तो नही है, कसबे और नगर की तो तनिक भी संभावना नहीं है, पत्तों की राशियों से शीतल छायावाले वृक्ष भी नहीं हैं तथा रमणीय पौसारा भी नहीं फिर भी सूर्य आकाशमार्ग में प्रतिदिन यात्रा करते हैं। सच है, सात्त्विक पुरुष प्रारब्ध किये हुए काम को, चाहे वह कितना कठिन क्यों न हो, छोड़ते नहीं हैं ॥१९॥

यामा ध्वान्तपटेन शीतलरुचिः कर्पूरपूरैः करै-
र्कालोकनवांशुकेन दिवसस्तारौघपुष्पोत्करैः।
द्यौरम्भोदतुषारवारिकुसुमैः सर्वर्तवो भूषयन्त्येते
कालकलात्मनोस्त्रिभुवने व्योमाङ्गणं नाथयोः ॥२०॥
धूमाभ्ररेणुतिमिरार्कनिशेषसंध्या-
ताराविमानगरुडाद्रिसुरासुराणाम् ।
क्षोभैरपि प्रकृतिमुज्झति नाऽन्तरिक्षं
चित्रोत्स्थिता स्थितिरहो नु महाशयस्य ॥२१॥
दिग्भित्तिवद्धमिदमूर्ध्वतलान्तरिक्ष-
मुर्वीतलं घनपुराचलभूरिभाण्डम् ।
विद्याधरामरमहोरगजालकारं
लोकौघसंसरणसंघपिपीलिकाढ्यम् ॥२२॥
कालः क्रिया च भुवनं भवनं चिराय
नामाऽधितिष्ठत इवोपवनं विकासि।

रात्रि आकाश को अन्धकाररूपी वस्त्र से, चन्द्रमा कर्पूर के प्रवाह के तुल्य शुभ्र किरणों से, दिन सूर्य के आतप (घाम) रूपी नूतन वस्त्र से, द्युलोक रात्रि के तारा समुदायरूपी पुष्पराशियों से और सब ऋतुएँ मेघ, बरफ तथा जलरूपी पुष्पों से भूषित करती हैं। ये सभी मिलकर समय और कलात्मक त्रिभुवन के स्वामी सूर्य और चन्द्रमा के विहारस्थल आकाश को भूषित करते है ॥२०॥

आकाशरूपी आँगन धूप, बादल, धूलिपटल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, तारावृन्द, विमानराशि, गरुड़, पर्वत, सुर और असुरों के क्षोभों से भी अपनी प्रकृति का (पूर्वावस्था-का) त्याग नहीं करता है, कारण कि महाशय पुरुष की स्थिति आश्चर्यमय तथा उन्नत दिखाई देती है ॥२१॥

हे देव ! इस त्रिभुवनरूपी जीर्ण गृह को, जो दिशा-रूपी दीवारों पर खड़ा है, अन्तरिक्ष लोक जिसकी छत है, भूमि जिसका निचला भाग है, मेघ, नगर और पर्वत जिसके बड़े-बड़े वर्तन आदि गृहोपकरण हैं, विद्याधर, देवता तथा महान् नाग जिसमें मकड़ी नाम के कीड़े हैं एवं जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्राणिवर्गरूपी चीटियों की बारात से भरा है, देखने की कृपा कीजिये ॥२२॥

जैसे माली और मालिन—पति-पत्नी विकसित (फले-फूले) बाग की रक्षा करते हैं वैसे ही इस प्रकार के त्रिभुवनरूपी भवन की काल और क्रियारूपी पति-पत्नी चिरकाल से रक्षा करते हैं। यद्यपि काल और क्रिया इसकी रक्षा नहीं करते, अपितु प्रतिदिन इसके नाश की

आशङ्क्यते प्रतिदिनं ननु नष्टमेव
नाऽद्याऽपि नश्यति च केयमहो नु माया ॥२३॥
[युगलकम्]
खं मन्ये पादपादीनां रोधयत्यधिकोन्नतिम्।
अकर्तुरेव महतो महिम्नोदेति कर्तृता ॥२४॥
जगतां यत्र लक्षाणि नभवन्त्युद्भवन्ति च।
तच्छून्यमुच्यते व्योम धिक्पाण्डित्यमखण्डितम् ॥२५॥
व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमतः प्रोद्भवन्ति च।
गच्छतोन्मत्ततामेतामीश्वरान्यभिदा कृता ॥२६॥
आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
सर्गश्रियः कणघटा इव पावकोत्थाः।
यत्रामलं तदहमेकमनादिमध्यं
मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यम् ॥२७॥

ही आशङ्का करते हैं तथापि यह आजतक नष्ट नहीं हुआ। नष्ट होता भी है तो प्रवाह से फिर उग जाता है। अहा नष्ट होता हुआ भी नष्ट नहीं होता, यों विरुद्ध धर्मवान् होने से यह इन्द्रजाल के सदृश है ॥२३॥

आकाश वृक्ष आदि वृद्धिशील वस्तुओं की अधिक उन्नति को रोकता है उन्हें बहुत ऊंचा नहीं बढ़ने देता।

शङ्का—आकाश में कोई निरोधक व्यापार नहीं है, अतः वह निरोधका कर्ता नहीं ही है, इसलिए उसमें विरुद्ध निरोधकर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् आकाश में कर्तृता महिमा से ही उदित होती है ॥२४॥

जिसमें लाखों जगत् विलीन होते हैं और जिससे उत्पन्न होते हैं उस आकाश को शून्य कहा जाता है; आकाशशून्यतावादी के ऐसे प्रौढ़ पाण्डित्य की बलिहारी है ॥२५॥

आकाश में सब भूत विलीन होते हैं, आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही स्थिर रहते हैं, इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह शास्त्र सिद्ध ईश्वर लक्षण आकाश में ही दीखता है, इसलिए आकाश ही ईश्वर है। आकाश ईश्वर से ईश्वर से भिन्न है, ऐसा भेद उन्मत्तता को प्राप्त (पागल) वादी ने किया है ॥२६॥

जिसमें सृष्टियाँ अग्नि से उत्पन्न हुई चिनगारियों की तरह उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं, लीन होती हैं और आविर्भूत होती हैं; आदि, मध्य और अन्त शून्य एक निर्मल आकाश मैं ही हूँ, ईश्वर नाम का नैयायिकों का अभिमत तटस्थ कारण दूसरा नहीं है ॥२७॥

आधारमायततरं त्रिजगन्मणीना-
मङ्गे निभर्त्यमितमन्तरशेषवस्तु।
व्योमैव चिद्वपुरहं परमेव मन्ये
यत्रोदयास्तमयमेति जगद्भ्रमोऽयम् ॥२८॥

वनावनौ वनचरचारुकामिना
मनोहरद्रुमगहनेषु गीयते।
इतो गिरेः शिरसि विलोक्यतेऽमुना
वियोगिना पथि वहता रसाकुलम् ॥२९॥

गीतं शृङ्गतरूच्चपल्लवपुटे निःश्वस्य सोत्कण्ठया।
कण्ठाश्लिष्टगिरा वियोगहतया विद्याधराणां स्त्रिया।
यन्नामाऽत्र तदेव नाथ पथिकः सोच्छ्वासमाकर्णयन्
दोलान्दोलनयेव चञ्चलधिया नो याति नोऽनूच्यते ॥३०॥

गायत्यद्रिशिरस्तरौ दलपुटे निःश्वस्य विद्याधरी
काकल्या तिलकं वियोगावधुरा बाष्पाकुलैषा पुरः।
नाथोत्सङ्गगृहे गृहीतचिबुकं स्मेरं भवच्चुम्बनं
स्मृत्वाऽऽस्वाद्य रसायनं हतसमा नीता मयैता इति॥३१॥

जिसमें यह जगद्भ्रान्ति का उदय और अस्त होता है, जो निस्सीम आकाश अपने शरीर में अशेष वस्तुओं को धारण करता है तथा त्रैलोक्यरूपी मणियों का विस्तृत आधार है वह आकाश ही चिन्मय परब्रह्मरूप है ऐसा मेरा विश्वास है ॥२८॥

पर्वत के शिखर पर वनभूमि में वनेचर सुन्दर कामी पेड़ के रमणीय झुरमुट में जो गीत गाता है, नीचे मार्ग में चल रहा यह वियोगी पुरुष उस गीत को सुनकर शृंगार रसाकुल हो ऊपर देखता है ॥२९॥

हे नाथ! पर्वत शिखर के ऊंचे पेड़ के किसलयपुट-सदृश निकुञ्ज में वियोगवश दुःखी उत्सुक विद्याधरों की स्त्री ने लंबी साँस लेकर रुँधे हुए कण्ठ से जो गीत गाया उसके नीचे चल रहा राही उच्छ्वासपूर्वक उसे सुनकर झूले की तरह झूल रही चञ्चल बुद्धि से न आगे जाता है और न उसके अनुगामी ही उसे बुलाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥३०॥

सामने पर्वत-शिखर के वृक्ष में पत्तों की आड़ में वियोगिनी अतएव बार-बार आँसू गिरा रही यह विद्याधरी साँस छोड़कर बिना कोई तिलक लगाये ही मधुर स्वर से हे नाथ, मैंने आपके गोदरूपी घर में चिबुक पकड़कर हँसते हुए आपके चुम्बन का स्मरणकर बार-बार उसका आस्वादन कर यहाँ पर इन कलमुँहे वर्षों को क्लेश से बिताया इस आशय के गाने गाती है ॥३१॥

अस्याः प्राग्भवसत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्यैषैव साऽत्र स्थिता।
गायत्युत्कलिता तदेव दयितं तं पादपं संश्रिता
मार्गे मार्गविहारिणां वदनतो राजन्मयैतच्छ्रुतम् ॥३२॥

पश्यैष सोऽस्मदवलोकनशान्तशापो
विद्याधरो विटपितामवमुच्य बालाम्।
कण्ठेकरोति विटपाकृतिविप्रलम्भै-
स्तैरेव बाहुभिरलं स्फुटपुष्पहासः ॥३३॥

शिखरिणां करिणां कुसुमोत्करो
विटपिषु स्फुटरोमसु राजते।
गगनविच्युततारकलीलया
शिखरमेष तुषारसमानयो ॥३४॥

मीनावलीसरभसप्लुतिघट्टिताम्बु-
वीचीविलोलविरुवत्कुररीकराला।
कावेर्यहो कुसुमशुक्लपटाऽवभाति
निःशङ्करङ्कुकुलसंकुलकूलकच्छा ॥३५॥

इसके युवक सुन्दर पति को (विद्याधर को) मुनि ने किसी अपराधवश शाप से बारह वर्ष तक के लिए वृक्ष बना दिया है। उन्हीं वर्षों को गिन रही यह यहीं पर बैठी है। उत्कण्ठित होकर उसी अपने पतिरूप वृक्ष के आश्रित होकर गाती है। हे राजन्, मार्ग में वियोगी पथिकों के मुँह से यह खबर मुझे मिली है ॥३२॥

हे राजन्, हमारा यहाँ आना और हमारा दर्शन होना यही मुनि ने इसके शापान्त की अवधि की थी, देखिये यह वृक्षभूत विद्याधर हम लोगों के दर्शन से ही शापमुक्त हो गया है, अतः वृक्षता का त्यागकर युवती विद्याधरी का शाखाओं के बहाने उन्हीं बाहुओं से खूब आलिङ्गन करता है। खिले हुए फूल ही उसके हास बन गये हैं ॥३३॥

पर्वतरूपी हाथियों के वृक्षरूपी खड़े हुए रोंगटों में पुष्पराशि शिखरों में बसन्त ऋतु के हिमकण के सदृश आकाश से च्युत तारों की लीला से शोभित हो रही है ॥३४॥

अहा, पुष्परूपी शुभ्र वस्त्र ओढ़ी हुई कावेरी, जो मछलियों की तेज उछालों से फटी हुई जललहरियों में खेल रही शब्दायमान कुररियों से भयंकर है तथा जिसके तट और जलमय प्रदेश निःशङ्क मृगकुल से भरे हैं, बड़ी भली लगती है ॥३५॥

भात्यत्र पश्य रविणा कटके सुवेल-
शैलस्य काञ्चनशिला सकलाऽमलश्रीः ।
वेलावलोलवरुणालयवीचिभङ्ग-
पर्यस्तवाडवकृशानुकणोपमानम् ॥३६॥

आसन्नपीनजलदावलितालयानां
गेहोपशल्यपरिफुल्लवनद्रुमाणाम् ।
लक्ष्मीः पलाशपटलावलिताम्बराणां
घोषौकसां समवलोकय पर्वतेषु ॥३७॥

उन्निद्रपुष्पपटुपाण्डुरपुष्पखण्डा
मन्दारभाण्डविशिखण्डिकरण्डकच्छाः ।
ग्रामाः प्रपातजलजालविलासवाद्या
वल्गद्गुहागहनगीतजना जयन्ति ॥३८॥

उन्निद्रकन्दलदलान्तरलीयमान-
कूजन्मदान्धमधुपोन्मदपामराणाम् ।
मन्ये न सा भवति तुष्टिरिहाऽमराणां
या गोकुलेषु गिरिगह्वरिणां नराणाम् ॥३९॥

भङ्गावदोलितलताकुलकाननान्त-
र्गायत्पुलिन्ददयिताननदत्तनेत्रम् ।
लीलाकुला गतघृणं गिरिगह्वरेषु
किं घ्नन्ति शत्रुमिव मुग्धमृगं किराता ॥४०॥

नानाविकासिकुसुमोत्करसारलब्ध-
वल्लीवलावलनशीतलिताध्वगङ्गाः ।
साम्भःप्रथप्रसरणेन तरत्तरङ्गा
ग्रामा गिरीन्द्रगहनेषु जयन्ति चन्द्रम् ॥४१॥

कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमा
हेलोल्लासितपुष्पपल्लववलद्वल्लीवितानाम्बराः ।
पर्यन्तोन्नतसाललम्बिजलदा रम्या गिरिग्रामका-
श्चन्द्राश्वत्यमितावनि शशिपुरोद्यानस्य भागा इव ॥४२॥

हे राजन् ! इस सुवेल पर्वत शिखर पर सूर्य से खूब चमचमा रही पूरी सोने की शिला तट प्रदेशों में चञ्चल सागर की तरङ्ग राशियों से व्याप्त बड़वानल के कण की तरह मालूम पड़ती है ॥३६॥

हे राजन् ! पर्वतों पर अहीरों की टोली के घरों की शोभा देखिये। इनके हर एक घर निकटवर्ती मोटे-मोटे मेघों से ढके हैं, घरों की आस-पास की भूमियों में वन-वृक्ष फूले हैं, ढाक के पेड़ों के झुरमुटों से इन्होंने आकाश को पाट रखा है ॥३७॥

खिले हुए फूलों से अत्यन्त शुभ्र पुष्पवाटिकाओं से भरे हुए ये गाँव, जिनमें मन्दार के वृक्षरूपी बहुत से फूलों के वर्तन हैं और नाना प्रकार के मयूरों के नाचने के स्थानरूप ठण्डे प्रदेश हैं, प्रपातों की (बड़े-बड़े झरनों की) जलराशियों के विलास ही जिनमें मयूरों के नाच के बाजे का काम करते हैं एवं प्रतिध्वनियों से गूंज रही गुहाओं से पूर्ण जंगलों में जिनकी जनता गाथा गाती है, स्वर्ग से भी बढ़कर हैं ॥३८॥

इस पर्वतीय ग्राम में गायों के झुण्डों के बीच में तुरन्त खिली हुई कलियों की पँखुड़ियों के अन्दर छिपे-छिपे गुञ्जन कर रहे मदोन्मत्त भँवरों के दर्शन से कामोद्रेक वाले, पर्वत गुफा में रहने वाले पामर लोगों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रेष्ठ आनन्द नन्दन वन में विहार करने वाले देवताओं को भी सुलभ नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३९॥

भृंगों द्वारा झूलने के लिए झूला बनाई गई लताओं से हलचल वाले जंगल के अन्दर गुफाओं में गा रही शबरियों के मुँहों पर सतृष्ण टकटकी लगाये हुए अतएव श्राङ्गारिक चेष्टावाले किरात सुन्दर भोले-भाले मृगों को शत्रु की तरह कैसे मारते है ? ओहो, अन्यत्र दृष्टि लगाये और अन्यमनस्क शबरों की चञ्चल निशाने को वेधने की चतुराई तथा ऐसे अवसर पर भी निर्दयता विस्मय पैदा करती है। अथवा मृगों से कम्पित लताओं के सदृश पुलिन्द-ललनाओं के नेत्रों की सुन्दरता हरण और लतापल्लव भोजनरूप धर्म का उनमें परिज्ञान होने से उन्हें शत्रु समझ रहे हैं कि रात दयायोग्य समय में भी उन्हें निर्दयतापूर्वक मारते हैं क्या ? यों उत्प्रेक्षा है ॥४०॥

पर्वतराज के वनों के मध्य में स्थित ये गाँव, जिन्होंने भाँति-भाँति के फूले हुए फूलों की राशियों से शीतलता, सुगन्धि, पराग आदि सार को प्राप्त वायु के लतापत्रों के परिचालनों से पथिकों के अङ्गों को शीतलता पहुँचाई है, जिनमें जल के गुण शीतलता से प्रख्यात वायुओं के प्रसार से जलाशयों में लहरियाँ तैर रही हैं, सौगन्ध्यगुण की अधिकता से चन्द्रमण्डल को जीत रहे हैं। चन्द्र-मण्डलस्थ देवताओं की अपेक्षा ग्रामवासियों को अधिक सुख है, यह भाव है ॥४१॥

स्वर्गस्थ चन्द्रनगर के उपवनों के भाग-ऐसे ये मनोमोहक पर्वतीय गाँव, जिनमें झरनों का जल अविरत कल-कल ध्वनि कर रहा है, चौगिर्द ताड़ के पेड़ खिले हैं, जिनका आकाश स्वाभाविक उल्लास से युक्त फल और

आसन्नपीतघनघर्घरमेघनाद-
नृत्यच्छिखण्डिनवताण्डवविप्रकीर्णैः ।
ग्रामाः कलापिकुलकोमलबर्हखण्डैः
प्रोड्डीनचन्द्रकमणिप्रकरा जयन्ति ॥४३॥

पार्श्वस्थचारुशशिमण्डलमण्डनेषु
विश्रान्तवारिगुरुवारिदवारणेषु ।
ग्रामेषु या गिरितटेषु विलासलक्ष्मी
राज्येषु सा विभववत्सु कुतो विरिञ्चेः ॥४४॥

स्वामोदनन्दनवनान्तरसुन्दरेषु
सन्तानकस्तवकहासिनिकुञ्जकेषु ।
उन्निद्रमन्द्रमधुपाकुलपारिभद्र-
सान्द्रद्रुमेष्वभिरमे गिरिगह्वरेषु ॥४५॥

हरिणीरावरम्येषु हारिहारितहारिषु ।
गिरिग्रामेषु पुष्पेषु पुरेष्विव रतिर्नृणाम् ॥४६॥

पल्लवों से लदी हुई लताओं के वितानों से आच्छन्न है और जिनमें आस-पास के ऊँचे-ऊँचे साल के पेड़ों पर मेघ मण्डल लटका है, चन्द्रामृत को चुआने वाले अश्वत्थ से युक्त ब्रह्मलोक को मात करते हैं ॥४२॥

ये पर्वत-ग्राम, जिनमें बिजली से वेष्टित गंभीर गर्जन-तर्जन वाले निकटवर्ती बादलों के गर्जन से नाच रहे मयूरों के अभिनव नृत्यों से बिखरे हुए मयूरों के झुण्डों के नये-नये मोर पङ्खों से चन्द्रकरूपी मणिराशियाँ उड़ी हैं, दिव्य बनकर ब्रह्मलोक को अपने सम्मुख फीका बना रहे हैं ॥४३॥

एक बगल में चल रहा चन्द्रमण्डल ही जिनका आभूषण है, जल से भरे मेघरूपी हाथी जिनमें आराम करते हैं ऐसे पर्वत शिखरों पर बसे हुए इन ग्रामों में जो सौन्दर्यातिशय है, वह सौन्दर्यातिशय वैभवपूर्ण ब्रह्मा के राज्य में कहाँ सुलभ है ? ॥४४॥

अपनी मनोहारिणी सुगन्धि से नन्दनवन के केन्द्र की तरह सुन्दर कल्पवृक्ष के फूलों के गुच्छों का परिहास करने वाले निकुञ्जों से भरी हुई पर्वतकंदराओं में, जो पुष्पित होने के कारण गंभीर गुञ्जन करने वाले भँवरों से व्याप्त नीम के पेड़ों से पटी हैं, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ॥४५॥

हरिणियों के निनाद से रमणीय, मनोहर हारीत पक्षियों से सुन्दर पर्वत-ग्रामों में काम के नगरों में जैसी लोगों की प्रीति है ॥४६॥

स्फाटिकस्तम्भसंभाररम्यनिर्झरवारिणि ।
नृत्यन्त्येताः शिखण्डिन्यः पश्याऽस्मिन् ग्रामगह्वरे ॥४७॥

शिखण्डिन्यो विलासिन्यः पुष्पभारनता लता ।
अत्र नृत्यन्ति कुञ्जेषु रणन्निर्झरपुष्करे ॥४८॥

हारीतहारिहरितोपवनद्रुमासु
वापीप्रमाणरणितामलकाकलीषु ।
ग्रामस्थलीषु गिरिगह्वरगोपितासु
मन्ये मुदैष रमते स्वरसेन कामः ॥४९॥

श्रीमद्वृत्तमहाशयातपहर प्रोच्चैर्गम्भीराकृते
भूभृन्मूर्धसु भूषणं भवसि भो भूमे रसैकास्पदम् ।
एतत्तु क्षपयेन्मनांसि यदिदं मेघ त्वशा वर्षता
हर्षादूषरपल्वलस्थलतरुष्वम्भोविभागक्रमः ॥५०॥

हे राजन् ! स्फटिक के खम्भों की राशियों की तरह रमणीय झरनों के जलों से सुशोभित इस ग्रामरूपी कन्दरा में देखिये, ये मयूरियाँ नाचती हैं ॥४७॥

हे राजन् देखे झर-झर शब्द कर रहे झरनों के जल से सुहावने इस ग्राम में निकुञ्ज में विलासवती मयूरियाँ और फूलों से लदी होने के कारण झुकी हुई लताएँ नाचती हैं ॥४८॥

पर्वत-कन्दराओं से अपनी गोद में छिपाये गये ग्राम के मैदानों में; जिनमें बगीचों के पेड़ हारीत पक्षियों से मनोहर और हरे हैं और बावड़ियों के आस-पास हंस, सारस आदि की कूजरूप निर्मल मधुर तान सुनाई देती है, मालूम होता है काम स्वेच्छा से आनन्द के साथ मौज लेता है ॥४९॥

हे श्रीमानों के स्वभाव के समान महोदार स्वभाव वाले ! हे महाशय ! हे सन्तापहारिन् ! अत्यन्त उन्नत और गंभीर आकृति वाले हे मेघ, तुम पर्वतों के शिरोभूषण हो और खेत, उपवन आदि की समृद्धि के कारणभूत जल के एकमात्र आश्रय हो । यों हजारों गुण तुममें हैं फिर भी हर्ष से बरस रहे तुमने जो अपात्रभूत ऊसर प्रदेश, तालतलैया, कंटीले पेड़ आदि में सुन्दर उपजाऊ खेतों के समान जलविभाग का क्रम अपनाया है, यह तुम्हारा सत्-असत् पात्र का अपरिज्ञान सज्जनों के मन को काँटे की तरह वेधता है । यदि तुम्हारे ऐसे महान् सुपात्रों के उत्कृष्ट गुणों का आदर न करेंगे, तो कौन करेगा ? [यहाँ से लेकर प्रायः सर्ग की समाप्ति तक के

नित्यं स्नासि सुतीर्थवारिविसरैरुच्चैः पदस्थोऽम्बुद
शुद्धः सन्विपिनावनौ निवससि प्रारब्धमौनव्रतः ।
रिक्तस्याऽप्यतिकान्तिरेव भवतः कायाश्रया लक्ष्यते
प्रोत्थायाऽशनिमातनोषि किमिदं तुच्छं तवाऽऽचेष्टितम् ॥५१
वस्त्वस्थानगतं सर्वं शुभमप्यशुभं भवेत् ।
दुर्मेघं स्थानमासाद्य वारि त्वसिततां गतम् ॥५२॥
अहो नु मेघेन जलं विमुक्त-
महो नु तोयेन विपूरिता भूः ।
अहो नु भूमौ परिपोषितश्च
जलैर्धनाढ्यैः प्रणयीव दीनः ॥५३॥
नैर्घृण्यमस्थैर्यमथाऽशुचित्वं
रथ्याचरत्वं परिकुत्सितत्वम् ।

सब श्लोक अन्योक्ति से भरे हैं । मेघ के बहाने किसी दानी महाशय के प्रति भी जो पात्रापात्र का विचार नहीं रखता है, यह उक्ति लागू होती है] ॥५०॥

हे मेघ ! तुम नित्य समुद्र, गङ्गा आदि सुतीर्थों की जलराशि से स्नान करते हो, ऊँचे स्थान पर बैठकर सब जीवों को जल देते हो, शुद्ध होकर मुनियों का-सा व्रत लेकर वन भूमि में निवास करते हो एवं शरत् काल में यद्यपि तुम खाली हो जाते हो फिर भी तुम्हारे शरीर पर अत्युत्कृष्ट धवलकान्ति ही शोभा पाती है । यों सर्वथा श्रेष्ठ होने पर भी तुम जलदान के लिए उठकर जो बिजली और अग्नि के साथ कटुशब्द करते हो यह तुम्हारा आचरण कैसा है ? सर्वथा अनुचित है ॥५१॥

अनुचित स्थान पर पड़ी हुई सुन्दर वस्तु भी असुन्दर हो जाती है । दुष्ट मेघरूप अयोग्य स्थान को पाकर स्वच्छ मधुर जल भी काला और क्षार हो जाता है ॥५२॥

अहो ! मेघ ने जल बरसाया, अहा ! जल से पृथिवी आप्लावित हो गई, अहा ! जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-हीन मित्र को धन-दौलत से पुष्ट करते हैं वैसे ही जलों ने भूमि में मुरझाये हुए धान आदि को पुष्ट किया है ॥५३॥

निर्दयता, अस्थिरता, अशुद्धता, गलियों में मारे-मारे फिरना, सर्वथा निन्द्यता आदि दुर्गुण कुत्तों से मूर्खों ने सीखे या मूर्खों से ही कुत्तों ने लिये इसका मुझे सन्देह है, निश्चय नहीं है ॥५४॥

श्वभ्यो गृहीतं किमु नाम मूर्खै-
र्मूर्खेभ्य एवाऽथ शुना न जाने ॥५४॥

गुणैः कतिपयैरेव बहुदोषोऽपि कस्यचित् ।
उपादेयो भवत्येव शौर्यसन्तोषभक्तिभिः ॥५५॥

उन्मत्तमत्तपतनोन्मुखधावमान-
मानाधिकान्विषयवीथिषु मुक्तमूर्त्तिः ।
यन्मन्यते तृणलवाग्र विलोकयेच्छा-
सत्त्वं जडत्वमुत वाऽस्य विचार्यतां तत् ॥५६॥

कोलाहलः समानेऽपि तिर्यक्त्वे क्षुब्धमानसैः ।
अन्यथा सह्यते सिंहैर्मीलितैरन्यथा श्वभिः ॥५७॥

यद्यपि मूर्खजन दोषों के भण्डार होते हैं फिर भी जैसे कोई कुनृपति कुत्तों को पालते हैं वैसे ही कुत्ते के सदृश कतिपय शूरता, सन्तोष, स्वामिभक्ति आदि गुणों के कारण ही कोई कुनरपति आदि मूर्खों को अपने पास रखते हैं ॥५५॥

भोग-परम्पराओं में संलग्न (विषयलम्पट) मूर्ख धतूर खाने से उन्मत्त हुए, मदिरा आदि पीने से मदमत्त हुए, प्रमाद और क्रोधावेशादिवश कुएँ में गिरने के लिए उद्यत हुए, भूतावेश से इधर-उधर दौड़ रहे तथा तत्त्वज्ञान के उत्कर्ष से देहादि के परिच्छेद की विस्मृतिवश 'मैं ब्रह्म हूँ' यों सर्वोत्कृष्ट प्रभा की प्रतिष्ठा होने से षष्ठ आदि भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुषों को—अपने में अभिज्ञता के आरोप से—जो तृणतुल्य समझता है, हे तृणलवाग्र, उसे तुम्हीं देखो । यह इस विषयलम्पट पुरुष की इच्छासत्ता है या जड़ता है इस रहस्य का तुम्हीं विचार करो । यदि इच्छासत्ता है, तो वही कुत्तों के तुल्य है, यदि जड़ता है, विषय लम्पटता आदि दोषों की अधिकता से वह स्वयं तृणलव से भी नीच है; अतः विचार करने पर उसकी तृण समानता भी दुर्लभ है, यह अर्थात् सिद्ध हो जायगा । ऐसी अवस्था में उन्मत्त आदि से भी वह अधिक नीच है; इसमें कहना ही क्या है ॥५६॥

यद्यपि सिंह और कुत्ता-दोनों में पशुता समान है यानी दोनों तिर्यग् योनि के जीव हैं, तथापि मेघगर्जन आदि के कोलाहल को सिंह बिना क्षोभ के अनादरवश आँखें मूँदकर सहते हैं, किन्तु कुत्ते क्षुब्ध हो भयवश आँखें मूँदकर सहते हैं यही दोनों की परस्पर विलक्षणता है ॥५७॥

नित्याशुचे प्रियजने भषणैकनिष्ठ
रथ्यान्तरभ्रमणनीतसमस्तकाल ।
कौलेयकाशयसमानतयैव मन्ये
मूर्खेण केनचिदहो बत शिक्षितोऽसि ॥५८॥
नित्यं सर्वं जगदसदृशं कुर्वतोच्चैर्विधात्रा
दौहित्रेऽस्मिञ्छुनि समदृशे निर्मितं सर्वमेव ।
वासोऽमेध्यावकरकुहरे भोजनं गूथपूयं
सर्वालोके कुरतिकुरतिः सर्वनिन्द्यं शरीरं ॥५९॥
त्वत्तः कोऽधम इत्युदीरितवते श्वोवाच हासान्वितं
मत्तो मौर्ख्यसमेध्यमान्ध्यमशुभं यः सेवते सोऽधिकः ।
शौर्यं भक्तिरकृत्रिमा धृतिरिति श्रीमान्गुणो योऽस्ति मे
मूर्खादिव गुणः प्रयत्ननिचयैरन्विष्य नो लभ्यते ॥६०॥
भुङ्क्तेऽनेध्यममेध्य एव रमते नित्यं महावस्करे
तूष्णीमत्ति सचेतनं कृतरतिर्निश्चेतनं कृन्तति ।

हे नित्य अपवित्र, अपने प्रियजन के प्रति हू हू करने में प्रवीण, गली-कूचों में घूमने में सारा समय बिताने वाले अरे कुत्ते, मालूम होता है जैसी मेरी चित्तवृत्ति है वैसी ही इसकी भी है यह देखकर तुम्हें अपने गुणों की शिक्षा का पात्र समझ रहे किसी मूर्ख ने नित्य अशुचिता आदि अपने गुण तुम्हें सिखाये हैं। ऐसी परिस्थिति में शिष्य की अपेक्षा गुरु में गुणाधिकत-दर्शन उपपन्न होता है ॥५८॥

कर्मों की विषमतावश अत्यन्त विषम जगत् की रचना कर रहे विधाता ने अपने दौहित्र (सरमा नाम की देवशुनी के पुत्ररूप) इस कुत्ते में अनुरूप सब धर्मों के दर्शन के लिए वक्ष्यमाण सभी कुछ समान रूप से बना डाला। वह सब-कुछ है, कूड़े करकट के स्वनिर्मित गड्ढे में निवास, पुरीष और पीब भोजन, सड़क आदि खुली जगहों में चिरकाल तक ग्रन्थिरूप कुत्सित मैथुन में दुरिच्छा सर्वनिन्दनीय शरीर ॥५९॥

तुमसे बढ़कर अधम कौन है ऐसा पूछने वाले के प्रति कुत्ते ने हंसते हुए कहा—जो अज्ञान, अपवित्र देहाद्यभिमान, विचार दृष्टि शून्यता का सेवन करता है, वह मुझसे बढ़कर अधम है। किन गुणों से तुम मूर्ख की अपेक्षा श्रेष्ठ हो यह पूछने पर उसने कहा—शूरता, नैसर्गिक स्वामि भक्ति, अल्प में ही सन्तोष ये जो मुझमें सुन्दर गुण हैं, मूर्ख में वे गुण लाखों प्रयत्नों से ढूंढने पर भी नहीं पाये जा सकते ॥६०॥

कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अति अपवित्र विष्ठा के ढेर में ही खेलता है; बेचारे जीवित नेउर, चूहे

सर्वैरेत्य रते शुनीविवलिते लोष्टैर्जनैस्ताड्यते
धात्रा खेलसमन्वितस्थितिरलं लोके कृतो नेश्वरः ॥६१॥
लिङ्गस्थो॰वं रटत्काक आत्मानं दर्शयत्ययम् ।
सर्वाधःपातकोत्तुङ्गगतं पश्यत मामिति ॥६२॥
काकक कटुकल्कारव
कवलितगुणकर्दमे भ्रमन्सरसि ।
अन्तरयसि मधुपरवं
यदतो मे शिरसि फलभूतः ॥६३॥
कवलयति नरकनिकरं
परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्क्षः ।
यदतोऽस्तु मा स्मयस्ते
स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते ॥६४॥
विविधवनकुसुमकेसर-
धवलवपुर्हंस इव दृष्टः ।

आदि को भाग्यवश पाकर बड़े चाव से खा डालता है, निर्बल बकरी, बछड़े आदि को बिना किसी अपराध के काट खाता है, कुतिया के साथ सटने पर सब लोग उसे ढेले मारते हैं। सचमुच ब्रह्मा ने अत्यन्त असमर्थ कुत्ते को लोक में जन्मभर दुःख भोगने के लिए ही रचा है ॥६१॥

शिवलिङ्ग के ऊपर कांव-कांव करता हुआ यह कौवा अपने को दृष्टान्तरूप से दर्शा रहा है—हे लोगो ! अधोगति के हेतुभूत सब पातकों में से शिवस्वभक्षण के लिए शिवलिङ्गाश्रयणरूप सर्वोत्कृष्ट पातक को प्राप्त हुए प्रत्यक्ष काकरूप मुझे देखो ॥६२॥

अरे निन्द्य कौए ! अरे अपनी कर्णकटु कांव-कांव से हंस ! सारस आदि के सुगुणों को मटियामेट करने वाले, तालाब में कीचड़ में घूमता हुआ तू सुन्दर भ्रमरों की गुञ्जार को अपनी कर्णकटु कांव-कांव से जो तिरोहित करता है, इससे मेरे सिर पर सल्यकी-सी वेदना पैदा होती है ॥६३॥

कौआ नाना प्रकार की अपवित्र वस्तुओं को खाता है, मृणाल की डण्डी को, जो प्राप्त है, छोड़ देता है इस विषय में आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यसन होने के कारण खूब आदत पड़ी रहती है, तो निन्दनीय वस्तु भी बड़ी स्वाद लगती है जैसे कि लहसुन मिश्रित खटाई आदि निन्दित वस्तुएं अभ्यस्त लोगों को अच्छी लगती हैं ॥६४॥

विविध वनपुष्पों के केसर से धवल देह वाले कौए को लोगों ने हंस समझा। बाद को जब उसे सड़े पड़े

काकः क्रिमिकुलकवलं
क्लिन्नमथो कवलयन् ज्ञातः ॥६५॥
तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः संगतैः किल कोकिलैः।
केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥६६॥
अरण्यान्या मृदः स्थाणौ स्थितः काको निरीक्षते।
चैत्याद्दशदिशश्चोरो निशि सुप्ते जने यथा ॥६७॥
सरभससारसविदल-
त्पुष्करमकरन्दसुन्दरे सरसि।
कथमिह विहरति काकः
स्फुरदवकरनिकरधूसरस्कन्धः ॥६८॥
हा कष्टमिष्टवपुषि स्फुटपुण्डरीक-
कोशे कषाहननयोग्यमुखः पिशाचः।
पश्यैष काक उपविश्य कुपल्वलेऽस्मिन्
लीलाः करोति विविधाः सह राजहंसैः ॥६९॥

कीड़े मकोड़े निगलते देखा तब जाना कि यह कौआ है ॥६५॥

समानरंग के (एक से) परवाले कोयलों में हिले-मिले कौए को कौन पहचानता यदि वह स्वयं कांव-कांव न कर बैठता ॥६६॥

महा अरण्य की मिट्टी की बनी पुरानी भीत के ऊपर बैठा हुआ यह कौआ जैसे रात्रि के समय लोगों के सो जाने पर चोर श्मशानवृक्ष पर चढ़कर दसों दिशाओं की ओर झांकता है वैसे ही चारों ओर देखता है ॥६७॥

वेग से उड़ रहे या कलियों के आस-पास मंडरा रहे सारसों द्वारा चट-चट खिल रहे कमलों के मकरन्द से (पुष्प रस से) मनोहर इस तालाब में कौआ, जिसके कन्धे कूड़े-करकट की उड़ रही धूलि से धुमैले हैं, कैसे क्रीड़ा करता है ! उसका यहाँ क्रीड़ा करना अनुचित है, यह भाव है ॥६८॥

हे राजन्, खिले हुए कमलों के आकर स्वानुरूप स्थानरूप सरोवर में तैर रहे राजहंसों के साथ थप्पड़ खाने योग्य कुरूप मुंह वाला पिशाच तुल्य यह कौआ [जिस सुन्दर सरोवर में राजहंस विहार करते हैं उसमें विहार के अयोग्य यह काला-कलूटा कौआ] इस कीचड़-पूर्ण तलैया में घुसकर राजहंसों की नकल उतारने के लिए विविध लीलाएँ करता है, यह बड़े खेद की बात है, कृपया देखिये ॥६९॥

हे काक कर्कशरव क्रकचैकचिह्न
तादृक्स्वशङ्कनमपि क्व नु तेऽद्य यातम्।
कस्मादनर्थकमिदं पिकपाकमेक-
पुत्राशया तदपि ते ह्युपहाससिद्धयै ॥७०॥
आलोक्य पङ्कजवने सविलासवन्तं
काकं कलङ्कसदृशं भृशमारटन्तम्।
हा कष्टशब्दशतनष्टविचेष्टितो यो
नो रोदिति क्रकचकेन विदार्यतां सः ॥७१॥
विशरारुशरारुमये
बकमद्गुघने च पल्वले चपलाः।
स्युर्यदि कौशिककाका-
स्तत्स्यादेषा समन्विता गोष्ठी ॥७२॥
कोकिलः काकसंघातैः समसंवरणाकृतिः।
गदितैर्व्यक्ततामेति सभायामिव पण्डितः ॥७३॥

अरे कौए, अरे कठोररव सुनने वाले के कानों को चीर डालने वाला कांव-कांव शब्दरूपी आरा ही तुम्हारा एक मात्र लक्षण है। मेरे भाग को कौए से भिन्न कोई न खा जाय इस आशङ्का से तुम सदा कौओं का आह्वान करते हुए कांव-कांव की रट लगाते रहते हो, तुम्हारा आज ऐसी शङ्का करना कहाँ चला गया ? तुम्हीं मेरे एकमात्र बच्चे हो, तुम चिरकाल तक जीवो इस आशा से कोकिल के बच्चे को तुम व्यर्थ पालते हो। तुम एक-मात्र कटु बोलने वाले हो, पुत्र भ्रान्ति से तुम्हारा सुस्वर वाले कोयल के बच्चों को पालना भी मनोरथ सिद्धि के लिए नहीं होगा, अपि तु उपहासास्पद ही होगा ॥७०॥

कमलवन में विविध क्रीडाएँ कर रहे कलङ्क सदृश कौए को जोर-जोर से कांव-कांव करते देखकर किसी ने कहा—हे काक ! तुम्हारे या तुम्हारे सदृश खल पुरुषों के सैकड़ों कटुशब्दों के श्रवण से दुःखवश भौचक्का होकर जो नहीं रोता उस आदमी को आरे के तुल्य कटु वचनों से तुम्हें चीर डालना चाहिये, मैं तो वैसा नहीं हूँ, अतः क्योंकर मेरे सामने कांव-कांव करते हो ॥७१॥

इधर-उधर घूम रहे हिंसक जलजीवों से पूर्ण बगुले, जलकाक आदि से पटे हुए छोटे से कीचड़मय तालाब में यदि चञ्चल उल्लू और कौए रहें, तो यह तालाब की सभा अपने योग्य सदस्यों से सम्पन्न हो ॥७२॥

रंग, शरीर को ढकने वाले पर और शरीर की गठन से कौओं के झुण्डों के तुल्य कोयल, मूर्खों की सभा में पण्डित के सदृश वाणी द्वारा व्यक्त होता है ॥७३॥

मृदुकुसुमाङ्कुरदलनं
सोढुमलं कोकिलस्य कुसुमलता ।
न तु कङ्कगृध्रमद्गुक-
बककुक्कुटवायसादीनाम् ॥७४॥
श्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कोऽत्र
नादं शृणोति रतिविग्रहसंधिदूतम् ।
काकैरुलूककलहैरिह गुल्मकेषु
क्रेंकारघर्घररवैः श्रुतिरागताऽस्तम् ॥७५॥
वाचा कोमलया सुकोकिलशिशुः कल्याणकल्पां कथां
सर्वावर्जनमार्जवेन कुरुते यावत्पुरो रागिणाम् ।
तावन्मत्तनयोऽयमित्यविरतं द्रांकारभीमारवैः-
र्ध्वाङ्क्षेणोपवने निपत्य नभसः सर्वे कृता नीरसाः ॥७६॥
किं किं कोकिल कूजसि द्रुततरं हर्षात्समुल्लासितं
ग्रीवाकोटरतः प्रवेशय पुनर्मा सूच्चिरं ते भ्रमः ।
उद्दामैः कुसुमैर्निरन्तरतरं नेदं मधोर्जृम्भितं
हेमन्तेन कृतास्तुषारनिकरैः शुष्का अमी पादपाः ॥७७॥
कूजत्कोकिलकोमलं कलरवैर्नित्यं प्रशस्ताकृते
केनेदं बत शिक्षितोऽसि वचनं दुःखप्रदं दुर्भगम् ।
चैत्रे चित्रनवाङ्कुरे विरहिणी वक्ति त्वया याऽऽत्मनः
कस्याऽयं मधुरित्यतस्तवतवेत्युक्तं त्वरोच्चैस्तरोः ॥७८॥
मौनस्पन्दविहारवर्णवपुषां साम्येऽपि काकव्रजेऽ-
काकः कोकिल एष कान्तिरुचिरो दूरात्परिज्ञायते ।
मध्ये मूर्खजनस्य पण्डित इव स्वाकारभव्यक्रियः
सर्वो हि प्रथिमानमेति सदृशस्वान्तश्चमत्कारतः ॥७९॥
भ्रातः कोकिल कूजितैरलमल नाऽऽयात्यनर्घ्यो गुण-
स्तूष्णीमास्स्व विशीर्णपर्णपटलच्छन्ने क्वचित्कोटरे ।
उद्दामद्रुमकन्दरे कटुरटत्काकावलीसंकुलः
कालोऽयं शिशिरस्य संप्रति सखे नाऽयं वसन्तोत्सवः ॥८०

फूलों की लता कोकिल के धीरे-धीरे फूलों की पंखुरियों के छेदन को भले सहन कर सकती है, किन्तु चील, गीध, जलकाक, बगुला, मुर्गा और कौए के छेदन को कदापि नहीं सह सकती ॥७४॥

हे मधुरकण्ठ ! हे कोयल ! यहाँ पर कानों के लिए उत्सवरूप तुम्हारे कलरव को, जो रतिरूपी विग्रह का सन्धिदूत है, कौन सुनता है । क्योंकि यहाँ नीम के झुरमुट में उल्लुओं के साथ सदा कलह करने वाले कौओं ने काँव-काँव के कोलाहल से सबके कान बहरे कर दिये हैं ॥७५॥

उपवन में तान सुनने के प्रेमी लोगों के आगे कोयल का मनोहर बच्चा कोमल वाणी से महोत्सवतुल्य कथा कर अनायास सब लोगों का ज्यों ही मनोरञ्जन करता है त्योंही कौए ने आकाश से बाग में उतर कर यह मेरा बच्चा है, मैंने इसे पाला है, यों काँव-काँवरूपी रूक्ष वाणी से सब श्रोताओं को निरुत्साह कर दिया ॥७६॥

हे कोयल ! तुम श्रोताओं की योग्यता आदि का विचार किये बिना ही अपने गुणों के प्रख्यापन की उत्सुकता से उत्पन्न हर्ष से जल्दी-जल्दी क्यों कूकते हो ? गले रूपी कोटर से हर्षवश हो रहे कुहकने के उल्लास को अपने अन्दर प्रवेश करा दो, मौन हो जाओ । यह गुणों के प्रख्यापन का अवसर है और ये श्रोता श्रवण की योग्यता रखते हैं ऐसा भ्रान्ति तुम्हें न होनी चाहिये । यह फूलों की बहार से पटा हुआ बसन्त ऋतु का उन्मेष नहीं है, किन्तु हेमन्त ने इन पेड़ों को पाले की वर्षा से सुखा डाला है । इनके बीच तुम्हारी वाणी सफल न होगी ॥७७॥

रंग-विरंग के नये-नये अङ्कुरों से भरे हुए चैत्र के महीने में जो वियोगिनी नायिका है, वह कहती है—हे नित्य प्रशंसनीय आकृति वाले ! हे कुहुक रहे कोयल ! यह चैत्र महीना किसका है ? इस तरह के मेरे प्रश्न के उत्तर में तुमने अपने मधु के (चैत के) ऊँचे पेड़ पर से जल्दी-जल्दी जोर से 'तव-तव' (तुम्हारा-तुम्हारा) यों मधुर स्वर से जो मीठी वाणी कही, खेद है, यह दुःखदायी असत्य वचन तुमने किससे सीखा ? आशय यह कि विरह से दुखिया का (मेरा) वसन्त नहीं है, किन्तु अपनी सहचरी के साथ गा रहे तुम्हारा ही वसन्त है । ऐसी परिस्थिति में तुम्हें 'मम-मम' (मेरा-मेरा) कहना चाहिये; 'तव-तव' इस तरह का तुम्हारा असत्य वचन मुझे पीड़ा करने के लिए ही है ॥७८॥

कौओं के झुण्ड में मौत, चेष्टा, पक्षादिचालनरूप व्यवहार, वर्ण, रंग और आकार एकसा होने पर भी यह कान्ति से मनोहर कोयल है, कौआ नहीं है, यों कोयल मूर्ख लोगों के बीच में पण्डित की तरह दूर से पहचाना जाता है । अपनी आकृति से अपना उत्तम गुण सूचित करने वाले सभी पुरुष अपने अनुरूप हृदय चमत्कार से, भले ही वह गुप्त हो, विख्याति को प्राप्त होते हैं ॥७९॥

अरे भाई कोयल, कर्णकटु काँव-काँव कर रहे कौवों के झुण्ड से भरा हुआ यह शिशिर का समय है, वसन्तरूपी उत्सव नहीं है । इस समय कुहकने से उत्तम गुण (प्रशंसा-रूप गुण) प्राप्त नहीं होता, अतः कुहकने की आवश्यकता

चित्रं मातरमेष कोकिलशिशुः संत्यज्य काकीं गतः
सैषैनं तुदतीति यावदहमप्याचिन्तयामि क्षणम् ।
तावत्सोपि तथाऽऽशु मातृसदृशं श्लिष्टो रसार्द्धयितुं
यामायाति दिशं स्वभावसुभगः सैवाऽस्यमाहात्म्यदा॥८१

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विपश्चि० श्वकाककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥११६॥

नहीं है। कहीं विशाल वृक्ष के खोखले में, जो गिरे हुए पत्तों से ढका है, चुपचाप बैठे रहो ॥८०॥

यह कोयल का बच्चा अपनी कौवी माता को छोड़कर जो चला गया, वह एक आश्चर्य है। उसके बाद यह कौवी माँ इस कोयल बच्चे को चोंच और पञ्जों से घायल करती है, यह दूसरा आश्चर्य है, यों क्षणभर जब मैं सोचने लगता हूँ तब तक कोयल का बच्चा भी उत्साह से अपनी माँ के सदृश बढ़ने के लिए तत्पर हो गया, यह तीसरा आश्चर्य है सचमुच भाग्यवान् पुरुष जिस दिशा को जाता है, वही दिशा उसकी महिमा बढ़ाती है ॥८१॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में श्वकाककोकिला नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥११६॥

११७

सहचरा उचुः

पश्याऽद्रिसानाविव विम्बितं खं
पुरःसरो मारपुरःसरो यः।
कह्लारपद्मोत्पलजालनाल-
ललद्विचित्रारवपक्षिवीतम् ॥१॥

विकासितोद्दण्डसहस्रपत्र-
कोशस्थलस्थोद्धुरराजहंसम् ।
पीठद्विरेफद्विजलोकजुष्टं
भुवीव गेहं कमलासनस्य ॥२॥

आकीर्णसीकरकरालदिगन्तराले
फुल्लोत्पलाब्जपटलोदररेणुगौरम् ।
आमोदमत्तमधुपद्विजगीतिगीतं
यातं वितानकमिवाऽम्बरगं वहन्तम् ॥३॥

क्वचित्तरत्तारतरङ्गभङ्गं
क्वचिद्द्विषद्भूरिविराविभृङ्गम् ।
क्वचिद्गभीरामलवारिसुप्तं
क्वचित्सरोजोज्ज्वलपुष्पगुप्तम् ॥४॥

११७

साथियों ने कहा—हे राजन् ! यहाँ सामने पर्वत-शिखर पर, जो सरोवर की शोभा बढ़ाने के कारण कामोद्दीपक होने से काम का प्रधान भृत्य-सा (दाहिना-हाथ सा) है, लाल कमल, श्वेत कमल और नीले कमलों क समूहों की डंडियों में मृणाल के लिए विचर रहे भाँति-भाँति क कलरव करने वाले पक्षियों से व्याप्त, अतएव नक्षत्र (तारे) और पक्षियों के साथ प्रतिबिम्बित हुए आकाश के तुल्य सरोवर को देखिये ॥१॥

इन्द्रनील के पीठ के सदृश भ्रमरों, सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों और ब्राह्मणों द्वारा सेवित उक्त सरोवर, जिसमें खिले हुए और ऊपर उठ दण्ड वाले विविध कमलों के कोशस्थलों में बैठे और उनकी शोभा को धारण करने वाले राजहंस बैठे हुए हैं, भूमि में आया हुआ ब्रह्मा का घर-सा मालूम पड़ता है ॥२॥

राजन् ! इस सरोवर को देखिये। यह चारों ओर बिखरे हुए सीकरों से (जलकणों से) दिशाओं के मध्य भागों को बर्फमय बना रहा है, खिले हुए नीलकमल और साधारण कमलों की राशियों के बीच के पुष्पपराग से चारों ओर पीला बना है, सुगन्धि से मस्त हुए भौंरों और सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणों द्वारा गीतों से इसका यशगान किया जाता है, ऊपर तने हुए चँदवे के समान अकाशस्थ बादल और कुहरे को परछाई के व्याज से धारण कर रहा है ॥३॥

देखें, कहीं पर इसमें लम्बी, लम्बी लहरें तैर रही हैं, कहीं पर भँवर अधिक मस्ती से आपस में लड़ते हुए गुनगुना रहे हैं, कहीं पर यह गहरे और स्वच्छ जल से निश्चलतावश—सोया हुआ-सा है एवं कहीं पर कमलों और कुमुदों से सोया हुआ-सा आच्छन्न है ॥४॥

कणाणुमुक्ताजलतापटालं
तीरेषु सिंहे सुलतासुटालम् ।
तरङ्गनिर्धूतशिलोग्रकच्छं
महीतलाकाशमनन्तकच्छम् ॥५॥

तडित्प्रकाशोदरमस्य मेघ-
नुन्नाब्जजातोत्थरजःप्रभाभिः ।
पृषद्भरध्वान्तमयैकदेशं
सन्ध्याम्बराभोगमिवाऽऽप्रकाशम् ॥६॥

वातावकीर्णशरदम्बुदखण्डखण्डं
व्योमेव केवलसमीरणमावृताङ्गम् ।
हंसैर्लसद्बिसलताकवलालसांसै
कालेन संचयकृतैरिव चन्द्रबिम्बैः ॥७॥

आमोदमन्दमकरन्दकरालवात-
व्याधूतपङ्कपुटपाटनपाटवेन ।
उद्यन्महापटपटा वयतीव लेखा-
क्षुभ्यत्खगाश्रितलतोज्झितपुष्पवर्षम् ॥८॥

वेल्लन्महाकमलपल्लवतालवृन्त-
संवीजितं वलितचामरचारुफेनम् ।
राजायमानमलिकोकिलगीतगीतं
सद्वृत्तपङ्कजलताललिताङ्गनौघम् ॥९॥

भृङ्गाग्रभाजनमनोहरहारिगीतं
राजीवरेणुरणकीर्णपिशङ्गतोयम् ।
डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरपुण्डरीक-
खण्डोपमण्डिततटोपवनावतंसम् ॥१०॥

विविक्तहृदयाम्भोजं हृदयाह्लादनं परम् ।
रसवत्स्वादु भातीदं सरः सत्संगमोपमम् ॥११॥

मोती-ऐसे छोटे-छोटे जल विन्दुओं से यह लोगों के सन्ताप की निवृत्ति करता है, तटभूमि में सिंह की प्रतिबिम्बरूप अन्य सिंह की तरह आशङ्का से जल पीने में होने वाली झिझक को वृक्ष की चोटी से लेकर जलतक लटकी लताओं द्वारा प्रतिबिम्ब के दर्शन में रुकावट डालकर भली-भाँति निवृत्त करता है, तरङ्गों ने इसके आसपास के पत्थरों और कीचड़ से भरे दलदलों को साफ-सुथरा बना दिया है एवं यह असंख्य बादलों से अनन्त कच्छवाला (जलप्राय देशवाला) आकाश ही मानो भूतल में उतरा है ॥५॥

मेघों को छिन्न-भिन्न कर देने वाले वायु से कम्पित कमलों की राशियों से गिरे हुए पराग-पुञ्ज की आभा से इसका मध्य भाग बिजली के प्रकाश से पूर्ण-सा मालूम होता है, इसलिए एक ओर जलकणों से भरा हुआ तथा दूसरी ओर अन्धकारपूर्ण यह सरोवर सन्ध्याकाल के आकाश की तरह चारों ओर प्रकाशवाला या अल्प प्रकाशवाला है ॥६॥

अपने बच्चों के लिए घोसलों में ले जाये जा रहे कमल-नाल, कमल-कन्दरूपी ग्रासों के भार से थके कन्धे-वाले हंसों से, काल द्वारा इकट्ठा किये गये चन्द्रबिम्ब जैसे हैं, घिरकर मन्दता, सुगन्धित, शीतलता आदि गुणों से रहित केवल वायुयुक्त भी यह वायु से जिसके शरत्काल के मेघ छिन्नभिन्न किये गये ऐसे आकाश की तरह शोभ रहा है यदि यह मन्दता, सुगन्धित, शैत्य आदि गुणों से सम्पन्न वायु से युक्त होत तो फिर इसकी शोभा का क्या ठिकाना था ॥७॥

इस तालाब की लहरी, सुगन्धि के भार से मानों मन्दगामी तथा पुष्परस के संसर्ग से नम वायुओं द्वारा कम्पित जलमिश्रितपंकभाग के पंक को नीचे दबाकर जल से पृथक् करने की चतुराई वश जिससे शीघ्रता से पट-पट शब्द हो रहा है, अपनी ध्वनि से खिन्न होकर उड़े हुए पक्षियों की निवासभूत लताओं द्वारा छोड़ी गई पुष्पवृष्टि का विस्तार करती है ॥८॥

हे राजन् ! इस सरोवर का राजा का सा ठाट-बाट है। देखिये न, वायुवश हिल रहे महाकमल और पल्लव-रूपी पङ्खों से यह संवीजित (झला गया) है सुन्दर फेन ही इसके डुलाये गये चँवर हैं, भौंरे और कोयल अपने गीतों से इसका गान करते हैं तथा कमललतारूपी सुरूप, सुडोल, सच्चरित्र तथा सुन्दरी अनेक ललनाओं से यह घिरा है ॥९॥

भँवररूपी श्रेष्ठ सत्पात्र मनोहर गुणियों का इसमें मनोज्ञ गाना होता है, इसका जल कलमपरागों के सम्पर्क से व्याप्त अतएव सुनहला है और इसने तटवर्ती उपवन की मस्तकालङ्कारभूत पुष्पराशि को फेन पिण्डों के समान सफेद कमलराशि से सुशोभित कर रक्खा है ॥१०॥

पवित्र हृदय के समान निर्मल कमलों से भरा हुआ हृदय को अत्यन्त आनन्द देनेवाला जलपूर्ण यह मधुर सरोवर पवित्र (निर्मल) हृदय कमलवाले, हृदय को अत्यन्त आह्लादित करने वाले, प्रीतिपूर्ण तथा अत्यन्त मधुर सत्संग के तुल्य है ॥११॥

बिम्बितेन मरुव्योम्ना भातीदं सौम्यनिर्मलम् ।
शास्त्रार्थपरिणामेन महतामिव मानसम् ॥१२॥

किंचिल्लक्ष्यमपश्यामं पृषत्परुषमारुतम् ।
हिमाभ्रमिव भातीदं सरः सरससारसम् ॥१३॥

यथेदं ब्रह्मणो दृश्यमविकारादि नेतरत् ।
यथाऽम्भसि तरङ्गाद्रि राजन् पृथगिव स्थितम् ॥१४॥

आत्मनैवोह्यमानानां चक्रावर्तविधायिनाम् ।
जडाशयानां विषमा हा कल्लोलपरम्परा ॥१५॥

कूपवापीसरोब्धीनां दृश्यते यादृगन्तरम् ।
नारीपुरुषतोयानां विज्ञेयं तादृगन्तरम् ॥१६॥

जन्तोरिवाऽस्य मनसो जलजातिबन्ध-

हे सौम्य, जैसे ब्रह्माकार वृत्ति से (चरम साक्षात्कार वृत्ति से) महात्माओं का निर्मल मन शोभित होता है वैसे ही यह निर्मल सरोवर अपने में प्रतिबिम्बित मरुदेशवत् निर्जल आकाश से शोभित है ॥१२॥

हेमन्त ऋतु में सुन्दर सारसों से पूर्ण यह सरोवर हेमन्त ऋतु के मेघों की तरह शोभित होता है, कुहरे से चारों ओर घिरे रहने के कारण कुछ-कुछ दिखाई देता है, कुहरा इसे अपने रंग में रंग लेता है, अतएव इसकी कालिमा (श्यामलता) चली जाती है और जलबिन्दुओं से इसकी हवा अति कठोर बन जाती है ॥१३॥

हे राजन् ! जैसे विकारादिशून्य यह जगत् कूटस्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्ममात्र ही है, तथापि ब्रह्म से पृथक्-सा प्रतीत होता है । वैसे ही जल में तरङ्ग आदि जलमात्र ही हैं फिर भी पृथक् से मालूम होते हैं ॥१४॥

जैसे अपने ही जल से बहाये जा रहे तथा चक्राकार भँवर बनाने वाले जलाशयों के कल्लोलों की परम्परा बड़ा आश्चर्य पैदा करती है वैसे ही अपने अज्ञान से ही संसार के प्रवाह में बहाये जा रहे सदसत्कर्मरूप भँवरों की रचना करने वाले जड़ लोगों के मनोरथों की परम्पराएँ आश्चर्य में डालती हैं ॥१५॥

कुआँ, बावड़ी, सरोवर और सागर के जल में उपाधि भेद से जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वैसा ही अन्तर नारी, पुरुष, बालक आदि के शरीर के (उपाधि के) उत्कर्ष से उनकी आत्मा में भी उत्कर्ष और अपकर्ष का तारतम्य समझना चाहिए ॥१६॥

जल में उत्पन्न होने वाले कमल, सेवार आदि के संसर्ग से जीर्ण हुए इस सरोवर के विविध योनियों के

जीर्णस्य जर्जरदशालहरीभ्रमेण ।
आवर्तवृत्तिवलितान्यतिसंततानि
को नाम संकलयितुं कमलानि शक्तः ॥१७॥

चित्रं विजृम्भितमहो जडसंगमस्य
पद्मोऽपि यन्निजगुणाननुगुणानिवैषः ।
अन्तः प्रगोपयति कण्ठतले निवेश्य
सर्वस्य दर्शयति दुर्भगकण्टकौघम् ॥१८॥

सच्छिद्रैरदृढैः सूक्ष्मैर्गोपितैर्जाड्यसंयुतैः ।
अनल्पैरपि निःसारैः पद्मस्येव गुणैरलम् ॥१९॥

महतां कुलपद्मानां गुणसौन्दर्यशालिनाम् ।
प्रभावं नाऽस्ति संख्यातुं वासुकेरपि शक्तता ॥२०॥

सम्बन्ध से जीर्ण हुए जीव के मन की तरह कमल आदि की (तत्-तत् देहों की) जर्जर दशापर्यन्त लहरियों के (भोगोत्सहों के) भ्रम से अत्यन्त व्याप्त हुए आवर्तों के सदृश इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियों के परिवर्तनों की भाँति अनगिनत कमलों के गिनने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं ॥१७॥

अहो ! यह आश्चर्य की बात है कि जिस कमल की लोक में सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि सद्गुणों की खान के रूप से प्रसिद्धि है, वह भी मुकुलितावस्था में जो सौगन्ध्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणों को दोषों की तरह गले में निगलकर अन्दर छिपाता है और कुरूप काँटों को बाहर सबको दिखलाता है, यह संगति की बलिहारी है । यदि मूर्ख की संगति न होती तो ऐसा क्यों करता ? [यहाँ से लेकर प्रायः सभी श्लोक अन्योक्तिमय हैं] ॥१८॥

जो गुण कमल के गुणों के (तन्तुओं के) तुल्य छेद वाले (सदोष), कच्चे, ऐसे सूक्ष्म कि मालूम भी न पड़ें, छिपाये हुए, जड़तापूर्ण, थोड़े और तुच्छ हों उनकी सर्वथा उपेक्षा करना ही ठीक है । वे कदापि उपादेय नहीं हैं अर्थात् जो कमल के गुणशब्द से पुकारे जाने वाले तन्तु हैं उनके तुल्य दोष-युक्त गुणों की सर्वत्र उपेक्षा ही करनी चाहिये ॥१९॥

सुगन्धि, सुन्दरता आदि से शोभित होने वाले बड़े-बड़े उत्कृष्ट कमलों के (यशरूपी सुगन्धि से अपने कुल को प्रख्यात करने वाले महान् पुरुषों के) प्रभाव का बखान करने की सामर्थ्य शेषनाग में भी नहीं है ॥२०॥

हरिवक्षोगता लक्ष्मीरपि शोभार्थमेव यत् ।
बिभर्ति कमलं हस्ते काऽन्या शंसाऽधिका भवेत् ॥२१॥

सितासिताभ्यां रूपाभ्यां कमलोत्पलखण्डयोः ।
वैसादृश्यं भवेत किन्तु समा जडजडैतयोः ॥२२॥

साम्यं न फुल्लविपिनेन सरःसु याति
व्योम्ना न तारकयुतेन न चेन्दुवृन्दैः ।
नृत्यद्वधूविहसिताननशोभयैति
फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता श्रीः ॥२३॥

येषां पुष्पलतास्वादैरनन्यमनसां गतम् ।
भृङ्गाणामायुरायामि त एव सुभगोत्तमाः ॥२४॥

चूतचारुचमत्कारं चञ्चरीकाश्चरन्ति ये ।
त एव सचमत्कारा इतरे जातिपूरणम् ॥२५॥

मत्ता मधुमदामोदैः पुष्करेषु रणन्ति ये ।

हे भगवान ! श्रीहरि के वक्षःस्थल में निवास करने वाली सकल सौन्दर्यों की अधिष्ठात्रीदेवी लक्ष्मीजी जिस कमल को शोभा के लिए ही अपने हाथों में धारण करती हैं, उसकी इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा क्या हो सकती है ॥२१॥

कमल और नीलकमल की केवल सफेद और काले रूपों से ही परस्पर विलक्षणता है, किन्तु इनकी जल से जड़ अचेतन चन्द्रसूर्यद्वेषरूप वृत्ति समान है ॥२२॥

तालाबों में खिले हुए कमलों की नवोदित शोभा की फूले हुए पारिजात वन से तुलना नहीं की जा सकती, तारों से भरे हुए आकाश से और अनेक चन्द्रबिम्बों से भी उनकी बराबरी नहीं हो सकती है। यदि उसकी बराबरी हो सकती, तो नाच रही बहू के चाँद के टुकड़े ऐसे मन्द मुस्कानयुक्त मुख शोभा से ही हो सकती है ॥२३॥

फूल और लताओं को छोड़कर अन्यत्र कभी भूलकर भी मन न लगाने वाले जिन भँवरों की लम्बी आयु फूल और लताओं का ही आस्वाद लेने में बीती, सचमुच वे ही सौभाग्यशालियों में श्रेष्ठ हैं। या 'सुभग उत्तमा' दो पृथक् पद भी हो सकते हैं। वैसी स्थिति में हे सुभग, वे भृङ्ग ही उत्तम हैं, ऐसा अर्थ है ॥२४॥

जो भ्रमर और कोयल आम की सुगन्धि, मकरन्द और पल्लवों का कषाय रस चखते हैं, उन्हीं का जीवन चमत्कारपूर्ण है, औरों का तो केवल आयु बिताना है या योनि भोगनामात्र है ॥२५॥

तुष्टानामितरस्वादैर्भ्रमराणां हसन्ति ते ॥२६॥

येनोषितं विरुतमुल्लसितं प्रसुप्तं
पद्मोदरेषु शशिकोटरकोमलेषु ।
भृङ्गः स एष शिशिरे विरसेषु भानं
कष्टं करिष्यति कथं तरुपुष्पकेषु ॥२७॥

अफुल्लमल्लिकोद्दामसुकुलोपरि षट्पदः ।
दृश्यते कालरुद्रेण शूले प्रोत इवाऽन्धकः ॥२८॥

आस्वादयन् विविधपुष्पमधूनि भृङ्ग
नित्यं भ्रमन्सकलशैललतागृहेषु ।
नाद्याऽपि तुष्यसि किमङ्ग दुराशयोऽसि
मन्ये न सारमुपगच्छसि वा वनेभ्यः ॥२९॥

कमलकुलकवलकोविद
गच्छ सरो मधुप मा रूढम् ।
बदरदरीषु विदीर्णं
देहं कुरु कण्टकक्रकचैः ॥३०॥

जो भ्रमर कमलमधुमद से उत्पन्न आनन्द से मस्त होकर कमलों पर गूंजते हैं, वे मानो अन्य फूलों के आस्वादों से सन्तुष्ट भँवरों का परिहास करते हैं अर्थात् पद्मों के मकरन्द को चखने वाले भ्रमर पद्म से अतिरिक्त वनों में आसक्त भ्रमरों का मनो परिहास करते हैं ॥२६॥

जो भ्रमर शरदादि ऋतुओं में चन्द्रमा के कोटर के तुल्य कोमल (सुन्दरतम) कमलों के अन्दर रहा, खेला, सोया और गूंजा, हा खेद है, वही यह बेचारा भ्रमर शिशिर ऋतु के आने पर अन्य नीरस वृक्षों से कैसे प्रीति करेगा ॥२७॥

मालती की कहीं से भी तनिक भी न फूली हुई शूलसदृश कठोर कली के ऊपर बैठा हुआ भ्रम कालरुद्र द्वारा शूल पर पिरोया हुआ अन्धकासुर-सा मालूम पड़ता है ॥२८॥

अरे भ्रमर ! तुम भाँति-भाँति के फूलों के रस चखते हुए सब पर्वतों के निकुञ्जों में नित्य चक्कर लगाते हो, आजतक तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ। पुष्परसलम्पट होने के कारण सचमुच तुम्हारा आशय शुद्ध नहीं है। मालूम पड़ता है, आजतक तुम्हें वनों से सार प्राप्त नहीं हुआ। यदि सार वस्तु तुम्हें मिल जाती, तो तुममे असन्तोष न रहता और तुम्हारे इस तरह भटकने की भी संभावना न रहती ॥२९॥

कमल वनों में मकरन्द चखने में प्रवीण हे भ्रमर ! तुम कमलों से भरे सरोवर में जाओ मकरन्द से परिपुष्ट अपने शरीर को बेरों की झाड़ियों में काँटेरूपी आरों से मत चीरो ॥३०॥

अतसीकुसुमे कुवलय
दलवलये विकसिते च तापिच्छे।
परभागमेहि मधुना
तासु विसदृशीव पण्डितः पुरुषः ॥३१॥
पश्यैषा नाभिनलिनीकेसरैः पालिता श्रिया।
हंसमालामलावल्ली सामगायनकूजिता ॥३२॥
दोलाकमलनीलस्थां दृष्ट्वा खे प्रतिबिम्बिताम्।
हंसो हंसीमनुसरन् मण्डले नेह चेतति ॥३३॥
मा भूत्कस्यचिदेवैषा राजन् व्यसनिता भृशम्।
पश्यैतां बिम्बितां हंसो हंसीमनुसरन्मृतः ॥३४॥
हेलया राजहंसेन यत्कृतं कलकूजितम्।
न तद्वर्षशतेनाऽपि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥३५॥

जैसे पण्डित पुरुष अपने अनुरूप प्रभु, समाज आदि न मिलने पर विद्वान् प्रभु की प्राप्ति के लिए अयोग्य (मूर्ख) प्रभु के समीप भी बस जाता है, किन्तु किरातों के बीच में वास नहीं करता वैसे ही हे भ्रमर, जिन ऋतुओं में (हेमन्त, शिशिर आदि में) तुम्हें कमल नहीं मिलते उन ऋतुओं में भी अपने रंग से मिलते-जुलते अलसी के फूलों में, नील कमल समूह में तथा फूले हुए तमाल में यथावसर प्राप्त हुए मधु से अपनी गुजर करो, जीवन निर्वाह करो ॥३१॥

हे राजन् ! देखें सरोवरों की नाभिरूप नलिनियाँ के उपभुक्त केसरों से उनके समान कान्तिवाली शोभा से पालित यह हंस श्रेणिरूपी सुन्दर लता है, इसकी ध्वनि सामगायन के समान गंभीर है ॥३२॥

हे राजन् ! देखें आकाश में हंसी का पीछा कर रहा हंस इस सरोवर के मध्य में प्रतिबिम्बित, झूले के सदृश कमलरूप घोसले में स्थित हंसी को देखकर उसके गिरने और डूबने की आशङ्का से मूर्च्छित हो गया है ॥३३॥

हे राजन् ! अत्यन्त स्त्रीलम्पटता किसी की भी न हो। देखिये न, तालाब में प्रतिबिम्बित इस हंसी का पीछा कर रहे बेचारे हंस ने प्राण गंवा दिये ॥३४॥

हे राजन् ! राजहंस ने अनायास जो मनोमोहक मधुर कूजन (ध्वनि) किया, उसे बगुला पूरे सौ वर्षों में भी बोलना नहीं सीख सकता ॥३५॥

राजहंस और हंस का जन्मस्थान, आकृति, जाति, चेष्टा, आहार, नाम और रंग सब कुछ समान है। फिर भी साधारण हंस और राजहंस में महान् अन्तर है, महान् अन्तर है। राजहंस सुवर्ण पद्मों में विचरते हैं, समुद्र में

समानेष्वाकराकारजातिचेष्टाशनादिषु।
हंसस्य राजहंसस्य दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥३६॥
शुक्लपक्षस्थितो व्योम्नि कुमुदाकरभासकः।
आह्लादयति चेतांसि हंसचन्द्र इवोत्थितः ॥३७॥
उन्नालनलिनीनालकदलीस्तम्भसंकुले।
वने विहरतां लक्ष्मीं हंसानामेति कः खगः ॥३८॥
तरङ्गचलयालोलसीकरोत्करहारिणी।
कुमुदोत्पलकह्लारपुष्पसंभारसुन्दरी ॥३९॥
भृङ्गालकलता रणत्सारसनूपुरा।
वर्तुलावर्तनाभीका चलद्वीचिविलोचना ॥४०॥
प्रतीक्षमाणा दयितं रसपूरकरं धरम्।
नारीव सरसी चारुहंसकाभ्यां विराजते ॥४१॥

गोता मारकर मोती चरते हैं एवं जहाँ पर किसी भी पक्षी की पहुँच नहीं है ऐसे आकाश के उपरी भाग में उड़ते हैं, साधारण हंसों में यह बात कहाँ है ? यह भाव है ॥३६॥

सफेद डैनों से आकाश में स्थित तथा कुमुदाकर की शोभा बढ़ाने वाला हंस उदित हुए चन्द्रमा के समान लोगों के चित्तों को आह्लादित करता है (चन्द्रमा भी शुक्लपक्ष में आकाश में स्थित होता है तथा कुमुदाकर को खिलाता है, यों दोनों का साम्य है) ॥३७॥

ऊपर को उठे हुए नालदण्डवाली नलिनियों के नालरूपी कदलीस्तम्भों से भरे हुए कमलवन में विहार कर रहे हंसों की शोभा को कौन दूसरा पक्षी पा सकता है ? यह सरलार्थ है। योग से जिसके नाल ऊपर को की गई है ऐसी हृदय कमलरूपी नलिनी के—प्राणायामाभ्यास से विकासवश कदलीस्तम्बवत् स्तम्ब से व्याप्त हृदय-कमलत्रयरूप वन में त्रिविधतापहारी निरतिशय आनन्द के आस्वाद से सदा विहार कर रहे यतियों की जीवन्मुक्ति सुखसाम्राज्यरूप सम्पत्ति को कौन देवता पा सकता है ? यह गूढार्थ है ॥३८॥

यह तालाब जैसे नारी नूपुरों से विराजमान होती है वैसे ही हंस के बच्चों से सुशोभित हो रही है। तरङ्ग ही इसके कंकण हैं, चञ्चल जलकणराशि ही इसका हार है, कुइं, नीलकमल, लालकमल आदि फूलों के संभार से यह सुन्दर है, भँवर ही इसके चञ्चल कुन्तल हैं, कूज रहे सारस ही नूपुर हैं, गोल भँवर ही नाभि है तथा चञ्चल तरङ्ग ही नेत्र है, यह मनोरथ को पूर्ण करने वाले जल के प्रवाह को बढ़ाने वाले पर्वतरूप पति को देख रही है ॥३९-४१॥

हे हंस मद्गुबककाकशराद्धसारे
मा त्वं सरस्यविरतं कुरु वासमेकः।
आपद्यपीह समशीलवयोवचोभिः
श्रेयःफला भवति संगतिरात्मवर्गैः ॥४२॥
पादाक्रान्तमहेभमस्तकतटः पद्माकरैकालयः
कह्लारोत्पलकुन्दचम्पकलतासंभोगसौभाग्यवान्।
भृङ्गोऽप्येष विधेर्वशेन शिशिरे लोष्टं तृणं स्वादयन्
शीते शुष्कबकत्यहो नु विपदा दैन्ये मनो दीयते ॥४३॥

पुत्रस्येह दलोदरे द्युतितरत्तारं चिरं संस्मृतं
हंसस्यांऽसविनुन्ननालगहने संचारिणा भो मया।
शुक्लासारमिवाऽब्जिनो विकिरति स्वं वारिबिन्दूत्करं
मध्याह्ने शिशिरं विकासि सहसा मूर्ध्नि स्फुटं दृश्यताम्॥४४
व्योम्नीन्दोरिव सौम्यवारिणि चिरं निःशब्दकं सर्पतो
हंसस्यांसहताब्जनालवलनानिष्कम्पटङ्कक्षतैः ।
गङ्गावारिवदत्र पुष्करपुटाद्ब्राह्मादिवाऽस्योपरि
भ्रष्टा ये जलबिन्दवो जलचरा हृष्टाः पिबन्त्याशु तान्॥४५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्यो० विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥११७॥

हे हंस ! जलकाक, बगुला, कौआ आदि हिंसकों से भरे तालाव में सदा अकेले मत रहो, क्योंकि इस आपत्ति में भी समान शील, अवस्था और बोली वाले अपने वर्ग के साथ संगति से अच्छा ही फल होता है ॥४२॥

अपने पैरों से गजराज के मस्तक पर आक्रमण करने वाला एकमात्र पद्माकर में रहने वाला तथा रक्त-कमल, नीलकमल, कुन्द और चम्पकलताओं के भोगरूप सौभाग्य से युक्त यह भँवर भी भाग्यवश हेमन्त और शिशिर ऋतु में ढेले और पत्थर चाटता हुआ स्थल में रहने वाले बगुले के तुल्य आचरण करता है। अहा ! विपत्ति के समय महान् पुरुष भी दीनता में मन लगाते हैं, दीन-हीन बन जाते हैं ॥४३॥

हे राजन् ! मैंने हंस के परों से चीरे गये कमल वन में प्रविष्ट होकर देदीप्यमान कमल के अन्दर बैठे हुए हंस के बच्चे का अपने पिता के प्रति निकल रही जो जोर की चीत्कार थी, उसका स्मरण किया। उसका वह वचन था, हे तात ! कमलिनी जैसे सफेद मोती के तुल्य जलबिन्दुओं की वृष्टि करती है वैसे ही आकाश जल-बिन्दुओं की राशि बरसाता है, ऊपर सिर पर दोपहर के समय में भी खूब जवानी को पहुँचे हुए बर्फ को प्रत्यक्ष देखिये ॥४४॥

हे राजन् ! इस सरोवर में, आकाश में चन्द्रमा की तरह प्रसन्न (स्वच्छ) जल में चुपचाप चिरकाल तक तैर रहे हंस के परों से प्रताडित कमलनालों के संबलनरूप निष्कम्प टङ्काघातों से ब्रह्मा के आसनभूत कमलपुट के समान कमलपुट से जो जलबिन्दु इसके ऊपर गिरे, उन्हें मछली आदि जलचर बड़ी प्रसन्नता से गङ्गाजल के तुल्य शीघ्र पीते हैं ॥४५॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में पद्मभ्रमरहंसवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सतरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११७॥

११८

सहचरसहचर्यः क्रमेणोचुः
निर्गुणस्य बकस्याऽस्य गुण एकोऽस्ति दृश्यताम्।
यत्प्रावृषं स्मरयति प्रावृट्प्रावृडिति ब्रुवन् ॥१॥

बक हंस इवाऽऽभासि सरःस्थो मद्गुसौहृदम्।
नृशंसत्वं च वाणीं च त्यक्त्वा हंसो भव स्फुटम् ॥२॥

११८

सहचर और सहचरियों ने क्रम से कहा—देखिये, यह बक यद्यपि प्रायः निर्गुण है तथापि इसमें एक गुण है, वह यह कि प्रावृट्-प्रावृट् कहता हुआ यह वर्षा ऋतु का स्मरण कराता है ॥१॥

अरे बगुले ! तालाब में बैठा हुआ तू रंग से (सफेद परों से) हंस-सा मालूम पड़ता है। कौओं के साथ मित्रता, क्रूरता (मछलियों पर निर्दय प्रहार करना) और कटु वाणी का त्याग कर तू सच (असली) हंस बन जा ॥२॥

गम्भीरं वारिगर्भं प्रसृतजलचरं ये प्रविश्य प्रविश्य
प्राङ्मत्स्यान्प्रोतचञ्च्वश्चतुरतर परं जग्धवन्तो विदग्धाः
ते केनाऽप्यद्य दिष्ट्या मृततिमिगमिताःकालयुक्ते महिम्नि
नाऽऽक्रामन्ति क्रमस्थाः सुहरमपिपुरःपङ्गवोमद्गवोऽमी३

एवं विहन्यते लोकः स्वार्थेनेति प्रदर्शयन्।
मद्गुर्मद्गुरुतां यात इत्येवं स्तौति दुर्जनः ।।४।।

उत्कन्धरो विततनिर्मलचारुपक्षो
हंसोऽयमत्र नभसीति जनैः प्रतीतः।
गृह्णाति पल्वलजलाच्छफरीं यदाऽसौ
ज्ञातस्तदा खलु बकोऽयमितीह लोकैः ।।५।।

अतिवहुकालविलोला-
नवलोक्य बकांस्तपोदम्भान्।
अत्रैवाऽतिमिरस्थां-
स्तटवनिता विस्मिता धूर्तान् ।।६।।

हे चतुरश्रेष्ठ ! मछलियों को मारने में अत्यन्त प्रवीण जिन जलकौओं ने जल-जीवों से परिपूर्ण गम्भीर जल के अन्दर बार-बार प्रवेश कर पहले (निगलने के समय) मछलियों से चोंचें भर कर मछलियाँ खाई, वे ये कौए जिनके गले में भाग्यवश किसी कारण मरे हुए 'तिमि' जाति की मछलियों के भक्षण से रोग उत्पन्न हो गया है, अत्यन्त क्षुधासमय में आक्रमण के समय में तीर में कतार बाँधकर स्थित हुए भी, पङ्गु होने के कारण, अपने सामने तट पर आई हुई, अनायास पकड़ में आने योग्य मछलियों पर आक्रमण नहीं करते, यह बड़े आश्चर्य की बात है ।।३।।

इसी तरह जलकौए के समान ही अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए लोगों का गला घोटना उचित है, इस बात को दर्शाता हुआ जल कौआ मेरा गुरु बन गया है, यों दुष्ट जन कौए की प्रशंसा करते हैं दुर्जनों ने लोक हिंसा कौए से सीखता है ।।४।।

आकाश में यह सामने खड़ा बगुला, जिसने सुन्दर गर्दन ऊँची कर रक्खी है और सफेद सुन्दर पर फैला रक्खे हैं, हंस ही है यों लोगों द्वारा निर्णीत हुआ, जब यह भूमि में कीचड़ से भरी छोटी तलैया में मछलियाँ पकड़ता है, तब लोग यह बगुला है, ऐसा निश्चय करते हैं ।।५।।

कीचड़ से भरी छोटी-सी तलैया में मछलियों को पकड़ने के लिये चिरकाल तक चञ्चलता दिखला चुके इसी सरोवर में तपका ढोंग बाँधे हुए बगुलों को देखकर

अत्र जले हिमहेलाः
पश्यैता अपहरन्ति सितपद्मान्।
इच्छसि ता अनुगन्तुं
नाऽहं ते वल्लभा व्रजामीति ।।७।।

कुपितां तामनुनेतुं
यत्नपरः पान्थ एष पथि कान्ताम्।
अवलोकय नरनायक
कुसुमलताकुहरकेलितीरवने ।।८।।

इति हावभावविलसित-
विवलनकोपार्धदृष्टिहसितानि ।
कुर्वाणा वरवनिता
कथयति ते दृश्यतां राजन् ।।९।।

बकमद्गुशरारूणां नित्यमेकौकसामपि।
संकरोऽस्ति मिथो बुद्धेर्न मूर्खविदुषामिव ।।१०।।

धूर्तों के चरित्र को भली-भाँति जानने वाली कोई तीर प्रदेश स्थित महिला बगुलों के समान ही अन्यत्र चिरकाल तक विषयलम्पटतावश चञ्चलता वाले यहीं पर तपस्या का ढोंग बाँधने वाले रात्रि को प्रतीक्षा कर रहे धूर्तों को देखकर आश्चर्य में पड़ गई ।।६।।

हे प्रियतम ! इस जल में शीत को कुछ भी न गिनने वाली ग्रामीण स्त्रियों को देखो, ये सफेद कमलों को ले जाती हैं। तुम इनका अनुगमन करना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, अतएव मैं जाती हूँ ।।७।।

हे नरनाथ ! पूर्व वचन कहने वाली रूठी हुई अपनी प्रिया को मनाने के लिए यह बटोही मार्ग के पुष्पलता-निकुञ्जों से भरे क्रीडातटवन में बड़े जतन से अपनी प्रेयसी का अनुनय विनय करता है, कृपया आप देखें ।।८।।

हे राघव ! हाव, भाव, विलास, शरीर को मटकाना, कोप, कटाक्ष, और हास कर रही वेश्या उक्त पथिक जोड़े का चरित्र कहती है. कृपया आप देखें अर्थात् कोई पार्श्वचर इसी पथिक जोड़े के (स्त्री-पुरुषों के) चरित्र को ढिठाई के साथ कह रही वेश्या को राजा के लिये दिखलाता है ।।९।।

. बगुला, जलकाक और दूसरों पर घात करने वाले मछुए आदि नित्य एक ही जगह रहते हैं, फिर भी मूर्ख और विद्वानों की बुद्धि के समान इनकी बुद्धि का आपस में मेल नहीं है ।।१०।।

चञ्च्वग्रे खञ्जरीटस्य कीटः किटिकिटायते।
दौर्भाग्यस्य पुराणस्य पताकेवोच्छ्रितोन्नते ॥११॥

तारं तीरतरौ स रौति तरलो यावद्बकः प्रोल्लसं-
स्तावत्पल्वलगोष्पदेऽम्बुकलिले यावद्बलाद्देहकम्।
मज्जन्त्या प्रियवक्षसीव निपुणं त्रातं शफर्या भया-
द्धृद्भङ्गेन महापदीह हि मृतेर्नान्यद्भवेत्सौख्यदम् ॥१२॥

बकाजगरमद्गूनां हृदि या प्राणिनां धृतिः।
अचर्विततनिगीर्णानां मन्ये निद्रोपमैव सा ॥१३॥

आसन्नमद्गुबकगृध्रविडालसर्प-
दृष्ट्या भयं भवति यत्सलिलाशयानाम्।
तस्याऽग्रतस्तृणमिवाऽशनिपातभङ्गो
जातिस्मरेण विदुषोक्तमदः पुरा मे ॥१४॥

इह सरोवरतीरतरोस्तले
कुसुमशालिनि मुग्धमृगान्पुरः।
समवलोकय लोकमलौ बला-
त्समवकीर्णनवोत्पलकेतकान् ॥१५॥

बर्ही प्रोन्नतचित्तत्वात्तोयमिन्द्रं प्रयाचते।
स पूरयति तेनाऽस्य महात्मा निखिलां महीम् ॥१६॥

मेघाननुसरन्त्येते मयूरास्तनया इव।
मलिनो मलिनस्यैव पुत्र इत्यनुमीयते ॥१७॥

मृगानालोक्य पथिकश्चिन्तयन्दयितेक्षणे।
पुरःस्थेषु पदार्थेषु यन्त्रपुत्रिकतां यतः ॥१८॥

शिखी वार्यपि नाऽऽदत्ते भूमेर्भुङ्क्ते बलादहिम्।
दौरात्म्यं तन्न जाने किं सर्पस्य शिखिनोऽथवा ॥१९॥

सज्जनाशयनीकाशं त्यक्त्वा बर्ही महत्सरः।
पिबत्यम्ब्वभ्रनिष्ठ्यूतं मन्ये तन्नतिभीतितः ॥२०॥

लसत्कलापजलदाः पश्य नृत्यन्ति बर्हिणः।
धुन्वानाः पिच्छाकान्तीन्दुं प्रावृषः पोतका इव ॥२१॥

खञ्जन की चोंच में फतींगा पर फड़फड़ाता है, काँपता है। उसका पर फड़फड़ाना क्यों है मानो वह पूर्व जन्म सञ्चित पाप की ऊँची जगह में पताका है ॥११॥

छोटी तलैया के तट के वृक्षपर उल्लास के साथ वह चपल बगुला जब जोर से बोलता है तब थाड़े से जल से गीले तलैयारूपी गोखुर में पूर्णशक्ति से प्रेमपूर्वक प्रियतम की छाती में जैसे—भय से चिपट रही बेचारी मछली ने मरकर भी अपने शरीर की रक्षा की। इस संसार में महा आपत्ति प्राप्त होने पर हृदय फटने से हुई मृत्यु से बढ़कर दूसरा सुखप्रद शरण नहीं है। मरकर भी जो उसने अपने शरीर की रक्षा की, वह भी उचित ही किया ॥१२॥

बगुला, अजगर और जलकाक के पेट में बिना चबाये निगले हुये मछली आदि प्राणियों की जो चित्तस्थिति है, मैं समझता हूँ वह गहरी नींद-सी या मूर्छा-सी होती होगी ॥१३॥

जलचर मछली आदि जीवों को समीप जलकौवा, बगुला, चील, बिलार, साँप देखने से जो भय होता है उस भय के आगे वज्रपात से हुआ भय तृण के समान नगण्य है। यह रहस्य बात जाति स्मरण से मछली आदि जलजीवों की योनियों के दुःख का स्मरण करने वाले विद्वान् पुरुषों द्वारा अनुभूत है, इसे असत्य नहीं समझना चाहिये ॥१४॥

हे राजन्! फूलों की राशि से सुशोभित यहाँ सरोवर के तट के पेड़ के नीचे सामने भ्रमर रहने पर नयन और कानों की शोभा नूतन नील कमल और केतक बिखेर रहे भोले-भाले सुन्दर मृगों को प्रिया को दिखलाइये ॥१५॥

मोर क्षुद्राशय न होने के कारण इन्द्र से जल माँगता है, अत्यन्त उदार इन्द्र, अक्षुद्रचित्तत्वरूप गुण से सन्तुष्ट होकर मोर को प्रसन्नता के लिये सारी पृथ्वी को जल से पूर्ण कर देता है ॥१६॥

ये मोर बछड़े की तरह मेघों के पीछे-पीछे चलते हैं, मलिन-मलिन का ही बच्चा है, ऐसा अनुमान होता है ॥१७॥

पथिक मृगों को देखकर सामने की वस्तुओं में प्रिया के नेत्रों का चिन्तन करता हुआ कल से चलने वाली गुड़िया-सा बन गया है ॥१८॥

मोर भूमिका तक ग्रहण नहीं करता, किन्तु साँपों को जबरदस्ती खा डालता है, यह सर्प का दौरात्म्य है अथवा मोर की दुष्टता है, यह मै नहीं जानता ॥१९॥

मोर सज्जनों के हृदय के समान स्वच्छ महान् सरोवर को छोड़कर मेघ द्वारा चूका हुआ जल पीता है, मालूम पड़ता है उसका मेघ का जलपान सरोवर को नमस्कार करना पड़ेगा; इस भय से है ॥२०॥

हे राजन्! ये मयूर, जिनके पररूपी मेघ चमक रहे हैं जो पिच्छ (परों के चन्द्रक) रूपी चन्द्रमा को कँपा रहे हैं, वर्षाऋतु के बच्चों की तरह हैं ॥२१॥

वसने वनवातविसारिणां
चपलचन्द्रकचारुतरङ्गिणाम् ।
इह पयोनिधिरेः कलापिनां
विसृतमुक्ततयेव विलासनः ॥२२॥
चर तृणानि पिबाऽम्बु वनावनौ
कलय विश्रमणं कदलीवने।
चकितचातक पावकदूषिता
नहि सुखाय भवत्यतिमानिता ॥२३॥
नाऽयं मयूर मकरालयवारिपूर-
पूर्णोदरो जलधरोऽम्बरमारुरुक्षुः।
दावाग्निदग्धवनपादपकोटराग्र-
धूमावलीवलय उत्थित एष शैलात् ॥२४॥
येनाऽब्देन शरद्दिवावपि शिखी संतर्पितो वारिभि-
र्नो वर्षास्वपि पूरयेद्यदि सरस्तद्बाललोकोचितम्।
आरब्धं समवेक्ष्य सज्जनजनो हासेन दुःस्थो भवे-
द्दुर्हीत्यात्मतृषैव नेतुमखिलं कालं समभ्युद्यतः ॥२५॥

यहाँ पर मोतियों को देने के कारण सागर ही सुन्दर वन में वन के वायु से फैलने वाले तथा चञ्चल चन्द्रक रूपी सुन्दर तरङ्गों से युक्त मयूरों को नचाने वाला होता है, मेघ नचाने वाला नहीं है, देखिये ॥२२॥

हे चकित चातक ! तुम्हारा वन भूमि में गर्मी के दिन अग्नि से दूषित (सदा अग्नि की संभावना वाले) सूखे पेड़ के खोखले में निवास के आग्रह से सूचित अति अभिमानिता सुख के लिए नहीं है। तुम केले के वन के समीपवर्ती शीतल हरे तिनकों को चरो, नहर आदि में जल पीओ एवं केले के वन में विश्राम लो ॥२३॥

हे मयूर ! यह सागर के जल से भरा हुआ अतः आकाश में चढ़ने की इच्छा वाला मेघ नहीं है, यह तो पर्वत से उठी हुई वनाग्नि से जले हुए वनवृक्षों के खोखले अग्नि की धूमराशि है ॥२४॥

जिस मेघ ने शरद् ऋतु में भी मयूर को जलधाराओं से तृप्त किया वह वर्षा ऋतु में भी तालाब को न भरे ऐसा उसका जो चरित्र है, वह बालजनोचित है, उस महान् के योग्य नहीं है। उदारता के समय में भी की गई इस अनुदारता को देखकर पामरों द्वारा किये गये उपहास से वह सज्जन दुःखी होगा, यह सोचकर मयूर सदा के लिए अपनी प्यास ही न बुझाने के लिए तैयार हो गया ॥२५॥

शङ्का—तो क्या मयूर अनुचितकारी है ?

स्फटिकविमलं पीत्वा तोयं घनोदरनिर्गतं
पिबति न पुनर्मार्गे क्षुभ्यंस्तृषाऽपि शिखी जलम्।
स्फुरति च घनं स्मृत्वा स्मृत्वा न चाऽपि विपद्यते
गुणवति जने बद्धाशानां श्रमोऽपि सुखावहः ॥२६॥
इहाऽतिवाहयन्त्येते मार्गदौस्थ्यं घनागमे।
कथाभिः पथिकाः प्रायो विमूढा जीवितं यथा ॥२७॥
पश्याऽत्र नाथ सरसः
कमलोत्पलकुमुदबिसमृणालानाम् ।
कह्लारपत्रपयसां
भारानादाय पालिकाश्चलिताः ॥२८॥
किमिदं न यथेति ततः
पृष्टाभिस्ताभिरुक्तमेतस्य ।
व्यसनज्वरतप्तायाः
पथिक वयं बालसख्य इति ॥२९॥

समा० नहीं, मेघ के पेट से निकला हुआ, स्फटिकसा स्वच्छ जल पीकर मोर प्यास से पीड़ित होकर भी फिर मार्ग में गिरा हुआ कीचड़ वाला जल नहीं पीता।

शङ्का—तब तो वह मारे प्यास के मर जाता होगा ?

समा० नहीं, नहीं, वह मेघ का स्मरण कर हर्षित होता है और मरता भी नहीं। क्योंकि गुणवान् पुरुष पर आशा बांधे हुए लोगों का परिश्रम भी सुखकारी होता है, दुःखद नहीं होता ॥२६॥

यहाँ पर ये पथिक लोग बरसात में कथा-वार्ता के आलाप द्वारा मार्ग में होने वाली शोचनीय दशा को (वियोग को) वैसे ही बिताते हैं जैसे कि प्रायः मूर्खजन अपना जन्म यापन करते हैं। कान्ता विरही पथिकों का वर्षा ऋतु में कहीं पर कथालाप आदि से कष्टपूर्वक वैसे ही समययापन होता है जैसे कि आत्मज्ञान शून्य मूर्खों का समयापन होता है, यह भाव है ॥२७॥

हे नाथ ! देखें यहाँ पर तालाब से कमल, नील-कमल, कुईं, सफेद कमल, भसींड, कमलनाल, रक्तकमल, के पत्ते और जल के बोझ को लेकर युवतियाँ चलीं ॥२८॥

इसके बाद इन कमल आदि के बोझों को क्यों ले जाती हो, यह पूछने पर उन्होंने पूछने वाले को मुझको यह उत्तर दिया—हे पथिक ! हम लोग वियोगरूपी दुःख के ज्वर से सन्तप्त नायिका की बालसखियाँ हैं और उसके उपचार के लिए कमल बोझों को ले जाती हैं ॥२९॥

अथ रागरक्तहृदयाः
स्तनभरवितता विलासललिताङ्ग्यः ।
पथिकानां स्मरणपथं
भूयोऽप्यनयन्प्रिया स्वगेहस्थाः ॥३०॥
सा नूनं मम कान्ता
दृष्ट्वा सुस्निग्धघनतमःश्यामम् ।
गगनं च शून्यगहनं
प्रलपति भुवि पतति विस्खलति ॥३१॥
भृङ्गावलीकुवलयावलिताब्जपात्र-
सम्प्रर्यमाणनलिनीमधुपानमत्तः ।
हा वाति तीरतरुपल्लवलास्यलब्ध-
संमुग्धशब्दगणगीतगुणो नभस्वान् ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० हरिणमयूरकमुग्धादिवर्णनं नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥११८॥

अनन्तर प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्तनों के भार से नत (झुकी हुई) तथा विविध हावभावों से मनोहर अङ्गोंवाली वे ललनाएँ देख रहे पथिकों को उनके घर की प्रियाओं का बार-बार स्मरण कराती हैं ॥३०॥

वह मेरी प्रिया जल से भरे मेघरूपी अन्धकार से काले आकाश को चिकने तथा मेघ और अन्धकार के समान काले शून्यवन को देखकर प्रलाप करती होगी, भूमिपर गिरती होगी तथा चलते-चलते ठोकर खाती होगी ॥३१॥

हाय, भ्रमर श्रेणी तथा नीलकमलों से परिवेष्टित कमलरूप पानपात्र से उडेले जा रहे कमलिनी के मधु को पीने से मस्त हुआ और तट भूमिपर उगे हुए वृक्ष, लता आदि के पल्लवों के नृत्य से प्राप्त हुई मधुर गंभीर शब्द राशि से प्रख्यापित शीतलता, मृदुलता, सुगन्धि आदि गुणों से पूर्ण वायु बहता है ।.३२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में हरिणमयूरकमुग्धादिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११८ ॥

११९

सहचरा ऊचुः

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके ।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥१॥
एकत्र शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तम् ।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥२॥
अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवाऽस्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥३॥
आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः ।
विद्युल्लताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥४॥

११९

सहचरों ने कहा—हे राजन् ! मन्दर की झाड़ी में यह पथिक चिरकाल के पश्चात् प्राप्त हुई अपनी प्रिया के आगे भूतपूर्व अपनी विरह-कथा कहता है ॥१॥

हे प्रिये ! तुम्हारे वियोग की अवस्था में मेरी एक दिन हुई आश्चर्यपूर्ण दुर्घटना को सुनो । तुम्हारे समीप अपना समाचार भेजने के लिये दूत का विचार करते-करते विचारमग्न हुए मैंने यह कहा ॥२॥

इस महाप्रलयकाल के तुल्य वियोग में (विरहरूप महती आपत्ति में) यहाँ पर स्थित मुझे समाचार पहुँचाने द्वारा उससे (मेरी प्रिया से) संमानित करने के लिये जो मेरे घर जाय ऐसा दयालु दूत कौन होगा ? जो दूसरे के दुःख की निवृत्ति के लिये प्रेम से सरलतापूर्वक सदा प्रयत्न करे, ऐसा पुरुष संसार में है ही नहीं ॥३॥

अहो ! स्मरण हुआ सामने पर्वत-शिखर पर यह दिखाई दे रहा मेघ प्रेम से सदा पर दुखः को निवृत्त करना आदि गुणों से युक्त है । यह कामदेव के घोड़े के समान शीघ्र मेरे घर जा सकता है । परोपकार में परायण यह बिजली की रेखा रूप विलासवती नायिका से वेष्टित हो स्थित है ॥४॥

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयाऽऽत्मानिलैः ॥५॥
चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने क्वाऽधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥६॥
इत्थं चिन्तापरवशमतेस्तन्वि सार्धं त्वयाऽसा
वन्तर्लीनप्रसरमनसः क्वाऽपि याता स्मृतिर्मे ।
संपन्नोऽहं परवशवपुः काष्ठकुड्योपमाङ्गो
भङ्गं सोढुं क इव विरहक्लेशजं नाम शक्तः ॥७॥
पश्चाज्जातः कलाकलरवः संतते पान्थसार्थे
दीनालापैर्व्यसनविधुरैरालपन्ते च मेघम् ।
कष्टं पान्थो मृत इति महारम्भसंपन्न हाहा-
शब्दः प्रोद्यत्पथिकवनितावित्मृतोरःप्रहारः ॥८॥

अरे भाई मेघ ! तुम्हारे गले में गुण है यानी तुम गुणवान हो । गुणशाली अपने योग्य इन्द्रधनुष को लेकर, हे सुन्दर आकाशमार्गचारी, तुम मेरी प्रिया के समीप जाकर जिनसे जल की बूंदें गिर रहीं हों ऐसे अपने वायुओं से पहले उसे ढाढस देना फिर मेरा सन्देश पहुँचाने के लिये धीरे-धीरे गर्जना, क्षणभर के लिये दया करना, कारण कि तुम्हारे गंभीर गर्जन को मेरे वियोग दुःख से अश्रुपूर्णमुखी बालकमल नाल के सदृश कोमल शरीर वाली कृशाङ्गी मेरी प्रिया सहने में असमर्थ है ॥५॥

हे मेघ ! उस प्रिया का चित्तरूपी तूलिका से हृदय-रूपी आकाश पर चित्र लिखकर मैंने आलिङ्गन किया, अभी ही न मालूम वह यहाँ से कहाँ चली गई ॥६॥

हे कृशाङ्गि ! इस तरह मेघ से कहकर तुम्हारी चिन्ता से पराधीन बुद्धिवाले मेरे मन का व्यापार भीतर ही भीतर लीन हो गया, अतएव तुम्हारे ही साथ मेरी स्मृति (पूर्वापर के अनुसन्धान की शक्ति) भी गुम हो गई तदुपरान्त स्मृतिनाश से मेरा शरीर बेकाबू हो गया और मेरे सब अवयव काष्ठलोष्ठ के समान निश्चेष्ट हो गये भला वियोग दुःख से उत्पन्न पराभव को कौन सह सकता है ॥७॥

तदनन्तर मेरी वैसी अवस्था देखकर एकत्र हुए जनसमूह में महा हाहाकार मचा और देखने के लिए आ रही पथिकमहिलाओं का भी छाती पीटना भूलकर अहा, बेचारा पथिक मर गया ऐसा कोलाहल हुआ । वहाँ पर किन्हीं ने दुखःभार से रुँधे हुए स्वर वाले दीनता

लोकेऽनाथं मृत इति ततो बाष्पसंपूरिताक्षं
शावीं पूजां विरचितवता संचयीकृत्य दारु ।
दग्धुं नीतोऽस्म्यतिभयमहं प्रज्वलच्चित्यनन्त-
प्रोद्यत्स्फोटस्फुटपटपटारावरौद्रं श्मशानम् ॥९॥
तत्राऽहं तैः कमलवदने बाष्पपूर्णाक्षिपक्ष्मै-
र्न्यस्तः कैश्चिच्चितिशयनके बद्धलोकालिलेखे ।
धूमोद्गाराविरलजटिले मस्तके मत्तमृत्यो-
श्चूडारत्नोत्तम इवक लामात्रदृश्येऽग्निहेम्नि ॥१०॥
अस्मिन्काले कुवलयलताकोमला धूमलेखा
नासारन्ध्रं मृदुगलबिलं मे प्रवृत्ता नियातुम् ।
उष्णा कृष्णा नकुलकलिता सत्वरं बालसर्पी
भूमे रन्ध्रं तनुमिव दराद्दैर्ध्यसंकोचकुब्जा ॥११॥
त्वत्संकल्पामृतकवचितो नाऽपविद्धस्तयाऽहं
कुन्तश्रेण्या दृढपतनया वज्रकायो यथाऽजः ।

पूर्ण आलापों से मेघ की निन्दा की ॥८॥

उसके पश्चात् पथिक लोगों ने यह मर गया है, ऐसा निश्चय कर आखों में आँसू भर का शवोचित पूजा (चन्दन, माला आदि से सजावट) की तथा लकड़ियाँ इकट्ठा कर मुझे जलाने के लिए जल रही चिताओं से निकल रहे पटपट-फटफट शब्दों से उद्वेजक तथा अत्यन्त भीषण श्मशान में ले गये ॥९॥

हे कमलाक्षि, वहाँ पर अश्रुपूर्ण नेत्रराजि वाले कुछ पथिकों ने मुझे चितारूपी शय्या पर रक्खा । वहाँ पर चारो ओर लोकपंक्तियों की तरह जिसकी पंक्ति बँधी थी, धूम-राशि के द्वार से निरन्तर जटायुक्त (व्याप्त), मदोन्मत्त मृत्यु के मस्तक पर उत्तम चूड़ामणि के सदृश प्रकाशमान अग्निरूप सोने के थोड़ी-बहुत दृश्य होने पर नीलकमललता के समान कोमल, गरम, काली, दीर्घता के संकोच से कुबड़ी, धूमपंक्ति कोमल गले के सूराख और नासिका रन्ध्र में, नकुल से भयभीत हुई नीलकमलनाल के समान कोमल, गरम, काली, दीर्घता के संकोच से छोटी बनी हुई बालसर्पिणी छोटे भूमि के छेद में जैसे प्रवेश करती है वैसे ही प्रवेश करने के लिए प्रवृत्त हुई ॥१०, ११॥

हे प्रिये ! मैं तुम्हारे आकाररूप अमृत से कवचित था, अतएव कवचावृत मुझको उक्त धूमपंक्ति ने वैसे ही पीड़ा नहीं पहुँचाई जैसे कि वज्राङ्ग ब्रह्माजी को जोर से छोड़ी गई मृत्यु के भालों की श्रेणी ने पीड़ित नहीं किया और हृदयरूपी गुहसमीपवर्तिनी कामनदीरूपा तुम में

त्वामासन्नां मदनसरितं हृद्गुहे गाहमानो
मर्मच्छेदेष्वपि विलसिता नाऽविदं वेदनास्ताः ॥१२॥

एतावन्तं समयमुचितं तन्वि सार्धं त्वयाऽन्त-
र्लीलालोलं हृदि चिरतरं तन्मयाऽत्राऽनुभूतम् ।
यस्मिन्दृष्टेऽमृतह्रद इवोन्मज्जनौघैर्यथाऽसौ
राज्याभोगो विशसनमिवाऽल्पाल्पमेवेति बुद्धिः ॥१३॥

सा लीला ते विलासा वचनमपि च तत्तत्स्मितं ते कटाक्षाः
सानन्दानन्तरस्य प्रसरसमुचिता दूरमण्येकभूषा ।
तानीहारावसारावहसनचलनावेगविक्षोभितानि
किंवा तत्तन्न यत्संस्मृतममृतरसाह्लादमन्तः करोति ॥१४

त्वत्संगमे सुरतसौख्यरसायनेन
बाले ततोऽहमतितृप्ततया श्रमार्तः ।
तत्र स्थितो मृदुनि तल्पतले शशाङ्क-
बिम्बे शरच्छिशिरनिर्मलशोचिषीव ॥१५॥

गोते लगा रहे मुझको अग्निदाह से भी मर्मच्छेद होने पर उत्पन्न हुई पीड़ा मालूम न होती केवल धुएँ से तो क्यों कर पीड़ा होती है ? ॥१२॥

हे कृशाङ्गि ! मूर्च्छावस्था में इतने काल तक अपने हृदय में तुम्हारे साथ मैंने लीलामनोहर जिस सुख का अनुभव किया, वह अभूतपूर्व था । अमृत के कुण्ड में गोते लगाने से जैसा सुख होता है वैसा ही वह सुख था । उस सुख का अनुभव होने पर यह प्रसिद्ध त्रैलोक्यराज्य के अधिपत्य से होने वाला सुख भी पूर्ववर्णित मर्मच्छेदन दुःख के समान तुच्छ ही है, ऐसी मेरी राय है ॥१३

हे प्रिये ! तुम्हारी वह केवल स्वानुभव से ज्ञेय निरतिशयानन्दरूप अनुपम लीला, वैसे ही भौंह मटकाना आदिरूप विलास, वैसा ही आनन्दमय वचन, वैसा ही मुस्काना, वैसे ही कटाक्ष तथा व ही प्रधान अलङ्काररूप मणिमयी एकावली रहित आभ्यन्तरिक आनन्द के उचित आलिङ्गन, वैसे ही नखक्षत आदि चेष्टाएँ, वैसा रति-कूजित, वैसे ही हँसना, चलना, चित्तविक्षोभ आदि थे । इनमें से जिसका स्मरण हृदय में अमृत रसाह्लाद न करे ऐसा कोई न था सभी हृदय में आह्लाद पैदा करते ही थे ॥१४॥

हे मुग्धे, उसके पश्चात् मैं तुम्हारे संगम से अतितृप्त होने के कारण थकने से शिथिल होकर वहाँ पर कोमल शय्या पर, जो शरत् ऋतु में शीतल विमल किरणों से युक्त चन्द्रबिम्ब जैसी स्वच्छ थी, लेट गया ॥१५॥

अत्राऽन्तरे झटिति चन्दनपङ्कशीता-
द्दीर्घादिवेन्दुशकलादशनिः सशब्दः ।
दृष्टो मया चितितलज्वलितो हुताशः
क्षीराब्धिवाडवनिभोऽङ्गगतः स्वतल्पात् ॥१६॥

सहचरा ऊचुः

इत्युक्तवति कान्तेऽस्मिन् हा हताऽस्मीति वादिनी ।
मुग्धा मौग्ध्याद्वरावतंशङ्कया मूर्च्छिता स्थिता ॥१७॥
तामेनामेष नलिनीदलवीजेन वारिभिः ।
आश्वासयंस्तथावस्थां कण्ठेकृत्वाऽत्र संस्थितः ॥१८॥
पुनः पृष्टोऽनया वक्ति पश्य तामेव संकथाम् ।
एष पार्श्वगतामेनां गृहीत्वा चिबुके प्रियाम् ॥१९॥

हाहा हुताश इति किंचिदिवोपजात-
खेदो वदामि खलु यावदहं त्वरावान् ।
तावच्चितिर्झटिति तैरवलुण्ठिता सा
पान्थैः क्षणात्खरखराकुलिता लसद्भिः ॥२०॥

इस बीच में एकाएक मैंने जैसे चन्दनपङ्क के सदृश शीतल विशाल चन्द्रबिम्ब से मेघनिर्घोष के साथ वज्र निकले वैसे ही अत्यन्त असंभावनीय अपनी शय्या से निकली अपनी देह से स्पष्ट शब्दयुक्त चिता के नीचे जली हुई अग्नि को क्षीरसागर के बडवानल के समान देखा ॥१६॥

सहचरों ने कहा—हे राजन् ! उक्त प्रिय के ऐसा कहने पर 'हाय मैं मरी' कहती हुई वह मुग्धा नायिका मुग्धतावश महान् प्रलय की आशङ्का से मूर्च्छित हो गई ॥१७॥

मूर्च्छित अपनी प्रिया को यह वेचारा पति नलिनी के पत्तों के पङ्खे से तथा जलसेक से प्रकृतिस्थ करता हुआ मूर्च्छित प्रिया को गले लगाकर यहाँ मन्दराचल के निकुञ्ज में बैठा है ॥१८॥

फिर प्रिया के पूछने पर देखो यह उसी कथा को पास में बैठी हुई अपनी प्रिया से उसकी ठुड्डी पकड़कर कहता है ॥१९॥

हे प्रिये ! मुझे जब आग की लपटों से कुछ पीड़ा हुई तो ज्यों ही मैंने घबराहट के साथ 'अरे-अरे आग' कहा त्यों ही झटपट आनन्द में मग्न हो रहे पथिकों ने खड़खड़-चटपट शब्द से व्याप्त वह चिता सब लुआठियों को हटाकर क्षणभर में शान्त कर दी ॥२०॥

पान्थास्ततस्तरलतालविलासवाद्य-
मालिङ्ग्य मामतनुशेखरपूरिताङ्गम् ।
उत्थापितस्थितिमलं परिवार्य सर्वे
नेदुर्जगुर्जहसुराननृतुर्ववल्गुः ॥२१॥
विषमविनायकसुखदं
वलितं भस्माहिशवशिरःप्रकरः ।
शशिधवलास्थिकपालं
वपुरिव रौद्रं श्मशानमथ दृष्टम् ॥२२॥
पार्श्वच्छायां हरन्तो विचलितविदलविलग्नकङ्कालगन्धा-
स्तन्वन्तो भूरिभस्मप्रविततमिहिकामाधुनानाः शवानाम्
केशानाकाशकोशे शशिगलितशराकारिणः शाङ्कराणा-
मस्थीनां टांकृतेनाऽऽरचितखरगिरस्तत्र वाता वहन्ति ॥२३
ज्वलदनलचितिद्रवाहनिर्य-
त्पवनहतोष्मविशुष्कपर्णवृक्षा ।
ज्वलनपवनभास्करात्मजानां
रमणगृहानुकृतिं बिभर्ति सा भूः ॥२४॥
दृष्टं श्मशानं तदनन्तभीमकरङ्ककङ्कालघनामगन्धि ।
माद्यच्छिवावायसकङ्कगृध्रपिशाचवेतालविरावरौद्रम् ॥२५
आनीतनानाशवबन्धुसार्थसंरोदनाह्लाविदिगन्तकुञ्जम् ।
खगावकृष्टार्द्रशिरान्त्रतन्त्रीनिबद्धदग्धद्रुमखण्डजालम् ॥२६
क्वचिच्चितिक्षोभकृतप्रकाशं
क्वचिन्महाकेशकृताब्दवृन्दम् ।
क्वचिच्चरक्तास्रधराबितानं
नक्तंस्तनत्यभ्रमिवाऽस्तशैलम् ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अवि० वि० पथिकविरहवृत्तवर्णनं नाम एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥११९॥

अनन्तर मरे हुए के पुनः जी जाने से उत्पन्न हुए हर्ष वश पथिक लोग चञ्चल तालियों के विलासरूपी बाजे के साथ मुझे चिता से उठाकर बहुत-सी माङ्गलिक वृक्ष-मञ्जरियों से मेरे शरीर को विभूषित कर, मुझे गले लगाकर, सब मेरे चारो ओर खड़े हो गये । मेरे पुनरुज्जीवन के हर्ष से सबने अट्टहास किया, गाया, सब खिलखिलाये और नाचे एवं घर को आये ॥२१॥

इसके पश्चात् मैंने संहारकारी रुद्र के समान भीषण श्मशान देखा, वह अति विकट नायकहीन पिशाच आदि के लिये सुखकारी था, राख, मांस और मुर्दों की खोपड़ियों के ढेरों से व्याप्त था तथा चन्द्रमा के सदृश सफेद हड्डियाँ और कपाल उसमें बिखरे थे । संहार रुद्र का शरीर भी विकट विनायक आदि गणों को सुखदायक है, विभूति, सर्पहार और शवकपालों से व्याप्त है और चन्द्रकिरणों से शुभ्रमुण्डमालाएँ भी उसमें हैं ॥२२॥

भगवान् शङ्कर के आभूषण योग्य हड्डियों के टङ्कार से कठोर शब्द करने वाले वायु वहाँ पर बहते थे, वे समीपवर्ती वन की हरियाली को राख उड़ाकर हर रहे थे, गल रहे सड़े-पड़े नरकङ्कालों की दुर्गन्ध फैला रहे थे, प्रचुर भस्मराशि से गाढ़ हुए कुहरे को उड़ा रहे थे, मुर्दों के बालों को इधर-उधर उड़ा रहे थे और आकाश-तरकस में चन्द्रमा से गिरे हुए वाणोंका-सा उनका आकार था ॥२३॥

वह श्मशान भूमि, जिसके वृक्षों के पत्ते धधकती हुई अग्निवाली चिताओं के प्रवाहरूप से निकल रहे धुएँ और चिनगारियों से पूर्ण वायु से मुरझाकर सूख गये थे, अग्नि, वायु और शनैश्चर की क्रीड़ा के योग्य घर के तुल्य लक्षण धारण करती है ॥२४॥

मैंने वैसा श्मशान देखा, जो असंख्य भीषण आधे जले नरकङ्कालों से अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण था और मतवाले सियारों, कौओं, चीलों, गीधों, पिशाच और वेतालों की चिल्लपों से भयङ्कर था ॥२५॥

वहाँ पर जलाने के लिये गये नाना मुर्दों के बन्धु-बान्धवों के रोने-धोने से उसके दिगन्त और झाड़ियाँ गूँजती थी, उसमें कोए, चील आदि से खींची गई गीली अँतड़ियों से अधजले पेड़ और लताएँ बँधी थीं ॥२६॥

कहीं पर चिताओं के संचालन से महान् प्रकाश हो जाता था, कहीं पर बहुत बड़ी केश राशि द्वारा वहाँ बादल के समूह से बनाये गये थे, कहीं पर पृथिवी तल रुधिरधारा से लथपथ था, अतएव रात्रि के समय शैल-शून्य वह गरज रहे मेघसा शब्द करता था ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में पथिकविरहवृत्तवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११९ ॥

१२०

सहचरा ऊचुः

एवंप्रायाः कथाः कुर्वत्पश्यैनन्मिथुनं महत् ।
पानं प्रवृत्तवत्सारं पातुं पद्मनिभेक्षण ॥१॥

कदलीकन्दलीस्वच्छगुच्छाच्छोटनपण्डिताः ।
विविधा वायवो वान्ति पुष्पकेसरमण्डिताः ॥२॥

वान्ति वाता वनोद्वान्तविविधामोदमांसलाः ।
पीतघर्मकणाः कान्तललनालकलालकाः ॥३॥

कुलाचलगुहागेहवलनोद्यन्मृगाधिपाः ।
सरन्त्यसुरसंरम्भैर्लवणार्णवमारुताः ॥४॥

तमालतालतरलीलान्दोलनलालिताः ।
अनिला जलकल्लोलोरुक्रान्तकोमलपल्लवाः ॥५॥

ललन्नवलतावान्तपुष्पधूलिविधूसराः ।
सरन्ति मरुतो मन्दमुद्यानेषु नृपा इव ॥६॥

मधुरं वंशविश्रान्तो गातुमेष वनानिलः ।
प्रवृत्तः पाण्डुनगरनारीभिरिव शिक्षितः ॥७॥

निकारः कर्णिकारेण पवनस्य यदा कृतः ।
तदा परिहरन्त्येनं भ्रमरा अपि दूरतः ॥८॥

न ददाति फलं किंचिदर्थिने न च पल्लवम् ।
तालः स्तम्भतयाऽऽरम्भं ह्युरूपैव विनाऽऽकृतिः ॥९॥

राग एव हि शोभायै निर्गुणानां जडात्मनाम् ।
राजेव राजते राजन्रागेणैवैष किंशुकः ॥१०॥

आगच्छ कर्णिकारोऽयं विकारस्यैव भाजनम् ।
निरामोदः किमेतेन निर्गुणेनेव जन्तुना ॥११॥

विलोलमञ्जरीजालतडित्सङ्गस्थितोऽसितः ।
चातकस्याऽम्बुदभ्रान्तिं तमालः कुरुते मुधा ॥१२॥

१२०

सहचरों ने कहा—हे कमलनेत्र ! इस तरह की वियोगकालि कथाएँ कह रहा यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा इस समय उत्तम आस व पान करने के लिये प्रवृत्त है, इसे आप देखिये ॥१॥

केले के गोफों के सुन्दर गुच्छों को फुलाने में पण्डित तथा फूलों के परागों से विभूषित ये अनेक प्रकार के वायु बहते हैं ॥२॥

वनों से निकली हुई भाँति-भाँति की सुगन्धियों से हृष्टपुष्ट, स्वेदबिन्दुओं का पान करने वाले तथा ललनाओं के इधर-उधर बिखरे हुए कुन्तलों को मुँह की ओर लटके केशों को नचाने वाले वायु बहते हैं ॥३॥

कुछ पर्वतों के गुफारूपी गुहों में पैठकर घूमने में उद्योगी सिंहों की तरह क्षार-समुद्र के वायु, राक्षसों के से सुमेरुशिखराक्रमण के उद्योगों से बहते हैं ॥४॥

तमाल और ताड़ के पेड़ों में चञ्चल बच्चों की तरह क्रीड़ा के झूलनों से झुलाये गये, जलतरङ्गों से उछलकर वृक्षाग्रों के कोमल पल्लवों पर आक्रमण करने वाले तथा नाच रही नवीन लताओं से निकली हुई पुष्पधूलियों से धूसर वायु उद्यानों में राजाओं की तरह मन्दगति से चलते हैं ५, ६॥

बाँसों के वन में में विश्राम लेता हुआ यह वनवायु हस्तिनापुर की नारियों से सिखलाया गया हुआ-सा मीठा गाना गाने के लिए तैयार हुआ है ॥७॥

जब से कर्णिकार ने सुगन्धि, पराग आदि न देकर वायु का तिरस्कार किया तभी से भ्रमर भी इसका (कर्णिकारका) दूर से त्याग करते हैं, इसके समीप नहीं जाते हैं ॥८॥

ताल का पेड़ खम्भे की तरह सीधा होता है, अतः उस पर कोई चढ़ नहीं सकता। इसीलिए वह किसी अर्थी को न फल देता है और न पल्लव ही देता है। इनकी अति उन्नत भी आकृति अर्थियों के अभिलाष की पूर्ति के बिना शोभा नहीं देती ॥९॥

उदारता आदि गुणों से रहित मूर्खों की वस्त्र, अलङ्कार आदि के आडम्बर से शरीर की सजावट ही शोभा के लिए होती है, अन्य कुछ नहीं। राजन् ! यह फूला हुआ पलाश का पेड़ फूलों की सजावट से ही राजा के तुल्य मालूम पड़ता है ॥१०॥

आओ, यह सुगन्धिरहित कर्णिकार विषादरूप चित्त-विकार का ही पात्र है, व्यर्थ ही हमने इसका आश्रय लिया है। निर्गुण जीव के तुल्य इसके अनुसरण से क्या लाभ है ! ॥११॥

चञ्चल मञ्जरीराशि रूपी बिजली के संग से युक्त तथा काला तमाल वृक्ष चातक को व्यर्थ ही मेघ की भ्रान्ति कराता है ॥१२॥

पत्राला घनसंघाताः सच्छायावृतभूभृतः ।
गुणानां महतां योग्या वंशा वंशा इवोन्नताः ॥१३॥
हेमसान्वासनस्थोऽग्र्यो वातव्याधितटोऽम्बुदः ।
तडित्पीताम्बरं धत्ते क्षुब्धं हरिरिवोद्भवः ॥१४॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रतरत्खगशिलीमुखः ।
प्रफुल्लकिंशुको भाति वीरो रक्त इवाऽसृजा ॥१५॥
मन्दारमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्भोदमन्दिरे ।
महेन्द्रमस्तके मत्ताः सुप्ता गन्धर्वकामिनः ॥१६॥
कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्ता विततान्विताः ।
पश्य पार्थिव गायन्ति सिद्धविद्याधराध्वगाः ॥१७॥
पश्य कल्पद्रुमस्याऽस्य पल्लवे पल्लवे वने ।
विश्रान्ताः सुरसुन्दर्यो गायन्ति च हसन्ति च ॥१८॥

ये ऊँचे बाँस उन्नत कुल के समान हैं। उन्नत कुल के लोग पर्णों से (वाहनों से रथ, हाथी, घोड़े आदि से) विभूषित होते हैं तो ये पर्णों से (पत्तों से) विभूषित हैं। उन्नत कुलों का संघ दुर्भेद्य होता है तो इनका भी संघ दुर्भेद्य है, उन्नत कुल के जन सज्जनों के उपकार के लिए राजाओं का आश्रय स्वीकार करते हैं, तो इन्होंने उत्तम छायाओं से पर्वतों को आच्छादित कर रक्खा है। उन्नत कुल के जन सम्मान आदि महान् गुणों के योग्य होते हैं, तो ये (बाँस) धनुषावस्था में प्रत्यञ्चारूप गुणों के योग्य हैं। यों इन बाँसों की उन्नत कुलों के साथ पूर्णरूपेण समता है ॥१३॥

जैसे सुवर्णमय शिखररूप आसन पर बैठने वाला अतएव अग्नि में स्थित होने वाला वायुरूप व्याधि से युक्त ओर-छोरवाला यह मेघ बिजली से पीले आकाश को क्षुब्ध करता है वैसे ही सुवर्णमय शिखर के तुल्य आसन पर बैठने वाले, सर्वश्रेष्ठ, वात व्याधि से (उद्धव ने) युक्त सन्निधि वाले उत्कृष्ट ऐश्वर्य सम्पन्न हरि चमचमा रहे बिजली के सदृश पीताम्बर को धारण करते हैं यों हरि और मेघ की समानता है ॥१४॥

प्रवेश और निर्गम में उतावली वाले पक्षी और भ्रमररूपी बाण जिसमें संचार कर रहे हैं ऐसा यह फूला हुआ पलाश का वृक्ष रुधिर से लथपथ वीर के तुल्य मालूम पड़ता है ॥१५॥

महेन्द्र पर्वत के शिखर पर मन्दार मञ्जरियों की राशियों से पीले मेघरूपी मन्दिर में ये कामी गन्धर्व मद्यपान से मत्त होकर सोये हैं ॥१६॥

हे राजन् देखें ! कल्पवृक्षों के वन की शीतल छाया में विश्राम कर रहे, उत्तम-उत्तम वीणा आदि बाजों से युक्त ये सिद्ध और विद्याधर गाते हैं ॥१७॥

हे महाराज देखें ! इस कल्पद्रुम के वन में पल्लव पल्लव पर बैठी हुई विश्राम कर रही देवाङ्गनाएँ गाती हैं और हंसती हैं ॥१८॥

मन्दिरं मन्दपालस्य मन्दरे मृदुमन्दिरे ।
मुनेरिदमुदारस्य भार्या सा यस्य पक्षिणी ॥१९॥
अन्योन्यामर्तसिंहेभनकुलोरगकेलिकाम् ।
पश्य मुन्याश्रमश्रोणिं सर्वर्तुकुसुमद्रुमाम् ॥२०॥
विद्रुमद्रुममिश्राणामम्भोधितटवीरुधाम् ।
बिम्बितार्काः कचन्त्येते पल्लवेषूदबिन्दवः ॥२१॥
वीचयो रत्नमाणिक्यपदेष्वावर्तवृत्तिभिः ।
विलसन्ति विलासिन्यो वक्षःस्विव विलासिनाम् ॥२२॥
नागलोकेन्द्रलोकस्त्रीगमनागमनोद्भवः ।
दिव्यो भूषणझांकारः श्रूयते नभसः शृणु ॥२३॥
श्रवणोपान्तविभ्रष्टमदमत्तालिनीस्वरैः ।
ऐरावणस्नानभुवो गायन्तीव गुहा गिरे ॥२४॥

सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों से भरे हुए मन्दराचल पर मन्दपाल मुनि का यह मन्दिर है, जिस उदार मन्दपाल की वह प्रसिद्ध जरिता नाम की पक्षी भार्या है ॥१९॥

राजन् ! ये मुनिजनों के आश्रम, जिन पर जाति वैर का परित्याग कर आपस में गाढ़ा स्नेह रखने वाले सिंह-हाथी, नकुल-साँप आदि प्रेम क्रीड़ा करते हैं तथा ये सब ऋतुओं में फूल देनेवाले वृक्षों से पूर्ण हैं देखिये ॥२०॥

मूंगों के वृक्षों से उलझी हुई सागर तट की लताओं के पल्लवों पर जल बिन्दु, जिन पर सूर्य का प्रतिबिम्ब है, शोभित होते हैं ॥२१॥

रत्न और मणियों की खानों में लहरें बार-बार परिवर्तनों द्वारा वैसे ही क्रीड़ा करती हैं जैसे कि हाव-भाव वाली युवतियाँ अपने विलासी पतियों के वक्षस्थलों पर बार-बार परिवर्तनों से क्रीड़ा करती है ॥२२॥

हे राजन् सुनें ! नागलोक और इन्द्रलोक की स्त्रियों के गमनागमन से होने वाला मनोहर आभूषण-झङ्कार आकाश से सुनाई देता है ॥२३॥

ऐरावत के गण्डस्थल से गिरे हुए मदजल से मस्त हुई भ्रमरियों की गुञ्जार ध्वनियों से ऐरावत के स्नान-स्थानरूप पर्वत की गुफाएँ मानों गाती हैं ॥२४॥

हसतोऽनुदिनं कृष्णपक्षे कृष्णान्तलेखिकाः ।
दृश्यन्ते कृशगात्रस्य वास्तुकावलयोऽम्बुधेः ॥२५॥
आमोदगन्धश्वसना सच्छायाशीतलाङ्गिका ।
एकान्तदर्शिताकारा नानाकुसुमपूरिता ॥२६॥
वनविन्यासवसना निर्झरामलहासिनी ।
आस्तीर्णपुष्पास्तरणा धन्या वनविलासिनी ॥२७॥
रमन्ते नन्दनोद्याने न तथोदारबुद्धयः ।
यथोपशान्तशब्दासु शुद्धासु वनभूमिषु ॥२८॥
सुविरक्तं मुनेश्चेतो रक्तं च विषयार्थिनः ।
रमयन्ति समं रम्या विजना वनभूमयः ॥२९॥
सलिलाधौतवप्राणामम्बोधितटभूभृताम् ।
नूपुरैरिव रत्नौघैः पादा भान्ति ध्वनन्ति च ॥३०॥

पुंनागनगविश्रान्ताः कान्तकाञ्चनकान्तयः ।
हेमचूडाः खगा भान्ति दिवि देवगणा इव ॥३१॥
भ्रमराम्भोदभूमाढ्याः फुल्लचम्पककाननाः ।
कम्पन्ते पश्य वातेन ज्वलिता इव पर्वताः ॥३२॥
कुर्वन्तं करवीराग्रलतान्दोलावदोलकम् ।
कोकिलं कोकिलाऽऽलिङ्ग्य लीला लापयति प्रियम् ॥३३॥
लसत्कलकलारावमेता लावणसैन्धवीः ।
पूर्णास्तटभुवो भूपैः पश्योपायनपाणिभिः ॥३४॥
आ पूर्वादा परस्माल्लवणजलनिधेरोत्तराद्दक्षिणाद्वा
देवोदग्राजिशिष्टा इह नरपतयः पादपीठीक्रियन्ताम् ।
दीयन्तां मण्डलानां दिशि दिशि चयथाशास्त्रमस्त्राण्यवन्या
रक्षायै क्षान्तिपूर्वं चिरमतुलबलं शान्तया शासनानि ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विपश्चि० दिगन्तरवृत्तिवाग्वादिवर्णनं नाम विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२०॥

कृष्णपक्ष में दिन पर दिन घट रहे अतएव कृशकाय सागर की कृष्णान्त रेखारूप पङ्क्तियाँ निवास स्थानरूप वेलातटपर दिखाई देती हैं ॥२५॥

वनरूपी विलसिनी धन्य है। वन का मनोहर गन्ध ही इसका सुगन्धित विश्वास है। सुन्दर घनी छाया ही शीतल अङ्ग हैं, यह (वनभूमि) एकान्त में भगवदाकार को दिखलानेवाली है और एकान्त में अपने रूप को दिखलानेवाली है। भाँति-भाँति के आभूषणरूप पुष्पों से भरी है, वृक्षों का निविड़ विन्यास ही इसके वस्त्र हैं। निर्झर झरना ही निर्मल हास है एवं इसने फूलों की सेज बिछाई है वनभूमि और विलासिनी दोनों में सभी विशेषण है ॥२६, २७॥

उदारमति देववृन्द आदि नन्दन वन में वैसा आनन्द नहीं लेते जैसा कि सून-सान शब्दशून्य शुद्ध वनभूमियों में आनन्द लूटते हैं ॥२८॥

अत्यन्त विरक्त मुनि के चित्त को और अनुरक्त विषयी पुरुष के चित्त को मनोहर-निर्जन वनभूमियाँ एकसा आनन्द देती है ॥२९॥

सागर के तटवर्ती पर्वतों के, जिनके तट जलतरङ्गों से धोये साफ-सुथरे हैं, पाद समुद्रीय रत्नराशियों से नूपुरों के समान शोभित होते हैं और शब्द करते हैं ॥३०॥

पुंनाग के वृक्षों पर विश्राम कर रहे सुन्दर सुवर्ण की-सी कान्ति वाले हेमचूड़ नाम के पक्षी (एक प्रकार का पीला पक्षी) स्वर्ग में देवताओं के समान शोभा पाते हैं ॥३१॥

भ्रमर और मेघ रूपी धुँए से पूर्ण फूले हुए चम्पकों के वन जब वायु से हिलते हैं तब जल रहे पर्वत से मालूम पड़ते हैं, देखिये ॥३२॥

उत्कण्ठित कोयल (मादा) कनेर के पेड़ की ऊपर की शाखारूपी झूले में झूल रहे अपने प्रिय कोयल का आलिङ्गन कर मधुर गाना गा रही है ॥३३॥

हे राजन्! कलकलध्वनिपूर्वक उपायन (भेंट) हाथ में लिये हुए राजाओं से पूर्ण क्षारसमुद्र की इन तट भूमियों देखिये ॥३४॥

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर क्षारसागर तक इस जम्बू द्वीप में भीषण युद्ध में बचे हुए नरपतियों को अपने चरणों के आसन बनाइये अर्थात् उनके मस्तक पर पदार्पण द्वारा उन पर अनुग्रह कीजिये। और तत्-तत् मण्डलों की पृथिवी का प्रत्येक दिशा में चिरकाल तक रक्षा के लिए शास्त्रानुसार (नीतिशास्त्र में वर्णित प्रकार से) समावान पूर्वक शान्त बुद्धि से शासन दीजिये, उसके पश्चात् अस्त्र-शस्त्र दीजिये और उसके पश्चात् विशाल सेना दीजिये ॥३५॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में दिगन्तरवृत्तिवाग्वादिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बीसहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२०॥

१२१

वसिष्ठ उवाच

अथ तेष्वर्णवतटेष्वेते भूमौ विपश्चितः।
उपविश्यैतदखिलं चक्रू राज्यप्रयोजनम् ॥१॥
तदा तत्रैव ते वासभूमिं कृत्वा यथाक्रमम्।
तस्थुर्मण्डलमर्यादां स्थापयामासुरक्षताम् ॥२॥
अथ वर्णयितुं श्रीमांस्तत्प्रतापमिवाऽगमत्।
संप्रविश्य समुद्रान्तरन्यलोकान्तरं रविः ॥३॥
आययौ यामिनीश्यामा मेघलेखेव तानवम्।
संपादिताहर्व्यापारास्तस्थुः स्वशयनेषु ते ॥४॥
आसमुद्रं नदीवाहा इव दूरादुपागताः।
इदं संपादयामासुर्विस्मयाकुलचेतसः ॥५॥
अहो नु दूरमध्वानं प्राप्ता वयमयत्नतः।
प्रभावाद्देवदेवस्य वह्नेर्दिव्यैः स्ववाहनैः ॥६॥
कियती स्यात्प्रविस्तीर्णा दृश्यश्रीरियमातता।
इतः समुद्रास्तदनु द्वीपभूरम्बुधिः प्रभुः ॥७॥
इतो द्वीपं ततोऽम्भोधिः किमन्ते स्यात्ततोऽपि च।
कियती कीदृशी वा स्यान्मायेयं चेत्यरूपिणी ॥८॥
तत्प्रार्थयामहे देवं हुताशं तद्वरादिमाः।
प्रेक्षामहे दिशः सर्वा आपर्यन्तमखेदिनः ॥९॥
इति संचिन्त्य ते सर्वे यथास्थानमवस्थिताः।
सममेवाऽऽह्वयामासुर्भगवन्तं हुताशनम् ॥१०॥
बभूव भगवानेयामथ दृश्यो हुताशनः।
आकारवान्वरं पुत्रा प्रगृह्णीत्वेत्युवाच ह ॥११॥

विपश्चित ऊचुः

पञ्चभूतात्मकस्याऽस्य दृश्यस्याऽन्तं सुरेश्वर।
देहेन मन्त्रदेहेन तमन्ते मनसाऽपि च ॥१२॥

१२१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुनायक ! इसके बाद उन समुद्र तटों पर भूमि पर बैठ कर चारों विपश्चितों ने पहले मन्त्रियों द्वारा निवेदित मण्डल मर्यादा स्थापन रूप सारा राज्य-प्रबन्ध किया ॥१॥

उस समय पद के क्रम के अनुसार निवासभूमि बनाकर उन्होंने वहीं पर निवास किया और मजबूत मण्डल मर्यादा की स्थापना की ॥२॥

इसके बाद श्रीमान् सूर्य मानो उनके (विपश्चितों के) प्रताप का वर्णन करने के लिए समुद्र के अन्तर प्रवेश कर अन्य लोक को (ज्योतिषियों के मत से पाताल लोक को और पौराणिकों के मत से मेरु पर्वत के उत्तर भाग में स्थित दूसरे वर्ष को) चला गया ॥३॥

मेघपङ्क्ति के समान काली रात्रि विस्तार को प्राप्त हुई और वे विपश्चित सारे दैवकृत्य पूर्ण करके सोने के लिए शय्याओं पर आरूढ़ हुए ॥४॥

दूर से नदियों के प्रवाह के समान समुद्र तक पहुँचे हुए अतएव आश्चर्य में डूबे हुए उन्होंने नीचे कही जाने वाली बातों पर विचार किया ॥५॥

अहो ! हम लोग देवाधिदेव अग्नि के प्रताप से बिना किसी क्लेश-आयास के बहुत दूर मार्ग में आ पहुँचे हैं ॥६॥

यह चारों ओर फैली हुई दृश्य शोभा कितनी विस्तृत होगी। यहाँ से जम्बूद्वीप के बाद क्षारसमुद्र है, क्षार समुद्र के बाद फिर प्लक्षद्वीप-भूमि है, उसके बाद फिर महान् (क्षार समुद्र से दुगुना बड़ा) इक्षु रस का समुद्र है, इक्षु-समुद्र के बाद कुशद्वीप है, कुशद्वीप के बाद सुरा का सागर है। इस तरह क्रम से सात समुद्र और सात द्वीपों के बाद अन्त में क्या होगा ? फिर उसके बाद क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया कितनी बड़ी और कैसी विचित्र वस्तुओं वाली होगी ॥७, ८॥

यह सब देखने के लिए हम श्रीअग्नि देव की प्रार्थना करें, उनके वरदान से इन सब दिशाओं की बिना परिश्रम के अन्त तक देखें। चार सागरों के तटों पर बैठे हुए उन सबने यह विचार कर एक ही साथ भगवान् अग्नि का आह्वान किया ॥९, १०॥

अनन्तर भगवान् अग्नि उनके सन्मुख आकार धारण कर दृश्य हुए और उन्होंने उनसे कहा—'हे पुत्रो ! वर माँगो' ॥११॥

विपश्चितों ने कहा—हे देवाधि देव ! पञ्चभूतरूप इस दृश्य का अन्त—जहाँ तक इस शरीर से जाना संभव हो इस शरीर से, इस शरीर से अगम्य स्थान में वैदिक मन्त्रों के प्रभाव से संस्कृत इसी शरीर से, उससे अगम्य स्थान में मन से प्रत्यक्ष के योग्य सब पदार्थ, अनुमानगम्य

यावत्संवेदनं यावत्संभवं यावदात्मकम्।
पश्येम इति नो देव दीयतामुत्तमो वरः ॥१३॥

आसिद्धगम्यमध्वानं पश्येम वपुषा वयम्।
तदन्ते मनसैवाऽस्य दृश्यं पश्येम भो प्रभो ॥१४॥

आसिद्धगम्यमध्वानं मृत्युरस्माकमस्तु मा।
अध्वन्यसंभवद्देहे मन एव प्रयातु नः ॥१५॥

वसिष्ठ उवाच

अथैवमस्त्विति प्रोच्य पावकः सहसाऽगमत्।
क्षणादौर्वतया यातुं समुद्र इव सत्वरः ॥१६॥

अग्निर्जगामाऽथ समाजगाम
निशा विलम्ब्याऽथ जगाम साऽपि।
समाजगामाऽपि रविर्जगाम
तेषां च घोरार्णवलङ्घनेहा ॥१७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिन्निर्णयो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२१॥

सब पदार्थ तथा श्रुति आदि गम्य सकल पदार्थ जैसे हम देखें हे नाथ! वैसा उत्तम वरदान हमें दीजिये ॥१२, १३॥

हे प्रभो! योग प्रभाव से गम्य मार्ग तक के दृश्य को हम इस देह से देखें इसके पश्चात् योगियों द्वारा योग प्रभाव से अगम्य दृश्य को मन से ही देखें ॥१४॥

योगियों के योग प्रभाव से गम्य मार्ग में चल रहे हम लोगों की मृत्यु न हो, जिस मार्ग में देह का संभव नहीं यानी दक्षिणायण तथा उत्तरायण मार्गरूप मर कर ही जाये जा सकने योग्य पथ में हमारा मन ही गमन करे ॥१५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वर माँगने के पश्चात् बड़वानलरूप से समुद्र में प्रवेश करने के लिए त्वरा कर रहे अग्निदेव 'ऐसा ही हो' कहकर क्षणभर में सहसा चले गये ॥१६॥

इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये अनन्तर रात्रि आई वह भी कुछ देर ठहरकर चली गई इसके सूर्य भगवान् आये और उनकी विशाल सागर को लाँघने की इच्छा भी आई ॥१७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० विपश्चिन्निर्णय नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२१॥

१२२

वसिष्ठ उवाच

ततः प्रभाते प्रसभं पृथिव्याः
कृत्वा यथाशास्त्रमलं व्यवस्थाम्।
आविष्टदेहा इव ते रसेन
निषेध्यमाना इव मन्त्रिमुख्यैः ॥१॥

निवार्य सर्वं परिवारमात्र-
माक्रन्दमानं वदनै रुदद्भिः।
निरस्य चाऽस्नेहतयाऽभिमान-
मात्सर्यलोभाभिभवैषणादि ॥२॥

दिगन्तमालोक्य समुद्रपारे
क्षणात्समायाम इति ब्रुवन्तः।
स्वमन्त्रशक्त्योत्तमतां गतैस्तै-
रब्धिः पदैरेव तदा प्रविष्टः ॥३॥

१२२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अनन्तर प्रातःकाल मन्त्रियों के न चाहने पर भी जबरदस्ती नीतिशास्त्र के अनुसार पृथिवी के राज्य विभाग, राज्य-परिपालन के उपायों का उपदेश, मर्यादास्थापन आदि की भली-भाँति-व्यवस्था कर दिगन्त के दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा से ग्रह, भूत आदि के आवेश से युक्त से तथा साक्षात् निषेध न कर सक रहे श्रेष्ठ मन्त्रियों द्वारा इशारे से रोके जा रहे वे चारों विपश्चित् रो रहे अतएव अश्रुपूर्ण मुखों से युक्त सब परिजनों को निवृत्तकर, स्नेहशून्य होने के कारण अभिमान, डाह, लोभ, शत्रुओं के पराभव की इच्छा, राज्य, स्त्री, पुत्र आदि की इच्छा का त्यागकर हम लोग समुद्र पार में दिगन्त को देखकर शीघ्र ही आते हैं यों परिजनों की तसल्ली के लिए कहते हुए गये। अग्निदेव की प्रसन्नता से प्राप्त मन्त्र की सामर्थ्य से ही भूमि, जल आदि भूतों पर विजय पाने से उत्तमता को सिद्ध (सिद्धता) प्राप्त हुए उन्होंने उस समय पैरों से ही समुद्र में प्रवेश किया ॥१–३॥

विपश्चितस्ते दिशिदिश्यनल्पै-
भृंत्यैः समुद्रं प्रविशद्भिरेव ।
भृत्यैश्च कैश्चित्त्वनुगम्यमाना
ययुर्यथा वारिणि पद्भिरेव ॥४॥

तरङ्गजालेषु पदानि कृत्वा
पृष्ठे स्थलस्येव जलस्य चाऽन्तः ।
चत्वार एकैकतयैव युक्ता
भृशं वियुक्ता निजसेनया ते ॥५॥

पदक्रमेणैव महार्णवान्त-
स्तावत्प्रविष्टा अवलोकितास्ते ।
तटस्थितैर्यावददृश्यभावं
शरन्नभो मेघलवा इवाऽऽपुः ॥६॥

तमध्वानमथोहुस्ते जलधौ पादचारिणः ।
विततावध्यवसायेन बद्धकक्षाहरा इव ॥७॥

उन्नतावनतामद्रिसमारोहावरोहणैः ।
श्रियं वारितरङ्गाणां हरन्तो हरिमूर्तयः ॥८॥

आवर्तेषु तृणानीव भ्रान्ता विगतसंभ्रमम् ।
चिरं चञ्चलमत्ताभ्रचन्द्रमण्डलशोभिषु ॥९॥

मन्त्रविद्याबलौजोभिर्दुर्जयाः शस्त्रपाणयः ।
क्वचित्प्रमत्तैर्मकरैर्निगीर्णोद्गीर्णदेहकाः ॥१०॥

जलकल्लोलविश्रान्तवातोत्सारितमूर्तयः ।
नीतानीताः क्षणेनैव योजनानां शतं शतं ॥११॥

जलकल्लोलमातङ्गतुङ्गिताङ्गतया तया ।
दधाना निजराज्येभपृष्ठरोहस्थितिश्रियम् ॥१२॥

विस्तीर्णोर्मिघटापट्टपाटपट्टनपाटवैः ।
दर्शयन्तो जलाम्भोदनिष्क्रान्ति मारुता इव ॥१३॥

तरत्तरलमातङ्गतरङ्गौघविघट्टिताः ।
अत्यजन्तो निजं धैर्यं वेलावरतटा इव ॥१४॥

महोर्मिमुक्तामाणिक्यमण्डलप्रतिबिम्बिताः ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥१५॥

वे चारों विपश्चित् स्नेह की अधिकता से प्रत्येक दिशा में समुद्र में प्रवेश कर रहे बहुत से प्रजाजनों अनुगम्यमान होते हुए स्थल के समान जल में भी पैरों से ही गये ॥४॥

भूमितल के समान जल के अन्दर तरङ्ग राशियों में भी पैर रखकर अकेले ही उद्यत हुए वे चारों विपश्चित् अपनी सेना से अत्यन्त वियुक्त हो गये ॥५॥

चरणों के विन्यास से ही महासागर के अन्दर प्रविष्ट हुए उन्हें तट पर खड़े हुए लोगों ने तब तक देखा जब तक कि वे शरत्काल के आकाश में प्रविष्ट हुए मेघखण्ड के समान अदृश्यता को प्राप्त हुए ॥६॥

पीलवानरूपी दृढ़निश्चय से प्रेरित हुए समुद्र में पैदल चलने वाले उन चारों विपश्चितों ने पीठ पर बाँधे हुए महान् भार को ढोने वाले हाथियों के तुल्य उस मार्ग को व्यतीत किया ॥७॥

पर्वत के सदृश उतार और चढ़ाव से ऊँची और नीची जल-तरङ्गों की शोभा को, स्वयं भी उसका ग्रहण करने से, हर रहे अतएव भगवान् श्रीहरि की-मूर्ति के तुल्य मूर्ति वाले उन्होंने मस्तमेघ-घटा में प्रविष्ट हुए चन्द्रमा के समान अपने प्रवेश से शोभा युक्त हुए आवर्तों में किसी प्रकार के भय-विस्मय के बिना चिरकाल तक तृणों के समान भ्रमण किया ॥८, ९॥

वे मन्त्र, विद्या, बल और तेजस्विता से दुर्जय थे तथा हाथ में शस्त्र लिए हुए थे, अतएव कहीं पर मस्त मगरों ने पहले उनके शरीरों को निगला फिर पचाने की शक्ति न होने से उगिल दिया ॥१०॥

जलतरङ्गों में विश्राम ले रहे वायुओं से गेंद की तरह उछाले गये शरीर वाले वे एक ही क्षण में सौ-सौ योजन पहले पहुँचाये गये फिर वापस लाये गये ॥११॥

जलतरङ्गरूपी हाथियों द्वारा की गई अपूर्व चमत्कार-कारिणी उन्नत शरीरता से वे अपने राज्य में हाथियों के पीठ की सवारी की शोभा धारण कर रहे थे ॥१२॥

बड़ी विस्तृत तरङ्गराशिरूपी शिला फलकों को तोड़ने और उलटने में पटुताओं से, वायुओं से उद्दीपित बिजलियों की तरह जलरूपी मेघ से निकलना दिखला ॥१३॥

यद्यपि वे तैर रहे चञ्चल गजों की तरह तरङ्ग-राशियों से विघट्टित हुए थे तथापि उन्होंने तीरभूमि के प्रसिद्ध सुन्दर पथरीले तटों के समान अपना धैर्य नहीं खोया ॥१४॥

बड़ी-बड़ी लहरों में मोतियों और मणियों की राशियों में प्रतिबिम्बित हुए वे एकाकी होने पर भी चारों पुरुषों के समूह से परिवृत जैसे मालूम होते थे ॥१५॥

पाण्डुडिण्डीरपिण्डेषु कुर्वन्तो लाघवात्पदम् ।
श्वेतपद्मपरिक्रान्तराजहंसश्रियं वधुः ॥१६॥
घननिर्घातनिर्घोषभीषणार्णवघुंघुमात् ।
न भीता भूभृतस्तत्र वेलावलयजृम्भितात् ॥१७॥
अभ्रंलिहजलाद्रीन्द्रपातोत्पातविघट्टिताः ।
क्षणं पातालमाजग्मुः क्षणमर्कास्पदं ययुः ॥१८॥

अशङ्कितोत्पतद्वारिपूरपातपटावृताः ।
उत्पातपातनिपतद्वितानकवृता इव ॥१९॥
प्राक्रान्तास्तेऽम्बुराशौ सहचरमकराः शूरनक्रैः कुलीरै-
र्व्याप्ताऽऽवर्ताविवृत्ताः सलिलतरुलतासीकरैरन्तरालैः ।
कुर्वन्तः कान्तियुक्तं वपुरिव कुसुमैर्भ्रान्तमाणिक्यमुक्तै-
र्व्यक्ताऽव्यक्तांशुजालैः प्रतिपदमितरैरभ्ररूपैरदभ्रैः ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम द्वाविंशाधिकततमः सर्गः ॥१२२॥

शीघ्रता से सफेद फेन के पिण्डों पर पैर रख रहे उन्होंने सफेद कमलों पर चढ़े हुए राजहंसों की शोभा धारण की ॥१६॥

मेघ के घोर गर्जन की ध्वनि के सदृश भयंकर सागर के घुम-घुम शब्द से, जो कि तटभूमि में टकराने से और तेज हुआ था, वे राजा होने के कारण बिलकुल नहीं डरे ॥१७॥

आकाश को छूने वाले जलमय पर्वतराजों के उछलने और गिरने से धक्का-मुक्की में पड़े हुए वे क्षणभर में पाताल पहुँचते थे और क्षणभर में सूर्यमण्डल में पहुँच जाते थे ॥१८॥

अचानक ऊपर गिरे हुए जलप्रवाहरूपी वस्त्र से ढँके हुए वे उत्पातों की प्राप्ति होने पर गिर रहे मेघरूपी चदवे से ढँके हुए से मालूम पड़ते थे ॥१९॥

विशाल मेघों से प्रकट और अप्रकट किरण राशि वाली घूम रही मणियों और मुक्ताओं की राशियों से तथा बीच में जलमय वृक्षलतातुल्य तरङ्गों के जलकणों से फूलों की तरह अपने शरीर को विभूषित कर रहे, बड़े-बड़े बली मगर और केकड़ों से व्याप्त तरङ्गों में चारों ओर से घिरे हुए तथा मगर ही हैं सहचर (मित्र) जिनके ऐसे वे विपश्चित् समुद्र में पैरों से चले ॥२०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अवि० विप० बलपरिभ्रंश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२२॥

१२३

वसिष्ठ उवाच

इत्येते दृश्यरूपाया अविद्याया विचारणे ।
प्रवृत्ताः पादचारेण समुद्रद्वीपगामिनः ॥१॥
अब्धेर्द्वीपं पुनर्द्वीपादब्धिं द्वीपं गिरिं वनम् ।
लाघवाल्लङ्घयामासुश्छेदभेदविवर्जिताः ॥२॥
पोतो विपश्चित्पाश्चात्यो मीनेनाऽमरमानिना ।

विष्णुमीनकुलोत्थेन वितस्तावाहनौजसा ॥३॥
क्षीरोदं प्राप्य मत्स्येन तेनोद्गीर्णः सुदुर्जरः ।
तेन क्षीरोदमुल्लङ्घ्य गतो दूरं दिगन्तरम् ॥४॥
दक्षिणो यक्षनगरे संप्रेक्ष्येक्षुरसार्णवे ।
शिक्षादक्षिणयाऽऽक्षिप्य यक्षिण्या कामुकीकृतः ॥५॥

१२३

इस रीति से समुद्र और द्वीपों में जाने वाले वे चार विपश्चित् पैदल दृश्य पर अविद्या के अन्त के विचार में प्रवृत्त हुए ॥१॥

शरीर के छेद-भेद से रहित विपश्चितों ने समुद्र से द्वीप को द्वीप से समुद्र को इस प्रकार द्वीप, पर्वत और वन को शीघ्रता से लाँघा ॥२॥

उन चार विपश्चितों में से पश्चिम दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् को अपने को अमर समझने वाली विष्णुमीन कुल में उत्पन्न मछली, जिसका वेग अत्यन्त शीघ्र बहने वाली व्यास नदी की नौका के सदृश अत्यन्त तीखा था, निगल गई ॥३॥

उसे पचाना सरल न था, अतएव उस मछली ने क्षीरसागर में पहुँचकर उसे उगल दिया। तदनन्तर क्षीर-सागर को लाँघकर वह दूर दिन्तर को गया ॥४॥

दक्षिण दिगन्त को देखने के लिये प्रवृत्त विपश्चित् को इक्षुरस सागर में स्थित दक्षनगर में वशीकरण विद्या की शिक्षा में निपुण यक्षिणी ने देखकर अपने विद्या बल से अपनी ओर आकृष्ट कर अपना प्रेमी बना लिया ॥५॥

पूर्वो मकरमाक्रम्य यदा गङ्गां निकृत्तवान्।
गङ्गया स तदानीय कान्यकुब्जे समुज्झितः ॥६॥
उत्तरस्तूत्तरकुरूनाराध्य प्राप्तवाञ्छ्रियम्।
तं तथैनं न बाधन्ते दिगन्ते मृतभीतयः ॥७॥
तया मकरमातङ्गनिगीर्णोद्गीर्णमूर्तिमान्।
अतिचक्राम सुबहून्द्वीपान्तरकुलाचलान् ॥८॥
पश्चिमः पृष्ठमारोप्य हेमचूडेन पक्षिणा।
कुशद्वीपे कुशाङ्गश्रीस्तरसा तारतोऽर्णवान् ॥९॥
क्रौञ्चद्वीपाचले पूर्वो निगीर्णो रक्षसा वने।
तद्रक्षः पाटितं तेन हृदयेऽन्त्रविकर्तनैः ॥१०॥
दक्षिणो दक्षशापेन यक्षतामागतः क्षणात्।
शाकद्वीपे शतेनाऽसौ वर्षाणां मोक्षमागतः ॥११॥

पूर्व दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित् ने गङ्गा के हजार मुहानों को एक-एक करके देखते हुए जब कहीं पर मगर को, जो उसे निगलना चाहता था, खींचकर उसके उद्धार के लिए उसे गङ्गा में ले जाकर चीर डाला, तब गङ्गाजी ने उसे पीछे वापस लाकर कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में छोड़ दिया ॥६॥

उत्तर दिगन्त को देखने के लिए प्रवृत्त विपश्चित ने उत्तर कुरुदेश में श्रीदेवीजी के साथ लीला कर रहे भगवान की आराधना कर अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया। अतएव उक्त विपश्चित् को ऐश्वर्य के प्रताप से दिगन्त में व्याप्त मरणप्रयुक्तभय दुःख नहीं देते अर्थात् वह अमर हो गया ॥७॥

उक्त अणिमा आदि ऐश्वर्य के प्रताप से ही मगर और जलगजों द्वारा पहले निगली फिर उगली गई मूर्तिवाला वह अनेकानेक द्वीप-द्वीपान्तर के कुल शैलों को लाँघ गया ॥८॥

पश्चिम की ओर चले विपश्चित् को, जिसकी अङ्गशोभा कुशकीसी थी, पक्षिराज गरुड़ ने अपनी पीठपर बैठाकर वेग से कुशद्वीप और अनेक सागरों को पार कर दिया ॥९॥

क्रौञ्चद्वीप पर्वत पर वन में राक्षस, पूर्व विपश्चित् को निगल गया। तदनन्तर उस राक्षस को विपश्चित् ने आँतड़ियों के छेदन द्वारा चीर डाला ॥१०॥

शाकद्वीप में दक्षिण की ओर चला हुआ विपश्चित् दक्ष के शाप से एक क्षण में यक्ष बन गया एक वर्ष तक यक्ष बने रहने के बाद उसकी मुक्ति हुई ॥११॥

उत्तरस्तरसोत्तीर्णतारावरतरङ्गिणः।
महार्णवसुवर्णोर्व्यां सिद्धशापाच्छिलां गतः ॥१२॥
ततो वर्षशतेनाऽसौ प्रसादाज्जातवेदसः।
तेनैवोन्मोचितस्तत्र सिद्धेन रतिमाप्तवान् ॥१३॥
वर्षाण्यष्टावभूद्राजा नालिकेरनिवासिनाम्।
पूर्वः परमधर्मिष्ठः प्राप्तवान्प्राक्स्मृतिं ततः ॥१४॥
कल्पवृक्षवने मेरोरुत्तरेऽप्सरसा सह।
उवास दशवर्षाणि नालिकेरफलाशनः ॥१५॥
विहगाऽभ्यासतत्त्वज्ञः शाल्मलिद्वीपशाल्मलौ।
पश्चिमः पक्षिणीनीडे क्रीडया न्यवसत्समाः ॥१६॥
मन्दराऽद्रौ मृदुतले मन्दारतरुमन्दिरे।
किंनरी मन्दरीनाम्नी दिनमेकमसेवत ॥१७॥

उत्तर विपश्चित् वेग से बड़े-बड़े और छोटे-मोटे नदी-नाले तथा समुद्र पार कर स्वादु जल वाले महासागर के आगे प्रसिद्ध सुवर्णभूमि में सिद्ध के शाप से शिला बन गया ॥१२॥

तदुपरान्त एक सौ वर्ष बाद अग्निदेव के अनुग्रह से वहाँ उसी सिद्ध ने उसे शाप से मुक्त कर दिया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥१३॥

परम धर्मात्मा पूर्व विपश्चित कान्यकुब्ज देश से उत्तर की ओर गया। वहाँ आठ वर्ष तक प्रधानरूप से नारियलों की उत्पत्ति वाले देश में रहने वाले लोगों का राजा बन गया। तदुपरान्त उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया ॥१४॥

नारियल के फलों पर निर्वाह करने वाला वह मेरु पर्वत के उत्तर तरफ स्थित कल्पवृक्ष बन में दश वर्ष तक अप्सरा के साथ रहा ॥१५॥

पश्चिम विपश्चित् पक्षियों की वशीकरण विद्या में पारंगत था, अतएव पहले उसे गरुड़ ने पीठ पर बैठाकर समुद्र पार किया था। वह शाल्मली द्वीप के शाल्मली पेड़ पर पक्षी के घोंसले में उसके साथ क्रीडावश दस वर्ष तक रहा ॥१६॥

कोमल लताओं से भरे हुए मन्दराचल पर, मन्दार वृक्षों के निकुञ्जरूप गृहों में मन्दरी नाम की किन्नरी ने उस पश्चिम विपश्चित् का एक दिन तक सेवन किया ॥१७॥

क्षीरोदवेलावनकल्पवृक्षवनावलीनन्दनदेवताभिः।
सार्धं समाः सप्ततिमप्सरोभिर्निनाय कामाकुलितोऽथ पूर्वः ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः ॥१२३॥

अनन्तर पूर्व विपश्चित् नारियल के वन से क्षीर-सागर के तट पर गया वहाँ की कल्पवृक्ष के वनों की पङ्क्तियों में नन्दन वन की देवियों-अप्सराओं के साथ कामाकुल इसने सत्तर वर्ष विताये ॥१८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० वि० दिग्विहरण नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२३॥

१२४

श्रीराम उवाच

एकसंविन्मयाः सर्वं एवैकवपुषोऽपि ते।
विविधेच्छाः कथं ब्रह्मन् संपन्ना एकदेहिनः ॥१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एकसंविद्घनाकाशमप्यनानैव सर्वगम्।
स्वयं नानेन संपन्नं सुप्ते चित्तमिवाऽऽत्मनि ॥२॥

तस्याऽच्छत्वात्तथाभूतमात्मैवाऽऽत्मनि बिम्बति।
तादृशस्य तथाभूतौ मुकुरस्येव निर्मला ॥३॥

एकलोहमया एव यथाऽऽदर्शाः परस्परम्।
तथैते प्रतिबिम्बन्ति पदार्थाः पारमार्थिकाः ॥५॥

तेन यस्य यदा यद्यत्पुरो भवति वस्त्वसौ।
यदर्थं युज्यते तेन चिद्घनैकस्वभावतः ॥५॥

१२४

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! एक साक्षि-चैतन्यमय तथा एक ही शरीर के चार विभाग होने से एक शरीर वाले जिनका एक ही जीव था, जीवभेद के विना एक ही समय विविध इच्छा वाले ये कैसे हो गये? इस प्रकरण की सङ्गति के लिए रामजी ने प्रश्न से उत्थापन किया। चारों विद्वानों की एक ही देह थी और एक ही जीव था ऐसी अवस्था में उनमें भिन्न-भिन्न इच्छाएँ कैसे हुई? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—केवल साक्षिचैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अखण्ड ब्रह्म ही मायावश भिन्न-सा वैसे ही बन गया है। आशय यह है कि एक जीव की भी अविद्यावश स्वप्न में नाना शरीर कल्पना देखी जाती है और उनमें शत्रुता, मित्रता और उदासीनता की कल्पना होने पर विभिन्न इच्छाएँ दिखाई देती हैं तथा सर्ग के आदि में ब्रह्मरूप जीव में जाग्रत् अवस्था में भी नाना शरीर कल्पनारूप कर्म है ही, अतः सब कुछ सम्भव है जैसे स्वप्नावस्था में चित्त अपने में ही पर्वत समुद्र, नदी आदि के रूप से अनेक सा होता है ॥२॥

उस प्रकार अतिस्वच्छ संविन्मयाकाश के जगदाकार होने में दर्पण के साथ वैसी ही अतिनिर्मल स्वच्छता ही कारण है जैसे अतिस्वच्छ दर्पण के उदराकाश में गिरि, नदी आदि के साथ महाकाश प्रतिबिम्बत होता है वैसे ही संविन्मयाकाश के (साक्षिचैतन्य के) दर्पण के समान अतिस्वच्छ होने के कारण, विविध रूप को प्राप्त हुआ आत्मा स्वयं ही अपने में प्रतिबिम्बित होता है ॥३॥

अर्थात् जगत् भी वस्तुतः चित् ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। ऐसी स्थिति में चित् का ही चित् में प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो उसका दृष्टान्त सुने।

परमार्थतः चिद्रूप भी ये पदार्थ आपस में वैसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं। जैसे एक मात्र लोहे के बने हुए दर्पणों का आपस में एक दूसरे पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। मायारूप उपाधि की शक्ति अचिन्तनीय (विचारसीमा के परे) है, अतः गन्धर्व नगर स्फटिक भित्तिरूप आकाश में चन्द्रमा, सूर्य और मेघ सहित महाकाशका भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है ॥४॥

इसलिए जब जिसकी जो-जो भोग्यवस्तु, एकमात्र चिद्घनस्वभाव होने से, इन्द्रियसन्निकर्ष को प्राप्त होती है—बुद्धि में प्रतिम्बित होती है—उस वस्तु से वह उसके भोग के लिए समर्थ होता है। यदि भोग्यवस्तु बुद्धि में प्रतिम्बित न हो तो भान ही न हो, अर्थात् अतएव अभ्यस्त

इत्यनानैव नानेदं नानानाना च वस्तुतः।
न च नाना न चाऽनाना नानानानात्मकं ततः ॥६॥

तेन यस्य यदा यातं पुरो वस्तु विपश्चितः।
स तेन संविन्मयतामेत्य तद्वशमागतः ॥७॥

एकदेशगता विश्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते।
योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाण्यनुभवन्त्यपि ॥८॥

अब्दोऽपि व्याप्तिमानेकस्तुल्यकालं पृथक् क्रियाः।
आह्लादस्तेन पादेन करोत्यनुभवत्यपि ॥९॥

भोग्यजगदाकार ब्रह्म विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर बुद्ध्यवच्छिन्न जीव के प्रति प्रिय-अप्रिय विषयभोग के आकार से प्रतिबिम्बित होता है, ॥५॥

यदि अनेकत्व मात्र का निषेध किया जाय तो यह नियत एक रूप ही है। यदि अनेकत्व का निषेध न किया जाय तो नाना भी है और अनाना भी है वास्तव में तो न नाना है, और अनानात्व धर्म का भी निषेध होने के कारण न अनाना ही है। तथा अनानात्व धर्म का निषेध होने से नाना भी हो सकता है। यही नाना और अनाना के अविरोध में युक्ति है। अर्थात् एक ही वस्तु अनेक और एक दोनों यह विरुद्ध है, माया द्वारा भी वह और एक कैसे होगी ? इस युक्ति अनेक के द्वारा सिद्ध करना होगा इसी प्रसङ्ग से यह कहा है ॥६॥

इस कारण जिस विपश्चित् के सामने जो वस्तु आई उससे वह सविन्मयता को प्राप्त होकर उसके वश में हो गया। आशय यह है कि इसी कारण विपश्चितों के नाना दिशाओं में भोगयोग्य पदार्थों के एक ही समय भोग देने कर्म का परिपाक होने पर एक ही देह चार प्रकार की हो गई तथा तत् तत् देश के विषयों का तत्-तत् बुद्धि प्रतिबिम्ब भी पड़ गया ॥७॥

एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में सर्वत्र व्याप्त होकर एक ही समय में सब काम करते हैं, सबका अनुभव भी करते हैं। अर्थात् जब अगस्त्य आदि योगियों का भी, जो मलय आदि नियत प्रदेश में नित्य रहते हैं, नाना देशों में अतीत, अनागत आदि कालों में योग बल से संनिधान द्वारा सब वस्तुओं का अनुभव करना प्रसिद्ध हैं तब भिन्न देशों के प्रति चले हुए विपश्चितों का वह हुआ इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥८॥

अर्थात् विभिन्न-विभिन्न प्रदेशों में एक ही समय में

तुल्यकालमसंख्यातमीश्वरप्रतियोगिनः।
कर्मजालं जगज्जातं कुर्वन्त्यनुभवन्ति च ॥१०॥

एको विष्णुश्चतुर्भिः स्वैर्बाहुभिर्वा शरीरकैः।
पृथक्कुर्वन् क्रियाः पाति जगद्भुङ्क्ते वराङ्गनाः ॥११॥

बहुबाहुर्यदा द्वाभ्यां हस्ताभ्यां द्व्यर्थसंग्रहम्।
करोति बहुभिर्भूयः संग्रामं सततं करैः ॥१२॥

तथैव तैर्विपश्चिद्भिः सर्वदिक्कं तथा स्थितैः।
तथा व्यवहृतं प्राप्तमेकसंविन्मयैरपि ॥१३॥

सुप्तं तैर्भूमिशय्यासु भुक्तं द्वीपान्तरेषु च।
विहृतं वनलेखासु प्रक्रान्तं मरुभूमिषु ॥१४॥

एक की भिन्न क्रियाकारिता में तत्-तत् देशों में व्याप्ति ही उपयोगी है, जीवभेद का कोई उपयोग नहीं है,

यहाँ पर भी वैसी ही उपपत्ति समझनी चाहिये, यह भाव है। जैसे घाम से पीड़ित लोगों को सुख पहुँचाने वाला मेघ भी महान् होने के कारण ही नाना नगर, पर्वत, नदी, खेत आदि में व्याप्त होकर एक ही काल में महलों को धोना, तटों को तोड़ना, नदी का जल बढ़ाना; धानों को पुष्ट करना आदि विभिन्न व्यापार तत्-तत् भाग से करता है। तदभिमानी जीव मेघ का अधिष्ठाता जीव भी मैंने ये क्रियाएँ की ऐसा अनुभव करता है ॥९॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति से ईश्वरतुल्य हुए योगी एक ही समय में असंख्य कर्मपूर्ण जगतों का निर्माण करते हैं और उनका अनुभव भी करते हैं ॥१०॥

एक ही विष्णु भगवान् अपनी चार भुजाओं से अथवा अपने विभिन्न शरीरों से कहीं पर योगनिद्रा, कहीं पर तपस्या, कहीं पर इन्द्र के अनुज होने से उनकी सहायता; कहीं पर (वैकुण्ठ में) विविध भोग—यों विविध क्रियाएँ करते हुए जगत् की रक्षा करते हैं, वराङ्गनाओं का उपभोग करते हैं एवं उनका अनुभव भी करते हैं ॥११॥

अनेक भुजाओं वाला पुरुष दो हाथों से जब दो वस्तुओं का ग्रहण करता है, तब फिर अवशिष्ट अनेक बाहुओं से उसे सदा संग्राम करना पड़ता है ॥१२॥

यद्यपि दसों दिशाओं में स्थित वे विपश्चित् एकसाक्षिचैतन्यवाले थे, फिर भी उन्होंने वैसे ही व्यवहार किया और सुख, दुःख आदि प्राप्त किया ॥१३॥

उन्होंने भूमिशय्याओं में शयन किया, विभिन्न द्वीप द्वीपान्तरों में सुख-दुःख को उपभोग किया, वनश्रेणियों में विहार किया और मरुभूमि में भ्रमण किया ॥१४॥

उषितं गिरिमालासु भ्रान्तं सागरकुक्षिषु ।
विश्रान्तं द्वीपलेखासु निलीनं घनमालिषु ॥१५॥

रूढमर्णवमालासु वात्यासु जलवीचिषु ।
क्रीडितं भूभृदब्धीनां तटीषु नगरीषु च ॥१६॥

शाकद्वीपोदयगिरितटे सप्तवर्षाणि सुप्तं
पूर्वेणाऽन्तर्विदलगहने यक्षसंमोहितेन ।
पाषाणाम्बु प्रसभममुनैवाऽत्र पीत्वा दृषत्ता-
मागत्याऽन्तःस्थितमथ समाः सप्त जात्येन भूमेः ॥१७॥

शाकद्वीपेऽस्तशैलस्य शिरस्यभ्रगुहागृहे ।
पिशाचाप्सरसा मासं पाश्चात्यः कामुकीकृतः ॥१८॥

यत्र शान्तभये वर्षे जलधारे महागिरौ ।
हरीतकीवने वर्षं पूर्वोऽन्तर्द्धानमाययौ ॥१९॥

अत्र रैवतके शैले वर्षे शिशरनामनि ।
दशरात्रमभूत् सिंहः पूर्वो यक्षवशीकृतः ॥२०॥

अत्र काञ्चनशैलाद्रिदरीदर्दुरतां गतः ।
पिशाचमायाछलितो दशवर्षाण्युवास सः ॥२१॥

कौमारं वर्षमासाद्य श्यामाद्रेरुत्(?)स्तटम् ।
शाकद्वीपेऽन्धकूपेऽन्धो न्यवसच्छरदां शतम् ।२२॥

मरीबकेऽकरोद्वर्षे वर्षाण्यत्र चतुर्दश ।
विद्याधरत्वं पाश्चात्यः स विद्याधरविद्यया ॥२३॥

रतक्लमक्लान्तपुरारिलक्ष्मीचलाङ्गलेखाक्रमसीकराक्तम् ।
एलालतालिङ्गनलब्धगन्धमालम्ब्यवेलावनगन्धवाहम् ॥२४

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० चतुर्विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२४॥

पर्वतपङ्क्तियों में निवास किया, सागरों के गर्भ में भ्रमण किय, विविध द्वीपों में विश्राम लिया और मेघमाला से भरे हुए पर्वतशृङ्गों पर छिपकर रहे ॥१५॥

वे सागर पङ्क्तियों में अविर्भूत हुए एवं उन्होंने आँधियों में, सागर की तरङ्गों में पर्वत और समुद्रों के तटों में तथा नगरियों में क्रीडा की ॥१६॥

पूर्व दिशा को प्रस्थित विपश्चित् शाकद्वीप में प्रख्यात उदयपर्वत के तट पर दल रहित स्नुहीवृक्ष के अन्दर यक्ष द्वारा मोहिनी विद्या से मोहित होकर सात वर्ष तक सोया रहा। पूर्व विपश्चित ही इस पर्वत पर कहीं पत्थर बना देने वाला जल पीकर जबर्दस्ती पत्थर बनकर भूमि के अन्दर सात वर्ष तक रहा ॥१७॥

पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थित विप्रश्चित् को शाकद्वीप में अस्ताचल पर्वत के शिखर पर मेघपूर्ण गुहारूपी गृह में पिचाशरूपी अप्सरा ने एक महीने तक अपना कामुक बना डाला ॥१८॥

पूर्व विपश्चित् शान्तमय नाम के वर्ष में जलधार नाम के महापर्वत पर किसी मुनि के शाप से हरीतकी के वन में हरीतकीवृक्षता को प्राप्त होकर लोगों की दृष्टि में अदृश्य बनकर रहा ॥१९॥

शिशिर नाम के वर्ष में रैवत नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् यक्ष के वश में पड़कर दस रात्रियों तक सिंह हुआ ॥२०॥

यहाँ पर पिचाशों की माया से लक्षित होकर सुवर्ण-पर्वत (सुमेरु) आदि की गुफाओं में मेढ़क बना हुआ वह दस वर्ष रहा ॥२१॥

उत्तर की ओर प्रस्थित विपश्चित् कौमार वर्ष में पहुँचकर शाकद्वीप में नीलगिरी के तट पर अन्धे कूप में अन्धा मेढक बनकर सौ वर्ष तक रहा ॥२३॥

पश्चिम की ओर चले हुए विपश्चित् ने मरीबक वर्ष में विद्याधरता प्राप्त कराने वाली विद्या से चौदह वर्ष तक विद्याधरता प्राप्त की ॥२३॥

सुरत में होने वाले परिश्रम से श्रान्त भगवान् शिवजी की अत्यधिक शोभा से चञ्चल अंङ्गों के क्रम से उत्पन्न हुए स्वेद बिन्दुओं से संमिश्रित तथा इलायची की लताओं के आलिङ्गनों से सुगन्धित तटवन की वायु का अवलम्बन कर उक्त विपश्चित् ने विद्याधर स्वरूप को सम्पादित की अर्थात् जिस वस्तु का अवलम्बन कर उसने विद्याधरता प्राप्त की ॥२४॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में षट्भ्रमरहंसवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२४॥

१२५

वसिष्ठ उवाच

वर्षे शान्तमयाभिख्ये जलधारे गिरौ तरौ।
तादृक्कर्तरि पानीयं शाकद्वीपे पिबन् स्थितः ॥१॥
पूर्वोऽथ वर्षसप्तत्या पाश्चात्येनैत्य मोक्षितः।
विद्यया क्रकचेनेव छित्वा वृक्षत्वमक्षतः ॥२॥
पाश्चात्यः शिशिरे वर्षे पाषाणत्वमुपागतः।
मोचितो दक्षिणेनाऽऽशु गोमांसादिप्रयोगतः ॥३॥
शिवेऽस्ताचलपारस्थे वर्षे वर्षेण पश्चिमः।
मोचितो दक्षिणेनैत्य गोपिशाच्या वृषीकृतः ॥४॥
अत्रैव क्षेमके वर्षे आम्बिकेयगिरौ तरौ।
दक्षिणो यक्षतां यातो मोक्षं यक्षेण लब्धवान् ॥५॥
अत्रैव वृषके वर्षे शैले केसरनामनि।
केसरित्वं गतः पूर्वः पाश्चात्येनैव मोचितः ॥६॥

श्रीराम उवाच

एकदेशगता विश्वग्व्याप्य कर्माणि कुर्वते।
योगिनस्त्रिषु कालेषु सर्वाणि भगवन् कथम् ॥७॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इह रामाऽप्रबुद्धानां यदस्त्यस्त्वलमेव नः।
तेन यत्तु प्रबुद्धानां तदिदं शृणु कथ्यते ॥८॥
चिन्मात्रसत्तासामान्यादृतेऽन्यन्नात्म तद्विदाम्।
दृश्यात्यन्ताभावबोधे सर्गासर्गदृशोः क्षये ॥९॥

१२५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—शान्तमय नाम से प्रसिद्ध वर्ष में जलधारा वाले पर्वत पर हरीतकी के वन में हरीतकी-वृक्ष बने हुए कैंचीरूप यन्त्र के सदृश भूमि के अन्दर के पाषाण सम्बन्धी जल को जड़ों से पीते हुए पूर्व विपश्चित् को पश्चिमी विपश्चित् ने उसके वृत्तान्त को जानकर, वहाँ आकार, शाप देने वाले मुनि को प्रसन्न कर उससे दी गई विद्यारूपी आरी से वृक्षता का मानो छेदन कर सत्तर वर्षों में वृक्षता से मुक्त किया। आशय यह है कि विभिन्न दिशाओं में भ्रमण कर रहे विपश्चितों की आपस में एक दूसरे की खोज और विपत्तियों में परस्पर सहायता करता है या नहीं इस प्रकार की श्रीरामचन्द्रजी की आशङ्का को इङ्गित से ताड़कर उसका निराकरण करने की इच्छा करने वाले श्रीवसिष्ठजी पहले पूर्व विपश्चित् की शान्तमय वर्ष में हरीतकी वृक्षतारूप आपत्ति में पश्चिम विपश्चित् द्वारा अनुग्रह किया गया ॥१, २॥

पश्चिम दिशा को प्रस्थित विपश्चित् को, जो शिशिर वर्ष में पिशाच पति के शाप से पाषाणता को प्राप्त हुआ था, दक्षिण दिशा को प्रस्थित हुए विपश्चित् ने वहां पहुँचकर गोमांस आदि के प्रयोग से पिशाचपति को प्रसन्न कर शीघ्र मुक्त किया ॥३॥

अस्ताचल पर्वत के परले पार स्थित शिव नामक वर्ष में गोरूप पिशाची द्वारा वृषरूप पिशाच बनाये गये पश्चिम विपश्चित् को दक्षिण ने वहाँ पहुँचकर मुक्त किया ॥४॥

शाकद्वीप में क्षेमक वर्ष में आम्बिकेय पर्वत पर दक्षिण विपश्चित् यक्ष स्वरूप को प्राप्त हुआ पश्चिम विपश्चित् से प्रसादित यक्षपति ने उसे मुक्त किया ॥५॥

शाकद्वीप में ही वृषक वर्ष में केसर नामक पर्वत पर पूर्व विपश्चित् सिंहता को प्राप्त हुआ, पश्चिम विपश्चित् ने आकर उसे छुड़ाया ॥६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा हे मुनिवर! एक देश में स्थित योगी तीनों कालों में चारों ओर व्याप्त होकर अनुग्रह, निग्रह आदि कैसे करते हैं, इसमें कृपया उपपत्ति आप कहें ॥७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी! इस जगत् में अज्ञानियों की दृष्टि में जो भूत, भौतिकादि स्थूलवस्तु है उससे हम ज्ञानियों का कोई वास्ता नहीं है। हम उसकी उपपत्ति की चिन्ता क्यों करें? ज्ञानियों की दृष्टि से जो मनोमात्र वस्तु है, वह सर्वत्र अर्थ क्रियाकारी किस प्रकार हो सकती है वैसा कहता हूँ, सुने, योगियों आशय यह है कि योगियों की दृष्टि से सारा प्रपञ्च मनोमात्र है और मानस कर्मों में मन का सर्वत्र एक साथ व्यवहार होने में भी निरंकुश स्वातन्त्र्य की हानि नहीं देखी जाती, अतः सब क्रियाओं की उपपत्ति है ॥८॥

तत्त्वज्ञों की दृष्टि से चिन्मात्रसत्तासामान्य के बिना दूसरे जगद्रूप निःस्वरूप है दृश्य के अत्यन्ताभाव का ज्ञान होने पर सृष्टि और प्रलय की दृष्टि का क्षय होने के पश्चात् चिन्मात्रसत्तासामान्य में निरन्तर विश्रान्त हुए

चिन्मात्रसत्तासामान्ये विश्रान्तस्य निरन्तरम् ।
सर्वेशस्येह सर्वत्वं सर्वात्मत्वं च सर्वदा ॥११॥
वद केन कथं कुत्र कदा किमिव रोध्यते ।
सर्वगस्त्वथ सर्वात्मा यत्र भाति यदा यथा ॥११॥
तथा भाति तदा तत्र सर्वात्मनि किमस्ति नो ।
अतीतं वर्तमानं च भविष्यत्स्थूलमप्यणु ॥१२॥
तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च ।
स्वरूपमजहत्येव सामान्ये तानि सर्वदा ॥१३॥
सर्वात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविजृम्भितम् ।
अजातमनिरुद्धं च यथास्थितमवस्थितम् ॥१४॥
विज्ञानघनमेवेदमत एव जगत्त्रयम् ।
नभस्त्वमत्यजंश्चैव सर्वात्मैव नभः स्थितम् ॥१५॥
जगदात्मा जगद्रूपं द्रष्टृदृश्यतयोदितम् ।
विश्वात्मदृग्वपुर्यत्स्यात्तत्किं केन कथं कदा ॥१६॥

सर्वेश्वर की यहाँ पर सदा सर्वथा सर्वात्मा ही है । भला बतलाइये तो उसका कौन कैसे कहाँ पर क्यों कर निरोध कर सकता है ? सर्वगामी और सर्वात्मा का जब जहाँ पर जैसे भान होता है तब वहाँ पर वैसा भान होता है । सर्वात्मा में क्या वस्तु नहीं है । अतीत, वर्तमान और भविष्यत्, स्थूल तथा अणु, दूर और निकट निमेष और कल्प ये सबके सब स्वरूप का त्याग न कर रहे सत्तासामान्यस्वरूप सर्वात्मा में सदा स्थित ही हैं । ऐसा आप जानें । माया से विजृम्भित (उल्लास को प्राप्त हुआ) प्रपञ्च न तो उत्पन्न हुआ और न विनष्ट हुआ, विज्ञानघन ही ज्यों का त्यों स्थित है, अर्थात् चिन्मात्र ही वस्तु है; इस मुख्य पक्ष में सर्वेश्वर की ही सर्वत्र सर्वार्थक्रियोपपत्ति है, ॥९–१४॥

तीनों जगत् विज्ञानघनरूप ही है । आकाशताका त्याग न करता हुआ अर्थात् अपनी सत्ता से उसपर अनुग्रह करता हुआ सर्वात्मा ही आकाशरूप से स्थित है । अर्थात् अविकृत सच्चिदात्मा की ही आकाश आदिरूप से स्थिति है ॥१५॥

मायाशबल ही जगदात्मक है, वही द्रष्टा और दृश्य के रूप से जगद्रूप में उदित हुआ है । जो वस्तु (मायाशबल का) दृङ्मात्ररूपशरीरवाली है उसका किससे, कैसे कब क्या होगा ? शुद्ध में परिणाम, विवर्त आदि नहीं हो सकते हैं ॥१६॥

हे तत्त्वज्ञानिन् ! साध्य और असाध्यरूपी मायाशबल की कौन वस्तु दुःसाध्य है जरा बतलाइये कुछ भी दुःसाध्य

दुःसाध्यं ब्रूहि तत्त्वज्ञ ! साध्यासाध्यस्वरूपिणः ।
तस्मादस्याः सदैकस्या विपश्चिद्राजसंविदः ॥१७॥
प्रबोधमनुगच्छन्त्या अप्राप्तायाः परं पदम् ।
एकस्या अप्यनेकस्याः सर्वं सर्वत्र युज्यते ॥१८॥
बोधाबोधात्मरूपे हि किंनामाऽस्ति परात्मनि ।
अप्राप्तायाः परं बोधं पदार्थाकुलतोचिता ॥१९॥
किंचिद्बोधं प्रविष्टायाः सिद्धताऽप्युचितैव सा ।
एवं ते सर्वदिक्संस्थाः सर्वमेव परस्परम् ।
पश्यन्त्यनुभवन्त्याशु चिकित्सन्ते च संकटम् ॥२०॥
बोधाकाशः स्वकाद्रूपादीषच्च्युत इवाऽऽशु चेत् ।
तदन्यतामिवाऽऽदत्ते सुस्थितोऽपि यथास्थितम् ॥२१॥

श्रीराम उवाच

विपश्चितः प्रबुद्धाश्चेत्कथं सिंहवृषादिताम् ।
दिक्षु यान्तीति मे ब्रह्मन् बोधाय कथयाऽऽश्वलम् ॥२२॥

नहीं है, इसलिए सदा सब जगह सर्वार्थक्रिया की उपपत्ति है, इसलिए सदा एकरूप इस विपश्चित्-राजसंवित् प्रबोध की ओर अग्रसर है और परमपद को प्राप्त नहीं हुई तथा एक होती हुई भी अनेकरूप है, सब जगह सब कुछ सम्भव है ॥१७, १८॥

बोध और अबोधरूप शबल परमात्मा में क्या असाध्य है । परमबोध को प्राप्त न हुई संवित् की पदार्थकुलता उचित है ॥१९॥

किञ्चित् बोध को प्राप्त हुई संवित् की वह सिद्धता भी उचित ही है । क्योंकि बोध में अकामहतत्वप्रयुक्त आनन्द के उत्कर्ष से होनेवाले ऐश्वर्यप्रकर्षक्रम की उपपत्ति होती है ।

इस तरह सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित विपश्चित् आपस में सब कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं और शीघ्र विपत्तिरूपी रोग की चिकित्सा करते हैं ॥२०॥

बोधाकाश चिदाकाश जब अपने स्वरूप से थोड़ा च्युतसा होता है तब शीघ्र ही मनोभाव लक्षण किञ्चित् च्युतिरूप दोष से ज्यों का त्यों सुस्थित होता हुआ भी जगद्रूपता को ग्रहण करता है । अर्थात् प्रबुद्ध लोगों के प्रति सब वस्तुएँ मनोमात्र ही हैं, इस पक्ष में तो सब जगह सर्वार्थ क्रिया मनोराज्य की भाँति अत्यन्त उपपन्न है ॥२१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! यदि विपश्चित् ज्ञानी थे, तो वे दिशाओं में सिंह, बैल आदि कैसे बने, कृपया मेरे बोध के लिए यह शीघ्र कहिये । भाव यह है

वसिष्ठ उवाच

प्रबुद्धा कथिता ये ते योगिनस्ते मयाऽनघ।
प्रसंगरूपान्तरतो न प्रबुद्धा विपश्चितः ॥२३॥
विपश्चितो महाबाहो प्रबुद्धा निपुणं न ते।
बोधाबोधदृशोर्मध्ये ते हि दोलायिताः स्थिताः ॥२४॥
मोक्षचिह्नानि दृश्यन्ते बन्धचिह्नानि चाऽभितः।
नित्यमर्धप्रबुद्धानां तथाभूततया तया ॥२५॥
विपश्चितो धारणया योगिनो न परं गताः।
धारणायोगिनस्ते हि धारणाप्राप्तसिद्धयः ॥२६॥
ये परं बोधमायाता येष्वविद्या न विद्यते।
किमविद्यामवेक्षन्ते ते तामरसलोचन ॥२७॥

कि ज्ञानी जन सर्वार्थक्रिया में स्वतन्त्र होते हैं, अतः विपश्चितों को परतन्त्रतावश होने वाले सिंह, बैल आदि के शरीर रूप संकट प्राप्त नहीं हो सकते, अतः उन लोगों ने परस्पर एक दूसरे पर अनुग्रह किया, यह कथन असंगत है। आशय यह है कि विपश्चितों के प्रसङ्ग में योगियों और ज्ञानियों की एक साथ सर्वार्थक्रियोपपत्ति का वर्णन होने पर विपश्चित् भी ज्ञानी थे, अतः रामचन्द्र शङ्का करते हैं ॥२२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी! मैंने आपके प्रश्न के समाधान के लिये विपश्चितों के सिलसिले में जिन योगियों का वर्णन आपसे किया है, वे प्रबुद्ध थे, किन्तु विपश्चित् प्रबुद्ध नहीं थे। अर्थात् वसिष्ठजी ने समाधान किया है कि आपने मुझसे पूछा कि योगी व्याप्त होकर कैसे विविध काम करते हैं? मैंने यहाँ पर प्रबुद्ध योगियों का वर्णन किया है, विपश्चित् तो प्रबुद्ध योग नहीं थे ॥२३॥

हे महाबाहो! वे विपश्चित् अत्यन्त प्रबुद्ध न थे, वे बोध और अबोध के बीच में दोलायमान से स्थित थे। अर्धप्रबुद्ध उनमें मोह के चिह्न भी और चारों ओर बन्धन के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं, पूर्वोक्त दोलायित धारणा से विपश्चित परम ब्रह्म को प्राप्त योगी न थे, किन्तु अग्नि की प्रसन्नता से सिद्धि प्राप्त होने के कारण धारणा-योगी थे, जिनमें अविद्या का विनाश हो गया, ऐसे ज्ञान-योगी न थे ॥२४-२६॥

हे कमलनेत्र श्रीरामजी! परम ज्ञान को प्राप्त जिनमें अविद्या का नाम-निशान नहीं है ऐसे ज्ञानयोगी वे विपश्चित् होते तो वे अविद्या को क्यों देखते? अविद्या

धारणायोगिनो ह्येते वरेण प्राप्तसिद्धयः।
अविद्या विद्यते तेषां तेन तेऽतद्विचारिणः ॥२८॥
अन्यच्च शृणु हे राम! जीवन्मुक्तशरीरिणाम्।
भवेद्व्यवहृतावेव पदार्थान्तरवेदनम् ॥२९॥
मोक्षोऽपि चेतसो धर्मश्चेतस्येव स तिष्ठति।
न देहे देहधर्मस्तु न देहाद्विनिवर्त्तते ॥३०॥
न कदाचन निर्मुक्तं चेतो भूयो निबद्ध्यते।
यत्नेनाऽपि पुनर्बद्धं केन वृन्तच्युतं फलम् ॥३१॥
देहस्तु देहधर्मेण जीवन्मुक्तिमतामपि।
गृह्यते तद्गतं तेषां चेतस्त्वचलमेव तत् ॥३२॥

दर्शन की इच्छा ही इनके अविद्या के अनुच्छेद में हेतु है। धारणा के पुष्ट होने पर अग्निदेव के प्रसाद से जन्य वर से प्राप्त सिद्धि वाले वे विपश्चित् धारणायोगी थे। उनमें अविद्या विद्यमान थी, अतएव वे आत्म विचारविहीन थे ॥२७-२८॥

और भी सुने, जीवन्मुक्त शरीर वाले ज्ञानयोगियों को व्युत्थानकाल में ही अन्य पदार्थ की प्रतीति होती हैं। अर्थात् जीवन्मुक्तों को व्यवहार काल में ही देहाभिमान होता है, समाधि में तो विदेहकैवल्यसमता ही रहती है, यह विपश्चितों से उनमें विलक्षणता है। मोक्ष भी चित्त का धर्म है, वह चित्त में ही रहा है, देह में नहीं रहता। जो बंधा रहता है, उसके बन्धन की निवृत्ति मोक्ष है। चित्त ही बद्ध रहता है आत्मा नहीं, अतः मोक्ष भी चित्त का ही धर्म है, अतः समाहितचित्त में वह मोक्ष रहता है देहभावापन्न व्युत्थित पुरुष में मोक्ष नहीं रहता। देहधर्म-देहाधीन व्यवहार जीवन्मुक्त के भी शरीर से नहीं हटता, अतः अन्यपदार्थ की प्रतीति की उपपत्ति होती है। जीवन्मुक्त का चित्त भी देहभाव प्राप्त होने पर बन्धन को प्राप्त हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। निर्मुक्त चित्त अर्थात् भलिभाँति मुक्त हुआ (चित्त फिर कभी बन्धन में नहीं पड़ता। गुच्छे से गिरे हुए फल को प्रयत्न से भी कौन बाँध सका है ॥२९-३१

जीवन्मुक्त पुरुषों का भी शरीर शरीरधर्मों से अनुगत रहता है, किन्तु शरीरगत उनका चित्त अविचल रहता है उसमें देहधर्म व्याप्त नहीं होते। अर्थात् मुक्त और अमुक्त पुरुषों में देह धर्मानुवृत्तिसमान है चित्तधर्मानुवृत्ति उनकी एकसी नहीं है ॥३२॥

मोक्षो हि न परज्ञेयो धारणादिप्रयोगवत् ।
आत्मसंवेद्य एवाऽसौ मध्वाद्यास्वादसौख्यवत् ॥३३॥
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान् ।
तन्मुक्तौ मुक्त इत्युक्तः स्वानुभूतिप्रदस्त्वसौ ॥३४॥
अन्तः शीतलचित्तो हि मुक्त इत्यभिधीयते ।
बन्धः संतप्तचित्तेति देहादेस्तन्न दृश्यते ॥३५॥
शरीरे कणशः कृत्ते राज्ये वा विनियोजिते ।
रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह ॥३६॥
न दुःखं न सुखं किंचिदन्तर्भवति तत्स्थितम् ।
गृह्णतोऽप्यनुभूतिस्तु तत्रैवैषाऽस्ति नाऽपरे ॥३७॥
दृश्यन्ते पण्डिता भग्ना रूपान्तरमुपागताः ।
देहादि जीवन्मुक्तानां स्वभावान्न कदाचन ॥३८॥
मृतोऽपि नैव म्रियते रुदन्नपि न रोदिति ।
विहसन्न हसत्येव जीवन्मुक्तो महोदयः ॥३९॥

धारणा आदि वश प्राप्त योग की तरह मोक्ष अन्य पुरुषों द्वारा ज्ञातव्य नहीं है यानी जैसे अन्य लोग धारणावश प्राप्त योग को पहचान लेते हैं वैसे वे मोक्ष की पहचान नहीं कर सकता उसका सुख केवल आत्मसवेद्य है वैसे ही मोक्ष भी केवल आत्मसवेदच ही है । मनका धर्म मोक्ष आत्मसंवेदच कैसे है ? बन्धन के समान मनोगत मोक्ष की साक्षिरूप स्वानुभव से ही सिद्धि है अर्थात् इसी कारण उन्हें अन्य लोग ये जीवन्मुक्त हैं यों नहीं पहिचान पाते हैं, किन्तु धारणा से सिद्ध हुए योगियों की तो उन्हें पहचान होती ही है यह जीवन्मुक्त ज्ञानियों और योगियों में दूसरी विलक्षणता है ॥३३॥

स्वानुभवप्रदान करने वाला आत्मा मन के धर्म सुखदुःखों से युक्त होकर जीवरूप से बन्धन की अनुभूति करता है, वही उसकी (मन की) मुक्ति होने पर शास्त्र में मुक्त कहा गया है

यदि बन्धन और मोक्ष मन के धर्म हैं, तो 'आत्मा बद्ध है आत्मा मुक्त हुआ' यों 'शास्त्र में कैसे व्यवहार होता है इसका समाधान इस श्लोक से किया है ॥३४॥

जिसका अन्तरात्मा आह्लादयुक्त हो वही मुक्त कहा जाता है और जिसका अन्तरात्मा सन्तप्त हो वह बद्ध कहलाता है, अतः मन के धर्म सुखदुःखवश देह के बन्धन और मोक्ष नहीं हैं । भाव यह है कि आभ्यन्तर आनन्द और सन्ताप का अन्तर ही चिदात्मा में अध्यास अनुभव सिद्ध है, अतः उसी में उसे मानना उचित है, बाह्य देह आदि में उसे मानना ठीक नहीं है

अर्थात् यदि यह बात है तो देह आदि भी मन के धर्म सुख-दुखों से बद्ध और मुक्त माने जायेंगे ? इसके समाधान में यह कहा है ॥३५॥

शरीर के टुकड़े-टुकड़े किये जायें अथवा उसे राज्य-सिंहासन पर बैठाया जाय दोनों अवस्थाओं में रो रहे अथवा हँस रहे जीवन्मुक्त पुरुष के अन्दर न तो कुछ शरीर स्थित दुःख होता है और न सुख होता है

अर्थात् जैसे शरीर संयोगी मन में शरीर के धर्मों की प्राप्ति होती है वैसे ही मनोधर्म मोक्ष की भी शरीर में प्रतीतिकी प्रसक्ति हो सकती है

काटा चुभने से पैर में मुझे कष्ट है और देह में मेरे चन्दनलेप प्रयुक्त सुख है, यों लोग मन के धर्म सुख-दुःख आदि का देह में ग्रहण करते हैं इसलिए मनोधर्मों का आत्मा में ही अध्यास क्यों होता है

अवच्छेदकता सम्बन्ध से देह में सुख-दुःख आदि का अनुभव कर रहे मनुष्य को 'अहं सुखी अहं दुःखी' यों आत्मा में ही उसका पर्यवसान है, अतः आत्मा में ही यह सुख-दुःख आदि की कल्पना है, बाह्य देह आदि में नहीं है । इसीलिए आत्मा में अध्यास का अङ्गीकार न करने वाले देहादि में आत्मा का अभिमान करने से रूपान्तर को प्राप्त हुए चार्वाक, नैयायिक, साङ्ख्य, बौद्ध, कणाद आदि पण्डित मोक्ष के उपाय की प्राप्ति न होने से पराभूत दिखाई देते हैं अथवा जल्पकथा में वेदान्तियों द्वारा पराजित दिखाई देते हैं ।

जीवन्मुक्त पुरुषों के देह आदि नित्य अशरीर आत्मस्वभाव से कदापि पृथक् नहीं है, जीवन्मुक्त महोदय मरकर भी नहीं मरता, रोता हुआ भी नहीं रोता और हँसता हुआ भी नहीं ही हँसता है । भगवती श्रुति भी है—'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' इसलिए वह मरणादि धर्मों से युक्त नहीं होता है । अर्थात् सुख-दुःख आदि रूप बन्ध का भले ही देह में भी कथंचित् अनुभव हो, किन्तु मोक्ष का तो देह में कथमपि अनुभव नहीं होता । जीवन्मुक्त पुरुषों को समाधि में और देहभानावस्था में इस बात का स्पष्ट अनुभव तथा मन्द और मध्यम ज्ञानियों को भी व्युत्थान काल में देहभान होने पर उसका अनुभव होता है ॥३६-३९॥

वीतरागाः सरागाभा अकोपाः कोपसंयुताः ।
अमोहा मोहवलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥४०॥
इदं सुखमिदं दुःखमित्यादिकलनास्तु ताः ।
अलं दूरगतास्तेषामङ्कुरा नभसो यथा ॥४१॥
जगदात्मा च नाऽस्त्येव यस्यैकं सर्वमस्ति च ।
सुखदुःखादि तस्येति वाग्व्योमविटपोपमा ॥४२॥
अशोका एव शोचन्ते जीवन्मुक्ता जयान्विताः ।
अच्छिन्ना एकतद्भावा दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥४३॥
शिरः कमलजस्योच्चैः सामगायनतत्परम् ।
हरो नखेन चिच्छेद सुकुमारमिवाऽम्बुजम् ॥४४॥
शक्तोऽपि न पुनर्ब्रह्मा जनयामास तच्छिरः ।
व्योमैकताऽस्य चिद्व्योम्नो मुधा मूर्धेतरेण किम् ॥४५॥

तत्त्वदर्शी लोग वीतराग होने पर भी अनुरक्त जैसे, कोपविहीन होने पर भी कोपयुक्त जैसे तथा मोह रहित होने पर भी मोहयुक्त जैसे दीखते हैं। अर्थात मानस धर्मों से भी उनका सम्बन्ध नहीं है ॥४०॥

यह सुख है यह दुःख है, ऐसी कल्पनाएँ तो उनसे इस प्रकार अत्यन्त दूर रहती है? उनमें सुख दुःख कल्पनाओं का संभव वैसे ही नहीं है। जैसे कि अङ्कुर दूर रहते हैं अर्थात् जैसे आकाश में अङ्कुरों का संभव नहीं है ॥४१॥

जगत् का स्वरूप और तन्मूलक अज्ञान जिसकी दृष्टि में है ही नहीं केवल एक आनन्द स्वरूप सत् ही जिसकी दृष्टि में सब कुछ है उस जीवन्मुक्त पुरुष को भी सुख दुःखादि होते हैं, यह कहना सर्वथा व्यर्थ है कि आकाश की भी शाखाएँ होती हैं ॥४२॥

'सर्वत्र एकत्व की धारणा वाले उस जीवन्मुक्त को शोक मोह कहाँ हो सकते हैं? इस श्रुतिवाक्य के अनुसार शोक मोह को जीतने वाले अतएव शोक मोहविहिन ही जीवन्मुक्त शोक करते हैं। तत्त्वदर्शी लोग शिर आदि अङ्गों का छेदन होने पर भी अच्छिन्न हो अद्वितीय आत्मा में परायण देखे जाते हैं ॥४३॥

ऊँचे स्वर से सामगायन में तत्पर ब्रह्माजी के शिर को भगवान् शङ्कर ने अपने नख से कोमल कमल के समान काट डाला। समर्थ होने पर भी ब्रह्माजी ने उस सिर को अर्थात् पञ्चम सिर को फिर उत्पन्न नहीं किया। ब्रह्मा तो आकाशसम है, अतः मिथ्यारूप पाँचवें सिर से उनको क्या प्रयोजन है ॥४४, ४५॥

न तो उनका यहाँ कर्म से कोई प्रयोजन है और न

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनैह कश्चन ।
यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम् ॥४६॥
हरो हरिणशावाक्षीमक्षीणशरतोऽश्रु च ।
धत्ते वपुषि दुग्धाब्धिर्गुप्तामृतकलामिव ॥४७॥
शक्तोऽपि रागितामेष न त्यजत्युत्तमाशयः ।
पञ्चेषुदाहसमये दृष्टा नीरागतागुणाः ॥४८॥
नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥४९॥
रागितैवाऽस्तु मा वाऽस्य किमरागितयाऽन्यया ।
यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम् ॥५०॥
करोति कारयत्युच्चैर्म्रियते मार्यतेऽपि च ।
जायते वर्धतेऽजस्रं जीवन्मुक्तो जनार्दनः ॥५१॥

अकर्म से कोई प्रयोजन है। जो वस्तु प्राणियों के कर्मवश जैसे सम्पन्न हो गई वह वैसे ही रहे अन्य से क्या प्रयोजन है? देखिये न, ईश्वर का भी प्राणियों के कर्मानुसार ही व्यवहार है अपने लिए नहीं। भगवान श्रीशङ्करजी, अनुगृहीत कामदेव से हरिणाक्षी देवी को अपने अर्धाङ्ग में ऐसे ही धारण करते हैं जैसे क्षीरसागर अपने अन्दर गुप्त चन्द्रमा की कला को धारण करता है; जैसे समुद्र अपने अन्दर चन्द्रकला को धारण करता है जैसे कामदेव का निग्रह होने से उपद्रवविहीन समाधि में प्रवृत्ति होने के कारण अपने शरीर में आनन्दाश्रु धारण करते हैं ॥४६-४७॥

उत्तम आशय वाले ये भगवान् शङ्करजी समर्थ होते हुए भी रागिता का त्याग नहीं करते हैं, कामदहन के समय उनके नीरागता आदि गुण देखने में आये हैं ॥४८॥

न तो उनका कर्म से कोई प्रयोजन है और न अकर्म से ही कोई प्रयोजन है। उनका सकल भूतों में कोई भी प्रयोजनलाभ नहीं है ॥४९॥

उनकी यह रागिता ही रहे अथवा यह अरागिता रहे। अरागिता से उनका क्या लाभ है या क्या हानि है? ॥५०॥

जीवन्मुक्त भगवान् श्रीविष्णु असुरनिग्रह आदि काम स्वयं जोर शोर से करते हैं और इन्द्र आदि द्वारा कराते हैं। अवतार की समाप्ति होने पर मृत्यु स्वीकार करते हैं, मृत्यु स्वीकार के अनुकूल शरभ लुब्धक आदि द्वारा मारे जाते हैं। समय-समय पर रामादिरूप से उत्पन्न होते हैं और अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥५१॥

न चाजवं जवीभावं त्यक्तुं शक्तोऽप्यसौ न तम् ।
तेन त्यक्तेन नैवार्थस्तस्य नैवाऽऽश्रितेन च ॥५२॥
तद्यथास्थितमेवाऽस्तु इह इत्यस्तवासनम ।
हरिर्निरिच्छ एवाऽऽस्ते शुद्धचिन्मात्ररूपभृत् ॥५३॥
आत्मानमान्दोलयति कालकन्दुकतां गतम् ।
अजस्रं नित्यमादित्यो जगद्गृहनभोङ्गणे ॥५४॥
न च रोधयितुं देहं न समर्थो दिनेश्वरः ।
निरिच्छ एव निर्वाणस्तथाप्यास्ते यथास्थितम् ॥५५॥
चन्द्रोऽनुभवति व्यर्थमाकल्पं क्षयमक्षयम् ।
जीवन्मुक्ततया खिन्नो यथास्थितमवस्थितः ॥५६॥
मरुत्तहव्यगौरीशवीर्यग्रासादिखेदिताम् ।
जीवन्मुक्तो वहत्यग्निर्यथा स्थित्या समस्थितिः ॥५७॥

सर्वथा समर्थ होते हुए भी भगवान् श्रीहरि प्राणियों के कर्मवश प्राप्त व्यवहार-व्यग्रता का त्याग नहीं कर सकते । उनका प्राणिकर्मवश प्राप्त व्यवहारव्यग्रता के त्याग से न किसी प्रयोजन की सिद्धि है और न उसके ग्रहण से ही किसी प्रयोजन की सिद्धि है ॥५२॥

वह यहाँ यथास्थित ही रहे, ज्यों-का-त्यों ही रहे । शुद्धचिन्मात्ररूपधारी इच्छा रहित निष्काम हरि भगवान् वासनाविहीन ही रहते हैं ॥५३॥

भगवान् श्रीसूर्य जगत्‌रूपी आँगन में काल की गेंद बनी हुई अपनी देह को नित्य निरन्तर घुमाते रहते हैं। अर्थात् इच्छाविहीन सूर्य आदि भी प्राणियों के कर्मानुसार ही अपने-अपने अधिकार का पालन करते हैं ॥५४॥

दिननायक सूर्य अपने शरीर को रोकने के लिए समर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है । फिर भी निष्काम जीवन्मुक्त सूर्य पूर्व से बँधी हुई अपनी मर्यादा के अनुसार ही रहते हैं, सदा भ्रमण करते रहते हैं ।।५५॥

चन्द्रमा कल्पान्त तक रहने वाले राजयक्ष्मा का, जो कभी नष्ट नहीं होता, व्यर्थ ही अनुभव करता है। जीवन्मुक्त होने के कारण बिना किसी दुःख-पीड़ा के जैसी मर्यादा बंध गई वैसे ही स्थित है, उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता है ॥५६॥

राजा मरुत्त के यज्ञ में लगातार बारह वर्ष तक हाथी की सूँडसी मोटी निरन्तर गिर रही घी की धारा आदिरूप हविः के भक्षण से उत्पन्न हुए अजीर्ण से तथा स्वमी स्कन्द की उत्पत्ति के सिलेसिले में भगवान् शङ्कर का भगवती पार्वतीजी के समागम के समय देवताओं द्वारा विघ्न करने पर अपने स्थान से विचलिए हुए वीर्य को ब्रह्मा के कहने-सुनने से निगलने के कारण हुए अन्तर्दाह आदि से अग्नि खिन्नता को धारण करता है । पूर्व बँधी हुई स्थिति का मर्यादा का कदापि त्याग नहीं करता ॥५७॥

वह्नीभिर्विजिगीषाभिः कृपणाविव ति‌ऽतः ।
जीवन्मुक्तावपि गुरू लोके शुक्रबृहस्पती ॥५८॥
करोति जनको राज्यं जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
जगत्यामाजिषूग्रासु देहं जर्जरतां नयन् ॥५९॥
नलमान्धातृसगरदिलीपनहुषादयः ।
जीवन्मुक्ताश्चिरं राज्यं चक्रुराकुलिता इव ॥६०॥
व्यवहारे यथैवाऽज्ञस्तथैव खलु पण्डितः ।
वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः ॥६१॥
बलिप्रह्लादनमुचिवृत्रान्धकमुरादयः ।
जीवन्मुक्ताः स्थितिं चक्रुर्वीतरागाः सरागवत् ॥६२॥
तस्मादसत्त्वे सत्त्वे च रागद्वेषपक्षयोदये ।
न मनागपि भेदोऽस्ति ज्ञखं प्रति स्वरूपिणि ॥६३॥

देवगुरु और असुरगुरु बृहस्पति तथा शुक्राचार्य यद्यपि जीवन्मुक्त हैं तथापि भाँति-भाँति की परस्पर विजयेच्छाओं से कृपण अज्ञानी ऐसे रहते हैं ॥५८॥

जीवन्मुक्त मुनि ऐसे राजा जनक जगत् में भीषण-भीषण युद्धों में अपने शरीर को क्षत-विक्षत करते हुए राज्य करते हैं ॥५९॥

महाराज नल, मान्धाता, सगर दिलीप, नहुष आदि यद्यपि जीवन्मुक्त थे, फिर भी उन्होंने आकुलित ऐसे हो चिरकाल तक राज्य किया ॥६०॥

व्यवहार में जैसा ही अज्ञानी है वैसा ही पण्डित भी है। वासना और अवासना ही बन्धन और मोक्ष में कारण हैं ॥६१॥

राजा बलि, प्रह्लाद, नमुचि, वृत्रासुर, अन्धकासुर, मुर आदि जीवन्मुक्त थे, वीतराग थे फिर भी उन्होंने रागियों का-सा व्यवहार किया था ॥६२॥

इससे जीवन्मुक्त लोगों में राग, द्वेष आदि के आभास का दर्शन होने पर भी मुक्ति के सन्देह का खण्डन किया गया, यह दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं ।

जीवन्मुक्त चिदाकाश के प्रति राग और द्वेष का क्षय या उदय होने पर सुचरित्रता की सत्ता और दुश्चरित्रता का अभाव होने पर आविर्भूत स्वरूप वाले मोक्ष में तनिक भी संशय नहीं है है ॥६३॥

ज्ञानेनाऽऽकाशशुद्धेन धर्मान्ये गगनोपमान् ।
विन्दन्ति जीवन्मुक्तानां तेषां भेदमतिः कुतः ॥६४॥
भास्करं शक्रकोदण्डं यथा नानेव शून्यकम् ।
आभासमात्रमेवाऽयं तथा दृश्यात्मको भ्रमः ॥६५॥
शक्रचापे यथा भान्ति नानावर्णा नभोऽङ्गणे ।
तथा शून्यात्मका एव ब्रह्माण्डपरमाणवः ॥६६॥
इदं जगदसद्भाति सदिव व्यक्तिमागतम् ।
अजातमनिरुद्धं च यथा शून्यत्वमम्बरे ॥६७॥
साद्यन्तमप्यनाद्यन्तमशून्यमपि शून्यकम् ।
जगज्जातं तथाऽजातमरुद्धं रुद्धमेव च ॥६८॥

मैं ब्रह्म नहीं हूँ ऐसी भेदबुद्धि रहने पर पर ही मुक्ति में संशय होगा, वही उनको नहीं है।

ब्रह्माकाश के तुल्य शुद्ध चरम साक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञान से जो असङ्ग, अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मभाव से आकाश सदृश धर्मों को (देह, मन, प्राण आदि को धारण करने वाले जीवों को) प्राप्त करते हैं उन जीवन्मुक्तों में भेद-भ्रान्ति में हेतुभूत अज्ञान के नष्ट होने से फिर भेदबुद्धि कैसे हो सकती है ? ॥६४॥

तत्त्वसाक्षात्कार से जीवजगद्भेद कैसे बाधित होता है, ऐसी यदि किसी को आशङ्का हो तो वह केवल भ्रान्ति से सिद्ध है इस आशय से उसकी अवास्तविकता को दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं।

जैसे शून्य इन्द्रधनुष नानासा प्रतीत होता है वैसे ही यह दृश्यरूप भ्रम आभास मात्र है, वास्तविक नहीं हैं ॥६५॥

जैसे निस्स्वरूप इन्द्रधनुष में भाँति-भाँति के रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही आकाशरूपी आँगन में शून्यभूत ही ब्रह्माण्डरूपी परमाणु भासित होते हैं ॥६६॥

आकाश में शून्यत्व की तरह प्रकटता को प्राप्त हुआ, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट हुआ यह असत् जगत् सत्सा प्रतीत होता है ॥६७॥

जगत् सादि और सान्त होने पर भी अनादि और अनन्त, अशून्य होने पर भी शून्य, उत्पन्न होने पर भी अनुत्पन्न और नष्ट होने पर भी अनष्ट ही है। नित्यकूटस्थ असङ्ग अद्वितीय वस्तु के जगत्रूप ग्रहण करने पर उसमें आदि-अन्त की (जन्मनाश आदि की) प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है ॥६८॥

जगद्भाव के समान जगत् के जन्मनिरोधभाव की भी ब्रह्म में कल्पना से ही उपपत्ति है, ऐसा यदि कहो

जातं निरुद्धमस्त्येव ब्रह्म व्योमैव भासते ।
यथा दारुमयस्तम्भस्तथा तच्छालभञ्जिका ॥६९॥
समस्तकलनोन्मुक्तं समं निर्निद्रमासनम् ।
यदेकान्तचिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥७०॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
अनुन्मेषं चिदाकाशं तद्विद्यात्तन्मयं जगत् ॥७१॥
तत्र यद्द्वैतमैक्यं तन्मन्ये तदपि नैव च ।
तद्व्योम केवलं भाति मन्ये तदपि नैव वा ॥७२॥
जगदाकाशमेवेदमात्मैवाऽऽत्मनि वा स्थितम् ।
भविष्यत्पुरवद्दृष्टमपि स्फारमपि स्फुटम् ॥७३॥

तो इष्टापत्ति है, क्योंकि कल्पनामात्र से उसकी कूटस्थता की क्षति नहीं हो सकती है, इस आशय से कहते हैं।

उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ, है, यों ब्रह्माकाश ही प्रतीत होता है जैसे काष्ठमयस्तम्भ काष्ठ ही है और जैसे स्तम्भ के एक हिस्से में बनाई गई प्रतिमा भी काष्ठ ही है वैसे ही ब्रह्म में कल्पित यह ब्रह्म ही है ॥६९॥

समस्त कल्पनाओं से रहित, निद्राशून्य, सम केवल आत्मरूप से अवस्थितिरूप जो चिदाकाश है, समाधिदृष्टि से तन्मात्र ही जगत् को जाने। यानि समाधिदृष्टि से कल्पना विहीन जगत् ब्रह्म ही है यों अनुभव में बैठावे ॥७०॥

असमाधिकाल मे शाखा चन्द्र दर्शन में बुद्धिवृत्ति के शाखा प्रदेश से चन्द्रदेश प्राप्ति में बीच मे जो निर्विषय वृत्त्यभिव्यक्त संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये।

एक प्रदेश से अन्य प्रदेश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय चिदाकाशरूप जो संवित् का स्वरूप है तन्मय जगत् को जानना चाहिये ॥७१॥

उक्त प्रकार के चिदात्मा में जो विशेषरूप द्वैत और सामान्यरूप ऐक्य प्रतीत होता है वह भी उक्त चिदाकाशस्वभाव से ही नहीं है ऐसा मैं मनन से निश्चय करता हूँ। वह केवल शून्य है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी नहीं ही है, क्योंकि उस पूर्णानन्दैकरस में शून्यता का भी सम्बन्ध नहीं है ॥७२॥

शून्यता और पूर्णता जैसी सम्प्रति योगिक लोक में प्रसिद्ध हैं, जैसे कि जल से शून्य घड़ा या जल से पूर्ण घड़ा, उसका आत्मा में सम्भव नहीं है, किन्तु यह जगत्, जगत् भाव के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने से, आकाशरूप ही है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा में स्थित है, यों

आकाशकोशविशदाशय दृश्यजातं यन्नाम तस्य जगदित्यभिधां विधाय
मौनात्म तिष्ठति शिलाघनमेव शान्तम्। स्वात्मैव मोहित इवाऽयमहो नु माया ॥७४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गत-विपश्चिदुपाख्याने जीवन्मुक्तकलनं नाम पञ्चविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२५॥

अन्यनिरपेक्ष पूर्णता है। जैसे भावी नगर वर्तमान काल में प्रतियोगिनिरपेक्ष शून्यरूप से दृष्ट होता है वैसे विशाल दिशा, काल आदि प्रतियोगिनिरपेक्ष पूर्णरूप से देखे जाते है वैसे ही यह भी है ॥७३॥

हे आकाश के कोष के सदृश निर्मल आशय वाले श्रीरामचन्द्रजी ! जो सम्पूर्ण दृश्य समूह शिलाघनरूप शान्त मौनरूप स्थित है, उसका आत्मा ही जगत् यह नाम धारण कर मोहितसा स्थित है, अहो माया आश्चर्यभूत है ॥७४॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीतवाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२५ ॥

१२६

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ कुर्वन्तः किं विपश्चितः।
आसंस्तेषु दिगन्तेषु सद्वीपाब्धिवनाद्रिषु ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु किंवृत्तमेतेषां तात तत्र विपश्चिताम्।
तालीतमालमालाढ्यद्वीपाद्रिवनचारिणाम् ॥२॥
क्रौञ्चद्वीपगिरेरेको विपश्चित्पश्चिमे तटे।
कटेनाऽद्रितटे पिष्टः करिणा कमलं यथा ॥३॥
द्वितीयो नभसा नीतो रक्षसा विक्षताङ्गकः।
निक्षिप्तो वाडवे वह्नौ तत्र भस्मत्वमागतः ॥४॥
तृतीयस्त्रैदशं देशं नीतो विद्याधरेण वै।
गतोऽप्रणामकुपितशक्रशापेन भस्मताम् ॥५॥
चतुर्थश्चतुरं गच्छन् कुशद्वीपगिरेस्तटे।
दुर्वारेण नदीकच्छे मकरेणाऽष्टधा कृतः ॥६॥
इति ते पञ्चतां प्राप्ता दिङ्मुखेष्वाकुलाशयाः।
क्षये चतुर्षु चत्वारो भूपाला लोकपालवत् ॥७॥

१२६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! इसके बाद पूर्वोक्त पूर्व आदि दिगन्तों में सात द्वीप, सागर, वन और पर्वतों में गये हुए वे विपश्चित् क्या करते रहे ? ॥१॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे तात ! ताड़ और तमाल के वृक्षों की पङ्क्तियों से पूर्ण द्वीप पर्वत, और वनों में विचरने वाले उन विपश्चितों का वहाँ क्या हाल हुआ, उसे आप सुने ॥२॥

उन विपश्चितों में से विपश्चित् क्रौञ्च द्वीप में प्रसिद्ध वर्ष के सीमारूप पर्वत के पश्चिम किनारे पर हाथी द्वारा पर्वततटवर्ती वप्रशिला पर गण्डस्थल तथा दाँतों से चूर-चूर किये जाने से मर गया वर मांगने के समय सिद्धों द्वारा गमनयोग्य मार्ग तक हमारी मृत्यु न हो यह सीमा बाँधी थी, उसके आगे का मार्ग सिद्धों द्वारा अगम्य था, यह बात यद्यपि कहीं पर कही नहीं गई है तथापि अनुमानतः ज्ञात होती है ॥३॥

दूसरे विपश्चित् को राक्षस ने युद्ध में क्षतविक्षत शरीर आकाश मार्ग से ले जाकर समुद्रवर्ती वड़वाग्नि में झोंक दिया वहाँ उसमें भस्म हो गया ॥४॥

तीसरे विपश्चित् को कोई विद्याधर इन्द्र सभा में ले गया, वहाँ प्रणाम न करने से क्रुद्ध हुए देवराज इन्द्र के शाप से वह भस्म हो गया ॥५॥

चौथा विपश्चित् कुशद्वीप पर्वतवर्ती नदी के दलदल में सतर्कता से चल रहा था, जबर्दस्त मगर ने उसे आठ टुकड़े कर दिये अतएव विचारा मर गया ॥६॥

इस प्रकार दिगन्तों में व्याकुल बुद्धि वाले वे चारों राजा (विपश्चित्) इसी प्रकार मर गये जैसे कि कल्पान्त में चारों दिशाओं में आकुल बुद्धि वाले लोकपाल विनाश को प्राप्त होते हैं ॥७॥

अथ तेषां ददर्शाऽसौ व्योम्न्येव व्योमरूपिणाम् ।
संवित्प्राक्तनसंस्काराद्व्योमात्माऽवनिमण्डलम् ॥८॥
सप्तद्वीपाब्धिवलयं पुरपत्तनभूषणम् ।
सुरशैलशिरःपीठं ब्रह्मलोकशिरोमणिम् ॥९॥
चन्द्रार्कबिम्बनयनं तारामुक्ताकलापकम् ।
विलोलमेघवसनं नानावनतनूरुहम् ॥१०॥
देहान्विपश्चितां संविद्ददर्श चतुरोऽपि सा ।
प्राग्वत्कल्पपरावृत्तौ द्यौर्दिगन्तानिवाऽऽततान् ॥११॥
आतिवाहिकसंवित्तेस्तेऽव्योम्नि व्योमतात्मकाः ।
आधिभौतिकदेहत्वभावान् ददृशुरग्रतः ॥१२॥
अस्यात्मकत्वे विद्येयं कियती स्यादितीक्षितुम् ।
चत्वारोऽपि प्रवृत्तास्ते संस्कारवशतः पुरः ॥१३॥
दृश्यदर्शनयोरुर्वीमण्डलानुभवाकृतेः ।
निष्ठां द्रष्टुमविद्याया भ्रेमुर्द्वीपान्तराणि ते ॥१४॥

मरने के अनन्तर आकाशरूपी उन विपश्चितों की संवित् ने आकाशात्मा बनकर पूर्वजन्म के संस्कार से आकाश में पृथ्वीमण्डल पूर्वजन्म की भाँति देखा ॥८॥

सातों द्वीपों के समुद्र ही उसके कङ्कण थे, नगर और उपनगर उसके विविध आभूषण थे, सुमेरुपर्वत उसका शिर था, सुमेरु पर्वत पर स्थित ब्रह्मलोक उसका शिरोरत्न था, चन्द्रमा और सूर्य के बिम्ब उसके दो नेत्र थे, तारे मोतियों की लड़ी थे, चञ्चल मेघ उसके वस्त्र थे, भाँति-भाँति के वन उसके रोंगटे थे, प्रलय की समाप्ति तथा सृष्टि आरम्भ में जैसे प्रथम सृजन किये गये प्रजापति विशाल दिगन्तों को पूर्वकल्प के सदृश ही देखते हैं वैसे ही उक्त संवित् ने विपश्चितों के चारों शरीरों को पूर्ववत् देखा ॥९-११॥

चिदात्मा में ही आकाशताप्रतीतिरूप आकाशात्मकता को प्राप्त हुए उन विपश्चितों ने मानसिक प्रतिभास मात्र के विषय प्रतिभासिक देह में आधिभौतिक देहताप्रयुक्त स्थूलता, जड़ता आदि भावों को सामने देखा ॥१२॥

इस तरह निश्चित देह के अज्ञातात्मक होने पर यह दृश्य पृथिवी आदिरूप अविद्या कितनी बड़ी होगी यह देखने के लिए पूर्वसंस्कारवश वे प्रस्तुत हुए ॥१३॥

दृश्य और दर्शन में से पृथिवीमण्डलरूप अनुभवाकार अविद्या कि इतनी बड़ी है, इस परिमाण को देखने के लिए द्वीपद्वीपान्तरों में भटके ॥१४॥

द्वीपसप्तकमुल्लङ्घ्य स महार्णवसप्तकम् ।
विपश्चित्पश्चिमः प्राप घनभूमौ जनार्दनम् ॥१५॥

तस्मादनुपमं ज्ञानं समासाद्य दिगन्तरे ।
तस्मिन्नेव समाधाने सोऽतिष्ठद्वर्षपञ्चकम् ॥१६॥

ततो देहं परित्यज्य चित्ते सत्तामुपागते ।
स तत्प्राण इवाऽऽकाशं परं निर्वाणमाययौ ॥१७॥

पूर्वः पर्वणि शीतांशुबिम्बपार्श्वे स्थितं वपुः ।
चिन्तयंश्चिरमुत्सृष्टदेहश्चन्द्रपुरे स्थितः ॥१८॥

पश्चिम विपश्चित् को सात महासमुद्रों के साथ सात द्वीपों को लाँघकर भाग्योदयवश पूर्व-वर्णित स्वर्णमय भूमि में क्रीड़ाकर रहे भगवान् श्रीविष्णु के दर्शन हुए ॥१५॥

भगवान् श्रीविष्णु से अनुपम ब्रह्मविद्या प्राप्तकर उसी स्वर्णभूमि में पाँच वर्ष तक वह समाधि में रहा ॥१६॥

देहभाव का परित्यागकर वीतहव्य के उपाख्यान में वर्णित रीति से चित्त के सन्मात्ररूपता को प्राप्त होने पर (असत्ता ऐसा छेद करने पर चित्त के विलीन होने पर इस प्रकार अर्थ करना चाहिये) वह विपश्चित् जैसे कि उसका प्राण आकाशता को (शून्यता को) प्राप्त हुआ। वैसे ही परम निर्वाण को कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुआ। यह षोडश कलाओं का उपलक्षण है, क्योंकि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाम्' श्रुति है ॥१७॥

पूर्व दिशा की ओर चला हुआ विपश्चित् पर्व में (पूर्णिमा के दिन) पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के पास अपने शरीर का चिरकाल तक (जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं हुई तब तक) चन्द्रमा के समान ध्यान कर पूर्व शरीर के नष्ट हो जाने से चन्द्रलोक में स्थित हुआ।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चारों शरीरों में एक ही विपश्चित्-जीव जैसे योगी का ही जीव कायव्यूहों में विभक्त होकर रहता है; वैसे ही विभक्त होकर रहता है, वैसे ही विभक्त होकर स्थित था, उसकी पश्चिम विपश्चित्-शरीर में विष्णु भगवान् की प्रसन्नता से मुक्ति होने पर कौन दूसरा पूर्व विपश्चित् शरीर में चन्द्र की उपासना

द्वारा चन्द्रलोक को जायगा, एक ही जीव की कहीं पर मुक्ति और कहीं पर बन्धन एक ही साथ किसी प्रकार सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से मुक्तिरूप फल पाक्षिक और परिच्छिन्न हो जायगा। यह भी सम्भव नहीं है कि एक जीव यदि चार शरीर धारण करे तो उसके चार जीव हो जायेंगे अथवा अन्य जीवों की उत्पत्ति हो जायगी, क्योंकि प्रथम पक्ष में अर्थात् चार विभाग मानने पर पूर्व जीव के नाश की आपत्ति आवेगी। दूसरे पक्ष में नये उत्पन्न हुए जीवों को काम, कर्म, वासना आदि बीज के अभाव में संसार प्राप्ति नहीं होगी। यदि कहो कि जैसे भोगवैचित्र्यका कर्मों द्वारा या माया से बिना किसी विरोध के निर्वाह होता है वैसे ही बन्ध-मोक्ष-वैचित्र्य का भी कर्मों द्वारा या माया से निर्वाह हो सकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो मोक्ष कर्माधीन नहीं है, दूसरे मोक्ष में सकलमाया निवृत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से विरोध आवेगा।

ठीक है, यहाँ पर भगवान् श्रीवसिष्ठजी का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव ब्रह्माकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म ही अन्तःकरणरूप उपाधियों में माया द्वारा विभक्त होकर अन्तःकरणगत काम, कर्म और वासना के अनुसार संसारी के समान मालूम पड़ता हुआ जीव कहा जाता है। अन्तःकरण दीपक की तरह बहुतों को मिलाने से एक और विशाल होता है। एक ही अन्तःकरण योग, देवता आदि के अनुग्रह आदि निमित्त से एक ही काल में विरुद्ध अनेक प्रदेशों में भोगने योग्य कर्मों का उद्गम होने के कारण अनेक भी हो सकता है। जब बहुत से जीवों का समान देश और काल में भोगने योग्य एक समान काम, कर्म और वासना का उदय होता है तब भोग के लिए मेलन होने पर एकजीवत्व ही होता है, जब तक विरुद्ध देश में भोग के कारण कर्म का उदय न हो तब तक लाघव से भोगायतन (भोग स्थान) एक ही शरीर रहता है। जैसे युधिष्ठिर-जीव धर्म और इन्द्र के मेल से एक जीव रहा, जैसे भीमजीव वायु और इन्द्र के मेलन से एक जीव रहा, जैसे अर्जुन-जीव इन्द्र और नर के मेलन से एक जीव हुआ, जैसे नकुल-सहदेव का इन्द्र और अश्विनीकुमारों के मेलन से एक जीव हुआ तथा जैसे द्रौपदी का नारायणी, लक्ष्मी और गौरी के अंशों के मेलन से एक जीव हुआ यह बात पञ्चेन्द्रोपाख्यान आदि के पर्यालोचन से प्रसिद्ध है। अथवा जैसे अग्नि और वायु का इन्द्र के शापवश अगस्त्यावतार में मेलन से एक जीव हुआ इत्यादि और भी अनेक घटनाएँ हैं।

एक जीव की, अनेक उपाधियों में विभाग होने से, अनेक जीवता भी सम्भव है। कश्यप से अपने गर्भ में इन्द्र विनाशक पुत्र को पाकर अपवित्रता के साथ सोई हुई दिति के एक जीव वाले एक शरीर के गर्भ के पहले सात टुकड़े करने पर सात जीव हुए तदुपरान्त एक-एक टुकड़े के सात-सात खण्ड करने पर उत्पन्न हुए ऊनचास मारुतों के ऊनचास जीव हो गये। बरगद, ईख, दूब आदि के काण्ड, शाखा और टहनियों में से प्रतिशाखा और प्रतिकाण्ड पनप उठते हैं, इससे ज्ञात होता है कि एक जीव का नाना जीवरूप से औपाधिक विभाग खूब प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार प्रकृत में भी चार जीवों के जब तक समान (एक से) काम, कर्म और वासना आदि रहे तब तक उन्होंने एक देह से राज्य का पालन किया. जब विरुद्ध भिन्न देश में भोगने योग्य काम, कर्म आदि का उद्भव हुआ तब उनका देह आदि के विभागपूर्वक भिन्न-भिन्न दिगन्तों में भ्रमण हुआ ऐसी कल्पना करने में अथवा एक ही विपश्चित् जीव के उपाधि विभाग से ऊनचास मरुतों की भाँति चार जीव हुए ऐसी कल्पना में भी एक की मुक्ति होने पर सबों की मुक्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा।

यदि कोई कहे कि बहुत से जीवों के मेलन से एक जीव का आरम्भ होने पर उस नवीन जीव को कर्मों के अभाव में संसार प्राप्ति न होगी यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आरम्भवाद से नवीन जीव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। गङ्गा और यमुना के जल को मिलाने से दोनों के एक होने पर नूतन गङ्गा की बुद्धि न होने से वही यह गङ्गा है ऐसी प्रत्यभिज्ञा में कोई बाधा नहीं आती। इसी प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से दो उपाधियों के मिलकर एक हो जाने पर उपहितों का भी मिलकर एक हो जाना सकलप्रतीति सिद्ध है। एक होने से भी प्राक्तन कर्मभोग हो सकता है।

इस प्रकार एक जीव के चार जीव बन जाने पर प्रत्यभिज्ञा से चारों का प्राक्तन जीव के साथ अभेद होने से उसके काम, कर्म और वासनाओं का चार प्रकार से विभाग से व्यवस्था होने के कारण उनके संसार की उपपत्ति तथा एक की मुक्ति होने पर भी दूसरे को ज्ञान न होने से संसार-प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्तिरूप फल वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न न रहेगा। जैसे व्यष्टि जीवों की मुक्ति होने पर भी समष्टि हिरण्यगर्भरूप जीव की अधिकार की समाप्ति में मुक्ति होती है; वैसे ही यहाँ

दक्षिणः शाल्मलिद्वीपे राजन्नुत्सन्नशात्रवः ।
करोत्यद्याऽपि न सतो विस्मृतान्यविनिश्चयः ॥१९॥
उत्तरस्तरलास्फालकल्लोले सप्तमाम्बुधौ ।
सहस्रमेकं वर्षाणामुवास मकरोदरे ॥२०॥
मकरोदरमांसाशी मृते मकरनायके ।
मकरोदरतोऽब्धेश्च निर्गतो मकरो यथा ॥२१॥
ततोऽशीतिसहस्राणि योजनानां घनावनिम् ।
हिमकल्पजलाम्भोधेरुल्लङ्घ्य सुघनोदरीम् ॥२२॥

पर भी व्यवस्था उपपन्न है। समष्टि जीवरूप हिरण्यगर्भ का तत्त्वज्ञान व्यष्टि जीवों की मुक्ति न होने पर वैकल्पिक तथा परिच्छिन्न मोक्षरूप फलवाला नहीं माना जाता है। जहाँ पर व्यष्टि और समष्टि के अभेद के रहने से भी मुक्ति-सङ्कर नहीं है वहाँ पर वर्तमान जीवभेद होने पर केवल प्राचीन जीव के अभेद मात्र से मुक्तिसंकर की आपत्ति का अवसर ही कहाँ है? 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (स्वात्मज्ञानप्राप्तिकाल में सुख, दुःख मोहरूप सकल प्रपञ्चरूप माया की निवृत्ति हो जाती है) यह श्रुति भी तत्-तत् जीवों की उपाधिभूत सकल बीजों की निवृत्ति का प्रतिपादन करती है। अन्यथा एक की मुक्ति से ज्ञान-विहीन सकल जीवों की मुक्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा और 'तद् यो-यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (देवताओं में जो-जो आत्मज्ञानी हुआ वह ब्रह्म (मुक्त) हुआ, ऋषियों में जो-जो प्रबुद्ध हुआ वह मुक्त हुआ और मनुष्यों में जो-जो आत्मज्ञानी हुआ वह मुक्त हुआ), 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (बहुत से लोग ज्ञानरूपी तपस्या से पवित्र होकर मत्स्वरूपता को प्राप्त हुए हैं) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। यदि कोई कहे कि तब तो आधुनिक मन्द अधिकारी भावी अनेक जन्मों से प्राप्त होने वाले मोक्ष की आशा से साधनों का अनुष्ठान नहीं करेगा, क्योंकि उसे यह आशङ्का रहेगी कि मुझ एक जीव के अनेक जीव होने से कहीं पर मोक्ष होने पर भी कहीं पर बन्धनानुवृत्ति की निवृत्ति न होगी ऐसी स्थिति में अनिर्मोक्ष शङ्का की निवृत्ति न होगी। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसाधन के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है, स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (इस धर्म का थोड़ा भी अंश महान् भय से रक्षा करता है), 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति', 'अनेक-जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (अनेक जन्मों में सिद्धि को प्राप्त होकर तब परम गति को (मुक्ति को) प्राप्त होता है) इस स्मृतिरूप प्रमाण के अनुरोध से आने वाले जन्मों में नाना जीव रूप से अविभाग का, अथवा विभाग होने पर भी साधन संस्कारों के साथ ही विभाग से सर्वत्र क्रमशः अवश्यमेव ज्ञानोदय का अनुमान होने से साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति की उपपत्ति होती हैं। उसी प्रकार भिक्षुजीवटोपाख्यान के साधनानुष्ठान वाले भिक्षु के प्रमादवश हुए सङ्कल्पों से प्राप्त नाना जीवता के अन्त में शतरुद्रभाव होने पर उसके विभागरूप सब जीवों की ज्ञानप्राप्ति और मुक्ति का वर्णन है। यदि कोई कहे इस प्रकार सर्वजीवों की मुक्ति की अनापत्ति हो जायगी, यह इष्टापत्ति ही है; क्योंकि मायादृष्टि से माया की अनन्तता की 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध है। तत्त्वदृष्टि से तो जीव ही नहीं है, ऐसी अवस्था में किसकी मुक्ति की अनापत्ति होगी। यदि कहो कि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुति से विरोध आवेगा सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस श्रुति की केवल एक व्यक्ति की आर्ति से भी उपपत्ति हो जायगी। प्रवाह की अनन्तता में कोई विरोध नहीं आवेगा चरम व्यक्ति का नाश ही प्रवाहनाश है। सर्व जीव रूप ससार का चरम व्यक्ति ही प्रसिद्ध नहीं है, उसके नाश की प्रसिद्धि कहाँ से होगी? प्रस्तुत में एक ही पश्चिम विपश्चित को भगवान् की भक्ति के परिपाक से उत्पन्न हुए भगवान् के प्रसाद से ज्ञानप्राप्ति हुई औरों को नहीं हुई, इस कारण केवल उसी की मुक्ति हुई। इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है ॥१८॥

हे राजन्! दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चित् अपने शत्रुओं को मटियामेटकर आज भी शाल्मली द्वीप में राज्य करता है, कारण कि परमार्थ सत् वस्तु के लाभ से बाह्य पदार्थों का निश्चय उसे विस्मृत नहीं हुआ। उत्तर की ओर प्रस्थित विपश्चित ने चञ्चल तथा आकाश की ओर उछलने वाली कल्लोलों से पूर्ण स्वादूदक सागर में एक हजार वर्ष तक मगर के पेट में निवास किया। मगर के पेट के मांस से अपनी गुजर करने वाला वह मगर के मरने के बाद सागर से और सगर के पेट से मगर के समान बाहर निकला ॥१९-२१॥

अनन्तर हिम के समान स्वच्छ जलवाले स्वादूदक सागर के अवशिष्ट अस्सी हजार योजन पारकर विशाल उदरवाली दस हजार योजन की सुवर्णमय महाभूमि में

प्राप्तो दशसहस्राणि योजनानां महामहीम् ।
सौवर्णी सुरसंचारसरणिं मृतवानसौ ॥२३॥
तस्यां भूमौ च मध्ये च विपश्चिन्नाकितामगात् ।
उत्तमामग्निमध्यस्थं क्षणात्काष्ठमिवाऽग्निताम् ॥२४॥
प्रधानदेवो भूत्वाऽसौ लोकालोकगिरिं गतः ।
अस्य भूमण्डलतरोरालवालमिव स्थितम् ॥२५॥
स पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां समुन्नतः ।
आलोकलोकाचाराढ्यो भाग एकोऽस्य नेतरः ॥२६॥
लोकालोकशिरः प्राप्तं तारकामार्गसंस्थितम् ।
अधःस्थिता अपश्यंस्तमुच्चनक्षत्रशङ्कया ॥२७॥
तस्मात्प्रदेशात्तत्पारे तमस्तस्य महागिरेः ।
चतुर्दिक्कं महाखातं नभः शून्यमनन्तकम् ॥२८॥
ततो भूगोलकोऽयं हि समाप्तो वर्त्तुलाकृतिः ।
नभः शून्यं महाखातं ततस्तिमिरपूरितम् ॥२९॥
तत्राऽलिकज्जलतमालनभोन्तराल-
नीलं तमो न च मही न च जंगमादि ।
नाऽलम्बनं न च मनागपि वस्तुजातं
किंचित्कदाचिदपि संभवतीति विद्धि ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गते विपश्चिदुपाख्याने विपश्चिज्जन्मान्तराचरणं नाम षड्विंशाधिकशततमः सर्गः ॥१२६॥

जहाँ देवता लोग विहार करते हैं, वहाँ आया, वहीं पर उसकी मृत्यु हो गई ॥२२, २३॥

उस भूमि के बीच में मरकर वह विपश्चित् वैसे ही देवत्व को प्राप्त हुआ जैसे कि अग्नि के मध्य में पड़ा हुआ काठ क्षण भर में अग्निता को प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

उक्त विपश्चित् देव श्रेष्ठ बनकर पूर्वजन्म की दिगन्त-भ्रमण की वासना से वहाँ से लोकालोक पर्वत को, जो इस भूमण्डलरूपी वृक्ष का आलबाल-सा (थाला-सा) है, वहाँ गया ॥२५॥

उक्त लोकालोक पर्वत पचास हजार योजन ऊँचा है, इसका एक हिस्सा सूर्य के प्रकाश से लोगों के व्यवहार से परिपूर्ण रहता है और दूसरा हिसा लोकव्यवहार से शून्य रहता है ॥ २६॥

लोकालोक पर्वत पर चढ़कर उसकी चोटी पर पहुँचे तारों के लोक में स्थित उस देवभूत विपश्चित् को नीचे के लोगों ने ऊँचे नक्षत्र की आशङ्का से देखा ॥२७॥

उस जगह से वह लोकालोक महापर्वत के दूसरे भाग में, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है चारों ओर परिखाकार बड़ा भारी गड्ढा है जो आकाश के समान सब प्राणियों से शून्य तथा अनेक योजन विस्तृत है, वहाँ गया ॥२८॥

उसके बाद यह कन्दुकाकार भूगोल समाप्त हो गया। उसके बाद अन्धकार से परिपूर्ण महापरिखाकार प्राणियों से शून्य आकाश है ॥२९॥

उस परिखा में भँवर के समान, काजल के समान और तमाल के समान आकश के बीच में अन्धकार है। न पृथिवी है, न स्थावर जंगम प्राणी हैं और न आश्रय है। और न कभी किसी भी वस्तु का सम्भव ही है, ऐसा आप समझिए ॥३०॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में विपश्चिज्जन्मान्ताचरण नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२६॥

१२७

श्रीराम उवाच

भगवन् ! कथयैतन्मे कथं भूगोलकं स्थितम् ।
कथमृक्षगणो याति लोकालोकः कथं गिरिः ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

यथा संकल्परचिता शिशोर्व्योमनि तिष्ठति ।
वीटा चिन्मात्रबालेन कल्पिता भूस्तथाऽम्बरे ॥२॥

१२७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! यह निराधार भूगोल कैसे स्थित है, क्योंकि नक्षत्र मण्डल जिसका कोई आधार नहीं है, अत: कैसे भ्रमण करता है तथा आपने जिस लोकालोक पर्वत का वर्णन किया वह कैसा है अर्थात् उसकी उक्त संज्ञा का क्या कारण है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हिरण्यगर्भरूपी बालक द्वारा परिकल्पित भूमि भी वैसे ही आकाश में टिकती है; गिरती नहीं है; जैसे बालक के संकल्प से परिकल्पित कन्दुक आकाश में रहता है। अर्थात् मिथ्या होने से ही उसके पतन की शङ्का नहीं है ॥२॥

यथा तिमिरकाक्षाणां केशचन्द्रादिदर्शनम् ।
चिदाकाशस्य सर्गादौ तथा पृथ्व्यादिदर्शनम् ॥३॥
यथा संकल्पनगर धार्यमाणं न दृश्यते ।
धार्यतेऽधार्यते मा च तथोर्व्यनुभवश्रितेः ॥४॥
यद्यथा यावदाभाति चिति चित्वात्स्वभावतः ।
तत्तथा तावदाभाति तत्र तत्र तदात्मकम् ॥५॥
तिमिराक्रान्तनेत्रस्य केशोण्डुकमिवाऽम्बरे ।
चिन्मात्रस्य महीगोलो यो भातः स तथा स्थितः ॥६॥
ऊर्ध्वं वहन्त्यः सरितस्तदधस्ताद्धुताशनः ।
चिति चेत्स्वप्नवद्भाति तत्तथा तत्स्थितं भवेत् ॥७॥
तस्मात्पतन्ती भूर्भाता पतत्येवाऽनिशं जगत् ।
उत्पतन्ती तु चिद्भाता तथा नानात्मिका भवेत् ॥८॥

चिदाकाश को सृष्टि के आदि में पृथिवी आदि का वैसे ही दर्शन होता है जैसे तिमिर रोग से पीड़ित नेत्र वाले रोगी को आकाश में केशचन्द्र आदि का केशों के गोलों के समान दर्शन होता है ।।३।।

पृथिवी आदि की भी वही दशा है जैसी संकल्प-नगर किसी आधार से धार्यमाण नहीं दिखाई देता । यद्यपि संकल्प नगर काल्पनिक स्तम्भ, भीत आदि के आधार में रहता है तथापि काल्पनिक स्तम्भ आदि के अवास्तविक होने से उनसे धृत नहीं है, ।।४।।

चित् होने से स्वभावतः चित् में जिस वस्तु का जिस प्रकार से जबतक भान होता है सर्वत्र उस वस्तु का उस प्रकार का स्वभाव उतने समय तक प्रतीत होता है

अर्थात् सब वस्तुओं के स्वभाव की सिद्धि चित् के अधीन है किसी से धारण न की गई गोल आकारवाली भूमिका, जो चित् से सिद्ध है, वैसे ही स्वभाव का अनुमान करना चाहिये ।।५।।

चिन्मात्र को जो भूगोल की (पृथिवीरूपी गेंद की) प्रतीति भी वैसे ही भ्रान्तिरूप से ही स्थित है जिस पुरुष के नेत्रों में तिमिर रोग होता है उसे जिस प्रकार आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है ।६।

यदि सृष्टि के आदि में चित् में ऊपर को प्रवाहित होनेवाली नदियों की तथा नीचे की ओर ज्वाला वाले अग्नि की प्रतीति होती है जैसे कि स्वप्न में प्रतीति होती है तो वह विपरीत प्रतीति आज भी वैसे ही स्थित रहती है अर्थात् नदी आदि का नीचे की ओर बहना आदि स्वभाव से विपरित स्वभाव का भी यदि कहीं चित् द्वारा अवभास होता तो उसके भी अस्तित्व की ही प्रतीति होती असत्त्व की प्रतीति नहीं होती जैसे कि स्वप्न में जाग्रत् से विपरीत स्वभाव की प्रतीति होती है ।।७।।

कोई वादी मानते हैं कि पृथ्वी गुरु होने से निरन्तर महाकाश में गिरती है । आकाश के अधःप्रदेश की अवधि न होने से इसका गिरना कहीं पर भी नहीं रुकता, बहुत बड़ी होने से उसका पतन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता है । ज्योतिश्चक्र (ज्योतिर्मण्डल), जो दोनों ओर से मेरुपर्वत पर जुड़े हुए दक्षिण और उत्तर ध्रुव में बँधा है, पृथ्वी के साथ ही गिरता है । वह अत्यन्त हलका होने के कारण गिरने से ही अनादि काल से घूमता है । कोई लोग यह मानते हैं कि 'योऽप्सु नावं प्रतिष्ठां वेद प्रत्येव तिष्ठति, इस श्रुति के अनुसार भूमिका आधार सागर है अर्थात् भूमि सागर पर आधारित है । उसमें कहीं पर न बँधी हुई भूमि नाव की तरह घूमती रहती और प्रलयकाल में सागर में डूब जाती है एवं सृष्टि के समय जल में फेंकी हुई तुम्बी की तरह ऊपर आ जाती है । दूसरे लोग यह मानते हैं कि भूमि के ऊपर, नीचे और अगल-बगल अगाध जल ही जल है । उसके अन्दर छिद्रों में भूमि के सात लोक हैं, जिनका मध्य भाग वायु से पूर्ण है । उनके मध्य भाग में स्थित वायु के अतीव हलका होने के कारण जलमग्न तुम्बी के समान सातों लोक सदा ऊपर की ओर जाते हैं । और लोग मानते हैं कि भूगोल के चारो ओर आकाश ही आकाश है । उसके असीम और गुरु होने के कारण मेरुपर्वत पर स्थित देवताओं की दृष्टि से दक्षिण भाग ही अधोभाग है, अतः दक्षिण से ही वह सदा गिरता है । दूसरे असुरपक्षीय वादी पाताल देश को ही ऊर्ध्वप्रदेश मानते हैं । देवता जिसे ऊर्ध्वदिशा मानते हैं, उसको वे अपनी कपोल-कल्पना से अधोभाग मानकर गुरुतर भूमि का उत्तर से ही गिरना निश्चित करते हैं । इसी रीति से पूर्व और पश्चिम दिशाओं के निवासी भी अपने-अपने देश को ऊर्ध्व दिशा मानकर पूर्व और पश्चिम से भूमि के गिरने की कल्पना करते हैं । कोई वादी कहते हैं ज्योतिर्मण्डल (सौर परिवार) नहीं घूमता किन्तु पृथिवी ही अपनी जगह पर घूमती है । भूमि का चलना हम लोग नहीं देख पाते । जैसे नाव में सवार हुए लोग पड़ों का चलना देखते हैं वैसे ही हम ज्योति-

स्तब्धभाता स्थिता स्तब्धा सालोका तु प्रकाशिनी।
निरालोका निरालोकलोकानामात्मनि स्थिता ॥९॥

चिद्भानैकानुसारेण ताराचक्रं तथा मही।
असदेव सदैवेदं भातीदमविखण्डितम् ॥१०॥

आलोकालोकमेवाऽस्य नभःखातं ततो महत्।
तम एकार्णवाकारं स्थितं तत्र क्वचित्क्वचित् ॥११॥

दूरत्वादृक्षचक्रस्य करालत्वान्महागिरेः।
क्वच्चित्तमः क्वचित्तेजस्तत्रैवाऽचलवरेऽपि च ॥१२॥

मंण्डल का घूमना देखते हैं। अन्य लोग कहते हैं भूमि ही सब की अपेक्षा नीची है। उसके चारों ओर स्थित लोगों की दृष्टि से उनके शिरःप्रदेश से उपलक्षित सकल दिशाएँ ऊर्ध्व दिशाएँ हैं। उन दिशाओं में गुरुतावश जिस दिशा में पृथिवी के पतन की संभावना की जाय वह दिशा ही निश्चित नहीं है, विनिगमक कोई न होने से पृथ्वी कहीं पर भी नहीं गिरती है, अपनी जगह पर ही निश्चल रहती है। पूर्वोक्त सभी वादियों की स्वबुद्धि में अवच्छिन्न चित् की सत्ता से सब कुछ सत्य है। वास्तविक में कुछ भी सत्य नहीं हैं, यह अभिप्राय है ॥८॥

यदि पृथ्वी का बुद्धयवच्छिन्न चैतन्य में निश्चल है, यों भान हो तो वह निश्चल ही प्रतीत होगी। जो प्राणी रात-दिन अप्रतिहत नेत्र हैं, उनकी दृष्टि में यह सर्वदा प्रकाश वाली है तथा जात्यन्ध (जन्मान्ध) लोगों की दृष्टि में सदा ही प्रकाशशून्य है अर्थात् इसी कारण तत्-तत् वादियों की भूमिका निरन्तर नीचे गिरना, ऊपर जाना, घूमना, तैरना आदि कल्पनाएँ भी तत्-तत् वादियों की बुद्धि में अवच्छिन्न चित्सत्ता से सत्य ही हैं, ॥९॥

केवल चिद्भान के अनुसार यह साराका सारा नक्षत्र-मण्डल तथा पृथिवी असत् ही अथवा सत् ही प्रतीत होती है। अर्थात् इसी प्रकार सत्वादी तथा असत्वादियों का चिद्भान के अनुसार सौरपरिवार तथा महीमण्डल वैसा ही (सत् अथवा असत्) है ॥१०॥

यह पृथिवी लोकालोक पर्वत तक व्याप्त है। बस इतना ही इसका परिमाण है। उसके अनन्तर बलयाकार (गोल) गड्ढा है और उसमें एकमात्र समुद्राकार महान् अन्धकार स्थित है। कहीं-कहीं पर (लोकालोक पर्वत के दो शिखरों के मध्य में) थोड़ा बहुत धूप का भी प्रवेश है ॥११॥

परिखा के चारों ओर रहने वाले नक्षत्र मण्डल के अतिदूरवर्ती होने तथा पर्वत के (लोकालोक गिरि के) विशालकाय होने के कारण उसी अधित्यका पर्यन्त किसी भाग में अन्धकार रहता है और किसी भाग में प्रकाश रहता है, इसलिए वह लोकालोक (लोक+अलोक) है ॥१२॥

लोकालोकगिरेः पारे स्थितादाकाशमण्डलात्।
दशदिक्कं सुदूरेण ऋक्षचक्रं विवर्तते ॥१३॥
आपातालदिवो नद्धमृक्षचक्रं तदम्बरे।
दशदिक्कं प्रसरति पतद्ध्रुवाद्दृतेऽभितः ॥१४॥
भूलोकमेव पातालयुतं नक्षत्रमण्डलम्।
पर्येति लोकालोकान्ते नाऽन्यच्चित्कल्पनाच्च तत् ॥१५॥
सलोकालोकभूलोकद्विगुणात् खादनन्तरम्।
पक्वाक्षोटस्य भिस्सेव स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥१६॥
द्विगुणा नभसस्तस्मादृक्षचक्रस्य पुष्टता।
दशदिक्कं विसरतो बिल्वत्वक्सदृशस्थितेः ॥१७॥

लोकालोक पर्वत के उस पार स्थित आकाश मण्डल से अतिदूर चारों ओर नक्षत्र मण्डल परिभ्रमण करता है ॥१३॥

पाताल से लेकर द्युलोक तक विस्तृत वह नक्षत्रमण्डल आकाश में बँधा है। सबसे ऊँचे स्थित ध्रुव को छोड़कर और सारा नक्षत्र मण्डल चारों ओर भ्रमण करता हुआ दशों दिशाओं में संचार करता है ॥१४॥

यह नक्षत्र मण्डल लोकालोक पर्वत के शिखर पर पाताल सहित सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और वह चित् की कल्पना से अतिरिक्त नहीं है ॥१५॥

लोकालोक पर्वत सहित भूलोक से दुगुने आकाश मण्डल के अनन्तर पके हुए अखरोट के कड़े छिलके के समान नक्षत्र मण्डल स्थित है ॥१६॥

भूलोक से दुगुने आकाश से नक्षत्र मण्डल का अन्तर्दल-विस्तार दुगुना है। दशों दिशाओं में घूमने वाले नक्षत्र मण्डल की स्थिति बेल के छिलके के समान है ॥१७॥

संविद्घनस्य कचनं यादृशं कल्पनात्मकम्।
यदित्थं संनिवेशेन नन्वियं जागती स्थितिः ॥१८॥
नक्षत्रचक्राद् द्विगुणं ततोऽन्यद्विद्यते नभः।
तच्च क्वचित्प्रकाशाढ्यं क्वचित्सान्द्रतमोमयम् ॥१९॥
पर्यन्ते तस्य नभसः स्थितं ब्रह्माण्डखर्परम्।
एकमूर्ध्वं परमधो गगनं मध्यमेतयोः ॥२०॥
योजनानां कोटिशतं पुष्टं वज्रदृढं च तत्।
स्थितं संवेदनमयं व्योम्नि व्योममयात्मकम् ॥२१॥
सर्वदिक्कं महागोले नभसि स्वर्कतारकम्।
किमत्रोर्ध्वमधः किं स्यात्सर्वमूर्ध्वमधश्च वा ॥२२॥
पतनमुत्पतनं गमनं स्थितं
चित इति स्फुरितं न तु वस्तु तत्।
पतनमस्ति न चोत्पतनं न वा
गमनमागमनं स्थितमित्यपि ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गते विपश्चिदुपाख्याने भूगोलकनिर्णयो नाम सप्तविंशाधिकशततमः सर्गः ॥१२७॥

शबल ब्रह्म का सत्य सङ्कल्पात्मक जिस प्रकार का कचन है, वही इस प्रकार के संनिवेश से यानी ब्रह्माण्ड और उसके अवयवरूप से जगत् की स्थिति है ॥१८॥

अनन्तर नक्षत्र मण्डल से दुगुना पूर्वोक्त आकाश से दूसरा आकाश है और वह कहीं पर प्रकाश से जगमगाता है और कहीं पर गाढ़ अन्धकार से व्याप्त है ॥१९॥

उस आकाश के आखिरी छोर पर ब्रह्माण्डकपाल है। उसमें एक कपाल ऊपर है और एक नीचे है। इन दोनों के बीच में आकाश है ॥२०॥

एक अरब योजन विस्तीर्ण वज्र के समान कड़ा और मजबूत कल्पनामात्र स्वरूप परमार्थरूप में आकाश का विकार पञ्चीकृत भूतकार्यरूप आकाश चिदाकाश ही है, उससे पृथक् नहीं है, वह आकाश में स्थित है ॥२१॥

महागोलाकार आकाश में ज्योतिर्मण्डल सभी ओर व्याप्त रहता है। ऐसी परिस्थिति में इस ज्योतिश्चक्र में क्या ऊपर है, क्या नीचे है, क्या पूर्व है, क्या पश्चिम है ? यदि है तो सभी ऊपर है, सभी नीचे है और सभी पूर्व तथा पश्चिम है ॥२२॥

सब वस्तुओं का गिरना, उड़ना, तिरछे चलना तथा एक जगह खड़ा रहना जो प्रतीत होता है वह सब प्रत्यगात्मा का अवभासन ही है, वह वास्तविक नहीं है अर्थात् वस्तुतः वस्तुओं का न गिरना है, न उड़ना है, न गमन है, न आगमन है, न स्थिति है, कुछ भी नहीं है; पतनादि होने में अद्वैत विरोध होगा, यह भाव है ॥२३॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में भूगोलकनिर्णय नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२७ ॥

१२८

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्मदादेर्जनस्यैतत्प्रत्यक्षं नाऽनुमानिकम्।
शुद्धबोधशरीरेण नाऽऽधिभौतिकरूपिणा ॥१॥
एतदस्मज्जगत्स्वप्ने नाऽन्येषु कथितं मया।
अन्येष्वस्ति जगत्स्वप्नेष्वेवमन्याऽपि च स्थितिः ॥२॥
जगत्स्वप्नेषु चाऽन्येषु संस्थानकथनेन किम्।
नह्युपयोगिकादन्या कथा भवति धीमताम् ॥३॥

१२८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हमार सदृश योगी जनों को योगज्ञानाभ्यास से शोधित शुद्ध तत्त्वबोध अर्थात् सर्व-जगत्तत्त्वसाक्षात्कार तद्रूप आतिवाहिक शरीर से प्रत्यक्ष होता है। आधिभौतिक स्थूलरूप से प्रत्यक्ष या अनुमान नहीं होता है ॥१॥

यह जो मैंने लोका-लोक, ज्योतिश्चक्र आदि का अवयवसंगठन आपसे कहा है, वह स्वयं दृष्ट जगत्स्वप्न में प्रसिद्ध है अन्य लोगों द्वारा दृष्ट जगत्स्वप्नों में प्रसिद्ध मैंने नहीं कहा। अन्यान्य ब्रह्माण्डान्तरों के जगत्स्वप्नों में भी ऐसी ही स्वभावतः स्थिति (अवयवसंघटना) है और कहीं पर इससे विलक्षण भी है ॥२॥

अन्य जगत्स्वप्नों के अवयवसंगठन के वर्णन से यहाँ क्या प्रयोजन है ? बुद्धिमान् पुरुषों को उपयोगी बातों के सिवा और बातें नहीं अच्छी लगती है ॥३॥

सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे।
येषामित्यनुमाऽशेषभूतौघे तेन पण्डिताः ॥४॥

प्रत्यक्षमेतदन्येषां यत्र तेऽन्ये जगद्भ्रमाः।
नाऽस्माकं विषये ते हि तथा संस्थानशोभिनः ॥५॥

सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे।
सप्तद्वीपनिवासानां नाऽन्येषामिति निश्चयः ॥६॥

प्रकृतं शृणु हे राम! तद्ब्रह्माण्डकवाटकम्।
यत्प्रमाण ततो वारि बाह्यं दशगुणं स्थितम् ॥७॥

तद्ब्रह्माण्डकवाटं तु तृणं तृणमणिर्यथा।
धत्ते वारि स्वभावेन नित्यं कल्पकरत्नवत् ॥८॥

सर्वेषामेव भावानां स्थितः कल्पकरत्नवत्।
सर्वदा पार्थिवो भागस्तेनाऽत्रंते पतन्त्यलम् ॥९॥

हे पण्डित गण! उस उत्सगं से सब ब्रह्माण्डों के मध्य में सब द्वीपों और सागरों की उत्तर दिशा में मेरु पर्वत है; लोकालोक पर्वत दक्षिण दिशा में है इस प्रकार समस्त भूतसमूह के विषय में जिनकी जिज्ञासा है, उनका अनुमान हो ॥४॥

वहाँ पर जो और जगद्भ्रम हैं, उनका वहाँ के निवासियों को प्रत्यक्ष होता है। उस तरह की अपनी अवयव रचना से शोभित होने वाले वे हम लोगों के प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। अर्थात् जो अवान्तर विशेष हैं, उनका वहाँ के रहने वाले लोग ही प्रत्यक्ष करते हैं यहाँ के रहने वालों को उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ॥५॥

सब द्वीप और सागरों के उत्तर में मेरु पर्वत है और दक्षिण में लोकालोक पर्वत है, ऐसा निश्चय सात द्वीपों में रहने वालों का ही है, ब्रह्माण्ड से बाहर रहने वालों का ऐसा निश्चय नहीं है ॥६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी! अब आप प्रस्तुत विषय को सुनिये। ब्रह्माण्ड के दो खप्पर जिनका विस्तार एक अरब योजन है, उनसे बाहर दस गुना जल (जलावरण) स्थित है ॥७॥

जैसे तृणचुम्बकमणि अपनी आकर्षण शक्ति के स्वभाव से तृणों को धारण करती है अथवा जैसे कल्पवृक्ष अर्थियों से वाञ्छित रत्नों को धारण करता है, वे ब्रह्माण्ड के खप्पर ही पार्थिवभाग होने से अपनी आकर्षण शक्ति से जल को नित्य धारण करते हैं ॥८॥

जैसे कल्पवृक्ष रत्नों का आधार है, सदा सभी पदार्थों का आश्रय पार्थिव भाग वैसे ही है जैसे रत्नों का आधार कल्पवृक्ष है इसलिए ये जलवृष्टि आदि पृथिवी पर प्रचुर मात्रा में गिरते हैं ॥९॥

जलाद्दशगुणं बाह्ये स्थितं तेजो निरिन्धनम्।
आकाशविशदं शान्तस्तब्धज्वालोदरोपमम् ॥१०॥

तस्माद्दशगुणो बाह्ये संस्थितो वायुरायतः।
वायोर्दशगुणं बाह्ये व्योम तिष्ठति निर्मलम् ॥११॥

ततः परतरं शान्तं ब्रह्माकाशमनन्तकम्।
न प्रकाशं न च तमो महाचिद्घनमव्ययम् ॥१२॥

अनादिमध्यपर्यन्ते तस्मिन् ब्रह्ममहाम्बरे।
महाचिन्नाम्नि सर्वात्मन्ययोनिर्वाणरूपिणि ॥१३॥

ब्रह्माण्डानां तादृशानां दूरे दूरे पुनः पुनः।
मिथो लक्षाणि लक्षाणि कचन्त्युपरमन्ति च ॥१४॥

न किञ्चित्कचयत्यत्र समे कचनरूपिणि।
तादृङ्मयं तथारूपं तदात्मन्येव संस्थितम् ॥१५॥

एष ते कथितः सर्वो दृश्यानुभवनक्रमः।
अधुना शृणु किं वृत्तं लोकालोके विपश्चितः ॥१६॥

पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड के आवरणभूत जल से बाहर जल से दस गुना आकाश के समान देदीप्यमान इन्धनशून्य तेज स्थित है ॥१०॥

ब्रह्माण्डावरणभूत तेज से बाहर दस गुना विस्तारयुक्त वायु स्थित है, वायु से बाहर दस गुना निर्मल आकाश स्थित है। उसके बाद परमशान्त असीम ब्रह्माकाश (अविद्याशबलित ब्रह्माकाश) है, वह अविनाशी न प्रकाश है और न अन्धकार है महाविज्ञान घन सुषुप्तितुल्य है ॥११, १२॥

आदि, मध्य और अन्त से (जन्म, स्थिति और विनाश से) शून्य महाचित् नाम वाले, सर्वात्मक लोहघन के समान छिद्रशून्य निर्वाणरूपी उस ब्रह्ममहाकाश में दूर-दूर वैसे करोड़ों ब्रह्माण्ड बार-बार उत्पन्न होते हैं और विलीन होते हैं ॥१३, १४॥

कचनरूपी सम ब्रह्म में करोड़ों ब्रह्माण्डों को विकसित करने वाला कोई भी नहीं है, किन्तु कचन स्वभाव वह ब्रह्म ही अपने में अविद्यावश तादृशरूप से स्थित है ॥१५॥

यह दृश्यानुभवन क्रम आदि से अन्त तक को सम्पूर्ण रूप से मैंने आपसे कहा अब आप लोकालोक पर्वत पर विपश्चित् की जो दशा हुई उसे सुनें ॥१६॥

स्वभ्यस्तपूर्वसंस्कारो विलसन्निश्चयेरितः ।
लोकालोकगिरेर्मूर्ध्नस्तमःश्वभ्रं पपात सः ॥१७॥
ददर्श तत्र शिखरप्रतिमैर्विहगैर्वपुः ।
विकर्त्तितं मनोदेहं प्रसृतं च स्वचिन्तिते ॥१८॥
देशस्य तस्य पुण्यत्वाद्देहं यच्चाऽऽतिवाहिकम् ।
आधिभौतिकतावोधं नाऽनयन्निर्मलाशयः ॥१९॥
तावन्मात्रप्रबोधोऽसौ नाऽधिकं बोधमागतः ।
चिन्तयित्वाऽसितं कार्यं बभूव प्रकृतेर्हितः ॥२०॥

श्रीराम उवाच

अदेहं प्रसरत्येतच्चित्तं कार्ये कथं मुने ।
आतिवाहिकसंवित्तेर्बोधः स्यात्कीदृशोऽधिकः ॥२१॥

अभ्यस्त पूर्व संस्कार से (दिगन्तदर्शनोद्योग के संस्कार से) सम्पन्न उस प्रकार के सजीव निश्चय से प्रेरित विपश्चित् लोकालोक पर्वत के शिखर से उस पार पूर्वकथित अन्धकार-गर्त में प्रविष्ट हुआ ॥१७॥

वहाँ पर उसने अपने देव-शरीर को पर्वत शिखर के सदृश अत्यन्त महान् गृध्र आदि द्वारा नोच-नोचकर खाया गया देखा। तदुपरान्त अपने पूर्वचिन्तित दिगन्तदर्शन में मनोमयदेह को ही प्रवृत्त देखा ॥१८॥

जहाँ पर उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश पुण्यमय था अर्थात् स्थूल देह के विषय संस्कारों के उद्बोधक चार प्रकार के प्राणि-समूहों से शून्य था, उस देश की महिमा से निर्मल आशय वाले विपश्चित् को आतिवाहिक शरीर में आधिभौतिकता प्रतीति नहीं हुई अर्थात् उसे आतिवाहिकता का विस्मरण नहीं हुआ ॥१९॥

उक्त विपश्चित् ज्ञान स्थूल देह से अतिरिक्त केवल आत्मा को विषय करता था, उससे अधिक स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से अतिरिक्त शुद्ध चिन्मात्र आत्मा को विषय करने वाले बोध को प्राप्त नहीं किया था, इससे दिगन्तदर्शनरूप कार्य को असमाप्त समझकर गमन स्वभाव के अनुकूल दिगन्तदर्शनरूप कार्य से विरत नहीं हुआ ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! यह चित्त शरीर के बिना कार्य में कैसे गमन करता है, यदि शरीर के बिना भी गमन मान लिया जाय तो भी आतिवाहिक देह से मनोमय देह में अधिक बोध कैसा होता है ? देह-विहीन चित्त बाहर कैसे जाता है। देह के बिना चित्त का बाहर संचार स्वीकार करने पर भी पहले विपश्चित् की देवता के शरीर से भी आकाशमार्ग में अप्रतिहतगति रही देवशरीर का नाश होने पर भी मनोमय देह से आकाश-मार्ग में चल रहे उस विपश्चित् का पूर्व देवशरीर से मनोमात्रमय देह में क्या विशेष हुआ, श्रीरामचन्द्रजी की इस जिज्ञासा का यह उत्तर है ॥२१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पपथिकत्वेन यथाऽन्तःपुरवासिनः ।
इदं मनः प्रसरति तथाऽस्य प्रसृतं मनः ॥२२॥
भ्रमे स्वप्ने मनोराज्ये मिथ्याज्ञाने कथाश्रुतौ ।
यथा मनः प्रसरति तथा तत्प्रसृतं मनः ॥२३॥
पतन्ति तु शरीरं तदातिवाहिकमुच्यते ।
आधिभौतिकधीर्भाति विस्मृत्यात्रैव कालतः ॥२४॥
ते तदाऽन्तर्धिमायाते सर्परज्जुभ्रमोपमे ।
आधिभौतिकदेहेऽस्मिञ्छिष्यते त्वातिवाहिकः ॥२५॥
आतिवाहिक एषोऽङ्ग निपुणं प्रविचार्यताम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण यावदत्रान्यदस्ति नो ॥२६॥

इसका मन बाहर वैसे ही प्रसृत हुआ। भाव यह कि संकल्प को मार्गगमन में देह की अपेक्षा नहीं होती है। जैसे अन्तःपुर में निवास करने वाले का यह मन सङ्कल्प-रूपी पथिक के रूप में बाहर गमन करता है ॥२२॥

भ्रान्ति में, स्वप्न में, मनोरथ में, मिथ्या ज्ञान में तथा औपन्यासिक कथाओं के श्रवण में उस मन का प्रसार वैसे ही हुआ जैसे मन का संचार होता है ॥२३॥

जिस शरीर में भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य आदि का प्रसार होता है, वह शरीर आतिवाहिक है। उस आतिवाहिक देह में ही कालवश आतिवाहिकता के विस्मरण से आपकी आधिभौतिकता बुद्धि उत्पन्न होती है ॥२४॥

विचार से सर्परज्जु-भ्रान्ति के तुल्य यह आधिभौतिक शरीर जब अन्तर्हित हो जाता है तब आतिवाहिक शरीर अवशिष्ट रहता है ॥२५॥

हे श्रीरामजी ! इस आतिवाहिक देह का 'तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, (हे सोम्य, तेजरूपी मूल से सन्मूल की खोज करो) इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित तत्त्वज्ञान के उपाय से भली-भाँति तबतक विचार कीजिये जब तक कि इसमें चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है यह प्रतीति न हो अर्थात् आतिवाहिक शरीर की निवृत्ति से चिन्मात्र का शेष होने में भी विचार ही साधन है, ॥२६॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः।
चिन्मात्रस्यास्य तद्रूपमनन्तस्यैकरूपिणः ॥२७॥
क्व द्वैतं क्व च वा द्वेषः क्व रागादि तु कथ्यताम्।
सर्वं शिवमनाद्यन्तं परो बोध इति स्मृतः ॥२८॥
निर्मनोमननं शान्तमासितं बोध उत्तमः।
आतिवाहिकदेहस्थो न तं बोधमुपागतः ॥२९॥
विपश्चित्तद्विबोधोऽसौ ददर्श विसरन्मनः।
आतिवाहिकबोधेन गर्भवासोपमं तमः ॥३०॥
तमसोऽन्ते विरिञ्चाण्डकवाटच्छेदभूतलम्।
वज्रसारं हेममयं कोटियोजनविस्तृतम् ॥३१॥
तदन्ते प्राप सलिलं तस्मादष्टगुणं ततः।
कपाटभूम्यैव समं स्थितमर्णवपृष्ठवत् ॥३२॥
तमतीत्य ततः प्राप तैजोऽर्कगणभीषणम्।
प्रलयाग्निघनज्वालापिण्डकोटरभास्वरम् ॥३३॥

एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने में मध्य में जो संवित् का शरीर है एकरूपी असीम इस चिन्मात्र का वह रूप प्रसिद्ध ही है ॥२७॥

उसमें कहाँ द्वैत है, और कहाँ द्वेष है कहाँ राग आदि है सब कुछ शिव आदि अन्तविहीन परम बोध रूप ही है अर्थात् उसमें द्वैतरूपी विषय और विषय प्रयुक्त राग-द्वेष आदि का प्रसंग नहीं है, ॥२८॥

मन के मनन से शून्य शान्त जो अवस्थिति है वही उत्तम बोध है, आतिवाहिक देह में स्थित विपश्चित ने उस बोध को प्राप्त नही किया, किन्तु उसे केवल आतिवाहिक देह में आत्मप्रतीति हुई थी अतएव उसने अपने मन को आगे चलते हुए देखा। आतिवाहिक देह से उसने गर्भवास के तुल्य अन्धकार देखा। तम के अन्त में उसने ब्रह्माण्ड-खप्पररूप भूमि के खण्ड को (दो खप्परों के सम्पुट भागों के सन्धिभूत भूखण्ड को) पाया। जो वज्र के समान दृढ़, सुवर्णमय और करोड़ों योजन विस्तीर्ण था ॥२९-३१॥

उसके अन्त में उसे उस भूखण्ड से अठगुना जल मिला। वह द्वीप के अन्त में ब्रह्माण्डखप्पर भूमि के ही समानान्तर में सागर के पृष्ठ के समान स्थित था। जल का निराधार रहना सम्भव नहीं है, अतः वह ब्रह्माण्डकपाल खण्ड का अवलम्बन कर उसी के समान विभक्त होकर स्थित था, यह भाव है ॥३२॥

जल को लाँघकर उसके बाद वह सूर्यों के समूह की तरह भीषण प्रलयाग्नि की घनघोर ज्वालाओं के

दाहशोकादिमुक्तेन वपुषा मानसेन तत्।
तत्र गच्छन्स बुबुधे वहनं पूर्ववासितम् ॥३४॥
उह्यमानो विवेदाऽसावात्मानं त्वातिवाहिकम्।
चित्तमात्रात्मनः स्वस्य किमिवोह्यत इत्यपि ॥३५॥
इति बोधेन धीरात्मा तं ततारानिलार्णवम्।
प्राप तद्वितते व्योम तस्माद्दशगुणं स्थितम् ॥३६॥
तदतिक्रम्य स प्राप ब्रह्माकाशमनन्तकम्।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यन्न किञ्चिच्च किञ्चन ॥३७॥
मनसा प्रभ्रमंस्तत्र दूराद्दूरतरं ययौ।
तेन दृष्टं च पृथ्व्यापस्तेजो वायुस्तथा जगत् ॥३८॥
पुनः संसाररचनाः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः।
पुनर्महीधरा व्योम पुनर्देवाः पुनर्नराः ॥३९॥
पुनः पञ्चमहाभूतपर्यन्ते ब्रह्म निर्घनम्।
पुनस्तत्र जगत्युच्चैः पुनः सर्गाः पुनर्दिशः ॥४०॥

पिण्डभूत कोटर के समान चमकीले तेज को प्राप्त किया। आशय यह है कि तैजस आदि आवरणों को जल की तरह आधार की अपेक्षा नहीं है, इसलिए सन्धि का विभाग न होने से पिण्डकोटर के तुल्य देदीप्यमान यह कथन है ॥३३॥

तैजस आवरण में भ्रमण कर रहे उस विपश्चित् ने दाह, शोक आदि से मुक्त मनोमय देह से उसके उत्तरवर्ती वायुरूप आवरण में गमन किया ॥३४॥

पहुँचाये जा रहे उस विपश्चित् ने आतिवाहिक आत्मा को जाना और चित्त मात्ररूप मेरा कौन-सा वहन होगा यह भी जाना ॥३५॥

इस बोध से उक्त धीरात्मा ने उस वायु सागर को पार किया और उसके बाद वह उससे दस गुने विस्तृत आकाश में पहुँचा ॥३६॥

आकाश को लाँघकर वह असीम अविद्याशबल ब्रह्माकाश में पहुँचा। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, सब कुछ जिससे आविर्भूत होता है जो कुछ भी नहीं है। वहाँ पर मनोमय देह से भ्रमण करता हुआ वह संस्कारवश अत्यन्त दूर तक गया। उसने उसमें पृथ्वी, जल, तेज वायु और जगत् देखा। फिर संसार की रचनाएँ देखीं, फिर सृष्टियाँ देखीं और दिशाएँ देखीं। फिर पर्वत देखे, फिर आकाश देखा, फिर देवता देखे, फिर मनुष्य देखे, फिर पञ्चमहाभूतों के पर्यन्त में अत्यन्त घन ब्रह्म देखा, फिर उसमें खूब जगत् देखे, फिर सृष्टियाँ देखीं, फिर दिशाएँ देखीं, मायाशबल ब्रह्माकाश

ब्रह्माकाशस्ततः सर्गाः पुनरन्ये त्वनिष्ठताः।
इत्यसौ विहरन् दीर्घकालमद्यापि संस्थितः ॥४१॥
स्वनिश्चयाच्चिराभ्यस्तान्नाऽसौ विरतिमेति हि।
अन्तो नैवाऽस्त्यविद्यायाः सा हि ब्रह्मैव सत्यता ॥४२॥
वस्तुतो नाऽस्त्यविद्येह ब्रह्मण्यविकलात्मनि।
इदं दृश्यमविद्येयमित्यात्मैष विकासितः ॥४३॥
यद्यथा जाग्रति स्वप्ने दृष्टं द्रक्ष्यसि पश्यसि।
तत्तथा ब्रह्म सच्छान्तमासीदस्ति भविष्यति ॥४४॥

घनतमःप्रविलोकनचक्रकं
क्रमजगत्प्रतिभानमिदं महत्।
परतया प्रतिभात्मतयाऽन्यया
न च सदङ्ग न वाऽप्यसदाकृति ॥४५॥
तेष्वेव तेष्विव च तेषु तनूतरेषु
ब्रह्मोदरेषु चिरदूरतरं जगत्सु।
सोऽद्याऽप्यसंविदिततत्त्वतया तयोच्चैः
खण्डेषु रङ्कुरिव राघव बम्भ्रमीति ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्याने विपश्चिदुपाख्याने ब्रह्मगीतासु ब्रह्माकाशविपश्चिज्जगच्चन्द्रदर्शनं नामाष्टाविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२८॥

देखा। उसके बाद फिर दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ देखीं। इस प्रकार दीर्घकाल तक विहार करता हुआ वह आज भी विहार कर रहा है ॥३७-४१॥

चिरकाल से अभ्यस्त अपने जगत्सत्यता निश्चय से वह विरत नहीं होता है। अविद्या का अन्त नहीं ही हैं, सत्य स्वभाव की आलोचना की जाय, तो वह ब्रह्म ही है ॥४२॥

वस्तुतः परिपूर्ण ब्रह्म में अविद्या नहीं है। यह दृश्य है यह अविद्या है यह विकसित आत्मा है ॥४३॥

जो ब्रह्म आपने जाग्रत् में और स्वप्न में जैसी वासना के आविर्भाव से पहले देखा इस समय देखते हैं और आगे भी देखेंगे वह ब्रह्म वैसा ही था, है और रहेगा ॥४४॥

यह था, है और होगा इस प्रकार का क्रमयुक्त जगत् का भान अविद्यामात्र ही है बन्द किये गये नेत्रों में तैमिरिक चक्र के समान महान् प्रतीत होता है। वह केवल चिन्मात्र रूप से सन् नहीं है, प्रतिभास्वरूप इस अज्ञदृष्टि प्रसिद्धि से तो असदाकार नहीं है इसलिए दोनों दृष्टियों के प्रमाणिक होने पर अनिर्वचनीय ही है अर्थात् इसी लिए यह जगत् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय ही है ॥४५॥

हे राघव! वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होने के कारण उन पूर्व दृष्टों में ही और उनके सादृश्य अन्य वासना मात्र होने से अत्यन्त सूक्ष्म विराटों के अन्दर प्रसिद्ध जगतों से वन भागों में मृग के समान अपनी वासना की उत्कटता से बार-बार घूमता है ॥४६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में ब्रह्माकाशविपश्चिज्जगच्चन्द्रदर्शन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२८॥

१२९

श्रीराम उवाच

तयोर्द्वयोर्मुनिश्रेष्ठ संपन्नं किमतः परम्।
पश्चाद्विपश्चितोस्तस्य रुद्धयोर्वै विपश्चितोः ॥१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तयोरेकश्चिराभ्यस्तवासनाविवशीकृतः।
भ्रमन् द्वीपेषु देहौघैस्तामेव पदवीं गतः ॥२॥

१२९

चन्द्रलोक में और शाल्मली द्वीप के राज्य में रोके हुए तथा भोगों की असारता को जानने वाले उन दो विपश्चितों के (पूर्व और दक्षिण दिशा को प्रस्थित विपश्चितों के) पीछे पूर्वोक्त वृत्त के अनन्तर आगे दिगन्त-दर्शन वर का क्या हाल हुआ। अर्थात् एक विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णु के अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त मुक्त हो गया और दूसरा आज भी अविद्या में भ्रमण कर रहा है यह सुनकर बचे हुए दो विपश्चितों का समाचार श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीवसिष्ठजी से पूछते हैं ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उनमें से एक विपश्चित् चिरकाल से अभ्यस्त वासना से विवश होकर विविध शरीरों से भिन्न-भिन्न द्वीपों में भ्रमण करता हुआ उत्तर विपश्चित् की पद्धति को (ब्रह्माण्डों के जलादि आवरणों को लङ्घन कर शबल ब्रह्म में करोड़ो संसारों में भ्रमणरूप पदवी को) प्राप्त किया ॥२॥

तथैवाऽऽवरणांस्त्यक्त्वा परमाकाशकोटरे ।
पश्यन्संसारलक्षाणि तथैवाऽद्याऽपि संस्थितः ॥३॥
तयोर्द्वितीयः स्वाभ्यस्तादादावासंगतेर्वशात् ।
त्यक्तवान् प्रभ्रमद्देहैरद्य शैले मृगः स्थितः ॥४॥

श्रीराम उवाच

एकैव वासना ब्रह्मन् या चतुर्णां सदोचिता ।
नानातां सा कथं प्राप्ता हीनोत्तमफलप्रदाम् ॥५॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वभ्यस्ता वासना जन्तोर्देशकालक्रियावशात् ।
तनुदार्ढ्यान्यतामेति घनदार्ढ्येति नाऽन्यताम् ॥६॥
देशकालक्रियाद्येतदेकता वासनैकता ।
तयोर्यदेव बलवत्तदेव जयति क्षणात् ॥७॥

परमाकाशरूपी खोखले में उसी प्रकार (उत्तर विपश्चित की तरह) ब्रह्माण्ड के आवरणों को एक के बाद एक छोड़कर करोड़ों संसारों को देखता हुआ आज भी उसी अवस्था में स्थित है ॥३॥

उनमें से 'दूसरा अर्थात् पूर्व को प्रस्थित विपश्चित् चन्द्रमा के समीप में स्वयं अभ्यस्त चन्द्रमृग में अतिशय प्रेमरूप आसक्ति के कारण चन्द्रमा के साथ प्रतिमास अत्यन्त भ्रमण कर रहे अपने शरीरों से युक्त होकर उनका त्यागकर चुकने के बाद आज मृग बनकर पर्वत पर स्थित है ॥४॥

हे गुरुवर ! चारों विपश्चितों की एक ही वासना जो सदा उचित थी, वह अधम और उत्तम फल देने वाले भेद को कैसे प्राप्त हुई ? दिगन्तदर्शनरूप उत्कट अभिलाषा सबकी एक ही थी फिर भी किसी की मुक्ति हो गई, कोई अविद्या में लगातार चक्कर लगा रहे हैं, तथा कोई मृग बन गया ऐसा भेद कैसे हुआ ? अर्थात् राजा विपश्चित् के अन्तःकरण और शरीर का चार प्रकार से विभाग होने पर भी एकरूप वासना का विभाग अथवा अधम और उत्तम फल का भेद संभव नहीं है, यह आशय है ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्राणी की खूब अभ्यस्त वासना देश, काल और कर्म वश कोमल और अत्यन्त परिपाक से बद्धमूल होती है। कोमल वासना भेद को प्राप्त होती है पर परिपाकवश बद्धमूल वासना भिन्न नहीं होती है ॥६॥

देश, काल, कर्म आदि की एकता वासना की एकता है अर्थात् जब भोग्य फल के अनुकूल देश, काल, कर्म, प्रयत्न रूप सामग्रियों की एकता होती है, तब उनके अनुकूल समान विषय वासनाएं भी एक होती हैं, जब पूर्वोक्त सामग्रियों में भेद होता है तब वासनाएं भी भिन्न होती हैं। लेकिन जब समान देश, काल, कर्म और फलवाली कोई वासना और भिन्न देश, काल, कर्म और फलवाली दूसरी वासना हो यों दो वासनाएं उद्भूत हों तब उनके बीच में जो बलवती होती है, उसी की जीत होती है ॥७॥

एवं विभागेनैतेऽत्र चत्वारः समवस्थिताः ।
कृष्यन्ते द्वावविद्यार्थमन्यो मुक्तो मृगोऽपरः ॥८॥
नाऽद्याऽपि तैरविद्याया लब्धोऽन्तो भ्रान्तिबुद्धिभिः ।
अनन्तेयमविद्येयमज्ञानपरिबृंहिता ॥९॥
क्षिप्रेण शान्ता भवति विज्ञानालोक आगते ।
अमूलमेव गलति तिमिरश्रीरिवोदये ॥१०॥
कालेनाऽन्यज्जगज्जातं शृणु वृत्तं विपश्चितः ।
तस्मिन् दूरतरे देशे कस्मिंश्चित्संसृतिभ्रमे ॥११॥
कश्चिद् ब्रह्ममहाव्योम्नि कस्मिंश्चिद्दृश्यमण्डले ।
तस्य दृश्यात्मना प्राप्ते वस्तुतो ब्रह्मरूपिणि ॥१२॥
स एकः शुभसंगत्या विदुषां मध्यमागतः ।
दृश्यं यथावद्विज्ञाय ब्रह्मतामलमागतः ॥१३॥

इस प्रकार से ये विपश्चित् एक साथ उत्पन्न विरुद्ध देश, काल आदि में भग्य वासना के विभाग से उत्पन्न शरीर-भेद से चार होकर रहे। उनमें से आदि दो अविद्या के लिए वासनाओं से आकृष्ट हुए, एक मृग बनकर वासना का शिकार बना और एक की मुक्ति हो गई ॥८॥

भ्रान्तिपूर्ण बुद्धि वाले उन तीन विपश्चितों को आज भी अविद्या का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। हजारों अज्ञानों से वृद्धि को प्राप्त हुई यह अविद्या निस्सीम है। इसका अन्त पा जाना कोई खेलवाड़ नहीं है ॥९॥

ज्ञानरूपी उजियाला प्राप्त होने पर वह थोड़े से समय में शान्त हो जाती है, सूर्योदय होने पर अन्धकार शोभा की तरह सुविद्या शेष नष्ट हो जाती है ॥१०॥

विपश्चित् का अपनी वासना से कल्पित ब्रह्माण्ड में हुए वृत्तान्त का श्रवण करे, ब्रह्माण्ड में अत्यन्त दूरवर्ती स्वादूदक सागर के परले पार स्थित स्वर्णभूमि प्रदेश में, किसी संसार भ्रान्ति में, ब्रह्मरूपी महाकाश में अध्यस्त किसी दृश्यमण्डल में, जो दृश्य रूप से प्राप्त हुआ था, वास्तव में ब्रह्मरूपी ही था, वह पश्चिम दिशा को प्रस्थित एक विपश्चित् शान्ति, दान्ति भगवद्भक्ति आदि गुणगणों की प्राप्ति से जीवन्मुक्तों के बीच में जा पहुँचा, वहाँ पर दृश्य को यथार्थ रूप से पहचानकर पूर्णरूप से ब्रह्मत्व को प्राप्त किया अर्थात् मुक्ति को प्राप्त किया था ॥११-१३॥

तत्रैवाऽऽशु परिज्ञानात्साऽविद्या स च देहकः।
मृगतृष्णाम्ब्विवाऽऽशान्तिमागतौ रागतन्त्रितौ ॥१४॥

इति ते सर्वमाख्यातं विपश्चिच्चेष्टितं स्फुटम्।
अनन्तैयकविद्येयं ब्रह्मवत्तन्मयी यतः ॥१५॥

येन यत्रैव वर्षाणां लक्षलक्षाणि गम्यते।
तत्र तत्र स्वभावेन चिता किमपि लक्ष्यते ॥१६॥

तदेवाऽऽश्वपरिज्ञातं मिथ्याऽविद्येति कथ्यते।
परिज्ञातं तु तच्छान्तं तथा ब्रह्मेति कथ्यते ॥१७॥

भेदो न भेदस्तत्राऽयं भेदोऽयं यन्मयः किल।
तद् ब्रह्मैव चिदाभासं चिद्रूपैव हि भिन्नता ॥१८॥

ब्रह्माण्डमण्डपस्यास्य भ्रमतैत्यविपश्चिता।
लब्धो युगशतैरन्तो नाऽविद्याया विपश्चिता ॥१९॥

उसकी वह जगदाकारा अविद्या और वह क्षुद्र शरीर दोनों का ही ज्ञान होने से वहीं पर मृगतृष्णा जल के समान शीघ्र ही वाधित हो गये, कारण कि वे दोनों रागमूलक थे, ज्ञानवश राग के नष्ट होने पर वे विलीन हो गये। भगवती श्रुति ने कहा है—जब इसके हृदय में स्थित सभी काम मुक्त हो जाते हैं, छूट जाते हैं, उसके बाद मनुष्य अमर हो जाता है, यहीं पर मुक्तिरूप सुख का अनुभव करता है ॥१४॥

इस प्रकार विपश्चितों का चरित्र आदि से अन्त तक सारा का सारा स्पष्ट रीति से मैंने आप से कहा। इस प्रकार यह अविद्या कारणब्रह्म के तुल्य—सकल दिशाओं में विपश्चितों को इसका अन्त न मिलने के कारण—अनन्त है, कारण कि यह कारण ब्रह्ममयी है ॥१५॥

जो चित् करोड़ों वर्षों तक जहाँ पर जाता है वहाँ-वहाँ स्वभावतः कुछ न कुछ उसे दिखाई देता है ॥१६॥

वह ब्रह्म ही अपरिज्ञात शीघ्र मिथ्या, अविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है, परिज्ञात होकर शान्त ब्रह्म कहा जाता है ॥१७॥

यह भेद भेद नहीं है, क्योंकि यह भेद अविद्यामय ही है और अविद्या ब्रह्मरूप ही है। चिद्भास्य होने के कारण भी भेद चित् से पृथक् नहीं है। वह ब्रह्म ही चिदाभास है, भिन्नता चिद्रूप ही है ॥१८॥

इस प्रकार ब्रह्माण्ड मण्डप के अन्दर भटक रहे अज्ञानी विपश्चितों को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला अर्थात् ज्ञानविहीन उत्तर विपश्चित् को सैकड़ों युगों में भी अविद्या का अन्त नहीं मिला ॥१९॥

श्रीराम उवाच

स ब्रह्माण्डकपाठः किं न संप्राप्तो विपश्चिता।
त्वयैतत्कथितं ब्रह्मन्न कथं वदतां वर ॥२०॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

जातेनैव विरिञ्चेय पुरा ब्रह्माण्डमण्डलम्।
द्वाभ्यामधस्तादूर्ध्वात्स्वभुजाभ्यां प्रविदारितम् ॥२१॥

भागस्तेनोर्ध्वतस्तस्मादतिदूरतरं गतः।
अन्यो भागो गतोऽधस्तादतिदूरतरान्तरम् ॥२२॥

ताविवाऽऽश्रित्य तिष्ठन्ति जलाद्यावरणास्ततः।
त एव च तदाधरा लम्बन्ते संस्थितास्तयोः ॥२३॥

एतयोर्मध्यमाकाशं विदुरण्डकपाटयोः।
अपारावारमानीलमिदमालक्ष्यते तु यत् ॥२४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! क्या विपश्चित् को ब्रह्माण्डकपाट ही नहीं मिला। हे वाग्मिवर! उसे तोड़कर जैसे वह बाहर निकला यह आपने मुझसे क्यों नहीं कहा? ॥२०॥

प्राचीन काल में उत्पन्न होते ही श्रीब्रह्माजी ने अपनी दोनों भुजाओं से ऊपर और नीचे की ओर ब्रह्माण्ड मण्डल को विदीर्ण किया ॥२१॥

उससे ऊपर का एक भाग ऊपर की ओर बहुत दूर तक चला गया और नीचे वाला भाग नीचे की ओर अत्यन्त दूर तक चला गया ॥२२॥

जल आदि ब्रह्माण्डावरण ब्रह्माण्ड खप्परों की तरह विभक्त होकर उन्हीं के आधार में स्थित खप्पररूप आधार वाले वे जल आदि आवरण उनमें स्थित होकर लटकते हैं। अवलम्बन कर स्थिति तो सबकी समान है, विभाग केवल जलावरण का ही है, ऐसा पहले उपपादन कर चुका हूँ ॥२३॥

इन ब्रह्माण्ड खप्परों के मध्य में अपार (पारवार रहित) नीला-नीलासा जो यह दिखाई देता है उसे आकाश कहते हैं। आकाश को अपार कहना अन्य भूतों की अपेक्षा विशालता के प्रतिपादन के लिए है। अन्यथा बाह्माकाशावरण के पूर्वावरण की अपेक्षा दस गुने परिमाण की उक्ति की अनुपपत्ति हो जायगी। उसके आगे ब्रह्माकाश का वर्णन भी न हो सकेगा ॥२४॥

जलाद्यावरणास्तत्र न लगन्ति न सन्ति च।
तद्धि निर्मलाशून्यमालानं कल्पक्लृप्तिभिः ॥२५॥
तेन मार्गेण यातोऽसौ विपश्चिदृक्षचक्रवत्।
अविद्यायाः परोक्षार्थमामोक्षमतिदीक्षितः ॥२६॥
ब्रह्मैवानन्तरूपेयमविद्या तन्मयो यतः।
अतोऽस्ति साऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न विद्यते ॥२७॥
विपश्चित इति प्राप्य दूराद्दूरं परेऽम्बरे।
जगद्रूपेष्वविद्याया भ्रमन्त्येषु केषुचित् ॥२८॥
कश्चिन्मुक्तो मृगः कश्चित्कौचिदद्याऽपि तौ क्वचित्।
भ्रमतः प्राक्तनानल्पसंस्कारविवशीकृतौ ॥२९॥

श्रीराम उवाच

कीदृशेषु क्व दूरेषु ते जगत्सु विपश्चितः।
भ्रमन्तीति मुने! ब्रूहि मयि चेज्जायते कृपा ॥३०॥
कियत्यध्वनि संसारास्ते जाता येषु ते मुने।
महदेतदिहाऽऽश्चर्यमस्माकं कथितं त्वया ॥३१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्थितौ विपश्चितौ राम तावुभौ जगतोर्ययोः।
तेऽस्माकं गोचरं याते जगती यत्नतोऽपि नो ॥३२॥
तृतीयो मृगतां यातो विपश्चिद्यत्र तिष्ठति।
स कदाचित्ससंसारो गोचरे नोऽवतिष्ठते ॥३३॥

श्रीराम उवाच

विपश्चिन्मृगतां यातो यस्मिन् जगति संस्थितः।
तज्जगत्क्व महाबुद्धे यथावत्कथयेति मे ॥३४॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

दूराद्दूरतरं गत्वा परब्रह्ममहाम्बरे।
मृगो विपश्चिज्जगति न यस्मिंस्तज्जगच्छृणु ॥३५॥
तदिदं विद्धि त्रिजगविहाऽसौ संस्थितो मृगः।
इदं तत्परमाकाशं दूराद्दूरे जगत्स्थितम् ॥३६॥

श्रीराम उवाच

विपश्चिदस्मादेवाऽसौ जगतस्तां गतिं गतः।
इहैवाऽद्य मृगो जातः कथमेतत्समञ्जसम् ॥३७॥

उक्त आकाश में जल आदि आवरणों का स्पर्श नहीं होता है और वे उसमें हैं भी नहीं। वह निर्मल जीवशून्य प्रलयपर्यन्त अन्य भूतों का आधार है ॥२५॥

अविद्या का वार पार देखने के लिये मोक्ष होने तक उक्त विपश्चित् नक्षत्रमण्डल की तरह आकाशमार्ग से गया ॥२६॥

अनन्तरूपा यह अविद्या ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्ममयी है। जब तक उसके तत्त्व का परिज्ञान नहीं होता तभी तक उसकी सत्ता है। तत्त्वज्ञान होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता है। अर्थात् तब तो दृढ़तर पुरुष प्रयत्न के अटूट रहने से अविद्या का अन्त उसने क्यों नहीं देखा? ऐसी यदि किसी कोई आशङ्का हो तो अविद्या के अवास्तविक अनन्त ब्रह्मरूप होने से ही नहीं देखा ॥२७॥

इस प्रकार वे विपश्चित् ब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्या के जगत् रूप कतिपय अन्यान्य स्वरूपों में भ्रमण करते हैं ॥२८॥

एक तो उनमें मुक्ति पा गया, एक मृग बना है, कोई दो प्राक्तन दृढ प्रबल संस्कार से विवश होकर आज भी कहीं पर भ्रमण करते हैं ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो वे विपश्चित् किस प्रकार के कितने दूरवर्ती जगतों में भ्रमण करते हैं, यह मुझे बतलाने का अनुग्रह करें ॥३०॥

हे मुनिवर! कितने मार्ग में वे संसार हैं, जिनमें वे उत्पन्न हुए, यह महान् आश्चर्यमय वृत्तान्त है, जो कि आपने हमसे कहा ॥३१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जिन जगतों में वे दोनों विपश्चित् स्थित हैं वे जगत् प्रयत्न से विचार करने पर भी हमारे बुद्धिविषय नहीं हुए ॥३२॥

तीसरा विपश्चित् जहाँ मृग योनि को प्राप्त स्थित है, वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनन्त संसारों के साथ संभवतः हमारी बुद्धि के विषय में स्थित है ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे महामते! मृगता को प्राप्त विपश्चित् जिस जगत् में स्थित है, वह जगत् कहाँ है? यथार्थरूप से मुझसे उसका वर्णन करने की कृपा करें ॥३४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—परब्रह्माकाश में अत्यन्त दूर जाकर मृग बना विपश्चित् जिस जगत् में रहता है, उस जगत् को आप सुनें ॥३५॥

वही यह जगत् आप जानिये जिसमें वह मृग विपश्चित् स्थित है, वही यह परमाकाश है जिसमें अत्यन्त दूर तक जगत् स्थित है ॥३६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! वह विपश्चित् इसी जगत् से उस दिगन्तदर्शरूप गति को गया। यहीं पर आज वह मृग बना है, यह कैसे युक्तियुक्त है? जब तक वह लौट कर आये नहीं, तब तक उसका यहाँ मृगजन्म संभव नहीं है ॥३७॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अवयावानवयवी नित्यं वेत्ति यथाऽखिलान्।
तथा सर्वानहं वेद्मि ब्रह्मण्यात्मन्यवस्थितान् ॥३८॥
अनिष्ठितान्ससंहारान्नानाकारांस्तु तान् बहून्।
मिथः प्रोतान्मिथोऽदृश्यान्स्वरूपानिव पार्थिवान् ॥३९॥
तत्र कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्मार्गेऽस्मिन्निव तिष्ठति।
यद्वृत्तं कथितं राम! तदेतद्भूवते मया ॥४०॥
विपश्चितोऽन्यसंसारे देहैर्भ्रान्ता दिगन्तरान्।
ताननन्ताम्बरे व्योम्नि तावत्कालमखिन्नधीः ॥४१॥
इहैव हरिणो जातः कस्मिंश्चिद्गिरिकन्दरे।
काकतालीययोगेन भ्रान्त्या भूरिजगद्भ्रमम् ॥४२॥
स जगन्ति भ्रमन्दूरे यस्मिन् सर्गे मृगः स्थितः।
स सर्गोऽयमिति व्योम्नि काकतालीयवत् स्थितम् ॥४३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे अवयवी सदा सकल अवयवों को जानता है—वैसे ही ब्रह्मात्मा में स्थित सकल ब्रह्माण्डों को मैं जानता हूँ। भाव यह कि यह दूर है, यह अत्यन्त दूर है, यह सब विचार आत्मा को परिच्छिन्न मानने वालों में ही सम्भव है। आत्मा को अपरिच्छिन्न जानने वालों की दृष्टि में अवयवों की भाँति सब कुछ अति समीप में ही है, यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ ॥३८॥

आगे चिरकाल में उत्पन्न होने वाले होने से इस समय अनुत्पन्न, पूर्व काल में प्राप्त हुए संहार से युक्त विविध आकार वाले (अत्यन्त विलक्षण) परस्पर एक दूसरे से अदृश्य होते हुए भी एक चित्त में अध्यस्त होने के कारण परस्पर अनुस्यूत अतएव पृथ्वी विकाररूप वस्त्र, तन्तु आदि के समान स्थित बहुत से ब्रह्माण्डों को मैं देखता हूँ अर्थात् अन्य लोकों की दृष्टि में जो अत्यन्त अतीत है वह भी ब्रह्मदृष्टि से अत्यन्त समीपवर्ती ही है कालतः भी किसी की दूरता नहीं है ॥३९॥

उन ब्रह्माण्डों में से किसी के अन्य मार्ग में इस ब्रह्माण्ड के मार्ग के समान स्थित होने पर जो घटना हुई उसको मैंने आपके लिए इस ब्रह्माण्डकी-सी बनाकर यहीं पर विपश्चित् के जन्म, राज्य आदि थे, यों वर्णन किया है क्योंकि तत्त्वतः और प्रकारतः अन्य ब्रह्माण्ड और यहाँ की घटनाओं में कोई विभेद नहीं है ॥४०॥

विपश्चित् लोग अनन्ताकाश में अपनी-अपनी वासना से कल्पित अन्यान्य ससारों में उसी तरह के शरीरों से पूर्वोक्त उन-उन दिगन्तरों में घूमे, एक में ही नहीं। उनमें से पूर्व विपश्चित्, जिसकी मति संसार भ्रमण से तब तक खिन्न नहीं हुई थी, अनेकानेक जगद् भ्रान्ति का भ्रमण कर काकतालीयन्याय से इसी ब्रह्माण्ड में किसी एक पर्वत गुफा में मृग हो गया ॥४१-४२॥

वह जगतों में भ्रमण करता हुआ जिस दूरवर्ती सृष्टि में वह विद्यमान है, वह यह सर्ग काकतालीयन्याय से ब्रह्माकाश में स्थित है ॥४३॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्! कस्यां ककुभि मण्डले।
कस्मिन्कस्मिंश्च शैलेऽसौ वने कस्मिन्मृगः स्थितः ॥४४॥
किं करोति कथं दूर्वाश्चर्वयत्युर्वरास्पदः।
जातिं तां जरठज्ञानी कदोदारां स्मरिष्यति ॥४५॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

योऽसौ त्रिगर्तनाथेन दत्तः क्रीडामृगस्तव।
स्थितः क्रीडामृगागारे विद्धि तं त्वं विपश्चितम् ॥४६॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

श्रुत्वेति राघवस्तस्यां सभायां विस्मयान्वितः।
बालकान्मृगमानेतुं प्रेषयामास भूरिशः ॥४७॥
अथाऽऽनीतो मृगो मुग्धः सभां स्फारां विवेश सः।
सर्वैः सम्यग्गणैर्दृष्टः पुष्टिमांस्तुष्टिमानपि ॥४८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! यदि ऐसी बात है, तो वह किस दिशा में, किस मण्डल में, किस पर्वत पर और किस वन में मृग बनकर स्थित है? क्या करता है; सस्यश्यामला भूमि में निवास करने वाला वह किस प्रकार दूब चरता है? बुढ़ापे के समान शिथिल ज्ञान वाला वह कब अपने पूर्व विपश्चिद्-जन्म का स्मरण करेगा? ॥४४-४५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—त्रिगर्त देशाधीश्वर ने जो मृग भेट में आपको दिया है और आपके अजायबघर में विद्यमान हैं उसे ही आप विपश्चित् जानें ॥४६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—उस सभा में यह बात सुनकर रामचन्द्रजी के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने मृग को लाने के लिए झुण्ड के झुण्ड बालकों को भेजा ॥४७॥

इसके बाद बालकों द्वारा लाया गया वह भोला-भाला मृग विशाल सभा में प्रविष्ट हुआ। उस तगड़े और प्रसन्न मृग को सब सदस्यों ने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा। वह अपने काले शरीर में सफेद बिन्दुओं से तारा रूपी बिन्दुओं से युक्त आकाश की शोभा मात कर रहा

तारबिन्दुयुतं देहबिन्दुभिः खं विडम्बयन् ।
दृष्टिपातोत्पलासारैः सुन्दरीः परितर्जयन् ॥४९॥
आदृतानादृतसभैर्नीला मरकतत्विषः ।
धावस्तृणेच्छया लोलं मुग्धैश्चकितवीक्षितैः ॥५०॥
उत्कर्णोन्नयनोद्ग्रीवं क्षणं भङ्गुबलस्थितैः ।
उत्कर्णनयनोद्ग्रीवैः सभ्यानाकुलयञ्जवैः ॥५१॥

मृगमालोक्य तं लोकाः सराजमुनिमन्त्रिणः ।
अनन्ता बत मायेति चिरमासन् स्मयाकुलाः ॥५२॥
आश्चर्यचर्वणसुविस्मितसर्वलोका
सर्वावलोकनघनोत्पलवर्षकृष्णम् ।
रत्नांशुजालकचितं मृगमीक्षमाणा
साऽऽसीत् सभा कमलिनी लिपिर्निर्मितेव ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिन्मृगलाभो नामैकोनत्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥१२९॥

था, दृष्टिपातरूपी नील कमलों की लगातार वृष्टि से सुन्दरियों का भी तिरस्कार कर रहा था तथा उसके दर्शनों के लिए लालायित सभा का भी अनादर करने वाले सुन्दर सभय कटाक्षवीक्षणों से सभा के खम्भों पर जड़े हुए मरकतों की हरे रंग की कान्तियों को हरे तिनके समझ कर खाने के लिए इधर-उधर चञ्चलता से दौड़ रहा था। कान, नेत्र और गर्दन ऊपर उठाकर अपने अस्थिर अनिवार्य चञ्चल वेगों से सभी सभासदों को देखने की उत्सुकता से या भागने की आशङ्का से व्याकुल कर रहा था ॥४८-५१॥

उस मृग को देखकर राजा, मुनि और मन्त्रियों के साथ सभी लोग भगवान् की माया अनन्त है, इस प्रकार कहते हुए आश्चर्यसागर में डूब गये ॥५२॥

सब सभासदों के अवलोकनरूपी घनी नीलकमलों की वर्षा से नील से रँगे हुए से और सभा भवन के खम्भों में जड़े हुए रत्नों की किरणों से व्याप्त मृग को देख रही वह भरी सभा, जिसके सबके सब सदस्य आश्चर्यमय वृत्तान्त के पुनः पुनः आस्वादन से अति विस्मययुक्त थे, चित्रलिखित कमलिनी-सी कमल से पूर्ण तालाब-सी हो गई थी ॥५३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० विपश्चिन्मृगलाभ नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२९॥

१३०

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अथ राम उवाचाऽस्य मुने ! केन विपश्चितः ।
स्यादुपायेन दुःखान्तः प्राक्तनात्मोदयादिति ॥१॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

येनैवाऽभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥२॥

१३०

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे मुनिवृन्द ! इसके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीवसिष्ठजी से कहा—हे मुनिवर ! किस उपाय से विपश्चित्-देह के पुनः आविर्भाववश और ज्ञान द्वारा वास्तविक आत्मा के आविर्भाववश इस विपश्चित् के दुःख का अन्त होगा ? ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स, जिस पुरुष की जिस चिरकाल उपासित देवता से बार-बार अभिलाष सिद्धि पहले कही गई है, उस पुरुष की उस देवता के बिना अभिलषित सिद्धि नहीं होती। यदि घुणाक्षरन्याय से कदाचित् हो भी जाय तो वह शोभा नहीं पाती, कथंचित् शोभा भी पा जाय पर सुखदायी नहीं होती, कदाचित् सुखदायी भी हो जाय पर परलोक हितकारी सत्फलप्रद कदापि नहीं होती। इस विषय में भगवती श्रुति भी है—'यः स्वां देवतामतियजति प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति' (जो अपने इष्टदेव का अतिक्रमण करके यज्ञ करता है वह च्युत होता है, परम गति नहीं पाता अत्यन्त पापिष्ठ होता है)। वृद्धों का भी कथन है—'स्वामतियजेत भगवन्यः कुलदेवं द्विजातिकुलजातः। उभयभ्रष्टो नश्येदभ्युदयोपांशुयाजवत्स जडः ॥' अर्थात् भगवन्, द्विजातिकुल में उत्पन्न हुआ जो पुरुष कुल के इष्टदेव आपका उल्लंघन कर यज्ञ करता है वह जड़ इस लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है ॥२॥

विपश्चितोऽग्निः शरणं तत्प्रवेशादयं मृगः।
पूर्वरूपमवाप्नोति निर्मलं कनकं यथा ॥३॥
करोम्येतदहं सर्वं दृश्यतां दर्शयामि वः।
अग्निप्रवेशं हरिणः करोत्येषोऽधुना पुनः ॥४॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्ठितः।
उपस्पृश्य यथान्यायं स्वकमण्डलुवारिणा ॥५॥
दध्यावनिन्धनं वह्निं ज्वालापुञ्जमयात्मकम्।
तद्ध्यानेन सभामध्याज्ज्वालाजालं समुद्ययौ ॥६॥
अङ्गाररहिताकारमिन्धनेन विवर्जितम्।
स्वच्छं धमधमायन्तमधूममपकज्जलम् ॥७॥
मुग्धमुग्धकचत्कान्ति हेममन्दिरसुन्दरम्।
उत्फुल्लकिंशुकाकारं सन्ध्याम्बुदवदुत्थितम् ॥८॥
दूरापसृतसभ्यं तज्ज्वालाजालं विलोकयन्।
मृगः प्राग्भक्तिभावेन प्रोल्ललास विलोकितैः ॥९॥

अग्नि ही विपश्चित् की इष्टार्थ प्रदान द्वारा रक्षा करने वाला है, उसमें प्रवेश करने से यह मृग निर्मल सुवर्ण ऐसे पूर्व जन्म के विपश्चित्-शरीर को प्राप्त होगा ॥३॥

यह सब मैं अभी करता हूँ। आप लोगों को तमाशा दिखलाता हूँ। यह मृग अभी-अभी आप लोगों के सामने अग्नि में प्रवेश करता है ॥४॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—पुण्यकर्मा मुनिवर श्री वसिष्ठजी ने यह कहकर, वहाँ पर अपने कमण्डल के जल से विधिपूर्वक आचमन कर इन्धनहीन ज्वालापुञ्ज स्वरूप अग्नि का ध्यान किया। श्रीवसिष्ठजी के ध्यान करने से सभा के बीच से अग्नि की ज्वालाएँ धधक उठीं। उन ज्वालाओं अँगारों का नाम निशान न था, लकड़ियों का उनसे कोई सम्पर्क न था, न धुआँ था और न कारिख ही थी। वे सोने सी स्वच्छ ज्वालाएँ धप-धप दहक रही थीं। उनकी अति सुन्दर कान्ति निखर रही थी, उनका पुञ्ज सोने के मन्दिर के सदृश दर्शनीय था, फूले हुए पलाश की-सी अकृतिवाली वह ज्वालाराशि सन्ध्या समय के मेघ के समान उदित हुई थी ॥५-८॥

सभासद ज्वालाराशि से दूर हट गये थे, उस ज्वालाराशि को पूर्व जन्म के भक्तिभाव से आदर सहित देख रहे मृग को उनके दर्शनों से बड़ी प्रसन्नता हुई ॥९॥

तं समालोकयन्वह्निं विविक्षुः क्षीणदुष्कृतः।
पश्चादुपसाराऽऽशु दूरं सिंह इवोत्पतन् ॥१०॥
एतस्मिन्नन्तरे ध्याने विचार्य मुनिपुङ्गवः।
मृगं विलोकितैः क्षीणपापं कुर्वन्नुवाच ह ॥११॥
संस्मृत्य प्राक्तनीं भक्तिं भगवन् हव्यवाहन।
कुरु कारुण्यतः कान्तं मृगमेनं विपश्चितम् ॥१२॥
वदत्येवं मुनौ दूराद्धावित्वा नृपसंसदि।
मृगोऽग्निं वेगनिर्मुक्तः शरो लक्ष्यमिवाऽविशत् ॥१३॥
ज्वालाजालं प्रविष्टोऽसावादर्श इव बिम्बितः।
सन्ध्याभ्र इव विश्रान्तो दृष्टस्पष्टशरीरकः ॥१४॥
स पश्यत्स्वेव सभ्येषु मृगोऽथ नरतामगात्।
ज्वालोदरे नभस्यभ्रलवोरूपान्तरं यथा ॥१५॥
अदृश्यताऽथ ज्वालायामन्तः कनककान्तिमान्।
पुरुषः पावनाकारः कान्तावयवसुन्दरः ॥१६॥

उस वह्नि को देख रहा वह निष्पाप मृग प्रवेश करने की इच्छा से छलाँगे भरता हुआ सिंह की तरह पीछे की ओर दूर तक हटा ॥१०॥

इसके बीच में मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठ जी ने ध्यान में विचार कर अपने दृष्टिपातों से मृग को क्षीणपाप करते हुए वह्नि के प्रति कहा ॥११॥

हे भगवान् अग्निदेव! इसकी पूर्व जन्म की भक्ति का स्मरण कर इस मनोहर मृग को दयावश विपश्चित् बना दो ॥१२॥

राजसभा में मुनि महाराज के ऐसा कहते ही जैसे वेग से छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य में प्रविष्ट होता है वैसे ही मृग दूर से दौड़कर अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥१३॥

ज्वालाओं के मध्य में प्रविष्ट वह दर्पण में प्रतिबिम्बित सा तथा सन्ध्याकाल के मेघ में विश्रान्त हुआ-सा लोगों को साफ-साफ दिखलाई पड़ा ॥१४॥

वह मृग सभासद लोगों के देखते-देखते जैसे आकाश में हरिण-सा बादल का टुकड़ा दूसरे रूप का (मनुष्य रूप का) बन जाता है वैसे ही ज्वालाओं के मध्य में मनुष्य के आकार को प्राप्त किया ॥१५॥

इसके अनन्तर ज्वालाओं के अन्दर सुवर्ण की-सी कान्तिवाला, रमणीय अङ्गप्रत्यङ्गों से मनोहर पुण्याकृति पुरुष दिखलाई दिया। सूर्यबिम्ब में सूर्य की तरह, चन्द्र-बिम्ब में चन्द्रमा की तरह, महान् जलराशि में वरुण की

अर्कबिम्ब इवाऽऽदित्यश्चन्द्रबिम्ब इवोडुपः ।
महाम्भसीव वरुणः सन्ध्याभ्र इव वा शशी ॥१७॥
चक्षुःकनीनिकाकोशे मुकुरे सलिले मणौ ।
प्रतिबिम्ब इवाऽर्काभो भक्तिनाधारपावकः ॥१८॥
अनन्तरं सभामध्याद्वातैर्दीप इवाऽऽहतः ।
ज्वालाजालं ययौ क्वापि सन्ध्याम्बुद इवाऽम्बरात् ॥१९॥
कुटीकुड्येषु भग्नेषु प्रतिबिम्ब इवाऽमरः ।
प्रतिष्ठत्पुरुषस्तत्र पटान्नट इवोद्गतः ॥२०॥
अक्षमालाधरः शान्तो हेमयज्ञोपवीतवान् ।
अग्निशौचाम्बरच्छन्नः सद्यश्चन्द्र इवोदितः ॥२१॥
अहो भा इति सभ्योक्त्या तस्य वेषस्य भासनात् ।
भास्वानिव विशालाभो भास इत्येष शब्दितः ॥२२॥
असौ मूर्त इवाऽऽभासो भासनाम्ना भविष्यति ।
सभास्थैः कैश्चिदित्युक्तं तेन भासः स उच्यते ॥२३॥
अथोपविश्य तत्रैव स भासो ध्यानसंस्थितः ।
आत्मोदन्तमशेषेण सस्मार प्राक्तनं तनौ ॥२४॥
सभालोके गतस्पन्दे स्मयेनाऽऽत्मनि तिष्ठति ।
भासो मुहूर्तमात्रेण दृष्ट्वा स्वोदन्तमक्षतम् ॥२५॥
आययौ पूर्वजन्मभ्यो ध्यानालोकाद्व्यबुद्ध्यत ।
सभामालोकयामास समुत्थाय यथाक्रमम् ॥२६॥
स चाऽऽगत्य वसिष्ठाय प्रणाममकरोन्मुदा ।
ज्ञानार्कप्राणद ब्रह्मन्नमस्तेऽस्त्वित्यत्युदाहरत् ॥२७॥
तमुवाच वसिष्ठोऽपि हस्तेन शिरसि स्पृशन् ।
अद्य ते सुचिराद्राजन्नविद्यायाः क्षयोऽस्त्विति ॥२८॥
रामं जयेति जल्पन्तं नतं दशरथोऽथ तम् ।
आसनात्किञ्चिदुत्तिष्ठन्समुवाच हसन्निव ॥२९॥

श्रीदशरथ उवाच

स्वागतं तेऽस्तु भो राजन्निदमासनमास्यताम् ।
अनेकभवसंसारभ्रान्त विश्रम्यतामिह ॥३०॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

वदत्येवं दशरथे विपश्चिद्भासनामभृत् ।
विवेश विष्टरे विश्वामित्रादीन्प्रणमन्मुनीन् ॥३१॥

तरह अथवा सान्ध्यकालीन मेघखण्ड में चन्द्रमा की तरह, आँखों की पुतली के मध्य में, दर्पण में, जल में और मणि में प्रतिबिम्बित के समान अग्न्याधार भक्ति ही मानो पुरुष रूप ही सूर्य के समान कान्तिवाला पुरुष दिखाई दिया ॥१६-१८॥

अनन्तर वायु से बुझे हुए दीपक के समान वह ज्वालापुञ्ज सभा के बीच से कहीं ऐसे ही विलीन हो गया जैसे कि आकाश से सन्ध्याकाल का मेघ कहीं विलीन हो जाता है ।

देवालय कुटी की भीतों के टूट-फूटकर धराशायी होने पर उनके मध्य में स्थित भगवान् विष्णु आदि देवता की तरह तथा पर्दे के अन्दर से बाहर निकले हुए नट की तरह वहाँ वह पुरुष खड़ा रह गया ॥२०॥

उसने रुद्राक्ष की माला ले रक्खी थी, सुवर्णमय यज्ञोपवीत पहना था और अग्निदाह से निर्मल हुए वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वह शान्त और तुरन्त उदित हुए चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था ॥२१॥

अहा इसकी भी (छवि) इस प्रकार सभासदों की उक्ति द्वारा उसके वेष के प्रकाशन से सूर्य के तुल्य महाकान्ति वह भास नाम से प्रख्यात हुआ ॥२२॥

मूर्तिमान् आभास-सा यह भास नाम से प्रसिद्ध होगा, कतिपय सदस्यों ने ऐसा कहा, इस कारण वह भास कहलाता है ॥२३॥

इसके बाद ध्यानमग्न उस भास ने वहीं पर बैठकर अपने शरीर में अपने पूर्वजन्म के संपूर्ण वृत्तान्त का स्मरण किया ॥२४॥

जब कि सभासद जन अपने अन्दर उत्पन्न हुए आश्चर्य से निश्चल बैठे थे, भास मुहूर्त भर में अपना सारा का सारा वृत्तान्त देखकर पूर्व जन्मों से लौट आया, ध्यान लोक से जाग गया। उसने उठकर मुनि, राजा, सामन्त आदि के क्रम से सभापर दृष्टिपात किया ॥२५-२६॥

उसने श्रीवसिष्ठजी के निकट जाकर प्रसन्नता के साथ उन्हें प्रणाम किया और हे ज्ञान सूर्यरूपी प्राण देने वाले ब्राह्मन्, आप के लिए नमस्कार है, यह कहा ॥२७॥

वसिष्ठजी ने उसके सिरपर अपना हाथ फेरते हुए उससे कहा—हे राजन् ! आज चिरकाल से दृश्यमान तुम्हारी अविद्या का क्षय हो ॥२८॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्र जी के प्रति जय जयकार करते हुए प्रणाम कर रहे उससे श्रीदशरथजी ने आसन से कुछ उठकर हँसते हुए कहा ॥२९॥

राजा श्रीदशरथजी ने कहा—हे राजन् ! आपका स्वागत हो, आप इस आसन पर बैठिये। हे अनेक जन्म जन्मान्तरों से भ्रमणशील, यहाँ पर विश्राम कीजिये ॥३०॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—महाराज दशरथ के इस प्रकार कहने पर भास नामधारी विपश्चित् विश्वामित्र प्रभृति मुनियों को प्रणाम कर आसन पर बैठ गया ॥३१॥

श्रीदशरथ उवाच

अहो बत चिरं कालमालानेनेव दन्तिना।
वन्येनाऽविद्यया दुःखमनुभूतं विपश्चिता ॥३२॥
असम्यग्बोधदुर्दृष्टेरहो नु विषमा गतिः।
व्योम्न्येव दर्शयत्येषा सर्गाडम्बरसभ्रमम् ॥३३॥
कियन्त्याश्चर्यमेतानि जगन्ति विततात्मनि।
संततानि चिरं तानि विभ्रान्तानि विपश्चिता ॥३४॥
व्योमात्मनोऽपि महिमाऽयमहो नु कीदृ-
गस्य स्वभावविभवस्य चिदात्मवृत्तेः।
यः शून्य एव परमात्मघनेऽम्बरेन्त-
रेवं विधानि विविधानि जगन्ति भाति ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० मृगवह्निप्रवेशो नाम त्रिंशदुत्तरशततमः सर्गः ॥१३०॥

श्रीदशरथ ने कहा—खेद है, विपश्चित् ने अविद्या से चिरकाल तक वैसे ही दुःख पाया है जैसे जंगली हाथी चिरकाल तक बाँधने खूँटे से दुःख पाता है ॥३२॥

असमीचीन बोध से उत्पन्न दुर्दृष्टि की बड़ी विषम-गति है। उक्त दुर्दृष्टि आकाश में ही सृष्टि का आडम्बर भ्रम दिखलाती है ॥३३॥

यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि सर्वव्यापक आत्मा में इन समस्त बिखरे हुए कितने ही जगतों का चिरकाल तक विपश्चित् ने भ्रमण किया ॥३४॥

चिदात्मा का आवरण करने वाले मायास्वभावरूप विभव की, जो कि वस्तुतः शून्य है, कैसी महिमा है। जो महिमा शून्य होती हुई भी परमात्मघन के अन्दर इस तरह के विविध विचित्र जगत् बनकर प्रतीत होती है ॥३५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० वि० मृगवह्निप्रवेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३०॥

१३१

श्रीदशरथ उवाच

क्लिष्टोऽयं यदविद्यार्थं विपश्चिदविपश्चितः।
तदहं चेष्टितं मन्ये कष्टोऽवस्तुनि किंग्रहः ॥१॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अस्मिन्नवसरे तत्र राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः।
प्रसंगपतितं वाक्यं विश्वामित्रोऽभ्युवाच ह ॥२॥
अप्राप्तोत्तमबोधानां बोधवेद्या विलक्षणाः।
भवन्त्येवंविधा राजन् बहूनां बहवो भृशम् ॥३॥
अद्य सप्तदशं वर्षलक्षमक्षीणनिश्चयाः।
एवमेव भ्रमन्तोऽस्यां वटधाना भुवि स्थिताः ॥४॥
भूमेरन्तावलोकार्थमद्याऽप्युद्वेगवर्जितम्।
प्रवृत्ता न निवर्तन्ते वहनात्सरितो यथा ॥५॥

१३१

श्रीदशरथ ने कहा—इस विपश्चित् ने दिगन्त भ्रमण-भ्रमणरूप अपुरुषार्थभूत अविद्या के उद्देश्य से जो अनेक कष्ट झेले, इस सबको मैं आत्मज्ञानविहीन इसकी भ्रान्ति-निरर्थक चेष्टा समझता हूँ, क्योंकि मिथ्यारूप दिगन्त-दर्शन आदि कौतुक में इसे मैं अवश्य करूंगा इस प्रकार का दुराग्रह क्लेशप्रद होता ही है ॥१॥

महाराज दशरथ के वचन सुनने से श्रीविश्वामित्रजी को वटधाना राजपुत्रों का वृत्तान्त संस्कार उद्बुद्ध हो गया प्रस्तुत विपश्चिद्वृत्तान्त वर्णन प्रयोजन को दृढ़ करने में हेतुभूत होने से उक्त वृत्तान्त को अनुपेक्षणीय समझकर वाल्मीकिजी कहते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—उस अवसर में वहाँ राजा दशरथ के समीप बैठे हुए श्रीविश्वामित्रजी ने प्रसङ्गानुसार वाक्य कहा ॥२॥

हे राजन्! आपने बहुत ठीक कहा, कारण कि जिन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी दृष्टि में इस प्रकार के विचित्र भ्रान्तिज्ञान से वेद्य वासनामय अनन्त कोटि जगत् रूप बहुत से पदार्थ उत्पन्न होते ही रहते हैं ॥३॥

आगे कही जाने वाली भूमि में वटधाना नाम के राजकुमार विपश्चित् के समान ही आज तक लगातार सत्रह लाख वर्ष से घूम रहे हैं ॥४॥

आज भी वे भूमि का अन्त देखने के लिए किसी प्रकार के उद्वेग से रहित होकर प्रवृत्त हैं, वे वैसे ही उससे निवृत्त नहीं होते, जैसे कि नदियाँ बहने से निवृत्त नहीं होतीं ॥५॥

अयं खलु महालोको वर्तुलो व्योम्नि संस्थितः।
बालसङ्कल्पतरुवद् ब्रह्मसङ्कल्पनिश्चयः ॥६॥
कन्दुके व्योम्नि संरुद्धे दशदिक्कं पिपीलिकाः।
इत्थं भ्रमन्ति भूतानि तदाधाराणि नित्यदा ॥७॥
भूगोलकाधोभागानि तदङ्गान्यूर्ध्ववन्ति च।
तदा भूतानि तिष्ठन्ति तान्याविश्य भ्रमन्ति च ॥८॥
तमेवाऽऽविश्य दूरेण सरितश्चर्क्षमण्डलम्।
असंस्पर्शा भ्रमन्त्युच्चैः सचन्द्रार्कादि सन्ततम् ॥९॥
इहैव सर्वदिक्कं द्यौस्तामावेष्ट्य व्यवस्थिता।
सर्वदिक्कं खमत्यूर्ध्वं तस्याऽधस्तान्महीतलम् ॥१०॥
भावाः पतन्तो धावन्ति तस्याऽधः सर्वतोऽङ्कम्।
यत्रोत्पतन्तो गच्छन्ति तदूर्ध्वमिति शब्दितम् ॥११॥
तत्रैकदेशे विद्यन्ते वटधानाभिधानकाः।
जातास्तेषां त्रयो राजन् राजपुत्राः पुराऽभवन् ॥१२॥
ते ह्येवमेकसङ्कल्पा भूम्यादेर्दृश्यवर्त्मनः।
कोऽन्तः स्यादिति निर्याता विहर्त्तुं दृढनिश्चयाः ॥१३॥
पुनर्वारि पुनर्भूमिस्तेषामाक्रमतां चिरम्।
नवलब्धशरीराणां दीर्घकालो व्यवर्तत ॥१४॥
स्वच्छन्दुकवल्मीकन्यायेनाऽनिशमत्र ते।
भ्रमन्तो नाऽनुवन्त्यन्तमन्यत्वं संविदन्ति च ॥१५॥
व्योमस्थकन्दुकभ्रान्तपिपीलिकवदाकुलम्।
अद्याऽपि संस्थिता राजन्न च खेदं व्रजन्ति ते ॥१६॥
देशं भूगोलकस्याऽस्य यं यमासादयन्ति च।
इहेव तत्र तत्रोच्चैरधश्चोर्ध्वंन्तथा दिशः ॥१७॥

यह पाताल, भूमि आदि चौदह लोकों से बना हुआ महान् लोक (भुवनों की समष्टि) भूलोक के समान ही गोल अन्तरिक्ष लोकों से गोलाकार होकर भूमि के चारों ओर आकाश में स्थित है। यह हिरण्यगर्भ का निश्चय संकल्प ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। यह ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध भूगोल, चौदह भुवन के लोग जिसके आधार पर रहते हैं, बालक के संकल्प-वृक्ष के समान आकाश में निराधार स्थित है कारण कि यह भी ब्रह्मा का संकल्प निश्चय ही है ॥६॥

उसमें तदाश्रित प्राणी नित्य चारों ओर वैसे ही घूमते हैं। जैसे आकाश में टिके शहद से सने हुए गेंद में चारों ओर चींटियाँ घूमती हैं ॥७॥

भूगोल के नीचे की ओर के जो अङ्ग हैं और ऊपर की ओर के जो अङ्ग है, उनमें प्रवेश कर जहाँ पर जो जीव जब रहते हैं, तब वे वहाँ पर भ्रमण करते हैं ॥८॥

अन्तरिक्ष लोक में वहने वाली मन्दाकिनी आदि नदियाँ सौरपरिवाररूपी चन्द्र, सूर्य आदि युक्त नक्षत्र मण्डल का और उस भूगोल का दूर से वायु बन्धनवश अवलम्बन कर, उनका स्पर्श किये बिना ही सदा खूब भ्रमण करती हैं ॥९॥

ज्योतिश्चक्र सहित नक्षत्रमण्डल सहित पृथ्वी को चारों ओर से घेरकर द्युलोक इसी भूलोक में स्थित है आकाश उसके सब ओर ऊपर को ही है और पृथ्वीतल सबके नीचे की ओर है ॥१०॥

यदि किसी को शङ्का हो कि भूगोल के नीचे स्थित आकाश ऊपर कैसे और नीचे के आकाश की अपेक्षा पृथिवीतल नीचे की ओर कैसे ? इस पर कहते हैं।

उस पृथिवीतल के नीचे जो पदार्थ घूमते हैं वे उसके चौतर्फा तत्-तत् प्रदेशों में पहुँचते हुए संचार करते हैं जिस आकाश में पक्षी आदि उड़ते हुए जाते हैं वह उसके ऊपर कहा जाता है नीचे अथवा तिरछा नहीं कहा जाता ॥११॥

हे राजन् ! उस भूगोल के किसी एक भाग में वटधाना नाम के देश अथवा उनके अधिपति हैं। उनके वंश में तीन राजकुमार प्राचीन काल में सत्पन्न हुए ॥१२॥

वे राजकुमार विपश्चित् के समान ही दृश्य भूमि आदि जगत् का अन्त कौन होगा ? उसको हम देखेंगे, यों दृढ़ निश्चयकर उसके दर्शन के लिए घर से निकले ॥१३॥

द्वीप और समुद्र के विभाग से फिर जल फिर भूमि इस क्रम से द्वीप और समुद्र को चिरकाल तक लाँघ रहे मर कर फिर नये शरीर को प्राप्त हुए उनका दीर्घ काल बीत गया ॥१४॥

स्वच्छ गेंद में लगे हुए दीमकों की भाँति भूगोल में निरन्तर घूम रहे वे जगत् के अन्त को न पा सके, बल्कि उन्हें दूसरे-दूसरे देश प्राप्त होते गये ॥१५॥

हे राजन् ! आकाश में रुके हुए गेंद में घूम रही चींटियों की तरह आज भी वे घूमने में व्याकुल हैं और थकते भी नहीं हैं ॥१६॥

इस भूगोल के नीचे के ऊपर के अथवा अगल-बगल के जिस किसी प्रदेश में वे पहुँचते हैं। वहाँ यहीं की तरह अच्छी तरह ऊपर, नीचे और दिशाओं को देखते हैं ॥१७॥

ते वदन्ति महाराज यद्यस्माभिरितोद्यतैः ।
न तावदन्तः सम्प्राप्तः संचराम इतः परम् ॥१८॥

इत्थं न किञ्चिदेवेदं ब्रह्मसङ्कल्पडम्बरम् ।
किञ्चित्सङ्कल्पमज्ञानमनन्तं स्वप्नदृश्यवत् ॥१९॥

कल्पनं तत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव कल्पनम् ।
चिद्रूपं नाऽनयोर्भेदः शून्यत्वाकाशयोरिव ॥२०॥

चिन्मात्रं यद्यदाभातं जलवाहविवर्तवत् ।
तत्तादृक्कथमन्याभमन्यस्यासंभवाद् भवेत् ॥२१॥

अभावः खे च खमिदं सर्गादौ परमाम्बरम् ।
स्वयं जगदिवाऽऽभाति नाऽन्यत्प्रलयसर्गकौ ॥२२॥

यथा कषति चिद्रूपं तथैव रतिमेत्य तत् ।
दृष्टादृष्टैः स्वसंसारैश्चिरमास्ते यथाचिरम् ॥२३॥

हे महाराज, तब वे कहते हैं कि हम लोगों को उद्योग करने पर भी भूमि का अन्त प्राप्त नहीं हुआ। इसके बाद हम आगे बढ़ें ॥१८॥

यह ब्रह्म का संकल्पाडम्बर वास्तव में कुछ भी नहीं है। चित्संकल्प स्वप्नदृश्य के समान असीम और अज्ञान है ॥१९॥

संकल्प-कल्पना परम ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। संकल्प-कल्पना ही परम ब्रह्म है। इन दोनों में वैसे ही कोई अन्तर नहीं है जैसे कि शून्यत्व और आकाश में कोई भेद नहीं है। अर्थात् संकल्प-कल्पना का अधिष्ठान चित् ही है इसलिए केवल चित् ही तत्त्व है ॥२०॥

यहाँ जो कुछ प्रतीत होता है वह सब वैसे ही चिन्मात्र ही हैं। जैसे जल के प्रवाह में हुए आवर्त, तरङ्ग और बुद्बुद जल ही हैं। अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से असदृश वह अन्य सदृश कैसे होगा। आवर्त आदि में नाभिगर्त आदि का सादृश्य होने से कथंचित् उसमें अन्य-तुल्यता हो सकती है, किन्तु इसमें तो सदृश और असदृश अन्य वस्तु का अत्यन्त असम्भव होने से अन्यतुल्यता कैसे होगी ॥२१॥

यह जगत् सृष्टि के आदि में अभावरूप था अतः शून्य ही था, अतः उस समय परमाकाश (ब्रह्माकाश) ही था यह बात तो बिलकुल निर्विवाद है। और वही स्वयं ब्रह्माकाश इस समय जगत् सा मालूम पड़ता है। इस दृष्टि में प्रलय और सर्ग भिन्न नहीं है ॥२२॥

वह चिद्रूप काम, कर्म और वासना के अनुसार जैसे-जैसे कल्पना करता है वैसे ही वहाँ पर आसक्त होकर

दृश्यात्मकं रूपमेकमेकस्यैवमक्षयम् ।
स्वयमेवमजं भाति यन्न भातीव किञ्चन ॥२४॥

चिदणोरुदरे सन्ति समस्तानुभवाणवः ।
शिलाः शैलोदर इव स्वच्छाः खात्मनि खात्मिकाः ॥२५॥

स्वभावनिष्ठास्तिष्ठन्ति ते यदव्याकृतात्मनि ।
मा तिष्ठन्ति तु वै ते यदव्यावृत्ताः परे पदे ॥२६॥

तदेव जगदित्युक्तं ब्रह्म भारूपमाततम् ।
पूर्वापरपरामर्शान्निपुणं निपुणाशयाः ॥२७॥

अत्याश्चर्यमनष्टोऽयं परमात्सदनात्स्वयम् ।
नानात्वबुद्ध्या नानैव जीवोऽहमिति ताम्यति ॥२८॥

उच्यतां भास भो राजन् विपश्चिदपराख्य हे ।
कियद् दृष्टं कियद् भ्रान्तं दृश्यं स्मरसि किं च वा ॥२९॥

दृष्टादृष्ट—वेद्य और अवेद्य जडचिद्रूप अन्योन्य में तादात्म्याध्यास वाले स्व-संसारों से पहले था, वैसे ही आगे भी चिरकाल तक रहेगा ॥२३॥

आकाशात्मक (शून्यरूप) शिलामध्य में आकाशात्मक स्वच्छ शिलाओं की तरह चित्-अणु के मध्य में तत्-तत् आकार वाली वासनाओं से अवच्छिन्न सकल जगदनुभव हैं।

आवत आत्मस्वरूपभूत उक्त जगदनुभव अव्याकृतात्मा में ही स्थित है, किन्तु अविद्याविहीन चैतन्य में तो वे नहीं ही रहते हैं, क्योंकि उसमें व्यावर्त्य अन्य रूपों के प्रसिद्ध न होने से उक्त जगदनुभव अत्यन्त अभिन्न ही रहते हैं। अर्थात् शुद्ध चिदणु के मध्य में जगदनुभव नहीं है ॥२४-२६॥

हे सुनिपुण आशय वाले श्रोताओ! परम पद में सकल जगदनुभव—व्यावर्त्य अन्यरूपों के अप्रसिद्ध होने के कारण—अत्यन्त अभिन्न हैं, इसलिए मैंने पूर्वा पर का भली-भाँति विचार कर वही सर्वव्यापक ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म जगत् है, यह कहा ॥२७॥

इस प्रकार शुद्ध चित् के एक होने पर अपने परम पद से च्युत हुए बिना भी यह जीव द्वैतबुद्धि से 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार भिन्न होकर जो मलिन होता है, दुःखी होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२८॥

हे राजन्! हे विपश्चित्! अपर नामक भास, तुमने कितना दृश्य देखा, कितना भ्रमण किया उसमें कितने की तुम्हें याद है संक्षेप में थोड़ा-बहुत कहो ॥२९॥

भास उवाच

बहु दृष्टं मया दृश्यं बहु भ्रान्तमखेदिना।
बह्वेव बहुधा नूनमनुभूतं स्मराम्यहम् ॥३०॥

मयाऽनुभूतानि महान्ति राजं-
श्चिरं सुदूरे विविधैः शरीरैः।
सुखानि दुःखानि जगन्त्यनन्ता-
न्यनन्तमासाद्य महाम्बरं तत् ॥३१॥

विचित्रदेहैर्वरशापयोगाद्
दृश्यान्यनन्तानि मया महात्मन्।
जन्मान्तरावर्तविवर्तनानि
दृढैकचित्तेन वरात् कृशानोः ॥३२॥

दृश्यात्मकोर्वीवपुषस्त्वविद्या-
दृशो जवेनाऽन्तपरीक्षणाय।
देहेन देहेन जगत्प्रति प्राक्-
स्मृतेः सदाऽहं घनयत्नमासम् ॥३३॥

समाः सहस्रं विटपोऽहमास-
मन्तर्मनाश्चेतनभुक्तदुःखः।
चित्तं विना पुष्पफलप्रताने
वा कन्दवत् तत्तरसाऽङ्गरागः ॥३४॥

समाः शतं मेरुमृगोऽहमासं
सुवर्णवर्णस्तरुपर्णकर्णः।
दूर्वाङ्कुरास्वादनगीतिनिष्ठ
अहन् कनिष्ठो वनवासिमध्ये ॥३५॥

पादाष्टकैरावलितात्मपृष्ठो
मृतेऽम्भसः क्लेशकृतात्ममृत्युः।
समाः शतार्द्धं शरभोऽहमासं
क्रौञ्चाचले काञ्चनकन्दरासु ॥३६॥

कालागुरुद्रुमलतावलितानिलेन
विद्याधरीसुरतधर्मकलामृतानि।
पीतानि मे मलयसानुनि मन्दरे च
मन्दारचन्दनकदम्बलतागृहेषु ॥३७॥

भास ने कहा—हे मुनिवर ! मैंने बहुत दृश्य देखे, बिना थकावट के बहुत भ्रमण किया तथा बहुत बार बहुत-सा अनुभूत वृत्त मुझे खूब याद भी है ॥३०॥

हे राजन् ! उस असीम महाकाश में पहुँचकर विविध शरीरों से बड़े-बड़े सुखों और दुःखों का चिरकाल तक मैंने अनुभव किया और दूर-दूर के बड़े-बड़े जगत् देखे ॥३१॥

हे महात्मन् ! भगवान् अग्नि देव के वर से दिगन्त देखने के लिए दृढ़निश्चय होकर मैंने वर और शापवश प्राप्त हुए विचित्र शरीरों से अनन्त दृश्य देखे ॥३२॥

यद्यपि मैं प्रत्येक ब्रह्माण्ड में विभिन्न देह से घूमता था तथापि पूर्वजन्म के दृढ़ निश्चय का स्मरण रहने के कारण दृश्यात्मक पृथिवी आदिरूप अविद्या का अन्त देखने के लिए मैं सदा जोर-शोर से प्रयत्नशील रहा ॥३३॥

तदनन्तर मुझे मृत्यु के समय चित्त के वृक्ष दर्शन जनित संस्कार के वेग से देह धारण करने की अभिलाषा हुई, अतएव मैं एक हजार वर्ष तक वृक्ष बना रहा। वृक्षावस्था में बाह्यप्रवृत्ति में निमित्तभूत प्राणचेष्टा न होने से मेरा चित्त भीतर ही रहता था बाहर नहीं जा सकता था, वृक्षशरीराभिमानी मेरा जीव दुःख का भोग करता था और पूर्वापर विचार में कारणभूत चित्त के बिना ही मैं पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करने में कन्द के समान भूमि के रस और वसन्त-ऋतु आदिकाल के अधीन रहा ॥३४॥

सौ वर्ष तक मैं मेरुपर्वत पर मृग हुआ। मृगावस्था में मेरी दूब के तिनके चरने और गीत सुनने में अत्यन्त आसक्ति रही सोने के समान मेरा रंग रहा और पेड़ के पत्ते के तुल्य कान रहे। वनवासी सकल जीवों में मैं सबसे छोटा था, अतः किसी पर वार नहीं करता था ॥३५॥

मैं पचास वर्ष तक क्रौञ्च पर्वत की सुवर्णमय गुफाओं में शरभ जाति का मृग हुआ। उक्त मृगावस्था में मेरी पीठ आठ टाँगों से युक्त थी (ऐसी प्रसिद्धि है कि शरभ जाति के मृग में पीठ के बल भी चार चरणों से चलने की सामर्थ्य है। उस अवस्था में पेट भी पीठ माना जा सकता है इसीलिए यहाँ पर जिसकी दो पीठें आठ चरणों से युक्त हैं ऐसा कहा है।) तथा मरने का समय निकट आने पर गरज रहे मेघ से जो ओले और मेघ की बूँदें मेरे ऊपर गिरीं उनके कारण मेघ के साथ लड़ने के लिए मैं पर्वत शिखर से छलांगें भरने लगा। उसी क्लेश से मैंने आत्महत्या कर डाली ॥३६॥

अनन्तर मुझे विद्याधरयोनि प्राप्त हुई। उस योनि में मैंने मलय पर्वत के शिखर पर और मन्दराचल पर काले अगरु के पेड़ों की लताओं द्वारा आलिङ्गित अतएव मन्द

हेमारविन्दमकरन्दपिशङ्गितानि
पीतानि पञ्चदशवर्षशतानि मेरौ।
वैरिञ्चहंसतनयेन मया पयांसि
तीरान्तरेषु रमतोपरि निर्झरिण्याः ॥३८॥
क्षीरोदवेलावनगन्धवाह-
विलोलनीलालकवल्लरीणाम् ।
समाः शतं शोकजरापहारि
गीतं श्रुतं माधवसुन्दरीणाम् ॥३९॥
कालञ्जरे मञ्जरिते करञ्ज-
गुञ्जावने जम्बुकतां गतोऽहम्।
गजेन पिष्टे हरिणा हतोऽसौ
हस्ती मयाऽत्रार्द्धमृतेन दृष्टः ॥४०॥
संतानकप्रकरहासिनि सह्यसानौ
कस्मिंश्चिदन्यजगतीन्दुमुखी सुरस्त्री।
एकाकिनी कृतयुगार्द्धमथाऽहमासं
कल्पद्रुमस्तवकसद्मनि सिद्धशापात् ॥४१॥

अद्रीन्द्रकच्छकरवीरलतालयेषु
नीतं समाशतमशङ्कधिया मयाऽन्यत्।
अन्यत्र दूरजगतीन्द्रगिरौ विरावि-
वाल्मीकपक्षिवपुषाऽनिशमेककेन ॥४२॥
अन्यत्र सानुनि मया परिलम्बमानाः
सच्छायचन्दनवनावलिते लतानाम्।
दृष्टाः स्त्रियः फलमिवाऽऽवलिता विलासै-
र्भुक्ताश्च ता अपहृता अपि सिद्धपान्थैः ॥४३॥
अन्यत्र पर्वतनितम्बदरम्बकच्छे
नीतानि तापसतयोत्तमया दिनानि।
प्राप्यैकवस्त्वभिनिवेशविषूचिकात्त-
चित्तेन तान्तमतिनाऽमतिना मयाऽन्तः ॥४४॥
ब्रह्माण्डसम्पूरितमन्यदस्ति
जलेचराशेषदिगन्तभूतम् ।
संदिग्धतेजोम्बरवातसत्त्वं
जलस्थभूताकृतिमात्रभूमि ॥४५॥

सुगन्ध शीतल वायु के साथ विद्याधरियों के सुरतों में उनकी विविध कलारूप सुधा का अनुभव किया ॥३७॥

अनन्तर मैं ब्रह्माजी के वाहन हंस का बच्चा बना। हंस के जन्म में मैंने सुमेरु के ऊपर बहने वाली मन्दकिनी के दोनों तटों के बीच में विहार करते हुए सुवर्ण कमलों के मकरन्द से पीले-पीले जलों का पन्द्रह सौ वर्ष तक पान किया ॥३८॥

सौ वर्ष तक मैंने क्षीरसागर के तीरस्थित वन के मन्द सुगन्ध शीतल वायु से चञ्चल नील अलकावली वाली माधव (कृष्ण) भगवान् की दिव्य रमणियों के शोक और बुढ़ापे को हरने वाले मधुर गीत सुने ॥३९॥

उसके बाद मैं कालञ्जर पर्वत पर फूले हुए कञ्जे और घुँघची के वन में सियार की योनि को प्राप्त हुआ। वहाँ पर किसी हाथी ने अपने पञ्जे से मुझे चूर-चूर कर दिया उस अधमरी दशा में मैंने मुझे कुचलने वाले हाथी को सिंह के हाथ मरा देखा ॥४०॥

सियार की योनि से छुटकारा पाने के पश्चात् किसी दूसरे लोक में सन्तानक के कल्पवृक्ष भेद के झुरमुट से सुशोभित सह्याचल के शिखर पर कल्पवृक्ष के निकुञ्जगृह में सिद्ध के शाप से एकाकिनी (अकेली) चन्द्रमुखी अप्सरा के रूप में आधे सत्ययुग तक मैं रहा ॥४१॥

अनन्तर मैंने सह्याचल के जलप्राय (दलदल) प्रदेश में उगे हुए कनइल की शाखा के मध्यवर्ती घोंसलों में सदा शब्द करने वाले वाल्मीक नामक पक्षी के रूप में निश्शङ्क होकर सौ वर्ष बिताये। जब मेरे स्त्री-पुत्र आदि के साथ ही कनइल का पेड़ नष्ट हो गया तब दूरवर्ती लोक में महेन्द्र पर्वत पर वियोगजन्य दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुए मैंने अपनी आयु के शेष दिन अकेले बिताये ॥४२॥

इस प्रकार उक्त दो जन्मों के बाद सिद्ध के शाप से छुटकारा पाने पर सिद्ध के ही अनुग्रह से सिद्धि को प्राप्त हुए मैंने महेन्द्र पर्वत के ही छायायुक्त चन्दन वनों से वेष्टित अन्य शिखर पर लताओं के झूलों पर फलों की तरह लटक रहीं एक से एक बढ़कर विलास वाली स्त्रियाँ देखीं। यद्यपि उनका हृदय सिद्ध पथिकों द्वारा हर लिया गया था, तथापि मैंने उनका उपभोग भी किया ॥४३॥

अनन्तर विवेकविहीन होने से मेरा चित्त अविद्या के अन्तदर्शन के लिए उत्पन्न हुई दुराग्रहरूपी महामारी से विवश था, अतएव मेरी बुद्धि को ग्लानि हो गई थी, इस कारण मैंने अन्दर विरक्ति प्राप्त कर महेन्द्र पर्वत के मध्य-वर्ती जलप्राय प्रदेश में तपस्वी बनकर दिन बिताये ॥४४॥

हे मुनिवर! दूसरी एक अत्यन्त आश्चर्यमय वस्तु है, उसे सुनिये। वह अनन्त ब्रह्माण्डों से भरी है, उसके निखिल दिशाओं में रहने वाले प्राणी जलचरों के तुल्य हैं, अतएव उसमें तेज, आकाश और वायु के अस्तित्व में सन्देह है। उसकी भूमि की आकृति जल में प्रतिबिम्बित भूतकी-सी है। उक्त आश्चर्यमय वस्तु थोड़ा-बहुत व्याकृत नामरूप-वाला ब्रह्म ही है आशय यह है कि इस प्रकार अपनी जन्मपरम्पराओं के वर्णन के बीच में उसे अकस्मात् आश्चर्यमय कतिपय अन्य वृत्तों का स्मरण हो आया ॥४५॥

एकत्र दृष्टा वनिता मयैका
तस्याः शरीरे त्रिजगन्ति भान्ति।
प्रतिबिम्बितानीव सुदर्पणेऽन्तरा
काशशैलादिदिगादिमन्ति ॥४६॥
पृष्टा मयाऽसौ वरगात्रि काऽसि
शरीरमेतच्च किमीदृशं ते।
तयोक्तमङ्गेह चिदस्मि शुद्धा
ममाङ्गमेतानि महाजगन्ति ॥४७॥
यथाऽहमेवं स्मयदेहिकेयं
सर्वं तथैवाङ्ग न चित्रमेतत्।
अन्यैः स्वभावो विदितो न शुद्धो
यदा न पश्यन्ति तदेत्यमङ्ग ॥४८॥

एक जगह मैंने एक स्त्री देखी। उसके शरीर में सुन्दर शीशे के अन्दर प्रतिबिम्बित हुए जैसे आकाश, पर्वत आदि सहित दिशा, काल, प्राणी आदि से पूर्ण तीनों जगत् शोभित होते हैं, यह अत्यन्त आश्चर्य है अर्थात् वह आश्चर्य और चाँदी की शिला के अनुसार स्त्री-शरीर आदि सकल पदार्थों में भी सकल जगत् रूप गर्भ प्रत्येक में है ऐसा एक दूसरा आश्चर्य मैंने वहाँ देखा यह कहने के लिए किसी स्त्री का उदाहरण दिया है ॥४६॥

मैंने उससे पूछा—हे सुन्दरी! तुम कौन हो, तुम्हारा यह शरीर त्रिजगद्घटित कैसे है? तब उसने मुझसे कहा, हे जीव! इस वस्तु समूह में जो शुद्धसर्वावभासिका चित् है, वह मैं ही हूँ। ये महा जगत् मेरे अंग हैं, मूर्त-अमूर्त शरीर हैं, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' जिसके सब भूत शरीर हैं इत्यादि श्रुतियाँ है ॥४७॥

हे जीव! यह सब स्तम्भ, घट आदि वस्तुएँ भी सर्वजगद्घटित होने से वैसे ही अति आश्चर्यमय ही हैं जैसे मैं जगद्घटित होने के कारण तुम्हारे लिए विस्मयावह हूँ।

शङ्का—यदि सभी वस्तुएँ जगद्घटित हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अन्दर सकल जगत् विद्यमान हैं तो अन्य लोगों को भी ऐसा क्यों नहीं दिखाई देता?

समाधान—जब तक प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात नहीं होता, तब तक वे नहीं देखते जब एकमात्र आतिवाहिकभाव के बद्धमूल (दृढ़) हो जाने पर प्रत्येक वस्तु का ऐसा स्वभाव ज्ञात हो जायगा तब वे भी अवश्य ही जानेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

अवेदशास्त्रेण जगत्यशेषे-
र्भूतैः स्वदेहालयभित्तिभागात्।
एतद्विधेयं न विधेयमेतद्
ध्वनिः स्वतः श्रूयत एव नित्यम् ॥४९॥

ईदृक्स्वभावैव पदार्थसत्ता
सा तेऽत्र यद्भित्त्यचलादयोऽपि।
स्वप्नादिमायास्विव मे वदन्ति
वाचं न युष्मास्वसमञ्जसं तत् ॥५०॥

तुम और तुम्हारे सरीखे अन्य प्राणी जिसे अवेद-शास्त्र मानते हैं देहान्तर्गत जगत् में स्वदेह भवन रूप भित्ति के एक देश रूप कर्णशष्कुली प्रदेश से नित्य अनाहत नाद, जो सकल वेद शास्त्रादि शब्द सामान्य ध्वनि है, स्वतः सुनाई देता ही है। उसी के गर्भ में नित्य नैमित्तिक कर्म का तथा शम, दम आदि ज्ञान के साधनों का अवश्य अनुष्ठान करना चाहिये ये सब विधियाँ निहित हैं तथा कलञ्ज का भक्षण नहीं करना चाहिये यह सकल निषेधक वेदशास्त्र उसके अन्दर निहित हैं। उसके श्रवण से ही उसके अन्तर्गत विधि निषेध शास्त्र के समान उसका अर्थ-भूत जगत् भी देह में हैं, ऐसी आप संभावना करें। अवेद इत्यादि पद्यों से यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि मुझे अपने देह का सर्वजगत्घटित रूप से अनुभव नहीं होता। यदि कहो कि देह के अन्दर चक्षु आदि का प्रवेश न होने से उसमें तुम्हें जगत का दर्शन नहीं होता तो उसमें स्थित वेद, शास्त्र आदि का कानों से श्रवण भी नहीं होगा ऐसी मेरी असंभावना का अनुमान कर उसको संभव बताया है ॥४९॥

सकल पदार्थों में अनुगत पदार्थसत्ता भी सर्वजगद्घटित-सामान्यस्वभाव वाली वैसे ही है, जैसे अनाहत नाद शब्द-सामान्यस्वभाव है क्योंकि इस जगत् में प्रसिद्ध दीवार, पर्वत आदि भी ब्रह्मसत्ता रूप ही हैं। दीवार आदि बोलते नहीं अतः अचेतन हैं, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वे जैसे स्वप्न आदि में प्रसिद्ध भाषा में बोलते हैं वैसे ही मेरे सम्मुख भी बोलते हैं। जब अत्यन्त जड़ रूप से प्रख्यात दीवार आदि में सर्वजगद्घटितचेतनता अस-मञ्जस (अयुक्त) नहीं है तब प्रायः चेतनरूप आप लोगों के शरीरों मे तो सुतरां असमञ्जस नहीं है। अर्थात् उक्त न्याय से खम्भे, घड़े आदि में भी सकल जगत् का अस्तित्व है ऐसी संभावना करनी चाहिये ॥५०॥

अस्त्रीकसंसारगतेन दृष्टं
मया क्वचिद्यावदनन्यकामम् ।
भूतानि निर्यान्ति बहूनि भूताद्
विशन्ति भूतानि बहूनि भूतम् ॥५१॥

एकानि दृष्टानि मयाऽऽसनानि
खेऽभ्राण्यदभ्राङ्ग झणज्झणानि ।
वृष्ट्या समन्तान्निपतन्ति खण्डै-
र्भवन्ति तीक्ष्णानि जनायुधानि ॥५२॥

अन्यत्र दृष्टं गगनेन याव-
द्विहाऽन्धया ग्रामगृहाणि यान्ति ।
विशन्त्यमुत्राऽन्त इहाऽभवद्यो
ग्रामः स एवाऽन्यत एव लब्धः ॥५३॥

नरामराहिप्रविभागमुक्ता-
न्यन्यत्र भूतानि समानि सन्ति ।
खादेव सर्वाणि समुद्भवन्ति
तत्रैव कालेन लयं प्रयान्ति ॥५४॥

अचन्द्रतारार्कमनन्धकारं
स्वयंप्रकाशाखिलभूतजातम् ।
स्मरामि किंचिज्जगदेककान्तं
ज्वालोदराभं दिनरात्रिमुक्तम् ॥५५॥

अपूर्वदैत्याहिनरामरादि-
भूतान्यपूर्वद्रुमपत्तनानि ।
अपूर्वलोकान्तरकार्यवन्ति
स्मराम्यनन्तानि महाजगन्ति ॥५६॥

दिगस्ति सा नो विहृतं न यस्यां
न सोऽस्ति देशः खलु यो न दृष्टः ।
यन्नाऽनुभूतं न तदस्ति कार्य-
मन्याश्रयं नाऽपरमस्ति मर्शात् ॥५७॥

एक समय मैं ऐसे लोक में जा पहुँचा जहाँ स्त्रियों का नामनिशान भी न था। मैंने वहाँ के सब प्राणियों को स्त्री सम्बन्ध के अभिलाष से रहित देखा।

शङ्का—तब वहाँ पुत्र-पौत्र आदि सन्तति-विस्तार और पूर्वजों का मरण कैसे होता है ?

समाधान—वहाँ पर बहुत से प्राणी एक भूत से निकलते हैं, प्रकट होते हैं और बहुत से प्राणी एक भूत में प्रविष्ट होते हैं, विलीन होते हैं, इस प्रकार वहाँ नवीन सृष्टि का आविर्भाव और प्राचीन सृष्टि का तिरोभाव होता है, यह तात्पर्य है ॥५१॥

मैंने उत्पात आदि से कोई वास्ता न रखने वाले दूसरे बादल आकाश में देखे। गर्जनवश शस्त्रास्त्रों के आपस में टकराने कीसी ध्वनि से उनमें झंझनाहट होती है, उनसे वृष्टि द्वारा जो बिजली आदि जल के समान गिरते हैं वे अपने टुकड़ों द्वारा लोगों के आयुध (हथियार) होते हैं ॥५२॥

दूसरी जगह मैंने दूसरा आश्चर्य देखा, वह है इस जगत् में जितने ग्राम-गृह हैं वे सबके सब अन्धकार से बेकाम हुई दृष्टि से ही आकाशमार्ग से जाते हैं, दूरवर्ती दिगन्त में प्रविष्ट होते हैं। वह आपका गाँव जो यहाँ था वही मुझे अन्यत्र मिला यह आश्चर्य है ॥५३॥

एक जगह मैंने ऐसा आश्चर्य देखा कि स्वर्ग, भूमि और पाताल लोकों के जीवों में ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये नाग हैं इस तरह का अवान्तर विभाग नहीं है अतएव सब एक-से हैं। आकाश से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है और आकाश में ही वे लीन होते हैं ॥५४॥

दूसरी जगह मैंने जो बड़ा अचम्भा देखा वह यह है—न उस लोक में चन्द्रमा है और न तारे ही हैं फिर भी वहाँ अन्धकार का नाम निशान नहीं है, कारण कि वहाँ के निवासी सभी प्राणी स्वयं प्रकाश है। अत्यन्त रमणीय उस अलौकिक जगत् का जो ज्वाला के मध्य के समान प्रकाशमय और दिन-रात्रि से रहित है मुझे फिर-फिर स्मरण हो आता है ॥५५॥

एक दो नहीं असंख्य महा जगतों का मुझे स्मरण होता है, जिनमें दैत्य-दानव, नाग, नर, सुर आदि जीव विलक्षण हैं, पेड़, नगर अपूर्व हैं, उनमें अन्य लोकों के व्यवहारों से विलक्षण व्यवहार होते हैं ॥५६॥

जिसमें मैंने विहार नहीं किया वह दिशा नहीं है, जो देश मैंने नहीं देखा वह देश नहीं जिस कौतुक का मैंने अनुभव नहीं किया वह कौतुक नहीं है और मेरे विमर्श से (अनुभवरूप सर्वसाक्षी से) अतिरिक्त अन्य में रहने वाला कोई विमर्श भी नहीं है ॥५७॥

क्षीरोदकभ्रमितमन्दररत्नशृङ्ग-
धाराग्रनिर्दलनजातझणज्झणानाम् ।
एकत्र संश्रुतमुपेन्द्रभुजाङ्गदानां
शब्दं स्मरामि घनगर्जितशङ्कितेन ॥५८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० भाससंसारवर्णनं नाम एकत्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥१३१॥

अमृत मथन के लिए क्षीर सागर में घुमाये गये मन्दराचल के रत्नमय शिखरों की तीखी धारों के अग्र भागों से छिलने पर झनझन शब्द वाले भगवान् श्रीहरि के बाजूबंदों की ध्वनि का, जिसे सुनकर लोगों को मेघ की गर्जना की आशङ्का हुई थी, मुझे स्मरण हो रहा है ॥५८॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत भाससंसारवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३१ ॥

१३२

भास उवाच

मन्दरे मृदुमन्दारमन्दिरे मन्दाराभिधाम् ।
आलिङ्ग्याऽप्सरसं सुप्तं सरित्तृणमिवाऽनयत् ॥१॥
मामथाऽसौ मया पृष्टा समाश्वास्य जलाकुला ।
बाले किमिदमित्युक्तं तया चपलनेत्रया ॥२॥
इह चन्द्रोदयेष्वेताश्चन्द्रकान्तकटप्रजाः ।
नद्यो माद्यन्ति वनिताः सेष्टा इव निशागमे ॥३॥
त्वत्सङ्गमरसावेशवशात्तन्नु विस्मृतम् ।
इत्युक्त्वा मामुपादाय सोड्डीना विहगीव खे ॥४॥
भृङ्गं भृङ्गवतः भृङ्गे गङ्गाकनकपङ्कजे ।
अहमासं समाः सप्त तत्क्लिन्नोऽकर्दमाप्लुते ॥५॥
अन्यन्मया जगद्दृष्टमृक्षचक्रविवर्जितम् ।
गर्भगर्भस्थैकजातिस्वप्रकाशजनावृतम् ॥६॥

१३२

पर्वत के मध्य भाग के कदम्बों के झुरमुट में तपस्विता के अनुभव से बहुत दिन बिताने के कारण मुझे सिद्धि प्राप्त हो गई, अतएव मन्दराचल में मनोहर मन्दरा के निकुञ्जरूपी मन्दिर के अन्दर मन्दरा नाम की अप्सरा का आलिङ्गन कर मैं सोया था। मुझे अपने वेग में गिरे हुए तिनके के समान आगे कही जाने वाली नदी बहा ले गई ॥१॥

इसके उपरान्त जल में घबड़ाई हुई मन्दरा को आश्वासन देकर मैंने उससे पूछा—'प्रिये यह क्यों हुआ ? हम दोनों अकस्मात् नदी में क्यों बह गये। उस चञ्चलनयना ने मुझसे कहा— हे प्रियवर ! इस प्रदेश में चन्द्रोदय होने पर चन्द्रकान्त मणिमय पर्वत के मध्यभागों से निकली हुई ये नदियाँ चन्द्रकान्त मणियों से निकले हुए जल स्रोतों से वैसे ही मतवाली हो जाती हैं जैसे कि रात्रि के समय अपने प्रियतम के साथ स्त्रियाँ काम वासना से मतवाली हो जाती हैं ॥२-३॥

आपके समागमजनित आनन्दातिरेक से मैं आपसे यह कहना भूल गई। यह कह कर जैसे पर्वत के शिखर पर गङ्गा के स्वर्णकमल में बैठी हुई भँवरी अपने सहचर भ्रमर को लेकर उड़ती है वैसे ही वह मुझे लेकर आकाश में उड़ गई। उस जल से पीड़ित हुआ मैं तदनन्तर सात वर्ष तक उसके साथ कीचड़ के स्पर्श से रहित निर्मल मन्दराचल के शिखर पर रहा ॥४-५॥

[उसके बाद दूसरे जन्म में आश्चर्यपूर्ण जगदन्तदर्शन का वर्णन करता है ।]

दूसरे जन्म में मैंने दूसरा जगत् देखा, जो ज्योतिश्चक्र से (सौरपरिवार से) शून्य था तथा केले के छिलके के समान गर्भ के गर्भ में स्थित एक से स्वप्रकाश लोगों से आकीर्ण था ॥६॥

न दिग्विभागो न दिनानि यत्र
न चैव शास्त्राणि न वेदवादाः।
न चैव दैत्यादिसुरादिभेदो
जगन्मया तादृगथाऽऽत्मदीप्तम् ॥७॥
विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
वलिहाभ्रंचलनितम्बकदम्बकच्छे ।
आसं समाः समरसोऽमरसोमनामा
सप्ताऽन्यसप्त स समुद्रतटे तपस्वी ॥८॥
पवनवहनसंनिवेशनाना-
सुहयपयोधरदेहकैरनेकैः ।
गजहरिणमृगेन्द्रवृक्षवल्ली-
मृगनगपन्नगपक्षिभिः परीतम् ॥९॥
गगनमवनितः समेत्य वह्ने-
र्वरविभवेन जगत्यनन्तकोशम् ।
क्वचिदहमभितो दिदृक्षुरग्रे
सृत उरगाशनवद्बलावविद्याम् ॥१०॥
क्वचिदहं जगतः परिनिर्गतः
पतित एक महार्णवविस्तृते ।
नभसि तत्र निवासिनि भे सितः
समयमन्वभवं पतनं तथा ॥११॥
आकाशकोशपतनानुभवैकवृत्तेः
श्रान्तस्य मे पवमकार्यथ निद्रयाऽन्तः ।
तादृक्सुषुप्तवपुषाऽथ मयोपलब्धं
स्वप्नात्मजाग्रति तदात्मनि तत्र विश्वम् ॥१२॥
भूयो दिगन्तभुवनामरमन्दराद्रि-
संसारचञ्चलतया लतयेव पक्षी ।
अक्षीणवातवलया परिचाल्यमान-
स्तन्मासु तासु पतितो हि जगद्गुहासु ॥१३॥
विषयाशादृशो यावत्तावद्यातः क्षणादहम् ।
पुनस्तथैव पश्यंस्तु दृश्यं यातः पुनः पुनः ॥१४॥
इति दृश्यमदृश्यं च गम्यं चाऽगम्यमेव च ।
वेगाल्लङ्घयतो देशं मम वर्षगणा गताः ॥१५॥

उसके बाद मैंने अपने से ही प्रकाशमान वैसा जगत् देखा, जहाँ पर न तो पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का भेद था, न दिन थे, न मर्यादास्थापक शास्त्र ही थे, न वेदवाद थे और न दैत्य आदि, सुर आदि विभेद ही था ॥७॥

समुद्र तीर के निकटवर्ती विद्याधर और देवताओं के विहार के लिए विमानों की भूमिरूप गगनचुम्बी पर्वतों के मध्य भाग में अमर सोम नाम का निर्द्वन्द्व गन्धर्व मैं चौदह वर्ष तक तपस्वी हुआ ॥८॥

तदुपरान्त मैं अग्निदेव के वर के प्रभाव से जगत् में चारों ओर अविद्या को देखने की इच्छा कर पवन के समान लगातार गमन युक्त क्रम और संन्निवेश वाले रंग-विरंगे अच्छी जाति के घोड़े और मेघों के समान आकार वाले लोगों से तथा हाथी, मृग, सिंह, वृक्ष और लताओं से एवं अन्यान्य मृग, पर्वत, सर्प और पक्षियों से व्याप्त अनन्तकोश वाले आकाश में पृथ्वी से जाकर गरुड़ के समान वेग से आगे बढ़ा ॥९, १०॥

कहीं पर मैं जगत् से निकलकर एकमात्र महार्णव के समान विस्तृत आकाश में गिरा, वहाँ पर निवास करने वालों के तुल्य नक्षत्र समूह में बँधकर मैंने दिन, रात, मास, ऋतु आदि समय का अनुभव किया तथा दिशाओं में पतन का (गमन का) भी अनुभव किया ॥११॥

पूर्वोक्त प्रकार से आकाश कोश में गमन का अनुभव करना ही मेरी एकमात्र वृत्ति थी तथा चिरकाल के गमन से मैं थक कर चूर हो गया था, अतएव इसके बाद निद्रा देवी ने मेरे हृदय पर अड्डा जमाया। उस प्रकार के अर्थात् सब लोगों में प्रसिद्ध सुषुप्त शरीर को लेकर स्थित हुए मुझे इसके बाद स्वप्नात्मक जाग्रत् में अपने अन्दर ही सारा विश्व प्राप्त हुआ ॥१२॥

वहाँ पर भी पुनः दिगन्त, भुवन आदि गमनवश प्राप्त हुई चञ्चलता से मैं वैसे ही चञ्चल बनाया गया जैसे कि उस लता द्वारा, जिसमें वायु का वेग क्षीण न हुआ हो, पक्षी चञ्चल बनाया जाता है। उक्त चञ्चलता को प्राप्त हुआ मैं पूर्व संकल्पित दृश्यपरिच्छेदरूप जगद्गुफाओं में गिरा ॥१३॥

चक्षु की जहाँ तक विषयाशा विस्तृत है वहाँ तक मैं एक क्षण में चला गया। फिर उसी प्रकार देखता हुआ विषयदर्शन के कौतुक से फिर-फिर दृश्य को प्राप्त हुआ ॥१४॥

इस प्रकार जागरणावस्था में और स्वप्नावस्था में दृश्य और अदृश्य विषय के उद्देश्य से गम्य और अगम्य देश को वेग से लाँघ रहे मेरे बहुत वर्ष बीत गये ॥१५॥

दृश्याख्याया अविद्याया न त्वन्तं प्राप्तवानहम् ।
मिथ्यैव हृदि रूढ़ायाः पिशाच्या इव बालकः ॥१६॥
नेदं नेदं सदित्येव विचारानुभवे स्थितम् ।
तथाऽपीदमिदं चेति दुर्दृष्टिर्न निवर्त्तते ॥१७॥
प्रतिक्षणं सुखैर्दुःखैर्देशकालैः समागमैः ।
सरिद्वारिवदालोला नवमायान्ति यान्ति च ॥१८॥
तालीतमालबकुलातुलतुङ्गशृङ्ग-
मुन्नादवातजवमेकमहं स्मरामि ।
सूर्यादिभिर्विरहितं प्रकटं स्वकान्त्या
सस्थावराद्रितटजङ्गममेव विश्वम् ॥१९॥
यदेतदेकान्तविहारहारि
स्वच्छन्दमेकामितमस्तशङ्कम् ।
क्वचिन्मया चारुजगत्सु दृष्टं
तुल्या न तस्याऽमरराजलक्ष्मीः ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा नाम द्वात्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥१३२॥

किन्तु दृश्यनामक अविद्या का अन्त मुझे वैसे ही नहीं मिला जैसे कि मिथ्या ही हृदय में जमी हुई पिशाची का अन्त बालक को प्राप्त नहीं होता है ॥१६॥

यद्यपि यह सत् नहीं है, यह सत् नहीं हैं इस प्रकार के विचारानुभव में मैं स्थिर रहा तथापि यह सत्य है, यह असत्य है, यों प्रत्येक विषय में मेरी दुर्दृष्टि निवृत्त नहीं हुई, क्योंकि चिरकाल से अभ्यस्त द्वैतसत्यता का मेरा संस्कार प्रबल था ॥१७॥

यद्यपि मैं विचार से दुर्दृष्टियों का निवारण करने का यत्न करता था फिर भी वे प्रतिक्षण प्राप्त हुए सुख, दुख, भिन्न देश, भिन्न काल तथा इष्ट और अनिष्ट लोगों के समागमों से नदियों के जल की भाँति नई-नई आ जाती हैं और चली जाती हैं ॥१८॥

ताड़, तमाल, मौलसिरी आदि से अनुपम उन्नत एक शिखर की मुझे याद आ रही है, उसमें वायु का वेग खूब साँय-साँय शब्द करता है, यद्यपि वह सूर्य आदि से रहित है तथापि अपनी कान्ति से जगमगाता है। सारा का सारा विश्व उस शृङ्ग के स्थावर और जंगम पर्वत तटों से युक्त चोटी स्थानीय है यानी सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही यहाँ पर आश्चर्य शृङ्ग कहा गया है ॥१९॥

जो यह शिखर एकान्त में विहार करने वाले तत्त्वज्ञानियों के मन को हरने वाला, स्वच्छन्द एक तथा विकार की शङ्का से परे है, त्रिविध परिच्छेद से शून्य है; उसे मैंने वहीं सुन्दर जगतों में (ब्रह्मविन्मण्डलियों में) देखा। देवराज इन्द्रकी और ब्रह्मा की लक्ष्मी भी उसकी बराबरी नहीं कर सकती ॥२०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अवि० विप० भासवर्णितस्वजन्मपरम्परा नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सो बत्तीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१३२॥

१३३

विपश्चिदुवाच

कस्मिंश्चिदन्यत्र जगत्यपूर्वे
दृष्टं मयेदं शृणु किं विचित्रम् ।
महाघवृत्तान्तदशासमान-
मविद्ययाऽन्धेन बलात्कृतं यत् ॥१॥
अस्ति क्वचित्खे भवतामगम्ये
जगज्ज्वलद्दीप्तिविचित्रसर्गः ।
एतादृगप्यम्बरतस्तदन्यत्
स्वाप्नं पुरं जाग्रति चेतसीव ॥२॥

१३३

विपश्चित् ने कहा—हे मुनिवर ! इस जगत् से भिन्न किसी दूसरे अपूर्व जगत में मैंने आगे कहा जाने वाला क्या अचम्भा देखा, उसे आप सुनने की कृपा कीजिये। वह ब्रह्महत्या आदि महापातकों के कारण प्राप्त होने वाले रौरव आदि नरकों के वृत्तान्त वर्णन के समान अत्यन्त ही बीभत्स था फिर भी अविद्या से अन्धे बने हुए मुझे वह्निदेव की वर प्राप्ति वश उसका अनुभव करना पड़ा ॥१॥

कहीं आकाश में, जहाँ आप लोगों की पहुँच नहीं है, एक जगत् है। वहाँ जगमगा रही सूर्य और चन्द्र की कान्ति से विचित्र सृष्टि है। यद्यपि वह जगत् रूप-रेखा से इस ब्रह्माण्ड के सदृश ही है तथापि इस ब्रह्माण्ड की दृष्टि से शून्य होने के कारण इससे भिन्न ही है। जैसे कि स्वप्न में दृष्टिगोचर हुआ नगर यद्यपि रूपरेखा से जाग्रदवस्था में दृष्ट नगर के समान ही रहता है तथापि

तस्मिन्मया विहरता हृदयस्थमर्थ-
मन्वेष्टुमक्षि निहितं ककुभां मुखेषु।
पश्यामि यावदचलप्रतिमा धरायां
छायालिजालमलिना परिवंभ्रमीति ॥३॥
आश्चर्यमात्रमुचितं किमिदं निमेषा-
दित्यक्षि वै जगति यावदहं त्यजामि।
खात्तावदद्रिमतुलं पुरुषाकृतिं द्राग-
गावर्तवृत्तिभिरपश्यमहं पतन्तम् ॥४॥
कः स्यादयं गिरिगुरुः पुरुषो विराड् वा
पर्यस्तपर्वतवदाशु पतच्छरीरः।
आकाशपूरकवपुः परमाम्बरोऽपि
यो नैव भाति पिहिताखिलवासरश्रीः ॥५॥
एवंविधा हृदि मनाक्कलयामि याव-
त्तावत्पपात सहसा नभसो विवस्वान्।
कल्पान्तवातपरिवृत्तपितामहाण्ड-
पृष्ठावपातघनघोषजुषा जवेन ॥६॥

तस्मिन्पतति भीमात्मन्यपारावारदेहिनि।
सप्तद्वीपां वसुमतीं परिपूरयति क्षणात् ॥७॥
स्वात्मनो नाशमाशङ्क्य सद्वीपभुवनैः सह।
अवश्यभाविपार्श्वस्थमहमग्निमथाऽविशम् ॥८॥
स जातवेदा भगवान् जन्मान्तरशतार्चितः।
मा भैषीरिति देहेन मामुवाचेन्दुशीतलः ॥९॥
जय देव त्वमस्माकं प्रतिजन्म परायणम्।
अकाल एव कल्पान्तो जातोऽतः पाहि मां प्रभो ॥१०॥
इत्युक्तेमाऽग्निना प्रोक्तं मा भैषीरिति तत्पुनः।
उत्तिष्ठाऽऽगच्छ गच्छावो मल्लोकमिति चाऽनघ ॥११॥
इत्युक्त्वा शुकपृष्ठेऽसावारोप्य भगवांस्ततः।
देहैकदेशे तत्पाति भूतं दग्ध्वा नभः प्लुतः ॥१२॥
अनन्तरं नभः प्राप्य दृष्टः कष्टाकृतिर्मया।
स तादृग्भूतसंपातमहोत्पातो भयप्रदः ॥१३॥

जाग्रत् की दृष्टि से शून्य होने के कारण चित्त में जाग्रद् दृष्ट नगर से भिन्न ही प्रतीत होता है ॥२॥

उस जगत् में निवास कर रहे मैंने अपनी अभिलषित वस्तु (अविद्या का अन्त) दिगन्तों में खोजने के लिए दिशाओं की ओर आँखें फेरीं। दिशाओं में कौतुक देखने के लिए ज्योंही मैं प्रवृत्त हुआ त्योंही मैंने पृथ्वी पर भँवरों के झुण्ड की तरह काली-काली पहाड़सी बड़ी छाया खूब घूमती देखी ॥३॥

उसके बाद अति विशाल होने के कारण अति आश्चर्य-रूप यह छाया करने वाला क्या हो सकता है यों विचार करते हुए मैंने ज्योंही ऊपर की ओर दृष्टि डाली त्योंही झटपट आकाश से चक्कर काटकर नीचे गिर रही पर्वत सी पुरुषाकृति मुझे दिखाई दी ॥४॥

पर्वत के तुल्य महान् यह पुरुष ब्रह्मा है अथवा ब्रह्माण्ड शरीर विराट् पुरुष है ? ऊपर से फेंके हुए पर्वत के समान इसका शरीर गिर रहा है। महान् तो यह इतना है कि इसने अपने शरीर से तमाम आकाश को ढँक दिया है। प्रसिद्ध भगवान् सूर्य भी, इससे दिन शोभा के सर्वथा लुप्त होने के कारण, शोभा नहीं पा रहे हैं ॥५॥

मैं अपने मन में इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् आकाश से भगवान् सूर्य प्रलयकालीन वायुओं से उखाड़े हुए ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व-कपाल के गिरने में जैसा घनघोर शब्द हो वैसे घनघोर शब्द वाले वेग के साथ—पृथ्वी पर गिरे ॥६॥

भयानक स्वरूपवाली पुरुषाकार वस्तु के, जिसकी देह का पारावार नहीं था, गिरने और सात द्वीपवाली पृथ्वी को एक क्षण में ढँक लेने पर मुझे उसके दबाव से द्वीप और लोकों के साथ अपने शरीर के अवश्यम्भावी विनाश की आशङ्का हुई अनन्तर मैं पास में स्थित अग्नि में प्रविष्ट हो गया ॥७-८॥

सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों में मैंने भगवान् अग्नि की पूजाकर रक्खी थी, अतएव उन्होंने चन्द्रमा के समान शीतल शरीर बनकर मुझको ढाढस दिया, मत डरो कहा ॥९॥

हे देव ! आपका जय-जयकार हो, आप हमारे प्रत्येक जन्म में परम आश्रय हैं। हे प्रभो ! अनवसर में ही यह प्रलय प्राप्त है, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये ॥१०॥

इस प्रकार अग्नि की प्रार्थना करने पर अग्नि ने पुनः मुझे ढाढस देते हुए मत डरो कहा और यह भी कहा हे अनघ ! उठो हम दोनों अपने अग्निलोक को जाते हैं, तुम आओ किसी प्रकार का सोच मत करो ॥११॥

यह कहकर तदनन्तर भगवान् अग्नि अपने वाहन सुग्गे की पीठ पर मुझे बैठा कर पूर्वोक्त गिरे हुए शव के शरीर का एक हिस्सा जलाकर उसमें से निकलने के लिए एक छिद्र बनाकर आकाश में उड़ गये ॥१२॥

अनन्तर आकाश में पहुँचकर मैंने वह पूर्वोक्त शव-पतनरूपी महोत्पात, जो अतिभयानक कष्टप्रद आकृति वाला था, देखा ॥१३॥

तस्मिन् जवेन पतिते वसुधा चचाल
साम्भोधिशैलवनपत्तनजङ्गलौघा ।
चक्रे भृगुद्वयमयानजलस्रवन्ती
भीमाकृतीन् व्यधुरदेहविभेदगर्तान् ॥१४॥
उर्वी ररास ककुबुत्तरतो ररास
पूर्वा ररास विरराास न दक्षिणा दिक् ।
द्यौराररास विरराास सशैलभूतं
सर्वं जगत्प्रलयसंभ्रमभीतमुच्चैः ॥१५॥
उर्वी ररास धरणे सविरावरंहः-
संरम्भतर्जितसमस्तदिगन्तरासा ।
व्योमाऽपि घुंघुममलङ्घ्यमलं चकार
नागारिवृन्दभयविद्रवणप्रचण्डम् ॥१६॥
निर्घातशब्द उदभूदभितो भयाय
भीमाय भूधरदरीदृढदारणोत्थः ।
उत्पातभीमजवजालयुगान्तवात-
संरब्धकल्पघनघोषवितीर्णतर्जः ॥१७॥

उक्त महाशब्द जब पृथिवी पर गिरा तब सारी पृथिवी सागर, पर्वत, वन, नगर और जङ्गलों के साथ कांप उठी, उससे बह रही नदियों का प्रवाह रुक गया, अतएव उसने गिरि नदियों के दोनों तटों पर मार्गान्तर में जल बहने के कारण दो जलप्रपात बना डाले। वेग से गिर रही जल राशि ने भीषण गर्त, जो मनुष्य विरचित बावड़ी, कुएं और तालाबों से विलक्षण थे, बना डाले ॥१४॥

उसके गिरने पर भूमि में चीत्कार हुआ, उत्तर दिशा, पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा और पश्चिम दिशाओं में हाहाकार मचा, आकाश में तुमुल ध्वनि हुई। पर्वत और प्राणियों के साथ सारे जगत् ने प्रलय की भ्रान्ति से भयभीत होकर विविध प्रकार के चीत्कार रोदन, हाहाकार आदि किये। गिरे हुए शव के धारण करने में पृथिवी से कोलाहलपूर्ण वेग के आटोप से समस्त दिगन्तों का कोलाहल दब गया। आकाश से भी अत्यन्त तेज होने के कारण अन्य ध्वनियों से न दब सकने वाली घुंघुम ध्वनि निकली। यदि अनेक गरुड़ भय से भागें तो उनके भयपूर्वक तेजी से भागने में जैसी प्रचण्ड ध्वनि होती है ठीक वैसी ही वह ध्वनि थी ॥१५-१६॥

पर्वतों की गुफाओं को खूब तोड़ने फोड़ने से पैदा हुआ घनघोर शब्द, भीषण भय के लिए तथा कान, हृदय आदि का भेदन करने के लिए चारों ओर से पैदा

तस्मिञ्जवेन पतिते वसुधा ररास
सारावदिङ्मुखतया शतवेघमागात् ।
तत्राऽस्फुटन्कुलगिरीन्द्रमहातटानि
पातालदेशमविशन् हिमवच्छिरांसि ॥१८॥
आसीत्तत्पतनं तस्य मेरुशैलशिलाकृतेः ।
दलनं शैलशृङ्गाणां विदारणकरं भुवः ॥१९॥
क्षोभणं जलराशीनामद्रीणां भूतलार्पणम् ।
पीडनं सर्वभूतानां क्रीडनं प्रलयार्थिनाम् ॥२०॥
पातनं भूतले भानोः स्थगनं द्वीपपद्धतेः ।
चूर्णीकरणमद्रीणां दलनं मण्डलावनेः ॥२१॥
द्वितीयमिव भूपीठं ब्रह्माण्डार्धमिवाऽपरम् ।
पतितं खमिवाऽऽकृत्या तदपश्यन्नभश्चराः ॥२२॥
अथ पश्याम्यहं यावदसौ मांसमयोऽचलः ।
न माति सप्तद्वीपयां भुवि तस्याऽङ्गमेककम् ॥२३॥

हुआ। उक्त शब्द उत्पातों के कारण भयङ्कर वेग वाले अतएव जालों की तरह अपनी ओर खींचने वाले प्रलय-वायुओं से कुपित हुए प्रलयकालीन मेघों के निर्घोष को अपनी तीक्ष्णता के सामने मात करता था ॥१७॥

उस शव के वेग से गिरने पर पृथ्वी कोलाहलपूर्ण हुई, दिशाओं के मारे कोलाहल के गूंज उठने से पृथिवी में सौगुना अभिघात हुआ। पृथिवी पर अभिघात होने पर कुल पर्वतों के महातट मटियामेट हो गये और हिमालय के शिखर पाताल को चले गये ॥१८॥

मेरु पर्वत की शिला के समान रूपरेखा वाले शव के गिरने से पर्वतों के शिखर तहस-नहस हो गये, पृथिवी के टुकड़े-टुकड़े हो गये, समुद्रों में ज्वारभाटा आ गया, पहाड़ रसातल चले गये, सकल प्राणियों को क्लेश हुआ, प्रलय चाहने वाले रुद्र आदि गणों का खिलवाड़ हुआ, सूर्य पृथिवी पर गिर पड़ा, द्वीपसमूह आच्छन्न हो गये, पहाड़ों का चूरा-चूरा हो गया और पृथ्वी मण्डल छिन्न-भिन्न हो गया। उस शव को आकाशचारी देव, गंधर्व आदि ने महान् आकार से दूसरा भूतल-सा, ब्रह्माण्ड का दूसरा अर्ध भाग-सा, गिरा हुआ आकाश-सा देखा ॥१९-२२॥

अनन्तर जब मैंने गौर से उसे देखा, तो वह मांसमय पर्वत निकला। उसका एक अङ्ग भी सप्तद्वीपा पृथिवी पर नहीं समा सकता था ॥२३॥

तमालोक्य मया देवः प्रसादे समवस्थितः ।
संपृष्टो भगवान्वह्निः प्रभो किमिदमित्यथ ॥२४॥
कथं मांसमयः सार्धं स चार्कः पतितो दिवः ।
स न माति हि भूपीठे सपर्वतवनाम्बुधौ ॥२५॥

अग्निरुवाच

प्रतिपालय पुत्र त्वं क्षणमेकं गतत्वरः ।
यावच्छाम्यति दोषोऽयं कथयिष्यामि ते ततः ॥२६॥
अथ तस्मिन्वदत्येवं समाजग्मुर्नभश्चराः ।
तज्जगज्जालजातीया दिग्भ्यो गगनजाखिलाः ॥२७॥
सिद्धसाध्याप्सरोदैत्यगन्धर्वोरगकिन्नराः ।
ऋषयो मुनयो यक्षाः पितरो मातरोऽमराः ॥२८॥
अथ सर्वेश्वरीं देवीं शरण्यां ते नभश्चराः ।
भक्तिनम्रशिरःकायाः कालरात्रिं प्रतुष्टुवुः ॥२९॥

नभश्चरा ऊचुः

बद्ध्वा खट्वाङ्गशृङ्गे कपिलमुरुजटामण्डलं पद्मयोनेः
कृत्वा दैत्योत्तमाङ्गैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।
या देवी भुक्तविश्वा पिबति जगदिदं साद्रिभूपीठभूतं
सा देवी निष्कलङ्का कलिततनुलता पातु नः पालनीयान् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गत-विपश्चिदुपाख्याने शवोपाख्याने महाशववर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशाधिकशततमः सर्गः ॥१३३॥

उसे देखकर मैंने अपने ऊपर सदा अनुग्रह करने वाले भगवान् अग्निदेव से पूछा—"भगवन्, यह क्या है?" ॥२४॥

वह मांसमय शरीर कैसे गिरा, उसके साथ आकाश से सूर्य कैसे गिरा और पर्वत, वन और जलधि सहित भूमितल में यह क्यों नहीं अटता है? ॥२५॥

भगवान् अग्नि ने कहा—वत्स! जबतक शव के गिरने से उत्पन्न हुआ उत्पात पूर्णरूप से शान्त नहीं हो जाता तब तक त्वरा का त्याग कर तुम क्षणभरप्र तीक्षा करो उसके बाद में तुमसे सब कहूँ ॥२६॥

इसके पश्चात् अग्निदेव ऐसा कह ही रहे थे कि दसों दिशाओं से उन जगतों की जाति वाले आकाशचारी सिद्ध, साध्य, अप्सराएँ, दैत्य, गन्धर्व, नाग, किन्नर, ऋषि, मुनि, षोडश मातर, यज्ञ, पितर, देवता आदि आ गये। उन सबकी वेष-भूषा आकाशोत्पन्न थी ॥२७, २८॥

उन आकाशचारी सिद्ध आदि ने भक्ति से सिर नवाकर, शरीर झुकाकर रक्षा करने में समर्थ सर्वेश्वरी कालरात्रि देवी की स्तुति की ॥२९॥

आकाशचारियों ने कहा—जो देवी महाप्रलय में संहार को प्राप्त भगवान् ब्रह्माजी की कपिल जटाओं को अपने खट्वाङ्ग की चोटी पर बाँधकर, अपने वक्षस्थल में दैत्यों के मस्तकों की माला बनाकर, गरुड़ के परों से मुकुट बनाकर तथा समस्त प्राणियों का संहार कर पर्वत-भूतलरूप इस जगत् का पान करती है। इस प्रकार सारे जगत् का ध्वंस करने पर भी जिसे तनिक भी दोषों से स्पर्श नहीं होता अतएव ज्यों की त्यों शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव है, हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए शरीर धारण करने वाली वह देवी अवश्य पालन करने योग्य हम लोगों का पालन करे ॥३०॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में महाशववर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३३॥

१३४

एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नः स पतन् पुरुषो मया ।
स्थगिताखिलभूपीठः शवरूपो विलोकितः ॥१॥
स यावदुदराभिख्यो देहभागोऽस्य येन भूः ।
सप्तद्वीपाऽपि पिहिता मातुः शैलोपमो महान् ॥२॥

१३४

इस बीच में जब कि देवगण देवी की स्तुति कर रहे थे, उस पूर्वोक्त गिर रहे पुरुष को, जिसने अपने शरीर से सारे भूतल को आच्छादित कर दिया था, मैंने निर्जीव जाना ॥१॥

जिस शव भाग ने सप्तद्वीपा भूमि को पूर्णतया आच्छादित कर दिया था, सम्पूर्ण भूमि में न समा रहे शव के उसी शैलोपम महान् उदर भाग को मैंने देखा ॥२॥

वह्निनोक्तमनन्तं तत्तद्भुजोरुशिरश्च मे।
लोकालोकात्परं पारं प्राप्तं ह्यविषये नृणाम् ॥३॥
व्योमवासिचये देवीमथ स्तुवति सादरम्।
व्योम्नः प्रकटतामागाच्छुष्का नु भवति स्वयम् ॥४॥
प्रेतवृन्दैरनुगता मातृमण्डललालिता।
कूष्माण्डयक्षवेतालजालतारकिताम्बरा ॥५॥
शिरालदीर्घदोर्दण्डवनीकृतनभस्तला।
किरन्ती कीर्णदिग्दाहैर्दृष्टिपातैर्दिवाकरान् ॥६॥
स्फुरन्नानायुधाकारकचञ्चणझणध्वनि।
शतखण्डं खगानीकं कुर्वाणा व्योमकोटरे ॥७॥
देहज्वालेक्षणोष्माढ्यैः शरीरावयवैस्त्विषः।
दीर्घवेणुवनाकाराः किरन्ती कोटियोजनाः ॥८॥
दन्तकान्तीन्दुविद्योतदुग्धस्नपितदिङ्मुखा।
कृशातिदीर्घविस्तीर्णशरीरापूरिताम्बरा ॥९॥

भगवान् अग्नि ने उसकी अनन्त भुजाओं, जङ्घाओं और सिर के विषय में मुझसे कहा था, जो कि उसके भुजा आदि अवयव मनुष्यों की पहुँच के परे लोकालोक पर्वत के परले पार गिरे थे ॥३॥

इसके बाद आकाशचारी सिद्धादिवृन्द के आदर-पूर्वक देवी की स्तुति करने पर देवी आकाश से प्रकट हुई, चूँकि वह आकाश से प्रकट हुई थी, अतएव स्वयं शुष्का रक्तहीन थी ॥४॥

भूत-प्रेतों के दल के दल उसके पीछे-पीछे चल रहे थे, षोडश मातर उसकी आवभगत में संलग्न थीं, कूष्माण्ड, यक्ष, वेतालों के झुण्डों से उसने आकाश को तारा मण्डल से मण्डित-सा बना दिया था तथा नसों के जाल से पूर्ण बड़े-बड़े भुजदण्डों से आकाश तल को वन बना दिया था, दिशाओं में दाह की वृष्टि करने वाले अपने दृष्टिपातों से वह सूर्यों को बिखेर रही थी, चमचमा रहे विविध हथियारों के आकारों से हो रही झण-झण ध्वनि के साथ आकाशरूपी खोड़रे में पक्षियों के झुण्ड को सैकड़ों हिस्सों में बाँट रही थी ॥५-७॥

शरीर की ज्वालाओं और नेत्रवर्ती अग्नि की उष्णता से परिपूर्ण शरीरावयवों से बहुत लम्बे बाँसों के वन के आकार वाली करोड़ों योजन की कान्तियाँ बखेर रही थी ॥८॥

चाँदनी ऐसी दन्तकान्तिरूपी दूध से उसने दिशाओं को धो डाला था, अपने दुबले पर अतिविस्तृत शरीर से आकाश को आच्छन्न कर दिया था, उसका न तो कोई

निरालम्बास्पदा सान्ध्या वितेतेवाऽभ्रमालिका।
प्रेतासनसमारूढा सुरूढा परमे पदे ॥१०॥
स्फुरन्ती प्रज्वलद्रूपा सन्ध्याजलधरारुणा।
दधाना गगनाम्भोधौ वाडवज्वलनश्रियम् ॥११॥
शवैः शवाङ्गैर्मुसलैः प्रासतोमरमुद्गरैः।
बृसिकोलूखलहलैः किरन्ती चञ्चलाः स्रजः ॥१२॥
प्रजां कटकटाटोपैर्वहन्ती गगनाङ्गणे।
दृषदां घर्घरारावैः प्रावृड्गिरिरिवाऽचले ॥१३॥
देवा ऊचुरयं देवि उपहारोकृतोऽम्बिके।
सार्धं स्वपरिवारेण शीघ्रमाह्रियतामिति ॥१४॥
वदत्येवं सुरानीके तं शवं प्राणवायुना।
देवी प्रववृते रक्तसारमाक्रष्टुमञ्जसा ॥१५॥
प्राणेनाऽऽकृष्यमाणं तद्रक्तं भगवतीमुखे।
आविशत् सान्ध्यमेघौघ इव मेरोर्गुहान्तरम् ॥१६॥

आधार था और न स्थान ही था, अतएव वह निराधार आकाश में फैली हुई सन्ध्याकाल की मेघपंक्ति-सी थी। परम ब्रह्म में आविर्भूत हुई वह प्रेतासन पर बैठी थी ॥९, १०॥

जगमगा रही, उज्ज्वल रूपवाली वह सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल थी, अतएव आकाशरूपी सागर में बडवानल को शोभा धारण कर रही थी ॥११॥

पूरे शवों से, शवों के अवयवों से, मूसल, प्रास, तोमर, मुद्गर, आसन, ऊखल और हलों से बनी चञ्चल मालाओं को इधर-उधर बिखेर रही थी ॥१२॥

वह दाँतों के कट-कट शब्द के आडम्बर से युक्त प्रजाओं के शरीर की माला को आकाशरूपी आँगन में वैसे ही धारण कर रही थी जैसे वर्षा ऋतु का पर्वत पत्थरों की माला को झर-झर ध्वनि वाले झरनों से अपने शरीर में धारण करता है ॥१३॥

देवताओं ने उस देवी से कहा—हे देवि ! हे अम्बिके ! इसे हमने आपको भेंट कर दिया है, कृपया अपने परिवार के साथ शीघ्र इसका भोग लगाइये ॥१४॥

देववृन्द के यों प्रार्थना करने पर देवी, स्वयं सर्व-प्राणशक्ति रूप होने से तथा प्राणों के रक्तपर आश्रित होने से प्राण वायु से ही उसका रक्तरूपी सार अनायास खींचने लगी ॥१५॥

प्राण वायु द्वारा खींचा जा रहा उस शव का रक्त भगवती के मुँह में वैसे ही प्रविष्ट हुआ जैसे सन्ध्याकाल का मेघवृन्द मेरु की गुफा के अन्दर प्रविष्ट होता है ॥१६॥

तावद् रक्तं तया पीतं प्राणाकृष्टं नभःस्थया।
यावच्छुष्का सती तृप्ता पीना सा चण्डिका स्थिता॥१७॥
ततो बभूव सा रक्तपरिपीनशरीरिणी।
रक्ता वर्षाभ्रमालेव तडित्तरललोचना॥१८॥
लम्बोदरा भगवती विषमाहिविभूषणा।
रक्तासवमदक्षीवा समस्तायुधधारिणी॥१९॥
व्योम्नि नर्तनमारेभे स्वशरीरार्धपूरिते।
पर्यन्तगिरिमालाग्रस्थितामरनिरीक्षिता ॥२०॥
ततः पिशाचकूष्माण्डरूपिकादिमहागणाः।
शवमावारयांचक्रुर्महाचलमिवाऽम्बुदाः ॥२१॥
शवशैलो गृहीतोऽसौ कूष्माण्डैः कटिभागतः।
उदराद् रूपिकावृन्दैर्यक्षैः कुञ्जरविक्षतैः॥२२॥
भुजोरुकन्धराद्यास्ते तस्याऽन्येऽवयवा यतः।
ब्रह्माण्डस्य परं पारं प्राप्ताः परमविस्तृताः॥२३॥

आकाश में स्थित भगवती कालरात्रि के प्राणवायु द्वारा खींचा गया रुधिर तब तक पीया जब तक कि पहले सूखी लकड़ी सी वह चण्डिका तृप्त होकर मोटी तगड़ी न हो गई ॥१७॥

अनन्तर रुधिर से मोटे तगड़े शरीर वाली वह जैसे वर्षा ऋतु में बिजली रूपी चञ्चल नेत्रवाली मेघमाला रक्तवर्ण होती है वैसे ही बिजली की तरह चञ्चलनयना और लाल हो उठी ॥१८॥

रक्त पीने से भगवती की तोंद बाहर निकल आई। लम्बी तोंदवाली वह विषैले साँप रूपी आभूषणों से विभूषित थी, रक्तरूपी मदिरा के नशे में चूर थी तथा सब हथियार उसने धारण कर रक्खे थे ॥१९॥

पूर्वोक्त देवी ने अपने आधे शरीर से आच्छन्न आकाश में नाचना आरंभ किया। आस-पास के लोकालोक पर्वत की श्रेणी के शिखरों पर बैठे हुए देवगण उसका नाच देखने लगे ॥२०॥

उसके पश्चात् पिशाच, कूष्माण्ड, रूपिका आदि महागणों ने उक्त शव को चारो ओर से ऐसे घेर डाला जैसे कि मेघमाला हिमालय पर्वत को घेर डालती है ॥२१॥

कूष्माण्डों ने उक्त शवरूपी शैल को कमर की ओर से पकड़ा, रूपिकागणों ने पेट की तरफ से उसे पकड़ा और यक्षों ने हाथी के से अपने दाँतों से क्षतविक्षत अवशिष्ट पीठ और अलग-बगल की ओर से उसे पकड़ा ॥२२॥

चूँकि उसके जो भुजा, जङ्घा, कन्धे आदि अन्य अवयव थे, वे बहुत बड़े थे और ब्रह्माण्ड के परले पार जा पड़े थे, अतएव पूर्वोक्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि दूर दिगन्तर में पड़े हुए उन्हें नहीं पा सके, किन्तु वे वहीं पर काल से अपने आप गल गये ॥२३, २४॥

ततस्तैर्भूतसंघातैः स्थिता दूरे दिगन्तरे।
न प्राप्ता वै हि तत्रैव कालेन कलिता स्वयम्॥२४॥
नृत्यन्त्यां चण्डिकायां खे भूतवृन्दे शवाकुले।
देवेष्वद्रिषु तिष्ठत्सु बभूव भुवनं तदा॥२५॥
पिण्डाहार्यामदुर्गन्धिगुण्ठीकृतककुब्गणम् ।
रक्तगर्भाभ्रनिर्व्यूहैः खादिरज्वलनोज्ज्वलम्॥२६॥
मांसचर्वणसंरम्भप्रोद्यच्छवशवस्वनम् ।
लतास्थिखण्डनोड्डीनबृहत्कटकटारवम् ॥२७॥
भूतसंघट्टविश्लेषवशाद्भीषणनिःस्वनम् ।
हिमवद्विन्ध्यशैलाद्रिप्रमाणास्थ्यचलावृतम् ॥२८॥
देवीमुखानलज्वालापक्वमांसाक्तभूतलम् ।
रक्तसीकरनीहारसिन्दूरितककुब्गणम् ॥२९॥
सर्वतः प्रेक्षकैर्देवैः सप्राकारदिगन्तरम्।
रुधिरैकार्णवीभूतसमद्वीपवसुन्धरम् ॥३०॥

जब कि चण्डिका आकाश में नाच रही थीं, सबके सब भूत-प्रेत शव पर लपटे थे, देववृन्द पर्वत के शिखर पर बैठकर देवी का नृत्य देख रहा था, उस समय सारे भुवन की जो स्थिति हुई वह बड़ी दयनीय थी। उसकी सब दिशाएँ खण्ड-खण्ड करके खाये जा रहे, ले जाये जा रहे दुर्गंधिपूर्ण मांस, वसा आदि से व्याप्त थीं, रक्त से सने हुए मेघखण्डों से खैर और अग्नि के समान सारा भुवन लाल दिखाई देता था ॥२५, २६॥

माँस चबाने की जल्दी से चारों ओर चब्-चब् शब्द हो रहा था, लता ऐसी लम्बी-लम्बी नसों और हड्डियों के टुकड़े करने से आकाश में कट-कट शब्द फैला था, भूतों के एक जगह इकट्ठा होने और अलग-अलग होने के कारण चारों ओर भीषण ध्वनि हो रही थी, सारा भुवन हिमालय और विन्ध्य पर्वत ऐसे बड़े-बड़े हड्डियों के पहाड़ों से भरा था ॥२७, २८॥

देवी के मुँह से निकल रही अग्नि की ज्वाला में खूब पके हुए माँस से सारा का सारा भूतल व्याप्त था और रुधिर-कणरूपी ओस की बूंदों से सभी दिशाएँ सिन्दूर से से सनी हुई सी हो गई थीं ॥२९॥

चारों ओर से देखने वाले देवताओं से दिगम्बर चहारदिवारी से घिरा-सा हो गया था ॥३०॥

अत्यन्तान्तर्हिताशेषसमस्ताचलमण्डलम् ।
रक्तप्रभाभ्रसंभारवस्त्रावृतदिगङ्गनम् ॥३१॥
वृत्तालोलभुजभ्रान्तहेतिच्छन्ननभस्तलम् ।
दूरस्मृतिपथप्राप्तपुरपत्तनमण्डलम् ॥३२॥
अत्यन्तासंभवद्रूपसर्वस्थावरजंगमम् ।
संपन्नानन्तकूष्माण्डरूपिकाद्येकसंगमम् ॥३३॥
नृत्तलोककराकारखगावलनजालकैः ।
मानसूत्रैरिव विधेरन्यद्रचयतो जगत् ॥३४॥
भमेरार्कगतं नीतैः पिशाचैरान्त्रतन्तुभिः ।
विमानमिव दिक्कुञ्जेस्तिर्यगूर्ध्वमधो जगत् ॥३५॥
जगदालोक्य तत्तादृगुदक्तोपप्लवाप्लुतम् ।
भूतपूर्वमहीपीठस्थितिरक्तार्णवीकृतम् ॥३६॥
द्वीपसप्तकपर्यन्ते लोकालोकाद्रिमूर्धनि ।
तदङ्गकैरनाक्रान्ते स्थिता खिन्नतराः सुराः ॥३७॥

कतिपय पहाड़ तो चोटी तक पृथ्वी के अन्दर धँस गये थे और बचे-खुचे शेष सबके सब हड्डियों से चोटियों तक छिप गये थे, अतएव भुवनों के सभी पर्वत अत्यन्त तिरोहित हो गये थे। दिशारूपी नायिकाएँ रुधिर से सने हुए मेघमण्डल से रक्तवस्त्र से ढकी हुई-सी मालूम पड़ती थीं ॥३१॥

गोल-मटोल और चञ्चल भुजाओं से घुमाये गये विविध हथियारों से आकाश सारा का सारा पट गया, नगर गाँव और कस्बे सब के सब ध्वस्त हो गये थे, केवल उनकी स्मृति ही शेष रह गई थी ॥३२॥

भुवन में सारे चराचर जगत् का रूप ही अत्यन्त असंभव हो गया था, सारे जगत् से सर्वत्र कूष्माण्ड और पिशाचिनियों का ही एकमात्र समाज हो गया था ॥३३॥

पिशाचों द्वारा ताने-बाने बनाये गये आँतड़ीरूपी तन्तुओं से, जो नाचने में जी-जान से लगे हुए भूत-प्रेत और पिशाचों के अभिनयशील हाथों के आकार के (अभिनयशील हस्तरूपी) पक्षियों को फँसाने के लिए फैलाए हुए जाल के समान और आकाश में द्वितीय जगत् की रचना कर रहे ब्रह्मा के नापने के सूतों के ऐसे भूमि से लेकर सूर्य मार्ग तक ऊपर नीचे और दस दिशारूपी झाड़ियों से तिरछे लगे थे, ब्रह्माण्डोदरगत विमान के समान त्रैलोक्य हो गया था ॥३४, ३५॥

भूतपूर्व पृथ्वीतल पर जमी हुई रुधिरधाराओं से समुद्राकार बने हुए अतएव पूर्वोक्त उपद्रव से विक्षुब्ध जगत् की वैसी हालत देखकर सात द्वीपों के छोरपर उक्त शव के कुत्सित अङ्गों से अस्पृष्ट लोकालोक पर्वत के शिखर पर बैठे हुए देवगण अति खिन्न हुए ॥३३, ३७॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्माण्डादपि निर्गत्य यस्य तेऽवयवा गताः ।
लोकालोकाचलस्तेन ब्रह्मन्न स्थगितः कथम् ॥३८॥

वसिष्ठ उवाच

द्वीपसप्तकमध्येऽस्मिन् राम तस्योदरं स्थितम् ।
शिरःखुरभुजाद्यङ्गं ब्रह्माण्डात्परतः स्थितम् ॥३९॥
पार्श्वाभ्यामूरुमध्याच्च कटिपार्श्वद्वयात्तथा ।
शिरोंसद्वयमध्याभ्यां लोकालोकः स लक्ष्यते ॥४०॥
तत्रोपविष्टास्ते देवा लक्ष्यन्ते शृङ्गमूर्धसु ।
सुशुद्धकान्तयस्तापादजला जलदा इव ॥४१॥
प्रसारिताङ्गकमधोवक्त्रं तत्पतितं शवम् ।
संभक्षयति भूतौघे प्रनृत्यन्तीषु मातृषु ॥४२॥
वहत्स्वसृक्प्रवाहेषु मेदोगन्धे विजृम्भिते ।
दुःखिताश्चिन्तयामासुः प्रत्येकममरा इदम् ॥४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! जिस शव के अतिविशाल हस्तपाद आदि अवयव ब्रह्माण्ड से भी बाहर पहुँच गये, उसने लोकालोक पर्वत को कैसे नहीं ढका?॥३८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी! उस शव का उदरोपलक्षित मध्य शरीर सात द्वीपों के बीच में रहा है। सिर, खुरोपलक्षित पैर और बाहु आदि अवयव ब्रह्माण्ड के बाहर रहे। हाँ, यह जो भास ने कहा वह सत्य ही है तथापि शव के दोनों बगल जङ्घाओं के मध्य से, कमर के दो भागों से और सिर और कन्धों के दो मध्य भागों से शिखरों के न ढकने के कारण वह लोकालोक पर्वत ऊपर दिखाई देता ही है ॥३९, ४०॥

वहाँ शिखरों की चोटियों पर बैठे हुए अत्यन्त शुद्ध कान्तिवाले देवता शरदृतु के सूर्य की धूप से निर्जल हुए शुभ्र मेघों के समान दिखाई देते हैं। इस तरह प्रश्न का उत्तर कह कर कथा का अशिष्ट अंश भी, जो भास को ज्ञात न था, भास को यह अज्ञात था अतः वसिष्ठजी ने कहा ॥४१॥

जब भूतप्रेतों का दल सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग छोड़कर (फैलाकर) मुँह के बल गिरे हुए उस शव को खा रहा था और सोलहों मातृकाएँ खूब नाच रही थीं, रुधिर के पनाले बह रहे थे, वसा की दुर्गन्ध फैल रही थी, प्रत्येक देवता ने दुःखी होकर यह विचार किया ॥४२, ४३॥

हा कष्टं क्व गता पृथ्वी क्व गता जलराशयः ।
क्व गता जनसंघाता क्व गता धरणीधराः ॥४४॥

तादृक्चन्दनमन्दारकदम्बवनमण्डितः ।
मण्डपः पुष्पराशीनां कष्टं क्व मलयो गतः ॥४५॥

उच्चावदाता विपुला हिमवद्भूमयोऽपि ताः ।
नीताः शौक्लचरुषेवाऽऽशु रुधिरेणाऽऽत्मपङ्कताम् ॥४६॥

क्रौञ्चद्वीपतले क्रौञ्चे योऽभूत्कल्पद्रुमो महान् ।
ब्रह्मलोकलसच्छाखः सोऽपि चूर्णत्वमागतः ॥४७॥

हा क्षीरार्णव पारिजातकमलाचन्द्रामृतानां पते
हा दध्यर्णव नावनीतशिखरिप्रोद्भूतवेलावन ।
हा मध्वर्णव नालिकेरगिरिके योगेश्वरीसेवित
क्वेदानीं समुपैष्यथ क्व वनितादिग्दर्पणत्वं गताः ॥४८॥

हा कल्पद्रुमकाञ्चनामललतानिःसन्धिबन्धाचल
क्रौञ्चद्वीपविरिञ्चहंसनलिनीनीरन्ध्रदिग्जालक ।

खेद है, पृथिवी कहाँ चली गई, सागर कहाँ चले गये, जनता कहाँ चली गई और पर्वत राशि कहाँ चली गई ॥४४॥

हाय, चन्दन और मन्दार और कदम्ब के वृक्षों के वनों से अलङ्कृत तथा विविध पुष्पों की राशियों का मण्डप-सा वह सुन्दर मलयाचल कहाँ चला गया ? ॥४५॥

रुधिर ने हिम से सम्पादित शुक्लता के प्रति मानो द्वेषवश उसको नष्ट करने के लिए हिमालय के ऊँचे स्वच्छ विशाल भूभागों को अपने कीचड़ से शीघ्र लथपथ कर रँग डाला ॥४६॥

क्रौञ्चद्वीप में क्रौञ्चनामक पर्वत पर जो विशाल कल्पवृक्ष था, जिसकी शाखाएँ ब्रह्मलोक तक फैली हुई थीं, उसका भी चूरा-चूरा हो गया है ॥४७॥

हे कल्पवृक्ष ! लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत को पैदा करने वाले, हे क्षीरसागर, हे दधिसागर, जिसके कि नवनीत से भरे हुए पर्वतों पर वेलावन उगा है, जिसके तीर स्थित नारियल के वृक्षों की बहुतायत वाले सुन्दर दयनीय पर्वत पर योगेश्वरियाँ निवास करती हैं, ऐसे हे मधुसागर आप सब शोचनीय हैं, आप लोग इस समय कहाँ चले गये, अथवा स्फटिक आदि रत्नशिलाओं से देवांगनाओं और दिशाओं की दर्पणता को कहाँ प्राप्त हुए ? ॥४८॥

हे क्रौञ्चद्वीप ! जिसमें कल्पवृक्ष और निर्मल काञ्चनलताओं से निरवच्छिन्न घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाला

यातः क्वेह कदम्बकाननदरीविश्रान्तविद्याधरी-
क्रीडाकोविदनागरामरगृह त्वं पुष्करद्वीपक ॥४९॥

स्वादूदोग्रतापावलकुसुममहीपावनानां वनानां
गोमेघद्वीपकल्पद्रुमकनकलतासुन्दरीणां दरीणाम् ।
शाकद्वीपाचलानाममरतरुवनैर्दंशितानां सितानां
स्मृत्यैवोदेति पुण्यं सुरपदसुदं मानवानां नवानाम् ॥५०॥

मन्दानिलावलितपल्लवबालवल्ली-
संतानभासितसमस्तदिगन्तराणि ।
ध्वस्तानि तानि सकलानि वनानि कष्ट-
माश्वासमेष्यति कथं जनता न जाने ॥५१॥

कदा नु तानीक्षुरसाब्धितीरे
वनानि खण्डाचलभूमिकासु ।
द्रक्ष्येम भूयो गुडमोदकानि
तथा कुमाराण्यपि शर्करायाः ॥५२॥

क्रौञ्चाचल है, हे पुष्कर द्वीप, जिसका चौगिर्द ब्रह्माजी के वाहनभूत हंसों और नलिनियों से ठसाठस भरा है और जो कदम्ब के वनों की गुफाओं में विश्राम करने वाले विद्याधरियों की रतिक्रीड़ाओं के जानकर नागरिकों और देवताओं का अड्डा है, तुम दोनों यहाँ से कहाँ चले गये ? ॥४९॥

स्वादुजल वाले समुद्र के तथा उसके वनों के, जो कि उग्र ताप को हटाने वाले तथा पुष्पों से आच्छन्न हैं और पृथ्वी को पवित्र करने वाले हैं, गोमेघ द्वीप, उसके कल्पवृक्षों के और वहाँ की सुवर्णलताओं के तथा उनसे सुन्दर गुफाओं के और कल्पवृक्षों के वनों से वेष्टित तथा कल्पवृक्षों के फूलों से सफेद शाकद्वीप के साथ उसके पर्वतों के स्मरण से ही मनुष्यों को स्वर्ग सुखप्रद पुण्य होता है ॥५०॥

जिनकी दसों दिशाएँ मन्द-मन्द वायु के हिलोरों से चञ्चल पत्तों वाली लताओं से वेष्टित कल्पवृक्षों से लहलहाती थीं वे सबके सब वन हाय ध्वस्त हो गये मेरी समझ में नहीं आता अब हमारे सदृश लोग कैसे विश्राम लेंगे ॥५१॥

इक्षुसागर के किनारे मिश्री के चट्टान वाले पहाड़ों से विभूषित पृथ्वी पर उन घने जंगलों को तथा उन अतिमधुर मोदकों को फिर कब देखेंगे । खांड के बने हुए खिलौनों को भी कब देखेंगे ॥५२॥

कदम्बकल्पद्रुमशीतलेषु
तालीतमालीसवनाचलस्य ।
कदा नु तच्चन्दनसुन्दरीणां
पश्येम नृत्तं कनकालयेषु ॥५३॥
गतानि कष्टं स्मरणीयरूपतां
जम्बुद्रुमस्याऽग्रफलानि तान्यपि ।
येषां नदीं द्वीपसमुद्रमेखला
वहत्यसौ जम्बुमती रसाम्बुभिः ॥५४॥
शिलीन्ध्रनीरन्ध्रमहीध्ररन्ध्र-
क्षीवामरस्त्रीकृतगीतनृत्यम् ।
संस्मृत्य संस्मृत्य सुरोदतीरं
प्रागब्जमुर्वीव हृदाऽवदीर्ये ॥५५॥
पश्याऽसृगम्भसि नवार्णवमूर्ध्नि भासा
सौवर्णपर्वतशताग्रशिखाः कचन्ति ।
संध्यारुणा उदयतास्तमयावनीनां
स्तोकोदितेन्दुकलिका इव दिङ्मुखेषु ॥५६॥
तादृक्सागरवारिराशिवलया द्वीपान्तरालंकृता
प्रोच्चाद्रीन्द्रनिविष्टवारिदघटानीलोत्पलानां स्थली ।
स्त्रोतोजङ्गलकाननोग्रनगरग्रामाग्रहाराम्वरा
नो जाने तरुपल्लवाङ्कुरवती कष्टं क्व याता मही ॥५७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गते विपश्चिदुपाख्याने शवोपाख्याने देवपरिदेवनवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३४॥

ताड़ और तमालों के वनों से युक्त उस पर्वत के कदम्ब और कल्पवृक्षों से शीतल सुवर्णमय गृहों में बैठकर पहले अनेक बार अनुभूत चन्दन लिप्त सर्वाङ्ग वाली सुन्दरियों का (या चन्दनलतारूपी सुन्दरियों का) नृत्य कब देखेंगे ॥५३॥

हा, जम्बूद्वीपवर्ती जम्बूवृक्ष के हाथी के बराबर तथा जम्बूनद सुवर्ण की उत्पत्ति के हेतु होने से अति प्रसिद्ध अग्रफल स्मरणीय हो गये हैं उन्हीं फलों के रसों से बनी नदी को यह जम्बूद्वीपरूप पृथ्वी, अन्यान्य द्वीप और समुद्र जिसकी मेखला रूप है, धारण करती है ॥५४॥

कुकुरमुत्ता से चारों ओर भरे हुए पहाड़ों की गुफाओं में मदिरा के मद से मतवाली स्त्रियों द्वारा किये गये संगीत नृत्य को चहल-पहल वाले सुरासागर के तीर का स्मरण कर प्रातःकाल में जैसे कमल की पँखुरियाँ दर-दर एक के बाद एक विदीर्ण होती हैं तथा जैसे इस समय पृथ्वी विदीर्ण हुई है वैसे ही मेरा हृदय विदीर्ण होता है ॥५५॥

हे मित्र ! जरा आकाश की ओर देखो, लाल जल वाले नूतन सागर के ऊपर सुवर्णमय मेरु आदि सैकड़ों पर्वतों के शिखरों की चोटियाँ उत्तर आदि दिशाओं में सूर्योदय और सूर्यास्त के निकट की भूमियों की प्रातः और सायं संध्या से लाल हुई कुछ-कुछ उदित चन्द्रकलाओं की तरह अपनी कान्ति से शोभित हो रही हैं ॥५६॥

हाय हमारी प्यारी भूमि, जिसके पूर्व वर्णित सागर-रूप जलराशि कंकण के तुल्य है, जो विभिन्न द्वीपों से अलंकृत है तथा स्तनसदृश उन्नत पर्वतों पर बैठे हुए मेघरूपी नील कमलों की माला से सुशोभित है, जो वृक्ष, पल्लव, अङ्कुर आदि भूषणों से युक्त है, जिसके सोते, नदियाँ, जंगल, भटों से भयानक नगर, ग्राम, अग्रहर (ब्राह्मणों को दान में दिये गये ग्राम) वस्त्र हैं, इस समय न मालूम कहाँ चली गई है ॥५७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० शवोपाख्यान में दैवपरिदेवनपरिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३४॥

१३५

वसिष्ठ उवाच

मत्तेन भूतवृन्देन किंचिच्छेषीकृते शवे । इदमूचुः पुनर्दिक्षु गिरौ देवाः सवासवाः ॥१॥

१३५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उन्मत्त भूत-प्रेतों के झुण्ड ने खाने के बाद शव को जब थोड़ा बहुत बचा दिया तब दिशाओं में स्थित लोकालोक पर्वत पर बैठे हुए देवराज सहित देवताओं ने यह कहा ॥१॥

विद्याधरामरविहारविमानभूमा-
वप्यास्तृतान्यशिशिरीकरणाय भूतैः ।
मेदोमयानि पवनप्रसृतामलाभ्र-
खण्डाञ्चिताम्बरसमान्युरुजालकानि ॥२॥

द्वीपेषु सप्तस्वपि पश्य मेदो-
जलानि भूतैः प्रविसारितानि ।
भुक्तं च मांसं रुधिरं च पीतं
किंचिद्गता संप्रति दृश्यतां भूः ॥३॥

मेदःपटैरावलिप्ताखिलाङ्गी
कष्टं स्थिता संप्रति मोदना भूः ।
मेदोमयैः शारदमेघजालैः
सकम्बलानीव वनानि भान्ति ॥४॥

पश्यैतानि तदस्थीनि संपन्नानि महाद्रयः ।
हिमाद्रिशिखराणीव स्थितान्यावार्य दिक्तटम् ॥५॥

देवी के गणों ने वसा से सनी हुई अतएव वायुवश उड़े हुए निर्मल मेघखण्डों से व्याप्त आकाश के समान बड़ी-बड़ी आँतड़ियाँ विद्याधर और देवताओं के विहार के साधन विमानों की संचार भूमि में (आकाश में) भी सुखाने के लिए फैलाई हैं ॥२॥

देखें ! भूतों ने सातों द्वीपों में वसा का जल बहाया है, माँस खा डाला है और रक्त पी लिया है, इसलिए इस समय भूमि कुछ दर्शनीय हो गई है ॥३॥

सब प्राणियों को आनन्द प्रदान करने वाली पृथिवी हाय इस समय वसा रूपी वस्त्रों से सारी ढकी है और सब के सब बन वसा के बने हुए शरत्कालिक मेघ समूहों से धूसर कम्बलों से ढके हुए से मालूम पड़ते हैं ॥४॥

देखें, उस शव की इन हड्डियों ने महापर्वतों का रूप धारण कर लिया है । ये दिशा-तट को ढककर हिमालय की चोटियों के समान खड़े हैं ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—भास, जब कि देवगण आपस में उक्त वार्तालाप कर रहे थे देवी के गण तृप्त होकर

वसिष्ठ उवाच

देवेषु कथयत्स्वेवं कृत्वेमां धराम् ।
मेदोजालैः स भूतौघो मत्तो व्योम्नि ननर्त ह ॥६॥

नृत्यत्सु भूतवृन्देषु शिष्टं रक्तं सुरैर्भुवः ।
एकप्रवाहेणैकस्मिन्निक्षिप्तं मकरालये ॥७॥

सुरार्णवं नमेवैनं संकल्पं विदधुः सुराः ।
ततःप्रभृति सोऽद्याऽपि संपन्नो मदिरार्णवः ॥८॥

भूतानि नृत्तमाकाशे तानि कृत्वा पिबन्ति ताम् ।
मदिरां पुनराकाशे नृत्यन्त्यानन्दमन्दिरे ॥९॥

पिबन्त्यद्याऽपि तानीव मदिरां मदिरार्णवात् ।
खे नृत्यन्ति च भूतानि सह योगेश्वरीगणैः ॥१०॥

तेषां तान्यथ भूतानां मेदोजालानि भूतले ।
विस्तृतान्यवशुष्काणि स्थिताऽतो मेदिनी मही ॥११॥

खाने-पीने से बचे हुए वसा से पृथिवी को लीप-पोत कर उन्मत्त हो आकाश में नाचने लगे ॥६॥

भूतों के झुण्ड के आकाश में नाचने पर देवताओं ने पृथिवी का अवशिष्ट रुधिर अपने संकल्प से रचित एक नाले से एक सागर में भर दिया ॥७॥

देवताओं ने निश्चय कर उसी सागर की मदिरा का सागर बनाया । तब से लेकर आज तक वह मदिरा का सागर बन है ॥८॥

वे भूत आकाश में नाचकर उस सागर की मदिरा का पान करते हैं और आनन्दमन्दिर आकाश में फिर नाचते हैं ॥९॥

उन भूतों की भाँति आज कल के भूत भी उस मदिरा सागर से पीते हैं और योगेश्वरी के गणों के साथ आकाश नाचते हैं ॥१०॥

उन भूतों के पीने से शेष रही वह वसा राशि पृथिवी में फैलकर सूख गई है, इसी कारण पृथिवी का मेदिनी नाम पड़ा है ॥११॥

इति क्रमाच्छान्तिमुपागते शवे
पुनः प्रवृत्ते दिनयामिनीक्रमे।
प्रजाः ससर्जाऽथ नवाः प्रजापतिः
पुनः स सर्गोऽभवदत्र पूर्ववत् ॥१२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० शवोपाख्याने शवोपशमो नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३५॥

इस प्रकार के क्रम से शव के क्षीण होने पर सूर्य के अपने पद पर प्रतिष्ठित करने और मेरु आदि पर्वतों का उद्धार करने के कारण दिन और रात्रि के क्रम के पुनः चालू होने पर फिर प्रजापति ने नई-नई प्रजाओं की सृष्टि की। इस भूमि में वह सृष्टि पूर्ववत् हुई अर्थात् इसी तरह देवताओं ने सूर्य को भी पहले की तरह अपने पद पर प्रतिष्ठित कर दिया, पर्वत आदि की रचना भी पहले की तरह कर डाली यह सूचित करते हुए कहते हैं ॥१२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में शवोपशम नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३५॥

१३६

भास उवाच

अथाऽहं तं महादेवं पावकं पृष्टवानिदम्।
शुकपक्षतिकोणस्थः श्रूयतामवनीश्वर ॥१॥
भगवन्सर्वयज्ञेश स्वाहाधिप हुताशन।
किमिदं नाम संपन्नं कथ्यतां किमिदं शवम् ॥२॥

वह्निरुवाच

श्रूयतामखिलं राजन्यथावद्वर्णयामि ते।
त्रैलोक्यभासुरानन्तशववृत्तान्तमक्षतम् ॥३॥
अस्त्यनन्तमनाकारं परमं व्योम चिन्मयम्।
यत्रेमान्यपसंख्यानि जगन्ति परमाणवः ॥४॥
शुद्धचिन्मात्रनभसि तस्मिन्सर्वगते क्वचित्।
सर्वात्मन्युदभूत्संवित्संवेदनमयी स्वयम् ॥५॥
सा तेजःपरमाणुत्वममपश्यद्वेदनावशात्।
भावितार्थात्मकतया स्वप्ने त्वमिव पान्थताम् ॥६॥
परमाणुरसंवित्त्वादपश्यदणुतां स्वयम्।
भास्वतीं पद्मजरस्तुल्यां संकल्पनात्मिकाम् ॥७॥
सोच्छूनतां भावयन्ती पुनरप्यभवत्स्वयम्।
चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वपुष्यन्वभवत्स्वतः ॥८॥
अपश्यदग्रे च जगच्चक्षुरादिस्वभावतः।
आधाराधेयवद्भूतमयं स्वप्नपुरं यथा ॥९॥

१३६

भास ने कहा—हे राजन्! इसके बाद सुग्गे के परों की जड़ के कोने पर बैठे हुए मैंने देवाधिदेव भगवान् अग्नि से यह पूछा, सुने ॥१॥

हे भगवन् हे सकल यज्ञों के ईश्वर हे स्वाहादेवी के अधिपति हे अग्निदेव! जिसका इस समय 'शव' नाम पड़ा है वह पहले किस कारण से हुआ? ॥२॥

अग्नि ने कहा—हे राजन सुनो, मैं त्रैलोक्य में प्रकाशमान असीम शव का सारा का सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक तुमसे कहता हूँ ॥३॥

सर्वव्यापक, निराकार चिन्मय परमाकाश है, जिसमें ये असंख्य जगत्रूप परमाणु हैं ॥४॥

उस सर्वव्यापक, सर्वात्मक, शुद्ध, चिन्मात्राकाश में कहीं पर अपने आप विषयाकारमय संवित् उद्भूत हुई ॥५॥

वेदनारूप स्वभाव होने के कारण ही उसने अपने में तेजःपरमाणुभाव वैसे ही देखा जैसे कि तुम पथिक की भावना करते हुए सोकर स्वप्न में अपने को ही पथिक रूप से देखते हो ॥६॥

अज्ञानावृत चैतन्य होने के कारण परमाणु ने कमल में उत्पन्न पराग के कण के समान खूब चमक रही संकल्परूप अपनी अणुता स्वयं देखी ॥७॥

चमक रही उस अणुता ने बढ़कर उच्छूनता की (फुलाव की) भावना करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियों का अनुभव किया फिर वे इन्द्रियाँ शरीर में संलग्न हैं, ऐसा अनुभव किया ॥८॥

आगे चक्षु आदि ने अपने स्वभाव से शब्द, स्पर्श आदि गुणों का आधाराधेय सम्बन्ध वाला भूतमय जगत्, स्वप्न के नगर के समान, देखा ॥९॥

असुरो नाम तत्राऽऽसीत्प्राणी मानी बभूव ह।
असत्यप्रतिभासात्मपितृमातृपितामहः ॥१०॥
दर्पोत्सिक्ततया तत्र कस्यचित्स महामुनेः।
यदा मृदितवानासीदाश्रमं शर्मभाजनम् ॥११॥
मुनिः शापमदात्तस्य महाकारतयाऽऽश्रमः।
त्वया यन्नाशितो मृत्वा भव त्वं मशकोऽधमः ॥१२॥
स तच्छापहुताशोऽथ तस्मिन्नेव तदा क्षणे।
असुरं भस्मसाच्चक्रे जलमौर्वं इवाऽनलः ॥१३॥
निराकार निराधारमाकाशवलयोपमम्।
चित्तं किंचिदिवाऽचेत्यमासीच्चेतनमासुरम् ॥१४॥
तदेकत्वं ययौ साम्याद्भूताकाशेन चेतनम्।
तदास्पदेन तत्राऽथ वायुना चैकतां ययौ ॥१५॥
आसीच्चेतनवानात्मा भविष्यत्प्राणिनामकः।
रजसा पयसा व्याप्तस्तेजसा नभसाऽणुना ॥१६॥

वेदन से लेकर विषयपर्यन्त अध्यारोपरूप कार्य-करणों के मध्य में असुर नाम का कोई प्राणी था, वह असुर स्वभाव से ही बड़ा अभिमानी हुआ। [शंका—क्या उसके माता, पिता और पितामह नहीं थे ? उत्तर—थे, किन्तु विदूरथ के पिता, माता आदि के समान असत्यप्रतिभास-स्वरूप थे] ॥१०॥

वह मारे घमण्ड के फूला न समाता था, अतएव उसने वहाँ पर किसी महामुनि का सुखशान्तिमय आश्रम मटियामेट कर डाला। तब मुनि ने उसे शाप दिया—अरे अधम, विशालकाय होने के कारण तूने मेरा यह आश्रम तहस-नहस कर डाला है, इस कारण तू मरकर अतिक्षुद्र हो ॥११, १२॥

इसके अनन्तर मुनि के शापरूपी अग्नि ने उसी क्षण में उस असुर को जैसे बड़वानल जल को भस्म कर देता है वैसे ही वहाँ भस्म कर दिया ॥१३॥

आकाश मण्डल के तुल्य निराकार निराधार चेत्यभिन्न असुर चेतन सुषुप्त मूर्च्छित चित के सामन था ॥१४॥

वह अव्याकृतस्वरूप आसुर चेतन, समानता होने के कारण, भूताकाश के साथ एकता को प्राप्त हुआ और तदनन्तर वह भूताकाश अपने में प्रतिष्ठित वायु के साथ एकता को प्राप्त हुआ ॥१५॥

चेतना वायुरूप (प्राण रूप) वही, जिसका कि देह प्राप्ति होने पर 'प्राणी' नाम पड़ेगा, अणुरूप पार्थिव भाग, अणुरूप जल भाग, अणुरूप तेज भाग और अणुरूप आकाश भाग से व्याप्त हुआ ॥१६॥

स पञ्चतन्मात्रमयश्चिन्मात्रलवकोऽणुकः।
स्पन्दमाप स्वभावेन व्योम्नि वातलवो यथा ॥१७॥
अथ तस्याऽनिलान्तस्थं चेतनं तदव्यबुध्यत।
कालानिलजलैर्भूमौ बीजमङ्कुरकृद्यथा ॥१८॥
शुद्धशापविदन्तस्था मशकत्वविदाऽस्य चित्।
देहिता मशकाङ्गानि विदित्वा मशकोऽभवत् ॥१९॥
स्वेदजस्याऽल्पदेहस्य निःश्वासनिपतत्तनोः।
द्वे तस्य मशकस्येह दिने भवति जीवितम् ॥२०॥

श्रीराम उवाच

प्राणिनामिह सर्वेषां योन्यन्तरज एव किम्।
समुद्भवः संभवति किमुताऽन्योऽपि वा प्रभो ॥२१॥

उस पञ्चतन्मात्रमय अणुरूप चिन्मात्र-लेश में आकाश में वायुलेश के समान स्वभावतः क्रियाशक्ति का आविर्भाव हुआ ॥१७॥

[अर्थात् क्रियाशक्ति से लिङ्गदेह में ज्ञानशक्ति के आविर्भाव को कहते हैं]

तदुपरान्त जैसे वर्षा ऋतु, पूर्वी वायु, वर्षा आदि का जल—इन सबसे अङ्कुर पैदा करने में सक्षम भूमि में बोया हुआ बीज फूलकर जाग्रत् होता है वैसे ही उसका वायु के अन्दर स्थित वह चेतन उद्बुद्ध हुआ ॥१८॥

महामुनि के शाप को जानने वाली, मच्छर की योनि को प्राप्त होने वाली उक्त अतःकरण में स्थित असुर की चित उक्त संस्कारों से विद्ध होकर मच्छर के पर, पैर आदि अङ्गों को जानकर स्वयं मच्छर हो गई ॥१९॥

[स्वेदज आदि चतुर्विध भूत योनियों में उसने कौन योनि पाई और कितने काल तक की उसकी आयु हुई ? इस पर कहते हैं।]

अतिक्षुद्र शरीर वाले उस स्वेदज मच्छर की, जिसका शरीर अति हलका होने से फूंक मारने से उड़ जाता था, केवल दो दिन की परमायु हुई ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा— प्रभुवर! यहाँ सभी प्राणियों का योनि से ही जन्म होता है अथवा अन्य प्रकार से भी हो सकता है सन्दिग्ध रामजी वसिष्ठजी से पूछते हैं आपने स्वप्न संसार के समान ही जाग्रत् संसार भी है, यह एक दो बार नहीं, सैकड़ों बार कहा है। स्वप्न देह का तो योनि से जन्म नहीं दिखाई देता, जाग्रत् देह का योनि से जन्म दिखाई देता है, उसके दृष्टान्त से जाग्रत्-देह के समान ही स्वप्न देह का भी जन्म सर्वत्र योनि से ही है अथवा दूसरे प्रकार से भी हो सकता है ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मादीनां तृणान्तानां द्विधा भवति संभवः।
एको ब्रह्ममयोऽन्यस्तु भ्रान्तिजस्ताविमौ शृणु ॥२२॥
पूर्वरूढजगद्भ्रान्तिभूततन्मात्ररञ्जनात् ।
भूतानां संभवः प्रोक्तो भ्रान्तिजो दृश्यसङ्गतः ॥२३॥
अभातायां जगद्भ्रान्तौ भूतभावः स्वयं भवन् ।
यः स ब्रह्ममयः प्रोक्तः संभवो न स योनिजः ॥२४॥
एवं स्थिते स मशको जगद्भ्रान्तिवशोत्थितः।
न तु ब्राह्मोत्थितस्तस्य राम ! चेष्टाक्रमं शृणु ॥२५॥
क्षमेक्षुशष्पकक्षादिपुञ्जगुञ्जेषु गुञ्जता।
स्वायुषोऽर्धं दिनं तेन सर्वं भुक्तं विवल्गता ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! ब्रह्माजी से लेकर तिनके पर्यन्त सब भूतों की दो प्रकार की उपपत्ति होती है—एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। इन दोनों को आप सुनिये ॥२२॥

पहले की योनि के अनुभव से बद्धमूल पहले के शरीरतादात्म्य की दृढ़ भ्रान्ति से तत्-तत् भूत और भूततन्मात्रों के अनुरागवश तदाकार से प्रणियों का जो जन्म होता है वह भ्रान्तिज जन्म कहा गया है, क्योंकि वह दृश्य के संग से होता है। इस विषय में 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यन्ति' 'यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' इत्यादि भगवती श्रुतियाँ हैं ॥२३॥

नित्य मुक्त ब्रह्मा को पहले कभी भी ध्यान में न आई जगद्भ्रान्ति होने पर सृष्टि के आरम्भ में विवर्तवश हो रहा चतुर्विध जीव रूप से ब्रह्मा का जो जन्म है वह ब्रह्ममय जन्म कहा गया है, वह योनिज जन्म नहीं है ॥२४॥

हे रामचन्द्रजी, ऐसी परिस्थिति में वह मच्छर जगद्भ्रान्तिवश जन्मा था, ब्रह्म विवर्तवश नहीं जन्मा था। अब आप उसकी क्रमिक चेष्टाओं को सुनिये अर्थात् ब्रह्ममय जन्म का अनुभव जन्मतः सिद्ध कपिल, सनक आदि महामुनियों को ही होता है, अज्ञानी मच्छर आदि का जन्म नहीं हो सकता अतएव प्रस्तुत मच्छर-जन्म भ्रान्तिज ही था ॥२५॥

पृथ्वी पर ईख के झुरमुटों, घनी घास के तिनकों, काश, मूंज आदि के अम्बार में गूंजने वाले मच्छरों में स्वयं भी गूंज रहे और क्रीड़ा कर रहे उस मच्छर ने दो दिन की अपनी पूर्णायु का आधा हिस्सा (एक दिन) भोग लिया ॥२६॥

शाद्वलोदरदोलायां दोलनं बाललीलया।
चिरमारब्धमेतेन सार्धं मशिकया स्वयम् ॥२७॥
दोलाश्रमार्तस्तत्राऽसौ यावद्विश्राम्यति क्वचित्।
तावद्धरिणपादाग्रगिरिपातेन चूर्णितः ॥२८॥
हरिणाननसंदर्शत्यक्तप्राणतया तया।
पूर्वक्रमगृहीताक्षः स जातो हरिणस्ततः ॥२९॥
विहरन् हरिणोऽरण्ये व्याधेन धनुषा हतः।
व्याधाननगदृष्टित्वात्संजातो व्याध एव सः ॥३०॥
व्याधो वनेषु विहरन्संयातो मुनिकाननम्।
तत्र विश्रान्तवान् सङ्गान्मुनिना प्रतिबोधितः ॥३१॥
भ्रान्तः किमिदमादीर्घदुःखाय धनुषा मृगान्।
हंसि पासि न कस्मात्त्वं तन्त्रं जगति भङ्गुरे ॥३२॥

उस मच्छर ने बाल-क्रीड़ावश स्वयं हरी घास के मध्यरूप झूले चिरकाल तक अपनी पत्नी मच्छरी के साथ झूलना आरम्भ किया। अर्थात् आधी आयु (एक दिन) बीतने के उपरान्त दूसरे दिन की उसकी चेष्टा का वर्णन करते हैं ॥२७॥

झूलने की थकाए से थका हुआ वह ज्योंही कहीं विश्राम करने लगा त्यों ही ऊपर हरिण के खुराग्रभाग रूप पर्वत के गिरने से चूर हो गया ॥२८॥

उसने हरिण की आकृति के दर्शन से प्राण त्यागे थे इस कारण पहले मच्छर की देह ग्रहण करने में जो क्रम कहा गया है उसी क्रम से वाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों का ग्रहण कर तदनन्तर वह हरिण हो गया ॥२९॥

अरण्य में इधर-उधर भटक रहे हरिण को व्याध ने धनुष से मार डाला। मरते समय उसकी दृष्टि व्याध के मुख पर पड़ी, अतएव अगले जन्म में वह व्याध ही हुआ ॥३०॥

विविध वनों में भटक रहा व्याध अकस्मात् मुनि के वन में जा पहुँचा। वहाँ पर उसने विश्राम किया। उसके सत्संगलाभरूप सौभाग्य से मुनि ने उसे ज्ञानोपदेश दिया ॥३१॥

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापायवा-
न्पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० शवोपाख्याने मशकव्याधबोधनं नाम षट्त्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३६॥

अरे व्याध ! तुम भ्रम में पड़े हो। इस क्षणभङ्गुर जगत् में दीर्घ दुःख के लिए मृगों को धनुष बाण से क्यों मारते हो ? महा फल देने वाली अहिंसा, अभयदान आदि शास्त्रमर्यादा का क्यों पालन नहीं करते ॥३२॥

देखो न इस संसार की असारता। आयु वायु से टकराए हुए मेघ मण्डल में लटक रहे जल के समान क्षण में नष्ट होने वाली है, भोग मेघराशि के मध्य में कौंध रही बिजली के समान चञ्चल हैं। यौवन विलास जल के वेग के सदृश चञ्चल है। शरीर क्षणभङ्गुर है। हे पुत्र, इसलिए पारलौकिक अनर्थरूप संसार वश त्रास को प्राप्त होकर अभयदान, अहिंसा आदि उपायों से आत्यन्तिक अनर्थनिवृत्ति से युक्त नित्य निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म की गुरु तथा शास्त्ररूप उपाय द्वारा खोज करो ॥३३॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में शवोपाख्यान में मशकव्याधबोधन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौछत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

१३७

व्याध उवाच

एवं चेत्तन्मुने ! ब्रूहि कीदृग्दुःखपरिक्षये ।
न कर्कशो न च मृदुर्व्यवहारक्रमो भवेत् ॥१॥

मुनिरुवाच

इदानीमेव संत्यज्य धनुषा सह सायकान् ।
मौनमाचारमाश्रित्य शान्तदुःखमिहोष्यताम् ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

इति संबोधितस्तेन परित्यज्य धनुःशरान् ।
आसीन्मुनिसमाचारस्तत्रैवायाचिताशनः ॥३॥
विवेश मनसा मौनी ततः शास्त्रविवेकिताम् ।
दिनैरेव यथा पुष्पमामोदेन नराशयम् ॥४॥
अपृच्छन्मुनिशार्दूलं कदाचित्तमरिन्दम ।
भगवन्दृश्यते स्वप्नः कथमन्तर्बहिः स्थितः ॥५॥

१३७

व्याध ने कहा—हे मुनि ! यदि हिंसादि कार्य दुःख का हेतु है तो दुःख के विनाश में कारणभूत व्यवहार, जो न कठोर है और न कोमल है, कैसा है ? कृपया उसे मुझसे कहिये ॥१॥

मुनि ने कहा—इसी समय बाणों के साथ धनुष का सर्वदा के लिए त्यागकर मुनिजनों के यम, नियम, विचार आदि आचरण की दीक्षा लेकर निर्द्वन्द्व हो यहीं पर निवास करो ॥२॥

श्रीवसिष्ठ ने कहा—उक्त मुनि के इस प्रकार उपदेश देने पर धनुष और बाणों का परित्याग कर वहीं पर उसने मुनिजनों के से आचरण अपनाये और अयाचित जो कुछ मिल जाता था उससे अपनी गुजर करने लगा ॥३॥

अनन्तर मुनियों के से आचरण वाले उसके हृदय में थोड़े ही दिनों में सारासार विवेकशीलता ने वैसे ही प्रवेश किया जैसे फूल अपनी कली के विकास आदि क्रम से होने वाली मनोमोहनी सुगन्ध से लोगों के हृदय में प्रवेश करता है ॥४॥

हे शत्रुतापन महाराज दशरथजी ! इस प्रकार हृदय में विवेकाङ्कुर पैदा हो जाने के बाद एक दिन उस व्याध ने महामुनि से पूछा—हे भगवन् ! प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न जाग्रत् की तरह बाहर कैसे दिखाई देता है ? बाहर स्थित यह जगत्-प्रपञ्च स्वप्न बनकर प्राणियों के अन्दर कैसे दिखाई देता है ? प्राणियों के अन्दर स्थित स्वप्न किस साधन से दिखलाई पड़ता है ? इस तरह बाहर और भीतर स्थित स्वप्नरूप प्रपञ्च कैसे दिखाई देता है और यदि प्रपञ्च स्वप्न ही है तो भीतर बाहर दो प्रकार से स्थित कैसे दिखाई देता है ? इस प्रकार अनेक संशयों से गुँथे हुए एक-साथ पाँच प्रश्न किये ॥५॥

मुनिरुवाच

ममाऽपि साधो ! प्रथममेष एव विवेकिनः ।
पुरा चित्ते वितर्कोऽभूत्कुतोऽप्यभ्रमिवाऽम्बरे ॥६॥
तत एतद्दिदृक्षार्थमहमभ्यस्तधारणः ।
बद्धपद्मासनस्तस्यां संविद्येवाऽभवं स्थिरः ।।७॥
तत्रस्थो दूरविक्षिप्तं तयैवाऽऽहृतवानहम् ।
चेतः स्वहृदयं सायं रुचेव रविरातपम् ॥८॥
वेदनेरणया प्राणस्ततश्चित्तान्वितो मया ।
शरीराद्रेचिता बाह्ये सौरभं कुसुमादिव ॥९॥
व्योमस्थचित्तवलितः स प्राणपवनो मया ।
अग्रस्थस्य मुखाग्रस्थे जन्तोः प्राणे नियोजितः ॥१०॥

मुनि ने कहा—हे साधो ! पहले आरम्भावस्था में जबकि मेरा विवेक कोमल था मेरे मन में भी अपने-आप न जाने कहाँ से ऐसा ही वितर्क आकाश में बादल के टुकड़े तुल्य उठा यह तृतीय प्रश्न का उत्तर है प्रचुर तर्कों से गर्भित प्रश्न को सुनकर प्रारम्भिक भूमिका की अवस्था में जब कि मेरा विवेक प्रौढ़ नहीं हुआ था, मेरे मनमें भी ऐसे ही अनेक वितर्क उठे थे । मैंने योग-धारणा के अभ्यास से स्वयं परकाय प्रवेश द्वारा उसके स्वप्न आदि का पुनः पुनः अवलोकन कर अन्वय-व्यतिरेक से बार-बार परीक्षा करके तथ्य तक पहुँचकर उनका समाधान किया था ॥६॥

उसके बाद उसका पता लगाने की इच्छा से मैंने योग-क्रिया का, जिससे मैं अनायास परकाय प्रवेश कर सकूँ, खूब अभ्यास किया । पद्मासन बाँधकर सब प्राणियों की आत्मभूत सर्वप्रसिद्ध संवित् में ही स्थिर हुआ यानी चित्तसमाधि लगाई ॥७॥

जैसे सूर्य सायंकाल के समय बिखरे हुए अपने घाम को अपने मण्डल की कान्ति से बटोरता है वैसे ही उक्त संवित् में समाधिस्थ हुआ मैं उसी संवित् से दूर विक्षिप्त अपने चित्त को अपने हृदय में लौटा लाया ॥८॥

मैंने प्राण के अन्तर्गत चित् की प्रेरणा से योगशास्त्र में प्रसिद्ध प्रयत्न से, जो प्राण के साथ जीव के बाहर निकलने में सहायक है, जीवोपाधि चित्त के साथ प्राण को शरीर से बाहर रेचक द्वारा निकाला ॥९॥

बाहर आकाश में स्थित जीवोपाधि चित्त से युक्त बाहर रेचित अपने प्राण वायु को मैंने अपने सामने स्थित किसी जीव के (छात्र के) मुख के अग्रभाग में स्थित प्राण में मिला में मिला दिया ॥१०॥

यः प्राणवलितः प्राणस्तेन नीतो हृदन्तरम् ।
स्वेहया स्वं स्वकः सर्पः करभेणेव हिंसितः ॥११॥
ततोऽहं हृदयं तस्य प्रविष्टः प्राणवाजिना ।
संकटस्थः स्वया बुद्धया तावेवाऽनुसरोऽन्तरम् ॥१२॥
चरद्रसाभिर्वह्वीभिर्नाडीभिरभितो वृतम् ।
कुल्याभिः स्थूलतन्त्रीभिर्बाह्यदेशमिवाऽखिलम् ॥१३॥
पर्शुकापञ्जरप्लीहयकृद्रक्तादिडिम्बकैः ।
संकटं जीवसदनं भाण्डोपस्करणैरिव ॥१४॥
सर्वैः शलशलायद्भिरुष्णैरवयवैर्वृतम् ।
निदाघतापसंतप्तैर्रुमिजालैरिवाऽर्णवम् ॥१५॥
नवं नवं बहिःशैत्यं मासाग्राचचेतनात्मकम् ।
जीवनायाऽनिशं चेतोवातान्नीतमनारतम् ॥१६॥

मेरे प्राण से संमिश्रित उस प्राणी का जो प्राण था, उसने मुझे उसके हृदय के भीतर वैसे ही पहुँचाया जैसे कि भालू बिल में मुँह डालकर मुँह के वायु से अपने आहार भूत साँप को जबर्दस्ती बाहर खींच मुँह में डाल मार-मूरकर अपने पेट में पहुँचाता है ॥११॥

उसके हृदय में प्रविष्ट होने के बाद प्राणरूपी घोड़े से परस्पर मिले हुए उक्त दोनों प्राणों का अनुगमन कर मैं उसके देहमध्य में प्रविष्ट हो अपनी बुद्धि से संकट में फँस गया ॥१२॥

जीवगृह में रसवाहिनी बहुत सी नाड़ियों का जाल वैसे ही फैला हुआ था जैसे बाह्य प्रदेश में सिंचाई के लिए छोटी बड़ी बहुत सी नहरों का जाल बिछा रहता है ॥१३॥

उक्त जीवगृहरूपी शरीर पसली रूपी पिंजड़े, प्लीहा, यकृत्, आदि के पिण्डों से ठीक वैसे ही संकटाकीर्ण था जैसे कि भाँड़े, बर्तन आदि के अम्बारों से घर संकटाकीर्ण होता है ॥१४॥

उदराग्नि में उबलने से शल्-शल् शब्द कर रहे गरम-गरम सब अवयवों से वैसे ही जीवगृह शरीर घिरा था जैसे ग्रीष्म ऋतु में तपी हुई लहरों से सागर व्याप्त रहता है ॥१५॥

जीवन के लिए चित्त और प्राण आदि वायुओं द्वारा निरन्तर खींचे गये बाहर के नूतन-नूतन शैत्य के नासिक के अग्रभाग से भीतर प्रवेश होने के कारण वह जीवगृह चेतनामय था ॥१६॥

रक्तकुद्रसश्लेष्मवसानिःस्रावपिच्छिलम् ।
घनान्धकारमुष्णं च संकटं नरकोपमम् ॥१७॥
उदयावयवाश्लेषस्पष्टास्पष्टमरुद्व्रतैः ।
स्थित्यन्तानां तु वैषम्यादागामिगदसूचकम् ॥१८॥
दरत्सरभसच्छिद्रावातवातेन शब्दितम् ।
पद्मनालप्रणालान्तर्ज्वलदर्णववाडवम् ॥१९॥
मिलत्पदार्थनीरन्ध्रं सितमच्छं सवायुभिः ।
क्वचित्सौम्यं क्वचित्क्षुब्धं चोरैरिव पुरं निशि ॥२०॥
रसनादपरैर्नाडीमार्गविद्याधराध्वगैः ।

रुधिर को नाड़ियों द्वारा बाँटने वाले अन्नरस, कफ आदि के वहाव से वह अत्यन्त पिच्छिल था, उसमें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था, गर्मी भी कम न थी, अतएव नरक के तुल्य महान् संकटाकुल था ॥१७॥

वहत्तर हजार नाडियों में कहीं पर रुधिर, रस, कफ और पित्त के उदय से कहीं पर विभिन्न अङ्गों में चिपकने से तथा कहीं पर संचार के सौकर्य से व्यक्त और कहीं पर मार्ग में रुकावट होने से व्यक्त न हुए प्राण आदि वायुओं की लीलाओं से सात धातुओं की सत्ता और विनाश की विपमतावश वह जीवमन्दिर रूप शरीर आने वाले रोगों की स्वप्न आदि में सूचना देता था ॥१८॥

वेग के साथ खुल रहे अपान आदि वायुओं के छिद्रों में निकले हुए वायु से उसमें शब्द होता था तथा हृदय-कमलनाल के छेद के अन्दर सागर में वाडवाग्नि की तरह जठराग्नि निरन्तर जल रही थी। महोपनिषद् में कहा है—'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्' इत्युक्रम्य 'तस्याग्रे सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥'—कमल के कोष के तुल्य हृदय का मुँह नीचे को होता है। इस प्रकार आरम्भ कर उसके अन्त में छोटा सा छेद है। उसमें सब-कुछ प्रतिष्ठित है। उसके वीच में अग्नि की छोटी सी लूर स्थित है ॥१९॥

चारों ओर से एकत्र हो रहे वासनामय पदार्थों से वह ऐसा भरा था कि तिल रखने को भी ठौर नहीं थी, वायु से भरी हुई इन्द्रियों से चारों तरफ से बधा था, साक्षीभूत आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त विशद भी था, चित्तवृत्ति के भेदों से तथा प्रदेश भेदों से कहीं पर वैसे ही क्षुब्ध था जैसे कि रात में चोरों द्वारा नगर क्षुब्ध होता है और कहीं पर अत्यन्त शान्त था ॥२०॥

कोष्ठगत अन्नरस में गुड़-गुड़ शब्द पैदा करने में तत्पर अतएव नाड़ी मार्गों में गा रहे विद्याधर पथिक के

संचरद्भिर्वृतं वातैराकारार्धार्धगीतिभिः ॥२१॥
तदहं हृदयं जन्तोराविशं विषमान्तरम् ।
नरोऽवयवसंबाधं नरवृन्दमिवाऽधिकः ॥२२॥
अनन्तरमहं प्राप्तस्तेजोधातुं हृदन्तरे ।
दूरस्थमिव यत्नेन रात्राविन्दुमिवाऽर्करुक् ॥२३॥
यस्मात्त्रिभुवनादर्शो दीपस्त्रैलोक्यवस्तुषु ।
सत्ता सर्वपदार्थानां जीवस्तत्राऽवतिष्ठते ॥२४॥
काये सर्वगतो जीवः स्वामोदः कुसुमे यथा ।
तथाऽप्योजसि किञ्जल्कैर्मुखे शैत्यं विवस्वता ॥२५॥

सदृश इधर-उधर सञ्चार कर रहे तथा द्विमात्र एकमात्र और अर्धमात्र युक्त गीति वाले वायुओं से घिरा था ॥२१॥

जैसे कि श्रेष्ठ पुरुष पुरुषों के अवयवों से ठसाठस भरे नर-समूह में प्रविष्ठ होता है वैसे ही मैं प्राणी के अत्यन्त उवड़-खावड़ तथा भीड़-भाड़ वाले उस हृदय में प्रविष्ट हुआ ॥२२॥

जैसे कि रात्रि में सूर्यप्रभा चन्द्रमा को प्रयत्न से प्राप्त होती है वैसे ही उसके वाद तेजःस्वरूप मैं उसके हृदय के मध्य में उदराग्निरूप तेज के सार को, जो समीपस्थ होने पर भी विविध नाड़ी मार्ग से प्राप्य होने के कारण दूर स्थितसा था, प्रयास से प्राप्त हुआ ॥२३॥

उसके अन्दर त्रैलोक्य का भान होता है, अतः वह त्रैलोक्य का आदर्श-भूत है, त्रैलोक्य स्थित पदार्थों का वह दीपक के समान प्रकाशक है सब पदार्थों के अस्तित्व का सम्पादक है तथा जीव (जीववेशधारी परमात्मा) उस तेज में रहता है। भगवती श्रुति ने भी कहा है—उसके मध्य में उत्पन्न सूक्ष्म अग्नि की लूर है उस लूर के बीच में परमात्मा बैठा है, वह ब्रह्म है, वह शिव है, वह अविनाशी है, वह परम स्वराट् है ॥२४॥

[यदि कोई शङ्का करे कि 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि श्रुतियों में जीव की सकल देह व्यापकता सुनने में आती है, ऐसी स्थिति में वह तेजोधातु में (ओज) में ही कैसे स्थिति है ? इसपर कहते हैं—]

यद्यपि सर्वव्यापी आत्मा जीव बनकर नख से लेकर शिखा तक सर्वत्र प्रविष्ट हुआ तथापि तेजोधातु में (ओज में) वह वैसे ही विशेष रूप से स्थित है जैसे सूर्य द्वारा विकासित पुष्प में उसकी सुगन्धि और शीतलता सर्वत्र विद्यमान है केसर से युक्त उसके मुँह में सुगन्धि और शीतलता विशेष रूप से रहती है ॥२५॥

तज्जीवाधारमोजस्तु प्रविष्टोऽहमलक्षितम् ।
रक्षितं परितः प्राणैर्वर्तिः प्रच्छादनं यथा ॥२६॥
ततोऽज्ञः संप्रविष्टोऽहमामोद इव मारुतम् ।
उष्णांशुरिव शीतांशुं मृत्पात्रमिव वा पयः ॥२७॥
द्वितीयेन्द्वंशुसंकाशे शुक्लाभ्रलवपेलवे ।
नवनीतगुडप्रख्ये क्षीरबुद्बुदसुन्दरे ॥२८॥
तत्र पश्याम्यहं तिष्ठन्प्रवेशव्यप्रयोज्झितः ।
स्वौजसीव वसन्स्वप्न इव विश्वमखण्डितम् ॥२९॥
सार्कं सपर्वतं साब्धि ससुरासुरमानवम् ।
सपत्तनवनाभोगं सलोकान्तरदिङ्मुखम् ॥३०॥
सद्वीपसागराम्भोधि सकालकरणक्रमम् ।
सकल्पक्षणसर्वर्तु सहस्थावरजंगमम् ॥३१॥

चारों ओर इन्द्रियाभिमानी देवताओं द्वारा चारों द्वारों पर सुरक्षित उक्त जीवाधार ओज में (तेजोधातु में) मैं चुपचाप बिना किसी के जाने बूझे वैसे ही प्रविष्ट हो गया जैसे घड़े आदि से ढकी हुई दीप ज्योति की घड़े के छोटे-छोटे छेदों से प्रविष्ट हुए वायुओं से रक्षा होती है क्योंकि यदि छेद बिलकुल बन्द कर दिये जायँ तो दीपक बुझ जाय ॥२६॥

अनन्तर मैं साक्षात् उक्त जीव के उपाधिभूत मनोमय विज्ञानकोश से परिवृत्त आनन्दमय कोष में जो आनन्दमय कोश द्वितीया के चन्द्रमा के किरणों के (चाँदनी के) सदृश स्वच्छ था; सफेद बाल के टुकड़े के समान मनोहर था, मक्खन के गोले के समान कोमल और दूध के बुद्बुद के समान सुन्दर था ऐसा प्रविष्ट हुआ जैसे कि आमोद (मनोहर गन्ध) वायु में प्रविष्ट होता है, जैसे सूर्य चन्द्रमा में प्रविष्ट होता है अथवा जैसे दूध मिट्टी के पात्र में प्रविष्ट होता है ॥२७-२८॥

पूर्व स्थानों में प्रवेशवश जो थकान मुझे हुई थी वह यहाँ बिलकुल नहीं हुई, वहाँ पर भी स्वस्थता के साथ रहते हुए मैंने अपने स्वप्न जगत् की भाँति उसका स्वप्न रूप जगत् भी वैसे ही पुरा का पुरा देखा जैसे अपने हृदय में स्थित ओज में मैं स्वस्थ रहता था ॥२९॥

उसके स्वप्न जगत् में भी सूर्य थे, पर्वत थे, सागर थे, देवता, राक्षस और मनुष्य थे, नगर थे, विशाल जंगल थे, अन्यान्य लोक थे, दिशाएँ थी, सातों द्वीप; सातों सागर, भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल और इन्द्रियों के क्रम सब विद्यमान थे, प्रलय, क्षण सब ऋतुएँ स्थावर-जङ्गम सब कुछ विद्यमान था ॥३०-३१॥

तत्स्वप्नदर्शनं तत्र स्थिरमेव समं स्थितम् ।
बसाम्यत्येव निद्रान्ते निद्राऽन्ते नाऽऽगता यतः ॥३२॥
अनिद्र एव किं स्वप्नं पश्यामीति मया ततः ।
परिचिन्तयता ज्ञातमिदं व्याध विबोधिना ॥३३॥
ननु नामाऽस्य चिद्धातोः स्वरूपमिदमैश्वरम् ।
स्वं यद्यद्विशत्येष जगन्नाम्नाऽम्बरात्मकम् ॥३४॥
चिद्धातुर्यत्र यत्राऽऽस्ते तत्र तत्र निजं वपुः ।
पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चाऽत्यजत् ॥३५॥
अहो त्वद्येदमाज्ञातं यदित्थं दृश्यते जगत् ।
तत्कथ्यते स्वप्न इति स्वचित्कचनमात्रकम् ॥३६॥
चिद्धातोर्यत्खकचनं तत्किंचित्स्वप्न उच्यते ।
किंचिच्च जाग्रदित्युक्तं जाग्रत्स्वप्नौ तु न द्विधा ॥३७॥

वहाँ पर वह स्वप्न दर्शन अनादि प्रवाह स्थित तथा प्रसिद्ध जगत् के तुल्य रहा । मैं निद्रा बाद जागरणवस्था में अतिशयेन स्थित ही रहा, क्यों कि जाग्रत् के अन्त में निद्रा आई ही नहीं ॥३२॥

हे व्याध ! मुझे नींद नहीं है तथापि मैं क्या स्वप्न देखता हूँ यों विचार कर रहे तदनन्तर प्रबोध को प्राप्त हुए मैंने यह जाना । वह यह कि इस चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा का यह ऐश्वर स्वरूप है । यह ईश्वर आकाशरूप अपना घट रूप से पट रूप से अथवा जगत्-रूप से या जीवरूप से जैसा ही नाम या रूप रखता है स्वयं तत्-तत् स्वरूप धारण कर जगत् नाम रख लेता है ॥३३-३४॥

यह चिद्धातुरूप प्रत्यगात्मा जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ सर्वत्र अपने वास्तविक रूप का त्याग किये बिना ही जगद्रूप अपने शरीर को देखता है ॥३५॥

इस प्रकार स्वचित् विकासमात्र जगत् दिखाई देने वाले को लोग स्वप्न कहते हैं, हाय, यह आज मेरी समझ में आया ॥३६॥

चिद्धातु का जो स्वविकास है वही कुछ तो स्वप्न कहलाता है और कुछ जाग्रत्, और स्वप्न कोई भिन्न पदार्थ नहीं है अर्थात् यदि वास्तविक विचार किया जाय तो जाग्रत् भी स्वचिद्विकासमात्र ही ठहरता है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३७॥

स्वप्नः स्वप्नो जागरायामेष स्वप्ने तु जागरा।
स्वप्नस्तु जागरैवेति जागरैव स्थिता द्विधा ॥३८॥
चेतनं नाम पुरुषः स मृतेषु शतेष्वपि।
शरीरेषु महाबुद्धे कथं कस्य कदा मृतः ॥३९॥
तच्चेतनं खमेवाऽस्ति स्थितं तद्देहवत्कचत्।
अनन्तमविभागात्म प्रतिघाप्रतिघात्मकम् ॥४०॥
स्वभावस्याऽप्रतिघस्य नित्यानन्तोदितात्मनः।
परमाणोश्चिदाख्यस्य मज्जा जगदिति स्मृतः ॥४१॥
चिद्वचोम्न उदरे भान्ति समस्तानुभवाणवः।
तथा यथाऽवयविनो विचित्रावयवाणवः ॥४२॥
निवृत्तो बाह्यतो जीवो जीवाधारो हृदि स्थितः।
रूपं स्वं स्वप्नसर्गोऽयमिति वेत्ति चिदाकचान् ॥४३॥
बाह्योन्मुखं बहिर्जाग्रच्छब्दितं कचितं स्वकम्।

स्वप्न में जागरण तो स्वप्न ही है। जागरण में स्वप्न-स्वप्न ही है। स्वप्न तो अपनी दृष्टि से जागरण ही है जब इस प्रकार स्वदृष्टि से दिखाई देता है तब जागरण ही दो तरह से स्थित है अर्थात् परस्पर की दृष्टि से ये दोनों स्वप्न ही हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों जागरण ही हैं ॥३८॥

हे महामते, मृत्यु नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पुरुष चिन्मात्र है। वह हजारों शरीरों के मरने पर भी कब मरा, किसका मरा, कैसे मरा ? यो तीनों प्रकार से वह प्रसिद्ध नहीं है ॥३९॥

वह चिन्मात्र आकाश ही है। असीम और अखण्ड वह भ्रान्तिवश देहवत् विकास को प्राप्त होकर मूर्ता-मूर्ताकार से स्थित है अर्थात् कल्पना करके शरीर और उसके मरने की बात कही, वास्तव में न शरीर है और उसका मरण ही हैं ॥४०॥

अमूर्ताकारस्वभाव नित्य अनन्त उदित चिद्रूप परमाणु का सार ही भ्रान्तिवश जगत् कहा गया है ॥४१॥

जैसे कि अवयवी के विचित्र रूप-रेखा वाले अवयव प्रतीत होते हैं वैसे ही चिदाकाश के उदर में सकल अनुभवाणु प्रतीत होते हैं ॥४२॥

जाग्रत् का भोग कराने वाले कर्म के क्षीण होने पर बाह्य से (जागरण से) निवृत्त होकर जीवाधार हृदय में स्थित हुआ जीव बाह्य संस्कार के अनुरोध से अपने स्वरूप को ही यह बाह्य स्वप्न सृष्टि है, ऐसा समझता है ॥४३॥

जिस समय चित्त बाह्योन्मुख होता है उस समय यह जीव अपने जाग्रत् संज्ञक विकसित रूप को देखता है जब

रूपं पश्यति जीवोऽयमन्तस्थं स्वप्न इत्यपि ॥४४॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
प्रसृतो जीव इत्यन्तर्बहिश्चैकात्मकः स्थितः ॥४५॥
अर्कोऽर्कबिम्बसंस्थोऽपि यथेहाऽपि स्थितस्त्विषा।
तथा जीवो जगद्रूपो बहिरन्तश्च संस्थितः ॥४६॥
अन्तःस्वप्नो बहिर्जाग्रदहमेवेति वेत्ति चेत्।
चिदात्मको यथाभूतं मुच्यते तदवासनः ॥ ७॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमपि जीवोऽन्यथा वदन्।
द्वैतसंकल्पयक्षेण मुह्यत्येव शिशुर्यथा ॥४८॥
अन्तर्मुखोऽन्तरात्मानं बहिः पश्यन्बहिर्मुखः।
आस्ते जीवो जगद्रूपं यत्स्वं ते स्वप्नजाग्रती ॥४९॥
इति चिन्तयतः किं स्यात्सुषुप्तमिति मे मतिः।
जाता तेन सुषुप्तांशमन्वेष्टुमहमुद्यतः ॥५०॥

चित्त अन्तस्थ (अन्तर उन्मुख) होता है तब यह जीव अपने रूप को स्वप्नरूप से देखता है ॥४४॥

एकात्मक ही जीव बाहर और भीतर अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियों और दिशा के रूप से व्याप्त होकर स्थित है ॥४५॥

जगद्रूप जीव बाहर और भीतर वैसे ही स्थित है जैसे सूर्य सूर्यमण्डल में स्थित होकर भी अपनी आभा से यहाँ भी स्थित है ॥४६॥

चिदात्मक मैं ही भीतर स्वप्न और बाहर जाग्रत् हूँ, यदि ऐसा यथार्थ बोध हो जाय, तो क्रमशः प्रथम, द्वितीय आदि भूमिकाओं के परिपाक से वासनाविहीन होकर मुक्त हो जाता है अर्थात् अतएव सर्वात्मता के वास्तविक होने के कारण उसी के परिज्ञान से ही 'मैं सर्वात्मक हूँ' ॥४७॥

यद्यपि यह जीव अच्छेद्य है छेदन और भेदन के योग्य नहीं है और अदाह्य है जलाने के योग्य नहीं है तथापि अपने को अन्यथा जानता हुआ द्वैतसंकल्परूपी यज्ञ से बालक के समान मोह को प्राप्त होता ही है ॥४८॥

अन्तर्मुख जीव अन्तरात्म रूप अपने को अन्तर्जगत् रूप में देखता हुआ स्वप्न और बहिर्मुख जीव आत्मा को बाहर जगत्रूप में देखता हुआ स्वयं ही जाग्रत् होता है। वे ही इसके स्वप्न और जाग्रत् हैं ॥४९॥

इस तरह जाग्रत् और स्वप्न के तात्त्विक स्वरूप का विचार कर रहे मेरे मन में सुषुप्ति का क्या स्वरूप होगा ? ऐसी मति उदित हुई। इसलिए मैं सुषुप्ति की खोज में प्रवृत्त हुआ ॥५०॥

यावत्किं दृश्यदृष्ट्याऽन्तस्तूष्णीं तिष्ठाम्यहं चिरम् ।
निश्चित्त इति संवित्तिः शमा नाऽन्यत्सुषुप्तकम् ॥५१॥
नखकेशादि देहेऽस्मिन् विदिताविदितं यथा ।
न जडं च जडं चैव सुषुप्तं चेतनात्मनि ॥५२॥
संवित्त्या किं भ्रमार्तोऽस्मि शान्तमासे विमानसम् ।
इत्येकपरिणामत्वान्नाऽन्यदस्ति सुषुप्तकम् ॥५३॥
एतन्निद्राघनं जाग्रत्यपि संभवति स्वतः ।
न किंचिच्चिन्तयाम्यासे शान्त इत्येकरूपकम् ॥५४॥
एषाऽवस्था यदा याति घनतामुच्यते तदा ।
निद्राशब्देन तन्वी तु स्वप्नशब्देन कथ्यते ॥५५॥
सुषुप्तमिति निश्चित्य तुरीयान्वेषणामहम् ।
प्रवृत्तः कर्तुमुद्युक्तो युक्तः परमया धिया ॥५६॥
यावद्रूपं तुरीयस्य किंचनाऽपि न लभ्यते ।
सम्यग्बोधादृते शुद्धात्प्रकाशस्तमसो यथा ॥५७॥
यथास्थितमिदं विश्वं सम्यग्बोधाद्विलीयते ।
यथास्थितं च भवति न च किंचिद्विलीयते ॥५८॥
अतः स्वप्नो जागरा च सुषुप्तं च तुरीयके ।
सयथास्थितमस्तीदं नूनं नाऽस्ति च किंचन ॥५९॥
कारणाज्जगदुत्पन्नं न ब्रह्मेत्थमवस्थितम् ।
जगत्तया शान्तमजं बोध इत्येव तुर्यता ॥६०॥
असंभवात्संभवकारणानां
न जायते किंचन नाम सर्गः ।
चिच्चेतनेनैव हि सर्गसंवित्
स्वयं गृहीता द्रवताऽम्बुनेव ॥६१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप०
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३७॥

दृश्य के दर्शन से मेरा क्या मतलब, मैं चिरकाल तक चुपचाप चित्तव्यापाररहित होकर स्थित रहूँ, अन्दर इस तरह की शान्तिरूप संवित् जब तक रहती है तब तक सुपुप्ति है। सुपुप्ति इससे अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥५१॥

चेतनरूप सुपुप्ति-साक्षी में वैसे ही सुपुप्ति स्फुरित होती है जैसे इस शरीर में विशेषतः अहन्त्वेन अविदित होने सामान्यतः विदित होने से विदिताविदित स्वरूप जड़ और अजड़, नख, केश आदि इस शरीर में स्फुरित होते हैं अर्थात् सुपुप्ति में चित्त की व्याप्ति न होने से चित् की अभिव्यक्ति न होने पर घट आदि के समान जड़ता की आशङ्का कर विशेषरूप से अहन्त्वेन विदित न होने पर भी नख, केश आदि के समान सामान्यतः विदित होने से विदिताविदितात्मक उक्त सुपुप्ति जो कि जड़ भी है और जड़ नहीं भी है, चेतनात्मक सुपुप्ति-साक्षी में स्फुरित होती है ॥५२॥

जाग्रत् और स्वप्नों के भ्रमण से मैं बहुत थक गया हूँ। मुझे विशेष संवित् से क्या करना है। मैं कुछ काल तक मन के व्यापार से रहित शान्त रहूँ, इस प्रकार का संकल्प होने पर एक मात्र गाढ निद्राकर परिणाम ही सुपुप्ति है, उससे अतिरिक्त सुपुप्ति नहीं है ॥५३॥

मैं कुछ भी चिन्तन न करूँ, शान्त होकर बैठा रहूँ इत्याकारक गाढ़ निद्रारूप सुपुप्ति जाग्रत् अवस्था में भी अपने आप हो सकती है अर्थात् यदि चिन्ता का सर्वथा परित्याग किया जाय तो जाग्रत् पुरुष में भी सुपुप्ति हो सकती है ॥५४॥

यह अवस्था जब खूब घन = गाढ़ हो जाती है तब सुपुप्ति शब्द से पुकारी जाती है जब शिथिल रहती है तब तो स्वप्न शब्द से पुकारी जाती है ॥५५॥

इस तरह सुपुप्ति के स्वरूप का निश्चय कर परम बुद्धि से युक्त उद्योगशील मैं तुरीय के स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर हुआ ॥५६॥

शुद्ध सम्यक् ज्ञान के बिना तुरीय का पूर्णरूप तनिक भी वैसे ही समक्ष में नहीं आता है। जैसे अन्धकार के बिना प्रकाश का स्वरूप नहीं पहिचाना जा सकता ॥५७॥

यह यथास्थित विश्व सम्यक् ज्ञान से विलीन हो जाता है, अतः सम्यक् ज्ञान ही तुरीय है, सम्यक् ज्ञान में विलीन हुए विश्व की आत्यन्तिक अविलीनता यथास्थित रहती है यानी विश्व अपने यथार्थ रूप में हो जाता है कुछ विलीन भी नहीं होता ॥५८॥

इसलिए यथास्थित जगत् के साथ स्वप्न, जाग्रत् और सुपुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ तुरीय में अन्तर्भूत हैं, वास्तव में ये कुछ भी नहीं हैं ॥५९॥

जगत् कारण से उत्पन्न नहीं है, किन्तु शान्त अजन्मा ब्रह्म ही इस प्रकार जगद्रूप से स्थित है, यह बोध ही तुरीयता है ॥६०॥

अद्वितीय ब्रह्म में सृष्टि के जन्मकारणों का संभव न होने से सृष्टि अतिरिक्त रूप से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु चित् के जगदाकार चेतन ने ही स्वभावतः स्वयं सर्गसंवित् वैसे ग्रहण की है जैसे कि जल द्रवता ग्रहण करता है ॥६१॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३७॥

१३८

तापस उवाच

गन्तुमेवं विचार्याऽहं ततस्तत्संविदैकताम् ।
प्रवृत्तश्चौतमाब्जेन सौरभेणेव सौरभम् ॥१॥
यावत्तच्चेतनं तस्य तमोजोधातुमत्यजम् ।
प्रवृत्तं बाह्यसंवित्तौ समस्तेन्द्रियसंविदा ॥२॥
संविदः संविदा गृह्णंस्ता बाह्योऽन्तरपि क्षणात् ।
अहं प्रसृतवांस्तत्र तैलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥३॥
तत्संविदि तथैवाऽथ यावत्परिणमाम्यहम् ।
भुवनं दृष्टवांस्तावत्सर्वं द्विगुणितं स्थितम् ॥४॥
दिशो द्विगुणतां यातास्तपतस्तपनावुभौ ।
भूमण्डले द्वे संपन्ने द्वे वै द्यावौ समुत्थिते ॥५॥
वदनप्रतिबिम्बे द्वे दर्पणप्रतिबिम्बिते ।
यथा भातस्तथा भाते मिश्रिते ते जगच्चितम् ॥६॥
तैलवद्भाति कोशस्थं यच्चेतनतिलद्वये ।
तस्मिञ्जगदद्वयं तत्तत्तथा भाति विमिश्रितम् ॥७॥
संविद्द्वितयकोशस्थे मिश्रिते अप्यमिश्रिते ।
ते उभे जगती भाते समे क्षीरजले यथा ॥८॥
निमेषाद् दृष्टमात्रेण सा तत्संविन्मया ततः ।
सकलैवाऽऽत्मतां नीता परिमित्येव संविदा ॥९॥
ऋतुर्ऋत्वन्तरेणेव सरितेवाऽल्पिका सरित् ।
वातेनाऽऽमोदलेखेव धूमलेखेव वार्मुचा ॥१०॥
एकत्वेनाऽऽशु संवित्तेर्ययौ मे जगदेकताम् ।
दुर्दृष्टेर्द्विवपुश्चन्द्रः सुदृष्टेरेकतामिव ॥११॥
ततो मे तच्चितिस्थस्य स्वं विवेकमनुज्झतः ।
अल्पीभूतः स्वसंकल्पस्तत्संकल्पस्थितिं गतः ॥१२॥

१३८

महामुनि ने कहा—इस प्रकार जाग्रत् से लेकर तुरीयपर्यंन्त अवस्थाओं का रहस्य विचार कर मैं उस प्राणी के चिदाभासरूप जीव के साथ एकीभाव को प्राप्त करने के लिए वैसे ही प्रवृत्त हुआ जैसे कि फूले हुए आम्र-वृक्ष की सुगन्धि वायु द्वारा कमल के तालाब में पहुँचकर वायु स्थित कमल सुगन्ध के साथ एकता को प्राप्त होने के लिए प्रवृत्त होती है ॥१॥

मैंने उस प्राणी के चिदाभास में प्रवेश करने के लिए ज्योंही तेजाधातु का (ओज का) परित्याग किया, त्योंही मेरी सकल इन्द्रियरूप संवित् बहिर्मुख व्यापार में बलात् प्रवृत्त हो गई ॥२॥

अनन्तर बहिर्मुख व्यापार में प्रवृत्त हुई सकल इन्द्रियों का अन्तः व्यापार में उन्मुख प्रयत्न से जबर्दस्ती निग्रह कर रहा मैं एक क्षण में वैसे ही भीतर भी फैल गया जैसे कि तैल-बिन्दु जल में फैलता है ॥३॥

इस प्रकार उपाधि में व्याप्त होकर मैं ज्योंही उस प्राणी के चिदाभास संविद् में मिलने से परिणत हुआ उसी समय उसकी वासना और मेरी वासना—दोनों के अन्दर भासने से सारा भुवन मुझे दुगुना दिखाई पड़ा ॥४॥

सब दिशाएँ दुगुनी हो गई, दो सूर्य तपने लगे, दो भूमण्डल बन गये और द्युलोक भी दो हो गये, मिले हुए वे भासमान हुए उससे जगत् वैसे ही द्विगुणित हो गया जैसे दर्पण के अन्दर प्रतिबिम्बित मुख के दो प्रतिबिम्ब भासमान होता है ॥५, ६॥

दो चेतनरूपी तिलों में तेल की तरह विज्ञान कोश में जो भान होते हैं उन संमिश्रित उपाधियों में स्थित दो चिदाभासों में द्विगुणभूत तत्-तत् जगत् उस प्रकार मिश्रित प्रतीत होता है ॥७॥

चिदाभास रूप दो जीवों के विज्ञानमय कोष में स्थित तथा मिश्रित होने पर भी वासनाओं के मिश्रित न होने के कारण अमिश्रित वे दोनों जगत् दूध और जल के समान एक से प्रतीत हुए ॥८॥

मैंने देखते ही उस प्राणी के चिदाभास रूप जीव को अपने जीव से परिच्छिन्न कर दो उपाधियों में एकता के स्थापन द्वारा वैसे ही अपने में मिला लिया जैसे कि दूसरी ऋतु पहले की ऋतु को अपने में मिला लेती है, जैसे बड़ी नदी छोटी नदी को आत्मसात् कर लेती है, जैसे वायु सुगन्धि को अपने में मिला लेता है और जैसे मेघ धूम-पङ्क्ति को अपने में मिला लेता है ॥९, १०॥

पहले वासनाओं के अमिश्रणवश जो जगद् मुझे द्विगुण दिखाई पड़ता था वासनाओं के भी मिश्रण द्वारा एकीकरण से संवित् के अत्यन्त अभिन्न (एक) होने पर वह भी वैसे ही आज एकता को प्राप्त हो गया जैसे नेत्र में विकार होने से दुर्दृष्टिवश दो स्वरूपों में दिखाई देने वाला चन्द्रमा विकार की निवृत्ति होने से सुदृष्टिवश एक हो जाता है ॥११॥

अनन्तर जब कि मैं उस प्राणी के चिदाभास में स्थित हो चुका था और अपना निजका पूर्वापर विचार भी मैंने छोड़ा न था, उस अवस्था में उस प्राणी की संकल्पानु-सारिणी स्थिति को पहुँचा हुआ मेरा संकल्प स्वल्प हो गया अर्थात् घटते-घटते नाममात्र रह गया ॥१२॥

तच्चित्तवृत्त्यैव ततो बाह्यमालोकयंस्ततः।
अभुञ्जि तद्दिनाचारं तत्तद्धृदयमत्यजन् ॥१३॥
ततो यदृच्छयैवाऽसौ शनैर्निद्राकुलोऽभवत्।
पद्मः सायामवाऽऽपीय पयो भुक्त्वाऽन्नमुच्छ्रमः ॥१४॥
प्रसृतं दिग्निकुञ्जेषु रूपालोकक्रियाकरम्।
सजहार बहिश्चित्तं सायमर्को रुचिं यथा ॥१५॥
सह चित्तेन तास्तस्य समस्तेन्द्रियवृत्तयः।
हृत्कोशमविशञ्छन्नाः कूर्मस्येवाङ्गसंधयः ॥१६॥
मुद्रिता हृदयाकारास्त आसंश्चक्षुरादयः।
लोष्टरूपा मृतावेव लिपिकर्मार्पिता इव ॥१७॥
अहं तच्चित्तवृत्त्यैव सहसोन्नम्य तत्स्थितः।
तच्चित्तानुविधायित्वात्तत्तद्धृदयमाविशम् ॥१८॥
संहृत्य बाह्यानुभवमन्तरेव तदोजसि।
क्षणमन्वभवं शून्यं सुषुप्तं तल्पकोमले ॥१९॥

उसके अनन्तर वहाँ पर उस प्राणी की चित्तवृत्ति से ही उसके भोग्य शब्द आदि विषयों का अवलोकन कर रहे मैंने उसके हृदय का परित्याग न करते हुए उस प्राणी के जाग्रद्व्यवहार रूप दिनचर्या का अनुभव किया ॥१३॥

तदनन्तर सायंकाल के समय जैसे कमल संकोच को प्राप्त होता है वैसे ही वह प्राणी अन्न खाकर, जल पीकर तथा दिन के कार्यों से थककर स्वेच्छा से ही धीरे-धीरे निद्रादेवी की गोद में चला गया ॥१४॥

निद्रा के आरम्भ में उसके प्राण ने बाहर दसों दिशाओं में फैले हुए रूपादि विषयों के दर्शन में संलग्न अपने चित्त को जैसे सूर्य सायंकाल के समय अपनी आभा को बटोर लेते हैं वैसे ही बटोर लिया ॥१५॥

अनन्तर चित्त के साथ सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ संकुचित होकर कछुए के अङ्गों की तरह हृत्कोश में प्रविष्ट हो गईं ॥१६॥

चक्षु आदि इन्द्रियाँ संकोच को प्राप्त होकर हृदय-पद्माकार हो गईं। मृत्यु होने पर पथराई हुई-सी वे चित्रलिखित की तरह व्यापार शून्य हो गईं ॥१७॥

उसमें स्थित मैं उसके चित्त का अनुगामी था, अतएव उसकी चित्तवृत्ति के साथ ही उसकी इन्द्रियों का सहसा त्याग कर उसकी नाड़ियों द्वारा उसके हृदय में प्रविष्ट हो गया ॥१८॥

बाहरी अनुभव को हटाकर भीतर ही शय्या के समान कोमल उसके ओज में अर्थात् पूर्वोक्त तेज के अन्दर स्थित आनन्दमय कोश में शून्य रूप सुषुप्ति का मैंने क्षणभर अनुभव किया ॥१९॥

कलमान्नपानबहुलैर्निविडास्वपि नाडिषु।
सुषिरास्वेव वायुर्न निर्यात्येव याति च ॥२०॥
यदा तदात्मकात्मैकपरो हृदि सहस्थितम्।
अप्रधानीकरोत्येतच्चित्तं स्वार्थस्वभावतः ॥२१॥
स्वार्थमात्रोऽद्य तस्याऽन्तः परकृत्यं न कस्यचित्।
कचति स्वार्थसत्तायामेतदेव वपुर्यतः ॥२२॥

श्रीराम उवाच

मनः प्राणवशादेव मनुते किं महामुने !।
स्वरूपं मनसो नाऽस्ति तस्मात्तत्केवलं च किम् ॥२३॥

वसिष्ठ उवाच

देह एवेह नाऽस्त्येव स्वानुभूतोऽप्ययं निजः।
मनसः कल्पनात्मेदं वपुः स्वप्ने गिरिर्यथा ॥२४॥

उस समय समान नाम का वायु छिद्रयुक्त अत्यन्त घनी नाड़ियों में भ्रान्ति से तथा बहुत से अन्नजल रस के विकारों से यत्र तत्र रुकावट पड़ने से बाहर तो निकलता ही नहीं, फिर भी अतिमन्द गति से संचार करता है ॥२०॥

जब इस प्रकार की सुषुप्ति होती है तब प्राण प्राणरूप अद्वितीय संप्रसन्न जो आत्मा केवल उसमें परायण होकर पुरीतत् नाड़ी में प्रवेशकर अपने साथ स्थित चित्त को अप्रसर अपने आयत्त कर लेता है, क्योंकि प्रत्यगात्मरूप परमार्थ या पुरुषार्थ का ऐसा ही स्वभाव है। उक्त स्वभाववश परिशेषरूप सुखविश्रान्ति में वह आसक्त रहता है, ॥२१॥

निरतिशय आनन्द स्वरूप स्वार्थ सत्ता में (सुषुप्ति में) यही निरतिशयानन्दस्वरूप विकसित होता है, विक्षेप दुःख का लेश भी उस समय नहीं रहता, इसलिए उसके अन्दर स्वार्थ मात्र परकृत्य नहीं करता है ॥२२॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे महामुने ! मन इस समय में भी प्राणवश ही मनन आदि व्यापार करता है। यदि प्राण द्वारा स्वायत्तीकृत होकर मनन आदि व्यापार नहीं करता है तो इस समय में भी क्यों नहीं करता, क्योंकि प्राण से पृथक् किये हुए मन का कुछ स्वरूप नहीं है, इसलिए प्राणविनिर्मुक्त मन क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है ॥२३॥

वसिष्ठ ने कहा—यह शरीर भी वैसे ही मन की कोरी कल्पना है स्वानुभूत भी यह अपना शरीर वास्तव में नहीं ही है, क्योंकि जैसे स्वप्न में मन अपने अन्दर ही पर्वत की कल्पना करता है इसलिए मन से पृथक्कृत शरीर का अस्तित्व नहीं अर्थात् अधिष्ठानमात्र से पृथक् करने पर देह, प्राण आदि जगत् का कुछ भी स्वरूप नहीं टिकता, उससे

तच्चित्तमपि नाऽस्त्येव चेत्यार्थाभावयोगतः।
सर्गादौ कारणाभावाद् दृश्यानुत्पत्तिहेतुतः ॥२५॥

अतः सर्वमिदं ब्रह्म तच्च सर्वात्मकं यदा।
तदा विश्वमिदं विष्वगस्त्येव च यथास्थितम् ॥२६॥

अस्ति चित्तादि देहादि तद् ब्रह्मैव च तद्विदाम्।
यादृक्तत्तद्विदामेतदस्माकं विषये न तत् ॥२७॥

यथेदं त्रिजगद् ब्रह्म यथेति विविधात्मकम्।
अत्रेमं राजपुत्र त्वं वर्ण्यमानं क्रमं शृणु ॥२८॥

अस्ति चिन्मात्रममलमनन्ताकाशरूपि यत्।
सर्वदा सर्वरूपात्म न जगन्न च दृश्यता ॥२९॥

सर्वविस्त्वात्तु तेनेदं मनस्त्वं चेतितं स्वतः।
रूपमत्यजता शुद्धं बुद्धमाधिविवर्जितम् ॥३०॥

मनसा कल्पितं तेन यद्वै सरणमात्मनः।
तदेतत्प्राणपवनं विद्धि वेद्यविदांवर ॥३१॥

प्राणतैषा यथा तेन कल्पितेवाऽनुभूयते।
तथैवेन्द्रियदेहादि दिक्कालकलनादि च ॥३२॥

इति विश्वमिदं विष्वक् चित्तमात्रमखण्डितम्।
चित्तं तु चित्परं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मेदमाततम् ॥३३॥

अनाकारमनाद्यन्तमनाभासमनामयम्।
शान्तं चिन्मात्रसन्मात्रं ब्रह्मैवेदं जगद्वपुः ॥३४॥

सर्वशक्ति परं ब्रह्म मनःशक्त्या यथास्थितम्।
यत्र तत्र तथारूपं स्वमेवाऽनुभवत्यलम् ॥३५॥

संकल्पात्म मनो ब्रह्म संकल्पयति यद्यथा।
तत्तथैवाऽनुभवति सिद्धमाबालमीदृशम् ॥३६॥

अपृथक् करने पर तो उसकी सत्ता से सब कुछ है ही। ऐसी स्थिति में प्राण से पृथक्कृत अकेले मन का अस्तित्व नहीं है, ऐसी आपने जो शङ्का की, वह छोटी शङ्का है ॥२४॥

चेत्य पदार्थों का अभाव होने के कारण उक्त चित्त का भी अस्तित्व नहीं ही है। यदि कहो कि पूर्व-पूर्व चेत्य चित्त-निरूपक होगा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से दृश्य की उत्पत्ति ही नहीं हैं अर्थात् इसी प्रकार चित्त भी चेत्य पदार्थों से निरूपणीय है, अतः चेत्य पदार्थों का अभाव होने पर चेत्यपृथक्कृत चित्त का स्वरूप नहीं है, यह भी सुखेन कहा जा सकता है ॥२५॥

अतः यह सब ब्रह्म है, जब ब्रह्म सर्वात्मक है तब यह विश्व चारों ओर यथार्थतः है ही अर्थात् ब्रह्म सर्वात्मक है इस कारण यदि उसकी सत्ता से मन आदि का अस्तित्व कहिये, तो मन आदि सब वस्तुएँ हैं ही ॥२६॥

चित्त, देह आदि सब कुछ है ही ब्रह्मज्ञों की दृष्टि से वह सब ब्रह्म ही है जो ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं, उनकी दृष्टि में यह चित्त, देह आदि जैसा है वह हम तत्त्वज्ञानियों की समझ के बाहर की बात है ॥२७॥

हे राजकुमार श्रीरामजी! जैसे यह त्रिजगत् ब्रह्म ही है और जैसे यह विविध रूप है इस विषय में आगे कहा जा रहा अध्यारोप-क्रम आप सुनिये ॥२८॥

निर्मल, अनन्ताकाश स्वरूप, सनातन और सर्वस्वरूप चिन्मात्र ही है, न जगत् है और दृश्यता है ॥२९॥

सर्वज्ञ होने के कारण उक्त चिन्मात्र ने मानसिक पीड़ा से शून्य अपने शुद्ध-बुद्धस्वरूप का त्याग किये बिना ही स्वमें मनस्त्व का अध्यारोप किया ॥३०॥

मन से उसने जो अपने संचरण की कल्पना की, हे श्रेष्ठतम वेदज्ञ, उसे आप प्राण वायु जानिये ॥३१॥

इन्द्रिय, देह आदि और दिशा, काल आदि को भी कल्पित से वैसे ही जानता है जैसे इस प्राणता को वह कल्पित सी जानता है ॥३२॥

इस प्रकार यह सारा का सारा विश्व चारों ओर केवल चित्त ही ठहरता है, उससे अतिरिक्त नहीं, चिद-धिष्ठि चित्त तो ब्रह्म ही है, इससे सिद्ध हुआ कि यह विस्तृत जगत् ब्रह्म ही है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३३॥

निराकार, अनादि, अनन्त, निर्दोष शान्त सन्मात्र, चिन्मात्र ब्रह्म ही जगद्रूप से स्थित है ॥३४॥

चूंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, वह प्राथमिक मनःशक्ति से पूर्वसिद्ध अपने स्वरूप का ही यत्र-तत्र जागरण या स्वप्न में जगत् के रूप से अनुभव करता है ॥३५॥

संकल्पात्मक मन ही कार्य ब्रह्म है वैसे भू आदि लोकों की और अन्यान्य वस्तुओं की कल्पना करता है; यह बात बालकों तक को ज्ञात है ॥३६॥

प्राणीकृतः स्वयमयं ननु चेतसाऽऽत्मा
देहीकृतस्त्रिभुवनीकृत एव नाऽऽद्यः ।
देहीकृतः खपुरेव गिरीकृतश्च
स्वप्नेषु कल्पितपुरीष्वनुभूतमेतत् ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गते विपश्चिदुपाख्याने चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३८॥

आकाश स्वरूप चेतनात्मा आदि पुरुष ने अपने स्वरूप को पहले चित्त से ही प्राणी बनाया, उसी तरह उसे देही बनाया, पर्वत बनाया और त्रिभुवनरूप किया, स्वप्नों में कल्पित अपने-अपने शरीर में यह बात सबको अनुभूत है, इसे ही उक्त अर्थ में उदाहरण समझे ॥३७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में चित्तसर्वात्मकताप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३८॥

१३९

वसिष्ठ उवाच

चित्तमेव जगत्कर्तृ सङ्कल्पयति यद्यथा ।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥१॥

तेन सङ्कल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनाऽनेन तेन तत्तत्परायणम् ॥२॥

अहं कतिपयं कालं ननु प्राणविनाकृतः ।
न भवामि पुनर्नूनं भवाम्येवेति कल्पितम् ॥३॥

यत्र तेनाऽङ्ग तत्रैतत्प्राणेनाऽऽशु क्षणाद्वपुः ।
उदितं पश्यति मनो मायापुरमिवाऽऽततम् ॥४॥

न भवाम्येव भूयोऽहं प्राणदेहविनाकृतः ।
दृढनिश्चयभागित्थं चितो भवति नो पुनः ॥५॥

१३९

श्रीवसिष्ठ ने कहा—वास्तव में चित्त ही जगत् का रचयिता है । वह जिसका—चाहे वह असत् (मिथ्या) हो, चाहे सत् (व्यावहारिक सत्) हो, चाहे सदसत् (प्रातिभासिक) हो—जैसा संकल्प करता है, वह उसके सामने वैसे ही खड़ा होता है । अर्थात् चित्त सदा ही प्राण के अधीन है यह स्वीकार कर अध्यारोप क्रम से चित्त की प्रथमोत्पत्तिमात्र से जाग्रत् और प्राण दोनों की प्रधानता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्राण की ही प्रधानता है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान पहले किया जा चुका । इस समय प्राण आदि सकल जगत् के निर्माण में चित्त की ही, स्वतन्त्रता होने से, चित्त ही प्रधान है; लेकिन सुषुप्ति के आरम्भकाल में चित्त श्रान्त होने के कारण चेष्टा करने में असमर्थ रहता है, एतावता अपनी विश्रान्ति के लिए ही वह प्राण की प्रधानता स्वीकार करता है ॥१॥

चित्त ने प्राण का संकल्प किया, प्राण ही मेरी गति मेरे सकल व्यवहारों का निर्वाहक है और उसके बिना मैं नहीं टिक सकता, यह भी उसने कल्पना की ; इसी कारण चित्त प्राणाधीन कहलाता है ॥२॥

सचमुच मैं प्राण के बिना टिक नहीं सकता हूँ, किन्तु स्वप्न, मनोराज्य आदि की देहों में कुछ काल के लिए प्राण के बिना भी अवश्य रह सकता हूँ, ऐसी भी उसने कल्पना की ॥३॥

जहाँ-जहाँ मन ने प्राण के साथ शरीर की कल्पना की, वहाँ-वहाँ सर्वत्र तुरन्त माया से कल्पित नगर के समान विस्तृत इस जगज्जाल को उदित हुआ वह देखता है ॥४॥

देह और प्राण की कल्पना करने के बाद मैं फिर कभी-भी देह और प्राण से वियुक्त होकर नहीं टिक सकता, अन्दर ऐसा दृढ निश्चयवाला वह जीव हो जाता है किन्तु मैं चिन्मात्र स्वभाव हूँ ऐसा दृढ निश्चयवान् फिर नहीं होता ॥५॥

दोलायितं तु संदेहाद् दुःखमास्ते कुनिश्चयम्।
विकल्पेनैवमस्यैतज्ज्ञानान्नाऽल्पेन यास्यति ॥६॥
यस्याऽयमहमित्यस्ति तस्य तन्नोपशाम्यति।
वर्जयित्वाऽऽत्मविज्ञानं केनचिन्नाम हेतुना ॥७॥
नाऽन्यत्र प्रथते ज्ञानं मोक्षोपायविचारणात्।
ऋते तस्मात्प्रयत्नेन मोक्षोपायो विचार्यताम् ॥८॥
किलाऽहमिदमित्येव नाऽविद्या विद्यते क्वचित्।
मोक्षोपायादृते नैतत्कुतश्चिदयतेऽन्यतः ॥९॥
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत्।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥१०॥
देहे सौम्ये स्थिते प्राणे मनो मननवद्भवेत्।
क्षुब्धे प्राणगतं क्षोभं पश्यन्नाऽन्यत्प्रपश्यति ॥११॥

सन्देहवश झूले की भाँति कभी एक पक्ष में कभी दूसरे असत् पक्ष में डोलनेवाला कुत्सित निश्चयों से दूषित चित्त दुःखी रहता है। इस तरह का इसका अत्यन्त दृढ यह भ्रान्ति ज्ञान तत्त्वज्ञान से सिवा विकल्प से कदापि नहीं रहेगा। अर्थात् इसलिए अल्प विचार वश उत्पन्न हुए संशय प्राय अज्ञान से निस्तार पाना कठिन हो जाता है, क्योंकि विपरीत दृढ निश्चय के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती ॥६॥

जिस पुरुष का यह मैं हूँ इस प्रकार का भ्रान्ति ज्ञान है, उसका वह भ्रान्ति ज्ञान आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी साधन से शान्त नहीं हो सकता है ॥७॥

मोक्ष-प्राप्ति उपायभूत शास्त्र के विचार के बिना अन्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए यत्नपूर्वक मोक्षोपायभूत इस शास्त्र का निरन्तर विचार करना चाहिये। अर्थात् दृढतर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए यह ग्रन्थ ही उत्तम उपाय है ॥८॥

'अहम्' (मैं) 'इदम्' (यह) यह द्वैत ही अविद्या है, इससे अन्य अविद्या कहीं भी नहीं है, उक्त अज्ञान मोक्षोपाय के सिवा अन्य किसी भी साधन से विनष्ट नहीं होता है ॥९॥

मन ने जैसा अभ्यास किया वैसा ही उसको प्राप्त हुआ। प्राण ही मेरा जीवन है परम प्रिय है इस तरह मन ने खूब अभ्यास किया था, इसलिये मन प्राण की अधीनता में स्थित है ॥१०॥

देह के सौम्य रहने पर देहगत सौम्यता को प्राण में देख रहा मन मनन करता है। देह में क्षोभ होने पर देहगत क्षोभ को प्राण में देख रहे मन को अन्य कुछ या आत्मतत्त्व विवेक नहीं दिखाई देता। अर्थात् इसी तरह मन देह के अधीन भी है ॥११॥

यदा स्वकर्मणि स्पन्दे व्यग्रः प्राणो भृशं भवेत्।
तदा तदीहितव्यग्रः प्राणो नाऽऽत्मोद्यमी भवेत् ॥१२॥
एते हि प्राणमनसी त्वन्योन्यं रथसारथी।
के नाम नाऽनुवर्तन्ते रथसारथिनौ मिथः ॥१३॥
इत्यादिसर्गे स्वात्मैव चेतितः परमात्मना।
तेनैषाऽद्याऽपि नियतिर्नाऽबुधानां निवर्तते ॥१४॥
देशकालक्रियाद्रव्यैर्मनःप्राणशरीरिणाम् ।
प्रयान्त्यधिगता देहेष्वरूढानां परे पदे ॥१५॥
स्वं प्राणमनसी साम्यात्कुर्वती कर्म तिष्ठतः।
वैषम्याद्विषमं चेकं शान्ते शान्ता सुषुप्तता ॥१६॥
यदाहारादिरुद्धासु नाडीषु क्वाऽपि पिण्डितः।
शान्तमास्ते जडः प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥१७॥

जब प्राण स्पन्दरूप अपने कार्य में खूब व्यग्र रहता है तब मन के ईहितों (इतस्ततः संचारों में) व्याकुल हुआ प्राण आत्मज्ञान के लिए उद्योगशील नहीं हो सकता। अर्थात् प्राण निरोधाभ्यास के बिना कदापि आत्मज्ञानोन्मुख नहीं हो सकता ॥१२॥

ये प्राण और मन परस्पर रथ और सारथी हैं। कौन ऐसे रथ और सारथी हैं जो परस्पर एक दूसरे का अनुसरण नहीं करते अर्थात् जैसे रथ और सारथी एक दूसरे का अनुसरण करते हैं वैसे ही मन और प्राण भी आपस में अनुसरण करते हैं ॥१३॥

परस्पर एक दूसरे का स्वभावतः अनुसरण करने वाले प्राण और मन का रूप धारण किये हुए परमात्मा ने सृष्टि के आदि में इसी तरह आत्मा का संकल्प किया। इस कारण अज्ञानियों की यह प्रकृति आज भी निवृत्त नहीं होती है ॥१४॥

परम पद में आरूढ़ न हुए अर्थात् अव्युत्पन्न मन, प्राण और जीवों के देहों में देश, काल, कर्म और द्रव्यों से प्राप्त हुए विविध व्यवहार प्रवृत्त होते हैं ॥१५॥

प्राण और मन जब तक समान रूप से अपना कार्य करते रहते हैं तब तक समान व्यवहाररूप जाग्रत् चलता है, जब प्राण इन्द्रियों को प्रेरित करने से विरत होकर विषमता को प्राप्त होता है तब विषम स्वप्न नाम का केवल मानस व्यवहार चलता है और मन के शान्त होने पर सकल विक्षेपों की शान्तिरूप सुषुप्ति चलती है ॥१६॥

नाडियों के अन्नरस, पित्त आदि द्वारा रुद्ध होने पर संकुचित प्राण जब मन्दगति होकर कहीं पर शान्त होकर रहता है तब मन की शान्ति से सुषुप्ति का उदय होता है ॥१७॥

नाडीष्वन्नावपूर्णासु तथा क्षीणासु वा क्लमात् ।
निःस्पन्दस्तिष्ठति प्राणस्तदोदेति सुषुप्तता ॥१८॥
नाडीनां मृदुरूपत्वात्पूर्णत्वाद्वा व्रणोदरे ।
क्वाऽपि प्राणे स्थिते लीने निःस्पन्दऽऽस्ते सुषुप्तता ॥१९॥

तापस उवाच

अथ यस्य प्रविष्टोऽहं हृदये सोऽभवन्निशि ।
सुषुप्तघननिद्रालुराहारपरितृप्तिमान् ॥२०॥
तेन सार्धमहं तत्र तच्चित्तेनैकतां गतः ।
सुषुप्तनिद्रां सुघनां गुणीभूतोऽनुभूतवान् ॥२१॥
ततोऽन्धस्यस्य जीर्णेऽन्तर्नाडीमार्गे स्फुटे स्थिते ।
प्राकृते स्पन्दिते प्राणे सषुप्तं तनुतां ययौ ॥२२॥
सुषुप्ते तनुतां याते हृदयाब्धिव निर्गतम् ।
अपश्यमहमत्रैव भुवनं भास्करादिमत् ॥२३॥
तच्च क्षुब्धार्णवोत्थेन पूर्यमाणं महाम्भसा ।
विमुक्तेनेव कल्पाभ्रैरभ्रङ्कषतरङ्गिणा ॥२४॥

नाडियों के अन्नरस आदि से पूर्ण होने अथवा श्रमवश कमजोर हो जाने पर जब प्राण गति रहित हो जाता है तब सुषुप्ति का उदय होता है ॥१८॥

मर्दनवश नाडियों के कोमल होने से अथवा बाण की चोट, घाव, व्रण, रुधिर आदि से भर जाने से प्राण के कहीं विलीन होने पर निस्पन्द सुषुप्ति होती है अर्थात् मर्दनवश नाडियों में मृदुता आने एव बाण के घाव, व्रण आदि से पूर्ण होने से भी सुषुप्ति होती है ॥१९॥

तापस ने कहा—अनन्तर जिसके हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था, वह रात्रि के समय आहार से खूब तृप्त होकर सुषुप्ति के समान घनी निद्रा से सम्पन्न हुआ ॥२०॥

वहाँ पर मैं उसके चित्त के साथ अभेद को प्राप्त हो गया था, अतएव मैंने अपनी स्वतन्त्रता का त्यागकर उस प्राणी के साथ सुषुप्ति की खूब गाढ़ी नींद का अनुभव किया ॥२१॥

इसके पश्चात् उस प्राणी के उदरस्थ अन्न के पच जाने पर नैसर्गिक नाडीमार्ग में स्पष्ट हुए प्राण का जब संचार होने लगा तब सुषुप्ति गाढ़ी निद्रा कुछ हलकी हुई ॥२२॥

सुषुप्ति के हलकी होने पर मैंने सूर्य आदि से युक्त भुवन को, जो हृदय से प्रादुर्भूत हुआ-सा था, वहीं पर देखा ॥२३॥

उस भुवन को मैंने प्रलय काल में क्षुब्ध हुए महासागर से निकली हुई जल राशि से पूर्यमाण देखा। वह जलराशि ऐसी वैसी न थी, प्रलय काल के मेघों द्वारा

प्रोह्यत्पर्वतपूरेण महावर्तविराविणा ।
वहद्वनालीतृण्याढचैर्व्याप्तेनोन्मूलितागया ॥२५॥
पूर्वमेवाऽवदग्धायास्त्रिलोक्याः खण्डखण्डकैः ।
पूर्णेन परितः प्रौढैः खपुराद्रिमहीमयैः ॥२६॥
अहं तत्रैव पश्यामि यावत्कस्मिंश्चिदास्पदे ।
कस्यांचित्पुरि कस्मिंश्चिद् गृहे बध्वा पुरे स्थितः ॥२७॥
सदारः सहभृत्योऽहं सपुत्रः सहबान्धवः ।
सहभाण्डोपस्करणः सगृहोऽपहृतोऽम्भसा ॥२८॥
उह्यमानं क्षयाम्भोभिस्तद् गृहं तच्च पत्तनम् ।
लङ्घ्यमानं द्रुमाकारैः पूर्यमाणं च वारिभिः ॥२९॥
बृहत्कलकलारावं जेतुमब्धिमिवोद्यतम् ।
अतिक्षुभितवास्तव्यमनपेक्षितपुत्रकम् ॥३०॥
आवर्ततरलाढ्याभिर्वृत्तिभिर्व्यूढमाकुलम् ।
साक्रन्दोरस्ताद‍ृनोत्कजनजम्बालभीषणम् ॥३१॥

मूसलाधार वृष्टि से छोड़ी हुई-सी थी, उसमें आकाश छूने वाली बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठ रही थीं, उसके प्रवाह में पर्वत बहे जा रहे थे, बड़े-बड़े आवर्तों से महान् कोलाहल हो रहा था, वही जा रही वनराजिरूप तृणराशि से पूर्ण पर्वत चारों ओर बिखरे थे, वृक्ष और पर्वतों तक को उखाड़ कर फेंक देने वाली आँधी से तथा अग्नि की ज्वाला से पहले ही जलकर खाक हुई त्रिलोकी के बड़े-बड़े खण्डों से, जो आकाश में स्थित देवताओं के नगरों, पर्वतों और भूमि के भग्नावशेष थे, वह चारों ओर भरी हुई थी ॥२४-२६॥

वहीं पर मैं देखता हूँ कि मैं किसी एक देश में किसी नगरी में किसी घर में बहू के साथ बैठा हूँ, उक्त जल ने मुझे स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, नौकर-चाकर, साज-समान, घर-बार के साथ बहा दिया। वह घर और वह नगर प्रलय काल की जल राशि द्वारा बहाया जा रहा था, पेड़ के आकार की ऊँची-ऊँची लहरें उसे लांघ रही थीं, जल राशि उसे चारों ओर से भर रही थी, उसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था। अतएव वह घर और नगर सागर को जीतने के लिए कटिबद्ध-सा मालूम पड़ता था। उस घर के निवासी लोग अत्यन्त उत्पीड़ित थे, और तो और अपने बाल-बच्चों की भी किसी को सुधि न थी। आवर्तों से वह बहाया गया था, रोने चिल्लाने के साथ-साथ छाती कूटने में संलग्न लोगों से तथा कीचड़ से वह बड़ा भयावना लगता था। ढह रही दीवारों, फूट रहे काठों और टूट रही कीलों का उसमें घोर शब्द हो रहा था, छत, छप्पर

स्फुटत्कुड्यत्रुटत्काष्ठरटच्छङ्कृतोद्भटम् ।
प्रपतच्छादनच्छत्रगवाक्षस्थाङ्गनामुखम् ॥३२॥
इति यावत्क्षणं पश्यन्नहं तद्भावमागतः ।
परिरोदिमि दीनात्मा तावत्तत्सकलं गृहम् ॥३३॥
चतुर्धा भित्तिभेदेन वृद्धबालाङ्गनान्वितम् ।
जगाम शतधा वीच्यां शिलायामिव निर्झरः ॥३४॥
उह्यमानोऽहमभवं ततः प्रलयवारिणि ।
त्यक्तसर्वसलत्रादिचित्तः प्राणपरायणः ॥३५॥
क्षिप्तस्तरङ्गजालेन योजनाद्योजनव्रजे ।
उह्यमानद्रुमशिखाज्वालान्तरितजर्जरः ॥३६॥
काष्ठकुड्यतटीपीठकटुसंघट्टघट्टितः ।
आवर्तनृत्यपातालतले गत्वोत्थितश्चिरात् ॥३७॥
चलाचलागमापायवलद्गुलुगुलारवे ।
जले बहुलकल्लोले मग्नोन्मग्नः पुनः पुनः ॥३८॥

और खिड़कियों पर बैठी हुई स्त्रियों के मुँह इतस्ततः गिर रहे थे ॥२७-३२॥

इस प्रकार का तमाशा क्षण भर देख रहा, बहाव के चपेटे में पड़ा हुआ मैं दीनहीन होकर रोने ही लगा था कि घर की दीवारों के चारों ओर से ढहने के कारण बालक, बूढ़े और स्त्रियों से पूर्ण वह सारा का सारा घर पत्थर पर गिरे हुए झरने के समान तरङ्गों में पड़कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। तदनन्तर प्रलय की जलराशि में मैं उतराने लगा। स्त्री आदि किसी का भी मुझे स्मरण तक न रहा, अपने प्राण बचाने की ही मुझे चिन्ता थी ॥३३-३५॥

तरङ्गों ने एक योजना से सैकड़ों योजन दूर मुझे फेंक दिया। जल में तैर रहे वृक्षों की चटियों में धधक रही अग्नि ज्वालाओं के भीतर पड़ने से मेरा शरीर जर्जर हो गया। काठ, दीवार, तट तख्ते आदि की असह्य टक्कर लगने से मेरा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। मैं कभी आवर्तों के भ्रमणों में पड़कर पाताल पहुँचकर बहुत देर बाद ऊपर उतराया ॥३६, ३७॥

प्रचुर तरङ्ग वाली जलराशि में, जिसके चलने, रुकने, आने और हटने से खूब गुड़-गुड़ ध्वनि होती थी, मैं बार-बार डूबता और उतराता था ॥३८॥

संघट्टभग्नशैलेन्द्रपङ्किले सलिले क्षणम् ।
पल्वले वारण इव मग्नः सत्वयसोद्धृतः ॥३९॥
यावदाश्वसिमि क्षिप्रं डिण्डीरे चाऽद्रिखण्डके ।
तावदेत्य हतो वेगाद्वैरिणेवाऽतिवारिणा ॥४०॥
नानावलनकल्लोलजलजालजुषा तदा ।
न तदस्ति न यद्दृष्टं दुःखं दुःखात्मना मया ॥४१॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र तदा तत्तामसेक्षण ।
यावज्जीवचिराभ्यासाद्विषादित्वात्सचेतसः ॥४२॥
प्राक्तनं संस्मृतं रूपं स्वं समाधिमयं मया ।
आ अहो नु जगत्यन्यरूपेऽहं तापसः स्थितः ॥४३॥
अहं कस्यचिदन्यस्य स्वप्नदृष्टिदिदृक्षया ।
प्रविष्टोऽहमयं स्वप्ने पश्यामीमं भ्रमं त्विति ॥४४॥
वर्तमानदृढाभ्यासमिथ्याज्ञानमयात्मनि ।
कल्लोलैरुह्यमानोऽपि ततोऽहं सुखितः स्थितः ॥४५॥

मैं जल के आघात से ढहे हुए ऊंचे पर्वत से कीच-कीच हुए जल में, दल-दल वाले पोखरे में हाथी के समान, क्षणभर डूबा, किन्तु दैववश प्राप्त हुए स्वच्छ जल ने मेरा निस्तार कर दिया ॥३९॥

समुद्र के गाज और पहाड़ के ढोंके पर बैठकर ज्योंही मैं विश्राम लगा त्योंही वैरी की तरह महाजलराशि ने आकर मुझे लथेड़ दिया ॥४०॥

चढ़ना, उतरना, आना, जाना, घूमना आदि विविध क्रियाएँ करने वाली तरङ्गों से पूर्ण उक्त जल राशि के चक्कर में फँसे हुए अतएव दुःखित चित्त वाले मैंने जो दुःख नहीं झेला वह दुःख ही नहीं है अर्थात् सभी दुःख मुझे झेलने पड़े ॥४१॥

हे कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ! तामरसेक्षण इस पाठ में महामुनि (तापस) के वाक्य का अनुवाद कर रहे श्रीवसिष्ठ जी का रामचन्द्रजी के लिए सम्बोधन है। 'तामसेक्षण' इस पाठ में साक्षात् महामुनि का व्याध के लिए सम्बोधन है।) इतने में उस समय वहाँ पर जन्म भर का चिरकालिक अभ्यास होने और चित्त के अत्यन्त खिन्न होने के कारण मुझे समाधिमय अपने पूर्व स्वरूप का स्मरण हो आया। अरे अन्य जगत् में मैं तपस्वी था। किसी दूसरे प्राणी का स्वप्न देखने की इच्छा से उसके हृदय में प्रविष्ट होकर मैं स्वप्न में यह भ्रम देख रहा हूँ ॥४२-४४॥

उसके बाद स्वप्न-प्रपञ्च के दृढ़ अभ्यास के कारण पैदा हुए मिथ्या-ज्ञानमय देह में तरङ्गों द्वारा बहाये जाते हुए भी मैंने सुख की साँस ली ॥४५॥

इदं वारितयाऽपश्यं प्रलयाब्धिविवर्तनाः ।
उह्यमानाद्रिनगरग्रामोर्वीखण्डपादपाः ॥४६॥

उह्यमानामराहीन्द्रनारीनरनभश्चरा ।
उह्यमानमहारम्भलोकपालपुरालयाः ॥४७॥

अथाऽहमद्रिमिश्राम्बुकल्लोलाद्रिविघट्टनाः ।
मुहुः पश्यञ्जगन्नाशमनन्तरमचिन्तयम् ॥४८॥

चित्रमेष त्रिनेत्रोऽपि जीर्णं तृणमिवाऽर्णवे ।
उह्यते हा हतविधेर्नाऽकार्यं नाम विद्यते ॥४९॥

चतुर्धा भित्तिभेदेन प्रकटाशयतामहम् ।
पद्मानीव गृहाण्यप्सु दर्शयन्ति रवेः प्रभाः ॥५०॥

चित्रं तरङ्गवलनासु समुल्लसन्ति
गन्धर्वकिन्नरनरामरनागनार्यः ।
भूरिभ्रमैर्भ्रमरहारमिव ह्रदिन्यः
पद्मिन्य एव सकलामलजङ्गमाख्याः ॥५१॥

विद्याधरीभुजलतावलितेन्दुकान्त-
कक्ष्याविभागमणिजालगवाक्षलक्ष्म्यः ।
देवासुरोरगमहागृहभित्तिभागाः
सौवर्णनौगणवदम्बुभरे भ्रमन्ति ॥५२॥

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमाङ्के
शच्याः पयोधरभरे रतिखेदखिन्नः ।
लग्नः सुखादिव करोति तरङ्गदोलाः
संशीर्यमाणमणिगेहगतोऽत्र शक्रः ॥५३॥

हा वान्ति वारिवलनावलितान्तरिक्ष-
मृक्षावधूतकुसुमप्रकरान्किरन्तः ।
वाताः पतद्विबुधमन्दिररत्नसाना-
वुद्यानकोटरगता इव साक्षतेन ॥५४॥

यन्त्रोत्थहेमदृषदा सदृशाम्बुरूपं
क्षुब्धाद्रिभीमजलवीचिशिखेरितं खे ।
व्यावर्तते दिवि दलावृतकर्णिकास्थ-
ध्यानैकनिष्ठपरमेष्ठिसरोजमेतत् ॥५५॥

प्रलय-काल के समुद्र की यह चहल-पहल, जिसमें पर्वत, नगर, गाँव, भूभाग और पेड़ बह रहे थे, देवता, सर्पराज, नर-नारी तथा आकाशचारी बह रहे थे तथा महान् आरम्भ वाले लोकपालों के नगर और गृह बह रहे थे, सब मैंने मिथ्या ही देखी ॥४६, ४७॥

इसके बाद पहाड़ों से मिश्रित जल-कल्लोलों की पहाड़ों से बार-बार टक्करों का निरीक्षण करते हुए मैंने यह विचार किया ॥४८॥

आश्चर्य है साक्षात् त्रिनयन भी समुद्र में जीर्णशीर्ण पत्ते की तरह बहाये जा रहे हैं। हाय, दुष्ट दैव का कुछ भी अकर्तव्य नहीं है, वह सब कुछ कर सकता है ॥४९॥

जैसे प्रातःकाल जल में सूर्य किरणें विकसित कमल दिखलाती हैं वैसे ही ये घर भी चारों तरफ दीवारों के ढह जाने से प्रकटाशयता की शोभा को दिखा रहे हैं ॥५०॥

विविध विलासों से शोभायमान परागों से सफेद भँवरों की पंक्ति इस प्रकार हार धारण कर रहीं तथा मुख, हाथ, चरण आदि रूप कमल वाली ये गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, देवता और नागों की नारियाँ बहुत से आवर्तों से युक्त, परागधवल भ्रमर पंक्तिरूपी हार धारण कर रही तथा कमलवती नदियाँ ही हैं। प्रसिद्ध नदियाँ न तो सारी की सारी निर्मल ही हैं और न जङ्गम ही हैं, ये तो उनसे विलक्षण हैं, अतएव तरंगराशियों में विचित्र रूप से उल्लसित होती हैं ॥५१॥

प्रलय-काल की जलराशि में देवता, दानव और नागों के प्रासादों की दीवारों के हिस्से, जिनके मणि निर्मित झरहरे झरोखों की शोभाएँ विद्याधरों की रमणियों की भुजलताओं से परिवेष्टित चन्द्रकान्त मणियों में मञ्जिल विभाग ऐसी मालूम पड़ रही हैं, स्वर्णमय नौकाओं के समूह की तरह घूम रहे हैं ॥५२॥

ढह रहे मणिमय महल के अन्दर बैठे हुए ये देवराज इन्द्र इस प्रलय-काल की जलराशि में फँसकर कुङ्कुम-केसर से अङ्कित मदोन्मत्त हाथी के कुम्भ के समान विशाल इन्द्राणी के स्तन मण्डल में रतिजनित खेद से थककर रतिखेद को दूर करने के लिए मानों जलक्रीडा-सुख के लिए तरङ्गरूपी झूले हैं ॥५३॥

हाय ! नक्षत्ररूपी कम्पित कुसुमों को बखेर रहे ये वायु, जलों के वेष्टन से आकाश को वेष्टित कर नहीं देवताओं के विमान गिर रहे हों ऐसे सुमेरु पर्वत के उद्यान की खोह में बैठे और मङ्गल के लिए अक्षत सहित फूलों की वृष्टि कर रहे जनों की भाँति बह रहे हैं ॥५४॥

पर्वत के समान भयानक उमड़ी हुई लहरों की चोटियों द्वारा ऊपर आकाश में फेंका गया, यन्त्र से आकाश में फेंके गये सोने के ढेले के तुल्य यह जल का रूप ब्रह्मलोक में पंखुरियों से वेष्ठित ब्रह्मा के आसनभूत कमल तक, जिसके बीच में ब्रह्मा समाधिस्थ हैं, पहुँचकर लौटता है, बीच से नहीं लौटता ॥५५॥

मेघा इवाऽतिघनघुंघुमघोषभीमा
वीचीचयाः कनकपत्तनविद्युतोऽमी ।
व्योम्नि भ्रमन्ति गजवाजिमृगेन्द्रनाग-
वृक्षाद्रिकाननमहीतलतुल्यदेहाः ॥५६॥

उह्यमानोदभूवीच्यामतसीकुसुमश्रियाम् ।
यमोऽप्ययं यमेनेव वारिपूरेण नीयते ॥५७॥

एते ब्रुडन्ति सलिलेऽखिललोकपाला
नागा नगैश्च नगरैः सह लक्षसंख्याः ।
लक्ष्म्याकरोदरगुहागतवारिपूर-
व्यावर्तनागुडगुडैरभिलक्ष्यपूराः ॥५८॥

दुर्वारवारिवलनापरिपूरितेषु
पातालभूतलनभस्तलदिक्तटेषु ।
मत्स्या इवेन्द्रयमयक्षसुरासुरौघाः
सग्रामपत्तनविमाननगा भ्रमन्ति ॥५९॥

उह्यमानस्य कृष्णस्य तनुरेवाऽम्बुरूपिणी ।
मातृजङ्घेव वत्सस्य कष्टं बन्धनतां गता ॥६०॥

अन्योन्यमावलयतामहो बुडबुडारवः ।
श्रूयते देवदैत्यानां स्वस्त्रीहलहलाकुलः ॥६१॥

कोलाहलाकुलपुरोत्तमवेगपात-
विक्षुब्धवारिपटलीवलितान्तरासु ।
दिक्षु भ्रमज्जलदजालघनास्विवैष
संलक्ष्यते जलमयः स्फुटकुड्यबन्धः ॥६२॥

हा कष्टमेष तरसा पयसाऽपनीत
आवर्तवृत्तिपरिवर्तनया स्वधस्तात् ।
एते कुबेरयमनारदवासवाद्याः
प्राणान्पयोभ्रपटलैर्विधुरास्त्यजन्ति ॥६३॥

प्राज्ञाः प्रशान्तजडदेहमिहोह्यमानं
मानोज्झिताः शवतयैव च तद्वहन्ति ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुपुरखण्डकसंकटाम्बु-
संघट्टनेन कटुकुट्टनदृक्षु तेन ॥६४॥

ये भयानक लहरें, जिनका रूप हाथी, घोड़े, सिंह, सर्प, वृक्ष, पर्वत, वन और खेतों के तुल्य है, आकाश में मेघों की तरह घूमती हैं। ये अत्यन्त कठोर घुम्-घुम शब्द रूपी गर्जन से भयानक हैं और बह रहे सुवर्णमय नगर ही इनमें बिजली से कौंध रहे हैं ॥५६॥

इधर से उधर बह रहे प्रलय-सागर में पैदा हुई अलसी के फूल के सदृश काली लहरों में यह यम भी जल वेगरूपी दूसरे यम से मानो ले जाया जाता है ॥५७॥

ये लाखों सकल लोकपाल और दिग्गज अपने-अपने आश्रय मेरु आदि पर्वतों और नगरों के साथ जल में डूबते हैं। निधि-आदि लक्ष्मी के आकार रूप पर्वत मध्यवर्ती गुफाओं में स्थित जलप्रवाह को लौटाने के लिए निकल रहे; वायु की बुड़-बुड़ ध्वनियों से उनके स्थानों की पूर्ति की प्रतीति हो रही हैं ॥५८॥

पाताल, भूतल, आकाश और दिगन्तों में अपार दुर्निवार जलराशि के व्याप्त हो जाने पर इन्द्र, यम, यक्ष, देवता और दानवों के झुण्ड के झुण्ड अपने ग्राम, नगर, विमान और पर्वतों के साथ मछलियों की तरह घूमते हैं ॥५९॥

हाय ! प्रलय-जल द्वारा इधर-उधर बहाये जा रहे, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का जलरूपी शरीर ही वैसा ही बन्धन बन गया है जैसे कि दुहने के समय प्यारी माता की जङ्घा बछड़ों के लिए बन्धन बन जाती है ॥६०॥

हा ! परस्पर एक दूसरे पर लिपट रहे दैत्य और दानवों का अपने लिए या अपनी स्त्रियों के लिए किये गये हल्ले से भरा हुआ बुड़-बुड़ शब्द सुनाई देता है ॥६१॥

हाहाकार चीत्कार से पूर्ण देवता और दानवों के उत्तम-उत्तम नगरों के वेग के साथ गिरने के कारण क्षुब्ध हुई जलराशि से चारों ओर परिवेष्टित दसों दिशाओं में, जो मानो घूम रही मेघराशि से आच्छन्न सी हो गई हैं, जल की साफ दीवार खड़ी दिखाई देती है ॥६२॥

हाय ! खेद है, सर्वजन प्रसिद्ध सूर्य को जलराशि भँवरों के चक्कर में लपेट कर वेग से बहुत नीचे ले गई है। ये कुबेर, यम, नारद, इन्द्र आदि जलराशि और मेघमण्डल से पीड़ित जीवन के अयोग्य हो प्राण-त्याग रहे हैं ॥६३॥

पूर्व वर्णित प्रकार के ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु भगवान् के नगरों के खंडहरों से संकटपूर्ण जल की टक्कर लगने से कठोर आघात का प्रत्यक्ष करने वाले लोगों में जो तत्त्ववेत्ता हैं वे जल में बह रहे मृत अतएव जड़ अपने शरीर को अहंभाव से विदित होकर धारण करते हैं। इसलिए शरीर के छेदन-भेदन, आघात आदि का दुःख उन्हें नहीं होता है ॥६४॥

स्त्रीणां गणोऽर्धपरिपिष्ट इहैति कष्टं
कस्त्रातुमेनमपरः कुजडं समर्थः।
नह्यन्तकस्य दशनैरभिचर्व्यमाणा
त्रातुं परस्परमियं जनता समर्था ॥६५॥
पर्वतप्रतिघसर्पसर्पणाः
संसरन्ति विपुला जलोच्चयाः।
तेषु नाव इव देवपत्तना-
न्युन्नमय्य वपुराशु यान्त्यधः ॥६६॥
द्वीपाद्रीन्द्रसुरासुरोरगनरैर्नागाप्सरश्चारणैः-
र्व्याप्तं वारिविलोलितैः सरसिजैरालूनमूलैरिव।
एकाम्भोधिसरःस्थितं त्रिभुवनं कालेन निर्मूलितं
कष्टं ते क्व गता महर्द्धिविभवा देवा जगन्नायकाः॥६७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
जगन्नाशवर्णनं नामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१३९॥

हाय ! खेद है, अधकुचला हुआ स्त्रियों का झुण्ड यहाँ पर आता है। पृथिवी में अतिमूर्ख रूप से प्रख्यात स्त्री-समूह को बचाने की सामर्थ्य दूसरे किसमें है। यह जनसमूह, जो यमराज की दाढों से चबाया जा रहा है, आपस में एक दूसरे को बचाने में समर्थ नहीं है ॥६५॥

पर्वतों को मटियामेट करने वाले तथा साँपों की तरह सरकने वाले ये विशाल जलकल्लोल इधर से उधर बहते हैं। इनमें देवताओं के नगर पहले अपने स्वरूप को नाव की तरह ऊपर उतराकर फिर नीचे डूब जाते हैं ॥६६॥

हाय ! जलराशि से खूब लथेड़े हुए आलूनमूल कमलों की तरह द्वीप, महापर्वत, देवता, दैत्य, सर्प, मनुष्य, नाग, अप्सराएँ और चारणों से व्याप्त काल द्वारा उखाड़ कर मिट्टी में मिलाया हुआ त्रिभुवन एकमात्र सागर रूपी तालाब के रूप में स्थित है। हाय ! प्रचुर समृद्धि वाले जगतों के अधिपति इन्द्र आदि देवता न मालम कहाँ चले गये ॥६७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० विप० शवोपाख्यान में जगन्नाशवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३९॥

१४०

व्याध उवाच

भगवंस्त्वादृशस्तां तामवस्थां च कथं गतः।
कथं ध्यानप्रयोगेण तदा नोपशमं गतः ॥१॥

मुनिरुवाच

कल्पान्तेषु विनश्यन्ति नाशैर्नानाविधात्मभिः।
जगन्ति भ्रान्तिरूपाणि नभस्याभासरूपिभिः ॥२॥
कदाचित्क्रमशो नाशः कल्पान्ते संप्रवर्तते।
अशङ्कितं कदाचिद् द्रागेकधादिविकारतः ॥३॥
तदा द्रागित्येव यदा विकृतं वारि तत्तथा।
तेन यावत्सरन्त्याद्यं तावन्नीता जलैः सुराः ॥४॥

१४०

व्याध ने कहा—हे महामुने ! ज्ञानयोग सिद्ध आप के सदृश पुरुष भी पूर्ववर्णित नाना प्रकार की प्रलयजल-प्लवन आदि विविध भ्रान्त्यवस्था को कैसे प्राप्त हुए ? अतीत और अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन में उपायभूत ध्यान रूप योगाङ्ग के प्रयोग से आपको सकल भ्रान्तियों निवृत्ति क्यों नहीं हुई ? ॥१॥

मुनि ने कहा—हे व्याध ! आकाश में भ्रान्ति ज्ञान रूप ये सकल जगत् कल्पान्तों में भ्रान्तिरूप नाना प्रकार के विनाशों से विनष्ट होते हैं ॥२॥

कभी कल्पान्त में क्रमशः नाश होता है, कभी सातों समुद्रों की सहसा एकाकारता रूप विकृति हो जाने से अकस्मात् विनाश होता है। अर्थात् क्रमिक प्रलय में योग द्वारा भूत और भावी पदार्थों के पर्यालोचन का अवसर रहता है, किन्तु आकस्मिक प्रलय में तो मुझे इसका मौका ही नहीं मिला, यों उत्तर देने के लिए प्रलय द्विविध होता है ॥३॥

जल जब इस प्रकार झटपट विकृत हुआ, जबतक ब्रह्माजी से निवेदन करने के लिए देवगणों ने ब्रह्माजी के पास जाना चाहा, इतने में ही उन्हें जलराशि ने बहा डाला। सहसा हुए प्रलय के विषय में देवता भी असमर्थ हो जाते हैं उसके विषय में मेरा चूकना कौन बड़ी बात है ॥४॥

अन्यच्च विपिनाधीश कालः सर्वंकषो ह्ययम् ।
यत्र काले ततस्तस्मिंस्त्ववश्यं भावि तत्तथा ॥५॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च क्षयकाल उपस्थिते ।
विपर्यस्यति सर्वत्र सर्वथा महतामपि ॥६॥
अन्यच्च विपिनाधीश मयैतत्तव वर्णितम् ।
स्वप्नदृष्टं किल स्वप्ने किं न संभवतीह किम् ॥७॥

व्याध उवाच

असदेतद्यदि विभो ! स्वप्नसंभ्रममात्रकम् ।
कथितेन तदैतेन कोऽर्थः कल्याणकोविद ! ॥८॥

मुनिरुवाच

त्वद्बोधनात्मकं कार्यं महदस्त्यत्र बुद्धिमन् ! ।
एतद्भ्रमात्मकं वेत्ति भवान्सत्यं तु मे शृणु ॥९॥

हे वनाधिपति व्याध ! यह काल सर्वविनाशक है, किसी को भी नहीं छोड़ता। जिस समय में जो अवश्यम्भावी होता है उस समय में वह होकर ही रहता है चाहे करोड़ों उपाय क्यों न किए जायँ अर्थात् काल की प्रबलतावश उस समय मेरी ध्यान-धारणा फुरित नहीं हुई ॥५॥

विनाश का समय आने पर महान् लोगों के भी बल, बुद्धि और तेज सर्वत्र सर्वथा विपरीत हो जाते हैं ॥६॥

हे वनाधीश, मैंने आपसे यह स्वप्न में देखा वृत्तान्त कहा है। स्वप्न में क्या संभव नहीं है ? क्या यह बात सब लोगों को विदित नहीं है अर्थात् स्वप्न में अन्य के चित्त का अनुगमन करते मैंने यह सब देखा था, स्वप्न में महात्माओं का भी विवेक कुण्ठित हो जाता है यह सर्व विदित है ॥७॥

व्याध ने कहा—हे प्रभो ! यह यदि असत् है, केवल स्वप्न दृष्ट भ्रान्तिरूप ही है तो हे कल्याणों के वेत्ता महामुने ! इसके वर्णन से क्या लाभ है। कल्याणों के विशेषज्ञ आप में निरर्थक वाक्यवक्तृता का सम्भव नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'कल्याणकोविद' सम्बोधन दिया है ॥८॥

मुनि ने कहा—हे बुद्धिमन् ! स्वप्नदृष्ट-वर्णन निष्फल नहीं है, इसमें तुमको बोधित करना महान् प्रयोजन है। जिससे कि वर्णित स्वप्न प्रपञ्च की तुलना से तुम परिदृश्यमान प्रपञ्च को भी केवल भ्रममात्र समझो। दृश्यमात्र में भ्रमत्व सिद्ध हो जाने पर दृक्स्वरूप सत्य तुम्हीं शेष रहते हो। इसलिए अन्वयव्यतिरेक से द्वैत के शोधन के उपायभूत इस कथांश को तुम मुझसे सुनो ॥९॥

अनन्तरमहं तस्मिन्मत्तैकार्णवरंहसि ।
जन्तोरोजः स्थितः स्वप्ने भ्रान्तं भ्रान्तो व्यलोकयम् ॥१०
यावत्ससकलं वारि क्वाऽपि निर्गन्तुमुद्यतम् ।
विक्षुब्धवज्रवित्रस्तसपक्षाद्रीन्द्रवृन्दवत् ॥११॥
लब्धवानुह्यमानोऽहं कंचिद्दैववशात्तटम् ।
अवसं तमवष्टभ्य शिखरप्रान्तसंनिभम् ॥१२॥
अथ क्षणेन सलिलं तदशेषेण निर्ययौ ।
वीच्यग्रस्फुटिताकारैर्देवैस्तारकिताम्बरम् ॥१३॥
तारागणैश्च पातालगतैर्मणिमयोदरम् ।
आवर्तेषु परावृत्तैः स्फारमद्रिजरत्तृणैः ॥१४॥
हेमद्वीपोपमैर्व्याप्तं गीर्वाणपुरमन्दिरैः ।
भ्रमत्सुराङ्गनालीननलिनीजालमालितम् ॥१५॥
मध्योह्यमानकल्पाभ्रनीलशैवालजालकम् ।
विद्युद्गोरोचनाम्भोदनीलनीरजनिर्भरम् ॥१६॥

इसके बाद पागल ऐसे उस एकमात्र सागर के वेग में उक्त प्राणी के ओज में पैठे हुए भ्रम-परम्पराओं से परिपूर्ण मैंने स्वप्न में भ्रान्ति देखी ॥१०॥

जब वह सारा का सारा प्रलयजल कुपित वज्र से भयभीत हुए पर वाले महापर्वतों के समूह की तरह कहीं जाने के लिए तैयार हुआ तब प्रलय जलराशि में उतरा रहे मुझे भाग्यवश पर्वत शिखर के छोर की तरह एक तट मिला। मैं उसके सहारे ठहर गया ॥११-१२॥

अनन्तर एक क्षण में वह सारी प्रलय जलराशि, जिसने लहरों की चोटियों के छितराये हुए जलकणों के सदृश नक्षत्र आदि देवताओं से आकाश को तारकित (तारों से पटा हुआ) बना डाला था, जो प्रवाहवश पाताल में पहुँचे हुए कुछ तारों से मणिमय गर्भवालीसी लगती थी, भँवरों में पड़कर अधोमुख हुए पर्वतीय पुराने तृणों से प्रचुरता को प्राप्त हुई थी, सुवर्णद्वीप के तुल्य विशाल देवनगर और मन्दिरों से व्याप्त थी, इतस्ततः उतरा रही देवाङ्गनारूप छिपी हुई कमलराशि से मालायुक्त थी, जिसके बीच में प्रलयकालीन मेघ के समान काला सेवार का अम्बार इधर से उधर चक्कर लगा रहा था, जो बिजलीरूपी गोरोचनासदृश पराग वाले प्रलयकालीन मेघरूप नीलकमलों से भरी-पुरी थी, जिसके चारों ओर जलकणों की झड़ी लगा रहे कुहरे, मेघ और पहाड़ों ने तट बना डाला था, जिसमें आकाश का स्पर्श

स्फुरत्सीकरनीहारमेघाद्रिकृतदिक्तटम् ।
उल्लोलद्वीचिसंदिग्धवहत्कल्पद्रुमव्रजम् ॥१७॥
अथैकार्णवखातोऽसावभवच्छुष्ककोटरः ।
क्वचिद्गलितसह्याद्रिः क्वचित्संशीकमन्दरः ॥१८॥
क्वचित्पङ्कनिमग्नेन्दुयमवासवतक्षकः ।
क्वचित्पङ्कनिमग्नाधःशाखकल्पद्रुमोत्करः ॥१९॥
क्वचित्कमलवत्कीर्णलोकपालशिरःकरः ।
क्वचित्पङ्कजविश्रान्तरुधिरहृदपाटलः ॥२०॥
क्वचिदाकण्ठनिर्मग्नक्वणद्विद्याधरीगणः ।
क्वचित्स्वप्नमृतेभाभयाम्योग्रमहिषावृतः ॥२१॥
क्वचित्सन्नमहाकायगरुडामरपर्वतः ।
क्वचिन्मत्तमहासेतुर्यमदण्डेन भूजुषा ॥२२॥
क्वचित्प्रमृतवैरिञ्चहंससस्मितपङ्कभूः ।
क्वचित्पङ्कविनिर्मग्नदेहार्धामरवारणः ॥२३॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र सानुं प्राप्याऽऽश्रमे श्रमात् ।
विश्रान्तोऽस्मि यदा तेन भृशं निद्राऽऽजगाम माम्॥२४॥

करने वाली चञ्चल ऊंची-ऊंची लहरों में कल्पवृक्षों के बहने का सन्देह होता था, वे कहीं चली गईं ॥१३-१७॥

अनन्तर वह एक मात्र सागर का साँचा केवल सूखा गड्ढा रह गया। उसमें कहीं पर सह्याचल गला पड़ा हुआ था, कहीं पर जीर्णशीर्ण हो जाने के कारण यह मन्दराचल है या अन्य कोई दूसरा पर्वत है, यों मन्दराद्रि संशययोग्य अवस्था में पड़ा था, कहीं पर चन्द्रमा, यम, इन्द्र और तक्षक कीचड़ में आकण्ठ डूबे थे, कहीं पर कल्पवृक्षों के समूह की नीचे की शाखाएँ कीचड़ में डूबी थीं, कहीं पर लोकपालों के सिर और हाथ कमलों की तरह बिखरे थे, कहीं पर कमलों की तरह विश्राम ले रहे खून के तालाबों से वह लाल था, कहीं पर आकण्ठ कीचड़ में डूबी हुई विद्याधारियाँ कराह रही थीं, कहीं पर मानो स्वप्न में मरे हुए हाथी जैसे विशालकाय यमवाहनरूप भीषण भैंसों से घिरा था, कहीं पर महाकाय गरुड़रूप सुमेरु पर्वत अवसाद को प्राप्त होकर पड़ा था, कहीं पर उसमें भूमि पर पड़े हुए यम के दण्ड से अकिञ्चित्कर (मत्त की तरह जल के निरोध में असमर्थ) महासेतु बना था, कहीं पर मरे हुए ब्रह्मा के वाहनभूत हंस से पङ्कमय भूमि मन्दहास युक्त-सी लगती थी, कहीं पर देवराज इन्द्र के ऐरावत का आधा शरीर कीचड़ में फँसा था ॥१८-२३॥

अनन्तर तटवर्ती पर्वत के शिखर पर पहुँचकर थक जाने के कारण किसी मुनि के आश्रम में जब मैंने विश्राम लिया तब मुझे खूब निद्रा आई ॥२४॥

ततः सुषुप्तनिद्रान्तस्तया वासनयाऽन्वितः ।
तं तादृगेव कल्पान्तपश्यं स्वौजसि स्थितः ॥२५॥
दृष्ट्वा तद्द्विगुणं दुःखं चिरेणाऽत्राऽहमाकुलः ।
प्रबुद्धो दृष्टवान्सानुं तमेवाऽस्य हृदि स्थितम् ॥२६॥
अथ तत्र द्वितीयेऽह्नि भास्करोदयसुन्दरम् ।
सलोकाकाशभूशैलं भुवनं दृष्टवानहम् ॥२७॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इति मे चेतसो जातं पत्रादि विटपादिव ॥२८॥
ततस्तस्मिंस्तथा दृष्टे भूतले तैः पदार्थकैः ।
व्यवहारं प्रवृत्तोऽहं किंचिद्विस्मृतधीरितः ॥२९॥
जातस्य मेऽद्य वर्षाणि षोडशैष पिता मम ।
इयं माताऽऽस्पदं चेदमिति मे प्रतिभोदभूत् ॥३०॥
अपश्यं ग्रामकं कंचित्कंचिच्च ब्राह्मणाश्रमम् ।
किंचिद्गेहं तथा कश्चिद्बन्धुः कस्मिंश्चिदाश्रमे ॥३१॥
अथ मे तिष्ठतः सार्धं बन्धुभिर्ग्राममन्दिरे ।
अहोरात्रेषु गच्छत्सु जाग्रदादींस्तदेव सत् ॥३२॥

अनन्तर उस वासना से युक्त हुए मैंने अपने ओज में स्थित होकर भी सुपुप्ति के बाद प्राप्त हुई निद्रा के अन्दर उस कल्पान्त को जैसा उक्त प्राणी के ओज में स्थित होकर देखा था वैसा ही देखा ॥२५॥

चिरकाल तक उस दुगुने दुःख का अनुभव कर व्याकुल हुआ मैं जब जागा तो मैंने उस प्राणी के हृदय में स्थित उसी पर्वत शिखर को देखा ॥२६॥

इसके बाद दूसरे दिन मैंने वहाँ पर भगवान् भास्कर के उदय से मनोहर भुवन को लोक, आकाश, भूमि और पर्वतों के साथ देखा ॥२७॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब जैसे शाखा से पत्ते उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेरे चित्त से उत्पन्न हुए ॥२८॥

पश्चात् पूर्वानुभूत विषय को भूलकर पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिगत हुए भूलोक में तत्-तत् पदार्थों से व्यवहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ ॥२९॥

आज मुझे पैदा हुए सोलह वर्ष हो गये हैं, ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माँ है, यह मेरा घर है, ऐसी मेरी व्यवहार प्रतिभा उत्पन्न हुई ॥३०॥

मैंने एक छोटा-सा गाँव देखा, उसमें एक ब्राह्मणाश्रम देख, एक घर देखा, वहाँ पर किसी आश्रम में मेरा कोई हुआ ॥३१॥

अनन्तर घर में बन्धु-बान्धवों के साथ निवास कर रहे मेरे एक के बाद एक दिन-रात बीतने लगे। वहाँ जाग्रत् आदि अवस्थाओं का अनुभव कर रहे मेरा वही ग्राम आदि बाह्य विकास यथार्थ-सा हो गया ॥३२॥

ततः कालवशात्तत्र प्राक्तनो बोधधीर्मम ।
विस्मृता तादृशाभ्यासादहो तस्येव मत्स्यता ॥३३॥
इत्यहं ग्रामवास्तव्यः संपन्नो ब्राह्मणस्तदा ।
देहमात्रकबद्धास्थो दूरीकृतविवेकभूः ॥३४॥
शरीरमात्रात्मवपुर्दारमात्रानुरञ्जितः ।
वासनामात्रसारात्मा धनमात्रैकतत्परः ॥३५॥
जीर्णगोमात्रकधनः संरोपितलतावृतिः ।
संचिताग्न्यवनिप्राणिरुपार्जितकमण्डलुः ॥३६॥
चलवृक्षकबद्धास्थो लोकाचाररतः सदा ।
गृहपार्श्वगतानीलशाद्वलस्थलिकास्थितिः ॥३७॥
शाकशाकायतारामरचनानीतवासरः ।
सरिद्ध्रदनदीतीर्थसरसि स्नानतत्परः ॥३८॥
गोमयान्नजलाम्ब्वग्निकाष्ठेष्टाकष्टसंचयी ।
इदं कार्यमिदं नेति पाशाभ्यां विवशीकृतः ॥३९॥

पश्चात् समय बीतने पर धीरे-धीरे मेरी पूर्वजन्म की बोधबुद्धि विस्मृत हो गई। जैसे पूर्ववर्णित दामव्याल-कटाख्यान में वासनाशून्य कटकी—मछलियों के साथ सहवास का अभ्यास होने से पूर्वबोधविस्मृति द्वारा मत्स्यता हो गई थी वैसे ही मेरी भी ग्रामवास्तव्यता सम्पन्न हो गई ॥३३॥

इस प्रकार उस समय मैं ग्रामवासी ब्राह्मण बन गया। मेरी एक मात्र शरीर में आसक्ति बद्धमूल हो गई। विवेक-भूमि मुझसे कोसों दूर चली गई ॥३४॥

मैं केवल शरीर को आत्मा समझता था, केवल स्त्री ही मेरे मनोरञ्जन की सामग्री थी, केवल वासना ही मेरा स्वभाव था और केवल धन के उपार्जन में ही मैं जी जान से लगा रहता था ॥३५॥

एक मात्र बूढ़ी गाय ही मेरी सम्पत्ति थी, घर के आँगन में छाया के लिए मैंने सेम की लता रक्खी थी, अग्निहोत्रार्थ अग्नि, जीविकार्थ दो एक बीघा खेत और गौ आदि पशु मैंने जोड़ रक्खे थे, धातुओं की वस्तुओं में एक मात्र कमण्डलु का मैंने उपार्जन किया था, स्वल्प काल तक रहने वाले तुलसी आदि के पेड़-पौधों में मेरा बड़ा प्रेम था। मैं सदा लोकाचार में निरत रहता था। घर के निकटवर्ती हरे-भरे मैदान में अक्सर उठा-बैठा करता था। प्रायः शाक और शाक से भरे बागों को सजाने-सँवारने में मेरे दिन बीतते थे। छोटी-मोटी नदियों, झीलों, गङ्गा आदि पुण्य नदियों, तीर्थों और तालाबों में

इति मे जीवतस्तत्र संवत्सरशतं गतम् ।
एकदाऽभ्यागतो दूरात्तापसोऽतिथिरात्मवान् ॥४०॥
पूजितोऽसौ विशश्राम मद्गृहे स्नानपूर्वकम् ।
भुक्तवाञ्छयने स्थित्वा रात्रौ वर्णितवान्कथाम् ॥४१॥
नानादिग्देशशैलोर्वीव्यवहारमनोहरे ।
कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिन्नानाविधरसाश्रये ॥४२॥
सर्वं चिन्मात्रमेवेदमनन्तमविकारि च ।
जगत्तयेव कचति यथास्थितमपि स्थितम् ॥४३॥
इत्यहं बोधितस्तेन बोधैकघनतां गतः ।
स्मृतवांस्तमशेषेण वृत्तान्तं धारणावशात् ॥४४॥
स्मृतवानात्मवृत्तान्तं यस्याऽहमुदरे स्थितः ।
तं विराड्रूपमाशङ्क्य तस्मान्निर्गन्तुमुद्यतः ॥४५॥
तदास्यं निर्गमद्वारमथ जानामि नो यदा ।
विस्तीर्णे भुवने यस्मिन्भूम्यब्ध्यद्रिसरिद्वृते ॥४६॥

स्नान करने के लिए मैं सदा तत्पर रहता था। गोहरी, अन्न, जल, आग-लकड़ी और ईंटा-पत्थर का क्लेश से संचय करता था। यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, इस प्रकार के जालों से जकड़ा था। इस प्रकार वहाँ जीवन-निर्वाह कर रहे मेरे सौ वर्ष बीत गये। एक समय दूर से कोई आत्मज्ञानी अतिथि मेरे घर आया। मैंने बड़े भक्ति भाव से उसका सत्कार किया। उसने स्नान कर मेरे घर में विश्राम किया और भोजन किया, रात्रि के समय शय्या पर बैठकर उसने कथा कही। किसी कथा प्रसंग में, जो अनेक दिशाओं, देशों, पर्वतों के रीति-रवाजों से बड़ा मनोहर था तथा जिसमें शृङ्गार, वीर, करुण आदि नाना रसों का पुट था, उसने मुझे यह सब निर्विकार असीम अखण्ड चिन्मात्र ब्रह्म ही यथास्थित रहकर भी जगत् के रूप से विकसित है, यों समझाया। इससे केवल एक मात्र बोधमयता को प्राप्त हुए मुझे अपनी धारणा शक्ति से प्राणी के शरीर में प्रवेश करना आदि अपना पहले का सारा वृत्तान्त याद हो आया ॥३६-४४॥

अपने पूर्व वृत्त की याद आने के पश्चात् जिसके पेट में मैं पैठा था, उस प्राणी को सकल जगत् की अपेक्षा वृद्ध होने कारण विराट्रूप समझकर मैंने उसके उदर से बाहर निकलने का उद्योग किया ॥४५॥

प्राणी के उदर में भूमि, सागर, पर्वत और नदियों से पूर्ण विस्तीर्ण भुवन में जब मुझे बाहर निकलने के लिए द्वारभूत उसके मुँह का पता नहीं लगा, तब मैं बन्धु-

तदा तमत्यजन्नेव देशं बन्धुजनावृतम् ।
तस्य प्राणं प्रविष्टोऽहं निर्गन्तुं पवनं बहिः ॥४७॥
इहस्थस्य विराजोऽस्य बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
अन्यजं सर्वमीक्षेऽहमिति निर्णीय तादृशम् ॥४८॥
धारणां संविदा बद्ध्वा प्रदेशं स्वं तमत्यजम् ।
तत्प्राणैः सह निर्यात आमोदः कुसुमादिव ॥४९॥
पवनस्कन्धमासाद्य प्राप्य तन्मुखकोटरम् ।
बहिर्वातरथेनाऽहं निर्गतो दृष्टवान्पुरः ॥५०॥
यावत्तथैव मद्देहो बद्धपद्मासनः स्थितः ।
क्वाऽपि मुन्याश्रमः शिष्यैः पालितो गिरिकन्दरे ॥५१॥
पुरो मे तिष्ठतां तेषां मत्संरक्षणकर्मणाम् ।
मुहूर्तमात्रं च गतः कालश्चाऽन्ते निवासिनाम् ॥५२॥
हृदयं संप्रविष्टोऽसौ यस्याऽहं स पुमानपि ।
पृष्ठेनोत्सवलब्धेन शेते तृप्तोऽन्धसा सुखम् ॥५३॥
तदाश्चर्यं मया दृष्ट्वा नोक्तं किंच न कस्यचित् ।
पुनस्तस्यैव हृदयं प्रविष्टः कौतुकादहम् ॥५४॥

बान्धवों से पूर्ण उस प्रदेश का परित्याग न कर बाहर निकलने के लिए उसके प्राण वायु में प्रविष्ट हुआ ॥४६, ४७॥

यहाँ पर स्थित विराड्रूप इस प्राणी का बाह्य दृश्य और अन्य विराट् में उत्पन्न आभ्यन्तर दृश्य सब मैं देखूँ, इस बुद्धि से तदनुकूल उसके प्राणों में अहंभाव धारणा बाँधकर मैंने उस देश का त्याग किया जैसे फूलों से सुगन्धि वायु के साथ बाहर निकलती है वैसे ही मैं उसके प्राणों के साथ बाहर निकला, पवन के कन्धे पर सवार होकर उसके मुख द्वार पर आकर वायुरूपी रथ से बाहर आया, बाहर आकर मैंने यह बातें देखीं। कहीं पर्वत-गुफा में शिष्यों से संरक्षित मुनि का आश्रम है, वहाँ पर पद्मासन लगाया हुआ मेरा शरीर पहले की तरह ही ज्यों का त्यों बैठा है ॥४८-५१॥

मेरी रक्षा करने में तत्पर मेरे सामने बैठे हुए शिष्यों का केवल एक मुहूर्त ही समय बीता था ॥५२॥

जिस प्राणी के हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ था वह भी किसी उत्सव में प्राप्त हुए अन्न से तृप्त होकर पीठ के बल सुख से सोया था ॥५३॥

वह आश्चर्य देखकर मैंने किसी से कुछ नहीं कहा। कौतुकवश मैं पुनः उसी के हृदय में प्रविष्ट हो गया ॥५४॥

मैं पूर्व वासना से युक्त होकर उन स्वबन्धुओं के देखने के लिए उस प्राणी के हृदय के अन्दर पूर्व अनुभूत

प्राप्तोऽस्म्योजःप्रदेशं तं तस्य तस्मिन्हृदन्तरे ।
अवेक्षितुं स्वबन्धूंस्तान्व्याप्तो वासनया तया ॥५५॥
यावत्तत्र युगस्याऽन्तः संप्रवृत्तोऽतिदारुणः ।
भुवनं तद्विपर्यासमागतं सह संस्थया ॥५६॥
अन्य एवाऽचलास्तत्र वसुधाऽन्या च संस्थिता ।
अन्य एव ककुब्भेदस्तथाऽन्या भुवनस्थितिः ॥५७॥
ते बन्धवः स च ग्रामः स भूभागः स दिक्तटः ।
न जाने क्व गतं सर्वं व्यूह्य नीतमिवाऽनिलैः ॥५८॥
तदा पश्यामि भुवनं यावदन्यदवस्थितम् ।
अपूर्वसंनिवेशं तज्जगदन्यदिवोदितम् ॥५९॥
तपन्ति द्वादशाऽऽदित्याः प्रज्वलन्ति दिशो दश ।
शीताश्यानाम्बुवच्छैलाः प्रवृत्ता गलितुं बलात् ॥६०॥
अद्रावद्रौ दिशि दिशि ज्वलन्ति वनपङ्क्तयः ।
दग्धाः स्मृतिपदं याताः समस्ता रत्नभूतयः ॥६१॥
सर्व एवाऽब्धयः शुष्का महावाताः पुरःस्थिताः ।
अङ्गारराशितां यातं भूमण्डलमशेषतः ॥६२॥

ओजःप्रदेश में जब पहुँचा, तब तक वहाँ अति भीषण प्रलय हो चुका था, उक्त भुवन धर्माधर्ममर्यादा के साथ सर्वथा बदल गया था। अब वहाँ पर पहले से विलक्षण ही पर्वत खड़े थे, पहले से विलक्षण पृथिवी थी, दिशाएँ भी दूसरी थीं, लोक की बनावट में भी अन्तर हो गया था ॥५५-५७॥

वे मेरे बन्धु-बान्धव, वह गाँव, वह भूमिखण्ड, वे दिक्तट, सबके सब वायु द्वारा बटोर कर उड़ाये गये से न मालूम कहाँ लीन हो गये थे ॥५८॥

मैंने उस समय सारे भुवन को पहले से विलक्षण स्थिति में देखा, उसके सब अवयव अपूर्व थे मानों वहाँ पर वह पूर्व जगत् के स्थान में दूसरा ही जगत् उदित हुआ था ॥५९॥

वहाँ पर बारह सूर्य तपते थे, दसों दिशाएँ जलती थीं, ठण्डक से जमे हुए जल की तरह सबके सब पर्वत बलात गलने की तैयारी में थे ॥६०॥

प्रत्येक पहाड़ पर प्रत्येक दिशा में वनपङ्क्तियाँ जलती थी, समस्त मणि, रत्न आदि सम्पत्तियाँ जलकर राख हो गई थीं। उनकी केवल स्मृति ही शेष रह गई थी ॥६१॥

सभी सागर सूख गये थे, आँधियाँ सामने की ओर उठीं थीं, सम्पूर्ण भूमि मण्डल अँगारों का ढेर बन गया था ॥६२॥

पातालतो भूतलतोऽथ दिग्भ्यो
ज्वाला विनिर्गन्तुमनुप्रवृत्ताः ।
संध्याभ्रवच्चाऽऽशु बभूव विश्वं
ज्वालामयं मण्डलमेकमेव ॥६३॥

ज्वालामये सद्मनि हेमपद्म-
कोशे भ्रमद्भृङ्ग इव प्रविष्टः ।
ततोऽहमाराच्छलभक्रमेण
न चाऽऽप्तवान् दाहविकारदुःखम् ॥६४॥

ज्वालामये साधुमहाम्बुवाहे
भ्रमाम्यहं विद्युदिवाऽनिलात्मा ।
ज्वालापरिस्पन्दविलोलवर्ष्मा
स्थलाब्जखण्डभ्रमरोपमश्रीः ॥६५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गत-विपश्चिदुपाख्याने हृदयकल्पनावर्णनं नाम चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥ १४० ॥

पहले पाताल से, उसके बाद भूमि मण्डल से, फिर दिशाओं से ज्वालाएँ निकलने लगीं, शीघ्र ही सारा विश्व एक ही ज्वालामय मण्डल बनकर सन्ध्या समय के मेघों की तरह लाल हो गया ॥६३॥

सुवर्ण-कमल के अन्दर प्रविष्ट हुए भृङ्ग के समान उस ज्वालामय घर के अन्दर प्रविष्ट हुए मुझे फतींगे की तरह यद्यपि दाह प्राप्त था, फिर भी दाह विकार दुःख नहीं हुआ, क्योंकि मेरा शरीर केवल आतिवाहिक है ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय था ॥६४॥

वायु की धारणा से वायुरूप बना हुआ मैं उस ज्वालामय प्रलय जल प्रवाह में बिजली की तरह बखूबी घूमता था। ज्वालाओं की धधकों में चञ्चल शरीर होकर मैंने स्थल कमलों पर घूम रहे भँवरों के तुल्य शोभा धारण की ॥६५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० वि० हृदयकल्पनावर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४०॥

१४१

मुनिरुवाच

तत्र दंदह्यमानोऽपि नाऽभवं दुःखभागहम् ।
स्वप्ने स्वप्नोऽयमित्येष जानन्नग्नावपि च्युतः ॥१॥
ज्वालाजालनवोड्डीतिमण्डलैरखिलैर्नभः ।
अलातचक्रवच्चारु केवलं भ्रान्तवानहम् ॥२॥
तं दवाग्निमहं यावत्तत्त्ववित्त्वादखिन्नधीः ।
विचारयाम्यखिन्नात्मा मारुतस्तावदाययौ ॥३॥
सीत्कारमतिगम्भीरं दधन्मेघरवोपमम् ।
जगत्पदार्थैरावृत्तैरुह्यमानैः परावृतः ॥४॥
बृहद्धिर्घुंघुमावेगैर्वने द्विगुणिताम्बुदः ।
सूर्यैरावृत्तिभिर्व्यूढैर्विमिश्रालातचक्रकः ॥५॥
ज्वालासंध्याभ्रनिवहैर्वहदग्निनदीशतः ।
शैलद्विगुणभूखण्डदानवामरपत्तनः ॥६॥

१४१

मुनि ने कहा—हे व्याध ! स्वप्न में मुझे यह स्वप्न है यह भली-भाँति ज्ञात था; इसलिए अग्नि की ज्वालाओं में गिरकर खूब झुलसने पर भी मुझे कष्ट नहीं हुआ ॥१॥

ज्वालाओं के नये उड़ने के तरीकों से सारे आकाश में अलातचक्र के समान मैंने सुन्दरता के साथ भ्रमण किया ॥२॥

आकाश-भ्रमण से मैं कुछ-कुछ श्रान्त हो गया था, किन्तु तत्त्वज्ञानी होने के कारण मेरी बुद्धि में तनिक भी खेद नहीं हुआ। मैंने ज्योंही उक्त दावाग्नि का विचार करने की ठानी त्योंही आँधी आ गई ॥३॥

उसमें आग को फूंकने में जैसा शब्द होता है वैसी ही साँय-साँय तथा अति गंभीर मेघ के कड़कने की-सी ध्वनि हो रही थी और उड़ रहे पत्थर, लुआठी, धूलि, राख, पत्ती आदि जगत् के सब पदार्थों से वह भरी ॥४॥

उक्त आँधी ने प्रबल सरसराहट और गड़गड़ाहट के वेग से वन में मेघों को दुगुना बना दिया था, जल-प्रवाह में बह रहे और लौट रहे बारह सूर्यों के साथ अलातचक्रों को मिश्रित कर दिया था ॥५॥

ज्वालारूप सान्ध्य मेघों की राशियों ने उस आँधी में सैकड़ों बड़ी-बड़ी अग्नि नदियाँ बहा रक्खी थीं, उस आँधी में पहाड़ों से भी दूने भू-भाग और देव-दानवों के नगर उड़ते थे ॥६॥

भूतैर्द्विगुणपात्रौघो भ्रान्तैरम्बरकुक्षिषु ।
दग्धादग्धाभिरप्यर्धदग्धाभिरितरेतरम् ॥७॥
पतन्तीभिः सुरस्त्रीभिर्द्विगुणाग्निशिखालवः ।
पतदङ्गारधारौघकणसीकरदन्तुरः ॥८॥
अलातविद्युतो धुन्वन्पूताङ्गारोग्रमण्डलीः ।
धूमान्धकारैः स्थगयन्म्लानमूर्ध्वदिशोमुखम् ॥९॥
भूमेर्व्योम्नो दिङ्मुखेभ्यः समन्ता-
ज्ज्वालासंध्यावारिदा निर्गतास्ते ।
यैस्तैर्ज्वालाशैलसंपिण्डमात्रं
सव्योमौकाः संस्थिता सप्तलोकी ॥१०॥
क्वाऽपि प्रोत्फालकीर्णानलकणकपिल-
प्रोल्लसन्मूर्धजालिः
क्वाऽपि प्रोड्डीनकुड्यः कटुरटनपटु-
र्भस्मसंपिण्डपाण्डुः
क्वाऽपि ज्वालापटालीं परिदधदभितः-
संपतन्तीं गृहीतां
रौद्रः कर्तुं प्रवृत्तो हर इव स तदा
मारुतो नृत्यलीलाः ॥११॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
कल्पान्तवर्णनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४१॥

उस आँधी ने आकाश में घुमाये जा रहे भूतों से पूर्वोक्त सैकड़ों अग्नि नदियों के पत्तों के अम्बार को दुगुना बना दिया था। खूब जली हुईं, कुछ जली हुईं तथा आधी जली एक दूसरे के ऊपर आकाश से नीचे गिर रहीं देवाङ्गनाओं से उसमें अग्नि की ज्वाला दुगुनी हो रही थीं। नीचे गिर रहे अङ्गाररूप उसके मूसलाधारों से तथा आग की चिनगारी रूपी जलकणों से वह दँतुला-सी मालूम पड़ती थी ॥७, ८॥

आँधी बिना राख के अङ्गारों की भीषण राशि वाली अपनी अलातरूपी बिजलियों को कँपा रही थी तथा धूमरूपी अन्धकारों से मलिन हुए ऊपर की दिशा के मुँह को आच्छादित करती थी ॥९॥

भूमि से, आकाश से और दिशाओं से वे पूर्वोक्त ज्वालारूप सान्ध्य मेघ उमड़े, जिन मेघों से देवमण्डली के साथ सातों लोक केवल ज्वालामय पर्वत पिण्ड बन गये ॥१०॥

प्रचण्ड आँधी ने तब तो कालाग्नि रुद्र के समान नाचना शुरू कर दिया। ऊपर उछलने से फैले हुए अग्नि कण ही उसकी कपिल रङ्ग की सुन्दर केशराशि थी, नीचे पादाघात से मानो उसने दीवारों को उड़ा डाला था, उससे बार-बार कर्णकटु शब्द हो रहा था, उसके सबके सब अङ्ग भस्म से लथपथ होने से शुभ्र थे, मध्य भाग में चारों ओर गिर रही ज्वालारूपी वस्त्र राशि को मजबूती से पकड़कर वह धारण किये थी। कालरुद्र में भी इन विशेषणों की योजना समान रूप से कर लें ॥११॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में कल्पान्तवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एकंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४१॥

१४२

मुनिरुवाच

वर्तमानो तदा तस्मिन्कष्टे संभ्रान्तसंभ्रमे ।
उह्यमानोऽहमत्यन्तं खेदमभ्यागतोऽभवम् ॥१॥
अचिन्त्यं तत्स्वप्नोऽयं परस्य हृदये मम ।
तदतः परिनिर्वामि दुःखं पश्यामि किं मुधा ॥२॥

१४२

मुनि ने कहा—हे व्याध! संभ्रान्त लोगों को भी भ्रम में डालने वाले वर्तमान उस महान् कष्ट में आँधी द्वारा इधर-उधर बहाया जा रहा मैं अत्यन्त दुःखी हुआ ॥१॥

अनन्तर खेद से मैंने सोचा कि दूसरे प्राणी के हृदय में निवासी यह मेरा स्वप्न है, इसलिए मैं व्यर्थ में दुःस्वप्नदुःख क्यों देखूँ, दुःस्वप्नप्रदर्शन का त्याग कर जागरण द्वारा आनन्द क्यों न लूँ ॥२॥

व्याध उवाच

किंस्वित्स्यात्स्वप्न इत्येव किल संदेहशान्तये।
प्रविष्टो हृदयं तस्य किं तं निर्णीतवानसि ॥३॥
किमेतद्भवता दृष्टं हृदये क्व महार्णवः।
जठरे कल्पवातः किं हृदि कल्पानलः कथम् ॥४॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
कथं हृदि जगन्नाम कथयेति यथास्थितम् ॥५॥

मुनिरुवाच

अकारणत्वात्सर्गादावेवाऽनुत्पादतः स्फुटात्।
अज्ञातौ सर्गशब्दार्थाविव न स्तो मनागपि ॥६॥

व्याध ने कहा—हे मुने! स्वप्न का तत्त्व क्या होगा इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति के लिए आप उसके हृदय में प्रविष्ट हुए थे, सो क्या आपने स्वप्न का निश्चय कर लिया था ॥३॥

हे भगवन्! यह आपने क्या देखा? हृदय में महासागर कहाँ रह सकता है, पेट में प्रलयकाल का वायु कैसे और हृदय में प्रलयकाल की अग्नि का कैसे संभव है? द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि रूप जगत् का हृदय में कैसे संभव है, इस सबका यथार्थ तत्त्व, जो आपने निर्णय किया है, मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥४, ५॥

मुनि ने कहा—हे व्याध! सृष्टि के आदि में सृष्टि का कोई कारण न होने से उसकी अनुत्पत्ति दिन के समान स्पष्ट है, अतएव अज्ञान सृष्टि शब्द और अर्थ बिलकुल भी नहीं ही हैं। आशय यह है कि इस प्रकार अपने और दूसरे के स्वप्नों को देखने से अन्वय-व्यतिरेकतः परीक्षित शब्दार्थ रूप जगत् का बाधदृष्टि से त्रैकालिक असत्ता ही तत्त्व है, और परिशिष्ट अधिष्ठानभूत ब्रह्म दृष्टि से ब्रह्म ही तत्त्व है।

सृष्टि का कारण कूटस्थ है या विकारी है? कूटस्थ तो कारण हो नहीं सकता, कारण कि व्यापर न कर रहे कूटस्थ में क्रियाजनजत्वरूप कर्तृत्व का सम्भव नहीं है, कार्यसम्बन्ध योग्य भी वह नहीं है, उसके उदासीन से अतिरिक्त रूप का निरूपण कहीं नहीं है और उसमें उदासीनातिरिक्त स्वभाव की उत्पत्ति भी श्रुत या दृष्ट नहीं है, अतएव उसका कारण होना तो किसी प्रकार संभव नहीं है। विकारी अनिर्णीत नाना अंशों से घटित होता है। उसका कौन-सा अंश कारण है। घटादि विकारयुक्त मिट्टी के पिण्ड से हट रहा पिण्डाकार कारण है या आ रहा घटाकार कारण है, अथवा दोनों आकारों से अनुगत मृदाद्याकार कारण है? प्रथम तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि जो अपनी भी रक्षा करने में असमर्थ हो, कार्यकाल में रह न सके और कार्य के अर्थ हुए व्यापार का जो आधार न हो उसके कारण होने की सम्भावना तक नहीं है। दूसरा भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घट से अन्य कार्य का निर्देश नहीं है, अतः स्वमें स्वकारणता का प्रसंग हो जायगा। तीसरा भी कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मृदादिरूप अनुगताकार को अक्रियाशील मानो तो कूटस्थतावश उसमें कारणता नहीं है, क्रियाशील मानो तो घटों की अनन्तता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा अर्थात् सदा घटोत्पत्ति होगी, क्योंकि मृदाकारमात्र का सदा अस्तित्व है। कार्योत्पादन समर्थ को सहकारी की आवश्यकता न होने से एक साथ सब कार्यों की प्राप्ति होगी, पिण्ड, घड़ा, कपाल चूर्ण आदि की युगपत् प्राप्ति होगी। अन्य सहकारी के सम्बन्ध की व्यवस्था से व्यवस्था हो जायगी, ऐसा यदि कहो तो बताओ कि अन्य सहकारी का संबंध मृद्-जन्य है या अन्यजन्य है? यदि मृज्जन्य मानो तो घट आदि के समान वह भी मृदाकार मात्र से ही उसी समय उपपाद्य होगा। ऐसी स्थिति में जैसे मृदाकार मात्र को कारण मानने पर घटादि की उत्पत्ति युगपत् होगी, यह दोष दिया था सहकारि सम्बन्ध के भी मृदाकारमात्र जन्य मानने में घटादि की उत्पत्ति युगपत् ही होगी, क्योंकि मृदाकारमात्रजन्य सहकारि सम्बन्ध के सदा रहने से घटादि की युगपत् उत्पत्ति का प्रसङ्ग ज्यों का त्यों रहा। इसलिए सहकारी के सम्बन्ध से कोई व्यवस्था न हुई। यदि अन्य सहकारि सम्बन्ध मृद्भिन्न से जन्य है, तो मृद्भिन्न भी 'समर्थस्य कालक्षेपयोगः' इस न्याय से युगपत् सर्वकार्यजनक है, इसलिए प्रस्तुत सहकारि सम्बन्ध को भी उसने अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया, अतः घटादि की युगपत् उत्पत्ति प्रसक्ति ज्यों की त्यों ही रही। यदि कहो मृद्भिन्न भी अन्य सहकारि सम्बन्ध को उत्पन्न करने के लिए सहकारि विशेष की अपेक्षा करता है, ऐसी स्थिति में अन्य सहकारि सम्बन्ध कादाचित्क ही होगा, अतः वह व्यवस्थापक हो सकेगा। तब भी मृद्भिन्न में सहकारि विशेष सम्बन्ध जिससे उत्पादनीय है, उससे वह 'समर्थस्य कालक्षेपायोगः' इस न्याय से अपनी उत्पत्ति के बाद ही पैदा किया गया, अतः प्रस्तुत अपेक्षित उपार्जन सम्पत्ति

तच्चैतो सर्गशब्दार्थौ त्वज्ञातौ परमात्मनि ।
यतस्तत्पदमज्ञातज्ञानात्मकमनामयम् ॥७॥

अतः सुभग सिद्धान्ते त्वत्पक्षे बोधमागते ।
मौर्ख्यशान्तावनाद्यन्ते पदे परमपावने ॥८॥

वच्मीदं मूढसंवित्तौ यदिदं तन्न वेद्म्यहम् ।
वस्त्ववस्तुजमाभातं बोधमात्रमिदं ततम् ॥९॥

क्व शरीरं क्व हृदयं क्व स्वप्नः क्व जलादि च ।
क्व बोधो बोधविच्छित्तिः क्व जन्ममरणादि च ॥१०॥

से घटादि की युगपत् उत्पत्ति का निवारण होना असम्भव है । पिण्ड, कपाल, घट, चूर्ण, आदि बहुत से कार्योत्पादन में समर्थ मृदाद्याकार के किसी एक कार्य की जनकता में कोई विनिगमक नहीं है, सहकारि सम्बन्ध की विनिगमकता का खण्डन तो हो ही चुका है, इसलिए सब कार्यों की युगपत् प्रसक्ति होगी । यदि इसके परिहार के लिए एक कार्योत्पत्ति को दूसरी कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानो तो परस्पर प्रतिबन्धक-प्रतिबध्यता से कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा, इससे सर्ग आदि निष्कारण हैं, यह पक्ष ही अवशिष्ट रहा । अतः सर्ग शब्द और अर्थ सर्वथा नहीं ही हैं, यह तत्त्व निर्णीत हुआ ॥६॥

ये सर्ग और अर्थ परमात्मा में यथार्थ रूप से अज्ञात प्रसिद्ध हैं अर्थात् अज्ञात परमात्मा रूप ही सर्ग शब्द और अर्थ हैं ।

शङ्का—अज्ञात यदि होते तो अप्रसिद्ध ही होते, न न कि प्रसिद्ध ।

समाधान—हाँ, ऐसा ही होता जब कि जगत् अज्ञानमात्र होता, किन्तु वह अज्ञात आत्मपद शबल होने के कारण अज्ञान-ज्ञानरूप है । अज्ञानांश को लेकर सर्ग शब्द और अर्थ अज्ञात हैं और ज्ञानांश को लेकर प्रसिद्ध हैं, ऐसा कहना समुचित है ॥७॥

हे सौम्य ! जिस स्वप्न आदि जगत् के यथार्थ रूप को तुम जानना चाहते हो, उसके यथार्थ रूप से समक्ष में आ जानेपर अज्ञान की निवृत्ति हो जानेपर परमसिद्धान्त रूप परम पवित्र ब्रह्मरूप पद में आरूढ़ होकर मैं यह (सर्ग शब्द और अर्थ हो नहीं हैं यह वाक्य) कहता हूँ । मूर्ख लोगों की बुद्धि में जो सर्ग शब्द और अर्थ का अस्तित्व बद्धमूल है, उसका किसी प्रकार भी संभव न होने से मुझे कुछ भी पता नहीं है, ज्ञानांश और अज्ञानांश से उत्पन्न प्रतीत हो रहा यह जगत् केवल चिन्मात्र का ही विकास है ॥ ८, ९ ॥

कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ जल आदि है, कहाँ बोध है, कहाँ बोधविनाश है और कहाँ जन्म, मरण आदि हैं । अर्थात् सिद्धान्त पक्ष में शरीर आदि की प्रसिद्धि ही नहीं है ॥१०॥

स्वच्छं चिन्मात्रमस्तीह तन्नाम यदपेक्षया ।
स्थूलमेव खमप्यद्रिरणूनां निकटे यथा ॥११॥
स्वभावात्स चिदाकाशः किंचिच्चेतति चिन्तया ।
खमेव वपुराकाशं यत्तद्वेत्ति जगत्तया ॥१२॥
यथा स्वप्ने पुरतया चिदेवाऽऽभाति केवला ।
न तु किंचित्पुराद्येवं जगच्चिन्मात्रमेव खे ॥१३॥
इदं शान्तमनाभातमनन्यत्तैतदात्मनि ।
चिति दृशौ तमसि खे चक्रकादीव भाति ते ॥१४॥
अस्माकं तु न चाऽऽभानं चाऽऽसन्न च सन्न खम् ।
अनाकारमनाद्यन्तमेकं चिद्व्योम केवलम् ॥१५॥

सिद्धान्त-पक्ष में वह अति निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसके सामने अत्यन्त सूक्ष्म भी आकाश वैसा ही स्थूल लगता है जैसा कि परमाणुओं के सामने पर्वत है ॥११॥

वह चिदाकाश चिन्मात्र स्वभावतः आकाश रूप अपने शरीर का कुछ विचार में जो चिन्तन करता है उस आकाश को ही जगद्रूप से जानता है ॥१२॥

आत्माकाश में शान्त अखण्ड अप्रतीत इस चिन्मात्र का ही जगत-रूप से वैसे ही भान होता है जैसे स्वप्न में एकमात्र चित् का ही नगर रूप से भान होता है वहाँ पर वास्तव में नगर आदि कुछ भी नहीं है ।

तब मेरे सदृश अल्पज्ञों या अज्ञानियों की दृष्टि में जगत् का भान कैसे होता है ?

तुम्हारी चिद्रूप दृष्टि में अज्ञान रूप तिमिर रोग होने पर यह जगद् वैसे ही भासमान होता है जैसे दृष्टि में तिमिर रोग होने पर प्रकाशमय आकाश में बालोंका-सा गोला दृगत होता है ॥१३, १४॥

हमारी दृष्टि में तो न भान है, न प्रतिभासिक जगत् है, न व्यावहारिक जगत् है और न भूताकाश है केवल निराकार अनादि अनन्त (अविनाशी) चिदाकाश ही है ॥१५॥

भात्यकारणकं स्वप्ने शुद्धो द्रष्टैव केवलः ।
तेनाऽत्र कारणाभावो न द्रष्टाऽस्ति न दर्शनम् ॥१६॥

शुद्धं किमपि तद्भाति स्वानुभूतमपि स्फुटम् ।
यदवाच्यमनाद्यन्तमेकं द्वैतैक्यवर्जितम् ॥१७॥

एकः कालो यथा कल्पः प्रकाशश्चोभयात्मकः ।
बीजं वा फलपुष्पान्तं ब्रह्म सर्वात्मकं तथा ॥१८॥

यदन्यस्य महत्कुड्यं तदन्यस्याऽमलं नभः ।
दृष्टमेतत्स्थिरस्वप्नसंकल्पभ्रमभूमिषु ॥१९॥

स्वच्छं तदा तदात्मैकं भाति चिन्मात्रखं यथा ।
स्वप्ने जागृतिवत्तद्वज्जाग्रत्स्वप्नेऽपि नाऽन्यथा ॥२०॥

जिससे केवल त्रिपुटी रहित (द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रहित) शुद्ध द्रष्टा का ही बिना किसी कारण के नगर आदि के रूप से स्वप्न में भान होता है, यह स्वप्न में निर्णय किया गया है, उस कारण से जाग्रत् में भी कारण के अभाव का पहले उपपादन किया गया हैं, अतः जाग्रत् में भी न द्रष्टा है और न दर्शन है अर्थात् द्रष्टादि त्रिपुटी नहीं ही है ॥१६॥

स्वयं स्पष्ट रूप से अनुभूत होने पर भी कुमारी के सुख की तरह जिसका वर्णन करना असंभव है, अनादि अनन्त एक (अद्वितीय) द्वैत और ऐक्य से शून्य उस शुद्ध चिन्मात्र का ही जगत् रूप से भान होता ॥१७॥

ब्रह्म भी सर्वात्मक द्वैत-ऐक्य से वैसे ही युक्त है जैसे एक काल प्रलय और सृष्टि दोनों रूप है अथवा जैसे बीज, अङ्कुर, पौधा, पेड़, डाली पत्ती, पल्लव और फल-स्वरूप से स्वयं ही स्थित होता है ॥१८॥

एक की दृष्टि में जो महान् दीवार रूप है, दूसरे की दृष्टि में वह निर्मल आकाशरूप है यह बात चिरस्थायी स्वप्न, मनोरथ, भ्रान्ति आदि में देखी गई है। यदि ब्रह्म परमार्थ रूप से द्वैत और ऐक्य युक्त होता तो सबके प्रति वैसा दिखाई देता है, किन्तु सब उसको वैसा नहीं देखते हैं ॥१९॥

जाग्रन्मय स्वप्न में भी प्रतीत होता है, अणुमात्र भी स्वप्न से जाग्रत् में अन्यथा वैसे ही नहीं प्रतीत होता जैसे आत्मा एक स्वच्छ चिन्मात्राकाश होकर भी स्वप्न में जाग्रत् के समान प्रतीत होता है इस समय में भी उसकी अद्वितीयता वैसी ही है ॥२०॥

अदृश्ये पवने यद्वददृश्यं सौरभं स्थितम् ।
चिन्मात्रेऽप्रतिघे तद्वज्जगदप्रतिघं स्थितम् ॥२१॥

समस्तमननत्यागे योऽसि सोऽसि निरामयः ।
बहिरन्तरनन्तात्मा सुस्थितोऽपि निरन्तरम् ॥२२॥

व्याध उवाच

भगवन् ! प्राक्तनं कर्म केषामिह हि विद्यते ।
केषां न विद्यते तद्वद्विनाऽपि भवतः कथम् ॥२३॥

मुनिरुवाच

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयंभुवः ।
विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥२४॥

[अर्थात् यदि प्रश्न हो कि प्रलय और सुषुप्ति में इसका जगत् स्थित नहीं रहता, इसलिए वह सदा एक स्वभाव है, यह कैसे ? केवल अदर्शनमात्र से जगत् उस समय नहीं रहता यह निर्णय नहीं किया जा सकता ।]

अमूर्त होने से प्रतिघात के अयोग्य चिन्मात्र में अमूर्त जगत् स्थित है जैसे नेत्रों से अदृश्य वायु में अदृश्य सुगन्धि स्थित है, यह घ्राणज अनुभूति से प्रतीत होता है अर्थात् सुषुप्ति और प्रलय का अनुभव करने वाले पुरुष द्वारा अदृश्य भी जगत् पुरुषों की दृष्टि से दृश्य ही है। २१॥

समस्त मनन का त्याग करने पर तुम वस्तुतः जो निरामय सन्मात्र हो, वही हो। बाहर भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मरूप से निरन्तर स्थित हो अर्थात् मन द्वारा मनन का त्याग कर यदि देखा जाय तो कहीं पर कभी भी न जगत् था, न है और न होगा इस प्रकार निरन्तर ही आत्मा अद्वितीय सुस्थिर है ॥२२॥

व्याध ने कहा—हे भगवान् ! यहाँ प्राक्तन कर्म किनका नहीं है। जिनका प्राक्तन कर्म नहीं है, उनके प्राक्तन कर्म के बिना भी मनन और मननत्याग कैसे होते हैं ? ॥२३॥

मुनि ने कहा—ब्रह्मा, सनक, कपिल आदि जो स्वयम्भू (अपने-आप उत्पन्न होने वाले) सृष्टि के आदि में स्वयं भासित होते हैं वे ज्ञान मात्र देह वाले हैं, उनके जन्म और कर्म नहीं होते हैं। अर्थात् जिनका अधिकार दिलाने वाले उपासना फल के अन्तर्गत ही 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' इस न्याय से तत्त्वज्ञान स्वाभाविक (उत्पत्तिकालिक) ही है उनका कर्म नहीं है ॥२४॥

तेषामस्ति न संसारो न द्वैतं न च कल्पनाः।
विशुद्धज्ञानदेहास्ते सर्वात्मानः सदा स्थिताः ॥२५॥
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित्।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥२६॥
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः।
भान्ति जीवास्तथाऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥२७॥
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः।
अबोधा ये त्वचिदाख्यं बुद्‌ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥२८॥
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते।
स्वयमेव तथाभूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥२९॥
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि।
निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥३०॥

उन महात्माओं का न संसार है, न द्वैत है और न उनमें विविध कल्पनाएं ही हैं। विशुद्ध ज्ञानरूप देह वाले वे आत्मा होने के कारण ही सर्वात्मा हैं और सदा वैसे ही बने रहते हैं ॥२५॥

सृष्टि के आरम्भ में यहाँ किसी का भी प्राक्तन कर्म नहीं रहता। सृष्टि के आरंभ में ब्रह्म ही इस तरह सृष्टि रूप से विकास को प्राप्त होता है अर्थात् कर्मशून्य वे महात्मा ब्रह्मा आदि कर्मवानों के आत्मा कैसे हैं, ऐसी आशङ्का उपस्थित होने पर उस समय किसी का भी कर्म नहीं है ॥२६॥

वैसे ही सैकड़ों और हजारों अन्यान्य जीव भी वैसे ही भान समान होते हैं जैसे सृष्टि के आरम्भ में पर-ब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि भासित होते हैं ॥२७॥

जो लोग अज्ञानावृत ही अपना ब्रह्मत्व नहीं जानते अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं जानते किन्तु 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यों ब्रह्म से अपने को भिन्न समझते हैं वे असात्त्विक केवल सत्त्व गुण के परिणाम से विलक्षण रजोगुण तमोगुण मिश्रित सत्त्व के परिणाम से उत्पन्न हुए जीव अचित् अचेतन नामक द्वैत को सत्य जानकर उस वासना से वासितान्तःकरण हो पहले मरे कर्म सहित उनका जन्म उत्तर काल में दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर परमार्थ वस्तु को भूलकर अवस्तु को अपनाया है ॥२८, २९॥

जिन महापुरुषों को बोधरूप महान् आत्मा में ब्रह्म से भेद का कदापि बोध नहीं हुआ, कर्मबन्धनरूप दोष से रहित वे ये ब्रह्मा, विष्णु, हर आदि हैं ॥३०॥

सर्वात्म संविदोऽच्छत्वं ब्रह्माऽऽत्मन्येव संस्थितम्।
तत्ववचिज्जीववद्भानं स्वयमात्मनि पश्यति ॥३१॥
यत्र वेत्ति तु जीवत्वं तत्राऽविद्येति तिष्ठति।
तत्र संसृतिनाम्नाऽऽत्मा धत्ते रूपं तथास्थितम् ॥३२॥
स्वयमेव हि कालेन बुद्‌ध्वा स्वं रूपमात्मनः।
स्वयमेव स्वरूपस्थं ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥३३॥
यथा द्रवत्वादम्बवन्तरेति चाऽऽवर्ततामिव।
ब्रह्म चित्त्वात्तथैतीव सर्गतामस्य सर्गकम् ॥३४॥
ब्रह्मभानमयं सर्गो न स्वप्नो न च जागरः।
कस्य कान्यत्र कर्माणि कीदृशानि कियन्ति वा ॥३५॥
वस्तुतः कर्मनाऽस्त्येव नाऽविद्याऽस्ति न सर्गधीः।
स्वसंवेदनतः सर्वमसदेव प्रवर्तते ॥३६॥

सर्वात्मरूप संवित् की स्वच्छता स्वाभाविक है, सर्वात्म ब्रह्म स्वस्वभाव में ही स्थित है ॥३१॥

जहाँ पर उसे अपने में जीवत्व का भान होता है वहीं अविद्या रहती है, वहीं पर आत्मा अपने यथास्थित स्वरूप को संसार नाम से धारण करता है अर्थात् ब्रह्म में अविद्या भी जीवोपाध्यवच्छेद से ही है, शुद्ध में नहीं है ॥३२॥

काल पाकर स्वयं ही अपने असली स्वरूप को जानकर स्वयं स्वरूपस्थ ब्रह्म ही हो जाता है, कारण कि 'ब्रह्म वा इदमग्र०' (यह पहले ब्रह्म ही था, उसने आत्मा को 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जाना इससे वह सर्वात्मा हो गया) और 'ब्रह्म वेद' (जिसे ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥३३॥

ब्रह्म भी चित् होने से सर्गरूपता को वैसे ही प्राप्त होता है, जैसे द्रवरूप होने से जल अपने अन्दर आवर्तरूपता को (भँवररूपता को) मानो प्राप्त होता है क्योंकि ब्रह्म का सर्ग स्वभाव है ॥३४॥

यह सर्ग ब्रह्मभान है। न स्वप्न है और न जागरण है। किसकी कौन सर्गता है तथा कौन किस प्रकार से अथवा कितने कर्म ही हैं ॥३५॥

वास्तव में कर्म है ही नहीं, न अविद्या है और न सृष्टि बुद्धि ही है, किन्तु स्वसंकल्पवश यह असत् ही यों प्रतीत होता होता है ॥३६॥

ब्रह्मैव सर्गो भूतात्मा कर्म जन्मेति कल्पनाः।
स्वयं कुर्वदिदं भाति विभुत्वात्कल्पितार्थभाक् ॥३७॥
न सम्भवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित्।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया स चित् ॥३८॥
जलावर्तस्य को देहः कानि कर्माणि चोच्यताम्।
यथाऽम्बुमात्रमावर्तो ब्रह्ममात्रं तथा जगत् ॥३९॥
यथा स्वप्नेषु दृष्टानां न प्राक्कर्म नृणां भवेत्।
आदिसर्गेषु जीवानां तथा चिन्मात्ररूपिणाम् ॥४०॥
सर्गे सर्गतया रूढे भवत्प्राक्कर्मकल्पना।
पश्चाज्जीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥४१॥
सर्ग एव न सर्गोऽयं ब्रह्मेत्थं किल तिष्ठति।
यत्र तत्र क्व कर्माणि कानि वा कस्य तानि वा ॥४२॥
अपरिज्ञानमात्रं यत्स्वयं वै परमात्मनः।
तदेतत्कर्म बन्धाय तत्तज्ज्ञस्योपशाम्यति ॥४३॥
यावद्यावत्परिज्ञानं पण्डितस्य प्रवर्तते।
तावत्तावत्तदेवाऽस्य कर्म शाम्यति बन्धनम् ॥४४॥
यन्नाम किल नाऽस्त्येव तच्छान्तौ का कदर्थना।
परमार्थादृते बन्धः किंचिन्नाम न विद्यते ॥४५॥
तावन्माया भवभयकरो पण्डितत्वं न याव-
त्स्त्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव वः शान्तिमेति ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० शवो० कर्मनिर्णयो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४२॥

सर्वशक्तिमान् और सत्यसंकल्प होने के कारण ब्रह्म ही सृष्टि, भूतस्वरूप, कर्म और जन्म ऐसी कल्पनाएँ करता हुआ स्वयं ही कल्पित पदार्थों के रूप से भासित होता है ॥३७॥

सृष्टि के आरम्भ में किसी जीव के कर्म का सम्भव ही नहीं है। पीछे अविद्या में स्थिति की कल्पना के बाद चिद्रूप वह जीव देह आदि द्वारा स्वकर्म को स्वयं निष्पन्न कर उसका भोग करता है ॥३८॥

जलावर्त का क्या शरीर है, क्या कर्म हैं। वैसे ही जगत् केवल ब्रह्ममात्र ही है जैसे भँवर केवल जल ही है ॥३९॥

सृष्टि के आदि में शुद्ध सात्त्विक शरीर में चिन्मात्र स्वरूपवाले जीवों के कर्म वैसे ही नहीं रहते जैसे स्वप्न में देखे गये मनुष्यों का प्राक्तन कर्म नहीं होता है ॥४०॥

सृष्टि के सृष्टिरूप से बद्धमूल होने पर प्राक्तन कर्मों की कल्पना होती है। उसके बाद ये जीव कर्मपाश से विवश होकर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं अर्थात् शुद्ध सात्त्विक शरीर में कर्म इसलिए नहीं रहते कि उनकी सर्गता बद्धमूल नहीं होती है ॥४१॥

जहाँ यह सृष्टि सृष्टि नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही इस प्रकार सृष्टि के रूप से स्थित है वहाँ कर्म कहाँ? वे क्या अथवा किसके कहे जा सकते हैं ॥४२॥

परमात्मा का जो स्वयम् अपने स्वरूप का अपरिज्ञान है वही यह कर्म बन्धन का कारण अपना परमात्मा-स्वरूप जिसे ज्ञात है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है अर्थात् कर्म जब है ही नहीं तब कर्मप्रयुक्त बन्धन कहाँ अर्थात् नहीं है, किन्तु अज्ञानप्रयुक्त ही बन्ध है, भले ही आप उसे कर्मबीज कहें पर वह अज्ञान से अतिरिक्त नहीं है ॥४३॥

ज्यों-ज्यों पण्डित का ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों उसका बन्धन में डालनेवाला कर्म बराबर क्षीण होता है अर्थात् कर्म भी अविद्या रूप ही है इसलिए ज्यों-ज्यों ज्ञानप्रकर्ष होता है त्यों-त्यों कर्म का क्षय होता है ॥४४॥

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके नाश में कौन-सी समस्या है बन्ध परमार्थ के सिवा कुछ है ही नहीं अर्थात् अज्ञानवश परमार्थ में वह कल्पित है ॥४५॥

जब तक पाण्डित्य प्राप्त न हो जाय तभी तक माया संसाररूप बन्धन का भय उत्पन्न करती है, वास्तव में पाण्डित्य भी वही है, जिससे फिर भवसागर में पतन नहीं होता। शुष्कतर्कादि पाण्डित्य का यहाँ पर कुछ भी उपयोग नहीं है। इसलिये निरन्तर निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण पाण्डित्य के लिए श्रवण, मनन आदि प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा दूसरे उपाय से आपका संसारभय कदापि शान्त नहीं हो सकता ॥४६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में कर्मनिर्णय नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बयालिसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४२॥

१४३

मुनिरुवाच

सर्वेषामेव धर्माणां कर्मणां शर्मणामपि।
पण्डितः पुण्डरीकाणां मार्तण्ड इव मण्डनम् ॥१॥
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः।
पण्डितास्तत्र शक्रश्रीर्जरत्तृणलवायते ॥२॥
पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा।
न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥३॥
पण्डितस्य यथाभूता वस्तुदृष्टिः प्रसीदति।
दृगिवेन्दौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥४॥
इदं दृश्यमविद्यात्म ब्रह्म संपद्यते क्षणात्।
बुधस्य बोधात् स्रग्दाम सर्पत्वमिव शाम्यति ॥५॥
यत्स्थितं ब्रह्मणि ब्रह्म कृतास्तेनैव सत्यता।
स्वभावैकात्मिकाः संज्ञा देहसर्गक्षयादिकाः ॥६॥
सर्गो विद्यत एवाऽयं न यत्र किल किंचन।
तस्य धर्माणि कर्माणि न चैवाऽक्षरमालिका ॥७॥
पृथ्व्यादि संभवति चेत्तत्सकारणमस्तु तत्।
तदेव यत्र नाऽस्त्येव तत्र किं तस्य कारणम् ॥८॥
ब्रह्मणः प्रतिभातं यत्तदिद जगदुच्यते।
तेनैव कुत एतानि पृथ्व्यादीनि क्व कारणम् ॥९॥
स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा।
न वास्तवं पूर्वकामं जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥१०॥

१४३

मुनि ने कहा—हे व्याध! कमलों को खिलाने के निमित्त जैसे सूर्य आकाश का अलङ्कार है वैसे ही सम्पूर्ण धर्मों के निर्णय में, धर्म से अविरुद्ध लौकिक कर्मों के निर्णय में तथा धर्म और सत्कर्मों के फलभूत ऐहिक और पारलौकिक सुखों के तारतम्य के निरूपण में सन्देहरूपी ग्रन्थि को सुलझाकर श्रोता की बुद्धि को विकसित करनेवाला पण्डित ही सभा का अलङ्कार है ॥१॥

गन्तव्य परम धामरूपी ब्रह्म को जानने वाले आत्मज्ञानी पण्डित जिस परम गति को प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्र का महान् ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण पत्ते के टुकड़े की तरह नगण्य है अर्थात् सकल पारलौकिक सुख भी पण्डित को प्राप्त होनेवाले आत्मसुख रूपी महासागर में जलकण से भी लघु है ॥२॥

पाताल में, भूतल में और स्वर्ग में जो कुछ सुख अथवा ऐश्वर्य मैं देखता हूँ, वह सब मिलकर भी पाण्डित्य की बराबरी नहीं कर सकता है ॥३॥

सत्-शास्त्र के विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान से परिपूर्ण पाण्डित्य की परमार्थ वस्तुरूप दृष्टि स्वात्मा में वैसे ही आह्लाद का अनुभव करती है, शरत् काल के पूर्णिमा के अखण्ड निर्मल मण्डलवाले चन्द्रमा से बादलों का कोई सम्पर्क न हो, किन्तु लोगों की दृष्टि आह्लादित होती है ॥४॥

विद्वान् की दृष्टि में यह अज्ञानरूप सर्गादि दृश्य क्षणभर में वैसे ही ब्रह्म बन जाता है जैसे ज्ञान होने पर माला में कल्पित सर्प भ्रम शीघ्र शान्त हो जाती है ॥५॥

ब्रह्म स्वतत्त्वज्ञान से ही ब्रह्मरूप स्वभाव में जो स्थित है उसी की स्वयं उसी ने स्वस्वभावरूप देह-सर्ग-क्षयादि संज्ञाएँ की हैं, यह परमार्थ है। अर्थात् देहसर्गादि-शान्ति ब्रह्म स्वभाव से अतिरिक्त नहीं उत्पन्न होती है ॥६॥

जिसमें यह सृष्टि नाममात्र को भी नहीं है उसमें सृष्टि के धर्म, कर्म और उनके बोधकपद, वाक्य आदि रूप अक्षरमालिका कहाँ से होगी, अर्थात् नहीं है परिशिष्ट ब्रह्म दृश्य के धर्म और कर्म से शून्य है ॥७॥

पृथिवी आदि के अस्तित्व का संभव होता तो उसका कारण भी होता, जहाँ पर पृथिवी आदि का अस्तित्व ही नही है, वहाँ पर उसका कारण क्या होगा? अर्थात् दृश्य का न तो भूतकाल में अस्तित्व था, न वर्तमान में है और न भविष्य में रहेगा यों त्रैकालिक असत्ता होने से ही उसकी सकारणकता का निरास हो गया ॥८॥

ब्रह्म का जो प्रतिभास है, वह यह जगत् कहलाता है। इसी से समझ लीजिये कि वे पृथिवी आदि कहाँ है और इनका कारण कहाँ। क्या कहीं प्रतिभासिक घट के लिए दण्ड, चक्र आदि कारणकलाप की आवश्यकता पड़ती है ॥९॥

जाग्रत्रूप स्वप्न में भी दृश्य लोगों के पिता आदि कारण वैसे ही काल्पनिक ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। जैसे स्वप्न देखने वाले को दिखाई देने वाले स्वप्नलोक के मनुष्यों के पिता आदि कारण काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं है ॥१०॥

यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे च स्वप्ने पुंसां न विद्यते।
इह जाग्रत्स्वप्ननृणां भातानामपि नो तथा ॥११॥
जीवः सर्वेषु सर्गेषु स्वप्नार्थान्निखिलान्मिथः।
प्राक्कर्मसत्त्व मिथ्यात्म यथावासनमेषु च ॥१२॥
सर्गादावथ देहान्ते भान्ति स्वप्नार्थवन्मिथः।
यथासंवेदनं जीवाः सन्तोऽसन्तश्च तेन ते ॥१३॥
यथासंवेदनं सर्वे भान्ति भावयतस्ततः।
ते सन्त्यात्मन्यपि स्वप्ने जाग्रतीवाऽर्थदा मिथः ॥१४॥
संकल्पसंविदग्रस्थवस्तुनिष्ठतयाऽस्फुटम् ।
फलं चाऽऽप्नोति ते स्वप्ने लोकनिष्ठतयाऽस्फुटः ॥१५॥
शुद्धा संवित्स्वभावस्था यत्स्वयं भाति भास्वरा।
तस्या भानस्य तस्याऽस्य जाग्रत्स्वप्नाभिधाः कृताः ॥१६॥

यहाँ भासमान जाग्रत्‌रूप स्वप्न के मनुष्यों के भी प्राक्तन कर्म वैसे ही नहीं हैं जैसे स्वप्नलोक के पुरुषों के पुरुषादि रूप में उत्पन्न होने में निमित्तभूत प्राक्तन कर्म नहीं हैं अर्थात् पिता आदि की तरह उनके कर्म आदि भी अवास्तविक ही हैं ॥११॥

अपनी वासना के अनुसार मिथ्याभूत सकल व्यवहार में प्राक्तन कर्म के अस्तित्व को, जो सर्वथा मिथ्या है, अपनी वासना के अनुसार वैसे ही देखता है जैसे जीव सृष्टियों में सकल स्वप्नार्थों को परस्पर देखता है ॥१२॥

जीव भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त संसार में स्वप्नपदार्थों की तरह ही अपने संकल्प के अनुसार परस्पर प्रतीत होते हैं, इसलिए स्वप्नपदार्थों की तरह संवेदनांश में विद्यमान भी वे अन्य अंश में अविद्यमान ही हैं ॥१३॥

भावना कर रहे पुरुष को सब पदार्थ अपने संकल्प के अनुसार अपनी आत्मा में प्रतीत होते हैं और जाग्रत् के समान स्वप्न में भी परस्पर अर्थक्रिया में समर्थ होते हैं ॥१४॥

स्वप्न अस्फुट है लोकनिष्ठता से जाग्रत् स्फुट है, यही जाग्रत् और स्वप्न में अन्तर है जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव में भी आपकी भोजन आदि की संकल्प संवित ही पाक आदि संवित् के क्रम से मुँह में कौर डालने के रूप से तृप्तिरूप फल प्राप्त कराती है जाग्रत्-संवित् भी वैसे ही है ॥१५॥

स्वभाव में स्थित भास्वर शुद्ध संवित् स्फुट हो चाहे अस्फुट जो भी होकर स्वयं भासित होती है उसके उस भान के जाग्रत् और स्वप्न दो नाम लोक में रखे गये हैं ॥१६॥

सर्गादावथ देहान्ते भातं यद्वेदनं यथा।
तत्तथाऽऽमोक्षमेवाऽऽस्ते तादृक् सर्ग उच्यते ॥१७॥
जाग्रत्स्वप्नार्थसार्थस्य संविदश्च न भिन्नता।
अस्त्यप्रतिघरूपायाः प्रकाशालोकयोरिव ॥१८॥
अग्न्यौष्ण्ययोरिव तथा वातस्पन्दनयोरिव।
द्रवाम्भसोरिवाऽऽवीचि वा शैत्यानिलयोरिव ॥१९॥
सर्वमप्रतिघं शान्तं जगज्जातमसन्मयम्।
इत्थं सन्मयमेवाऽस्ति नाऽस्त्यर्थेन च संयुतम् ॥२०॥
ब्रह्म प्रोद्भूय मृत्वा च दृश्यानुभवरूपि च।
चिन्मात्रमजरं शान्तमेकमेवाऽमलं स्थितम् ॥२१॥
कार्यकारणतार्थानां या यथा हृदि कल्पिता।
ब्रह्मणा पुरुषेणेव नगर्यन्तस्तथैव सा ॥२२॥

भूत, भुवन आदि की सृष्टि से लेकर देहसिद्धि पर्यन्त जिस वेदन का जैसे भान होता है वह मोक्षपर्यन्त प्रवाह-रूप से जैसा का तैसा रहता है। वही यह सर्ग कहलाता है ॥१७॥

जाग्रत् और स्वप्न में प्रसिद्ध पदार्थों की और अमूर्त होने के कारण अप्रतिघातरूप उनकी संवित् की वैसे ही भिन्नता नहीं है, जैसे कि प्रकाश और आलोक की भिन्नता नहीं है, जैसे अग्नि और उष्णता नहीं है और जैसे तरङ्ग के साथ द्रव और जल की भिन्नता नहीं है अथवा जैसे शीतलता और वायु की भिन्नता नहीं है ॥१८, १९॥

'नेति-नेति' इस श्रुति द्वारा निषिद्ध्यमान होने के कारण निषेधार्थक नञ (न) से और उसके अर्थ प्रति-योगिता से युक्त असद्रूप सम्पूर्ण जगज्जाल अधिष्ठानभूत चित्स्वभावतावश अमूर्त चिन्मय होने के कारण प्रति-घातासह शान्त सन्मय ही है ॥२०॥

ब्रह्म जगद्रूप से उत्पन्न होकर और प्रलयरूप से मरकर दृश्यानुभवरूपी होने से सार्वात्म व्यवहार में दृश्यानुभवरूप है, किन्तु परमार्थ में अजर, अमल, शान्त, एक चिन्मात्र ही स्थित है ॥२१॥

पुरुष ने नगरी के अन्दर मृत, कुड्य आदि पदार्थों की कार्य-कारणता की कल्पना कर रक्खी है वैसे ही ब्रह्मा ने आकाश, वायु आदि पदार्थों की हृदय में जो कल्पना कर रक्खी है वह वैसे ही रहे। यह शास्त्र नियमभङ्ग के लिए नहीं है, किन्तु उसकी सत्यता, भिन्नता आदि के विनाश के लिए है, यह भाव है ॥२२॥

ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा।
कार्यकारणता तत्र तथाऽऽस्तेऽभिहिता यथा ॥२३॥
संविद्घनोदरे सर्गे कार्यकारणता स्थिता।
तथा यथोहिता तेन त्वया वा कल्पनापुरम् ॥२४॥
चिता संकल्परूपिण्या सर्गे संकल्पपत्तने।
त्वयैव स्थापिता संस्था कार्यकारणरूपिणी ॥२५॥
आकाश एव कचनं यच्चित्ते स्वात्मरूपिणी।
नियतं संनिवेशत्वात्तदन्तः सर्ग उच्यते ॥२६॥
या संविद्व्यवस्थाऽऽस्ते हृदि संकल्पपत्तने।
सैषा स्वभावसंसिद्धिः कार्यकारणतार्थजा ॥२७॥

ब्रह्मा के हृदय में यह सृष्टि वैसे ही है जैसे तुम्हारे हृदय में स्वप्न-नगरी है जैसे स्वाप्नी कार्यकारणता मैंने तुमसे कही हैं वैसे ही कार्यकारणता उसमें हैं। अर्थात् जगत् की सत्यता का भङ्ग होने पर स्वाप्न वस्तुओं की प्रकृति के समान जगत् का चिन्मात्र में ही पर्यवसान होता है ॥२३॥

ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में कार्यकारणता का संकल्प वैसे ही किया था। जैसे तुम अपने स्वप्ननगर की कल्पना करते हो संकल्पमय इस सृष्टि में वैसी कार्य-कारणता आज भी स्थित है ॥२४॥

जैसे तुमने अपने स्वप्न नगर में कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था स्थापित कर रक्खी है सृष्टिरूपी स्वप्ननगर में संकल्परूपिणी चिति ने भी वैसी ही कार्यकारणरूपिणी व्यवस्था बाँध रक्खी है ॥२५॥

संकल्पनगर और उसकी अन्दरूनी व्यवस्था केवल चिदाकाश का विकास ही तो है, यह बात अपने अनुभव से सिद्ध है। यह परिदृश्यमान सृष्टि भी हिरण्यगर्भ के संकल्प से उद्भूत होने के कारण संकल्प-सृष्टि के अन्तर्भूत ही श्रुति, पुराण आदि में कही जाती है, उससे पृथक् नहीं है ॥२६॥

हृदय में स्थित संकल्प-नगर में चिदादित्य की (चित्सूर्य की) स्वप्रकाशतारूप अवस्था सदैव रहती है वही यह कार्यकारणता सृष्टि के पदार्थों में उत्पन्न स्वभाव सिद्ध है ॥२७॥

'स भूरिति व्याहरत्' (उसने 'भू' उच्चारण किया और भुवन की सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार हिरण्यगर्भ के (ब्रह्मा के) हृदय चैतन्य में सृष्टि के आरंभ में गन्ध, काठिन्य आदि रूप से जिस चित्त्व का स्फुरण होता है वह इस समय भी वैसे ही वर्तमान है।

प्रथमं यद्यथा भाति चित्त्वमस्ति तथेह तत्।
तस्यैव नियतिः कालो देशादीत्यभिधा कृता ॥२८॥
या नामाऽऽशु यथा भाति चेतनाकाशशून्यता।
तया तथा वस्तुतया कार्यकारणताऽऽश्रिता ॥२९॥
चिच्चमत्कारमात्रेऽस्मिन्सर्गाभे भावरूपिणि।
पूर्वं भावाः प्रवर्तन्ते पश्चात्सर्गाभिधा विदः ॥३०॥
शून्यतास्त्रिजगद्रूपास्तथा चिद्व्योमनि स्थिताः।
अनन्याः पवने सौम्य स्पन्दसत्ता यथा निजाः ॥३१॥
व्योम्नि सौषिर्यनैबिड्यं यथा नीलमिति स्थितम्।
चिति चेतननैबिड्यं तथा सर्ग इति स्थितम् ॥३२॥

उस प्रकार से स्थित उसी की स्वभाव पृथिवी का गन्ध तथा काठिन्य स्वभाव, जल का द्रवत्व स्वभाव, तेज का उष्ण और प्रकाश स्वभाव, वायु का गमन और सूक्ष्मता स्वभाव इत्यादि रूप से काल अतीत, अनागत आदि काल के रूप से तथा पूर्व, देश आदि पश्चिम आदि देशों के रूप से तत्-तत् संज्ञाएँ की गई हैं ॥२८॥

जो चिदाकाश की शून्यता झटपट जिस वस्तुरूप में भासित होती है उस वस्तुता से वैसे ही कार्यकारण-भाव का आश्रयण किया गया है। जैसे कि गौ दूध की कारण है और घड़ा दूध के धारण का कारण है अर्थात् इसी प्रकार गौ घड़ा आदि सबमें समझना चाहिये ॥२९॥

संकल्परूपी सृष्टि मालूम पड़नेवाले इस एकमात्र चिच्चमत्कार में पहले पदार्थों की सृष्टि होती है उसके पश्चात सृष्टि आदि नाम पड़ते है जिसका मन से ध्यान करता है, उसका वाणी से उच्चारण करता है, इस श्रुति के अनुसार पहले रूपकल्पना की गई, उसके पश्चात् नाम की कल्पना हुई ॥३०॥

हे सौम्य ! चिदाकाश में स्थित जो त्रिजगत्रूप शून्यता है उसका चिदाकाश से वैसे ही पृथक स्वरूप नहीं है जैसे वायु में स्थित स्पन्दसत्ता का वायु से अतिरिक्त स्वरूप नहीं है उससे अभिन्न ही है वह चिदा-काश से अभिन्न ही है ॥३१॥

जैसे आकाश में घना अवकाश ही नीलरूप से स्थित है चित् में चैतन्य की घनता वैसे ही सर्गरूप से स्थित है अर्थात् इससे सिद्ध हुआ कि चिद्घनता का ही भ्रान्त लोगों की दृष्टि में जगत् के रूप में स्फुरण होता है ॥३२॥

आभात एव भातेऽस्मिन्कृच्छ्रात्सर्गे विसर्गता।
बुध्यते रज्जुभुजगे रज्जुरूपं यथा पुनः ॥३३॥
मृतः स स्वप्नवत्सर्वः संपश्यति पृथग्जगत्।
तच्चाऽन्यदिदमन्यच्च नित्याप्रतिघमम्बरम् ॥३४॥

व्याध उवाच

परतः सुखदुःखार्थं देहः संपद्यते कथम्।
किमस्य हेतुः के वाऽस्य हेतवः सहकारिणः ॥३५॥
कुर्वन्ति धर्माधर्माश्चेत्तेन प्रतिघरूपिणा।
तदस्याऽप्रतिघं रूपं कुर्वन्तीत्यसमञ्जसम् ॥३६॥

मुनिरुवाच

धर्माधर्मौ वासना च कर्मात्मा जीव इत्यपि।
पर्यायशब्दभारोऽत्र कल्प्यते न तु वास्तवः ॥३७॥
चित्त्वात्कल्पितचित्त्वेन स्वयं चिन्नभसात्मनि।
कृतानि नामान्येतानि कश्चिदस्तीति चेतसा ॥३८॥
संविदात्मा स्वयं चित्त्वाद्देहं वेत्ति खमेव खे।
मृत्वाऽसन्तं सन्तमिव संकल्पस्वप्नयोरिव ॥३९॥
स्वयं स्वप्न इवाऽऽभाति मृतस्य परलोकधीः।
तमेव पश्यति चिरं न तत्राऽप्यस्ति सत्यता ॥४०॥
मृतं निर्माति चेदन्यः कथं वाऽस्य स्मृतिर्भवेत्।
कथं वा स्यात्स एवाऽसौ चेतनत्वं तमेव खम् ॥४१॥
मृतौ न जायते तस्माच्चेतसैव स केवलम्।
इहाऽयमित्थमित्येव वेत्ति खे वासनात्मकम् ॥४२॥

जब कठिनाई के साथ साधनों के अभ्यास से देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत त्रिविध परिच्छेद से शून्य चिन्मात्र का स्वभावतः ज्ञान होता है तब जाकर इस सृष्टि में सृष्टि का अभाव प्रतीत होता है जैसे कि रज्जु सर्प का यह सर्प नहीं है, रज्जु है, वैसे ही ज्ञान होने पर फिर रज्जु का रूप ज्ञात होता है ॥३३॥

वह मरकर स्वप्न की तरह सम्पूर्ण जगत् को पृथक देखता है, उसके बाद होनेवाली पारलौकिक अन्य देह का वह सारा जगत् अमूर्त चिदाकाश ही है अर्थात् ऐहलौकिक सृष्टि के समान पारलौकिक सृष्टि भी ऐसी ही है ॥३४॥

व्याध ने कहा—हे मुनिवर ! इस देह के छूट जाने के बाद अन्य देह कैसे उत्पन्न होती है ? उसका कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त और सहकारी कारण हैं ॥३५॥

यदि धर्म और अधर्म देह आदि का निर्माण करते हैं। देहादिभाव से स्थित इसका नित्य मोक्षनामकरूप कर्म करते हैं यह कथन असमञ्जस है, क्योंकि जो कर्मनिर्मित होता है उसका पिण्ड अनित्या नहीं छोड़ती, यह भाव है अर्थात् जो लोग यह मानते हैं कि धर्माधर्म ही स्वभोगार्थ सब कुछ करते हैं, उनके मत में कर्म निर्मित की ज्ञान से विवृत्ति न होने के कारण मोक्षाभाव की आपत्ति प्राप्त होगी ॥३६॥

मुनि ने कहा—धर्माधर्म, वासना, कर्म, आत्मा, जीव यह सब पर्यायवाची शब्दों की राशि की कल्पना है, किन्तु अर्थभेद इनमें तनिक भी नहीं है अर्थात् संस्कार रूप से विहित और निषिद्ध के आचरण धर्म और अधर्म कहलाते हैं; संस्कार-पुञ्ज ही मन है, चिदाभास से व्याप्त मन ही जीव है और जीव प्राणादि चेष्टा प्रधान होने से कर्मात्मा है और वही अपनी वासना के अनुसार देह आदि का संकल्प करता हुआ जीवात्मा सा बनता है इसलिए ये चित् के प्रतिभास विशेष ही हैं, उनके नाम की भले ही यथेष्ट कल्पना की जाय, लेकिन उनके भेद नहीं है ॥३७॥

चिदाकाश ने कोई दृश्यदेहादिप्रपञ्च भी है यों चित्त द्वारा कल्पित चिदाभासरूप से अपने चिदाकाश स्वरूप में स्वयं ये धर्म, अधर्म आदि, इनके फल सुख, दुःख आदि नाम रखे हैं ॥३८॥

मरकर भी अविद्यामान आकाशरूप देह को चित् होने से स्वय चिदाकाश में वैसे ही विद्यमान-सा जानता है जैसे जीवात्मा स्वप्न और मनोरथ में पहले से अविद्यमान देह को विद्यमान-सा जानता है ॥३९॥

मरे हुए को परलोक बुद्धि स्वप्न के समान अपनेआप भासित होती है मरकर वह चिरकाल तक परलोक को देखता है, किन्तु स्वप्न के समान उसमें सत्यता नहीं है अर्थात् मरने के बाद का समय और देह आदि की कल्पना स्वप्न के समान ही है ॥४०॥

यदि कोई दूसरा—पिता अथवा ईश्वर—मृत की सृष्टि करता है, तो वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (उसकी सृष्टिकर उसी में प्रवेश कर गया) इस श्रुति से निर्माण कर्ता के ही प्रवेश का श्रवण है। यदि कहो कि इष्टापत्ति है, तो उसको स्तनपान आदि प्रवृत्ति के अनुरूप स्मृति कैसे होगी ? पूर्वसिद्ध आत्मा का ही अवलम्बन करके उत्पन्न हुए में जो चेतनत्व प्रसिद्ध है वह भी शून्य ही है। इससे सिद्ध हुआ कि मृत्यु होने के बाद फिर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु केवल चित्त से ही यहाँ पर मैं इस प्रकार उत्पन्न हुआ हूँ यों जन्मादि विकारशून्य आत्मा में कल्पना द्वारा जानता है ॥४१,४२॥

स्वमेव भावमभ्यस्तमास्ते सोऽनुभवंश्चिरम् ।
स्फुटप्रत्ययवांस्त्वत्र सत्यमित्येव वेत्त्यलम् ॥४३॥
खात्मा खमेव तत्रैव स्वप्नाभं दृश्यमाहरन् ।
पुनः स्वमरणं वेत्ति पुनर्जन्म पुनर्जगत् ॥४४॥
अलीकजालमेवं खे पश्यन्प्रत्येकमास्थितः ।
पश्यत्याचारयत्यत्ति किंचित्कश्चिन्न कस्यचित् ॥४५॥
इत्येवं जगतां सन्ति कोटीनां कोटिकोटयः ।
परिज्ञातास्तु ता ब्रह्म केवलं दृश्यमन्यथा ॥४६॥
ताभिर्न कस्यचित्किंचिदावृतं न च सन्ति ताः ।
तासां च वेत्ति प्रत्येकमिदमेव जगत्त्विति ॥४७॥

अभ्यस्त स्वभाव का ही चिरकालतक अनुभव कर रहा जीव उसमें दृढ़ प्रतीति कर लेता है, अतएव उसे सर्वता सत्य ही समझता है। अर्थात् उसी भाव की अभ्यासवश जब स्फुट प्रतीति होती है तब लोक और वेद में उसी में जन्म व्यवहार होता है, लेकिन वह वास्तविक नहीं है ॥४३॥

आकाशात्मा उसी में आकाशरूप स्वप्न तुल्य दृश्य का अभ्यास करता हुआ फिर स्मरण की कल्पना करता है पुनः जन्म की और पुनः जगत् की कल्पना करता है ॥४४॥

इस तरह चिदाकाश में असत्य परमपरा को देख रहा जीव व्यष्ठिभाव को प्राप्त होकर अलीक जगज्जाल को जाग्रत् और स्वप्न में देखता है, अपदी सन्निधिमात्र से स्व में अभ्यस्त कार्यकारणों को विषयों में प्रवृत्त कराता है एवं सुषुप्ति, प्रलय और मोक्ष में जगत् का भक्षण करता है। लेकिन वास्तव में न तो कुछ किसी का भक्षणीय है और न कोई भक्षक ही है ॥४५॥

इस प्रकार कोटि-कोटि जगत् है। यदि उनका रहस्य तत्त्व जान लिया जाय तो वे सब ब्रह्मरूप ही हैं तत्त्व ज्ञात न हो तो वे केवल एकमात्र दृश्य ही हैं ॥४६॥

उक्त कोटि-कोटि जगतों द्वारा किसी का कुछ भी आवृत नहीं हुआ। वास्तव में वे हैं ही नहीं। उन जगतों में प्रत्येक जीव यही केवल एक जगत् है.अन्य जगत् नहीं है, ऐसा जानता है ॥४७॥

उक्त कोटि-कोटि जगतों के पृथिवी आदि पञ्चभूत और जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणी तत्-तत् जीवों के अभीष्ट जगत् में उस जगत् के अनुरूप ही हैं उसके अननुकूल नहीं हैं। वे सबके

भूतानि तासां प्रत्येकं तथैवाऽन्योन्यमास्थिते ।
सत्यान्येवाऽसत्यदृष्ट्या सत्यदृष्ट्या त्वजं पदम् ॥४८॥
सद्यद्विदितवेद्यस्य तदज्ञस्याऽसदक्षयम् ।
असद्यत्संप्रबुद्धस्य तत्सदज्ञस्य सुस्फुटम् ॥४९॥
चितेर्यद्यद्यथा भानं तत्तत्सत्यं यथा यतः ।
तद्रूपाणि समग्राणि भूतानीमान्यतो मिथः ॥५०॥
नित्यमन्योन्यसत्यानि तानि तान्येव वाऽन्यतः ।
किल संविद्विनिर्णेयं रूपमप्रतिघं यतः ॥५१॥
संविन्मात्रविनिर्णेयं काऽन्यता नाऽन्यता कथा ।
यथासंवेदनं भाते वस्त्वोघे क्व द्वितैकते ॥५२॥

सब असत्य व्यवहार दृष्टि से सत्य है, सत्य परामर्थ दृष्टि से अजन्मा ब्रह्मरूप ही हैं ॥४८॥

तत्त्वज्ञाता की दृष्टि से जो (पर ब्रह्मरूप वस्तु) सत्य है वह अज्ञ की दृष्टि में कभी निवृत्त न होने वाला असत्य है और जो ज्ञानी की दृष्टि में असत् है वह अज्ञानी की दृष्टि में अति स्पष्टरूप से सत्य है। अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में सत्य और असत्य परस्पर विपरीत है यानी जिसको ज्ञानी सत्य समझता है उसे अज्ञानी असत्य और जिसे ज्ञानी असत्य समझता है उसे ज्ञानी सत्य कहते हैं ॥४९॥

परमार्थ सत्यचिति का जो-जो भान जैसा होता है वह-वह सब सत्य है, इसलिए ये सब भूत परस्पर सत्य ही हैं। अर्थात् सत्य और असत्य दोनों ही परमार्थ सत्य चित् में भानरूप होने से सब कुछ सत्य ही हैं, अतः ज्ञानी और अज्ञानी में परस्पर अविपरीतता ही है ॥५०॥

जिस-जिस जगत् का जिस-जिस संवित् के प्रतिभान होता है वह उस संवित् के प्रति नित्य सत्य है, क्योंकि जगद्रूप सत्य है अथवा असत्य है इस बात का अपनी सत्य संवित् से ही निर्णय करना चाहिये। वह भगवती संवित् 'सत्य है' ऐसा निर्णय करती है, तो दूसरा कौन उसके निर्णय को विपरीत सिद्ध कर सकता है, क्योंकि उसका निर्णय अमोघ है। अर्थात् जिसके प्रति जब जिस जगत् का भान होता है, उसके प्रति तब वह सत्य है, यह सत्यता की व्यवस्था है ॥५१॥

यदि यह सब सविद्-मात्र से निर्णेय है तो जहाँ जैसा संवित् को भासमान होता है, वहा वैसा ही है। संवेदनानुसार प्रतीत हुई वस्तुराशि में क्या भेद है क्या अभेद है, क्या द्वित्व और एकत्व की ही कथा है ॥५२॥

तदेवेदमिदं ज्ञप्तेस्तदेवेदं भवत्यलम् ।
तदेवैतत्तदेवेति भवेज्ज्ञप्तेरसत्यतः ॥५३॥

तच्चेदर्थस्ततो ज्ञप्तेर्नाऽयं तस्याः पृथक् स्थितः ।
स्थिते ज्ञप्त्यात्मनि त्वर्थे त्वज्ञप्त्याऽयं व्रजेत् ॥५४॥

ज्ञानं यदेव तज्ज्ञेयं ज्ञेयस्याऽसंभवात् पृथक् ।
यथा ज्ञानमतो ज्ञेयं तनोत्यात्मानमात्मना ॥५५॥

पश्यन्तोऽपि मिलन्तोऽपि पृथक्सर्गां न किंचन ।
सत एवाऽसतो ज्ञस्य मूर्खज्ञातांस्तु वेद्मि नो ॥५६॥

एकं प्रबोधतः सर्वे चिन्मात्रं तावदात्मखम् ।
तदेवाऽनेकसंवित्त्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥५७॥

यह ज्ञेय ज्ञानरूप ही है ज्ञान और ज्ञेय का अभेदज्ञान होने से यह दृश्यसमूह ज्ञान ही हो जाता है, इसी से सकल द्वैत की निवृत्ति होने के कारण चिद्-अद्वैत सिद्ध हुआ ।

ज्ञान के अपलाप द्वारा ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो यों ज्ञेयमात्र का ही परिशेष क्यों नहीं मानते हो ? यह शङ्का होती है ।

हाँ ठीक है, ज्ञान ही ज्ञेय है यों दृश्य का परिशेष तभी सम्भव है जब कि ज्ञप्ति (ज्ञान) असत्य हो और यदि ज्ञान को असत्य मानो तो ज्ञप्तिरहित ज्ञेय की सिद्धि ही नहीं होगी, यह समाधान है ॥५३॥

परिशेष रहने से यदि ज्ञान ही ज्ञेय है तो यह प्रपञ्च ज्ञान से अतिरिक्त स्थित नहीं है । इस प्रकार सकल वस्तुओं के ज्ञानरूप सिद्ध होने पर यह द्रष्टा आत्मा के अज्ञान से ही अपने ज्ञप्तिस्वभाव से च्युत होता है, वस्तुतः नहीं ॥५४॥

इसलिए जो ज्ञान है वही ज्ञेय है, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय का संभव नहीं है, अतः ज्ञान ज्ञेय जगदात्मता का अपने से ही विस्तार करता है ॥५५॥

जिनकी पृथक् सत्ता नहीं है ज्ञानरूप से ही जो सत्ता वाले हैं ऐसे सर्गों को देख रहे तत्त्वज्ञानी के रूपादि का ग्रहण कर रहीं चक्षु आदि सृष्टियाँ और उनसे मिल रही रूपादि सृष्टियाँ भी ज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, यही तत्त्व है, किन्तु मूर्खजनों को ज्ञात जो सृष्टियाँ हैं, उनके विषय में मैं कुछ नहीं जानता, क्योंकि उनका दृष्टिकोण ही दूसरा है ॥५६॥

तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानवश घट, पट आदि सकल पदार्थ एक चिन्मात्र चिदाकाश ही हैं, उससे

एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति ।
पुनर्लक्षात्म तत्स्वप्नादेकमास्ते सुषुप्तके ॥५८॥

चिद्व्योम्नि स्वप्नसंवित्तिर्या सैव जगदुच्यते ।
सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्मान्न्यायोऽयमेव सन् ॥५९॥

एकैव सविज्ञानात्वं नृलक्षत्वं च गच्छति ।
शून्यत्वं च तथाऽर्थत्वं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥६०॥

इदमप्रतिघं सर्वं किल वेदनमात्रकम् ।
शुद्धं तद्वद्यथा यत्र भाति तत्र तथा भवेत् ॥६१॥

एकैव संवित्सर्गादौ भवत्यग्न्यम्बुखादिकम् ।
पृथ्व्यादि तावत्सर्गार्थं स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥६२॥

संविदाकाशरूपैव भाति पृथ्व्यादिनामिका ।
यत्तदेव खमेवेदं जगदित्येव भासते ॥६३॥

अतिरिक्त उनका कुछ अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु अज्ञ जीवों की दृष्टि में द्वैतज्ञानवश चिन्मात्र चिदाकाश ही सहस्रों रूप धारण करता है ॥५७॥

एक चिन्मात्र ही स्वप्न में लाखों रूप बनकर रहता है स्वप्न से सुषुप्ति में जाकर वह लाखों रूप वाला एक चिन्मात्र हो जाता है ॥५८॥

चिदाकाश में जो स्वप्न संवित् है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश के विषय में जो सुषुप्ति है वही प्रलय है, इसलिए यही न्याय उत्तम है ॥५९॥

एक ही संवित् भोग्यरूप से विविधता तथा भोक्ता के रूप से लाखों मनुष्यों के रूप में वैसे ही प्रकट होती है जैसे कि स्वप्न और संकल्प में एक ही संवित् पदार्थ के रूप में और शून्यता के रूप में व्यक्त होती है ॥६०॥

जहाँ पर जैसा भान हो जाता है वहाँ पर वैसा होता है वैसे ही अमूर्त होने के कारण प्रतिघातावहं यह सब एकमात्र शुद्ध ज्ञान ही है ॥६१॥

एक ही संवित् सृष्टि के आदि में अग्नि, जल, आकाश आदि होती है, सृष्टि की सिद्धि के लिए वही स्वप्न और संकल्प की तरह पृथिवी आदि होती है ॥६२॥

आकाशरूप संवित्, पृथिवी आदि नामवाली प्रतीत होती है, इसलिए यह संविद् रूप आकाश ही 'जगत्' रूप से भासमान होता है ॥६३॥

संवित्सप्रतिघं भाति भाति चाऽप्रतिघं तथा।
न वस्तुतस्तु प्रतिघो संवित्साऽन्ते निवर्तते ॥६४॥
यासि पूर्वां पश्चिमां च दिशं वेत्सि चिरं विदन्।
प्रतिघं नाम ते नाऽस्ति न च सप्रतिघा क्वचित् ॥६५॥
दृष्टं संकल्पितं चाऽर्थं सहाभ्यस्यति यश्चिरम्।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छान्तो निवर्तते ॥६६॥
यासि पूर्वां पश्चिमां च दिशं वेति चिरं विदन्।
य आस्ते यात्यसौ तत्तामन्यस्त्यक्त्वा तु नेतराम् ॥६७॥
दृष्टः संकल्पितश्चाऽर्थः स्यामित्यचलसंविदः।

संवित् विनाशी मूर्त पदार्थ की तरह भासमान होती है और अविनाशी अमूर्त की तरह भी वही भासमान होती है। वस्तुतः तो नाश भी नहीं है, क्योंकि वह नाश भी अन्त में निवृत्त हो जाती है, केवल संवित् का ही परिशेष रहता है ॥६४॥

हे व्याघ्र! तुम मन से पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा को चिरकाल तक जाते हो, वहाँ पर दृष्ट, श्रुत और अनुमित पदार्थों का लाभ करते हुए अपने को जानते हो, वहाँ संवित् रूप तुम्हारा नाश है ही नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि संवित् कहीं पर भी विनाशिनी नहीं ही है।॥६५॥

प्रमाण से सिद्ध और संकल्पित वस्तु का जो पुरुष निरन्तर चिरकाल तक अभ्यास करता है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है यदि थककर मध्य में ही उससे विरत न हो जाय। इससे सिद्ध हुआ कि संकल्प की मोघता निर्बलतावश ही है। कमजोर संकल्प कार्यक्षम नहीं है, चित् में विनाशिता मानने से सर्वत्र विनाशिता का प्रसङ्ग प्राप्त होगा ॥६६॥

तुम मनसे पूर्व और पश्चिम दिशा को जाते हो वहाँ पर वहाँ के तरह-तरह के पदार्थों का चिरकाल तक अनुभव करता हुआ जो संकल्पकर्त्ता है जो संकल्पित दिशा में गमन तथा वहाँ के पदार्थों के अभेद को अपने संकल्प के अनुसार प्राप्त होता है, अन्य पुरुष तो संकल्प का त्याग कर अन्य दिशा को मन से भी नहीं जाता। इसी अन्तर से वहाँ पर चित् अविनाशी है। अर्थात् निर्बल संकल्प अदृढ़ ही मनोरथमय दिगन्त गमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन आदि करता है और दृढ़ संकल्प दृढ़ मनोरथमय दिगन्तगमन और वहाँ के पदार्थों का दर्शन करता है, इससे अदृढ़ सकल्प भी मोघ नहीं है ॥६७॥

संकल्पित अमुक पदार्थ मैं होऊँ इस प्रकार संकल्प से अविचल निश्चय वाले पुरुष का संकल्पित अभीष्ट पदार्थ

द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यस्याऽचलसंविदः ॥६८॥
दक्षिणादुत्तरां वाऽऽशां यामीत्यचलसंविदः।
द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यस्याऽचलसंविदः ॥६९॥
खे पुरं स्यां भुवि मृगः स्यामित्यचलसंविदः।
द्वयं भवेद् द्वयं नश्यत्यन्यदन्यत्तु तज्जगत् ॥७०॥
एकं प्रबोधतः सर्वं चिन्मात्रं तावदात्मखम्।
तदेवाऽनेकसंवित्त्या सहस्रं चिज्जडात्मनाम् ॥७१॥
शरीरमस्त्वप्रतिघमथ सप्रतिघं च वा।
स्वप्नात्मकोऽयं संसारो जीवस्येह परत्र च ॥७२॥

पहले प्रतिभासिक फिर संकल्प की दृढ़ता होने पर व्यावहारिक दोनों ही होता है। यह बात ऐन्दवोपाख्यान में देखी गई है। दूसरे पुरुष का जो कि संकल्प नहीं करता है भले ही वह स्वात्मा में अथवा अन्य विषय में अडिग निश्चय वाला हो, उसके दोनों ही प्रातिभासिक और व्यावहारिक नष्ट हो जाते हैं अर्थात् नहीं दिखाई देते ॥६८॥

इसी प्रकार मैं दक्षिण देश से उत्तर दिशा को जाऊँ यों अडिग निश्चय वाले संकल्पयिता पुरुष के मानसिक और शारीरिक दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं, लेकिन अन्य के असंकल्पयिता के भले ही वह अडिग निश्चय वाला हो दोनों का पूर्व पश्चिम दिग्गमन का नाश हो जाता है ॥६९॥

मैं आकाश में नगर बनूँ और भूमि में मृग होऊँ इस तरह के अविचल निश्चय वाले के दोनों संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और इसके अतिरिक्त दोनों का नाश हो जाता है, क्योंकि उन दोनों का जगत् भिन्न-भिन्न है ॥७०॥

प्रबोधवश सब कुछ एक अखण्ड चिन्मात्र आत्माकाश ही हैं अज्ञानवश अनेक (द्वैत) ज्ञान से एकमात्र अखण्ड चैतन्य अज्ञानी जीवों की दृष्टि अनन्त हो जाता है ॥७१॥

शरीर चाहे विनाशी या साकार हो चाहे अविनाशी या निराकार हो यह स्वप्नात्मक संसार इस लोक में और परलोक में जीवका ही है चित् का नहीं है भाव यह है कि चिद्रूप से शरीर अविनाशी ही हो अथवा अन्यरूप से विनाशी हो इससे चित् में कोई भी आँच नहीं आ सकती, कारण कि मिथ्या पदार्थ के गुण-दोषों से अधिष्ठान में कुछ भी दूषण नहीं आ सकता ॥७२॥

एतन्म्लेच्छादिदेशेषु मृतानां दर्शनात्पुनः।
स्मृतिपूर्वं च कथनात्प्रत्यक्षमनुभूयते ॥७३॥

ये मृता भस्मसाज्जाता म्लेच्छदेशेषु ते पुनः।
आगत्य कथयित्वाऽथं गच्छन्त्यप्रतिघात्मकाः ॥७४॥

एष चेज्जीवतो धर्मस्तद्देशान्तरगे जने।
मृत इत्येव बुद्धेऽर्थे कस्मान्नैव प्रवर्तते ॥७५॥

जीवधर्मः सोऽपि संभ्रेन्मृतधर्मोऽपि किं न सन्।
यादृगनुभवस्त्वस्मिन्समे न्यायद्वये स्थिते ॥७६॥

स्वप्नवज्जगदाभानमित्येवं सत्यखण्डितम्।
आर्यानुभवशास्त्राणामनेनाऽस्त्येकवाक्यता ॥७७॥

दृष्टिजालं जनौघानां पश्यतामिन्दुमन्दिरे।
यादृगप्रतिघं तादृग्जगत्सदसदात्मकम् ॥७८॥

सन्मात्रमात्रानुविधमच्छानुभवमात्रकम् ।
चिन्मात्रं भानमात्रात्म सर्वार्थात्मार्थवर्जितम् ॥७९॥

सर्वमप्रतिघं शान्तं जगदेकं चिदम्बरे।
अनिङ्गनमनाभासमात्मन्येवाऽऽत्मनाऽऽस्यताम् ॥८०॥

अचला संविदेवाऽऽस्ते स्थिरं कृत्वा यथा यथा।
तथा तथा भवत्याशु किमसत्किं च वाऽपि सत् ॥८१॥

शरीराण्यथ कर्माणि दुःखानि च सुखानि च।
यथास्थितान्युपायान्तु यान्तु वा कस्य किं ग्रहः ॥८२॥

म्लेच्छ आदि देशों में मरे हुए जो लोग पिशाच की देह से यहाँ आये उनका यह सब भूतविद्या के विशेषज्ञ प्रत्यक्ष देखते हैं वे भी अपने पूर्वजन्म की घर-गृहस्थी, व्यापार आदि का स्मरण कर स्वयं कहते हैं इससे भी यह सब विषय प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। अर्थात् यदि किसी को यह शङ्का हो कि शरीर का नाश होने पर उसके साथ जीव नष्ट नहीं हुआ यह कैसे मालूम होता है, इस पर प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण से ज्ञात होता है ॥७३॥

जो म्लेच्छ देशों में मरे और जलकर राख हो गये यहाँ आकर अपना वृत्तान्त कहकर फिर चले जाते हैं, वे अविनाशी ही हैं इसमें कहना ही क्या है ॥७४॥

पिशाचदर्शन, उसके साथ संभाषण आदि यदि जीवित भूतवैद्य का धर्म है तो जो वस्तुतः मरा नहीं पर जिसके मरने का असत्य समाचार प्राप्त हो गया उसके विषय में इस प्रकार का दर्शन, संभाषण आदि व्यवहार क्यों नहीं होता। चार्वाक के इस कथन का खण्डन इससे किया गया है। पिशाच को देखना उसके स थ बातचीत करना यह सब जीवित भूतवैद्य का ही धर्म है आगमन या संभाषण मरे हुए का धर्म नहीं है ॥७५॥

जीवधर्म वह भ्रम यदि सत्य है तो मृतधर्म वह संभाषण आदि भ्रम क्यों सत्य नहीं है ? पदार्थ की सिद्धि में अनुभव को ही श्रेष्ठ प्रमाण मानने वालों का जीवित में जैसा अनुभव है मृत में भी वह समान ही है। इस प्रकार दोनों न्यायों के समान होने पर दोनों में कौन-सा अन्तर है ? ॥७६॥

इस तरह अनुभव को यदि पदार्थ सिद्धि में प्रमाण मानो तो जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव जब तक बाध न हो समानरूप से अर्थसाधक हैं। प्रबोध द्वारा केवल अनुभव ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार स्वप्न के समान जाग्रद्-भान है ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है वह अक्षुण्ण है। इससे विद्वानों के अनुभवों की और "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (विकार वाचारम्भण नाम-मात्र है मृत्तिका ही सत्य है) इत्यादि शास्त्रों की एक-वाक्यता है, परस्पर संवाद से ऐकमत्य है ॥७७॥

किसी की दृष्टि में सत् और किसी की दृष्टि में असत् इस प्रकार का यह जगत् भी वैसे ही परस्पर प्रति-घातशून्य है। जैसे चन्द्रमण्डल को देख रहे बहुत से लोगों की दृष्टियाँ आपस में एक दूसरे के दर्शन में बाधा नहीं डालतीं परस्पर प्रतिघातशून्य हैं ॥७८॥

चिदाकाश में सन्मात्र के ही अंशों का अनुगमन करने वाला निर्मल अनुभवमात्ररूप एकमात्र भानस्वरूप अर्थ रहित होने पर भी सर्वार्थरूप सकल जगत् अविनाशी शान्त अद्वितीय चिन्मात्ररूप ही है। निष्क्रिय निर्विकार वह आत्मा में अपने रूप से ही स्थित है ॥७९, ८०॥

अचल संवित् ही जैसे-जैसे मन को स्थिर करके रहती है वैसे-वैसे ही शीघ्र हो जाती है क्या असत् है अथवा क्या सत् है। विविध शरीर, कर्म, दुःख और सुख जो कि यथास्थित हैं आवें जावें किसका कौन विषय है और किसका कौन ग्रहण है ॥८१, ८२॥

इत्थमस्तु सदथाऽन्यथाऽस्तु वा मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः । मुञ्च फल्गुनि फले फलावहं बुद्धवानसि कृतं परिभ्रमैः ॥८३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपाख्याने निर्वाणबोधोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४३॥

इस प्रकार यह सत् हो अथवा अन्यथा हो चाहे नहीं हुआ हो चाहे हो इस विषय में कौन सा आदर है। तुच्छ फल में अवश्य फल देने वाले यत्न का त्याग करो। तुम्हें बोध हो चुका है अब भटकने से क्या लाभ है ? ॥८३॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में निर्वाणबोधोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४३॥

१४४

मुनिरुवाच

सर्वथा भावाभावेषु स्वप्नसंवेदनात्मसु ।
नित्याप्रतिघरूपेषु किं बद्धं किं विमुच्यते ॥१॥

खे दृष्टिभासां स्फुरणं यादृशं तादृशं जगत् ।
विपर्यस्यत्यविरतमबोधाल्लक्ष्यते स्थिरम् ॥२॥

यद्वथा पुरसंस्थानं चिरैरेति तदन्यताम् ।
जगदप्येवमनिशं वार्यावर्तविवर्तवत् ॥३॥

भूम्यम्ब्वम्बरशैलादि भवत्यसदिदं क्षणात् ।
तस्मिन्नेव क्षणोदन्तैर्युगकल्पाभिधाः कृताः ॥४॥

जगत्स्वप्न इवाऽशेषमसदप्यनुभूयते ।
यत्राऽस्ति चेत्तन्निःशेषं चिदेवेत्थं कचत्यलम् ॥५॥

यथेदं नो जगत्तद्वच्छतानां खे शतानि हि ।
नृणां पश्यन्तु तेषां तु नाऽन्योन्यमनुभूतयः ॥६॥

सराब्धिकूपभेकानां दृष्टाः प्रत्येकमास्पदे ।
न तेऽन्योन्यं विदन्त्यन्यां दृश्यादिनियतिं क्वचित् ॥७॥

यथा जनशतस्वप्ननगराण्येकमन्दिरे ।
तथा जगन्ति खे भान्ति खानि नो सन्त्यसन्ति नो ॥८॥

१४४

स्वप्नानुभवरूप सकल भाव और अभाव पदार्थों के सर्वथा नित्य अविनाशी चिद्रूप होने पर कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है। अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य जब चिन्मात्र ही है तब बन्धमोक्ष-चिन्ता से भी पिण्ड छूटा ॥१॥

जैसे आकाश में दृष्टियों की किरणों का ही उड़ते हुए हँसों, मोतियों और केशों के गोलों के रूप में स्फुरण होता है वैसे ही यह जगत् निरन्तर प्रतिक्षण के परिणाम से बदलता जाता है, अधिष्ठान-विवेक के अज्ञान से स्थिर मालूम पड़ता है ॥२॥

जगत् भी जल के आवर्तविवर्त के समान अन्य रूपता वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अति प्रसिद्ध नगर की बनावट चिरकाल में दूसरी बनावट को प्राप्त करती है ॥३॥

किसी समय भूमि, जल, आकाश, शैल आदि यह जगत् क्षणभर में असत होता है उसी में क्षण, लव, त्रुटि आदि अवयवों के वृत्तान्तों से विद्वानों ने युग, कल्प आदि संज्ञाएँ की हैं ॥४॥

यह सम्पूर्ण जगत् असत् होता हुआ भी स्वप्न के समान अनुभव में आता है। यदि जगत् नहीं है ऐसा जगत् का अपलाप कीजिये तो सम्पूर्ण चित् ही इस तरह विकास को प्राप्त होती है ॥५॥

हम लोगों का प्रसिद्ध यह जगत् जैसा है वैसे ही आकाश में हजारों लाखों जगत् अन्य मनुष्यों के हैं ऐसी आप संभावना करें, किन्तु उनको परस्पर का अनुभव नहीं होता ॥६॥

तालाब में रहने वाले, सागर में रहने वाले और कुएँ में रहने वाले मेढकों का अपने-अपने निवासभूत तालाब आदि में अन्योन्य का अनुभव देखा गया है वे अपने आश्रय से अन्य दृश्यादि नियति का आपस में कहीं भी अनुभव नहीं करते हैं ॥७॥

जैसे एक घर में सैकड़ों लोगों के सैकड़ों स्वप्न नगरों का भान होता है और नहीं भी होता वैसे ही आकाश में जगतों का भान होता है और नहीं भी होता है। अज्ञानियों के अनुभव में आने से वे हैं और ज्ञानियों के अनुभव में न आने से नहीं हैं ॥८॥

कचन्ति नृशतस्वाप्नपुराण्येकगृहे यथा।
न च नाम कचन्त्येवं सन्त्यसन्ति जगन्ति खे ॥९॥

चिच्चमत्कारमात्रं स्वं स्वात्माङ्गं दृश्यमद्वयम्।
सरूपमेव नीरूपं सकारणमकारणम् ॥१०॥

दधत्याश्चित्स्वभावायाः संस्काराद्यभिधाः कृताः।
प्रतिमायाः प्रभाविन्या न संस्कारादयः पृथक् ॥११॥

अपूर्वत्वात्स्मृतिः स्वप्नः संकल्पार्थानुभूतिषु।
स्वमृत्यनुभवाद्यास्तु दृष्टार्थसदृशीषु च ॥१२॥

जैसे सैकड़ों लोगों के स्वप्न-नगर एक घर में विकसित होते हैं और नहीं भी होते हैं इसी प्रकार आकाश में जगत् हैं भी और नहीं भी हैं ॥९॥

चित् का चमत्काररूप दृश्य स्वात्मा के निज अङ्गों की तरह अभिन्न है (अद्वितीय है) एक की दृष्टि में साकार भी वह दूसरे की दृष्टि में निराकार है। एक की ही दृष्टि में एक समय साकार भी वह अन्य काल में निराकार है। तात्त्विक दृष्टि से वह सदा ही निराकार है। इसी प्रकार एक की दृष्टि में कारण सहित भी यह अन्य की दृष्टि में अकारण ही है। एक की ही दृष्टि में एक काल में सकारण भी अन्य काल में अकारण है। वास्तव में यह अकारण ही है ॥१०॥

ये जगत्संस्कार न तो केवल चित् के हैं और न देह के ही हैं, किन्तु तत्-तत् विभिन्न दृश्याकार के परिणाम को धारण कर रही तथा चिदाभास की व्याप्ति से चित्स्वभाव वाली बुद्धि के ही संस्कार आदि नाम किये गये हैं। बुद्धि के ही प्रभाव से प्रभावशाली देह प्रतिमा से संस्कार आदि अलग नहीं है। जीवों के ये जगत् संस्कार क्या देह में हैं या चित् में हैं? यदि चित् में हैं तो वे सबके लिए दृश्य होंगे। यदि देह में हैं तो देह का नाश होने पर उनका भी विनाश हो जायगा, इस शङ्का का उत्तर दिया है ॥११॥

संकल्प पदार्थानुभव यद्यपि पूर्व दृष्ट पदार्थों के तुल्य हैं तथापि उनकी स्मृति ही अपूर्व होने से यानी पूर्वानुभूत तत्तांश के त्याग से स्वप्न होती है मगर अपनी मृत्यु के अनुभव आदि इस जन्म में अननुभूत होते हुए भी अन्य जन्मों में अनुभूत होते हुए भी अन्य जन्मों में अनुभूत ही हैं, इसलिए वे उनके संस्कार से युक्त बुद्धि में अभ्यस्त होते होते हैं, यह उनमें विशेषता है ॥१२॥

इदं सर्गात्म सर्गादौ प्रतिमेव विजृम्भते।
चिद्भामात्रात्मिका स्वच्छा नाऽन्यन्नामोपपद्यते ॥१३॥
ब्रह्मैव भाति जगदित्युक्तमुक्त्याऽनया भवेत्।
न च भातं नवं तच्च ब्रह्मैवेदमतः स्थितम् ॥१४॥
कारणं कार्यमित्युक्तः स पूर्वः स विशिष्यते।
संस्कार इति तेनैष संस्कारः कृतिरुच्यते ॥१५॥
तत्स्वप्नदावपूर्वोऽर्थो दृष्टान्त इति भाति यः।
स संस्कारादिनामोक्तो न बाह्योऽर्थोऽस्ति चेतसि ॥१६॥
वस्तु दृष्टं न दृष्टं च सच्चाऽऽस्ते चेतनेव खे।
स्वभावाद्भाति खात्माऽपि दृष्टवच्चाऽतिजृम्भते ॥१७॥

यह जाग्रत्सृष्टिरूप जगत् भी सृष्टि के आरंभ में चिदाभासरूप स्वच्छ स्वप्न प्रतिमा के समान विकास को प्राप्त होता है, यह जगत् उससे अतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

इन उक्तियों से ब्रह्म ही जगत् के रूप से भासित होता है। वह नवीन भासित यानी पहले नहीं भासित हुआ किन्तु अनादिभारूप यानी उससे अभिन्न यह जगत अनादि ब्रह्म ही है ॥१४॥

वह परमात्मा ही कारण और कार्य भी कहा गया है, क्योंकि वही पूर्ववर्ती सामान्यरूप कारण है और वही विशेषरूप कार्य है। कार्यसंस्काराधार यह आत्मा ही 'कारणं सम्यक् करोतीति कार्यम्' इस व्युत्पत्ति से संस्कार कहा गया है 'सम्यक करणं संस्कारः' व्युत्पत्ति से कृतिरूप संस्कार भी आत्मा ही कहा जाता है ॥१५॥

स्वप्न आदि में जाग्रत् पदार्थों से विलक्षण और जाग्रत्पदार्थों का दृष्टान्तभूत जो पदार्थ प्रतीत होता है, वही सूक्ष्म होने से संकार, वासना, राग, द्वेष, इच्छा आदि नाम से कहा गया है। उससे अन्य कोई बाह्य पदार्थ चित्त में संस्कार नामक स्थित नहीं है ॥१६॥

वह संस्कार नाम की वस्तु स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है, जाग्रत् में नहीं होती। अदर्शनमात्र से जाग्रत् में वह नहीं है, ऐसा समझना भूल है, क्योंकि चित्ताकाश में जैसे चेतना सदा रहती है, वैसे ही संस्कार नाम की वस्तु भी सदा रहती है। वह शून्य स्वरूप होती हुई भी साक्षिस्वभाववश स्वप्न में प्रतीत होती है, और जाग्रत् में दृष्ट पदार्थों की तरह अत्यन्त विस्तार को प्राप्त होती है ॥१७॥

वेदान्तार्थात्मकं पूर्वसर्गाभावं प्रवर्तते।
ततो वेद्यव्यवस्था ज्ञैः क्रियते स्वार्थसिद्धये ॥१८॥
स्वप्ने तु जाग्रत्संस्कारो यस्तज्जाग्रत्कृतं नवम्।
अजाग्रज्जाग्रदाऽऽभासं कृतमित्येव तद्विदः ॥१९॥
ततो वायाविवास्पन्दाश्चित्ते भावाः स्थिताः स्वतः।
ते स्वतः संप्रवर्तन्ते काऽत्र संस्कारकर्तृता ॥२०॥
एकं तथा च चिन्मात्रं स्वप्ने लक्षात्म तिष्ठति।
पुनर्लक्षाद्यतः स्वप्न एकमास्ते सुषुप्तकम् ॥२१॥
चिद्व्योम्नि स्वप्नसंवित्तिर्या सैव जगदुच्यते।
सुषुप्तं प्रलयः प्रोक्तस्तस्मान्न्यायोऽयमेव सन् ॥२२॥
एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम्।
स्वरूपमजहद्धत्ते यत्स्वप्न इव तज्जगत् ॥२३॥

वही शम, दम आदि साधन सम्पत्ति सम्पन्न श्रवण, मनन आदि द्वारा निश्चित अद्वितीय प्रत्यग्ब्रह्मरूप वेदान्त-वाक्यों का अर्थ होकर पहले से प्रसिद्ध द्वैत सृष्टि का बाधक हो अपने यथार्थ स्वभाव में प्रवृत्त होता है। उसके इस तरह के स्वभाव का निर्णयकर पण्डितजन परम पुरुषार्थ की शिष्यों में भी सिद्धि हो इस अभिप्राय से पहले अज्ञात आत्मा ही जगत् का आधार स्तम्भरूप सार है भलीभाँति विचार कर ज्ञात हुआ अद्वितीय ब्रह्म ही मोक्ष है, ऐसी व्यवस्था शास्त्रों में करते हैं ॥१८॥

स्वप्न में जो जाग्रत का संस्कार है, वह जाग्रत् द्वारा किया हुआ अपूर्वरूप है। उस अजाग्रद्रूप जाग्रदाभास को जाग्रत्-अनुभव ने बनाया ऐसा कोई स्वप्नस्वरूपवेत्ता कहते हैं ॥१९॥

उनका उक्त कथन ठीक नहीं, कारण कि जैसे वायु में चारों ओर स्पन्द स्वतः स्थित हैं वैसे ही चित्त में स्वप्न-रूप पदार्थ स्वतः ही स्थित है। वे स्वतः स्वप्न के आकार में ढलते हैं, अतः उनमें जाग्रत्संस्कारकर्तृत्व कैसा ? ॥२०॥

देखें स्वप्न में एक ही चिन्मात्र लाखों रूपों में स्थित होता है, स्वप्न में स्थित लाखों रूपों से सुषुप्ति में जाकर एक ही हो जाता है, इससे चित्त में सब पदार्थ स्थित हैं यह स्पष्ट है ॥२१॥

चिदाकाश में जो स्वप्न प्रतीति है वही जगत् कहलाता है, चिदाकाश में जो सुषुप्ति है वही प्रलय कहलाता है, इसलिए यही न्याय समुचित है ॥२२॥

एक ही चिदाकाश अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप का त्याग किये बिना ही जो स्वप्न की तरह साकारता और अनेकता धारण करता है, वह जगत् है ॥२३॥

एवं चित्परमाण्वन्तर्जगद्भावमिदं स्थितम्।
तदनन्यात्म चाऽऽभोगि स्वप्नादर्शतलेष्विव ॥२४॥
चिद्व्योम संविन्मात्रं यत्परमाणुवदाततम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं तदेव जगदुच्यते ॥२५॥
तस्माद्यत्र चिदाकाशमनन्तं सततं स्थितम्।
तत्राऽस्तीति जगद्भानं तदङ्गानन्यरूपि यत् ॥२६॥
चिन्मात्र एव भुवनं त्वमहं चिन्मयं जगत्।
इति न्यायाज्जगद्याति परमाणूदरेऽप्यजम् ॥२७॥
तस्मादहं पराण्वात्मा समस्तजगदाकृतिः।
सर्वत्रैव च तिष्ठामि परमाणूदरेऽपि च ॥२८॥
चिन्मात्रपरमाणुः सञ्जगदात्माऽप्ययं नभः।
यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र पश्यामि भुवनत्रयम् ॥२९॥

इस उपपत्ति से जैसे स्वप्न अथवा जैसे दर्पण में देखे गये मुख, वन, पर्वतादि अनन्य हैं वैसे ही चित्परमाणु के अन्दर स्थित विस्तारयुक्त यह जगत् चित् से अभिन्न ही है ॥२४॥

परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तारयुक्त, आदि मध्य और अन्त रहित संविन्मात्र जो चिदाकाश है वही जगत् कहलाता है ॥२५॥

इसलिए जहाँ पर असीम अविनाशी चिदाकाश निरन्तर स्थित है वहाँ पर वह जगद्भान, जो कि उसके अवयव की तरह उससे अभिन्न है, स्थित है—यह सिद्ध हुआ ॥२६॥

चिन्मात्र में ही भुवन स्थित है, 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिन्मय ही है, इस तरह गुरु, शास्त्र आदि द्वारा उक्त युक्ति समूह से जन्य ज्ञान से कभी उत्पन्न न हुआ जगत् परमाणु के अन्दर तक चला जाता है यानी अपनी स्थूलता का परित्याग कर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है ॥२७॥

मैं समस्त जगताकार परमाणु रूप हूँ, इसलिए मैं सर्वत्र ही और तो क्या परमाणु के अन्दर तक स्थित हूँ ॥२८॥

चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर भी जगद्रूप से स्थित हूँ और जहाँ चिदाकाशरूप मैं रहता हूँ वहीं त्रिलोकी को देखता हूँ ॥२९॥

अहं चित्परमाण्वात्म तेन चित्परमाणुना ।
एकतामागतो वारि वारिणेव तदीक्षणात् ॥३०॥
तदोजः संप्रविश्याऽहं स्थितस्तदनुभूतिवत् ।
अन्तस्थत्रिजगद्रूपो यथाऽब्जे बीजमङ्कुरे ॥३१॥
तत्र मे त्रिजगद्रूपमन्तः क्वचितमात्मनि ।
तथा तन्न तु तद्बाह्ये विद्यते केनचित्क्वचित् ॥३२॥
यत्र यत्र यदा भाति स्वप्ने जाग्रदितीह वा ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं निजं चिद्घ्नानमेव तत् ॥३३॥
भाति स्वप्ने यदा जन्तोर्जगदानन्दमाततम् ।
चिदणोरेव तद्भानमात्मनस्तत्पदात्मना ॥३४॥

व्याध उवाच

अकारणं चेद्दृश्यं तत्कथमेतत्प्रसिध्यति ।
सकारणं चेद्दृश्यं तत्स्वप्ने सर्गादिधीः कुतः ॥३५॥

मुनिरुवाच

अकारणक एवायं सर्ग आदौ प्रवर्तते ।
समस्तकारणाभावाद्यतः सर्गात्मचिन्नभः ॥३६॥
अकारणानां भावानामत्यन्तासंबवादिह ।
क्वचित्सप्रतिघः सर्गो न संभवति कश्चन ॥३७॥
ब्रह्मेदमित्थमाभाति भास्वरं चित्स्वभावतः ।
सर्गादिशब्दपर्यायमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥३८॥
इत्यकारणके सर्गे कचति ब्रह्मरूपिणि ।
परस्यावयवाभासे नित्यात्मावयवात्मना ॥३९॥
अनानात्वेऽपि नानात्वे ब्रह्मण्यब्रह्मरूपिणि ।
अनाकारेऽपि साकारे कचत्यप्रतिघं प्रति ॥४०॥
तद् ब्रह्मैव निराकारं चिद्रूपत्वात्स्फुटद्वपुः ।
साकारमिव भातात्म भूत्वा स्थावरजंगमम् ॥४१॥

चित्परमाणुरूप शोधित त्वं पदार्थरूप मैं चित्परमाणु के शोधित तत्पदार्थ ब्रह्म के साथ उसके ज्ञान से वैसे ही एक भावापन्न हुआ हूँ, जैसे जल जल के साथ एक भावापन्न होता है, क्योंकि भगवती श्रुति कहती है—'यथा जलं जले क्षिप्तम्' जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घृत में छोड़ा गया घृत अपनी पृथक् सत्ता का त्याग कर देता है वैसे वैसे ही परमात्मा में मिला हुआ जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व छोड़ देता है ॥३०॥

अपने अन्दर तीनों जगतों को धारण करने वाला मैं उस प्राणी के ओज में प्रविष्ट होकर उस प्राणी के अन्तर्गत वासनामय जगत् के अनुभव की तरह वैसे ही स्थित हुआ जैसे कमल के अङ्कुर में सूक्ष्म रूप से स्थित भावी बीज अपने अन्दर होने वाली हजारों विचित्रताओं को छिपाकर रहता है ॥३१॥

वहाँ मेरी अन्तरात्मा में ही तदीय, मदीय और अन्यदीय सब वासनामय त्रिजगत् प्रत्यक् चैतन्य में विकास को प्राप्त हुआ। उक्त जगद्रूप कुछ भी बाहर नहीं रहता, क्योंकि उससे बाहर का प्रदेश ही अत्यन्त अप्रसिद्ध है ॥३२॥

जब जहाँ-जहा स्वप्न में चाहे जाग्रत् में जो जगत् का भान होता है वह बाह्य और आभ्यन्तर सहित दृश्य निज चिद्भान ही है ॥३३॥

जब स्वप्न में जन्तु के बिखरे हुए जगदानन्द का भान होता है वह आत्मरूप चिदणु का ही स्वप्नस्थानरूप से भान है ॥३४॥

व्याध ने कहा—हे भगवन् ! यह जगत् अकारण है तो इसकी सिद्धि कैसे है ? क्योंकि अकारण शशशृङ्ग आदि की स्वरूप सिद्धि नहीं दिखाई देती। यदि जगत् सकारण है तो स्वप्न में घटादि की सृष्टि मे कारणभूत दण्ड, चक्र आदि के न रहने से सृष्टिबुद्धि किस कारण से होती है, यों सन्देह में पड़े हुए व्याध का प्रश्न है ॥३५॥

आरम्भ में यह सृष्टि बिना कारण के ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में सकल कारणों का अभाव है, अतः चिदाकाश ही सृष्टिरूप है ॥३६॥

इस सृष्टि में निष्कारण पदार्थों का अत्यन्त असंभव होने से अकारण किसी स्थूल सर्ग की कहीं पर भी किसी प्रकार संभावना नहीं है। हाँ, प्रातिभासिक मिथ्याभूत सर्ग में वह सकारणक हो हो, ऐसा नियम नहीं है ॥३७॥

चित्स्वभाव होने से जन्मविनाश शून्य यह ब्रह्म ही इस प्रकार देदीप्यमान सर्ग आदि शब्दों के पर्याय रूप से भासता है ॥३८॥

इस प्रकार सृष्टि के शशशृङ्गवत् अत्यन्त असंभावित सिद्ध होने पर वह ब्रह्मरूपी ही है अद्वैतरूप उसमें परमात्मा के मायाप्रतिबिम्ब चैतन्य में नित्य आत्मा के औपाधिक अवयवरूप से द्वैत अत्यन्त अयुक्त है। ब्रह्मरूप होने पर अब्रह्मरूपी निराकार होने पर भी साकार रूप से बेरोक-टोक प्रतिभात होने पर निराकार वह ब्रह्म हो चिद्रूप होने से प्रकट शरीर वाला साकारसा स्वरूप धारण कर देवर्षि, मुनि आदि स्थावर जंगमरूप जगत् को रचता है

देवर्षिमुनिभारूपं करोति नियतिं क्रमात् ।
विधींश्च प्रतिषेधांश्च देशकालक्रियादिकान् ॥४२॥
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
अर्था व्यभिचरन्त्येते नियतिर्नाऽखिलास्ततः ॥४३॥
ततः प्रभृति भावानां सकारणकतां विना ।
सैकतादिव तैलानां न संभवति संभवः ॥४४॥
नियतिर्नायकश्चैव ब्रह्मतश्चाऽङ्गमात्मना ।
स्वाङ्गेन संयमयति करेणेव निजं करम् ॥४५॥
अबुद्धिपूर्वं चाऽनिच्छमेवमे प्रवर्तते ।
काकतालीयवत्स्पन्दादावर्ता इव वारिणि ॥४६॥
संनिवेशो हि नियतिस्तां विना प्रतिघोदयम् ।
ब्रह्म स्थातुं न शक्नोति तच्च सर्वात्मताक्षयम् ॥४७॥

और क्रम से सम्पूर्ण नियति, विधि, प्रतिषेध, देश, काल, क्रिया आदि करता है ॥३९-४२॥

भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी व्यभिचरित होते हैं, किन्तु नियति ब्रह्मकृत होने के कारण सर्वात्मरूप मोक्ष तक कभी व्यभिचरित नहीं होती है ॥४३॥

जब से नियतिकल्पना हुई तब से लेकर नियति विशेष रूप कार्य-कारणता के बिना पदार्थों का वैसे ही संभव नहीं है जैसे कि बालू से तेल संभव नहीं है ॥४४॥

नियति और नायक भोक्ता जीव ये दोनों, जो कि ब्रह्मा के दो हाथों की तरह अङ्गभूत हैं, ब्रह्म से अपने आप प्रवृत्त हुए हैं। ब्रह्म अपने अङ्गभूत एक से दूसरे का एक हाथ से दूसरे हाथ की तरह, नियन्त्रण करता है ॥४५॥

अतएव जीव का इसी तरह जाग्रत तथा स्वप्न रूप सृष्टि अबुद्धि-पूर्वक तथा अनिच्छा से काकतालीय न्याय के तुल्य वैसे ही होता है, जैसे कि स्पन्दवश जल में बिना किसी प्रयत्न और इच्छा के आवर्त विशेष ढङ्ग से उत्पन्न होते हैं ॥४६॥

कार्य में कारण से उत्पन्न संगठन का नियम ही नियति है, उक्त संगठन नियम के बिना अज्ञात ब्रह्म वैसे ही क्षणभर भी नहीं टिक सकता जैसे कि मिट्टी चूर्ण, पिण्ड, घट, कपाल आदि में से किसी एक रूपरेखा के बिना नहीं टिक सकती, उक्त रूपरेखा धारण, जिसका ज्ञान से सर्वात्मतारूप आत्यन्तिक विनाश होता है, मोक्ष तक रहता है ॥४७॥

एवं सकारणं सर्वं सर्वदा दृश्यमण्डलम् ।
यस्य सर्गे यतः कालात्ततःप्रभृति तं प्रति ॥४८॥
भात्यकारणकं ब्रह्म सर्गात्माऽप्यबुधं प्रति ।
तं प्रत्येव च भात्येष कार्यकारणदृग्भ्रमः ॥४९॥
काकतालीयवत्सर्गे स्थिते त्वावृत्तिवृत्तिवत् ।
इदमित्थमिदं नेत्थमितीयं नियतिः स्थिता ॥५०॥
सकारणत्वं भावानामवश्यंभाविनि क्रमे ।
जाग्रत्स्वप्नदृशो नेह संभवन्त्यपकारणाः ॥५१॥
यथा स्वप्नेऽखिलाम्बुसंक्षोभात्प्रलयभ्रमाः ।
दृश्यते कारणं तत्र श्रूयतामनुभूयताम् ॥५२॥

इस प्रकार नियति की कल्पना से सदा दृश्य मण्डल सकारण उसी के प्रति है, जिसके प्रति जिस काल से नियति जिसकी सृष्टि में प्रवृत्त हुई अन्य पुरुष के लिए और अन्य काल में होने वाले पदार्थ के लिए नहीं है ॥४८॥

अविद्वान् की दृष्टि में अकारण ब्रह्म का सृष्टि रूप से भी भान होता है और उसी के प्रति यह कार्यकारण दृष्टिरूप भ्रान्ति भासित होती है ॥४९॥

विवेकी पुरुष की दृष्टि में तो काकतालीय के समान स्थित इस सृष्टि में केवल पूर्वापरीभाव का नियम देखने से यह घट आदि दण्ड, चक्र, मिट्टी आदि सामग्री से उत्पन्न हुआ, यह वस्त्र आदि तुरी, वेमा आदि से इस प्रकार का उत्पन्न हुआ इस तरह पर्यालोचन से नित्य वेद के पद, वाक्य, व्याकरण आदि के नियम के समान यह नियति स्थित है ॥५०॥

जन्य पदार्थों में पौर्वापर्यक्रम अवश्यम्भावी है, इसलिए वे कारणयुक्त ही हैं, ऐसा जो मानता है उसके मतानुसार जाग्रत् और स्वप्न में दिखाई देने वाले अकारण पदार्थों का संभव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति दोनों में से एक के बाद हुए जाग्रत् प्रपञ्च की उत्पत्ति में भी कोई कारण नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत् और सुषुप्ति—इन दोनों के बाद हुए स्वप्न प्रपञ्च की उत्पत्ति में भी कारणों का निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए उनके मत में स्वप्न प्रपञ्च का भी संभव नहीं है ॥५१॥

जैसे प्राणी के बोज में स्थित मैंने स्वप्न में सारी पृथिवी को डुबो रहे जल के संक्षोभ से प्रलय भ्रान्तियाँ देखीं, भला बतलाओ तो वहाँ पर कोई कारण तुम देखते हो अथवा श्रुति प्रमाण से कोई कारण सुनते हो, या अन्य प्रमाण से किसी कारण का अनुभव करते हो ? ॥५२॥

सर्ववस्तुषु कचन्ति सर्वदा
युक्तयः स्फटिकशुक्तयो यथा।
भावनानुभव एव स स्वयं
शक्तिमाश्रयति जीवितात्मकः ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
पदार्थविचारो नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४४॥

ब्रह्म और प्रपञ्च के अभेद का प्रतिपादन करनेवाली युक्तियाँ सकल वस्तुओं के विषय में बुद्धिमानों की अपने आप वैसे ही सदा स्फुरित होती हैं, जैसे कि स्फटिक मणियाँ अथवा सीपियाँ प्रकाश रहने पर अपनी चमचमाहट से स्वयं ही स्फुरित होती हैं, इसलिए सब निर्णयों में शास्त्रानुसारिणी युक्तियों का भावनानुभव ही सब तत्त्वों के निर्णय में शक्तिमान् और सब प्रमाणों को जीवनप्रदान करने वाले है, अतः सर्वोत्कृष्ट है ॥५३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० विप० शवोपाख्यान में पदार्थविचार नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४४॥

१४५

मुनिरुवाच

बहिष्ठैर्बाह्यमेवाऽन्तरन्तस्थैः स्वप्नमिन्द्रियैः।
जीवो वेत्ति द्वयस्यातितीव्रसंवेगिभिर्द्वयम् ॥१॥
यदेन्द्रियाणि तिष्ठन्ति बाह्यतश्च समाकुलम्।
तदा म्लानानुभवनः सकलार्थोऽनुभूयते ॥२॥
यदा त्वन्तर्मुखान्येव सन्त्यक्षाणि तदा जगत्।
अणुमात्रं स्ववपुषि जीवस्तेनाऽतिवेत्ति तत् ॥३॥
जगत्सप्रतिघं नाऽस्ति किंचिदेव कदाचन।
जीवेक्षणानामक्षाणां दृष्टिरप्रतिघा जगत् ॥४॥
जीवनेत्राणीन्द्रियाणि यदा बाह्यमयान्यलम्।
तदा बाह्यात्मकं वेत्ति चिति जीवो जगद्वपुः ॥५॥
श्रोत्रं त्वगीक्षणं घ्राणं जिह्वा चेतोहितात्मकः।
संघातः प्रोच्यते जीवश्चिद्रूपोऽनिलमूर्त्तिमान् ॥६॥
सर्वत्र सर्वदा जीवः सर्वेन्द्रियमयः स्थितः।
चिच्चिद्व्योमाव्ययस्तेन सर्वं सर्वत्र पश्यति ॥७॥

१४५

मुनि ने कहा—हे व्याध! यह जीव बाहरी इन्द्रियों से बाहर ही स्वप्न को जानता है तथा भीतरी इन्द्रियों से आभ्यान्तर स्वप्न को जानता है, लेकिन बाहर और भीतर के व्यवहार की सिद्धि के लिए अत्यन्त तीव्र वेगवाली बाह्य और आभ्यान्तर इन्द्रियों से बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों स्वप्नों को जानता है ॥१॥

जिस समय इन्द्रियाँ बाह्य व्यवहार में व्यग्र रहती हैं, उस समय मनोरथतुल्य आभ्यन्तर व्यवहारका अनुभव अवश्य होता है, किन्तु धुंधला होता है, स्वप्न के समान उसका साफ-साफ अनुभव नहीं होता है ॥२॥

जिस समय सब इन्द्रियाँ केवल अन्तर्मुख रहती हैं उस समय जीव अपने शरीर में वासनामात्र होने से सूक्ष्मरूप से विद्यमान स्वप्न-जगत् को अति स्थूल-सा देखता है, वही उसका स्फुटानुभव है ॥३॥

बाह्य अथवा आन्तर कोई भी जगत् वास्तव में कदापि स्थूल नहीं है। जीव के दर्शन में कारणभूत इन्द्रियों की स्थूलता की कल्पना में अप्रतिरुद्ध जो दृष्टि है, वही स्थूल जगत् है ॥४॥

जब जीव की नेत्र आदि इन्द्रियाँ अत्यन्त बाह्यमय होती हैं तब जीव चित् में बाह्य जगत् का अनुभव करता करता है। अर्थात् इसलिए बाहर अथवा भीतर जहाँ कहीं भी इन्द्रियों का प्रसार होता है वहीं पर स्थूल जगत् दृष्टि में आता है ॥५॥

कान, त्वचा, नेत्र, नाक, जीभ, इच्छाप्रधान अन्तःकरण चतुष्टय का संघातरूप और पञ्च प्राणों से युक्त आतिवाहिक शरीर ही कूटस्थ चिदाभास से सबलित होकर जीव कहलाता है ॥६॥

बाहर कूटस्थ चित् ही चिदाभाससमष्टि व्योममय होकर सब जगह सब काल में सर्वेन्द्रियमय स्थित है। इस कारण वह सर्वत्र सब कुछ देखता है अर्थात् सब वासनाओं के आधार रूप उसमें बाह्य जगत् का अभ्यास किसी हालत में अनुपपन्न नहीं है, उत्पन्न ही है ॥७॥

श्लेष्मात्मना रसेनाऽन्तर्जीव आपूर्यते यदा।
तेऽक्षाणुकेऽणुरूपात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥८॥
क्षीरार्णव इवोड्डीनो नभश्चन्द्रोदयान्वितम्।
सरांसि फुल्लपद्मानि कह्लारवलितानि च ॥९॥
पुष्पाभ्रप्रतिधानानि परिगीतानि षट्पदैः।
वसन्तान्तःपुराण्यन्तरुद्यानान्युदितानि खे ॥१०॥
उत्सवान्मङ्गलाकीर्णाल्लीलालोलाङ्गनागणान्।
भक्ष्यभोज्यान्नपानश्रीपरिपूर्णगृहाजिरान् ॥११॥
सपुष्पाः फेनहसनास्तरलातरलेक्षणाः।
विलासेनाऽम्बुधिं यान्ति सरितो मत्तयौवनाः ॥१२॥
हिमवच्छुभ्रभृङ्गाणि सौधानि शिशिराण्यलम्।
सुधावधौतभित्तीनि कृतानीन्दुतलैरिव ॥१३॥
शिशिरासारहेमन्तप्रावृण्मेघवृतानि च।
स्थलानि नीलनलिनीलताशाद्वलवन्ति च ॥१४॥
पुष्पप्रकरसंछन्ना विश्रान्तहरिणाध्वगाः।
स्निग्धपत्रतरुच्छायाः पुरोपवनभूमिकाः ॥१५॥
कदम्बकुन्दमन्दारमकरन्देन्दुकान्तिभिः।
भासमानासनस्थानसंस्थानाः कुसुमस्थली: ॥१६॥
नलिनीजालिनीर्नीलाः पुष्पकस्थलधारिणीः।
वनावलीर्विलीनाभ्रनिर्मलाकाशकोमलाः ॥१७॥
कदलीकन्दलीकुन्दकदम्बकृतशेखराः।
गिरिमालाश्चलच्चारुलीलापल्लवपेलवाः ॥१८॥
हेलावलितधम्मिल्लमुक्तमालतिकालताः।
इव बालाङ्गना नृत्यं तन्वानास्तनुगात्रिकाः ॥१९॥
उत्फुल्लश्वेतनलिनीनिभा नरपतेः सभाः।
चारुचामरभृङ्गारवितानकशतावृताः ॥२०॥
वल्लीवलयविन्यासविलासवलिताङ्गकाः।
वनमालाविलोलाम्बुप्रणालीकाकलीकलाः ॥२१॥
धराभरकरालाङ्गधाराधरधराधराः।
दिशः सीकरनीहारहारोदरधरा दश ॥२२॥

जिस समय तुम्हारा जीव अपने सम्पूर्ण करणों का उपसंहार कर अणुरूप बनकर हजारों हिस्सों में विभक्त केश के समान महीन नाड़ियों के अन्दर संचार के योग्य हो नाड़ियों के अन्तर्गत कफरूप अन्नरस से भर जाता है, उस समय तत्-तत् इन्द्रियाणु में नाड़ी के अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वाप्न भ्रमों को देखता है। अर्थात् अन्दर स्वप्नभेद-वैचित्र्य देखने के लिए ओज में प्रविष्ट हुए जीव श्लेष्मादि अन्नरस आदि से पूर्ण नाड़ियों में प्रवेश ही उसमें निमित्त है ॥८॥

उक्त जीव स्वयं क्षीरसागर में उड़ा हुआ-सा बनकर चन्द्रोदय से जगमगा रहे आकाश को देखता है, लाल कमलों से वेष्टित तालाबों को जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिले हैं, देखता है और आकाश में प्रकट हुए उद्यानों को, जो ऋतुराज वसन्त के अन्तःपुर ऐसे मनोहर हैं; पुष्पमय दिव्य मेघों के प्रतिनिधिस्वरूप हैं तथा जिनमें भ्रमर कलगुञ्जन करते हैं, देखता है ॥९, १०॥

सन्मङ्गलों की परम्परा से पूर्ण बड़े-बड़े उत्सवों को, जिनमें ललनाओं के झुण्ड के झुण्ड लीला-विलासों से चञ्चल है और घरों के आँगन भक्ष्य, भोज्य अन्न-पान से खूब भरे हैं, देखता है ॥११॥

फूलों की मालाओं से अलंकृत, फेनरूपी हासवाली, मस्तयौवनवाली तथा चञ्चल मछलियाँ ही जिनके चञ्चल नयन हैं ऐसी नदियाँ विलास से अपने स्वामी सागर के समीप जाती हैं, ऐसा देखता है ॥१२॥

हिमालय के ऐसे सफेद शिखर वाले, अत्यन्त ठण्डक से भरे हुए, चूने से खूब सफेद दीवार वाले और चन्द्रमा से बने हुए जैसे निर्मल गच वाले महलों को देखता है। शीतल जलकणों से ढँके हुए, हेमन्त ऋतु की बरफ से आच्छादित तथा वर्षाऋतु के बादलों से आवृत एवं नील-कमलों की लताओं तथा हरी-हरी घास से ढके मैदानों को देखता है। चिकने-चिकने पत्तों वाले वृक्षों की मनोहर छायावाली तथा फूलों के अम्बार से आच्छन्न नगरों की उपवनभूमियों को, जिनमें हरिण और बटोही विश्राम करते हैं, देखता है। कदम्ब, कुन्द, और मन्दार के शहद के बिन्दुरूपी चन्द्रमा की कान्तियों से भासमान फूलों के बगीचे, जिनकी बनावट-सजावट आसन के सदृश जगमग-जगमग करती है, देखता है। मेघनिर्मुक्त निर्मल आकाश के सदृश मनोहर नीली वन श्रेणियों को, जिनमें चारों ओर कमलों के तालाबों का जाल-सा बिछा रहता है और जो सुन्दर फूलों से भरे हुए भूखण्ड को धारण करती हैं, देखता है। वायुवश नाच रहे सुन्दर लीलापल्लवों से रमणीय पर्वतमालाओं को, जिन्होंने केले के गोफ, कुन्द और कदम्ब का मुकुट धारण किया है, देखता है ॥१३-१८॥

लीला विलासपूर्ण ढङ्ग से लपेटी हुई चोटियों से मुक्त अतएव जिनकी शाखाएँ फैली हों ऐसी मालतीलता की तरह नाच रही तन्वङ्गी बालाङ्गनाओं को पाता है। फूले हुए सफेद कमलों के तालाब के तुल्य राजसभा को, जो सैकड़ों सुन्दर-सुन्दर छँवर, फूलदान, चंदोवा आदि से पूर्ण है: प्राप्त करता है। लताओं के फैलाने के विलास से चारों ओर घिरी हुई वनपंक्तियों को, जो चञ्चल जल राशि की लहरों में पक्षियों के कलरव से मधुर मालूम होती हैं, प्राप्त करता है। जलकण और बर्फरूपी हार को अपने उदर में धारण करने वाली दसों दिशाओं को, जिनके सब पर्वत वृष्टि द्वारा पृथिवी को भरने के लिए अति विकरालरूप वाले मेघों से व्याप्त हैं, प्राप्त करता है ॥१९-२२॥

पित्तात्मना रसेनाऽन्तर्जीव आपूर्यते यदा।
ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दति ॥२३॥
पवनस्पन्दसंफुल्लकिंशुकद्रुमशोभनाः।
ज्वालालीरुज्ज्वलाम्भोजदलपल्लवपेलवाः ॥२४॥
संतप्तसिकतासेकसनीहारसरिच्छिराः।
दावानलशिखाश्यामधूमश्यामलदिङ्मुखाः ॥२५॥
कृशानुकर्कशानर्कांश्चक्रधाराशितत्विषः।
दावदाहविषावेशविपरीतरसाकरान् ॥२६॥
स्वेदमुष्णीकृताब्धि वा स्विन्नं त्रैलोक्यमण्डलम्।
क्षरत्क्षाराण्यरण्यानि प्रतर्दगहनान्यपि ॥२७॥
प्रतरन्मृगतृष्णाम्बुसरत्सारसरूपि च।
स्थलान्यदृष्टपूर्वाणि भूतपूर्वतरूणि च ॥२८॥
अध्वगं संभ्रमवशात्तप्तधूलिविधूसरम्।
दूरादमृतवद्दृष्टं स्निग्धच्छायाध्वपादपम् ॥२९॥

जब जीव अन्दर पित्तरस से भर जाता है तब अणु रूप जीव ओज के अन्दर इन सब निम्न निर्दिष्ट पदार्थों को प्राप्त करता है ॥२३॥

कमल की उजली पाँखुरियों के समान सुन्दर ज्वलाओं को देखता है, जो वायु के लहराने से फूले हुए ढाक के पेड़ों की तरह भली लगती हैं, गरम बालुओं के सेकों से नदीरूपी नसों को सबाष्प भापयुक्त बनाती हैं और वनाग्नि की लपटों के काले धुंए से दिङ्मण्डल को काली बनाती हैं ॥२४, २५॥

तलवार की धार के समान तेज कान्ति वाले और अग्नि की तरह असह्य तेज वाले अनेक सूर्यों को देखता है, जिनसे वनाग्निरूपी विष से पहले से आक्रान्त तालाब विशेष रूप से व्याप्त होते हैं ॥२६॥

सागर को गरम कर देने वाले भाप को, भाप से गीले हुए त्रलोक्य को तथा शिलाजीत आदि क्षार को चुआने वाले और झाड़ियों से दुर्गम अरण्यों को भी देखता है ।.२७॥

बह रहे मृगतृष्णा जलों में तैर रहे सारसों से शोभायमान जल को देखता है, पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए मैदानों को, जिनमें पेड़-पौधे पहले से जमे थे, देखता है ॥२८॥

भयवश मार्गों में भाग रहे तथा गरम धूलि से धूसर हुए अपने को देखता है, दूर से अमृत के तुल्य दिखाई दिये ठण्डी छाया वाले मार्ग के वृक्ष को देखता है ॥२९॥

संताप से अति ग्रस्त आकार वाले तथा अग्नि के

ज्वरज्वालितमाकारं भुवनं तप्तमन्निवत्।
पांसूपहतदेशानि दिङ्मुखानि च खानि च ॥३०॥
ग्रहग्रामार्णवाद्रयब्धिवनव्योमाग्निका दिशः।
तुहिनाहारहानन्तासंख्याम्बुदघटोद्भटान् ॥३१॥
शरद्ग्रीष्मवसन्तांश्च तापानातपदायिनः।
तृणपत्रलतौघाभ्रराश्युष्मपिहितावनीः ॥३२॥
सौवर्णमम्बरतलं भूतलं दिक्तटानि च।
तप्तान्यदभ्रसरसीहिमशैलस्थलानि च ॥३३॥
रसानुरिक्ते वातेन जीव आपूर्यते यदा।
ओजोन्तरणुमात्रात्मा तदा तत्रैव विन्दते ॥३४॥
वातविक्षुब्धसंवित्त्वादपूर्वं वसुधातलम्।
अपूर्वा नगरग्रामशैलाब्धिवनमण्डलीः ॥३५॥
उड्डीयमानमात्मानं शिलाः शैलस्थलानिव।
घनघुंघुमसारावानचक्रभ्रमणादि च ॥३६॥

तुल्य परितप्त भुवन को देखता है। धूलिकणों से जिनके देश छिप गये ऐसी दिशाओं को और धूलितिरोहित आकाश को देखता है ॥३०॥

घर, गाँव, सागर, पहाड़, नदी-तालाब, वन और आकाश में जहाँ दृष्टि पहुँचती है वहीं जल रही अग्नि से पूर्ण दिशाएँ देखता है; अग्नि की वर्षा करने वाले असंख्य मेघों की घनघोर घटाओं से भीषण शरद, ग्रीष्म और वसन्त ऋतुओं को देखता है, सन्ताप देने वाले सूर्यातपों को देखता है एवं तिनकों, पत्तों, लताराशियों और लू की लपटों से आच्छादित भूमिप्रदेशों को देखता है ॥३१, ३२॥

अग्निव्याप्त होने के कारण आकाश, भूतल और दिङ्मुखों को सुवर्णमय ऐसे देखता है। बहुत से तालाबों और हिमालय पर्वत के विविध प्रदेशों को संतप्त हुए देखता है ॥३३॥

कफ, पित्त आदि अन्नरसों से रिक्त केवल वायु से ही भरे हुए नाड़ी प्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्र रूप जीव जब वायु से पूर्ण होता है तब नाड़ी में पूर्वोक्त ओज के अन्दर ही निम्न निर्दिष्ट स्वप्न देखता है ॥३४॥

उक्त जीव की संवित वायु से क्षुब्ध हो जाती है, अतएव वह पृथ्वीतल को पूर्व दृष्ट से विलक्षण देखता है। नगर, गाँव, पर्वत, नदी-नाले, सागर और वनों को अपूर्व देखता है। अपने को उड़ता हुआ सा देखता है, शिलाओं तथा पर्वत के ढूहों को उड़ते हुए-से देखता है, देशों को मेघों के गर्जन-तर्जन से शब्दयुक्त देखता है और देखता है कुम्हार के चक्के के बिना ही घड़ों का घूमना आदि ॥३५, ३६॥

हयोष्ट्रगरुडाम्भोदहंसयानावरोहणम् ।
यक्षविद्याधरादीनां गत्यागमनसंचरम् ॥३७॥
साद्रिद्रुमौर्वीनदीशानां वनभूग्रामपूर्दिशाम् ।
कम्पं भयोन्मुखाङ्गानां बुद्बुदानामिवाऽर्णवे ॥३८॥
अन्धकूपे निपतितं विपुले संकटेऽथवा ।
अथवा रूढमात्मानं खमाभं पादपं गिरिम् ॥३९॥
वातपित्तश्लेष्मयुक्तो जीव आपूर्यते यदा ।
भागैर्वातवशं प्राप्तैरार्तोऽसौ विन्दते तदा ॥४०॥
पतन्तीं पार्वतीं वृष्टिं सुशिलावृष्टिसंकटम् ।
स्फुटाट्टकटकारावभ्रमत्पादपमण्डलम् ॥४१॥
भ्रमद्द्रुवनविन्यासैः संदिग्धाम्भोधरोत्कटम् ।
सिंहवारणवर्षाभ्रनिरन्तरदिगन्तरम् ॥४२॥
तालीतमालहिंतालमालाज्वलनसंकुलम् ।
गुहाघुंघुमनिर्ह्रादभांकारघनघर्घरम् ॥४३॥

घोड़ा, ऊँट, गरुड़, बादल, हंस आदि सवारियों पर चढ़ना देखता है और देखता है यक्ष, विद्याधर आदि का दूर से आना और जाना या अपने स्थान में संचार ॥३७॥

सागर के बुल्लों की तरह पहाड़, अन्तरिक्ष, भूमि, समुद्रों के साथ वृक्षों, ग्रामों नगरों, दिशाओं तथा भयभीत मनुष्यों की कँपकँपी देखता है ॥३८॥

अपने को अंधे कुएं में गिरा हुआ या महान् संकट में पड़ा हुआ अथवा गगनचुम्बी पेड़ और पर्वत पर चढ़ा हुआ देखता है ॥३९॥

वात, पित्त, कफ से पूर्ण नाड़ी प्रदेशों में प्रविष्ट हुआ अणुमात्ररूप जीव जब वात, पित्त और कफ से पूर्ण होता है तब वायु के वशीभूत हुए भागों से पीड़ित होकर निम्नलिखित स्वप्नों को देखता है। अर्थात् कफ, पित्त और वायु में से एक-एक द्वारा पूर्ण नाड़ी में दिखाई देने वाले विविध स्वप्नों को दिखलाकर कफ, वात, पित्त—इन तीनों से पूर्ण नाड़ी से दिखाई देने वाले स्वप्नों को दिखाते हैं ॥४०॥

ऊपर से गिर रही पर्वतों की वृष्टि देखता है, बड़ी-बड़ी शिलाओं की वृष्टि से संकटाकीर्ण फट रहे महलों, पर्वत के मध्य भागों के घनघोर शब्द से घूम रही वृक्ष-राशि को देखता है ॥४१॥

इधर उधर भ्रमण कर रही वनश्रेणियों से मिश्रित मेघों से भीषण और सिंह, हाथी और वर्षा ऋतु के बादलों से निरन्तर निरवकाश दिगन्तराल को, जो ताड़, तमाल, हिन्ताल के पेड़ों की पंक्तियों मे वह्नि से व्याप्त, गुफाओं घुन्घुम ध्वनि के सांय-सांय से खूब घरघराहट युक्त है, देखता है ॥४२, ४३॥

मन्द्रमन्दरमन्थानशब्दसन्दर्भसुन्दरीम् ।
दरीं दलनदुर्वारमिथःसंघट्टघट्टिताम् ॥४४॥
शृङ्गसंघट्टसदृशाः क्रेंकारोत्करकर्कशाः ।
नदीर्मुक्तालतापातसस्रग्दामनभस्तलाः ॥४५॥
शिलाशकलपूर्णार्णपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
वहद्वनघनोद्घातघट्टितब्रह्ममण्डलम् ॥४६॥
परस्परविनिर्मृष्टदशदर्शनदन्तुरम् ।
चटत्कटकटारावस्फुटत्कटकटङ्कितम् ॥४७॥
खपातपवनाधूतवनवातलतोदयम् ।
रणदात्मदृषच्चूर्णकर्बुराम्बुजधारिणम् ॥४८॥
प्राग्भटोद्भटभेदोत्थैर्मन्द्रैर्मरमरारवैः ।
क्रूराक्रन्दैरिवाऽऽभाति विराजितजगत्त्रयम् ॥४९॥

मन्दरूपी मथनी के गम्भीर शब्द के संसर्ग से मनोहर, तोड़ने-फोड़ने के लिए अनिवार्य परस्पर की टक्कर से टकराई हुई गुफा को देखता है ॥४४॥

पर्वत के दो शिखरों के बीच में प्रवाह-ध्वनियों से दो शिखरों की टक्कर के सदृश, चकवा-चकवी के कर्कश क्रेंकारों से कठोर तथा मोतीमालाओं के तुल्य अगल-बगल से गिरने से आकाश को माला सहित-सा बनाने वाली नदियों को देखता है ॥४५॥

शिलाखण्डों से भरी हुई जलराशि से आकाश को पूर्ण करने वाले महासागर को, जो बह रहे वनों और मेघों के आघातों से (धक्कों से) सप्तर्षिलोक में टक्कर मारता है, देखता है ॥४६॥

परस्पर लहरों द्वारा सींचने से धोई हुई दसों दिशाओं के दृष्टि होने से मानो जो हँसता-सा है दिशाओं को आच्छादित कर रहे कटकट शब्द के साथ फूट-फूट कर धराशायी हो रहे पर्वत शिखरों से मानों जिस पर घन के प्रहार की ध्वनि होती है, जिस पर वायु द्वारा कंपाई गई वायु का अनुसरण करने वाली लताओं का ताण्डव होता है, शब्दायमान अपने से हुए पत्थर के चूर्णों से घूमैले या मटमैले कमल, सेवार आदि को जो धारण करता है, समुद्र का आक्रमण होने से पहले युगान्तर में हुए शूरवीरों की परस्पर की मारकाटों से मानो उद्भूत हुए ताड़ आदि के वनों की मरमर ध्वनियों से, जो क्रूर प्राणियों के रोदन ध्वनि के तुल्य लगती हैं, विराजित ऐसा त्रिजगत् उसे मालूम पड़ता है ॥४७-४९॥

इति तैः काष्ठपाषाणमृद्गुवातभटैर्वृतः।
परिपीडित एवाऽऽस्ते यदा जीवो जड़ीकृतः ॥५०॥
मृदन्तःकीटकणवच्छिलान्तर्गतभेकवत् ।
गर्भस्थापक्वशिशुवत्फलान्तर्गतबीजवत् ॥५१॥
बीजोदरस्थाङ्कुरवद् द्रव्यपिण्डोदराणुवत् ।
अश्रान्तस्तम्बकोशस्थदारुपुत्रकदेहवत् ॥५२॥
सौषिर्यासंभवात्प्राणपवनस्पन्दवर्जितः ।
प्रोन्नमत्पर्शुपूरेण शिलापूरेण तर्जितः ॥५३॥
तदा निबिडतेजोन्तरेवाऽनुभवति स्वयम् ।
सुषुप्तं शैलकोशाभमन्धकूपोदरोपमम् ॥५४॥
यदा परिणतं यत्नं पुनः सौषिर्यमागतम् ।
पुनर्वेत्ति तदाः जीवः स्वप्नं प्राणावबोधितः ॥५५॥
यदा तस्मिन्प्रदेशेऽन्तर्भागभागान्पतन्ति ते ।
देहे परिणमन्तोऽन्तस्तदेवाऽस्त्यद्रिवर्षणम् ॥५६॥

कफ, वात और पित्तरूप त्रिधातु से पूर्ण नाड़ियों में पूर्वोक्त प्रकार के सर्वजन विदित उन पत्थरों, मिट्टी-धूलि से युक्त वायुओं से अथवा सैनिकों से घिरकर स्वप्न में जड़ बनाया गया जीव जब परिपीड़ित ही रहता है तब वह पुरीतत नाड़ी रूप पिंजड़े में, जो सब पसली की हड्डियों के सिरों से बनी हृदय की हड्डी ग्रन्थि से युक्त है, प्रविष्ट होता है। आगे चलने-फिरने के लिए छिद्र का संभव न होने से प्राणवायुप्रयुक्त स्पन्द से रहित होकर ऊँची-ऊँची पसली की हड्डियों से बिल में पत्थरों की राशि से निरुद्ध की तरह, कोई भी व्यापार करने में असमर्थ हो मिट्टी के अन्दर दबे हुए कीड़े की तरह, चट्टान के भीतर छिपे मेढक की तरह, बीज के अन्दर स्थित अङ्कुर की तरह, पिण्डीभूत द्रव्य के अन्दर के परमाणु की तरह तथा खम्भे के अन्दर प्रतिमा की देह के तुल्य निविड़ तेजोधातु नामक ओज के अन्दर ही शिला के आकाश की तरह गाढ अज्ञान होने से अन्धकूप के उदर के तुल्य सुषुप्ति का स्वयम् अनुभव करता है ॥५०-५४॥

जब खाया हुआ अन्न परिपाकवश पच जाता है और अन्नरस द्वारा किये गये गमनागमन मार्ग के विरोध की निवृत्ति हो जाने से अवकाश हो जाता है तब जीव प्राण-संचार द्वारा पुरीतत् से निकलने का यत्न कर प्राण द्वारा अवबोधित हो स्वप्न देखता है ॥५५॥

जब शरीर में परिणत हो रहे अन्नरस जिस प्रदेश में जीव के साथ नाड़ी भागों से दूसरे नाड़ी भागों में जाते हैं तब ओज के अन्दर पर्वतों की वर्षा का अनुभव करता है ॥५६॥

बह्वेव वह्निबहुना स्वल्पेनाऽल्पं प्रपश्यति ।
वातपित्तादियोगेन बहिरन्तश्च संभ्रमम् ॥५७॥
पश्यत्येतद्यथैवाऽन्तरेष जीवो वशीकृतः ।
वातपित्तादिवलितो बहिर्वेत्त्येवमेति वा ॥५८॥
क्षुब्धैरन्तर्बहिश्चैव स्वल्पैः स्वल्पं प्रपश्यति ।
समैः सममिदं दृश्यं वातपित्तकफादिना ॥५९॥
बहिः पश्यत्ययं जीवः कुपितैरेभिरावृतः ।
स्पन्दं भूम्यद्रिनभसां ज्वलनं वाऽनलोच्चयैः ॥६०॥
आकाशगमनं चैव चन्द्रोदयहिमाचलान् ।
गहनं वृक्षशैलानां नभःप्लवनमर्णसाम् ॥६१॥
मज्जनोन्मज्जनं वाऽब्धौ सुरतं सुरसद्मसु ।
शैलोपवनशुभ्राभ्रपीठविश्रमणोच्चयम् ॥६२॥
बृहत्क्रकचनिष्पेषं नरकानुभवभ्रमम् ।
तालीतमालहिंतालमालावलनमम्बरे ॥६३॥

प्रचुरतम उदराग्नि से व्याप्त वात-पित्त आदि के सम्बन्ध से बाहर भीतर बहुत से भ्रम देखता है, अल्पतम उदराग्नि से व्याप्त वात आदि के सम्बन्ध से अल्प भ्रम देखता है ॥५७॥

जैसे वात-पित आदि से संवलित वशीकृत यह जीव यह सब भीतर देखता है वैसे ही बाहर भी ज्ञानेन्द्रियों से जानता है अथवा कार्मेन्द्रियों से गमन करता है ॥५८॥

वात, पित्त, कफ आदि से क्षुब्ध हुए थोड़े से अन्नरसों से बाहर भीतर थोड़ा-सा दृश्य भ्रान्तिवश देखता है, सम अन्नरसों से सम दृश्य देखता है और अत्यन्त क्षुब्ध हुए अन्नरसों से अत्यन्त भ्रमपूर्ण दृश्य देखता है ॥५९॥

सन्निपात तथा मणि, मन्त्र, ओषध आदि निमित्तों में कुपित हुए अन्नरसों से आवृत हुआ यह जीव बाहर भूमि, पर्वत और आकाश में हलचल देखता है अथवा अग्नि-राशि से उनका जलना देखता है। अपना आकाश में उड़ना देखता है, चन्द्रमा, उदयाचल, हिमालय आदि पर्वतों को देखता है, वृक्ष और पर्वतों की भीड़ देखता है और देखता है जलों का आकाश में उछलना ॥६०,६१॥

अथवा सागर में अपना डूबना और उतराना देखता है, सुरलोक में अप्सराओं के साथ संगम देखता है और देखता है शैल, उपवन, शुभ्रमेघों के आसनों में बैठना तथा शुभ्रमेघों की राशि ॥६२॥

बड़े-बड़े आरों द्वारा अपना चीरा जाना देखता है,

चक्रवृत्तेश्च पतनं झगित्युत्पतनं दिवि ।
शून्येऽपि जनतावृन्दं स्थलेऽप्यब्धिनिमज्जनम् ॥६४॥
विचित्रं विपरीतं च व्यवहारं महानिशि ।
अह्नीव भास्करालोकं दुर्भेद्यं चाऽह्नि वा तमः ॥६५॥
साद्रिभूतलमाकाशे कुड्यबन्धे घने स्थलम् ।
कुड्यबन्धांश्च गगने मित्रभावं च विद्विषि ॥६६॥
स्वजने परताबुद्धिं सुजनत्वं च दुर्जने ।
सुसमस्थलतां श्वभ्रे श्वभ्रत्वं सुसमे स्थले ॥६७॥
उद्गीतालापमसृणान्सुधाधौतान्सुचित्रितान् ।
अभ्रोऽच्छ्वेतमयान्वाऽपि नवनीतमयांश्च वा ॥६८॥
कदम्बनीपजम्बीरपत्रस्तबकसद्मसु ।
सुखविश्रमणं स्त्रीभिः साकं पद्मेष्विवाऽलिनः ॥६९॥

नरकों के अनुभव की भ्रान्ति देखता है और देखता है आकाश में ताड़, तमाल और हिन्ताल के छोटी जाति के खजूर के पेड़ों का जमघट है ॥६३॥

अपना चक्कर काटकर आकाश से नीचे गिरना और फिर तुरन्त आकाश में उड़ना देखता है, निर्जन स्थान में जनता की भीड़ लगी देखता है और मैदान में भी समुद्र में डूबना देखता है ॥६४॥

और भी विचित्र विपरीत व्यवहारों को देखता है जैसे अधरात में दिन की तरह सूर्य का प्रकाश देखता है और दिन में गाढ़ अन्धकार देखता है ॥६५॥

आकाश में पर्वतों के साथ पृथिवी को देखता है, दीवार पर विशाल स्थल को देखता है, आकाश में अटारियाँ देखता है और शत्रु में मित्रता देखता है। आत्मीय लोगों को परकीय समझता है तथा दुर्जन को सज्जन मानने लगता है एवं गड्ढे को समथल भूमि और समथल भूमि को गड्ढा समझता है ॥६६, ६७॥

प्रतिध्वनित हो रही गान ध्वनि से मनोहर, चूने से पोतकर स्वच्छ किये हुए, भाँति-भाँति के चित्रों से सजे-सजाये, स्फटिक या चाँदी से बने हुए या नवनीतमय (मक्खन के बने हुए) पर्वतों को देखता है। कदम्ब, धूलिकदम्ब, जंबीर के पत्ते के गुच्छों से सुशोभित घरों में अप्सराओं के साथ वैसे ही अपना विश्राम करता देखता है जैसे कि कमलों में भँवरियों के साथ भंवर विश्राम करता है ॥६८, ६९॥

अन्तर्निमीलिता ह्येताः पश्यन्त्युन्मीलिता बहिः ।
धातूनामिति वैषम्याद्भ्रान्तिमिन्द्रियवृत्तयः ॥७०॥
एवंविधान्यनेकानि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ।
बहिरेव यथा स्वप्ने वस्तुन्यसमधातवः ॥७१॥
बहिश्चाऽन्तश्च दृश्यन्ते विपरीतान्यनेकशः ।
कार्याण्यतिकरालानि जीवैरसमधातुभिः ॥७२॥
समेषु धातुष्वेषोऽन्तर्जीवोऽनुभवति स्वयम् ।
तेजोऽन्तर्गत एवेमां व्यवहारस्थितिं समाम् ॥७३॥
यथास्थितां पुरग्रामपत्तनारण्यसंततिम् ।
सौम्यवारितरुच्छायादेशाध्वगगमागमम् ॥७४॥
सुखातपमयेन्द्वर्कताराहोरात्रमण्डितम् ।
एतमेतदसद्भूतं सद्भूतमिव भासते ॥७५॥
दृश्योपलम्भं चित्तत्त्वे स्पन्दनं पवने यथा ।
असदेव सदाभासमभिन्नं भिन्नवत्स्थितम् ॥७६॥

निद्रा में निमीलित (बन्द हुई) इन्द्रिय वृत्तियाँ धातुओं के वैषम्य से इन भ्रान्तियों को अन्दर देखती हैं, किन्तु जाग्रत् में उन्मीलित (खुली हुई) ये बाहर इन्द्रजाल आदि में इन भ्रान्तियों को देखती हैं ॥७०॥

विषम वात, पित्त धातु वाले पुरुष इस प्रकार के दृश्यों को स्वप्न की तरह बाहर ही देखती हैं ॥७१॥

विषम धातु वाले जीवों को बाहर और भीतर अति भीषण अनेक विपरीत कार्य दिखाई देते हैं ॥७२॥

वात, पित्त आदि धातुओं के सम होने पर यह जीव तेजोधातु के मध्य में स्थित होकर ही इस सम लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार मर्यादा का स्वयं अनुभव करता है तथा यथास्थित नगर, गाँव, कसबे और जगल की श्रेणी अनुभव करता है ॥७३, ७४॥

निश्चल जल और वृक्ष छाया वाले प्रदेशों में बटोही के रूप से गमनागमन, आनन्ददायक आतपवाले चन्द्रमा, सूर्य, तारा, रात्रि और दिन से विभूषित इस प्रकार का असद्भूत यह जगत् अद्भूत-सा प्रतीत होता है ॥७५॥

चित् तत्त्व में जो यह दृश्योपलम्भ है वह असत् होता हुआ भी वैसे ही सत् सा प्रतीत होता है, अभिन्न होता हुआ भी भिन्नवत् स्थित है। जैसे पवन में स्पन्द है ॥७६॥

शान्तादुदेति सकलं जगदम्बरात्म
शान्तं न किंचन न नाम सदित्युदेति।
तद्व्योमनीदृशमनन्तचितेः शरीरे
भामात्रमाततमनन्तवपुर्विभाति ॥७७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४५॥

निष्प्रपञ्च ब्रह्म से शून्यभूत सम्पूर्ण जगत् उदित है, अतएव निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप वह उससे तनिक भी अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार परिदृश्यमान रूप से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए आकाशसदृश अनन्त चिति के शरीर में प्रतिभासमात्र जगत इस तरह अनन्त रूपों में प्रतीत होता है, वास्तव में उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है ॥७७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पैंतालिसवाँ अध्याय संमाप्त हुआ ॥१४५॥

१४६

व्याध उवाच

अनन्तरं मुनिश्रेष्ठ! तस्मिन्हृदि तदोजसि।
स्थितस्य तव किं वृत्तं नामतो भ्रान्तिरूपिणि ॥१॥

मुनिरुवाच

अनन्तरं तदा तत्र शृणु किंवृत्तमङ्ग मे।
तेजोधातुनिषण्णस्य तज्जीवावलिताकृतेः ॥२॥
तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे कल्पान्तसंभ्रमे।
तृणवत्प्रौढशैलेन्द्रे वहति प्रलयानिले ॥३॥
गिरिवृष्टिर्झटित्येव कुतोऽपि समुपाययौ।
उह्यमानवनाभोगशिखरग्रामपत्तना ॥४॥
तस्याऽन्तस्तत्र संप्राप्तं तदा परिणतं यदा।
तदा तदेव सूक्ष्मोऽहमपश्यं शैलवर्षणम् ॥५॥
तेनाऽन्नलवशैलोच्चपूरेण प्रतिपिण्डितः।
सुषुप्तमन्धतामिश्रमहमन्वभवं घनम् ॥६॥
अथ कंचित्तदा कालमनुभूय सुषुप्तताम्।
तदा पद्माकर इव शनैर्बोधोन्मुखोऽभवम् ॥७॥
यथा दृष्टिश्चिराद्ध्वान्ते भाति चक्रकरूपिणी।
सुषुप्तमेव तत्राऽऽसीत्तथा स्वप्नत्वमागतम् ॥८॥

१४६

व्याघ्र ने कहा—हे मुनिवर! यथार्थ में भ्रान्तिरूपी नामतः उस हृदय में उस प्राणी के ओज में बैठे हुए आप का उसके उपरान्त कैसा स्वप्नदर्शन आदि वृत्तान्त सम्पन्न हुआ उसे कृपया बताइए ॥१॥

मुनि ने कहा—हे व्याध! उसके बाद उस प्राणी के ओज में बैठे हुए तथा उसके जीव से मिश्रित लिङ्ग देहवाले मेरा वहाँ पर उस समय जो वृत्तान्त हुआ उसे तुम सुनो ॥२॥

उस समय जब कि अति भयानक प्रलय का आडम्बर अपनी पूरी शक्ति के साथ कदम उठाये था, महान् पर्वतों को तिनकों के समान उड़ाने वाला प्रलय वायु बह रहा था झटपट कहीं से पर्वत वृष्टि आ गई। ऐसी वृष्टि कि जिसमें बड़े-बड़े बन, बन, पर्वत, शिखर, गाँव, नगर उड़ रहे थे ॥३, ४॥

जब मैं उस प्राणी के ओज के अन्दर उसके जीवरूप से परिणत हुआ, उस समय सूक्ष्म परमाणुरूप मैंने वही पर्वतवृष्टि देखी ॥५॥

उस प्राणी की नाड़ियों के भीतर स्थित अन्नरस के अन्तर्गत अन्न के कणरूपी पर्वत राशि से निश्चेष्ट हुए मैंने अज्ञानता रूप अन्धता से मिश्रित गाढ़ सुषुप्ति का अनुभव किया ॥६॥

अनन्तर कुछ समय तक सुषुप्ति का अनुभव कर जब प्राण के गमनागमन के मार्ग में बाधा डालने वाला अन्न पच गया तब प्रातःकाल में कमल के तालाब की तरह धीरे-धीरे मैं बोध की ओर अग्रसर हुआ ॥७॥

अन्धकार में बन्द की हुई दृष्टि जैसे चिरकाल में तेजोराशि के आभास रूप से भासित होती है वैसे ही वहाँ पर सुषुप्ति ही आरम स्वरूप स्वप्न रूप हुआ ॥८॥

तथा सुषुप्तविश्रान्तेः स्वप्ने निद्रामहं विशम् ।
अपश्यं दृश्यमोजोऽन्तः स्वमूर्मित्वमिवार्णवः ॥९॥
संवित्कोशात्मकं दृश्यं यत्तथा मामुपागतम् ।
अस्पन्दस्यानिलस्यान्तरनन्यत्स्पन्दनं यथा ॥१०॥
अग्न्यादौ च यथोष्णत्वं जलादौ द्रवता यथा ।
मरिचादौ यथा तैक्ष्ण्यं चिद्व्योम्नश्च जगत्तथा ॥११॥
चित्स्वभावैकरूपत्वाज्जगद्दृश्यं तदाततम् ।
तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्प्रसूतं बालपुत्रवत् ॥१२॥

व्याध उवाच

तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यादिति तद्व्यपदेशतः ।
सुषुप्तदृश्यं किं वक्षि वद मे वदतां वर ॥१३॥
तत्सुषुप्तात्मनो दृश्यात्स्वत्सुषुप्तात्मनोऽपि च ।
किमन्यज्जायते जन्यमथवाऽन्यसुषुप्तता ॥१४॥

सुषुप्ति रूपी विश्राम से मैंने स्वप्न निद्रा को प्राप्त किया। मैंने भी उस समय उस प्राणी के ओज के अन्दर हजारों विक्षेपों से युक्त दृश्य वैसे ही देखा। जैसे समुद्र तरङ्ग, बुद्बुद आदि हजारों विक्षेपों से व्याप्त अपनी मूर्ति देखता है ॥९॥

जैसे कि स्पन्द रहित वायु के अन्दर वायु से अभिन्न स्पन्द प्राप्त होता है। वह चिदाकाशकोशात्मक दृश्य ठीक वैसे ही मुझे प्राप्त हुआ ॥१०॥

जैसे अग्नि आदि में स्थित उष्णता अग्नि आदि मे अभिन्न है, जैसे जलादि में स्थित तरलता जल आदि से अभिन्न है और जैसे मरिच आदि स्थित तीक्ष्णता मरिच से अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश से जगत् अभिन्न है ॥११॥

चारों ओर फैला हुआ एकमात्र चित्स्वभाव रूप होने के कारण स्वप्न जगत् रूपी दृश्य सुषुप्ति रूपी माँ के उदर से बालक की तरह उत्पन्न हुआ है ॥१२॥

सकल दृश्य का विलय होने पर ही सुषुप्ति होती है सुषुप्ति में भी 'तत्सुषुप्तात्मनो दृश्य' दृश्य के अस्तित्व का कथन सुनकर उसको असंभव समझ रहा व्याध पूछता है।

व्याध ने कहा—आप 'तत्सुषुप्तात्मन' यों तत्शब्द से और दृश्य पद से दृश्य का व्यपदेश करते हैं, इसलिए सुषुप्तदृश्य कुछ है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात होता है, अतः कृपया सुषुप्त दृश्य का क्या स्वरूप है, यह मुझे समझायें ॥१३॥

क्या जिस प्राणी के हृदय में आप प्रविष्ट हुए थे उस प्राणी के सुषुप्तिदृश्य से और आपके सुषुप्तिदृश्य से भी अन्य जगत्‌रूप दृश्य दूसरा उत्पन्न होता है ? अन्यता का प्रयोजक जन्म क्या है, अथवा सर्वदृश्यप्रलय में अन्य सुषुप्ति क्या है ? इसे कृपया आप समझायें ॥१४॥

मुनिरुवाच

जायते भाति कचति घटादि जगदादि च ।
इति द्वैतोपतप्तानां प्रलापः कल्पनात्मकः ॥१५॥
जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥१६॥
सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्संजातमुच्यते ।
सर्गतो जात इत्युक्ते सन्सर्ग इति शब्दितम् ॥१७॥
बुधानामस्मदादीनां न किंचिन्नाम जायते ।
न च नश्यति वा किंचित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥१८॥

मुनि ने कहा—दृश्य आदि वास्तव में कुछ नहीं है। घट आदि और जगत् आदि उत्पन्न होते हैं, विकसित होते हैं, यह सब द्वैत से संतप्त हुए मूर्खों की कपोल-कल्पनारूप प्रलाप का मैंने अनुवाद किया है, यह कोई तात्त्विक वाद नहीं है। मुनि के उत्तर का आशय यह है कि दृश्य और उसके जन्म आदि क्या वास्तविक हैं, ऐसा तुम पूछते हो या व्यवहारतः उनका क्या रूप है, यह पूछते हो ? प्रथम पक्ष में दृश्य आदि के असत् होने से वे कुछ भी नहीं हैं ॥१५॥

'जात' शब्द केवल 'सत्' का पर्याय कैसे है, यह तुम सुनो मैं इसका उपपादन करता हूँ। 'जन्' धातु पाणिनि आदि द्वारा प्रादुर्भाव अर्थ में कहा गया है। उसमें प्रादुः अन्य धात्वर्थ की प्रकटता को द्योतित करता हुआ अप्रधान है। भूधातु का सत्तामात्र अर्थ ही प्रादुर्भाव का प्रधान शरीर है अर्थात् पण्डितों के विचार मे तो जात आदि शब्दों का सन्मात्र ही अर्थ है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है ॥१६॥

सत्तार्थक भू धातु 'भू सत्तायाम्' पाणिनि आदि से कहा गया है, इसलिए 'प्रादुः' उपसर्ग युक्त भावशब्द से संजात (उत्पन्न) प्रकट अर्थात् सन्' अर्थ कहा जाता है। वह नित्यसिद्ध स्वप्रकाश चिदात्मा ही है। यदि 'प्रादुः' शब्द का 'सर्ग' अर्थ मानने में भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सर्ग शब्द का भी सृजधातु से भाव में प्रत्यय होने पर घञ् के अर्थ सत्तारूप भाव मे सृज्य अर्थ का अभेद से अन्वय होने पर सत् ही सर्ग शब्द से कथित होता है ॥१७॥

तत्त्वज्ञानी हम लोगों की दृष्टि में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और कुछ नष्ट भी नहीं होता सब कुछ शान्त, अजन्मा सन्मात्र है अर्थात् विद्वानों की दृष्टि से अज्ञानियों की दृष्टि में प्रसिद्ध जन्म आदि किसी वस्तु की भी सिद्धि नहीं होती है ॥१८॥

सर्वसत्तात्मकं ब्रह्म सर्वसत्तात्मकं जगत् ।
विधयः प्रतिषेधाश्च वद तत्र लगन्ति के ॥१९॥

या नाम शक्तिः काचित्सा तत्रैवाऽस्ति च नाऽस्ति च ।
यस्मात्तदात्म तद् ब्रह्म तथैवात्म तदात्मकम् ॥२०॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि परमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किंचिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥२१॥

स्वप्नसंकल्पपुरयोर्नाऽस्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥२२॥

सर्वसत्तात्मक ब्रह्म है सर्वसत्तात्म जगत् है जरा बतलाओ तो सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में कौन-सी विधियाँ और कौन से प्रतिषेधों का संसर्ग हो सकता है अर्थात् सर्वसत्तात्मक ब्रह्म में अस्तित्व और नास्तित्व का अथवा विधि और निषेध का अवकाश नहीं है ॥१९॥

[तब 'अस्ति' (है) 'नास्ति' (नहीं है) इस लोक प्रसिद्ध व्यवहार का कौन विषय है ? इस प्रश्न पर उक्त व्यवहार के विषय को दर्शाते हुए द्वितीय पक्ष में कहते हैं ।]

जो अनिर्वचनीय माया शक्ति है वही 'अस्ति' 'नास्ति' इस लोक व्यवहार का विषय है, ब्रह्म मायाशवल होने से अज्ञानियों की दृष्टि में मायात्मक है। जैसे-जैसे मायाशक्ति उत्कर्ष को प्राप्त करती है वैसे ही सर्वशक्ति घटित स्वरूप वाला वह तदात्मक कहा जाता है। अस्ति (है) और नास्ति (नहीं है) इस लोक व्यवहार क्या विषय है, इसका उत्तर दिया है ॥२०॥

तत्वज्ञान सम्पन्न विद्वानों की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ नहीं हैं, उनके लिए सब कुछ ब्रह्म ही है। अर्थात् तत्वज्ञानी तो सदा तुरीय पद में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव उनकी जाग्रद् आदि अवस्थाएँ ही नहीं हैं, विधि, प्रतिषेध तो दूर रहे ॥२१॥

स्वप्न और संकल्प के नगर के अनुभवारूढ होने पर भी जैसे उनका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है वैसे ही सर्ग के आदि में जगद् का तनिक भी स्वरूप नहीं है ॥२२॥

द्रष्टाऽस्याः स्वप्नदृष्टेस्तु जीवः संभवतीह हि ।
चिदचेत्या तु सर्गादौ भात्यच्छा गगनादपि ॥२३॥

नेह द्रष्टाऽस्ति नो भोक्ता सर्वमस्तीह तादृशम् ।
यन्न किंचिच्च किंचिच्च मौनमेवाऽतिवागपि ॥२४॥

सर्गादौ , कारणाभावाद्यद्यथा कचितं चितौ ।
तत्तथाऽऽस्ते चिरं रूपं स्वप्नसंकल्पपूर्यथा ॥२५॥

तथाऽस्माच्चेतनाद् द्वैताद्बिभेति न बिभेति वा ।
अङ्गसंस्थाद्यथा चित्रात्स्वरूपात्पुरुषः स्वयम् ॥२६॥

स्वप्न और मनोरथ जीवोपाधिसृष्टि के उत्तरकालवर्त्ती हैं, अतएव इस स्वप्न दृष्टि का द्रष्टा प्राणादिमान् जीव हो सकता है, किन्तु चेत्यभिन्ना (चेत्यसंसर्ग शून्य) चित् सृष्टि के आदि मे आकाश से भी अधिक स्वच्छ है अतएव सृष्टि के आरम्भ में प्राणादिमान् ब्रह्म कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु विर्विशेष ही है, यह सिद्ध हुआ अर्थात् तब तो जैसे स्वप्न और मनोरथ में प्राणादिमान् जीव द्रष्टा है वैसे ही सर्गादि में भी प्राण आदि युक्त ही ब्रह्म की सिद्धि होती है, निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता, इस प्रश्न का उत्तर दिया है ॥२३॥

न यहाँ द्रष्टा है और न भोक्ता है यहाँ सब कुछ चिदेकरस ही है, जो कुछ न होता हुआ भी कुछ है और जो मौन ही अतिशयित वाणी वाला भी है अर्थात् सर्ग को स्वीकार कर उसका द्रष्टा शुद्ध है यह कहा है। वास्तव में तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी सम्पूर्णतया इस शुद्ध में निवृत्त होती है ॥२४॥

सृष्टि के आरम्भ में कारण का अभाव होने से चित् में जो रूप जैसे विकसित हुआ है स्वप्न और मनोरथ के नगर के समान वह रूप प्रलय तक ज्यों का त्यों रहता है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में चित् ही सकल पदार्थ रूप रूप से विकास को प्राप्त हुई है प्रलयपर्यन्त वैसे ही रहती भी है ॥२५॥

अज्ञानता में द्वैतवश अन्य की भ्रान्ति से जीव आत्मभूत चेतन से ही भय खाता है जैसे बालक अपने शरीर पर चित्रित बाघ, सर्प आदि के चित्रों से भयभीत होता है, लेकिन वयस्क पुरुष उनसे भयभीत नहीं होता बोध होने पर भयभीत नहीं होता ॥२६॥

अनादिमध्यान्तमनन्तमेक-
मत्यच्छमेवाऽतिविकारि नाना।
यथास्थितं भास्वरमप्यशान्त-
मिदं समस्तं परिशान्तमेव ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श०
सुषुप्तविचारो नाम षट्चत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४६॥

तात्त्विकरूप से जन्म, स्थिति विनाशशून्य असीम अत्यन्त निर्मल ब्रह्म ही यथास्थित हो भ्रान्ति से विकारी और नाना हो अवभासित होता है। प्रकाशमान अशान्त भी यह जगत् वास्तव में प्रबोध से परिशान्त ही है ॥२७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में शवोपाख्यान में सुषुप्तविचार नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४६ ॥

१४७

मुनिरुवाच

अनन्तरं महाबाहो! सुषुप्तान्निर्गतस्य मे।
स्वप्ने जगद्दृश्यमिदं सागरादिव निर्गतम् ॥१॥
आकाशाङ्गादिवोत्कीर्णमुत्कीर्णमवनेरिव।
उत्कीर्णमिव वा चित्तादुत्कीर्णमिव वा दृशः ॥२॥
प्रफुल्लमिव वृक्षेभ्यः सर्गः पूर्वमिवोत्थितः।
तरङ्गजालं रोधोऽब्धेरिव वा कचनं दृशाम् ॥३॥
नभस्तलादिवाऽऽयातं ककुब्भ्य इव चाऽऽगतम्।
पर्वतेभ्य इवोत्कीर्णं भूमेरिव समुत्थितम् ॥४॥
हृदयादिव निष्क्रान्तं संप्रविष्टमिवाऽम्बुदैः।
प्रसूतमिव वृक्षेभ्यो जातं ना सस्यवद्भुवः ॥५॥
अङ्गेभ्य इव निर्यातं समुत्कीर्णमिवेन्द्रियैः।
पटादिव प्रकटितं मन्दिरादिव निर्गतम् ॥६॥
कुतोऽप्यागत्य पतितमुड्डीय गगनादिव।
उपायनं परे लोके गृहीतमिव वा भुवः ॥७॥
प्रसूनं ब्रह्मवृक्षस्य तरङ्गमिव वाऽम्बुधेः।
अनुत्कीर्णप्रकटना चित्स्तम्भे चारुपुत्रिका ॥८॥

१४७

महामुनि ने कहा—हे महाबाहो! अनन्तर जब मैं सुषुप्ति से बाहर आया तब स्वप्न में मेरा यह जगत् दृश्य सागर से लहर, मणि, मोती आदि की तरह बाहर निकला, जैसे छेनी आदि औजारों से तराश कर पत्थर से प्रतिमा प्रकट होती है वैसे ही आकाश से मानो प्रकट हुआ था, चित्त से मानो उदित हुआ था, अथवा दृष्टि से प्रादुर्भूत हुआ था, वृक्षों से मानो फूला था सृष्टि पहले से ही स्थित थी न कि उस समय उत्पन्न हुई ऐसा मालूम पड़ता था, किनारों के निकटवर्ती सागर की तरङ्गराशि-सा प्रतीत होता था अथवा दृष्टियों का केशों के गोले, द्विचन्द्र आदि रूप से विकाचित था, आकाश से मानो आया हुआ था, दिशाओं से मानो उदित हुआ था, पर्वतों से मानों प्रतिमा आदि की तरह गढ़कर प्रकट हुआ था, पृथिवी से मानो निकला था, हृदय से मानो बाहर आया था, मेघों द्वारा आकाश में मानो प्रविष्ट किया गया था, वृक्षों से मानो पैदा हुआ था, पृथिवी से धान आदि की तरह उगा था, अङ्गों से मानो निकला था, इन्द्रियों द्वारा मानो दिशाओं में लिखकर चित्रित कर बनाया गया था, पर्दे के भीतर से मानो बाहर आया था, मन्दिर से मानो निकला था, कहीं से आकर आकाश से उड़कर मानो गिरा था, प्रजावर्ग द्वारा राजा के सन्मुख रखी हुई भेंट-सा था, इस लोक में संचित पुण्य जैसे परलोक में अपने आप उपस्थित होता है वैसे ही उपस्थित हुआ था अथवा खोदने आदि उपायों से हाथ लगी भूमि की निधि की तरह हाथ में आया था, ब्रह्मरूपी वृक्ष का समय पर लगे फूल की तरह समय पर उपस्थित हुआ था, चित्‌रूपी खम्भे में तोड़ने तराशने के बिना ही प्रकट हुई सुन्दर प्रतिमा था, आकाश रूप मिट्टी से बनी हुई असंख्य दीवारों से युक्त आकाश नगर था, मन का मत्त गजमय विलास था, बिना दीवार और बिना रङ्ग के आकाश में चित्रित चित्र था, जीव का मिथ्या सर्वस्व था, माया करने में चतुर शिरोमणि अविद्यानाम-धारी किसी ऐन्द्रजालिक का उत्तम जादू था, महाविस्तार

आकाशमृन्मयानन्तकुड्यमाकाशपत्तनम् ।
मनो मत्तो गजमयो मिथ्या जीवस्य जीवितम् ॥९॥
अभित्तिकमरङ्गं च विचित्रं चित्रमम्बरे ।
शम्बरेणस्य सर्वस्वमविद्याख्यस्य कस्यचित् ॥१०॥
महारम्भं स्थिरमपि देशकालविवर्जितम् ।
नानाढ्यमपि चाऽद्वैतं नानात्माऽपि न किंचन ॥११॥
गन्धर्वपुरदृष्टान्तस्याऽप्यवस्तुतया समम् ।
जागरायां हि किल तद्भ्रान्तमप्युपलभ्यते ॥१२॥
चिद्भामात्रमनारब्धमप्यारब्धमिव स्थितम् ।
देशकालक्रियाद्रव्यसर्गसंहारसंयुतम् ॥१३॥
सुरासुरनराधारगर्भगर्भमनोहरम् ।
पृथक्कोष्टस्थबीजौघसंपूर्णमिव दाडिमम् ॥१४॥
नदीशैलवनादिस्थव्योमताराभ्रसंकुलम् ।
गीताब्धिरणपाठाढ्यपवनारावघर्घरम् ॥१५॥
ततो विलोकितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम् ।
यावत्तमेव पश्यामि ग्रामं प्राक्तनमास्पदम् ॥१६॥

और चिरस्थायी दिखाई देने से देशकाल से रहित था, वह नाना से (भेद से) युक्त होता हुआ भी अद्वैत था, विभिन्न रूप होता हुआ भी कुछ न था, शून्य था, अवास्तविक होने के कारण गन्धर्व नगर आदि असत दृष्टान्तों के तुल्य था, जो भ्रम होता हुआ रज्जुसर्प; मृगतृष्णाजल आदि जाग्रत् में दिखलाई देते हैं उनके भी सदृश था, केवल चित् प्रभारूप होने से आरम्भ न किया गया भी वह आरम्भ किये गये की तरह स्थित था, देश-काल, कर्म और द्रव्य की सृष्टि और संहार से युक्त था, देवता, असुर, नर आदि से युक्त त्रैलोक्याधार गर्भों से और उनके गर्भों से केले के खम्भों के समान मनोहर था। उनमें भी अवान्तर गर्भों में अनन्त ब्रह्माण्डों की कल्पना होने से कोष्ठ से स्थित बीजराशि से भरा हुआ दाडिम के फल की तरह था ॥१-१४॥

चाँदी की शिला के समान नदी, पर्वत, वन आदि में प्रतिविम्बित आकाश, तारा और बादलों से वह भरा था, गरज रहे सागर की ध्वनि से युक्त था और वायु की सरसराहट से पूर्ण था ॥१५॥

वह दृश्यमण्डल मैंने देखा, अनन्तर वही गाँव, जो मैंने पहले स्वप्न प्रवेश के समय देखा था, उसमें वह घर मुझे दिखाई दिया। उन्हीं सब बन्धु-बान्धवों को, उन्हीं पुत्रों, उसी पत्नी को और उसी घर को, जिनकी अवस्था,

तानेव सकलान्बन्धूंस्तथा संस्थानसंस्थितान् ।
तान्पुत्रांस्तां महेलां च तदेव च तदा गृहम् ॥१७॥
तां दृष्ट्वा प्राक्तनीं ग्राम्यामाहरद्वासनां बलात् ।
तटस्थं मुह्यमानाङ्गमिव वीचिर्महार्णवे ॥१८॥
अथाऽहमभवं तत्र तदालिङ्गननिर्वृतः ।
गृहीतवासनो नूनं विस्मृतप्राक्तनस्मृतिः ॥१९॥
बिम्बं तत्तदुपावत्ते यद्यदग्रेऽवतिष्ठति ।
यथाऽऽदर्शश्चिदादर्शस्तथैवाऽयं स्वभावतः ॥२०॥
यस्तु चिन्मात्रगगनं सर्वमित्येव बोधवान् ।
द्वैतेन बोध्यते नेह सोऽङ्ग तिष्ठति केवलः ॥२१॥
न नश्यति स्मृतिर्यस्य विमला बोधशालिनी ।
अयं द्वैतपिशाचस्तं मनागपि न बाधते ॥२२॥

उम्र, रूपरेखा, बनावट आदि जैसी पहले देखी थी हूबहू वैसी ही थी, मैंने देखा ॥१६, १७॥

जैसे महासागर में लहर तट में स्थित नष्ट-भ्रष्ट हो रहे अपने प्राक्तन अङ्ग को लाती है वैसे ही बन्धुबान्धव, स्त्री-पुत्र, घरद्वार ने मेरी पहले की ग्रामीण घर-खेत, पुत्र-बन्धु आदि में अभिमान वासना जबरदस्ती ला दी ॥१८॥

अनन्तर उनमें आत्मीय वासना वाला मैं वहाँ पर बन्धुबान्धव, पुत्र, स्त्री आदि के आलिङ्गन से अत्यन्त सुखी हुआ, मेरी पहले की सारी स्मृति विस्मृत हो गई ॥१९॥

चित्‌रूपी आदर्श भी वासना द्वारा उपस्थित किया गया जो-जो पदार्थ अव्यवहित पूर्व में रहता है, स्वभावतः तत्-तत् आकार को वैसे ही धारण कर लेता है जैसे लौकिक दर्पण जो-जो वस्तु आगे आती है उसका प्रतिबिम्ब अपने आप स्वभावतः ग्रहण कर लेता है ॥२०॥

चिदादर्श को यह सब चिन्मात्राकाश ही है ऐसा ज्ञान हो जाने पर वह यहाँ वासनामय द्वैत से पीडित नहीं होता है वह केवल चिन्मात्ररूप से स्थित रहता है अर्थात् लेकिन विमृष्ट चित् का ऐसा स्वभाव नहीं है ॥२१॥

जिसक बोधशालिनी निर्मल स्मृति नष्ट नहीं होती, उसे यह द्वैतरूपी पिशाच कुछ भी दुःखी नहीं कर सकता ॥२२॥

येषामभ्यासयोगेन साधुसच्छास्त्रसंगमैः।
उदेति बोधधीर्भूयो या विस्मरति नोदयम् ॥२३॥
अप्रौढा मे तदा साऽऽसीद्बोधधीर्या तया हृता।
अद्य शक्नोति मे बुद्धिं हन्तुं क इव दुर्ग्रहः ॥२४॥
तत्राऽपि व्याध विद्धीदं बुद्धिः सत्सङ्गवर्जिता।
द्वैतबोधेन कष्टेन कृच्छ्राच्छान्तिमुपैष्यति ॥२५॥

व्याध उवाच

एवमेतन्मुने! सत्यं पावनैस्त्वद्विबोधनैः।
ईदृशैरपि मे बुद्धिर्न विश्राम्यति सत्पदे ॥२६॥
स्यादीदृशमथो न स्यादिति संदेहजालिका।
नैतस्मिन्स्वानुभूतेऽपि वस्तुन्यद्याऽपि शाम्यति ॥२७॥
अहो बत दुरन्तेयमभ्याससुदृढीकृता।
अविद्या विद्यमानैव या शान्तैव न शाम्यति ॥२८॥
सत्सङ्गतैः पदपदार्थविबुद्धबुद्धेः
सच्छास्त्रसत्क्रमविचारमनोहराङ्गैः।
अभ्यासतः प्रशममेति जगद्भ्रमोऽयं
नाऽन्येन केनचिदपीति विनिश्चितिर्मे ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श०
स्वप्नोपलम्भनं नाम सप्तचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४७॥

जिन सत्पुरुषों को अभ्यास से साधु-सन्त और सत् शास्त्र के संग से बोध हो जाता है, वह बोध जो एक बार उदित हो गया तो फिर कदापि अपने उदय को नहीं भूलता सदा ही ब्रह्मानुसन्धान रूप से रहता है, उन्हें यह द्वैत बाधा नहीं पहुँचाता ॥२३॥

उस समय मेरा वह बोध प्रौढ नहीं हुआ था, इसलिए बन्धु-बान्धवों की वासना द्वारा वह तिरस्कृत हो गया। अब तो मेरा बोध अत्यन्त प्रौढ हो हो गया है आज तो किस दुर्वासना जाल में डिगाने की सामर्थ्य है ॥२४॥

हे व्याध! तुम्हारी बुद्धि भी सत्संग रहित होने से अब भी शान्ति को नहीं प्राप्त होती है। किन्तु आगे कहे जाने वाले तपस्या, शरीर वृद्धि, मरण, जन्मान्तर राज्य आदि के कष्ट द्वारा द्वैत को समझकर बड़ी कठिनता से साधना के अभ्यास और परिश्रम से ज्ञान प्राप्त करके शान्ति को प्राप्त हो जायी ॥२५॥

व्याध ने कहा—हे मुनिवर! आप का कथन सत्य है इस प्रकार के पवित्रतम आप के बोधोपदेशों से भी मेरा मन परमलक्ष्य सत्पदपर नहीं टिक रहा है ॥२६॥

ऐसा है या नहीं है, इस तरह का संशय-जाल इस स्वानुभूत वस्तु के विषय में भी शान्त नहीं होता है ॥२७॥

अभ्यास से अत्यन्त बद्धमूल इस अविद्या का पार पाना अत्यन्त कठिन है। इसके अविद्यमान और शान्त रहने पर भी शान्त होती है ॥२८॥

सत् (ज्ञानप्रद) शास्त्र, उत्तम गुरुसम्प्रदाय और उत्तम विचार आदि से सर्वाङ्ग मनोहर सत्संगतियों से उत्पन्न हुई पदपदार्थ-विवेकबुद्धि के अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वबोध क्रमशः यह जद्‌भ्रम शान्त हो जाता है, इससे अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से इसकी शान्ति नहीं हो सकती, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥२९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में
अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में स्वप्नोपलम्भन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४७ ॥

१४८

व्याध उवाच

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ! सत्यतासत्यते कथम्। स्थितः स्वप्नदृशो चैष सुमहान् संशयो मम ॥१॥

१४८

व्याध ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ! वासना के अनुसार चित् का वेदन ही स्वप्न है और जाग्रत् भी स्वप्न विशेष ही है यदि यह सिद्धान्त है तो प्रातःकाल में देखा गया हाथी पर सवार होना इत्यादि कोई स्वप्न लाभ आदि फल का सूचक होने से सत्य है, उससे अन्य अरण्य में जाना, घूमना आदि स्वप्न किसी प्रकार के फल का सूचक न होने से असत्य है, स्वप्न दर्शनों की सत्यता और असत्यता कैसे उपपत्ति होगी? इसी प्रकार हिरण्यगर्भ के मनोरथ से कल्पित सृष्टि अर्थक्रियाकारी होने से सत्य है हमारे मनोरथ से कल्पित सृष्टि असत्य है यों जाग्रत्-

मुनिरुवाच

देशकालक्रियाद्रव्यैर्या संविन्निश्चितोदिता ।
काकतालीयवद्भाति सा सत्यस्वप्ननामिका ॥२॥
मणिमन्त्रौषधिद्रव्यैः क्वचिदव्यभिचारिणी ।
क्वचित्सव्यभिचारा चित्सत्यस्वप्नाभिधा स्मृता ॥३॥
सत्यस्वप्नस्थितिर्लोकेष्वीदृग्रूपा यदा स्थिता ।
तदैषा काकतालीयन्यायादन्या न लभ्यते ॥४॥
यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया ।
तथा तथा भवत्येषा फलयुक्तस्वभावतः ॥५॥
तमेव निश्चयं त्वस्या अन्यः प्रतिनिहन्ति चेत् ।
तत्राऽसौ निश्चयः प्रौढः स कथं लक्ष्यभाग्भवेत् ॥६॥
न बहिर्नाऽन्तरे सन्ति पदार्थाः केचन क्वचित् ।
संविदेका जगद्रूपैर्यथेच्छति तथा स्थिता ॥७॥
स्वप्नोऽयं सत्य इत्यन्तर्निश्चयेन तथोदिता ।
तथैवाऽऽशु भवत्येषा संशयात्संशयं व्रजेत् ॥८॥
अन्यतोऽपि फलं प्राप्तं स्वप्नसत्यत्वकल्पनात् ।
स्वप्नेन सूचितमिदं फलमित्येव वेत्त्ययम् ॥९॥
सर्वं एव निजया जगत्त्रये
संविदाऽतिशयिता दृढा अपि ।

जगत् के विषय में भी मेरा यह महान् सन्देह है । अधिष्ठान चित् की सत्यता से अध्यस्त में सत्यता स्वतः असत्यता दोनों जगह तुल्य ही है, तो इस विषमता का क्या कारण है, यह भाव है ॥१॥

मुनि ने कहा—हे व्याध ! जो स्वप्नसंवित् स्वप्नेश्वरी देवी के निकटवर्ती देश में, रात खुलते समय तड़के, देवता की आराधना, तप, व्रत आदि कर्मों और हविष्य अन्न भोजन, कुशमय विस्तर आदि द्रव्यों द्वारा शास्त्र प्रमाणों से 'इस तरह के स्वप्न का इस प्रकार का फल अवश्य होता है' यों निश्चित उदित होती है वह संवित, उन शकुनों की तरह जिनका कि फल काकतालीय है, उत्तरकाल में अवश्य फल लाभ होने के कारण सत्य स्वप्न नामवाली होती है ॥२॥

मणि, मन्त्र और औषधियों से होने वाली स्वप्न-सवित् मणि, मन्त्र आदि के योग्य पुरुष में अव्यभिचारिणी होती है और मणि आदि के अयोग्य पुरुष में सव्य-भिचारिण होती हुई भी शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन न करने से दोनों में सत्य स्वप्नामिका ही कही गई है ॥३॥

जब लोगों में सत्यस्वप्नों की स्थिति इस प्रकार की है तब यह काकतालीय न्याय के सिवा अन्य कुछ नहीं है अर्थात् वहाँ दोनों जनों में ही काकतालीय न्याय ही एक-मात्र आसरा है दृष्ट किसी भी नियामक का निरूपण नहीं किया जा सकता है ॥४॥

हिरण्यगर्भ की दृढ़ निश्चयात्मिका का संवित् जिस-जिस निश्चय को ग्रहण करती है पूर्वजन्म की उपासना के फल के प्रभाव से उत्पन्न स्वभाव से वह कैसी हो जाती है हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि की संवित् पूर्वजन्म की प्रबल उपासना के परिपाक से जन्य होने के कारण सत्यसंकल्प-रूप दृढ़ निश्चयवाली होकर जिस-जिस निश्चय को अपनाती है वैसी-वैसी अवश्य हो ही जाती है ॥५॥

हिरण्यगर्भ की संवित के सर्गादि निश्चय को कोई दूसरा अगर तिरस्कृत करता है तो उसमें पूर्वजन्म की उपासना के समय 'मैं जगत् का सर्जनहार हूँ' ऐसा प्रौढ निश्चय मृत्यु के समय में उद‌्भूत होकर "तद्धं तल्लोक-जिदेव" इस श्रुति से सिद्ध स्वलक्ष्य फलवाला कैसे होगा ? इससे सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ की संवित् के अविरोध से ही अन्य सिद्ध जनों का संकल्प उदित होता है, उसके उसके विरुद्ध नहीं होता है ॥६॥

कोई घट, पट आदि पदार्थ न कहीं भीतर हैं और न कहीं बाहर हैं केवल सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एकमात्र संवित जैसी इच्छा करती है वैसे ही जगत् के रूपों से स्थित होती है अर्थात् ऐसी स्थिति में संवित्स्वतन्त्रता अक्षुण्ण ही है ॥७॥

'यह स्वप्न सत्य है' इस प्रकार के शास्त्र आदि प्रमाणों द्वारा किये गये निश्चय से अन्दर सत्य उदित हुई स्वप्नादिसंवित तुरन्त सत्य भी हो जाती है और 'सत्य है या नहीं है' इस प्रकार के सन्देह से संशयापन्न हो जाती है ॥८॥

यह स्वप्नद्रष्टा जीव अन्य उपाय से भी प्राप्त फल को, स्वप्न में सत्यत्व की कल्पना से, यह फल स्वप्न द्वारा ही सूचित है, इस प्रकार समझता है ॥९॥

तीनों लोकों में विभिन्न पुरुषों की अपनी निजी संवित् के द्वारा चिर अभ्यस्त अर्थक्रिया आदि से बद्धमूल घटादि-स्वभाव वाले भी सभी पदार्थ शीघ्र या चिरकाल में देश, काल तथा मुद्‌गर के आघातादि प्रयत्न से अन्यथाभाव को प्राप्त होते हुए व्यभिचरित होते हैं, पूर्वनिश्चित स्वभाव का त्याग करते हैं इसी प्रकार जाग्रत् में प्रसिद्ध घट, पट

कालतो व्यभिचरन्ति देशतो
यत्नतश्च चिरतोऽचिरेण वा ॥१०॥
सर्गादावेव चिद्व्योमभानमप्रतिघं जगत् ।
वस्तुसत्तां चिदेवाऽतो यथेष्टं तनुते तनुः ॥११॥
चिन्मात्रं वर्जयित्वैकं ब्रह्माऽन्यत्सर्वदाऽखिलम् ।
विद्धि सत्यमसत्यं च नियतानियतं स्थितम् ॥१२॥
यस्माद् ब्रह्मैव सर्वात्म सदेकमेव नेतरत् ।
तस्मात्किं नाम तत्सत्यं किमसत्यं च वा भवेत् ॥१३॥
अतः स्वप्नः क्वचित्सत्यः क्वचिच्चाऽसत्य एव वा ।
अबुद्धानां प्रबुद्धानां नाऽसद्रूपो न सन्मयः ॥१४॥
संविद्भ्रान्तिरियं भाति जगन्नाम्नी स्वरूपिणी ।
स्वयं च भ्रान्तिरस्मीति वादिनी काऽत्र निश्चिता ॥१५॥

आदि की संवित् भी काकतालीय ही है, क्योंकि उनमें भी देश और समय के भेद से अन्यथाभाव देखने में आता है ॥१०॥

सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश का अविनश्वर भान ही जगत् है। अतएव सूक्ष्म चित् ही वस्तु सत्ता का यथेष्ट विस्तार करती है ॥११॥

केवल सन्मात्र ब्रह्म को छोड़कर और सबको तुम सदा सत्य-असत्य, नियत-अनियत रूप से स्थित समझो अर्थात् केवल सन्मात्र ही नियत सत्तावान् है उससे अतिरिक्त सबकी सत्ता अनियत है ॥१२॥

अतः एक सद् ब्रह्म ही सर्वात्मक (सर्वरूप) है उससे अन्य कुछ नहीं है, इसलिए उससे अतिरिक्त सत्य या असत्य क्या होगा ! ॥१३॥

इन अज्ञानियों के लिए कहीं पर स्वप्न सत्य और कहीं पर असत्य ही है, किन्तु ज्ञानवान् जनों के लिए न असद्रूप है और न सन्मय है अर्थात् इस प्रकार विचार करने पर स्वप्न भी कहीं किसी काल में सत्य और कहीं किसी काल में असत्य भी संवित्रूप से सत्य और अन्य रूप से असत्य है ॥१४॥

जगत् नामक आकारवती यह संवित्रूप भ्रान्ति समान होती है यह स्वयं मैं भ्रान्ति हूँ, ऐसा कहती है, इसमें यथार्थ संवित् कौन है ॥१५॥

चिति ही चित्त बनकर जल में द्रव की तरह अपने

चितिरेव चिरायेदं चित्तं चिमचिमायते ।
यदात्मन्येव सलिलं द्रववत्तदिदं जगत् ॥१६॥
यथा स्वप्नं समालोक्य सुषुप्तमनुभूयते ।
तथा जाग्रत्समालोक्य निद्रा समनुभूयते ॥१७॥
अतस्त्वं जाग्रदेवेदं स्वप्नं विद्धि महामते ! ।
स्वप्नं च विद्धि जाग्रत्त्वमेकमेतदजं द्वयम् ॥१८॥
व्योमैवाऽचेत्यचिन्मात्रभानमेकमिदं ततम् ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः पर्यायरचना इह ॥१९॥
नेह नामाऽस्ति नियतिर्न चाऽनियतिरस्ति च ।
नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि ॥२०॥

में जगमगाती है साभास स्फुरित होती है, वही यह जगत् है ॥१६॥

[जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति जमे हुए और कुछ पिघले हुए घृत के समान अभिन्न ही हैं, यह उपपादन करने के लिए भूमिका बाँधते हैं।]

जाग्रत का अवलोकन कर निद्रा का वैसे ही अनुभव किया जाता है जैसे स्वप्न देखकर सुषुप्ति का अनुभव होता है ॥१७॥

तुम जाग्रत ही यह स्वप्न है ऐसा जानो और स्वप्न को जाग्रत् जानो, ये दोनों एक अविनाशी ब्रह्म वैसे ही है। हे महामते ! जैसे जमा हुआ कड़ा घी ही कुछ पिघलता है कुछ पिघला हुआ ही जमकर फिर कड़ा हो जाता है यों दो घृतों में परस्पर भेद नहीं है क्योंकि वही यह घृत है ऐसी प्रत्यभिज्ञा दोनों अवस्थाओं में होती है ॥१८॥

अचेत्य चिन्मात्र भानरूप एक यह आकाश ही चारों ओर व्याप्त है। यहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि उसी के पर्याय हैं अर्थात् इस प्रकार अविद्यावृत चिन्मात्र-रूप एक सुषुप्ति ही घृतवत् सदा द्रष्टव्य है। सभी नामरूप के भेद उसी के पर्याय हैं ऐसा निष्कर्ष निकला ॥१९॥

यहाँ न नियति है और न अनियति है। जरा बतलाइए तो मिथ्याभूत स्वप्नसंवित् में नियम और अनियमका ही कैसे संभव हो सकता है, यानी मिथ्या होने के कारण भी नियम और अनियम अविद्यावृत चिन्मात्र से पृथक् नहीं हैं, अर्थात् स्वप्न आदि के फल का नियम और अनियम भी उससे पृथक् नहीं है ॥२०॥

यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियन्त्रणा ।
स एव संविद्भानस्य कुर्यान्नियमनं मुनिः ॥२१॥

स्वच्छन्दं वातलेखायाः स्फुरन्त्याः संविदस्तथा ।
अकारणकमेवाऽङ्ग नियतिः केव कीदृशी ॥२२॥

अथाऽऽकारादि यन्नाम कल्प्यते कारणं विदः ।
तदकारणकं सर्गः स्यादनन्यन्न वै चितेः ॥२३॥

एतावत्येव नियतिरत्र यन्नाम यद्यथा ।
यावत्प्रस्फुरितं भानं तत्तथा न तदन्यथा ॥२४॥

कदाचित्सत्यता स्वप्ने कदाचिच्चाऽप्यसत्यता ।
अभावान्नियतेरेव काकतालीयमेव तत् ॥२५॥

यत्स्वेनैवाऽऽत्मना भाति मणिमन्त्रौषधात्मना ।
यन्नाम नियतं तत्तु जाग्रत्यपि हि दृश्यते ॥२६॥

जाग्रत्स्वप्नश्च चिद्भानमात्रमेवाऽन्यताऽत्र का ।
जाग्रति स्वप्ननगरे वेदनात्सदृशात्मकम् ॥२७॥

जाग्रन्न संभवत्येव यज्जाग्रदिति शब्दितम् ।
स्वप्न एव जगद्रूपं निर्निद्रस्यैव चाऽऽत्मनः ॥२८॥

स्वप्नो वा नाम नाऽस्त्येव यः स्वप्न इव शब्दितः ।
सुप्तासुप्तैकरूपस्य ब्रह्मणो बोधरूपता ॥२९॥

जाग्रत्स्वप्नादयो वैते न केचन कदाचन ।
दृश्यं पश्यति सत्ताऽऽशु मृतिभ्रान्तेरनन्तरम् ॥३०॥

अविद्या से आवृत अनियन्त्रित चित् जाग्रत् और स्वप्न है परिश्रम आदि निमित्त से नियन्त्रित हुई वह सुषुप्ति है तथा प्रयत्न से नियन्त्रण में लाई गई उक्त चित् समाधि है। अज्ञान का विनाश हो जाने पर वही मुक्ति कहलाती है। जाग्रत् के निरोध से मनोव्यापारमात्ररूप स्वप्न में भान होता है तब तक ही चित् का बाह्य प्रवृत्ति नियन्त्रणरूप अन्य शोक है जब तक संवित्-भान नियन्त्रण रहने तक ही सुषुप्ति में आत्मा ही सर्व शोकान्तर है ऐसा जानकर शोक रहित समाधि सुखरूपी विश्राम चाहने वाला पुरुष नियमन ही करे ॥२१॥

वायुलेखा की तरह स्वच्छन्द स्फुरित हो रही संवित् का विषयाकार में स्फुरण होना स्वभाव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में उसका विषयाकार स्फुरण नहीं दिखाई देता। और स्वप्न में संवित् के विषयाकार स्फुरण में किसी कारण का भी निरूपण नहीं किये जाने से किसको कि निमित्त मानकर नियति है इसलिए नियति कौन और कैसी ? ॥२२॥

घट, पट आदि का आकार संविद् के स्वकार में परिणत होने में तब कारण माना जा सकता है जबकि सृष्टि में किसी दूसरे कारण का निरूपण करना संभव होता। लेकिन जब पूर्वोक्त युक्ति से सृष्टि कारण के बिना ही उत्पन्न है अभिन्न आकार आदि चित् के घट आदि के आकार में परिणत होने में कदापि कारण नहीं हो सकता है ॥२३॥

जो चिति जब जैसे स्फुरित होती है वह वस्तु तब वैसी पारमार्थिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक होती है इस प्रकार की ही नियति व्यवहारपर्यन्त रहती ही है अन्यथा नहीं होती है ॥२४॥

नियति के अभाव से ही स्वप्न में कभी सत्यता और कभी असत्यता होती है, इसलिए स्वप्नसत्यत्व काकतालीय ही है अर्थात् स्वप्न की सत्यता नियति तो सर्वत्र शास्त्रानुसार होती है, इसलिए काकतालीयवत् ऐसा हमने कहा है ॥२५॥

मणि, मन्त्र और औषधि रूप स्वात्मा से स्वप्न आदि की जो सत्यता नियत है क्योंकि वह सत्यता तो जाग्रत् में भी दिखाई देती है। अर्थात् मणि, मन्त्र, औषध आदि रूप से प्रयुक्त स्वप्नसत्यता-नियति तो जाग्रत् प्रतीति में भी तुल्य है ॥२६॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही केवल चित्भान ही हैं, अतएव इनमें विभिन्नता कैसे हो सकती है ! जाग्रत् और स्वप्न के नगर अनुभव से संदृशस्वरूप ही हैं अर्थात् उनका वेद्य स्वरूप अथवा वेदन स्वरूप अनुभवतः तुल्य ही है ॥२७॥

निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत् का कदापि संभव नहीं है। जो जाग्रत् के नाम से प्रसिद्ध जगत् रूप है, वह स्वप्न ही है। निर्निद्र आत्मा में स्वप्न का भी संभव नहीं है, जो स्वप्न नाम से प्रसिद्ध है वह सुप्त और जाग्रत् एकरूप ब्रह्म की ज्ञानरूपता ही है अर्थात् निद्राविहीन आत्मा में जाग्रत् और स्वप्न दोनों का ही व्यभिचार होने से अभाव ही है ॥२८, २९॥

निर्निद्र आत्मा के वे जाग्रत्, स्वप्न आदि कोई कदापि नहीं हैं एवं दृश्य का आत्यन्तिक अदर्शनरूप अथवा आत्मा का उच्छेद आदिरूप मृत्यु भी नहीं है, क्योंकि अविलुप्त चित्सत्ता मृत्युभ्रम के अनन्तर तुरन्त ही दृश्य को देखती है अर्थात् ऐसी स्थिति में निद्राविहीन आत्मा की सुषुप्ति भी नहीं ही है ॥३०॥

यथाऽनवरतं कालमनन्तं सीकरोर्मयः।
त एवाऽन्यवदभ्राशावदनन्याः स्फुरन्त्यलम् ॥३१॥
तथाऽनन्ये परे सर्गाः स्फुरन्त्यस्फुरिता अपि।
शिलाकोशान्तलेखावज्जाग्रत्स्वापादि तत्र किम् ॥३२॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुर्यकवपुः साकारतावर्जितं
सर्वाकारमपि व्यतीतकलनं सर्वं शरीरं दधत्।
व्याप्तं चिद्वपुषा तथापि सुषिरं शून्येन दृश्यात्मना
चिन्मात्रं खमिदं मनागपि नभोमात्रान्न भिन्नं पुनः॥३३॥
साकाशानिलवह्निवारिधरणीलोकान्तराम्भोधरं
सर्गादावपि कारणाननुभवाच्चित्तात्मकं केवलम्।
नाम्ना वर्जितमेव बोधवपुषा संयुक्तमेवाऽन्ततः
शुद्धं वेदनमात्रमेव सकलं दृश्यं न वस्त्वन्तरम्॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
स्वप्ननिर्णयो नामाष्टचत्वारिंशदधिकशततमः सर्गः ॥१४८॥

जैसे जलकणों की लहरें, मेघ और दिग्भ्रम होने पर दिशाएं ये सब अनन्य होते हुए भी चिरकाल तक जिस प्रकार निरन्तर सर्वथा भिन्न के समान प्रतीत होते हैं, वैसे ही अभिन्न परम ब्रह्म में शिला के अन्दर की रेखाओं की तरह सृष्टियाँ स्फुरित होती हैं। उनमें जाग्रत् स्वप्न आदि का कैसे संभव है ॥ ३१, ३२॥

हे व्याध ! यह आत्मस्वरूप, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति स्वरूप वाला और उनसे विपरीत तुरीयावस्था स्वरूप वाला तथा आकार रहित सर्वाकार है, काल-कल्पना से रहित होने पर भी सर्वात्मक काल से परिच्छिन्न सृष्टिरूप शरीर धारण करता हुआ शून्य इस चिद्वपुसे और शून्यरूप ही दृश्य से आकाशरूप छिद्र को व्याप्त कर स्थित है तथापि आकाशात्मक चिन्मात्र यह अपने शुद्ध चिन्मात्र रूप से कुछ भी भिन्न नहीं है ॥३३॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथिवी, अन्यान्य लोक, मेघ आदि भूत भौतिक सहित दृश्य (जगत्) सृष्टि के आदि मे भी दूसरे किसी भी कारण का प्रमाणों द्वारा अनुभव न होने से केवल हिरण्यगर्भचित्तात्मक है। चित्तरूप मनोरथ रूप इसके नाम रूपों का अस्तित्व न होने से यह वर्जित (रहित) ही है बोध शरीर वाले मन के साक्षी से संयुक्त ही है। अन्त म मन का विलय होने पर सारा का सारा दृश्य वेदनमात्र ही है, अन्य वस्तु नहीं है ॥३४॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण मे मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध मे
अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपदेश में स्वप्ननिर्णय नामक कुसुमलता
अनुवाद का एक सो अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४८॥

१४९

व्याध उवाच
अनन्तरं मुने ब्रूहि तत्तत्त्वं जागतस्य ते।
किं वृत्तमुरुवृत्तान्तशतनिर्वाणसंसृतेः ॥१॥
मुनिरुवाच
ततः शृणु तदा साधो तस्मिंस्तद्घृद्ययौजसि।
अपूर्व एव वृत्तान्तः को वृत्तो वृत्तसस्पृह ॥२॥
तथा मम च तत्रस्थविस्मृतात्मचमत्कृतेः।
अभ्यवर्तत वै काल ऋतुसंवत्परात्मकः ॥३॥
कलत्ररञ्जितमतेर्मम वर्षाणि षोडश।
तत्र तानि व्यतीतानि गृहस्थाश्रमतोऽमतेः ॥४॥

१४९

व्याध ने कहा—हे महामुनि आप ने प्रलय आदि सकड़ों महावृत्तान्तों के साथ अनेक सृष्टियाँ संसार शान्त देख चुके हैं ऐसे आपका जब गृहस्थाश्रम में पुत्र-भार्या, बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रों के साथ समागम हुआ तब वहाँ पर अनुभव में आ रहे जगत् का क्या हाल हुआ, उसका तत्त्व कृपया मुझसे कहे ॥१॥

मुनि ने कहा—हे सदाचार में स्पृहा रखने वाले ! हे साधो व्याध ! उसके पश्चात् उस प्राणी के हृदयस्थित ओज में उस समय जो अपूर्व वृत्तान्त हुआ, उसे तुम सुनो। उक्त ओज में बैठने से मेरा आत्मज्ञान का सारा वैभव विस्मृत हो गया। ऋतु, वर्ष आदि रूप समय चक्कर काट-काट कर बीतने लगा। स्त्री-बच्चों पर अति अनुराग रखने वाले तथा आत्मा का कभी मनन न करने वाले मेरे वहाँ पर गृहस्थाश्रम में सोलह वर्ष बीत गये ॥३-४॥

कदाचिच्चाऽऽजगामाऽथ गृहमुग्रतपा मम ।
मुनिर्मान्यो महाबोधो बुधोऽतिथितया तथा ॥५॥
सोऽत्र संपूजितस्तुष्टः सुप्तवान्भुक्तवांस्ततः ।
इदमङ्ग मया पृष्टो विमृश्य जनताक्रमम् ॥६॥
भगवन्भूरिबोधोऽसि जानासि जगतो गतीः ।
यस्माददृष्टक्रोधोऽसि सुखे गृह्णासि तो रतिम् ॥७॥
सुखदुःखान्युपायान्ति कर्मभिः कर्मशालिनाम् ।
शुभाशुभैः शरत्काले सस्यानीव फलार्थिनाम् ॥८॥
सममेवाऽशुभं कर्म किमिमाः सकलाः प्रजाः ।
कुर्वन्त्यासां यदा यान्ति दोषाः सर्वादयः समम् ॥९॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातं सर्वादि सममेव किम् ।
जनजालस्य फलति समाना कस्य दुष्क्रिया ॥१०॥
इत्याकर्ण्य समालोक्य स्मयमान इवोन्मनाः ।
स उवाच वचो वन्द्यममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥११॥

इसके बाद किसी समय महातपस्वी आत्मज्ञानी मननशील कोई संमान्य विद्वान् अतिथि के रूप में मेरे घर पधारे। मैंने उनका खूब आदर सत्कार किया, उसके प्रसन्न होकर उन्होंने भोजन किया और तदनन्तर विश्राम किया। मैंने बहुत से लोगों के तुल्य सुख-दुःख के क्रम का विचार उनसे यह पूछा ॥५, ६॥

हे भगवान् ! आप महाज्ञानी हैं, जगत् की सब गतिविधियाँ जानते हैं, क्रोध का तो आप नामनिशान भी नहीं है जैसे शरत् ऋतु में फलार्थी कृषकों को धान आदि अन्न प्राप्त होते हैं वैसे ही कर्मशाली जीवों के अशुभ कर्मों से सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सभी लोग साथ ही अशुभ कर्म करते हैं जिससे कि इन सबके भक्ष्य और अभक्ष्यों को हड़प जाने वाले दुर्भिक्ष आदि दोष साथ ही आते हैं ॥७-९॥

दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, उल्कापात आदि उपद्रव, जो सब भक्ष्य, अभक्ष्य आदि को हड़प जाते हैं, सब लोगों के साथ ही होते हैं, तो क्या संपूर्ण जनराशि का समान ही दुष्कर्म फलित होता है ॥१०॥

मेरा यह प्रश्न सुनकर, मेरी ओर देखकर, विचार कर हँसते हुए उन मुनि महाराज ने अन्यमनस्क से होकर अमृत के झरने के समान मनोहर श्लाघ्य वचन कहा ॥११॥

अन्यमुनिरुवाच

साधो ! साधुविविक्तान्तःप्रकरणे यत्तु कारणम् ।
सद्वाऽसद्वाऽस्य दृश्यस्य कस्माज्जानासि कथ्यताम् ॥१२॥
संस्मराऽऽत्मानमखिलं करत्वं क्वेह स्थितोऽसि च ।
क्वाऽहं वा किमिदं दृश्यं किं सारं किंचिदेव च ॥१३॥
स्वप्नमात्रमिदं भाति किल कस्मान्न वेत्सि भो ।
अहं स्वप्ननरो यत्ते त्वं स्वप्नपुरुषोपमः ॥१४॥
अनाकारमनाख्येयमनाद्यमपकल्पनम् ।
इदं चिन्मात्रकाचस्य काचकच्यं जगत्स्थितम् ॥१५॥
रूपमीदृशमेवाऽस्य चिन्मात्रस्याऽस्त्यकृत्रिमम् ।
सर्वगस्य यदेतद्यत्र वेत्त्यस्ति तत्र तत् ॥१६॥
सकारणत्वकलनात्सर्वमस्य सकारणम् ।
अकारणत्वकलनादस्य सर्वमकारणम् ॥१७॥

समागत अन्य मुनि ने कहा—हे साधुवर ! अन्तःकरण के यह चित् है, यह अचित् है, ऐसे विवेक से सम्पन्न होने पर इस दृश्य का जो सत् असत् कारण है उसे आप भली-भाँति जानते हैं। उसे किससे जानते हैं, यह आप मुझसे कहिये ॥१२॥

आप कौन हो और कहाँ पर स्थित हो, सम्पूर्णतः आत्मा का स्मरण कीजिये से कहाँ पर हूँ यह दृश्य क्या है क्या यह सारभूत वस्तु है और क्या असार ही है ? अर्थात् उक्त विषय में विवेक की सामर्थ्य न होने से मुझे चुप हुए देखकर उन मुनि महाराज ने पूर्वजन्मों के सब वृत्तान्तों के साथ उनके साक्षी आत्मा का स्मरण करने यह कहा ॥१३॥

हे मुने ! अलीक यह सब केवल स्वप्न मात्र का भान है ऐसा आप क्यों नहीं जानते, क्योंकि मैं आप के लिए स्वप्न नर हूँ और आप भी मेरे लिए स्वप्न पुरुषतुल्य हैं ॥१४॥

यह जगत् निराकार, निर्नाम, आदि रहित, कल्पना शून्य चिन्मात्र रूप काच की चमक के रूप से जगमग रूप से स्थित है ॥१५॥

सर्वव्यापक इस चिन्मात्र का ऐसा स्वाभाविक रूप है कि जहाँ पर यह जैसा जानता है वहाँ पर वैसा ही हो जाता है। अर्थात् सहज चिन्मात्ररूप स्वाध्यस्त में वेदनानुसार सत्त्वादिका निर्वाहक है ॥१६॥

यह सब सकारण हैं ऐसी कल्पना करने में सब कुछ सकारण है जब सब अकारण ही है ऐसी कल्पना करता है तब सब अकारण ही है। अर्थात् इसीलिए सब वस्तुएँ सकारण हैं अथवा अकारण हैं इत्यादि वादों की भी उसकी कल्पना के अनुसार ही व्यवस्था है ॥१७॥

आसां प्रजानां त्वस्माकं विराडात्मा स आततः ।
वयं हृदि स्थिता यस्य स चाऽस्मच्चिद्वशादितः ॥१८॥

भविष्यत्यपरोऽन्यासां विराडात्मा स एव च ।
कारणं सुखदुःखानां भावाभावात्मकर्मणाम् ॥१९॥

विराड्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
तदङ्गावयवस्याऽस्य जनजालस्य वै समम् ॥२०॥

दुर्भिक्षावग्रहातीतमायाति शममेति वा ।
यस्माद्विराजो या सत्ता सा सर्गस्याऽस्य सर्गता ॥२१॥

काकतालीयवत्साधो ! केषुचिद्दुष्टकर्मसु ।
समं पतति दुःखादि पादपेष्वशनिर्यथा ॥२२॥

कर्मकल्पनया संवित्स्वकर्मफलभागिनी ।
कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥२३॥

या या यत्र यथोदेति कल्पनाऽल्पाऽथवाऽधिका ।
सा सा तत्र तथैवाऽऽस्ते सहेतुकमहेतुकम् ॥२४॥

नाऽस्त्येव स्वप्नमये कारणसहकारि कारणादि पुरे ।
तस्मात्तदनादि शिवं चेतनमजरं परं ब्रह्म ॥२५॥

एष स्वप्नभ्रमो नाम भाति कश्चिदकारणम् ।
कश्चित्सकारणो भाति शून्यः सदसदात्मकः ॥२६॥

काकतालीयवद्भान्ति स्वप्नाः सकलसंविदः ।
ताभ्यस्तुल्योपलम्भत्वान्नाऽन्यज्जगदिदं ततम् ॥२७॥

सकारणतया रूढमिह यत्तत्सकारणम् ।
अकारणतया रूढमिह यत्तदकारणम् ॥२८॥

कार्यकारणमयक्रमोदितम्
स्वप्न एष चिति भानमात्रकम् ।
जाग्रदाख्यमहतः स्वभावकं
तेन शान्तमखिलं परं विदुः ॥२९॥

जिस प्राणी के हृदयवर्ती ओज में हम लोग स्थित हैं वह इन प्रजाओं का अर्थात् हमारा विराट् आत्मा है। वह हमारी चित् की कल्पना से ही विराड् भाव को प्राप्त हुआ है। अपनी कल्पना से तो औरों के समान व्यष्टि ही है। अर्थात् समष्टि व्यष्टिभाव की कल्पना भी हमारे चित् के अधीन है ॥१८॥

इस प्राणी के समान दूसरा भी प्राणी अन्य प्रजाओं का विराट् आत्मा होगा ऐसी संभावना होती है। उस देह में वही सुख-दुःख सम्पत्ति, विपत्ति, पुण्यपापरूप कर्म आदि का भोक्तारूप से कारण है ॥१९॥

विराट् के विषम स्पन्द आदि वाले धातुविकार से विराट् के अङ्ग के अवयवरूप इस जनसमूह का समान दुर्भिक्ष, अवर्षण और प्रलय आता है अथवा शान्त होता है, क्योंकि विराट् की जो सत्ता है वही इस सर्ग की सर्गता है। अर्थात् सब लोगों के दुर्भिक्ष, अनावृष्टि आदि सर्वसाधारण दुःख में तो जो जिसका स्थूल समष्टिरूप विराट् है उसका धातुविकार भेद ही निमित्त है ॥२०-२१॥

हे सत्पुरुष, विराट् में सब प्राणियों के कतिपय दुष्कर्मों के रहने पर जैसे अनेक पेड़ों पर वज्र गिरता है वैसे ही अनेकों पर एक साथ दुःख आदि का पहाड़ गिरता है। अर्थात् उन प्राणियों का एक ही समय में परिपाक को प्राप्त हुआ दुष्ट कर्म भी उसमें है ॥२२॥

कर्म-कल्पना से चित् कर्मफल भागिनी होती है यदि चित् कर्मों की कल्पना से निर्मुक्त हो तो कर्मफल भागिनी नहीं होती अर्थात् वैसा कर्म यदि चित् से ही पहले कल्पित होता है, तो चित् उक्त कर्मफल भागिनी होती है अन्यथा नहीं होती है ॥२३॥

जहाँ पर जो कल्पना थोड़ी या घनी जैसी उदित होती है वहाँ वह कल्पना वैसी ही सहेतुक की कल्पना से सहेतुक और अहेतुक की कल्पना से अहेतुक होती है ॥२४॥

स्वप्न के नगर में सहकारी कारण आदि कोई कारण नहीं हैं, इसलिए वह स्वप्ननगर अनादि अजर चेतन मङ्गलमय परम ब्रह्म ही है। अर्थात् केवल सहेतुक मानने से ही स्वप्न में घड़े आदि की सहेतुकता नहीं हो ॥२५॥

यह स्वप्न भ्रम कोई तो बिना कारण के ही प्रतीत होता है चूंकि सत् असत् रूप है अतएव शून्य मिथ्याभूत है ॥२६॥

स्वप्न की सकल प्रतितियों का काकतालीय के समान भान होता है उन्हीं के तुल्य होने के कारण यह विस्तृत जगत् चित् या स्वप्न से भिन्न नहीं है। अर्थात् स्वप्न जगत् में उक्त न्याय तुल्य प्रतिति होने के कारण ही जानना चाहिये ॥२७॥

यहा जिसकी सकारणत्वेन प्रसिद्धि है वह सकारण कहा जाता है और जो अकारणत्वेन प्रसिद्ध है वह अकारण कहाता है। अर्थात् यहाँ सकारणता और अकारणता की प्रसिद्धि भी स्वप्न के सदृश ही व्यवस्थित है ॥२८॥

स्वप्न में कार्य-कारणरूप क्रम से उदित वस्तु केवल चिति का भान ही है ऐसा निर्णय जाग्रत् नामक स्थूल प्रपञ्च का भी समान ही है। इस कारण ब्रह्मवेत्ता जन सारा का सारा प्रपञ्च परम ब्रह्म ही है, ऐसा समझते हैं ॥२९॥

सत्यकारणका भावाः के ते शृणु महामते ! ।
कारणं किं स्वभावानां किमिहाऽऽकाशकारणम् ॥३०॥
पृथ्व्यादेर्घनपिण्डत्वसर्गादेः किंच कारणम् ।
किं कारणमविद्यायाः कारणं किं स्वयंभुवः ॥३१॥
सर्गादौ कारणं किं स्याद्वायूनां तेजसां च किम् ।
किमपां वेदनामात्ररूपाणां गगनात्मकम् ॥३२॥
पिण्डग्रहे देहलाभे मृतानां किंच कारणम् ।
एवमेव प्रवर्तन्ते सर्गाः प्रथमतोऽखिलाः ॥३३॥
एवमेव प्रवर्तन्ते जगत्यावलयन्ति च ।
चक्रकाणीव नभसि चिरसंप्रेक्षणादृशा ॥३४॥

हे महामते ! उक्त शङ्का का उत्तर आपसे कहता हूँ, आप सुनें । वे पदार्थ कौन हैं जिन्हें आप सत्य कारण वाले मानते हैं ? स्वभावों के सत्य कारण से आपका क्या मतलब है ? क्या सत्य स्वभाव वालों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या मिथ्या स्वभाव वालों का सत्य कारण ? क्या सजातीयों का सत्य कारण आपको अभीष्ट है या विजातीयों का सत्य कारण ? प्रथम दोनों पक्षों में ब्रह्म से ब्रह्म ही उत्पन्न होगा न कि जगत् । दूसरे दोनों पक्षों में ब्रह्म से उत्पन्न की सत्यता सिद्धि न होगी, यों जगत् की अकारणता ही सिद्ध हुई फिर आपने क्या सिद्ध किया ? पूर्वोक्त सभी पक्षों में हम आपसे पूछते हैं । यहाँ आकाश का क्या कारण है ? प्रथम दोनों पक्षों में आकाश-पदवाच्यतावच्छेदक वैलक्षण्य की असिद्धि है दूसरे दोनों पक्षों में उसकी सत्यता की असिद्धि है । यह प्रश्न हो सकता है सत्य ब्रह्म ही सबका कारण है, सत्यरूप कारण से सत्य ही क्यों नहीं उत्पन्न होता है—ऐसी शङ्का के उत्तर में यह कहा है ॥३०॥

तथा पृथिवी आदि घनपिण्डरूप सृष्टि का क्या कारण है ? अविद्या का क्या कारण है और ब्रह्मा का क्या कारण है ? सृष्टि के आदि में वायु का, जल का क्या कारण है, तेज का क्या कारण है ? वेदन से अतिरिक्त इनका कोई दूसरा स्वरूप न होने से ये वेदनमात्ररूप वाले हैं । कोई साधक न होने से ही ये असिद्ध हैं, अतएव आकाशात्मक शून्यरूप है ॥३१-३२॥

और मरे हुए लोगों का पिण्डग्रहरूप देह प्राप्ति में क्या कारण है ? सब सृष्टियाँ पहले से इसी तरह अकारण होती चली आ रही हैं ॥३३॥

जगत् में सकल सृष्टियाँ योंही होती चली आ रही हैं । चिरकाल तक देखने से भ्रान्ति दृष्टि से जैसे आकाश में केशों के गोले घूमते दिखाई देते हैं वैसे ही ये सृष्टियाँ जगत् में राशि-राशि रूप से चक्कर काटती हैं अर्थात् सभी सृष्टियाँ अकारण हैं ॥३४॥

एवमेव प्रवृत्तेन सर्गेण ब्रह्मरूपिणा ।
पश्चात्स्वस्यैव रूपस्य संज्ञाः पृथ्व्यादिकाः कृताः ॥३५॥
वातस्पन्दवदाभान्ति सर्गा पूर्वं चिदम्बरे ।
स्वयमेव च कुर्वन्ति देहकारणकल्पनाः ॥३६॥
यद्यथा कल्प्यते यत्ते तत्तथा नियतिर्वपुः ।
कल्पितायाश्चितेर्यस्मादेवमेतन्निजं वपुः ॥३७॥
यद्यद्भानात्मकं रूपं प्रथमं चेतितं चिता ।
स्वतोऽहमेव चित्येव तद्यद्याऽपि तथा स्थितम् ॥३८॥
पुनरन्येन यत्नेन तदुत्कृष्टेन सैव चित् ।
शक्ता तदन्यथा कर्तुं यत्नेन महता पुनः ॥३९॥

इसी तरह प्रवृत्त हुई हिरण्यगर्भ रूपी सृष्टि ने पीछे पृथिवी आदि रूप वाले अपने स्वरूप की ही पृथिवी आदि संज्ञाएँ कीं ॥३५॥

पहले सृष्टियाँ चिदाकाश में वायु के स्पन्द की तरह तथा मनोराज्य की तरह अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रतीत होती हैं चिरकाल के अभ्यस से स्थूल बनकर देह, कर्म आदि कारणों की कल्पना करती हैं ॥३६॥

प्रथम कल्पना में जिस पदार्थ की जैसी कल्पना की जाती है वह वैसा शरीर धारण करता है वही नियति बनती है । चूंकि कल्पित चितिका ऐसा यह निज स्वभाव है । अपने से कल्पित पदार्थों में यह बात अनुभव सिद्ध है ॥३-॥

जिस-जिस भानरूप स्वरूप का सृष्टि के अनुकूल हिरण्यगर्भ की चिति ने पहले चित् में ही अपने आप 'मैं ही अमुक हूँ' ऐसा संकल्प किया वह आज भी वैसा ही स्थित है ॥३८॥

फिर उससे उत्कृष्ट तपस्या आदि महान् पुरुषों के महान् प्रयत्न से वही चित् उसको उलटने में समर्थ होती है । अर्थात् आदि कल्पना को उलटना महान् पुरुषों के महान् प्रयत्नों से कदाचित् हो सकता है ॥३९॥

कल्प्यते कारणं यत्र तत्र कारणसारता।
न कल्प्यते विदा यत्र कारणं तदकारणम् ॥४०॥
वात्यावर्तवदाभातमिदं प्रथममाततम्।
असदेव यथा भातं तथैवाऽद्याऽपि संस्थितम् ॥४१॥

संभूय केचन शुभाशुभमात्मकर्म
कुर्वन्ति तस्य सदृशं फलमाप्नुवन्ति।
संप्राप्नुवन्ति च शिलाशनिवच्च केचिद्
दुःखं त्वकारणकमेव सहस्रसंख्याः ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अवि० वि० श० कारणविचारो नामैकोनपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१४९॥

जहाँ पर विद्वान् द्वारा कारण की कल्पना की जाती है वहाँ पर कारण रूप सार है जहाँ पर कारण की कल्पना नहीं की जाती वह अकारण है। अर्थात् कहीं पर वैसे कि दूध आदि में दधि भाव की प्राप्ति के लिए जमावान, समय, गर्मी आदि कारण की कल्पना की जाती है, वायु आदि के घनी भाव, तरलता आदि के लिए उसकी कल्पना करना शक्य नहीं है ॥४०॥

अज्ञानवश विस्मृत यह जगत् असत् होता हुआ ही पहले आँधी के बवंडर की तरह प्रकाश में आया जैसे प्रकाश में आया वैसा ही अद्यावधि स्थित है ॥४१॥

कोई जीव साथ मिल-जुलकर भी शुभ-अशुभ पुण्य-पाप कर्म करते हैं उसका फल भी वे मिल-जुलकर ही पाते हैं। लेकिन कोई हजारों जीवन्मुक्त पुरुष (मैं कर्ता हूँ) इस प्रकार के अभिमान से शून्य होने के कारण अकर्ता होने पर भी जैसे पर्वत शिखर के पत्थर पाप किये बिना ही वज्रपात का अनुभव करते हैं वैसे ही अकारण ही दुःख पाते हैं। क्या सभी एक साथ अशुभ ही कर्म करते हैं ॥४२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० विप० शवोपाख्यान में कारणविचार नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४९॥

१५०

मुनिरुवाच

एवंप्रकारया युक्त्या तेनाऽयं मुनिना तदा।
तथाऽहं बोधितो येन गतो विदितवेद्यताम् ॥१॥
ततोऽसौ न मया त्यक्तश्चिरप्रार्थनया तथा।
अवसत्तेन तत्राऽसौ मृतस्याऽपि तथैव च ॥२॥

येनैतन्मुनिना प्रोक्तमिन्दूदयशुभं वचः।
सोऽयं पश्य मुनिश्रेष्ठस्तव पार्श्वे व्यवस्थितः ॥३॥
अनेनोक्तमनुक्तेन ममैतन्मोहघातिना।
दृश्यपूर्वापरज्ञेन यज्ञेनेवाऽऽत्तमूर्तिना ॥४॥

१५०

मुनि ने कहा—हे व्याध ! उस समय इस तरह की युक्ति से उन मुनिजी द्वारा यह मैं उस भाँति बोधित हुआ जिससे कि ज्ञेय तत्त्व मेरी समझ में आ गया ॥१॥

उसके पश्चात् मैंने उनका पीछा नहीं छोड़ा। चिर प्रार्थना, भक्ति, अनुगम आदि गुणों से वशीभूत हुए उन मुनि महाराज ने आत्मविचार शून्य होने के कारण एक तरह से मृततुल्य अर्थात् वृद्धों ने कहा—'गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा। न विचारपरं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते ॥'—चलते-रुकते अथवा सोते-जागते जिस पुरुष का चित्त तत्त्वविचार-परायण नहीं रहता है वह मरा हुआ कहा जाता है। मेरे घर में तेरी तरह ही निवास किया ॥२॥

जिस मुनि महाराज ने चन्द्रोदय के समान सुन्दर यह वचन मुझसे कहा था, देखो वे ये मुनिवर तुम्हारी बगल में ही बैठे हैं ॥३॥

मेरे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करने वाले तथा दृश्य के पूर्वापर का ज्ञान रखने वाले इन्हीं मुनि महाराज ने, जो मूर्तिधारी मेरे यज्ञादि पुण्य के समान हैं, प्रार्थना के बिना यह उत्तम वचन मुझसे कहा ॥४॥

अग्निरुवाच

तदाकर्ण्य वचस्तस्य मुनेर्व्याधोऽभवत्तदा ।
प्रत्यक्षः स्वप्नसर्गः किमिति खिन्न इव स्मयात् ॥५॥

व्याध उवाच

अहो महच्चित्रमिदं मुने ! मनसि दुःसहम् ।
कथितं मेऽद्य भवता भवतापापहारिणा ॥६॥
यत्स्वप्नकथितस्येयं जाग्रत्प्रत्यक्षतोच्यते ।
लभ्यतेऽपि च तन्नाम वेद चित्रमिदं मुने ! ॥७॥
कथमेष महान्स्वप्नपुरुषः स मुनीश्वर ! ।
जाग्रत्यपि स्थिरीभूतो भूतो बालमतेरिव ॥८॥
एवमाश्चर्यमाख्यानमुच्यतां मे यथाक्रमम् ।
कुतः कस्य किमेतद्वा परमो हि स विस्मयः ॥९॥

मुनिरुवाच

ततः शृणु महाभाग वृत्तं ! चित्रं किमत्र मे ।
कथयामि समासेन सहसा मा कुरु त्वराम् ॥१०॥

अग्नि ने कहा—हे विपश्चित् ! उस समय मुनि का वह वचन सुनकर बेचारा व्याध स्वप्न में उद्भूत आप को उपदेश देने वाले मुनि महाराज इस समय मेरे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? ऐसी असंभावना से मारे आश्चर्य के अप्रतिभ हो गया ॥५॥

[व्याध अपनी असंभावना को स्पष्टतया कहता है]

व्याघ ने कहा—हे मुनिवर ! महान् आश्चर्य की बात है, संसार-दुःख का विनाश करने वाले आपने यह अत्यन्त आश्चर्य, जो कि मेरे मन में नहीं बैठ रहा है आज मुझसे कहा है ॥६॥

हे मुनिवर, स्वप्न में अपने उपदेशक रूप से जिनका आपने मुझ से वर्णन किया था उनकी आप जाग्रत् में प्रत्यक्षता कह रहे हैं और मैं भी प्रत्यक्षतः देखता हूं यह विचित्र बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ॥७॥

हे मुनिनायक, बालक के वेताल की तरह वह महान् स्वप्न पुरुष जाग्रत् अवस्था में भी कैसे स्थिर हो गया ॥८॥

इस तरह का आश्चर्यमय यह सारा आख्यान कृपया आद्योपान्त मुझसे कहिये । इस समय स्वप्न पुरुष का यह दर्शन किस निमित्त से हुआ, यह दर्शन किसका है अथवा यह स्वप्न है या जाग्रत् है ? ॥९॥

मुनि ने कहा—हे महाभाग, तदुपरान्त यहाँ मेरी क्या आश्चर्यमय घटना हुई उसे सुनो । मैं संक्षेप में उसका वर्णन करता हूं । तुम सहसा शीघ्रता न करो ॥१०॥

अनेनैतत्तदा तत्र वर्णितं बोधनाय मे ।
बुधोऽहमभवं चाऽऽशु महतोऽस्य तया गिरा ॥११॥
तत एतद्गिरा पूर्वः स्वस्वभावः स्मृतो मया ।
अवदातोऽवदातेन नभसेव तपात्यये ॥१२॥
अहो नु सोऽहमभवं मुनिरित्युदिताशयम् ।
अहमासं हृदा स्फोतात्स्नातोऽवस्थितविस्मयात् ॥१३॥
इमां भोगास्थयाऽवस्थां प्राप्तोऽस्म्यज्ञ इवाऽध्वगः ।
धावञ्छ्रमार्तिरम्ब्वर्थी व्यर्थया मृगतृष्णया ॥१४॥
कष्टं दृश्योपलम्भेन भ्रान्तिमात्रात्मना सता ।
बालो वेतालकेनेव प्राज्ञोऽपि च्छलितो ह्यहो ॥१५॥
अहो नु चित्रमेतेन मिथ्याज्ञानेन वल्गता ।
नीतः सर्वार्थशून्येन पदवीं काममिमामहम् ॥१६॥

तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनि महाराज ने वहाँ पर उस समय मुझको प्रबुद्ध बनाने के लिए यह वाणी कही । इन महात्मा की उस सुन्दर वाणी से मैं तुरन्त प्रबुद्ध हो गया ॥११॥

तदुपरान्त इनकी उक्त वाणी से मुझे अपने अनादि-सिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभाव का वैसे ही स्मरण हो गया है जैसे कि हेमन्त ऋतु के बीतने पर आकाश को अपने निर्मल स्वभाव का स्मरण होता है ॥१२॥

[उसके बाद मुझे अपने पहले के मुनिभाव का भी स्मरण हो आया, ऐसा कहते हैं ।]

तदनन्तर अहा यह मैं पहले मुनि था, ऐसा मुझे स्मरण हो आया फिर तो जमे हुए प्रचुर आश्चर्यवश हृदय से स्नान किया हुआ-सा मैं आर्द्र हो गया ॥१३॥

[अपनी उस गृहस्थाश्रमावस्था पर शोक करते हैं ।]

अहो, जैसे थकावट से चूर-चूर हुआ प्यासा अज्ञानी पथिक जल के लिए भटकता हुआ मिथ्याभूत मृगतृष्णा से दुःखी होता है, वैसे ही विषयभोग की आसक्ति से मैं इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूं ॥१४॥

अहो ! जैसे केवल भ्रमरूप वेताल से बालक छला जाता है वैसे ही दृश्य की उपलब्धि से, जो कि केवल भ्रान्तिमात्र है, ज्ञानवान भी मैं छला गया हूं, यह कम दुःख की बात नहीं है ॥१५॥

ओह, विस्तार को प्राप्त हो रहे इस मिथ्याज्ञान से (भ्रान्ति से), जो सर्वार्थशून्य (तुच्छातितुच्छ) है, मैं किस दशा को पहुँचाया गया हूं, यह महान् आश्चर्य की बात है ॥१६॥

अथवा यः सोऽहमपि भ्रान्तिमात्रं न सन्मयः ।
तथापि चित्रशतता यन्नामाऽसद्विडम्ब्यते ॥१७॥
नाऽहमस्मि न चैवेयमिदं नाऽऽयमपि भ्रमः ।
चित्रं सर्वमिदं मिथ्या सर्वं च सदिव स्थितम् ॥१८॥
किमिदानीं मया कार्यमिह बन्धभिदान्तरः ।
विद्यते मेऽङ्कुरश्छेद्यं तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥१९॥
आस्तामेतदविद्यैषा व्यर्थरूपा किमेतया ।
भ्रान्त्या भ्रान्तिरसद्रूपा त्यक्तैवैषा मयाऽधुना ॥२०॥
उपदेष्टा मुनिरयमेषोऽत्र भ्रान्तिमात्रकम् ।
ब्रह्मैवाऽहमिवाऽऽभाति रूपमेतद्दिवाऽभ्रवत् ॥२१॥
तदेवं तावदुदितज्ञानं वक्ष्ये महामुनिम् ।
इति संचिन्त्य स मुनिस्तत्र प्रोक्त इदं मया ॥२२॥

अथवा जो 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) इस तरह की प्रत्यभिज्ञा का विषय तत्ता, अहन्ता आदि है, वह भी केवल भ्रान्ति ही है, सन्मय नहीं है। इस स्थिति में किसका आश्चर्य ऐसा नहीं कहना चाहिये। फिर भी जिस साक्षी द्वारा असद्रूप का स्वांग किया जाता है, उसमें सैकड़ों आश्चर्य हैं ही ॥१७॥

न तो मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम है—यह सब मिथ्या है फिर भी सत् की तरह स्थित है। यही महान् आश्चर्य है ॥१८॥

इस समय यहाँ मुझे क्या करना चाहिये। मेरे बन्धन को तोड़ डालने वाला आभ्यन्तरिक ब्रह्माकारवृत्तिरूप अङ्कुर है। लेकिन वह भी तो छेद्य ही है, इसलिए तब तक उसी का परित्याग करता हूँ ॥१९॥

यह जगद्भ्रम मिथ्यारूप अविद्या ही है इससे क्या हानि है। इस असद्-भ्रान्ति का विद्यावृत्तिरूप भ्रान्ति से मैं अभी त्याग कर ही चुका हूँ। अर्थात् जगद्भ्रान्ति तो अविद्या होने से विद्यावृत्ति से ही उच्छिन्न हो ही गई, अतः वह इस समय त्याज्य नहीं है ॥२०॥

यहाँ ये उपदेशक मुनि महाराज भी केवल भ्रान्तिरूप ही हैं। ये उपदेश देने वाले मुनिजी मुझ शिष्य की तरह ब्रह्मरूप ही हैं, अर्थात् ब्रह्म ही गुरु, शिष्यरूप से प्रतीत होता है, अतः यहाँ त्याग करने योग्य अन्य वस्तु नहीं है। यह सब दृश्य दिन में देखे गये पुरुषाकार मेघ के समान क्षणभङ्गुर है ॥२१॥

इसलिए ज्ञान सम्पन्न महामुनिजी से ऐसा सब मैं कहूँगा यह सोचकर मैंने वहाँ उन मुनिजी से यह कहा ॥२२॥

मुनिनायक ! गच्छामि तच्छरीरमिदं निजम् ।
द्रष्टुं यच्च प्रवृत्तोऽस्मि शरीरं तदपीक्षितुम् ॥२३॥
इत्याकर्ण्य स मामाह हसन्मुनिवरस्तदा ।
कुतस्तौ भवतो देहौ तौ सुदूरतरं गतौ ॥२४॥
गच्छाऽऽत्मनैव वा पश्य वृत्तान्तं वृत्तकोविद ! ।
पश्य तावद्यथावृत्तं दृष्टान्तं ज्ञास्यसि स्वयम् ॥२५॥
इति संचिन्त्य तं देहं विदं भूसत्तयाऽऽस्मिकम् ।
त्यक्त्वा चिदात्मा तत्प्राणात्पवने योजिता मया ॥२६॥
प्राक्तनं देहमालोक्य यावदायाम्यहं मुने ! ।
इहैव तावत्स्थातव्यमित्युक्त्वाऽहं गतोऽनिलम् ॥२७॥
अथ वातरथारूढो गगनं भ्रान्तवानहम् ।
पुष्पामोद इवाऽनन्तं गत्वा च त्वरया चिरम् ॥२८॥

हे मुनिवर ! मैं आश्रम में स्थित अपने मुनि-शरीर को और जिस प्राणी के शरीर को देखने के लिए मैं प्रवृत्त हूँ उसे भी देखने के लिए बाहर जाता हूँ ॥२३॥

ऐसा सुनकर उन मुनिनायक ने उस समय हँसते हुए मुझसे कहा, वे दोनों शरीर कहाँ हैं ? वे दोनों दाह से भस्म होकर बहुत दूर चले गये हैं ॥२४॥

हे वृत्तान्तज्ञ ! अथवा जाओ, स्वयं जाकर अपने आप ही उस वृत्तान्त को देखो। जैसी घटना हुई है उसे देखो, देखकर अन्त में जान जाओगे ॥२५॥

मुनि महाराज के यह कहने पर अपने पुराने शरीर का ख्यालकर वहाँ जाने के लिए मैं तैयार हुआ। वहाँ जाने की इच्छा से मैंने स्वाप्नभूसत्ता से पार्थिव शरीर ही मैं हूँ यों कल्पना से प्राप्त रूप का त्याग कर प्राणों से उपहित चिदात्मरूप अपने जीव को प्राण द्वारा पवन से संयोजित किया ॥२६॥

हे मुनिमहाराज ! जब तक मैं अपने पुराने शरीर को देखकर लौटता हूँ तब तक आप कृपया यहीं रहें, यह कहकर मैं वायु में प्रविष्ट हुआ ॥२७॥

इसके बाद वायुरूपी रथ पर सवार होकर फूल की सुगन्ध की तरह मैंने आकाश में चिरकाल तक त्वरा से भ्रमण किया। अन्त को न प्राप्त होकर फिर मैंने चिरकाल तक भटक कर निरन्तर चलते-चलते बाहर निकलने का मार्ग उस प्राणी का गले का छेद या अन्य द्वार नहीं पाया। तब वाताशय में बैठा हुआ मैं खेद को प्राप्त हुआ। तदुपरान्त अपने स्वगृह में फिर आये हुए मैंने इन

यतश्चिरमपि भ्रान्त्वा यदा गलबिलं चलम्।
अहं न प्राप्तवांस्तस्य किंचिदस्याऽऽशयस्थितः ॥२९॥
तदा खेदमुपायातः परमं पुनरागतः।
इदमेव जगज्जालमहमालानमात्मनः ॥३०॥
इहेमं लब्धवानग्रे ततो मुनिमनुत्तमम्।
पृष्टवानहमेकाग्रस्तत एवमिदं गृहे ॥३१॥
किमेतद्भगवन्ब्रूहि पूर्वापरविदांवर!।
त्वं पश्यसि यथावृत्तमुत्तमज्ञानचक्षुषा ॥३२॥
यस्य देहं प्रविष्टोऽहं स च मद्वपुरेव च।
क्व तावुभौ गतौ देहौ न लब्धौ केन हेतुना ॥३३॥
मयाऽतिचिरमाभोगि भ्रान्तं संसारमण्डलम्।
स्थावरादात्मनः कस्मात्प्राप्तं गलबिलं न तत् ॥३४॥
गत्वेति पृष्टः स मुनिः समुवाच महाशयः।
जानासि तत् स्वयं कस्मादिति तामरसेक्षण! ॥३५॥
एतदालोकयसि चेत्स्वयं योगैकसंविदा।
तत्पश्यस्येव निःशेषं यथा करतलाम्बुजम् ॥३६॥

उत्तम अपने गुरु मुनि को अपने आगे पाया। तदुपरान्त सावधान होकर घर में मैंने गुरुजी से यह पूछा—हे पूर्वापर जानने वालों में श्रेष्ठ गुरुवर, आप ज्ञानचक्षु से जैसा हुआ हो वैसा ही उत्तम रीति से देखते हैं, इसलिए कृपया कहे कि यह क्या हुआ ॥२८-३२॥

जिसके शरीर में प्रविष्ट हुआ था, वह प्राणी और मेरा शरीर वे दोनों कहाँ गये? क्यों मुझे प्राप्त नहीं हुए? ॥३३॥

मैंने स्थावरपर्यन्त अपने विस्तारपूर्ण संसारमण्डल में चिरकाल तक भ्रमण किया फिर भी बाहर निकलने का मार्ग गले का छिद्र मुझे नहीं मिला? ॥३४॥

यह सब मैंने मुनि के समीप जाकर उनसे पूछा। महाशय मुनि महाराज ने मुझसे कहा—हे कमलनयन, शरीर का वृत्तान्त मुझसे उपदिष्ट उपाय के विना ही तुम स्वयं अपनी बुद्धि से कैसे जान गये ॥३५॥

यदि तुम योग से एकाग्र बुद्धि से इसका स्वयं अवलोकन करते हो तो ज्ञानदृष्टि से इसे करस्थित कमल के समान सम्पूर्णतः देखते ही हो अर्थात् दर्शन के उपाय का प्रदर्शन है ॥३६॥

फिर भी यदि मेरे वचन से इसे सुनने की तुम्हारी इच्छा है तो सुनो जैसी घटना घटी है उसे आद्योपान्त

तथापि यदि शुश्रूषा तवाऽस्ति वचसा मम।
तदिदं शृणु वक्ष्यामि यथावृत्तमखण्डितम् ॥३७॥
तपस्तामरसोष्णांशुः कल्याणकमलाकरः।
ज्ञानाब्जस्य हरेर्नाभिर्नाऽस्ति तावदयं भवान् ॥३८॥
स त्वं कदाचित्तपसि स्थितः स्वप्नदिदृक्षया।
कस्यचिद्धृदयं जन्तोः प्रविष्टः पुष्टसंविदा ॥३९॥
यत्त्वं प्रविष्टो हृदयं तत्रेदं भुवनत्रयम्।
दृष्टवानसि विस्तीर्णं रोदसीविपुलोदरम् ॥४०॥
इति त्वयि चिरं व्यग्रे देहस्तस्य तथा च।
स संसुप्ताकृतिर्यत्र स्थितस्तत्र महावने ॥४१॥
लग्नोऽग्निर्धूमधूम्राभ्रसाम्बराम्बरडम्बरः।
वलद्दलचलालातचक्रसूर्येन्दुमण्डलः ॥४२॥

सम्पूर्णतया तुमसे कहता हूँ ॥३७॥

तुम जैसा कि अपने को समझते हो वैसे व्यष्टिजीवरूप नहीं हो, किन्तु सकल प्राणियों के तपरूपी कमलों को विकसित करने मे सूर्यरूप, सकल कल्याणों के मानुष आनन्द से लेकर प्राजापत्य आनन्द पर्यन्त सुखों के कमलाकर के समान समष्टिरूप हरि भगवान् के नाभिकमल की कर्णिका अर्थात् कर्णिका में आरूढ सर्वजीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ हो हो अर्थात् पहले तुम अपने जीवतत्त्व को समझो, उसके बाद मैं तुम्हारे पूर्व शरीर का वृत्तान्त कहूँगा। ऐसा सोच रहे मुनिजी व्यष्टिजीवभाव मिथ्या है समष्टिजीवभाव ही सत्य है यह 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से प्रदर्शित न्याय का अवलम्बन कर कहते हैं ॥३८॥

व्यष्टिभावरूप स्वप्न को देखने की इच्छा से किसी समय मनोरथ रूप तप में बैठे हुए तुम आश्रम में तपस्वी हुए। वहाँ पुष्ट हुई व्यष्टिभावबुद्धि से अन्य के शरीर के अन्दर स्वप्नादि कौतुक को देखने की इच्छा से किसी जीव के हृदय में प्रविष्ट हुए। अर्थात् तो मेरा व्यष्टिभाव कैसे हुआ और उसमें (व्यष्टिभाव में) ये सकल भ्रान्तियाँ कैसे आई ॥३९॥

तुमने जीव के हृदय में प्रविष्ट होकर वहाँ पर यह विस्तारयुक्त त्रिभुवन, जिसका पृथिवीलोक और स्वर्गलोक महान् उदर है, देखा था। इस रीति से जब तुम परकीय शरीर के अन्दर स्वप्न देखने में व्यग्र थे तब तुम्हारे शरीर में और उस महावन में सोये हुए उस प्राणी के शरीर में, जिसके अन्दर तुम प्रविष्ट थे, भयंकर आग लग गई। उस आग का क्या कहना था, धुएँ से धुमैले

दग्धाभ्रभस्मसंपूर्णधूमाभ्रासितकम्बलैः ।
आनीलाकाशदलपैरिव संछादिताम्बरः ॥४३॥
दरीगृहविनिष्क्रान्तसिंहनिर्ह्रादतर्जितैः ।
स्फुटैश्चटचटास्फोटैर्जडीकृतदिगन्तरः ॥४४॥
तालीतमालमालानां गतानामग्निवृक्षताम् ।
पातैरुत्पातवह्निचभ्रकवत्करकरैर्घनः ॥४५॥
दूरदेशगतैर्दृष्टः स्थिरसौदामनीधिया ।
द्रवत्कनकनिष्यन्दकुट्टिमं व्योम दर्शयन् ॥४६॥
कणैस्तारागणं कान्तैर्व्योम्नि द्विगुणतां नयन् ।
वक्षःस्थबालवनितानयनानन्दनन्दनः ॥४७॥
ज्वालाधमधमाशब्दप्रध्मातगगनोदरः ।
दरीगृहविनिष्क्रान्तभ्रान्तोन्निद्रवनेचरः ॥४८॥

मेघरूपी वस्त्रों को ओढ़ा हुआ आकाश ही उसका चँदोवा था, चमक रहीं और जोर से घूम रही लुआठियों के चक्करों से उसने अनेक सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल बना डाले थे ॥४०-४२॥

जले हुए मेघों पर भस्म से भरे हुए धूम के मेघरूपी काले कम्बलों नीले आकाश खण्ड और दिशाओं की आवरण द्वारा रक्षा करने वाले थे, अग्नि ने आकाश को आच्छन्न कर दिया था ॥४३॥

अग्निभय से गुफारूपी घर से बाहर निकले हुए सिंहों की दहाड़रूपी डाट-फटकारों तथा साफ-साफ सुनाई दे रहे चट-चट शब्दों से उसने दिगन्तरालों में रहने वाले लोगों को बहरा बना दिया था ॥४४॥

चारों ओर से आग से घिरे होने के कारण अग्निवृक्ष से बने हुए ताल तमाल आदि वृक्ष पंक्तियों के तड़ातड़ गिरने से तथा उत्पात अग्नि के समान और उत्पात मेघ के समान उनके फटने के कोलाहल से वह आग निविड़ हो गई थी ॥४५॥

दूर देशों में स्थित लोगों ने अग्नि को यह स्थिर बिजली के रूप में देखा। वह आकाश को गलाए हुए सोने के रस से लीपे हुए फर्श सा दिखलाती थी। निकलती चिनगारियों से आकाश के तारों को दुगुना बना रही थी और उन्हीं चिनगारियों से आकाश में वक्षस्थल में स्थित ज्वालारूपी बालवनिता के नयनों को आनन्द देने वाले कटाक्षों से आनन्द देती थी ॥४६, ४७॥

ज्वालाओं के धायँ-धायँ शब्दों से आकाश के मध्य-भाग को उसने गुंजा दिया था और गुफारूपी गृह से निकले हुए निद्रा रहित वनेचरों को भ्रम में डाल दिया था ॥४८॥

अर्धदग्धद्रवत्सिंहमृगव्याधविहंगमः ।
क्वथत्सरःसरित्स्रोतोरन्धितोग्रवनेचरः ॥४९॥
वलज्ज्वालाज्वलद्बालचमरीचारुचञ्चुरः ।
दह्यमानवनप्राणिमेदोगन्धावृताम्बुदः ॥५०॥
तेन कल्पाग्निकल्पेन वल्गता वनवह्निना ।
सयुष्मदाश्रमो दग्धः सर्पेणेव प्रसर्पता ॥५१॥

व्याध उवाच

तत्र तस्याऽग्निदाहस्य हेतुः कः प्राकृतो मुने ! ।
तद्वनं ते वटुवराः सर्वं नष्टं कथं सह ॥५२॥

मुनिरुवाच

संकल्पकमनस्पन्दः संकल्पादिक्षयोदये ।
यथा हेतुर्निरास्पन्दोऽचिराद्धि त्रिजगत्तथा ॥५३॥

आधे जले हुए सिंह, बाघ और पक्षी इधर-उधर भाग रहे थे, तालाब और उसने उत्कट वनेचरों को नदियों के खौलते हुए जल में पका डाला था ॥४९॥

चारों ओर से घेर रहीं ज्वालाओं से जल रहीं बाल-चमरियों से वह बड़ी सुन्दर दिखाई देती थी। जल रहे वन्य जीवों की वसा की गन्ध से उसने बादलों को आवृत कर दिया था ॥५०॥

प्रलयाग्नि के समान भीषण फैल रही पूर्वोक्त वनाग्नि रेंग रहे साँप की तरह आपके आश्रम के साथ आपका शरीर और उस प्राणी का शरीर जला डाला ॥५१॥

व्याध ने कहा—हे मुनिवर ! वहाँ पर उक्त अग्नि-दाह का क्या कारण उपस्थित हुआ ? वह वन और वे आपके शिष्यगण सबके सब एक साथ कैसे नष्ट हो गये ? ॥५२॥

मुनि ने कहा—हे व्याध ! जैसे संकल्प के नाश और उदय में संकल्प करने वाले पुरुष का मनस्पन्द ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत् का संकल्प करने वाले विधाता का तुरन्त प्रवृत्त हुआ मनस्पन्द ही त्रिजगत् है। उसके विनाश और उदय में भी उसका मनस्पन्द ही कारण है ॥५३॥

हृदये च वनान्ते च क्षोभाक्षोभेषु कारणम् ।
यथा स्पन्दो चिरात्स्पन्दस्तथा त्रिजगतामिह ॥५४॥
धातुः संकल्पनगरं जगत्तत्स्पन्दनं त्विह ।
प्रजोदयक्षयक्षोभवर्षावर्षादिकारणम् ॥५५॥
ब्रह्मादिमानसोऽप्यस्य सोऽप्यन्यत्र चिदम्बरे ।
इत्यपर्यवसानेयं शान्तैका चिन्नभोगतिः ॥५६॥
चिति नभसि चिन्नभःश्रीः
कचतीति निरामया विदुषाम् ।
मूर्खाणां तु यथैषा
यादृग्वा तन्मयीह न सत् ॥५७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श० परमोपदेशो नाम पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५०॥

तीनों जगतों के क्षोभ और अक्षोभ में शान्ति में हिरण्यगर्भ का मनस्पन्द ही वैसे ही हेतु है। जैसे लोक में हृदय में भय आदि वश क्षोभ, शान्त आदि में तुरन्त प्रवृत्त हुआ मन का स्पन्द ही कारण है ॥५४॥

यह जगत् विधाता का स्वप्न नगर ही है इसलिए उनके मन का स्पन्द ही प्रजाजनों के उदय, क्षय, क्षोभ, वृष्टि, अवृष्टि आदि का कारण है ॥५५॥

ब्रह्माजी का मानस संकल्प ही इस समष्टि स्वरूप त्रिलोक का कारण है, वह समष्टित्रिलोक भी अन्य चिदाकाश में कल्पित है तथा वह भी दूसरे चिदाकाश में कल्पित है, इस प्रकार मायाशवल चिदाकाश की कल्पना की परम्परा का अन्त नहीं है ॥५६॥

निष्कृष्ट दर्शन में तो चिदाकाश में चिदाकाश की शोभा ही विकसित होती है ऐसी विद्वानों की विमल दृष्टि है लेकिन मूर्खों की आपात दर्शनरूप यह दृष्टि जैसी भासमान होती है वैसी ही है परमार्थ में वह सत् नहीं है अर्थात् अलीक ही है ॥५७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अवि० विप० शवोपाख्यान में परमोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पचासवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१५०॥

१५१

अन्यमुनिरुवाच

तत्र ते नगरं तानि गृहाणि तरवश्च ते ।
क्षिप्रेण शुष्कतृणवत्सर्वं भस्मत्वमागतम् ॥१॥
तत्रैवं भस्मतां प्राप्ते सुप्ते ते भवतस्तव ।
तनू तथाऽतिसंतापविदारितमहाशिले ॥२॥
स शशाम शनैर्वह्निर्निःशेषीकृतकाननः ।
परिपीतार्णवोऽगस्त्य इवाऽस्त समुपाययौ ॥३॥
तस्मिन्नस्तं गते वह्नौ तद्भस्मेद्धं सुशीतलम् ।
दुधाव कणशो वायुरशेषं पुष्पराशिवत् ॥४॥
ततो न ज्ञायते नाऽऽसीत्क्वाऽऽश्रमः क्व तनू तथा ।
क्व पेटकं बहूनां तत्स्वप्नपूर्जाग्रतो यथा ॥५॥
अभावमुपयाते ते यदैवं भवतस्तनू ।
स्वपतस्ते भ्रमवतः संविदेव विजृम्भते ॥६॥

१५१

अन्य मुनि ने कहा—हे मुने ! वहाँ पर वे दोनों शरीर, आश्रम, नगर, वे सब घर और सब पेड़ सबके सब अग्नि द्वारा सूखे हुए तिनके के समान झटपट राख बन गये ॥१॥

अत्यन्त सन्ताप से जिसके शिला तक चटक गये थे ऐसे उस आश्रम में विद्यमान तुम्हारे सोये हुए दोनों शरीर भस्म हो गये ॥२॥

सम्पूर्ण वन को पूर्णरूप से जलाकर वह वह्नि जैसे सारे समुद्र को पीकर अगस्त्यजी विरत हुए वैसे ही पहले अङ्गारमात्रशेष होकर शान्त हुई अनन्तर अदृष्ट हो गई ॥३॥

उक्त अग्नि के अदृश्य होने पर वायु पहले दीप्त फिर शीतल हुई भस्म राशि को पुष्प राशि की तरह कण-कण करके सबकी सब उड़ा ले गया ॥४॥

अनन्तर न मालूम वह आश्रम कहाँ गया और यह भी नहीं मालूम होता है कि वे दोनों शरीर कहाँ गये। बहुत से लोगों का पेटारीरूप निवास स्थान वह नगर जाग्रत् पुरुष के स्वप्न नगर की तरह न मालूम कहाँ चला गया ॥५॥

जब इस तरह आपका तथा उस प्राणी के शरीर का अभाव हो गया तब आप स्वप्न के भ्रम से ग्रस्त थे और अब स्वप्नमय शरीररूप से आपकी संवित् स्फुरित होती है ॥६॥

तस्मात्क्व तद्गलविलं विराडात्मा स च क्व ते ।
दग्धो दग्धस्य सौजस्कः सौजस्कस्येव देहकः ॥७॥
लब्धवानसि नो तस्माद्धेतोर्देहद्वयं मुने ! ।
अनन्ते स्वप्नसंसारजाग्रतीहाऽवतिष्ठसे ॥८॥
तदेवं स्वप्न एवाऽयं जाग्रद्भावमुपागतः ।
सर्वे वयमिह स्वप्नपुरुषास्तव सुव्रत ! ॥९॥
अस्माकं त्वं स्वप्ननरस्तव स्वप्ननरा वयम् ।
अयमेव चिदाकाशः सर्वदात्माऽऽत्मनि स्थितः ॥१०॥

ततः प्रभृति संपन्नो भवान्स्वप्ननरो भवन् ।
जाग्रत्प्रत्ययवाञ्जाग्रन्नरो गार्हस्थ्यसुस्थितः ॥११॥
एतत्ते कथितं सर्वं यथावृत्तमशेषतः ।
अनुभूतं सुदृश्यं च ध्यानेनैतच्च पश्यसि ॥१२॥
इत्यादिमध्यरहितोऽयमनन्तरूपः
संविद्घनः कचति काञ्चनतापवत्खे ।
तत्काललोलवपुरात्मनि चिन्मयात्मा
सर्गांतमभिर्विकसितैरसितैः सितैश्च ॥१३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अ० वि० श० अभावदर्शनं नामैकपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५१॥

जलने के कारण कहाँ बाहर निकलने का द्वारभूत उसका गले का छिद्र, कहाँ आपका वह विराट् पुरुष प्राणी क्योंकि ओज के साथ ही जले हुए उसका ओज साथ तुच्छ शरीर जलकर राख हो गया ॥७॥

हे मुने ! इस कारण आपको वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए । जिसका कोई पारावार नहीं है ऐसे आप स्वप्न संसाररूपी इस जाग्रत् में स्थित हैं ॥८॥

हे सुन्दर आचरण वाले मुनिजी; इस तरह आपका यह स्वप्न ही जाग्रत् वन गया । यहाँ सब हम लोग आपके स्वप्न-पुरुष हैं । आप हमारे स्वप्न-पुरुष हैं और हम आपके स्वप्नपुरुष हैं । यह चिदाकाश ही सर्वदा (तीनों अवस्थाओं में) अद्वितीय स्वभाव में स्थित है । अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न भेद नहीं है, ऐसा जो पहले कहा था, उसका हमने स्पष्ट निर्देश कर दिया ॥९, १०॥

पहले स्वप्नपुरुष होते हुए भी जबसे मैं जाग्रत्पुरुष हूँ ऐसी आपको प्रतीति हुई तब से जाग्रत् पुरुष बनकर गृहस्थाश्रम में स्थित हैं ॥११॥

जैसी घटना घटी थी वह मैंने आद्योपान्त सम्पूर्ण आपसे कही । यदि मेरे कहने पर सन्देह हो तो आप भी ध्यान से इस अनुभूत दृश्य को स्वयं पूर्णरूप से देखेंगे ॥१२॥

इस तरह आदि मध्य रहित अनन्तरूप यह संविद्-घन चिन्मयात्मा ही अपनी विकसनशक्ति के उछाल से चञ्चल शरीर हो अपने में दुष्कर्मों के फलरूप खराब, सत्कर्मों के फलभूत उत्तम और मिश्रित कर्मों के फलभूत मिश्रित विकासरूप सृष्टियों द्वारा आकाश में सुनहले घाम की भाँति विकसित होता है, अन्य नहीं ॥१३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० वि० शवोपाख्यान में अभावदर्शन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५१॥

१५२

मुनिरुवाच

इत्युक्त्वा स मुनिस्तत्र तूष्णीं स्वशयने निशि ।
आसीद्विस्मयतश्चाऽहमथाऽऽसं प्रोह्यमानवत् ॥१॥

ततश्चिरेण कालेन मयोक्तं तस्य सन्मुने ! ।
एवं स्वप्नो विभो ! सर्वः सद्रूप इति मे मतिः ॥२॥

१५२

मुनि ने कहा—हे व्याध ! यह कहकर रात्रि के समय वह अपने विस्तर पर चुप हो गये । अनन्तर मारे आश्चर्य के मैं भी आँधी के बवण्डर में पड़ा हुआ-सा हो गया ॥१॥

अनन्तर बहुत देर के बाद मौन भंग करते हुए मैंने कहा—हे मुनि प्रवर ! हे विभो ! तब तो इस प्रकार सारा स्वप्न यथार्थ है ऐसा मैं समझता हूँ । ['मे मतिः' यह कहने से असंभावना द्वारा आश्चर्य प्रकट किया] ॥२॥

अन्यमुनिरुवाच

सत्संभवति यत्राऽन्यत्तत्रेदं सदिति स्मयः।
युक्तो यत्र त्वेतदेव सत्तात्पं तत्र का प्रमा ॥३॥
यथा स्वप्नस्तथैवाऽयमादौ सर्गोऽवभासते।
पृथ्व्यादिरहितोप्येष पृथ्व्यादिभिरवस्थितः ॥४॥
इत्थमद्यतनात्स्वप्नात्सर्गस्वप्नोऽमलात्मकः ।
शृणु पुष्करपत्राक्ष ! मुने व्याधमहागुरो ! ॥५॥
अद्य दृष्टपदार्थाभ्यां स्वप्नं स्वप्नवतोऽभवत्।
सर्गस्वप्नस्तु दृष्टार्थं एवाऽऽदौ खे विराजते ॥६॥
एवं सत्स्वप्न इत्येव संदिग्धमिव वक्षि किम्।
स्फुटमप्यनुभूतं सत्स्वप्नध्यानोद्यमः कथम् ॥७॥

अन्य मुनि ने कहा—हे मुने ! यदि जाग्रद् वस्तु सत् होती तो यह स्वप्नादि सत् है ऐसा आश्चर्य होना ठीक था। किन्तु जहाँ पर यह जाग्रद् दृश्य ही मिथ्याभूत है वहाँ पर स्वप्न की सत्यता का क्या कहना है अर्थात् वह तो सर्वथा मिथ्याभूत है ॥३॥

आदि में इस जाग्रद् दृश्य का भी वैसे ही भान होता है। जैसे स्वप्न का भान होता है। यह जाग्रत् पृथिवी आदि से रहित होने पर भी पृथिवी आदि से युक्त प्रतीत होता है। ॥४॥

हे व्याध महागुरो ! इस प्रकार दृश्यमान आज के हम लोगों के स्वप्न से भी जाग्रत् के नाम से प्रसिद्ध सर्ग-रूपी स्वप्न निर्मल चैतन्यमात्र स्वरूप है अर्थात् स्वप्न के बराबर भी उसका अस्तित्व नहीं है। हे कमलनयन ! इस विषय में आप उपपत्ति सुनें ॥५॥

जाग्रत्काल में देखे गये पद और उसके अर्थ द्वारा बुद्धि में अपना संस्कार डालने से स्वप्न वाले आपको रात्रि में स्वप्न में स्वाप्निक शब्द और उसके अर्थ की प्रतीति हुई। संस्कार आदि की सामग्री होने से भले ही स्वप्न सत्य हो सकता है, किन्तु सृष्टि के आदि में प्रसिद्ध सर्गरूप स्वप्न पूर्व दृष्ट अर्थवाला होकर ही आकाश में विराजमान होता है। अर्थात् चिरप्रलय का महान् व्यवधान होने पर पूर्वानुभव संस्कार आदि का सर्वथा उच्छेद हो जाने से यह सर्गस्वप्न स्वप्न की अपेक्षा भी अति तुच्छ ही है। उसके बराबर भी इसका अस्तित्व नहीं है, यह उपपत्ति है, यह भाव है ॥६॥

हे विभो ! इस प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्च के अधिक मिथ्या होने पर सारा स्वप्न सद्रूप है, यथार्थ है ऐसा मेरी समझ में आता है इस प्रकार मतिपद से संदिग्धता-सी सूचित करते हुए क्यों कहते हो स्फुटरूप से अनुभूत इस स्वगृह का अनुभव कर मेरे उपदेश से फिर स्वप्न ध्यान में आपका उद्यम कैसे हुआ ? क्योंकि कोई स्वप्न देखने वाला यह स्वप्न मिथ्या है, ऐसा स्वप्न देखते समय नहीं जानता, यह तात्पर्य है ॥७॥

इदमित्थं यदाभोगि स्फुटं स्वप्नजगन्मुने !।
सदेवाऽनुभवत्येव तत्र संदिग्धता कथम् ॥८॥
अथैवंवादिनस्तस्य वाक्यमाक्षिप्तवानहम्।
पृष्टवान् व्याधगुरुता काऽसौ मे कथ्यतामिति ॥९॥

अन्यमुनिरुवाच

श्रूयतामिदमाख्यानमपरं कथयामि ते।
संक्षेपेण महाप्राज्ञ ! नाऽस्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१०॥
अस्म्यहं तावदादीर्घतपास्त्वमतिधार्मिकः।
श्रुत्वेदं मद्वचः सत्यमिहैव रतिमेष्यसि ॥११॥
इहस्थं मामिमं त्वं च न त्यक्ष्यसि सपर्यया।
अहं भवद्भिः सहितो निवत्स्यामीति निश्चयः ॥१२॥

हे मुने ! जब आप इस प्रकार इस विस्तारयुक्त स्वप्न जगत् का स्पष्टरूप से यह सत् ही है, ऐसा अनुभव करते हैं तब उसमें 'है या नहीं है' यह सन्देह कैसे हो सकता है ? अर्थात् जगत् का सत् रूप से ही अनुभव कर रहे आपके जगत् असत् है या नहीं इस सन्देह में कोई बीज भी नहीं है ॥८॥

इसके बाद यह सब कह रहे उन मुनि वचन-प्रवाह को एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर मैंने बीच में रोक दिया और उनसे पूछा—महारज मेरी व्याधगुरुता कैसे है, मैं व्याध का गुरु कैसे हूँ कृपया मुझे बतलायें ॥९॥

अन्य मुनि ने कहा—हे महामते ! मेरे इस आख्यान को सुने, मैं दूसरा आख्यान आपसे संक्षेप से कहता हूँ मेरे विस्तारयुक्त व्याख्यान का तो अन्त मिलना भी कठिन है ॥१०॥

हे मुने ! मैं दीर्घ तपस्वी हूँ और आप अत्यन्त धार्मिक हो। मैं जब तक आप व्याधगुरु होगे तब तक यहीं पर हूँ, आप भी यह मेरा सत्य वचन सुनकर यहीं अपने घर पर ही रति को प्राप्त होओगे ॥११॥

यहाँ पर स्थित हुए मुझे अनुगमन, भक्ति आदि सत्कार से आप नहीं छोड़ेंगे मैं भी आप लोगों के साथ यहाँ पर रहूँगा, यह निश्चय है ॥१२॥

साधो ! यातेषु वर्षेषु ततः कतिपयेष्विह ।
सर्वबन्धुविनाशस्ते दुर्भिक्षेण भविष्यति ॥१३॥
मत्तसीमान्तसामन्तविग्रहेण तदैव च ।
सर्वो गृहात्तनुप्राणिर्ग्रामकोऽयं विनङ्क्ष्यति ॥१४॥
ततो दुःखमजानन्तौ चिरमाश्वासितौ मिथः ।
शान्तौ विदितवेद्यत्वात्समौ सर्वार्थनिस्पृहौ ॥१५॥
इहैवैकत्र कस्मिंश्चित्तरुखण्डकजालके ।
समाचारौ निवत्स्यावः शून्ये चन्द्ररवी यथा ॥१६॥
उत्पत्स्यते त्वरण्येऽस्मिन्कालेन वनमुत्तमम् ।
शालताललताजालवलिताखिलभूतलम् ॥१७॥
तालीतमालदलताण्डवमण्डिताशं
व्याकोशपद्मवनवन्द्यविकासिवृक्षम् ।
कूजच्चकोरचयचारुलताविकुञ्ज-
मुद्भासिनन्दनमिवाऽऽगतमन्तरिक्षात् ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे अ० वि० श० मुनिरात्रिसंकथावर्णनं नाम द्विपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५२॥

हे साधो ! तदनन्तर कुछ वर्षों के बीतने पर यहाँ तुम्हारे सब बन्धु-बान्धवों का दुर्भिक्ष से विनाश हो जायगा ॥१३॥

उसी समय वैर, बल आदि से उन्मत्त हुए सीमा प्रान्त में स्थित छोटे-मोटे राजाओं के आपसी युद्ध से इस गाँव के अधिकांश प्राणी मर जायँगे, बचे-खुचे थोड़े से जीव भी गाँव छोड़कर भाग जायँगे ॥१४॥

अनन्तर आपस में एक दूसरे से आश्वासित अतएव दुःख का नाम निशान न जानने वाले, शान्त विदितवेद्य (ज्ञातज्ञेय) होने के कारण दोनों एक से तथा सकल पदार्थों में निस्पृह, समान आचरण वाले हम दोनों यहीं एक निर्जन जगह में कहीं पेड़ों के झुरमुट के बीच चन्द्रमा और सूर्य के समान निवास करेंगे ॥१५, १६॥

हमारे निवास करने से इस अरण्य में समय बीतने पर लता, वृक्षों का उत्तम वन उग जायगा । वह शाल, ताल, लता के समूह से सारे भूतल को वेष्टित कर लेगा ॥१७॥

उस वन का क्या वर्णन करूँ ? वह ताड़, तमाल के पत्तों के नाच से दिशाओं को अलंकृत करेगा, उसमें खिले हुए कमल-वनों द्वारा नीचे चरणों को पकड़ने (छूने) के कारण वन्दनीय से वृक्ष फूलों से विकसित रहेंगे और मधुर ध्वनि कर रहे चकोरों के झुण्डों से उसके लता-निकुञ्ज अत्यन्त मनोमोहक रहेंगे । अधिक क्या कहूँ वह वन स्वर्ग से उतारा हुआ नन्दनवन सा स्थायी होगा ॥१८॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में मुनिरात्रिसंकथावर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५२॥

१५३

अन्यमुनिरुवाच

आवयोश्चरतोस्तस्मिन्वने चिरतरं तपः ।
मृगानुसरणश्रान्तो मृगव्याध उपैष्यति ॥१॥
तं त्वं स्वभावपुण्याभिः कथाभिर्बोधयिष्यसि ।
तपस्तत्रैव विपिने स विरक्तश्चरिष्यति ॥२॥
ततस्तपस्विचर्याणामात्मज्ञानबुभुत्सया ।
मध्ये स स्वप्नजिज्ञासुः प्रक्ष्यति स्वप्नसंकथाम् ॥३॥
कथयिष्यति तस्मै त्वमात्मज्ञानमखण्डितम् ।
स्वप्नाख्येन प्रसङ्गेन ज्ञातो योग्यो भविष्यति ॥४॥

१५३

अन्य मुनि ने कहा—हे मुनिवर ! हम लोग उस वन में चिरकाल तक तप करते रहेंगे, तब मृगों का पीछा करने से थका हुआ व्याध आयेगा ॥१॥

उसे आप स्वभावतः पवित्र विविध कथाओं द्वारा उपदेश देंगे । वह विरक्त होकर उसी वन में तपस्या करेगा ॥२॥

तपस्वियों की उपासना के अभ्यास से शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति के बाद वह व्याध आत्मज्ञान जानने की इच्छा से आत्म ज्ञान की भूमिका के रूप से स्वप्नजिज्ञासु होकर स्वप्न-कथा पूछेगा ॥३॥

उसके पश्चात आप स्वप्न के प्रसङ्ग से उसके लिए अखण्ड आत्म-ज्ञान का उपदेश देंगे । उसे ग्रहणकर वह योग्य हो जायगा ॥४॥

इत्यनेन प्रकारेण गुरुस्तस्य भविष्यसि।
तेन तात! मयोक्तोऽसि गिरा व्याधगुरो इति ॥५॥
इति ते सर्वमाख्यातं यथाऽयं संसृतिभ्रमः।
यथाऽहं यादृशश्च त्वमिह यत्ते भविष्यति ॥६॥
इति तेनाऽहमुक्तः सन्विस्मयाकुलया धिया।
तेन सार्धं विमृश्यैतत्परं त्रिस्मयमागतः ॥७॥
अथ रात्र्यां व्यतीतायां स प्रभाते महामुनिः।
तथा संपूजितो येन तत्रैव रतिमाप्तवान् ॥८॥
अनन्तरं गृहे तस्मिंस्तस्मिन्ग्रामगृहे तथा।
स्थितावावां स्थिरमती कृतभावौ परस्परम् ॥९॥
ततो वहति कालोऽयमृतुसंवत्सरात्मकः।
स्थितोऽहमागतान् भावांस्त्यजन्गृह्णन्गिरिर्यथा ॥१०॥
नाऽभिवाञ्छामि मरणं नाऽभिवाञ्छामि जीवितम्।
यथा स्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥११॥

हे मुनिवर! इस प्रकार से आप उसके गुरु होंगे। इस कारण मैंने आपको 'व्याधगुरो' इस सम्बोधन से पुकारा है ॥५॥

जिस प्रकार यह संसार भ्रम है, जैसा मैं यहाँ पर हूँ और जैसे आप यहाँ पर हैं एवं जो आगे आपका होने वाला है वह सब मैंने आपसे कहा ॥६॥

इस प्रकार कहने पर विस्मय से व्याकुल हुई बुद्धि से उस मुनि के साथ इस दृश्य जात का विचार कर मुझे और भी आश्चर्य हुआ ॥७॥

इसके बाद रात्रि समाप्त पर प्रातःकाल के समय उन मुनि महाराज का मैंने ऐसा आदर सत्कार किया कि जिससे वे मेरे घर पर ही रम गये ॥८॥

उसके बाद तो उस अरण्यस्थित घर में और पूर्वजन्म के उस गाँव के घर में परस्पर प्रचुर प्रीतिवाले स्थिर बुद्धि सम्पन्न हम दोनों रहे ॥९॥

अनन्तर ऋतु, वर्ष आदि रूप काल के बीतने पर जैसे पर्वत वनाग्नि वृष्टि आदि का ग्रहण और त्याग करता है, वैसे ही मैं भी अनिष्ट, इष्ट और इष्टानिष्ट-मिश्रित भावों का ग्रहण और त्याग करता हुआ स्थित हूँ ॥१०॥

न तो मैं मरण की इच्छा करता हूँ और न जीवन की अभिलाषा करता हूँ जैसे स्थित हूँ वैसे ही बिना सन्ताप के रहता हूँ ॥११॥

ततो विचारितं तत्र तन्मया दृश्यमण्डलम्।
किं कारणमिदं तु स्यात्किमयं वेत्ति चेतसा ॥१२॥
कोऽयं पदार्थसंघातः किं नामैतस्य कारणम्।
अस्त्यस्मिन्स्वप्नसंदर्शे चिद्व्योमैकस्वरूपिणि ॥१३॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
चिन्मात्रनभ एवैते कचन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥१४॥
चिच्चन्द्रिकाचतुर्दिक्कमवभासं तनोति यत्।
तदिदं जगदाभाति चित्रमप्रतिघात्मके ॥१५॥
नेमेऽद्रयो न चेयं भूर्नेदं खं नाऽयमप्यहम्।
चिन्मात्रव्योमकचनमिदमाभाति केवल ॥१६॥
पदार्थजातस्याऽस्य स्यात्किं नाम वत कारणम्।
पिण्डग्रहे हेतुना तु विना कोऽप्यर्थसंभवः ॥१७॥
भ्रान्तिमात्रमिदं चेत्स्याद्भ्रान्तेः किं नाम कारणम्।
द्रष्टा मन्ता च को भ्रान्तेः कारणं वा क्व कीदृशम् ॥१८॥

अनन्तर मैंने वहाँ पर दृश्यमण्डल के विषय में विचार किया यह क्या है, क्या इसका कारण है? और यह आत्मा इसको चित्त से क्या जानता है? ॥१२॥

एकमात्र चिदाकाशस्वरूपी स्वप्न सदृश जगत् में यह पदार्थ संघात क्या है और क्या इसका निमित्त कारण है? ॥१३॥

चिदेकघन स्वभाव में स्थित चिन्मात्राकाशरूप ही ये द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध पर्वत, अनेक नदियाँ, दिशाएँ सबके सब विकास को प्राप्त हैं ॥१४॥

चित्‌रूपी चन्द्रिका चारों ओर जिस अवभास (प्रकाश) का विस्तार करती है वह यह जगत् रूप चित्र, जो कि स्थूल न होने के कारण प्रतिघात के योग्य स्वभाव वाला नहीं है, आकाश में भासित होता है ॥१५॥

न ये पर्वत हैं, न यह भूमि है, न यह आकाश है, न मैं ही हूँ। यह सब केवल चिन्मात्राकाश के स्फुरण का भान है ॥१६॥

इस पदार्थराशि का शरीर ग्रहण में क्या कारण हो सकता है। कारण के बिना भला किसी वस्तु का संभव हो सकता है? अर्थात् यदि यह चिन्मात्र-कचन ही है तो इस पदार्थ राशि का कोई कारण नहीं है, क्योंकि इसके शरीर ग्रहण और उसके हेतु अप्रसिद्ध हैं ॥१७॥

यदि इसको केवल भ्रान्ति ही मानो, तो भ्रान्ति का क्या कारण है? उस भ्रान्ति का कौन द्रष्टा है, कौन मनन करने वाला है, वह कैसा है और कहाँ है अर्थात् तब यह भ्रान्ति ही हो, ऐसी आशङ्का कर भ्रान्ति पक्ष में भी निमित्त, द्रष्टा आदि का निरूपण संभव नहीं है ॥१८॥

यस्याऽहमवसं संविन्मात्रकं हृदयौजसि ।
असौ मया सह गतः किलाऽशेषेण भस्मसात् ॥१९॥
तस्मादिदमनाद्यन्तं चिदाभामात्रमम्बरम् ।
अकर्तृकर्मकरणं रूपं चिद्घनमक्रमम् ॥२०॥
इदं चिद्व्योमकचनं घटावटपटादिकम् ।
स्फुटं कुत इवाऽऽकारि घटावटपटाद्यतः ॥२१॥
नाऽपि चिन्मात्रकचनं चिन्मात्रं व्योम केवलम् ।
तस्य किं कचनं कीदृक् कथं कचति किं नभः ॥२२॥
अयं फेनश्चिदम्भोधेः किमस्य कचनं नवम् ।
कचत्स्वभाव एवाऽयमनन्तश्चिद्घनः स्थितः ॥२३॥
चिन्मात्रकचनं शुद्धं ब्रह्म बृंहितचिद्घनम् ।
इदं जगदिवाऽऽभाति क्व दृश्यं द्रष्टृता कुतः ॥२४॥
आद्यन्तवर्जितममेयनामदिमध्य-
मेकं विभुं विगतकारणकार्यसत्त्वम् ।
सत्तामयं भुवनशैलदिगन्तनाना-
ऽनानात्मकं किमपि चेतनमेव सर्वम् ॥२५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श० सर्वैकात्म्यप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५३॥

संविन्मात्ररूप मैं जिसके शरीर में प्रविष्ट होकर हृदयवर्ती ओज में रहा वह प्राणी मेरे शरीर के साथ ही पूर्णतया भस्म हो गया ॥१९॥

अतः उसका शरीर, मेरा शरीर आदि का अस्तित्व न होने के कारण यह सब आदि अन्त शून्य चित् की आभारूप आकाश ही है। कर्ता, कर्म, और करण से विहीन क्रमशून्य यह चिद्घन ही है ॥२०॥

यह घट, वस्त्र, कुडच आदि सब चिदाकाश का स्फुरण है। अतः घट, पट आदि स्पष्ट आकार धारण करने वाले कहाँ से हो सकते हैं ॥२१॥

यह चिन्मात्र का स्फुरण भी नहीं है, केवल चिन्मात्राकाश है। उसका स्फुरण क्या और कैसा ? क्या आकाश का भी स्फुरण होता है, भला उसका स्फुरण कैसे होगा ? अर्थात् 'यह चिन्मात्र का स्फुरण है' यह बुद्धि भी 'राहु का सिर' इस कथन के समान केवल विकल्पमात्र ही है, क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास के प्रयोजक भेद और सम्बन्ध की प्रसिद्धि नहीं है ॥२२॥

यह जगत् समुद्र के फेन की तरह चिद्रूपी सागर का फेन है। इसका नवीन स्फुरण क्या होगा ? यह अनन्त चिद्घन, परमात्मा स्फुरण स्वभाव वाला ही स्थित है ॥२३॥

शुद्ध चिन्मात्र-स्फुरण वृद्धि को प्राप्त चिद्घन ब्रह्म ही इस जगत् के समान अवभासित होता है, ऐसी अवस्था में कहाँ दृश्य है और कहाँ द्रष्टृता है ? ॥२४॥

कालतः आदि-अन्त से शून्य, असीम, देशतः आदि-मध्यहीन वस्तुतः एक अद्वितीय अतएव कारण रहित; कार्य रहित और कार्यकारण के अधीन प्राणियों से रहित, स्वतःसत्ताप्रधान स्वसत्ता से ही भुवन आदि की सत्ता का निर्वाह करने के कारण नाना अनानारूप-सा वाणी और मनका अगोचर जो विभु चेतन है, वही सब-कुछ है, उससे अतिरिक्त भी नहीं है ॥२५॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में सर्वैकात्म्यप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तिरपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५३॥

१५४

मुनिरुवाच

इति निर्णीय दृश्येऽस्मिन्स्थितोऽस्मि विगतज्वरः ।
वीतरागो निराशङ्को निर्वाणो निरहंकृतिः ॥१॥
निराधारो निराधेयो निर्मानो निरुपाश्रयः ।
स्वभावस्थः स्वयं शान्तः सर्गात्मा सर्वथोदितः ॥२॥

१५४

मुनि ने कहा—हे व्याध ! इस प्रकार निर्णय करके मैं इस दृश्य में सन्तापरहित, आसक्तिरहित शङ्कारहित, अहङ्काररहित, निर्वाण स्वरूप स्थित हूँ ॥१॥

अद्वैत होने के कारण न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसी का आधार हूँ, अभिमानरहित, आश्रयविहीन; निज चित्स्वभाव में स्थित, स्वयं शान्त सर्वथा उदित सृष्टिरूप मैं स्थित हूँ ॥२॥

यथाप्राप्तस्य कर्ताऽस्मि न कर्ताऽस्मि कदाचन।
स्वयमेव हि यो व्योम कर्तृता तस्य कीदृशी ॥३॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
इत्येकात्म नभः सर्वं भूतजालैकचिद्वपुः ॥४॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम्।
न विधिप्रतिषेधौ मे न मे बाह्यं न मेऽन्तरम् ॥५॥
इति मे तिष्ठत इह यथासंस्थानसंस्थितेः।
अद्याऽयं त्वमनुप्राप्तः काकतालीयवत्पुरः ॥६॥
इति ते सर्वमाख्यातं तथा स्वप्नो यथा वयम्।
यथा जगद्यथा च त्वं यथा दृश्यमिदं तथा ॥७॥
त्वं च यादृग्दृश्यमिदं यथा दृश्यमिदं पुरः।
यथा भावा यथा ब्रह्म यथेमा जनताः पुरः ॥८॥
एतद्बुध्वा भवाञ्छान्तो मिथ्या लुब्धकलुब्धक!।
शान्तैवैवमियं सत्ता चिन्मात्रव्योमरूपिणी।

व्यवहारतः यथा प्राप्त कृत्य का कर्ता हूँ, किन्तु यथार्थतः कभी भी कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि जो स्वयं ही निष्क्रिय आकाश है, उसकी कर्तृता कैसी हो सकती है ॥३॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, विविध, पर्वत, नदियाँ दिशाएँ आदि सकल भूत सब जीवों के एकमात्र चित्स्वरूप सत् चिदाकाश ही हैं ॥४॥

हे व्याध! मैं शान्त हूँ, चारों ओर से आनन्दसागर में मग्न हूँ, दुःख सम्पर्क शून्य केवल आत्मसुख में स्थित हूँ, न मेरे लिए कोई विधि है और न प्रतिषेध ही है। न मेरे लिए कुछ बाह्य है और न कुछ आन्तर है ॥५॥

हे व्याध! इस प्रकार जैसी स्थित है उसके अनुकूल यहाँ पर स्थित हुए मेरे सामने आज काकतालीय के समान तुम प्राप्त हुए हो ॥६॥

इस प्रकार मेरे पास प्राप्त हो मुझसे पूछ रहे तुमसे जैसा स्वप्न है, जैसे हम लोग हैं, जैसा जगत् है, जैसे तुम हो, जैसा यह दृश्य है, जैसे तुम इस प्रपञ्च के द्रष्टा हो, जैसा यह देह, इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आभ्यन्तरिक) दृश्य है, जैसा यह सामने दिखाई दे रहा भौतिक दृश्य है, उनमें जैसे राग, द्वेष, त्याग, ग्रहण आदि भाव हैं, जैसा ब्रह्म है और जैसी यह सामने दृश्यमान जनता है यह सब पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार मैं कह चुका हूँ ॥७-८॥

हे लुब्धक! इन सबको मिथ्या जानकर तुम शान्त हो जाओगे, क्योंकि यह चिदाकाशरूपिणी आत्मसत्ता शान्त ही है अशान्त नहीं है। अथवा आत्यन्तिक दृश्य-शान्ति ही आत्मशान्ति है ॥९॥

स्वयमाभाति निर्वाणा नैव वाऽऽभाति किंचन ॥९॥

लुब्धक उवाच

एवं चैतदहं त्वं च सर्वे वा विबुधादयः।
सर्व एव मिथः स्वप्नपुरुषाः सदसन्मयाः ॥१०॥

मुनिरुवाच

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम्।
अन्योन्यमात्मनि तथा सदसच्चाऽनुभूयते ॥११॥
दृश्यं येन यथा बुद्धं तथा तेनाऽनुभूयते।
नानैकं वस्त्वतोऽनेकं न सन्नाऽसन्न मध्यगम् ॥१२॥
जाग्रति स्वप्ननगरमिव वेदनमात्रकम्।
अदृष्टपूर्वदूरस्थदृश्यमानपुरोपमम् ॥१३॥
इति ते सर्वमाख्यातं बोधितोऽसि निरन्तरम्।
स्वयं प्राज्ञोऽसि जानासि यथेच्छसि तथा कुरु ॥१४॥

व्याध ने कहा—हे मुनिजी, यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और सब देवता सबके सब आपस में स्वप्न पुरुष होने से सत् होते हुए भी असन्मय हो जायंगे। अर्थात् स्पष्ट रीति से प्रतीत हो रहे मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी, पर्वत, पेड़ आदि की स्वप्न तुल्यता अत्यन्त असम्भूत है इस बात को व्यङ्ग्य से सूचित करता हुआ लुब्धक कहता है ॥१०॥

मुनिजी ने कहा—हे व्याध! जैसा तुम कहते हो वैसा ही यह सब परस्पर स्वप्न के समान स्थित है। यह अपने में सत् तथा अन्य लोगों में असत् प्रतीत होता है, क्योंकि वैसा ही इसका सबको अनुभव होता है ॥११॥

दृश्य को जिसने जैसा जाना वैसा वह उसका अनुभव करता है। दृश्य वस्तु नाना है और एक भी है, जैसे एक घड़ा नाना कपाल, कपालिका आदि उनकी अवयवपरम्परा से परमाणु पर्यन्त नाना वस्तुरूप और एकत्व की प्रतीति से एकवस्तुरूप भी है जो भेददर्शी हैं उनके लिए उन दोनों में से एकत्व असत् है और जो एकत्व दर्शी हैं, उनके लिए नानात्व असत् है। भेदाभेददर्शियों के लिए दोनों विकल्प से सत् और दोनों असत् हैं। तत्त्वज्ञानियों के लिए तो जाग्रत् में स्वप्न नगर के सदृश तथा पहले कभी दृष्टिगोचर न हुए दूर देशस्थ दृश्यमान नगर के तुल्य वेदनमात्र होने के कारण एक भी नहीं है ऐसा अनुभव से सिद्ध है, अतएव यह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सदसत् है ॥१२-१३॥

हे व्याध! इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, निरन्तर सदुपदेशों से तुम्हें समझाया है। तुम भी स्वयं ज्ञानवान् हो सब कुछ जानते हो, इसलिए जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो ॥१४॥

एवं प्रबोधितस्याऽपि तव व्याध ! मते मतिः ।
क्षणं प्रबोधविश्रान्ता न विश्रान्ता परे पदे ॥१५॥
नाऽभ्यासेन विना बोध एष याति मनोहृदि ।
परां परिणतिं प्राज्ञ ! दारुणीवाऽम्बुधारणे ॥१६॥
अभ्यासाद्बोधविश्रान्तो गुरुशास्त्रैकसेवनात् ।
द्वैताद्वैतदृशोः शान्त्या निर्वाणं चित्तमुच्यते ॥१७॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥१८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० शवो० यथाभूतार्थवर्णनं नाम चतुःपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५४॥

हे व्याध ! प्रकृष्ट बोधवाले यद्यपि इस प्रकार तुम पूर्णरूप से बोधित हुए हो तथापि तुम्हारी बुद्धि स्वाभिमत जगत्सत्यत्वभ्रम में ही विश्राम को प्राप्त हुई है, परमपद में क्षण भर भी विश्राम को प्राप्त नहीं हुई ॥१५॥

यह बोध अभ्यास द्वारा अत्यन्त परिपक्व हुए बिना हृदय के अन्दर वैसे ही प्रविष्ट नही होता है जैसे कि जलधारण कार्य के निमित्त छीलने-तराशने आदि से निर्मित कमण्डलु के आकार में परिणत हुए बिना काठ के अन्दर जल प्रविष्ट नही होता है ॥१६॥

एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवनरूप अभ्यास से बोध के परमपद में विश्रान्त होने पर द्वैत और अद्वैत दृष्टियों की शान्ति होने पर चित्त निर्वाण कहलाता है। अर्थात् अभ्यास से बोध की चरमविश्रान्ति सिद्ध होने पर चित्त को ही चरमविश्रान्ति का अनुभव रखने वाले पुरुष निर्वाण कहते हैं ॥१७॥

अन्दर अभिमान और मोह से रहित और बाहर संगदोषों पर विजय पाये हुए, अन्दर और बाहर नित्य आत्मा में लीन, चारों ओर आनन्दरूप आत्मा का पूर्ण ज्ञान होने से सकल कामनाओं से विहीन तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वों से, जिनसे सुख-दुःख का भलीभाँति ज्ञान होता है, सर्वथा निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी लोग विष्णु भगवान् के निर्वाण नामक परमपद को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में शवोपाख्यान में यथाभूतार्थवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौवनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५४ ॥

१५५

अग्निरुवाच

इत्याकर्ण्याऽथ स व्याधस्तदा तस्मिन्वनान्तरे ।
आसीच्चित्रकृताकार इव विस्मयमन्थरः ॥१॥
न विशश्राम चेतोऽस्य स्वाभ्यासेन विना पदे ।
आसीदुद्भ्रान्त इव स प्रोह्यमान इवाऽर्णवे ॥२॥
आरूढ इव वा चक्रे चक्रेण तपसा हृतः ।
नक्रेणेव समाक्रान्तः पराक्रमविवर्जितः ॥३॥
किमेतत्स्याद्युताऽन्यत्स्यान्निर्वाणमिति संशयात् ।
नाऽध्यगच्छदसौ शान्तिं मूर्खो यौवनवानिव ॥४॥

१५५

अग्नि ने कहा—हे वत्स ! यह सुनकर वह व्याध उस समय उस वन में इसके पश्चात् चित्रलिखित की तरह मारे आश्चर्य के स्तब्ध हो गया ॥१॥

अपने अभ्यास के बिना उसके चित्त को परमपद में विश्राम नहीं मिला, अतः, वह बेचारा मारे आश्चर्य के उद्भ्रान्त-सा समुद्र बहाया जा रहा-सा हो गया ॥२॥

वह चक्र में चढ़ा हुआ-सा अथवा किसी सिद्ध द्वारा अपने तपोबलरूपी आँधी से हरा गये के समान तथा मगर द्वारा आक्रान्त-सा विवश हो गया, उसमें किसी प्रकार की शक्ति ही नहीं रह गई ॥३॥

क्या यह निर्वाण होगा अथवा अन्य निर्वाण होगा ? इस सन्देह से उस मूर्ख को नवयौवनवान् के समान शान्ति नहीं मिली ॥४॥

अविद्याकृतमेवेदं दृश्यमित्येव चिन्तयन्।
अविद्या जगदित्येषा नाऽऽयाति निपुणं हृदि ॥५॥
कियदन्तमिदं दृश्यं स्यात्पश्याम्येतदादितः।
दूरतोर्ध्वप्रमाणेन तपोलब्धशरीरकः ॥६॥
भावाभावात्मनो नित्यमस्याऽन्ते स्थीयते सुखम्।
तस्मादाकाशमप्यस्ति यत्र नो तत्र याम्यहम् ॥७॥
इति निर्णीय हृदये मूर्ख एव बभूव सः।
गतं तादृशयप्युक्तं विनाऽभ्यासेन भस्मनि ॥८॥
ततस्ततः प्रभृत्येव तेनैव मुनिभिः सह।
लुब्धकत्वं परित्यज्य तपश्चरितुमुद्यतः ॥९॥
तस्मिञ्जगति तैर्भाविस्तैः समं निवसन् सदा।
बहून्यब्दसहस्राणि चकार सुमहत्तपः ॥१०॥
तपः कुर्वन्कदाचित्स पुनः प्रपच्छ तं मुनिम्।
कदा स्यादात्मविश्रान्तिर्ममेत्याह मुनिस्ततः ॥११॥

यह जगत् अविद्या ही है, यह बात हृदय में भली भांति नहीं ठहरती है, इसलिए यह जगत् अविद्या नाम की ब्रह्मशक्ति द्वारा उत्पादित सत्य ही है ऐसा चिन्तन करता हुआ मैं इस दृश्य का कहाँ अवसान होगा यह बात तपस्या द्वारा शरीर प्राप्त कर, पृथ्वी से आरम्भ कर, दूर होने के कारण ऊँचे शरीर से जाकर देखूँगा ॥५,६॥

भाव अभाव स्वरूप इस दृश्य के अवसान में मैं सुख से रह सकूँगा, इसलिए जहाँपर आकाश भी नहीं है वहाँ मैं जाता हूँ ॥७॥

इस प्रकार हृदय में विचार कर वह कोरा मूर्ख ही रहा। मुनिजी ने बड़े विस्तार के साथ अनेक दृष्टान्तों और उपपत्तियों से युक्त जो उपदेश दिया था, वह अभ्यास के विना भस्म किये गये हवन के तुल्य व्यर्थ चला गया ॥८॥

उसके पश्चात् तभी से उक्त निर्णय वश ही व्याधता को छोड़कर वह मुनियों के साथ तपस्या करने के लिए उद्यत हुआ ॥९॥

तपस्वियों के लोक में तपस्वी लोगों में प्रसिद्ध भावनाओं से सदा तपस्वियों के साथ निवास करते हुए उसने अनेक हजार वर्षों तक कठिन तपस्या की ॥१०॥

तपस्या करते हुए उसने किसी समय फिर उन मुनि महाराज से प्रश्न किया, हे मुने! मेरी आत्मा में विश्रान्ति कब होगी? इसपर मुनिजी ने उससे कहा ॥११॥

मुनिरुवाच

ज्ञानं तदुपदिष्टं ते जीर्णदार्वल्पकाग्निवत्।
संस्थितं हृदये किन्तु दाह्यमाक्रम्य नोचितम् ॥१२॥
नाऽभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तवानसि।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥१३॥
भविष्यदिदमात्मीयमथाऽऽकर्णय निर्णयम्।
मम वर्णयतः कर्णभूषणं भूतलाद्भुतम् ॥१४॥
संस्तुतानवबुद्धात्मा ज्ञानसारतयाऽन्यया।
दोलायमानसंवित्त्वं न मूर्खो न च पण्डितः ॥१५॥
अविद्यारूपमाभोगि किंप्रमाणमिदं जगत्।
स्यादित्यात्मविकल्पेन तपस्त्वं कर्तुमुद्यतः ॥१६॥
इत्थं तपस्त्वया घोरं कार्यं युगशतं पृथु।
परमेष्ठी ततस्तुष्टस्त्वामुपेष्यति सामरः ॥१७॥

मुनि ने कहा —हे व्याध! मैंने तुम्हें जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, वह पुरानी लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी आग के समान तुम्हारे हृदय में स्थित है। इस समय उसने जलाने के योग्य भी दृश्यरूप अनर्थपर आक्रमण नहीं किया है। 'जीर्ण लकड़ी के अन्दर स्थित थोड़ी-सी अग्नि के समान' इस कथन से जन्मान्तर में वह उद्बुद्ध होगा, यह सूचित किया है ॥१२॥

अभ्यास न होने के कारण तुम कल्याणकारी तत्त्व ज्ञान में विश्रान्त नहीं हुए हो। किन्तु अभ्यास समय आनेपर तुम पूर्णरूप से ज्ञान में विश्रान्ति को प्राप्त होओगे ॥१३॥

हे व्याध! अब तुम निर्णय का वर्णन कर रहे मुझसे अपना यह भावी वृत्तान्त सुनो। वह कानों के लिए भूषणरूप है तथा भूतल में कोई भी मन से भी उसकी सम्भावना नहीं कर सकता, अतः अद्भुत है ॥१४॥

तुम आत्मा को जानने के लिए प्रस्तुत तो हो, किन्तु विद्वानों में प्रसिद्ध ज्ञानरूपसारता से तुम्हें उसका बोध नहीं हुआ, अतएव तुम्हारी बुद्धि झूले की तरह डोल रही है, अतः न तुम निपट मूर्ख ही हो और न विद्वान् ही हो ॥१५॥

यह विस्तारयुक्त अविद्यारूपी जगत् कितना विशाल होगा ऐसी केवल अपने मनोरथ की कल्पना से तुम तपस्या करने के लिए उद्यत हुए हो ॥१६॥

जैसे तुम इस समय तप कर रहे हो इसी प्रकार सैकड़ों युगों तक अर्थात् सैकड़ों युगों तक व्याध का जीवन असंभव होने से अनेक जन्मों तक यह अर्थ अर्थात् प्राप्त होता है तुम्हें बड़ी कड़ी तपस्या करनी होगी। अनन्तर ब्रह्माजी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर देवताओं के साथ तुम्हारे समीप आवेंगे ॥१७॥

मार्गयिष्यसि तस्य त्वं वरदस्य वरं वर।
इदमुद्दामदौरात्म्यान्निजं संदेहसंचयम् ॥१८॥
देवाऽयं दृश्यरूपेऽस्मिन्दृष्टेऽविद्याभ्रमे सति।
क्वचिदादर्शवन्नाऽस्ति प्रतिबिम्बमलोज्झितः ॥१९॥
चिद्व्योमदर्पणस्याऽस्य परमाण्वाकृतेरपि।
अन्तस्थस्यैव वा यत्र तत्रेदं प्रतिबिम्बति ॥२०॥
तस्मात्कियदनन्तं स्यादिदं दृश्यमनर्थकृत्।
तस्य पारे कियद्वा स्यादाकाशं दृश्यमेव तत् ॥२१॥
एवमर्थमहं ज्ञातुमिमं संप्रार्थये वरम्।
भृणु देवेश्वराऽविघ्नं तच्चैवाऽऽशु प्रयच्छ मे ॥२२॥
इयं स्वच्छन्दमृत्युर्मे नीरोगाऽस्तु तनुश्चिरम्।
गारुडेन च वेगेन संयुता व्योमगामिनी ॥२३॥
प्रतिनाडीकमेषा तु वृद्धिं गच्छतु योजनम्।
क्रमेण जगतो बाह्ये भवत्वाकाशरूपिणा ॥२४॥

हे श्रेष्ठ ! तुम वर देने वाले ब्रह्माजी के समक्ष अपनी सहज उद्दण्डतावश निज मनोरथ से कल्पित संशयराशि-रूप यह वर माँगोगे ॥१८॥

हे ब्रह्माजी ! इस दृश्यरूप अविद्याभ्रम के ज्ञात होने पर आदर्श के तुल्य स्थित ब्रह्म में प्रतिबिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ पर पहुँचकर मेरी विक्षेपशून्य स्थिति हो सके ॥१९॥

परमाणु के तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म आकार वाले अन्दर स्थित इस चिदाकाशरूपी दर्पण में यत्र तत्र सर्वत्र यह जगद्रूप दृश्य प्रतिबिम्बित होता है, अतएव इसमें प्रति-बिम्बरूप मल से रहित कोई प्रदेश नहीं है ॥२०॥

हे ब्रह्माजी ! यतः अविद्या सहित चिति की यह स्थिति है, इसलिए यह अविद्याप्रयुक्त अनर्थकारी दृश्य कितनी दूर तक होगा। उस दृश्य के पार अनन्त निरविद्य ब्रह्म कितनी दूर तक होगा। आकाश की तरह संसारशून्य उस ब्रह्म को मैं जाकर अवश्य ही देखूंगा ॥२१॥

हे देवाधिदेव ! इस प्रकार की वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए यह निम्ननिर्दिष्ट वर आपसे चाहता हूँ। हे विधे ! उसे आप बिना किसी विघ्नबाधा के शीघ्राति शीघ्र मुझे दो ॥२२॥

यह मेरा शरीर चिरकाल तक निरोग रहे, इसकी मृत्यु स्वाधीन हो, यह गरुड़ के सदृश वेग से युक्त होकर आकाशगामी हो ॥२३॥

इसका प्रत्येक अङ्ग प्रतिक्षण एक योजन बढ़े, बढ़ते-बढ़ते समय-क्रम से तीनों लोकों के बाहर जाय और आकाश के तुल्य विशालरूप हो ॥२४॥

साकाशस्याऽस्य दृश्यस्य लभेय परमेश्वर !।
अन्तमित्थमनन्तस्य परमोऽस्त्विति मे वरः ॥२५॥
इति साधो ! त्वया प्रोक्ते देवदेवो वरं प्रभुः।
एवमस्तु तवेत्युक्त्वा यास्यत्यन्तर्धिमीश्वरः ॥२६॥
गते तस्मिन्महादेवे देवैः सह दिवस्पतौ।
तपसा ते कृशो देहश्चन्द्रकान्तिर्भविष्यति ॥२७॥
मामापृच्छन्नमस्कृत्य तस्मिन्नेव क्षणे ततः।
प्लुतिमेष्यति स व्योम्नि चित्तस्थार्थदिदृक्षया ॥२८॥
द्वितीय इव शीतांशुर्द्वितीय इव भास्करः।
द्वितीय इव वौर्वाग्निश्चन्द्रार्कस्पर्धयोत्थितः ॥२९॥
ततो गरुडवेगेन दृश्यस्य नभसस्तथा।
अन्तं प्राप्तुं वहन्वेगाज्जगतः सरितामिव ॥३०॥
जगतोऽन्ते ततोऽजस्रं ततो वर्धिष्यते वपुः।
कल्पान्तमत्तार्णववन्निष्पाराम्बरपूरणम् ॥३१॥

हे परमेश्वर ! इस प्रकार आकाश सहित इस असीम दृश्य का अन्त मुझे प्राप्त हो, यही परम वर मुझे मिले ॥२५॥

हे सज्जन ! ऐसी जब तुम प्रार्थना करोगे तब देवाधिदेव प्रभु ऐसा ही हो यों तुम्हें वर देकर अन्तर्धान हो जायेंगे ॥२६॥

स्वर्गाधिपति देवाधिदेव श्रीब्रह्माजी के देवताओं के साथ चले जाने पर तपस्या से कृश हुआ तुम्हारा शरीर चन्द्रमा के समान कान्तिमान् हो जायगा ॥२७॥

अनन्तर मुझसे पूछकर नमस्कार कर उसी समय दिव्य शरीरधारी तुम चित्त में स्थित त्रिलोक का अन्त देखने की उत्कट इच्छा से मेरे आश्रम से आकाश में मानो दूसरे चन्द्रमा से, दूसरे सूर्य से अथवा सूर्य और चन्द्रमा की स्पर्धा से आकाश में चढ़े हुए दूसरे बड़वानल से उड़ जाओगे ॥२८, २९॥

अनन्तर दृश्य जगत् तथा आकाश के अन्त तक पहुँचने के लिए गरुड़ के सदृश वेग से दौड़ रहा तुम्हारा शरीर, जो कि उन्मत्त प्रलयसागर की तरह अपार आकाश की निरवकाशता को पूर्ण करने वाला होगा, नदियों के अन्त की तरह त्रैलोक्य के अन्त में निरन्तर बढ़ता ही जायगा ॥३०, ३१॥

द्रक्ष्यस्यथ महाव्योम्नि वर्धमानो बृहद्वपुः।
सर्गान्निरर्गलाधारनिरन्तगगनक्रमात् ॥३२॥
परमार्थमहाकाशशून्यतावातचक्रकान् ।
स्वभावद्रवतोद्देशाच्चिदर्णवतरङ्गकान् ॥३३॥
संविद्घने तथा स्वप्ने पुराद्या भान्ति खात्मकाः।
तथा तदा तवैष्यन्ति सर्गवर्गा निरर्गलाः॥३४॥
विस्फुरन्ति महाव्योम्नि पर्णौघाः क्षुभितानिलैः।
तथा सर्गाननन्तांस्त्वं द्रक्ष्यस्यक्षीणनिश्चयः॥३५॥
सभासत्येक्षणरुचां यथा जालं सदप्यसत्।
जगदात्म तथाकाशसंविदां खे सदप्यसत्॥३६॥
सर्वोर्वीजनदृष्टानां लग्नानामिन्दुमण्डले।
यादृग्जालं जगत्तादृक्स्थितेऽनन्यत्वमात्मनः॥३७॥
पुनः सर्गः पुनर्व्योम पुनः सर्गः पुनर्नभः।

महाकाश में निरन्तर बढ़ रहे विशालकाय हुए तुम रोक-टोक के बिना ही अधारभूत अनन्त आकाश में चढ़ने से परमार्थभूत महाकाश की शून्यता से उत्पन्न हुई आँधियों के सदृश सृष्टियों को अज्ञाततास्वभावरूप द्रवता की वृद्धि से आविर्भूत चित्समुद्र के तरङ्गरूप हैं, देखोगे ॥३२, ३३॥

उस समय बिना रोक-टोक के अनेकों सृष्टियाँ वैसे ही तुम्हारे लिए दृष्टिगोचर होंगी। जैसे संविद्घन स्वप्न में शून्यरूप नगर आदि प्रकाश में आते हैं॥३४॥

महाकश में छितराई हुई अनन्त सृष्टियों को अक्षीण संकल्प वाले तुम वैसे ही देखोगे। जैसे क्षोभित आँधियों से पत्तों की राशियाँ आकाश में छितरा जाती हैं॥३५॥

चिदाकाश की संवित् वालों तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में जगत्‌रूप वैचित्र्य चिदाकाश रहता हुआ भी वैसे ही असद्रूप ही है। जैसे महलों के अन्दर बैठी हुई महिलाओं को चित्र विचित्र झरोखों से बाहर स्थित नृत्य सभा का सत्यस्व दर्शन रुचता है और नहीं रुचता है ऐसी स्त्रियों के लिए विचित्र वातायन सत् होते हुए भी प्रायः असत् है॥३६॥

भूमि में स्थित सब लोगों को धुआँ, कुहरा, धूलि आदि का समूह चन्द्रमण्डल से सटा हुआ-सा दिखाई देता है लेकिन चन्द्रमण्डल में स्थित लोगों की दृष्टि से वह जगत् भी आत्मा के अभेद को प्राप्त हुए तत्त्ववेत्ता की दृष्टि वैसे ही अत्यन्त असत् है जैसे अत्यन्त असत् है॥३७॥

फिर सृष्टि फिर आकाश, फिर सृष्टि फिर आकाश

इत्येवं पश्यतस्तेऽत्र दीर्घकालः प्रयास्यति॥३८॥
अथ दीर्घेण कालेन प्रस्फुरत्सर्गपर्णके।
उद्वेगमेष्यसि व्योम्नि महामहिमनि स्वयम्॥३९॥
उद्वेगमेष्यति ततस्तपसोऽनुभवत्फलम्।
निर्देक्ष्यसि तदा देहमनन्ताम्बरपूरकम्॥४०॥
किमिदं कुशरीरं मे भारभूतमिव स्थितम्।
मेर्वादिभूभृतां लक्षमपि यस्मिंस्तृणायते॥४१॥
देहो ममाऽप्रमाणोऽयं व्याप्तं व्योम मयाऽखिलम्।
पूरयामि खमद्याऽपि भावि नैवोपगम्यते॥४२॥
अविद्या बत घोरेयमनन्ता च प्रमीयते।
मीयते न च केनाऽपि ब्रह्मज्ञानं समं विना॥४३॥
तमिमं संत्यजाम्येव देहमाविवृतान्तरम्।
नाऽनेन किंचिदाप्नोमि साधुसच्छास्त्रसंगमम्॥४४॥

इस प्रकार देखते-देखते तुम्हारा लम्बा समय वहाँ बीत जायगा॥३८॥

अनन्तर दीर्घकाल के बाद महामहिमशाली अव्यक्त आकाश में, जिसमें सृष्टिरूपी पत्ते इधर-उधर स्फुरित होते हैं, तुम स्वयं ऊब जाओगे॥३९॥

अनन्तर तपस्या के फल का अनुभव करते हुए तुम उद्वेग को प्राप्त होओगे तब तुम अनन्त आकाश को भर डालने वाले अपने विशाल शरीर को देखोगे और कहोगे॥४०॥

यह मेरा कुत्सित शरीर भी क्या है? जिसमें लाखों मेरु आदि महापर्वत भी तृण के तुल्य लघु हैं, यह मेरे लिए भारभूत के समान हो गया है॥४१॥

मेरा यह शरीर अप्रमाण हो गया है मैंने इससे सारे आकाश को व्याप्त कर दिया आज भी मैं आकाश को भरता जाता हूँ, किन्तु आगे क्या होगा यह मेरी समझ में बिलकुल नहीं आता है॥४२॥

हाय! मुझे यह दृश्यरूप अविद्या भीषण और असीम प्रतीत होती है। कोई भी सम ब्रह्मज्ञान के बिना इसका आरपार नहीं पा सकता॥४३॥

सम्पूर्ण अवकाश को ढक चुके इस शरीर का मैं अवश्य त्याग करता हूँ। इस अतिविशाल कुशरीर से मैं साधु-संगति, सच्छास्त्राभ्यास अथवा अन्य मोक्षसाधन कुछ प्राप्त नहीं कर सकता॥४४॥

अनन्तापारपर्यन्तं निरालम्बाम्बरास्पदम् ।
किं नामेदं शरीरं मे सुदुष्प्रापार्यसंगमम् ॥४५॥
इति संचिन्त्य तं देहं धारणां प्राणरेचनीम् ।
कृत्वा त्यक्ष्यसि संभुक्तात्फलाच्छुष्कं यथा खगः ॥४६॥
कृत्वा देहपरित्यागं जीवः प्राणसमन्वितः ।
व्योम्नि स्थास्यति ते तस्मिन्वातात्सूक्ष्मोऽपि वातवत् ॥४७
छिन्नपक्षो महामेरुरिव देहः पतिष्यति ।
तत्र भूलोकशैलादि सर्वं चूर्णीकरिष्यति ॥४८॥
शुष्का भगवती देहं तत्तदा भक्षयिष्यति ।
समातृमण्डला तेन निर्दोषा भूर्भविष्यति ॥४९॥
इत्यात्मोदन्तमखिलं श्रुतवानसि सुव्रत ! ।
तपस्तालीवने कृत्वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥५०॥

व्याध उवाच

अहो नु भगवन्दुःखं परिभोक्तव्यमक्षयम् ।
मया व्यर्थमनर्थाय यदर्थेन दुर्थितम् ॥५१॥
विद्यते किं विभो काचिद्युक्तिः सैषा स्थितिर्वर ।
अन्यथा भवितव्योऽर्थो यदि नाऽस्ति तदुच्यताम् ॥५२॥

मुनिरुवाच

अवश्यं भवितव्योऽर्थो न कदाचन केनचित् ।
विधातुमन्यथा शक्यस्तत्र क्षरति यत्नतः ॥५३॥
वामावामशिरःपादविपर्ययविधौ यथा ।
पुंसो न विद्यते शक्तिस्तथा भावान्यथास्थितौ ॥५४॥
ज्योतिःशास्त्रार्थविज्ञानैरिह भाव्यर्थवेदनम् ।
भवत्यन्यदपूर्वं तु न किंचन कदाचन ॥५५॥
जयन्ति कर्माणि हि वेदनानि
यैः प्राक्कृतैरद्यतनान्युपेत्य ।
शरीरदाहैरपि निर्विकार-
संविन्नयैर्ब्रह्मतयैव सुप्तम् ॥५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
भाविसंपत्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५५॥

असीम ओर-छोर रहित और आकाश में निराधार स्थित यह मेरा शरीर भी क्या है जिससे कि तत्त्वज्ञानियों का संगम दुर्लभ है ॥४५॥

ऐसा विचारकर तुम प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने वाली योगधारण कर वैसे पक्षी खाये हुए फल से बचे हुए नीरस छिलका, गुठली आदि हिस्से का त्याग करता है वैसे ही उस शरीर का तुम त्याग करोगे ॥४६॥

शरीर का त्याग कर वायु से भी सूक्ष्म तुम्हारा जीव प्राण वायु से युक्त हो वायु की तरह उस आकाश में स्थित होगा ॥४७॥

जिसके पर कट चुके वैसे महान् मेरु की तरह तुम्हारा महान् शरीर गिरेगा। भूलोक के पर्वत आदि सबको चूर-चूर करेगा ॥४८॥

तब पूर्वोक्त रक्तरहित भगवती काली मातृमण्डल के साथ उस शरीर को पूर्ववर्णन के अनुसार गणों सहित खा जायगी, इससे भूमि निर्दोष हो जायगी ॥४९॥

हे सुव्रत ! इस तरह तुम सारा आत्म वृत्तान्त सुन चुके हो, तालीवन में तपस्याकर जैसा चाहते हो वैसा करो ॥५०॥

व्याध ने कहा—हे भगवन् ! क्या मुझे यह अक्षय दुःख अवश्य भोगना पड़ेगा ? हाय मैंने क्लेश भोगने के लिए पुरुषार्थ के श्रम से व्यर्थ दुःख का ही संकल्प द्वारा समर्थन किया ॥५१॥

हे श्रेष्ठतम मुनि ! यह भावी वस्तु स्थिति आपने मुझसे कही। यह भवितव्यता जिस युक्ति से टल जाय वैसी भी कोई युक्ति है या नहीं है, कृपया यह मुझसे कहे ॥५२॥

मुनिजी ने कहा—हे व्याध ! अवश्य भावी अर्थ को कदापि टाल नहीं सकता, क्योंकि वह आधुनिक प्रयत्नों से नष्ट नहीं हो सकता ॥५३॥

उसे भावी अर्थ को अन्या करने की भी वैसे ही सामर्थ्य नहीं है। जैसे पुरुष को अपने शरीर में तक बाएँ अङ्ग को दाहिने को बायाँ तथा सिर को पैर और पैरों को सिर बनाकर अदल-बदल करने की सामर्थ्य नहीं है ॥५४॥

ज्योतिष शास्त्र के परिज्ञान से भावी पदार्थ का ज्ञान होता है, किन्तु शास्त्र इससे कुछ अतिरिक्त अपूर्व कार्य कदापि नहीं कर सकते। अर्थात् ज्यतिष शास्त्र आदि में उक्त उपायों से उसका ज्ञानमर हो सकता है उसको उलटना शास्त्रों की भी सामर्थ्य के बाहर की बात है ॥५५॥

जो पुरुष श्रेष्ठ पूर्वकृत सुकृतों से आधुनिक शम, दम आदि साधनों को प्राप्त कर ब्रह्मज्ञान कराने वाले श्रवण, मनन आदि उपायों द्वारा तत्त्वज्ञाव प्राप्त कर ब्रह्मरूप से ही सो गये जगद्-दर्शन के लिए जागे नहीं वे प्राक्तन सब कर्म और दुष्ट संकल्प आदि का, भले ही वे अत्यन्त दृढ़ क्यों न हो, उच्छेदकर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, लोगों के वन्दनीय हैं, अन्य नहीं होते हैं ॥५६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० विप० शवोपाख्यान में भाविसंपत्तिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५५॥

१५६

व्याध उवाच

अनन्तरं हे भगवन्विततताकाशवासिनः।
किं भविष्यति मे तत्र देहेऽधःपातिनि क्षितौ ॥१॥

मुनिरुवाच

शृणुष्वाऽवहितस्तस्मिन्देहे तव परिक्षते।
किं भविष्यति भव्यात्मंस्तस्मिन् परमकाम्बरे ॥२॥
देहे तस्मिन्परिभ्रष्टे जीवस्तु प्राणसंयुतः।
भविष्यत्यम्बरे वातलवो व्याततरूपिणि ॥३॥
तस्मिन्वातलवे चेतो दृश्यं हृत्स्थं स्थितं पुरः।
स्फारं द्रक्ष्यति भूपीठं भवान्स्वप्ने जगद्यथा ॥४॥
महत्त्वाच्चित्तवृत्तेस्तु जीवो द्रक्ष्यति ते ततः।
राजाऽहमस्मि भूपीठ इति संकल्पितार्थभाक् ॥५॥
तत्राऽस्य सहसैवाऽऽशु प्रतिभोदेष्यति स्वयम्।
अहमस्मि नृपः श्रीमान्सिन्धुर्नाम्नाऽतिमानितः ॥६॥
अष्टवर्षाय मे राज्यं गते पितरि काननम्।
भुवश्चतुःसमुद्रायाः पित्रा दत्तमुपागतम् ॥७॥
सीमान्ते भूपतिः शत्रुर्विदूरथ इति श्रुतः।
विद्यते यः प्रयत्नेन विना नाम न जीयते ॥८॥
इदं मे कुर्वतो राज्यं संवत्सरशतं गतम्।
अहो भृत्यकलत्रौघैः सह भुक्तं मया सुखम् ॥९॥
कष्टमेष प्रवृद्धो मे सीमान्तवसुधाधिपः।
अनेन सह संग्रामो दारुणः समुपस्थितः ॥१०॥
इति चिन्तयतस्तत्र विदूरथमहीभुजा।
भविष्यति महद्युद्धं चतुरङ्गबलक्षयि ॥११॥
महता तेन युद्धेन हनिष्यसि विदूरथम्।
करवाललतालूनजङ्घं त्वं विरथोऽपि सन् ॥१२॥
चतुःसागरपर्यन्ते भूतले भूपतिस्ततः।
भविष्यसि भयाक्रान्तदिक्पालादृतशासनः ॥१३॥
स त्वं सिन्धुर्भवन्प्राप्तसकलावनिमण्डलः।
पण्डितैर्मन्त्रिभिः सार्धं करिष्यसि कथा इमाः ॥१४॥

१५६

व्याध ने कहा—हे भगवन् ! उसके बाद जब कि मेरा शरीर नीचे पृथिवी पर गिर जायगा तब विस्तीर्ण आकाश में बसने वाले मेरी क्या दशा होगी ? ॥१॥

मुनिजी ने कहा—हे सौम्य ! तुम्हारे उस विशाल शरीर के विनष्ट होने पर उस अव्याकृत आकाश में तुम्हारा क्या होगा, यह तुम ध्यान देकर सुनो ॥२॥

उक्त शरीर के नीचे गिरने पर प्राणयुक्त तुम्हारा जीव उस अत्यन्त विशाल अव्याकृताकाश में वायु का लेशरूप होगा ॥३॥

जैसे तुम स्वप्न में देखते हो वैसे ही उसी वायु के लेश में तुम्हारा चित्त हृदयस्थ वासनामय सामने स्थित विशाल भूतल आदि जगत् को देखेगा ॥४॥

अनन्तर महती चित्तवृत्ति (महामना) होने के कारण या चित्तवृत्ति के ही जगत् के आकार से महान् होने के कारण तुम्हारा जीव वहाँ पर मैं राजा हूँ यह देखेगा, इस प्रकार भूतल में संकल्पित अर्थ का भागी होगा ॥५॥

वहाँ पर उसकी एकाएक शीघ्र ऐसी प्रतिभा अपने आप उदित होगी कि मैं सामन्तों द्वारा अत्यन्त सत्कृत श्रीमान् सिन्धुनामक राजा हूँ ॥६॥

पिताजी तपस्या करने के लिए जब वन को चले गये तब पिता द्वारा दिया गया चार समुद्र वाली पृथिवी का राज्य आठ वर्ष की अवस्था वाले मुझे प्राप्त हुआ ॥७॥

सीमा के अन्त में विदूरथ नाम से प्रसिद्ध राजा मेरा शत्रु है। जिसे बिना प्रबल प्रयत्न के परास्त करना कठिन है ॥८॥

यह राज्य करते मेरे सौ वर्ष बीत गये हैं। मैंने अपने स्त्री-पुत्र नौकर-चाकरों के साथ खूब सुख-भोग किया ॥९॥

दुःख है, यह मेरे सीमान्त का राजा कोष, बल आदि में बढ़ा-चढ़ा है इसके साथ मेरा घोर संग्राम उपस्थित है ॥१०॥

यह चिन्तन करते हुए तुम्हारा वहाँ पर राजा विदूरथ के साथ चतुरङ्गिणी सेना का विनाश करने वाला तुमुल युद्ध होगा ॥११॥

तुम रथ रहित होते हुए भी तलवार से विदूरथ की जंघाओं को काटकर उसे महान् युद्ध द्वारा धराशायी करोगे ॥१२॥

अनन्तर चार सागरों से परिवृत भूतल पर तुम्हारा अकंटक राज्य होगा, लोकपाल भी भयभीत होकर तुम्हारे शासन का आदर करेंगे ॥१३॥

वह तुम सिन्धु नामक राजा बनकर सकल भूमण्डल को स्वायत्त कर विद्वान् और मन्त्रियों के साथ निम्नलिखित कथाएँ कहोगे ॥१४॥

मन्त्री वदिष्यति

अत्याश्चर्यमिदं देव! यदेवं स विदूरथः।
देवेन विजितो युद्धे नीतश्च यमसादनम् ॥१५॥

त्वं वक्ष्यसि

भो साधो! सघनस्यास्य कल्पान्तार्णवरंहसः।
वैरी विदूरथो राजा किमर्थं वद दुःसहः ॥१६॥

मन्त्री वदिष्यति

लीला नामाऽस्य भार्याऽस्ति तयाऽतितपसार्जिता।
माता सरस्वती देवी जगद्धात्री निरञ्जना ॥१७॥
गृहीतायाः सुतात्वेन साऽस्या भुवनभाविनी।
संसाधयति कार्याणि मोक्षादीन्यपि हेलया ॥१८॥
वरेण शब्दमात्रेण जगदप्यजगत्क्षणात्।
करोति सा भवन्नाशे तस्याः कैव कर्दथना ॥१९॥

सिन्धुर्वदिष्यति

त्वया वै युक्तं कथितं यद्येवं तद्विदूरथः।
अशक्यो जेतुमाश्चर्यं एतस्य समरे बधः ॥२०॥

तदेवं संप्रसादेन भगवत्या समन्वितः।
किमित्यस्मिन् रणे तस्मिञ्जयं राजा न लब्धवान् ॥२१॥

मन्त्री वदिष्यति

तेन संप्रार्थिता देवी सर्वकालमखेदिना।
मोक्षोऽस्तु मम संसारादिति तामरसेक्षण ॥२२॥
तया तेन विभो तस्य स एवाऽवन्ध्यसंविदा।
संपादितस्तेन तदार्थित आजौ पराजयः ॥२३॥

सिन्धुर्वदिष्यति

यद्येवं तन्मया देवी सदैवैषा प्रपूज्यते।
मोक्षं किमिति मे नैषा ददाति परमेश्वरी ॥२४॥

मन्त्री वदिष्यति

एषा हि ज्ञप्तिरास्तेऽन्तः सर्वस्य हृदये सदा।
संविद्रूपा भगवती सैव प्रोक्ता सरस्वती ॥२५॥
येन येन यथाऽऽत्मीया प्रार्थ्यते स्वयमेव सा।
प्रयच्छति तथैवाऽऽशु तस्माच्चिदनुभूयते ॥२६॥
न प्रार्थितैषा भवता मोक्षार्थमरिमर्दन!।
प्रार्थितैव त्वया संविदात्मीया शत्रुशान्तये ॥२७॥

मन्त्री कहेगा—हे महाराज! यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है जो महाराज ने विदूरथ को युद्ध में यों परास्त किया और यमलोम पहुँचाया ॥१५॥

तुम कहोगे—हे मन्त्रिवर! मैं धनवान् हूँ और प्रलयकाल के समुद्र के समान मुझमें बल है, ऐसी अवस्था में भला बताओ तो शत्रु राजा विदूरथ मेरे लिए क्यों अजेय होगा ॥१६॥

मन्त्री कहेगा—हे महाराज! उसकी लीला नाम की पत्नी है उसने घोर तपस्या द्वारा निर्विकार जगन्माता देवी सरस्वती को अपनी माँ के रूप से स्वीकार किया है ॥१६॥

भुवनों को पैदा करने वाली देवी सरस्वती पुत्री के रूप से स्वीकृत लीला के मोक्ष आदि महान् कार्यों को भी अनायास क्रीड़ा से ही सिद्ध कर देती है ॥१८॥

वह भगवती देवी केवल शाब्दिक वर से ही जगत को भी क्षण भर में अनगत् बना डालती हैं आपका तिरस्कार करने में भला उन्हें क्या क्लेशरूप असामर्थ्य प्राप्त हो सकती है? ॥१९॥

राजा सिन्धु कहेगा—हे मन्त्रिवर! तुमने बहुत उचित कहा। यदि ऐसा है तो विदूरथ को परास्त करना कठिन ही था, अतः युद्ध में जो वह मारा गया यह तो बड़ा ही आश्चर्य का विषय है ॥२०॥

इस प्रकार के भगवती देवी के प्रसाद से युक्त राजा विदूरथ उस युद्ध क्यों विजयी नहीं हुआ? ॥२१॥

मन्त्री कहेगा—हे कमलनयन! कभी भी खेद को न प्राप्त होने वाले उसने सदा भगवती देवी की यही प्रार्थना की थी कि संसार से मेरा मोक्ष हो ॥२२॥

इस कारण सत्य संकल्पवाली भगवती सरस्वती ने उसे मोक्ष दिया, अतएव उसने युद्ध में स्वयं पराजय का वरण किया ॥२३॥

सिन्धु कहेगा—हे मन्त्रिवर! यदि ऐसा है तो मैं भी सदा ही देवी की पूजा करता हूँ। फिर वह परमेश्वरी मुझे मोक्ष क्यों नहीं देती ॥२४॥

मन्त्री कहेगा—हे महाराज! वैखरी पर्यन्त सब शब्दों की बीजभूत संविद्रूप भगवती सदा सबके हृदय के अन्दर रहती है वही सरस्वती कही गई है ॥२५॥

आत्महितैषिणी उक्त भगवती की जो-जो जैसी प्रार्थना करता है, उसके लिए वह स्वयं ही वैसा वर प्रदान करती है। उस वर प्रदान से उसकी सत्य संकल्पवती चित् ही वर-फल के रूप से अनुभूत होती है ॥२६॥

हे शत्रुतापन! आपने मोक्ष के लिए उसकी प्रार्थना नहीं की, किन्तु आपने आत्महितैषिणी संविद्रूपा उक्त भगवती की शत्रुनाश के लिए प्रार्थना की है ॥२७॥

सिन्धुर्वदिष्यति

न प्रार्थिता मया कस्मादनेनैषा सरस्वती।
संविच्छुद्धा मया कस्मात्प्रार्थिता नेह मुक्तये ॥२८॥
मदाशयगताऽप्येषा ज्ञप्तिं दत्त्वा सरस्वती।
मन्मोक्षाय किमित्यङ्ग सद्रूपाऽपि न चेष्टते ॥२९॥

मन्त्री वदिष्यति

अशुभः प्राक्तनोऽभ्यासस्तवाऽस्ति रिपुघातिनः।
तेनैषा मुक्तये नत्वा त्वया न प्रार्थिता विभो ! ॥३०॥
यच्चित्तस्तन्मयो जन्तुर्भवतीत्याजगत्स्थितेः।
आबालमेव संसिद्धं कर्तुं शक्नोति कोऽन्यथा ॥३१॥
यदेव येनाऽमलयाऽमलात्म
संवेद्यतेऽभ्यासमयं विदाऽन्तः।
सर्वोपमर्देन तदेव सोऽङ्ग
सदस्त्वसद्वाऽस्तु भवत्यविघ्नम् ॥३२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श०
सिन्धुसंबोधनं नाम षट्पञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५६॥

राजा सिन्धु कहेगा—मेरी तरह विदूरथ ने भी राज्य के लिए शुद्ध संविद्रूप उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ? अथवा विदूरथ की तरह मैंने मुक्ति के लिए उसकी प्रार्थना क्यों नहीं की ॥२८॥

हे मन्त्रिवर ! मेरे चित्त में बैठी हुई यानी मेरी आत्मभूत भी सद्रूप यह भगवती सरस्वती मुझे मोक्ष की इच्छारूप विज्ञप्ति देकर साधन सम्पत्ति द्वारा मेरे मोक्ष के लिए क्यों चेष्टा नहीं करती । अर्थात् आपकी स्वेच्छानुसारिणी प्रवृत्ति के विषय में मेरे प्रति यह प्रश्न उचित नहीं है, ऐसी आशङ्का कर उसका तात्पर्य प्रकाशित करते हैं ॥२९॥

मन्त्री कहेगा—हे प्रभो ! रिपुनाश करने वाले महाराज का पूर्वजन्म का अशुभ अभ्यास है, इसलिए आपने देवी को प्रणाम कर मुक्ति के लिए देवी की प्रार्थना नहीं की ॥३०॥

जिसका चित्त जैसा होता है, वह जीव वैसा प्रयलपर्यन्त रहता है । जो बात आबाल प्रसिद्ध है, उसे कौन उलट सकता है । अर्थात् देवता स्वतन्त्ररूप से अनुग्रह नहीं करते, किन्तु भक्त की चित्तवृत्ति के अनुसार ही अनुग्रह करते हैं, इस विषय में 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्' श्रुति प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं ॥३१॥

जो पुरुष निर्मल संवित् से अपने चित्त में निर्मलरूप जिस किसी को चाहे वह राज्य हो, चाहे मोक्ष हो, चाहे अन्य कुछ हो दृढाभ्यासमय बनाकर जानता है वह सत् हो, चाहे उस समय में असत् हो या चाहे सदसत् विलक्षण हो वही अन्य सब वासनाओं को कुचलकर बिना विघ्न-बाधा के स्वयं ही अवश्य हो जाता है, दूसरा कोई भी तत्फलभूत नहीं है ॥३२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में सिन्धुसंबोधन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५६॥

१५७

अथ सिन्धुर्वदिष्यति

आर्याऽनार्यवपुः कोऽहमभवं विमतिः पुरा।
यद्वशान्मे कुसंस्कारः प्राक्तनोऽस्ति भवप्रदः ॥१॥

मन्त्री वदिष्यति

रहस्यं शृणु भो राजन्सावधानपरः क्षणम्।
चोदितः संवधासोदमद्य मान्ध्यविनाशनम् ॥२॥

१५७

इसके पश्चात् सिन्धु कहेगा—हे आर्य ! मन्दमति मैं पूर्व जन्म में किस अनार्य योनि में पैदा हुआ था, जिसके कारण मेरे पूर्वजन्म के कुसंस्कार ने मुझे संसार सागर में पटका ॥१॥

मन्त्री कहेगा—हे राजन् ! क्षणभर सावधान चित्त होकर पूर्वजन्म का रहस्य सुनिए । आज मेरे द्वारा प्रेरित होकर अज्ञान का विनाश करने वाले मेरे वचन को आप हृदय में धारण करेंगे ॥२॥

किमप्याद्यन्तरहितमस्तीह सदनामयम् ।
स्थितं त्वमहमित्यादिरूपेण ब्रह्मशब्दितम् ॥३॥
तद् ब्रह्म स्वयमेवाऽहं चिच्चेतामीति संविदम् ।
जीवतामिव गत्वाऽऽस्ते चित्तीभूयाऽत्यजद्वपुः ॥४॥
चित्तं तु गगनाच्छात्म वपुर्विद्ध्यातिवाहिकम् ।
तदेव वाऽस्ति नेहाऽन्यदाधिभौतिकतादिकम् ॥५॥
चित्तमेतदनाकारमपि साकारवत्स्थितम् ।
संकल्पैः परलोकाद्यैः स्वप्नाद्यैरेतदेव सत् ॥६॥
अनाकारमपि स्फारं चित्तं जगदिदं विदुः ।
य एव पवनो नाम स एव स्पन्दनं यथा ॥७॥
यथा गगनशून्यत्वे जगच्चित्ते तथैककम् ।
अत्र प्रतिघरूपेऽस्ति न मनागपि भिन्नता ॥८॥

आद्यन्त रहित निर्विकार ब्रह्मशब्दवाच्य मन और वचन का अगोचर सत् ही तुम, मैं इत्यादिरूप से स्थित है अर्थात् सर्वात्मा है । अर्थात् पूछी गई सिन्धु के जीव की प्राक्तन स्थिति का वर्णन करने के लिए ब्रह्म ही उपाधि के संसर्ग से जीवभाव को प्राप्त होता है यह कहने की इच्छा से आद्य ब्रह्मरूप स्थिति को दिखलाते हैं ॥३॥

वह ब्रह्म मैं चित् हूं, इसलिए चेतूं ऐसी संकल्पसंवित् को स्वयं ही प्राप्त होकर समष्टि-व्यष्टि चित्त बनकर चित्तरूप उपाधि में, उपाधि का त्याग न करता हुआ, जीव-सा होकर रहता है ॥४॥

आकाश के समान निर्मल चित्त को तो आप आतिवाहिक शरीर जानिये ।

शङ्का—तब यह स्थूल शरीर क्या है ?

समाधान—केवल चित्तरूप आतिवाहिक शरीर ही है उससे अतिरिक्त आधिभौतिक आदि शरीर यहाँ नहीं हैं । अर्थात् वह शरीर (उपाधि) कौन है जिसका त्याग न करता हुआ जीवता को प्राप्त हुआ है ॥५॥

वह चित्त ही परलोक, इहलोक आदि तथा स्वप्न, जाग्रत्, जीवन, मरण, भोग, मोक्ष आदि संकल्पों से निराकार होकर भी साकार जगत् की तरह स्थित है ॥६॥

अनाकार चित्त को वैसे ही यह महान् जगत् है, ऐसा ऐसा जानते हैं । जैसे तत्त्वज्ञ लोग जो ही वायु है वही स्पन्दन है यह जानते हैं । अर्थात् इस रहस्य का ज्ञान तत्त्वज्ञानियों को ही हो सकता है, उनसे अन्य को नहीं हो सकता ॥७॥

जगत् और चित्त दोनों वैसे ही एक ही हैं, अभिन्न ही हैं । जैसे आकाश और शून्यता दोनों एक ही हैं । अप्रतिघरूप जगत् के आकार की कल्पना में निरङ्कुश सामर्थ्य वाले चित्त में तनिक भी भिन्नता द्वितीयता नहीं है ॥८॥

हृदयस्थं जगज्जालं न किंचित्किंचिदास्थितम् ।
जगद्विद्धि निराकारं चित्तमेव न वास्तवम् ॥९॥
सत्त्वमेव वपुः पूर्वमुदितं ब्रह्मणः पदात् ।
अयमेव स संपन्नो योऽद्य तामसतामसः ॥१०॥

सिन्धुर्वक्ष्यति

किमुच्यते महाभाग ! वद तामसतामसः ।
क्रियन्ते पूर्वमेवैताः केन संज्ञाः परे पदे ॥११॥

मन्त्री वदिष्यति

जन्तोः सावयवस्येह हस्ताद्यवयवा यथा ।
तथाऽनवयवस्यैवमातिवाहिकताऽऽत्मनः ॥१२॥
पश्चादात्मनि सैवाऽऽत्मा नाना संज्ञाः करिष्यति ।
आधिभौतिकतानाम्नि पृथ्व्याद्या आतिवाहिके ॥१३॥

मिथ्या होने के कारण अकिञ्चित् हृदयस्थ वासनारूप जगत्-जाल बाहर की तरह कुछ-सा स्थित है । जगत् को आप निराकार जानिये, क्योंकि उसका सर्जनहार चित्त ही वास्तविक नहीं है ॥९॥

प्रथम सृष्टि के समय सात्त्विक देवताओं से रचितरूप होने के कारण सत्त्वरूप हिरण्यगर्भ का समष्टिशरीर ब्रह्मपद से उदित हुआ । यह समष्टिरूप ही व्यष्टिभाव में तामस विषयों पर आसक्तिवश पहले उत्पत्तिप्रकरण में उक्त रीति के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह विभागों के क्रम से आज आपका तामस-तामस जीव हो गया है ॥१०॥

सिन्धु कहेगा—हे महाभाग ! तामस-तामस क्या कहा है ? यह कृपया मुझ से कहिये परमपद में ये संज्ञाएं पहले ही किस ने कीं ॥११॥

मन्त्री कहेगा—जैसे यहाँ सावयव जन्तु के हस्त आदि अवयव हैं, वैसे ही अवयवविहीन आत्मा की आतिवाहिकता है अर्थात् अपरिच्छिन्न आत्मा की हिरण्यगर्भ रूप से माया द्वारा परिच्छिन्नता करने पर हिरण्यगर्भ ही सब संज्ञाएँ करता है ॥१२॥

फिर आत्मा में अर्थात् स्वव्यष्टि जीवों में यह समष्टिरूप आत्मा ही नाना संज्ञाएँ करेगा और आतिवाहिक समष्टिभूत स्वदेह के पञ्चीकरण द्वारा आधिभौतिक नाम धारण करनेपर उनके अवयवों में पृथिवी आदि संज्ञाएँ करेगा ॥१३॥

स्वप्नाभेऽस्मिञ्जगद्भाने संकल्पेनाऽऽत्मरूपिणा ।
संज्ञात्मनाऽऽत्मरूपेण स्वयं व्यवहरिष्यति ॥१४॥
त्वामातिवाहिकाकारा यत्तत्स्फुरितवास्नवम् ।
जातिर्महातमस्कोऽयमिति तत्राऽऽभिधा कृता ॥१५॥
ब्रह्मणो निर्विकारस्य विकारिण इव प्रभो ! ।
जातयो जीवतापत्तौ कलिता विविधाभिधाः ॥१६॥
प्राथम्येनैव यद् ब्रह्म जीवतामिव गच्छति ।
तदैव बुद्धचा भोक्ता तज्जातिः सात्त्विकसात्त्विकी॥१७॥
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्युक्ता तु मानद ! ।
केवला सात्त्विकी प्रोक्ता जातिर्जातिविदां वरैः ॥१८॥
नवा भवैश्चेद् बहुभिर्भोगमोक्षैकभागिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्भी राजसराजसी ॥१९॥
वर्तमाने भवे भव्यगुणैर्मुक्ता तु मानद ! ।
केवला राजसी प्रोक्ता जातिः स्वल्पभवे भवेत् ॥२०॥
प्रथमाऽत्यन्तबहुभिभवैश्चेन्मोक्षगामिनी ।
जातिस्तत्प्रोच्यते तज्ज्ञैः सद्भिस्तामसतामसी ॥२१॥
सामान्येनैव बहुभिर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी ।
केवला तामसी प्रोक्ता जातिर्जातिविशारदैः ॥२२॥
क्रमेणाऽनेन जातीनां विविधा भेदकल्पना ।
तासां तामसतामस्यां जातो जातोऽसि मानद ! ॥२३॥
बहूनि तव जन्मानि समतीतानि तान्यहम् ।
विविधानि विचित्राणि वीर जानामि नो भवान् ॥२४॥
विशेषेण त्वनेनैष व्यर्थं कालोऽतिवाहितः ।
महाशवशरीरेण त्वयाऽनन्तखगामिना ॥२५॥

वही आत्मरूपी संकल्प से स्वप्नतुल्य यह जगद्भान होनेपर नाम-रूप की कल्पना कर आत्मरूप व्यष्टिभाव से स्वयं ही व्यवहार करेगा ॥१४॥

व्यवहार में व्यष्टिभावकल्पना होनेपर तुम्हें लक्ष्य कर सृष्टिसंकल्प से व्यष्टिभाव से हिरण्यगर्भ महातमा स्फुरित हुआ इसी कारण तुम्हारी आतिवाहिकाकार जाति तामस-तामसी नाम से प्रसिद्ध की गई ॥१५॥

हे प्रभो ! निर्विकार ब्रह्म के विकारी से होकर जीव-भाव को प्राप्त होनेपर विविध नाम की जातियों की कल्पनाएँ की गई, केवल यही एक संज्ञा नहीं हुई; किन्तु ब्रह्म का जीवभाव होनेपर भिन्न उपाधियों के गुणों के अनुसार राजस, सात्त्विक आदि तेरह संज्ञाएँ की हैं ॥१६॥

यदि कल्प के आदि मे सर्वप्रथमतः ही ब्रह्म जीवता को प्राप्त हो तो उसी जन्म में स्वाभाविक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त बुद्धि स विषयभोग करनेवाला जीव उसी जन्म में मुक्तिलाभ करता है। उसकी जाति सात्त्विक-सात्त्विकी होती है, जैसे कि सनक, सनन्दन आदि की, अर्थात् मुक्ति की शीघ्रता और विलम्ब में प्रयोजक चित्त के गुण और दोषों के कारण ही जीवों के जातिभेदों की कल्पना हुई, यह दिखलाते हुए उनमें पाँच जातियों को विभाग कर दिखाया है ॥१७॥

हे सम्मानप्रद ! कुछ समय तक जन्म के हेतु अज्ञान के रहनेपर उसी जन्म में ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सुन्दर गुणों से युक्त हो यदि मुक्ति होती है तो वह जाति की जानकारी रखनेवालों में श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा केवल सात्त्विक जाति कही जाती है ॥१८॥

जो जाति कल्पादि में नूतन रूप से प्रकट बहुत जन्मों द्वारा भोगों के भोगनेपर क्रमशः मोक्षभागिनी होती है, जातिज्ञ विद्वान् उस जाति को राजस-राजसी जाति कहते हैं ॥१९॥

दश पाँच जन्म के परवर्ती काल तक उस कल्प में विवेक आदि उत्तम गुणों से मुक्त जो जाति बहुत से जन्मों के बाद विवेक आदि उत्तम गुणों को प्राप्त करती है, वह केवल राजसी जाति है ॥२०॥

कल्पादि से लेकर अति प्रचुर स्थावर, कीट, पतङ्ग आदि योनियों से अन्त में मोक्षभागिनी हो तो जाति जाननेवाले सज्जन उस जाति को तामसतामसी कहते हैं ॥२१॥

तुच्छ राक्षस, पिशाच, शूद्र आदि अनेक जन्मों से यदि मोक्षभागिनी हो तो जातिविशारद उस जाति को केवल तामसी कहते हैं ॥२२॥

हे सत्कारकारिन् ! इस क्रम जातियों के अनेक भेदों की कल्पना है। उन जातियों में से आप इस तामस-तामसी जाति में उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥

हे महाराज ! आपके अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे वीर, उन विविध विचित्र जन्मों को मैं जानता हूँ, आप उन्हें नहीं जानते ॥२४॥

इसी भेद से महाशवशरीरवाले तथा असीम आकाश-गामी आपने यह समय व्यर्थ बिताया है ॥२५॥

एवं तामसतामस्या जात्याऽसि जनितो यदा।
तदा दुर्लभमोक्षस्त्वं संसारकुहरादिति ॥२६॥

सिन्धुर्वदिष्यति

आर्योदाहर केनैषा प्राग्जातिर्जीयतेऽधमा।
यावत्तथैव तिष्ठामि स्याच्चेत्तद्वद पावनम् ॥२७॥

मन्त्री वदिष्यति

न किंचन महाबुद्धे! तदस्तीह जगत्त्रये।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥२८॥
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा।
अद्यैव प्राक्तनीं तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान् भव ॥२९॥
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥३०॥
ना यथा यतते नित्यं यद्भावयति यन्मयः।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति नाऽन्यथा ॥३१॥

मुनिरुवाच

एवमुक्तः स तेनाऽथ सिन्धुरुद्धुरया धिया।
तदा तत्र तथा नाम राष्ट्रं त्यक्ष्यत्यशेषतः ॥३२॥
गमिष्यति वनं दूरं प्रार्थितोऽपि हि मन्त्रिभिः।
नाऽऽश्रयिष्यति तद्भूयो राज्यमुच्छिन्नशात्रवम् ॥३३॥
तिष्ठतः साधुमध्येऽस्य तद्विवेककथावशात्।
पुष्पासङ्गादिवाऽऽमोदो विवेकः समुदेष्यति ॥३४॥
ततः कथमिदं जन्म कुतः संसार आगतः।
इत्थं विचारसांतत्यात्स यास्यति विमुक्तताम् ॥३५॥

नित्यं विचारणपरोऽथ भवन्स सिन्धुः
सत्सङ्गमेन पदमाप्स्यमि पावनं सः।
तद्यत्र पत्रमिव वातविधूयमानं
नो वस्तुतां व्रजति काचन नाम लक्ष्मीः ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० श्व० सिन्धुसंबोधनं नाम सप्तपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५७॥

इस प्रकार जब आप तामसतामस जन्म से उत्पन्न हुए हैं, तब आपका इस संसाररूपी गर्त से छुटकारा पाना दुर्लभ है ॥२६॥

सिन्धु कहेगा—यह प्राक्तन अधम तामसतामसी जीव-जाति किस उपाय से दबाई जा सकती है। हे आर्य, उस उपाय को कहिये। यदि वैसा कोई शोधक प्रकार होगा तो मैं जीवनभर उसी प्रकार से रहूँगा। अतएव कृपया उसे कहिये ॥२७॥

मन्त्री कहेगा—हे महामते! इस त्रिलोकी में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित निर्वेदरहित पुरुष-प्रयत्न से उपलब्ध न हो सके ॥२८॥

आप भी उसी पौरुष प्रयत्न से प्राक्तन अधम जातिपर विजय पाकर वैसे ही सत्कार्यवान् होइए जैसे आज के सत्कर्म से कल का दुष्कर्म शोभन होता है, मिट जाता है ॥२९॥

जो जिस पदार्थ की अभिलाषा करता है उसके लिए वह वैसा ही प्रयत्न करता है यदि वह थक कर बीच में ही निवृत्त न हो जाय तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥३०॥

मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है और तन्मय होकर जैसी भावना करता है और जैसा होने की इच्छा करता है वैसा ही होता है अन्यथा नहीं होता है ॥३१॥

मुनि ने कहा—इसके बाद मन्त्री द्वारा इस प्रकार उक्त वह राजा सिन्धु राज्यभारविहीन बुद्धि से उसी समय वहीं पर सारे राज्य को तिलाञ्जलि दे देगा ॥३२॥

दूर वन में चला जायगा, मन्त्रियों के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी फिर निष्कंटक उस विशाल राज्य को नहीं अपनाएगा ॥३३॥

साधुओं के बीच में सत्संग कर रहे सिन्धु में उनकी विचारपूर्ण ज्ञानमय कथाओं से फूलों के संसर्ग से सुगन्ध की तरह विवेक उत्पन्न हो जायगा ॥३४॥

अनन्तर कैसे यह जन्म हुआ, कहाँ से संसार आया, यों निरन्तर विचार करने से वह जीवन्मुक्त हो जायगा ॥३५॥

वह राजा सिन्धु सत्संगतिवश नित्य विचारनिम्न होकर परम पावन उस मोक्षपद को प्राप्त होगा जिस मोक्षपद में हिरण्यगर्भ तक का ऐश्वर्य वायु से उड़ रहे सूखे पत्ते की तरह उपादेय नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है ॥३६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० शवोपाख्यान में सिन्धुसंबोधन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सो सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५७॥

१५८

मुनिरुवाच

एतत्त कथितं सर्वं भविष्यद्भूतवत्तव।
यथेच्छसि तथेदानीं व्याध ! साधु विधीयताम् ॥१॥

अग्निरुवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा विस्मयाकुलचेतनः।
क्षणं स्थित्वा जगामाऽऽशु स्नातुं व्याधस्तथा मुनिः॥२॥
इति तौ चेरतुस्तत्र तपः शास्त्रविचारणैः।
अकारणसुहृद्भुतावुभौ व्याधमहामुनी ॥३॥
अथाऽल्पेनैव कालेन मुनिर्निर्वाणमाययौ।
देहं त्यक्त्वाऽपदेशान्ते परे परिणतिं गतः॥४॥
कालेन बहूनाऽन्येन ततो युगशतात्मना।
व्याधस्य कामनां दातुं पद्मजन्मा समाययौ॥५॥
व्याधः स्ववासनावेशं निवारयितुमक्षमः।
जानन्नपि वरं पूर्वं वर्णितं समयाचत॥६॥
ब्रह्मैवमस्त्विति प्रोच्य ययावभिमतां दिशम्।
व्याधस्तपः फलं भोक्तुं खगवद् व्योम पुप्लुवे॥७॥
वर्धमानेन देहेन जगत्पारे महानभः।
वेगादगणितं कालं पूरयामास शैलवत्॥८॥
महागरुडवेगेन तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
व्योम पूरयतस्तस्य कालो बहुतरो ययौ॥९॥
अथ दीर्घेण कालेन यदाऽविद्याभ्रमस्य सः।
अन्तं न समवाप्नोति तत्रोद्वेगमुपाययौ॥१०॥
उद्वेगादथ बद्ध्वाऽसौ प्राणरेचनधारणाम्।
प्राणांस्तत्याज नभसि शवीभूतमधोवपुः॥११॥

१५८

मुनि ने कहा—हे व्याध ! यह सब भविष्य में होनेवाली घटना का अतीत की तरह मैंने तुम से वर्णन किया। इस समय जैसा तुम चाहते हो वैसा सोच समझकर भली भाँति करो ॥१॥

अग्नि ने कहा—हे विपश्चित् ! मुनि के पूर्वोक्त वचन सुनकर मारे आश्चर्य के घबड़ाया हुआ व्याध एक क्षण सोचकर शीघ्र स्नान करने के लिए गया और मुनिजी भी स्नानार्थ गये ॥२॥

बिना किसी कारण के आपस में मित्र बने हुए व्याध और महामुनि दोनों ने इस प्रकार शास्त्र चिन्तन करते हुए तपस्या की ॥३॥

इसके बाद मुनिजी तो थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त हो गये। वे आयु के अवसान में अपनी पाञ्चभौतिक देह छोड़कर परम पद में लीन हो गये। अर्थात् यद्यपि यहाँ पर यथाश्रुत ग्रन्थ के अनुसार पहले मुनि का शरीर त्याग, उसके अनन्तर चिरकाल के बाद व्याध की मनोकामना पूर्ण करने के लिए ब्रह्माजी का आगमन प्रतीत होता है तथापि पूर्व सर्ग में मुनिजी ने जो भविष्यवाणी की थी उसमें व्याध के वर पाने के बाद "मामापृच्छ्यत्वम-स्कृत्य" अर्थात् मुझे पूछकर नमस्कार कर उसी क्षण में वह तुम चित्त में वासनारूप से स्थित पदार्थ को देखने की इच्छा से आकाश में उड़ोगे, ऐसा मुनि ने कहा है, अतएव व्याध के ऊपर जाने के समय मुनिजी का जीवन था ही उसके पीछे ही उनका देहत्याग हुआ ऐसा समझें ॥४॥

अनन्तर सौ युगरूप चिरकाल में व्याध की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए भगवान् ब्रह्मा आये ॥५॥

बेचारा व्याध अपनी वासना का वेग रोक नहीं सका, अतएव मुनिजी द्वारा पहले व्यर्थरूप से वर्णित वर को जानते हुए भी उसने वही वर ब्रह्माजी से माँगा ॥६॥

श्री ब्रह्माजी ऐसा ही हो यों वाञ्छित वर उसे देकर अपने लोक को सिधारे एवं व्याध अपनी तपस्या का फल भोगने के लिए पक्षी की तरह आकाश उड़ा ॥७॥

उसने पर्वत की तरह वर के अनुसार निरन्तर बढ़ रहे शरीर से त्रैलोक्य से ऊपर अव्याकृत आकाश को बड़े वेग से अगणित समय में पूर्ण कर पाया ॥८॥

गरुड़ के महावेग से तिरछे, ऊपर और नीचे आकाश को पूर्ण करने में उसका बहुत समय व्यतीत हुआ ॥९॥

इसके बाद जब चिरकाल में भी उसे अविद्यारूप भ्रम का अन्त प्राप्त नहीं हुआ तब तो उसका अन्त देखने के विषय में उसने अपनी हार मान ली, उसे वैराग्य हो गया ॥१०॥

अनन्तर वैराग्य होने के कारण प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने वाली योग धारणा बाँधकर उसने आकाश में प्राणों का त्याग किया और नीचे भूमितल में शवभूत अपने शरीर का त्याग किया ॥११॥

चित्तं प्राणान्वितं व्योम्नि ययौ तत्रैव सिन्धुताम् ।
विदूरथारिरूपां तामखिलावनिपालिनीम् ॥१२॥
देहो मेरुशताकारमहाशव इवाऽभवत् ।
द्वितीयोर्वीनिभो व्योम्नः पपाताऽशनिवज्रवत् ॥१३॥
पिधानमिव कस्योर्वीवीथो कस्मिंश्चिदम्बरे ।
केशोण्ड्रकवदाभातः कस्मिंश्चिज्जागते भ्रमे ॥१४॥
आकारपूरिताशेषवसुधाचलमण्डलः ।
विपश्चिच्छ्रेष्ठकथितमेतत्ते तन्महाशवम् ॥१५॥
यस्मिञ्छवं संपतितं जगत्यवनिमण्डले ।
तदिदं जगदाभातमस्माकं स्वप्नपूर्यथा ॥१६॥

तदेतच्छवमास्वाद्य शुष्का पूर्णा महोदरी ।
संपन्ना चण्डिका देवी रक्ता रक्तान्त्रपूरिता ॥१७॥
मेदिनो मेदिनी जाता शवस्यैतस्य मेदसा ।
पूरिताऽपूर्वरूपेण हिमवद्गिरिरूपिणा ॥१८॥
तदैवैतन्महामेदो मृद्धातुत्वमुपागतम् ।
कालेन वसुधा भूयो भूत्वा मृन्मयतां गता ॥१९॥
भूयः प्रजातानि वनानि भूमौ
ग्रामाः कृताः पत्तनसंयुताश्च ।
पातालतः साधु समुत्थितास्ते
शैलाः प्रवृत्ता व्यवहारलक्ष्मीः ॥२०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० श०
शवनिर्णयो नामाऽष्टपञ्चाशदधिकशततमः सर्गः ॥१५८॥

उसका प्राणवायु से युक्त चित्त उसी अव्यक्ताकाश में सम्पूर्ण पृथिवी का पालन करने वाली तथा राजा विदूरथ की शत्रुभूत पूर्वोक्त सिन्धुता को प्राप्त हुआ ॥१२॥

सैकड़ों मेरु पर्वतों से आकार का उसका शरीर महाशव-सा हुआ । दूसरी पृथ्वी के सदृश विशालकाय वह आकाश से वज्र की भाँति नीचे गिरा ॥१३॥

ब्रह्मा के किसी जागत भ्रमरूप किसी आकाश में केशों के गोले के समान प्रतीत हुआ, जो गिरने के पहले पृथिवी में उतरने की सीढ़ी के समान और गिरने के बाद पृथिवी के विशाल ढकने के समान स्थित था ॥१४॥

उस शव ने अपने आकार से सारी पृथिवी और पर्वतों को आच्छन्न कर दिया । हे श्रेष्ठ ! हे विपश्चित् ! यह मैंने उस महाशव का तुमसे वर्णन किया ॥१५॥

जिस भूतलरूप जगत् में वह शव गिरा वही हम लोगों की स्वप्ननगरी के समान जगत् के रूप में स्फुरित हुआ ॥१६॥

उसी महाशव का भक्षण कर पहले तिनके की तरह सूखी हुई भगवती चंडिका देवी भरी-पूरी होकर बड़ी तोंद वाली तथा रुधिर और अँतड़ियों से पूर्ण होकर लाल हो गई ॥१७॥

इस शव के ही हिमालय पर्वत के समान प्रचुर मेदे से पूर्ण हुई पृथिवी मेदिनी नाम से प्रख्यात हो गई ॥१८॥

तभी यह महामेदा मिट्टी बन गया फिर समय पाकर यह पृथिवी उत्पन्न हो मिट्टी की हो गई ॥१९॥

महाशव के गिरने से पहले के वन आदि विनष्ट हो चुके थे, अतः फिर से वन उगे, फिर से नगरों के साथ गाँव बसाये गये । पहले चूर-चूर हुए पर्वत फिर से जैसे पहले थे उसी रूपरेखा में पाताल से बाहर निकले । तदुपरान्त लोगों का कारबार चलने लगा ॥२०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० शवोपाख्यान में शवनिर्णय नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ अठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५८॥

१५९

अग्निरुवाच

विपश्चिच्छ्रेष्ठ भो साधो ! त्वं गच्छाऽभिमतां दिशम् ।
स्थिरं भूमण्डलं भूयः प्रकृतव्यवहारवत् ॥१॥
यज्ञं यष्टुं प्रजौघस्य शक्रः शततमं दिवि ।
तत्राऽऽहूतोऽस्मि मन्त्रेण गच्छामि गतिकोविद ! ॥२॥

१५९

अग्नि ने कहा—हे श्रेष्ठ हे विपश्चित् ! तुम स्थिर होने से फिर प्रस्तुत व्यवहार से सम्पन्न भूतल में पहुँचकर स्वाभिमत दिशा को जाओ । प्रजावर्ग के स्वामी देवराज इन्द्र सौवाँ यज्ञ करने को प्रस्तुत हैं, उन्होंने उसमें मन्त्र द्वारा मुझे निमन्त्रित किया है, अतः हे गतिकोविद, मैं वहाँ जाता हूँ ॥१, २॥

भास उवाच

इत्युक्त्वा भगवानग्निस्तत्रैवाऽन्तरधीयत।
गगने निर्मले याति अनलो वैद्युतो यथा ॥३॥
तथाऽहमपि चित्तेन प्राक्तनांश्च स्वयं वहन्।
पुनः स्वकर्म निर्णेतुं भ्रमन्व्योमनि संस्थितः ॥४॥
भूयोऽपि दृष्टवानस्मि जगन्त्यगणितानि खे।
नानाचारविचाराणि नानासंस्थानवन्ति च ॥५॥
क्वचिच्छत्रमयाङ्गानि एकीभूतानि भूपते!।
भान्ति चेतन्ति चोपन्ति हृदयानि हरन्ति च ॥६॥
क्वचिन्मृन्मयदेहानि सर्वभूतानि राघव!।
भान्ति चेतन्ति चोपन्ति पर्वतप्रतिमानि च ॥७॥
क्वचिद्दारुमयाङ्गानि भान्ति भूतानि कुत्रचित्।
क्वचित्पाषाणदेहानि सन्ति भूतानि भूरिशः ॥८॥
क्वचिदाजीवमेकत्र स्थितान्युपलदेहवत्।

भास ने कहा—हे भगवन्! अग्नि यह कहकर मूर्तिरूप से वहीं पर अन्तर्हित हो गये तथा अग्नि के रूप से वैद्युत (बिजली की) अग्नि की तरह निर्मल आकाश में गये ॥३॥

और में भी चित्त में अपने प्राक्तन अविद्या के अन्त दर्शनविषयक संस्कारों को स्वयं धारण करता हुआ फिर अपना दिगन्तगमनरूप कर्म करने के लिए आकाश में घूमने लगा ॥४॥

मैंने आकाश में असंख्य जगतों को देखा। उन सबके भिन्न-भिन्न आचार-विचार थे और भिन्न-भिन्न रूपरेखाएँ थीं ॥५॥

हे महाराज दशरथ! कहीं पर परस्पर मिले हुए (एकत्र हुए) छत्रमय अङ्गवाले प्राणी भासते थे, उनमें चेतना थी, वे मन्द मन्द गति से चलते थे और दर्शकों के हृदयों को हरते थे ॥६॥

हे रघुकुलतिलक! कहीं पर पर्वत के समान आकार वाले सब प्राणी पार्थिव देहधारी प्रतीत होते थे, उनमें चेतना थी और वे मन्द मन्द गति से चलते थे। कहीं पर काष्ठमय जीव शोभा पाते थे, तो कहीं पर पाषाणमय शरीरवाले अनेक प्राणी थे। कहींपर जीवनभर प्रस्तर प्रतिमा के समान सब एक ही जगह स्थित रहते थे। उनका परस्पर संभाषण आदि द्वारा केवल वाङ्मात्र का व्यवहार होता था, गमन, आगमन आदि व्यवहार उनमें नहीं था। इन सबको मैंने स्वचित्ताकाश में देखा ॥७-९॥

वाङ्मात्रव्यवहाराणि भूतान्यालोकितानि खे ॥९॥
इत्यहं सुचिरं कालं पश्यन्नश्यन्मनस्तया।
अविद्यान्तमपश्यंश्च तत्रोद्विग्नोऽभवं दृशाम् ॥१०॥
तपः कर्तुं समुद्युक्तः कस्मिंश्चिन्मोक्षसिद्धये।
प्राहेन्द्रो मम चैवेदं मृगयोन्यन्तरं हि खे ॥११॥
प्रवृत्तः स्वर्गसंमोहे पूर्वाभ्यासवशीकृतः।
मन्दारकानने तत्र भ्रमतो वै ममाऽम्बरे ॥१२॥
तेनेत्युक्ते मया प्रोक्तं देव! खिन्नोऽस्मि संसृतेः।
मुच्येयं शीघ्रमित्युक्तं श्रुत्वोवाच ततो मम ॥१३॥
विशुद्धात्मा त्वरूपोऽहमिति चैव हुताशनात्।
वरं गृहाणेत्युक्ते स ततोऽन्यं याचितो मया ॥१४॥

इन्द्र उवाच

तवेयं मृगयोन्यन्तश्चिरं संसरते चितिः।
अवश्यं भवितव्योऽयं इति दृष्टो मया तव ॥१५॥

इस प्रकार चिरकाल तक देख रहा स्वप्न की तरह मनोमात्र देह होने के कारण नष्ट हो रहा मैं अविद्या का अन्त न पाकर अविद्या तथा दृश्यवर्ग के विषय में निर्वेद को प्राप्त हो गया ॥१०॥

इस प्रकार निर्वेद को प्राप्त हुआ मैं किसी एकान्त स्थान में जाकर मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्वालोचन-तपस्या करने के लिए तत्पर हुआ। तदनन्तर इन्द्र ने मुझसे कहा—हे विपश्चित, चित्ताकाश में मेरी और तुम्हारी मृगरूप दूसरी योनि उपस्थित है, इसलिए यह आत्मतत्त्व-विचार का अवसर नहीं है ॥११॥

प्राक्तन अभ्यास से विवश हुआ मैं भी स्वर्गभोगयुक्त संमोह में दुर्वासाजी के अपराध में प्रवृत्त हूँ। आकाश में मन्दारवन में घूम रहे मेरी उस मोह में प्रवृत्ति हो गई ॥१२॥

उनके देवराज इन्द्र के कहने पर मैंने उनसे निवेदन किया देवाधिदेव, मैं संसार से ऊब गया हूँ, अतः शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ. मेरा यह कथन सुनकर उन्होंने मुझसे कहा ॥१३॥

शीघ्र मुक्ति तो 'मैं तीन अवस्थाओं से और मूर्त-अमूर्त रूप से रहित विशुद्ध आत्मा ही हूँ' इस तत्त्वज्ञान से ही होती है। यह तुमने पहले व्याधमुनि संवाद वर्णन के प्रसङ्ग से अग्निदेव के मुखारविन्द से सुना ही है। इसलिए तुम दूसरा वर मांगो ऐसा इन्द्र के कहने पर मैंने उनसे अन्य यानी मृगता के बाद मेरा आगे क्या होगा यह परिज्ञानरूप वर मांगा ॥१४॥

इन्द्र ने कहा—हे विपश्चित्! तुम्हारी यह चिति चिरकाल से मृगयोनि—तक ही संसार में आना चाहती है। मैंने तुम्हारा यह अवश्यभावी वृत्तान्त देख लिया है ॥१५॥

मृगो भूत्वा महापुण्यां तां सभां समवाप्नवान्।
यस्यां तवहृतं ज्ञानं मदुक्तं बोधमेष्यति ॥१६॥
तदेवं तत्र हरिणो भवातंस्त्वं भवाऽवनौ।
आत्मोदन्तमिदं वन्ध्यं सकलं संस्मरिष्यसि ॥१७॥
स्वप्नभ्रममिवाऽशेषसंकल्पचितोपमम् ।
परलोकानुभूतार्थकथायातार्थसंनिभम् ॥१८॥
यदा तु मृगतोन्मुक्तः पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
ज्ञानाग्निदग्धदेहान्ते तदा हृत्स्थं स्फुरिष्यति ॥१९॥
तेन तां स्वमविद्याख्यां भ्रांति त्यक्त्वा चिरं स्थिताम्।
भविष्यसि विनिर्वाणो गतस्पन्द इवाऽनिलः ॥२०॥
इत्युक्ते तेन देवेन तदैव प्रतिभोदभूत्।
ममाऽयं हरिणोऽस्मीति वनेऽस्मिन्निति निश्चिता ॥२१॥
ततः प्रभृति संपन्नस्तत्रैवाऽन्तरकोणके।
हरिणोऽहं गिरिवरे तृणदूर्वाङ्कुराशनः ॥२२॥
ततः सीमान्तसामन्तमागतं मृगयार्थिनम्।
दृष्ट्वाऽहमेकदा भीतः पलायनपरोऽभवम् ॥२३॥

मृग होकर तुम राजा दशरथ की महापुण्यसभा में पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा गया वह अखण्ड ज्ञान तुम्हारी समक्ष में आजायगा ॥१६॥

संसार से खिन्न हुए तुम उस पृथिवीतल न हरिण बनो। इस क्रम से सभा को प्राप्त होकर वसिष्ठजी के अनुग्रह से यह सारा व्यर्थ आत्मवृत्तान्त तुम्हारे स्मृतिपथ में आरूढ़ होगा ॥१७॥

तुम्हारा उक्त वृत्तान्त स्वप्न की तरह, सारा का सारा मनोरथों द्वारा निर्मित-सा और परलोक में अनुभूत अर्थ के कथाप्रवाह में पतित अर्थ के तुल्य निष्फल है ॥१८॥

जब तुम मृगयोनि से मुक्ति पाकर पुरुष होओगे तब ज्ञानाग्नि द्वारा देह के दग्ध होनेपर हृदयस्थ आत्मतत्त्व तुम्हें स्फुरित होगा ॥१९॥

आत्मतत्त्व के स्फुरण से चिरकाल से हृदय में स्थित अविद्यानामक भ्रान्ति का त्यागकर स्पन्दशून्य वायु के समान निश्चल हुए तुम निर्वाण को प्राप्त होओगे ॥२०॥

उक्त देवराज इन्द्र के यों कहनेपर उसी क्षण में 'यह मैं इस वन में हरिण हूँ' ऐसी मेरी निश्चित (व्यावहारिक अर्थक्रिया में समर्थ) प्रति प्रतिभा उद्भूत हुई ॥२१॥

तब से लेकर वहीं पर्वत पर मैं मन्दार के वन के भीतरी कोनों में तिनके और दूब के अंकुर चलनेवाला हरिण हो गया ॥२२॥

अनन्तर किसी एक समय शिकार खेलने के लिए आये हुए सीमावर्ती सामन्त को देखकर मारे डर के मैं

ततस्तेन समाक्रम्य गृहं नीत्वा दिनत्रयम्।
संस्थाप्य तव लीलार्थमिहाऽऽनीतो रघूद्वह ! ॥२४॥
एष ते कथितः सर्व आत्मोदन्तो मयानघ !।
संसारमायाप्रतिमो नानाश्चर्यरसान्वितः ॥२५॥
अविद्यैवमनन्तेयं शाखाप्रसरशालिनी।
आत्मज्ञानादृते नैव केनचिन्नाम शाम्यति ॥२६॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

यदा विपश्चिदित्युक्त्वा तत्र तूष्णीं स्थितः क्षणात्।
समवोचत्तदा रामस्तमनिन्द्यमतिस्त्विदम् ॥२७॥

श्रीराम उवाच

एवं पश्यत्यसंकल्पो योऽन्यसंकल्प आत्मनि।
मृगश्चेद्दृश्यतां यातः कथं सर्गे वद प्रभो ! ॥२८॥

विपश्चिदुवाच

महाशवं यत्पतितं यस्मिञ्जगति भूतले।
तां भुवं पूर्वमिन्द्रेण यज्ञगर्वेण गच्छता ॥२९॥

चौकड़ी मारकर भागा ॥२३॥

हे रघुवर ! अनन्तर उसने मुझे पकड़कर घर ले जाकर तीन दिन अपने घर रक्खा, फिर वह आपकी क्रीड़ा के लिए मुझे यहाँ लाया ॥२४॥

हे निष्पाप ! मैंने आपसे अपना यह सारा वृत्तान्त, जो संसार में प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक की माया के तुल्य विविध आश्चर्यों से पूर्ण है, कह दिया है ॥२५॥

इस प्रकार नाना शाखा-प्रशाखाओं से युक्त यह अविद्या अनन्त है, इसका आरपार नहीं है यह आत्मज्ञान के सिवा अन्य किसी उपाय से शान्त नहीं हो सकती ॥२६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—जब विपश्चित् यह कहकर वहाँ पर क्षणभर चुप हुआ तब श्लाघ्यमति श्रीरामचन्द्रजी ने उससे यह कहा ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—अन्य का संकल्पभूत यह मृग यदि हम लोगों का दृष्टिगोचर हुआ है तो ऐसी स्थिति में असंकल्प पुरुष भी अन्य के संकल्परूप सृष्टि में वस्तुएँ देख सकता है, यह अर्थात् सिद्ध हुआ। भला यह कैसे हो सकता है ? कृपाकर कहे ॥२८॥

विपश्चिद् ने कहा—जिस जगत् में भूतल में वह महाशव गिरा शव गिरने में पहले उस भूमि की ओर मन्दारवन में स्वकृत यज्ञों की यजमानता के घमण्ड से अन्धे की तरह चल रहे इन्द्र ने यह मुनि हैं यह ज्ञान न होने के कारण यह मुर्दा है यों तिरस्कार से आकाश में ध्यान में बैठे हुए दुर्वासा ऋषिजी को पैर से ठोकर मार दी, इस कारण ऋषि क्रुद्ध हो

पादेनाऽभिवतो व्योम्नि दुर्वासा ध्यानसंस्थितः ।
गतासुरित्यविज्ञानात्तेनाऽसौ कुपितोऽशपत् ॥३०॥

शक्र शक्राऽवनितलं ब्रह्माण्डप्रतिमं शवम् ।
अचिरेण महाघोरं तव चूर्णीकरिष्यति ॥३१॥

मामिमं शवबुद्धया त्वं यदतिक्रान्तवानतः ।
शापेन मम तां पृथ्वीं शीघ्रमासादयिष्यसि ॥३२॥

मृगार्थं तेन मुनिना तथा देवेति सद्यथा ।
यत्तया कथयाऽऽख्यातं तदैव विषयं दृशाम् ॥३३॥

वस्तुतस्तु न चैकं सन्न द्वितीयं न चाऽप्यसत् ।
सा तथा प्रतिभोदेति किं सत्किमथवाऽप्यसत् ॥३४॥

गये । उन्होंने कहा— अरे इन्द्र, तुम जिस भूमितल में जाना चाहते हो उसे ब्रह्माण्ड के तुल्य महाभीषण शव शीघ्र ही चूर-चूर कर डालेगा अर्थात् महामुनि, देवता आदि के वरदान, शाप आदि से अन्य संकल्पित भी पदार्थ संकल्परहित अन्य लोगों के दर्शन आदि व्यवहार के योग्य होता है यों श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर कहने के लिए पूर्वोक्त शव के पतन का ही अन्य निमित्त से वर्णन करने के लिए विपश्चित् प्रस्ताव करता है ॥२९-३१॥

शवबुद्धि से तुमने मेरा जो यह तिरस्कार किया है इस कारण मेरे शाप से उस पृथिवी को तुम शीघ्र प्राप्त होओगे ॥३२॥

उस मुनि श्रीदुर्वासाजी ने विपश्चित् के साथ इन्द्र की मृगता के लिए भी 'तथा देवमृगश्च त्वं तुल्यकालं विपश्चिता' (जितने समय तक विपश्चित् मृग रहेगा उतने ही समय तक तुम भी देवमृग रहोगे) इस वाक्य द्वारा जैसे विपश्चित् के मन से संकल्पित मृगत्व अन्य लोगों के दर्शन अर्थक्रियाकारी है वैसा ही तुम्हारा भी हो यों उसे शाप दिया, इसलिए इन्द्र-शाप की कथा से ही मुनिजी के वचन के बल से यद्यपि विपश्चित् की मृगता संकल्पवश हुई थी फिर भी वह आप सरीखे सब लोगों की दृष्टियों की सदा विषय हुई है ॥३३॥

वस्तुतः विचार करने पर एक व्यावहारिक जगत् सत् है यह बात भी नहीं है, और दूसरा संकल्पित जगत् है यह बात भी नहीं है । दोनों तुल्य हैं क्योंकि वह प्रतिभा ही वैसे (व्यावहारिक अथवा संकल्पितरूप से) उदित होती है । इसलिए उनमें क्या सत् है और क्या असत् है ? ॥३४॥

अन्यच्च राघवेमां तां युक्तिं त्वमपरां शृणु ।
एतस्मिन्नयसंदर्भे सुस्फुटप्रतिपत्तये ॥३५॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
ब्रह्म तस्मिन्महाभाग ! किं न संभवतीह हि ॥३६॥

संकल्पजातं नाऽन्योन्यं मिलतीत्युपपद्यते ।
संकल्पजातमन्योन्य मिलतीत्युपपद्यते ॥३७॥

संकल्पजातमन्योन्यं मिलतीत्यवगम्यते ।
सर्वात्मनि हि यत्रैव च्छाया तत्रैव चाऽऽतपः ॥३८॥

न संभवति चेत्तत्कथं सर्वात्मतामियात् ।
कस्मात्संकल्पनगरं न मिथः श्लिष्यतीति सत् ॥३९॥

मिथश्च श्लिष्यतीत्येवमपि सत्सर्वरूपिणि ।
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि ॥४०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, युक्तियों के इस सिलसिले में स्फुट-रूप (साफ-साफ) समझ में आने के लिए आप और भी दूसरी युक्ति सुनें । अर्थात् ब्रह्म के सर्वशक्ति और सर्वात्मक होने से भी कोई विरोध नहीं है ॥३५॥

हे महाभाग ! जिसमें सब कुछ है, जिससे सबका आविर्भाव हुआ है, जो सर्वात्मक है, सर्वव्यापक है उस सर्वशक्ति सर्वात्मक ब्रह्म में क्या नहीं हो सकता है ? ॥३६॥

सङ्कल्प से उत्पन्न पदार्थ आपस में मेल नहीं खाता है यह भी उसमें उपपन्न है और सङ्कल्पजनित परस्पर मेल खाता है, इसकी भी उसमें उपपत्ति है ॥३७॥

सर्वात्मा में संकल्प से उत्पन्न पदार्थ परस्पर मिलता है, यह बात मृगदर्शन आदि में प्रत्यक्ष है । इस विषय में यह उपपत्ति भी है लोक में जहाँ पर छाया है वहीं पर धूप भी है । यदि ऐसा न हो तो वह सर्वात्मा ही कैसे होगा ? इसलिए सर्वस्वरूप ब्रह्म में संकल्पनगर परस्पर मिलता है, यह भी सत् है । सर्वात्मा में सर्वत्र सब प्रकार से सर्वदा माया अघटितघटनापटीयसी होने से अति आश्चर्यमयी है, इसलिए भी सब कुछ घटना संभव है ॥३८-४०॥

अहो नु विषमा माया मनोमोहविधायिनी।
विधयः प्रतिषेधाश्च यदेकत्र स्थितिं गताः ॥४१॥

ईदृशी ब्रह्मसत्तैषा यदेवाऽऽत्मानमात्मना।
तया अनादिः सादिश्चेत्यविद्येत्यनुभूयते ॥४२॥

न ज्ञप्तिमात्रकचनं यदि स्याद् भुवनत्रयम्।
तन्महाकल्पनष्टानां सृष्टिः स्यात्कथमञ्जसा ॥४३॥

कथमग्नेः कथं वायोः सत्ता भूमेः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वभावकचनमात्रान्नाऽन्यद्वृते जगत् ॥४४॥

शास्त्राण्यनुभवालोका आमहाकल्पवादिनाम्।
येषां प्रमाणं नो सर्वं प्रशस्तैस्तैरलं सताम् ॥४५॥

ज्ञप्तिदृष्ट्याऽनया सर्वं प्रमाणीभवति क्षणात्।
नाऽन्यया तनुते नैवमेव सारं विदुर्बुधाः ॥४६॥

शुद्धा ज्ञप्तिब्रह्मसत्ता त्वविद्याऽस्मीति चेतनात्।
स्फुरतीयं जगद्रूपा वातश्रीः स्पन्दनादिव ॥४७॥

अहा ! मन को मोह में डालने वाली माया अति विषम है। जिसके कारण विधियाँ और निषेध दोनों एक जगह स्थिति को प्राप्त हुए ॥४१॥

यह ब्रह्मसत्ता भी ऐसी ही है यह अपने से अपना विविध रूपों में सर्जन करती है। उस ब्रह्मसत्ता से अविद्या अनादि और सादि भी अनुभूत होती है। अर्थात् केवल माया का ही नहीं ब्रह्मसत्ता का भी ऐसा ही माहात्म्य है ॥४२॥

यदि तीनों भुवन केवल ज्ञप्ति के (ज्ञान के) विकास-रूप न होते तो महाप्रलय में नष्ट हुए भुवनों का अनायास पुनः सजन कैसे होता ? ॥४३॥

कैसे अग्नि का अस्तित्व होता, कैसे वायु का अस्तित्व होता और कैसे भूमि की सत्त होती, इसलिए स्वभाव-स्फुरण के सिवा जगत् अन्य नहीं है ॥४४॥

महाकल्पपर्यन्त ही पृथिवी आदि का अस्तित्व है ऐसा मानने वाले जिन लोगों के लिए वेदान्त आदि शास्त्र, विद्वानों के अनुभव और लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त प्रमाणभूत नहीं हैं उन निन्द्य-मतियों के साथ सज्जनों को संभाषण आदि नहीं करना चाहिये ॥४५॥

इस चिद्विलास दृष्टि से सब कुछ क्षण भर में प्रमाण हो जाता है, अन्य दृष्टि से यह सब प्रमाण नहीं होता, किन्तु तुच्छ ही होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष ज्ञानदृष्टि सिद्ध वस्तु को ही सारभूत समझते हैं ॥४६॥

जैसे स्पन्दन से वायु की शोभा स्फुरित होती है वैसे शुद्ध ज्ञप्तिरूप ब्रह्मसत्ता 'मैं अविद्या हूँ' ऐसे चिन्तन से जगत् रूप में स्फुरित होती है ॥४७॥

न कश्चनेह म्रियते जायते न च कश्चन।
मृतोऽहमिदमस्तीति प्रतिभैव चिदात्मिका ॥४८॥

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तत्सा निद्रा सुखोपमा।
पुनर्दृश्योपलम्भश्चेन्ननु जीवितमेव तत् ॥४९॥

तस्मान्नेहाऽस्ति मरणं तन्नैवेहाऽस्ति जीवितम्।
कस्मिंश्चिन्मात्रकचने द्वयं वाऽप्यस्ति नैव वा ॥५०॥

चेतितं द्वयमप्यस्ति नाऽस्ति द्वयमचेतितम्।
चेतितं चैकमेवाऽस्ति स्वस्त्यनन्तमतश्चितः ॥५१॥

चिन्मात्रव्यतिरेकेण किं नाम वद जीवनम्।
अदुःखमक्षयत्वात्तदतो दुःखं क्व कस्यचित् ॥५२॥

वाच्यं सवाचकं सर्वं यत्र चिद्व्योममात्रकम्।
तदन्यत्तदनन्यच्च के ते तत्रैकताद्विते ॥५३॥

आवर्तादि यथा तोये शरीरादि तथा परे।
तत्सत्तासंनिवेशात्म कारणानन्यथात्म च ॥५४॥

न यहाँ कोई मरता है और न कोई उत्पन्न होता है। मैं मरा हूँ और यह मेरा जन्म है यह केवल चिदात्मक प्रतिभा ही है ॥४८॥

मृत्यु अत्यन्त विनाश है। उसमें यदि दृश्यदर्शन हो तो वह सुषुप्ति सुखोपम निद्रा है फिर यदि दृश्य की प्राप्ति हो तो वह जीवित ही है ॥४९॥

इसलिए यहाँ पर न मरण है और न जीवन ही है। एक चिन्मात्र स्फुरण में जीवन-मरण दोनों ही हैं अथवा दोनों ही नहीं है ॥५०॥

यदि चिन्मात्र में जीवन-मरण दोनों चेतित हों तो दोनों ही है यदि चेतित न हो तो दोनों ही नहीं हैं। चेतित एक ही है, अतः द्वैत की सत्ता और असत्तता की साक्षी चित् का सदा ही श्रेय है ॥५१॥

यह बताएँ चिन्मात्र से पृथक् जीवन ही क्या है ? अक्षय होने के कारण वह दुःखलेशशून्य है, अतः किसको कहाँ दुखः है ? ॥५२॥

जिस तत्त्वदृष्टि में वाचक सहित सब वाच्य रूप केवल चिदाकाश मात्र है उस तत्त्वदृष्टि में वह भिन्न है और वह अभिन्न है, ऐसी एकता और द्विता कैसे ? ॥५३॥

परमात्मा में शरीर आदि परमात्मसत्तासन्निवेशभूत कारण से वैसे ही अभिन्न आकाशरूप ही हैं। जैसे जल में आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदि जलरूप हैं ॥५४॥

चिद्भानमात्रमव्यग्रं खमेवाऽप्रतिघं जगत् ॥५५
आश्चर्यं सुघनं व्यग्रं द्रव्यं सप्रतिघं स्थितम् ।
तथैते भूमिभूर्नाऽस्ति वर्तमानाऽनुभूतिभूः ॥५६॥
तत्र भ्रान्त्या पिशाचोऽयं भाति खात्मेति बुध्यताम् ।
यथैतत्खं तथैतत्खमेतत्खमिति खं स्थितम् ॥५७॥
तथेतो भूरितो भूतमितोऽन्यदिति खं परम् ।
यैव चिद्भा जगत्सैव नैकताऽत्र न च द्विता ॥५८॥
न च प्रतिघता काचिन्न चाऽप्रतिघरूपता ।
सर्वमप्रतिघं दृश्यं यथाभूतार्थदर्शिनः ॥५९॥
तज्ज्ञतातज्ज्ञते चेह न सती नाऽप्यसत्स्थिती ।
सत्ये सदसती चैकं काष्ठमौनमतोऽखिलम् ॥६०॥
यद्दृश्यं ब्रह्मताऽनन्तं तदेव परमं पदम् ।
इदं सर्वं परं ब्रह्ममात्रमित्येव संस्थितम् ॥६१॥

केवल चिद्भानमात्र शान्त अनाकार या निर्दोष आकाश ही जगत् है । चिद्भान सुघन् अशान्त, द्रव्य और साकार के रूप में स्थित होना ही महान् आश्चर्य है । वह वर्तमान में भी अनुभूति का विषय वैसे ही नहीं है । जैसे अतीत में प्रतीति का विषय नहीं है ॥५५-५६॥

वर्तमान अनुभूति में यह शून्यात्मा ही दृश्यरूप पिशाच बन कर प्रतित होता है, ऐसा आप समझें । यह चिदाकाशरूप आकाश वैसे ही है, जैसे यह दृश्यमान आकाश है क्योंकि यह चिदाकाश ही अकाशरूप से प्रतीत आकाश होकर स्थित है ॥५७॥

वैसे ही यहाँ से नीचे के प्रदेश में भूमि, यहाँ से अन्य प्रदेश में वायु, आकाश आदि भूत, यहाँ से दिशा-विदिशाओं में अन्य अनेक आकारों में यों परमाकाश ही भासित होता है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो ही चिद्भान है वही जगत् है । न यहाँ पर एकता है और न द्वैत है और न कोई साकारता है और न निराकारता है । यथाभूतार्थ-दर्शी के लिए सारा का सारा दृश्य निराकार ही है ॥५८, ५९॥

पूर्णदृष्टि होने पर ज्ञानिता और अज्ञानिता तथा सत् और असत् का भेद कुछ नहीं है पूर्णरूप सत्ब्रह्म में सत् और असत् तुल्य हैं । इसलिए सब कुछ काष्ठवत् मौन है । अर्थात् चिद्रूप है । अर्थात् पूर्णदृष्टि होने पर तत्त्वज्ञता और अज्ञता का भेद भी नष्ट हो जाता है ॥६०॥

जो दृश्य है वही ब्रह्मता है वही अनन्त है वही परम-पद है । इस प्रकार यह सब केवल ब्रह्म ही स्थित है । अर्थात् इस प्रकार सारा दृश्य ब्रह्मरूप ही सिद्ध हो गया ॥६१॥

एवं नामैष चिद्धातुः कचत्येवं यदात्मनि ।
यस्येदं कचनं व्योम्नो रूपमप्रतिघं जगत् ॥६२॥

सर्गाद्या मृतजीवानां सर्वत्रैवाऽङ्गुलेऽङ्गुले ।
असंख्याः सन्त्यसंख्यानामदृश्याप्रतिघा मिथः ॥६३॥

अन्योन्यं सिद्धलोकास्ते स्वं यत्र प्राप्य संगताः ।
परस्परं न पश्यन्ति मिथः प्रोता अपि स्थिताः ॥६४॥

भवत्याकाश एवैषा दृश्यश्रीर्गगनात्मिका ।
अनन्यदृष्टा चिद्रूपा स्वप्नवत्स्वात्मद्रष्टृका ॥६५॥

एषा हि संपरिज्ञाता तिष्ठत्यपि यथास्थितम् ।
भामात्ररूपनिर्वाणा निशान्ताप्रतिभाकृतिः ॥६६॥

जिस चिदाकाश का निराकाररूप यह स्फुरण जगत् है वह यह चिदाकाश अपने स्वरूप में इस प्रकार स्फुरित होता है ॥६२॥

असंख्य मृत जीवों के सभी जगह अङ्गुल-अङ्गुल भूमि में असंख्य सृष्टि आदि हैं जो परस्पर अदृश्य और अघातशून्य हैं ॥६३॥

उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर सिद्धलोक अपने निज स्वरूप को प्राप्तकर ब्रह्म में संयुक्त हैं और परस्पर ओतप्रोत होकर स्थित हुए भी वे आपस में एक दूसरे को नहीं देखते हैं । अर्थात् वृहदारण्यकोपनिषत् में गार्गी के प्रश्न में यह वर्णित है—'यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं चेति कस्मिन् खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायो गार्गीति कस्मिन् खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति' अर्थात् यह सब जल में ओत और प्रोत है । जल किसमें ओत प्रोत है ? हे गार्गि, जल वायु में ओत और प्रोत है । वायु किसमें ओत प्रोत है ? हे गार्गि, वायु अन्तरिक्ष लोकों में ओत और प्रोत है इत्यादि से ॥६४॥

चूंकि यह शून्यरूप दृश्यशोभा आत्माकाश ही है, इसलिए अन्य से अदृष्ट चिद्रूपा है जैसे स्वप्न का द्रष्टा आत्मा ही है वैसे ही इसका द्रष्टा भी आत्मा ही है, अन्य नहीं । अर्थात् वास्तव में तो आत्मा से अतिरिक्त कोई द्रष्टा ही प्रसिद्ध नहीं है ॥६५॥

यद्यपि यह परिज्ञात होकर अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होती है तथापि केवल प्रकाशमय निर्वाण स्वरूप होने पर भी अज्ञानवश रात्रि खुलने के समय के अन्धकार की आकृति के तुल्य आकृतिवाली होकर दृश्यरूपा-सी भासती है । अर्थात् यह केवल चिदाकाशस्वरूपा है इसलिए परिज्ञात होते ही चिदाकाशाकार हो जाती है ॥६६॥

शान्ताशेषविशेषात्म यथास्थितमवस्थितम् ।
सदसद्वा जगज्जालं परिज्ञानेन शाम्यति ॥६७॥

यथाऽब्धिजलबिन्दूनां क्षणविश्लेषसंगमम् ।
चिदणूनां तथा ब्रह्मवारिधौ स्फुरतां मिथः ॥६८॥

स्वप्नवद्भाति सर्गश्रीः सर्गादौ चिन्नभोमयी ।
अतः सर्वमिदं ब्रह्म शान्तमित्युपपद्यते ॥६९॥

दृष्टान्यनन्तविभवानि मया जगन्ति
भुक्तानि कार्यपरिणामविजृम्भितानि ।
भ्रान्ता दिशो दश बहूनि युगानि याव-
ज्ज्ञानादृते क्षयमुपैति न दृश्यदोषः ॥७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० श०
विपश्चित्संसारभ्रमवर्णनं नामैकोनषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१५९॥

यथार्थ तत्त्व अशेष विशेषों विहीन होकर स्थित हो तो जगत्समुदाय चाहे सत् हो चाहे असत् ज्ञान से शान्त हो जाता है। अर्थात् यदि यथास्थित वस्तु अशेष विशेषों से शून्य होकर स्थित हो तो ज्ञान से बाधित होने वाला जगत् चाहे सत् हो असत् हो कोई भी हानि नहीं है ॥६७॥

ब्रह्मरूपी महासागर में परस्पर स्फुरित हो रहे चिदणु भूत जीवों का, वैसे ही अज्ञान रहता है, अशांशिभाव से स्थिति होती है। जैसे समुद्र और जलबिन्दुओं का क्षण में विश्लेष और क्षण में संश्लेष होता है अर्थात् उनकी अंशांशिभाव से स्थित होती है ॥६८॥

चिदाकाशमयी सृष्टि भी सृष्टि के आदि में स्वप्न की तरह भासित होती है, अतः यह सारा दृश्य शान्त ब्रह्म ही है, यह उपपन्न होता है ॥६९॥

मैंने अनन्त वैभव वाले अनेक जगतों को देखा, अपने कर्मों के परिपाक से प्राप्त हुए सुख-दुःखरूप फलों का भोग किया तथा बहुत युगों तक दिशाओं में भ्रमण किया, किन्तु ज्ञान के बिना दृश्यरूप दोष का विनाश नहीं हो सकता है ॥७०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० वि० शवोपाख्यान में विपश्चित् संसारभ्रमवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५९॥

१६०

श्रीवाल्मीकिरुवाच

विपश्चिति वदत्येवं तद्वृत्तान्तमवेक्षितुम् ।
इव लोकान्तरं भानुः पादैर्दूरायतैर्ययौ ॥१॥
उदभूत्पूरयन्नाशा दिनपर्यन्तदुन्दुभिः ।
तुष्टाभिरिव निर्मुक्तो दिग्भिर्जयजयारवः ॥२॥

विपश्चिते दशरथो गृहदारधनादिकम् ।
राज्यानुरूपं विभवं प्रोत्तस्थौ कल्पयन् क्रमात् ॥३॥
राजरामवसिष्ठाद्या मिथः कृत्वा विसर्जनम् ।
यथाक्रमं पूजनं च प्रययुः स्वास्पदानि ते ॥४॥

१६०

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे वत्स! जब विपश्चित् यह कह रहा था तब सुने गये विपश्चित् के वृत्तान्त को मानों अपनी आँखों से देखने के लिए सूर्य दूर तक फैली हुई किरणों के साथ या लम्बे-लम्बे किरणरूपी पैरों से दूसरे लोक को गया ॥१॥

सायंकाल की सूचना देने वाली दुन्दुभिध्वनि सन्तुष्ट हुई दसों दिशाओं से की गई जयजयकार ध्वनि की तरह दिशाओं को पूर्ण करती हुई उठी ॥२॥

महाराज दशरथ विपश्चित् के लिए राज्य के अनुरूप क्रमशः घर, गृहस्थी, धन आदि का समर्थन करते हुए आसन से उठे ॥३॥

महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्रजी, महामुनि श्रीवसिष्ठ जी आदि गण्यमान्य पुरुष आपस में एक दूसरे को क्रमानुसार विदाकर, नमस्कार आदि से सत्कार कर अपने-अपने घरों को गये ॥४॥

स्नात्वा भुक्त्वा निशां नीत्वा प्रभाते पुनराययुः।
तेनैव संनिवेशेन सा सभा संस्थिताऽभवत् ॥५॥
क्रमान्मुनिरुवाचाऽथ तां यथाप्रस्तुतां कथाम्।
शशीवाऽमृतमाह्लादमुद्गिरन्मुखदीप्तिभिः ॥६॥
राजन्नेयमविद्येयमसत्येव सती स्थिता।
नेदृशेनाऽपि यत्नेन निर्णीतैषा विपश्चिता ॥७॥
अविद्यैवमविज्ञाता चिरानन्ताऽवभासते।
परिज्ञाता तु नाऽस्त्येव मृगतृष्णा नदी यथा ॥८॥
मन्त्रिणस्ते महाबुद्धे ! भासस्याऽस्य विपश्चितः।
इतिवृत्तं स्वमित्यस्य स्वयमेव हि दृष्टवान् ॥९॥
सदृशोऽयमितस्त्वाभिः कथाभिर्ज्ञाततत्पदः।
अविद्यायां प्रशान्तायां जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥१०॥

स्नान और सायंसन्ध्या से निवृत्त होकर, भोजनकर और रात्रि में विश्राम कर प्रातःकाल में वे फिर सभा-स्थलपर आये जिस तरह वह सभा पहले बैठी थी उसी तरह बैठ गई ॥५॥

अनन्तर अपने मुखमण्डल की प्रभा से आह्लादित करने वाले वचन कह रहे मुनि महाराज उक्त प्रस्तुत कथा वैसे ही क्रम से कहने लगे जैसे चन्द्रमा अमृत की वर्षा करता है ॥६॥

हे राजन् ! यह अविद्या नहीं है। असत् होती हुई ही यह सत् के समान स्थित है। विपश्चित् इस प्रकार के महान् प्रयत्न से भी इसका निर्णय नहीं कर सका, इसका पार नहीं पा सका ॥७॥

जब तक अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप से इसका विज्ञान नहीं होता तभी तक यह कालतः चिरकाल तक, देशतः और वस्तुतः अनन्त मालूम होती है, किन्तु यह केवल अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप है ऐसा जब इसका परिज्ञान हो जाता है तब यह मृगतृष्णा नदी के समान नहीं ही रहती है ॥८॥

हे महामते ! भास नामधारी इस विपश्चित् का इतिहास आपने स्वयं ही देखा है और इसके उन मन्त्रियों ने भी देखा है ॥९॥

अनन्तर कथाओं से तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हुआ यह अविद्या के नष्ट होने पर आप लोगों के सदृश जीवन्मुक्त हो जायगा ॥१०॥

अविद्येति धृता संविद् ब्रह्मणाऽऽत्मनि सत्तया।
तद्भ्रमेणाऽसदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥११॥
यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका।
तदाऽस्त्येषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥१२॥
अविद्यैवमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी।
जडा हृद्या रसमयी मोहमाधवमञ्जरी ॥१३॥
अन्तशून्या ग्रन्थिमती श्लक्ष्णा स्वङ्कुरकण्टका।
जडा रसमयी दीर्घा लतेव वनवैणवी ॥१४॥
फलाशङ्का मुधैवाऽतिनिष्फला चित्तहारिणी।
अकालपुष्पमालेव श्रेयसा नाऽभिनन्दिता ॥१५॥
न किंचिद्रूपिणी पीना नानाभुवनपूरिणी।
भूताकुला निरालोका सुदीर्घेव तमोमयी ॥१६॥

ब्रह्म ने अपने में अपनी सत्ता से 'मैं अविद्या हूँ' ऐसी संवित् धारण की, इसलिए भ्रान्ति से ही इसका अविद्यमान भी स्वरूप सत् के तुल्य दिखाई देता है ॥११॥

जब यह अविद्या ब्रह्मस्वरूपा ही है ब्रह्म से अन्य-स्वरूपा नहीं है तब यह अधिष्ठान ब्रह्ममात्ररूप से अपरिज्ञात होकर ही ब्रह्म से पृथक् अस्तित्व रखती है अधिष्ठान-ब्रह्ममात्रत्वेन परिज्ञात होकर तो यह उससे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती है ॥१२॥

इस प्रकार विविध प्रकार की सृष्टियों से शोभित होने वाली यह अविद्या अनन्त है। मोहरूपी वसन्त में खिली हुई मञ्जरीसी यह जड़, रमणीय और आसक्तिमयी है। वसन्त में खिली हुई मञ्जरी और भी विविध फलों से शोभित होती है ॥१३॥

जड़ आसक्तिमयी यह अविद्या वन के बांस में उत्पन्न हुई लम्बी शाखा की भाँति अन्त (सीमा) रहित है, चिदचिद् ग्रन्थि वाली है, सरसरी दृष्टि से चिकनी चुपड़ी मालूम होती है किन्तु अनुभव के समय इसके सुन्दर-सुन्दर अङ्कुर सब काँटे बन जाते हैं ॥१४॥

यह अविद्या अकाल में उत्पन्न हुई उत्पातसूचक पुष्प राशि की तरह मनोहारिणी है, अतएव अऋतु में उत्पन्न पुष्पराशि की तरह इसमें व्यर्थ ही फल की आशङ्का होती है किन्तु है यह निपट निष्फल, इसलिए प्रशंसनीय अभिज्ञ जन कदापि इसकी ओर आकृष्ट नहीं होते ॥१५॥

यद्यपि इसका कोई स्वरूप नहीं है, तथापि यह इतनी विशाल है कि नाना भुवनों को भर देती है, अतएव प्राणियों से भरी हुई अज्ञापूर्ण यह अविद्या भूतों से भरी हुई अन्धकारपूर्ण लम्बी रात्रि के समान है ॥१६॥

केशोण्ड्रकभ्रान्तिरिव विचित्रग्रन्थिवेष्टना ।
मिथ्यैव दृश्यमाना खेऽदृश्यमाना न किंचन ॥१७॥

विचित्रवर्णा विगुणा शून्ये च वितताकृतिः ।
जडस्स्पन्दोत्पातमयी शक्रचापलतेव खे ॥१८॥

जडकल्लोलबहुला कलुषोल्लासफेनिला ।
चक्रावर्ताक्षयमयी प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥१९॥

अनारतवहच्छून्यजगन्मृगनदीशता ।
रजोराशिमयी रूक्षा शवभूरिव दुर्भगा ॥२०॥

अन्तं प्राप्नोति न यथा चिरं स्वप्नपुरे चरन् ।
जाग्रदाख्ये स्वप्नपुरे तथैवास्मिश्चिरं चरन् ॥२१॥

यानि संकल्पजालानि प्रतिष्ठामागतान्यकम् ।
त्यक्तैकदृश्यजालस्थदेहानां दृढचेतसाम् ॥२२॥

यह आकाश में मिथ्या ही दिखाई दे रही तथा विचित्र ग्रन्थियों से वेष्टित केशों के गोलों की भ्रान्ति के तुल्य है, किन्तु तत्त्वदृष्टि से वास्तव में न दिखाई दे रही यह अस्तित्वशून्य है ॥१७॥

विविध रंगों में रंगी हुई, गुणरहित, आकाश में फैली हुई अज्ञानकर्मरूप विविध उपद्रवों से पूर्ण यह अविद्या आकाश में फैली हुई; वृष्टि के उत्पात को सूचित करने वाली, प्रत्यञ्चारहित रंगविरंगी इन्द्रधनुषलता के समान है ॥१८॥

अज्ञानरूपी कल्लोलों से आकुल, पापप्रकर्षरूपी फेन से भरी, चक्राकार भवँरियों के तुल्य भ्रान्तियों की आवासभूत यह अविद्या जलकल्लोलों से भरी हुई मलिनता की वृद्धि से फेनयुक्त चक्र की तरह घूम रहे भंवरों से व्याप्त चौमासे की नदी की तरह है ॥१९॥

यह रजोगुणमयी रूक्ष अविद्या, जिसमें निरन्तर शून्य जगत्रूप सैकड़ों मृगतृष्णा नदियाँ बहती हैं, बीहड़ श्मशान भूमि की तरह है। श्मशान भूमि भी धूलिराशि से भरी हुई और रूक्ष रहती है एवं उसमें भ्रमवश शून्यरूपी सैकड़ों मृगतृष्णा नदियाँ बहती दिखाई देती हैं ॥२०॥

इस जाग्रत् नाम के स्वप्नपुर में भ्रमणकर रहा पुरुष इसका अन्त वैसे ही नहीं पाता। जैसे स्वप्न नगर में चिरकाल तक विचरण कर रहा पुरुष उसका अन्त नहीं पाता ॥२१॥

जो एक दृश्यजाल में (प्रपञ्च में) स्थित देहों का त्याग कर चुके तथा मरण के समय में जिनके चित्त इस जगत् के आकार से दृढ़ थे ऐसे जीवों के दृढ़ीभूत संकल्प ही इस जगत् के शरीर के आकार से स्थित हुए हैं ॥२२॥

स्थितानि तानि चिद्व्योमकोशरत्नान्यसंकटम् ।
विमानपुरभूम्यादिरूपेणेत्थं स्थिरात्मना ॥२३॥

तान्येव सिद्धसद्मानि व्योम्नि भान्ति परस्परम् ।
अदृष्टान्यप्यसंख्यानि सूपलब्धान्यसन्त्यपि ॥२४॥

सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तावनिमयानि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानाढ्यरसायनसरांसि च ॥२५॥

मधुमद्यदधिक्षीरघृतकुल्याकुलानि च ।
रसायनमयाकारवनितावलितानि च ॥२६॥

सर्वर्तुपुष्पफलपल्लवपूरवन्ति
लीलाविलोलललनाकुलितालयानि ।
संकल्पमात्ररचनेन च सर्वकालं
संपन्नसर्वविभवोत्करसंकुलानि ॥२७॥

सहस्रचन्द्रबिम्बानि शतसूर्याणि कानिचित् ।
सुवर्णामृतवेषाम्बुमयभूतानि कानिचित् ॥२८॥

वे चिदाकाश के कोशरत्नरूप संकल्प समूह इस प्रकार स्थिररूप विमान, नगर, भूमि आदि के आकार से विकास के साथ स्थित हैं ॥२३॥

वे ही असंख्य सिद्धलोक होकर आकाश में भासित होते हैं। वे अदृष्ट होते हुए भी सत्तावान् हैं। भलीभाँति दृष्ट होने पर भी असत् हैं ॥२४॥

उन सिद्धलोकों की भूमि सुवर्णमय, मणिमय, माणिक्यमय और मुक्तामय थी। वे सबके सब भक्ष्य, भोज्य, अन्न-पान आदि से पूर्ण थे और रसायनों के तालाब के तालाब उनमें भरे थे। उन सब में शहद, आसव, दही, दूध और घी की नहरें चारों ओर बहती थीं। वे सब सिद्धलोक चन्द्रमा की-सी आह्लादक आकृति वाली महिलाओं से परिपूर्ण थे ॥२५, २६॥

उनमें सब ऋतुओं में प्रसिद्ध फल, फूल पल्लवों से लदे हुए वन और नदियों के प्रवाह प्रचुर मात्रा में थे, हाव-भावों से विशेष मनोहर ललनाओं से उन लोकों के घर भरे थे तथा केवल संकल्प करने मात्र से पूर्णरूप से उत्पन्न हुए सब विभवों की राशियों से वे सदा पूर्ण रहते थे ॥२७॥

उनमें से कोई सिद्धलोक हजारों चन्द्रबिम्ब वाले और सैकड़ों सूर्य मण्डल वाले थे, कोई सुवर्ण से और अमृत से स्वच्छ वेष वाले जलमय भूतों के आवास थे ॥२८॥

स्वेच्छातमःप्रकाशानि नित्यानन्दमयानि च।
कानिचिन्नीयमानानि तनुतूललघूनि च ॥२९॥
क्षणोत्पत्तिविनाशानि कानिचित्कलनावशात्।
अनन्तस्वन्नपानानि निर्जराभरणानि च ॥३०॥
विचित्रसंनिवेशानि विचित्रविभवानि च।
सर्वर्तुगुणरम्याणि सर्वकाममयानि च ॥३१॥
तानि संकल्पजालानि किल कल्याणकारतः।
स्थिराणां मनसां भित्तिः कथमेवं भवेत्तु सा ॥३२॥
नाऽन्यत्किंचन नामेह ब्रह्ममात्रमयात्मनि।
संभवत्यङ्ग तेनैतदुच्यतामस्तु किमयम् ॥३३॥
सर्गादावेव सर्गादि किंचनाऽपीदमस्ति नो।

उनमें स्वेच्छा से अन्धकार और प्रकाश होता था, वे सबके सब नित्यनन्दमय थे। उनमें से कोई थोड़ी-सी रुई के समान समान हलके थे, अतः वायु उन्हें जहाँ चाहता था वहाँ उड़ा ले जाता था ॥२९॥

कोई अपनी कल्पना के कारण क्षण में उत्पत्ति और विनाश वाले थे यानी अपनी इच्छा से क्षण में दर्शन और अदर्शन वाले थे। उनमें अन्न और पान का कोई पारवार न था एवं वे जरा और मरण से विहीन थे ॥३०॥

उनकी बनावट अचम्भे में डालने वाली थी, उनका वैभव भी आश्चर्यमय था, सभी ऋतुओं के गुणों से वे सुरम्य थे तथा सकलकाममय थे ॥३१॥

वे संकल्प समूह शास्त्रीय सत्कर्म और उपासना से सत्कर्म और उपासना के फल के आकार वाले तत-तत् लोकों में उनके भोग्य फलों के आकार से स्थित मनों की परिणति रूप हैं। वह परिणित इस प्रकार स्थूल भित्ति कैसे होगी ? ॥३२॥

केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप जगत् में ब्रह्म से अन्य किसी का भी संभव नहीं है। हे भद्र ! यदि प्रकारान्त हो तो जगत् कैसा है कृपया कहें अर्थात् मनोरथ आदि में परिणामों का अस्तित्व, चिन्मात्ररूप होने से ही, देखा गया है इसलिए जगत् के ब्रह्ममयात्मक होने पर यह जो मैंने कहा है उसकी उपपत्तिपूर्वक सर्वथा संभावना है। यदि दूसरा कोई प्रकार हो तो यह जगत कैसा है यह वादी को कहना चाहिये ॥३३॥

सृष्टि के आदि काल में ही यह सृष्टि आदि, कारण का अभाव होने से, कुछ भी नहीं था, अतः यह जगत कैसे स्वरूप का हो, अर्थात् यद्यपि इस समय यह जगत् भौतिक है, ऐसा कहा जा सकता है तथापि सृष्टि के आदिकाल में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्' हे सौम्य ! पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था. इत्यादि श्रुति से ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे किसी कारण की संभावना ही नहीं की जा सकती, अतः अकारण जगत् को ब्रह्मातिरिक्त मानो तो वह अत्यन्त असत् है ॥३४॥

कारणाभावतस्तेन जगत्किमयमस्त्विदम् ॥३४॥
संकल्प्यन्ते निरन्तानि किल तानि यथा यथा।
चितौ तथा तथा भान्ति केवाऽत्र वद चित्रता ॥३५॥
इदानीमपि हे साधो ! त्वमप्यन्येऽपि केऽपि वा।
तीव्रसंवेगसंकल्पनगराण्येवमेव खे ॥३६॥
कुर्वन्त्येकरसाभ्यासाद्यदि नाम यदृच्छया।
तत्तानीदं वपुस्त्यक्त्वा प्राप्नुवन्त्यचिरेण खे ॥३७॥
यस्त्विदं कल्पितं च द्वे वस्तुनी अनुवर्तते।
स्वर्गादिवदवाप्नोति प्राप्नोत्येवैकमेकधीः ॥३८॥

यदि जगत अत्यन्त असत् है तो उसका भान कैसे होता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं—

जैसे-जैसे अनन्त जगतों का संकल्प किया जाता है वैसे-वैसे चिति में उनका भान होता है काहे इसमें कौन सी विचित्रता है। अत्यन्त असत् शशके सींग, आकाशपुष्प आदि का संकल्पवश भान होना चिरदृष्ट है, कोई नई बात नहीं है ॥३५॥

हे साधो ! इस समय भी तुम चाहे और कोई लोग भी इसी तरह आकाश में तीव्र संवेग वाले संकल्पों से नगरों का स्वेच्छा से निर्माण कर सकते हैं एकरस आसक्ति से इस शरीर का त्यागकर थोड़े ही समय में उन्हे प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात तब हम लोगों के संकल्प आदि मोघ क्यों हैं ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो तीव्रवेग न होने के कारण ही हम लोगों के संकल्पों में मोघता है। यदि हमारे संकल्प में तीव्रवेग हो जाय तो तुम या और कोई भी लोग आकाश में नगरों का निर्माण करते ही हैं और एकरसाभ्यास से ऐन्दवोपाख्यान में उक्त न्याय से उन्हें प्राप्त भी करते हैं ॥३६, ३७॥

जो पुरुष पूर्वसिद्ध और उपासना से कल्पित—दोनों प्रपञ्चों का दृढ़ सङ्कल्प से 'यह अवश्य है' इस बुद्धि से अनुसरण करता है वह पुरुष जैसे यज्ञ आदि सत्कर्मकारी स्वर्ग आदि अवश्य प्राप्त करता है वैसे ही क्रमशः दोनों को ही प्राप्त करता है। जो इनमें से एक ही सत्य है ऐसी दृढ़ बुद्धिवाला है वह एक को ही प्राप्त करता है ॥३८॥

सिद्धाः सदा विभान्त्येवं यथाऽन्तःकल्पनावशात् ।
नरकादीनि दुःखानि तथैवाऽऽभान्ति कल्पनात् ॥३९॥

यद्यत्संवेद्यते किंचित्तत्तथाऽप्यनुभूयते ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिन्देह एव मनोमयः ॥४०॥

जीवस्त्यजति यद्भावे एकां देहमयीं धियम् ।
तद्भावैकमयीमन्यामाशु तत्रैव पश्यति ॥४१॥

शुभा संविच्छुभाँल्लोकान्संपश्यत्यशुभाऽशुभान् ।
खात्मिका खात्मकानेव चिरं वाऽनुभवत्यपि ॥४२॥

शुद्धा सिद्धपुराण्येव पश्यत्यनुभवत्यपि ।
चिदशुद्धा विरूपाणि दुःखानि नरकेष्वति ॥४३॥

जैसे अन्तःकरण की कल्पनावश सिद्धलोकों का सदा भान होता है वैसे ही कल्पनावश नरक आदि दुःखप्रद लोकों का भी भान होता है । दोनों में इतना अन्तर है कि उपासना का फल प्रयत्नपूर्वक उसकी सत्यता का दृढ़ाभ्यास होने पर ही होता है। पुण्य का फल आस्तिकता और अनुष्ठान के रहते अभ्यास के बिना सत्यरूप से दृढ़ होता है । पाप का फल अस्तिकता और अभाव के अभाव में भी केवल पापाचरणमात्र से 'सत्य है' इस प्रकार दृढ़ कल्पना वाला हो जाता है । अर्थात् सिद्ध लोकों में उक्त न्याय नरक आदि पाप-फलों की कल्पनाओं में भी तुल्य है ॥३९॥

जिस किसी का जैसे संकल्प किया जाता है उसका, चाहे देह रहे या न रहे, वैसे ही अनुभव होता है कारण कि शरीर तो सभी कल्पनामय ही हैं । अर्थात् संकल्प की अनुसारिता सर्वत्र समान हैं ॥४०॥

जीव जिस भाव से एक देहमयी बुद्धि का त्याग करता है उस भाव से ही दूसरी देहमयी बुद्धि को शीघ्र देखता है । अर्थात् इसलिए मन के अनुसार ही एक शरीर का त्याग कर जीव शीघ्र दूसरे शरीर का ग्रहण करता है ॥४१॥

शुभ (पुण्यकारिणी) जीव-संवित् शुभ लोकों को देखती है और अशुभ पापी संवित् अशुभ लोकों को देखती है और शून्य संवित् शून्यात्मक लोकों को देखती है एवं चिरकाल तक उनका अनुभव भी करती है ॥४२॥

जो जीव-संवित् कर्म और उपासना से शुद्ध है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म दूसरे के सिद्ध नगरों को ही देखती है और अपने सिद्धपुरों का अनुभव करती है । पापाचरण से अशुद्ध जो चित् है वह नरकों में दूसरों के भीषण दुःखों को देखती है और अपने घोर दुःखों का अनुभव करती है ॥४३॥

घूर्णत्पाषाणयमलगिरिचक्रकपेषणम् ।
तत्राऽन्धकूपपतनं पुनरुद्धारवर्जितम् ॥४४॥

दारुणेनाऽतिशीतेन देहं पाषाणतां गतम् ।
भूताङ्गारमयानन्तमेरुमार्गास्पदं वपुः ॥४५॥

पूताङ्गारमयाम्भोदसरदङ्गारवर्षणम् ।
तप्तनाराचनिकरपरुषासारदारुणम् ॥४६॥

वहत्पाषाणचक्रासिसरिदाकाशसंचरम् ।
वक्षोमुक्ताम्बुवाकारकुठाराघातभेदनम् ॥४७॥

सप्तायःपरुषाश्लेषच्छमिच्छमितिमज्जनम् ।
बृहत्कटकटाशब्दशस्त्रयन्त्रनिपीडनम् ॥४८॥

चक्रवज्रगदाप्रासशूलासिशरवर्षणम् ।
शाल्मलीग्रहणं पाशं कुशक्तिशततोदनम् ॥४९॥

निरन्तर घूम रहे गेहूँ आदि पीसने के दो चक्कों से पीसा जाना देखता है और जिससे कदापि पुनः उद्धार न हो ऐसे अन्धकूप में गिरना देखता है ॥४४॥

भयानक शीत से शरीर को जमकर पत्थर बना हुआ देखता है तथा भूतों पिशाचों और अंगारों से पटे हुए असीम निर्जल (रेगिस्तानी) मार्ग में चल रहे बटोही के रूप में अपने और दूसरों के शरीरों को देखता है ॥४५॥

राखरहित अङ्गारमय मेघों से बरस रहे अंगारों की वह वृष्टि देखता है जो तपाये हुए बाणों की राशि की तरह तीक्ष्ण और वेगयुक्त होने से अति भीषण होती है ॥४६॥

जिसमें पत्थर, चक्र और तलवारों की नदियाँ बहती हैं ऐसे आकाश में अपना संचार देखता है और छातियों पर गिराये गये बादल से काले कुल्हाड़ों के आघात से छातियों को फोड़ना देखता है ॥४७॥

तपाकर लाल किये हुए लोहे की मूर्ति और त्रिशूल का आलिङ्गन करना और छप-छप शब्द के साथ डूबना देखता है तथा बड़े भारी कट-कट शब्द के साथ शस्त्रयन्त्र में खूब जोर से दबाना देखता है ।४८॥

चक्र, वज्र, गदा, भाले, बल्लम, तलवार और बाणों की वृष्टि देखता है, कांटेदार शाल्मली से (सेमर के पेड़ से) आलिङ्गन, पाश में बाँधना और खराब-खराब सैकड़ों शक्तियों से छेदना देखता है ॥४९॥

तप्तसैकतसंभारपातपातालमज्जनम् । दीपच्छन्नानलभयं बृहद्वायसचर्वणम् ॥५०॥
निर्निर्गमाक्रुशाङ्गारमहागारप्रवेशनम् । शरशक्तिगदाप्रासभुशुण्डीचक्रवेधनम् ॥५१॥
क्षुत्क्षोभपरुषप्रेतव्रातान्योन्याङ्गचर्वणम् । तालोत्तालातिपरुषशिलातलनिपातनम् ॥५२॥
रुधिरामेध्यपङ्काङ्कपूयनद्यादिसंकटम् । शिलाशस्त्रमयाश्वेभपादपाषाणपेषणम् ॥५३॥
श्वभ्राभोलूकलिखितं जनोघमुसलाहतम् । शिरःकरखुरस्कन्धखण्डोत्कगृध्रमण्डलम् ॥५४॥
एतस्मात्कुकृतादेतत्फलमित्येव भावनात् । पश्यत्येवं देशदृढादविसंवादि विस्तृतः ॥५५॥
यन्नाम किंचन कदाचन चेतनं खे
भातं न भातमथवा यदपूर्वमेव ।
तत्कल्पनाद्भवति तन्मयमेव तद्धि
तस्माच्चिरं च चलतीति यदृच्छयैव ॥५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श० स्वर्गनरकोपलम्भवर्णनं नाम षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६०॥

जलती हुई बालू की राशियों में गिरना, पाताल में डूबना, दीये के रूप में प्रच्छन्न (छिपी हुई) लुआठी से भय तथा बड़े-बड़े कौओं के द्वारा नोचना देखता है ॥५०॥

बाहर निकलने के मार्ग से रहित बड़े-बड़े अँगारों से भरे हुए बड़े भारी घर में घुसना तथा बाण, शक्ति, गदा, भाले, बन्दूक और तलवार स बेंधवा देखता है ॥५१॥

मारे भूख से झुँझलाये हुए अतः क्रूर हुए प्रेत-पिशाचों द्वारा आपस मे अङ्गों का चबाना तथा ताल से भी अधिक ऊँचे स्थान से कठिन शिलातलों पर पटकना देखता है ॥५२॥

रुधिर के घृणित कीचड़ से अङ्कित पीब आदि की नदियों की भीड़-भाड़ देखता है और शिलाओं पर अस्त्र-रूपी घोड़े और हाथियों के पैरों तथा पत्थरों द्वारा पिसना देखता है ॥५३॥

गड्ढे के सदृश प्रदेशों में उल्लुओं द्वारा देह का नोचना देखता है, जनसमूह द्वारा मूसलों से पीटना देखता है, और सिर, हाथ, पैर आदि के टुकड़-टुकड़े करने के लिए उत्सुक गृध्रों को देखता है ॥५४॥

इस कुकर्म से यह फल होता है, इस प्रकार की भावना से अर्थात् शास्त्रीय निर्णय से जो पहले बहुत बार इस प्रकार के देशों में अनुभव द्वारा दृढ़ हो चुकी, स्वात्मा ही तत्-तत् नरकरूप से विस्तृत होकर अपनी भावना से मिलता-जुलता नारकीय दृश्य इस प्रकार देखता है ।५५॥

जिस किसी भी चेतन देह आदि का कभी चित्ताकाश में भान हुआ अथवा भविष्य मे होने वाले का भी स्वप्न में भान देखने से जिसका कभी भान नहीं हुआ अथवा जो अपूर्व ही हो उसका भी संकल्प भ्रान्तरूप कल्पवावश भान होता है । वह सब मनोमय ही है । वह उस भावना से स्वेच्छा से ही चलता है सैकड़ों प्रयत्नों से भी वह नहीं चलता, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥५६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिद् उपाख्यान में शवोपाख्यान में स्वर्गनरकोपलम्भवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ साठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६० ॥

१६१

श्रीराम उवाच

यन्मुनिव्याधयोरेतद्वृत्तं नानादशाशतम् ।
अन्यकारणकं किं स्यादेतत्किं वा स्वभावजम् ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

ईदृशाः प्रतिभावर्ताः परमात्ममहाम्बुधौ ।
अनारतं प्रवर्तन्ते स्वतः स्वात्मनि खात्मकाः ॥२॥

१६१

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! मुनि और व्याध का भास द्वारा वर्णित सैकड़ों सुख-दुःखादि दशाओं से युक्त जो यह वृत्तान्त है यह क्या प्रतिदिन दिखाई दे रहे स्वप्न आदि के समान अन्य कारण से शून्य है अथवा जैसे लवण, गाधि आदि के चाण्डालता आदि ऐन्द्रजालिक तथा भगवद्वर आदि निमित्त से हुए ये वैसे ही किसी अन्य निमित्ति से हुआ है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! स्वात्मरूप परमात्म महासागर में इस प्रकार के शून्यात्मक प्रतिभावर्त भ्रान्तियाँ अपने आप निरन्तर होते रहते हैं ॥२॥

यथा स्पन्दात्मनो वायोरजस्रं स्पन्दलेखिकाः।
उद्यन्त्येव सतश्चित्त्वाच्चिद्व्योम्नि प्रतिभायुतः ॥३॥

या यथा स्वाङ्गभूताऽस्मादुदिता प्रतिभा प्रभा।
तावत्सेह तथैवाऽऽस्ते न हता यावदन्यया ॥४॥

नानावयववानेक एवेहाऽवयवी यथा।
चिद्ब्रह्मैकमिदं व्योम तथैवं प्रतिभात्मकम् ॥५॥

ब्रह्म काश्चित्स्थिराः काश्चिदस्थिराः प्रतिभार्थवत्।
देहावस्था इवाऽऽत्मस्थाः स्थितमात्मनि खात्मनि ॥६॥

स्वात्मनि स्वप्नपुरवद्भानं चिति चमत्कृतिः।
किं सारं किमसारं वा किं सत्किं वाऽप्यसद्भवेत् ॥७॥

सच्चित्परमात्मा से पदार्थाकार प्रथा चिदाकाश में वैसे ही निरन्तर उदित होती ही है। जैसे पङ्खा आदि अन्य निमित्त रहे चाहे न रहे स्पन्दात्मक वायु से निरन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दलेश सदा ही निकलते रहते हैं ॥३॥

सच्चित परमात्मा से अपनी अवयवभूत जो पदार्थाकार प्रथा रूपी प्रभा जैसी उदित होती है वह यहाँ तक तबतक ज्यों की त्यों वैसी ही रहती है जबतक कि वह अन्य आकारान्तर प्रतिभा से नष्ट किया जाता है ॥४॥

एक सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रतिभात्मक जगदाकाश में वैसे ही अनुगत है—जैसे यहाँ एक ही अवयवी वृक्ष आदि नाना शाखा-प्रशाखा आदि अनुगत रहता है। अर्थात् उन अनन्त पदार्थाकार प्रतिभासों मे अधिष्ठानभूत सन्मात्ररूप ब्रह्म शाखा-प्रशाखाओं में वृक्ष की तरह अनुगत रहता है ॥५॥

ब्रह्म की भूमि, अन्तरिक्ष, दिशा आदि कोई अवस्थाएँ चिरकाल स्थायी रहने के कारण वैसे ही स्थिर हैं और कोई अन्य अवस्थाएँ प्रतिभात अर्थ के तुल्य क्षणिक होने से वैसे ही अस्थायी हैं। स्वावयवभूत उन सब में ब्रह्म स्थित है। जैसे देह की पिण्ड, हाथ, पैर आदि अवस्थाएँ चिरकाल तक रहने के कारण स्थायी हैं और निमेष, उन्मेष आदि अवस्थाएँ क्षणिक होने के कारण अस्थिर हैं ॥६॥

निज आत्मा में स्वप्न नगर के समान यह चिति-चमत्कार केवल भान ही है उसमें सारभूत है या निस्सार है ऐसा आग्रह क्या अथवा सत् है या असत् है ऐसा भी आग्रह क्या? ऐसा आग्रह मूढजन वृथा ही करते हैं ॥७॥

परिज्ञातमिदं यावत्सर्वं चिद्व्योममात्रकम्।
दृश्यं जगद्भवद्बुद्धं न सन्नाऽसत्किमुच्यते ॥८॥

चिद्व्योममात्रकचनं संसारं सर्वतः शिवे।
आस्थानास्थादि किं तज्ज्ञा यथासंस्थानमास्थित ॥९॥

समुद्यन्ति स्वतोऽम्भोधेर्वीचिवत्प्रतिभाकृताः।
स्वात्मकाः स्वात्मनो देवात्कार्यकारणदृक्तया ॥१०॥

स्फारं यत्परमं व्योम्नः स्वसंकल्पस्वसर्गवत्।
तत्तेनैव जगद्बुद्धं कुतः पृथ्व्यादयोऽत्र के ॥११॥

भात्येवमयमाभासो नैव भाति च किंचन।
ब्रह्मण्येव स्थितं ब्रह्म तदविद्याभिधं स्वतः ॥१२॥

घनता चिद्घनेनेह चिद्व्योमैवाऽखिलं जगत्।
इत्येव परमो बोध एतत्प्रौढिस्तु मुक्तता ॥१३॥

इसका जब यथार्थरूप में परिज्ञान होता है तब वह केवल चिदाकाशमात्र है। जब आप सदृश अज्ञानियों से ज्ञात होता है तब यह 'जगत्' दृश्य है। अतः न तो यह सत् और असत् है और न असत् है इसे क्या कहा जाय ॥८॥

हे तत्त्वज्ञ लोगों! संसार चिदाकाश का विकासमात्र है, अतः सभी प्रकार से सत्य शिव सुन्दर में आस्था, अनास्था आदि (आदर, निरादर आदि) क्या? आप लोग यथास्थित स्वरूप का अवलम्बन कर स्थित रहें ॥९॥

देदीप्यमान सच्चिदानन्द आत्मा से कार्यकारण दृष्टि से वैसे ही प्रतिभानात्मक स्वात्मभूत पदार्थ उदित होते हैं। जैसे सागर से वीचियाँ अपने आप उठती हैं ॥१०॥

चिदाकाश का स्वसंकल्प-सा और स्वसृष्टि-सा जो अति विशाल प्रतिभान है उसी को उसने 'जगत्' समझा है। ऐसी स्थिति मे यहाँ पर पृथिवी आदि कौन हैं और कहाँ से आये ॥११॥

यह आभास वैसे ही प्रतिभासित होता है और कुछ भी नहीं ही भासता है, ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है। अविद्या नामधारी जगत् का स्वतः भान होता है अन्य कारण से उसका भान नहीं होता ॥१२॥

यहाँ चिद्घन से ही घनता है अन्य पृथिवी आदि से घनस्वरूपता नहीं है। सारा जगत् चिदाकाश ही है। यही परमबोध है, इसका भूमिका के अभ्यास से जो दृढीकार वह मुक्ति है ॥१३॥

चिद्व्योमशून्यतारूपमात्रमाभास आततः ।
इदमप्रतिघं शान्तं जगदित्येव भासते ॥१४॥
ध्यायिनः क्षीणदेहस्य ध्याने दृढत्वे क्षणं स्थिते ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण शक्तत्वं स्यात्किमुच्यताम् ॥१५॥
चिद्धातुव्योमभागो यो भाति यत्र यथा यथा ।
तथा तथा स तत्राऽऽस्ते यावदित्थं स्वभावतः ॥१६॥
अविचारवतो दृश्यभ्रान्तिर्गगनमय्यपि ।
जातितैमिरिकद्वीन्दुदोषवन्नोपशाम्यति ॥१७॥
यदिदं दृश्यते किंचित्तद् ब्रह्मैव निरामयम् ।
चिदाकाशमनाद्यन्तं तत्कथं किं प्रशाम्यति ॥१८॥
स्वमसन्त्यजतो रूपं स्वच्छसंवेदनात्मकम् ।
स्वप्नवत्कचनं स्वस्य यन्नाम तदिदं जगत् ॥१९॥

शून्यता के रूप की नीलता की तरह स्थित अज्ञान का अवलम्बन कर भ्रम व्याप्त है। वास्तव में यह निराकार शान्त चिदाकाश ही जगत् के रूप में भासित होता है ॥१४॥

निर्विकल्प समाधि की प्रतिष्ठा से जिसका देहमान उच्छिन्न हो चुका ऐसे विज्ञ पुरुष के ध्यान में साक्षि-चिन्मात्ररूप के क्षणभर स्थित होने पर जगद्दर्शन-सामर्थ्य क्या होगी ? कहिये इसलिए अज्ञान दृष्टि से ही जगद्दर्शन-सामर्थ्य हो सकती है। अर्थात् यह सब ध्यान लगाने वाले विज्ञ पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है ॥१५॥

जिस चिद्धातु के आकाश भाग का अर्थात् चिदा-काशांशका जहाँ पर जैसे-जैसे भान होता है वह वहाँ पर वैसे-वैसे मुक्ति पर्यन्त इस तरह बोध और अबोध स्वभाव से रहता है। अर्थात् इससे ब्रह्म का ही अज्ञानी पुरुष के चित्तरूप उपाधि में जगत् के रूप में भान होता है अन्यत्र चिन्मात्र से ही भान होता है ॥१६॥

यद्यपि यह दृश्यभ्रम आकाशमय (शून्य) है फिर भी जैसे जन्मतः तिमिर रोग से पीड़ित नेत्र वाले व्यक्ति का आकाश में एक चन्द्रमा के बदले दो चन्द्रमा दिखाई देना यह दोष शान्त नहीं होता वैसे ही अविचारवान् (अज्ञानी) पुरुष का यह भ्रम शान्त नहीं होता ॥१७॥

जो यह कुछ दिखाई देता है वह निर्दोष, आदि अन्त विहीन चिदाकाश ही है तो उसका क्यों और कैसे नाश होगा। अर्थात् ब्रह्मभावापन्न जगत् का तो विनाश नहीं होता ॥१८॥

अपने स्वच्छ संकल्पमय रूप का परित्याग न कर रहे अपना जो स्वप्न के तुल्य विकास है वही यह जगत् है। अर्थात् अज्ञानदशा में भी जगत् स्वप्नवत् चित् का विवर्त-मात्र ही है ॥१९॥

शास्त्रार्थैस्तीक्ष्णया बुद्ध्या मिथो यन्नु विकल्पनैः ।
कृत्वा सुप्तमिवाऽऽत्मानं किंचिद् बुद्धेन बोध्यते ॥२०॥
रूढा येयमविद्येति संविदव्यभिचारिणी ।
भवतां ननु नाऽस्त्येव सा सरित्स्विव पांसुभूः ॥२१॥
यथा स्वप्नेऽवनिर्नाऽस्ति स्वानुभूताऽपि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नाऽस्ति स्वानुभूताऽप्यसन्मयी ॥२२॥
चिद्व्योममात्रमेवार्थानलवद्भासते यथा ।
स्वप्ने तथैव जाग्रत्वेऽनलं स्वस्यैव लक्ष्यते ॥२३॥
इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नाऽस्त्येव भिन्नता ।
सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्याऽनुभूतितः ॥२४॥
नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्राययो यथा ।
मृत्वाऽमुत्र प्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥२५॥

वेदान्त आदि शास्त्रों के निर्णयों से, तीक्ष्ण बुद्धि से और परस्पर ऊहापोह से—आत्मा को सोया हुआ-सा बनाकर-प्रबुद्ध पुरुष द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह आत्मा है ॥२०॥

जो यह व्यभिचरित न होने वाली संवित् अविद्या नाम से आप लोगों में प्रसिद्ध है वह नदियों में धूलिमय भूमि की तरह हम लोगों की दृष्टि में नहीं ही है ॥२१॥

जैसे स्वयं भली भाँति अनुभूत होने पर भी स्वप्न में भूमिका अस्तित्व नहीं ही है वैसे ही अपने द्वारा अनुभूत भी असन्मयी (मिथ्याभूत) यह दृश्यता नहीं है ॥२२॥

जाग्रत् में जाग्रत् के साक्षी का स्वप्रकाश ही पदार्था-कार से वैसे ही दिखाई देता है। जैसे स्वप्न में रूप आदि अर्थ की तरह और रूप को प्रकाशित करने वाले तेज की तरह केवल चिदाकाश ही भासता है ॥२३॥

परमार्थ सत् वस्तु में 'यह स्वप्न है, यह जाग्रद् है' ऐसी जो भिन्नता भासती है अनुभव से तुल्यस्वरूप वाले उनमें वह नहीं ही है ॥२४॥

परलोक में अन्य शरीर में प्रबुद्ध हुए, गर्भ में स्थित तथा पूर्व जन्म का स्मरण रखने वाले पुरुष की जाग्रत् में प्रसिद्ध प्रतीति भी 'यह ऐसी नहीं है सत्य नहीं है' वैसे ही बाधित होती है। जैसे जागने से स्वप्न की प्रतीति 'यह ऐसी नहीं है अर्थात् सत्य नहीं है' बाधित होती है ॥२५॥

कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः ।
वर्तमानानुभवनसाम्यात्तुल्ये तयोर्द्वयोः ॥२६॥
बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥२७॥
यदेव जाग्रत्स्वप्नोऽयं यः स्वप्नो जाग्रदेव तत् ।
नैतदेवं किलेत्यस्ति धीः कालेनोभयोरपि ॥२८॥
आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं तथा ।
अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥२९॥
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धैर्जन्मशतान्यपि ॥३०॥
एवं समस्तसाधर्म्ये समस्तानुभवात्मनि ।
कचति स्वप्नवज्जाग्रद्वत्स्वप्नवेदनम् ॥३१॥

[जब स्वप्न और जाग्रत् दोनों समान ही हैं तब लोगों का उनमें असाम्यप्रत्यय क्यों होता है ? इस प्रश्न पर काल की अल्पता और अधिकता से उनमें असाम्यप्रतीति होती है, अनुभव से नहीं होती]

यहाँ स्वप्न और जाग्रत ऐसी बुद्धि क्रमशः स्वल्प समय और दीर्घ समय तक होती है उन दोनों में वर्त्तमान अनुभव में साम्य है, अतः दोनों तुल्य हैं ॥२६॥

जाग्रत् बाहर में रहता है और स्वप्न अन्दर रहता है यह अन्तर भी दोनों में नहीं हैं, क्योंकि स्वप्न भी बाहर में रहता है। अतः स्वप्न जाग्रत् के तुल्य ही है। सब वस्तुओं में स्वप्न और जाग्रत् काल में पूर्णरूप से गुणसाम्य का अनुभव होता है, अतः स्वप्न और जाग्रत् में जुड़वें भाइयों के समान कोई भी बड़ा नहीं है ॥२७॥

जो जाग्रत् है वही स्वप्न है और जो स्वप्न है वही जाग्रत् है, क्यों कि दोनों में कलान्तर में 'यह ऐसा नहीं अर्थात् सत्य नहीं' यों बाधबुद्धि तुल्य है ॥२८॥

निर्वाण को प्राप्त न हुए जीव के महा अज्ञानरूपी स्वप्न में सैकड़ों जाग्रत् भी वैसे ही होते हैं। जैसे जीवन-पर्यन्त सैकड़ों स्वप्न बिना किसी नियम के होते हैं ॥२९॥

पूर्व जन्म की स्मृति कराने वाले यौगिक चमत्कार से सम्पन्न प्रबुद्ध जनों को एक नहीं सैकड़ों जन्मों का वैसे ही स्मरण होता हैं। जैसे लोगों का उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले अनेक स्वप्नों का स्मरण होता है ॥३०॥

इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों का पूर्णरूप से साम्य होने और दोनों के अनुभवरूप होने पर यह सिद्ध हुआ कि स्वप्न के तुल्य ही जाग्रत् का स्फुरण है और जाग्रत् के तुल्य स्वप्नानुभव का स्फुरण है ॥३१॥

यथा दृश्यं जगच्चेति नित्यमेकार्थतां गतौ ।
उभौ शब्दौ तथैवेतज्जाग्रत्स्वप्नात्मकौ स्मृतौ ॥३२॥
एवं स्वप्नपुरं स्फारं यथा व्योमैव चिन्मयम् ।
तथैवेदं जगदतः क्वाऽविद्या दृश्यते कुतः ॥३३॥
तदेवाऽऽकाशमात्रात्म यद्यविद्येति कथ्यते ।
तद्यदास्ते तदेवाऽहं बन्धः स्वकलनात्मकः ॥३४॥
तन्मैवं क्रियतामेतदबन्धस्यैव बन्धनम् ।
काऽन्यता अमलव्योम्नश्चिन्मयस्य निराकृतेः ॥३५॥
चिन्मयाकाशकचने क्वाऽस्मिन्किल निराकृतेः ।
दृश्यनामन्यविद्याख्ये बन्धो मोक्षोऽथवा कुतः ॥३६॥
नाऽविद्या विद्यते नाम बन्धो बन्धो न कस्यचित् ।
मोक्षो न कस्यचिन्मोक्षश्चाऽस्ति नाऽस्तीति नाऽस्त्यलम्३७

जाग्रत् और स्वप्न दोनों शब्द एकार्थ वाले कहे गये हैं दोनों के अर्थ में रत्ती भर भी वैसे ही भेद नहीं है। जैसे दृश्य और जगत्—दोनों ही नित्य एकार्थ हैं उनके अर्थ में जरा भी भेद नहीं है ॥३२॥

यह जाग्रत् जगत् भी वैसे ही चिन्मयाकाश ही है इस प्रकार जैसे विशालतम स्वप्ननगर चिन्मय आकाश ही है इसलिए अविद्या कहाँ और उसका दर्शन ही कैसे हो सकता है ॥३३॥

यदि 'स हि स्वप्नो भूत्वा' इत्यादि श्रुति में जैसे स्वप्नशब्द से ब्रह्म ही कहा जाता है वैसे ही अविद्या शब्द से भी ब्रह्म ही कहा जाता है, तो शब्द में हमें विवाद नहीं हैं किन्तु सकल भ्रमों की शान्ति होने पर जो ही है वही मैं हूँ। पहले स्वकल्पनारूप ही बन्धभ्रान्ति रही, यही हमारा अभिमत अर्थ है वह सिद्ध हो गया ॥३४॥

इसलिए इस प्रकार अबन्ध (बन्धन के अयोग्य) चिन्मय का यह बन्धन ही न कीजिये। निर्मल आकाश और निराकार चिन्मय में कौन सा अन्तर है जिससे आकाश नहीं बाँधा जा सकता लेकिन चिदात्मा बाँधा जा सकता है ऐसा कहा जा सके। क्योंकि अमूर्तता, अलेपकता, सूक्ष्मता आदि से दोनों में अत्यन्त समता है। अर्थात् यदि ऐसा है तो नित्यमुक्त आत्मा में बन्धन भ्रान्ति ही नहीं करनी चाहिये ॥३५॥

इस दृश्य नामधारी अविद्यासंज्ञक चिन्मयाकाश का स्फुरण होने पर निराकार चिन्मय का बन्ध अथवा मोक्ष कहाँ और किससे होगा ? ॥३६॥

जब अविद्या नहीं है तब किसी का बन्धन-बन्धन नहीं है और किसी का मोक्ष नहीं है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त 'है' 'नहीं है' यों व्यवहार के योग्य वस्तु ही अत्यन्त दुर्लभ है ॥३७॥

नाऽस्त्येव विद्याऽविद्या वा चिदेवेयं कचत्यजा ।
ख एव खाकृतिः स्वप्न इव सर्गस्वदेहिनी ॥३८॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
तज्जाग्रत्स्वप्नदृश्यस्य रूपमित्येव निश्चयः ॥३९॥
सबाह्याभ्यन्तरे दृश्ये शान्तनिद्रस्य यद्वपुः ।
एकस्य निशि तद्रूपं जाग्रत्स्वप्नदृशामिह ॥४०॥
विद्धि तद्रूपमेवेवं भेदवेदनमित्यपि ।
चित्यन्तमागतः कोऽन्यो नाम स्याद्भेदभेदने ॥४१॥
चिद्व्योमैवाऽभेदबुद्धिश्चिद्व्योमैव च भेदधीः ।
द्वैताद्वैते चैकमेव तथा शान्तमखण्डितम् ॥४२॥
सदंशो बोधतद्ग्राह्यमय एव यथा तथा ।
दृष्टा य एव दृश्यं तद्द्वैतवेदनमेककम् ॥४३॥
तद्ब्रह्म खं विदुर्द्वैतमद्वैताद्वैतमेव च ।
सर्ग एव परं ब्रह्म द्वैतमद्वैतमेव सत् ॥४४॥
नेति नेति विनिर्णीय सर्वतोऽभिभवत्यपि ।
पश्चात्त्यक्त्वा चिदाकाशे शिलां कृत्वाऽऽस्यतामिह॥४५॥
यथाक्रमं सुभग यथास्थितिस्थिति
यथोदयं व्रज पिब भुंक्ष्व भोजय।
अभीप्सितं गतमननो निरिङ्गनः
सुचिन्मये परमपदोपलो भवान् ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० शवो० निर्वाणवर्णनं नामैकषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६१॥

विद्या अथवा अविद्या का अस्तित्व नहीं ही है। यह आकाशाकृति अज चित् ही स्वप्न की तरह सर्गाकार स्वदेह वाली होकर स्फुरित होती है ॥३८॥

एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय जो संवित् का स्वरूप प्रसिद्ध है वही स्वप्न और जाग्रत् में प्रसिद्ध दृश्य का परमार्थिक रूप है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये ॥३९॥

बाह्य दृश्य में और आभ्यन्तर दृश्य में इन्द्रिय, मन, उनके विकार आदि में प्रकाश करने के लिए सदा जागरूक अद्वितीय स्वयं ज्योति आत्मा का जो स्वरूप है वही जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों का तात्त्विक रूप है ॥४०॥

इसीलिए जाग्रत् और स्वप्न के भेद की प्रतीति की कल्पना को भी उन दोनों के साक्षीरूप ही आप जानिये न कि चिद्भेद, क्योंकि तीनों अवस्थाओं में अनुगत साक्षिभूत चिति का अन्त दूसरे किसने देखा है जो कि चित् में भेद देखेगा ॥४१॥

चिदाकाश ही अभेद बुद्धि है और चिदाकाश ही भेदबुद्धि है ऐसा होने पर द्वैत और दोनों ही अखण्ड शान्त एक ही हैं ॥४२॥

द्वैत और द्वैतज्ञान—दोनों एक ही है, इसलिए चिदंश भी वैसे ही अभिन्न है जैसे ब्रह्म के सत, चित् और आनन्द रूप अंशों में सत् अंश बोधमय और ज्ञान से ग्राह्यमय दोनों में अभिन्न है क्योंकि जो ही दृष्ट हैं अर्थात् दृष्टियों के विषयीकृत हैं वे ही 'दृश्य' कहे जाते हैं। कोई भी चित्तादात्म्य से अतिरिक्त विषयविषयिभाव का निरूपण नहीं कर सकता ॥४३॥

एक सद वस्तु का ही सकल द्वैतरूप से (सर्गरूप से) जब प्रतिभास है तब ब्रह्म ही द्वैत-अद्वैत और अद्वैताभिन्न भी है, उससे अतिरिक्त कुछ भी सिद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥४४॥

पहले सर्गरूप ही परम ब्रह्म द्वैत और अद्वैत है यों मूर्तामूर्त प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता का निर्णय कर पीछे 'नेति-नेति' श्रुतिवाक्य से सकल द्वैत के निषेध द्वारा चारों ओर से सकल द्वैत का त्याग कर चारों ओर से आविर्भूत इस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाश में उत्तरोत्तर भूमिका के अभ्यास से सैन्धव घन के समान आनन्दैकरसघन शिला बनाकर आप स्थित हो जाएँ ॥४५॥

हे सुभग ! इस प्रकार सुचिन्मय ब्रह्म में परमपदरूप शिला बने हुए निश्चिन्त और निष्क्रिय हुए आप क्रमशः अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का उल्लंघन किये बिना और लोक मर्यादा का उल्लंघन किये बिना अपने वित्तानुसार अभीष्ट देश में जाइये, पीजिये, खाइये और अपने इष्ट मित्रों को खिलाइये ॥४६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में निर्वाण वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एकसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६१॥

१६२

वसिष्ठ उवाच

चिद्व्योमार्थतयाऽर्थानां यथास्थितमिदं जगत्।
सरूपालोकमननमपि चिद्व्योम केवलम् ॥१॥
स्वप्नचित्पुररूपत्वादन्यद्यस्मान्न विद्यते।
जगत्तस्मान्नभः शान्तं नेह नानाऽस्ति किंचन ॥२॥
चिदाभानमनानैव नानेव परिलक्ष्यते।
अनात्मैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं स्वप्नाकाशपुरेष्विव ॥३॥
सर्गादाविव चिद्व्योम स्वप्नाकाशपुरं जगत्।
आभातमेवाऽसत्यं च नूनं सत्यमिव स्थितम् ॥४॥
तज्ज्ञाज्ञातो न मूर्खाणामज्ञाज्ञातो न तद्विदाम्।
विद्यते सर्गशब्दार्थः सत्यासत्यमयात्मकः ॥५॥
तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोरन्तः प्रतिपत्तौ तु यत्स्थितम्।
न बोद्धुं न च वक्तुं ते जानीतस्तौ परस्परम् ॥६॥
स्वबुद्धौ स्वर्गशब्दार्थो मिथोऽन्तरस्तत्किलाऽनयोः।
स्थैर्यास्थैर्ये जाग्रतो द्वे अक्षीबक्षीबयोरिव ॥७॥
द्रवस्थितिमिता यद्वत्सरिद्वारिणि वीचयः।
चितौ स्थितिमितास्तद्वच्चेतनात्सर्गवीचयः ॥८॥

१६२

सकल पदार्थ चिदाकाश के भोग के लिए हैं अतएव जैसे गाय आदि के उपभोग्य तृण आदि गाय आदिरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं वैसे ही बाहरी रूपालोक और आभ्यन्तरमनन के साथ बाह्य और आभ्यन्तर यथास्थित यह जगत् केवल चिदाकाशरूप से ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात सकल दृश्य का चिदाकाश के लिए ही स्फुरण होता है, इसलिए भी चिन्मात्र का परिशेष है ॥१॥

स्वप्न में नगर का भोग करने वाली चिति के ही पुररूप होने से चिति से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए जाग्रत्-जगत् भी आकाश की तरह शान्त है। यहाँ पर भेद कुछ भी नहीं है ॥२॥

चित् का चारों ओर भान अनाना होता हुआ ही नाना-सा मालूम होता है। जो नाना है वह जैसे स्वप्न नगरों और गन्धर्व नगरों में पदार्थ निस्स्वरूप ही है पर वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है वैसे ही—निस्स्वरूप है अर्थात् उसका कोई स्वरूप नहीं है वह स्वसाक्षी आत्मा से अपने को दर्शाता है ॥३॥

प्रलयकाल की तरह इस समय भी चिदाकाशरूप जगत् का स्वप्न नगर और गन्धर्व नगर के समान भान ही हुआ है और उसी तरह वह असत्य भी है इसलिए स्वप्न नगर और गन्धर्व नगर के पदार्थ से उसकी समता है, यह अर्थ है ॥४॥

सत्य-असत्यमय सर्ग (सृष्टि) तत्त्वज्ञानियों द्वारा जैसा ज्ञात है वह मूर्खों की दृष्टि में असत् है। अथवा ऐसा अर्थ करना चाहिये, मूर्खों और तत्त्वज्ञानियों के अनुभव का अनुसरण कर प्रपञ्च की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि उन दोनों में परस्पर विसंवाद होने से—जमीन आसमान का सा वैमत्य होने से—इन दोनों को ही वह अज्ञात है। अर्थात् चन्द्रमा की प्रादेशिकता अर्थात् चन्द्रमा केवल वित्ताभर है यह जैसे चन्द्रमण्डल के विस्तार को जानने वालों के अनुभव से मेल न खाने के कारण असत् है वैसे ही ज्ञानियों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण भी जगत् असत् है ॥५॥

तत्त्वज्ञानी केवल अन्तदृष्टि हैं और अज्ञानी केवल बाह्यदृष्टि हैं, अतएव उन दोनों की बुद्धि वृत्ति में स्थित प्रपञ्चस्वरूप को ये दोनों स्वयं समझने तथा तुमको अथवा आपस में एक दूसरे को समझाने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥६॥

सर्ग शब्द का अर्थ जैसा स्वस्वबुद्धि में स्थित होता है वैसा ही स्फुरित होता है उससे अन्य नहीं, यह निर्विवाद बात है। उसमें पागल और भले चंगे स्वस्थ मस्तिष्क वाले की तरह भ्रान्त और अभ्रान्तरूप इनके परस्पर के तत्-तत् प्रपञ्च का रूप आन्तर बुद्धि में स्थित होने के कारण अन्तःस्थ है। विद्वान् की बुद्धि सदा स्थिरता में जाग्रत रहती है इसलिए वह स्थिर आत्मतत्त्व को देखता है और अविद्वान् की बुद्धि अस्थिरता में जागरूक रहती है इसलिए वह अस्थिर बाह्य को ही देखता है। बुद्धिगत प्रपञ्चस्वरूप न तो अत्यन्त आन्तर है और न अत्यन्त बाह्य है, इसलिए दोनों को ही उसका ठीक परिज्ञान नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥

सृष्टिरूपी तरङ्गें अज्ञात चित् स्वभाव का ही अवलम्बन कर आत्मसत्ता से ही चित् में वैसे ही स्थिति को प्राप्त हुई हैं। जैसे तरङ्गें नदी के जल में जलद्रव के रूप से स्थित होती हैं ॥८॥

चिद्रूपं यन्न किंचित्तदिदं किंचिदवस्थितम् ।
भाति दृश्यमिवाऽदृश्यमपि स्वप्नपुरेष्विव ॥९॥
चिच्छायेयं प्रकचति जगदित्यभिशब्दिता ।
नन्वमूर्तेव मूर्तेव द्रव्यच्छायेव वै तता ॥१०॥
कायमात्रकमेवेदं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ।
पिशाचविभ्रमालोकप्रायमायासनं दृढम् ॥११॥
मनोराज्यमिवाऽसत्यं लोलं लम्बाम्बुबिन्दुवत् ।
द्वाभ्यामित्यनुभूतिभ्यां यदसत्तत्र काऽऽत्मता ॥१२॥
विदार्यदारुरववत्तरङ्गानिलशब्दवत् ।
खे शब्दाः पवनस्फोटा भान्त्यर्था वासनोदयाः ॥१३॥
सर्गादितः स्वपरिभा कचति स्वप्नशैलवत् ।
वस्तुतस्तु न शब्दोऽस्ति नार्थोऽस्ति न च दृश्यता ॥१४॥

जो केवल चिच्चमत्काररूप है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, वह जगत् के रूप से स्थित है जैसे स्वप्नगरों में अदृश्य भी वस्तुजात दृश्य-सा प्रतीत होता है वैसे ही यह भी अदृश्य होता हुआ ही दृश्य-सा मालूम होता है ॥९॥

यह चित् की प्रभा ही जगत् नाम से स्फुरित होती है यह निराकार होती हुई ही दर्पण में घट, पट आदि पदार्थों की छाया के समान मूर्तिमती-सी होकर व्याप्त है ॥१०॥

यह केवल तुच्छ शरीर एकमात्र भ्रान्तिरूप असत्यमय है। पिशाचभ्रम दर्शन की भाँति यह अत्यन्त दुःखदायक है शरीर में आत्मभ्रान्ति ही दुःखों का कारण है ॥११॥

जो मनोराज्य की तरह असत्य है, जो पत्तों के छोर पर लटक रहे जलबिन्दु की तरह चञ्चल है और पूर्वोक्त विद्वान् और अविद्वानों की अनुभूति द्वारा भी विचारा जा रहा जो असत् है उसमें आत्मता का प्रसङ्ग क्या अर्थात् उसमें कदापि आत्मता का संभव नहीं है ॥१२॥

जैसे पृथिवी में मोटा बाँस का डंडा चीरने पर उसके अन्दर पहले से स्थित शब्द बाहर निकलता हुआ-सा मालूम पड़ता है किन्तु उसके अन्दर शब्द न तो था और न निकला वैसे ही जल के तरङ्गों से, अग्नि में ज्वाला आदि से, आकाश में प्रतिध्वनि शब्द और वायु से कण्ठ, तालु आदि प्रदेशों में वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट निकले हुए से मालूम पड़ते हैं लेकिन वे उनके अन्दर पहले से नहीं हैं वैसे ही वासनामय पदार्थ भी अग्नि से चिनगारियों की तरह जाग्रत् और स्वप्न में आत्मा से निकले हुए से प्रतीत होते हैं लेकिन वे उसमें हैं नहीं ॥१३॥

सृष्टि के आरम्भ से स्वात्मचित् ही स्वप्न के पर्वत के समान स्फुरित होती है वास्तव में तो न शब्द है, न अर्थ और न दृश्यता ही है ॥१४॥

यदिदं चाऽस्ति चाऽऽभाति सत्सर्वं परमार्थसत् ।
अन्यादृक्कारणाभावात्सर्गादावेव नोदितम् ॥१५॥
निरस्तशब्दभेदार्थमनिरस्ताखिलार्थकम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि व्योमैवाऽस्मीति बुद्धचताम् ॥१६॥
त्यज्यतामात्मविश्रान्त्या शुद्धबोधैकरूपया ।
जीवेऽजवं जवीभावस्त्वसदुत्थित आत्मना ॥१७॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्माऽऽत्मना न चेत् त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥१८॥
तर तारुण्यमस्तीदं यावत्ते तावदम्बुधेः ।
ननु संसारनाम्नोऽस्माद् बुद्धचा नावा विशुद्धया ॥१९॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन्किं करिष्यसि ।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥२०॥

जो यह है और जो भासमान होता है वह सब परमार्थ सत् ही है। सत् से अतिरिक्त रूप तो सृष्टि के आदि में ही, कारण का अभाव होने से, उत्पन्न ही नहीं हुआ ॥१५॥

शब्दभेदार्थ विहीन अखिलार्थमय चिदाकाशस्वरूप मैं परमशान्ति को प्राप्त होता हूँ परम निर्वाण को प्राप्त होता हूँ, ऐसा आप जाने। अर्थात् इसलिए सदा ही एकरूप चिदाकाश ही मैं हूँ यों अपने को आप परमशान्त निर्वृतिरूप जाने ॥१६॥

एकमात्र शुद्ध बोधरूप आत्मविश्रान्ति द्वारा जीव में प्रसिद्ध मनोविक्षेप का, जो अपने आप मिथ्या ही उदित हुआ है, त्याग करे ॥१७॥

निस्सन्देह जीव आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना रिपु है। अपने से अपनी रक्षा न की गई तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा उपाय नहीं है। अर्थात् आत्मविचार से अपना उद्धार करे ॥१८॥

जब तक आपकी यह तरुणाई है तभी तक विशुद्ध बुद्धिरूपी नाव से इस संसार नामक सागर के परले पार चले जाइए। जो कल्याण है उसे आज ही कर डालिए। वृद्ध होकर क्या करेंगे ? बुढ़ापा आने पर अपने अङ्ग भी भारभूत हो जाते हैं अर्थात् अपने अङ्ग भी नहीं सँभाले जाते हैं ॥१९, २०॥

शैशवं वार्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च।
तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत् ॥२१॥

संसारमिममासाद्य विद्युत्संपातचञ्चलम्।
सच्छस्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात् सारमुद्धरेत् ॥२२॥

अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैषां भविष्यति।
कुर्वन्ति कर्दमोन्मग्ने नाऽऽत्मन्यपि निजोदयम् ॥२३॥

यथा मृन्मयवेतालसभा ग्राम्यस्य भङ्गदा।
यथाभूतार्थविज्ञानान्मृन्मय्येव न भङ्गदा ॥२४॥

तथा ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मीरज्ञस्य भङ्गदा।
यथाभूतार्थविज्ञाने ब्रह्मैवाऽऽस्ते न भङ्गदा ॥२५॥

शाम्यत्यशान्तमेवेदं स्थितमेव विलीयते।
दृश्यं तत्त्वपरिज्ञानाद् दृश्यमानं न दृश्यते ॥२६॥

स्फुटानुभवनस्याऽपि स्वप्नकाले निजे यथा।
परिज्ञानादसत्यत्वमेव सत्यपदं गता ॥२७॥

तथाऽनुभूयमानाऽपि सर्गसंवेदनाऽम्बरे।
चिन्मये तत्त्वविज्ञानाच्छून्यतैवाऽवशिष्यते ॥२८॥

जातिज्वरज्वलितजीवितजङ्गलेषु
जीर्णानि वातहरिणाहरणक्रमेण।
माद्यन्मनःपवनपातयुतान्यमूनि
जित्वेन्द्रियाणि जयमेहि जहीहि जन्म ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
अ० वि० अविद्यानिरसनो नाम द्विषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६२॥

बाल्यावस्था और वृद्धता को आप क्रमशः पशुता की भाँति ज्ञान की असाधक और मृत्युरूप ही समझिए। यदि विवेक सम्पन्न हो तो यौवन ही जीवन है यदि यौवन अविवेकपूर्ण रहा तो वह पशुता से भी गया गुजरा है ॥२१॥

बिजली के कौंधने के समान चञ्चल इस संसार को पाकर सत शास्त्रों के अभ्यास और सज्जन संगति द्वारा अज्ञानरूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिये ॥२२॥

ओह! खेद है, मनुष्यों की निठुरता का कोई ठिकाना नहीं है। जो स्वयं कीचड़ में गले तक मग्न होने पर भी शास्त्रप्रतिपादित उपायों से अपने उद्धार का उपाय नहीं करते उन बेचारों की कौन सी गति होगी ॥२३॥

जैसे मिट्टी के बने हुए वेतालों की पिशाचों की सभा ग्रामीण पुरुष को, जो ये मिट्टी के बने हैं यह नहीं जानता किन्तु असली वेतालों की सभा मैंने देखी यों भ्रान्त है, भय, ज्वर आदि दुःखदायक होती है और जिसकी दृष्टि में यह मिट्टी के वेतालों की सभा है यों यथार्थज्ञान से वेताल सभा मिट्टी की ही होती है उसे भय, ज्वर आदि दुःख नहीं होते वैसे ही ब्रह्ममयी यह दृश्यशोभा अज्ञानी को, जो इसे ब्रह्ममय नहीं देखता है, भय, क्लेश आदि देती है। यह दृश्य ब्रह्म ही है, यों यथार्थ विज्ञान होने पर यह भय, क्लेश आदि नहीं देती ॥२४, २५॥

यह दृश्य यथार्थज्ञान होने से अशान्त होता ही शान्त हो जाता है, स्थित होता ही विलीन हो जाता है और दिखाई देता हुआ भी नहीं दिखाई देता ॥२६॥

चिदाकाश में अनुभूयमान भी यह सर्गसंवित् तत्त्वज्ञान से वैसे ही केवल शून्य ही रह जाती है। जैसे अपने स्वप्न समय में स्फुटरूप से अनुभव में आया हुआ भी स्वाप्न जगत् जागने से असत्य ही हो जाता है ॥२७,२८॥

जन्म के ज्वररूप काम, क्रोध आदि वनाग्नि से जले हुए जीवनरूप जङ्गलों में मृगों के सदृश कभी तृण, पत्ते आदि इष्ट का लाभ होने और कभी इष्ट का लाभ न होने से शिथिल हुए मतवाले मन और प्राणवायु के बाहर संचरण से युक्त इन इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान द्वारा अविद्या पर विजय प्राप्त कीजिये। अविद्या पर विजय द्वारा मुक्ति पाकर पुनर्जन्म का निवारण कीजिये ॥२९॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
अवि० विप० शवोपाख्यान में अविद्यानिरसन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ बासठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६२॥

१६३

श्रीराम उवाच

विनेन्द्रियजयेनेदं नाऽज्ञत्वमुपशाम्यति ।
तदिन्द्रियाणि जीयन्ते कथं कथय मे मुने ! ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

न च प्रभूतभोगेषु न पुंस्त्वे न च जीविते ।
न चेन्द्रियजयोन्मुक्तो दीपस्तनुदृशो यथा ॥२॥
तदिन्द्रियजये युक्तिमिमामविकलां शृणु ।
सिद्धिमेति स्वयत्नेन सुखेन तनुरेतया ॥३॥
चिन्मात्रं पुरुषं विद्धि चेतनाज्जीवनामकम् ।
यच्चेतति स जीवोऽन्तस्तन्मयो भवति क्षणात् ॥४॥
संवित्प्रयत्नसंबोधनिशिताङ्कुशकर्षणैः ।
मनोमतङ्गजं मत्तं जित्वा जयति नाऽन्यथा ॥५॥
चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥६॥
संविदं संविदाकाशे सरोप्य हृदि तिष्ठतः ।
स्वयमेव मनः शाम्येन्नीहार इव शारदः ॥७॥
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति ।
न तथाऽङ्ग तपस्तीर्थविद्यायज्ञक्रियागणैः ॥८॥
यच्च संवेद्यते किंचित्तत्संविदि सर्वदा ।
नूनं विस्मार्यते यत्नाद्भोगानामिति तज्जयः ॥९॥
स्वसंवेदनयत्नेन विषयामिषतोऽनिशम् ।
किंचित्संरोधिता संवित्तत्प्राप्तं वैबुधं पदम् ॥१०॥

१६३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! इन्द्रियों पर विजय के विना यह अज्ञानिता नष्ट नहीं हो सकती है, अतः कृपाकर बताये कि इन्द्रियों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! मन्द नेत्रज्योति वाले पुरुष के समाने दीप भले ही जलता हो पर वह उसके सूक्ष्म पदार्थ निरीक्षण में उपयोगी नहीं होता, क्योंकि नेत्रज्योति होने पर ही दीपक उपयोगी होता है भोगों में आसक्त हुए, अपने पुरुषार्थ का उत्कर्ष बढ़ाने में संलग्न तथा जीवन के उपायभूत धनदौलत के उपार्जन में दत्तचित्त पुरुष के शास्त्र आदि साधन ब्रह्मसाक्षात्कार में उपयोगी नहीं होते उसी तरह इन्द्रियों पर विजय न की जाय, तो भी वे उपयोगी नहीं होते ॥२॥

इसलिए इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की अति आवश्यकता है । इन्द्रियजय में उपयुक्त इस युक्ति को आप आद्योपान्त सुनिये । मुझसे आगे कहीं जाने वाली इस युक्ति से थोड़ी भी साधन सम्पत्ति स्वयत्न से मोक्षफलरूप सिद्धि को प्राप्त होती है ॥३॥

चिन्मात्र पुरुष को आप चित्त से प्रापित अर्थ का प्रकाशक होने से अर्थात् चित्त के अधीन होने के कारण जीवनायक जाने । वह जीव अपने अन्दर जिसे चित्तवृत्ति से व्याप्तकर प्रख्यात करता है क्षण में तन्मय हो जाता है अर्थात् उसमें आसक्त हो जाता है ॥४॥

चित्त के प्रत्याहार प्रयत्न द्वारा अन्तरुन्मुख करने से ब्रह्माकारताबोधनरूप चोखे अंकुशों के आघातों से मदोन्मत्त मनरूपी मातङ्ग को जीतकर ही जीव इन्द्रियों पर विजय पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥५॥

चित्त को इन्द्रिय सेना का सेनापति कहते हैं अर्थात् वह इन्द्रियों का स्वामीरूप से संचालक और निरोधक है, इसलिए उस पर विजय पा लेने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है । जिसके पैर चर्ममय जूते आदि से सुरक्षित होते हैं उसके लिए सारी पृथ्वी चर्मावृत हो ही जाती है ॥६॥

चित्तावच्छिन्न संविद्रूप जीव को संविदाकाश में (ब्रह्म में) एक करके निज आत्मा में स्थित पुरुष का मन शरद ऋतु के कुहरे की तरह अपने-आप शान्त हो जाता है ॥७॥

पूर्ववर्णित जीवसंवित् का जतन के साथ ब्रह्म में एकीकरण से जैसा चित्त शान्त होता है वैसा शान्त तपस्या, तीर्थसेवन, विद्या, यज्ञानुष्ठान आनि से नहीं होता ॥८॥

जिस जिसका बलात् स्मरण होता है उस उसका अधिष्ठान ब्रह्मसंवित् में प्रविलापन संवित् से (एकीकरण संवित् से) निश्चय विस्मरण किया जा सकता है अर्थात् उसके संस्कारों के उच्छेद से पुनः स्मरण के अयोग्य किया जाता है । उक्त उपाय से भोग हेतु विषयों पर विजय प्राप्त होती है ॥९॥

निरन्तर अभ्यासरूप प्रयत्न से यदि चित्तवृत्ति विषय-मांस से ब्रह्म में कुछ संरोपित हो तो उस उपाय से तत्त्व-ज्ञानियों का अनुभवसिद्ध स्वराज्यपद प्राप्त हुआ ही समझिये ॥१०॥

स्वधर्मव्यवहारेण यदायाति तदेव मे।
रोचते नाऽन्यदित्येव पदे वज्रधृढीभव ॥११॥
संवित्प्रवृत्तिमर्थेषु विरुद्धेषु विवर्जयन्।
अर्जयञ्छमसंतोषौ यः स्थितः स जितेन्द्रियः ॥१२॥
संविद्रसिकतास्वन्तस्तथा नीरसतासु च।
यस्य नोद्वेगमायाति मनस्तस्योपशाम्यति ॥१३॥
संवित्प्रयत्नसंरोधान्मनः स्वायनमुज्झति।
चेतश्चपलतोन्मुक्तं विवेकमनुधावति ॥१४॥
विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते।
वासनाब्धौचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ॥१५॥
साधुसंपर्कसच्छास्त्रसमालोकनतोऽनिशम्।
जितेन्द्रियो यथावस्तु जगत्सत्यं प्रपश्यति ॥१६॥
सत्यावलोकनाच्छान्तिमेति संसारसंभ्रमः।
मराविव जलज्ञानं मिथ्यापतनदुःखदम् ॥१७॥

स्व-वर्णाश्रमधर्म के आचरण द्वारा जो पद प्राप्त होता है वही मुझे रुचता है उससे अन्य नहीं, उसी पद में आप व्रज के समान दृढ़ होइये। अर्थात् इसी प्रकार एकमात्र स्वधर्मनिष्ठता की दृढ़ता भी वैराग्य सिद्धि द्वारा इन्द्रिय-जय की हेतु होती है ॥११॥

स्वधर्म विरुद्ध देहयात्रा हेतु अन्न आदि में इच्छा का त्याग करता हुआ एवं शम और सन्तोष का उपार्जन करता हुआ जो स्थित रहता है वही विजितेन्द्रिय है ॥१२॥

जिसका मन अन्दर संवित् में रसिकता और बाहर नीरसता के अभ्यास में कभी निर्वेद को प्राप्त नहीं होता, ऊबता नहीं है, उसका मन शान्त होता है ॥१३॥

संवित् का प्रयत्नपूर्वक ब्रह्म में आरोप करने से मन विषयों के पीछे दौड़ने के दुर्व्यसन का त्याग कर देता है। वही मनकी चञ्चलता है। मन चञ्चलता से छुटकारा पाकर विवेक की ओर अग्रसर होता है ॥१४॥

विवेकवान् महाशय कहा जाता है। वह वासनारूपी तरङ्गों के वेग से संसार सागर में क्लेश नहीं पाता ॥१५॥

उदार पुरुष इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर निरन्तर साधु-सन्तों की संगति और सत् शास्त्रों के अनुशीलन से जगत् को सत्य ब्रह्ममात्र देखता है ॥१६॥

सत्य वस्तु के दर्शन से मरुभूमि में मिथ्या वस्तुओं में धावन से दुःखदायी जलज्ञान की तरह संसारभ्रान्ति शान्त हो जाती है ॥१७॥

अचेत्यमेव चिन्मात्रमिदं जगदिति स्थितम्।
इत्येव सत्यबोधस्य बन्धमोक्षदृशौ कुतः ॥१८॥
अनाकारं यथा वारि क्षीणं वहति नो पुनः।
अकारणं तथा दृश्यं ज्ञानच्छिन्नं न रोहति ॥१९॥
वेदनं व्योममात्रं त्वमहमित्यादिरूपधृक्।
वर्जयित्वैतदन्यत्स्यादहमित्यादिकं जगत् ॥२०॥
अविद्यामात्रमेवेदमहमित्यादिकं जगत्।
चिद्व्योम्न्येव स्थितं शान्तं शून्यमात्रशरीरकम् ॥२१॥
इदं चिद्व्योम्नि चिच्छाया जगदित्येव भासते।
शून्यशून्यैव चिच्चाऽसौ शून्या चेत्येव निश्चयः ॥२२॥
स्वप्नदर्शनदृष्टान्तः केन नामाऽत्र खण्ड्यते।
असन्मयोऽनुभूतश्च स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥२३॥

चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही इस जगत्‌रूप से स्थित है इस प्रकार के यथार्थज्ञानी की बन्ध-मोक्षदृष्टियाँ किससे होंगी ॥१८॥

जिसका कोई कारण नहीं है दृश्य तत्त्वज्ञान से छिन्न-मूल हो फिर वैसे ही नहीं पनपता है। जैसे सूर्य की गर्मी वश शोषण द्वारा क्षीण होकर अमूर्त हुआ जल फिर बहता नहीं है ॥१९॥

आकाशमात्र स्वरूप वाला वेदन ही अपनी अविद्यावश 'त्वम्' (तुम), 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूप धारण करता है, इसलिए अपने में अध्यस्त 'अहम्' इत्यादिरूप इस जगत् को ज्ञान द्वारा मिटाकर अध्यस्त से भिन्न अधिष्ठानमात्र हो जाता है ॥२०॥

'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि जगत् अविद्यामात्र (भ्रममात्र) ही है। यह मिथ्या होने के कारण स्वतः ही शान्त अतएव केवल शून्यमात्र शरीर वाला है, इसलिए चिदाकाश में (अपने तात्त्विक रूप में) ही स्थित है ॥२१॥

चिदाकाश में चित्प्रभा का ही इस जगत् के रूप में भान होता है। यह चित् जगत्‌रूपी शून्य से शून्य भी शून्य ही है यह सिद्धान्त है ॥२२॥

यहाँ पर स्वप्न दर्शन दृष्टान्त का कौन निवारण कर सकता है। 'स्वप्न असन्मय है' इससे स्वप्न में शून्यता है 'स्वप्न अनुभूत होता है' इससे उसमें शून्य शून्यता भी है। अनुभूत की असन्मयता में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है। कारण कि स्वप्न स्वानु भूत होने पर भी असन्मय है ॥२३॥

सोऽङ्ग संवित्तिमात्रात्मा यद्यद्राज्यं महीयते।
न कर्तृ कर्म करणं रूपं तद्वज्जगच्चितेः ॥२४॥
अकर्तृकर्मकरणमहं चिद्घनमात्रकम्।
जगच्चेदमनिर्देश्यं स्वसंवेदनलक्षणम् ॥२५॥
यथा स्वप्नेषु मरणमनुभूतं न विद्यते।
मरौ जलेच्छाऽविद्येयं विद्यमाना न विद्यते ॥२६॥
चिद्व्योम्ना काचकच्यं स्वं सर्गादौ व्योम्नि चेतितम्।
जगदित्येव निर्मूलं काकतालीयवत्स्वयम् ॥२७॥
निर्मूलमेव भातीदमभातमपि भातवत्।
तस्माद्यद्भासुरमिदं तत्तदेव पदं विदुः ॥२८॥
जीवादिकचनं त्वत्र यद्भातीदं तदेव तत्।
शून्यतैव भवेद् व्योम वार्येवाऽऽवर्तवृत्तयः ॥२९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! स्वप्न संवेदन मात्र स्वरूप वाला चिदात्मा स्वप्न में जो-जो राज्यादि वैभव होकर प्रतिष्ठित होता है, वह सब चित् का ही रूप है क्योंकि वह रूप कर्ता, कर्म, करण आदि कारणों से निरपेक्ष है वैसे ही जाग्रत् जगत् को भी समझना चाहिये अर्थात् वह भी कर्ता, कर्म आदि निरपेक्ष होने से चिद्रूप ही है ॥२४॥

जो-जो कर्ता, कर्म, करण आदि से निरपेक्ष होता है वह सब चिद्घनमात्ररूप मैं ही हूँ। सृष्टि के प्रारम्भ में इस जगत् के भी कर्ता, कर्म, करण आदि का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा हम पहले उपपादन कर चुके हैं, इसलिए यह जगत् मेरा स्वप्रकाश आत्मरूप ही है ॥२५॥

प्रतीतिवश विद्यमान भी यह अविद्या वैसे ही नहीं है जैसे स्वप्नों में अनुभूत भी स्मरण मिथ्या है और जैसे मरुभूमि में विद्यमान भी जलभ्रान्ति असत् है। अर्थात् स्वप्न में अपने मरने की तरह और मरुभूमि में मृगतृष्णा नदी की तरह प्रतीतिवश विद्यमान रहती हुई भी ज्ञान से बाधित हुई अविद्या नहीं ही है ॥२६॥

चिदाकाश ने सृष्टि के आरम्भ में अपने चाकचिक्यका अपने स्वरूप में संकल्प किया वही बिना कारण का जगत् के नाम से काकतालीय के समान स्थित है ॥२७॥

यह जगत् अकारण ही स्फुरित होता है स्फुरण को प्राप्त न हुआ भी यह स्फुरित-सा प्रतीत होता है। यह जगत् चित्प्रकाश से देदीप्यमान होकर प्रख्यात हो रहा है इसलिए विद्वान् लोग इसे वही परम पद जानते हैं ॥२८॥

इसमें जो यह जीव आदि का स्फुरण होता है। वह भी परमपद ही है क्योंकि शून्यता आकाश ही है और आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदि जल हैं ॥२९॥

यथाऽवयविनो रूपमेकं सावयवं भवेत्।
एकं जीवाद्यवयवं ब्रह्माऽनवयवं तथा ॥३०॥
आभासमात्रं दृश्यात्म चिन्मात्रं शान्तमव्ययम्।
स्थितमच्छं किमेतस्मिन्स्वभावे स्वे विचार्यते ॥३१॥
नाऽऽद्यन्तमन्तःकलनाः काश्चित्सन्ति परे पदे।
तद्रूपमेवाऽविद्येयं नाऽविद्या त्विह विद्यते ॥३२॥
जीवः स्वप्नाद् विशञ्जाग्रज्जाग्रतः स्वप्नमाविशन्।
प्रबुद्धो वाऽस्त्वबुद्धोऽप्येकरूपतया स्थितः ॥३३॥
स्थिते सुषुप्ततुर्ये द्वे सदा स्वप्नेऽथ जाग्रति।
जाग्रत्स्वप्नावेकमेव तुर्यं वेत्ति तु बुद्धधीः ॥३४॥
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च सर्वं तुर्यं प्रबोधिनः।
नाऽविद्या विद्यते तस्य द्वयस्योऽप्येव सोऽद्वयः ॥३५॥

वास्तव में निरवयव कल्पना द्वारा जीवादिरूप अवयव-युक्त ब्रह्म वैसे ही एक है। जैसे अवयवी का सावयव एक एक रूप होता है। अर्थात् अवयव-अवयवी-भाव की कल्पना के द्वारा जीवादि की ब्रह्मैकता समझें ॥३०॥

आभासरूप दृश्य शान्त अविनाशी स्वच्छ चिन्मात्ररूप से ही स्थित है। उसका स्वच्छता स्वभाव ही जगत् के रूप से भासित होता है, इसलिए अपने स्वभावभूत इस दृश्य में क्या विचार किया जाय अर्थात् इसमें द्वैत या अद्वैत का विचार करना व्यर्थ है। अर्थात् स्फटिक शिला के अन्दर वन, पर्वत, नदी आदि के आभास की तरह ब्रह्म में जगत् का आभास है, यह समझना चाहिये ॥३१॥

परमपद में आदि अन्त और मध्य की कोई कल्पनाएँ नहीं हैं। यह दृश्यरूपा अविद्या परमपदरूप ही है। अतः अविद्या नाम का पृथक् पदार्थ यहाँ कोई नहीं है ॥३२॥

स्वप्न से जाग्रत् में प्रवेश करता हुआ और जाग्रत् से स्वप्न में प्रवेश करता हुआ जीव प्रबुद्ध हो चाहे अप्रबुद्ध हो एक रूप से स्थित है। प्रबोध और अप्रबोधावस्था में केवल भानरूप से ही वह स्थित है ॥३३॥

जाग्रत् और स्वप्न में सुषुप्त (अज्ञानावृत आत्मा) और तुर्य (शुद्ध आत्मा) भ्रान्तिनिर्मित सर्प के अन्दर अज्ञानरज्जु और केवल रज्जु के तुल्य सदा स्थित है, किन्तु प्रबुद्ध पुरुष जाग्रत् और स्वप्न को एक तुर्य (शुद्ध आत्मा) ही जानता है ॥३४॥

तत्त्वज्ञानवान् पुरुष के लिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त सब कुछ तुर्य ही है। तत्त्वज्ञानी की अविद्या नहीं है अतः वह द्वैतस्थ होने पर भी अद्वय ही है ॥३५॥

द्वैतमद्वैतमित्येतदहंत्वमिदमित्यपि ।
निरविद्यस्य कलना कुतः काऽप्यम्बरं कुतः ॥३६॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसंदर्भविभ्रमैः ।
क्रीडन्त्यबुद्धाः शिशवो बोधवृद्धा हसन्ति तान् ॥३७॥
द्वैताद्वैतविवादेहा हृदयाकाशमञ्जरी ।
विनैतयेह नोदेति प्रबोधाकाशमार्जनम् ॥३८॥
सुहृद्भूत्वा विवादेन द्वैताद्वैतविचारणा ।
कृता हृदयगेहेऽन्तरविद्याभस्ममार्जनी ॥३९॥
तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥४०॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
जायते बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥४१॥

यह द्वैत और अद्वैत तथा 'त्वम्' (तुम) 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' यह ऐसी कोई भी कल्पना अविद्याविहीन पुरुष को कैसे हो सकती है, उससे शून्य भी कैसे ? ॥३६॥

अप्रबुद्ध बालक द्वैत, अद्वैत आदि भेदों से युक्त वाक्यरचना के विलासों से क्रीड़ा करते हैं, ज्ञानवृद्ध पुरुष उनको हँसते हैं ॥३७॥

द्वैत और अद्वैत में विवाद की इच्छा हृदयाकाश में आरोपित शिष्यप्रबोधरूप फलवाली मञ्जरी है। उसके बिना प्रबोधकाशका संमार्जन नहीं होता ॥३८॥

मैंने आप लोगों का मित्र बनकर विवाद से द्वैत-अद्वैत का विचार किया है। यह हृदयरूपी घर के अन्दर अज्ञानरूपी भस्म का मार्जन करनेवाली है अर्थात् मैंने भी सुहृद्भाव से कल्पना द्वारा द्वैताद्वैतविचारणा की है जब इसका कार्य सम्पन्न हो जायगा तब घर के झाड़ू के समान इसका त्याग कर दिया जायगा, ॥३९॥

अविद्यारूपी भस्म का संमार्जन होनेपर अधिकारी लोगों का चित्त ब्रह्म में रम जाता है, प्राण उसमें लीन हो जाते हैं यों वे ब्रह्मचित्त और ब्रह्मगतप्राण होकर आपस में एक दूसरे को बोधित करते हुए और उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसन्न होते हैं, प्रमुदित होते हैं ॥४०॥

इस प्रकार भजन कर रहे और निरन्तर विचार में निमग्न हुए उन अधिकारियों का यह मेरे द्वारा उपदिष्ट बुद्धियोग (ज्ञानयोग) समय पाकर दृढ़ हो जाता है जिससे वे मेरे उस मोक्ष नामक पद को प्राप्त होवे हैं ॥४१॥

किलोपकुरुते यत्नात्तृणमात्रावगोपने ।
कथं सिध्यत्ययत्नेन त्रैलोक्यगणगोपनम् ॥४२॥

अध्यात्मव्यसनोन्मुक्तं ततं हृत्स्थाऽधमाऽप्रभु ।
उपहासास्पदं यस्या जगदप्युत्तमस्थितेः ॥४३॥

किं नामेदं किल सुखं यद्राज्यादिमनोऽङ्कुरम् ।
तत्त्वज्ञानैकविश्रान्तौ देवराजपदं तृणम् ॥४४॥

सुप्ताः प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
तथा दृश्येऽरताः शान्ता सन्तः पश्यन्ति तत्पदम् ॥४५॥

तृणमात्र के भी सर्दी, गर्मी, पशु आदि से रक्षण में उपाय यदि यत्नतः किया जाय तो वह उपकारी होता है उपेक्षा से उपाय किया जाय तो वह सफल नहीं होता एक दो त्रैलोक्यों का नहीं अपितु कोटि-कोटि त्रैलोक्यों का ब्रह्मतापादन द्वारा आत्यन्तिक रक्षणरूप तत्त्वज्ञान विना प्रयत्न के कैसे सिद्ध हो सकता है ॥४२॥

जिस निरतिशय आनन्दरूप उत्तम स्थिति का मानुष आनन्द से लेकर ब्रह्मानन्द पर्यन्त उत्तरोत्तर सौ सौ गुने उत्कृष्ट सुखोपभोग के लिए चौदहों भुवनों में बिखरा हुआ, हृदय में स्थित अधम काम को जीतने में असमर्थ यानी कामोपहत अतएव अध्यात्मव्यसन से रहित सम्पूर्ण जीवसंघ तुच्छ भोगों में आसक्त होने के कारण उपहासास्पद है वह उत्तम स्थिति क्योंकर प्रयत्न के योग न होगी ॥४३॥

मन का अंकुररूप (मन का संकल्पस्वरूप) राज्यादि जो सुख है, वह भी कोई सुख है तत्त्वज्ञान में पूर्णतया विश्रान्ति होनेपर इन्द्रपद भी तृण की तरह तुच्छ लगता है ॥४४॥

दृश्य में (सुप्तप्राय) शान्त सन्त तत्त्वज्ञानी उस निरतिशयानन्द पद को प्रबुद्ध हो वैसे ही देखते हैं, जैसे दृश्य में (विषयभोग में) रमे हुए पुरुष जैसे सोकर या जागते हुए दृश्य को देखते हैं वैसे ही दृश्य में विरक्ति रखनेवाले शान्त ज्ञानी पुरुष उस परमपद को देखते हैं अथवा अज्ञाननिद्रा में सोये हुए और विषयभोग में निरत लोग दृश्य को अत्यन्त आसक्ति से देखते हैं ॥४५॥

विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिद्धयति।
महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं विद्धि परं पदम् ॥४६॥

इदं बहूक्तमेतेन किमेतेनेति दुर्मतिः।
न ग्राह्यैतावताऽप्युक्तं नाऽऽदत्ते नेदमज्ञधीः ॥४७॥

भूयो भूयः परावृत्त्या चिरमास्वाद्यते यदि।
श्रूयते कथ्यते चेदं तज्ज्ञेनाऽज्ञेन भूयते ॥४८॥

यस्त्वेकवारमालोक्य दृष्टमित्येव संत्यजेत्।
इदं स नाम शास्त्रेभ्यो भस्माऽप्याप्नोति नाऽधमः ॥४९॥

निरतिशयानन्दरूप परम पद निरन्तर बार-बार यत्न किये बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप मोक्षरूप परम पद को महान् अभ्यासरूपी वृक्ष का फल समझिये। अर्थात् इस प्रकार का नित्य अपरोक्ष निरतिशयानन्द रूप मोक्षपद अतिशय प्रयत्न के बिना कैसे सिद्ध हो सकता है? इसलिए उसके लिए प्रयत्नाभ्यास की आवश्यकता है ॥४६॥

इसलिए मैंने आप लोगों का अभ्यास दृढ़ हो इस बुद्धि से पुनः पुनः प्रकारान्तर से, दूसरी-दूसरी युक्तियों से और कथा, आख्यान आदि के विस्तार से यही एक ही बात बहुत बार कही है। और आप लोगों को भी पुनः पुनः आप कहते हैं। हजारों पुनरुक्तियों से विस्तार को प्राप्त किये गये इस ग्रन्थ से और इस अभ्यास के श्रम से क्या प्रयोजन है यों अश्रद्धारूप दुर्मति का आश्रयण नहीं करना चाहिये। अतिकुशाग्रबुद्धि वाले किसी एक आध को ही अभ्यास की अपेक्षा नहीं होती लेकिन मन्दबुद्धि तो यों विस्तारपूर्वक बार-बार कहे गये उपदेश वाक्य से भी इस दुर्बोध आत्मतत्त्व को हृदय में धारण नहीं कर सकता। अतः उसके लिए पुनः पुनः आवृत्तिरूप अभ्यास आवश्यक है ॥४७॥

यदि मेरे द्वारा उक्त इस शास्त्र का पुनः पुनः अवृत्ति द्वारा चिरकाल तक आस्वादन किया जाय, यह पुनः पुनः सुना जाय और कहा जाय, तो अज्ञानी भी तत्त्वज्ञानी हो सकता है अर्थात् मन्द और मध्यम अधिकारियों को जब तक ज्ञान का उदय न हो तब तक इस ग्रन्थ का पुनः पुनः श्रवण आदि की आवृत्ति द्वारा आस्वादन करना चाहिये ॥४८॥

जो आदमी एक बार इसका अवलोकन कर मैंने इसे देख लिया है यों ही अपेक्षा से त्याग कर दे। उस अधम के हाथ अध्यात्मशास्त्रों से भस्म भी नहीं लगती है, अर्थात् जो पुनः पुनः अभ्यास नहीं करता उसे इसके फलभूत मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह भाव है ॥४९॥

इदमुत्तममाख्यानमध्येयं वेदवत्सदा।
व्याख्येयं पूजनीयं च पुरुषार्थफलप्रदम् ॥५०॥

यदस्मात्प्राप्यते शास्त्रात्तत्तद्वेदादवाप्यते।
अस्मिन् ज्ञाते क्रिया ज्ञानं द्वयं याति पवित्रताम् ॥५१॥

वेदान्ततर्कसिद्धान्तस्त्वस्मिन्ज्ञाते च बुध्यते।
इदमुत्तममाख्यानं व्याख्यातं शास्त्रदृष्टिषु ॥५२॥

कारुण्याद्भवतामेतदहं वच्मि न मायया।
भवन्तस्त्ववगच्छन्ति मायामेतद्विचार्यताम् ॥५३॥

अस्माच्छास्त्रवराद् बोधा जायन्ते ये विचारितात्।
लवणैर्व्यञ्जनानीव भान्ति शास्त्रान्तराणि तैः ॥५४॥

इस योगवासिष्ठरूप उत्तम आख्यान का वेद की तरह सदा विधिपूर्वक अध्ययन करना चाहिये और व्याख्यान करना चाहिये क्योंकि यह वेदवत् पूजनीय है तथा परमपुरुषार्थभूत मोक्षरूप फल देने वाला है ॥५०॥

जो परम पद इस शास्त्र से प्राप्त होता है वही वेद से भी प्राप्त होता है। इस शास्त्र के ज्ञात होने पर क्रिया अर्थात् पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) और ज्ञान अर्थात् उत्तर काण्ड (ज्ञानकाण्ड) दोनों ही पवित्रता को प्राप्त होते हैं अर्थात् अशुद्धि का आत्यन्तिक निरास करते हैं ॥५१॥

इस शास्त्र के ज्ञात होने पर, समझ में आने पर, वेदान्तों में महर्षि श्रीवेदव्यास आदि द्वारा प्रदर्शित तात्पर्य के निर्णय के अनुकूल उपक्रम, उपसंहार आदि लिङ्गवाले तर्कों से व्यवस्थापित सिद्धान्त समझ में आ जाता है। यह उत्तम आख्यान सकल शास्त्र दृष्टियों में श्रेष्ठरूप से प्रख्यात है ॥५२॥

मैं यह आप लोगों के ऊपर कृपा करके कहता हूँ किसी प्रकार छल-कपट से नहीं कहता हूँ। आप लोग प्रयत्न से विचारित इस शास्त्र से इस दृश्यसंघात को माया अर्थात् मिथ्या समझ सकते हैं, इसलिए आप लोग इस शास्त्र का चिन्तन करें ॥५३॥

विचारे गये इस श्रेष्ठतम शास्त्र से जो बोध उत्पन्न होते हैं उन बोधों से अन्य शास्त्र ऐसे रुचिकर लगते हैं जैसे कि लवण से व्यञ्जन रुचिकर होते हैं, इसलिए यह शास्त्र सकल शास्त्रों का उपजीव्य है ॥५४॥

अनार्यमिदमाख्यानमित्यनादृत्य दृश्यधीः ।
मा भवन्त्वात्महन्तारो भवन्तो भवभागिनः ॥५५॥
तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ।
यथा भवन्तो विविचारवन्त-
स्तथाऽनिशं मा भवताऽज्ञताप्त्यै ॥५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णनं नाम त्रिषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६३॥

यह आख्यान काव्य होने के कारण अनुपादेय है यों इसका अनादर कर भोगों में आसक्त बुद्धि वाले अतएव आत्महत्या करने वाले अर्थात् बार-बार मृत्यु परम्परा-प्राप्ति में हेतुभूत मोहरूपी गड्ढे में गिरने वाले उससे पुन: पुन: संसार-भागी आप लोग न हों ॥५५॥

यह हमारे पूर्वजों का कुआँ है अत: हम इसी का खारा जल पीएँगे यों कह रहे पुरुष निकटवर्ती जाह्नवी के स्वच्छ जल का निरादर कर खारा जल पीते हैं वैसे ही आप भी अज्ञता की प्राप्ति के लिए अर्थात् पुन: पुन: जन्मपरम्पराओं के हेतुभूत एकमात्र मूर्खता के ही लाभ के लिए निरन्तर विरुद्ध विविद्ध विचार वाले मत होइये। इसके द्वारा निम्नलिखित विषय का निवारण करते है हमारे कुल में हमारे पुरखों ने तप और कर्म में ही निष्ठा उपार्जित की. ब्रह्मनिष्ठा अर्थात् ज्ञाननिष्ठा का उन्होंने उपार्जन नहीं किया। हमारे पूर्वज कर्ममीमांसक थे, हमारे पूर्वज तार्किक थे, हमारे पूर्वज सांख्य थे, हमारे पूर्वज तान्त्रिक थे, मन्त्रसिद्ध, योगसिद्ध तथा औषध और रसायन में सिद्धहस्त थे, हम लोग भी उनके वंशज हैं, अत: उनके अनुसृत मार्ग का ही अवलम्बन करेंगे, अध्यात्म मार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे ऐसा कह रहे जनों का उपहास करते हुए श्रीवसिष्ठजी मुमुक्षुओं की उस मार्ग में प्रवृत्ति का निवारण करते हैं ॥५६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सो तिरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६३॥

१६४

वसिष्ठ उवाच

जीवाणवो जगत्यन्तश्चिदादित्यांशुमण्डले ।
यत्र तेऽवयवास्तुल्यास्तेनाऽनवयवात्मता ॥१॥
सर्वं प्राप्य परं बोधं वस्तु स्वं रूपमुज्झति ।
पुनस्तदेकवाक्यत्वान्न किंचिद्वाऽपरं भवेत् ॥२॥

१६४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! चारों ओर से परिपूर्ण चिद्रूपी सूर्य के मण्डल का अन्दर होने पर जगत् में प्रसिद्ध सकल जीवाणु चिद्रूपसूर्य के तुल्य हैं अर्थात् अग्नि और स्फुलिङ्गों की तरह समान प्रकाशन स्वभाव वाले हैं। इस कारण चिद्रूपी सूर्य की अनवयवात्मता सिद्ध हुई। हाथ, पैर आदि अवयव परस्पर विलक्षण आकार वाले हैं और उनका स्वभाव भी भिन्न दिखाई देता है और उधर अवयवी की रूपरेखा (बनावट) अवयवों से भिन्न होती है अत: उनमें परस्पर भेद और अवयव-अवयविभाव लोक में प्रसिद्ध है किन्तु जीवब्रह्म के अत्यन्त तुल्य होने पर उनमें न तो भेद है, न लोकसिद्ध अवयव-अवयविभाव ही है ॥१॥

नक्षत्रों के भेद के समान जीवों का भेद नहीं है, किन्तु घड़े, मटके आदि के आकाश के भेद के तुल्य औपाधिक भेद है। वह भेदक अन्त:करण आदि उपाधिभूत वस्तु 'मैं अखण्डाकार अपरोक्ष ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को प्राप्त कर अपने उपाधिरूप और उपाधिकृत भेद का त्याग कर देती है। उपाधिभेद के हट जाने पर प्रतिज्ञात अर्थ की (जीव-ब्रह्म भेद की) सिद्धि हो जाती है। अथवा पहले जीवों की अविद्या से परस्पर विरुद्धधर्मता दिखला कर ब्रह्मैक-वाक्यता के विच्छेद से भेदसा, बन्धसा, अनर्थसा हुआ। इस समय विद्या से अविद्या का निरासकर विरुद्ध धर्म की निवृत्ति द्वारा फिर ब्रह्मैकवाक्यता के सम्पादन से अवयवा-वयविभाव आदि दूसरा भेदक क्या होगा अर्थात् कुछ

सर्वास्वेवाऽऽस्ववस्थासु तत्त्वज्ञविषयं तु तत्।
परमेवाऽमलं ब्रह्म नाऽन्यत्किंचित्कदाचन ॥३॥

यच्चाऽतत्त्वविषयं तज्जानाति स एव तत्।
वयं तु विद्मो नाऽहं त्वं नाऽतत्त्वज्ञं न वस्तु तत् ॥४॥

अयं सोऽहमयं चाऽज्ञः सत्योऽयमिति बुद्धयः।
संभवन्ति न तत्त्वज्ञे क्व मेरौ मृगतृष्णिका ॥५॥

यथैकद्रव्यनिष्ठे हि चित्तेऽन्यद्रव्यसंविदः।
न भवन्ति परे तद्वन्नाऽन्यास्तिष्ठन्ति संविदः ॥६॥

अर्थात् नक्षत्रों का भी आकाश समान प्रकाशन स्वभाव दिखाई देता है अतः उनमें परस्पर अभेद तथा तेज की भी निरवयवता क्यों न होगी ? यदि उनके भिन्न देशस्थ होने और प्रकाश में कमी-वेशी होने के कारण उनकी परस्पर अभेदापत्ति का परिहार करो तो वह परिहार जीवों में भी समान है ॥२॥

तत्त्वज्ञों का विषयभूत जो परम निर्मल ब्रह्म है वह वह तो इन सभी अवस्थाओं में भेद आदि मल से रहित एक रस ही है। उसमें कदापि किंचिद् भी द्वैतरूपी मल का अस्तित्व नहीं है। अर्थात् तो क्या अविद्या, अन्तः-करण, देह आदि से भेदावस्थाओं में पहले जीव भिन्न ही थे, इस समय विद्या द्वारा ब्रह्मैक्य को प्राप्त किये गये ? इस शङ्का पर उत्तर दिया है ॥३॥

जो अज्ञानी की विषयभूत मलिन वस्तु है उसको वही (अज्ञानी ही) जानता है। हम तो न 'अहम्' को जानते हैं, न 'त्वम्' को जानते हैं, न अज्ञ को जानते हैं और न अज्ञ के विषयभूत उस मलिन वस्तु को ही जानते हैं ॥४॥

यह वह है, यह मैं हूँ, यह सत्य है इत्यादि भेद बुद्धियाँ अज्ञानी में ही होती हैं, तत्त्वज्ञानी में कदापि नहीं हो सकतीं। भला बतलाइये तो सुमेरु में कहीं मृगतृष्णा हो सकती है। क्योंकि प्यासे पुरुष की थकी-माँदी दृष्टि से मृगतृष्णा की प्रतीति होती है, स्वर्गभूत सुमेरु में किसी को प्यास, थकान आदि नहीं होते, अतः वहाँ उसकी प्रतीति क्योंकर होगी ? ॥५॥

परमतत्त्व के निश्चित हो जाने पर अर्थात् तत्त्वतः ज्ञात हो जाने पर अन्य भेद भ्रम ज्ञान वैसे ही नहीं टिक सकते हैं। जैसे यह ठूँठ ही है, यह सीप ही है यों जिस

इदं नाऽऽसीन्न चोत्पन्नं न चाऽस्ति न भविष्यति।
जगद् ब्रह्मैव सद्रूपमिदमित्थमवस्थितम् ॥७॥

चिन्नभःकाचकच्यं च स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते।
जगदित्येव तत्तत्र तज्ज्ञानेनैव चेत्यते ॥८॥

स्वप्नेषु कल्पनपुरेषु यथाऽन्यदस्ति
चिन्मात्रमच्छगगनं ननु वर्जयित्वा।
नो किंचनाऽपि न च रूपमरूपकेषु
रूपं तथा जगति संप्रति जाग्रदाख्ये ॥९॥

पूर्वं किलोद्भवति किंचन नाम नेदं
तच्चाऽवभाति तदनादि खमेव चित्त्वात्।

पुरुष को एकरूप द्रव्य का यथार्थ निश्चय है। जिसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। उसमें उससे विपरीत यह ठूँठ है या पुरुष है ऐसा संशयज्ञान और यह चाँदी है ऐसा भ्रान्तिज्ञान नहीं होता ॥६॥

यह दृश्य न पहले था, न उत्पन्न हुआ, न वर्तमान काल में है और न आगे भविष्यं में होगा इस प्रकार जगत् का मार्जन होने पर यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही होकर स्थित है ॥७॥

इस प्रकार मार्जन द्वारा पहले जगद्रूप से ज्ञात चिदा-काश की झलक स्वरूपभूत शुद्धब्रह्मभाव में ही स्थित होती है। उस अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा चिदाकाश की झलक ही जगत् है यह बात उसके ज्ञान से ही जानी जाती है। जगत् जड़रूप कुछ नहीं है ॥८॥

इस समय जाग्रत् नामक जगत् में चिन्मात्र के सिवा वैसे ही चिन्मात्र के सिवा वैसे ही कुछ भी उपाधिस्वरूप नहीं है। जैसे स्वप्नों में मनोरथ द्वारा कल्पित नगरों में केवल एक निर्मल चिन्मात्र के सिवा अन्य कुछ नहीं है इस प्रकार उपाधि का मार्जन करने से अरूप हुए जीवों में अन्य रूप नहीं है, यों चिदेकरूपता सिद्ध हुई ॥९॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, सृष्टि के पूर्व यह एक अद्वितीय सत् ही था) इस श्रुति के अनुसार जिसमें सृष्टि के पूर्व में न परिणामी या उपादान कारण है और न सहकारी और निमित्त कारण ही है उससे जगत् उत्पन्न होता है; यह उक्ति कैसी ? अतः यह कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, जो उत्पन्न हुआ-सा मालूम पड़ता है वह अनादि ब्रह्म ही है चित्स्वभाव होने से वह

नो कारणं न सहकारि किलाऽस्ति यत्र
तस्मात्स्वयं भवति वस्त्विति केयमुक्तिः॥१०॥
तस्मात्स्वयं भवति नेह हि कश्चिदादौ
ब्रह्मादयोऽज्ञविदिता न च नाम सन्ति।
व्योमेदमाततमयं स इतः स्वयंभू-
रित्यादि चिद्गगनमेव चिता विभाति॥११॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूत्तो मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे जगत्परमात्मनोरैक्ययोगोपदेशो नाम चतुःषष्ट्यधिकशततमः सर्गः॥१६४॥

स्वयं ही जगत्-सा मालूम पड़ता है, यह सिद्ध है॥१०॥

इसलिए सृष्टि के आरम्भ में कोई भी अपने-आप उत्पन्न नहीं होता, अतएव अज्ञानियों द्वारा ज्ञात ब्रह्मा आदि व्यष्टि और समष्टि जीव तथा उनके उपाधिभूत देहेन्द्रिय आदि नहीं ही हैं, किन्तु वह स्वयम्भू (ब्रह्मा) और यह प्रपञ्च ब्रह्म से शून्यरूप में ही फैला है। चिदाकाश ही स्वचित् से वैसा (जगत्सा) प्रतीत होता है, यह सिद्ध हुआ, यह अर्थ है॥११॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में जगत्परमात्मनोरैक्य योगोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥१६४॥

१६५

वसिष्ठ उवाच

जाग्रत्स्वप्ने स्वप्न एव जाग्रत्त्वमनुगच्छति।
स्वप्नजाग्रति जाग्रत्तु स्वप्नतामुपगच्छति॥१॥

स्वप्नो जाग्रत्प्रविशति जाग्रत्स्वप्नात्प्रबुध्यते।
जाग्रत्स्वप्नं प्रविशति प्रबुद्धः स्वप्नजाग्रतः॥२॥

जाग्रत्स्वप्नवता स्वप्नः स्वप्न इत्यभिधीयते।
स्वप्नजाग्रद्वता जाग्रज्जाग्रदित्यभिधीयते॥३॥

तज्जाग्रज्जाग्रतीवेह न तु स्वप्नः कदाचन।
स्वप्ने स्वप्नो जाग्रदेव न तु जाग्रत्कदाचन॥४॥

लघुकालात्मकः स्वप्नः सर्वदैव हि जाग्रति।
लघुकालात्मकं जाग्रत्स्वप्नकाले सदैव च॥५॥

१६५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये आपस में एक दूसरे में प्रवेश करने से तीन प्रकार के हैं। जैसे—जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत-स्वप्न, जाग्रत्सुषुप्ति, स्वप्नजाग्रत, स्वप्नस्वप्न, स्वप्नसुषुप्तिजाग्रत्, सुषुप्ति-स्वप्न और सुषुप्ति-सुषुप्ति। उत्पत्तिप्रकरण में इनका उदाहरणों द्वारा विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है, विशेष वहीं देखना चाहिये। उन भेदों में से जाग्रत् स्वप्न में मनोरथ में पदार्थों के इन्द्रिय व्यापार निरपेक्ष होने से केवल मनोमय होने के कारण स्वप्नसाम्य से स्वप्न ही जाग्रद्भाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार स्वप्न में भी इतने समय तक मैं सोया रहा इस समय जाग रहा हूँ ऐसी प्रतीति के दर्शन प्रसिद्ध स्वप्न जाग्रत् में तो अनुभव सिद्ध जाग्रत् ही स्वप्नभाव को प्राप्त होता है॥१॥

स्वप्न जाग्रत् में प्रवेश करता है और जाग्रत् स्वप्न से निकलता है। इसलिए आत्मा स्वप्नरूपी ही जाग्रत् से जागकर जाग्रत्रूप स्वप्न में ही प्रवेश करता है। अर्थात् परस्पर में प्रवेश की तरह इनमें परस्पर निमित्तता भी है॥२॥

जाग्रत्स्वप्नवान् पुरुष जाग्रत् को ही 'स्वप्न' 'स्वप्न' कहता है और स्वप्न जाग्रद्वान् पुरुष स्वप्न को ही 'जाग्रत्' 'जाग्रत्' कहता है यों जाग्रत् में स्वप्न का व्यपदेश और स्वप्न में जाग्रत् का व्यपदेश दिखाई देता है। अतः इन दोनों में व्यपदेशसांकर्य स्पष्ट है। अर्थात् इनमें (स्वप्न और जाग्रत् में) परस्पर व्यपदेशसंकरता भी दिखाई देती है॥३॥

स्वप्न का भी जाग्रत् यहाँ जाग्रत् के जाग्रत् की तरह अनुभव से जाग्रत् ही है स्वप्न कदापि नहीं है इसी प्रकार जाग्रत्स्वरूप मनोराज्य में जाग्रत् अनुभवतः स्वप्न ही है न कि जाग्रत्॥४॥

सदा ही जाग्रत् में स्वप्नकाल लघुकालात्मक है और वैसे स्वप्नकाल में जाग्रत् सदा ही लघुकालात्मक है अर्थात् स्वप्न की जो स्वल्पकालता है और जाग्रत् की जो दीर्घकालता है वह परस्पर में परस्पर का प्रवेश होने पर विपरीत हो जाती है॥५॥

न जाग्रत्स्वप्नयोर्भेदः कश्चनाऽस्ति कदाचन।
एकस्याऽवसरोऽन्यत्र द्वयोरपि न सन्मयः॥६॥
मृतिप्रबोधसमये जाग्रत्स्वप्नः प्रशाम्यति।
स्वप्नानुभवबोधे च शून्य एवाऽतिभास्वरः॥७॥
जीवतः स्वप्नसमये मृतिबोधोदयं विना।
परलोकात्मकं जाग्रत्किंचनाऽपि न दृश्यते॥८॥
स्थिते जीवितबोधेऽस्मिञ्छून्ये नानामयात्मनि।
परलोकात्मकः स्वप्नः कश्चनाऽपि न दृश्यते॥९॥

इसलिए जाग्रत् और स्वप्न में कदापि कोई भी भेद नहीं है। दोनों में भी एक का अन्य में अनुप्रवेश युक्ति से सन्मय नहीं है॥६॥

यह अतिभास्वर जाग्रद्रूप स्वप्न मृत्यु के समय परलोक के उदयकाल में और आत्यन्तिक द्वैतनिवृत्तिरूप तत्त्वबोधकाल में निश्चय ही शान्त हो जाता है तथा प्रतिदिन स्वप्नानुभवरूप स्वप्नपदार्थ-बोधकाल में और सुषुप्तिकाल में भी शून्य ही रहता है, इसलिए जाग्रत् का स्वप्न के साथ साधर्म्य ही है; वैधर्म्य नहीं है। अर्थात् इसके द्वारा स्वप्न प्रबोधकाल में निवृत्त हो जाता है और स्वाप्न पदार्थ भी जागरणकाल में शून्य हो जाते हैं, लेकिन जाग्रत् इस प्रकार निवृत्त नहीं होता और न जाग्रत् पदार्थ असत् दिखाई देते हैं यों जाग्रत् में स्वप्नवैधर्म्य की शङ्का का निराकरण करते हैं॥७॥

जाग्रद्रूप स्वप्न समय में जीवित पुरुष को—मृत्यु हुए बिना मरने के उपरान्त दिखाई देने वाले दृश्यों का अभाव होने से—परलोकरूप जाग्रत् तनिक भी नहीं दिखाई देता, इसलिए आज के जाग्रत् के पदार्थों की कल के जाग्रत् में अनुवृत्ति नहीं दिखाई देती यह सिद्ध हुआ, इसलिए जाग्रत् में उक्त वैधर्म्य भी नहीं है। अर्थात् इसके द्वारा यदि कोई कहे आज के स्वप्न पदार्थ कल के स्वप्न में असत् ही हैं लेकिन आज के जाग्रत्पदार्थ कल के जाग्रत् में रहते हैं यों जाग्रत् और स्वप्न में वैधर्म्य है ही इस आशङ्का का अन्यान्य जन्मों में जाग्रत् पदार्थों की अनुवृत्ति के अदर्शन द्वारा परिहार करते हैं॥८॥

ऐसी परिस्थिति में आज के इस स्वप्न में, जो जीवन आदि सकल स्वाप्न पदार्थों से शून्य होने पर भी भ्रान्ति से ही नानामयात्मक मालूम होता है, 'मैं जीता हूँ' यों जीवन आदि का बोध होने पर आगे आने वाले दिन का (कल का) तथा बीते हुए दिन का (कलका) स्वप्न परलोक-सदृश ही है, इसलिए उसमें का कोई पदार्थ यहाँ (इस स्वप्न में) अनुवर्तमान नहीं दिखाई देता यह अर्थ है॥९॥

चिच्चमत्कृतिमात्रात्म यथा स्वप्ने जगत्त्रयम्।
हृदि सर्गात्प्रभृत्येव तथैवाऽऽभाति जाग्रति॥१०॥
सन्त्येवाऽसत्यभूतानि स्फाराणि परमार्थतः।
नाऽस्त्येवाऽऽकारवत्तेयं स्वप्नोर्व्यामिव जाग्रति॥११॥
नानात्मभासुरमपि स्वप्ने शून्यं यथा जगत्।
तथैव जाग्रत्यखिलं व्योमैवेदं चिदात्मकम्॥१२॥
चिद्व्योम्नो हि स्वभावोऽयं यदिदं जगदम्बरे।
कचतीत्थमिह स्फारमालोक इव तेजसः॥१३॥
चितेश्चमत्कृतिरियं जगन्नाम्नी चकास्त्यलम्।
सहजा गगने कुड्ये परमाणौ स्थले जले॥१४॥

सृष्टि से लेकर ही त्रिजगत् का अन्तःकरण में केवल चित्-चमत्काररूप से वैसे ही स्फुरण होता है जैसे स्वप्न में तीनों जगत् केवल चित्चत्काररूप ही हैं॥१०॥

विपुलकलेवर (विस्तीर्ण) दिखाई देनेवाले जाग्रत् पदार्थ असत्यभूत ही हैं, वास्तव में जैसे स्वाप्न पृथिवी में आकारवत्ता नहीं है वैसे ही जाग्रत् में भी यह आकारवत्ता नहीं ही है, अर्थात् जाग्रत् की स्वप्न के साथ एकता होने पर जाग्रत् के पृथिवी आदि की स्वाप्न पृथिवी आदि पदार्थों की भाँति निराकारता और असत्यता स्पष्ट है॥११॥

जाग्रत् में भी यह सारा जगत् वैसे ही चिदात्मक आकाश ही है जैसे स्वप्न में नानारूप से देदीप्यमान होनेपर भी (स्वाप्न जगत्) शून्य ही है॥१२॥

चिदाकाश में जो यह जगत् स्फुरित होता है यह सूर्य आदि के तेज की प्रभा के समान चिदाकाश का स्वभाव है। चिदाकाश में इस प्रकार विराट् रूप से उसी का स्फुरण होता है॥१३॥

चिति की यह जड़ जगत् नामक स्वाभाविकी चमत्कृति है। यह आकाश में, दीवार में, परमाणुओं में, जल में और स्थल में खूब चमकती है॥१४॥

भ्रान्तावसत्यरूपायां स्थितायां सत्यवस्तुवत् ।
आकाशमात्रदेहायां क इवैनां प्रति ग्रहः ॥१५॥
ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपमाशून्यमेव च ।
सदस्त्वेवाऽसदेवाऽस्तु जगदत्राऽङ्ग किंग्रहः ॥१६॥

इत्थमस्त्विदमथाऽन्यथाऽस्तु वा
मैव भूद्भवतु कोऽत्र संभ्रमः ।
कोऽत्र फल्गुनि फले फलग्रहो
बुद्धमेव तदलं विकल्पनैः ॥१७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेशो नाम पञ्चषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६५॥

यह असत्यस्वरूप भ्रान्ति, जिसका शरीर केवल है, सत्य वस्तु की नाईं सामने खड़ी है । इस जगद्भ्रान्ति के प्रति कौन-सा आग्रह है, इस के प्रति आग्रह करना अनुचित है ॥१५॥

ग्रहण करनेवाला, ग्रहण और ग्राह्यरूप जगत् असत् ही है । उक्त जगत् अधिष्ठान सत्ता से सत् हो अथवा असत् ही हो इस विषय में एकतर पक्ष के व्यवस्थापन में दुराग्रह का क्या प्रयोजन है ? यह भाव है ॥१६॥

अज्ञानवस एक पक्ष में अभिमानभ्रान्ति होती है । इस समय इसका तत्त्व आपको यथार्थरूप से ज्ञात हो ही चुकी है । यह इस प्रकार का हो, अन्य प्रकार का हो अथवा नहीं हो, इस विषय में कौन-सा भ्रम है और इस तुच्छ भोग में फल का आग्रह ही क्या है । इसलिए विविध विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥१७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
जाग्रत्स्वप्नैक्योपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पैंसठ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६५॥

१६६

वसिष्ठ उवाच

सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झिताम् ।
आत्मख्यातिमिमां विद्धि शिलाजठरनिर्घनाम् ॥१॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव चिद्व्योमैवेत्थमाततम् ।
कचत्यात्मनि यत्तस्य बुद्धा येनैव सर्गता ॥२॥
न वहन्तीह सरितो नेहोन्मज्जनमज्जने ।
व्योम व्योम्न्येव चिद्रूप कचत्येवमनिङ्गितम् ॥३॥
कचनोक्त्या तु रहितां समग्रेणाऽस्तकल्पनाम् ।
विनोत्तरपदार्थेन त्वात्मख्यातिमिमां विदुः ॥४॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं ख्यातिर्यत्र न किंचन ।
अख्यातो नाम न ख्यात्या कदाचित्ख्यापितः क्वचित् ॥५॥

१६६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी वाच्यार्थ सहित 'आत्म' शब्द से और 'ख्याति' शब्द से रहित यानी अखण्डार्थवाले आत्मा और ख्यातिरूप दो पदों की लक्ष्यार्थरूप इस आत्मख्याति को आप आगे कही जानेवाली शिला के मध्य के समान घन जानें ॥१॥

आदि सृष्टि से ही चिदाकाश हो जगत् के रूप से फैला है । उसकी सर्गता आत्मा में स्फुरित होती है । आत्मा ने आत्मा में ही अपने चैतन्यबल से सर्गता का प्रख्यापन किया है, इसलिए यह आत्मा ही सर्गता को विषय करनेवाली ख्याति ॥२॥

न यहाँ नदियाँ बहती हैं और न यहाँ उन्मज्जन और मज्जन (उतराना और डूबना) हैं । निष्क्रिय चिद्रूप आकाश का ही आकाश में जगत् के रूप में स्फुरण होता है, अर्थात् आत्मशब्द के व्याख्यानभूत चिद्व्योम शब्द में 'व्योम' शब्द का अर्थ प्रपञ्चशून्यता ही है, इसलिए प्रपञ्च और उसकी ख्याति आत्मा ही है ॥३॥

विद्वान् लोग ख्यातिशब्द और उसके अर्थ के बिना स्वप्रकाश आत्मा को ही स्वरूपभूत सर्ग का प्रख्यापक होने से स्फुरण वाचक ख्याति शब्द से रहित समग्र रूप से कल्पनाशून्य आत्मख्याति कहते हैं ॥४॥

जब यह सारा जगत् आत्मा ही है और यह स्वप्रकाशरूप ही है यानी उस में कोई भी ख्याति नहीं है तब वह कदापि भी कहीं पर भी अपने से अतिरिक्त ख्याति से ख्यापित है यह कथन और अख्यात है यह कथन उस में संभव नहीं हो सकता । भावार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त अख्याति पद की भी उस में योजना नहीं की जा सकती है, अर्थात् इस प्रकार सृष्टि के चिन्मात्ररूप होने पर विभिन्न वादियों को अभिमत अख्याति आदि शब्दों की असंगति है ॥५॥

ख्यातिरख्यातिरित्यत्र वाचोयुक्तिरवास्तवी ।
किं तत्र ख्यापनं नाम स्याद्वाऽप्यख्यापनं च किम् ॥६॥

अख्यातिरन्यथाख्यातिरसत्ख्यातिरितीतरा ।
दृश्याश्चिन्मात्ररूपस्य भासश्चित्त्वचमत्कृताः ॥७॥

यथा यथा यदा ये ये चिन्मात्रव्योमभास्वतः ।
चिदंशवः कचन्त्यच्छास्तदा ते ते तथा तथा ॥८॥

'ख्या' धातु का प्रथा अर्थात् प्रसिद्धि अर्थ है 'क्तिन्' प्रत्यय का 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' अर्थ है। यों ख्याति शब्द का अर्थ हुआ ख्यानात्मक सत्ता (प्रसिद्ध्यात्मक सत्ता)। उस प्रकार का आत्मा ख्याति ही है। 'अख्याति' के 'नञ्' के अर्थ के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता; इसलिये उस में अन्याभिमत 'अख्याति' कथन अवास्तव है।

शङ्का—तब हेतुमत् ण्यन्त ख्या धातु से क्तिन् प्रत्यय हो। वहाँ भी 'णि' का लोप होने पर 'ख्याति' रूप सिद्ध हो जायगा। जिस में ख्याति यानी ख्यापन नहीं है वह अख्याति है इस व्युत्पत्ति से आपका अभिमत अर्थ सिद्ध हो जायगा।

समाधान—जब सर्ग को जड़ मानते हैं तब वहाँ पर अन्य द्वारा किया गया ख्यापन उपयुक्त हो सकता है। जब स्वप्रकाश आत्मा ही सर्ग है, तब जैसे एक दीपक में दूसरे दीपक से प्रख्यापन या अप्रख्यापन कोई मतलब नहीं रखता वैसे ही उसमें प्रख्यापत और अप्रख्यापन अकिञ्चित्कर है। इसलिए वादी का अभिमत अर्थ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। इस से असत्ख्याति और अन्यथा ख्याति का भी, जिन्हें अन्य वादी मानते हैं, निराकरण हो गया; क्योंकि न अर्थ के समान असत् और अन्यथा शब्दों के अर्थों का भी ख्याति पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता, यह भाव है ॥६॥

बस अवस्था में अख्याति, अन्यथाख्याति, असत्ख्याति रूप दृश्य चिन्मात्ररूप सूर्य की चित्चमत्कारभूत प्रभाएं ही हैं जैसे-जैसे जब जो-जो चिन्मात्राकाशरूप सूर्य से निर्मल चिद्रूप किरणें अग्नि से चिनगारियों के समान स्फुरित होती हैं तब वैसी-वैसी वे बन जाती है, अर्थात् यदि वादी लोग स्वप्न, मनोरथ आदि के अन्य दृश्यों की तरह कल्पनामात्ररूप अख्याति आदि को चित्-चमत्काररूप ही मानें तो वैसा मानें इस में हमें कोई आपत्ति नहीं है ॥७-८॥

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
इत्येताश्चिच्चमत्कृत्या आत्मख्यातेर्विभूतयः ॥९॥
आत्मख्यातिपदस्यार्थं आत्मख्यातिपदोज्झितः ।
अनाद्यन्तो निरुल्लेखः सोऽयमेकघनः स्थितः ॥१०॥
तत्रेदं महदाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
दूषणं द्वैतदृष्टीनां द्योतनं बोधभास्वतः ॥११॥
अस्ति योजनकोटीनां सहस्राणि प्रमाणतः ।
आनीलकुड्यकठिना विमला विपुला शिला ॥१२॥
न संधिबन्धा निबिडा वज्रसाराविसारिणी ।
अत्यन्तपुष्टकठिनजठराऽऽकाशनिर्मला ॥१३॥

आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथा-ख्याति ये सब चित्चमत्काररूप होने से मदभिमत आत्म-ख्याति की विभूतियाँ ही है, अर्थात् ऐसी परिस्थिति में आपकी अभिमत वे अख्याति आदि मेरी आत्मख्याति की विभूतियाँ ही हैं ॥९॥

आत्मा और ख्याति पद के वाच्य अर्थ से विरहित, आत्मा और ख्याति के लक्ष्यार्थ आदि—अन्त से शून्य, वाणी का अविषय यह आगे कहा जानेवाला एकमात्र ठोसरूप से स्थित आत्मख्यातिपद का अर्थ है ॥१०॥

इस विषय में कार्यविभूषण यह महान् आख्यान आप सुनिये। यह आख्यान द्वैतदृष्टियों को नष्ट करनेवाला है और है ज्ञानरूपी सूर्य को चमकानेवाला ॥११॥

चारों ओर नीला आकाश ही यदि दीवार या चट्टान बने उसके समान कठिन निर्मल और विशाल एक शिला है, जिसका विस्तार हजारों करोड़ योजन है ॥१२॥

उस शिला में कहीं पर भी सन्धियों का जोड़ नहीं है; वह अत्यन्त निबिड़ (ठोस), वज्र के समान मजबूत, महान् विस्तारवाली, अत्यन्त पुष्ट और कठोर उदरवाली तथा आकाश के समान निर्मल है ॥१३॥

असंख्यकल्पनिचयमविनाशा घनाङ्गिका ।
कान्ताङ्गी निर्मलत्वेन व्योमरूपैव लक्ष्यते ॥१४॥
जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित् ।
कथं कुत्र कदा चेति न विज्ञाता सदैव सा ॥१५॥
अन्तस्तस्यास्तु हृदये भूतधातुविवर्जिते ।
निविडानन्तकठिना वज्रसाराऽविनाशिनी ॥१६॥
लेखामयानि विद्यन्ते स्वाङ्गभूतानि भूरिशः ।
पद्मजालानि शङ्खाश्च गदाश्चक्रादयस्तथा ॥१७॥
खं वायुः सलिलं तेजो वसुधेत्यभिधा कृता ।
नाऽऽसीत्तत्र स्वलेखानां जीव इत्येव वै तया ॥१८॥

श्रीराम उवाच

शिलाऽसौ चेतनं तस्याः कुत इत्युच्यतां मम ।
अचेतना शिला नाम कथं नाम करोति च ॥१९॥

असंख्य कल्पों तक उसका नाश होनेवाला नहीं है; वह अत्यन्त निविड़ अङ्गवाली है, सुन्दरता में भी वह अपना जोड़ नहीं रखती और निर्मलता में तो वह आकाश सी दिखाई देती है ॥१४॥

उसकी सजातीय अन्य कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, अतः उसकी विशिष्ट अर्थात् विजातीय से व्यावृत्त जाति को कोई भी नहीं जानता । उसके देश, काल, प्रकार को अर्थात् वह कैसी है, किस देश में है और किस काल में है यह भी कभी किसी ने नहीं जाना ॥१५॥

वह शिला अत्यन्त घनी, असीम, कठोर, वज्र के समान दृढ़ और अविनाशिनी है । भूतों अर्थात् महाभूतों और चतुर्विध जीवों से विरहित उसके उदर के अन्दर उसकी स्वरूपभूत रेखारूप बहुतसी कमलराशियाँ शङ्ख, गदाएँ, चक्र आदि वैसे ही विद्यमान हैं जैसे कि स्फटिक शिला के अन्दर स्वरूपभूत बहुतसी रेखाएँ रहती हैं ॥१६, १७॥

वहाँ शिला के अन्दर आकाश, वायु, जल, तेज आदि जगत् नहीं ही था, किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिगत हो रहीं अपनी रेखाओं की ही उसने आकाश, वायु, जल; तेज, पृथिवी आदि संज्ञाएँ रख लीं ॥१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! वह शिला अचेतन होती है यह सारा संसार जानता है । फिर उसको चेतनता कहाँ से प्राप्त हुई ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये । यदि वह अचेतन ही है तो उसने आकाश, वायु आदि नाम कैसे रक्खे ? नाम रखना तो किसी चेतन ही काम है ॥१९॥

वसिष्ठ उवाच

न चेतना न च जडा सा शिला विपुलोज्ज्वला ।
जातिं जानाति कस्तस्याः कस्तत्राऽन्यश्च विद्यते ॥२०॥

श्रीराम उवाच

तस्याः पश्यति ता लेखाः कः कथं जठरस्थिताः ।
कथं वा केन सा भग्ना कदा नामेति मे वद ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

न भेत्तुं युज्यते सोग्रा न च भेत्ता च विद्यते ।
तथैवाऽपारपर्यन्तदेहिन्या सर्वमावृतम् ॥२२॥
लेखामयानि विद्यन्ते तत्राऽनन्तानि कोटरे ।
वृक्षपर्वतजालानि नगराणि पुराणि च ॥२३॥
तत्र लेखामयाः सन्ति देवदानवनामकाः ।
सूक्ष्मासूक्ष्मा निराकाराः साकारा इव पुत्रिकाः ॥२४॥

'जातिस्तु ज्ञायते तस्या विशिष्टा नैव केनचित्' इस इस उक्ति से ही इस प्रश्न का उत्तर हो चका है, यों श्रीवसिष्ठजी रामचन्द्रजी के प्रश्न का समाधान करते हैं ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रिय रामजी, विशाल तथा देदीप्यमान वह शिला न चेतन है और न जड़ है । उसकी जाति को कौन जान सकता है । उसमें दूसरा है भी कौन जो उसकी जाति को जानेगा ? यह भाव है ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—मुनिवर, यदि उसमें कोई दूसरा नहीं है तो आपने जिन आकाश, वायु आदि के आकार वाली उसके उदर में स्थित रेखाओं का वर्णन किया है उन्हें कौन कैसे देखता है ? अथवा किसने कब उसके अन्दर विचित्र रेखाओं के आकार में हथौड़ी आदि से उन्हें गढ़ा ? और अन्दर हथौड़ी आदि का प्रवेश न हो सकने के कारण कैसे किसने उन्हे फिर विनष्ट किया ? यह मुझे बतलाने की कृपा किजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामजी, वह अत्यन्त दृढ़ शिला तोड़ी नहीं जा सकती और न कोई तोड़ने वाला ही है । अपारपर्यन्त अर्थात् अतिविशाल काया वाली ने सब कुछ व्याप्तकर रक्खा है ॥२२॥

उसके अन्दर रेखारूप असंख्य वृक्षराशियाँ, पर्वत श्रेणियाँ, नगर और ग्राम हैं । उसमें रेखारूप ही सूक्ष्म, स्थूल, निराकार और साकार देव, दानव आदि नामधारी जीव प्रतिमाओं की तरफ विद्यमान हैं ॥२३, २४॥

आकाशनाम्नी तत्राऽस्ति लेखा वैपुल्यशालिनी।
उपलेखाश्च सन्त्यस्या मध्ये चन्द्रार्कनामिकाः ॥२५॥

श्रीराम उवाच

केन दृष्टा वद ब्रह्मँल्लेखास्तास्तत्र किंविधाः।
कथं वा वद दृश्यन्ते निपिण्डोपलकोशगाः ॥२६॥

वसिष्ठ उवाच

मया राघव! ता दृष्टास्तादृश्यस्तत्र लेखिकाः।
तवाऽपीच्छा यदि भवेत्तत्तास्त्वमपि पश्यसि ॥२७॥

श्रीराम उवाच

तादृशी वज्रसारा सा शिला भङ्क्तुं न युज्यते।
तथापि भवता दृष्टा लेखास्तत्कोशगाः कथम् ॥२८॥

वसिष्ठ उवाच

एतस्या जठरे राम! लेखाऽहं जठरे स्थितः।
तेन पश्यामि तत्रस्थो लेखाजालं तदक्षतम् ॥२९॥
कोऽसौ शक्तोऽन्यथा भङ्क्तुं तां शिलामहमन्तरे।
तत्सर्वं दृष्टवांस्तस्या अहं तत्राऽन्तरस्थितः ॥३०॥

उसमें आकाश नाम की विशाल रेखा है तथा उसके भीतर चन्द्र और सूर्य नाम की अन्यान्य उपरेखाएँ भी हैं ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्, वहाँ पर उन रेखाओं को किसने देखा, वे किस तरह की हैं और अति निविड़ पत्थर के अन्दर स्थित वे कैसे देखी जा सकती हैं? कृपया यह कहिये ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके अन्दर उस तरह की वे रेखाएँ मैंने देखी हैं। यदि आपको उन्हें देखने की इच्छा हो तो आप भी उन रेखाओं को समाधि द्वारा देख सकते है ॥२७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ, उस तरह की वज्र से भी मजबूत वह शिला तोड़ी नहीं जा सकती, फिर भी आपने उसके गर्भ में स्थित रेखाएँ कैसे देखीं? ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं भी (वसिष्ठ शरीर भी) इसके गर्भ में स्थित रेखारूप ही हूँ, इस कारण वहाँ पर स्थित मैं सब रेखाओं को पूर्णतया देखता हूँ ॥२९॥

उसके अन्दर स्थित हुए मैंने अन्दर स्थित सब रेखाओं को देखा, नहीं तो उस शिला को तोड़ने-फोड़ने की किसमें सामर्थ्य है ॥३०॥

श्रीराम उवाच

काऽसौ शिलाऽथ कश्च त्वं वद मे क्वाऽसि संस्थितः।
किमेतद्वदसि ब्रूहि किमेतद्दृष्टवानसि ॥३१॥

वसिष्ठ उवाच

परमात्ममहासत्ता कथितैषा मया तव।
अनयैव वचोभङ्ग्या न त्वेषा विपुला शिला ॥३२॥
परमात्ममहासत्ताशिलाया जठरे वयम्।
तच्छिलामांसमेवेमे सौषिर्यपरिवर्जिते ॥३३॥
तच्छिलाङ्गं नभो विद्धि तच्छिलाङ्गं सदागतिः।
तच्छिलाङ्गं क्रियाशब्दा वासना कालकल्पना ॥३४॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीदं तत्तच्छिलाङ्गमुदाहृतम् ॥३५॥
परमात्ममहासत्ताशिलामांसमिमे वयम्।
सर्वं एव ततोऽनन्येऽप्यन्ये त्विति च विद्महे ॥३६॥
चिन्मात्रैकात्मिका येयं किलाऽतिमहती शिला।
एतस्या व्यतिरेकेण क्व तदस्ति किमुच्यताम् ॥३७॥

श्रीरामजी ने कहा—वह शिला कौन है, और आप कौन हैं, कहाँ पर स्थित हैं। यह शिलानामक किसको आप कहते हैं और क्या आपने वह शिला देखी है? कृपा करके यह सब यथार्थरूप से मुझसे कहिये ॥३१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! इस शिलाख्यान वचनभङ्गी से मैंने आपसे परमात्म महासत्ता का वर्णन किया है। यह विशाल शिला नहीं है। उस परमात्म-महासत्तारूप शिला के छिद्र रहित गर्भ में ये हम लोग उस शिला के मांस स्वरूपभूत ही स्थित हैं ॥३२, ३३॥

हे रामचन्द्रजी! आकाश को आप उस शिला का अङ्ग जानिये। वायु आदि पाँच महाभूत उसके अङ्ग हैं, यह समझिये, क्रिया, शब्द आदि यानी वायु, आकाश आदि सब भूत-भौतिकों के धर्म, वासना आदि मन के धर्म और पक्ष, मास, वर्ष आदि काल की कल्पनाएँ उस शिला के अङ्ग हैं ॥३४॥

भूमि, जल, तेज, वायु आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब उस शिला के अङ्ग कहे गये हैं ॥३५॥

ये सब हम लोग भी उस परमात्ममहासत्तारूप शिला के मांस की तरह स्वरूपभूत ही हैं। उक्त परमात्म-महाशिला से अभिन्न होते हुए भी भ्रमवश अपने को उससे भिन्न समझते हैं ॥३६॥

जो यह चिन्मात्रैकत्वस्वरूप अतिमहती शिला है यदि उस से पृथक् कोई है तो वह कहाँ पर है और वह कौन है यह बताइये ॥३७॥

शुद्धं वेदनमेवेदं घटावटपटादिकम् ।
यथा स्वप्ने तथा भाति जलमूर्मितया यथा ॥३८॥
इदं ब्रह्मघनं सर्वं चिन्मात्रघनमाततम् ।
परमार्थघनं शान्तं सर्वमेकघनं विदुः ॥३९॥
एकं महाचिति शिलोदरमेव सर्वं
सौषिर्यवर्जितमपारमनादिमध्यम् ।
तेनाऽऽत्मनैव कलिता कलनात्मनेयं
सर्गो जगद्भुवनमित्यपि दृश्यनाम्नी ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
शिलोपाख्यानं नाम षट्षष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६६॥

ये भूतल, घट, पट आदि शुद्ध संवेदनरूप ही हैं जैसे स्वप्न में केवल संवेदन रूप घट, पट आदि का भान होता है और जैसे जल का ही तरङ्ग, आवर्त, बुद्बुद आदि रूप से भान होता है वैसे ही इनका भी भान होता है ॥३८॥

तत्त्वज्ञ लोग घट, पट आदि सकल भूत-भौतिक पदार्थों को सर्वतः व्याप्त परमार्थघन एक रस शान्त चिन्मात्रघन ब्रह्म ही जानते हैं ॥३९॥

महाचित् में सारा जगत् ब्रह्मशिला का गर्भ ही है और वह छिद्रों से रहित असीम तथा आदि, मध्य और अन्त से शून्य है । उक्त प्रकार के ब्रह्मात्मा ने अपने आप ही सृष्टि, जगत् भुवन आदि पर्यायवाली दृश्यनामधारिणी यह कल्पना की है ॥४०॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में शिलोपाख्यान नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छाछठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६६॥

१६७

वसिष्ठ उवाच

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिः ख्यातिरख्यातिरन्यथा ।
शब्दार्थदृष्टयस्तज्ज्ञं प्रत्येताः शशशृङ्गवत् ॥१॥
कदाचनाऽपि नामाऽङ्ग संभवन्ति न काश्चन ।
शान्तमव्यपदेश्यात्मा ज्ञ आस्तेऽस्तङ्गतेङ्गनः ॥२॥
एता उद्यन्ति चिन्मात्रादात्मख्यात्यादिका दृशः ।
तच्च शुद्धतरं व्योम तन्मय्येव च दृश्यते ॥३॥
अयमात्मा त्वियं ख्यातिरित्यन्तःकलनाभ्रमः ।
न संभवत्यतश्चैनं शब्दं त्यक्त्वा भवाऽर्थभाक् ॥४॥
गच्छंस्तिष्ठन्नदपि सर्वं शान्तमतो जगत् ।
आकाशमौनमेवाऽच्छमच्छिन्नं वा प्रवृत्तिमत् ॥५॥
नानामहाशब्दमपि शिलामौनमवस्थितम् ।
अनारतं गच्छदपि व्योमवच्छैलवत्स्थितम् ॥६॥

१६७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी तत्त्वज्ञ के प्रति ये शब्दार्थ दृष्टिरूप आत्मख्याति, असत्ख्याति अख्याति और अन्यथाख्याति शशके सींगों की तरह असत् हैं ॥१॥

हे रामजी, इन ख्यातियों का कदापि भी संभव नहीं है । निश्चेष्ट (ख्याति आदि कल्पनाओं के मूलभूत चित्त की चेष्टाओं से रहित) शान्त अव्यपदेश्य ज्ञाता (द्रष्टा) ही केवल है । अर्थात् यदि जगत्ख्याति होती तो वह आत्मख्याति है या असत्ख्याति है या अख्याति है इत्यादि विकल्पों का अवसर होता जब जगत्ख्याति ही नहीं है तब किसकी चतुर्विधता होगी ? ॥२॥

ये आत्मख्याति आदि भ्रान्तिदृष्टियाँ चिन्मात्र से उदित होती हैं और चिन्मात्र परमार्थरूप से अत्यन्त शुद्ध (कल्पनाशून्य) आकाश है । अतः मैं सारी कल्पनाओं को तन्मयी ही देखता हूँ, क्योंकि 'तद्यदिदमयोऽदोमयः सर्वमयः' (जो यह इदंमय, अदोमय, सर्वमय है वह सब ब्रह्म ही है) ऐसी श्रुति है ॥३॥

यह आत्मा है, यह ख्याति है, यह अन्तःकरण की कल्पना भ्रान्ति ही है, अतः इसका संभव नहीं है । इसलिए शब्द का त्यागकर आप परमार्थभाजन होइए । इसीलिए हमने 'सार्थकेनाऽऽत्मशब्देन ख्यातिशब्देन चोज्झितम्' अर्थात् सार्थक आत्मशब्द से और ख्याति शब्द से परित्यक्त (विरहित) ऐसा कहा है ॥४॥

इस परमार्थ दर्शन से चल रहा, ठहर रहा और खा रहा सारा जगत् शान्त, आकाश के समान मौन, निर्मल, निरवच्छिन्न तथा अप्रवृत्तिमान् ही प्रतीत होता है ॥५॥

उक्त परमार्थ दर्शन से नाना महाशब्दों से भरा हुआ भी यह जगत् शिलावत् मौन स्थित है । निरन्तर चलता हुआ भी आकाश के समान तथा पर्वत के समान स्थिर है ॥६॥

नानाविधारम्भमपि महाशून्यमनङ्कितम् ।
पञ्चभूतात्मकमपि खमिवाऽलब्धपञ्चकम् ॥७॥
पदार्थसंकुलमपि शून्यं संवित्तिमात्रकम् ।
स्वप्ने महापुरमिव दृष्टमप्यच्छचिन्मयम् ॥८॥
सारम्भमप्यनारम्भं संकल्पनगरं यथा ।
आकाशमात्रं भ्रान्त्यात्म स्वप्नस्त्रीसंगमोपमम् ॥९॥
अनुभूतमपि व्यर्थं प्रतिबिम्बाङ्गनासमम् ।
नानाभुवननिर्माणं वस्तु शून्यं तु वस्तुतः ॥१०॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नात्मकमिदं मन्ये स्मृत्यैव दृश्यते ।
सद्रूपबाह्यार्थकृता स्मृतिरेवेह कारणम् ॥११॥

वसिष्ठ उवाच

यत्तच्चित्काचकचनेन काकतालीयवद्वपुः ।
व्योमात्माऽऽभाति भावानां सत्तामात्रमभित्तिमत्॥ १२॥
तदेतदविनाशात्म सर्वत्र परमात्मनि ।
सर्वदा विद्यते शान्ते पयसीव तरङ्गकाः ॥१३॥
निर्निमित्तं स्वरूपात्म तदेतत्परमात्मनि ।
सर्वात्मन्यपि निर्वाणे व्योमात्मनि निरात्मनि ॥१४॥
यदा यदाऽवभात्यन्तर्यन् तेन यथा तथा ।
सर्वदा न कदाचिद्वा यत्र तत्र तत्र न किंचन ॥१५॥
तस्यैव ब्रह्मभानस्य तेनैवं ब्रह्मणाऽऽत्मना ।
स्वच्छस्यैव स्वभावस्य स्वस्वभावमनुज्झता ॥१६॥
इदं जाग्रदयं स्वप्नः सुषुप्तं तुर्यमित्यपि ।
कृतं नाम स्वयं चित्वाद् ब्रह्म वाऽऽत्मेति चाऽऽत्मनि॥१७॥
वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥१८॥
अथवा सर्वमेवेदं जाग्रद्रूपं सदैव च ।
सर्वदैव च वा स्वप्नः सुषुप्तं सर्वदैव च ॥१९॥

भाँति-भाँति के अनेक कर्मों से पूर्ण भी यह महाशून्य तथा अनङ्कित है। पञ्चभूतात्मक होने पर भी अलब्ध पञ्चभूत वाले आकाश के समान स्थित है ॥७॥

विविध पदार्थों से परिपूर्ण भी यह शून्य संवेदनमात्र है। स्वप्न में देखे गये महानगर के समान दिखाई देने पर भी निर्मल चिन्मय है ॥८॥

संकल्पनगर के समान आरम्भयुक्त होने पर भी आरम्भशून्य है और स्वप्न-स्त्री संगम के तुल्य भ्रान्तिरूप अतिशून्य है ॥९॥

दर्पण में प्रतिबिम्बित या चित्रलिखित अङ्गना के समान अनुभूत होने पर भी व्यर्थ है। उसमें नाना भुवनों का निर्माण होने पर भी वह वस्तुतः वस्तुशून्य है ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर! यदि अविद्यमान ही जाग्रत् और स्वप्नरूप जगत् केवल भासन से दृष्टिगोचर होता है तो स्मृति से ही वह दृष्टिपदारूढ होता है, ऐसा मैं समझता हूँ, अर्थात् मेरी समझ में जगत् के भान में स्मृति ही कारण है भ्रान्ति कारण नहीं है क्योंकि स्मृति अधिष्ठान, दोष, सादृश्य आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं करती केवल अविद्यमान पदार्थ गोचर है ॥११॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—चिदाकाशस्वरूप तथा पदार्थों का सत्तामात्र जो यह चित् के चाकचिक्य से प्रतीत होता है वही यह काकतालीय के समान आकस्मिक शरीरधारी बिना भित्ति के चित्रसा जगत् है। अर्थात् जाग्रत्-स्वाप्न जगत् के अविद्या, निद्रा आदि दोष जनित होने के कारण तथा स्वप्रकाश चेतन में संप्रयोग का उपयोग न होने के कारण यह जगद्भान चिदधिष्ठान वाली भ्रान्ति ही है, स्मृति नहीं है। जैसे वर्तमान अनुभव को स्मृति मानते हैं वैसे ही पूर्व-पूर्व अनुभवों में भी स्मृतित्वापत्ति होने से स्मृति के मूलभूत अनुभव की अप्रसिद्धि होने का भय है ॥१२॥

वह यह अविनाशी शान्त जल में तरङ्गों की तरह परमात्मा में सर्वत्र सदा विद्यमान रहता है ॥१३॥

सर्वात्मक निर्वाणरूप आकाशरूप निराकार परमात्मा में स्वरूपभूत यह बिना निमित्त के ही जिस किसी दोष से जब-जब जैसा अन्दर भासित होता है वास्तव में कुछ न होता हुआ भी न सदा या न कदाचित् यत्र तत्र वैसा प्रतीत होता है ॥१४, १५॥

इस प्रकार अपने स्वभाव का त्याग न कर रहे उसी ब्रह्म ने चित् होने के कारण स्वयं स्वभावभूत स्वच्छ उसी ब्रह्मभान के ही यह जाग्रत्, यह स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य ये नाम, ब्रह्म अथवा आत्मा ये नाम अपने में किये हैं ॥१६,१७॥

वास्तव में तो न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यावस्था है और उससे अतिरिक्त किन्तु सब कुछ शान्त परमाकाश ही है ॥१८॥

अथवा चित् में कदापि स्वप्न न होने से यह सब कुछ सदा ही जाग्रद्रूप है या केवल भ्रान्तिमात्र होने से सदा ही स्वप्न है अथवा अविद्यावरणमात्र होने से सुषुप्त है अथवा स्वयं ही सदा तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करने से सदा ही यह सब तुर्य ही है, ऐसा कहा जा सकता है।

सर्वदैव च वा तुर्यं तदन्तः सर्वदैव वा।
तदिदं वा न यद्विद्मो वयमाशान्तरूपिणः ॥२०॥
इदं फेनो न किंचिद्वा बुद्बुदो वा न कश्चन।
शून्यताम्भसि चिद्व्योममहार्णवमहोदरे ॥२१॥
यथा संवेद्यते यद्यत्तथा तदनुभूयते।
सद्वाऽसद्वा भवत्स्वप्ने व्योम्नीव सदसच्च तत् ॥२२॥
संवित्कचनमेवेदं यथाभानं विभासते।
व्योम व्योमनि चिद्रूपं चिद्रूपे विततात्मनि ॥२३॥
संविच्च चिन्नभोमज्जा सैवंरूपैव सर्वदा।
नाऽस्तमेति न चोदेति तस्याः स्वाङ्गमिदं जगत् ॥२४॥
महाप्रलयसर्गाद्या महाप्रलयरात्रयः।
तस्या एवाऽवयवतां याताः केशनखादिवत् ॥२५॥
तस्या भानमभानं तद्भास्वरं जिह्ममेव वा।
नाऽन्यत्स्वभाववत्स्पन्द इव वायोर्महाचितेः ॥२६॥

तीन अवस्थाओं की असिद्धि होने से तुर्य का असत्त्व या निर्विकल्प में वह है या यह इत्यादि विकल्प को भी आशान्तरूपी हम नहीं जानते हैं ॥१९, २०॥

चिदाकाशरूपी महासागर के महागर्भ में यह वैसे ही जाग्रत् है या यह स्वप्न है अथवा यह सुषुप्ति है, यह विकल्प व्यर्थ है। जैसे शून्यतारूपी जल में यह फेन है या कुछ नहीं, यह बुदबुद है अथवा कुछ नहीं है यह विकल्प व्यर्थ है ॥२१॥

जिस समय जिसका जिसको जैसे स्मरण होता है सत् हो चाहे असत् उसका उसको उस समय वैसे अनुभव होता है आपके स्वप्न की तरह चित् चिदाकाश में ही सदसत् पदार्थों का अनुभव करती है। अर्थात् कल्पनावेदन दृष्टि से जिसने अब जैसा जाना उसको तब यह ऐसा ही है ॥२२॥

यह संवित् का स्फुरणरूप ही चिद्रूप आकाश सर्वव्यापक चिद्रूप आकाश में भान के अनुसार भासता है ॥२३॥

और चिदाकाश की वसारूप वह संवित् सर्वदा ऐसी ही है। न कभी अस्त को प्राप्त होती है और न कभी उदित होती है, यह जगत् उसका अङ्गरूप है ॥२४॥

महाप्रलय, सृष्टि आदि काल-विभाग और उसमें महाप्रलयरूपी रात्रियाँ और सृष्टिरूपी दिन केश, नख आदि के समान उसी के अवयवभूत हुए हैं ॥२५॥

उसका वह चिद्रूप भास्वर भान अथवा मायारूप अभान वायु के स्पन्द के समान महाचैतन्य का स्वभाववत् है। भिन्न नहीं है ॥२६॥

तस्मात्किं नाम जाग्रत्स्यात्कः स्वप्नः का सुषुप्तता।
किं तुर्यं का स्मृतिः केच्छा तुच्छा एताः कुदृष्टयः ॥२७॥
अन्तःसंवेदनं भाति स्वं बाह्यार्थतया यतः।
क्व द्वैतं क्व च वाऽर्थश्रीः स्मृतिरेवमतः कुतः ॥२८॥
तदिदं भाति निर्भित्ति तत्स्वभानं यदात्मना।
भानोर्नभसि भारूपमेव भूतविवर्जितम् ॥२९॥
सद्रूपो यदि बाह्योऽर्थो विद्यते तत्तदुत्थिता।
स्मृतिः कारणतामेतु नामाऽऽद्यजगतः स्थितेः ॥३०॥
किंतु नाऽस्त्येष बाह्योऽर्थो भूतानामत्यसंभवात्।
पञ्चानामादिसर्गादौ कारणानामभावतः ॥३१॥
शशशृङ्गं यथा नास्ति यथा नास्ति खपादपः।
यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्त्यसितः शशी ॥३२॥
तथाऽज्ञप्रतिभातोऽर्थो जगदाद्यहमादिकः।
अप्रेक्षितोऽस्ति नास्त्येव प्रेक्षितः सन्न कश्चन ॥३३॥

ऐसी परिस्थिति में क्या जाग्रत् होगा, क्या स्वप्न होगा, क्या सुषुप्ति होगी, क्या तुरीयावस्था होगी, क्या स्मृति होगी और क्या इच्छा होगी? ये सबकी सब जाग्रदादिदृष्टियाँ कुदृष्टियाँ हैं ॥२७॥

अपना आभ्यन्तर संवेदन ही बाह्य पदार्थ के रूप से प्रतीत होता है अतः कहाँ द्वैत है और कहाँ पदार्थ शोभा है? ऐसी स्थिति में स्मृति भी कहाँ से होगी ॥२८॥

भेदशून्य जो यह अपने से भासित होता है वह स्वभान स्वरूपभूत ही भान है, स्वभिन्न नहीं है जैसे सूर्य का निराश्रय आकाश में भूतरहित प्रभारूप ही भान है वह किसी भास्य की अपेक्षा नहीं करता वैसे ही यह भूतविवर्जित चिद्भान ही है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥२९॥

यदि बाह्य पदार्थ सद्रूप होता तो उसके अनुभव से उत्पन्न स्मृति सर्ग के आदि काल की जगत् स्थिति की कारण हो सकती, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में उपादान, निमित्त, सहकारी आदि कारणों का अभाव होने से पञ्च महाभूतों का अत्यन्त असंभव है, अतः यह बाह्य अर्थ नहीं ही है। इस बाह्य अर्थ का वैसे ही अस्तित्व नहीं है जैसे कि शशके सींगों का अस्तित्व नहीं है और जैसे आकाश वृक्ष का अस्तित्व नहीं है। जैसे वन्ध्या का पुत्र नहीं है और जैसे काला चन्द्रमा नहीं है ठीक वैसे ही सृष्टि के आदि में अज्ञानियों को प्रतीत हो रहा जगत् आदि, 'अहम्' आदि पदार्थ तत्त्वदृष्टि से न देखा जाय तो है यदि तत्त्वतः देखा जाय तो कुछ भी नहीं है ॥३०-३३॥

यथाऽस्तीदं महाकारं न किंचिद्रूपमेव वा।
तत्त्वज्ञविषयं राम! तथाऽस्तीदमखण्डितम् ॥३४॥
संविद्घनभोमज्जा यथादेति यदा यदा।
नित्योदितोपचारेण कल्पितास्तमयोदया ॥३५॥
मुधा व्योम्न्येव पृथ्व्यादितया वेत्ति तदा तदा।
स्वस्यैव तस्य भानस्य धत्ते पृथ्व्यादिकल्पनाम् ॥३६॥
स्वमेव भानमाकाशमात्रमेव महाचितिः।
पृथ्व्यादिव्यपदेशेन पश्चाद्व्यदिशत्यजा ॥३७॥
आकाश एव पृथ्वीयमिति धत्ते स्वसंविदम्।
मनोराज्यपुरं बाल इव चिन्मात्रमव्ययम् ॥३८॥
किं भानं किमभानं स्यात्तस्येति न विकल्प्यते।
स्पन्दास्पन्दस्वभावं तद्विद्धि वातमिवाऽम्बरे ॥३९॥
यथा भाति चिदाकाशं तथेदमवभासते।
व्योम व्योम्न्येव नीरूपं नेदं पृथ्व्यादि सत्क्वचित् ॥४०॥

तत्त्वज्ञानियों के प्रति मूर्तामूर्तरूप से रहित वैसे ही चिन्मात्रैकघन अखंडित है। जैसे अज्ञानियों के प्रति यह महाकाय है ॥३४॥

संविद्घन चिदाकाश की मज्जाभूत संवित् यद्यपि नित्य ही उदित है तथापि जब-जब जैसे उदित होती है तब-तब व्यवहार में गौणी वृत्ति से उसमें अस्तमय और उदय की कल्पना की जाती है ॥३५॥

अज्ञानी जब-जब अज्ञान से व्यर्थ ही आकाश में पृथिवी आदि रूप से उसे जानता है तब-तब वह उस अपने भान में ही पृथिवी आदि की कल्पना करता है ॥३६॥

जन्म आदि विकार रहित आकाशरूप महाचिति स्वभान का ही पीछे पृथिवी आदि नाम से व्यवहार करती है ॥३७॥

अविनाशी चिन्मात्र आकाश में ही वैसे ही 'यह पृथिवी है' ऐसी संवित् धारण करता है। जैसे मूर्ख मनोरथ नगर में यह नगर है ऐसी संवित् करता है ॥३८॥

यदि वह चिन्मात्र ही है तो उसका जगदाकार में भान क्यों होता है और अभान भी क्यों होता है ऐसा विकल्प नहीं करना चाहिये, क्योंकि आकाश में वायु के समान उसे आप स्पन्द और अस्पन्द स्वभाव वाला जानिये। प्राण शक्ति से वह स्पन्द स्वभाव वाला है और चित्-शक्ति से अस्पन्द स्वभाव वाला है ॥३९॥

चिदाकाश जैसे-जैसे वासना के उद्भव से स्फुरित होता है वैसे-वैसे यह जगत् रूप से भासित होता है। आकाश में निराकार आकाश ही है, यह पृथिवी आदि कहीं पर भी सत् नहीं है ॥४०॥

यथा भाति चिदाकाशरूपत्वाद्भातमप्यलम्।
न सन्नाऽसदिति किंचित्तन्न किंचिच्च किंचन ॥४१॥

इदमित्थमनित्थं च सद्वाऽसद्वा यथास्थितम्।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥४२॥

स एव हृदयाकाशे कचन्त्या दृश्यसंविदा।
बाह्यं ब्रह्माण्डमित्थं च सद्वाऽसद्वा यथास्थितम् ॥४३॥

किमत्र बाह्यं किंवाऽन्तः किं दृश्यं काऽस्य दृश्यता।
शिवं शान्तमशान्तं च सर्वमोमिति शाम्यताम् ॥४४॥

नो वाच्यवाचकदृशा रहितो विचारः
संपद्यते स च विकल्पमयेन सिद्धैः।
सिद्धिश्च संभवति तेन विना न काचि-
द्दीपं विना निशि यथा नयनोपलम्भः ॥४५॥

इसलिए जिस प्रकार इस जगत् का भान होता है वैसा ही भान हो। भान होने पर भी वह चिदाकाशरूप होने से न सर्वथा सत् है और न असत् ही है, वह प्रपञ्च रूप कुछ भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥४१॥

यथा स्थित यह जगत् ऐसा है और ऐसा नहीं है, सत् है अथवा असत् है इस लोकपर्याय वृत्तान्त को तत्त्वज्ञ ही जानता है, अज्ञानी नहीं जानता ॥४२॥

वह तत्त्वज्ञ ही सबके हृदयाकाश में आत्मरूप से रहता है, अतः आत्मरूप से ही स्फुरित हो रही दृश्य संवित् से यह आभ्यन्तर (शरीर) है यह बाह्य ब्रह्माण्ड है इत्यादि भेद कल्पनाओं द्वारा नाम किया गया है। इस प्रकार क्या यहाँ पर बाह्य है अथवा क्या आभ्यन्तर है, क्या दृश्य है और क्या इसकी दृश्यता है? शिव, शान्त और अशान्त सब-कुछ ॐकाररूप प्रणवमात्र है यों अभेद कल्पना द्वारा प्रविलापन कर शान्त हो जाय ॥४३, ४४॥

वाच्य वाचक भाव के बिना शास्त्रार्थ विचार नहीं हो सकता। और वह शास्त्रार्थ विचार 'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं च पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः॥'—शास्त्र में विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष (सिद्धान्त) और प्रयोजन इन पाँच अवयवों वाला अधिकरण कहा गया है। यों प्रसिद्ध पञ्चावयव विकल्प से किया जाय तो सिद्धि के लिए होता है। जैसे रात्रि में दीपक के बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे ही उक्त विचार के बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। अर्थात् जब तक विचार करना हो तब तक लोक नीति के अनुसार वाच्य वाचक भाव, चाहे वह असत् ही क्यों न हो,

तस्मादपास्य परयाऽमलया धियाऽन्तः
संकल्पकल्पनमनल्पविकल्पजालम् ।
कृत्वा मनः सकलशास्त्रमहार्थनिष्ठ-
मुड्डीय गच्छ पदमुत्तममेकनिष्ठः ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जागत्स्वप्नसुषुप्त्यभावप्रतिपादनं नाम सप्तषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६७॥

स्वीकार करके ही श्रवण, मनन आदि विधियाँ प्रवृत्त होती हैं ॥४५॥

इसलिए सम्यग् विचार से निर्मल हुई बुद्धि से अन्दर संकल्प करणरूप प्रचुर विकल्पों को हटाकर मन को सकल शास्त्रों के निष्कर्ष सिद्ध महार्थभूत सच्चिदानन्द अद्वितीय आत्मा में संलग्न कर अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर आप इस संसार से उड़कर मोक्षरूप उत्तम पद को प्राप्त होइये ॥४६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में देवदूतोक्त जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यभावप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सो सड़सठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६७॥

१६८

वसिष्ठ उवाच

अबुद्धिपूर्वमेवाऽगो यथा शाखाविचित्रताम् ।
करोत्येवमजश्चित्राः सर्गाभासः ख एव खम् ॥१॥

१६८

[सृष्टि को मिथ्या सिद्ध करने के लिए सृष्टि की अबुद्धिपूर्वकता का विविध दृष्टान्तों द्वारा समर्थन करते हैं—]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! जन्मादि विकार सहित परमात्मा आकाश सदृश अपने स्वरूप में शून्यरूप विचित्र प्रपञ्चाध्यासों की वैसे ही सृष्टि करता है। जैसे वृक्ष अबुद्धिपूर्वक ही मैं विचित्र शाखाओं की रचना करता हूँ इसी प्रकार बुद्धि पूर्वकता के बिना ही शाखाओं की विचित्रता का निर्माण करता है।

शङ्का—'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ), 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (उसने कामना की मैं बहुत होऊँ), 'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' (उसने तपस्या की, तपस्या करके उसने इस सब चराचर की सृष्टि की), तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमुपजायते' (स्रष्टव्य [सर्जनीय] प्रपञ्च के आलोचनरूप तप से ब्रह्म 'मैं एक हूँ बहुत होऊँ' यों इच्छा वाला होता है तदनन्तर इच्छावान् ब्रह्म से ईश्वरोपाधिभूत अव्याकृत उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतियों में सृष्टि बुद्धि पूर्वक की गई है ऐसा डिंडिमघोष है। फिर आप सृष्टि अबुद्धि पूर्वक है ऐसा प्रत्यक्ष और श्रुति के विपरीत कैसे कहते हैं ?

समाधान—जैसा आपने ऊपर प्रतिपादन किया है वैसा ही होता, यदि श्रुति का तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में होता। लेकिन भगवती श्रुति का तात्पर्य सृष्टि आदि के प्रतिपादन में है नहीं, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि के ज्ञान से किसी प्रयोजन की सिद्धि श्रुति में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। अद्वितीय ब्रह्मात्मज्ञान ही सप्रयोजन है अतः सकल श्रुतियों में विस्तार से वर्णित है। फलवान् (सप्रयोजन) अद्वितीय ब्रह्मात्म ज्ञान से समीप में श्रुत अफल (निष्प्रयोजन) सर्ग आदि किमर्थ है ऐसी आकाङ्क्षा होने पर वह फलवान् ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का अङ्ग हो जाता है। और वह शांडिल्य विद्या के अङ्गभूत शमविधिपरक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस वाक्य में चूँकि यह सारा जगत् उससे उत्पन्न होता है, अतः 'तज्ज' है, उसमें लीन होता है, अतः 'तल्ल' है, उससे जीवित रहता है, अतः 'तदन्' है, उत्पत्ति, स्थिति और लय में ब्रह्माधीन सत्ता वाला होने के कारण यह सब ब्रह्मरूप ही है यों ब्रह्माद्वैत बतलाने में उपायभूत है, इस कारण श्रुति ने स्वयं श्रीमुख से सर्ग की ज्ञानाङ्गता का सिद्धवत् कीर्तन किया है, अन्य प्रकार से उसकी संगति नहीं बैठ सकती। 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि सूत्र, भाष्य आदि द्वारा बतलाई गई सैकड़ों युक्तियों से, स्मृति, पुराण आदि हजारों वेदोपबृंहणों से अध्यारोप और अपवाद द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्व के प्रतिपादन में सब श्रुतियों का

यथा करोत्यबुद्ध्यादिरावर्तादि पयोनिधिः ।
तथा करोति खे खात्मा सर्वेशः सर्ववेदनाः ॥२॥

तासां स्वसंविदामेव ततः स कुरुते स्वयम् ।
मनोबुद्धिरहंकार इत्याद्या विविधाभिधाः ॥३॥

अबुद्धिपूर्वमारम्भो दृश्यरूपः स्वतश्चितेः ।
संकल्प्यमानो बुद्ध्यादिस्तरङ्गादिर्यथाऽम्बुधेः ॥४॥

तात्पर्य निश्चित होने पर रज्जु सर्प, शुक्तिरजत, मरु-मरीचिका, स्वप्न आदि अध्यारोपों में अबुद्धि पूर्वकता ही देखी गई है, कहीं पर भी अध्यारोप में बुद्धिपूर्वकता नहीं देखी जाती यों भगवान् श्रीवसिष्ठजी सृष्टि में किसी को अनारोपितत्व शङ्का न हो इसलिए सृष्टि की अबुद्धि पूर्वकता की सिद्धि करते हैं। रह गई श्रुतियों में ईक्षण आदि पूर्वकत्व के कथन की बात। उसका प्रयोजन तो ब्रह्म की सर्वज्ञता, चिदेकरसत्ता आदि के लाभ से सांख्य आदि के अभिमत अचेतन प्रधान आदि की उपादानता के निराकरण में है, क्योंकि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों से ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य दिखलाया गया है; 'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' अर्थात्, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन स्वप्न उसके तीन स्थान हैं। 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (जैसे जीवित अर्थात् चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरुष से अचेतन केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही ब्रह्म से सृष्टिकाल में निखिल जगत् उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुतिदृष्टान्त के अनुरूप है; भगवान् के ईक्षण, कामना, संकल्प आदि के, जो बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति से पहले के हैं, केवल मायावृत्तिरूप होने से सृष्टि के ईक्षण, कामना और संकल्पपूर्वक होने भी काम, सकल्प आदि धर्मवान् में अबुद्धिपूर्वकता की उपपत्ति होती है; त्वंपदार्थनिष्ठ ही अध्यारोप के अपवाद द्वारा निरास में मुक्ति रूपफलता नहीं है; प्रपञ्च स्वनिष्ठ अविद्या का कार्य है, अतः स्वविद्या से उसकी निवृत्ति हो सकती है और अपने में अबुद्धिपूर्वक ही तीन अवस्थाओं के अध्यारोप का अनुभव होता है, इस आशय से मुनि ने यहाँ अबुद्धिपूर्वकता का समर्थन किया है, यह समझना चाहिये ॥१॥

निराकार सर्वेश्वर परमात्मा आकाश में वैसे ही जगत्-प्रतिभासों को जगत्-स्फुरणों को बनाता है। जैसे सागर अबुद्धिपूर्वक ही आवर्त, तरङ्ग, बुद्बुद आदि की रचना करता है ॥२॥

अनन्तर वह उन जगदाकार स्वसंविदों को ही स्वयं मन, बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि विविध संज्ञाएँ करता है ॥३॥

चित् से बुद्धि आदि की सिद्धि होने तक दृश्य रूप आरम्भ वैसे ही अबुद्धि पूर्वक स्वतः ही होता है जैसे समुद्र से तरङ्ग आदि स्वतः होते हैं लेकिन बुद्धि की सिद्धि होने के बाद संकल्प्यमान जो आरम्भ है वह बुद्धिपूर्वक होता है ॥४॥

चिन्मात्रात्संप्रवर्तन्ते मनोबुद्ध्यादयस्तथा ।
आवर्तकणकल्लोलवीचयो वारिधेर्यथा ॥५॥
भित्तिमात्रं यथा चित्रं जगदालोकमात्रकम् ।
चिति चिद्व्योममात्रात्म तथैवाऽऽभासमात्रकम् ॥६॥
अबुद्धिपूर्वमारम्भो नियत्या संनिवेशवान् ।
यथा संपद्यते वृत्ते तथा सर्गात्मकश्चिति ॥७॥
तरौ गुलुच्छकादीनां यथाऽन्यः कुरुतेऽभिधाः ।
तथा चिद्वृक्षपुष्पादिपृथ्व्यादिविहिताभिधम् ॥८॥
अनन्यत्पुष्पपत्रादि यथा नाम महातरोः ।
तथैवाऽनन्यदेवेदं चिद्व्योम्नः परमात्मनः ॥९॥

चिन्मात्र से मन, बुद्धि आदि वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे सागर से आवर्त भँवर, जलकण, बड़ी-बड़ी लहरें और लहरियाँ निकलती हैं ॥५॥

चित् में आभासमात्र स्फुरणमात्र यह जगत् चिदाकाशमात्र स्वरूप वैसे ही जैसे केवल दिखाई देने वाला चित्रलिखित जगत् केवल भित्तिमात्र है ॥६॥

जैसे पूर्वोक्त वृक्ष, सागर आदि के वृत्तान्त में अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त हुआ भी शाखा, आवर्त आदि कार्य नियतिवश तुल्य देह की गठन वाला होता है वैसे ही चित् में सृष्टिरूपी कार्य भी तुल्य शरीर संगठन वाला होगा, इसलिए उसके वास्ते भी बुद्धिपूर्वकता की आवश्यकता नहीं है, यह अर्थ है ॥७॥

समष्टि बुद्धि रूप हिरण्यगर्भ के अनन्तर जन्मे हुए चिद्रूपी वृक्ष के पुष्प आदि रूप पृथिवी आदि का वैसे ही चित् से अन्य बुद्धि समष्टिरूप हिरण्यगर्भ आदि ने नामकरण किया, जैसे वृक्ष में पत्ते, फूल, गुच्छे आदि के नाम वृक्ष से अन्य रखता है ॥८॥

वैसे ही चिदाकाशरूप परमात्मा से यह जगत् वैसे ही अभिन्न ही है। जैसे पत्ते, फूल, फल आदि महावृक्ष से अभिन्न हैं ॥९॥

तरावयवेष्वन्यः करोति विविधाविधाः ।
चिद्व्योमात्मनि सर्वेषु भूत्वाऽन्य इव खात्मसु ॥१०॥

चित्तरोः पल्लवाः सर्गाश्चित्वादेव न सन्त्यलम् ।
कार्यकारणवद्भाति स एव स्वप्नवत्स्वयम् ॥११॥

वक्षि चेत्कथमेतस्माद्व्यर्थं तदनुभूयते ।
सर्गाद्यमुत्र स्वप्नादिष्वेषु कोऽपह्नवं भजेत् ॥१२॥

तरावाकारवत्येषा कल्पना रचिता यथा ।
चितेराकाशमात्रायास्तथैषा कल्पना कृता ॥१३॥

यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
यथा स्पन्दादयो वायौ तथा बुद्ध्यादयः परे ॥१४॥

चिदाकाश अपने में व्यष्टिजीव सा स्वपुत्र आदि का तथा अन्यान्य सकल कार्यों का वैसे ही विविध नाम रखता है जैसे वृक्ष के अवयवभूत पत्र, पुष्प, फल आदि के विविध नाम वृक्ष से अन्य रखता है ॥१०॥

चिद्रूपी वृक्ष के चित् होने के कारण ही उसकी पल्लवरूपी सृष्टियाँ सर्वथा नहीं है । किन्तु वह चिद्रूपी वृक्ष ही स्वप्न के समान स्वयं कार्य और कारण सा प्रतीत होता है ॥११॥

यदि सृष्टि आदि नहीं ही है तो चित् को परलोक में व्यर्थ ही उसका अनुभव होता है यह मानना पड़ेगा यह ठीक नहीं है, क्योंकि सर्गाभाव मानने पर वह विहित-निषिद्ध कर्मों का फल रहा नहीं, फिर परलोक में सर्ग आदि का अनुभव कैसे होता है ! ऐसा यदि आप आक्षेप करें तो स्वप्न आदि में तथा इन प्रसिद्ध रज्जु सर्प, मरु-मरीचि का आदि अनुभवों में कौन व्यर्थता का निवारण कर सकता है, क्योंकि उनमें भी तो स्वाप्न आदि भोग देने वाले कर्मों की फलता समान है । यदि कहो कि वहाँ पर भोगाभास मात्र देखने से कर्म की सफलता है तो वह प्रकृत में भी समान है अर्थात् प्रकृत में भी भोगाभास मात्र से वह सफलता क्यों न होगी ! ॥१२॥

जैसे आकारवान् वृक्ष में यह शाखादि कल्पना की गई है वैसे ही निराकार चित् में यह जगत्‌रूप कल्पना की गई है । अर्थात् साकाराध्यास में वृक्ष आदि से चित् में यह विशेषता है कि साकार में वे सब साकाराध्यास हैं लेकिन निराकार चित् में साकार जगत् का अध्यास है ॥१३॥

परमात्मा में बुद्धि आदि वैसे ही हैं । जैसे फूल में सुगन्ध आदि हैं, जैसे आकाश में शून्यता है तथा जैसे वायु में स्पन्द आदि है ॥१४॥

यथा गन्धादयः पुष्पे गगने शून्यतादयः ।
यथा स्पन्दादयो वायौ तथेमाः सृष्टयश्चिति ॥१५॥

यथा खानिलपुष्पाणां शून्यतास्पन्दगन्धदृक् ।
शून्यरूपाऽनुभूता च तथा सर्गस्थितिश्चिति ॥१६॥

न पृथक् शून्यता व्योम्नो न पृथग्द्रवताऽम्भसः ।
न पृथक् कुसुमाद् गन्धो नाऽनिलात्स्पन्दनं पृथक् ॥१७॥

अग्नेर्न पृथगुष्णत्वं पृथक् शैत्यं च नो हिमात् ।
चिद्व्योमैकात्मनः स्वच्छान्न जगत्पृथगीश्वरात् ॥१८॥

सर्गादावेव यद्व्योम्नि स्वप्नाद्धृदि च दृश्यते ।
अकारणं तच्चिद्व्योम्नः कथमन्यद्भवेत् किल ॥१९॥

स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तो नित्यदृष्टो विचार्यताम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण सारं किं तत्र कथ्यताम् ॥२०॥

चित् में ये पृथिवी आदि भी वैसे ही हैं । जैसे फूल में गन्ध आदि है, जैसे आकाश में शून्यता आदि है और जैसे वायु में स्पन्द आदि है ॥१५॥

जैसे आकाश की शून्यता, वायु के स्पन्द और फूलों की गन्ध का अनुभव होने पर भी उनसे पृथक् करने पर वे शून्यरूप हैं आकाशादि से पृथक् शून्यता आदि का अस्तित्व नहीं है (वैसे ही) चित् में सर्ग स्थिति अनुभूत होने पर भी चित् के बिना शून्यरूप है ॥१६॥

निर्मल चिदाकाश स्वरूप ईश्वर से जगत् वैसे ही अतिरिक्त नहीं है । जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है, द्रवता जल से पृथक् नहीं है, गन्ध पुष्प से पृथक् नहीं है, स्पन्द वायु से अलग नहीं है, उष्णता अग्नि से अलग नहीं है और शीतलता बरफ से अलग नहीं है ॥१७, १८॥

सृष्टि के आदि में जो आकाश में दृष्टिगोचर होता है, स्वप्न से जो हृदय प्रदेश में दृष्टिगोचर होता है वह अकारण जाग्रत् तथा स्वाप्न जगत् चिदाकाश से कैसे अतिरिक्त हो सकता है ? ॥१९॥

प्रतिदिन देखा गया स्वप्न ही इस विषय में दृष्टान्त है, उस पर विचार कीजिये । जरा बतलाइये तो सही स्वप्न में चिन्मात्र से अतिरिक्त क्या सार है ? ॥२०॥

तदिदं बुद्धिसंस्कारदृश्यमित्यादिका स्मृतिः।
न संभवति यत्तत्त्वं कथयेदं कथं भवेत् ॥२१॥

यत्तत्र दृष्टं तदिह स्मृतिकाले भवेद्यदि।
नाऽनुभूयेत तत्तत्र कैवैकस्य द्विधा स्थितिः ॥२२॥

तस्मादावर्तवृत्त्येदं काकतालीयवज्जगत्।
चिति यद्भाति तत्रैषा पश्चात्स्वप्नादिकल्पना ॥२३॥

अबुद्धिपूर्वं संपन्ने सर्गे वीच्यादयो यथा।
संनिवेशः स्थितिः पश्चात्स्वयं संपद्यते तथा ॥२४॥

जातमेव न तज्जातं जातं यत्कारणं विना।
यतोऽजातं तदेवाऽऽद्यं तत्समं संस्थितं तथा ॥२५॥

यदि कहें कि स्वप्न स्मृति ही है। अन्य स्मृतियों में, जो संस्कारजन्य तथा विषयशून्य होती हैं, 'सोऽयं' यों तत्ता भासित होती है। किन्तु स्वप्न में निद्रारूपी दोष से इदन्तागोचरत्वांश में संस्कार का उद्बोध होने से तत्तांश का अपहरण हो जाता है, अतः इदन्ता भासित होती है। इसलिए यह बुद्धिजन्य संस्कार दृश्य दोनों ही जगह एक ही वस्तु है इत्यादि शङ्का तो ठीक नहीं है। क्योंकि तत्ता इदन्ता कैसे होगी ? अपरोक्ष में (प्रत्यक्ष में) इदन्ता प्रसिद्ध है, लेकिन स्मृति में तो दूरवर्ती परोक्ष ही है, इसलिए यह कैसे घट सकता है, कहिये, यह अर्थ है ॥२१॥

यदि कहो कि स्वाप्न-स्मृति के समय वन आदि में देखा गया बाघ आदि स्वप्नदोष में निद्रा द्वारा निकट में लाया जाता है, यों यदि इदन्ता उसपर होगी तो उस वन में वह बाघ आदि अन्यों द्वारा अनुभूत व होगा। निद्रा द्वारा एक ही बाघ दो तरह से स्थापित किया जाता है यह कहो, तो एक ही दो प्रकार से स्थिति कैसी ? ॥२२॥

इसलिए समुद्र आदि में आवर्तों की तरह काकतालीय के समान अकस्मात् चित् में जो यह जगत् स्फुरित होता है उसी में जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव की सिद्धि के बाद स्वप्न आदि की कल्पना होती है ॥२३॥

समुद्र में तरङ्ग आदि की तरह अबुद्धिपूर्वक उत्पन्न सृष्टि में स्वप्न आदि की अनुभवसिद्धि के अनन्तर सन्निवेश और स्थिति सम्पन्न होती है ॥२४।

जो कारण के बिना उत्पन्न होनेवाला उत्पन्न होकर भी अनुत्पन्न ही है इसलिए अनुत्पन्न वही आद्य उत्पन्न-सा स्थिति है ॥२५॥

अबुद्धिपूर्वं संजाता रत्नादीनां यथाऽर्चिषः।
सत्तैव संनिवेशेन तथैवाऽऽसां जगद्दृशाम् ॥२६॥

यथाकथंचिदेवेदमादौ संपद्यते जगत्।
पश्चाद् गृह्णाति नियतिमावर्तोऽब्धाविवाऽऽत्मनि ॥२७॥

चिद्व्योम्नि स्वप्नजालानि चिज्जगन्त्यपकारणम्।
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते शून्यशून्यात्मकान्यपि ॥२८॥

यावत्सर्वमथाऽन्योन्यं याति कारणतां चिरम्।
तेषां शून्यात्मका एव पदार्था ईश्वरादयः ॥२९॥

जायते शून्यमेवेदं शून्यमेव च वर्धते।
ननु शून्यतयाऽत्यन्तं शून्यमेव विनश्यति ॥३०॥

शून्यं कचत्यशून्याभं दृष्टान्तं स्वप्नमत्र यः।
अपह्नुतेऽनुभूतं स पशुभर्तृकुकं कुधीः ॥३१॥

ब्रह्मसत्ता ही जगतों के वेश से वैसे ही उत्पन्न होती है जैसे रत्न, मणि, माणिक्य आदि की कान्तियाँ अबुद्धिपूर्वक ही उत्पन्न हुई हैं ॥२६॥

यथाकथंचित यानी अनिर्वचनीय मायारूप कारण के बल से ही सृष्टि के आरंभ में सागर में आवर्त की भाँति यह जगत् उत्पन्न होता है पीछे अपने में अर्थ-क्रियाकारितारूप सत्यता का ग्रहण करता है ॥२७॥

चिदाकाश में विविध स्वप्नपरम्पराओं की तरह चिदाकाश में चिद्रूप जगत् अत्यन्त शून्य से शून्य होने पर भी धाराप्रवाहरूप से उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं यानी आविर्भूत होते हैं और तिरोभूत होते हैं ॥२८॥

तदुपरान्त सकल पदार्थ चिरकालतक परस्पर कार्य-कारणभाव को प्राप्त होते हैं। उनके ईश्वर ईश्वरता भी मायासापेक्षस्वरूप है। आदि पदार्थ शून्यात्मक ही हैं ॥२९॥

यह दृश्य शून्य ही उत्पन्न होता है, शून्य ही यह बढ़ता है और शून्यता से अत्यन्त अविद्यमान ही विनष्ट होता है ॥३०॥

शून्य दृश्य अशून्यता सा विकास को प्राप्त होता है, इस विषय में यानी असत के विकास में स्वानुभूत स्वप्नरूप दृष्टान्त का जो अपलाप करता है वह कुमति भेड़िया द्वारा अपने अपहरण का भी अपलाप करेगा ॥३१॥

असदेवेदमाभाति भ्रान्तिमात्रं सुकृत्रिमम् ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म ज्ञे सन्मात्रमकृत्रिमम् ॥३२॥
अयं चिरस्थसंकल्पः सर्गप्रलयविभ्रमः ।
ज्ञानं स्वभावकचनमज्ञानं भ्रान्तिजृम्भणम् ॥३३॥
झटित्युदेति ब्रह्मात्म दृश्यं दृष्टमकारणम् ।
खे सुषुप्तादिव स्वप्नः पश्चान्नियतिमृच्छति ॥३४॥
काकतालीयवच्चित्त्वाच्चिचति दृश्यं प्रकाशते ।
स्वयमेव स्वभावस्थमावर्तादि यथाऽम्बुधौ ॥३५॥
ईदृशो नाम चिद्धातुरयमाकाशमात्रकः ।
यदित्थं नाम कचति जगद्रूपेण चिद्वपुः ॥३६॥
तेन चिद्रूपिणा पश्चाद्दृश्येनाऽऽत्मनि कल्पिताः ।

सुकृत्रिम भ्रान्तिमात्र यह दृश्य मिथ्या ही प्रतीत होता है चित् की चमत्कृति ही इसका वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में तो यह अकृत्रिम सन्मात्र ही है ॥३२॥

यह प्रपञ्च चिरस्थायी मनोरथरूप ही है, सृष्टि और प्रलय की भ्रान्ति इससे अतिरिक्त नहीं है। उसके वास्तविक स्वभाव का स्फुरण ज्ञान है और भ्रान्ति के आकार से इसका स्फुरण अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये ॥३३॥

जैसे दृश्यशून्य आत्मा में सुषुप्ति के बाद स्वप्न देखा जाता है वैसे ही माया से उपहित ब्रह्मात्मा तुरन्त ही दृश्य बनकर विना कारण ही आविर्भूत होता है यों देखा गया है। पीछे वह अर्थक्रियाव्यवस्था द्वारा कार्य-कारणभावादि नियति को प्राप्त होता है ॥३४॥

[अकस्मात् दृश्य के स्फुरण में निमित्त की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—]

जैसे सागर में आवर्त आदि काकतालीयन्याय से अकस्मात् अपने-आप प्रकाशित होते हैं वैसे ही चित् में दृश्य काकतालीयन्याय से अकस्मात् अपने-आप ही चित्स्वभावता के कारण स्फुरित होता है ॥३५॥

आकाशमात्ररूप (शून्यरूप) यह चिद्धातु ऐसा ही है जो कि चित्स्वरूप होनेपर भी यह इस प्रकार जगत के रूप से स्फुरित होता है ॥३६॥

पहले अबुद्धिपूर्वक दृश्याकार का भान होने से दृश्यभूत उस चिदात्मा ने पीछे अपने में अतीतरूप से प्रतीत में स्मृति आदि की कल्पनारूप, वर्तमान के रूप से स्फुरित में पृथ्वी आदि और पृथ्वी आदि बुद्धि की कल्पनारूप अनेक संज्ञाओं की कल्पना की। ऐसी परिस्थिति में अविभक्त तात्कालिक प्रतिभास में वह

संज्ञाः स्मृत्यादिपृथ्व्यादिबुद्ध्यादिकलनात्मिकाः ॥३७॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते हे भगवन्बुद्धिसंस्कारतः स्मृतिः ।
इति किं प्राप्यते ब्रूहि संबुद्धा यदि न स्मृतिः ॥३८॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम ! भिनद्म्येनं प्रश्नं सिंह इवेभकम् ।
अभेदं स्थापयाम्येकमालोकमिव भास्करः ॥३९॥

विद्यते जगदात्मेदं दृश्यं चिन्मात्रकोटरे ।
अनुत्कीर्णा यथा वृक्षे वनस्था शालभञ्जिका ॥४०॥

सम्पूर्ण बुद्धि आदि विभाग कल्पना मात्र ही हैं ॥३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर! आपके कथनानुसार जगत् के तात्कालिक कल्पनामात्र होनेपर प्रामाणिक अनुभव से उत्पन्न संस्कार से पूर्वोत्पन्न बुद्धि की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा होती है यों सर्वशिष्टानुभवसिद्ध नियम कैसे प्राप्त होगा ? क्या आप स्मृति और प्रत्यभिज्ञा को पूर्वानुभूतविषयिणी नहीं मानते ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिए ॥३८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! मैं आप के प्रश्न के (आपेक्ष के) ऐसे ही टुकड़े-टुकड़े कर डालता हूँ जैसे कि सिंह छोटे से कमजोर हाथी के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है तथा जैसे भगवान सूर्य तिमिर-राशि का उच्छेद कर एकमात्र प्रकाश की स्थापना करते हैं वैसे ही मैं एकमात्र अद्वैत की स्थापना करता हूँ ॥३९॥

यह जगदात्मक दृश्य वैसे ही चिन्मात्र के गर्भ में विद्यमान है जैसे कि वृक्ष में बढ़ई द्वारा काट छाँटकर न गढ़ी गई वन में स्थित प्रतिमा वृक्ष के अन्दर रहती है। अर्थात् यह आपके द्वारा लगाया गया दोष तब होता जब हम पहले असत् ही जगत् क्षणिक प्रतिभास के साथ उत्पन्न होता है ऐसे बौद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करते। लेकिन हम वैसा स्वीकार नहीं करते, हम यह स्वीकार करते हैं कि नित्य ब्रह्म सत्तारूप ही जगत् है वह नित्य चिदात्मक ही प्रतिभास से सदा अभिव्यक्ति योग्य है अविद्या की आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति की विचित्रता के चमत्कार से कभी आविर्भूतसा, तिरोहित-सा, घट, पट आदि के आकारसा, छिन्नसा, भिन्नसा, कारणों द्वारा उत्पादितसा, अपरोक्षसा, एकसा, नानासा, भिन्ना-भिन्नसा, क्षणिकसा, क्षणिकसा, स्थायीसा, अतीतसा, वर्तमानसा, भविष्यत्सा नाना चमत्कारों से, जो नियत, अनियत, सदृश, असदृश हैं, एक से नहीं, अवभासित होता है। उसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि सबकुछ उपपन्न ही होता है ॥४०॥

उद्धरेद् वृक्षतस्तक्षा तदा चिच्छालभञ्जिकाम् ।
अद्वितीयाच्चितिस्तम्भादुत्कीर्णाङ्कः करोति ताम् ॥४१॥
स्तम्भे जडे न सा व्यक्तिमनुत्कीर्णेह गच्छति ।
चिति स्वन्तर्गता चित्त्वादेवाऽऽत्मन्येव भात्यलम् ॥४२॥
भासमाना त्वनुत्कीर्णदेहैवाऽपि च खात्मिका ।
स्वरूपादच्युता चैव चिन्मात्रादात्मनि स्थिता ॥४३॥
सर्गादौ सर्गकलनाः करोति कलनावती ।
सा चित्स्वभावतः स्वप्ने खात्मन्यद्योदितामिव ॥४४॥
आकाश एव हृदये परमाकाशरूपिणी ।
संकल्पयति चिच्छालभञ्जिकाः स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥४५॥
इयं ब्रह्मकला सेह चिन्मात्रकलना त्वियम् ।
इय चितिरियं जीवस्त्वहंकारस्त्वसाविति ॥४६॥

काठ की प्रतिमा को तो वृक्ष से छील-तराशकर अर्थात् उसका आवरण करने वाले काठ के अवयवों को हटाकर बढ़ई प्रकट करता है किन्तु अद्वितीय चिद्रूपी स्तम्भ से उस जगत्रूपी शाल भञ्जिका को उससे अन्य कौन गढ़ता है अर्थात् कारक के अधीन न होने से काष्ठ-प्रतिमा की तरह उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, यह अर्थ है ॥४१॥

काष्ठ प्रतिमा जड़ खम्भे में बिना छीलेतराशे प्रकट नहीं हो सकती, किन्तु चित् में भीतर स्थित जगत्रूप प्रतिमा उसके अधिष्ठानभूत चित् के आवरण की निवृत्ति होने पर चित् के प्रभाव से चिदात्म में ही पूर्णरूप से प्रकट होती है ॥४२॥

प्रलय और सुषुप्ति में तो शून्यरूपा जगत्-रूप प्रतिमा बिना गढ़े ही सत्ता सामान्यरूप से भासमान चिन्मात्ररूप से अच्युत होकर ही चिदात्मा में स्थित है। अर्थात् तब प्रलय और सुषुप्ति में भी उसका भान क्यों नहीं होता, यह यदि कहो तो सत्ता सामान्य रूप से उस समय भी उसका भान होना ही है ॥४३॥

सृष्टि के आदि में भी पहले पूर्वोक्त निर्विकल्प कल्पनावती होकर पीछे भोगकर्त्ता के अदृष्ट के अनुसार उत्पन्न हुए मनोविकल्पों से स्वयं परमचिदाकाशरूपिणी वह चित् अपने आकाशरूप हृदय में चित्र विचित्र सृष्टिरूप प्रतिमाओं की कल्पनाएं अपने में स्वभावतः वैसे ही करती है जैसे स्वप्न में उत्पन्न कल्पनाओं की करती है ॥४४,४५॥

यह ब्रह्मकला सत्ता सामान्यरूप जगद् बीजस्वरूप है। इस ब्रह्मकला में ही चिन्मात्र कल्पना अर्थात् सदा अनावृत स्वभाव वाली यह प्रतिबिम्ब चित् है, यही प्राण आदि से युक्त होने से जीव है तथा अभिमानवृत्ति की प्रधानता होने से यही अलङ्कार है ॥४६॥

इयं बुद्धिरियं चित्तमयं काल इदं नभः ।
अयं सोऽहं क्रिया चेयमिदं तन्मात्रपञ्चकम् ॥४७॥
इन्द्रियाणामिदं वृन्द पुर्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
इहाऽऽतिवाहिको देहस्तथाऽयं चाऽऽधिभौतिकः ॥४८॥
ब्रह्माऽहं शङ्करश्चाऽहमुपेन्द्रोऽहमहं रविः ।
इदं बाह्यमिदं चाऽन्तरयं सर्ग इदं जगत् ॥४९॥
इत्यादिकलनाजालं चिद्व्योमैवाऽतिनिर्मलम् ।
तस्मात्क्वेते पदार्थौघाः क्व स्मृतिः क्व द्वयैकते ॥५०॥
अकारणकमेवेति जगदाभोगिखण्डकः ।
सर्गादौ स्वप्नवद्भाति खे खात्मैव विकारिवत् ॥५१॥
व्योम्न्येव कचति व्योम चिन्मये चिन्मयं हि यत् ।
बुद्धं तदेव तेनैव जगद्बोधात् क्व तज्जगत् ॥५२॥

अध्यवसाय (निश्चय) प्रधान होने से यही बुद्धि है, यही चित्त है, यही काल है, यही आकाश है, यही मैं हूँ, यही क्रिया है, यही पञ्चतन्मात्राएं हैं ॥४७॥

यही इन्द्रियों का संघात है, यही पुर्यष्टक कही गई है, यहाँ पर यही अतिवाहिक शरीर तथा आधिभौतिक शरीर है। मैं ब्रह्मा हूँ, मैं शङ्कर हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं सूर्य हूँ, यह बाह्य है, यह आभ्यन्तर है, यह सृष्टि है, यह जगत् है इत्यादि कल्पना जाल अतिनिर्मल चिदाकाश ही है। इसलिए ये अज्ञानियों द्वारा कथित पदार्थ राशियाँ कहाँ ? स्मृति कहाँ और द्वैत तथा अद्वैत कहाँ ? ॥४८-५०॥

इस रीति से यह विस्तारयुक्त जगत बिना कारण का ही है। सृष्टि के आरम्भ में स्वप्न के तुल्य चिदाकाश में चिदाकाश ही विकारयुक्तसा प्रतीत होता है ॥५१॥

चिन्मय आकाश में ही जो चिन्मय आकाश का स्फुरण है उसी ने उसे ही जगत् जाना, बोध होने के उपरान्त वह जगद् कहाँ है ? ॥५२॥

क्व स्मृतिः क्व च वा स्वप्नः क्व कालाः कलनाश्च काः।
चिदाभानमिदं भाति शान्तं शून्यमिवाऽम्बरे ॥५३॥

यदन्तश्चिद्घनस्याऽस्ति तद्बहिर्भूततां गतम्।
वस्तुतस्तु न तद्बाह्यं नाऽन्तः सन्मात्रकादृते ॥५४॥

निरस्तावयवाच्छान्तादनाख्याद् यत्प्रवर्तते।
अकारणं भवेद्भूतं तदन्धाः कथमन्यथा ॥५५॥

तस्माद्यादृक्परं ब्रह्म तादृग्दृश्यमिदं परम्।
यदेव चिन्नभः स्वप्ने तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥५६॥

न किंचित्किंचनाऽपीदं दृश्यमस्ति मनागपि।
क्व रजः पूर्णजलधौ क्व दृश्यं परमाम्बरे ॥५७॥

तच्चेदं भाति वा किंचित्तच्चिन्मात्रमचेत्यकम्।
अकचत्स्वेव संशान्तमात्मनीत्थमवस्थितम् ॥५८॥

पूर्णाद्धि ब्रह्मणः पूर्णमप्यनुद्धृतमुद्धृतम्।
इवेदं भाति भारूपमाभानं परमात्मकम् ॥५९॥

इत्थं मयि प्रकथयत्यनुभूयमान-
मप्युच्चकैर्बत जनस्य विमूढताऽन्तः।
स्वप्ने जगद्वपुषि जाग्रदिति प्रतीति
नाऽद्याऽपि यत्त्यजति नाम विदन्नपि द्राक् ॥६०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शालभञ्जिकोपदेशो नामाऽष्टषष्ट्यधिकशततमः सर्गः ॥१६८॥

कहाँ स्मृति है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ दिन, मास, संवत्सर आदि काल विभाग हैं, कहाँ विविध सृष्टि कल्पनाएं हैं? यह शान्त चिद्भान ही आकाश में शून्यरूप जगत्सा मालूम पड़ता है। अर्थात् जब एक मात्र चिदाकाश ही है तब प्रपञ्चित विभागों का अस्तित्व नहीं है यह निष्कर्ष निकला ॥५३॥

जो चिद्घन के अन्दर है अर्थात् चिद्घन की अन्तर्गत जो सत्ता है वह बाह्यता को प्राप्त हुई है वास्तव में तो सन्मात्र के सिवा न वह बाह्य है और न आभ्यन्तर है ॥५४॥

हे अन्धे वादी लोगो! जो वस्तु अवयव शून्य निर्विकार निराकार से प्रकट होती है, वह अकारण कैसे उत्पन्न होगी और वह कूटस्थ ही अन्यथा (सविकार) कैसे होगा? ॥५५॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा परम ब्रह्म है वैसा ही यह जगत् भी चिन्मात्र स्वभाव ही है, क्योंकि जो चिदाकाश है वही स्वप्न में स्वप्न नगर है उसमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् इसलिए भ्रमवश ज्ञात जगत् के जाड्यादि स्वभाव का त्यागकर जगत् चिन्मात्र स्वभाव है ऐसा स्वीकार करो इसी में कुशल है ॥५६॥

शून्यरूप यह दृश्य तनिक भी कुछ नहीं है। पूर्णसागर में धूलि (बिना भीगा रजकण) कहाँ? वैसे ही परमाकाश में दृश्य का अस्तित्व कहा? ॥५७॥

अथवा जो यह दृश्य के समय कुछ स्फुरित होता है वह चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही है। चेत्य रहित होने से अपने से भिन्न दूसरे को प्रकाशित न करता हुआ ही शान्त वह स्वमात्र प्रकाश होकर अपने स्वरूप में इस प्रकार का स्थित है ॥५८॥

पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण भी अनुद्धृतसा यह परमात्मरूप भी भान, जो भारूप ही है, भासित होता है, स्फुरित होता है ॥५९॥

यद्यपि मैं अपने अनुभव में आ रहे आत्मतत्त्व को इस प्रकार विशदरूप से बार-बार ऊँचे स्वर से प्रकट कर रहा हूँ, फिर भी मन्दाधिकारी लोगों के हृदय में बद्धमूल अज्ञान स्वप्न तुल्य जगत् में यह जाग्रत् सत्य ही है ऐसी बुद्धि का त्याग नहीं करती है, यह महान् खेद का विषय है। जानता हुआ भी अधिकारी शीघ्र उसका त्याग नहीं करता। मोह की प्रबलता की बलिहारी है ॥६०॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में शालभञ्जिका उपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अड़सठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६८ ॥

१६९

वसिष्ठ उवाच

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो।
अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥१॥
यस्य न स्फुरति प्रज्ञा चिद्व्योमन्यचलस्थितेः।
प्रसृतेष्विव भोगेषु स मुक्त इति कथ्यते ॥२॥
चिन्मात्रात्मनि विश्रान्तं यस्य चित्तमचञ्चलम्।
तत्रैव रतिमायातं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३॥
परमात्मनि विश्रान्तं यस्य व्यावृत्य नो मनः।
रमतेऽस्मिन्पुनर्दृश्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४॥

श्रीराम उवाच

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय यस्य नो।
जडमेव मुने! मन्ये मानवं तमचेतनम् ॥५॥

वसिष्ठ उवाच

चिद्व्योमैकान्तनिष्ठत्वात् प्रयत्नेन विना सुखम्।
न वेत्ति शुद्धबोधात्मा यः स विश्रान्त उच्यते ॥६॥

सर्व एव परिक्षीणाः सन्देहा यस्य वस्तुतः।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे ॥७॥

यस्य कस्मिंश्चिदप्यर्थे क्वचिद्रसिकताऽस्ति नो।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः ॥८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः ॥९॥

अविश्रामे निरालम्बे दीर्घे संसारवर्त्मनि।
चित्त्वादात्मनि विश्रान्तिः प्राप्ता येन जयत्यसौ ॥१०॥

धावित्वा ये चिरं कालं प्राप्तविश्रान्तयः स्थिताः।
ते सुप्ता इव लक्ष्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥११॥

१६९

जिस नित्य अन्तर्मुख बुद्धि वाले परमात्मा में आसक्त मति वाले ज्ञानी पुरुष के सुख के साधनभूत विषय सुख के लिए नहीं हैं और दुःख साधन दुःख के लिए नहीं हैं, वह मुक्त कहलाता है ॥१॥

चिदाकाश में अटल निष्ठा वाले जिस पुरुष की बुद्धि उससे वैसे ही विचलित नहीं होती है जैसे अज्ञानियों की बुद्धि बिखरे हुए विषयों पर आसक्त होकर उनसे विचलित नहीं होती है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥२॥

जिसका निश्चल चित्त चिन्मात्ररूप परमात्मा में विश्रान्त होकर उसी में रति को प्राप्त हो गया वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥३॥

परमात्मा में विश्रान्त हुआ जिसका चित्त उससे हट कर फिर इस दृश्य में रति को प्राप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! जिसका सुख-साधन विषय समुदाय सुख के लिए नहीं है और दुःखः साधन दुःख के लिए नहीं है उस अचेतन मनुष्य को तो मैं जड़ ही समझता हूँ ॥५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जो शुद्धबोधात्मा चिदाकाश में अत्यन्त संलग्न होने के कारण प्रयत्न के बिना सुख को नहीं जानता है, वह विश्रान्त कहा जाता है ॥६॥

विवेक द्वारा जिसके सब पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले सभी सन्देह वास्तव में क्षीण हो गये वह परम पद में विश्रान्त है, सकल सन्देह अज्ञानमूलक हैं अतः मूलाज्ञान के विनाश से सकल सदेहों का विनाश हो जाता है, यह भाव है। इस विषय में भगवती श्रुति भी है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' अर्थात् परात्पर परमात्मा के दर्शन होने पर चिदचिदविवेकरूप हृदय ग्रन्थि टूट जाती है, सब सन्देह मिट जाते हैं ॥७॥

व्यवहार करते हुए भी जिसके अन्दर किसी भी वस्तु में कहीं पर भी अनुराग नहीं है, वह विश्रान्त कहा गया है ॥८॥

प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल गया उससे निर्वाह कर रहे जिसके समस्त कार्य कामना और सङ्कल्प से शून्य है, वह परम पद में विश्रान्त कहा गया है ॥९॥

जिस महापुरुष ने विश्राम शून्य, निराधार और लम्बे संसाररूपी मार्ग में चिन्मात्र के दर्शन से आत्मा मे विश्राम पा लिया, वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्ववन्दनीय है ॥१०॥

जो लोग चिरकाल तक बीहड़ संसार मार्ग में भटक-कर परम पद में विश्राम पा चुके वे लोक व्यवहार में निरत होने पर भी विषयों के पीछे दौड़ने से (भटकने से) उत्पन्न खेद को निवृत्त करने के लिए सोये हुए से दिखाई देते हैं। विषयों के पीछे न दौड़ना ही उनका विश्राम पा जाने का स्पष्ट लक्षण है ॥११॥

ते हि चेत्यचिदाभासनभस्याभान्ति भामयाः ।
भास्करा उदिता नित्यं नेह तिष्ठन्ति ते क्वचित् ॥१२॥
सदेहा व्यवहारस्था अपि सुप्ता इवोत्तमाः ।
प्रक्षीणा इव लक्ष्यन्ते जडाभा न तु ते जडाः ॥१३॥
सुप्ता इवेह शय्यासु ये स्वप्ननगरं स्थिताः ।
सुप्ता इति त उच्यन्ते न तु ते जडतां गताः ॥१४॥
दीर्घाध्वपरिविश्रान्तो विश्रान्तो न ददाति यः ।
वाक्यं स सुखमौनस्थः प्रोच्यते न जडाकृतिः ॥१५॥
या निशा सर्वभूतानामविद्यास्तमयात्मिका ।
परो बोधः परा शान्तिस्तत्राऽसौ सममास्थितः ॥१६॥
यस्मिञ्जाग्रति भूतानि दृश्येऽस्मिन्दुःखदायिनि ।
तत्राऽसौ सततं सुप्तस्तं न पश्यत्यसौ सुखी ॥१७॥

वे शुद्ध चिद्रूप भास्कर चैत्य और चिदाकाश से अर्थात् दृश्य और द्रष्टा से शून्य स्वचित्ताकाश में नित्य उदित होकर दीप्त होते हैं, संसार में कहीं पर नहीं रहते ॥१२॥

उत्तम पुरुष सदेह होते हुए तथा व्यवहार में निरत होते हुए भी सोये हुए से, विदेह से और मूढ़ से दिखाई देते हैं वास्तव में वे जड़ (मूढ़) नहीं हैं ॥१३॥

जो लोग इस स्वप्न नगर में शय्याओं में सोये हुए हैं, वे सुप्त (सोये हुए) कहे जाते हैं, किन्तु वे जड़ता को प्राप्त नहीं हुए हैं, निद्रापरवश नहीं हुए हैं ॥१४॥

[तब किस अंश से उसकी सुप्त से समता है यह पूछो तो विश्रान्ति और मौन से है, ऐसा कहते हैं—]

दीर्घमार्ग में परिभ्रमण से निवृत्त होकर श्रम से रहित हुआ जो पुरुष वाक्य मुख से बाहर नहीं निकालता वह सुखमौनस्थ कहा जाता है, न कि जडाकृति कहलाता है ॥१५॥

अविद्यारूपी अन्धकार में विविध व्यवहार कर रहे अतएव उल्लू के तुल्य सकल भूतों की जो अविद्या की अस्तमयरूप रात्रि है वह परम बोध है, परम शान्ति है। उसमें ज्ञानी एकरसरूप से स्थित रहता है ॥१६॥

इस दुःखदायक जिस दृश्य में सब भूत जाग्रत् रहते हैं उसमें वह सदा सुप्त है यानी वह सुखी उसे नहीं देखता है। भगवान् गीता में 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'' इस श्लोक में ज्ञानी के दो लक्षण दिखलाये हैं ॥१७॥

यः कर्मौघमनादृत्य स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
स आत्माराम इत्युक्तो न जडाऽसौ रघूद्वह ! ॥१८॥
दुःखादतिगतः सोऽस्मात्प्राप्तः पारं भवाम्बुधेः ।
तिष्ठत्यनुभवन्भव्यो विश्रान्तिसुखमात्मनि ॥१९॥
दीर्घाध्वनि परिश्रान्तो विषयैश्चचतुरैश्चिरम् ।
भोगभावातुरः क्रूरैः प्रोत्थितः पथि डामरैः ॥२०॥
जरातुषाराशनिभिर्भूयोभूयो जडीकृतः ।
जन्मजङ्गलसारङ्गो व्यर्थव्यग्रविहारवान् ॥२१॥
परमात्मा परिक्रान्तो दुःखकण्टकसंकटे ।
सुदुष्प्रापसुखच्छाये पान्थः संसारवर्त्मनि ॥२२॥
दुष्कृपैः कृतपाथेयो लुठन् क्षीणः पदे पदे ।
अर्थानर्थमयैर्मार्गैः संकटैर्विवशीकृतः ॥२३॥

सर्वकर्मसंन्यास भी उसका लक्षण है, ऐसा कहते हैं—

हे रघूद्वह, जो सकल कर्मों का अनादर कर (त्याग कर) स्वात्मा में ही स्थित रहता है वह आत्माराम (अपने ही क्रीड़ा करनेवाला) कहा गया है, वह जड़ नहीं है ॥१८॥

जन्म, जरा आदि संसारक्लेश से निर्मुक्त होकर इस संसार-सागर के पार पहुँचा हुआ उत्तम पुरुष निरन्तर विश्रान्ति सुख का अनुभव करता हुआ आत्मा में स्थित रहता है ॥१९॥

दीर्घसंसाररूपी मार्ग में भ्रमण से परिश्रान्त, वञ्चना में चतुर देशोपद्रवों की तरह भोग-सामग्री का अपहरण करनेवाले विषयों द्वारा चिरकालतक भोगसाधन पदार्थों से व्याकुल होकर संसारमार्ग में चला है, जरारूप (बुढ़ापारूप) हिमपात और वज्रपात उसे बार बार व्यवहार के अयोग्य बनाते हैं, व्यर्थ व्यग्रतापूर्वक विहार करनेवाला जन्मरूपी जङ्गल का मृगरूप वह पथिक नाना दुःखरूपी काँटों से आकीर्ण सुदुर्लभ सुखरूपी छायावाले संसारमार्ग में असहाय ही चला है २०-२२॥

पाप से उपार्जित धन से संबल बनाकर पग-पग पर गिरते ठोकर खाते अर्थ अनर्थ मार्गरूपी संकटों से विवश हुआ जीव यों थककर भाग्यवश साधन सम्पत्ति द्वारा सत्-शास्त्र और सद्गुरु के अनुग्रहवश तत्त्वसाक्षात्कार से प्रबुद्ध होकर संसाररूपी सागर के परले पार पहुँच कर आत्मज्ञानवान् हो शय्या के बिना भी सुखपूर्वक सोता है आश्चर्य की बात है कि आत्मवान् पुरुष, ऐसे सुख से सोता है जिसमें शयनार्थियों द्वारा अपेक्षित घर, द्वार, महल, पलंग आदि की जरूरत नहीं रहती, न

संसारजलधेः पारं प्राप्य भूतविवर्जितम् ।
अशय्योऽतिप्रमावुद्धः स शेते सुखमात्मवान् ॥२४॥
अपसर्पं निरस्तेहमस्वप्नमसुषुप्तकम् ।
प्रबुद्धमवहिर्निद्र हा शेते सुखमात्मवान् ॥२५॥
जात्यश्ववदिहाऽजातिरश्नन्गच्छन्श्वसन्वदन् ।
लोकमध्ये महारण्ये हा शेते सुखमात्मवान् ॥२६॥
अपूर्वैव घना निद्रा काऽपि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
या न शाम्यति कल्पाभ्रवैर्नाऽङ्गविकर्तनैः ॥२७॥
अपूर्वैव घना निद्रा काऽपि सा तत्त्वदर्शिनाम् ।
प्रबुद्धानामपि हि या निमीलयति दृग्दृशौ ॥२८॥
अनिमीलितनेत्रस्य यस्य विश्वं प्रलीयते ।
स क्षीबः परमार्थेन हा शेते सुखमात्मवान् ॥२९॥
विनिगीर्य जगत्सर्वं परमां पूर्णतां गतः ।
आतृप्तेरमृतं पीत्वा हा शेते सुखमात्मवान् ॥३०॥
निरानन्दमहानन्दी सुखमद्वैतमक्षयम् ।
निरालोकमहालोको हा शेते सुखमात्मवान् ॥३१॥
लोभान्धकारोपरमो लोकलम्पटतां गतः ।
अघनत्वघनाभोगो हा शेते सुखमात्मवान् ॥३२॥
अनन्तदुःखमाशान्तमशान्तं जनतास्थितौ ।
अबहिर्मुखमाभोगि हा शेते सुखमात्मवान् ॥३३॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
कृत्वाऽऽत्मानं नभःशय्यं हा शेते सुखमात्मवान् ॥३४॥
परमाणौ परमाणौ जगत्कोटिशतान्यपि ।
अणौ स्थूले दधद्देहे हा शेते सुखमात्मवान् ॥३५॥
कुर्वन्संहारसर्गौघानकुर्वंश्च कथंचन ।
परमालोकशय्यायां हा शेते सुखमात्मवान् ॥३६॥
संसारनिचयस्वप्नं परिज्ञाय सुषुप्तताम् ।
नयन्प्रकटदिग्दीर्घां हा शेते सुखमात्मवान् ॥३७॥

स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है, और प्राण आदि की कोई चेष्टाएँ भी नहीं होती हैं आत्मस्वरूप में पूर्णरूप से जगरूपता रहती है तथा स्वरूप से वहिर्भूत निद्रा नाम की वस्तु का उसमें नाम-निशान नहीं रहता ॥२३-२५॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष खाते, चलते, सांस लेते और बोलते महारण्यरूप लोक में वैसे ही सुखपूर्वक सोते हैं, यह महान् आश्चर्य है। जैसे उत्तम नसल का घोड़ा खाते, चलते, टिकते सदा ही सोता है केवल युद्ध में जगा रहता है ॥२६॥

तत्त्वज्ञानयों की वह गाढ़ी नींद कोई अलौकिक ही है जो प्रलयकालीन मेघों के गर्जनों से तथा अङ्गों के छेदन-भेदनों से भी नहीं टूटती है ॥२७॥

तत्त्ववेत्ताओं की वह कोई अपूर्व ही गाढ़ी नींद है जो चिन्मात्र के दर्शन में जागरूकों की भी बाह्येन्द्रियों को बन्द कर देती है अथवा व्यवहार में जागरूकों की भी बाह्येन्द्रियों के रूपादि दर्शन को दर्शन आदि के विषय में बन्द कर देती है ॥२८॥

जिसका नेत्रों को बन्द किये बिना ही सारा विश्व विलीन हो जाता है, वह परमार्थ से पागल आत्मज्ञानी सुखपूर्वक सोता है, यह आश्चर्य है ॥२९॥

अहा ! सारे जगत् को निगलकर परम पूर्णता को प्राप्त हुआ आत्मवान् पुरुष तृप्तिपर्यन्त (खूब छक कर) अपरिच्छिन्न (असीम) आनन्द रस का पान कर सुख पूर्वक सोता है ॥३०॥

अहा, विषय जन्य (वैषयिक) आनन्द के अभाव में भी निरतिशय आनन्द से महान् आनन्द वाला अक्षय अद्वैत सुख का अनुभव कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष, जिसके अन्य आलोकों से प्रकाशों से अप्रकाश्य आत्मा में महान् प्रकाश है, सुख पूर्वक सोता है ॥३१॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि रूप अन्धकार से रहित होने के कारण आत्मा के महाप्रकाश में आसक्ति को प्राप्त हुआ तथा अमूर्तानन्दरस में अतिशय आस्वाद युक्त आत्मवान् पुरुष सुख से होता है ॥३२॥

आत्मवान् का ऐसा सुख शयन है जिसमें असीम दुःखानुभव के विषय में विरति रहती है, वर्णाश्रमोचित व्यवहार में लोक संग्रह के लिए अविरति रहती है, बाह्य पदार्थों में अनासक्ति रहती है और आभ्यन्तर सुख का निरन्तर भोग रहता है ॥३३॥

अत्यन्त अणुओं में सूक्ष्मों में सबसे अत्यधिक अणुतम (सूक्ष्मतम) तथा अत्यन्त स्थूल पदार्थों में सबसे अत्यधिक स्थूलतम आत्मा को चिदाकाशरूपी शय्या में स्थित चिदाकाशनिष्ठ कर आत्मवान् पुरुष सुख से सोता है ॥३४॥

अहा ! सूक्ष्म होने के कारण अत्यन्त अणु तथा व्यापक होने के कारण अतिस्थूल चिद्देह में प्रत्येक परमाणु में अनन्त कोटि जगतों को धारण कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥३५॥

अनेक संहार (प्रलय) और सृष्टियाँ कर रहा वास्तव में कुछ न कर रहा आत्मज्ञानी पुरुष परम प्रकाशरूपी शय्या पर सुखपूर्वक सोता है ॥३६॥

संसार समूह रूप स्वप्नरूप स्वप्न को, ज्ञान प्राप्त कर, प्रकट दिशाओं की तरह अपरिच्छिन्न सुषुप्तता को प्राप्त करा रहा ज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३७॥

सर्वेषां जगदर्थानां सत्तासामान्यतां गतः।
आकाशादधिको व्यापी हा शेते सुखमात्मवान् ॥३८॥
अच्छाच्छामम्बरं कृत्वा जगदप्यम्बरीकृतम्।
शान्तशब्दपरश्वासं हा शेते सुखमात्मवान् ॥३९॥
इदमस्मज्जगत्पश्यन्स्वयमाकाशकोणके।
विशदाकाशकोशात्मा हा शेते सुखमात्मवान् ॥४०॥
यथा प्रवाहसंप्राप्तव्यवहारमनोरमे।
तृण्यास्तरणविश्रान्तो हा शेते सुखमात्मवान् ॥४१॥
परमेण स्वयत्नेन परिज्ञानात् स्वरूपिणा।
स्वप्नसंदर्शनेनैव जीवन्खमिव खेन खे ॥४२॥
ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्गगनसंनिभान्।
ज्ञेन यत्नेन संबुद्धः परमाम्बरतां गतः ॥४३॥
प्रबुद्धः सुप्तः सुप्तोऽपि प्रबुद्धो रमतेऽनिशम्।
सुषुप्तोऽभूत्ततो जाग्रत्स्वप्नार्थसुहृदा सह ॥४४॥
जन्मान्तरैकसहवाससमाश्रयेन
चित्तानुवृत्तिमधुरेण चिरंतनेन।
मित्रेण सार्धमखिलानि दिनानि नीत्वा
विश्रान्तिमेष्यति पदे परमे चिरं सः ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अ० वि० श०
विश्रान्तचित्तवर्णनं नामैकोनसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१६९॥

सम्पूर्ण जगत्पदार्थों की 'घटः सन् पटः सन्' इस प्रकार सतरूप से सर्वत्र अनुगम होने के कारण सत्ता-सामान्यता को प्राप्त हुआ आकाश से अधिक व्यापक आत्मज्ञानी पुरुष सुख से सोता है ॥३८॥

पहले प्रविलापन द्वारा आकाशता को प्रापित जगत् को अव्याकृत आकाश से भी निर्मल चिदाकाश बनाकर आत्मवान् पुरुष शब्द और श्वास-प्रश्वास रहित सुखपूर्वक सोता है ॥३९॥

स्वयं प्रत्यगात्मभूत चिदाकाश के एक कोने में स्वप्न के तुल्य इस हमारे जगत् को देख रहा चिदाकाश कोश स्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥४०॥

लोक प्रवाहानुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोहर तृण-राशि निर्मित चटाई पर विश्राम को प्राप्त हुआ आत्मज्ञान सम्पन्न पुरुष सुखपूर्वक सोता है ॥४१॥

जैसे जागे हुए पुरुष, जिसने गाढ़ी नींद में स्वप्न का अनुभव किया है, नींद में अनुभूत स्वप्न का बड़े प्रयत्न से स्मरण करता है वैसे ही आत्म विचार रूप सुपुप्ति में सोने वाला आत्मज्ञानवान् पुरुष अन्य के अथवा अपने अत्यन्त प्रयत्न से बहिर्मुखवृत्ति होकर बाह्यपदार्थ के परिज्ञान से आपाततः (सरसरी) शरीरधारणादि व्यवहार ऐसे ही करता है जैसे कि निरवकाश स्थान में रहने में असमर्थ आकाश दूसरे जैसे कल्पित आकाश से आकाश स्वरूप में सत्ता धारण करता है ॥४२॥

परम चिदाकाश को प्राप्त आत्मज्ञानी पुरुष आकाश के सदृश विशाल स्वरूप के ज्ञान से अत्यन्त असत् होने के कारण आकाश तुल्य शून्यरूप जीव-जगत् रूप धर्मों को प्रयत्न से देखता है, उनका ज्ञाता बनता है ॥४३॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष इस प्रकार सदा सुप्त होता हुआ भी लोक में प्रसिद्ध जागरण और स्वप्न में लोक की तरह ही प्रबुद्ध और सुप्त होकर जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों के भोग में सहायभूत आगे कहे जाने वाले मित्र के साथ सदा रमता है। उसके पश्चात् सुपुप्त होकर उसके साथ ही सुषुप्ति को प्राप्त हुआ। अर्थात् इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष का अज्ञानी की दृटि का स्वप्न कह कर परमार्थ दृष्टि में सदा वह प्रबुद्ध है ॥४४॥

जीवन्मुक्त पुरुष अन्याय जन्मों में एकता द्वारा चिर-काल तक सहवास से उत्पन्न प्रेम से मानो अपनी सारी विषमता का त्याग कर समचित्त से तथा शम, दम, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और सन्तोष की अनुवृत्ति से मधुर आगे कहे जाने वाले चिरकाल के मित्र के साथ आयु के शेष दिनों को आगे कही जाने वाली क्रीड़ा के साथ परम पद में (निरतिशयानन्द विदेह कैवल्य पद में) विश्राम को प्राप्त होगा। अर्थात् जब तक प्रारब्ध का भोग रहता है तब तक उस मित्र के साथ क्रीड़ा कर उसके पश्चात् उसकी जीवन्मुक्ति होती है ॥४५॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में शवोपाख्यान में विश्रान्तचित्तवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६९॥

१७०

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्कोऽस्य सुहृद् ब्रूहि येनाऽसौ रमते सह ।
रमणं किंस्वभावं स्यादुत रत्यात्म वाऽस्य तत् ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

स्वप्रवाहेहितं नाम स्वप्रायेहितनाम च ।
स्वकर्म नाम चाऽस्याऽऽस्ते मित्रमेकमकृत्रिमम् ॥२॥
पितृवद्विहिताश्वासं दारा इव नियन्त्रणम् ।
संकटेषु दुरन्तेषु नित्यमव्यभिचारि च ॥३॥
अशङ्कितोपचरणं सुसंपादितनिर्वृति ।
कोपेष्वकोपनतया वितीर्णावजंनामृतम् ॥४॥
दुर्गदुर्गमदुर्वारदोषोद्धरणतत्परम् ।
सर्वविश्वासरत्नानां कोश आशैशवोषितम् ॥५॥
सहपांसुकृताक्रीडमाबाल्यादेव संगतम् ।
विनिवारितदुश्चेष्टं पितृवद्रक्षणोन्मुखम् ॥६॥
वह्नेरिवौष्ण्यं सौगन्ध्यं कुसुमस्येव सर्वदा ।
अविनाभावि विमलं रवेरिव च वासरम् ॥७॥
लालनैकरतं नित्यं पालनैकपरायणम् ।
सर्वसंकटसंघट्टरक्षणैकसमुद्यतम् ॥८॥
हेम्नोऽग्निरिव देहस्य सर्वावस्थस्य शुद्धिदम् ।
इदं हेयमुपादेयमिति दर्शनतत्परम् ॥९॥
आह्लादकमनिन्द्याभिः कथाभिरिव नागरम् ।
सच्चेष्टामणिमाणिक्यभाण्डसंभारमन्दिरम् ॥१०॥

१७०

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जीवन्मुक्त का कौन मित्र है, कृपया मुझसे कहिये जिसके साथ यह जीवन्मुक्त क्रीडा करता है। उस मित्र के साथ जो वह क्रीडा करता है उसका क्या स्वभाव है ? वह स्वात्म स्वरूप में अवस्थिति ही है अथवा रमणीय भोग स्थानों में विहार प्रयुक्त प्रीतिरूप है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! सहज स्वकर्म, लोकसंग्रह के लिए कृत शास्त्रीय स्वकर्म और अपने प्रयत्न से अभ्यस्त सत्-शास्त्रों के अभ्यास, विचार, सत्संगति, शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य, वाह्य और आभ्यन्तर शौच, सन्तोष, ईश्वर-ध्यान, संयम आदि स्वकर्म यह त्रिविध अनिषिद्ध कर्म एक ही है, उपाधिभेद से तीन नामों द्वारा पुकारा जाता है। उक्त त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुष का एक मात्र मित्र है ॥२॥

वह पिता के समान ढाढस देने वाला है, स्त्री के समान अकार्यों के विषय में लज्जा द्वारा नियन्त्रण करता है और दुर्निवार्य संकटों में सदा साथ रहता है, कभी विछुड़ता नहीं है ॥३॥

उसके सेवादि व्यवहार में किसी प्रकार की शङ्का का नाम-निशान नहीं है, वह निर्वाणरूप परम सुख का सम्पादन करता है तथा क्रोध के अवसरों में स्वयं कोप-रहित होने के कारण शान्ति से समाधानरूपी अमृत का प्रदान करता है ॥४॥

दुर्गम जंगलों में उवड़-खावड़ मार्गों में और अनिवार्य वैर, झगड़ा-झंझट में फँसने पर उनसे उद्धार करने के लिए सदा कटिबद्ध रहता है, सब विश्वासरूपी रत्नों की तिजोरी है तथा अनेक जन्मों के अभ्यास से अनुगत होने के कारण बाल्यावस्था से ही साथ रहता है ॥५॥

बाल्यकाल में उसने उसके साथ धूलि के खेल-खेले हैं, बाल्यावस्था से ही वह संगी-साथी बना है, अनेक दुश्चेष्टाओं का निवारण किया है तथा उसके रक्षण में पिता के समान सदा तत्पर रहा है ॥६॥

वह अग्नि की उष्णता के समान, फूल की सुगन्ध के समान और सूर्य निर्मल दिन की तरह सदा अविनाभावी (विलग न होने वाला) है अर्थात् जैसे अग्नि से उष्णता पृथक् नहीं होती, फूल से सुगन्ध नहीं बिछुड़ती तथा सूर्य से दिन अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही वह भी उससे विछुड़ता नहीं है ॥७॥

नित्य लाड़ करने में निरत, पालन करने में सर्वथा कटिबद्ध वह सकल संकटों की प्राप्ति होने पर रक्षा करने में सदा कमर कसकर तैयार रहता है ॥८॥

सभी अवस्थाओं में स्थित देह की वैसे ही वह शुद्धि करने वाला है। जैसे अग्नि सुवर्ण को शुद्ध कर देती है तथा यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकार के विवेक में सदा तत्पर रहता है ॥९॥

वह नगर निवासी चतुर पुरुष के समान अनिन्दनीय कथाओं से आह्लादित करने वाला है तथा वचन, मन और शरीर की सुन्दर चेष्टारूपी मणि, माणिक्य आदि रत्नों की राशि का भण्डार ॥१०॥

सूर्यस्तम इवाऽजस्रमप्रदर्शयदप्रियम्।
अनुरक्ता महेलेव प्रियमेव प्रदर्शयत् ॥११॥
जनं प्रियंवदं कुर्वंत्प्रियमेव समाचरत्।
पेशलं मधुरं स्निग्धमक्षुब्धमुदिताशयम् ॥१२॥
लोकोपचारकं पूज्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम्।
कामोपशान्तं सद्रूपं परमार्थैककारणम् ॥१३॥
रणेऽज्ञानसमुद्भूते पूर्वं प्रहरणोद्यतम्।
अपूर्वनर्मनिर्माणलीलाललनलालकम् ॥१४॥
पालकं शीलसाराणां दाराणां च कुलस्य च।
आधिव्याधिपरीतस्य चेतसोऽमृतमौषधम् ॥१५॥
विशेषविद्यावैदग्ध्यवादवन्द्यविनोदनम्।
समानकुलशीलत्वाद् द्विधाभाव इव स्थितम् ॥१६॥

वह सत्कर्मरूपी मित्र अप्रिय वस्तु को दूर से वैसे ही हटा देता है, जैसे सूर्य दूर से ही अन्धकार को हटा देता है समीप में नहीं आने देता तथा अनुरागयुक्त स्त्री की तरह सदा प्रिय वस्तु ही दिखलाता है अर्थात् प्रिय वस्तु को ही समीप में आने देता है ॥११॥

अपने सम्पर्क में आये हुए जन को प्रिय बोलने वाला बना रहा तथा सदा प्रिय ही कर रहा वह मित्र कोमल, मधुर, स्नेहमय, क्षोभरहित और अप्रमादी है। अपने सम्पर्क में आये सत्पुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करता है, पूजनीय है, स्मितपूर्वक बोलता है, कामना से रहित है अतएव सज्जनों के रूप के समान रूपवाला है तथा परमार्थ का (मोक्ष का) एकमात्र कारण है ॥१२, १३॥

दैवात् अज्ञानी लोगों के साथ हुए युद्ध में पहले प्रहार करने में उद्यत रहता है अर्थात् अत्यन्त शूर है तथा लोकोत्तर क्रीडा, हास्य आदि कौतुकों के निर्माणों द्वारा लीला और लाड़-प्यारों से विलास कराने वाला है ॥१४॥

सुशीलसम्पन्न नारियों का तथा कुल का पालन करने वाला है और आधि-व्याधि से परिपूर्ण चित्त का अमृत के समान जीवनौषध के तुल्य है एवं चित्त के राग को हटाने वाला है ॥१५॥

विशेषरूप से विद्वत्ता और वादों द्वारा प्रभु, गुरु आदि संमाननीय उत्कृष्ट लोगों का मनोरञ्जन करता है अर्थात् उनके मन में कौतुक उत्पन्न करता है। कहीं पर समान कुल और शील होने के कारण विभाग से द्विधाभाव में द्वैत में स्थित-सा है ॥१६॥

अनुरक्तान्नृपान्साधून्वदान्यान्कारयत् सदा।
यज्ञदानतपस्तीर्थन्यायार्थप्रेरणोन्मुखम् ॥१७॥
पुत्रदारद्विजातिस्त्रीभृत्यबन्धुजनैः सह।
शुभभोजनपानार्हमुत्तमश्लाघ्यसंगति ॥१८॥
भोगादिवद्धतृष्णत्वं दुःखदं विनिवारयत्।
सुस्निग्धसंकथोदारं समाश्वासोत्तमास्पदम् ॥१९॥
ईदृशेनाऽऽत्ममित्रेण सकलत्रेण संयुतः।
स्वकर्मनाम्ना रमते स्वभावेनैव नेरितः ॥२०॥

श्रीराम उवाच

कलत्रमस्य मित्रस्य तदीयस्य मुनीश्वर!।
किं तत्किंरूपमेव स्यात्समासेनैव मे वद ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

स्नानदानतपोध्याननामानोऽस्य महामते!।
सन्ति पुत्रा महात्मानः स्वनुरक्ताखिलप्रजाः ॥२२॥

उत्तम राजा, व्यापारी आदि को अनुरक्त बनाकर सदा दानवीर बना रहा वह सदा यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रा और न्याय के लिए प्रेरणा करने में तत्पर रहता है ॥१७॥

उससे पुत्र, पत्नी, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), दास, दासी और बन्धु जनों के सहित सुन्दर भोजन पान के योग्य उत्तम पुरुषों के साथ संगति होती है ॥१८॥

भोग आदि में बद्धतृष्णता का (अतितृष्णा का), जो दुःखदायी है, सदा निवारण कर रहा वह मित्र स्नेहमय सुन्दर कथा-वार्ता में अत्यन्त दक्ष है और समाश्वासन का (ढाढस बांधने का) उत्तम स्थान है ॥१९॥

इस तरह के स्वकर्मनामक सपत्नीक अपने मित्र से संयुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है न कि किसी से प्रेरणा पाकर ॥२०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! उसके इस मित्र के स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्ग कौन हैं और उनके कैसे गुण हैं ? यह मुझसे संक्षेपतः ही कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महामते श्रीरामजी ! इसके स्नान, दान, तप, और ध्यान नाम के चार महात्मा पुत्र हैं, उनके सद्गुणों से सारी प्रजा उन पर खूब अनुरक्त है ॥२२॥

चन्द्रलेखेव लोकस्य दृष्टचैवाऽऽह्लाददायिनी ।
अविनाभाविनी भार्या मुदिताऽस्यानुरागिणी ॥२३॥
करुणाकारणाकीर्णधना हृदयहारिणी ।
आनन्दजननी चाऽस्य वयस्याऽव्यभिचारिणी ॥२४॥
समताऽस्य मता नित्यमास्ते हृदयवल्लभा ।
प्रतीहारी पुरः प्रह्वा संमुखं सुखदायिनी ॥२५॥
धैर्ये धर्मे च धीः साधो ! नित्यमाधीयते च या ।
साऽस्य धीरस्य धुर्यस्य पुरो धन्यस्य धावति ॥२६॥
अस्य सन्ना समं स्कन्धे सर्वदैव महौजसः ।
विषयारिजये राज्ञो मैत्री मन्त्रप्रदायिनी ॥२७॥
कार्याणामार्यमर्यादाचर्याचातुर्यशालिनी ।
सर्वेषामस्य मान्यस्य सत्यता स्वार्थदायिनी ॥२८॥
इत्येवंपरिवारेण मित्रेण सह मन्त्रिणा ।
स्वकर्मणा व्यवहरन्न हृष्यति न कुप्यति ॥२९॥

स यथास्थितमेवाऽऽस्ते विनिर्वाणमना मुनिः ।
चित्रार्पित इवाऽजस्रं लोके व्यवहरन्नपि ॥३०॥
वस्तुशून्येषु वादेषु मूकः शैलमयो यथा ।
निष्प्रयोजनशब्देषु परं बाधिर्यमागतः ॥३१॥
लोकाचारविरुद्धेषु शवं सकलकर्मसु ।
आर्याचारविचारेषु वासुकिर्वा बृहस्पतिः ॥३२॥
प्रवृत्तवाक्पुण्यकथो जिह्मानां प्रतिभानवान् ।
निमेषेणैव निर्णेता वक्ताऽऽशु बहुवस्तुनः ॥३३॥
समदृष्टिरुदारात्मा वदान्यः संविभागवान् ।
पेशलस्निग्धमधुरः सुन्दरः पुण्यकीर्तनः ॥३४॥
स्वभाव एवैष भवेत्प्रबुद्ध-
धियां प्रयत्नेन तु मेदृशान्ते ।
भवन्ति नेन्द्वर्कहुताशनाद्याः
क्वचित्परप्रेरणया प्रकाशाः ॥३५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि०
तत्त्वज्ञव्यहारवर्णनं नाम सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७०॥

चन्द्रकला के समान दर्शन से ही लोगों को आह्लादित करने वाली, कभी पृथक् न होने वाली सदा साथ रहने वाली अनुरागमयी, नित्य सन्तुष्ट, मुदिता, दयावश चारों ओर धन बांटने वाली, मनोहारिणी, आनन्द देने वाली सदा साथ रहने वाली वयस्या (सहचरी) समता नाम की इसकी भार्या है। वह सदा प्राणों से भी इसे प्रिय हैं। हे साधो ! धैर्य और धर्म के विषय में सदा आकृष्ट बुद्धि इसकी द्वारपालिका है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहती है और सुख देने में तत्पर रहती है। यह धीर धन्य उत्तम पुरुष जहाँ जाता है वह उसके आगे-आगे दौड़ती है ॥२३-२६॥

इस महातेजस्वी राजारूप मित्र की विषयरूप शत्रुओं पर विजय पाने के विषय में सलाह देने वाली मैत्री नाम की दूसरी स्त्री सम होने के कारण सदा ही कन्धे से कन्धा सटाकर रहती है ॥२७॥

माननीय इसको आर्यमर्यादारूपी सब कार्यों के विषय में अतिचातुर्यपूर्वक उपदेश देने वाली सत्यता इसकी धनाध्यक्षा है ॥२८॥

इस तरह के उत्तम परिवार वाले मित्र और मन्त्रीरूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र लोकव्यवहार कर रहा जीवन्मुक्त पुरुष लाभ होने पर न तो हर्षित होता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है ॥२९॥

निर्वाण में (मोक्ष में) निरत मन वाला मननशील ज्ञानी पुरुष युद्ध आदि व्यवहार कर रहे चित्रलिखित योद्धा के समान लोक में निरन्तर व्यवहार करता हुआ भी यथास्थित (ज्यों का त्यों) ही रहता है ॥३०॥

वह वस्तुशून्य अतात्त्विक वादों में शैल प्रतिमा की (पत्थर की मूर्ति की) तरह मूक रहता है एवं निष्प्रयोजन शब्दों के प्रति अत्यन्त बहरा रहता है। लोकाचार से विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट रहता है, सदाचार के विवेचन में सहस्र जीभ वाले शेषनाग अथवा देव गुरु बृहस्पति के समान वाग्मी और पवित्र कथा वाला है तथा अपने और दूसरों के कुटिलता आदि दोषों को ताड़ लेने वाला, कठिन से भी कठिन सन्दिग्ध वस्तुओं का पलक भर में निर्णय करके वक्ता तथा विविध सदुपदेशों का उपदेष्टा ॥३१-३३॥

वह सब जीवों पर समदृष्टि रखने वाला, अत्यन्त उदार, दानवीर, सबको बांटने वाला, कोमल, स्नेहमय और मधुर स्वभार वाला, सुन्दर तथा पुण्यचरित है ॥३४॥

ये पूर्ववर्णित गुणगण ज्ञानी लोगों के स्वभाव सिद्ध ही हैं। वे प्रयत्न से ऐसे उत्तम गुणगण वाले नहीं होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि किसी अन्य की प्रेरणा से प्रकाशमय नहीं होते, किन्तु स्वभावतः ही वे प्रकाशमय हैं वैसे ही प्रबुद्ध पुरुषों के उक्त गुणगण स्वाभाविक ही हैं ॥३५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अवि० विप० शवोपाख्यान में तत्त्वज्ञव्यवहारवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का
एक सौ सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७०॥

१७१

वसिष्ठ उवाच

संविदाकाशकचनमिदं भाति जगत्तया।
वस्तुतो न जगन्नाऽऽभा न शून्यं न च संविदः ॥१॥
यदिदं भाति चिद्व्योम जगदाख्यं न तत्ततः।
आकाशादिव शून्यत्वमन्यदन्यदपि स्थितम् ॥२॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः।
तद्दृश्यमिति भातीदं दृश्यमन्यन्न विद्यते ॥३॥
महाप्रलयसंपत्तावादिसर्गः पुनः किल।
परस्मात्कारणाभावे कुतो दृश्यस्य संभवः ॥४॥
तदाऽणुमात्रमपि हि दृश्यबीजं न विद्यते।
किल यस्मादिदं चक्रं पुनर्मूर्तं प्रवर्तते ॥५॥
उत्पन्नमेव नैवाऽतो मूर्तं दृश्यमिदं जगत्।
वन्ध्यापुत्र इवाऽत्यन्तमतोऽस्त्येव न दृश्यधीः ॥६॥
यच्चेदं किंचिदाभाति दृश्यमित्यभितः स्थितम्।
तच्चिन्मात्रं खमेवाऽच्छं परमेव पदं विदुः ॥७॥
यथा सुषुप्तात्स्वप्नत्वं गच्छत्यात्यनवस्थितिम्।
चिन्मात्रमजहत्स्वच्छं निजं रूपमनामयम् ॥८॥
सर्गस्याऽऽदौ तथैवेदमात्मैव स्वात्मनाऽऽत्मनि।
व्योमात्मैव चिदाभासं दृश्यमित्यवभासते ॥९॥
यथा पुरतया भाति मनः संकल्पमन्थरम्।
तथा दृश्यमिवाऽऽभाति सर्गादौ चिन्नभः परम् ॥१०॥
यथाऽऽत्मन्यनिलः स्पन्दश्चक्रावर्तवदीहते।
सर्गादौ चिन्नभः स्थित्वा दृश्यमित्येव तिष्ठति ॥११॥
अतो ज्ञातमनाभातमेव दृश्यं जगत्त्रयम्।
ब्रह्मैवेदं परं भाति स्वात्मनीत्थमवस्थितम् ॥१२॥

१७१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! यह चिदाकाश का स्फुरण ही जगत् के रूप से प्रतीत होता है। वास्तव में तो न जगत् है, न जगत् की आभा है, न शून्य ही है और न वृत्तिसंवित् ही हैं ॥१॥

जो यह जगत् नामक चिदाकाश का वैसे ही भान है जैसे शून्यता आकाश से अतिरिक्त नहीं है यह अज्ञानी जन की दृष्टि में चिदाकाश से भिन्न रूप से स्थित होने पर भी चिदाकाश से भिन्न नहीं है ॥२॥

निर्विषय ही चैतन्य जो एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर बीच में प्रसिद्ध है वही दृश्य के रूप से स्फुरित होता है यह दृश्य उससे अतिरिक्त नहीं है ॥३॥

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः', इत्यादि श्रुतियों में पहले केवल सन्मात्रशेषरूप महाप्रलय होने पर उसके पश्चात् आदि सृष्टि होती है यह सुना गया है। उसमें 'सदेव' (सत् ही था) ऐसा अवधारण करने से अविकारी परमात्मा से अन्य कारण का अभाव होने पर इस दृश्य की कहाँ से उत्पत्ति हो सकती है ? ॥४॥

उस समय अणुमात्र भी दृश्य के बीज का (कारण का) अस्तित्व नहीं, जिससे कि फिर यह मूर्त दृश्यचक्र प्रवृत्त होता। भाव यह कि उस समय, पूर्वोक्त श्रुति से विरोध होने के कारण, परमाणु आदि अन्य कारणों की कल्पना का तनिक भी अवकाश नहीं है ॥५॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि यह मूर्त जगत् वन्ध्या पुत्र की तरह उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः दृश्य बुद्धि सर्वथा नहीं है। सृष्टि-श्रुतियों का तात्पर्य अनुत्पत्ति का प्रतिपादन करने में ही है ॥६॥

जो यह चारों ओर स्थित 'दृश्य' नाम का कुछ प्रतीत होता है, स्फुरित होता है श्रुतियों के तात्पर्य को जानने वाले पुरुष उसे चिन्मात्र निर्मल आकाशरूप परम पद ही जानते हैं ॥७॥

सृष्टि के आदि में चिदाकाशरूप आत्मा ही अपने से अपने में चिदाभासरूप दृश्य सा वैसे ही स्फुरित होता है जैसे निर्मल चिन्मात्र निर्विकार अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ आत्मा ही सुषुप्ति से स्वप्न में जाता हुआ अन्यरूप के समान स्थिति को प्राप्त होता है आत्मा का सुषुप्ति से स्वप्न में गमन की तरह प्रलय से सृष्टि में गमन भी समझना चाहिये ॥८, ९॥

चिदाकाशरूप परमात्मा सृष्टि के आदि में दृश्य के समान वैसे ही स्फुरित होता है। जैसे संकल्प से मन्द हुआ मन मनोरथ आदि में नगर के रूप से स्फुरित होता है ॥१०॥

चिदाकाश अज्ञात होकर अपने में ही दृश्य रूप से वैसे ही स्थित होता है। जैसे वायु स्पन्दरूप होता हुआ अपने में ही आंधी, बवंडर आदि की तरह चेष्टा करता है ॥११॥

अतएव यदि वह ज्ञात हो जाय तो त्रिजगत्रूप दृश्य कदापि भासित न हो अपने स्वरूप में जगत् के रूप से स्थित केवल परम ब्रह्म का ही भान हो ॥१२॥

नास्त्येव मूर्तं पृथ्व्यादि किंचनाऽपि कदाचन ।
अस्तु मूर्तममूर्तं वा ब्रह्मैवेदं विराजते ॥१३॥
प्रबोधकाले स्वप्नाद्रिर्यथा व्योमैव निर्वपुः ।
तथेदं शान्तचिन्मात्रं खं प्रबोधे जगत्त्रयम् ॥१४॥
प्रबुद्धानां परं ब्रह्म निर्विभागमिदं जगत् ।
धीमन्तोऽपि न तद्विद्मो यदिदं त्वप्रबोधनम् ॥१५॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
स्वस्वभावो हि भूतानां तत्पदं परमात्मकम् ॥१६॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
एतत्तत्परमाकाशमत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१७॥
यादृगेतत्पदं तादृगिदं सदसदात्मकम् ।
येनाऽर्थपञ्चकादन्यत्किंचनाऽपि न विद्यते ॥१८॥

मूर्त पृथिवी आदि का अस्तित्व किञ्चिन्मात्र भी त्रिकाल में भी नहीं ही है । चाहे वह अज्ञानी की दृष्टि में मूर्त अथवा ज्ञानी की दृष्टि में अमूर्त हो, वास्तव में ब्रह्म ही दृश्य रूप से विराजमान है ॥१३॥

जैसे जागरण के समय में जाग्रत्काल में स्वप्न का पहाड़ निःस्वरूप आकाश ही है अर्थात् शून्य ही है वैसे ही प्रबोधकाल में (आत्मज्ञान काल में) यह त्रिजगत् शान्त चिन्मात्र आकाश ही है ॥१४॥

प्रबुद्ध पुरुषों की दृष्टि में यह जगत् अखण्ड परम ब्रह्म ही है । हम लोग विचार करने पर भी यह अप्रबोध (अज्ञानरूप दृश्य) कैसा है यह नहीं जानते ॥१५॥

एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वह परमात्मपद ही भूतों का निज स्वभाव है, अर्थात् सब भूतों का निर्विषय चिन्मात्र ही निज स्वभाव है ॥१६॥

एक विषय से अन्य विषय की प्राप्ति होने पर मध्य में प्रसिद्ध जो निर्विषय चैतन्य है वही यह परमाकाश है । इसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है यानी निर्विषय चैतन्य ही सर्वाधिष्ठान भी है ॥१७॥

जैसा यह परमपद है वैसा ही यह सदसत्रूप प्रपञ्च भी है, क्योंकि पञ्चभूतों से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । जैसे स्व से अतिरिक्त स्वकार्यशून्यता ब्रह्म में है वैसे ही इस में भी है । इसी अंश से इस में अधिष्ठानानुरूपता है, अर्थात् अधिष्ठान के अनुरूप ही यह अध्यास है ॥१८॥

रूपालोकमनस्कारा एतदेव पदं विदुः ।
एते ते द्रवतावर्ताः पदस्याऽस्य महाम्भसः ॥१९॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
एतस्याऽव्यतिरेकेण जगत्ता नास्ति काचन ॥२०॥
रागद्वेषादयो भावा भावाभावदृशस्तथा ।
एतद्रूपममुञ्चन्त एतस्याऽवयवाः स्थिताः ॥२१॥
त्यक्त्वा पूर्वापरे कोट्यौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
स स्वभावः परो ज्ञेयो जगत्पयसि संज्ञितः ॥२२॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विद्धि मध्यसंविदः ।
जगदित्यपरं नाम स्वरूपादच्युतात्मनः ॥२३॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव दृश्यमुत्पन्नमेव नो ।
यन्नाम तदिहाऽस्तीति मायाशम्बरडम्बरः ॥२४॥

श्रुतियों के तात्पर्य को जाननेवाले लोग रूपालोक यानी बाह्य इन्द्रियों से जन्य विषयाभास तथा नमस्कार यानी आभ्यन्तर इन्द्रिय मन के अधीन विषयाभास ये सभी चिन्मात्ररूप परम ब्रह्म ही हैं, ऐसा जानते हैं । ये सब महासागररूपी उक्त पद की द्रवता के आवर्त हैं ॥१९॥

संवित् की एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति होने पर मध्य में निर्विषय जो चैतन्य प्रसिद्ध है उस से अतिरिक्त जगत्ता कोई नहीं है ॥२०॥

राग, द्वेष आदि भाव तथा जगत् की भाव-अभाव दृष्टियाँ—ये सब सद्रूप और मानरूप का त्याग न करते हुए इस के अङ्गरूप से स्थित हैं ॥२१॥

शाखाचन्द्रदर्शन में पूर्वकोटि (शाखा) और अन्य-कोटिको (चन्द्र को) छोड़कर बीच में संवित् का निर्विषय शरीर प्रसिद्ध है, वह उस का परम स्वभाव है । वही जगद्रूप मरुमृगतृष्णा के जल में अधिष्ठानसज्ञक है ॥२२॥

कूटस्थ होने के कारण ही स्वरूप से अप्रच्युत संवित् का जाग्रत् से स्वप्न की प्राप्ति होने पर मध्य में (सुषुप्ति-दशा में) जो स्वरूप है, पूर्वसृष्टि से पुनः सृष्टिप्राप्ति होने पर मध्य में (प्रलय में) जो संवित् का स्वरूप है तथा इस लोकरूप प्रदेश से परलोकरूप प्रदेश की प्राप्ति में मध्य में (मूर्छावस्था में) जो संवित् का स्वरूप है वह वैसे ही सदा रहता है । उसी का अज्ञानी लोगों ने जगत् यह दूसरा नाम कपोल-कल्पना से रक्खा है, अर्थात् इसी अभिप्राय से मैंने बार-बार निर्विषय विस्तृत अपरोक्ष चैतन्य की सर्वसाधारण प्रसिद्धि के प्रदर्शक 'देशाद्देशान्तरप्राप्तौ' इस श्लोक की घोषणा की है ॥२३॥

आदि सृष्टि से ही दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ । जो यहाँ प्रतीत होता है वह मायारूपी ऐन्द्रजालिक का आडम्बर-मात्र है ॥२४॥

कष्टं नास्त्येव यद्दृश्यं तदप्यस्तीति संस्थितम् ।
यदप्यस्ति परं ब्रह्म कष्टं नास्तीति तत्स्थितम् ॥२५॥
अब्रह्मण्यं क्व गच्छामि विपरीतमतो जगत् ।
असद्दृश्यं सदित्युक्तं ब्रह्मैवं नाम गम्यते ॥२६॥
न चोत्पन्नं न चाऽऽभाति दृश्यं किंचन कुत्रचित् ।
यदिदं भाति तद् ब्रह्म व्योमैव कचति स्वयम् ॥२७॥
यथा मणिः प्रचकति स्वभासाऽव्यतिरिक्तया ।
आत्मनोऽनन्यया सृष्ट्या चिद्व्योम कचितं तथा ॥२८॥
तस्मिन्नेव पदे शान्ते तपत्येष दिवाकरः ।
तस्यैवाऽवयवश्चैव न नामाऽन्योऽस्ति भास्करः ॥२९॥
स्थितोऽपि तत्र न तपत्यर्को न च निशाकरः ।
प्रकाशयति देवोऽसावर्कं नाऽर्कस्तमीश्वरम् ॥३०॥

कष्ट है जो दृश्य नहीं ही है वह अस्तिरूप से स्थित है जो परम ब्रह्म है उसकी नास्ति है इस से बढ़कर दुःख क्या होगा । मूढ़ों को अभाग्यवश ही, मणि नहीं है, काच है, इस भ्रान्ति का तरह यह वैपरीत्यभ्रम हुआ है, यह भाव है ॥२५॥

मैं तो ब्रह्मभाव से शून्य अतएव विपरीत जगत् को कहाँ पाऊँ। मूढ़ जनता ने असत् दृश्य को सत् कहा है वह भी ब्रह्म का ही प्राप्त होती है न कि दृश्य को, क्योंकि असत् वस्तु प्राप्तियोग्य ही नहीं है ॥२६॥

यह न तो कभी कुछ उत्पन्न हुआ है और न उस का भान ही होता है। जो यह स्फुरित होता है वह स्वयं चिदाकाश का ही स्फुरण है ॥२७॥

चिदाकाश अपने से अभिन्न सृष्टि रूप से वैसे ही स्फुरित है जैसे मणि अपने से अभिन्न अपनी आभा से स्फुरित होती है ॥२८॥

उसी शान्त पद में यह भगवान् सूर्य तपते हैं और उसी के अवयवभूत ही हैं। सूर्य उस से अतिरिक्त कदापि नहीं है, अर्थात् यह कैसे जाना जाय यह यदि कहो तो सूर्य आदि जगत् का सद्रूप से ही सत्सामान्य के प्रायः एक देश रूप से सब को अनुभव होता है ॥२९॥

उस परमपद में स्थित होकर भी न सूर्य प्रकाश करता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश करता है यह देव (देदीप्यमान) चिदाकाश सूर्य को प्रकाशित करता है, सूर्य उस ईश्वर को प्रकाशित नहीं करता है। इस विषय में भगवती श्रुति है—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' अर्थात् उस परम पद में न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा और सितारों का, ये बिजलियाँ भी वहाँ प्रकाश नहीं करती है, इस अग्नि का तो भान कहाँ से होगा ? प्रकाशमान हो रहे उस के बाद ही सब का भान होता है उस की आभा से इस सारे जगत् का भान (प्रकाश) होता है, अर्थात् जैसे सूर्य आदि का प्रकाश ब्रह्म के अधीन है जैसे स्वप्रकाश ब्रह्म, सूर्य आदि के अधीन प्रकाशवाला नहीं है ॥३०॥

तस्य भासा विभातीदं तदहो दृश्यमण्डलम् ।
सर्वचन्द्रार्कवह्नीनां पदार्थानां स दीपकः ॥३१॥
स साकारो निराकारो इति शब्दार्थकल्पना ।
खपुष्पवदसद्रूपा न संभवति तद्विदाम् ॥३२॥
स्वाङ्गभूतो यथैकोऽणुर्भाति जीवार्कतेजसि ।
न भान्ति भान्ति वा तत्र तथा सूर्यादयोऽणवः ॥३३॥
चिन्मात्राकाशरत्नस्य सृष्टयोऽर्कादिसंयुताः ।
या भासस्ताः कथं तस्माद् व्यतिरिक्ताः स्युरुच्यताम् ॥३४॥
चिन्मात्रेणाऽपि रहितं शून्यत्वेनाऽपि वर्जितम् ।
पदं सर्वात्मरिक्तं तत्सर्वार्थैश्च समन्वितम् ॥३५॥
पृथ्व्यादीन्यपि सन्त्येव तत्र सन्ति न कानिचित् ।
जीवन्तोऽपि न विद्यन्ते जीवास्तत्र च केचन ॥३६॥

अहो ! वह यह दृश्यमण्डल उस की प्रभा से भासित होता है। वह सब चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थों का प्रदीपक (भासक) है ॥३१॥

वह साकार है, निराकार है इस तरह की शब्दार्थ-कल्पना, जो आकाश-कुसुम के समान असद्रूप है, तत्त्वज्ञानियों को नहीं होती ॥३२॥

जगत् को देख रहे जीवभूत इस सूर्य के तेज में उसी का अङ्गभूत परमाणु जैसे झरोखे आदि में भासता है वैसे ही असीम चित्प्रकाशवाले ब्रह्म में ये सूर्य आदि परमाणु भासते हैं अथवा नहीं भी भासते ॥३३॥

जो सूर्य आदि से संयुक्त सृष्टियाँ चिन्मात्राकाशरूप महारत्न की दीप्तियाँ हैं, जरा कहिये तो वे उससे व्यतिरिक्त कैसे होंगी ? रत्न से उसकी कान्ति कदापि भिन्न नहीं हो सकती ॥३४॥

वह चिद्रूप परमपद अचित् की असिद्धि होने पर कोई व्यावर्त्य न होने के कारण चिन्मात्र से भी रहित, सर्वत्र पूर्ण होने के कारण शून्यता से भी रहित, सकल पदार्थों के असिद्ध होने के कारण सबसे रिक्त, कल्पित सब पदार्थों का अधिष्ठान होने के कारण सब पदार्थों से युक्त है ॥३५॥

उस चिद्रूप परमपद में कल्पित पृथिवी आदि सभी भूत-भौतिक पदार्थ हैं ही पर वास्तव में कोई भी नहीं है। उसमें कल्पित चिदाभासरूप से निखिल जीव जीवित रहते हुए भी वास्तव में स्वरूप से कोई नहीं हैं ॥३६॥

अत्यजन्तो द्वयस्थौल्यं तत्रैते परमाणवः ।
स्वरूपमत्यजद् द्वैतमैक्यं वाऽत्र न किंचन ॥३७॥
किंचिदत्र न किंचिद्वै न किंचिच्च च किंचन ।
किंचिन्न किंचिदित्येषा कलनाऽत्राऽतिदूरगा ॥३८॥
एका निरन्तराऽनन्ता नित्यमत्याततात्मना ।
चिन्मात्रव्योमसत्तैव जगन्नाम्नाऽऽत्मनि स्थिता ॥३९॥
एकं चेत्यं त्यक्तवत्या अप्राप्तायाश्चितोऽपरम् ।
यद्रूपं जगतो रूपमस्य नानाऽऽत्मनोऽपि तत् ॥४०॥
नानेवेदमनानैव चिद्व्योमैवेदमाततम् ।
भूतपञ्चकरूपेण स्वप्ने चितिरिव स्थितम् ॥४१॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं सुषुप्तस्यैव चिद्यथा ।
यथास्थितैव स्वप्नत्वमेत्येवं सर्गतामिमाम् ॥४२॥
यादृक्सुषुप्तं स्वप्नस्तु तादृगेव तथैव च ।
जाग्रत्तुर्यं तथैवेदमतो व्योमसमं जगत् ॥४३॥

उस चित्प्रकाश में दो अवयवों के संगठन से उत्पन्न स्थूलता का त्याग न करते हुए ही ये सूर्य आदि परमाणु ही (निरवयव अणु ही) हैं। यथार्थ में स्वसत्ता का त्याग न करता हुआ द्वैत अथवा अद्वैत (एकत्व) इस चिद्रूप में कुछ नहीं है ॥३७॥

इस चित्प्रकाश में कुछ है कुछ नहीं है, न किञ्चित् है और न किंचन है अर्थात् किञ्चित्, अकिञ्चित् आदि कल्पना इस शुद्ध निर्विषय चिद्रूप से अत्यन्त दूर है। व्यवहारमात्र का निरास होने पर विरोध और अविरोध का भी उसमें निरास हो गया है, यह भाव है ॥३८॥

अखण्ड, निरवकाश, असीम, निरन्तर अपने रूप से अत्यन्त विस्तृत चिन्मात्राकाशसत्ता ही निजरूप में जगत् के नाम से स्थित है ॥३९॥

चैत्य को त्याग कर चुकी और अन्य चिन्मात्ररूप को प्राप्त न हुई चित् का जो निर्विषय रूप है नानात्मक इस जगत् का भी वही रूप है ॥४०॥

अद्वितीय यह चिदाकाश ही स्वप्न में जीवचैतन्य की भाँति पञ्च महाभूतरूप से विस्तृत नानासा भिन्नसा होकर स्थित है ॥४१॥

चित् ही प्रलय वैसे ही सर्गता को प्राप्त है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे जीव की सुषुप्ति में स्थित ही चित् ज्यों की त्यों बिना कोई अन्तर पड़े स्वप्नता को प्राप्त होती है ॥४२॥

जैसी सुषुप्ति है स्वप्न भी वैसा ही यह जाग्रत् भी वैसा ही है और तुर्य भी वैसा ही है इससे सिद्ध हुआ कि जगत् आकाश तुल्य है ॥४३॥

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यमेवाऽखिलं स्थितम् ।
तत्त्वविद्गोत्रमूढस्तु यद्वै वेत्ति न वेद्मि तत् ॥४४॥
जडानामजडानां यः सर्वार्थानामनारतम् ।
दुर्लक्ष्यपरिणामोऽन्तर्मनोबुद्ध्यादिवर्जितः ॥४५॥
सुशुद्धायाश्चितो रूपं पदार्थास्तन्मयाश्च ते ।
ते वसन्ति न सद्रूपास्तदेव हि तथा स्थितम् ॥४६॥
परिणामादिशब्दार्थदृशामत इहाऽनघ ।
उपदेशार्थमुक्तीनां गन्धोऽप्येवं न विद्यते ॥४७॥
आदिसर्गात्प्रभृत्येव महासत्ताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
चिन्मात्रपरमाकाशं स्थितमेकं महात्मनः ॥४८॥
प्रपूर्णेकात्मनि प्रख्या सा सर्वव्यापिनी चितिः ।
स्थिता तयाऽऽत्मन्येवाऽन्तर्जगदित्यभिधाः कृताः ॥४९॥
परिज्ञाते यथा स्वप्ने स्वाङ्गीकारात्सुखं सुखम् ।
अनङ्गीकारतो दुःखं सदुःखं भवति क्षणात् ॥५०॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबके सब तुर्यरूप ही स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ताओं के सम्प्रदाय के विषय में निपट मूढ़ पामर पुरुष जिसे जगत् के रूप से जानता है, उसे मैं नहीं जानता हूँ ॥४४॥

जड़ अर्थात् और अजड़ यानी जीवरूप सकल पदार्थों के अन्दर स्थित होकर अन्तर्यामिता से दुर्लक्ष्य जगत् को दर्शानेवाला मन, बुद्धि आदि से शून्य जो ईश्वर है वही शोधित जीव चैतन्य का पारमार्थिक रूप है। वे सब जगत्पदार्थ भी तन्मय हैं। ये सद्रूप नहीं हैं। किन्तु वही जगत् के आकार से स्थित हैं ॥४५, ४६॥

हे निष्पाप श्रीराम जी! उपदेश के लिए लौकिक परिमाण आदि को स्वीकार कर प्रवृत्त हुई उक्तियों में परमार्थतः परिणामपरता की गन्ध भी नहीं है। पृथिवी आदि में अन्तर्यामी होकर परमात्मा सबका साक्षी तथा परिणाम का प्रेरक है, इत्यादि उक्तियाँ लौकिक व्यवस्था मानकर उपदेशार्थ प्रवृत्त हैं। वास्तव में वे परिणाम परक नहीं हैं, यह भाव है ॥४७॥

आदि सृष्टि से ही एकमात्र चिन्मात्र परमाकाश महासत्तारूप से अपने में स्थित है, इस विषय में तत्त्ववेत्ताओं के सर्वथा परिपूर्ण आत्मा में अनुभव प्रमाण है। वही अनुभवरूप सर्वव्यापिनी चित् सर्वत्र स्थित है। उसी ने निज आत्मा में अज्ञानियों के लिए जगत्, जीव आदि संज्ञाएं की हैं ॥४८, ४९॥

जैसे यह स्वप्न है यों स्वप्न का परिज्ञान होने पर स्वप्न में जो कुछ भी अनुभव में आया वह सब सुख ही हो जाता है। यदि स्वप्न का 'यह स्वप्न है' यों परिज्ञान नहीं हुआ तो दुःख युक्त सब वृत्त दुःखप्रद ही होते हैं वैसे ही जिस प्रकार के निष्कल निरञ्जन आत्मा का शेष रहता है उसका अङ्गीकार करने से अनुभूत जगत् आदि

गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतस्तथा।
नित्यमेकं समाधानं स्थितं शान्तस्य तद्विदः ॥५१॥
भेदेऽप्यभेदनिष्ठस्य दुःखेऽपि हि सुखस्थितेः।
सतोऽप्येवाऽसतो ज्ञस्य किमन्यदवशिष्यते ॥५२॥
न संत्यजति नाऽऽदत्ते किंचिद् व्यहरन्नपि।
हृदयेन बहिःकार्येऽकार्यं एवाऽवतिष्ठते ॥५३॥

यथा हिमस्य शीतत्वं वह्नेरौष्ण्यं तथेदृशः।
स्वभावोऽस्य भवेन्नित्यं न त्वाहार्यो गुणोऽस्य सः ॥५४॥
यस्य त्वेष स्वभावः स्यान्न नाम न स तत्त्ववित्।
एतदेवाऽज्ञताचिह्नं यदिच्छा प्रकृतेतरा ॥५५॥
आश्वस्तान्तःकरणः क्षीणविकल्पः स्वरूपसारमयः।
परमशमामृततृप्तस्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥५६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेशो नामैकसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७१॥

कौतुक क्षणभर में सुखकारक ही होता है, अज्ञानकाल में उसका अङ्गीकार न करने से दुःखपूर्ण जन्म, जरा, मरण आदि दुःखदायक ही होते हैं। अर्थात् प्रवोधकाल में जिस तरह का शुद्ध आत्मा शेष रहता है, उसको स्वीकार करने से जो-जो जगत्-कौतुक अनुभूत हुआ वह सब सुख ही होता है अप्रबोध काल में उसका अङ्गीकार न करने से दुःखयुक्त जन्म, मरण, रोग आदि जो-जो अनुभव में आता है वह सब दुःख ही होता है। स्वप्न में प्रबोध, अप्रबोध आदि के समान ॥५०॥

शान्त, तत्त्वज्ञानी पुरुष में चलते, टिकते, जागते और सोते सदा एक समाधिसुख ही रहता है। अर्थात् अतएव आत्मज्ञानी पुरुष में दुःखदायी विक्षेप न होने से; सदा समाधि-सुख ही रहता है ॥५१॥

द्वैत में भी अद्वैतनिष्ठ, दुःख में भी सुख स्थिति वाले, बाहर संसार में रहते भी मुक्त होने के कारण उसमें नहीं ही रहने वाले ज्ञानी के लिए कौन सी वस्तु साध्य या हेय शेष रहती है ॥५२॥

बाहर के कार्य में व्यवहार कर रहा भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदय से न कुछ त्याग करता है और न कुछ ग्रहण करता है, किन्तु अकार्य में (ब्रह्म में) ही स्थित रहता है ॥५३॥

जैसे शीतलता है और अग्नि की उष्णता है वैसे ही इस तरह का उसका स्वभाव ही हो जाता है वह उसका प्रयत्न द्वारा संपादनीय गुण नहीं है ॥५४॥

किन्तु जिसका ऐसा स्वभाव न हो वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त विषय की इच्छा होना ही अज्ञता का लक्षण है ॥५५॥

जो अज्ञानावरणशून्य विद्वान् है उसका अन्तःकरण सदा समाधि सुख का अनुभव करता है, यह शत्रु है, यह मित्र है आदि विकल्पों की उसमें गन्ध तक नहीं रहती, आत्मसुखरूपी सार वस्तु ही उसमें प्रचुर मात्रा में रहती है और वह सदा परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है ॥५६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में द्वैतैक्यनिरामययोगोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एकहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१७१॥

१७२

वसिष्ठ उवाच

एवं पृथ्व्यादिरहितः खमेवाऽऽद्यः प्रजापतिः।
मनोमात्रमहं मन्ये संकल्पविटपी यथा ॥१॥

मन इत्यभिधानेन पश्चादास्था प्रकल्पिता।
वार्यावर्तविवर्त्तेन प्रोत्थायाऽऽवर्तता यथा ॥२॥

१७२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी! अनादिकाल से जीवन्मुक्त होने के कारण ही आदि प्रजापति पृथिवी आदि से रहित निरावरण चिदाकाश ही है। उसे मैं केवल मन की समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही समझता हूँ और मन संकल्पवृक्ष के समान चित्स्फुरणमात्र ही है, यह प्रसिद्ध है, यों उसकी चिन्मात्रता में कोई सन्देह नहीं रहा है ॥१॥

मननाकार की कल्पना के पूर्व वह चिन्मात्र ही था। मननाकार कल्पना के बाद 'मन' इस नाम से उसके चित्तादात्म्याध्यास की कल्पना हुई। जैसे कि जल में ही आवर्त के (भँवर के) विवर्त के आकार से स्वयं उठकर उसने आवर्तता की कल्पना की ॥२॥

सत्तामात्रात्मनस्तस्य कुतो बुद्ध्यादयः किल।
अविद्यमाने पृथ्व्यादौ खस्याऽनन्तस्य किं रजः ॥३॥
न तस्य देहचित्तादि नेन्द्रियाणि न वासनाः।
सदप्येतत्सदा तस्य न किंचिदपि विद्यते ॥४॥
प्राक्तनस्य प्रजेशस्य मुक्तत्वात्कथमेव च।
भूयः संभवति प्राज्ञ ! न स्मृतिर्न च संभवः ॥५॥
न भवत्येव मुक्तानां स्मृतिर्देहोदयः पुनः।
न देशकालावर्तत्वमावर्तानां सतामिव ॥६॥
यदि वाऽपि भवेत्किंचित्स्मृत्या देहादि तस्य तत्।
तदपृथ्व्यादिभिः शान्तं संकल्पनगरं तनु ॥७॥

केवल सत्तामात्रस्वरूप प्रजापति के बुद्धि आदि कहाँ से हो सकते हैं। यदि पृथिवी आदि का ही अस्तित्व न हो तो अनन्त (असीम) आकाश में धूलि कहाँ से होगी ? अर्थात् इसलिए उसके बुद्धि आदि भी चित् से पृथक् नहीं हैं ॥३॥

उसके न देह, चित्त आदि हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न वासनाएँ ही हैं। व्यवहाराभास के निर्वाह के लिए आपाततः (सरसरी दृष्टि से) उसके देहादि का अस्तित्व होने पर भी परमार्थरूप से देह आदि कुछ भी नहीं हैं। अर्थात् इसी प्रकार उसके देह आदि भी नहीं हैं ॥४॥

हे महामते ! प्रोक्तन प्रजापति के मुक्त हो जाने के कारण पुनः देह, बुद्धि आदि के ग्रहण में कोई कारण नहीं है। इस कारण नूतन प्रजापति को जगत् की रचना में सहायक न पूर्व स्मृति होती है और न उसकी उत्पत्ति का ही संभव है। अर्थात् क्यों नहीं हैं ? यह यदि पूछो तो आदि सृष्टि के आरम्भ में कारण ही कोई नहीं है. इसलिए नहीं हैं। यदि कहो कि प्राक्तन (पहले का) प्रजापति ही आगे के प्रजापति का कारण है, सो भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह द्विपरार्धरूप अपनी आयु के अन्त में मुक्त हो गया ॥५॥

संसार में स्थित तथा आवागमन के चक्कर में पड़े हुए जीवों की तरह विदेहमुक्त पुरुषों के संसार स्मृति तथा पुनः देहलाभ नहीं हो होते, क्योंकि उनकी अन्य देश में अथवा अन्य काल में पुनरावृत्ति ही नहीं होती है। इस विषय में 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' तथा 'न स पुनरावर्तते' अर्थात् मुक्त पुरुष इस मनुष्य जन्मरूपी आवर्त में नहीं पड़ते हैं। उसकी फिर यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती, इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ॥६॥

अथवा यदि प्रजापति की पूर्वकल्प में की गई प्रबल उपासना से उत्पन्न हिरण्यगर्भ में अहंभाव विषयक संस्कार के बल से उसी तरह की स्मृति से उसके देहादि कुछ होगा तो वह केवल उपासनारूप मन की कल्पना से जन्य होने के कारण केवल मानसिक अपृथ्वी आदि से उत्पन्न अति-तुच्छ संकल्प नगर के सदृश मिथ्याभूत ही होगा न कि सत्य होगा। इस तरह भी हमारे ही सिद्धान्त की सिद्धि है, यह भाव है ॥७॥

यथा संकल्पशैलस्य दृश्यमानमपि स्फुटम्।
पृथ्व्याविरहितं रूपं तद्विराड्वपुषस्तथा ॥८॥
स्मृतिश्च संभवत्येव न कदाचन काचन।
एषा लौकिकबुद्ध्या या सा सद्बुद्ध्या न विद्यते ॥९॥

श्रीराम उवाच

कथं न संभवत्येषां स्मृतिः स्मृतिमतां वर !।
स्मृतेश्चाऽसंभवे कस्माद् गुणो गुणगणाकर ! ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्ये हि संभवत्येषा कार्यकारणताऽऽत्मनि।
तद्भावाभावसंपन्ना न तु संभवति स्मृतिः ॥११॥

जैसे मनोरथ के पर्वत का भलीभाँति दिखाई दे रहा, अनुभव में आ रहा, रूप पृथिवी आदि से रहित है वैसे ही उसके विराट् शरीर का रूप भी पृथिवी आदि से रहित है ॥८॥

प्रजापति को आदि सृष्टि में पहले का कोई अनुभव न होने के कारण स्मृति नहीं ही होती है। जो यह स्मृति श्रुतिवचन बल से प्रतीत होती है उसका श्रुति ने जगत् को सत्य मानने वाले अज्ञानियों की बुद्धि से अनादि सिद्ध कर्मकांड प्रवाह के प्रवर्तनार्थ परबुद्धि के अनुसार बोधन किया है। तत्त्वज्ञानी प्रजापति की बुद्धि से तो वह (स्मृति) नहीं है ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे स्मृतिमानों में सर्वश्रेष्ठ गुरुवर, हे गुण राशि के आकर, इनकी स्मृति क्यों नहीं होती और स्मृति के अभाव में पूर्वकल्प के गुण इस कल्प के ब्रह्माण्ड में कैसे आये ? ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! पृथिवी आदि दृश्य के परमार्थतः सत् होने पर अन्वय व्यतिरेकवश सम्पन्न (सिद्ध) हुई स्मृतिमूलक यह (लौकिक-न्याय सिद्ध) कार्यकारणता हो सकती, किन्तु द्वारभूत स्मृति का ही सम्भव नहीं है ॥११॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यं किंचिन्न विद्यते।
यत्र तत्र कथं कीदृक् कुतः स्यात्संभवः स्मृतेः ॥१२॥

भूत्वा भावे हि दृश्यस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते।
दृश्यमेव न यत्राऽस्ति तत्रैताः कलनाः कुतः ॥१३॥

अत्यन्ताभाव एवाऽस्य दृश्यस्य किल सर्वदा।
सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थास्तत्स्मृतेः कलनाः कुतः ॥१४॥

'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ भेद कुछ भी नहीं है), 'एकमेवाद्वितीयम्' (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद शून्य ब्रह्म ही है), 'अथात आदेशो नेति नेति' (नेति नेति 'यह नहीं यह नहीं' ऐसा श्रुति का आदेश है), 'यत्र नान्यत पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' (जहाँ पर दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता और दूसरे को नहीं जानता—द्वैतज्ञान नहीं रहता—वह भूमा है), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमन पर मनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (वह यह ब्रह्म जो आत्मा है, इसका न कोई कारण है, न कार्य है, न इसके मध्य में कोई अन्य जातीय है और न इसके कोई बाहर है, यह आत्मा ही निरन्तर ब्रह्म है जो कि सामान्यरूप से सबका अनुभव करता है), 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (विकार वाचारम्भण नाम मात्र है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा सकल प्रपञ्च का निषेध होने तथा वैसी ही तत्त्वज्ञानियों की अनुभूति होने से जहाँ ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त दृश्य कुछ भी नहीं वहाँ पर स्मृति का सम्भव कैसे, किस प्रकार का और कहाँ से होगा। ऐसी स्थिति में 'सह सिद्धं चतुष्टयम्' इस स्मृति वचन द्वारा प्रदर्शित प्राक्तन स्वाभाविक प्रपञ्च तत्त्वज्ञानी विराट् के तत्त्वज्ञान से बाधित होकर मिथ्या ही हो चुका, अतएव वह प्रजापति की पूर्व स्मृति का आधान करने और उसके द्वारा सत्य सृष्टि के प्रति कारण होने के लिए समर्थ नहीं है, यह भाव है ॥१२॥

परमार्थ रूप से उत्पन्न होकर विद्यमानता को प्राप्त हुई वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव कर कालान्तर में उसका जो स्मरण है उसे ही शास्त्रज्ञ लोग स्मृति कहते हैं। जहाँ दृश्य ही नहीं है वहाँ ये स्मति आदि कल्पनाएँ कहाँ से हो सकती हैं? इस दृश्य का निश्चय रूप से सर्वदा अत्यन्त अभाव ही है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म ही है, इत्यादि सत्यार्थक श्रुतियाँ हैं। ऐसी परिस्थिति में स्मृति कल्पनाएँ कैसे हो सकची हैं या स्मृति की सत्यार्थक कल्पनाएँ कैसे हो सकती हैं यों मूल के 'सत्यार्थाः' का कल्पना में अन्वय करना चाहिये। या पूर्वोक्त अनुवाद के अनुसार 'सर्वं ब्रह्मेति सत्यार्थाः श्रुतयः सन्ति' यों योजना करनी चाहिये। असत्, भ्रान्तिकल्पित और तत्त्वज्ञान से बाधित की स्मृति नहीं हो सकती है, यह भाव है ॥१३, १४॥

स्मृतिर्न संभवत्येव तस्मादाद्या प्रजापतेः।
आकारवत्त्वमेवाऽस्य शुद्धज्ञानात्मनः कुतः ॥१५॥
स्मर्तव्यं भाववशतः स्मृतिर्नास्त्येव लौकिकी।
स्मृत्यर्थस्त्वन्यदीयोऽस्ति सत्यात्मा त्वमिमं शृणु ॥१६॥
भूतस्याऽन्तः पदार्थस्य स्मरणं स्मृतिरुच्यते।
पदार्थस्तु न चैवाऽस्ति न भूतो न भविष्यति ॥१७॥
एवं हि खल्विदं ब्रह्म परमेवाऽचलं यतः।
अनादिमध्यपर्यन्तं कुतः स्मृत्यादयस्ततः ॥१८॥

इसलिए प्रजापति की आद्य स्मृति कदापि नहीं हो सकती है। शुद्धज्ञानरूप प्रजापति की आकारवत्ता (मूर्तता) ही कहाँ से होगी? ॥१५॥

पूर्व जन्म में उपासनारूप अपनी जगद्देहत्वभावना के द्वारा उपासना फल की सिद्धि के लिए मैं जगद्देह हूँ ऐसा प्रजापति को अवश्य स्मरण करना चाहिये। लोक में प्रसिद्ध जो स्मृति है (वह मेरी माँ है वह मेरी लड़की है इत्यादि स्मृति है) उसकी तरह वह स्मृति पदार्थ प्रमाजन्य नहीं ही है, क्योंकि अन्य का लौकिक स्मृत्यर्थ—मता, दुहिता आदि—घर में है, किन्तु मनोराज्यतुल्य उपासना का विषय नहीं है यह विषमता है। कैसे नहीं है, इस अर्थ को सुनिये ॥१६॥

अतीत पदार्थ का संस्कारवश अन्तःकरण में स्मरण लोक में स्मृति कही जाती है। प्रजापति का कल्पादि में न विद्यमान पदार्थ ही है, न भूत ही पदार्थ और न कोई आगे होने वाला पदार्थ ही है, जिसकी कि उन्हें स्मृति होगी, यह भाव है ॥१७॥

इस प्रकार चूँकि यह दृश्य आदि, मध्य और अन्त-शून्य कूटस्थ परम ब्रह्म ही है, इसलिए स्मृति आदि कैसे हो सकती हैं ॥१८॥

सर्वात्मत्वात्पदार्थात्म चिद्व्योमकचनं तु यत् ।
व्यवहारेऽप्यलं शान्तं स्मृत्या तच्छब्दितं मया ॥१९॥
तदेतत्स्मरणं नाम स्वभावकचनं हि तत् ।
तेनाऽभ्यस्तोऽस्य बाह्यार्थः सादृश्यादवभासते ॥२०॥
यद्यत्संवेद्यते किंचित्तत्स्वभावं स्वभावयत् ।
तेनाऽवभासते योऽर्थस्तस्य स्मृत्यभिधा कृता ॥२१॥
अविद्यमानं भातीव यथा दृश्यं तथा स्थितिः ।
भातेवाऽविद्यमानैवं मृगतृष्णा यथोद्यता ॥२२॥
सर्वात्मनि स्थिताः सत्ये याः कचन्ति सुसंविदः ।
ता एवाऽभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः स्मृताः ॥२३॥
काकतालीयवद्भान्ति सर्वात्मनि सुसंविदः ।
स्वाङ्गभूताः स्वतः स्वस्थास्ता एव स्मृतयः कृताः ॥२४॥
यद्यत्कचति सद्रूपं स्वाङ्गं सर्वात्मनः स्वतः ।
तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्स्मृतिरित्युच्यते बुधैः ॥२५॥
हेतौ लब्धेऽप्यलब्धे वा पवनस्पन्दवद्विदः ।
ता एवाऽभ्यासरूढार्थाः सादृश्यात्स्मृतयः कृताः ॥२६॥
काकतालीयवद्भान्ति यास्ताः स्मृत्यभिधाः कृताः ।
यथा तवैतेऽवयवाः कचन्ति न कचन्ति च ॥२७॥
स्थिता एवाऽऽत्मनि तथा सर्वाः सर्वात्मिका विदः ।
मिथ्याज्ञानमया यद्वदर्था घटपटादयः ॥२८॥
तद्वत्स्मृतिपदार्थस्य किं भ्रमस्य विचार्यते ।
दृश्यस्याऽसंभवाज्ज्ञस्य स्मृतिर्नास्त्येव तत्त्वतः ॥२९॥
स तथैकघनत्वाच्च चिद्व्योमत्वाज्जगत्स्थितेः ।
यथास्थितमिदं दृश्यमस्त्येवाऽज्ञस्य संप्रति ॥३०॥

चिदाकाश का स्फुरण सर्वात्मक होने से स्मृत्यात्मक भी है, ऐसा यदि कहो तो ठीक है। इसी अभिप्राय से मैंने भी पहले 'यदि वापि भवेत् किञ्चित्स्मृत्या देहादि तस्य तत्' इस श्लोक में व्यवहार में पूर्णरूप से शान्त भी उस ब्रह्म को स्मृति नाम से कहा है ॥१९॥

अज्ञात ब्रह्म के स्वभाव का परोक्षरूप से ही जो कचन (स्फुरण) है वही यह स्मरण है। तदनन्तर मैं ब्रह्म इस उपासना से पुन: पुन: अभ्यास करने से ब्रह्मारूप आत्मा ही उपासना का फलभूत बाह्य अर्थसा होकर उपासना से कल्पित आकार के समान भास मानता ही है ॥२०॥

जीव द्वारा अज्ञानोपहित ब्रह्म जिस-जिस स्वरूप से ज्ञात होता है भ्रान्ति से अथवा स्मृति परम्परा से उसके स्वभाव का ही अवलम्बन कर उसकी स्वभावत्वेन भावना करता हुआ वह स्वरूप कालान्तर में उस आकार से 'वही यह है' यों तत्ता से युक्त पदार्थ सा अवभासित होता है, उसकी ही जीव ने अपने में स्मृतिरूप से कल्पना की है ॥२१॥

जैसे भ्रमयुक्त अनुभव में भ्रमज्ञान में अविद्यमान भी दृश्य रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि भास मान-सा होता है वैसे ही स्मृति में भी व्यवस्था समझनी चाहिये। सर्वथा असती भी मृगतृष्णा उदित सी भास मान होती ही है। इसका सबको अनुभव है ॥२२॥

सत्य सर्वात्मा में स्थित जो संवित् स्फुरित होती हैं वे ही भ्रान्त अभ्यास की दृढ़ता से बद्धमूल होकर भ्रान्त अनुभव के समान विषयस्वरूप सादृश्य से स्मृतियाँ कही गई हैं ॥२३॥

सर्वात्मा ब्रह्म में काकतालीय के समान आकस्मिक उद्‌बोधक वश जिन संविदों का (चिद्‌वृत्तियों का) भान होता है चित् की अवयवभूत सी विषयत: परोक्ष होने के कारण विकृत भी स्वत: अपरोक्ष होने से अविकृत वे ही स्मृति के नाम से विख्यात की गई हैं ॥२४॥

सर्वात्मा का स्वाङ्गभूत सद्रूप स्वत: अनुभव में जिस-जिस रूप से स्फुरित होता है वह उस अभ्यास में आये हुए पदार्थ से सादृश्य होने के कारण विद्वान् लोगों द्वारा 'स्मृति' कहा जाता है ॥२५॥

जैसे वायु का स्पन्दन व्यजन (पङ्खा) आदि हेतु के प्राप्त होने पर भी तथा न प्राप्त होने पर भी होता है वैसे ही उद्‌बोधक कारण के प्राप्त होने पर अथवा प्राप्त न होने पर भी वे अनुभववृत्ति से उपलक्षित ही संवित कालान्तर में स्मृति नाम से ख्यात की गई ॥२६॥

जो संवित् काकतालीय के समान कभी स्फुरित होती हैं उनका स्मृति नाम रक्खा गया क्योंकि उद्‌बोधक सामग्री सदा नहीं रहती कदाचित् ही रहती है। जैसे कि आपके ये हस्त, पाद आदि अङ्ग जब मन उनकी ओर आकृष्ट होता है तो स्फुरित होते हैं और जब उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता तब स्फुरित नहीं होते हैं ॥२७॥

सर्वात्मक सब संवित् वैसे ही आत्मा में ही स्थित हैं जैसे कि स्वप्न, इन्द्रजाल आदि में मिथ्याभूत घट, पट आदि पदार्थ स्थित रहते हैं ॥२८॥

उक्त प्रकार के भ्रमभूत स्मृति पदार्थ के मूल का क्या विचार करते हैं। दृश्य का संभव न होने से अभ्रान्त तत्त्वज्ञानी प्रजापति को वास्तव में स्मृति होती ही नहीं है ॥२९॥

तत्त्वज्ञानी प्रजापति पूर्व की तरह निर्विकार ही रहता है। जगत् की स्थिति उसकी दृष्टि से एकरस चिदाकाश-स्वरूप है। किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में इस समय यह दृश्य यथास्थित ही है ॥३०॥

न मोक्षोपायकथनं न च जानामि तत्स्थितिम् ।
संदेहादिव जिज्ञासुस्तावन्मोक्षकथोच्यते ॥३१॥
यावद्दृश्यं स्मृतिश्चैव संस्मृतिश्चाऽस्य शाम्यति ।
अविद्यायास्तु मौर्ख्यस्य विमोहस्याऽत्यसंभवात् ॥३२॥
अज्ञस्यो निश्चयोऽस्माकं न कदाचन गोचरः ।
यच्च यद्विषये नास्ति तन्नैवाऽनुभवत्यसौ ।
रजन्यनुभवो भानोर्भवत्यङ्ग कथं वद ॥३३॥
भातं वस्तुस्वरूपात्म चिन्मात्रे किंचिदेव यत् ।
तदभ्यस्तार्थसादृश्यात्तत्संस्कार इति स्मृतम् ॥३४॥
आत्मस्वभावभूतानामपि चिद्व्योमरूपिणाम् ।
सर्वेषां परिकल्प्यानामाभासेऽप्यनवस्थितेः ॥३५॥

न मैं अज्ञ के लिए मोक्षोपाय की कथा करता हूँ और न अज्ञानी के निश्चय के अनुसार तत्त्वज्ञानी की स्थिति ही जानता हूँ लेकिन यह अवश्य जानता हूँ कि वह भाग्यवश साधन चतुष्टय को प्राप्त कर सन्देह से जब जिज्ञासुसा होता तब-तब तक गुरु द्वारा उसके लिए मोक्षकथा कही जाती है जब तक कि उसका दृश्य प्रपञ्च, स्मृति और संस्मृति शान्त नहीं होती। जैसे अज्ञानी तत्त्वज्ञों की स्थिति को नहीं जानते वैसे ही हम ज्ञानी भी अज्ञों के निश्चय को नहीं जानते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञानियों में अविद्या, मूर्खता तथा विमोह का अत्यन्त अभाव है। अज्ञानी के अन्दर स्थित निश्चय कदापि भी हम तत्त्वज्ञानियों की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता जो जिसकी बुद्धि के गोचर नहीं है, उसका उसे कदापि अनुभव नहीं हो सकता है। भला बतलाइये तो सही रात्रि का अनुभव सूर्य को कैसे हो सकता है ? ॥३१-३३॥

[अब स्मृति के कारणभूत संस्कार का खण्डन करने के लिए संस्कार का स्वरूप बतलाते हैं]

अन्तःकरणोपहित चिन्मात्र में बाह्यवस्तुस्वरूपभूत जो कुछ भी भासित होता है उसका यदि बार-बार व्यवहार द्वारा अभ्यास किया जाय तो उसके सदृश पदार्थों के सादृश्य से वासित चित्त उसका संस्कार कहा गया है ॥३४॥

चिन्मात्र में परिकल्प्यमाव तथा तत्त्वज्ञान से आत्मस्वभावभूत हुए सब बाह्य अर्थों का बाधितानुवृत्ति से जले हुए वस्त्र के समान अवभास होने पर भी वास्तव में अवस्थिति न होने से उनके सादृश्य का चित्त से मार्जन होने से तत्त्वज्ञों का संस्कार नहीं हो सकता है ॥३५॥

एवं न संभवत्येव जगत्किंचित्कदाचन ।
दृष्टं मृगतृषेवाऽम्बु न तु तत्परमार्थतः ॥३६॥
यदा त्वयं तदा स्वप्ने सर्गादौ चाऽवभासते ।
चिद्व्योमैव परं सर्गपर्यायं स्वात्मनि स्थितम् ॥३७॥
चिद्व्योमैवेत्थमाभातं न च्युतं सत्स्वरूपतः ।
आत्मनाऽऽत्मनि रूपं वा सद्रूपमिव संस्थितम् ॥३८॥
सर्गादावेव कचिते मिथ्या कचदपि स्थितम् ।
अतः कुतः क्वचिन्नाम हेयादेयादिभासनम् ॥३९॥
नेदमाकारवत्किंचिन्नाऽपि स्मृत्यात्मकं क्वचित् ।
कारणाभावतो भाति स्वरूपं परमात्मनः ॥४०॥
आकारवत्त्वे यद्दुःखं भवेत्स्मृत्या तदेव च ।
द्वयमेतदसत्तस्माद्बन्धो नाम न विद्यते ॥४१॥

ऐसी स्थिति में फलितार्थ कहते हैं—

इस प्रकार कदापि किंचित् भी जगत् का संभव नहीं ही है जगत् मृगतृष्णा के जल की भाँति अज्ञानवश दृष्टि-गोचर हुआ है न कि परमार्थरूप से ॥३६॥

[ऐसी स्थिति में हमारी प्रतिज्ञा की सिद्धि में कौन कसर रही, ऐसा कहते हैं—]

जब यह अर्थ सिद्ध हुआ तब स्वप्न में और सृष्टि के आदि में परम चिदाकाश का ही भान होता है वही 'सर्ग' (सृष्टि) यह दूसरा नाम रखकर आत्मा में स्थित है ॥३७॥

अपने स्वरूप से च्युत हुए विना सद्रूप चिदाकाश ही अपने में अपने से ही जगद्रूप सा स्थित होकर भासित हुआ है ॥३८॥

सृष्टि के आदि में स्फुरित हुए परमब्रह्म में मिथ्या स्फुरित होता हुआ सा यह दृश्य स्थित है अतः इसमें कहीं पर हेय और उपादेय का भासत कैसे हो सकता है ॥३९॥

कारण का अभाव होने से यह दृश्य न तो कहीं कुछ आकारवान् (साकार) है और न स्मृतिरूप ही है केवल परमात्मा का स्वरूप ही दृश्यरूप से भासता है ॥४०॥

दृश्य की आकारवत्ता में (साकारता में) जो दुःख हैं स्मृति में भी वही दुःख है क्योंकि भार्या, पुत्र आदि के मरण-स्मरण से भी दुःख होना दिखलाई देता है। वे दोनों असत् हैं, इसलिए बन्धन का सर्वथा अभाव है ॥४१॥

चिद्व्योम्नि भूतव्योमाभे शून्य एव यथास्थितम् ।
स्थितं स्वरूपमजहद्भुवनार्काचलादिकम् ॥४२॥
यथा स्थितोग्रदिक्कालं जगत्स्वं रूपमत्यजत् ।
स्वमेवात्यजतो रूपं चिद्व्योम्न उदरे स्थितम् ॥४३॥
स्वानुभूत्येकमात्रात्म प्रमातृस्वाप्नपत्तनम् ।
अपृथ्व्यादि कुतस्तत्र किल पृथ्व्यादयो वद ॥४४॥
तद्भाति केवलं शान्तं चिदाकाशं तथाऽऽत्मनि ।
सर्वादौ स्वप्नकाले च पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥४५॥
उद्भूयेव जगद्रूपा ब्रह्मसत्ताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
करोति पृथ्व्याद्यभिधाः पश्चात्सत्यार्थदा इव ॥४६॥
न स्मृत्यात्म न साकारं पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
न भ्रान्तिर्न विवर्तादि जगद् ब्रह्मात्म केवलम् ॥४७॥
ब्रह्मेदमाकचति चारु जगत्स्वरूपं
तच्चैकमेव कचनाकचनात्मनिष्ठम् ।
दृश्याभमप्यमलमेव नभः प्रशान्तं
नित्योदितं प्रलयसर्गमयोदयात्म ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७२॥

भूताकाश के समान व्यापक शून्य चिदाकाश में भुवन, सूर्य, पर्वत आदि रूप यह सारा दृश्य अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ जीवन्मुक्तों के जीवन पर्यन्त व्यवहार के योग्य होकर स्थित है ॥४२॥

यथास्थित विशाल दिशाकाल वाला जगत् अपने स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही अपने तात्त्विक स्वरूप को त्याग न कर रहे चिदाकाश के उदर में स्थित है ॥४३॥

एकमात्र स्वानुभवरूप स्वरूप वाला प्रमाता का स्वप्न अपृथिवी वाला है ।, भला बतलाइये तो सही वहाँ पर पृथिवीं आदि कहाँ से आ सकते हैं ॥४४॥

इसलिए वैसे ही केवल शान्त चिदाकाश ही अपने स्वरूप में भान होता है । सृष्टि के आदि में और स्वप्न-काल में पृथिवी आदि की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है ? ॥४५॥

जगद्रूप ब्रह्मसत्ता अपने से अपने में मानो उत्पन्न सी होकर पीछे सत्य अर्थ देने वाली-सी पृथिवी आदि संज्ञाएँ करती है ॥४६॥

जगद्रूप दृश्य न स्मृतिरूप है और न साकार ही है, क्योंकि पृथिवी आदि का अत्यन्त असंभव है । इसी तरह वह न भ्रान्ति है और न विवर्त, पारिणाम आदि ही है । एकमात्र ब्रह्मरूप ही है ॥४७॥

चारों ओर सुन्दर जगत् स्वरूप ब्रह्म का ही स्फुरण है और वह स्फुरण और स्फुरण में अर्थात् सृष्टि और प्रलयकाल में निज आत्मा में (अविकृत स्वभाव में) स्थित है । वह एक रूप ही दृश्यवत् स्फुरित होकर भी निर्मल आकाश ही है, किन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में अनादिकाल से प्रलय और सृष्टि के उदयरूप से उदित है ॥४८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में जगत्-ब्रह्मत्वप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७२॥

१७३

श्रीराम उवाच

सर्वानुभवरूपस्य तथा सर्वात्मनोऽव्ययम् ।
अनन्तस्याऽऽत्मतत्त्वस्य देहेऽपि किमहंग्रहः ॥१॥
चितःपाषाणकाष्ठत्वं स्वप्नादिषु कथं भवेत् ।
इदं पाषाणकाष्ठादि कथं नास्त्यस्ति वा कथम् ॥२॥

१७३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यदि स्वप्रकाश चित् का चमत्कार ही जगत् है तो तुल्य होने के कारण चित् का सब जगह अहन्ताग्रह उचित है फिर सर्वानुभव-रूप सर्वात्मक असीम आत्मतत्त्व का देह में ही यह अहन्ताग्रह है अन्यत्र नहीं यह नियम कैसे ? यह पहला प्रश्न हुआ ॥१॥

इसी प्रकार चित् का अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि के भाव में आग्रह कैसे ? क्योंकि चिद्भाव का त्याग नहीं किया जा सकता और अचिद्रूपका स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह दूसरा प्रश्न है । इसी प्रकार चित् ही सर्वात्मक है ऐसी अवस्था में यह पाषाण, काठ आदि अचिद्वर्ग नास्तित्व को (असत्ता को) कैसे प्राप्त होता है

वसिष्ठ उवाच

शरीरिणो यथा हस्ते हस्ततायां यथा ग्रहः।
सर्वात्मनस्तथा देहे देहतायां तथा ग्रहः ॥३॥
पादपस्य यथा पत्रे पत्रतायां यथा ग्रहः।
सर्वात्मनस्तथा वृक्षे वृक्षतायां तथा ग्रहः ॥४॥
आकाशस्य यथा शून्ये शून्यतायां यथा ग्रहः।
सर्वात्मनस्तथा द्रव्ये द्रव्यतायां तथा ग्रहः ॥५॥
स्वप्नोचितः स्वप्नपुरे रूपतायां यथा ग्रहः।
सर्वात्मानस्तथा स्वप्नजाग्रदादौ तथा ग्रहः ॥६॥
यथाऽगेन्द्रे दृषद्वृक्षवार्यादौ न तथा ग्रहः।
तथा सर्वात्मनोऽगेन्द्रपुरतायां तथा ग्रहः ॥७॥
शरीरस्य यथा केशनखादिषु यथा ग्रहः।
सर्वात्मनस्तथा काष्ठदृषदादौ तथा ग्रहः ॥८॥

क्योंकि चित् का अपलाप किया नहीं जा सकता। यह तीसरा प्रश्न है। इसी प्रकार सर्वात्मक के चिद् विपरीत अचिद्रूप पाषाण, काठ आदि है कैसे? जिससे कि वह सर्वात्मक हो। यह चौथा प्रश्न है ॥२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुवर! सकल देह की अहन्ता से प्रसिद्धि समान होने पर भी सर्वात्मा चित् का देह में देहत्वाहंभाव में वैसे ही आग्रह है। जैसे देहीका हस्त में ही हस्तत्वाहंभाव में आग्रह है ॥३॥

सर्वात्मा चित् का वृक्ष मे वृक्षताहन्ता में वैसे ही आग्रह है। जैसे वृक्ष का पत्र में ही पत्रत्वाहन्ता में आग्रह है ॥४॥

सर्वात्मा का मणि, मोती, सुवर्ण आदि धन में प्रयत्न से उपार्जनीयरूप भाव्यता में वैसे ही आग्रह है। जैसे आकाश का शून्य में शून्यताहन्ता में आग्रह है ॥५॥

सर्वात्मा का स्वप्न, जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं की साकारता में वैसे ही आग्रह है। जैसे स्वप्नभोक्ता का अरूप चित्तरूपी उपादान से उत्पन्न होने के कारण अरूप होने योग्य स्वप्ननगर की साकारता में आग्रह है ॥६॥

पर्वतराज में, नगर में विद्यमान पत्थर, वृक्ष, जल आदि में वह ऐसा प्रसिद्ध आग्रह है वैसे हा पर्वत आदि के अभिमानी सर्वात्मा का पर्वतता, नगरता आदि में आग्रह है ॥७॥

चिद्रूप सर्वात्मा का भी काष्ठ, पत्थर आदि में वैसे ही अचेतनत्वाग्रह है जैसे चेतनरूप से अभिमत शरीर का केश, नख आदि में अचेतनत्वाग्रह है चित् चित्त्व का त्याग नहीं कर सकती है तथा अचितत्व का ग्रहण नहीं कर सकती है, इस शङ्का का मायागत आवरण और विक्षेप शक्ति से अघटित की घटना होने से परिहार करना चाहिये ॥८॥

चित एव यथा स्वप्ने भवेत्काष्ठोपलादिता।
चिदाकाशस्य सर्गादौ तथैवाऽवयवादिता ॥९॥
चेतनाचेतनात्मैकं पुरुषस्य यथा वपुः।
नखकेशजलाकाशधर्मंमाकारभासुरम् ॥१०॥
चेतनाचेतनात्मैकं तथा सर्वात्मनो वपुः।
जङ्गमं स्थावरमयं किन्तु नित्यमनाकृति ॥११॥
यथास्थितं शाम्यतीदं सम्यग्ज्ञानवतो जगत्।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञातुर्यथा दृष्टार्थसंभ्रमः ॥१२॥
चिन्मात्राऽऽकाशमेवेदं न द्रष्टाऽस्ति न दृश्यता।
इति मौनमलं स्वप्नद्रष्टुर्यत्सा प्रबुद्धता ॥१३॥
कल्पकोटिसहस्राणि सर्गा आयान्ति यान्ति च।
त एवाऽन्ये च चिद्व्योम्नि जलावर्ता इवाऽर्णवे ॥१४॥

जैसे स्वप्न में चित् से ही काष्ठभाव, उपल (पाषण) भाव आदि होते हैं वैसे ही सृष्टि के आदि में चिदाकाश की अवयव आदि रूपता होती है। अर्थात् चित् के चिद्विरुद्ध अचित्त्व की तरह निरवयव चित् की सावयवता भी स्वप्न के अनुभव के बल से ही होती है, यह स्वीकार करना चाहिये ॥९॥

जैसे पुरुष का नख, केश, जल, आकाश, धर्मवाला आकारवान् एक शरीर चेतन-अचेत दोनों रूपवाला है वैसे ही सर्वात्मा का स्थावर जंगमरूप एक शरीर चेतन और अचेतन दोनों स्वरूप वाला है, किन्तु वह नित्य निराकार है। अर्थात् किन्च मायाशबल चेतन और अचेतन उभय स्वरूप एक वस्तु है, अतः उसमें चेतन और अचेतन उभय व्यवहार प्रवतकता विरुद्ध नहीं है, इस आशय से ॥१०, ११॥

सम्यग्ज्ञानवान् पुरुष का यह जगत् वैसे ही शान्त हो जाता है, विलुप्त हो जाता है जैसे 'यह स्वप्न है' यों स्वप्न के ज्ञाता पुरुष का स्वप्न में देखा गया पदार्थभ्रम शान्त हो जारा है अर्थात् अतएव तत्त्वतः ब्रह्म ज्ञान होने से सब विरुद्ध भ्रम हट जाते है ॥१२॥

स्वप्न देखने वाले पुरुष को प्रातःकाल के समय प्रबुद्धता प्रसिद्ध है वही प्रबुद्धता, न द्रष्टा है न दृश्यता है किन्तु यह सब मौन चिन्मात्राकाश ही है, ऐसा निश्चय करने में पूर्णरूपेण समर्थ है ॥१३॥

सागर में जल के भँवरों की तरह चिदाकाश में हजारों करोड़ कल्पों तक वे ही अन्य सृष्टियाँ आती हैं जाती हैं। हजारों करोड़ रूप से आए गये हुए अध्यासों से अधिष्ठान की एकरूपता की क्षति नहीं हो सकती, यह भाव है ॥१४॥

करोत्यब्धौ यथोर्म्यादी नाना कचकचं वपुः।
चित्करोति तथा संज्ञाः सर्गाद्याश्चेतने निजे ॥१५॥

यथास्थितमिदं विश्वं ब्रह्मैवाऽनामयं सदा।
तत्त्वज्ञं प्रत्यतत्त्वज्ञजनतानिश्चयादृते ॥१६॥

नाऽहं तरङ्गः सलिलमहमित्येव युक्तितः।
बुद्धं येन तरङ्गेन कुतस्तस्य तरङ्गता ॥१७॥

ब्रह्मणोऽस्य तरङ्गत्वमिवाऽऽभानं यतस्ततः।
तरङ्गत्वातरङ्गत्वे ब्राह्म्यौ शक्ती स्थितिं गते ॥१८॥

चिद्व्योम्नोऽत्यजती रूपं स्वप्नवद् व्यस्तवेदनम्।
तदिदं हि मनो राम ! ब्रह्मेत्युक्तः पितामहः ॥१९॥

एवमाद्यः प्रजानाथो निराकारो निरामयः।
चिन्मात्ररूपसंकल्पपुरवत्कारणोज्झितः ॥२०॥

मायाशबल चेतन अपने में सृष्टि आदि नाना संज्ञाएँ वैसे ही करता है। जैसे जल समुद्र में तरङ्ग आदि में भासमान आवर्त, बुद्बुद आदि नाना स्वरूप बनता है ॥१५॥

अतत्त्वज्ञ जनता के निश्चय के सिवा तत्त्वज्ञानी के प्रति यह यथास्थित विश्व सदा निर्विकार ब्रह्म ही है। अर्थात् तत्त्वज्ञ इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को निर्विकार ब्रह्म ही जनता है मगर अज्ञानियों का निश्चय इससे विपरीत है ॥१६॥

मैं तरङ्ग नहीं हूँ बल्कि जल ही हूँ, ऐसा युक्तिपूर्वक जिस तरङ्ग ने समझ लिया फिर उसकी तरङ्गता कैसे रह सकती है। अचेतन में भी चेतनता के आरोप से यह कथन है, यह समझना चाहिये ॥१७॥

जल की तरङ्गता के समान इस परम ब्रह्म की जगत्ता का भान है अतएव तरङ्गत्व-अतरङ्गत्व अर्थात् तरङ्ग के सदृश जगत्ता और अजगत्ता ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं ॥१८॥

हे श्रीरामजी ! अपने वास्तविक रूप का त्याग न कर रहे चिदाकाश का स्वप्न की तरह अन्योन्य के धर्मों के आदान-प्रदान से व्यत्यस्त चेतनता वाला, मन की समष्टि से उपहित जो रूप है वह यह मन, ब्रह्मा, पितामह इत्यादि शब्दों से कहा गया है ॥१९॥

इस तरह आदिम प्रजापति निराकार, निर्विकार तथा चिन्मात्रस्वरूप संकल्प नगर के तुल्य कारणविहीन हैं ॥२०॥

येनाऽङ्गदत्वं नास्तीति बुद्धं हेमाङ्गदेन वै।
अङ्गदत्वं कुतस्तस्य तस्य शुद्धैव हेमता ॥२१॥

अजे संकल्पमात्रात्म चिन्मात्रव्योमदेहिनि।
अहं त्वं जगदित्यादि यद्विभातं तदेव तत् ॥२२॥

चिच्चमत्कृतयो भान्ति याश्चिद्व्योमनि शून्यताः।
एतास्ताः सर्गसंहारस्थितिसंरम्भसंविदः ॥२३॥

अच्छं चिन्मात्रनभसः कचनं स्वयमेव तत्।
स्वप्नाभं चित्ततामात्रं स एष प्रपितामहः ॥२४॥

यथा तरङ्गस्तेनैव रूपेणाऽन्येन वाऽनिशम्।
स्फुरत्येवमनाद्यन्तः सर्गप्रलयविभ्रमः ॥२५॥

चिद्व्योम्नः कचनं कान्तं यद्विराडिति शब्दितम्।
भवेत्संकल्पपुरवत्तस्य कुर्यात्मनोऽपि वै ॥२६॥

जिस सुवर्णमय अङ्गद ने (बाजूबन्द ने) अङ्गदत्व नहीं है (सुवर्ण ही सत्य है विकारभूत अङ्गदत्व नहीं है) यह निश्चयपूर्वक जान लिया उसकी अङ्गदता कैसे हो सकती है। उसकी विशुद्ध सुवर्णता ही है ॥२१॥

चिन्मात्राकाशस्वरूपी जन्मादिविकार विहीन परम ब्रह्म में (अहम्), (मैं), त्वम् (तुम), जगत् इत्यादि सङ्कल्पमात्ररूप जो भान हुआ है वह ब्रह्मरूप ही है। यानी समष्टि के चिन्मात्ररूप सिद्ध होनेपर उसके व्यष्टि-रूप हम लोगों का अनुक्त भी चिन्मात्रत्व स्वयम् सिद्ध हो गया, ॥२२॥

चिदाकाश में जो शून्यतारूप चित् के चमत्कार स्फुरित होते हैं वे ही ये सृष्टि, प्रलय और स्थिति के भ्रमज्ञान हैं ॥२३॥

चिन्मात्राकाश का स्वयं ही स्वप्नतुल्य चित्ततारूप जो निर्मल स्फुरण है वही यह ब्रह्मा है ॥२४॥

चिदाकाश में आदि और अन्त रहित सृष्टि और प्रलय का विभ्रम भी वैसे ही निरन्तर फुरता है जैसे समुद्र में तरङ्ग निरन्तर उसी रूप से उससे विलक्षणरूप से फुरता है ॥२५॥

चिदाकाश का मनोहर स्फुरण विराट के नाम से प्रसिद्ध है, उस विराट् का मनरूप ब्रह्मा भी जो कुछ भी भुवन, भूत आदि रचेगा वह भी संकल्प नगरवत् ही काल्पनिक होगा न कि सत्य ॥२६॥

सर्गः स्वप्नः स्वप्न एव जाग्रद्देहः स एव च।
घनं सुषुप्तं तैमिर्याद्यथा संवेदनं भवेत् ॥२७॥
तस्य कल्पान्तरजनी शिरोरुहतयोदिता।
प्रकाशतमसी कालक्रियाख्याः स्वाङ्गसंधयः ॥२८॥
तस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
चन्द्रार्कौ दृग् दिशौ श्रोत्रे कल्पनेति विजृम्भिता ॥२९॥
एवं सम्यग्दृश्यमानो व्योमात्मा विततकृतिः।
अस्मत्संकल्पशैलाभो विराड् स्वप्नाकृतिस्थितः ॥३०॥
यच्च चेतच्चिदाकाशे स्वयं कचकचायते।
तदेतज्जगदित्येवं तेनाऽऽत्मैवाऽनुभूयते ॥३१॥
विराडात्मैवमाकाशं भाति चिन्मयमाततम्।
स्वभावस्वप्ननगरं नगनागमयात्मकम् ॥३२॥
अनुभवितैवाऽनुभवं सत्यं स्वात्मानमप्यसन्तमिव।
अनुभवतीयत्त्वेन स्वप्ननटः स्वप्नदेशमिव ॥३३॥
वेदान्तार्हतसांख्यसौगतगुरुत्र्यक्षादिसूक्ता दृशो
ब्रह्मैव स्फुरितं तथाऽऽत्मकलया स्तादात्मनित्यं यतः।
तेषां चाऽऽत्मविदोऽनुरूपमखिलं स्वर्गं फलं तद्भव-
त्यस्य ब्रह्मण ईदृगेव महिमा सर्वात्म यत्तद्वपुः ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु परमार्थोपदेशो नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७३॥

वह विराट् ही सृष्टि है वही स्वप्न है, स्वप्न ही जाग्रद् व्यष्टि समष्टि स्वरूप बन गया। जैसे घनी सुषुप्ति निद्रादिविषयरूप अन्धकार से स्वप्न होती है वैसे ही प्रलय में अविद्यारूपी अन्धकार से आवृत्त आत्मा ही जगद्रूप होता है ॥२७॥

अवान्तर प्रलयरूपी ब्रह्मा की रात्रि विराड्रूपधारी परमात्मा के केशरूप से उदित है, दिन और रात्रि काल और क्रिया नाम की उसके शरीर की सन्धियां (जोड़) हैं, अग्नि उसका मुंह है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथिवी उसके चरण हैं, चन्द्र और सूर्य दो नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, इस तरह से मन की कल्पना ही विराट् के आकार से परिपुष्ट हुई है ॥२८-२९॥

इस प्रकार भली भाँति दृष्टिगोचर हो रहा विस्तृताकृति वास्तव में शून्यात्मा अतएव हमारे मनोरथ से कल्पित पर्वत के तुल्य विराट् स्वप्न के आकार से स्थित है वास्तव नहीं है। यों उसकी हमारे स्वप्न से तुल्यता ही सिद्ध हुई, अतः निष्प्रपञ्चता ही परमार्थ है, यह आशय है ॥३०॥

जो चिदाकाश में चेतनस्वरूप जीवभाव को प्राप्त होकर स्वयं अत्यन्त प्रदीप्त होता है वही यह जगत् है, इस प्रकार वह अपने स्वरूप का (आत्मा) ही अनुभव करता है ॥३१॥

चारों ओर व्याप्त असीम चिन्मय आकाश ही इस प्रकार पर्वत, वृक्ष, गज आदिरूप स्वभाव-स्वप्ननगरतुल्य विराट् के रूप से भान होता है अथवा इस तरह निरीक्षण करने पर विराट्रूप चिन्मय आकाश ही प्रतीत होता है ॥३२॥

अनुभव करनेवाला चिदात्मा ही अनुभवैकरस सत्य स्वस्वरूप को भी मायावरण से असत्-सा बनाकर वैसे ही परिच्छिन्न प्रपञ्चरूप से देखता है जैसे स्वप्न में प्राप्त हुआ नष्ट अपने को ही अपने से अतिरिक्त नाट्यदर्शक समाज से भरा स्वप्नदेश मानकर वहां पर अपना अभिनय ही देखता है ॥३३॥

वेदान्तियों यानी शुद्धब्रह्मपरायणों, सर्वज्ञेश्वरपरायणों और उपासनानिरतों, दिगम्बरों, सांख्यों, योगियों और बौद्धों के (सौत्रान्तिक वैभासिक, योगाचार और माध्यमिक चारों प्रकार के) गुरुजन वेदव्यास, अर्हत्, कपिल, पतञ्जलि और बुद्ध एवं पशुपति या भैरव (आगमशास्त्रविशेष के निर्माता), वैष्णव, हैरण्यगर्भ आदि आगमशास्त्र के निर्माता विष्णु आदि द्वारा भली भाँति वर्णित (अपने अपने आगम शास्त्रों में प्रतिपादित) जो दृष्टिकोण हैं उनका रूप धारण कर हमारा अभिमत ब्रह्म ही तत् तत् वासनारूप उनके स्वरूप से स्फुरित हुआ है। और उन वादियों के आत्मसंवित् के (अपने अपने निश्चय के) अनुरूप स्वर्ग (पारलौकिकसुखरूप) और ऐहलौकिक सुख, सकल फल वह ब्रह्म ही बनता है, क्योंकि तदात्मक ही फल तत्-तत् द्वारा वैसे-वैसे हो यों आशा की जाती है। इस ब्रह्म की ऐसी ही महिमा प्रसिद्ध है, क्योंकि मायाशबलरूप ब्रह्म सर्वात्मक है अर्थात् इसी अर्थ में सकल वादियों के मत का अविरोध है और इसी से सबके अभिलषित फल की सिद्धि होती है ॥३४॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में ब्रह्मगीता में परमार्थोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तिहत्तरवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१७३॥

१७४

वसिष्ठ उवाच

सर्गादौ स्वप्नसंवित्त्या चिदेवाऽऽभाति केवला ।
जगदित्यवभासेव ब्रह्मैवाऽतो जगत्त्रयम् ॥१॥
सर्गास्तरङ्गा ब्रह्माब्धेस्तेषु संवेदनं द्रवः ।
सर्गान्तरं सुखाद्यात्म द्वैतैक्यादीतरस्कुतः ॥२॥
यथा स्वप्नसुषुप्तात्म निद्रारूपकमेव खम् ।
दृश्यादृश्यांगमेकात्म रूपं चिन्नभसस्तथा ॥३॥
जाग्रति स्वप्ननगरं यादृक्तादृगिदं जगत् ।
परिज्ञातं भवेदत्र कथमास्था विवेकिनः ॥४॥
सर्गादौ सर्गसंवित्तेर्यथाभूतार्थवेदनात् ।
जाग्रति स्वाप्ननगरं यादृशं तादृशं जगत् ॥५॥
जाग्रति स्वप्ननगरवासना विविधा यथा ।
सत्या अपि न सत्यास्ता जगत्यो वासनास्तथा ॥६॥
अन्यथोपप्रपद्येह कल्प्यते यदि कारणम् ।
तत्किं नेदीयसी नाऽत्र भ्रान्तता कल्प्यते तथा ॥७॥
स्वानुभूयत एवेयं भ्रान्तिः स्वप्नजगत्स्विव ।
कारणं त्वनुमासाध्यं क्वाऽनुमाऽनुभवाधिका ॥८॥
दृष्टमप्यस्ति पद्मेशे न चाऽऽत्मनि विचारितम् ।
अन्यथानुपपत्त्याऽन्तर्भ्रान्त्यात्म स्वप्नशैलवत् ॥९॥

१७४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, चूंकि सृष्टि के आदि में केवल चित् ही स्वप्नवित् की संवित् से जगत् के रूप में अवभासित होती यह सिद्ध किया जा चुका है अतः तीनों जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होनेपर कैवल्य सिद्ध हुआ, यह अर्थ है ॥१॥

सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी सागर की तरंग हैं, उनमें संवित् ही द्रव (जल) है । अज्ञानियों में प्रसिद्ध दुःखरूपी सृष्टि का बोध द्वारा परिमार्जन हो चुका । किन्तु उसके अनन्तर भी जीवन्मुक्त पुरुषों के व्यवहार के लिए जो जगत् प्रसिद्ध है, वह आनन्द-सत-चित् स्वरूप होने से दूसरी ही सृष्टि है, उसमें द्वैत, ऐक्य आदि असुखरूप किस निमित्त से होगा, यह अर्थ है ॥२॥

दृश्य और अदृश्य स्वरूप आकाश चिदाकाश भी वैसे ही एक रूप है । जैसे स्वप्न और सुषुप्ति केवल निद्रारूप ही हैं जैसे स्वप्न में सुषुप्ति और स्वप्न में भेद का आभस होने पर भी दोनों में एकमात्र निद्रा-रूपता का व्याघात नहीं होता वैसे ही विदेहमुक्त और जीवनमुक्ति में भेद की आभास होनेपर भी उन दोनों में सुखैकरसता का व्याघात नहीं होता, यह भाव है ॥३॥

जाग्रत् में जैसे स्वप्न नगर है वैसे ही यथार्थतः परिज्ञात यह जगत् है इसमें विवेकी पुरुष की आस्था कैसे हो सकती है ॥४॥

जाग्रत् में स्वप्न नगर का जैसे बाध हो जाता है वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में सृष्टि संवित् के यथार्थतः ज्ञात होने के कारण जगत् भी बाधित हो जाता है ॥५॥

जाग्रत् के भोगाभास के लिए आविर्भूत वासनाएँ भी सत्यरूप से प्रतीत होने पर भी वैसे ही सत्य नहीं है जैसे विविध प्रकार की स्वप्न नगर वासनाएँ स्वप्नकाल में सत्यत्वेन प्रतीयमान होती हुई भी जाग्रत् में सत्य नहीं हैं अर्थात् दग्धवस्त्र के समान वासनामात्र से उनकी स्थिति दुःख देने में समर्थ नहीं है, यह तात्पर्य है ॥६॥

अन्यथा उपपादन करके यदि जगत् के कारण की कल्पना करते हो तो स्वाप्न जगत् में प्रसिद्धतर होने तथा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि विविध श्रुतियों द्वारा बोधित होने के कारण कारणान्तर की कल्पना की अपेक्षा निकटतम इसकी भ्रान्तिमात्रता की ही कल्पना क्यों नहीं की जाय ॥७॥

वाचारम्भण श्रुति द्वारा प्रदर्शित न्याय से पर्यालोचना करने पर मृत्तिका, तन्तु आदि से अतिरिक्त घट, पट, आदि का अदर्शन होने से उनके विषय में स्वप्नजगतों की तरह अपनी यह भ्रान्ति प्रत्यक्ष ही अनुभूत होती है। प्रत्यक्षानु-भव की अपेक्षा अनुमान कहाँ बलवान् देखा गया जिसके बल से प्रधान, परमाणु आदि कारणों की सिद्धि होगी, यह अर्थ है ॥८॥

जगत् स्वप्न पर्वत की तरह अन्दर भ्रान्तिरूप ही हैं। इस विषय मे प्रत्यक्ष हेतु भी है वह यह कि यह जन आत्मा में इष्ट की ही सृष्ठि करने और अनिष्ट की सृष्टि का निवारण करने के लिए समर्थ नहीं है। उसके द्वारा पहले से विचारित ही अर्थ निश्चयेन देखने में नहीं आता, अकस्मात् ही कोई भी अतर्कित अन्य पर दृष्टिगोचर हो जाता है। सृष्टि को अन्य कारण के (प्रधान, परमाणु आदि के) अधीन मानने पर तो उक्त कारण सम्पत्ति से साध्य इष्ट का ही लोग सर्जन करेंगे और अनिष्ट का निवारण करेंगे, आकस्मिक दृश्य को न देखेंगे। उक्त

निर्विकल्पं परं जाड्यं सविकल्पं तु संसृतिः ।
ध्यानं तेन समाधानं न संभवति किंचन ॥१०॥
सचेत्यं संसृतिर्ध्यानमचेत्यं तूपलस्थिति ।
मोक्षो नोपलवद्ध्यानं न विकल्पात्मकं ततः ॥११॥
न च नामोपलाभेन निर्विकल्पसमाधिना ।
अन्यदाऽऽसाद्यते किंचिल्लभ्यते किं स्वनिद्रया ॥१२॥
तस्मात्सम्यक्परिज्ञानाद्भ्रान्तिमात्रं विवेकिनः ।
सर्गात्यन्तासंभवतो यो जीवन्मुक्ततोदयः ॥१३॥
निर्विकल्पं समाधानं तदनन्तमिहोच्यते ।
यथास्थितमविक्षुब्धमासनं सर्वभासनम् ॥१४॥
तदनन्तसुषुप्ताख्यं तत्तुरीयमिति स्मृतम् ।
तन्निर्वाणमिति प्रोक्तं तन्मोक्ष इति शब्दितम् ॥१५॥
सम्यग्बोधैकघनता याऽसौ ध्यानमिति स्मृतम् ।
दृश्यात्यन्तासंभवात्म बोधमाहुः परं पदम् ॥१६॥
तच्च नोपलवज्जाड्यं न सुषुप्तोपमं भवेत् ।
न निर्विकल्पं न च वा सविकल्पं न वाऽप्यसत् ॥१७॥

तीनों हेतुओं की अन्यथानुपपत्ति से जगत् स्वप्न पर्वत के समान भ्रान्तिरूप ही है, यह सिद्ध हुआ ॥९॥

योगियों का अभिमत आत्मा आन्दचिद्रूप विहीन है। उसका साक्षात्कार होने पर भी वह पुरुषार्थरूप नहीं है। इसलिए उसके साक्षात्कार की कल्पना में कोई प्रयोजन नहीं हैं, अतः नित्य अनुमेयरूप तथा मीमांसकों के ज्ञान के तुल्य अपरोक्षभूत उसमें जड़ता ही परिशिष्ठ रहती है। उसमें हुई चित्त की निर्विकल्प समाधि केवल जड़ता ही है, उसमें हुई सविकल्प समाधि तो संसार ही है। इस कारण योगियों का ध्यान और उससे सम्पन्न हुई समाधि भी नहीं के बराबर है। कुछ भी पुरुषार्थरूप नहीं है, यह अर्थ है। अर्थात् जगत् के बाध के विना निर्विकल्प समाधि पर्यन्त ध्यान मात्र से आत्मोद्धार मानने वाले योगियों का भी निराकरण हो गया ॥१०॥

चेत्ययुक्त ध्यान संसार है और चेत्यरहित ध्यान पत्थर की सी स्थिति वाला है, इसलिए योगियों की सम्मत निरानन्दरूप मोक्षावस्था में परिशेष रहने वाला ज्ञान मोक्ष (पुरुषार्थरूप) नहीं है, क्योंकि पत्थर के तुल्य-भान मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। विकल्पात्मक सचेत्य ध्यान तो उससे बढ़कर मोक्ष नहीं है, क्योंकि वह तो बन्धन तुल्य ही है। इससे आत्मा की ज्ञानस्वभावता न मानने वाले वैशेषिकादि के सम्मत मोक्ष का भी निराकरण हो गया ॥११॥

पत्थर के सदृश निर्विकल्प समाधि द्वारा सांख्यों के अभिमत मोक्ष के सिवा हमारा अभिमत मोक्ष यदि प्राप्त हो तो स्वनिद्रा से भी वह प्राप्त हो जायगा, क्योंकि चित्त की चञ्चलता को निवृत्ति और अज्ञानरूप आवरण की अनिवृत्ति निद्रा और उक्त योगियों की सम्मत निर्विकल्प समाधि में तुल्य हैं ॥१२॥

इसलिए सम्यक् ज्ञान से विवेकी पुरुष की दृष्टि में सृष्टि का अत्यन्त असंभव होने से जगत् भ्रान्ति मात्र है। जो जीवन्मुक्तता का उदय है वही निर्विकल्पक समाधि है वही वेदान्त शास्त्र में अनन्त निर्वाण कहा जाता है। यथा स्थित, विक्षोभ रहित, सर्वप्रकाशक वह आसन (स्थिति) अनन्त सुषुप्त नामक है, वही तुरीय कहा गया है। वही निर्वाण कहा गया है और वही मोक्ष कहा गया है। अर्थात् इसलिए वादियों के अभिमत पक्षों में मोक्षाभाव-रूप दोष से छुटकारा न मिलने के कारण जगत् केवल भ्रान्तिमात्र है निरतिशयानन्द सच्चिदेकरस ही आत्मा है इस तत्त्वज्ञान से भ्रान्तिजन्य अज्ञानावरण के विनाश से भ्रान्तिक्षय होने पर परिशेष रहने वाला परम पुरुषार्थ है यह हमारा पक्ष ही सबके लिए शरण रूप है, इस प्रकार उपसंहार किया है ॥१३-१५॥

जो यह सम्यक् ज्ञान की एकमात्रघनता (सम्यक्-ज्ञानैकरसता) है वह ध्यान कहा गया है। 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' इत्यादि श्रुतियाँ और तत्त्ववेत्ता जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव हो उस बोध को ही परमपद कहते हैं ॥१६॥

वह गोतम और कणाद आदि की सम्मत मुक्ति की तरह पत्थर के समान जड़ नहीं है, हैरण्यगर्भ सम्मत प्रकृति-प्रलय के तुल्य सुषुप्तोपम नहीं है, पातञ्जलों की सम्मत मुक्ति की तरह निर्विकल्पतामात्र नहीं है, पाशुपत, पाञ्चरात्र आदि की सम्मत मुक्ति की तरह सविकल्पक नहीं है और बौद्धों की अभिमत मुक्ति की तरह असद् (नैरात्म्यरूप शून्य) भी नहीं है ॥१७॥

दृश्यात्यन्तासंभवात्म तदेवाऽहं हि वेदनम् ।
तत्सर्वं तन्न किंचिच्च तद्वदेवाऽङ्ग वेत्ति तत् ॥१८॥

सम्यक्प्रबोधान्निर्वाणं परं तत्समुदाहृतम् ।
यथास्थितमिदं विश्वं तत्राऽलं प्रलयं गतम् ॥१९॥

न तत्र नानाऽनाना न न च किंचिन्न किंचन ।
समस्तसदसद्भावसीमान्तः स उदाहृतः ॥२०॥

अत्यन्ताऽसंभवं दृश्यं यद्वै निर्वाणमासितम् ।
शुद्धबोधोदयं शान्तं तद्विद्धि परमं पदम् ॥२१॥

हे श्रीरामजी, जिसमें दृश्य का अत्यन्त असम्भव है 'सब कुछ ब्रह्म ही है' और 'वही शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का निर्मल ज्ञान ही मुक्ति है । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति' तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इन श्रुतियों के अनुसार अधिष्ठानरूप से वह सब कुछ है और 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्यादि श्रुति से अध्यासरूप से कुछ नहीं है वैसे ही वह जानता है ॥१८॥

सम्यक ज्ञान से वह परम निर्वाण कहा गया है, निर्वाण में यह यथास्थित सारा विश्व अत्यन्त प्रलय का होता है ॥१९॥

उसमें न भेद है और न अभेद है, न कुछ है और किञ्चित् है वह सब सद् असद भावों की चरम सीमा कहा गया है । जैसे पट सत् है या असत् इस कल्पना की सीमा तन्तु अर्थात् सूत्र है, तन्तु सत् है या असत् है इस कल्पना की अवधि कपास सत् है या असत् है इस कल्पना की सीमा कपास का बीज है, कपास का बीज सत् है अथवा असत् इस कल्पना की सीमा मिट्टीरूप पृथिवी है, पृथिवी सती है अथवा असती इस कल्पना की सीमा जल है, जल की सदसद्भाव कल्पना की सीमा तेज है, तेज की सदसद्भाव कल्पना की सीमा वायु है, वायु के सदसद्भाव की कल्पना की सीमा आकाश है, आकाश की सदसद्भाव-कल्पना की सीमा अव्याकृत है और अव्याकृत की सदसद्भाव कल्पना की सीमा केवल चिदात्मा ही है, इस तरह वह सीमान्त कहा गया है ॥२०॥

जिसमें दृश्य अत्यन्त असंभव है, शुद्ध बोधोदय स्वरूप, सकल विक्षेपों से रहित परम शान्त निरतिशयानन्दरूप से है आप परमपुरुषार्थ जानें ॥२१॥

स च संप्राप्यते शुद्धो बोधो ध्यानमनुत्तमम् ।
शास्त्रात्पदपदार्थज्ञबोधिनोत्पन्नबुद्धिना ॥२२॥
मोक्षोपायाभिधं शास्त्रमिदं वाचयताऽनिशम् ।
बुद्ध्युपायेन शुद्धेन पुंसा नाऽन्येन केनचित् ॥२३॥
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया ।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्न चाऽध्वरैः ॥२४॥
भ्रान्तिमात्रं किलेदं सदसत्सदिव लक्ष्यते ।
व्योमैव जगदाकारं स्वप्नोनिद्रे चिदम्बरे ॥२५॥
न शाम्यति तपस्तीर्थैर्भ्रान्तिर्नाम कदाचन ।
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता ॥२६॥
भ्रान्ति शाम्यति शास्त्रार्थात्सम्यबुद्ध्याऽवलोकितात् ।
आत्मज्ञानमयान्मोक्षोपायादेवेह नाऽन्यतः २७॥

प्रत्युत्पन्नमति (बुद्धिमान्) पुरुष को वह शुद्ध बोधरूप उत्तम ध्यान पद-पदार्थ ज्ञाता को बोधित करने वाले इस शास्त्र से प्राप्त होता है । अर्थात् उसकी प्राप्ति में मोक्षोपाय नाम का यह ग्रन्थ ही उपाय है ॥२२॥

मोक्षोपाय नामक इस ग्रन्थ का निरन्तर पारायण करने वाले पुरुष को विशुद्ध अध्यात्मशास्त्रजनित ज्ञानरूप उपाय से वह परम पद प्राप्त होता है अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' इत्यादि श्रुतियाँ हैं ॥२३॥

वह न तीर्थ सेवन से प्राप्त होता है, न दान से, न स्नान से, न विद्या से (ब्रह्मविद्या से अतिरिक्त विद्या से), न ध्यान से, न योग से, न तपस्याओं से और न यज्ञ यागों से ही प्राप्त होता है ॥२४॥

भ्रान्तिमात्र अनिर्वचनीय यह विश्व सत् की तरह प्रतीत होता है । निद्रा रहित चिदाकाश में स्वप्नरूप यह जगदाकार आकाश (शून्य) ही है । भ्रान्ति की तप, तीर्थ आदि से कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती, तपस्या, तीर्थ आदि से विविध स्वर्ग प्राप्त होते हैं किन्तु मुक्ति नहीं मिलती है ॥२५, २६॥

भ्रान्ति की निवृत्ति उत्तम शुद्ध बुद्धि से विचारित आत्मज्ञानमय मोक्षोपायभूत इस शास्त्र से ही होती है, अन्य उपाय से नहीं होती है ॥२७॥

आलोककारिणाऽत्यर्थं शास्त्रार्थेनैव शाम्यति ।
अमलेनाऽखिला भ्रान्तिः प्रकाशेनेव तामसी ॥२८॥
सर्गसंहारसंस्थानां भासो भान्ति चिदम्बरे ।
स्पन्दनानीव मरुति द्रवत्वानीव वारिणि ॥२९॥

द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्निजा
नभस्वतः स्पन्द इवाऽनिशं यथा ।
यथास्थिता सृष्टिरियं तथाऽस्तिता
लयं नभस्यन्तरनन्यरूपिणी ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु निर्वाणोपदेशो नाम चतुःसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७४॥

जैसे रात्रि की आत्यन्तिक निवृत्ति सूर्योदय से वैसे ही होती है, जैसे सम्पूर्ण भ्रान्ति की आत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञानालोक उत्पन्न करने वाले निर्मल इस शास्त्रार्थ से होती है ॥२८॥

वायु में स्पन्दन की तरह, जल में द्रवत्व की तरह चिदाकाश में सृष्टि, प्रलय और स्थिति के स्फुरण का भान होता है ॥२९॥

मायाशबल चिदाकाश के अन्दर यथास्थित यह जगत् की सृष्टि और उसकी स्थिति भी अनन्यरूप वाली है और उसी में यह लय को प्राप्त होगी। जैसे वटबीज आदि द्रव्य के अन्दर सदा अपनी रमणीय वट वृक्षाकार धारण चमत्कृति स्थित जैसे वायु के अन्दर अपनी मनोहर स्पन्द चमत्कृति स्थित है ॥३०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में निर्वाणोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७४॥

१७५

वसिष्ठ उवाच

स्वप्नाभमाद्यं चिद्व्योम कारणं देहसंविदाम् ।
दृश्यान्यताऽसंभवतश्चिद्व्योम्नस्तत्कुतो वपुः ॥१॥

सर्गादौ स्वप्नसंवित्तिरूपं सर्वं विनाऽनघ ! ।
न सर्गो न परो लोको दृश्यमानोऽपि सिद्ध्यति ॥२॥

असदेवाऽनुभूरित्थमेवेदं भासते जगत् ।
स्वप्नाङ्गनासङ्ग इव शान्तं चिद्व्योम केवलम् ॥३॥

एवं नामाऽस्ति चिद्धातुरनादिनिधनोऽमलः ।
शून्यात्मैवाऽच्छरूपोऽपि जगदित्यवभाति यः ॥४॥

मलस्त्वेषोऽपरिज्ञातः परिज्ञातः परं भवेत् ।
कुतः किल परे व्योमन्यनादिनिधने मलः ॥५॥

१७५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! आदिम चिदाकाश अपनी अविद्या से स्वप्न के समान बनकर जीवरूप से आवागमन के चक्कर में पड़कर 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि तत्-तत् देहों में तादात्म्य के अध्यासों का काम, कर्म, वासना, आदि द्वारा कारण होता है, किन्तु जीवोपाधि की सिद्धि के पहले महाप्रलय में स्वप्न तुल्यता की प्राप्ति होने पर दृश्यरूप अन्यता का संभव न होने से निमित्त की असिद्धि वश उस चिदव्योम का दृश्य सृष्टिरूप शरीर किस कारण से होगा ? यह अर्थ है ॥१॥

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टि के आदि में न स्वप्न संविद्रूप दृश्यमान सृष्टि की सिद्धि होती है और न परलोक की ही शिद्धि होती है। अर्थात् स्वप्न संविद् के रूप ही जीवत्वसमकालिक सृष्टि आदि की सिद्धि होती है अन्य निमित्त से नहीं होती ॥२॥

अनुभव करने वाला अनुभवैकरस चिदात्मा इस प्रकार स्वप्नाङ्गना सङ्ग की तरह निपट असत् जगत् बनकर अपनी अविद्या से जगत् के रूप से भासमान होता है। परमार्थतः वह केवल शान्त चिदाकाश है। अर्थात् चिदाकाश का जीवभाव अथवा जगद्भाव वास्तविक नहीं है, जिससे कि जगत् उसका शरीर होगा ॥३॥

जगत् के रूप से इस तरह वह जगत् अवभासित होता है कि मानो वह शून्यस्वरूप अत्यन्त निर्मलरूप आदि-अन्तविहीन स्वच्छतम चिद्धातु ही है ॥४॥

इस परमात्मा के अज्ञात रहने तक यह अविद्यारूप मल भास मानता है अविद्यावस्था में संसारी जीव-सा पृथक् होता है किन्तु ज्ञात होने पर वह मल परम निर्मल ब्रह्म ही है, क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियों से यह अवगत हैं। ब्रह्मभाव में मल का प्रसङ्ग ही नहीं है। अनादि निधन परमाकाश में

यदेतद्वेदनं शुद्धं तदेव स्वप्नपत्तनम् ।
जगत्तदेव सर्गादौ पृथ्व्यादेः संभवः कुतः ॥६॥

चिद्व्योमात्मावभासस्य नभसः सर्गरूपिणी ।
कृता पृथ्व्यादिकलना मनोबुद्ध्यादिता तथा ॥७॥

वार्यावर्तं इवाऽऽभाति पवनस्पन्दवच्च यत् ।
अबुद्धिपूर्वं चिद्व्योम्नि जगद्भानमभित्तिमत् ॥८॥

पश्चात्तस्यैव तेनैव स्वयमैश्वर्यशंसिना ।
कृतं बुद्ध्यादिपृथ्व्यादिकल्पनं सदसन्मयम् ॥९॥

स्वयमेव कचत्यच्छाऽऽच्छा येयं सा महाचितिः ।
सर्गाभिधानमस्यैव नभ एवेह नेतरत् ॥१०॥

न च किंचन नामाऽङ्ग कचत्यच्छैव सा स्मृता ।
चिन्मात्रैकैककलनं ततमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥११॥

मल कहाँ से हो सकता है, क्योंकि प्रबोध से स्वप्न की तरह ज्ञान होने से मल का बाध हो जाता है ॥५॥

यह शुद्ध संवित् ही स्वप्न नगर है और वही सृष्टि के आदि में जगत् है, अतः, पृथिवी आदि का संभव कैसे हो सकता है ॥६॥

आकाशभूत चिदाकाशात्मा के स्फुरण की सृष्टिरूपधारिणी पृथिवी आदि कल्पना की गई है तथा मन, बुद्धि आदिरूप कल्पना की गई है ॥७॥

जल में आवर्त की तरह और वायु में स्पन्दन की तरह चिदाकाश में बिना भीत का जो जगद्भान होता है, उसके अनन्तर जीवभाव से उसमें प्रवेश कर मैं हिरण्यगर्भ भुवनस्रष्टा हूँ यों अपने ऐश्वर्य का गान करने वाले परमात्मा ने ही स्वयं जगद्भान की ही बुद्धि आदि, पृथिवी आदि नामरूप व्याकरणरूप सदसन्मय मूर्तामूर्तप्रचुर या सत्यानृत मिथुनीकरणरूप कल्पना की ॥८, ९॥

स्वच्छ से भी अत्यन्त स्वच्छ जो यह महाचिति है वह स्वयं ही जगत् के रूप से स्फुरित होती है इसी का सृष्टि नाम है अतः जगत् चिदाकाश ही है उससे भिन्न नहीं है ॥१०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! विचार दृष्टि से तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है, क्योंकि यह महाचिति अत्यन्त स्वच्छ कही गई है, चिन्मात्ररूप जो अद्वितीय ही ब्रह्म है, केवल उसकी कल्पना ही इस प्रकार (जगत् रूप से) निज आत्मा में विस्तृत है ॥११॥

चिदाकाशश्चिदाकाशे तदिदं स्वमलं वपुः ।
चित्तं दृश्यमिवाऽऽभाति यथा स्वप्ने तथा स्थितम् ॥१२॥

अन्यथानुपपत्त्याऽर्थकारणाभावतः स्वतः ।
सर्गादावेव स्वात्मैव दृश्यं चिद्व्योम पश्यति ॥१३॥

स्वप्नवत्तच्च निर्धर्मं मनागपि न भिद्यते ।
तस्माच्चिद्व्योम चिद्व्योम्नः शून्यत्वं गगनादिव ॥१४॥

यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
तदेवैकं तथारूपमेवं सर्वतया स्थितम् ॥१५॥

स्वप्नेऽनुभूयते चैतत्स्वप्नो ह्यात्मैव भासते ।
नानाबोधमनानैव ब्रह्मैवाऽमलमेव तत् ॥१६॥

ब्रह्मैवाऽऽत्मनि चिद्भावाज्जीवत्वमिव कल्पयत् ।
रूपमत्यजदेवाऽच्छं मनस्तामिव गच्छति ॥१७॥

शुद्ध संवित् आनन्द स्वरूप चिदाकाश ही चिदाकाश में निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों स्थित हो अज्ञात होने से स्वप्न की तरह चित्त-सा दृश्य-सा अवभासित होता है ॥१२॥

सत् कारण के अभाववश अन्य प्रकार से हजारों वादी भी सृष्टि का उपपादन नहीं कर सकते हैं, अतः सृष्टि के आदि में आत्मा ही दृश्य रूप धारण कर स्वयं चिदाकाशरूप दृश्य को देखता है ॥१३॥

स्वप्न के समान निर्धर्मक वह अपने अधिष्ठान से तनिक भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूप से परिशिष्ट वह आकाश से शून्यता के समान चिदाकाश से भिन्न नहीं है ॥१४॥

सकल रूपों से विवर्जित अद्वितीय पर ब्रह्म अपने सच्चिदानन्दघन अद्वितीय रूप से ही स्थित हो स्वमाया शक्ति से सकल जगद्रूप से स्थित है ॥१५॥

स्वप्न में अकारण ही इस दृश्य सृष्टि का सकल जीवों को अनुभव होता है स्वप्न में तो आत्मा ही स्वप्न के सकल पदार्थों का रूप धारण कर भासित होता है, अतः जाग्रत् में भी एक ज्ञानरूप निर्मल ब्रह्म ही जगद्रूप से (नाना पदार्थों के रूप से) भासता है ॥१६॥

ब्रह्म ही चिद् होने से आत्मा में मानो जीवत्व की कल्पना करता हुआ और अपने निर्मल सच्चिदानन्द घन स्वरूप का त्याग न करता हुआ मनस्त्व को जैसा प्राप्त होता है ॥१७॥

इदं सर्वं तनोतीव तच्च खात्मकमेव खम् ।
भवतीव जगद्रूपं विकारीवाऽविकार्यपि ॥१८॥
मन एव स्वयं ब्रह्मा स सर्गस्य हृदि स्थितः ।
करोत्यविरतं सर्वमजस्रं संहरत्यपि ॥१९॥
पृथ्व्यादिरहिता यस्मिन्मनोहृद्यङ्गवर्जिते ।
अन्यद्वा त्रिजगद्भाति यथा स्वप्ने निराकृति ॥२०॥
देहरूपजगद्रूपैरहमेकमनाकृति ।
मनस्तिष्ठत्यनन्तात्म बोधाबोधं पराभवम् ॥२१॥
नेह पृथ्व्यादि नो देहो न चैवाऽन्याऽस्ति दृश्यता ।
जगत्तया केवलं खं मनः कचकचायते ॥२२॥
विचार्यदृष्टचैतदपि न किंचिदपि विद्यते ।
केवलं भाति चिन्मात्रमात्मनाऽऽत्मनि निर्घनम् ॥२३॥

स्वयं चिदाकाश ही वह मन की समष्टिरूप से आकाशात्मक ही इस सकल जगत् का विस्तार करता है और स्वयं अविकारी होता हुआ भी विकारी जगद्रूप सा प्रतीत होता है ॥१८॥

मन ही हिरण्यगर्भ है वह सृष्टि के हृदय में स्थित सबका निरन्तर निर्माण करता है और निरन्तर सबका संहार भी करता है ॥१९॥

पृथ्वी आदि से रहित समष्टिमनरूप ब्रह्मा अवयव-रहित जिस जगत् के हृदय में स्थित है उससे भिन्न के समान त्रिजगत् के रूप से वैसे ही भास मानता ही है जैसे स्वप्न में निराकार चिदात्मा स्वाप्न पदार्थ के रूप से भासित होता है ॥२०॥

एक निराकार परब्रह्म होकर भी अपनी अविद्या से पूर्ण सच्चिदानन्द भाव से च्युत हो मनोभाव को प्राप्त कर समष्टिमनरूप ब्रह्मा अहंकार स्वरूप से तथा शरीर और जगत् के रूप से अनन्तरूप होकर जड़ और चेतन जगत् रूप में स्थित है ॥२१॥

यथार्थतः न यहाँ (चित् में) पृथिवी आदि हैं, न शरीर है, न चित् से भिन्न कुछ दृश्यरूप ही है, किन्तु एक मात्र चिदाकाश ही कल्पित समष्टि मनोरूप होकर जगद्रूप में अतिशय रूप से स्फुरित हो रहा है ॥२२॥

सूक्ष्म विचार दृष्टि से यह जगत् का स्फुरण भी कुछ नहीं हैं एकमात्र अत्यन्त घन चिन्मात्र ही अपने आप अपने स्वरूप में भास मानता है ॥२३॥

यतो वाचो निवर्तन्ते तूष्णींभावोऽवशिष्यते ।
व्यवहार्यपि खात्मैव तद्वत्तिष्ठति मूकवत् ॥२४॥
अनन्तापारपर्यन्ता चिन्मात्रपरमेष्टका ।
तूष्णींभूत्वा भवत्येष प्रबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥२५॥
अबुद्धिपूर्वं द्रवतो यथाऽऽवर्तादयोऽम्भसि ।
क्रियन्ते ब्रह्मणा तद्वच्चित्तबुद्ध्यादयो जडाः ॥२६॥
अबुद्धिपूर्वं वातेन क्रियते स्पन्दनं यथा ।
अनन्यदेवं बुद्ध्यादि क्रियते परमात्मना ॥२७॥
अनन्यदात्मनो वायोर्यथा स्पन्दनमव्ययम् ।
अनन्यदात्मनस्तद्वच्चिन्मात्रं परमात्मनः ॥२८॥
चिद्व्योम ब्रह्मचिन्मात्रमात्मा चिति महानिति ।
परमात्मेति पर्याया ज्ञेया ज्ञानवतां वर ॥२९॥

जिससे वचन निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् यहाँ मन और वाणी की पहुँच नहीं है उस निरतिशय आनन्द की प्राप्ति से तूष्णींभाव (आत्मस्वरूप निश्चलता) शेष रहती है। वह निश्चलता व्यवहारकाल में भी नहीं हटती। शुद्ध सच्चिदात्मा संसार के व्यवहारों में निरत रहने पर भी निश्चल आत्मस्वरूप से ज्यों का त्यों मूकवत् स्थित रहता है ॥२४॥

वह प्रबुद्ध ज्ञानवान् पुरुष श्रेष्ठ निश्चल होकर अनन्त अपार चिन्मात्र रूप परम इष्ट (परम प्रेमास्पद निरतिशयानन्दघनतारूप) हो जाता है। अथवा ज्ञानरूप अग्नि में परिपाकवश दृढ़ होने से ब्रह्मरूप ईंट स्वयं बन जाता है, ऐसा अर्थ है ॥२५॥

अविद्यावृत ब्रह्मा ने अज्ञानपूर्वक ही चित्त, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का वैसे ही निर्माण करता है और अविद्यावृत चैतन्य ही जलादि बन कर आवर्त आदि विकल्पों का भाजन होता है, जैसे जल में द्रव से अज्ञान पूर्वक ही आवर्त, बुद्बुद आदि होते हैं। अतएव जलादि की दृष्टान्तता है। अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हुए पुरुष श्रेष्ठ के फिर कालान्तर में सृष्टि आदि से बन्धन-प्रसंग का वारण करने के लिए सृष्टि की अज्ञान पूर्वकता है ॥२६॥

परमात्मा द्वारा अपने से अभिन्न बुद्धि आदि जगत् का अबुद्धिपूर्वक वैसे ही निर्माण किया जाता है। जैसे वायु द्वारा अपने से अभिन्न स्पन्द का अबुद्धि पूर्वक ही निर्माण किया जाता है ॥२७॥

चिद्भासरूप सब जीव प्रत्यग्रूप परमात्मा से वैसे ही अभिन्न हैं। जैसे वायु का अविनाशी स्पन्दन वायु से अभिन्न है ॥२८॥

हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, चिद्व्योम, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान् परमात्मा इन सबको आप पर्यायवाची जानिये ॥२९॥

ब्रह्मोन्मेषनिमेषात्म स्पन्दास्पन्दात्म वातवत् ।
निमेषो यादृगेवाऽस्य समुन्मेषस्तथा जगत् ॥३०॥
दृश्यमस्य समुन्मेषो दृश्याभावो निमेषणम् ।
एकमेतन्निराकारं तद्द्वयोरप्युपक्षयात् ॥३१॥
निमेषोन्मेषयोरेकरूपमेव परं मतम् ।
अतोऽस्ति दृश्यं नाऽस्तीति सदसच्च सदा चितिः ॥३२॥
निमेषो नाऽन्य उन्मेषान्नोन्मेषोऽपि निमेषतः ।
ब्रह्मणः सर्गवपुषो निमेषोन्मेषरूपिणः ॥३३॥
तद्यथास्थितमेवेदं विद्धि शान्तमशेषतः ।
अजातमजरं व्योम सौम्य समसमं जगत् ॥३४॥
चिदचित्यात्मकं व्योम रूपं कचकचायते ।
चिन्नाम तदिदं भाति जगदित्येव तद्वपुः ॥३५॥

अविद्यावृत ब्रह्म नेत्र के समान उन्मेष निमेषरूप है अथवा वायु के समान स्पन्द-अस्पन्दरूप है। उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है वैसा ही सर्गात्मक उन्मेष जगत् है ॥३०॥

[जैसे उन्मेष और निमेषकाल में एक-सा नेत्र गोलक एक ही है उसी में निमेष उन्मेष का लय होता है वैसे ही प्रलय और सृष्टि में एक सा ब्रह्म एक है उसी में उनका लय होता है, ऐसा कहते हैं।]

दृश्य ब्रह्म का उन्मेष है और दृश्य का अभाव (प्रलय) निमेष है दोनों अवस्थाओं में निराकार यह एक ही है, क्योंकि उन दोनों का ही इसी में लय होता है ॥३१॥

परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष-दोनों अवस्थाओं में एकरूप ही रहता है। अतः चित् से ही दृश्य का 'अस्ति' (है) और 'नास्ति' (नहीं है) यों स्फुरण होने से दृश्य सत्-असत् है, किन्तु चिति सदा सत्तैकरूप ही है ॥३२॥

[उन्मेष और निमेष भी उन्मेष और निमेष के हेतु (पलक) सहित नेत्र स्थानीय शबल ब्रह्मरूप से परस्पर अभिन्न ही हैं।]

निमेष उन्मेष से अतिरिक्त नहीं है और उन्मेष भी निमेष से भिन्न नहीं है वैसे ही मायाशबल ब्रह्म से उन्मेष-निमेषरूपी सर्ग और प्रलय भिन्न नहीं हैं ॥३३॥

[इस दृष्टि से जो सिद्ध हुआ, उसे कहते हैं।]

हे सौम्य श्रीरघुनायक, इस कारण निमेष और उन्मेष में साधारण (एक समान) ब्रह्मरूप से एकरस यथा स्थित इस जगत् को आप अनुत्पन्न, अजर, अमर, शान्त चिदाकाश ही जानिये ॥३४॥

जैसे आकाश अपने में अध्यस्त नीलरूपता से स्फुरित होता है वैसे ही चित् भी अचित्यात्मकरूप से (अचेतन दृश्य जगत् रूप से) स्फुरित होती है, इसलिए जो कुछ यह जगत् रूप से भासता है, वह जगत् शरीर धारी चिन्मात्र ब्रह्म ही है ॥३५॥

न नश्यति न चोत्पन्नं दृश्यं नाऽप्यनुभूयते ।
स्वयं चमत्करोत्यन्तः केवलं केवलैव चित् ॥३६॥
महाचिद्व्योममणिभा दृश्यनाम्नो निजाकरात् ।
अनन्याऽन्येव भाताऽपि भानुभास इवोष्णता ॥३७॥
सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत् ।
सर्वमेकं शिवं शान्तं नानेवाऽपि स्थितं स्फुरत् ॥३८॥
यद्यत्संवेद्यते यादृक्सद्वाऽसद्वा यथा यदा ।
तथाऽनुभूयते तादृक्तत्सदस्त्वसदस्तु वा ॥३९॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या चेत्कारणं परिकल्प्यते ।
तत्स्वप्नाभो जगद्भावावन्यथा नोपपद्यते ॥४०॥

न तो दृश्य कभी उत्पन्न हुआ है, न नष्ट होता है और न यथार्थतः अनुभव में ही आता है केवल एकमात्र चित् ही अपने स्वरूप में स्वयं दृश्य रूप चमत्कार करती है ॥३६॥

जैसे सूर्य से निकली हुई सूर्य की दीप्ति से सूर्य की उष्णता भिन्न-सी मालूम होती हुई भी भिन्न नहीं है वैसे ही दृश्य नाम की चिदाकाशरूपी महामणि की प्रभा भी अपने उद्गम स्थान (आकार-स्थान) महामणि से भिन्न-सी प्रतीत होती हुई भी उससे अभिन्न ही है ॥३७॥

जैसे सुषुप्ति ही स्वप्न-सी प्रतीत होती है अर्थात् स्वप्न-रूप में भासती है वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि के समान स्फुरित होता है, इसलिए नाना रूप के समान स्फुरित होता हुआ भी यह सारा जगत् एक, शान्त, शिवरूप ब्रह्म ही है ॥३८॥

चिदाभास द्वारा जब जिस जिसका जिस प्रकार से भाव अथवा अभाव रूप से—जैसा संकल्प किया जाता है उसका उस प्रकार से चाहे वह सत् हो चाहे असत् वैसे ही अनुभव किया जाता है इसलिए जीव भी ब्रह्म का पर्याय है ॥३९॥

जगत् की जड़ता की अन्य प्रकार से उपपत्ति न होने के कारण उसके अनुरूप प्रधान, परमाणु आदि रूप कारण की कल्पना करो तो स्वप्न में प्रतीत होने वाले प्रपञ्च का प्रधान, परमाणु आदि द्वारा कदापि नहीं निर्वाह हो सकता है अतएव आत्मा के जगद् भाव के बिना स्वप्न-प्रपञ्च की सिद्धि नहीं हो सकती है। स्वप्न में आत्मा का ही जगद् भाव मानने पर तो उसी न्याय से सृष्टि के आदि में भी ब्रह्म ही जगद्वेष धारण करेगा इससे प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना ठीक नहीं है ॥४०॥

प्रमातीतात्पराद्विश्वमनन्यदुदितं यतः।
प्रमातीतमिदं चैव किंचिन्नाभ्युदितं ततः ॥४१॥
यस्य यद्रसिकं चित्तं तत्तथा तस्य गच्छति।
ब्रह्मैकरसिकं तेन मनस्तत्तां समश्नुते ॥४२॥
यच्चित्तो यद्गतप्राणो जनो भवति सर्वदा।
तत्तेन वस्त्विति ज्ञातं जानाति तदसौ स्फुटम् ॥४३॥
ब्रह्मैकरसिकं यस्यान्मनस्तत्तद्भवेत्क्षणात्।
यस्य यद्रसिकं चेतो बुद्धं तेन तदेव सत् ॥४४॥
विश्रान्तं यस्य वै चित्तं जन्तोस्तत्परमार्थसत्।
व्यवहृत्यै करोत्यन्यत्सदाचारादतद्रसम् ॥४५॥
द्वित्वैकत्वादिकलना नेह काचन विद्यते।
सत्तामात्रं च दृगियमितश्चेदलमीक्ष्यते ॥४६॥

चूंकि ब्रह्म से अभिन्न यह विश्व प्रमाणों के अगोचर परम ब्रह्म से आविर्भूत है इसलिए प्रमाणों का अगोचर यह कुछ भी उदित नहीं हुआ। अर्थात् ऐसा मानने पर जगत् की, प्रमाणों के अविषय ब्रह्म में अध्यास वश स्वप्न की तरह, अनिर्वचनीयतारूप प्रमाणाविषयता भी सिद्ध होगी यों अद्वैत का अविरोध होने से दूसरी अनुकूलता हमारे पक्ष में हुई ॥४१॥

जिसका चित्त जिस ओर रसिक रहता है उसका चित्त वैसा ही अनुभव करता है इस कारण एक मात्र ब्रह्म में रसिक तत्त्वज्ञचित्त जगत् की ब्रह्मता का अनुभव करता है अर्थात् ब्रह्म रसिक लोगों का चित्त जगत् को ब्रह्म ही देखता है यों उनके अनुभव का अनुसरण भी हो गया ॥४२॥

जिस मनुष्य के चित्त-प्राण सदा जिस पर अनुरक्त रहते हैं, लगे रहते हैं, वह उसको वास्तविक प्रतीत होता है अतएव उसी का स्पष्टरूप से वह अनुभव करता है ॥४३॥

एक मात्र ब्रह्म में रसिक मन क्षण भर में ब्रह्म बन जाता है अतः जिसका मन जिसमें रस पाता है उसने उसी पदार्थ को यथार्थ जाना है ॥४४॥

जिस जीव का चित्त दृढ़ निश्चयवश जिसमें विश्रान्त हो चुका, उसके लिए वही परमार्थ (सत्य) है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी और नास्तिक अपने निश्चित मार्ग से अतिरिक्त जो याग, दान आदि कर्म करते हैं वह केवल सदाचार से लोकसंग्रहार्थ व्यवहार के लिए बिना इच्छा के (मानो जबर्दस्ती) करते हैं ॥४५॥

मेरे द्वारा निर्दिष्ट इस उपाय से (युक्ति से) यदि जगत् का भलीभांति अवलोकन कीजिये तो यह सब आपको सत्तामात्र ही प्रतीत होगा। यह दृग् (चित्) ही है इस चित् में द्वित्व, एकत्व की कल्पना कोई नहीं है ॥४६॥

अदृश्यदृश्यसदहसन्मूर्तामूर्तं दृशामिह।
नैवाऽस्ति न च नास्त्येव कर्ता भोक्ताऽथवा क्वचित् ॥४७॥
इदमित्थमनाद्यन्तं जगत्पर्यायमात्मनि।
ब्रह्मैकघनमाशान्तं स्थितं स्थाणुरिवाऽध्वनि ॥४८॥
यदेव ब्रह्म बुद्ध्यादि तदेवैतन्निरञ्जनम्।
यदेव गगनं शान्तं शून्यं विद्धि तदेव तत् ॥४९॥
केशोण्डुकादयो व्योम्नि यथा सदसदात्मकाः।
द्वितामिवाऽऽगता भान्ति परे बुद्ध्यादयस्तथा ॥५०॥
तथा बुद्ध्यादि देहादि वेदनादि परापरे।
अनेकान्यप्यनन्यानि शून्यत्वानि यथाऽम्बरे ॥५१॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नमेकनिद्रात्मनो यथा।
सर्गस्थस्याऽपि न द्वित्वं नैकत्वं ब्रह्मणस्तथा ॥५२॥

जिनकी ज्ञान दृष्टि में दृश्य, सत्, असत् मूर्त, अमूर्त सब कुछ ब्रह्म ही है, उनकी दृष्टि में यहाँ अथवा कहीं न कर्ता अथवा भोक्ता जीव ही हैं और न उनका अभाव ही है, क्योंकि उन्हीं का ब्रह्मरूप से शेष रहता है ॥४७॥

आदि अन्त विहीन सर्वतः शान्त जगत् पर्याय वाला ब्रह्मैकघन (चिन्मात्रघन) यह ब्रह्म ही इस प्रकार (जगद्रूप से) आत्मा में स्थित है। जैसे अज्ञानी पथिकों के चोरों के सन्देह, भ्रान्ति आदि के योग्य वन मार्ग में स्थाणु ही चोर आदि के रूप से स्थित होता है ॥४८॥

जो बुद्धि समष्टि हिरण्यगर्भ आदि रूप जगत् है उसी को आप निरञ्जन (निर्विकार) ब्रह्म जानिये जैसे कि जो ही प्रशान्त आकाश है वही शून्य है ॥४९॥

परम ब्रह्म में सदसदात्मक बुद्धि आदि वैसे ही भिन्न से प्रतीत होते हैं जैसे आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला, नीलता आदि, जो सदसद्रूप हैं, आकाश से भिन्न से प्रतीत होते हैं ॥५०॥

सर्वसामान्य सत्तारूप ब्रह्म में बुद्धि आदि, देह आदि अनुभव आदि अनेकरूप प्रतीत होने पर भी ब्रह्म से वैसे ही अभिन्न ही हैं। जैसे आकाश में घट, पट आदि के सब अभाव आकाश से अनन्य हैं ॥५१॥

एक मात्र निद्रारूप सुषुप्ति से स्वप्न में प्रवेश कर रहे स्वप्न-सृष्टि में स्थित जीवात्मा का न तो द्वित्वरूप से निर्वचन होता है और न एकत्वरूप से ही होता है क्योंकि वहाँ व्यावर्त्य कोई प्रसिद्ध नहीं है वैसे ही एक मात्र निद्रा-रूप प्रलय से सृष्टि में प्रवेशकर रहे अज्ञ दृष्टि से सर्गस्थ भी ब्रह्म का द्वित्वेन अथवा एकत्वेन निर्वचन नहीं हो सकता ॥५२॥

एवमेव कचत्यच्छा छायेयं स्वा महाचितेः ।
न च किंचन नामाङ्ग कचत्यच्छैवमास्थिता ॥५३॥
चिद्व्योम्नि हि चिदाकाशमेव स्वममलं वपुः ।
चेत्यं दृश्यमिवाऽऽभाति स्वप्नेष्विव यथास्थितम् ॥५४॥
अन्यथानुपपत्त्याऽर्थकारणाभावतः स्वतः ।
चिद्व्योमात्मानमेवाऽऽदौ दृश्यमित्येव पश्यति ॥५५॥
सर्गादावेव खात्मैव दृश्यं भाति निराकृति ।
संभ्रमः स्वप्नसंकल्पमिथ्याज्ञानेष्विवाऽभितः ॥५६॥
स्वप्नवत्तच्च निर्धर्मं मनागपि न भिद्यते ।
विकार्यपि सधर्माऽपि चिद्व्योम्नो वस्तुनो मलात् ॥५७॥
तत्स्वप्ननगराकारं सधर्माऽप्यसधर्मकम् ।
शिवादनन्यमेवेत्थं स्थितमेव निरन्तरम् ॥५८॥

हे श्रीरामजी ! महाचेतन की यह अपनी निर्मल कान्ति अथवा अविद्या ही जगत् के रूप से स्फुरित होती है । वास्तव में तो निर्मल छाया इस प्रकार स्थित है कुछ भी स्फुरित नहीं होती है ॥५३॥

चिदाकाश में चिदाकाशरूप ही यथास्थित (ज्यों का त्यों स्थित) निज स्वच्छ विग्रह चेत्य-सा दृश्य-सा वैसे ही प्रतीत होता है जैसे स्वप्नों में यथास्थित चिदात्मा ही स्वाप्न पदार्थों के रूप से स्फुरित होता है ॥५४॥

हजारों वादियों द्वारा भी सद् वस्तु से अतिरिक्त का उपपादन न हो सकने तथा सत्य कारण का अभाव होने से चिद्व्योम स्वयं अपने को दृश्य रूप से देखता है, यही सिद्धान्त है ॥५५॥

सृष्टि के आरम्भ में निराकार चिदाकाश परमात्मा का ही दृश्य के रूप में भान होता है और वह भान स्वप्न, संकल्प और मिथ्याज्ञान में हुए भ्रम के समान भ्रम ही है ॥५६॥

दृश्य स्वप्न के समान सकल धर्मशून्य चिदाकाश ही है, क्योंकि उसमें तनिक भी धर्म का अस्तित्व नहीं है । वस्तुभूत परमार्थभूत चिदाकाश का विकारी भी तथा धर्मवान् भी आकार अविद्यारूप मल से प्रतीत होता है । वास्तव में उसमें आकार, विकार और धर्म नहीं ॥५७॥

स्वप्न नगर के तुल्य दृश्य प्रतीतितः साकार होता हुआ भी वास्तव में निराकार है और प्रतीतितः धर्मवान् होता हुआ भी निर्धर्मक है । अधिष्ठानरूप सन्मात्र से अभिन्न भी वह अज्ञजनों की दृष्टि से इस प्रकार जगत् के आकार से निरन्तर ही स्थित है ॥५८॥

दृश्यं स्वप्नाद्रिवत्स्वच्छं मनागपि न भिद्यते ।
तस्माच्चिद्व्योम चिद्व्योम्नः शून्यत्वं गगनादपि ॥५९॥

यदेव तत्परं ब्रह्म सर्वरूपविवर्जितम् ।
तदेवेदं तथाभूतमेव सर्गतया स्थितम् ॥६०॥

स्वप्नेऽनुभूयते चेतत्स्वप्ने ह्यात्मैव भासते ।
पुरादित्वेन न तु सत्पुरादि रचितं तदा ॥६१॥

स्वप्ने च प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारस्य स्मृतेस्तथा ।
न सत्ता तदिदं दृष्टमित्यर्थस्याऽत्यसंभवात् ॥६२॥

स्वप्न पर्वत के तुल्य स्वच्छ दृश्य स्वाधिष्ठान चिन्मात्र से रत्ती भर भी भिन्न नहीं है, इसलिए चिदाकाशमात्र रूप से परिशिष्ट चिदाकाश की आकाश की अपेक्षा भी अतिसूक्ष्मता सिद्ध है ॥५९॥

सकल रूपों से विरहित सच्चिदानन्द घन जो परम ब्रह्म है वही अपने सच्चिदानन्द घन स्वरूप से रत्तीभर भी च्युत न हो यथा स्थित ही सृष्टि के रूप से स्थित है ॥६०॥

[स्वप्न में दृश्य का सबको अनुभव होता है । स्वप्न में आत्मा ही नगर आदि के रूप में भासमान होता है ।

शङ्का—स्वप्नकाल में सत्य नगरादिका जीव द्वारा निर्माण हो, क्योंकि 'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते स हि कर्ता' (स्वप्नकाल में जीव रथों की तथा रथ योग्य मार्गों की सृष्टि करता है) ऐसी श्रुति है ।]

समाधान—स्वप्न में जीव द्वारा सत्य नगर आदि की रचना नहीं होती है, क्योंकि 'न तत्र रथा रथयोगा पन्थानो भवन्ति' (न वहाँ रथ होते हैं और न रथयोग्य मार्ग होते हैं) 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (स्वप्न की सृष्टि शुक्ति रजत, रज्जुसर्प आदि के समान माया मात्र है, क्योंकि उसका स्वरूप देश, काल आदि सम्पूर्ण धर्मों से अभिव्यक्त नहीं होता) इत्यादि श्रुति और सूत्रों ने स्वप्न में सृष्टि का प्रतिषेध किया है और उसे माया मात्र कहा है ॥६१॥

[यदि कहें कि 'स एवायं देवदत्तः' (वही यह देवदत्त है) 'तदिदं पूर्वदृष्टमेव मद्गृहम्' (यह वही पूर्वदृष्ट मेरा घर है) इत्यादि अबाधित प्रत्यभिज्ञा आदि से स्वप्न में भी पदार्थ सत्य हों ? इस शङ्का पर कहते हैं—]

स्वप्न में 'वही यह देखा है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय हो रहे गृह आदि पदार्थ का हृदय, कण्ठ, नाड़ीछिद्र आदि प्रदेश में किसी प्रकार की संभव न होने से प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, पदार्थ का संभव न होने से तद्विषयक संस्कार और स्मृति का असंभव स्पष्ट है ॥६२॥

तस्मादेतत्त्रयं त्यक्त्वा यद्भानं ब्रह्मसंविदः।
तस्य दृष्टार्थसादृश्यान्मूढैः स्मृत्यादितोहिता ॥६३॥
यथा यत्रैव लहरी वारिण्येति पुनःपुनः।
तत्रैवेति तथा तद्वदनन्या खे परे जगत् ॥६४॥
विधयः प्रतिषेधाश्च सर्वं एव सदैव च।
विभक्ताश्च विमिश्राश्च परे सन्ति न सन्ति च ॥६५॥
तस्मात्सद् ब्रह्म सर्वात्म किमिवाऽत्र न विद्यते।
सैव सत्तैव सर्वात्म चैतदप्येतदात्मकम् ॥६६॥

स्वप्न में प्रत्यभिज्ञा, संस्कार और स्मृति का संभव न होने के कारण इन तीनों का त्याग कर ब्रह्मसंवित् का ही निद्रा आदि दोषों से स्वप्न पदार्थ के रूप से अन्यथाभान होता है उसी में जाग्रत्-दृष्ट पदार्थों की तुल्यता की कल्पना कर अनुभव के व्यवहाराभास की तरह स्मृति आदि के सादृश्य की भी कल्पना कर उसमें स्मृत्यादिता भी मूढ़ों ने ही मानी है ॥६३॥

किसी जल में जैसे लहरी एक बार आती है उसी जल में वैसे ही अभिन्न लहरी पुनः पुनः आती है वैसी अवस्था में 'सैवेयं लहरी' ऐसा प्रत्यभिज्ञाभ्रम होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में कल्पनाधिष्ठान परम ब्रह्म में जगत् को भी भ्रमरूप समझना चाहिये अर्थात् सादृश्य से भी वही यह लहरी, वही यह दीपशिखा है इत्यादि प्रत्यभिज्ञाभ्रम लोक में प्रसिद्ध हैं ॥६४॥

परस्पर सदा ही सभी विधियाँ और प्रतिषेध अलग अलग विभक्त होकर और मिलकर परम ब्रह्म में हैं और नहीं भी हैं अर्थात् केवल कल्पनामात्र होने के कारण ही ब्रह्म में 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् (उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया), 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष सब प्राणों के साथ मन ओत-प्रोत हो केवल उसी को आत्मा जानो) इत्यादि जगत् की विधियाँ और 'नेह नानास्ति किंचन' (यहां भेद कुछ भी नहीं है) इत्यादि जगन्निषेध समानरूप से समावेश पाते हैं ॥६५॥

इसलिए सद् ब्रह्म सर्वात्म है, इसमें क्या नहीं है? वह ब्रह्मसत्ता ही सर्वात्म है इस कारण यह सब कुछ ब्रह्मसत्तात्मक (सदात्म) और सर्वात्मक है ॥६६॥

भ्रान्तस्य भ्रमणं भूमेर्न भूभ्रान्तैव वा गणैः।
न शाम्यति ज्ञातुरपि तथाऽभ्यासं विनाऽत्र दृक् ॥६७॥
शास्त्रस्याऽस्य तु यन्नाम वादनं तद्विनापरः।
अभ्यासो दृश्यसंशान्त्यै न भूतो न भविष्यति ॥६८॥
न जीवन्न मृतं चित्तं रोधमायाति संसृतेः।
अविनाभाविदेहत्वाद्बोधात्त्वेतन्न पश्यति ॥६९॥
सर्वदैवाऽविनाभावि चित्तं दृश्यशरीरयोः।
इह चाऽमुत्र चैतस्य बोधान्ते शाम्यतः स्वयम् ॥७०॥

क्रीड़ा के लिए भ्रमण कर रहे बालक की दृष्टि में वृक्ष, पर्वत, नदी आदि के समूह के साथ भूमिका भ्रमण होता है अन्य लोगों की दृष्टि में भूमि भ्रमणशील नहीं है। दोनों ही दृष्टियाँ सदात्मक हैं। भ्रमावस्था में भूमि नहीं घूमती है ऐसा ज्ञान रखनेवाले भी बालक जबतक स्थिरता का अभ्यास नहीं होता तबतक पहले गृहीत भूभ्रमणदृष्टि शान्त नहीं होती है वैसे ही भ्रमावस्था में जगद्भ्रान्तिदृष्टि भी स्थिरता के अभ्यास के बिना शान्त नहीं हो सकती है अर्थात् इस कारण उसमें सकल वादियों की सभी कल्पनाओं का अविरोध से समावेश और कल्पनाविहीन पुरुष का मोक्ष भी उपपन्न होता है, ॥६७॥

तत्त्वज्ञानी गुरु की सेवा आदि द्वारा प्रसन्न होकर उनके द्वारा इस मोक्षोपाय भूत शास्त्र का व्याख्यान कराकर जो उसके श्रवण का अभ्यास है, उसके बिना दृश्य की निवृत्ति के लिए न कोई दूसरा मार्ग हुआ और न होगा ॥६८॥

हाँ होता ऐसा यदि चित्त का निरोध शक्तिसाध्य होता। चित्त-निरोध का ही संभव नहीं है। चित्त का स्वरूप-संसार से अविनाभावी (पृथक् न होने वाला) है, अतः जाग्रत् और स्वप्न में जीवित अथवा सुषुप्ति में लय होने के कारण मरे हुए चित्त का प्रयत्न पूर्वक निरोध करने पर भी उसका संसार से निरोध नहीं हो सकता है, किन्तु इस शास्त्र के अभ्यास के अधीन बोध होने से ही बाधित होकर यह संसार को नहीं देखता है. इसलिए इस शास्त्र का अभ्यास ही दृश्य निवृत्ति का उपाय है ॥६९॥

जैसे चित्त सदा ही संसार से अविनाभावी है वैसे ही दृश्य रूप संसार भी चित्त और शरीर दोनों से अविनाभावी है। वे दृश्य और शरीर इस शास्त्र के अभ्यास से—प्रतिबन्ध न होने पर इसी जन्म में—तत्त्वबोध होने पर निवृत्त हो जाते हैं, प्रतिबन्ध रहने पर अन्य जन्म में प्रतिबन्ध का नाश होने पर बोध होने से निवृत्त होते हैं। इस विषय में भगवान् वेदव्यासजी का सूत्र है—'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (प्रतिबन्ध का अभाव होने पर इस जन्म में विद्या की उत्पत्ति हो सकती है प्रतिबन्ध होने

चित्तदृश्यशरीराणि त्रीणि शाम्यन्ति बोधतः।
पवनस्पन्दसैन्यानि कारणाभावतो यथा ॥७१॥
कारणं मौर्ख्यमेवाऽस्य तच्चाऽस्मादेव शास्त्रतः।
किंचित्संस्कृतबुद्धीनां वाचितादेव शाम्यति ॥७२॥
अबुद्धमुत्तरग्रन्थात्पूर्वं पूर्वं हि बुध्यते।
ग्रन्थं पदपदार्थज्ञः खेदवान्न निवर्तते ॥७३॥
उपायमिदमेवाऽतो विद्धि शास्त्रं भ्रमक्षये।
अनन्यसाधारणतां गतमित्यनुभूयते ॥७४॥
तस्मादस्मान्महाशास्त्राद्यथाशक्ति विचारयेत्।
भागौ द्वौ भागमेकं वा तेन दुःखक्षयो भवेत् ॥७५॥
आख्येयमिदमिति प्रमादाच्चेन्न रोचते।
तदन्यदात्मविज्ञानशास्त्रं किंचिद्विचारयेत् ॥७६॥
अनर्थेनाऽविचारेण वयः कुर्यान्न भस्मसात्।
बोधेन ज्ञानसारेण दृश्यं कर्तव्यमात्मसात् ॥७७॥
आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते।
नीयते तद्वृथा येन प्रमादः सुमहानहो ॥७८॥
अनुभूतमपि च नो स-
द्दृश्यमिदं द्रष्टृसहितमपि।
स्वप्ननिजमरणबान्धव-
रोदनमिव सदिव कचितमपि ॥७९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि०
परमार्थगीतास्वद्वैतयुक्तिर्नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७५॥

पर अन्य जन्म में भी होती है इसी जन्म में विद्या हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में ऐसा देखा जाता है) ॥७०॥

बोध से चित्त, दृश्य और शरीर तीनों वैसे ही निवृत्त हो जाते हैं। जैसे कारण के अभाव से (शुक्रास्त, शुक्रोदय आदि कारण के न रहने से) वायु, स्पन्दन और उनसे होने वाले मेघसैन्य शान्त हो जाते हैं ॥७१॥

चित्त, दृश्य और शरीर रूप त्रिकका कारण अज्ञान अर्थात् ब्रह्मात्म भाव का आवरण करने वाली अविद्या ही है और कुछ ही संस्कृतमति वाले पुरुषों का उक्त त्रिक बांचे गये इस शास्त्र से ही शान्त हो जाता है ॥७२॥

यदि पद पदार्थ ज्ञानवान् पुरुष बीच में ही थककर इसके बांचने से विरत न हो तो पहले-पहले समझ में न आया हुआ (अबुद्ध) ग्रन्थ का उत्तर ग्रन्थ से बोध होता है ॥७३॥

भ्रम की निवृत्ति में इसी शास्त्र को असाधारण उपाय आप जाने ऐसा ही ज्ञानियों द्वारा इसका अनुभव किया जाता है ॥७४॥

इस महाशास्त्र से दो भागों का (पूर्व और उत्तर दो भागों का) अथवा एक भाग का (आधे ग्रन्थ का) अपनी शक्ति के अनुसार अनुशीलन करना चाहिये। उससे अवश्य 'दुःख की निवृत्ति होगी' ॥७५॥

यह ऋषि-प्रणीत शास्त्र स्मृतिरूप है और स्मृति का मूल (उद्गम) श्रुति है। एतावता श्रुति का ही क्यों विचार न करें इस बुद्धि से प्रमादवश यदि यह शास्त्र किसी को रुचिकर न हो तो वह किसी अन्य श्रुतिरूप (उपनिषद, भाष्य आदि रूप) आत्मज्ञानप्रद शास्त्र का ही विचार करे। अध्यात्मशास्त्र के विचार से विमुख न हों, इसी में हमारा तात्पर्य है। इसी शास्त्र का अनुशीलन करें इसमें हमारा आग्रह नहीं है ॥७६॥

मनुष्य अविचाररूप अनर्थ से अपनी जिन्दगी बरबाद न करे। श्रवण आदि उपाय से उत्पन्न तत्त्वबोध से सम्पूर्ण दृश्य को आत्मसात् करना चाहिए, बाधपूर्वक आत्मा द्वारा प्राप्त करने योग्य बनना चाहिये। यहाँ पर 'देये त्रा च' इस सूत्र से साति प्रत्यय है जैसे कि 'ब्राह्मणसादिदमन्नं कर्तव्यम्' यहाँ पर है ॥७७॥

आयु के बीते हुए एक क्षण को भी यदि कोई चाहे सुवर्ण आदि की राशि के साथ सकल रत्नों से लौटा लूं, वापस कर लूं, तो पा नहीं सकता, ऐसी दुर्लभ आयु को जो वृथा गंवाता है उसके प्रमाद का क्या ठिकाना है। उसके लिए खेद है, महाखेद है ॥७८॥

प्रत्यक्ष अनुभूत भी, अन्तःकरण से उपहित जीव से सहित भी तथा स्वप्न में दैवात् दृष्ट अपने मरण पर चारों ओर बान्धवों द्वारा किये गये विलाप की तरह सत्-सा स्फुरित भी यह दृश्य सत् नहीं है, निपट मिथ्या ही है ऐसा ब्रह्माद्वैत का दिग्विजय का डिंडिमघोष है ॥७९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में अविद्योपाख्यानान्तर्गत विपश्चिदुपाख्यान में परमार्थगीतास्वद्वैतयुक्ति नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७५॥

१७६

श्रीराम उवाच

जगन्ति सन्त्यसंख्यानि भविष्यन्ति गतानि च।
तत्कथाभिः कथं ब्रह्मन्प्रबोधयसि मामिमम् ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

जगत्स्वप्नेषु शब्दार्थसंबन्धोऽवगतस्त्वया।
न नाम न च लोकेन व्यर्थं तत्कथनं ततः ॥२॥
या कथाऽवगतात्मभ्यां शाब्दार्थाभ्यां निगद्यते।
बुध्यते सेतरा नाऽन्तः सैवेह व्यवहारिणी ॥३॥

यदा विदितवेद्यः संस्त्रिकालामलदर्शनः।
भविष्यसि तदा तानि प्रत्यक्षेणैव भोत्स्यसे ॥४॥
स्वप्ने चिन्मात्रमेवाऽऽद्यं स्वयं भाति जगत्तया।
यथा तथैव सर्गादौ नाऽत्राऽन्यदुपपद्यते ॥५॥
अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे।
तेषां तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः ॥६॥

१७६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अतीत (भूत) और भविष्यत् असंख्य जगत् हैं उनके वृत्तान्तों से आप मुझे क्यों प्रबुद्ध करा रहे हैं अर्थात् मुझे बोध कराने के लिए उनका उल्लेख उपयोगी नहीं है ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शास्त्र में जगत्रूप स्वप्नों में शब्द और अर्थ का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध क्या आपको ज्ञात नहीं हुआ ? इसलिए इस शास्त्र को सुनाने के लिए नियुक्त पुरुष ने उनका कथन व्यर्थ नहीं किया। अर्थात् केवल वर्तमान दृश्य का ही शास्त्र में उपन्यास करना चाहिये अतीत अनागत अन्य किसी जगत् के उपन्यास की आवश्यकता नहीं है, यह आपके आक्षेप का निचोड़ निकलता है। वह ठीक नहीं है। पद और पदार्थ का सम्बन्ध, व्याप्तिग्रह तथा दृष्टान्त सिद्धि आदि अतीत व्यवहार के अधीन हैं, अतीत जगत् के उपन्यास के बिना विचारात्मक शास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए अतीत, आगे होने वाले ब्रह्माण्डों का तथा वर्तमान अन्य ब्रह्माण्डों का, शब्द-अर्थ के सम्बन्ध ग्रह आदि में उपयोग न होने के कारण, उपन्यास नहीं करना चाहिये इतना ही आक्षेप करना उचित हो तो कीजिये यों अनादर से उसका स्वीकार कर रहे-से भगवान् श्रीवसिष्ठजी उत्तर दिया है ॥२॥

जो कथा सुनिश्चित वाच्यवाचक भाव वाले शब्द-अर्थों द्वारा कही जाती है वही हृदयंगम होती, वही यहाँ व्यवहार में उपयोगी होती है अन्य नहीं, यों केवल लौकिक बुद्धि के अनुसार आलोचन करने पर आपने बहुत ठीक आक्षेप किया ॥३॥

जब आप ज्ञात-ज्ञेय होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान—तीनों कालों में निर्मल दृष्टि वाले होंगे तब उन सबकों (अतीत, अनागत, व्यवहित, अतिदूर के ब्रह्माण्डों को) प्रत्यक्ष से ही जानेंगे। अर्थात् यदि तत्त्व-ज्ञानियों में प्रसिद्ध त्रिकाल में निर्मल दर्शन वाले तत्त्व का पर्यालोचन करोगे तो सर्वत्र अपने ही द्रष्टा होने के कारण अतीत, भविष्यत्, व्यवहित (व्यवधान में स्थित), अति-दूरवर्ती अनन्त ब्रह्माण्डों की वर्तमान इस ब्रह्माण्ड से रञ्चमात्र भी विशेषता न होने के कारण आपका यह आक्षेप उठ ही नहीं सकेगा, इस आशय से कहते हैं ॥४॥

जैसे स्वप्न में आद्य चिन्मात्र का (परब्रह्म परमात्मा का) ही स्वयं जगत् के रूप से भान होता है वैसे ही अतीत, अनागत आदि सकल सृष्टियों के आदि में चिन्मात्र ही जगद्रूप से भान होता है, केवल इतना अंश ही उनका उपयोगी है अन्न उनकी अनन्त विचित्रता प्रकृत के उपयोगी नहीं है। अर्थात् तत्त्वज्ञानी की वर्तमान अन्यान्य ब्रह्माण्डों तथा भविष्यत् ब्रह्माण्डों में पुनरावृत्ति की शङ्का का निवारण करने के लिए—पूर्वोक्त ब्रह्माण्ड भी स्वप्नपञ्च-तुल्य होने से मूलाज्ञान के बाध से बाधित होते हैं, यह प्रतिपादन करने के लिए उनका भी शास्त्र में उदाहरण देना आवश्यक ही है ॥५॥

आकाश में परमाणु-परमाणु में असंख्य जगत् हैं, अतः उनके उन अनन्य व्यवहारों का पूर्ण रूप से वर्णन करने की किसमें क्षमता है। अर्थात् उनकी अनन्त विचित्रता क्यों प्रकृतोपयोगी नहीं है ऐसा यदि प्रश्न हो तो असंख्य होने के कारण उनकी विचित्रता की इयत्ता का शास्त्र में वर्णन करना दुष्कर है ॥६॥

अत्रैव मे पुरा प्रोक्तं मत्पित्रा पद्मजन्मना।
पद्मरेणुमताख्यानं शृणु तत्कथयामि ते ॥७॥
पुरा पृष्टो मया ब्रह्मा जगज्जालमिदं कियत्।
क्व वा भातीति वद मे ब्रह्मोवाच ततः स माम् ॥८॥

श्रीब्रह्मोवाच

ब्रह्मैवेदं मुने! सर्वं जगदित्यवभासते।
सतामनन्तं सत्त्वेन जगत्त्वेनाऽसतामपि ॥९॥
शुभं ममेदमाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम्।
ब्रह्माण्डपिण्ड इत्युक्तं ब्रह्माण्डाख्यानमेव च ॥१०॥
अस्ति खे खादनन्यात्मा चिद्व्योमपरमाणुकः।
शून्यरूपमिवाऽऽकाशे शुद्धः स्पन्द इवाऽनिले ॥११॥
सोऽपश्यदात्मना स्वप्न इव जीवत्वमात्मनि।
शून्यरूपमिवाऽऽकाशं पवनः स्पन्दनं यथा ॥१२॥
आकाशरूपमजहदेव जीवस्ततः स्वयम्।
अपश्यदहमित्येव रूपमाकाशरूपकम् ॥१३॥

'अणु-अणु में असंख्य जगत् हैं' इस विषय में कमल के पराग से व्याप्त शरीर वाले मेरे पिता श्रीब्रह्माजी ने जो आख्यान पहले कभी मुझसे कहा था उसे मैं आपसे कहता हूं, सुने ॥७॥

पहले किसी समय मैं श्रीब्रह्माजी से पूछ बैठा कि भगवन्, यह जगज्जाल कितना विशाल है और कहाँ पर इसका भान है यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये। इस पर श्रीब्रह्माजी ने मुझसे कहा ॥८॥

श्रीब्रह्माजी ने कहा—हे मुने! ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् रूप से भासता है। ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्मसत्ता से यह अनन्त है और अज्ञानियों की दृष्टि में भी जगद्रूप से अनन्त है ॥९॥

कानों के लिए आभूषण स्वरूप मेरे इस सुन्दर आख्यान को, जो ब्रह्माण्ड पिण्ड और ब्रह्माण्डाख्यान इन यथार्थ नामों से प्रसिद्ध है, सुनो ॥१०॥

आकाश में शून्यत्व के समान और वायु के शुद्ध स्पन्दन के तुल्य आकाश से अभिन्नस्वरूप चिदाकाश-परमाणु है। उसने (चिदाकाश-परमाणु ने) अपने तात्त्विक स्वरूप के अदर्शनरूप निद्रावश स्वप्न की तरह अपने आत्मा में अपने से समष्टिजीवत्व वैसे ही देखा जैसे आकाश अपने में स्वाभिन्न शून्यरूप देखता है या जैसे वायु अपने में स्पन्दन देखता है ॥११, १२॥

तदुपरान्त अपनी अविकारिता, असंगता, पूर्णता और सूक्ष्मता का त्याग न कर रहे उस जीव ने आकाशरूप अहंकाररूप से अपना स्वरूप देखा ॥१३॥

अहंकारस्त्वहंबुद्धिरित्येवाऽपश्यदात्मनि।
एकनिश्चयनिर्माणमयी मायानुरूपिणी ॥१४॥
बुद्धिर्मनोऽहमित्येवं स्वप्ने पश्यदसन्मयम्।
नमयन्त्यात्मनाऽऽत्मानमविकल्पं विकल्पनैः ॥१५॥
अपश्यत्तन्मनः स्वप्ने देहे पञ्चेन्द्रियं ततः।
अनाकारं घनाकारं स्वप्नाद्रित्वमिवाऽज्ञधीः ॥१६॥
ददर्श स मनोदेहो वपुस्त्रिभुवनात्मकम्।
खात्मा खात्मैव निर्भित्ति भित्तिभासुरमाततम् ॥१७॥
अनेकभूतवलितं नानास्थावरजङ्गमम्।
कलनाकालकलितं कल्पितान्योन्यसङ्गमम् ॥१८॥
स्वप्ने प्रत्येकमेवाऽत्र पश्यत्याऽऽदर्शविम्बितम्।
इव त्रैलोक्यनगरं नवरङ्गमनोहरम् ॥१९॥
अथ प्रत्येकमत्राऽपि नवरङ्गमनोहरम्।
त्रिजगद्वेत्ति हृदये स्वादर्श इव बिम्बितम् ॥२०॥

उस अहंकाररूप ने अपने में 'मैं बुद्धि हूं' यों अपने को बुद्धिरूप से देखा वह बुद्धि एक निश्चय निर्माणमयी (निश्चयात्मिका) असत् पदार्थों की भ्रान्ति उत्पन्न करने के कारण माया की अनुरूपिणी ॥१४॥

विकल्पाभासों के आरोपण द्वारा अविकल्प आत्मा को स्वयं निम्न स्तर पर पहुंचा रही बुद्धि ने स्वप्न 'मैं मन हूँ' यों अपने को असन्मय मनरूप देखा ॥१५॥

तदनन्तर उक्त निराकार मन ने स्वप्न में देहवर्ती पाँच ज्ञानेन्द्रियों को वैसे ही देखा जैसे कि अज्ञानावृत जीव-चैतन्य स्वप्न में निराकार आत्मचैतन्य को घनाकार स्वप्न पर्वत के रूप में देखता है ॥१६॥

उस मनदेह चिदाकाश परमाणु ने इस प्रकार समष्टि रूप होकर भित्तिशून्य (भेदशून्य) होते हुए भी भित्तियों से पूर्ण (भेदपूर्ण) विस्तृत त्रिभुवन स्वरूप विराट शरीर को, जो अनेकों भूतों से वेष्टित, विविध स्थावर-जंगम जीवों से युक्त, कल्पना और काल से व्याप्त तथा परस्पर अनेकों के संग की कल्पना करने वाला है, देखा ॥१७, १८॥

इस स्वप्न में प्रत्येक व्यष्टि जीव दर्पण में प्रतिबिम्बित ऐसे, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, भोक्ता, भोग्य, भोग, कर्त्ता, कार्य और क्रिया—इन तीन त्रिपुटी रूप नौ रंगों से मनोहर त्रैलोक्यरूप नगर को देखता है ॥१९॥

अनन्तर स्वप्न के समान इस जाग्रत् में भी प्रत्येक व्यष्टि जीव आदर्श तुल्य हृदय में प्रतिबिम्बित ऐसे, पूर्वोक्त त्रिपुटीरूपी नौ रंगों से मनोहर इस त्रिजगत् का अनुभव करता है ॥२०॥

परमाणोः परमाणोरिति सन्ति तनूदरे।
अतनूनि जगन्त्युच्चैर्घनानीव च तान्यपि ॥२१॥
अविद्येयमनन्तेयमविद्यात्वेन चेतिता।
ब्रह्मत्वेन परिज्ञाता भवति ब्रह्म निर्मलम् ॥२२॥
एवं द्रष्टाऽपि यः स्वप्नजालं दृष्टे न किंचन।
कोऽत्र द्रष्टा कुतो दृश्यं क्व द्वैतं क्व च कारणम् ॥२३॥
सर्वं निःशान्तमाभातं खात्म निर्भित्ति केवलम्।
ब्रह्मात्मनि स्थितं स्वच्छमाद्यन्तपरिवर्जितम् ॥२४॥
ब्रह्माण्डलक्षनिचयाः परमात्मनीति
नित्यं स्थिता निपुणमन्यवदप्यनन्ये।
वारिण्यवारितविसारितरङ्गवेगा-
ल्लोलं स्थिताम्बुपरमाणुचया यथैते ॥२५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे ब्रह्मगीतासु ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७६॥

इस प्रकार जीव-भेदों से विभिन्नरूप सब चित्-परमाणुओं के अति सूक्ष्म उदर में भी (वर्णित रीति से कल्पित महान् जगत् विद्यमान हैं। और वे जीव समूहों और पृथिवी आदि के संघातों से निबिड से हैं ॥२१॥

अविद्यारूप से ज्ञात, यह सब स्वतत्त्वाज्ञानरूपा अविद्या ही है ब्रह्मरूप से परिज्ञात यह निर्मल ब्रह्म ही हो जाती है ॥२२॥

सप्रकार ब्रह्मरूप से देखने पर तो जो जगत्स्वप्न जाल का द्रष्टा है वह भी कुछ नहीं है। यहाँ पर कौन द्रष्टा है, कहाँ से दृश्य है, कहाँ द्वैत है और कहाँ द्वैत का कारण है ॥२३॥

केवल आकाशरूप पूर्णरूप से प्रशान्त आदि-अन्तवर्जित स्वच्छ भेदशून्य ब्रह्म ही सकल रूप से चारों ओर भासित हो आत्मा में स्थित है ॥२४॥

जब तक अज्ञान निद्रा है तब तक लाखों ब्रह्माण्डों की राशियाँ नित्य अनन्यरूप (अभिन्नरूप) परमात्मा में वैसे ही भली भाँति स्थित हैं। जैसे समुद्र में बड़ी-बड़ी तरङ्गों के अनिवार्य वेगवश चञ्चल हुए जल के असंख्य परमाणु समूह स्थित होते हैं ॥२५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीता में ब्रह्माण्डोपाख्यान नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७६॥

१७७

श्रीराम उवाच

अकारणकमेवेदं जगद्ब्रह्म परात्पदात्।
यदि प्रवर्तते नाम स्वप्नसंकल्पनादिवत् ॥१॥
तदकारणतः सिद्धेः संभवेऽन्यदकारणम्।
कथं न जायते वस्तु क्वचित्किंचित्कदाचन ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

यद्यथा कल्पितं येन स संपश्यति तत्तथा।
कल्पनैवाऽन्यथा न स्यात्तादृक्कारणविच्युतेः ॥३॥

१७७

[यह स्वप्न तुल्य सृष्टि अकारण ही है, ऐसा पीछे अनेक बार जो कह आये हैं उस पर श्रीरामचन्द्रजी गेहूँ, धान आदि कार्य की भी कृषि, वृष्टि आदि कारण के बिना उत्पत्ति होगी यों उत्पत्ति-प्रसङ्ग पर आशङ्का करते हैं।]

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—मुनिवर, यदि परमपद से यह जगद्रूप ब्रह्म स्वप्न, संकल्प आदि के समान निष्कारण ही प्रवृत्त होता है तो अकारण ही सकल अभिलषित पदार्थों की सिद्धि होने पर अन्य गेहूँ, धान आदि खेतिहरों की कोई वस्तुएँ कभी बीज, जोतने आदि कारण के बिना ही क्यों नहीं होतीं ॥१, २॥

[हम बीज और अङ्कुर आदि की कल्पना प्रसूत कार्य-कारणता का, जो व्यवहार की व्यवस्था करने वाली है, निवारण नहीं करते, किन्तु जगत् में सत्यता के स्थापन से तत्त्वज्ञान की व्यर्थता का प्रतिपादन करने वाले ब्रह्मातिरिक्त प्रधान, परमाणु आदि अश्रौत (श्रुति द्वारा अप्रतिपादित) कारण का, जिसकी विभिन्न वादियों ने कपोल कल्पना कर रक्खी है, निराकरण करते हैं जिससे कि जगत् की एकमात्र ब्रह्मविवर्तता की सिद्धि से तत्त्वज्ञान से बाध होने पर कैवल्य सिद्धि हो इस आशय से श्रीवसिष्ठजी उक्त शङ्का का समाधान करते हैं।]

यथेदं कल्पितं दृश्यं मनसा येन तत्तथा।
वेत्त्यसौ यादृगन्येन कल्पितं वेत्त्यसौ तथा ॥४॥
कल्पनाऽकल्पनात्मैकं तच्च ब्रह्म स्वभावतः।
कल्पनात्मेदृशं जन्तुर्यथा केशनखादिमान् ॥५॥
अकारणपदार्थत्वं सकारणपदार्थता।
ब्रह्मणि द्वयमप्यस्ति सर्वशक्त्यात्म तद्यतः ॥६॥
यतः स्याद् ब्रह्मणस्त्वन्यत्क्वचित्किंचित्कदाचन।
तत्कारणविकल्पेन संयोगस्तस्य युज्यते ॥७॥
यत्र सर्वमनाद्यन्तं नानानानात्म भासते।
ब्रह्मैव शान्तमेकात्म तत्र किं कस्य कारणम् ॥८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! अनादि व्यवहार में जिसने जिस जिस पदार्थ की जैसे दृढाभ्यास से अटल (कल्पित कार्यकारणभाव बद्ध) कल्पना की वह उसको वैसे ही कार्य या कारणरूप से देखता है। अन्यथा कल्पित कार्यकारणभाव को तोड़ने से व्यवहार में भी व्यावहारिक नियमों का अपलाप होने पर कोई कल्पना ही नहीं होगी, अतः अभ्यास के बिना ही सबकी मुक्ति का प्रसङ्ग आवेगा ॥३॥

[अतएव कल्पना करने वाले पुरुष की बुद्धि के अनुसार व्यवस्थित ही वस्तु अनुभव में आती है; ऐसा कहते हैं—]

जिस पुरुष ने मन से इस दृश्य की जिस तरह की कल्पना की वह उसको वैसा जानता है और दूसरे ने जिस तरह की कल्पना की वह वैसा अन्यरूप जानता है। अतएव भाट्टवार्निक में कहा है 'परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनो। कुणपः कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विडम्बनाः।' अर्थात् एक ही स्त्रीशरीर में परिव्राजक की 'शव' बुद्धि, कामी पुरुष की 'कामिनी' बुद्धि और कुत्ते की 'भक्ष्य' बुद्धि में तीन विडम्बनाएं होती हैं ॥४॥

[तो क्या बिना किसी आलम्बन के ही कल्पना होती है ? इस प्रश्नपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—]

जैसे कल्पनात्मक चेतन पुरुष केश, नख आदि अचेतन युक्त प्रतीत होता है वैसे ही कल्पना-कल्पनात्मक स्वभाव एक ब्रह्म ही यह जगत् है अर्थात् ब्रह्म में अचित् अंश कल्पित और चित् अकल्पित है ये दोनों मिले अंश ही जगत् है ॥५॥

अतएव वास्तविक दृष्टि से अकारण पदार्थता और कल्पना दृष्टि से सकारण पदार्थता दोनों का ही ब्रह्म में अविरोध से अस्तित्व है, क्योंकि वह सर्वशक्तिस्वरूप है ॥६॥

नेह प्रवर्तते किंचिन्न च नाम निवर्तते।
स्थितमेकमनाद्यन्तं ब्रह्मैव ब्रह्म खात्मकम् ॥९॥
किं कस्य कारणं केन किमर्थं भवतु क्व वा।
किं कस्य कारणं केन किमर्थं माऽस्तु वा क्वचित् ॥१०॥
नेह शून्यं न वा शून्यं न सन्नाऽसन्न मध्यता।
विद्यते न महाशून्ये न नेति न न नेति च ॥११॥
इदं न किंचित्किंचिद्वा यन्नामाऽस्त्यथ नाऽस्ति वा।
सर्वं ब्रह्मैव तद्विद्धि यत्तथैवाऽतथैव तत् ॥१२॥

यदि अज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म से अन्य कहींपर कुछ भी कदाचित् प्रतीयमान होतो कारणों के विकल्प से उसका संयोग ठीक है, मेरे उसका प्रतिपादन न करने में यही भाव है कि तत्त्वज्ञान हो सप्रयोजन है एकमात्र तात्त्विक दृष्टि के पक्षपात से मैंने उसकी स्थापना की है दूसरा रहस्य कुछ नहीं है ॥७॥

जहाँपर तत्त्वदृष्टि से नाना अनानारूप सब कुछ आदि-अन्तरहित शान्त अद्वितीय ब्रह्म ही भासमान होता है वहाँ पर कौन किसका कारण है ॥८॥

न तो तब ज्ञानकाल में कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त होता है एक अद्वितीय आदि-अन्त-विहीन चिदाकाशात्म ब्रह्म ही केवल निज स्वरूप में स्थित है ॥९॥

जब यथार्थ में अकाणता ही है और कारण की केवल कल्पना ही है तब कौन किसका किससे किस प्रयोजन के लिए किस अधिकरण में कारण होगा अथवा कौन किसका किससे किसलिए किसमें कारण न होगा ॥१०॥

इस ब्रह्म-शून्यता और अशून्यता उभयविध का अभाव है, क्योंकि अशून्यता शून्य की अपेक्षा से होती है अतएव न शून्य है, न अशून्य है, न सत् है, न असत् है और न सदसत् है। महाशून्य में 'ननेति ननेति' यो कथन होता है ॥११॥

जो कुछ नहीं है, शून्य है, अथवा कुछ है; जो है अथवा नहा है ऐसे इस जगत् को आप ब्रह्म ही जानिये, क्योंकि वह ब्रह्म अध्यारोप में सबसे अनुगत होने के कारण वैसा ही है और अपवाद में सबसे व्यावृत्त होने के कारण वैसा नहीं ही है। अर्थात् सकल जगत् की ब्रह्मैकघनता से शून्यता है, शून्यैकरसता से शून्यता नहीं है ॥१२॥

श्रीराम उवाच

अतज्ज्ञविषये ब्रह्मन्कार्ये कारणसंभवे ।
किमकारणतात्म स्यात्कथं वेति वद प्रभो ॥१३॥

वसिष्ठ उवाच

अतज्ज्ञो नाम नाऽस्त्येव तावत्तज्ज्ञजनं प्रति ।
असतो व्योमवृक्षस्य विचारः कीदृशस्ततः ॥१४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! अज्ञानियों के ज्ञानगोचर पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि रूप कार्य में उनके अवयवों की परम्परा की चरम सूक्ष्मता रूप परमाणु और सत्त्व आदि गुणरूप कारणों का संभव होने पर जन्य पदार्थ अकारण क्यों है, अथवा अद्वितीय ब्रह्म का परिशेष कैसे है ? हे प्रभो ! यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ।

आशय यह है कि जैसे अध्यारोप और अपवाद अज्ञों की दृष्टि से हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष अज्ञानियों को प्रबुद्ध करने के लिए उनका अङ्गीकार करते हैं; वैसे ही अज्ञानियों के संमत प्रधान, परमाणु आदि से जन्य कारण-भाव का संभव भी वे ज्ञानी क्यों नहीं स्वीकार करते, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं ॥१३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! तत्त्वज्ञानी जन की दृष्टि में अज्ञानी कोई अतिरिक्त है ही नहीं । ऐसी स्थिति में असत् आकाश वृक्ष के विषय में विचार करना कैसा ? यदि ब्रह्म से भिन्न प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना करने वाला कोई अज्ञानी सिद्ध होता जब 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वम-भवत्' इस श्रुति द्वारा प्रदर्शित रीति से ब्रह्म ही अपने स्वरूप के अज्ञान से अज्ञ होता है उसी के तत्त्वज्ञान में उपयोगी शास्त्र तब अध्यारोप और अपवादरूप युक्ति से ही तत्त्वज्ञान में उपयुक्त होता है न कि प्रधान, परमाणु आदि की कल्पना से यों दोनों में विषमता है इस आशय से श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजी के प्रश्न का समाधान करते हैं ॥१४॥

तत्त्वज्ञानी लोग एकबोधमय, शान्त विज्ञानघनरूपी हैं, क्योंकि 'तद्यथा सैन्धवघनोऽन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा विज्ञानघन एव प्रज्ञानघन एव' अर्थात् जैसे नमक के ढेले का न कुछ बाहर है न भीतर है वह सारा का सारा रसघन है वैसे ही यह आत्मा विज्ञानघन ही है प्रज्ञानघन ही है ऐसी श्रुति है । इसलिए

एकबोधमयाः शान्तविज्ञानघनरूपिणः ।
तज्ज्ञास्तेषामसद्रूपे कथमर्थे विचारणा ॥१५॥

अतज्ज्ञत्वं च बोधेऽन्तरवभाति तदङ्गता ।
गते स्वप्नसुषुप्तेऽन्तरिव निद्रात्म केवलम् ॥१६॥

तथाप्यभ्युपगम्याऽपि मूर्खनिश्चय उच्यते ।
मयेदमणु सर्वात्म यस्माद् ब्रह्म निरामयम् ॥१७॥

उनकी असत् पदार्थ के विषय में विचारणा कैसे संभव है ॥१५॥

अज्ञान आदि सकल जगत् के आरोप का अधिष्ठान जो चिन्मात्र है वही ब्रह्म है और उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यों अनुभव करनेवाले तार्किक की आत्मा में वारण कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञता प्रबोधरूप आत्मा के अन्दर भासित होती है । यदि वैशेषिकों द्वारा कल्पित यह आत्मा जड़ है तो वह आत्मा में अज्ञान का अनुभव कैसे करेगा ? अतः आत्मा अज्ञान का अधिष्ठान चिद्रूप है यह इसी अनुभव से सिद्ध है । और जगत् केवल अज्ञानात्मा ही है; इसलिए उसका अङ्ग है । जैसे स्वप्न अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त तत्त्वज्ञानी नहीं है ऐसी सभावना कैसे करते हैं, क्योंकि तार्किक और पामर जन 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' 'मैं ब्रह्मज्ञानी नहीं हूँ' यों अपने में ब्रह्मभिन्नता और अब्रह्मज्ञता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, ऐसी स्वयं आशङ्काकर उक्त अनुभव से ही तार्किक और अज्ञों की ब्रह्मता का समर्थन करते हैं और सुषुप्ति दोनों निद्रा के अन्दर निद्राङ्गता को प्राप्त हुए केवल निद्रारूप ही है हैं उनका स्वरूप निद्रा से भिन्न नहीं है वैसे ही जगत् का स्वरूप भी अधिष्ठान चिद्रूप से अतिरिक्त नहीं है । ज्ञान-स्वभाव आत्मा में स्वभावविरुद्ध अज्ञान आरोप के बिना नहीं रह सकता, इसलिए अज्ञान आदि जगत् के आरोप की अधिष्ठानता आत्मा में इसी अनुभव से सिद्ध है, यह अर्थ है ॥१६॥

यद्यपि अज्ञानादि जगत् की अधिष्ठानतारूप सर्वात्मकता ही ब्रह्म का लक्षण है तथापि मूर्ख जनता को बोधित करने के लिए मूर्खबुद्धि का अनुसरण कर शुद्ध ब्रह्म को समझाने के लिए मैंने यह ब्रह्म का तटस्थलक्षण-रूप अज्ञनिश्चय कहा है । ब्रह्म का शुद्ध निरामय आनन्दैक-रसत्वरूप स्वरूपलक्षण तो अति सूक्ष्म होने से अज्ञानियों की समझ में नहीं आ सकता है ॥१७॥

सन्त्यकारणका एव सन्ति कारणजास्तथा।
भावाः संविद्यथा यस्मात्कल्प्यते लभ्यते तथा ॥१८॥

सर्वकारणसंशान्तौ सर्वानुभवशालिनाम्।
सर्गस्य कारणं नास्ति तेन सर्गस्त्वकारणः ॥१९॥

हृदयंगमतात्यक्तमीश्वरादि प्रकल्प्यते।
यदत्र किंचिद्दुःस्वादु व्यर्थं वाग्जालमेव तत् ॥२०॥

अन्यथाऽनुपपत्त्यैव स्वप्नाभा कलनादृते।
स्थूलाकारात्मिका काचिन्नास्ति दृश्यस्य दृश्यता ॥२१॥

स्वप्नपृथ्व्याद्यनुभवे किमबुद्धस्य कारणम्।
चित्स्वभावादृते ब्रूहि स्वप्नार्थो नाम कीदृशः ॥२२॥

स्वप्नार्थो ह्यपरिज्ञातो महामोहभरप्रदः।
परिज्ञातो न मोहाय यथा सर्गास्तथैव च ॥२३॥

शुष्कतर्कहठावेशाद्दूराऽप्यनुभवोज्झितम्।
कल्प्यते कारणं किंचित्सा मौर्ख्याभिनिवेशिता ॥२४॥

अग्नेरौष्ण्यमपां शैत्यं प्राकाश्यं सर्वतेजसाम्।
स्वाभावो वाऽखिलार्थानां किमबुद्धस्य कारणम् ॥२५॥

शुक्तिरजत, मरुनदी, रज्जुसर्प आदि पदार्थ अकारण ही हैं। संवित् द्वारा उनकी कारणजन्यत्वेन कल्पना करनेपर वे सकारण हैं अन्यथा कल्पना करनेपर अकारण हैं यों मिट्टी से निर्मित गौरी और गणेश की मातृता और पुत्रता के तुल्य कल्पना के अनुसार ही उसकी व्यवस्था है। संवित् की जैसी कल्पना की जाती है वैसी ही अकारणता या सकारणता की प्राप्ति होती है, अर्थात् अज्ञानी की बुद्धि के अनुसार जगत् को अन्यथा मानकर सृष्टि के आदि में कारण है ऐसा स्वीकार करने पर भी यक्ष के अनुरूप बलि होती है इस न्याय के अनुसार मिथ्याभूत प्रपञ्च की मिथ्या माया ही कारण होगी फिर भी वास्तविक अद्वैत की क्षति नहीं है ॥१८॥

सकल कारणों की निवृत्ति होनेपर सकल तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में सृष्टि का कोई कारण नहीं है। इस से सृष्टि अकारण है, अर्थात् तत्त्वदृष्टि से सदा अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही है कदाचित् भी अणुमात्र भी इस में हेर-फेर नहीं है इसलिए सृष्टि के कारण का (परमाणु आदि का) कोई निरूपण नहीं कर सकता ॥१९॥

इस प्रकार के स्वप्न, गन्धर्वनगर, मरुमरीचि का सदृश जगत् में सत्यता सिद्ध करने के आग्रह से वैशेषिक आदि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध मायोपहित ब्रह्म से भिन्न तटस्थ ईश्वर, प्रधान, परमाणु कुछ कारण की कल्पना करते हैं पर वह प्रत्यक्ष श्रुति और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने और वेदान्तशास्त्र में विविध युक्तियों से निराकृत होने के कारण कडुवा, सृष्टि करनेवाले ईश्वर अथवा भोग करनेवाले जीव का पुरुषार्थप्रद न होने से निरर्थक, अतएव ज्ञानियों का अहृदयंगम वृथा कण्ठशोषणकरनेवाला वाग्जाल वागविलास ही है ॥२०॥

ज्ञानबाध्यता का अन्यथा संभव न होने से ही कल्पना के सिवा दृश्य की स्वप्नतुल्य स्थूलाकाररूप कोई दृश्यता नहीं है, अर्थात् ज्ञानबाध्यता की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण भी जगत् स्वप्नतुल्य ही है, इसलिए उस के लिए कार्यकारण-कल्पना का अवसर नहीं है ॥२१॥

सुप्त पुरुष के स्वप्न के पृथिवी आदि पदार्थों के अनुभव में क्या कारण है? चित्स्वभाव के सिवा स्वप्न पदार्थ क्या है, कहिये ॥२२॥

स्वप्न पदार्थ जब तक अज्ञात रहता है अर्थात् यह स्वप्न है वास्तव नहीं है यों ज्ञात नहीं होता है तभीतक महामोहराशि का प्रदान करता है जब यह स्वप्न है यों ज्ञात हो जाता है तब मोह नहीं करता वैसे ही सर्ग भी जबतक उस की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता तभी तक मोहप्रद है उन की असत्यता का ज्ञान होने पर मोह नहीं करते हैं ॥२३॥

शुष्क तर्क के दुराग्रह से अनुभव में आरूढ़ न होने वाला जो किञ्चित् कारण प्रधान, परमाणु आदि कल्पित होता है, वह मूर्खतावश एकमात्र दुराग्रह ही है ॥२४॥

अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, सकल तेजों की प्रकाशता जैसे स्वभाव है वैसे ही अज्ञात ब्रह्म का स्वभाव ही सब पदार्थों का कारण है। भाव यह है कि यदि कारण अपेक्षित है तो अज्ञानोपहित आत्मा का स्वभाव ही कारण हो ॥२५॥

किं ध्यातृशतलब्धस्य ध्येयस्यैकस्य कारणम् ।
किंच गन्धर्वनगरे पुरे भित्तिषु कारणम् ॥२६॥

धर्माद्यमुत्राऽमूर्तत्वान्मूर्त्ते देहे न कारणम् ।
देहस्य कारणं किं स्यात्तत्र सर्गादिभोगिनः ॥२७॥

भित्त्यभित्त्यादिरूपाणां ज्ञानस्य ज्ञानवादिनः ।
किंकारणमनन्तानामुत्पन्नध्वंसिनां मुहुः ॥२८॥

स्वभावस्य स्वभावोऽसौ किल कारणमित्यपि ।
यदुच्यते स्वभावस्य सा पर्यायोक्तिकल्पना ॥२९॥

तस्मादकारणा भ्रान्तिर्भावा भान्ति च कारणम् ।
अज्ञे ज्ञे त्वखिलं कार्यं कारणाद्भवति स्थितम् ॥३०॥

सैकड़ों ध्यानकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त हुए एक ध्येय का क्या कारण है ? और गन्धर्वनगर, स्वप्नपुर और भित्तियों में क्या कारण है, अर्थात् मनोरथ से कल्पित नगर की तरह ध्याता के भेद से व्यवस्थित आकारवाला होने के कारण भी इस का सर्वसाधारण एक कारण नहीं कहा जा सकता है ॥२६॥

निराकार होने के कारण धर्म आदि परलोक में मूर्त साकारदेह के कारण नहीं हैं फिर स्वर्ग आदि का भोग करनेवाले शरीर का क्या कारण होगा ॥२७॥

विज्ञानवादी का ज्ञान भी भित्तियाँ (विशाल दीवार आदि) और अभित्तियाँ उन से विलक्षण परमाणु आदि रूप मुहुर्मुहुः उत्पन्न होकर ध्वंस होनेवाले अनन्त पदार्थों का उपादान कारण नहीं है, अर्थात् विज्ञानवादी के मत में भी अमूर्त और क्षणिक विज्ञान में मूर्त अक्षणिक की कारणता दुर्वच है ॥२८॥

अंकुरादि स्वभाव का काल, खेत, जलादि सहित स्वभाव कारण है ऐसा जो चार्वाकों की उक्ति है वह भी बीज और स्वभाव इन दो पदों के अर्थ में पार्थक्य न होने से 'अङ्कुरस्वभावस्य' इस स्वभावपद में षष्ठ्यर्थ का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए दोनों के पर्याय होने के कारण दोनों का साथ प्रयोग नहीं हो सकता, अतः यह कल्पना व्यर्थ है ॥२९॥

सब पदार्थ और उन के कारण ये सब अज्ञानी में निष्कारण भ्रान्ति ही है । तत्त्वज्ञ में तो सन्मात्र रूप से स्थित ही कार्य सन्मात्र रूप कारण से ही चित् के चमत्कार रूप से आविर्भूत होता है और तिरोहित होता है, उस से अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह भाव है ॥३०॥

यद्वत्स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्ने द्रव्यापहारिभिः ।
न दुःखाकरणं तद्वज्जीवितं तत्त्वदर्शनात् ॥३१॥

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं चिद्गगनं त्विदम् ।
स्वरूपं स्वप्नवद्भाति नाऽन्यदत्रोपपद्यते ॥३२॥

अन्या न काचित्कलना दृश्यते सोपपत्तिका ।
अस्मान्न्यायादृते कस्माद् ब्रह्मैवैषाऽनुभूतिभूः ॥३३॥

ऊर्म्यावर्तद्रवत्वादि शुद्धे जलघने यथा ।
तथेदं सर्गपर्यायं ब्रह्मणि ब्रह्म भासते ॥३४॥

स्पन्दावर्तविवर्तादि निर्मले पवने यथा ।
तथाऽयं ब्रह्मपवने सर्गस्पन्दोऽवभासते ॥३५॥

जैसे स्वप्न में डाकुओं द्वारा किया गया वध, बन्धन आदि प्रबुद्ध पुरुष को स्वप्न मिथ्यात्व का ज्ञान होने से दुःखदायी नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञान के अनन्तर जीवन भी दुःखप्रद नहीं होता, अर्थात् ज्ञानी को अकृत करोड़ों अपराधों से भी मन में दुःख नहीं होता ॥३१॥

सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुआ यह दृश्य चिदाकाश-स्वरूप के तुल्य भासमान होता है, इसलिए इस में अन्य (दुःख) और दुःख के कारण की उपपत्ति नहीं होती है ॥३२॥

इस युक्ति के सिवा और कोई कल्पना युक्तियुक्त नहीं दिखाई देती, इसलिए यह जगत्कल्पना ब्रह्मानुभूति ही है ॥३३॥

ब्रह्म में यह सर्गपर्याय ब्रह्म वैसे ही भासमान है जैसे शुद्ध जल राशि में लहर, भँवर, द्रवता आदि भासमान हैं ॥३४॥

ब्रह्मरूपी वायु में सृष्टिरूपी स्पन्द भासमान है जैसे निर्मल वायु में स्पन्दन, आवर्त, विवर्त आदि भासमान हैं ॥३५॥

यथाऽनन्तत्वसौषिर्यंशून्यत्वादि महाम्बरे।
स सन्नासन्नबोधात्म तथा सर्गः परापरः ॥३६॥

एषु निद्रादिकेष्वेते सूपलब्धा अपि स्फुटम्।
भावा असन्मया एवमेतेऽनन्यात्मका यतः ॥३७॥

सर्गप्रलयसंस्थानान्येवमात्मनि चिद्घने।
सौम्ये स्वप्नसुषुप्ताभा शुद्धे निद्राघने यथा ॥३८॥

स्वप्नात्स्वप्नान्तराण्यास्ते निद्रायां मानवो यथा।
सर्गात्सर्गान्तराण्यास्ते स्वसत्तायामजस्तथा ॥३९॥

पृथ्व्यादिरहितोऽप्येष ब्रह्माकाशो निरामयः।
अतद्वाँस्तद्वदाभाति यथा स्वप्नानुभूतिषु ॥४०॥

स्थिता यथाऽस्यां पश्यन्त्यां शब्दा घटपटादयः।
जाताजाताः स्थिताः सर्गास्तथानन्ये महाचिति ॥४१॥

पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती यथा भाति तथैव च।
यथा शब्दास्तथा सर्गाश्चितैव चिति चिन्मयाः ॥४२॥

किं शास्त्रकं तत्र कथाविचारै-
निर्वासनं जीवितमेव मोक्षः।
सर्गे स्वसत्येवमकारणत्वा-
त्सत्येव नास्त्येव न नाम काचित् ॥४३॥

एषा च सिद्धेह हि वासनेहि
सा बोधसत्तैव निरन्तरैका।
नानात्वनानार्हितैव भाति
स्वप्ने चिदेवेह पुरादिरूपा ॥४४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु सत्यवर्णनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७७॥

सृष्टि भी वैसे ही परात्पररूप है उस से भिन्न नहीं है, जैसे महाकाश में अनन्तता, छिद्रता, शून्यता आदि धर्म हैं वे सब आकाशरूप हैं ॥३६॥

ये सृष्टि के पदार्थ वैसे ही सत् से अनन्यरूप ही हैं जैसे इन निद्रा आदि में स्फुटरूप से उपलब्ध भी ये सब पदार्थ असन्मय ही है ॥३७॥

जैसे निद्राघन में स्वप्न और सुषुप्ति है वैसे शुद्ध सौम्य चिद्घन आत्मा में सृष्टि, प्रलय और स्थिति हैं ॥३८॥

जैसे मनुष्य एक स्वप्न से अन्य स्वप्न में स्थित होता है; वैसे ही अजन्मा परमात्मा स्वसत्ता में एक सर्ग से अन्य सर्ग रूप में स्थित होता है ॥३९॥

जैसे स्वप्नानुभवों में पृथिवी आदि से रहित स्वाप्न-पदार्थ पृथिवी आदि से युक्त-सा प्रतीत होता है वैसे ही पृथिवी आदि से रहित भी यह निर्दोष ब्रह्माकाश पृथिवी आदि से युक्त-सा प्रतीत होता है ॥४०॥

जैसे अनन्तरूप इस साम्प्रतिक परमात्मा में वर्तमान घट, पट आदि शब्द उन के अर्थ स्थित हैं; वैसे ही अनन्य महाचैतन्य में भूत और भविष्यत् सृष्टियाँ स्थित हैं ॥४१॥

जब अनन्य है तब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग ब्रह्म में हैं इस उक्ति का 'पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती तिष्ठति' यों अभिन्न ही पश्यन्ती में भेदोपचार से औपचारिक आधारा-धेयभाव में पर्यवसान होता है।

जैसे साम्प्रतिक अनन्यभूत परमात्मा में सृष्टिरूप परमात्मा का भान होता है वैसे ही चित् में चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गों का चित् से ही भान होता है ॥४२॥

वहाँ पर शास्त्र का क्या प्रयोजन है वहाँ कथाओं के विचार से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि शास्त्रफल निर्वासन (वासनाशून्य) जीवनरूप मोक्ष सिद्ध हो चुका, पूर्वोक्त रीति से आकारण होने के कारण सृष्टि का अभाव होने से नाना प्रपञ्च रचना प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी कुछ नहीं है अर्थात् पूर्णतया मार्जित हो जाती है। अर्थात् जब शब्द और उनके अर्थभूत सर्ग चिन्मय ही हैं तब वहाँ कार्य कर चुका शास्त्र भी जिस पर शासन किया जाय ऐसे व्यक्ति विशेष के अभाव में मोक्षरूप फल के पृथक् न होने से और निराकरणीय प्रपञ्चरूप बन्धन न रहने से निवृत्त हो जाता है ॥४३॥

और यहाँ वासना के नाम से प्रसिद्ध जो यह प्रपञ्च के बीजरूप से भासमान होती है वह भेद रहित बोधसत्ता ही भेदरूप से भासित होती है जैसे कि स्वप्न में चिदात्मा ही नगर आदि के रूप से भासित होता है ॥४४॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में सत्यवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७७॥

१७८

श्रीराम उवाच

पदार्था द्विविधाः सन्ति मूर्तामूर्ता जगत्त्रये ।
यत्र सप्रतिघाः केचित्केचिदप्रतिघा अपि ॥१॥
तानिहाऽप्रतिघानाहुर्नाऽन्योन्यं वेल्लयन्ति ये ।
तांश्च सप्रतिघानाहुरन्योन्यं वेल्लयन्ति ये ॥२॥
इह सप्रतिघानां तु दृष्टमन्योन्यवेल्लनम् ।
न त्वप्रतिघरूपाणां केषांचिदपि किंचन ॥३॥
तत्र संवेदनं नाम यदिदं चन्द्रमण्डले ।
इतः पतत्यप्रतिघं तत्सर्वेणाऽनुभूयते ॥४॥
अर्धप्रबुद्धसंकल्पविकल्पाद्वैतकल्पितम् ।
वदाम्यस्युपगम्येदं न तु बोधदशास्थितम् ॥५॥
कः प्राणमारुतः क्षोभं जनयत्याशयस्थितः ।
प्रवेशनिर्गममयं कथं वा वद मे प्रभो ! ॥६॥
कथमप्रतिघं नाम वेदनं प्रतिघात्मकम् ।
इदं देहं चालयति भारं भारहरो यथा ॥७॥
यदि सप्रतिघं वस्तु वेल्लत्यप्रतिघात्मकम् ।
कथं संवित्तिमात्रेण पुंसः शैलो न वल्गति ॥८॥

वसिष्ठ उवाच

विकासमथ संकोचमत्र नाली हृदि स्थिता ।
यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च ॥९॥
बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाऽऽकाशास्पदात्मकः ।
वायुर्यात्यपि चाऽऽयाति तथा स्पन्दनं हृदि ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! त्रैलोक्य में मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं जिनमें से कुछ आपस में टकराने वाले हैं और कुछ आपस में नहीं टकराने वाले हैं। भाव यह है कि यहाँ पर मूर्त अमूर्त ब्रह्म रूप से दिखलाया गया विभाग अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिघात की योग्यता और प्रतिघात की अयोग्यतारूप उपाधि द्वारा कृत विभाग अभिप्रेत है ॥१॥

यहाँ अप्रतिघ उन्हे कहते हैं, जो परस्पर टकराते नहीं है और सप्रतिघ उन्हें कहते हैं जो परस्पर टकराते हैं। अर्थात् फूल, कपास (रूई), मक्खन आदि अत्यन्त कोमल पदार्थ कठिन शिलाओं की तरह प्रतिघात के (टक्कर के) योग्य नहीं हैं, अतः उनमें कोई अमूर्तता न समझी जाय इसलिए सप्रतिघ, अप्रतिघ आदि विशेषणों के तात्पर्य का अलग-अलग लक्षणों से उद्घाटन किया है ॥२॥

लोक में सप्रतिघ पदार्थों का तो परस्पर टकराना दिखलाई देता है, किन्तु अप्रतिघरूप किन्हीं पदार्थों का किंचित् भी आपस में टकराना नहीं दिखाई देता ॥३॥

उनमें संवेदन नाम से प्रसिद्ध जो पदार्थ है वह अप्रतिघ ही है। क्योंकि चन्द्रमा की निरीक्षण कर रहे पुरुष के यहाँ से नयन-रश्मियों का अनुगमन करने वाले चित् के साथ चित्तोपहित संवेदन चन्द्रमण्डल में बिना आघात के (टक्कर के) ही गिरते हैं, इसलिए वे अमूर्त हैं। यह सभी चन्द्रदर्शियों द्वारा अनुभूत होता है ॥४॥

अर्द्धप्रबुद्ध लोगों के अर्थात् दूसरी तीसरी भूमिका के बीच के लोगों के संकल्प-विकल्परूप द्वैत से कल्पित इस जगत् को मानकर मैं आक्षेप करता हूँ, बोधदृष्टि से परिशिष्ट चिन्मात्र मानकर आक्षेप नहीं करता हूँ ॥५॥

यद्यपि आशय में स्थित मूर्त प्राण वायु ही प्रवेश और निर्गमरूप वृत्तियों से क्षुब्ध होकर देह को प्रवृत्त करता है यह कहा जा सकता है तथापि हे प्रभो ! उसमें प्रवेश-निर्गममय क्षोभ कौन पैदा करता है, यह मुझसे कहने की कृपा करें ॥६॥

जैसे बोझा ढोने वाला बोझ को ढोता है, परिचालित करता है, वैसे ही अमूर्त चिदाभास समूर्त प्राण आदि देह पर्यन्त इस भार का परिचालित कैसे कर सकता है ॥७॥

अमूर्त संवेदनमात्र चिदाभास प्राणादि देहान्त मूर्त पदार्थ को व्याप्त कर संचालित करता है, तो पुरुष के केवल संकल्प संवित् से पर्वत क्यों नहीं चलता ॥८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! देह में हृदय में स्थित नाडी जब संकोच और विकास को प्राप्त होती है तब प्राण गले के छेद से बाहर आता है और भीतर जाता है। अर्थात् जैसे बाहर का वायु लोहार की धौंकनी में भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने से धौंकनी को चलाता है वैसे ही प्राणवायु में भी कण्ठ नाली के छिद्र के संकोच और विकास से अनुमित अपने प्रवेश और निर्गम से देह आदि का चालकत्व प्रत्यक्ष है हृदय आदि प्रवेश में भी यों ही उसकी संचालकता समझनी चाहिये यह समाधान किया है ॥९॥

वायु प्रवेश और निर्गम से हृदय में वैसे ही स्पन्दन पैदा करता है। जैसे छिद्र में रहने वाले अर्थात् छिद्रवान् सकल द्रव्यों के अन्दर संचार करने वाला वायु बाहर स्थित लोहार की आजीविका की साधनभूत धौंकनी में प्रवेश करता है और बाहर निकलता है ॥१०॥

श्रीराम उवाच

बहिर्भस्त्रामयस्कारः संकोचनविकासनैः ।
योजयत्यान्तरं नाडीं कश्चालयति चालकः ॥११॥

शतं कथं भवेदेकं कथमेकं शतं भवेत् ।
कथं सचेतना एते काष्ठलोष्टोपलादयः ॥१२॥

कस्मान्न स्थावरं वस्तु प्रस्पन्द्यपि चमत्कृतम् ।
वस्तुजंगममेवेह स्पन्दि मात्रेव किं वद ॥१३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! भीतर स्थित नाड़ी को वैसे ही कौन परिचालित करता है । जैसे बाहर स्थित धौंकनी को लोहार उसके संकोच और विकासों से युक्त करता है । अर्थात् यद्यपि वायु परिचालन करता है तथापि लोहार आदि चेतन से अधिष्ठित धौंकनी में ही वह उस तरह स्पन्दन पैदा करता है अन्यत्र नहीं करता इसलिए चेतन को ही अचेतन के नियत व्यवहार चेष्टा में निमित्त अवश्य कहना चाहिये ॥११॥

समय विशेष पर अर्थात् एक-एक अङ्ग के चालन के समय सौ नाड़ियां कैसे एक हो जायंगी और समय विशेष पर अर्थात् सर्वाङ्ग के चालन के समय कैसे एक नाड़ी सौ हो जायंगी तथा दूसरी बात यह भी है कि अमूर्त चैतन्य का संश्लेष देह में भी नहीं है आध्यासिक सम्बन्ध तो काष्ठ, लोष्ट आदि में भी तुल्य है, इसलिए उन्हें भी सचेतन कहना चाहिये और वह कैसे संभव है । आशय यह है कि यदि प्रश्न हो कि 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' (एक सौ एक हृदय की नाड़ियां हैं) इस श्रुति में चारों ओर फैली हुई सौ नाड़ियां सुनी जाती हैं । एक सौ नाड़ियों की प्रत्येक शाखा से बहत्तर-बहत्तर नाड़ियां निकली हैं यों हजारों नाड़ियां होती हैं, उनमें 'व्यान' नामक वायु का संचार होता है । उन सकल नाड़ियों में व्यान वायु के संचार को देहादि के सचलन में निमित्त मानें तो सदा ही सर्वाङ्ग का संचलन होना चाहिये एक-एक हस्त, पाद आदि का व्यापार नियत नहीं होना चाहिये । यदि कहिये एक अङ्ग का उद्यमन होने में सौ सौ नाडियां उस अङ्ग में एक हो जाती हैं, सर्वाङ्ग का संचलन उपस्थित होने पर एकाकार भी सौ नाड़ियां सर्वाङ्गव्यापिनी हो जाती हैं इस आशङ्का पर कहते हैं ॥१२॥

वसिष्ठ उवाच

अन्तः संवेदनं नाम चालयत्यान्त्रवेष्टनम् ।
बहिर्भस्त्रामयस्कार इव लोकेऽनुचेष्टनम् ॥१४॥

श्रीराम उवाच

वाय्वन्त्रादि शरीरस्थं सर्वं सप्रतिघं मुने ! ।
कथमप्रतिघा संविच्चालयेदिति मे वद ॥१५॥

संविदप्रतिघाकारा यदि सप्रतिघात्मकम् ।
चालयेदचलिष्यत्तद्दूरमम्भो यदिच्छया ॥१६॥

लोक में जंगम पदार्थ ही क्यों स्पन्दयुक्त होते हैं । वृक्ष, लता, काष्ठ, पाषाण आदि स्थावर वस्तु चेतन यदि है तो उसमें स्पन्दन क्यों नहीं होता ? वह देह के समान भोग के उपयोग से चमत्कृत भी क्यों नहीं होती, नियन्त्रण करने वाले कुम्भार आदि से अधिष्ठित चक्र आदि की तरह नियतकाल म ही स्पन्दन वाली क्यों होती है ? यह मुझसे कहने का कृपा कीजिये ॥१३॥

जीव संवित् अन्दर आन्त्रवेष्टन को हड्डी-समूह को वैसे ही संचालित करती है जैसे बाहर लोहार धौंकनी को संचालित करता है उसके अनुसार ही लोक में सब लोग बाहर चेष्टा करते हैं । यह उत्तर है कार्य-कारण की स्वामिनी भोग करने वाली जीव संवित् का जिसमें अनादि प्रवाह से प्राप्त काम, कर्म और वासना से प्रयुक्त तादात्म्याध्यास है, उसके चालन में आध्यासिक स्वतादात्म्यशाली प्राण के सश्लेष से वह स्वतन्त्र है अन्य जगह परतन्त्र है इस तरह की व्यवस्था है, यों गूढ अभिप्राय से वसिष्ठ जी उत्तर देते हैं ॥१४॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! शरीर में स्थित वायु, अंतड़ी आदि सब कुछ साकार है उसको अप्रतिघ निराकार जीव संवित् कैसे संचालित करेगी ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥१५॥

यदि अप्रतिघाकार संवित् सप्रतिघरूप देह आदि का संचालन करेगी, तब तो दूर स्थित भी जल प्यासे पथिक की इच्छा से स्वयं ही आ जायगा ॥१६॥

यदि सप्रतिघ और अप्रतिघ पदार्थों का परस्पर संश्लेष हो तब तो इच्छा ही बाहर बोलना, लेना, देना,

सप्रतिघाप्रतिघयोर्मिथो यदि पदार्थयोः।
वेल्लनं स्यात्तदिच्छेव कर्तृकर्मेन्द्रियैः क्व किम् ॥१७॥
सप्रतिघाप्रतिघयोः श्लेषो नास्ति बहिर्यथा।
तथैवाऽन्तरहं मन्ये शेषं कथय मे मुने! ॥१८॥
अन्तः स्वयं योगिना वा यथैतदनुभूयते।
अमूर्तस्यैव मूर्तेन वेल्लनं तद्वदाशु मे ॥१९॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वसन्देहवृक्षाणां मूलकाषमिदं वचः।
सर्वैकतानुभूत्यर्थं शृणु श्रवणभूषणम् ॥२०॥
नेह किंचिन्न नामाऽस्ति वस्तु सप्रतिघं क्वचित्।
सर्वदा सर्वमेवेदं शान्तमप्रतिघं ततम् ॥२१॥
शुद्धं संविन्मयं सर्वं शान्तमप्रतिघात्मकम्।
पदार्थजातं पृथ्व्यादि स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥२२॥
आदावन्ते च नास्तीदं कारणाभावतोऽखिलम्।
भ्रान्त्यात्मा वर्तमानाऽपि भाति चित्स्वप्नगा यथा॥२३॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
महता कारणौघेन बोधमप्रतिघं विदुः ॥२४॥
अन्तःकरणभूतादि मृत्काष्ठदृषदादि वा।
सर्वं शून्यमशून्यं च चेतनं विद्धि नेतरत् ॥२५॥
तत्रैवमैन्दवाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम्।
मया च पूर्वमुक्तं तत्किं चाऽन्यदभिवर्ण्यते ॥२६॥
तथापि वर्तमानोक्तप्रश्नबोधाय तच्छृणु।
यथेदं सर्वमद्र्यादि चिदित्येव तु भोत्स्यते ॥२७॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तनेनैव जगज्जालेऽभवद् द्विजः।
तपोवेदक्रियाधारो ब्रह्मन्निन्दुरिति स्मृतः ॥२८॥

विहार आदि करेगी फिर कर्मेन्द्रियों से कहाँ पर क्या होगा ॥१७॥

हे मुनिवर! प्रतिघातयोग्य और प्रतिघात के अयोग्य का बाहर श्लेष (संपर्क) नहीं है वैसे ही भीतर उन का श्लेष नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ। अर्थात् बाहर उन का श्लेष न होने पर भी भीतर श्लेष हो ऐसा मेरा मत नहीं है। इस प्रकार आप से समाधान में दी गई युक्तियों का खंडन हो जाने पर अन्य युक्तियाँ आप दीजिये खडित युक्तियों को ही बार-बार मत दुहराइये ॥१८॥

अथवा आप योगिराज हैं आप को स्वयं अमूर्त का ही मूर्त से सम्पर्क का जो लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध है, योगबल से जिस उपाय से अनुभव होता है उसे मुझ से शीघ्र कहने की कृपा कीजिये ॥१९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सकल सन्देह रूपी वृक्षों की जड़ तत्त्व वस्तु का अज्ञान ही है, अतएव सब वस्तुओं के एकतानुभवरूप तत्त्व-साक्षात्कार की अनुभूति के लिए उक्त सन्देहरूपी वृक्ष की जड़ खोदनेवाला कानों को भूषणों के समान आनन्द देनेवाला यह वचन आप सुनिये ॥२०॥

आप ने जो अनेक आक्षेप किये हैं वे लागू हो सकते यदि हम प्रपञ्च को सप्रतिघ और यथार्थ मानते। हमारे मत में यहाँ कहीं पर भी कोई वस्तु सप्रतिघ है ही नहीं। यह सभी कुछ प्रपञ्च सदा शान्त अप्रतिघ ही सब ओर व्याप्त है। स्वप्न और संकल्पों की तरह पृथिवी आदि सब पदार्थराशि शुद्ध संविन्मय शान्त अप्रतिघरूप है ॥२१, २२॥

कारण का अभाव होने से यह सब प्रपञ्च आदि में और अन्त में नहीं है जैसे स्वप्न में स्थित चित् का पर्वत, नदी, नगर आदि के रूप में भान होता है, वैसे ही वर्तमान सृष्टि भी भ्रान्तिरूप ही है ॥२३॥

इसलिए तत्त्ववेत्तालोग विवेक, वैराग्य, त्याग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि प्रयत्न से साध्य कारणों से वासना सहित मूर्ताकार को हटाकर द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, दिशा आदिरूप जगत् को अप्रतिघ बोधमात्र ही जानते हैं ॥२४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी! आप अन्तःकरण, भूत आदि तथा मिट्टी, काठ, पत्थर आदि सब को शून्य और चेतन को अशून्य समझिये चेतन के सिवा अन्य अशून्य नहीं है ॥२५॥

[चिन्मात्र ही सर्व जगत् है, मूर्त कुछ भी नहीं है, इस विषय में पूर्वोक्त ऐन्दवाख्यान को पुनः सुनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'तत्र' इत्यादि से।]

इस विषय में कानों को भूषित करनेवाले इसी प्रकार के ऐन्दवाख्यान को आप सुनिये। मैंने पहले उत्पत्ति प्रकरण में मनोमात्र ही जगत् है यह दिखलाने के लिए वह आख्यान कहा था यहाँ पर चिन्मात्र ही जगत् है यों निर्वाण-निष्कर्ष के लिए उसे कहता हूँ ॥२६॥

प्रस्तुत प्रश्न के बोध के लिए फिर भी उसे आप सुनें। जिस से कि यह सब पर्वतादि जगत् अमूर्त चित् ही है इस प्रश्न का समाधान आपको विदित हो जायगा, अर्थात् प्रस्तुत प्रश्न के पूर्णतया समाधानरूप प्रयोजनभेद से भी इस की पुनरुक्ति दोष वह नहीं है ॥२७॥

उत्पत्ति-प्रकरण में वर्णित ही आकार-प्रकार से युक्त किसी जगज्जाल में तपस्या और वेद-प्रतिपादित आचार-विचार का आधारभूत 'इन्दु' नाम से प्रख्यात कोई ब्राह्मण हुआ ॥२८॥

दश तस्याऽभवन्पुत्रा जगतो दिक्तटा इव।
महाशया महात्मानो महतामास्पदं सताम् ॥२९॥
स तेषां कालवशतः पिताऽन्तर्धिमुपाययौ।
दशानां भगवान् रुद्र एकादश इव क्षये ॥३०॥
तस्याऽनुगमनं चक्रे भार्या वैधव्यभीतिभिः।
अनुरक्ता दिनस्येव संध्या ताराविलोचना ॥३१॥
तयोस्ते तनया दुःखकलिता विपिनं गताः।
कृतौर्ध्वदेहिकास्त्यक्त्वा व्यवहारं समाधये ॥३२॥
धारणानां समस्तानां का स्यादुत्तमसिद्धिदा।
धारणा यन्मयाः सन्तः स्याम सर्वेश्वरा वयम् ॥३३॥
इति ते तत्र संचिन्त्य बद्धपद्मासना दश।
इदं संचिन्तयामासुर्निर्विघ्ने कन्दरोदरे ॥३४॥
पद्मजाधिष्ठिताशेषजगद्धारणया स्थिताः।
भवाम पद्मजोपेतं जगद्रूपमविघ्नतः ॥३५॥
इति संचिन्त्य सब्रह्मजगद्धारणया चिरम्।
निमीलितदृशस्तस्थुस्ते चित्ररचिता इव ॥३६॥

उस के ब्रह्माण्डोदरवर्ती आकाश के दस दिक्तटों की तरह महाजनों और सज्जनों के आश्रयभूत महात्मा महाशय दस पुत्र हुए ॥२९॥

उन दसों का पिता इन्दु कालवश वैसे ही अन्तर्हित हो गया जैसे दसों के मध्य में ग्यारहवें भगवान् रुद्र महाप्रलय में अन्तर्धान को प्राप्त होते हैं ॥३०॥

उस की अनुरागवती भार्या ने वैधव्य के कष्टों से जैसे तारारूपी चञ्चल नेत्रवाली अनुरागवती ललिमापूर्ण सन्ध्या दिन का अनुगमन करती है वैसे ही उस का अनुगमन किया ॥३१॥

उन के वियोगजन्य दुःख से व्याप्त हुए उन के उन पुत्रों ने उन का और्ध्वदैहिक संस्कार कर लोकव्यवहार का परित्याग कर समाधि के लिए बन का मार्ग पकड़ा ॥३२॥

धारणाओं में से (विषयविशेषाकारित मन की स्थिरता रूप धारणाओं में से) किंविषयिणी किस में बाँधी गई धारणा उत्तम सिद्धि देनेवाली होगी। हम लोग यन्मय यत्स्वरूप होकर सब के अधिपति हो जायेंगे ॥३३॥

ऐसा विचार कर उन दसों ने वहाँ निर्विघ्न कन्दरा के मध्य में पद्मासन बाँधकर यह विचार किया ॥३४॥

ब्रह्मा से अधिष्ठित सकल जगत् की धारणा से (ब्रह्मा से अधिष्ठित सकल जगत् के आकार से आकारित मन की स्थिरता रूप धारणा से) स्थिर (निश्चल) हुए हम लोग बिना किसी विघ्नबाधा के ब्रह्माधिष्ठित जगद्रूप हो जायेंगे ॥३५॥

यह सोच विचार ब्रह्मयुक्त जगत् की धारणा से निमीलित नेत्र कमल वाले वे चिरकाल तक चित्रलिखित की तरह बैठे रहे ॥३६॥

अथैतद्धारणाबद्धचित्तास्ते तावदच्युताः।
आसन्मासान्दशाऽष्टौ च यावत्ते तत्र देहकाः ॥३७॥
शुष्काः कंकालतां याताः क्रव्यादैश्चर्विताङ्गकाः।
नाशमस्यायुयुस्तत्र च्छायाभागा इवाऽऽतपे ॥३८॥
अहं ब्रह्मा जगच्चेदं सर्गोऽयं भुवनान्वितः।
इति संपश्यतां तेषां दीर्घकालोऽभ्यवर्तत ॥३९॥
तानि चित्तान्यदेहानि वशैकध्यानतस्ततः।
संपन्नानि जगन्त्येव दश देहानि वै पृथक् ॥४०॥
इति तेषां चिदिच्छा सा संपन्ना सकलं जगत्।
अत्यन्तस्वच्छरूपैव स्थिता चाऽऽकारवर्जिता ॥४१॥
संविन्मयत्वाज्जगतां तेषां भूम्यचलादि तत्।
सर्वं चिदात्मकं विद्धि नो चेदन्यत्किमुच्यताम् ॥४२॥
किल यत्त्रिजगज्जालं तेषां किमात्म तत्तथा।
संविदाकाशशून्यत्वमात्रमेवेतरन्न तत् ॥४३॥

इसके पश्चात् जब पूरे अठारह महीने तक ब्रह्मा सहित जगत् की धारणा में बँधे हुए चित्त वाले वे मन के अन्य वृत्ति धारण द्वारा उससे च्युत न होकर स्थित रह तब उनके शरीर सूखकर हड्डी-हड्डी हो गये, मांसाहारी जीव नोच-नोचकर उनके अवयवों को खा गये अतएव घाम द्वारा नष्ट किये गये छायाभाग की तरह उनके शरीर वहाँ पर नष्ट हो गये ॥३७, ३८॥

मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यह जगत् हूँ, मैं यह भुवनों से पूर्ण सृष्टि हूँ यों ध्यान कर रहे उनका महान् काल व्यतीत हुआ ॥३९॥

अनन्तर ध्यान के परिपाक से देह रहित वे दस चित्त पृथक्-पृथक् दस ब्रह्माण्डरूप जगत् बन गये, क्योंकि जैसा पुरुष का ध्यान होता है, वैसा ही वह बन जाता है यह बात तत्क्रतुन्याय से प्रसिद्ध है ॥४०॥

इस प्रकार ऐन्दवों की चित् ही इच्छा बनकर सम्पूर्ण जगत् बन गई। आकार से रहित अत्यन्त निर्मलरूप ही वह स्थित रही अर्थात् अपने स्वभाव के कुछ त्याग से जगत् नहीं बनी किन्तु निर्मल चित्स्वभावरूप से ही स्थित रही ॥४१॥

यों सब जगतों की संविद्रूपता सिद्ध हुई। जगतों के संवित्रूप होने से उनके वे भूमि, पर्वत, नदी आदि सभी को आप चिदात्मक ही जानिये। यदि उनका दस प्रकार का त्रिजगज्जाल चिदात्मक नहीं है तो किमात्मक है आप ही कहिये। वह संविदाकाशशून्यत्वमात्र ही है उससे अन्य नहीं है ॥४२, ४३॥

विद्यते न यथा किंचित्तरङ्गः सलिलादृते ।
संवित्तत्त्वादृते तद्वद्विद्यते नाऽचलादिकम् ॥४४॥
ऐन्दवानि यथैतानि चिन्मयानि जगन्ति खे ।
तथा चिन्मयमेतेषु काष्ठलोष्टोपलाद्यपि ॥४५॥
यथैवैन्दवसंकल्पास्ते जगत्त्वमुपागताः ।
तथैवाऽब्जजसंकल्पो जगत्त्वमयमागतः ॥४६॥
तस्मादिहेमे गिरयो वसुधा पादपा घनाः ।
महाभूतानि सर्वं च चिन्मात्रमयमाततम् ॥४७॥
चिद्वृक्षाश्चिन्मही चिद्द्यौश्चिदाकाशं चिदद्रयः ।
नाऽचित्क्वचित्संभवति तेष्वैन्दवजगत्स्विव ॥४८॥
चिन्मात्रखकुलालेन स्वदेहचलचक्रके ।
स्वशरीरमृदा सर्गः कुतोऽयं क्रियतेऽनिशम् ॥४९॥
संकल्पनिर्मिते सर्गे दृषदश्चेन्न चेतनाः ।
तदत्र लोष्टशैलादि किमेतदिति कथ्यताम् ॥५०॥
कलनस्मृतिसंस्कारा दधत्यर्थं च नोदरे ।
प्राङ्मृष्टं कल्पनादीनामन्यैवाऽर्थकलावताम् ॥५१॥
तद्धाम संविदो धाम्नि मणिराशौ मणिर्यथा ।
सर्वात्मनि तथा चित्ते कश्चिदर्थं उदेत्यलम् ॥५२॥
अकार्यकरणस्याऽर्थो न भिन्नो ब्रह्मणः क्वचित् ।
स्वभाव इति तेनेदं सर्वं ब्रह्मेति निश्चयः ॥५३॥
यथाप्रवृत्तं चिद्वारि वहत्यावर्ततेऽवनौ ।
स्वयत्नेनाऽतितीव्रेण परात्मीयात्मना विना ॥५४॥
पद्मलीला जगदिव प्रकचन्ति जगन्ति यत् ।
चिन्मात्राद् ब्रह्मणः स्वस्मादन्यानि न मनागपि ॥५५॥
अजातमनिरुद्धं च सन्मात्रं ब्रह्म खात्मकम् ।
शान्तं सदसतोर्मध्यं चिद्भामात्रमिदं जगत् ॥५६॥
यत्संविन्मयमद्यादि संकल्पजगति स्थितम् ।
यत्संविन्मयमिति वक्ताऽज्ञो ज्ञैर्विहस्यते ॥५७॥

जैसे तरङ्ग जल के शिवा अन्य कुछ नहीं है वैसे ही अचल आदि संवितत्त्व के सिवा अन्य कुछ नहीं है ॥४४॥

जैसे आकाश में चिन्मय ये ऐन्दव जगत् हैं वैसे ही इन प्रस्तुत जगतों में भी काठ, ढेले, पत्थर आदि चिन्मय ही हैं। जैसे वे ऐन्दवों के सङ्कल्प जगत्ता को प्राप्त हुए वैसे ब्रह्मा का यह संकल्प भी जगत्ता को प्राप्त हुआ है। अर्थात् ऐन्दव जगतों की तुल्यता प्रस्तुत जगत् में भी समझनी चाहिए, ऐसा कहते हैं ॥४५, ४६॥

इसलिए ये पर्वत, पृथिवी, वृक्ष, बादल, आकाशादि पञ्चमहाभूत ये सब कुछ चिन्मात्र ही विस्तृत हैं ॥४७॥

जैसे उन ऐन्दव जगतों में सब कुछ चित् ही था वैसे ही यहाँ पर भी वृक्ष चित् हैं, पृथिवी चित् है, द्युलोक चित् है, आकाश चित् है और पर्वत चित् हैं, कहीं पर भी अचित् का संभव नहीं है ॥४८॥

चिन्मात्राकाशरूप कुम्हार द्वारा अपने शरीररूपी घूम रहे चाक में अपने शरीररूपी मिट्टी से इस सृष्टि की रचना निरन्तर क्यों की जाती है। 'कुतः' यों असम्भावना की उक्ति सृष्टि का मिथ्यात्व जताने के लिए है ॥४९॥

संकल्प से विरचित सृष्टि में यदि पत्थर चेतन नहीं हैं, तो इस सृष्टि में ढेले, पत्थर, चट्टान आदि क्या हैं यह कहें ॥५०॥

अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार, इच्छा और कृति ये सब संविद्विशेष अर्थविषयक हैं। इनके अन्दर अर्थ प्रतीत होता है और ये अपने अन्दर अभिव्यक्त चिन्मात्र को ही धारण करते हैं जड़ अर्थ को धारण नहीं करते, इसलिए अर्थ चिद्रूप ही हैं। हम इस बात पर पहले ही विचार कर चुके हैं कि अर्थशून्य कल्पनाओं की अन्य ही स्थिति है और तत्त्व के अवगाहन के चमत्कार से शोभित होने वाली कल्पना आदि का अन्य ही चमत्कार है।

कलन (अनुभव) आदि चिन्मात्र लोष्ट, शैल आदि तत्त्व को अपने उदर में धारण करते हैं, किन्तु उसका अवगाहन नहीं कर सकते, क्योंकि वह कल्पना आदि के उत्थान से पहले से ही है, इस विषय का हम पहले परामर्श कर चुके हैं। अज्ञात विषय में चक्षु आदि से अनुभव होता है ज्ञात विषय में स्मृति और संस्कार होते हैं। इसलिए उनसे पहले अज्ञात विषय की सिद्धि अवश्य माननी होगी। अचिद्रूप तृण, काष्ठ, शैल आदि अज्ञात नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जड़ों में अज्ञानरूपी आवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, अतएव जड़ों से अन्य ही ब्रह्म-सत्ता तृण आदि की तत्त्वभूत है उसी का कलन, स्मृति और संस्कारों से जडत्वेन विमर्श होता है। इस प्रकार अथवा दूसरा अर्थ करना चाहिये—यदि कोई कहे लोष्ट आदि की अनुभव, स्मृति और स्मृतिजनक संस्कार में एकरूपता है, इसलिए लोष्ट आदि अचिद्रूप ही हैं फिर उनको सचेतन कैसे कहते हैं, इस आशय का समाधान किया है ॥५१॥

चूंकि वह परम चिद्धाम ही सर्वात्मक संवित्-धाम समष्टिव्यष्टि चित्त में मणियों की राशि में मणि की तरह देदीप्यमान रूप से भीतर स्थित होकर किसी तृण, काष्ठ, शैल आदि अर्थ की तरह उदित होता है क्योंकि 'तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' ऐसी भगवती श्रुति है। अर्थात् इस कारण भी काष्ठ, लोष्ट आदि सचेतन हैं ॥५२॥

इस कारण भी तृण, काष्ठ आदि सचेतन हैं, चूंकि ये(तृण, काष्ठ आदि) कार्यकारण रहित ब्रह्म की सृष्टि हैं। जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य की स्वभावभूत ही है अप्रकाश

जगन्त्यात्मेव संकल्पमयान्येतानि वेत्ति खे।
खात्मकानि तथेदं च ब्रह्म संकल्पजं जगत् ॥५८॥
यावद्यावदियं दृष्टिः शीघ्रं शीघ्रं विलोक्यते।
तावत्तावदिदं दुःखं शीघ्रं शीघ्रं विलीयते ॥५९॥
यावद्यावदियं दृष्टिः प्रेक्ष्यते न चिराच्चिता।
तावत्तावदिदं दुःखं भवेत्प्रतिघनं घनम् ॥६०॥
दीर्घदुष्कृतमूढानामियां दृष्टिमपश्यताम्।
संसृतिर्वज्रसारेयं न कदाचित्प्रशाम्यति ॥६१॥
नेहाऽऽकृतिर्न च भवाभवजन्मनाशाः
सत्ता न चैव न च नाम तथाऽस्त्यसत्ता।
शान्तं परं कचति केवलमात्मनीत्थं
ब्रह्माऽथवा कचनमप्यलमत्र नास्ति ॥६२॥
आद्यन्तर्वाजितमलभ्यलताग्रमूल-
निर्माणमूलपरिवेशमशेषमच्छम्।
अन्तस्थनिर्गगनसर्गकपुत्रकौघं
नित्यं स्थितं ननु घनं गतजन्मनाशम् ॥६३॥
सन्मात्रमन्तररहिताखिलहस्तजातं
पर्यन्तहीनगणनाङ्गममुक्तरूपम्।
आत्माऽम्बरात्मकमहं त्विदमेव सर्वं
सुस्तम्भरूपमजमौनमलं विकल्पैः ॥६४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतास्वैन्दवोपाख्यानं नामाऽष्टसप्तत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७८॥

रूप नहीं है, इसलिए ये भी ब्रह्म के स्वभावभूत ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। जब भिन्न नहीं हैं तब यह सब सचेतन ब्रह्मरूप ही है यह निश्चय हुआ ॥५३॥

जैसे ढाल जमीन पर प्रवृत्त हुआ जल परात्मीयरूप अन्य कारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही आवर्त, प्रवाह, तरङ्ग आदि की विचित्रता से बहता है वैसे ही सृष्टि के उन्मुख चित् भी परात्मीयरूप अन्य कारण के बिना अपने ही अतितीव्र यत्न से स्वतः ही सृष्टिरूप से बहती है ॥५४॥

जैसे पाद्मकल्प में भगवान् की नाभिकमल-लीला ही जगतों की तरह स्फुरित होती है, इसलिए भी वे ब्रह्म से तनिक भी भिन्न नहीं हैं ॥५५॥

इसलिए यह जगत् अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, सन्मात्र, शान्त; भाव और अभाव दोनों का ही मार्जन होने से उनका मध्यरूप, चिदाकाशभूत, चिद्भामात्र है ॥५६॥

जो संविन्मय (चिन्मात्र) पर्वत आदि जगत् में स्थित हैं उनको अचिन्मय कहने वाले अज्ञ का अभिज्ञों द्वारा उपहास किया जाता है। अर्थात् तृण, काष्ठ, शैल आदि को अचेतन समझने वाले मूढों का विद्वान् लोग उपहास करते हैं ॥५७॥

ब्रह्मा के संकल्प से उत्पन्न यह जगत् भी वैसे ही चिदाकाशात्मक ही है। जैसे आत्मा संकल्पमय इन जगतों को आकाश में चिदाकाशात्मक जानता है अर्थात् ब्रह्मा के संकल्प से जन्य होने के कारण भी अपने मनोराज्य के तुल्य जगत् की चिन्मात्रता का अनुमान करना चाहिये ॥५८॥

यह प्रपञ्चदृष्टि दृढ़ की गई चिद्दृष्टि से ज्यों-ज्यों देखी जाती है त्यों-त्यों यह दुःख शीघ्रातिशीघ्र मिट जाता है ॥५९॥

जैसे-जैसे यह प्रपञ्चदृष्टि चिन्मात्ररूप से चिरकाल तक नहीं विचारी जाती त्यों त्यों यह प्रपञ्च-क्लेश अत्यन्त घन होता जाता है ॥६०॥

महापापों से मूर्ख हुए अतएव इस दृष्टि को न देख रहे लोगों का यह संसार वज्र के तुल्य दृढ़ हो जाता है, शान्त नहीं होता है ॥६१॥

इस जगत् में न आकृति है, न संसार है, न असंसार (मोक्ष) है, न जन्म है, न नाश है, न दूसरा कोई भाव-विकार है और न उसका अभाव है, परमार्थ चित्स्वभाव आत्मा में इस तरह परम शान्त ब्रह्म का स्फुरण होता है अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त स्फुरण भी यहाँ सर्वथा नहीं है ॥६२॥

यद्यपि वह ब्रह्म स्फटिक के स्तम्भ की तरह आकाश रहित अनेकों सृष्टिरूपी पुतलियों की राशि से भरा हुआ है तथापि उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, उनकी जड़, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ों का भूमि में प्रवेश ये सब अलभ्य हैं, वह आदि अन्त विहीन है, काल से भी उसके जन्म और नाश नहीं होते, वह पूर्ण रूप से अत्यन्त निर्मल है ऐसा वह चिदानन्दैकघन नित्य कैवल्यरूप स्थित है ॥६३॥

यही जब अमुक्तरूप (संसारी) था तब इसके असंख्य हाथ चारों ओर से भरे थे, असंख्य आँख, कान, शिर, कण्ठ, उदर, पैर आदि अङ्ग थे। मुक्तरूप तो आत्माकाश-रूप, सुस्तम्भरूप, सन्मात्र अजमौन यह मैं ही हो गया, इसलिए फिर विकल्पों से कोई प्रयोजन नहीं है ॥६४॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में ऐन्दव उपाख्यान नामक कुसुमलताअनुवाद का एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७८॥

१७९

वसिष्ठ उवाच

एवं चिन्मात्रमेवैकं शुद्धं सत्त्वं जगत्त्रयम् ।
संभवन्तीह भूतानि नाऽज्ञबुद्धानि कानिचित् ॥१॥

तस्मात्कुतः शरीरादि वस्तु सप्रतिघं कुतः ।
यदिदं दृश्यते किंचित्तदप्रतिघमाततम् ॥२॥

स्थितं चिद्व्योम चिद्व्योम्नि शान्ते शान्तं समं स्थितम् ।
स्थितमाकाशमाकाशे ज्ञप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भते ॥३॥

सर्वं संविन्मयं शान्तं सत्स्वप्न इव जाग्रति ।
स्थितमप्रतिघाकारं क्वाऽसौ सप्रतिघा स्थितिः ॥४॥

क्व देहावयवाः क्वाऽन्त्रवेष्टनी क्वाऽस्थिपञ्जरम् ।
व्योमेवाऽप्रतिघं विद्धि देहं सप्रतिघोपमम् ॥५॥

संवित्करौ शिरः संवित्संविदिन्द्रियवृन्दकम् ।
शान्तमप्रतिघं सर्वं न सप्रतिघमस्ति हि ॥६॥

ब्रह्मव्योम्नः स्वप्नरूपस्वभावत्वाज्जगत्स्थितेः ।
इदं सर्वं संभवति सहेतुकमहेतुकम् ॥७॥

न कारणं विना कार्यं भवतीत्युपपद्यते ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते ॥८॥

कारणेन विना कार्यं सद्वदित्युपपद्यते ।
यथाभावितमेवाऽर्थं संविदाप्नोत्यसंशयम् ॥९॥

यथा संभवति स्वप्ने सर्वं सर्वत्र सर्वथा ।
चिन्मयत्वात्तथा जाग्रत्यस्ति सर्वात्मरूपता ॥१०॥

१७९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! इस प्रकार त्रैलोक्य केवल शुद्ध चिन्मात्र सत्त्व ही है। इसमें अज्ञानियों द्वारा मूर्तरूप से ज्ञात भूतों का संभव ही नहीं है ॥१॥

इसलिए कहाँ से शरीर आदि हो सकते हैं और कहाँ से समूर्त वस्तु हो सकती है। जो यह कुछ दिखाई देता है वह अमूर्त ब्रह्म ही व्याप्त है ॥२॥

चिदाकाश में चिदाकाश स्थित है, सकल विषमता से मुक्त शान्त ब्रह्म शान्त ब्रह्म में स्थित है, आकाश-आकाश में स्थित है, ज्ञान-ज्ञान में स्फुरित है ॥३॥

सब कुछ संविन्मय चिन्मात्रमय शान्त होकर वैसे ही अमूर्ताकार से स्थित है जैसे जाग्रत् काल में स्वप्न संविन्मय शान्त अमूर्ताकार रहता है। आपके द्वारा कही गई यह सप्रतिघ स्थिति कहाँ है? जहाँ पर कि यह आपकी शङ्का अग्रसर हो ॥४॥

देह के अवयव कहाँ है, कहाँ अँतड़ियाँ हैं, कहाँ अस्थि-पञ्जर (कंकाल) है आकाश के समान अमूर्त देह को आप स्वप्न देह के समान समूर्त जानिये। अर्थात् देह, उसके अवयव आदि प्रबुद्ध (जागे हुए) पुरुष की दृष्टि से स्वप्न शरीर के समान चिन्मात्र ही हैं इसलिए उनमें समूर्तता की शङ्का अज्ञानी की दृष्टि से ही हो सकती है तात्त्विक दृष्टि से नहीं हो सकती ॥५॥

हाथ संवित् चिन्मात्र हैं, शिर संवित् है, सब इन्द्रियाँ संविद्रूप हैं सब कुछ शान्त अमूत है समूर्त कुछ भी नहीं है। सहेतुक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध भी मूर्तता अहेतुक प्रमाण वाली और सकारण भी अकारण है, क्योंकि 'तस्य त्रय आवस्थास्त्रयः स्वप्नाः' 'नेह नानास्ति किंचन', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति', 'अथात आदेशो नेति-नेति' इत्यादि श्रुतियों से ही जगत् का अपलाप किया जाता है। अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध मूर्त शरीर आदि का अपलाप केवल साहस ही है यह समझना ठीक नहीं ॥७॥

कारण के बिना कार्य नहीं होता है, ब्रह्म निर्विकार और अद्वितीय है अन्य कारण कोई है नहीं, अतः जगत् की अनुत्पत्ति ही है तत्त्वदृष्टि से यों जगत् के अपलाप की उपपत्ति होती है। अज्ञानी की दृष्टि से तो सृष्टि के अनादि होने से कारण परम्परा का संभव होने के कारण तथा ब्रह्म की प्रसिद्धि न होने से उत्पत्ति आदि सबकी उपपत्ति होती है। इसलिए जिसने जैसा निर्णय किया उसको वह वैसा प्रतीत होता है यों अपने-अपने निश्चय के अनुसार दोनों की उपपत्ति होती है ॥८॥

कारण के बिना कार्य तद्वत् सिद्ध होता है संभावना के अनुसार ही अर्थ को संवित् निस्सन्देह प्राप्त करती है, अर्थात् युक्ति दृष्टि से तो कारण के बिना उत्पन्न संवित् रूप लब्ध यह जगत् न तो अत्यन्त असत् है और न अत्यन्त सत् है किन्तु सद्वत है ॥९॥

जाग्रत् में भी चैतन्यमय होने से वैसे ही ब्रह्म की सर्वात्मरूसता का संभव है जैसे स्वप्न में चिन्मय आत्मा के सर्वरूप होने से सकुछ का सर्वत्र सर्वथा संभव है ॥१०॥

सर्वात्मनि ब्रह्मपदे नानानानात्मनि स्थिता ।
अस्त्यकारणकार्याणां सत्ता कारणजाऽपि च ॥११॥

एकः सहस्रं भवति यथा ह्येते किलैन्दवाः ।
प्रयाताभूतलक्षत्वं संकल्पजगतां गणैः ॥१२॥

सहस्रमेकं भवति संविदां च तथा हि यत् ।
सायुज्ये चक्रपाण्यादेः सर्गैरेकं भवेद्वपुः ॥१३॥

एक एव भवत्यब्धिः स्रवन्तीनां शतैरपि ।
एक एव भवेत्काल ऋतुसंवत्सरोत्करैः ॥१४॥

संविदाकाश एवाऽयं देहः स्वप्न इवोदितः ।
स्वप्नाद्रिवन्निराकारः स्वानुभूतिस्फुटोऽपि च ॥१५॥

संवित्तिरेवाऽनुभवात्सैवाऽननुभवात्मिका ।
द्रष्टृदृश्यदृशा भाति चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥१६॥

अनेक और एकरूप सर्वात्मक ब्रह्मपद में यथार्थ में बिना कारण के कार्यों की सत्ता स्थित है और कल्पितरूप से कारण जन्य भी सत्ता है अर्थात् मायावाद में तो सब अविरुद्ध है ॥११॥

एक भी सहस्र हो जाता है हजारों संवित् भी वैसे ही एक हो जाती है जैसे कि ये ऐन्दव सङ्कल्पजनित जगतों के समूहों के साथ लाखों भूत बन गये क्योंकि सायुज्य मुक्ति में सब सृष्टियों के साथ विष्णु आदि का (आदि से ब्रह्म, रुद्र, चन्द्र, इन्द्र, सूर्य आदि ग्रहण करना चाहिये) एक शरीर होता है ॥१२, १३॥

सैकड़ों नदियों से भिन्न होता हुआ भी समुद्र एक ही है, ऋतु, संवत्सर आदि से भिन्न भी काल एक ही है अर्थात् भिन्नसत्तावाली वस्तुओं में सत्ता की ऐक्य प्राप्ति तो लोक में भी प्रसिद्ध है ॥१४॥

यह संविदाकाश ही स्वप्न में उदित देह की तरह प्रकट हुआ है, स्वानुभूति से स्फुट भी स्वप्नपर्वत की तरह निराकार है अर्थात् एक ही आत्मा भ्रान्ति से देहादि नानात्व को प्राप्त हुआ जैसे प्रतीत होता है, ॥१५॥

पूर्वोक्त अनुभव से जगत् संवित्रूप ही है वह संवित् ही द्रष्टा और दृश्य की दृष्टि से अर्थात् भ्रान्ति से उनको पृथक्-पृथक् मानकर अननुभवात्मिक जगत्रूप प्रतीत होती है, इसलिए जगत् एकमात्र चिदाकाश ही है ॥१६॥

वेदनावेदनात्मैकं निद्रास्वप्नसुषुप्तवत् ।
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥१७॥

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चिद्भानं परमार्थखम् ।
शून्यं स्वप्न इवाऽऽभाति चिद्व्योमैकमतो जगत् ॥१८॥

जगत्त्वमसदेवेशे भ्रान्त्या प्रथमसर्गतः ।
स्वप्ने भयमिवाऽशेषं परिज्ञातं प्रशाम्यति ॥१९॥

एकस्याः संविदः स्वप्ने यथा भानमनेकधा ।
नानापदार्थरूपेण सर्गादौ गगने तथा ॥२०॥

बहुदीपे गृहे छाया बह्व्यो भान्त्येवकवद्यथा ।
सर्वशक्तेस्तथैवैका भाति शक्तिरनेकधा ॥२१॥

एक ही निद्रा, स्वप्न और सुषुप्ति में क्रम से वेदनात्मिका और अवेदनात्मिका हो जाती है। जैसे वात और स्पन्द अभिन्न हैं वैसे ही चित् और जगत् अभिन्न हैं, इसलिए यह जगत् एकमात्र चिदकाश ही है ॥१७॥

द्रष्टा, दृश्य, दर्शनरूप से सर्वपदार्थशून्य चिद्भान परमार्थाकाश ही स्वप्न की भाँति प्रतीत होता है; इसलिए यह जगत् एक चिदाकाश ही है ॥१८॥

प्रथम सर्ग से ही ईश्वर में भ्रान्ति से प्रतीत हुआ जगत्त्व असद् ही है इसलिए स्वप्न में प्राप्त व्याघ्रादि के भय की तरह परिज्ञात होते ही यह सम्पूर्णतया शान्त हो जाता है ॥१९॥

जैसे एक ही संवित् का स्वप्न में अनेकरूप से भान होता है वैसे ही सृष्टि के आदि में एक ही संवित् का चिदाकाश में नाना पदार्थरूप से भान होता है ॥२०॥

सर्वशक्ति परमात्मा की एक शक्ति माया भी वैसे ही अनेक रूप में प्रतीत होती है जैसे बहुत दीपकोंवाले घर में बहुत-सी कान्तियाँ एकवत् प्रतीत होती हैं अर्थात् अनेक दीप प्रभाओं के एकवद् भाव की तरह एक ही माया शक्ति का अनेकधा भान हो सकता है ॥२१॥

यत्सीकरस्फुरणमम्बुनिधौ शिवाख्ये
व्योम्नीव वृक्षनिकरस्फुरणं न सर्गः ।
व्योम्न्येष वृक्षनिकरो व्यतिरिक्तरूपो
ब्रह्माम्बुधौ न तु मनागपि सर्गबिन्दुः ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु ब्रह्ममयत्वप्रतिपादनं नामैकोनाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१७९॥

आकाश में भ्रान्ति से वृक्ष-समूह के स्फुरण की भाँति इस ब्रह्मरूप समुद्र में जो सीकर-स्फुरण है वही यह सृष्टि है। अन्तर केवल इतना ही है कि आकाश में जो वृक्ष-समूह है वह आकाशधर्म शून्यता से अनुविद्ध रूप से स्फुरण न होने के कारण अत्यन्त भिन्नरूप है और ब्रह्माम्बुधि में यह स्फुरित हो रहा सर्गबिन्दु किंचिन्मात्र भी नहीं है ॥२२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में ब्रह्मयत्व प्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ उन्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७९॥

१८०

श्रीराम उवाच

इमं मे संशयं छिन्धि भगवन्भास्करं तमः ।
भुवनस्येव भावानां सम्यग्रूपानुभूयते ॥१॥
कदाचिदहमेकाग्रो विद्यागेहे विपश्चिताम् ।
संसदि स्थितवान्यावत्तापसः कश्चिदागतः ॥२॥
विद्वान् द्विजवरः श्रीमान्विदेहजनमण्डलात् ।
महातपाः कान्तियुतो दुर्वासा इव दुःसहः ॥३॥
स प्रविश्याऽभिवाद्याऽऽशु सभामाभास्वरद्युतिम् ।
उपविश्याऽऽसने तिष्ठन्नस्माभिरभिवादितः ॥४॥
वेदान्तसांख्यसिद्धान्तवादान् संहृत्य सत्तमम् ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तं तमहं पृष्टवानिदम् ॥५॥
दिर्घाध्वना परिश्रान्तः सयत्न इव लक्ष्यसे ।
वदाऽद्य वदतां श्रेष्ठ कुत आगमनं कृतम् ॥६॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतन्महाभाग ! सुमहायत्नवानहम् ।
यदर्थमागतोऽस्मीह तस्याऽऽकर्णय निर्णयम् ॥७॥
वैदेहो नाम देशोऽस्ति सर्वसौभाग्यसंयुतः ।
स्वर्गस्याऽम्बरसंस्थस्य प्रतिबिम्बमिवाऽवनौ ॥८॥

१८०

हे भगवन्, जिस प्रकार संसार की समग्र वस्तुओं के रूप की सम्यक् अनुभूति के लिए भास्कर अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार आप मेरे इस संशय का नाश कर अर्थात् स्वयं प्रबुद्ध राम चिरकाल तक तत्त्वजिज्ञासा से अपने आश्रय में स्थित कुन्ददन्त नामक द्विज को प्रस्तुत उपदेश के श्रवण से तत्त्वबोध हुआ या नहीं इस अपने सन्देह को गुरुमुख से परिमार्जित करने की इच्छा से आश्चर्यभूत उसकी कथा की भूमिका इस सर्ग में की गई हैं ॥१॥

किसी एक समय जब मैं विश्रामन्दिर में विद्वानों की सभा में स्थित था उस समय कोई द्विजश्रेष्ठ विद्वान्, श्रीमान्, महातपस्वी, कान्तियुक्त और दुर्वासा की तरह दुर्धर्ष, विदेह राजा के राज्य से आया ॥२, ३॥

उस द्विजश्रेष्ठ ने प्रवेश कर शीघ्र ही चारों ओर देदीप्यमान कान्तिमय द्विजसभा को प्रणाम किया और आसन ग्रहण किया हमने भी खड़े हो उसका अभिवादन किया ॥४॥

तब प्रकरण प्राप्त अपने अधीयमान वेदान्त, सांख्य आदि के सिद्धान्तों के वादों को बन्द करके सुख पूर्वक विश्राम करने के अनन्तर बैठे हुए उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से मैंने पूछा ॥५॥

हे विद्वानों में श्रेष्ठ ! दीर्घमार्ग में चलने से थके हुए आप किसी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं। कोह कहाँ से आपका आगमन हुआ ? ॥६॥

ब्राह्मण ने कहा- हे महाभाग ! यह ठीक है कि मैं किसी विशेष अर्थ के लिए बहुत प्रयत्नशील हूँ, मैं यहाँ जिसलिए आया हूँ उसका निर्णय सुने ॥७॥

इस पृथिवी में, आकाश में स्थित स्वर्ग के प्रतिबिम्ब की तरह, वैदेह नाम का सर्वसौभाग्यों से सम्पन्न देश है ॥८॥

तत्राऽहं ब्राह्मणो जातः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ।
कुन्दावदातदन्तत्वा कुन्ददन्त इति श्रुतः ॥९॥

अथाऽहं जातवैराग्यः प्रविहर्तुं प्रवृत्तवान् ।
देवद्विजमुनीन्द्राणां संभ्रमाच्छ्रमशान्तये ॥१०॥

श्रीपर्वतमखण्डेहं कदाचित्प्राप्तवानहम् ।
तत्राऽवसं चिरं कालं मृदु दीर्घं तपश्चरन् ॥११॥

तत्राऽस्त्यरण्यं विदितं मुक्तं तृणावनादिभिः ।
त्यक्ततेजस्तमोभ्रादि भूमाविव नभस्तलम् ॥१२॥

तत्राऽस्ति मध्ये विटपी लघुः पेलवपल्लवः ।
स्थित एषोऽम्बरे शून्ये मन्दराश्मरिवांशुमान् ॥१३॥

लम्बते तस्य शाखायां पुरुषः पापनाकृतिः ।
भानुर्भानाविव रश्मिगुहांतो ग्रथिताकृतिः ॥१४॥

मौञ्जदामनि बद्धोर्ध्वपादो नित्यमवाक्शिराः ।
अष्ठीलत्वं दधदिव महाष्ठीलस्य शाल्मलेः ॥१५॥

दृष्टः प्राप्तेन तं देशं स कदाचिन्मया पुमान् ।
विचारितो निकटतो वक्षःस्थाञ्जलिसंपुटः ॥१६॥

यावज्जीवत्यसौ विप्रो निःश्वसित्यहताकृतिः ।
शीतवातातपस्पर्शान्सर्वान्वेत्ति च कालजान् ॥१७॥

अनन्तरमसावेको नोपचर्य मया बहून् ।
दिवसातपखेदेन विश्रम्भे पातितः शनैः ॥१८॥

पृष्टश्च कोऽसि भगवन्किमर्थं दारुणं तपः ।
करोषीदं विशालाक्ष लक्ष्यालक्ष्यात्मजीवितः ॥१९॥

अथ तेनोक्तमर्थस्ते क इवाऽनेन तापस ।
अर्थेनाऽतिविचित्रा हि भवन्तीच्छाः शरीरिणाम् ॥२०॥

इत्युक्तवान्प्रयत्नेन सोऽनुबन्धेन वै मया ।
यदा पृष्टस्तदा तेन ममोक्तमिदमुत्तरम् ॥२१॥

मथुरायामहं जातो वृद्धिं यातः पितुर्गृहे ।
बाल्ययौवनयोर्मध्ये स्थितः पदपदार्थवित् ॥२२॥

उसी वैदेह देश में ब्राह्मणवंश में मैं उत्पन्न हुआ और विद्या प्राप्त करने के बाद कुन्दपुष्प की तरह चमकीले दाँत होने से कुन्ददन्त नाम से मेरी प्रसिद्धि हुई ॥९॥

अनन्तर हृदय में वैराग्य हुआ में भ्रांति से उत्पन्न संसार क्लेशों की निवृत्ति के लिए देवता, द्विज और मुनीन्द्रों के स्थानों मे भ्रमण करने में प्रवृत्त हो गया ॥१०॥

इसी प्रकार घूमता हुआ मैं कभी श्रीपर्वतपर जा पहुँचा और वहाँ चिरकाल तक मृदु तथा दीर्घकालीन तपस्या करता हुआ अखण्ड चेष्टा के साथ रहा ॥११॥

उस श्रीपर्वत में तृणवनादि से विहीन एक वन प्रसिद्ध है जो भूमि में तेज, तम, बादल आदि से रहित अर्थात् केवल शून्य आकाश के समान है ॥१२॥

उन वन के मध्य में एक कोमल पल्लवों वाला छोटा-सा वृक्ष जसे शून्य आकाश में मन्दकिरण सूर्य स्थित हो वैसे ही स्थित है ॥१३॥

उस वृक्ष की शाखा में एक पवित्र आकृतिवाला पुरुष रस्सी से बँधा हुआ लटक रहा था मानो भानु ही अपनी रश्मियों से पाद बाँधकर लटकता हो ॥१४॥

मूँज की रस्सी से ऊपर की ओर बाँधे हुए पैरोंवाला नित्य नीचे को लटके सिरवाला वह बड़ी बड़ी गाँठोंवाले शाल्मलिवृक्ष की अष्ठीलता को गाँठों की लम्बायमान पर्वग्रन्थिता को धारण किये हुए के समान स्थित था ॥१५॥

भ्रमण करते करते उस देश को प्राप्त कर मैंने वक्षः स्थल में अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करते उस पुरुष को देखा और उसके निकट जाकर विचार किया ॥१६॥

यह ब्राह्मण अभी जीवित तो है, क्योंकि बराबर अहृताकृति होकर श्वास लेता है और तत्तत्समयजन्य शीत, वात, घाम आदि स्पर्शों को जानता है ॥१७॥

अनन्तर उस पुरुष को मैंने बहुत दिनों तक दिवस की धूप सहकर विभिन्न प्रकार की उपचर्या से धीरे-धीरे अपने को विश्वस्त कर लिया ॥१८॥

पूछा हे भगवन् ! आप कौन हैं ? हे विशालाक्ष ! चिरकाल के दीर्घ उच्छ्वासों से लक्ष्य और अलक्ष्य हो रहा है जीवन जिसमें ऐसा दारुणतप क्यों कर रहे हैं ? ॥१९॥

तब उस पुरुष ने कहा— हे तापस ! इस मेरे कुल, देश, तपस्या आदि को जानने से तुमको लाभ क्या है; क्योंकि शरीरियों की अत्यन्त विचित्र इच्छाएँ किसी प्रयोजन से ही होती हैं निष्प्रयोजन अर्थ की जिज्ञासा नहीं होती है ॥२०॥

इतना कहने पर मैंने प्रयत्न से तथा विनयपूर्ण आग्रह से पूछा तब उस तपस्वी ने मुझे यह उत्तर दिया ॥२१॥

मैं मथुरा में उत्पन्न हुआ था और पिता के घर में ही वृद्धि को प्राप्त कर बाल्यावस्था और यौवन के मध्य में अर्थात् कुमार अवस्था में ही पद शब्दशास्त्र और पदार्थ अर्थशास्त्र का ज्ञाता बन गया ॥२२॥

समग्रसुखसंभारकोशो भवति भूमिपः ।
इत्यहं श्रुतवांस्तत्र भोगार्थी नवयौवनः ॥२३॥
अथ सप्तमहाद्वीपविस्तीर्णाया भुवः पतिः ।
स्यामित्यहमुदारात्मा परिबिम्बितवांश्चिरम् ॥२४॥
इत्यर्थेन समागत्य देशमित्थमहं स्थितः ।
अत्र द्वादश वर्षाणि समतीतानि मानद ॥२५॥
तदकारणमित्र त्वं गच्छेष्टं देशमाशुगः ।
अहं चाऽभितप्राप्तेरित्थमेव दृढस्थितिः ॥२६॥
इति तेनाऽहमुक्तः संस्तमित्थं प्रोक्तवाञ्छृणु ।
आश्चर्यश्रवणे चेतः खेदमेति न धीमतः ॥२७॥
साधो यावस्त्वया प्राप्तो न नामाऽभिमतो वरः ।
त्वद्रक्षापरिचर्यार्थमिह तावदहं स्थितः ॥२८॥
मयेत्युक्ते स पाषाणमौनवानभवच्छमी ।
निमीलितेक्षणः क्षीणरूपस्त्वकलनो बहिः ॥२९॥

उन शास्त्रों में मैंने सुना कि राजा समग्र भोगसामग्री का आश्रय होता है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य का उपभोक्ता होता है। नवयौवन भोग का इच्छुक होता ही है ॥२३॥

अनन्तर सप्तमहाद्वीपों में विस्तृत इस पृथ्वी का पति और उदारात्मा याचकों की सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो जाऊं मैं चिरकाल तक ऐसी इच्छा करता रहा ॥२४॥

इसी प्रयोजन से इस देश में आकरके इस प्रकार मैं स्थित हूं और हे मानद, मेरे यहां बारह वर्ष बीत गये हैं ॥२५॥

तुमने जो पूछा वह मैंने कह दिया, इसलिये हे अकारणमित्र, ! शीघ्रता से पर्यटन करते हुए तुम अपने अभीष्ट स्थान को जाओ और मैं भी अपनी अभीष्ट-प्राप्ति तक तपश्चर्या में दृढ़ता से संलग्न होता हूं ॥२६॥

उसके इतना कहने पर मैंने उससे जो कहा सो सुने, क्योंकि आश्चर्य वृत्तान्त सुनने में किसी भी मनीषी का चित्त खिन्न नहीं होता ॥२७॥

मैंने कहा हे साधो ! जबतक तुम अपना अभिलषित वर प्राप्त नहीं कर लेते तबतक तुम्हारी रक्षा और परिचर्या के लिए मैं यहीं रहूंगा ॥२८॥

मेरे इतना कहने पर वह जितेन्द्रिय पाषाणमूर्त्ति की तरह मौन हो गया, उसने आंखे बन्द कर लीं उसका शरीर मृत की तरह हो गया क्योंकि वह बाहर से हिलता डुलता न था ॥२९॥

तथाऽहं पुरतस्तस्य काष्ठमौनव्रतोऽवसम् ।
षण्मासान्विगतोद्वेगं वेगान्कालकृतान्सहन् ॥३०॥
अर्कबिम्बाद्विनिष्क्रम्य तत्प्रदेशान्तरे स्थितम् ।
एकदा दृष्टवानस्मि पुरुषं भानुभास्वरम् ॥३१॥
स तेन पूज्यते यावन्मनसा कर्मणा मया ।
उवाच तावद्वचनममृतस्यन्दसुन्दरम् ॥३२॥
शाखाप्रलम्बनपर हे ब्रह्मन्दीर्घतापस ।
तपः संहर संहारि गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥३३॥
सप्ताब्धिद्वीपवलयां पालयिष्यसि मेदिनीम् ।
सप्तवर्षसहस्राणि देहेनाऽनेन धर्मतः ॥३४॥
एवं समीहितं दत्वा स द्वितीयो दिवाकरः ।
गन्तुमस्तमथाऽर्काब्धिमविशत्प्रोदितो यतः ॥३५॥
तस्मिन् याते मया प्रोक्तं तस्य शाखातपस्विनः ।
श्रुतदृष्टानुभूताग्र्यवरदस्य विवेकिनः ॥३६॥

उस काष्ठवत् मौन तपस्वी के आगे उद्वेग रहित हो कालजन्य शीतोष्णादि वेगों को सहता हुआ मैं छः महीने तक रहा ॥३०॥

एक दिन सूर्यबिम्ब से निकलकर उस प्रदेश में स्थित भानु की तरह चमकते हुए किसी पुरुष को मैंने देखा ॥३१॥

जब उस तपस्वी ने मन से और मैंने कर्म से उस पुरुष की पूजा की तब वह अमृतद्रव की भांति सुन्दर वचन बोला ॥३२॥

हे शाखाओं में लटके हुए दीर्घकाल से तपस्या में निरत ब्रह्मन् ! देह का संहार करनेवाली इस तपश्चर्या को समाप्त करो और अपना अभिमत वर ग्रहण करो ॥३३॥

तुम इसी देह से सप्त समुद्रों से वेष्टित सप्तद्वीपवती मही का सात हजार वर्षों तक धर्मपूर्वक पालन करोगे ॥३४॥

इस प्रकार अभीप्सित वर देकर वह द्वितीय सूर्य के समान पुरुष जहां से उदित हुआ था उसी अस्त होने के लिए प्रवेश कर गया ॥३५॥

उस सूर्य-पुरुष के चले जाने पर मैंने शास्त्रों में जैसा सुना था वैसे ही श्रेष्ठ आदित्य पुरुष को जिसने प्रत्यक्ष देखा था और वरदान व्यवहार से अनुभव किया था ऐसे उस विवेकी शाखातपस्वी से कहा ॥३६॥

संप्राप्ताभिमतं ब्रह्मंस्तरुशाखावलम्बनम् ।
तपस्त्यक्त्वा यथाप्राप्तं व्यवहारं समाचर ॥३७॥

एवमङ्गीकृतवतः पादौ तस्य मया ततः ।
मुक्तौ विटपिनस्तस्मादालानात्कालभाविव ॥३८॥

स्नातः पवित्रहस्तोऽसौ चक्रे जप्त्वाऽघमर्षणम् ।
फलेन पुण्यलब्धेन विटपाद् व्रतपारणम् ॥३९॥

तत्पुण्यवशतः प्राप्तैः स्वादुभिस्तैस्तरोः फलैः ।
समाश्वस्तावसंक्षुब्धावावां तत्र दिनत्रयम् ॥४०॥

सप्तद्वीपसमुद्रमुद्रितदिशं भोक्तुं समग्रां महीं
विप्रः पादपलम्बितेन वपुषा ताम्रवोर्ध्वपादस्तपः ।
संप्राप्याऽभिमतं वरं दिनकृतो विश्रस्य चाऽह्नां त्रयं
सार्धं मत्सुहृदा स्वमेव सदनं गन्तुं प्रवृत्तोऽभवत् ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु तापसोपाख्यानं नामाऽशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८०॥

हे ब्रह्मन् ! वृक्षशाखा में लम्बायमान हो जो आपने तपस्या की थी, उसका फल आपको प्राप्त हो गया, अब आप तप छोड़कर यथाप्राप्त गृहगमन करें ॥३७॥

यह स्वीकार कर लेने पर उस पुरुष के बँधे पैरों को मैंने वृक्ष से वैसे ही मुक्त किया जैसे आलान से बन्धन-स्तम्भ से हाथी के बच्चे के पैरों को मुक्त करते हैं ॥३८॥

स्नान करके पवित्र-हस्त हो अघमर्षण का जप करके तप की सिद्धि के बल से उसी वृक्ष से प्राप्त फलों से मेरे साथ उसने व्रत की पारणा की। उसी के पुण्य-प्रताप से प्राप्त वृक्ष के स्वादयुक्त फलों से आश्वस्त हम दोनों तीन दिन तक आराम के साथ वहाँ रहे ॥३९, ४०॥

सप्तद्वीप और समुद्रों से व्याप्त दिशाओं वाली समग्र पृथ्वी का उपभोग करने के लिए वृक्ष में शरीर लटका कर ऊपर की ओर पैर कर कठिन तपस्या करने के अनन्तर सूर्यपुरुष से अपना अभिलषित प्राप्त करके, उसी वृक्ष के नीचे तीन दिन विश्राम कर पादपीड़ादि की निवृत्ति हो जाने पर वह ब्राह्मण मुझ मित्र को साथ लेकर अपने भवनमथुरा को जाने के लिये प्रवृत्त हुआ ॥४१॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में तापसोपाख्यान नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अस्सीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८०॥

१८१

कुन्ददन्त उवाच

आवासमन्तरे गन्तुं प्रवृत्तौ मुदिताकृती ।
मथुरानगरीं चन्द्रसूर्याविन्द्रपुरीमिव ॥१॥

प्राप्य रोधाभिधं ग्रामं विश्रम्याऽऽस्रवणाचले ।
उषितौ द्वे दिने तस्मिन्सालीसे नगरे सुखम् ॥२॥

अध्वाऽऽनन्दितचित्ताभ्यामावाभ्यामतिवाहितः ।
द्वितीयेऽहनि शीताम्बुस्निग्धच्छायावनद्रुमाः ॥३॥

नदीतीरलतोन्मुक्तपुष्पप्रकरपाण्डुराः ।
तरत्तरङ्गझांकारगायनानन्दिताध्वगाः ॥४॥

स्निग्धद्रुमवनच्छायरणन्मृगविहंगमाः ।
स्थूलशाद्वलशाखाग्रप्रोतावश्यायमौक्तिकाः ॥५॥

जंगलाद्रिपुरग्रामश्वभ्रानूपस्थलावनीः ।
समुल्लङ्घ्य दिने तस्मिन्सरित्स्रोतः सरांसि च ॥६॥

नीतवन्तौ निशामावां कदलीकानने घने ।
तुषारशिशिरे श्रान्तौ कदलीदलतल्पके ॥७॥

१८१

कुन्ददन्त ने कहा—हे भगवन् ! प्रसन्नवदन हम लोग भी मथुरापुरी के लिए रवाना हो शाम तक चलकर मध्य में आवास में जाने के लिए वैसे ही प्रवृत्त हुए जैसे चन्द्र और सूर्य इन्द्रपुरी को, जो पूर्व दिशा में हैं, जाने के लिए प्रवृत्त हो सायंकाल में पश्चिम दिशा में आवास लेते हैं ॥१॥

रोध नामक गाँव में पहुँचकर ग्राम के वनों की अधिकता वाले पर्वत पर विश्राम कर हम लोग दो दिन प्रसिद्ध सालीस नाम के नगर में सुखपूर्वक रहे ॥२॥

दूसरे दिन मार्ग में परस्पर के वृत्तान्तों के श्रवण से आनन्द मग्न चित्त वाले हम लोगों ने अपना बहुत-सा मार्ग लांघा। शीतल जल के झरनों तथा ठंढी छाया वाले वन वृक्षों से पूर्ण, नदी तट पर उगी हुई लताओं द्वारा बर्षाई गई पुष्पराशियों से सफेद, तैर रही तरङ्गों के झनकाररूपी गायन से पथिकों को आनन्दित करने वाली, स्निग्ध छाया वाले वन वृक्षों के तले बैठे मृग और पक्षियों के भाँति-भाँति के शब्दों से कूजित, जिनकी बड़ी-बड़ी हरी घासों की शाखाओं के अग्रभाग पर ओस की बूंदरूपी मोती गुंथे हुए थे, कहीं पर जंगलरूप, कहीं पर पर्वत प्राय, कहीं पर गाँव-नगररूप, कहीं पर गर्तरूप और कहीं पर दलदल रूप पृथिवी को तथा नाना नदियों, सोतों और सरोवरों को पारकर उस दिन बर्फ से अत्यन्त शीतल केले के घने वन में केले के पत्तों के विस्तर पर लेटकर हम लोगों ने रात बिताई ॥३-७॥

प्राप्तावावां तृतीयेऽह्नि अब्जषण्डकमण्डितम् ।
जङ्गलं जनविच्छेदविभक्तं खमिवाऽऽकृतम् ॥८॥

तत्र स प्रकृतं मार्गं परित्यज्य वनान्तरम् ।
प्रविशन्समुवाचेदमकार्यकरणं वचः ॥९॥

गच्छावोऽत्राऽऽश्रमे गौर्यां मुनिमण्डलमण्डिते ।
भ्रातरो मे स्थिताः सप्त वनेष्वेवमिवार्थिनः ॥१०॥

भ्रातरोऽष्टौ वयमिमे जातानेकतया तथा ।
एकसंविन्मया जाता एकसंकल्पनिश्चयाः ॥११॥

तेन तेऽप्यत्र तपसे स्वनिश्चयसमाश्रयाः ।
स्थिता आगत्य विविधैस्तपोभिः क्षपितैनसः ॥१२॥

तैः सार्धं भ्रातृभिः पूर्वमागत्याऽहमिहाऽवसम् ।
षण्मासानाश्रमे गौर्यास्तेन दृष्टो मयैष सः ॥१३॥

तीसरे दिन हम लोग कमल राशियों तथा लता-विकुञ्जों से परिवेष्टित जंगल में जो चारों ओर घास और लकड़ियाँ ले जाने वाले लोगों द्वारा काट-काट कर विभक्त बनाया गया था अतएव बादलों के विभक्त आकाश-सा था, पहुँचे ॥८॥

वहाँ पर प्रस्तुत मार्ग को छोड़कर दूसरे वन में प्रवेश-कर रहे उस तपस्वी ने मुझसे वृथा कालविलम्ब द्वारा प्रस्तुत गृहगमन रूप कार्य में विघ्न डालने वाला अकार्य-करणरूप वचन कहा ॥९॥

हम लोग यहाँ गौरी के आश्रम में चलें, यह आश्रम मुनियों के मण्डल से सुशोभित है। मेरे सात भाई मेरी ही तरह पृथिवी के पति बनने के अभिलाषी हो यहाँ पर स्थित हैं ॥१०॥

हम सब मिलकर ये आठ भाई हैं। पूर्ववर्णित सप्त-द्वीपों के राज्यभोग की इच्छा से उत्पन्न अनेक मनोरथों से युक्त होने से हम आठों भाई तपस्या के लिए एक संविन्मय एक ही दृढ़ निश्चय वाले हुए ॥११॥

इस कारण वे शेष सात भाई भी अपने दृढ़ निश्चय का आवलम्बन कर यहाँ गौरी कानन में तपस्या के लिए आकर स्थित हैं। विविध तपस्याओं से उन्होंने अपने सब पाप काट डाले हैं ॥१२॥

उन भाइयों के साथ आकर यहाँ गौरी आश्रम में पहले छः महीने मैं रह चुका हूँ इस कारण पहले मैंने जो देखा था यही वह गौरी-कानन है ॥१३॥

पुष्पखण्डतरुच्छायासुप्तमुग्धमृगार्भकः ।
पर्णोटजाग्रविश्रान्तशुकोद्ग्राहितशास्त्रदृक् ॥१४॥

तद् ब्रह्मलोकसंकाशमेहि मुन्याश्रमं श्रिये ।
गच्छावोऽच्छतरं तत्र चेतः पुण्यैर्भविष्यति ॥१५॥

विदुषामपि धीराणामपि तत्त्वविदामपि ।
त्वरते हि मनः पुंसामलंबुद्धिविलोकने ॥१६॥

तेनेत्युक्ते च तावावां प्राप्तौ मुन्याश्रमं च तम् ।
यावत्तत्र महारण्ये पश्यावश्चाऽन्तरूपिणम् ॥१७॥

न वृक्षं नोटजं किंचिन्न गुल्मं न च मानवम् ।
न मुनिं नाऽर्भकं नाऽन्यन्न वेदिं न च वा द्विजम् ॥१८॥

केवलं शून्यमेवाऽस्ति तदरण्यमनन्तकम् ।
तापोपतप्तमभितो भूमौ स्थितमिवाऽम्बरम् ॥१९॥

यहाँ पर पुष्प राशि से परिपूर्ण सुन्दर वृक्षों की छाया में सुलौने मृगछौने सोये रहते हैं। पर्णशालाओं के छप्परों के किनारों पर बैठे हुए सुग्गे विविध शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥१४॥

इसलिए आओ सर्वविध मंगल के लिए ब्रह्मलोक-सदृश मुनि-आश्रम में चलें। वहाँ पर पुण्यों से हमारा मन, सकल दोषों का विनाश होने से, अत्यन्त स्वच्छ हो जायगा ॥१५॥

तत्त्वदर्शन से परिपूर्ण मन वान वाले महात्माओं के दर्शन के लिए विद्वान्, सुधीर और तत्त्वज्ञानी पुरुषों का भी मन छटपटाता है हमारी तो कौन बात है ॥१६॥

तपस्वी के यह कहने पर हम दोनों उस मुनि-आश्रम में जा पहुँचे तो हमने उस महावन में आश्रम को प्रलय-कालीन रूपवान् अर्थात् शून्य देखा ॥१७॥

न वहाँ कोई वृक्ष देखा, न कोई कुटिया देखी, न कोई झाड़ी देखी, न कोई मनुष्य देखा, न कोई मुनि देखा, न कोई बच्चा देखा, न वेदी देखी और न कोई ब्राह्मण देखा। इनके अतिरिक्त और भी वहाँ कुछ न था ॥१८॥

वह असीम जंगल केवल अत्यन्त शून्य ही था चारों ओर सूर्य के ताप से सन्तप्त वह भूमि में स्थित आकाश-सा लगता था ॥१९॥

हा कष्टं किमिदं जातमिति तस्मिन्वदत्यथ।
भ्राम्यां सुचिरं भ्रान्त्वा दृष्ट एकत्र वृक्षकः ॥२०॥
स्निग्धच्छविर्घनच्छायः शीतलोऽम्बुधरोपमः।
तले तस्य समाधाने संस्थितो वृद्धतापसः ॥२१॥
आवामग्रे मुनेस्तस्य च्छायायां शाद्वलस्थले।
उपविष्टौ चिरं यावन्नासौ ध्यानान्निवर्तते ॥२२॥
तत्तश्चिरेण कालेन मयोद्वेगेन चापलात्।
उक्तं! मुने प्रबुध्यस्व ध्यानादित्युच्चकैर्वचः ॥२३॥
शब्देनोच्चैर्मदीयेन संप्रबुद्धोऽभवन्मुनिः।
सिंहोऽम्बुदरवेणेव जम्भां कृत्वाऽम्युवाच च ॥२४॥
कौ भवन्ताविमौ साधू क्वाऽसौ गौर्याश्रमो गतः।
केन वाऽहमिहाऽऽनीतः कालोऽयं कश्च वर्तते ॥२५॥
तेनेत्युक्ते मयाऽप्युक्तं भगवन्विद्धि चेदृशम्।
न किंचिदावां बुद्धोऽपि कस्माज्जानामि न स्वयम् ॥२६॥
इति श्रुत्वा स भगवान्पुनर्ध्यानमयोऽभवत्।
ददर्शोदन्तमखिलमस्माकं स्वात्मनस्तथा ॥२७॥
मुहूर्तमात्रेणोवाच प्रबुध्य ध्यानतो मुनिः।
श्रूयतामिदमाश्चर्यमार्यौ हि कार्यवेदिनौ ॥२८॥
यमिमं पश्यथः साधू कदम्बतरुपुत्रकम्।
मदास्पदमरण्यान्या धम्मिल्लमिव पुष्पितम् ॥२९॥
केनाऽपि कारणेनाऽस्मिन्सती वागीश्वरी सती।
अवसद्दश वर्षाणि समस्तर्तुनिषेविता ॥३०॥
तदा तेनेह विस्तीर्णमभवद्धनकाननम्।
गौरीवनमिति ख्यातं भूषितं कुसुमर्तुभिः ॥३१॥
भृङ्गाङ्गनाजनमनोहरहारिगीत-
लीलाविलोलकलकण्ठविहंगमङ्ग ।
पुष्पाम्बुवाहशतचन्द्रनभोवितानं
राजीवरेणुकणकीर्णदिगन्तरालम् ॥३२॥
मन्दारकुन्दमकरन्दसुन्धिताशं
संमूच्छ्वसत्कुसुमराशिशशाङ्कनिष्ठम्।
संतानकस्तवकहासविकासकान्त-
मामोदिमारुतसमस्तलताङ्गनौघम् ॥३३॥

इसके पश्चात् उस तपस्वी के हाय यह क्या अनर्थ हो गया यह कहने पर हम लोगों ने चिरकाल तक भटक कर एक जगह एक वृक्ष देखा ॥२०॥

उस शीतल वृक्ष की छवि आकर्षक थी, छाया अतिसघन थी, वह जलपूर्ण मेघ के समान गहरी हरियाली लिये काला था। उसके नीचे एक बूढ़ा तपस्वी समाधि लगाये बैठा था ॥२१॥

हम दोनों उस मुनि के आगे छाया में हरी घास से आच्छन्न भूमि पर बैठ गये। जब चिरकाल तक प्रतीक्षा करने पर भी वह तपस्वी ध्यान से निवृत्त नहीं हुआ तब चिरकाल की प्रतीक्षा से उत्पन्न उद्वेगवश अपने चञ्चल स्वभाव से मैंने 'हे मुने ध्यान से जागिये' यह वचन जोर से कहा ॥२२, २३॥

मेरे ऊँचे स्वर से मुनि ध्यान से जाग गये और और सिंह के समान मेघध्वनि से जंभाई लेकर उन्होंने कहा ॥२४॥

हे साधो! आप लोग कौन हैं? यह गौरी-आश्रम कहाँ गया? मुझे यहाँ शून्यवन में कौन लाया और यह कौन युग है? ॥२५॥

उस वृद्ध तपस्वी के कहने पर मैंने भी कहा, हे भगवन्! यह सब हम कुछ नहीं जानते इसलिए आप ही जानें। आप सर्वज्ञ होते हुए योग-बल से यह सब स्वयं क्यों नहीं जान लेते? ॥२६॥

यह सुनकर वह भगवान् तपस्वी फिर ध्यान में मग्न हो गये। समाधि द्वारा उन्होंने हमारा और अपना सारा वृत्तान्त जान लिया ॥२७॥

एक मुहूर्त में ध्यान से जागकर मुनि ने कहा—हे कार्यज्ञ आर्यो! आप लोग आश्चर्यभूत इस वृत्तान्त को सुनें ॥२८॥

हे सज्जनों! मेरा आवासभूत सुन्दरता के कारण इस काननदेवी की चोटी-सा जो यह कदम्बवृक्षरूपी बच्चा आप लोगों को दिखाई देता है यहाँ किसी विशेष कारण से भगवती पार्वतीजी सरस्वती बनकर सकल ऋतुओं से सेवित हो दस वर्ष रहीं ॥२९-३०॥

उनके यहाँ रहने के कारण यहाँ विशाल विविड जंगल हो गया, यह पुष्पप्रधान ऋतुओं से विभूषित वन गौरी-वन नाम से विख्यात हुआ ॥३१॥

हे सज्जनों! जहाँ पर भ्रमरियों के मनोमोहक गीत विलासों से कोयल चञ्चल रहते थे, फूलों की वर्षा करनेवाले मेघसदृश वृक्षों से आकाशरूपी चँदवे में सैकड़ों चन्द्रमा स्थित थे और कमल के पराग-कणों से दिगन्त-व्याप्त रहते थे। जो मन्दार, और कुन्द के मकरन्दों से (पुष्परसों) दिशाओं को सदा सुगन्धित करता था। जहाँ चारों ओर विकसित हो रही पुष्पराशिरूपी चन्द्र-बिम्बों में शोभा व्याप्त थी, एक तरह का कल्पवृक्ष के पुष्पस्तवकरूपी हास के विकास से जो अत्यन्त रमणीय था, जहाँ लतारूपी अङ्गनाएँ सुगन्धित वायु से पूर्ण रहती थीं, ऐसा यह गौरी-वन वसन्तऋतु का नगर-सा सुरम्य था, इसके भँवरों का गाना अपूर्व था, यह गुंजार

पुष्पाकरस्य नगरं नवगीतभृङ्गं
भृङ्गाङ्गनाकुसुमखण्डकमण्डपाढ्यम् ।
चन्द्रांशुजालपरिकोमलपुष्पदोला-
दोलायमानसुरसिद्धवधूसमूहम् ॥३४॥

हारीतहंसशुककोकिलकोककाक-
चक्राह्वभासकलविङ्ककुलाकुलाङ्गम् ।
भेरुण्डकुक्कुटकपिञ्जलहेमचूड-
राढामयूरवककल्पितकेलिरम्यम् ॥३५॥

गन्धर्वयक्षसुरोसिद्धकिरीटघृष्ट-
पादाब्जकर्णिककदम्बसरस्वतीकम् ।
वातायनं कनककोमलचम्पकौघ-
ताराम्बराम्बुधरपूरगृहीतगन्धम् ॥३६॥

मन्दानिलस्खलितपल्लवबालवल्ली-
विन्यासगुप्तदिवसाधिपरश्मिशीतम् ।
पीतं कदम्बकरवीरकनालिकेर-
तालीतमालकुलपुष्पपरागपूरैः ॥३७॥

कह्लारकीर्णकुमुदोत्पलपद्मखण्ड-
वल्गच्चकोरबककोककदम्बहंसम् ।
तालीसगुग्गुलकचन्दनपारिभद्र-
भद्रद्रुमोदरविहारिविचित्रशक्ति ॥३८॥

तस्मिन्वने चिरमुवास हरार्धदेहा
केनाऽपि कारणवशेन चिराय गौरी ।
भूत्वा प्रसन्नशशिबिम्बमुखी कदम्ब-
वागीश्वरी शशिकलेव शिवस्य मूर्ध्नि ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु तापसोपा० गौर्याश्रमवर्णनं नामैकाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८१॥

कर रहीं भँवरियों से व्याप्त पुष्पराशि के मण्डपों से परिपूर्ण था, चन्द्रकिरणराशि के समान चारों ओर से कोमल फुलरूपी झूलों में देवाङ्गनाएँ और सिद्धाङ्गनाएँ यहाँ झूला झूलती थीं ॥३२-३४॥

इस वन का प्रत्येक भाग हारीत, हंस, सुग्गे, कोकिल, चक्रवाक, सारस और गौरया के झुण्डों से भरा रहता था, भेरुण्ड, गौरेया, तीतिर, राढा, मयूर, बगुला आदि द्वारा की गई विविध क्रीडाओं से रमणीय था ॥३५॥

यहाँ पर कदम्बवृक्षनिवासिनी श्रीसरस्वतीदेवीजी के चरणकमलों में गन्धर्व, यक्ष, देवता और सिद्ध अपने मुकुटों को रगड़ते थे (प्रणाम करते थे)। यह वन सुगन्ध वायु का आवास था, इसके सुवर्ण के समान रमणीय चम्पकों से सितारों और मेघों ने सुगन्ध ग्रहण की ॥३६॥

मन्द वायु से अपने स्थान से हटने वाले पल्लवों से युक्त छोटी-छोटी नवीन लताओं के विस्तारों से छिपे हुए निकुञ्जों में सूर्य की रश्मियों के न पहुँचने के कारण यह वन खूब ठण्डा रहता था, कदम्ब, कनेर, नारियल, ताड़ और तमाल के वृक्षों की इसमें इतनी अधिकता थी कि उनके फूलों के कणों से यह सारा वन पीला रहता था ॥३७॥

इसमें रक्त कमलों से मिले हुए कुइँ और कमलों से पूर्ण तड़ागों में हंस चकोर आदि जलचर पक्षियों के झुण्डों के साथ अपनी मस्त चाल से चलते थे तथा तालीस, गुग्गुल, चन्दन, निम्ब आदि वृक्षों के अन्दर विहार करनेवाली बड़ी विचित्र सर्वाभिलषितपूर्ण करनेवाली शक्ति थी ॥३८॥

इस प्रकार के उत्तम वन में भगवान् शङ्करजी की अर्धाङ्गिनी जगदम्बा भगवती गौरी किसी कारण से भगवान् श्रीशिवजी के मस्तक पर विराजमान शशिकला सी मनोहर प्रसन्न चन्द्रबिम्बवदना कदम्बसरस्वती बनकर चिरकालतक रहीं। उनका रहना ही इस वन की अलौकिक सम्पदाओं का कारण था ॥३९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में ब्रह्मगीताओं में तापसोपाख्यान में गौर्याश्रमवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ इक्यासिवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८१॥

१८२

वृद्धतापस उवाच

तस्मिन्नेव कदम्बेऽस्मिन्वर्षाणि स्वेच्छया दश ।
स्थित्वा गौरी जगामाऽथ हरवामार्धमन्दिरम् ॥१॥

तत्स्पर्शामृतसिक्तोऽयं कदम्बतरुपत्रकः ।
उत्सङ्ग इव चोसीनो न यात्येव पुराणताम् ॥२॥

ततो गौर्यां प्रयातायां तद्वनं तादृशं महत् ।
सामान्यवनतां यातं जनवृन्दोपजीवितम् ॥३॥

मालवो नाम देशोऽस्ति तत्राऽहं पृथिवीपतिः ।
कदाचित्त्यक्तराज्यश्रीर्मुनीनामाश्रमान्भ्रमन् ॥४॥

इमं देशमनुप्राप्त इह चाश्रमवासिभिः ।
पूजितोऽस्य कदम्बस्य ध्याननिष्ठस्तले स्थितः ॥५॥

केनचित्त्वथ कालेन भ्रातृभिः सप्तभिः सह ।
भवानभ्यागतः पूर्वं तपोर्थमिममाश्रमम् ॥६॥

तपस्विनोऽष्टाविह ते तथा नाम तदाऽवसम् ।
तथा तपस्विनोऽन्ये ते तेषां मान्यास्तपस्विनः ॥७॥

कालेनाऽनन्तरमसावेकः श्रीपर्वतं गतः ।
स्वामिनं कार्तिकेयं च द्वितीयस्तपसे गतः ॥८॥

वाराणसीं तृतीयस्तु चतुर्थोऽगाद्धिमाचलम् ।
इहैव ते परे धीराश्चत्वारोऽन्ये परं तपन् ॥९॥

सर्वेषामेव चैतेषां प्रत्येकं त्वेतदीप्सितम् ।
यथा समस्तद्वीपाया भुवोऽस्याः स्यां महीपतिः ॥१०॥

अथ संपादितं तेषां सर्वेषामेतदीप्सितम् ।
तपस्तुष्टाभिरिष्टाभिर्देवताभिर्वरैर्वरैः ॥११॥

तपतस्ते ततो याता भ्रातरः सदनं निजम् ।
भूमौ धर्मयुगं भुक्त्वा वेधा ब्रह्मपुरीमिव ॥१२॥

१८२

वृद्ध तपस्वी ने कहा—हे सज्जनो ! भगवती गौरी उसी इस कदम्ब में अपनी इच्छा से दस वर्ष बैठकर शिवजी के वामभाग रूप मन्दिर को चली गईं ॥१॥

उनके स्पर्शरूपी अमृत से सींचा गया यह कदम्ब वृक्षरूपी देवी पुत्र गोद में बैठा हुआ-सा हो कभी पुराना नहीं होता ॥२॥

अनन्तर भगवती श्रीगौरी के चले जाने के बाद उस प्रकार की विभूति वाला वह महावन साधारण वनों की तरह जनसाधारण का घास, लकड़ी, फल फूल आदि आहरण से जीविका का साधन बन गया ॥३॥

मालव नाम का प्रसिद्ध देश है । उसमें मैं राजा था । किसी समय राज्य का परित्याग कर मुनियों के आश्रमों में घूमता-घूमता मैं इस प्रदेश में आ पहुँचा । यहाँ पर आश्रम वासियों का आदर सत्कार पाकर इस कदम्ब के पेड़ के नीचे समाधि लगा कर बैठ गया ॥४, ५॥

इसके पश्चात् कुछ समय बीतने पर आप अपने सात भाइयों के साथ तपस्या करने के लिए पहले इस आश्रम में आये ॥६॥

वे आठ तपस्वी उस समय उस प्रकार के तपस्वी बनकर यहाँ रहे जिस प्रकार अन्य जो तपस्वी उस समय थे उनके भी पूज्य वे हो गये ॥७॥

अनन्तर कुछ काल के अनन्तर उनमें से यह आप तपस्या के लिए श्रीपर्वत को चले गये, दूसरा भाई स्वामी कार्तिकेय के समीप क्रौञ्च पर्वत को गया, तीसरा भाई काशी को गया और चौथा हिमालय को गया । अवशिष्ट चार धृतिमान् भाइयों ने यहीं पर परम तपस्या की ॥८, ९॥

सबकी एक मात्र यही अभिलाषा थी कि मैं समस्त-द्वीप वाली इस पृथिवी का अधिपति होऊँ ॥१०॥

अनन्तर तपस्या से सन्तुष्ट हुए इष्ट देवताओं ने श्रेष्ठतम वरों से उन सभी की वह अभिलाषा पूर्ण की ॥११॥

अनन्तर आपको तपस्या करते छोड़कर शेष सब भाई जैसे धर्मप्रधान कृतयुग का भूमि में उपभोग कर उसके अन्त में ब्रह्मा ब्रह्मलोक को जाते हैं वैसे ही वे सब अपने घर चले गये ॥१२॥

तैर्भवद्भ्रातृभिर्भव्यवरदानविधौ तदा ।
इदं वरोद्यता यत्नात्प्रार्थिताः स्वेष्टदेवताः ॥१३॥
देव्यस्माकमिमे सर्वे सप्तद्वीपेश्वरस्थितौ ।
सत्याः प्रकृतयः सन्तु सर्वं आश्रमवासिनः ॥१४॥
तमिष्टदेवतासार्थमुररीकृत्य सादरम् ।
तेषामस्त्वेवमित्युक्त्वा जगामाऽन्तर्द्धिमीश्वरी ॥१५॥
ते ततः सदनं यातास्तेषामाश्रमवासिनः ।
सर्व एव गताः पश्चादेक एवाऽस्मि नो गतः ॥१६॥
अहं केवलमेकान्ते ध्यानैकगतमानसः ।
वागीश्वरीकदम्बस्य तले तिष्ठामि शैलवत् ॥१७॥
अथ काले वहत्यस्मिन्नृतुसंवत्सरात्मनि ।
इदं सर्वं वनं छिन्नं जनैः पर्यन्तवासिभिः ॥१८॥
इदं कदम्बमम्लानं जनताः पूजयन्त्यलम् ।
वागीश्वरीगृहमिति मां चैवैकसमाधिगम् ॥१९॥

उत्तम वरदान के समय आपके उन भाइयों ने वर देने के लिए तैयार अपनी इष्ट देवियों की प्रयत्नतः यह प्रार्थना की ॥१३॥

हे देवि ! हमारी सप्तद्वीपेश्वरता की स्थिति के समय प्रजाभूत सब लोग झूठे व्यवहार का परित्याग कर दें अर्थात् सच्चे रहें, ये सब आश्रमवासी लोग भी स्वस्वधर्म-निरत रहें तथा सभी सप्तद्वीप निवासी अपने-अपने आश्रम धर्म और वर्णधर्म में रत रहें ॥१४॥

वह भगवती इष्ट देवी उनके अभिलषित अर्थ को, आदर पूर्वक स्वीकार कर तथा उनसे 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्हित हो गई ॥१५॥

अनन्तर वे अपने घर गये । उनके पीछे सभी आश्रम-वासी भी गये, केवल एक मैं नहीं गया ॥१६॥

मैं अकेले एकान्त में वागीश्वरी कदम्ब के नीचे एक मात्र ध्यान में चित्त लगाकर शिला की तरह बैठा रहता हूँ ॥१७॥

अनन्तर इस ऋतु, संवत्सर आदि रूप समय के बीतने पर आस-पास में रहने वाले लोगों ने सपूर्ण वन छिन्न-भिन्न कर डाला ॥१८॥

कभी न मुरझाने वाले इस कदम्ब वृक्ष को, इसे वागीश्वरी का मन्दिर समझकर; लोग खूब पूजते हैं। एकमात्र समाधि में मग्न रहने वाले मुझे भी खूब पूजते हैं॥१९॥

अथैनं देशमायातौ भवन्तौ दीर्घतापसौ ।
एतत्तत्कथितं सर्वं ध्यानदृष्टं मयाऽखिलम् ॥२०॥
तस्मादुत्थाय हे साधू ! गच्छतं गृहमागतौ ।
तत्र ते भ्रातरः सर्वे संगता दारबन्धुभिः ॥२१॥
अष्टानां भवतां भव्यं सदने स्वे भविष्यति ।
महात्मनां ब्रह्मलोके वसूनामिव संगमः ॥२२॥
इत्युक्तं तेन स मया पृष्टः परमतापसः ।
संदेहादिदमाश्चर्यमार्यास्तद्वर्णयाम्यहम् ॥२३॥
एकैव सप्तद्वीपाऽस्ति भगवन्भूरियं किल ।
तुल्यकालं भवन्त्यष्टौ सप्तद्वीपेश्वराः कथम् ॥२४॥

कदम्बतापस उवाच

असमञ्जसमेतावदेव नो यावदुच्यते ।
इदमन्यदसंबद्धतरं संश्रूयतां मम ॥२५॥

अनन्तर आप दोनों महातपस्वी इस प्रदेश में आये । यह सब ध्यान से देखा गया सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने साकल्येन आप लोगों से कहा ॥२०॥

हे साधु पुरुषो ! यहाँ आये हुए आप लोग उठकर घर जायें वहाँ आपके सब भाइयों का स्त्री-बन्धुओं के साथ समागम हो चुका है । जैसे ब्रह्मलोक में देवलोक में आठ वसुओं का भव्य समागम हुआ वैसे ही अपने घर पर आप आठों महात्माओं का भव्य समागम होगा ॥२१, २२॥

हे आर्य सभासदो ! उसके यह कहने पर मैंने सन्देह से उस महातपस्वी से यह आश्चर्य वृत्तान्त पूछा, उसे मैं आप लोगों से कहता हूँ ॥२३॥

हे भगवन् ! सुनने में आता है कि यह एक ही सप्त-द्वीपा भूमि है । ऐसी अवस्था में तुल्यकाल में आठों सप्त-द्वीपा वसुमती के अधिपति कैसे होंगे ? ॥२४॥

कदम्ब तपस्वी ने कहा—हे सज्जनो ! इन लोगों के सम्बन्ध में यही केवल असंबद्ध वृत्तान्त है यह बात नहीं है यह दूसरा वृत्त भी अधिक असंबद्ध मैं कहता हूँ, उसे असंबद्ध वृत्तान्त है यह बात नहीं है यह दूसरा वृत्त भी अधिक असंबद्ध मैं कहता हूँ, उसे आप लोग मुझसे सुने ॥२५॥

एतेऽष्टौ भ्रातरस्तत्र तापसा देहसंक्षये।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे भविष्यन्ति गृहोदरे ॥२६॥

अष्टौ ह्येते महीपीठेष्वेतेष्वेतेषु सद्मसु।
सप्तद्वीपेश्वरा भूपा भविष्यन्तीह मे शृणु ॥२७॥

अस्त्येतेषां किलाऽष्टानां भार्याष्टकमनिन्दितम्।
दिगन्तराणां नियतं ताराष्टकमिवोज्ज्वलम् ॥२८॥

तद्भार्याष्टकमेतेषु यातेषु तपसे चिरम्।
बभूव दुःखितं स्त्रीणां यद्वियोगो हि दुःसहः ॥२९॥

दुःखिताः प्रत्यये तेषां चक्रुस्ता दारुणं तपः।
शतचान्द्रायणं तासां तुष्टाऽभूत्तेन पार्वती ॥३०॥

अदृश्योवाच सा तासां वचोऽन्तःपुरमन्दिरे।
देवी सपर्यावसरे प्रत्येकं पृथगीश्वरी ॥३१॥

देव्युवाच

भर्त्रर्थमथ चाऽऽत्मार्थं गृह्यतां बालिके ! वरः।
चिरं क्लिष्टाऽसि तपसा निदाघेनेव मञ्जरी ॥३२॥

ये आठ तपस्वी भाई देह-नाश होने पर वहाँ घर के अन्दर ही सब सप्तद्वीप अधिपति होंगे ॥२६॥

ये आठ भाई इन्हीं घरों में इन्हीं महासिंहासनों सप्तद्वीपाधिपति राजा होंगे यह मुझसे सुनें ॥२७॥

इन आठ भाइयों की पूर्व आदि दिशाओं की नियत आठ ताराओं की तरह आठ श्लाघनीय भार्याएँ हैं ॥२८॥

वे आठों पत्नियाँ इनके तपस्या के लिए चले जाने पर चिरकालतक अति दुःखी रहीं, क्योंकि स्त्रियों को वियोग असह्य होता है ॥२९॥

पतियों का बार-बार स्मरण होने पर दुःखी होकर उन्होंने शतचान्द्रायणरूप घोर तप किया। उससे भगवती पार्वती उन पर प्रसन्न हुईं ॥३०॥

अन्तःपुर गृह में पूजा के समय अदृश्य होकर भगवती पार्वतीजी उनसे अलग अलग बोलीं ॥३१॥

देवीजी ने कहा—हे पुत्रि ! दीर्घ तपस्या से तुमने वैसे ही क्लेश पाया है अब तुम पति के लिए और अपने लिए वरदान लो जैसे गर्मी से मञ्जरी चिरकाल तक क्लेश पाती है ॥३२॥

इत्याकर्ण्य वचो देव्या दत्तपुष्पा चिरंटिका।
स्ववासनानुसारेण कुर्वाणेवेश्वरीस्तवम् ॥३३॥

आनन्दमन्थरोवाच वचनं मृदुभाषिणी।
आकाशसंस्थितां देवीं मयूरीवाऽभ्रमालिकाम् ॥३४॥

चिरंटिकोवाच

देवि ! देवाधिदेवेन यथा ते प्रेम शम्भुना।
भर्त्रा मम तथा प्रेम स भर्ताऽस्तु ममाऽमरः ॥३५॥

देव्युवाच

आसृष्टेर्नियतेर्दार्ढ्यादमरत्वं न लभ्यते।
तपोदानैरतोऽन्यं त्वं वरं वरय सुव्रते ! ॥३६॥

चिरंटिकोवाच

अलभ्यमेतन्मे देवि ! तन्मद्भर्तुर्गृहान्तरात्।
मृतस्य मा विनिर्यातु जीवो बाह्यमपि क्षणात् ॥३७॥

देहपातश्च मे भर्तुर्यदा स्यादात्ममन्दिरे।
तदेतदस्त्वति वरो दीयताम्बिके मम ॥३८॥

देवी का यह वचन सुनकर देवी के चरणों में पुष्पाञ्जलि अर्पित कर मृदुभाषिणी सौभाग्यवती वधू ने मारे आनन्द के विह्वल होकर अपनी वासना के अनुसार भगवती की स्तुति करते हुए आकाश में स्थित देवी से वैसे ही कहा जैसे आकाश में स्थित मेघमाला से मयूरी बोलती है ॥३३,३४॥

चिरंटिक ने कहा—(सुवासिनी ने सौभाग्यवती ने कहा—) हे देवि ! देव-देव भगवान् श्रीशिवजी के साथ जैसा आप का प्रेम है वैसा ही पतिदेव के साथ मेरा प्रेम हो और मेरे वे पतिदेव अमर हों ॥३५॥

देवी ने कहा—हे भद्रे ! आदि सृष्टि से लेकर चली हुई ईश्वराज्ञारूप नियति का भङ्ग करना संभव न होने के कारण तपस्या, दान आदि द्वारा अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती, इसलिए हे सुव्रते ! तुम दूसरा कोई वर माँगो ॥३६॥

चिरंटिक ने कहा—(सुवासिनी ने कहा—) हे देवि ! मेरे लिए यह वर अलभ्य है तो जब अपने घर में मेरे पति का देहपात हो तो मृत मेरे पति का जीव घर के अन्दर से एक क्षण के लिए भी बाहर न जाय। हे अम्बिके ! यही एक वर मुझे दीजिये ॥३७,३८॥

देव्युवाच

एवमस्तु सुते त्वं च पत्यौ लोकान्तरास्थिते।
भविष्यसि प्रिया भार्या देहान्ते नात्र संशयः ॥३९॥

इत्युक्त्वा विरामाऽसौ गौर्या गोगंगनोदरे।
मेघमालाध्वनिरिव निरवद्यसमुद्यता ॥४०॥

देव्यां गतायां भर्तारस्तासां कालेन केनचित्।
ते ककुब्भ्यः समाजग्मुः सर्वे प्राप्तमहावराः ॥४१॥

अद्याऽयमपि संयातु भार्याया निकटं पतिः।
भ्रातॄणां बान्धवानां च भवत्वन्योन्यसंगमः ॥४२॥

इदमन्यदथैतेषामसमञ्जसमाकुलम् ।
शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमार्यकार्योपरोधकम् ॥४३॥

तप्यतां तप एतेषां पितरौ तौ वधूयुतौ।
तीर्थमुन्याश्रमश्रेणीं द्रष्टुं दुःखान्वितौ गतौ ॥४४॥

देवीजी ने कहा—हे पुत्रि ! ऐसा ही हो, उस मूर्ख को उत्तम वर याचना में अकुशल देखकर देवी स्वयं दूसरा वर देती हैं और पति का देहान्त होने पर सप्तद्वीपाधिपत्य में स्थित होनेपर तुम उसकी प्रिय भार्या होओगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३९॥

उत्तम कल्याण के लिए उद्यत हुई भगवती पार्वतीजी की वाणी यह कहकर वैसे ही विरत हुई जैसे लोक-कल्याण के लिए उद्यत हुई मेघमाला की ध्वनि बन्द होती है ॥४०॥

श्रीदेवी के चले जाने पर कुछ समय के पश्चात् उनके वे सब पति महा वर प्राप्त कर दिशाओं से वापस आये ॥४१॥

आज यह आठवाँ भाई पति भी अपनी पत्नी के समीप जाय, भाइयों और बन्धुबान्धवों का आपस में समागम हो ॥४२॥

हे साधो ! सत्कर्मों फलों में बाधा डालने वाली इनकी यह दूसरी असमञ्जसपूर्ण आश्चर्यकारी दुर्घटना आप सुनिये ॥४३॥

इन आठों भाइयों के तप करते समय इनके दुःखी माता-पिता इनकी बहुओं के साथ तीर्थ और मुनियों के तपोवनों के दर्शन के लिए गये ॥४४॥

शरीरनैरपेक्ष्येण पुत्राणां हितकाम्यया।
गन्तुं कलापग्रामं तं यत्नवन्तौ बभूवतुः ॥४५॥

तौ प्रयातौ मुनिग्राममार्गे ददृशतुः सितम्।
पुरुषं कपिलं ह्रस्वं भस्माङ्गं चोर्ध्वमूर्धजम् ॥४६॥

धूलीलवमनादृत्य तं जरत्पान्थशङ्कया।
यदा तौ जग्मतुस्तेन स उवाचाऽन्वितः क्रुधा ॥४७॥

सवधूक महामूर्ख ! तीर्थार्थी दारसंयुतः।
मां दुर्वाससमुल्लङ्घ्य गच्छस्यविहितानतिः ॥४८॥

वधूनां ते सुतानां च गच्छतस्तपसार्जिताः।
विपरीता भविष्यन्ति लब्धा अपि महावराः ॥४९॥

इत्युक्तवन्तं तं यावत्सदारोऽथ वधूयुतः।
सन्मानं कुरुते तावन्मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥५०॥

वे शरीर सुख की कोई परवाह न कर अपने पुत्रों की कल्याणकामना से प्रसिद्ध कलापग्राम नामक तीर्थ को जाने के लिए प्रयत्नवान् हुए ॥४५॥

जब वे अपने घर से रवाना हुए तो मुनियों के आश्रम के मार्ग में एक सफेद वृद्ध पुरुष उन्हें दीख पड़ा। उसका रंग कपिल कोहड़े के समान लाली लिये पीला था, कद नाटा था, शरीर पर भस्म रमी थी और सिर के बाल खड़े थे ॥४६॥

वे आठों भाइयों के माता-पिता यह कोई बूढ़ा बटोही होगा, इस आशङ्का से उस मुनि का अपमान कर अर्थात् नमस्कार, पुजा, स्तुति आदि आदर न कर प्रत्युत जाने की शीघ्रता में उसके ऊपर धूलिकणों का प्रक्षेप कर जब आगे बढ़े तब उक्त अपराध से क्रुद्ध उस मुनि ने कहा ॥४७॥

अरे वधूसहित महामूर्ख ! स्त्री के साथ तीर्था-भिलाषी हो मुझ दुर्वासा ऋषि का अपमान कर मुझे नमस्कार आदि किये बिना जाता है ॥४८॥

इस प्रकार जा रहे तुम्हारे बहुओं और पुत्रों की तपस्या से उपार्जित प्राप्त प्राप्त हुए भी महावर विपरीत दुःखदायी हो जायँगे ॥४९॥

इसके बाद दुर्वासा मुनि के यह कहने के बाद स्त्री और बहुओं के साथ वह मुनि का प्रणाम आदि द्वारा आदर करने के लिए जैसे ही प्रवृत्त हुआ वैसे ही मुनि अन्तर्हित हो गये ॥५०॥

अथ तौ पितरौ तेषां सवधूकौ सुदुःखितौ ।
कृशीभूतौ दीनमुखौ निराशौ गृहमागतौ ॥५१॥
अतो वदाम्यहं तेषां नैकं नामाऽसमञ्जसम् ।
असमञ्जसलक्षाणि गण्डे स्फोटाः स्फुटा इव ॥५२॥

चिद्व्योमसंकल्पमहापुरेऽस्मि-
न्नित्थं विचित्राण्यसमञ्जसानि ।
निःशून्यरूपेऽपि हि संभवन्ति दृश्ये
यथा व्योमनि दृश्यजृम्भाः ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु तापसोपाख्यानान्तर्गतसप्तद्वीपेश्वरोपाख्याने सप्त० नाम द्व्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८२॥

उनके माता-पिता उनकी बहुओं के साथ अति दुःखी हुए । दुःख के मारे उनका शरीर सूखकर कृश हो गया और मुंह फीका पड़ गया, वे पुत्रों के कल्याण की आशा छोड़कर घर लौट आये ॥५१॥

इसलिए मैं कहता हूं कि उनका एक ही वृत्तान्त असमञ्जस नहीं है, अपितु जैसे गले में हुए घेंघेपर अनेक फोड़े हों और वे फूट जायें वैसे ही उनके लाखों असमञ्जस हैं ॥५२॥

जैसे आकाश में उत्पातवश गन्धर्वनगर, धूमकेतु, कबन्ध, उल्का आदि दृश्यों का विकास होता है वैसे ही चिदाकाश के सङ्कल्पभूत सर्वथाशून्य दृश्यरूप इस महानगर में लाखों असमञ्जस होते हैं अर्थात् इस प्रकार अन्यत्र भी (इस मायामय जगत् में भी) लाखों असमञ्चसों का संभव है ॥५३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में तापस उपाख्यान के अन्तर्गत सप्तद्वीपेश्वर उपाख्यान में सप्त० नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बयासीवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१८२॥

१८३

कुन्ददन्त उवाच

ततः पृष्टो मया तत्र स गौर्याश्रमतापसः ।
तापसंशुष्कदर्भाग्रजराजर्जरमूर्धजः ॥१॥
एकैव सप्तद्वीपाऽस्ति वसुधा यत्र तत्र ते ।
सप्तद्वीपेश्वरा अष्टौ भवन्ति कथमुत्तमाः ॥२॥
यस्य जीवस्य सदनान्नाऽस्ति निर्गमनं बहिः ।
स करोति कथं सप्तद्वीपेशत्वेन दिग्जयम् ॥३॥
यैर्वरा वरदैर्दत्ताः शापैस्ते तद्विरुद्धताम् ।
कथं गच्छन्ति गच्छन्ति कथं छाया हि तापताम् ॥४॥
मिथोऽशक्यां कथं धर्मौ स्थितिमेकत्र गच्छतः ।
आधार एवाधेऽऽयत्वं करोति कथमात्मनि ॥५॥

गौर्याश्रमतापस उवाच

संपश्यसि किमेतेषां भो साधो ! शृण्वनन्तरम् ।
अष्टमेऽस्मिन्सुसंप्राप्ते तं प्रदेशं सबान्धवम् ॥६॥

१८३

कुन्ददन्त ने कहा—हे आर्य सभासदो ! तदनन्तर वहांपर मैंने उस गौरीआश्रम के तपस्वी, जिसके बाल बुढ़ापे के कारण घाम से सूखे हुए कुशों के अग्रभाग के समान जर्जर थे, पूछा ॥१॥

हे भगवन् ! जहां एक ही सप्तदीपवाली पृथिवी है वहां वे आठ उत्तम सप्तद्वीपाधिपति कैसे हो सकते हैं ? ॥२॥

जिस जीव का घर से बाहर निकलना ही संभव नहीं है वह सप्तद्वीपाधीश्वररूप से दिग्विजय कैसे कर सकता ? ॥३॥

जिन वरदाताओं ने वर दिये वे वर शापों से विपरीत फलदायकता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं, शीतल छाया ग्रीष्म की धूप कैसे बन सकती है ? ॥४॥

वर और शाप की फलतावाले शुभत्व और अशुभत्व धर्म एक ही धर्मी में स्थिति को, जो संभव नहीं है, कैसे प्राप्त होते हैं अर्थात् एक ही फल वर और शाप दोनों का फल हो यह कठिन ही नहीं असंभव है,

शङ्का—यद्यपि वे एक धर्मी के आश्रित नहीं हो सकते तथापि परस्पराश्रित तो हो सकते हैं ।

समाधान—आधार ही अपने में आधेयता कैसे कर सकता है ? एक ही का अपने में आराधेयभाव का संभव नहीं, ॥५॥

गौरी-आश्रम के तपस्वी ने कहा—हे साधो ! इनका

इतो भवन्तौ तं देशमासाद्य सुखसंस्थितौ ।
स्वबन्धुसुखसंस्थानौ कंचित्कालं भविष्यतः ॥७॥
ततस्तेऽष्टौ मरिष्यन्ति भ्रातरः क्रमशो गृहे ।
बन्धवोऽस्य करिष्यन्ति तेषां देहांस्तदग्निसात् ॥८॥
तेषां ते संविदाकाशाः पृथक्पृथगवस्थिताः ।
मुहूर्तमात्रं स्थास्यन्ति सुषुप्तस्था जडा इव ॥९॥
एतस्मिन्नन्तरे तेषां तानि कर्माणि धर्मतः ।
एकत्र संघटिष्यन्ति वरशापात्मकानि खे ॥१०॥
कर्माणि तान्यधिष्ठातृदेवरूपाणि पेटकम् ।
वरशापशरीराणि कारष्यन्ति पृथक् पृथक् ॥११॥
वरास्तेऽत्र गमिष्यन्ति सुभगाः पद्मपाणयः ।
ब्रह्मदण्डायुधाश्चन्द्रधवलाङ्गाश्चतुर्भुजाः ॥१२॥
शापास्तत्र भविष्यन्ति त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
भीषणाः कृष्णमेघाभा द्विभुजा भ्रुकुटीमुखाः ॥१३॥

क्या असमञ्जस देखते हो। इसके बाद इनकी जो घटना घटेगी उसे सुनो। उसी से तुम्हारे सन्देह का समाधान हो जायगा। आज के दिन से आठवें इसी दिन के प्राप्त होनेपर आप दोनों लोग अपने बन्धु-बान्धवों से पूर्ण उस मथुरा प्रदेश में पहुँचेंगे। मथुरा प्रदेश में पहुँचकर कुछ काल तक अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सुखस्थिति-वाले आप लोग सुख से रहेंगे ॥६,७॥

अनन्तर क्रमशः वे आठों भाई घरपर मरेंगे। तब उनके बन्धु-बान्धव उनके शरीरों को उनके द्वारा आहित अग्नियों के अधीन करेंगे यानी अन्त्येष्टियों द्वारा तत् तत् अग्नियों मे दाह से संस्कृत करेंगे ॥८॥

पृथक् पृथक् स्थित उनके वे जीव जड़ों की तरह मुहूर्तभर सुषुप्ति मे स्थित रहेंगे ॥९॥

इसी बीच में उनके वे वरशापरूप कर्म फलों के अवश्यम्भावी स्वभाव से एक जगह आकाश में अर्थात् तत् तत् चित्तावच्छिन्न आकाश में संघटित होंगे ॥१०॥

वे कर्म तत् तत् फलप्रद देवतारूप होकर अपने अपने अनुकूल समूहों से घटित संपुट अलग अलग बनायेंगे इस प्रकार संपुटरूप हुए वर और शाप अलग अलग वरशाप-शरीरों का निर्माण करेंगे ॥११॥

यहाँपर वे सुन्दर, कमल हाथ में लिए, ब्रह्मदण्डरूपी अस्त्र से विभूषित, चन्द्रमा के समान शुभ्र शरीरवाले और वे चतुर्भुज होंगे ॥१२॥

वरा वदिष्यन्ति

सुदूरं गम्यतां शापाः कालोऽस्माकमुपागतः ।
ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥१४॥

शापा वदिष्यन्ति

गम्यतां हे वरा ! दूरं कालोऽस्मामुपागतः ।
ऋतूनामिव तन्नाम कः समर्थोऽतिवर्तितुम् ॥१५॥

वरा वदिष्यन्ति

कृता भवन्तो मुनिना वयं दिनकृता कृताः ।
मुनीनां चाऽधिको देवो भगवन्तं पुरा यतः ॥१६॥
प्रवदत्सु वरेष्वेवं शापाः क्रुद्धधियो वरान् ।
विवस्वता कृता यूयं वयं रुद्रांशतः कृताः ॥१७॥
देवानामधिको रुद्रो रुद्रांशप्रभवो मुनिः ।
इत्युक्त्वा प्रोद्यता तेषां चक्रुः शृङ्गाण्यगा इव ॥१८॥

वहाँ शाप तीन नेत्रवाले, शूल हाथ में लिये हुए, भयानक, काले बादल से शरीरवाले, दो हाथों से युक्त और मुंहपर भौंह चढ़ाये हुए होंगे ॥१३॥

वर कहेंगे—हे शापो ! आप लोग दूर भाग जायं। ऋतुओं की तरह हम लोगों का समय उपस्थित है। उसका कौन उल्लघन कर सकता है ॥१४॥

शाप कहेंगे—हे वरो ! आप लोग दूर चले जायं ऋतुओं की तरह हमारा समय आ गया है उसे उल्लंघन करने की किसमें सामर्थ्य है ॥१५॥

वर कहेंगे— आप लोगों का निर्माण मुनिजी ने (दुर्वासा ने) किया है और हमारी रचना सूर्य ने की है। भगवान् सूर्य मुनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पहले ब्रह्मा ने भगवान् सूर्य की मुनियों से सृष्टि की ॥१६॥

वरों के ऐसा कहनेपर क्रोध से झुंझलाये हुए शापों ने, आप लोगों की सृष्टि सूर्य ने की और हम रुद्रांश से बनाये गये हैं। देवताओं में रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं और मुनि दुर्वासा रुद्रांश से उत्पन्न हैं यों वरों से कहकर जैसे पर्वत शिखरों को उद्यत करते हैं वैसे ही वरों के प्रति त्रिशूलाग्र उद्यत किये ॥१७-१८॥

शापेषूद्यतभृङ्गेषु वरा इदमरातिषु ।
विहसन्तः प्रवक्ष्यन्ति प्रमेयीकृतनिश्चयम् ॥१९॥

हे शापाः ! पापतां त्यक्त्वा कार्यस्याऽन्तो विचार्यताम् ।
यत्कार्यं कलहस्याऽन्ते तदेवाऽऽदौ विचार्यताम् ॥२०॥

पितामहपुरीं गत्वा कलहान्ते विनिर्णयः ।
कर्तव्योऽस्माभिरेतत्किमादौ नेह विधीयते ॥२१॥

शापैर्वरोक्तमाकर्ण्य बाढमित्युररीकृतम् ।
को न गृह्णाति मूढोऽपि वाक्यं युक्तिसमन्वितम् ॥२२॥

ततः शापा वरैः सार्धं यास्यन्ति ब्रह्मणः पुरम् ।
महानुभावा हि गतिः सदा संदेहनाशने ॥२३॥

प्रणामपूर्वं तत्सर्वं यथावृत्तं परस्परम् ।
ब्रह्मणे कथयिष्यन्ति श्रुत्वा तेषां स वक्ष्यति ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

वरशापाधिपा भो भो यतः सारा जयन्ति ते ।
केऽन्तःसारा इति मिथो नूनमन्विष्यतां स्वयम् ॥२५॥

शापरूपी शत्रुओं के त्रिशूल उठानेपर उनका उपहास कर रहे वे सम्यक् विचार द्वारा निश्चित अपने स्वार्थ का निश्चय कहेंगे ॥१९॥

हे शापो ! दुष्टता अनुचितकारिता का त्यागकर कार्य का अन्त विचारो । कलह के अन्त में जो कुछ करना है वह वही पहले कर लेना चाहिये यह विचार लेना ठीक है ॥२०॥

कलह के अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर हमें निर्णय करना ही पड़ेगा इस झगड़े में वही बात पहले क्यों न कर ली जाय। ।२१॥

शापों ने वरों का वचन सुनकर 'बहुत अच्छी बात है' यों उनकी सलाह मान ली । चाहे मूढ़ ही क्यों न हों, युक्तियुक्त वचन कौन मानेगा ॥२२॥

तदनन्तर शाप वरों के साथ ब्रह्मलोक में जायँगे । सदा ही सन्देह की निवृत्ति करने के लिए महानुभाव लोग ही शरण होते हैं ॥२३॥

वे ब्रह्माजी को प्रणाम कर आपस में तकरार हुआ था उसे सब ज्यों का त्यों कहेंगे । उनका कथन सुनकर ब्रह्माजी कहेंगे ॥२४॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे वराधिपो ! और हे शापाधिपो ! जो अन्तःसारवान् होंगे वे जीतेंगे इसलिए आप लोग आपस में कौन अन्तःसारवान् हैं यह स्वयं अवश्य अन्वेषण करें ॥२५॥

इति श्रुत्वा प्रविष्टास्ते सारतां समवेक्षितुम् ।
वराणां हृदयं शापाः शापानां हृदयं वराः ॥२६॥

ते परस्परमन्विष्य स्वयं हृदयसारताम् ।
ज्ञात्वा च समवायेन प्रवक्ष्यन्ति पितामहम् ॥२७॥

शापा वक्ष्यन्ति

जिताः प्रजानाथ वयं नाऽन्तःसारा वयं यतः ।
अन्तःसारा वरा एव वज्रस्तम्भा इवाऽचलाः ॥२८॥

वयं किलेमे भगवन् ! वराः शापाश्च सर्वदा ।
ननु संविन्मया एव देहोऽन्योऽस्माकमस्ति नो ॥२९॥

वरदस्य हि या संविद्वरो दत्त इति स्थिता ।
सैवार्थिनि मया लब्धो वरोऽयमिति तिष्ठति ॥३०॥

विज्ञप्तिमात्रकचनं देहं सैव फलं ततः ।
पश्यत्यनुभवत्यत्ति देशकालशतभ्रमैः ॥३१॥

वरदात्मगृहीतत्वाच्चित्कालान्तरसंभृता ।
यदा तदाऽन्तःसाराऽसौ दुर्जया न तु शापजा ॥३२॥

यह सुनकर वरों के हृदयों में शाप और शापों के हृदयों में वर सारता देखने के लिए प्रविष्ट हुए ॥२६॥

वे परस्पर टटोलकर स्वयं हृदय-सारता को जानकर ब्रह्माजी से परस्पर ऐकमत्यरूप मेल से कहेंगे ॥२७॥

शाप कहेंगे—हे प्रजापते ! हम लोग अन्तःसारवान् नहीं हैं इसलिए हम ही वरों द्वारा जीते गये हैं । वज्रस्तम्भों के समान अचल वर ही अन्तःसारवान् हैं ॥२८॥

हे भगवन्; ये वर और शापरूप हम लोग सदा संविन्मय ही है । हमारा स्वरूप संवित् के सिवा दूसरा नहीं है ॥२९॥

वरदाता की 'मैंने वर दिया' इस तरह स्थित जो संवित् है वहीं वर-प्रार्थी में 'मैंने यह वर पाया' यों स्थित हो है ॥३०॥

वर का फल सुखभोगायतन देह विज्ञप्तिमात्र स्फुरण ही है, इसलिए वह विज्ञप्ति ही देहाकार बनकर देश; काल आदि की कल्पनारूप सैकड़ों भ्रमों से तत् तत् भोग्य पदार्थों को देखती है, उनका अनुभव करती है और भक्षणीय वस्तुओं का भक्षण करती है ॥३१॥

शास्त्रीय तपस्याकायिक दृढ़ निश्चय से अपने वश में किये हुए संवित्स्वरूप वरदाता से गृहीत होने के कारण वरकल्पनारूप चित् फलावस्था में जब पूर्णरूप से परिपुष्ट होती है तब अन्तःसारयुक्त वही दुर्जय होती है शाप जनित चित् अन्तःसारयुक्त नहीं होती है ॥३२॥

वरप्रदानं वरदैर्वरदानां वरार्थिभिः।
यदा सुचिरमभ्यस्तं वराणां सारता तदा ॥३३॥

यदेव सुचिरं संविदभ्यस्यति तदेव सा।
सारमेवाऽऽशु भवति भवत्याशु च तन्मयी ॥३४॥

शुद्धानामतिशुद्धैव संविज्जयति संविदाम्।
अशुद्धानां त्वशुद्धैव कालात्साम्यं न विद्यते ॥३५॥

क्षणांशेनाऽपि यो ज्येष्ठो न्यायस्तेनाऽवपूर्यते।
नाऽर्थे न्यायान्तरं किंचित्कर्तुमुत्सहते मदम् ॥३६॥

समेनोभयकोटिस्थं मिश्रं वस्तु भवेत्समम्।
वरशापविलासेन क्षीरमिश्रं यथा पयः ॥३७॥

जब वर देनेवाले और प्रार्थी पुरुषों द्वारा वर देनेवालों के वरप्रदान का चिरकाल तक अभ्यास किया जाता है तब वरों की अन्तःसारता होती है ॥३३॥

संवित् जिसी का चिरकाल तक अभ्यास करती है तन्मयी वह शीघ्र वही हो जाती है और वही संसार हो जाता है ॥३४॥

शास्त्रीय होने के कारण शुद्ध संविदों में से अति विशुद्ध जो संवित् होती है वही सबसे प्रबल होती है इसलिए अशुद्ध संविदों में अशुद्ध ही प्रबल होती है, लेकिन उनके फल में भी तुल्यता नहीं है ॥३५॥

क्षणांश से भी जो श्रेष्ठ है उससे ज्येष्ठत्व न्याय की पूर्ति होती है, क्योंकि ज्येष्ठ के उत्पत्ति के समय वह (उसका विरोधी) उत्पन्न नहीं हुआ रहता, इससे वह भलीभाँति बद्धमूल हो जाता है। अप्रामाणजन्य की ज्येष्ठता बाध्य होने में कारण है जैसे कि प्रमाण द्वारा दृढ़ीकृत अर्थ में अनपेक्षित रजतभ्रम ज्ञान की ज्येष्ठता बाध्यता में कारण यह है यह प्रसिद्ध है। अन्य न्याय शाप की प्रबलता सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं है अर्थात् ज्येष्ठ होने के कारण भी वरसंवित् की प्रबलता है, ॥३६॥

दूधमिश्रित जल की तरह समान बलवाले वर और शाप के विलास से शुभ-अशुभ उभय कोटिस्थ समानरूप से मिश्रित वस्तु होती है जैसे कि मनुष्य शरीर अर्थात् जहाँपर विरुद्ध कर्मों की अथवा वर और शाप का प्रमाणाभ्यासादि साम्य हो वहाँपर दोनों का मिश्रित फल होता है ॥३७॥

समाभ्यां वरशापाभ्यामथवा चिद्‌द्विरूपताम्।
स्वयमेवाऽनुभवति स्वप्नेष्विव पुरात्मिका ॥३८॥

शिक्षितं त्वत्त एवेति यत्तदेव तव प्रभो!।
पुनः प्रतीपं पठितं शीघ्रं यामो नमोऽस्तु ते ॥३९॥

इत्युक्त्वा स स्वयंशापः क्वाऽपि शापगणो ययौ।
प्रशान्ते तिमिरे दृष्टे व्योम्नि केशोण्ड्रकं यथा ॥४०॥

अथाऽन्यो वरपूगोऽत्र गृहनिर्गमरोधकः।
स्थानिस्थानमिवाऽऽदेशः समानार्थोऽभ्यपूरयत् ॥४१॥

शापस्थानका वदिष्यन्ति

सप्तद्वीपेशजीवानां निर्याणं शवसद्मनः।
देवेश! विद्मो न वयमन्धकूपादिवाऽम्भसाम् ॥४२॥

अथवा जैसे स्वप्नों में नगरात्मक चित् नगरवासी लोगों के देह-भेद से विभिन्न-सी मालूम होती है वैसे ही जीवचित् एक समय में भिन्न देश में भोग्य समानबली वर और शापों से अपनी द्विरूपता का स्वयं अनुकरती है अर्थात् जहाँपर एक काल में भिन्न देश में भोग्य समानबलवाले वर और शाप होते वहाँपर विपश्चित् उपाख्यान में वर्णित न्याय से उपाधि के विभाग द्वारा एक ही जीवचित् एक ही समय देहभेद से दो रूप की हो जाती ॥३८॥

हे प्रभो! जो आप के चरणों के समीप बैठकर आप से सीखा था उसका आपके सामने ही पुनः पारायण करना धृष्टता का सूचक होने से हमारे अपराध को क्षमा करें अतः आपके लिए नमस्कार है, हम लोग शीघ्र अपने स्थान को जाते हैं ॥३९॥

स्वयं ही वृथा आयास करनेवाले अपनी मूर्खता प्रकट करनेवाले अपने को लज्जा से शाप देनेवाला वह शापगण यह कहकर वैसे ही चला गया जैसे दृष्टि के तिमिर हट जाने पर आकाश में भ्रान्तिकृत केशों का वर्तुलाकार गोला कहीं चला जाता है ॥४०॥

इस प्रकार दुर्वासाजी के शापों के चले जानेपर सप्तद्वीपाधिपता के विरुद्ध घर से निर्गमन का निरोधक उनकी भार्याओं को गौरी द्वारा दिये गये वरसंघ ने शापों के स्थान की वैसे ही पूर्ति की जैसे वैयाकरणप्रक्रिया में आदेश स्थानी के स्थान की पूर्ति करता है ॥४१॥

शापों के स्थानों पर बैठे हुए वर ब्रह्माजी से कहेंगे—हे देवाधिदेव! अन्धे कुओं से जलों के बाहर निर्गम की तरह सप्तद्वीपों के अधिपति जीवों का शवगृह से बाहर निकलना हम नहीं जानते हैं, कारण की उनका बाहर निर्गमन हम लोगों द्वारा अवरुद्ध है ॥४२॥

सप्तद्वीपेश्वरानेतानिमे द्वीपेषु सद्मसु।
कारयन्ति वरा वर्या वीरा दिग्विजयं रणे ॥४३॥
तदेवमनिवार्येऽस्मिन्विरोधे विबुधेश्वर !।
यदनुष्ठेयमस्माभिस्तदादिश शिवाय नः॥४४॥

ब्रह्मोवाच

सप्तद्वीपेश्वरवरा ! गृहरोधवराश्च हे !।
कामः संपन्न एवेह भवतां भवतामपि ॥४५॥
व्रजतैतदपेक्षत्वं यावन्नेष्टावपि क्षणात्।
चिरं चिराय सदने सप्तद्वीपेश्वराः स्थिताः॥४६॥
समनन्तरमेवैते देहपातात्स्वसद्मसु।
सप्तद्वीपेश्वराः सर्वे संपन्नाः परमं वराः॥४७॥

सर्वे वरा वदिष्यन्ति

कुतो भूमण्डलान्यष्टौ सप्तद्वीपानि भूतयः।
एकमेवेह भूपीठं श्रुतं दृष्टं च नेतरत्॥४८॥
कथं चैतानि तिष्ठन्ति कस्मिंश्चिद् गृहकोशके।
पद्माक्षकोशके सूक्ष्मे कथं मान्ति मतंगजाः॥४९॥

ये श्रेष्ठ वीर इन सप्त द्वीपेश्वरों को गृहरूपी द्वीपों में रण दिग्विजय कराते हैं ॥४३॥

हे देवाधिदेव ! इसलिए इस तरह अनिवार्य इस विरोध में जो हमें करना चाहिये उसका हमारे कल्याण के लिए हमें आदेश दीजिये ॥४४॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे सप्तद्वीपेश्वर बनानेवाले वरों ! और हे घर में रोकने वाले वरों ! आप सब लोगों की अभिलाषा पूर्ण ही हो गई ॥४५॥

आप लोग इस परस्परापेक्षता को प्राप्त हो जाओ। क्योंकि आप लोगों के इच्छा न करने पर भी आठों भाई मरने के उत्तर क्षण में ही बहुत काल से अपने घर में ही सप्तद्वीपेश्वर बनकर विराजमान हैं ॥४६॥

हे वरो ! देह छूटने के बाद ही ये सब लोग अपने घरों में सप्तद्वीपेश्वर बन गये ॥४७॥

सब वर कहेंगे—हे भगवन् ! सात द्वीपवाले आठ भूमण्डल कहाँ हैं और उनके विविध ऐश्वर्य कहाँ है ? यहाँ एक ही भूपीठ सुना और देखा गया है उसके अतिरिक्त सुनने और देखने में नहीं आया ॥४८॥

किसी एक घर के अन्दर वे सात द्वीपवाले भूखण्ड कैसे रह सकते हैं, छोटे से कमलगट्टे के अन्दर बहुत से हाथी कैसे समा सकते ? ॥४९॥

ब्रह्मोवाच

युक्तं युष्माभिरस्माभिः सर्वं व्योमात्मकं जगत्।
स्थितं चित्परमाण्वन्तरन्तःस्वप्नोऽनुभूयते ॥५०॥
भाति यत्परमस्याऽणोरन्तस्थस्वगृहोदरे।
स्फुरितं तत्किमाश्चर्यं कः स्मयः प्रकृतेः क्रमे ॥५१॥
मृतेरन्तरं भाति यथास्थितमिदं जगत्।
शून्यात्मैव घनाकारं तस्मिन्नेव क्षणे चितः॥५२॥
अणावपि जगन्माति यत्र तत्र गृहोदरे।
सप्तद्वीपा वसुमती कचन्तीति किमद्भुतम्॥५३॥
यद्भातीदं च चित्तत्त्वं जगत्त्वं न जगत्क्वचित्।
चिन्मात्रमेव तद्भाति शून्यत्वेन यथाऽम्बरम्॥५४॥
इति ते ब्रह्मणा प्रोक्ता वरदेन वरास्ततः।
तानाधिभौतिकभ्रान्तिमयान् संत्यज्य देहकान्॥५५॥
प्रणम्याऽजं समं जग्मुरातिवाहिकदेहिनः।
सप्तद्वीपे च देवानां गृहकोशान्कचज्जनान्॥५६॥

ब्रह्माजी ने कहा—हे वरो ! आप लोग और हम लोग व्यष्टि-समष्टियों से युक्त व्योमात्मक सारे जगत् का; जो सच्चित्परमाणु के अन्दर स्थित है, अन्दर स्वप्नरूप से ही अनुभव करते हैं, अतः वह परमाणु के अन्दर स्थित स्वगृह के भीतर जो स्फुरित होकर समाता है वह क्या आश्चर्य है (क्या अपूर्व है), प्रकृति के क्रम में कौन विस्मय है ॥५०,५१॥

[जगत् की स्वप्न तुल्या का प्रदर्शन करते हुए पूर्वोक्त बात को स्पष्ट करते हैं—]

मृत्यु के बाद उसी क्षण में शून्यात्मक होता हुआ भी घनाकार यह जगत् ज्यों का त्यों स्फुरित होता है जहाँ सच्चित्-परमाणु में भी जगत समा जाता है वहाँ उस घर के अन्दर सप्तद्वीपा पृथ्वी स्फुरित होती है, इसमें क्या अनहोनी बात है ॥५२,५३॥

जो यह जगत् का भान होता है वह तत्त्वतः चित्तत्त्व ही है। चूँकि जैसे शून्यरूप से आकाश स्फुरित होता है वैसे ही चिन्मात्र ही जगत्रूप से भासित होता है, इसलिए जगत् कहीं परम मूर्त नहीं है जिससे कि घर के भीतर वह न समा सके ॥५४॥

तदनन्तर वरदान देनेवाले श्रीब्रह्माजी द्वारा यों समझाये गये वे वर पहले कल्पित अपने आधिभौतिक भ्रान्तिमय शरीरों का त्यागकर आतिवाहिक शरीरवाले बनकर ब्रह्माजी को प्रणाम कर विरोध न रहने के कारण सब साथ ही तत् तत् के मन से कल्पित सप्तद्वीप में तत्-तत् देवताओं के गृहों को, जिनमें विविध जन स्फुरित हो रहे थे, गये ॥५५,५६॥

यावत्तं तत्र संपन्नाः सप्तद्वीपाधिनायकाः ।
अष्टावपीष्टापुष्टानां दिनाष्टकमहीभुजाम् ॥५७॥

ते परस्परमज्ञाता अज्ञाश्चाऽन्योन्यबन्धवः ।
अन्योन्यभूमण्डलगा अन्योन्याऽभिमते हिताः ॥५८॥

तेषां कश्चिद् गृहस्याऽन्तरेव तारुण्यसुन्दरः ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां राजधान्यां सुखे स्थितः ॥५९॥

शाकद्वीपास्पदः कश्चिन्नागलोकजिगीषया ।
विचरत्यब्धिजठरे सर्वदिग्विजयोद्यतः ॥६०॥

कुशद्वीपराजधान्यां निराधिः सकलप्रजाः ।
कृतदिग्विजयः कश्चित्सुप्तः कान्तावलम्बितः ॥६१॥

शाल्मलिद्वीपशैलेन्द्रशिरःपुर्याः सरोवरे ।
जललीलारतः कश्चित्सह विद्याधरीगणैः ॥६२॥

क्रौञ्चद्वीपे हेमपुरे सप्तद्वपविवर्धिते ।
प्रवृत्तो वाजिमेधेन कश्चिद्यष्टुं दिनाष्टकम् ॥६३॥

उद्यतः शाल्मलिद्वीपे कश्चिद् द्वीपान्तचारिणा ।
योद्धुमुद्धृतदिग्दन्तिदन्ताकृष्टकुलाचलः ॥६४॥

गोमेदद्वीपकः कश्चित्पुष्करद्वीपराट् ।
समानेतुं वशाद्याति कषत्सेनोऽष्टमोऽभवत् ॥६५॥

पुष्करद्वीपकः कश्चिल्लोकालोकाऽद्रिभूभुजः ।
दूतेन सह निर्यातो धनभूमिदिदृक्षया ॥६६॥

प्रत्येकमित्थमेतेषां द्वीपद्वीपाधिनाथताम् ।
कुर्वतां स्वगृहाकाशे दृष्ट्वा स्वप्रतिभोचिताम् ॥६७॥

त्यक्ताभिमानिकाकारा द्विविधास्ते वरास्ततः ।
तत्संविद्भिर्गृहेष्वन्तरेकतां खानि खैरिव ॥६८॥

यास्यन्ति ते भविष्यन्ति संप्राप्ताभिमताश्चिरम् ।
सप्तद्वीपेश्वरास्तुष्टा नन्वष्टावपि तुष्टिमत् ॥६९॥

वे आठों भाई उस घर में यज्ञ आदि सत्कर्म और बन्धुजनों से परिपुष्ट तथा आठ जगतों के विभाग से ब्रह्मा के आठ दिनों तक आदि राजा स्वायंभुव मनुओं के कुल में सप्तद्वीपों से युक्त पृथिवी के अधिनायक हो गये ॥५७॥

प्रत्येक के मैं भ्रातृसहित हूँ यों कल्पना करने से अन्योन्य बन्धु, सबके भिन्न-भिन्न राज्य होने के कारण आधिपत्य के अंश के विषय में अज्ञ, परस्पर एक दूसरे को राजा न जानने वाले, अतएव अन्योन्य के अभिमत में हित न कि विरुद्ध चेष्टावाले वे अन्योन्य के भूमि-मण्डल में स्थित हुए ॥५८॥

उनमें से प्रत्येक के चरित्रभेद की कल्पना कहते हैं।

उनमें यौवन से सुन्दर एक भाई घर के भीतर ही उज्जयिनि नाम की महापुरीरूप राजधानी में सुख से स्थित है। शाकद्वीपनिवासी दूसरा भाई, जो सकल दिशाओं के विजय में उद्योगशील है; नागलोक को जीतने की इच्छा से सागर के गर्भ में विचरण करता है। तीसरा भाई, जिसकी सकल प्रजा निश्चिन्त है और जो सम्पूर्ण दिशाओं का विजय कर चुका है, कुशद्वीप की राजधानी में कान्ता से आलिङ्गित होकर सोया है। चौथा भाई शाल्मलिद्वीप-पर्वत के शिखर पर स्थित नगरी के क्रीडासरोवर में विद्याधरियों के साथ जलक्रीडा में निरत है ॥५९,६२॥

पाँचवाँ भाई क्रौञ्चद्वीप में सातो द्वीपों से लाई गई महा ऋद्धियों से सुसमृद्ध हेमपुर में ब्रह्मा के आठ दिनों तक बराबर अश्वमेध यज्ञ द्वारा भगवान् का पूजन करने के लिए प्रवृत्त है ॥६३॥

छठा भाई शाल्मलिद्वीप में उखाड़े गये दिग्गजों के दाँतों से कुलाचलों को खींचकर दूसरे द्वीप के राज के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत है ॥६४॥

गोमेदद्वीप निवासी आठवाँ भाई, कामवश पुष्कर द्वीप के राजा की पुत्री को जीतकर लाने के लिए शत्रु-देशों को रौंद रही सेनावाला हुआ ॥६५॥

पुष्कर द्वीप में रहनेवाला सातवां भाई लोकालोक पर्वत के राजा के दूत के साथ निधि-स्थानों को देखने की इच्छा से अपने घर से गया ॥६६॥

इस प्रकार स्वगृहाकाश में अलग अलग स्थित हुए इनकी स्वप्रतिभोचित द्वीपद्वीपाधिपतिता को देखकर वे दोनों प्रकार के वर आतिवाहिक देहाकार में भी आभिमानिक आकार का त्याग कर उन आठों के जीवों के साथ ऐसे ही एकता को प्राप्त होंगे जैसे कि आकाश आकाशों के साथ एकता को प्राप्त होते हैं। चिरकाल-में अभिलषित सप्तद्वीपेश्वरता को प्राप्त हुए वे आठो भाई भी तुष्टियुक्त राज्य को प्राप्त कर सप्त द्वीपों के अधिपति बनकर सन्तुष्ट होंगे ॥६७-६९॥

इत्येते प्रविकसितोदितक्रियार्थाः
प्राप्स्यन्ति प्रविततबुद्धयस्तपोभिः।
अन्तर्यत्स्फुरति विदस्तदेव बाह्ये
नाऽऽप्तं कैस्तदुचितकर्मभिः किलेति ॥७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्म० ताप० द्वीपसप्तकाष्टकवर्णनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८३॥

विशाल बुद्धिवाले वे निका पूर्वोक्त वररूप क्रियार्थ पूर्णरूप से विकसित हो चुका था, पूर्वोक्त प्रकार की सप्तद्वीपाधिपतिता को तपस्याओं द्वारा प्राप्त होंगे। प्रत्येक चैतन्न के अन्दर दृढ़ निश्चयरूप से जिसका स्फुरण होता है वही बाहर उसके अनुकूल तप, जप आदि कर्मों से किसे प्राप्त नहीं हुआ ? ॥७०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्म० ताप० द्वीपसप्ताष्टकवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तिरासिवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१८३॥

१८४

कुन्ददन्त उवाच

इत्युक्तवानसौ पृष्टः कदम्बतलतापसः।
सप्तद्वीपा भुवोऽष्टौ ताः कथं भाता गृहेष्विति ॥१॥

कदम्बतापस उवाच

चिद्धातुरीदृगेवाऽयं यदेष व्योमरूप्यपि।
सर्वगो यत्र यत्राऽऽस्ते तत्र तत्राऽऽत्मनि स्वयम् ॥२॥

आत्मानमित्थं त्रैलोक्यरूपेणाऽन्येन वा निजम्।
परिपश्यति रूपं स्वमत्यजन्नेव खात्मकम् ॥३॥

कुन्ददन्त उवाच

एकस्मिन्विमले शान्ते शिवे परमकारणे।
कथं स्वभावसंसिद्धा नानाता वास्तवो स्थिता ॥४॥

कदम्बतापस उवाच

सर्वं शान्तं चिदाकाशं नानाऽस्तीह न किंचन।
दृश्यमानमपि स्फारमावर्तात्मा यथाऽम्भसि ॥५॥

असत्स्वेषु पदार्थेषु पदार्था इति भान्ति यत्।
चित्त्वं स्वप्नसुषुप्तात्म तत्तस्याऽच्छ निज वपुः ॥६॥

सस्पन्दोऽपि हि निःस्पन्दः पर्वतोऽपि न पर्वतः।
यथा स्वप्नेषु चिद्भावः स्वभावाऽर्थगतस्तथा ॥७॥

न स्वभावा न चेवाऽर्थाः सन्ति सर्वात्मकाचिते।
सर्गादौ काचितं रूप यद्यथा तत्तथा स्थितम् ॥८॥

१८४

कुन्ददन्त ने कहा—मेरे यह पूछनेपर कि भगवन्, घरों के छोटे से अवकाश में उन पचास करोड़ योजन विस्तारवाले जगतों का कैसे भान हुआ ? कदम्बतल-निवासी उस तपस्वी ने यह कहा ॥१॥

कदम्बतपस्वी ने कहा—यह चिदाकाश ऐसा ही है। सर्वव्यापी यह प्रपञ्च शून्य होनेपर भी जहां जहां रहता है, वहां वहां अपने स्वरूप का अपने में त्रैलोक्य के रूप से अथवा सुषुप्त और तुरीय के रूप से अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूप का त्याग किये बिना ही देखता है ॥२,३॥

कुन्ददन्त ने कहा—भगवन्, अद्वितीय, शान्त, शिव परम कारण में स्वभावसिद्ध (नैसर्गिक) वास्तवी नानाता (भिन्नता) कैसे स्थित है। एक में नानाता विरुद्ध है यह शङ्का करनेवाले का भाव है ॥४॥

यहां पर सब कुछ शान्त चिदाकाश वैसे ही है जैसे जल में दृश्यमान भी आवर्त जलातिरिक्त नहीं है यह विस्ताररूप से दिखाई देता भी भेद कुछ नहीं है अर्थात् यह नानात्व वास्तविक नहीं है, किन्तु भ्रान्तिजन्य है, वह जैसे चन्द्रमा के एक होनेपर भी दो चन्द्रमाओं की प्रतीति होती है वैसे ही अविरुद्ध ॥५॥

इन सकल पदार्थों की असत्ता में पदार्थरूप से जो ये भासित होते हैं वह स्वप्न और सुषुप्ति के समान अपने यथार्थ स्वरूप का भूला हुआ निर्मल चिदाकाशरूप अज्ञात स्वरूप ही है ॥६॥

स्पन्द सहित होनेपर भी वह निस्पन्द है पर्वत होने पर भी पर्वत नहीं है सन्मात्रात्मा चिद्भाव कल्पितार्थगत है, वैसे ही यह सबको जैसे स्वप्नों में चिद्भाव पदार्थगत है ॥७॥

सर्वात्मा के अनुरूप अर्थात् वास्तविकरूप में न सृष्टि आदि स्वभाव हैं और न सृष्टिस्वभाव से किये गये पदार्थ हैं। सृष्टि के आदि में जो रूप जैसे स्फुरित हुआ था वह आज भी वैसे ही स्थित है ॥८॥

न च नाम परं रूपं कचनाकचनात्मकम् ।
द्रव्यात्माचिच्च चिद्व्योम स्थितमित्थं हि केवलम् ॥९॥

एकैव चिद्यथा स्वप्ने सेनायां जनलक्षताम् ।
गतेवाऽच्छैव कचति तथैवाऽऽस्था पदार्थता ॥१०॥

यत्स्वतः स्वात्मनि स्वच्छे चित्त्वं कचकचायते ।
तत्तेनैव तदाकारं जगदित्यनुभूयते ॥११॥

असत्यपि यथा वह्नावुष्णसंविद्धि भासते ।
संविन्मात्रात्मके व्योम्न तथाऽर्थः स्वस्वभासकः ॥१२॥

असत्यपि तथा स्तम्भे स्वप्ने खे स्तम्भता विदः ।
तथेदमस्या नानात्वमनन्यदपि चाऽन्यवत् ॥१३॥

आदिसर्गे पदार्थत्वं तत्स्वभावाच्छमेव च ।
चिद्व्योम्ना यद्यथा बुद्धं तत्तथाऽद्यापि विन्दते ॥१४॥

पुष्पे पत्रे फले स्तम्भे तरुरेव यथा ततः ।
सर्वं सर्वत्र सर्वात्म परमेव तथाऽपरम् ॥१५॥

परमार्थाम्बराम्भोधावापः सर्गपरम्परा ।
परमार्थमहाकाशे शून्यता सर्गसंविदः ॥१६॥

परमार्थश्च सर्गश्च पर्यायौ तरुवृक्षवत् ।
बोधादेतदबोधात्तु द्वैतं दुःखाय केवलम् ॥१७॥

परमार्थो जगच्चेदमेकमित्येव निश्चयः ।
अध्यात्मशास्त्रबोधेन भवेत्सैषा हि मुक्तता ॥१८॥

सकलस्य वपुर्ब्रह्म संकल्पकचिदाकृतेः ।
तदेव जगतो रूपं तस्माद् ब्रह्मात्मकं जगत् ॥१९॥

यतो वाचो निवर्तन्ते न निवर्तन्त एव वा ।
विधयः प्रतिषेधाश्च भावाभावदृशस्तथा ॥२०॥

परमरूप कचन अकचन स्वरूप स्फुरण-अस्फुरणरूप नहीं है द्रव्यरूप से अचित् भी नहीं है। केवल चिदाकाश इस प्रकार से (जगत् रूप से) स्थित है ॥९॥

जैसे स्वप्न में केवल एकमात्र निर्मल जिवचित् सेनारूप में लाखों मनुष्य रूपता को प्राप्त हुई सी प्रतीत होती है वैसे ही इस चित् की पदार्थता स्फुरित होती है ॥१०॥

चूंकि चिदाकाश स्वच्छतम अपने स्वरूप में अपने आप अतिशयरूप से देदीप्यमान होता है इसलिए उसके द्वारा स्फुरणाकार्य का जगत्‌रूप से अनुभव होता है ॥११॥

जैसे स्वप्न में अग्नि के न रहनेपर भी स्वप्नचिद् ही उष्णरूप से भासित होती है वैसे ही संविन्मात्ररूप आकाश में असत् भी पदार्थ अपने स्वरूप को भासित करता है ॥१२॥

जैसे स्वप्नाकाश में स्तम्भ के न रहनेपर भी जीवचित् की स्तम्भता प्रतीत होती है वैसे ही यद्यपि इस चित् का नानात्व (भेद) इससे अभिन्न है तथापि भिन्नवत् भासता है ॥१३॥

तब अर्थक्रिया का नियम कैसे है ? इस प्रश्न पर कहते हैं—

आदि सृष्टि में पदार्थता स्वभाव से स्वच्छ ही थी चिदाकाश ने जिसका जैसे अनुभव किया वह आज भी अपने स्वरूप का वैसे ही लाभ करता है ॥१४॥

जैसे फूल, पत्ते, फल और तने में वृक्ष ही व्याप्त है वैसे ही सर्वत्र सारा जगत् सर्वात्मा परमब्रह्म ही है ॥१५॥

सृष्टिपरम्परा परमार्थकाशरूपी (चिदाकाश रूपी) सागर में जलरूप है तथा सृष्टिसंवित् परमार्थरूप महाकाश में शून्यता रूप है अर्थात् जैसे जल सागर से अभिन्न है और जैसे शून्यता आकाश से अभिन्न है वैसे ही परम ब्रह्मसे सृष्टियाँ अभिन्न हैं ॥१६॥

जैसे तरु और वृक्ष पर्यायवाची हैं वैसे ही परमार्थ और सृष्टि पर्यायवाची (अभिन्नार्थ) हैं। बोध होने से इस तरह अद्वैत होता है बोध और न होने से तो केवल दुःख के लिए द्वैत ही है ॥१७॥

इस अध्यात्मशास्त्र के बोध से परमार्थरूप परम ब्रह्म और जगत् यह एक ही है यह निश्चय होता है, वही मुक्ति है ॥१८॥

ब्रह्म संकल्प करनेवाले चिदाकार के संकल्प का स्वरूप है। वही जगत् का रूप है, इसलिए जगत् ब्रह्म-स्वरूप है ॥१९॥

जिसमें वाणियाँ निवृत्त होती हैं (जहाँ वाणियों की पहुँच नहीं है) अथवा सकल शब्दों के ब्रह्मनिष्ठ होने से जिससे वाणियाँ वहीं ही निवृत्त होती हैं वैसे ही विधियाँ प्रतिषेध और भावाभावदृष्टियाँ जिससे निवृत्त होती हैं अथवा सबके एकमात्र तदाश्रित होने से उक्त विधि आदि जिससे निवृत्त नहीं ही होते हैं ॥२०॥

अमौनमौनं जीवात्म यत्पाषाणवदासनम् ।
यत्सदेवाऽसदाभासं तद् ब्रह्माभिधमुच्यते ॥२१॥
सर्वस्मिन्नेकसुघने ब्रह्मण्येव निरामये ।
का प्रवृत्तिनिवृत्तिः का भावाभावादिवस्तुनः ॥२२॥
एकस्यामेव निद्रायां सुषुप्तस्वप्नविभ्रमाः ।
यदा भान्त्यविचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥२३॥
एतस्यां चित्खसत्तायां तथा मूलकसर्गकाः ।
बहवो भान्त्यचित्रायां चित्रा इव निरन्तराः ॥२४॥
द्रव्ये द्रव्यान्तरश्लिष्टं यत्कार्यान्तरमाक्षिपेत् ।
तद्वदन्तस्तथाभूतचित्सारं स्फुरणं मिथः ॥२५॥
सर्वे पदार्थाश्चित्सारमात्रमप्रतिघाः सदा ।
यथा भान्ति तथा भान्ति चिन्मात्रैकात्मतावशात् ॥२६॥

अमौन मौन के मध्य में जीवात्मा की जो पाषाण के समान चिद्घन स्थिति है, जो सत् होते हुए भी असत् के सदृश प्रतीत होता है, वह ब्रह्म नाम कहा जाता है ॥२१॥

सर्वात्मा अद्वितीय सुघन निरामय ब्रह्म में ही भाव अभाव आदि वस्तु की क्या सृष्टि होगी और क्या प्रलय होगा ? ॥२२॥

इस अविचित्र चिदाकाशसत्ता में बहुत से विचित्र अविच्छिन्न बीजभूत प्रलयों और सर्गों का वैसे ही भान होता है जैसे एक ही अविचित्र निद्रा में विचित्र-सी अविच्छिन्न सुषुप्ति और स्वप्न की भ्रान्तियों भान का होता है ॥२३,२४॥

प्राणियों के अन्तःकरण में अभिव्यक्त प्रमातारूप चित्सार चक्षु आदि द्वारा बाहर निकलकर घटादि के आकार की वृत्ति के सम्बन्ध से मिलकर घट पट आदि तत् तत् विषयों के अधिष्ठान चित् के आवरणभङ्ग से परस्पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटी के स्फुरण को वैसे ही उत्पन्न करता है जैसे दही आदि द्रव्य में शक्कर आदि मिला दिया जाय तो मिला हुआ दही और शक्कर प्रत्येक के गुण की अपेक्षा अन्य गुण को रुचि, पुष्टि; पित्तनाश आदि गुण को उत्पन्न करता है ॥२५॥

सदा अमूर्त चिन्मात्रसार सब पदार्थ सृष्टि के आदि में एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण स्फुरित होते हैं अर्थात् घट, पट आदि पदार्थ भी अपने अधिष्ठान भूत चित् की सत्ता और स्फूर्ति वाले होने से चिन्मात्रसार हैं ॥२६॥

चिन्मात्रैकात्मसारत्वाद्यथासंवेदनं स्थिताः ।
निःस्पन्दा निर्मनस्काराः स्फुरन्ति द्रव्यशक्तयः ॥२७॥
अविद्यमानमेवेदं दृश्यतेऽथानुभूयते ।
जगत्स्वप्न इवाऽशेषं सरुद्रोपेन्द्रपद्मजम् ॥२८॥
विचित्राः खलु दृश्यन्ते चिज्जले स्पन्दरीतयः ।
हर्षामर्षविषादोत्थजङ्गमस्थावरात्मनि ॥२९॥
स्वभाववाताधूतस्य जगज्जालचमत्कृतेः ।
हा चिन्मरीचिपांशुभ्रनीहारस्य विसारिता ॥३०॥
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि भाति व्यामलचक्षुषः ।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिर्भात्यनात्मविदोऽम्बरे ॥३१॥
यावत्संकल्पितं तावद्यथा संकल्पितं तथा ।
यथा संकल्पनगरं कचतीदं जगत्तथा ॥३२॥

एक मात्र चिन्मात्रस्वरूप होने के कारण संविद् के अनुसार स्थित, निश्चल तथा द्वैताकार के ग्रहण से रहित द्रव्यशक्तियाँ स्फुरित होती हैं अर्थात् उनकी स्थिति भी संविद् के अनुसार ही है। स्पन्दशून्य चिदधिष्ठान वाली होने के कारण सब द्रव्यशक्तियाँ भी अपने आश्रय से विचलित नहीं होतीं और न उनका ह्रास ही होता है ॥२७॥

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित यह सारा जगत् अविद्यमान ही है फिर भी स्वप्न की तरह दिखाई देता है और अनुभव में आता है अर्थात् इस प्रकार एकमात्र प्रतिभास के अधीन सर्वस्व वाला यह जगत् प्रातिभासिक ही है ॥२८॥

स्थावर जंगमस्वरूप चित्रूपी जल में हर्ष, क्रोध और विषाद से अत्यन्त विचित्र स्पन्दरीतियाँ दिखाई देती हैं ॥२९॥

स्वभावरूप अर्थात् अज्ञातस्वरूपनिष्ठ विक्षेपशक्तिरूप वायु से कँपाये गये, जगज्जालाकार से युक्त चित की, जो सत्त्वगुणरूप प्रकाश से किरणरूप है, रजोगुण से धूलिराशि-रूप है, आवरण और जाड्यप्रधान तमोगुण से मेघ और कुहरारूप है, आकाश में विस्तारशीलता खेदजनक है अर्थात् किस-किस प्रकार के जन्म, मरण आदि करोड़ों अनर्थों के रूप से सम्पन्न है ॥३०॥

अज्ञानावृत्त चिद्दृष्टि वाले पुरुष को स्वात्माकाश में इस जगद्भ्रान्ति का वैसे ही भान होता है। जैसे रोगाक्रान्त दृष्टि वाले पुरुष को आकाश में केशों का वर्तुलाकार गोला दिखाई देता है ॥३१॥

यह जगत् भी जबतक तथा जिस प्रकार इसका संकल्प किया जाय तब तक उस प्रकार वैसे स्फुरित होता है जैसे संकल्पनगर जबतक संकल्प किया जाय और जिस-जिस प्रकार संकल्प किया जाय तब तक और उस-उस

संकल्पनगरे यावत्संकल्पं सकला स्थितिः ।
भवत्येवाऽप्यसद्रूपा सतीवाऽनुभवे स्थिता ॥३३॥

प्रवहत्येव नियतिर्नियतार्थप्रदायिनी ।
स्थावरं जङ्गमं चैव तिष्ठत्येव यथाक्रमम् ॥३४॥

जायते जङ्गमं जीवात्स्थावरं स्थावरादपि ।
नियत्याऽधो वहत्यम्बु गच्छत्यूर्ध्वमथाऽनलः ॥३५॥

वहन्ति देहयन्त्राणि ज्योतींषि प्रतपन्ति च ।
वायवो नित्यगतयः स्थिताः शैलादयः स्थिराः ॥३६॥

ज्योतिर्मयं निवृत्तं तु धारासाराम्बरीकृतम् ।
युगसंवत्सराद्यात्म कालचक्रं प्रवर्तते ॥३७॥

भूतलैकान्तराब्ध्यद्रिसंनिवेशः स्थितायते ।
भावाभावग्रहोत्सर्गद्रव्यशक्तिश्च तिष्ठति ॥३८॥

कुन्ददन्त उवाच

प्राग्दृष्टं स्मृतिमायाति तत्स्वसंकल्पनान्यतः ।
भाति प्रथमसर्गे तु कस्य प्राग्दृष्टभासनम् ॥३९॥

तापस उवाच

अपूर्वं दृश्यते सर्वं स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
प्राग्दृष्टं दृष्टमित्येव तत्रैवाऽभ्यासतः स्मृतिः ॥४०॥

चित्त्वाच्चिद्व्योम्नि कचति जगत्संकल्पपत्तनम् ।
न सन्नाऽसदिदं तस्माद् भाताभातं यतः स्वतः ॥४१॥

प्रकार से स्फुरित होता है। अर्थात् उसकी काल और प्रकार की व्यवस्था भी संकल्प के अनुसार ही होती है ॥३२॥

संकल्पनगर में संकल्पपर्यन्त सकल स्थिति, असद्रूप होने पर भी सत् के समान अनुभव में आती है, अवश्यमेव रहती है ॥३३॥

वही ब्रह्मा की संकल्परूप नियति, जो नियत अर्थ का प्रदान करती है, आज भी धारा प्रवाह रूप से चलती है आगे भी अवश्य ही चलेगी। उसी से स्थावर और जंगम आदि प्राणिसंघ नियमितरूप से रहता है ॥३४॥

उक्त नियति से ही जिसमें स्फुट जीव है ऐसे जंगम से जंगम की उत्पत्ति होती है और स्थावर से स्थावर की उत्पत्ति होती है, जल नीचे की ओर बहता है और अग्नि ऊपर को धधकती है अर्थात् प्राणियों के जन्म, कर्म, स्वभाव आदि की व्यवस्था भी उसी से होती है ॥३५॥

उसी नियति के कारण ही सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियाँ देह-यन्त्र धारण करती हैं और तपती हैं। वायु सदा गतिशील रहते हैं और पर्वत आदि अचल रहते हैं ॥३६॥

उसी नियति से ही ज्योतिर्मय युग, संवत्सर आदि रूप कालचक्र दक्षिणायनरूप से लौटकर वर्षा ऋतु में आकाश को मूसलाधार वृष्टि से व्याप्त करता हुआ चलता है ॥३७॥

नियति से ही भूतल में एक के बाद एक सागर और पर्वतों का संनिवेश स्थिरसा होता है तथा भाव, अभाव, ग्रहण, त्यागरूप द्रव्यशक्ति भी रहती है ॥३८॥

कुन्ददन्त ने कहा—हे भगवन्! पहले देखी गई वस्तु स्मृति-पथ में आरूढ होती है उसके अनन्तर तदनुसारी संकल्प होते हैं उक्त संकल्पों से नियत सृष्टि का भान होता है। यह बात द्वितीय, तृतीय आदि कल्पों की सृष्टि मे संभव है। किन्तु आदि सृष्टि में किसको पूर्व सृष्टि का भान प्रसिद्ध है जिससे कि ब्रह्माजी पूछें अथवा स्वयं स्मरण करें ॥३९॥

तापस ने कहा—स्वप्न में स्वमरण के तुल्य अपूर्व ही सब कुछ दिखाई देता है उसी में पहले देखा गया, देखा गया यों अभ्यासवश ब्रह्मा को स्मृति होती है। अर्थात् ब्रह्मा का संकल्प स्मरण के अधीन नहीं है किन्तु दिव्य ज्ञान द्वारा अतीत अनागत सकल वस्तुओं के दर्शन के अधीन है, क्योंकि 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत' इत्यादि श्रुति है। उस क्षण में सब अतीत और अनागत जगत् अपूर्व-दृष्ट ही दिखाई देता है और दृष्ट की अनुसारिणी चिद् विवर्तरूप सांकल्पिक सृष्टि प्रवृत्त होती है। उसी में यह मैंने 'प्राग्दृष्टम्' (पहले देखा) यों कहीं पर अभ्यास भी किया है इस तरह तपस्वी शङ्का का समाधान करते हैं ॥४०॥

चित् होने के कारण जगत्रूपी संकल्पनगर चिदाकाश में स्फुरित होता है। चूंकि वह स्वतः कभी भासित होता है और कभी भासित नहीं होता, इसलिए वह न सत् है और न असत् है ॥४१॥

चित्प्रसादेन संकल्पस्वप्नाद्याद्यनुभूयते ।
शुद्धं चिद्व्योम संकल्पपुरं मा स्मर्यतां कथम् ॥४२॥

हर्षामर्षविनिर्मुक्तैर्दुःखेन च सुखेन च ।
कृतेनैव मार्गेण ज्ञैश्चक्रैरिव गम्यते ॥४३॥

निद्राव्यपगमे स्वप्ननगरे यादृशं स्मृतौ ।
चिद्व्योमात्म परं विद्धि तादृशं त्रिजगद्भ्रमम् ॥४४॥

संविदाभासमात्रं यज्जगदित्यभिशब्दितम् ।
तत्संविद्व्योम संशान्तं केवलं विद्धि नेतरत् ॥४५॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम् ॥४६॥

यथेयं संसृतिर्ब्राह्मी भवतो यद् भविष्यति ।
यथा भानं च दृश्यस्य तदेतत्कथितं मया ॥४७॥

उत्तिष्ठतं व्रजतमास्पदमह्नि पद्मं
भृङ्गाविवाऽभिमतमाशु विधीयतां स्वम् ।
तिष्ठामि दुःखमलमस्तसमाधिसंस्थं
भूयः समाधिमहमङ्ग चिरं विशामि ॥४८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतास्वैन्दवोपाख्याने कुन्ददन्तोपदेशो नाम चतुरशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८४॥

चित् के प्रसाद से आज भी संकल्प, स्वप्न आदि का अनुभव होता है शुद्ध चिदाकाशरूप नगर का अर्थात् जगत् का चित् के प्रसाद से कैसे स्मरण न होगा अर्थात् दर्शन की सामर्थ्य न होने पर स्मृति की कल्पना करनी पड़ती है। स्वप्न में केवल कल्पना से दर्शन में समर्थ चित् की स्मृति कल्पना नहीं दिखाई देती ॥४२॥

[अर्थात् गुण, दोष आदि में स्मरण से हर्ष, क्रोध रहित तत्त्वज्ञाती कुम्हार के चाक की तरह प्रारब्ध के वेग से ही भ्रमण करते हैं।]

हर्ष, क्रोध आदि से विहीन ज्ञानी पुरुष चक्रों के समान दुःखपूर्ण हो चाहे सुखप्रद हो प्रस्तुत प्रारब्ध प्राप्त मार्ग से ही चलते हैं ॥४३॥

निद्रा की समाप्ति होने पर स्वप्ननगरविषयक स्मृति में जैसे अधिष्ठानमात्र का परिशेष रहता है वैसे ही तीनों जगत् के भ्रम को भी परम चिदाकाशात्मक समझो अर्थात् बाधित स्मृति-स्मृति नहीं है किन्तु वह अधिष्ठान मात्र का परिशेष है ॥४४॥

संवित् का आभासमात्र ही जो 'जगत्' शब्द से कहलाता है उसे भी तुम केवल शान्त चिदाकाश ही जानो अन्य कुछ नहीं ॥४५॥

जिसमें सब है, जिससे सब है, जो सब है, जो सब तरफ से है वही सर्वात्मा सर्वदा सर्वरूप से सर्वत्र स्थित है अर्थात् सब प्रकार शान्त चित् ही सब कुछ है ॥४६॥

यह ब्राह्मी सृष्टि जिस प्रकार है, आगे जो होगा और जिस प्रकार इस दृश्य जगत् का भान होता है यह सब मैंने आपसे कहा ॥४७॥

हे ब्राह्मणो ! अब आप दोनों उठिये, प्रातःकाल होते ही भ्रमर जिस प्रकार कमल पुष्प के पास जाते हैं वैसे ही अपने अभीष्ट सत्कर्मों का शीघ्र विधान कीजिये। मुझे समाधि से रहित अवस्था में अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिए मैं फिर समाधि में प्रवेश करता हूँ ॥४८॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में ऐन्दव उपाख्यान में कुन्ददन्तोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८४॥

१८५

कुन्ददन्त उवाच

जरन्मुनिरपीत्युक्त्वा ध्यानमीलितलोचनः।
आसीदस्पन्दितप्राणमनाश्चित्र इवार्पितः ॥१॥

आवाभ्यां प्रणयोदारैः प्रार्थितोऽपि पुनः पुनः।
वाक्यैः संसारमविदन्न वचो दत्तवान्पुनः ॥२॥

आवां प्रदेशतस्तस्माच्चलित्वा मन्दमुत्सुकौ।
दिनैः कतिपयैः प्राप्तौ गृहं मुदितबान्धवम् ॥३॥

अथ तत्रोत्सवं कृत्वा कथाः प्रोच्य चिरंतनीः।
स्थितास्तावद्वयं यावत्सप्ताऽपि भ्रातरोऽथ ते ॥४॥

क्रमेण विलयं प्राप्ताः प्रलयेष्वर्णवा इव।
मुक्तोऽसौ मे सखैवैक एकार्णव इवाऽष्टकः ॥५॥

ततः कालेन सोऽप्यस्तं दिनान्तेऽर्क इवाऽऽगतः।
अहं दुःखपरीतात्मा परं वैधुर्यमागतः ॥६॥

ततोऽहं दुःखितो भूयः कदम्बतरुतापसम्।
गतो दुःखोपघाताय तज्ज्ञानं प्रष्टुमादृतः ॥७॥

तत्र मासत्रयेणाऽसौ समाधिविरतोऽभवत्।
प्रणतेन मया पृष्टः सन्निदं प्रोक्तवानथ ॥८॥

कदम्बतापस उवाच

अहं समाधिविरतः स्थातुं शक्नोमि न क्षणम्।
समाधिमेव प्रविशाम्यहमाशु कृतत्वरः ॥९॥

परमार्थोपदेशस्ते नाऽभ्यासेन विनाऽनघ!
लगत्यत्र परां युक्तिमिमां शृणु ततः कुरु ॥१०॥

अयोध्या नाम पूरस्ति तत्राऽस्ति वसुधाधिपः।
नाम्ना दशरथस्तस्य पुत्रो राम इति श्रुतः ॥११॥

सकाशं तत्र गच्छ त्वं तस्मै कुलगुरुः किलः।
वसिष्ठाख्यो मुनिश्रेष्ठः कथयिष्यति संसदि ॥१२॥

१८५

कुन्ददन्त ने कहा— वृद्ध मुनि ने भी इतना कहकर ध्यान से आँखें मूंद ली। प्राणवायु और मन के स्पन्दन रहित होने से वह चित्रलिखित के समान हो गयी ॥१॥

पुनः-पुनः हम दोनों के विनय और स्तुतिमय वाक्यों से प्रार्थना करने पर भी बाह्यवृत्तिशून्य होने के कारण संसार को न जानने के कारण उसने फिर उत्तर नहीं दिया ॥२॥

मुनि के वियोग से उदास हम दोनों उस प्रदेश से धीरे-धीरे चलकर कुछ दिनों के बाद प्रसन्न बन्धु-बान्धवों से समन्वित घर में पहुँचे ॥३॥

अनन्तर घर में कुलदेवता के अराधनादि उत्सव कर नाना प्रकार की प्राचीन कथाएं कहकर हम जबतक वे सातो भाई प्रलयकाल में सप्त समुद्रों की भाँति क्रम से विलीन न हो गये। तबतक केवल वह एक मेरा मित्र ही आठवें समुद्र की भाँति विलीन होने से बचा रह गया ॥४,५॥

अनन्तर वह मेरा मित्र भी दिन के अन्त में सूर्य तरह अस्त हो गया अर्थात् मर गया और उसके विरह-दुःख से व्याप्त मैं अत्यन्त दुःखी हुआ ॥६॥

दुःखी मैं उस दुःख का नाश करने के लिए और उस प्राक्तन ज्ञान को आदरपूर्वक पूछने के लिए फिर उसी कदम्बतरु-तापस के पास गया ॥७॥

वहाँ तीन महीने के बाद वह मुनि समाधि से विरत हुआ। नम्रता के साथ मेरे द्वारा प्रश्न करने पर वह इस प्रकार बोला ॥८॥

कदम्बतरु-तापस ने कहा—मैं समाधि से विरत हो एक क्षण भी नहीं रह सकता। मैं फिर शीघ्र ही समाधि में ही प्रवेश करता हूँ ॥९॥

हे निष्पाप! इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यास के बिना तुम्हें नहीं लगेगा, अतः दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो ॥१०॥

अयोध्या नाम की नगरी है। वहाँ दशरथ नाम के राजा हैं। उनके पुत्र राम नाम से प्रसिद्ध हैं ॥११॥

वहाँ तुम उनके पास जाओ, क्योंकि उनके कुलगुरु वसिष्ठ नामक मुनिश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के लिए सभा में मोक्षोपाय की दिव्य कथा कहेंगे। हे द्विज! चिरकाल

मोक्षोपायकथां दिव्यां तां श्रुत्वा सुचिरं द्विज ! ।
विश्रान्तिमेष्यसि परे पदेऽहमिव पावने ॥१३॥

इत्युक्त्वा स समाधानरसायनमहार्णवम् ।
विवेशाऽहमिमं देशं त्वत्सकाशमुपागतः ॥१४॥

एषोऽहमेतद् वृत्तं मे सर्वं कथितवानहम् ।
यथावृत्तं यथादृष्टं यथाश्रुतमखण्डितम् ॥१५॥

श्रीराम उवाच

स कुन्ददन्त इत्यादिकथाकथनकोविदः ।
स्थितस्ततःप्रभृत्येव मत्समीपगतः सदा ॥१६॥

स एष कुन्ददन्ताख्यो द्विजः पार्श्वे समास्थितः ।
श्रुतवान्संहितामेतां मोक्षोपायाभिधामिह ॥१७॥

स एष कुन्ददन्ताख्यो मम पार्श्वगतो द्विजः ।
अद्य निःसंशयो जातो न वेति परिपृच्छ्यताम् ॥१८॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते राघवेणाऽथ प्रोवाच वदतांवरः ।
स वसिष्ठो मुनिश्रेष्ठः कुन्ददन्तं विलोकयन् ॥१९॥

तक उसे सुनकर तुम उस पावन परम पद में मेरी ही तरह विश्रान्ति को प्राप्त करो ॥१२, १३॥

इतना कहकर वह मुनि समाधानरूप औषधि के समुद्र में अर्थात् समाधि में प्रविष्ट हुआ और मैं यहाँ आपके पास आया हूँ ॥१४॥

जैसा हुआ, जैसा देखा और जैसा सुना वह सम्पूर्ण मैंने कह दिया यही मैं हूँ और यह मेरा वृत्तान्त है ॥१५॥

श्रीरामजी ने कहा—हे गुरुवर ! कथाओं को कहने में चतुर वह कुन्ददन्त उस दिन से सदा मेरे पास ही रहता है ॥१६॥

वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज मेरे पास बैठा हुआ इस सभा में मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिता को सुनता था ॥१७॥

यह मेरे समीप में बैठा हुआ कुन्ददन्त नामक द्विज है यही आज संशय रहित हुआ या नहीं यह इससे कृपा कर पूछे ॥१८॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—श्रीरामचन्द्रजी के इतना कहने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ मुनिप्रवर वसिष्ठजी ने कुन्ददन्त की ओर देखकर कहा ॥१९॥

वसिष्ठ उवाच

कुन्ददन्त ! द्विजवर ! कथ्यतां किं त्वयाऽनघ ! ।
बुद्धं श्रुतवता ज्ञेयं मदुक्तं मोक्षदं परम् ॥२०॥

कुन्ददन्त उवाच

सर्वसंशयविच्छेदि चेत एव जयाय मे ।
सर्वसंशयविच्छेदो ज्ञातं ज्ञेयमखण्डितम् ॥२१॥

ज्ञातं ज्ञातव्यममलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं विश्रान्तोऽस्मि परे पदे ॥२२॥

बुद्धेयं त्वदिदं सर्वं परमार्थघनं घनम् ।
अनन्येनाऽऽत्मनो व्योम्नि जगद्रूपेण जृम्भितम् ॥२३॥

सर्वात्मकतया सर्वरूपिणः सर्वगात्मनः ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदा संभवत्यलम् ॥२४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे अनघ ! हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! कुन्ददन्त ! कहो मेरे कहे हुए मोक्ष देने वाले इस शास्त्र को सुनकर तुमने किस जानने योग्य विषय को जाना ॥२०॥

कुन्ददन्त ने कहा—हे भगवन् ! सम्पूर्ण संशयों का विनाशक मेरा चित्त ही मेरी विजय के लिए है। मेरे सभी सन्देहों की निवृत्ति हो गई है, क्योंकि अवश्यज्ञेय अखंडित ब्रह्मतत्त्व मैं जान चुका हूँ ॥२१॥

ज्ञातव्य जो निर्मल था उसे मैं जान चुका, अक्षत द्रष्टव्य को मैंने देख लिया, सम्पूर्ण प्राप्तव्य को मैं प्राप्त कर चुका अब इस ब्रह्मरूप परम पद में विश्रान्त हूँ अर्थात् ज्ञानमात्र से मोह की निवृत्ति हो जाने से अन्य ज्ञातव्य, द्रष्टव्य औ लब्धव्य का भी परिशेष न रह जाने से मैं हुआ ॥२२॥

मैंने यह आत्मचित् आप से जान ली है। यह सब अखण्ड परमार्थघन आकाश में आत्मा से अनन्य जगत्-रूप से स्फुरित है ॥२३॥

सर्वात्मक होने से सर्वरूपी सर्वव्यापी आत्मा का सभी कुछ सब प्रकार से सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूप से संभव होता है ॥२४॥

संभवन्ति जगन्त्यन्तः सिद्धार्थकणकोटरे।
न संभवन्ति च यथा ज्ञातमेतदशेषतः ॥२५॥

गृहेऽन्तः संभवत्येव सप्तद्वीपा वसुंधरा।
गेहं च शून्यमेवाऽऽस्ते सत्यमेतदसंशयम् ॥२६॥

यद्यद्यदा वस्तु यथोदितात्म
भातीह भूतैरनुभूयते च।
तत्तत्तदा सर्वघनस्तथाऽऽस्ते
ब्रह्मेत्थमाद्यन्तविमुक्तमस्ति ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु कुन्ददन्तप्रबोधो नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८५॥

सरसो के कण के अन्दर भी सर्वकल्पनाशक्तियुक्त अधिष्ठान भूत चित् का अस्तित्व होने से उसके अन्दर भी मायादृष्टि से अनन्त जगतों का संभव है, किन्तु इस चित् का पूर्णरूप से ज्ञान होनेपर तो वास्तविक दृष्टि से कहीं पर भी जगतों का संभव नहीं है ॥२५॥

गृह के अन्दर यह सप्तद्वीपा पृथ्वी उत्पन्न होती है और गृह शून्य ही है यह निःसन्देह सत्य है ॥२६॥

जो वस्तु जब जिस प्रकार से भान होती है और प्राणियों से उसका अनुभव किया जाता है वह वस्तु उस समय केवल सर्वघन आत्मा ही उस रूप से है अर्थात् सर्वघन आत्मा ही सब प्राणियों के लिए सभी समय सर्वभावेन बोध का विषय है। अणुमात्र भी उससे भिन्न किसी से कहीं किसी प्रकार अनुभूत नहीं होता। इस प्रकार आद्यन्त से विहीन ब्रह्म ही सब कुछ है ॥२७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीता में कुन्ददन्तप्रबोध नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८५॥

१८६

श्रीवाल्मीकिरुवाच

कुन्ददन्ते वदत्येवं वसिष्ठो भगवान्मुनिः।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा परमार्थोचितं वचः ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

बत विज्ञानविश्रान्तिरस्य जाता महात्मनः।
करामलकवद्विश्वं ब्रह्मेति परिपश्यति ॥२॥

किलेदं भ्रान्तिमात्रात्म विश्वं ब्रह्मेति भात्यजम्।
भ्रान्तिर्ब्रह्मैव च ब्रह्म शान्तमेकमनामयम् ॥३॥

यद्यथा येन यत्राऽस्ति यादृग्यावद्यदा यतः।
तत्तथा तेन तत्राऽस्ति तादृक्तावत्तदा ततः ॥४॥

शिवं शान्तमजं मौनममौनमजरं ततम्।
सुशून्याशून्यमभवमनादिनिधनं ध्रुवम् ॥५॥

१८६

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा कुन्ददन्त के इसपर कहने पर परम श्लाघनीय भगवान् श्रवसिष्ठ मुनिजी ने यह परमार्थोचित वचन कहा अर्थात् पहले कुन्ददन्त द्वारा वर्णित मायाशबल ब्रह्मतत्त्व को छोड़कर श्रीवसिष्ठजी मायारहित शुद्ध ब्रह्म का वर्णन करने के लिए प्रवृत्त हुए ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हर्ष की बात है कि इस महात्मा के, शास्त्र के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान की पूर्णता हो चुकी है। यह, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है यह बात करामलकवत् देखता है ॥२॥

केवल भ्रान्तिमात्र स्वरूप यह विश्व जन्मादि रहित ब्रह्म इसे मालूम है, अतः भ्रान्ति भी इसे शान्त, एक और निर्विकार ब्रह्म ही प्रतीत होती है ॥३॥

जो जैसे जिसके द्वारा जिस अधिकरण में जिस प्रकार का जबतक जिस काल में जिससे होता है वह वैसे उसके द्वारा उस अधिकरण में उस प्रकार का तबतक उस काल में शिव, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन अजर, सर्वव्याप्त, सुशून्य, अशून्य आदि-अन्तशून्य, अक्षय ब्रह्म ही है अर्थात् शबलब्रह्मनिष्कर्ष-दृष्टि से इसने जो यह वर्णन किया है वह भी उचित ही है ॥४,५॥

यस्या यस्यास्त्ववस्थायाः क्रियते संविदा भरः ।
सा सा सहस्रशाखत्वमेति सेकैर्यथा लता ॥६॥

परो ब्रह्माण्डमेवाऽणुश्चिद्व्योम्नोऽन्तःस्थितो यतः ।
परमाणुरेव ब्रह्माण्डमन्तःस्थितजगद्यतः ॥७॥

तस्माच्चिदाकाशमनादिमध्य-
मखण्डितं सौम्यमिदं समस्तम् ।
निर्वाणमस्तं गतजातिबन्धो
यथास्थितं तिष्ठ निरामयात्मा ॥८॥

स्वयं दृश्यं स्वयं द्रष्टृ स्वयं चित्त्वं स्वयं जडम् ।
स्वयं किंचिन्न किंचिच्च ब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥९॥

यथा यत्र जगत्येतत्स्वयं ब्रह्म खमात्मनि ।
स्वरूपमजहच्छान्तं यत्र संपद्यते तथा ॥१०॥

ब्रह्म दृश्यमिति द्वैतं न कदाचिद्यथास्थितम् ।
एकत्वमेतयोर्विद्धि शून्यत्वाऽकाशयोरिव ॥११॥

मायाशबल चित् के द्वारा जिस अवस्था का संकल्पातिशय किया जाता है वह अवस्था जल से सींची गई लता की तरह सहस्रों शाखाओं को प्राप्त होती है ॥६॥

ब्रह्माण्ड ही परम अणु है, क्योंकि वह चिदाकाश के मध्य में स्थित है और परमाणु ही ब्रह्माण्ड है, क्योंकि उसमें सारा जगत् व्याप्त है ॥७॥

इसलिए यह समस्त जगत् चिदाकाश, आदिमध्यरहित अखण्ड, सौम्य और मोक्षरूप है। जिसका शरीरादिवैचित्र्यरूप बन्धन अस्त हो चुका है, अतः तुम निरामय आत्मस्वरूप ब्रह्म ही होकर स्थित रहो ॥८॥

व्यवहार में तो ब्रह्म स्वयं दृश्य है, स्वयं द्रष्टा है, स्वयं चेतन है, स्वयं जड़ है, स्वयं सब कुछ है और स्वयं कुछ भी नहीं है, वास्तव में तो वह अद्वितीय स्वप्रकाशानन्द एकरस आत्मा में ही स्थित है ॥९॥

यह ब्रह्म जगत्रूप आत्मचिदाकाश में जहाँ जैसा रूप धारण करता है वहाँ अपने स्वरूप को न छोड़ता हुआ वैसा ही हो जाता है ॥१०॥

ब्रह्म अपनी माया से दृश्यजगत्रूप में उत्पन्न इससे ब्रह्म और जगत् द्वैत की सिद्धि नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि वह तो यथावत् अविकृत ही है। शून्यत्व और आकाश की तरह ब्रह्म और जगत्—इन दोनों को एक ही समझो ॥११॥

दृश्यमेव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव दृश्यता ।
एतन्न शान्तं नाऽशान्तं नाऽनाकारं न चाऽऽकृतिः ॥१२॥

यादृक् प्रबोधे स्वप्नादिस्तादृग्देहो निराकृतिः ।
संविन्मात्रात्मा प्रतिघः स्वानुभूतोऽप्यसन्मयः ॥१३॥

संविन्मयो यथा जन्तुर्निद्रात्माऽऽस्ते जडोऽभवन् ।
जडीभूता तथैषाऽऽस्ते संवित्स्थावरनामिका ॥१४॥

स्थावरत्वाज्जडाच्चित्त्वं जङ्गमात्म प्रयाति चित् ।
जीवः सुषुप्तात्मा स्वप्नं जाग्रच्चैव जगच्छतैः ॥१५॥

आमोक्षमेषा जीवस्य भुव्यम्भस्यनिलेऽनले ।
खे खात्मभिर्जगल्लक्षैः स्वप्नाभैर्भासते स्थितिः ॥१६॥

चिच्चिनोति तथा जाड्यं नरो निद्रास्थितिर्यथा ।
चिनोति जडतां चित्त्वं न नाम जडतावशात् ॥१७॥

चिता वेदनवेत्तारं स्थावरं क्रियते वपुः ।
चिता वेदनवेत्तारं जङ्गमं क्रियते वपुः ॥१८॥

दृश्य जगत् ही परम ब्रह्म है और परम ब्रह्म ही दृश्यता है। यह तो न शान्त है, और न अशान्त है, न आकृतिविहीन है और न आकृतिवाला ही है ॥१२॥

जिस प्रकार जागने पर स्वप्नादि निराकार भासमान होते हैं वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जानेपर यह देह भी निराकृति भासमान होता है, केवल संवित्स्वरूप साकार और स्वानुभूत होने पर भी जैसे स्वप्नादि असन्मय है वैसे ही देह भी असत् ही है ॥१३॥

यह स्थावरनामिका संवित् भी वैसे ही जड़ हो जाती है जैसे चेतन स्वरूपवाला संविन्मय जन्तु भी निद्रा स्वरूप हो जाता है ॥१४॥

चित् स्थावरत्वरूप जड़ से जङ्गमस्वरूप चित्त को वैसे ही प्राप्त होती है जैसे सुषुप्तात्मा जीव स्वप्न और जाग्रत् को सैकड़ों जगतों की कल्पनाओं से जाता है ॥१५॥

मोक्ष होने तक जीव की यह स्थिति भूमि, जल, वायु, तेज और आकाश में स्वप्नतुल्य आकाशस्वरूप (शून्यरूप) लाखों जगतों के साथ भासमान होती है ॥१६॥

चित् जड़ता का अपने में वैसे ही आरोप करती है, जैसे मनुष्य निद्रास्थिति का ग्रहण करता है फिर भी उसका चित्त्व अव्याहत ही रहता है। वह अध्यस्त जड़ता से अपने में जड़ता का आरोप नहीं करती, वास्तव में जड़ता को प्राप्त नहीं होती ॥१७॥

चित् जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति वैसे ही जंगम शरीर भी बनाती है जैसे चित् जाड्यवेदनवेत्ता जीव के प्रति स्थावर शरीर बनाती है ॥१८॥

यथा पुंसो नखाः पादावेकमेव शरीरकम् ।
तथैकमेवाऽप्रतिघं चितः स्थावरजंगमम् ॥१९॥

आदिसर्गे स्वप्न इव यत्प्रथामागतं स्थितम् ।
चितो रूपं जगदिति तत्तथैवाऽन्त उच्यते ॥२०॥

तच्चैवाऽप्रतिघं शान्तं यथास्थितमवस्थितम् ।
न प्रथामागतं किंचिन्नाऽऽसीदप्रथितं हितम् ॥२१॥

अयमादिरयं चाऽन्तः सर्गस्येत्यवभासते ।
चितः सुघननिद्रायाः सुषुप्तस्वप्नकोष्ठतः ॥२२॥

स्थित एको ह्यनाद्यन्तः परमार्थघनो यतः ।
प्रलयस्थितिसर्गाणां न नामाऽप्यस्ति मां प्रति ॥२३॥

प्रलयस्थितिसर्गादि दृश्यमानं न विद्यते ।
एतन्न चाऽऽत्मनश्चाऽन्यच्चित्रे चित्रवधूर्यथा ॥२४॥

कर्तव्यचित्रसेनाऽस्माद्यथा चित्रान्न भिद्यते ।
नानाऽनानैव प्रतिघा चित्तत्वे सर्गता तथा ॥२५॥

विभागहीनयाऽप्येष भागश्चिद्घननिद्रया ।
सुषुप्तान्मुच्यते मोक्ष इति स्वप्नस्तु चित्तकम् ॥२६॥

प्रलयोऽयमियं सृष्टिरयं स्वप्नो घनस्त्वयम् ।
भासोऽप्रतिघरूपस्य चित्सहस्ररुचेरिति ॥२७॥

चिन्निद्रायाः स्वप्नमयो भागश्चित्तमुदाहृतम् ।
तदेव मुच्यते भूतं जीवो देवासुरादिदृक् ॥२८॥

जैसे पुरुष के नख, पैर आदि एक ही शरीर हैं शरीर के अवयव हैं वैसे ही चित् का स्थावर और जंगम एक ही अमूर्त शरीर है अर्थात् जीव के प्रति अपने स्थावर और जङ्गम शरीर बनाने पर भी चित् का भेद नहीं होता, किन्तु महाचित् का अपने में अध्यस्त सब अचेतन और चेतन नख, पैर आदि के समान अवयवरूप ही हैं, ॥१९॥

आदि सृष्टि में हिरण्यगर्भ का प्राथमिक सृष्टि में हेतुभूत संकल्प होनेपर चित् का जगत् नाम का जो रूप जिस तरह प्रसिद्धि को प्राप्त था वह इस समय भी वैसे ही स्थित है । इस तरह चिरकाल से जड़ के रूप से यद्यपि वह स्थित है तथापि चिन्मय होने के कारण अप्रतिघ (अमूर्त), शान्त, ज्यों-का-त्यों स्वरूप से स्थित कुछ भी प्रथा को नहीं प्राप्त हुआ, अतः वह अप्रथित है, इस प्रकार उसके अपवाद द्वारा सृष्टि का अन्त कहा जाता है ॥ २०,२१॥

जैसे स्वप्नप्रपञ्च की सुषुप्त्यादि प्रबोधान्तता निद्राकोष्ठ के अन्दर ही कल्पित होती है न कि प्रबोधकोष्ठ के अन्दर वैसे ही सुघन निद्रावली चित् के सुषुप्ति-स्वप्नकोष्ठ से ही सृष्टि का यह आदि है, यह अन्त है यों आदि-अन्त का भाव होता है वास्तव में असत् सृष्टि का आदि और अन्त क्या हो सकता है ? अर्थात् इस प्रकार सृष्टिमात्र की त्रिकाल में असत्ता होने के कारण उसकी आदि और अन्त कल्पना भी मिथ्या है ॥२२॥

मुझ ज्ञानी के प्रति अद्वितीय अखण्ड आदि और अन्त से शून्य जन्म-नाशविहीन परमार्थघन ही है, अतः सृष्टि, स्थिति और प्रलयों का नाम भी नहीं है, उनके रूप की बात तो दूर रही ॥२३॥

भ्रान्तिवश दिखाई दे रहे सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि का अस्तित्व नहीं है दृश्यमान यह सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप जगत् आत्मा से वैसे ही अन्य नहीं है । जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्र से व्यतिरिक्त नहीं है ॥२४॥

मूर्त सृष्टि भी स्रष्टा की चित्ततादशा में नाना प्रतीत होती हुई भी वैसे ही नाना नहीं है । जैसे चित्रकार द्वारा बनाई जाने वाली चित्रलिखित सेना बुद्धिस्थ चित्र से भिन्न नहीं है ॥२५॥

यद्यपि चिद्घन निद्रारूप अविद्या विभागहीन है तथापि वह सुषुप्तिरूप आवरण से वास्तविक स्वरूपभूत भी मोक्ष नाम से प्रसिद्ध भाग को चुरा लेती है, अर्थात् उसके अस्तित्व का अपलाप कर देती है इतना ही नहीं करती प्रत्युत चित्त बनकर वह इस जाग्रद्भाग और स्वप्न को दिखलाती है ॥२६॥

यह प्रलय है, यह सृष्टि है, यह स्वप्न है, यह जागरण है ये सब प्रज्ञानघनतारूप सुषुप्ति वाले आत्मसूर्य के इस तरह के विभिन्न प्रकाश हैं, स्फुरण हैं ॥२७॥

उनमें चिन्निद्रा का उद्भूत वासना वाला जो स्वप्न भाग है वही उपाधिरूप अंश को प्रधानता से चित्त कहा गया है, चिदंश की प्रधानता से जीव हो वही देवता, असुर, मनुष्य आदि अधिकारियों के शरीरों का द्रष्टा हो तत्त्वज्ञान से चिन्निद्रा को हटाकर मुक्त होता है ॥२८॥

एष एव परिज्ञातः सुषुप्तिर्भवति स्वयम् ।
यदा तदा मोक्ष इति प्रोच्यते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२९॥

श्रीराम उवाच

चित्तं देवासुराद्यात्म चिन्निद्रा स्वात्मदर्शनम् ।
कियत्प्रमाणं भगवन्कथमस्योदरे जगत् ॥३०॥

वसिष्ठ उवाच

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्थावरं स्त्रियम् ।
नागं नगं पिशाचादि खगकीटादि राक्षसम् ॥३१॥

प्रमाणं तस्य चाऽनन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ॥३२॥

यदेतदावित्यपथादूर्ध्वं संयाति वेदनम् ।
एतच्चित्तं भूतमेतदपर्यन्तामलाकृति ॥३३॥

एतदुग्रं चितो रूपमस्याऽन्तर्भुवनर्द्धयः ।
यदाऽऽयान्ति तदा सर्गश्चित्तादागत उच्यते ॥३४॥

चित्तमेव विदुर्जीवं तदाद्यन्तविवर्जितम् ।
खं घटेष्विव देहेषु चाऽऽस्ते नाऽस्ति तदिच्छया ॥३५॥

निम्नोन्नतान्भुवो भागान् गृह्णाति च जहाति च ।
सरित्प्रवाहोऽङ्ग यथा शरीराणि तथा मनः ॥३६॥

अस्य स्वात्मपरिज्ञानादेष देहादिसंभ्रमः ।
शाम्यत्याश्ववबोधेन मरुवाःप्रत्ययो यथा ॥३७॥

जगत्यन्तरणुर्यत्र तत्प्रमाणं हि चेतसः ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्पुंसामन्तःस्थितं जगत् ॥३८॥

यावत्किंचिदिदं दृश्यं तच्चित्तं स्वप्नभूष्विव ।
तदेव च पुमांस्तस्मात्को भेदो जगदात्मनोः ॥३९॥

चौथी और पाँचवीं भूमिकाओं में ज्ञात हुआ वही जब छठी भूमिका में स्वयं सुषुप्ति-होता है तब सातवीं भूमिका में मुक्ति की अभिलाषा करने वाले पुरुषों द्वारा 'मोक्ष' कहा जाता है ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! देवता, असुर; मनुष्य आदि स्वरूप चित्त देवता, असुर, मनुष्य आदि के भेद से कितना बड़ा है और उसके अवयवों की बनावट कैसी है ? चिन्निद्रा कैसी है और उसके पेट में जगत् कितना बड़ा और कितने समय तक रहता है एवं स्वात्म दर्शन कैसे होता है ? ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! चित्त को आप मनुष्य, देवता, असुर, स्थावर, स्त्री, हाथी, पर्वत, भूत, प्रेत, पिशाच आदि, पक्षी, कीट, पतंग आदि और राक्षस जानिये। उसका प्रमाण भी आप अनन्त जाने जहाँ पर परमाणु से लेकर ब्रह्मादिस्थावरात्मक हजारों जगत् समाते हैं ॥३१, ३२॥

ऊपर की ओर दृष्टि फेंकने पर यह सूर्य मार्ग से ऊपर ध्रुव, अन्धकारादि प्रदेश में चाक्षुष ज्ञान जाता है इतने बड़े प्रमाण वाला चित्त है इस प्रकार निःसीमता और निर्मल आकृति सबके अनुभव से सिद्ध है ॥३३॥

यह चित् का उग्र असहनीय संसारदुःखमय होने के कारण उग्र रूप है इसी समष्टि स्वरूप चिद्रूप के अन्दर भुवन समृद्धियाँ जब ब्रह्माण्ड आदि की कल्पना द्वारा आती हैं तब सृष्टि होती है उसे हम लोग चित्त से आई हुई कहते हैं ॥३४॥

सकल देहों में वह वैसे ही रहता है चित्त को ही ज्ञानी लोग 'जीव' जानते हैं, वह आद्यन्तविहीन व्यापक है। अतएव जैसे वह आकाश घड़ों में रहता है। व्यष्टि-रूप से देह से उत्क्रमण होने के कारण ब्रह्मा की इच्छा से देहों में नहीं भी रहता है ॥३५॥

हे वत्स ! मन विविध शरीरों को वैसे ही ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है। जैसे नदी का धारा प्रवाह नीचे-ऊँचे भूमि भागों को ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है ॥३६॥

आत्मा के परिज्ञान से इसकी यह देहादिभ्रान्ति वैसे ही शान्त हो जाती है जैसे यह मरुभूमि है जल नहीं है इस ज्ञान से मरुभूमि में जल की प्रतीति शान्त हो जाती है ॥३७॥

जगत् में जालान्तर्गत सूर्यकिरणों में सबसे छोटे अणु का जो प्रमाण प्रसिद्ध है वही चित्त का परिमाण है। वही जीव है, क्योंकि 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ऐसी श्रुति है। इसलिए जीवों के अन्दर जगत् स्थित है अर्थात् इस प्रकार सकल जगद्गर्भित मन की परमाणु रूपता ही है ॥३८॥

जाग्रज्जगत् में भी जो कुछ भी दृश्य है वह सम्पूर्णतया वैसे ही चित्त ही है जैसे स्वप्न भूमियों में जो कुछ भी दृश्य है वह सबका सब चित्त ही है वही जीव है, इसलिए जगत् और जीव में कौन भेद है अर्थात् इस प्रकार जीव और जगत के भेद का भी परिमार्जन हो गया ॥३९॥

चिदेवाऽयं पदार्थौघो नाऽस्त्यन्यस्मिन्पदार्थता।
व्यतिरिक्ता स्वप्न इव हेम्नीव कटकादिता ॥४०॥
यथैकदेशे सर्वत्र स्फुरन्त्यापोऽम्बुधौ पृथक्।
ब्रह्मण्यनन्या नित्यस्थाश्चितो दृश्यात्मिकास्तथा ॥४१॥
यथा द्रवत्वमम्भोधावापो जठरकोशगाः।
स्फुरन्त्येवं दाऽनन्याः पदार्थौघास्तथा परे ॥४२॥
यथास्थितजगच्छालभञ्जिकाकाशरूपधृक् ।
चित्स्तम्भोऽयमपस्पन्दः स्थित आद्यन्तवर्जितः ॥४३॥
यथास्थितमिदं विश्वं संविद्व्योम्नि व्यवस्थितम्।
स्वरूपमत्यजच्छान्तं स्वप्नभूमाविवाऽखिलम् ॥४४॥
समता सत्यता सत्ता चैकता निर्विकारिता।
आधाराधेयताऽन्योन्यं चैतयोर्विश्वसंविदोः ॥४५॥

यह सम्पूर्ण पदार्थ राशि वैसे ही चित् ही है जैसे स्वप्न में सकल पदार्थ समूह चित् ही हैं और जैसे सुवर्ण में कुण्डल, कटक आदि रूपता सुवर्ण ही है यदि इसे चित् से भिन्न मानो तो इसमें सत्ता और स्फूर्ति का लाभ न होने के कारण यह मिथ्या हो जायगी, इससे व्यतिरिक्त पदार्थता ही सिद्ध न होगा अर्थात् जीव और जगत् का अभेद सिद्ध होने पर जगत् की चिन्मात्रता भी अपने आप सिद्ध हो गई ॥४०॥

ब्रह्म में भी नित्य स्थित अभिन्न दृश्यरूप चितियाँ पृथक् रूप से वैसे ही स्फुरित होती हैं जैसे सागररूप एक प्रदेश में एकत्र होकर स्थित जलराशि फेन, बुद्बुद्, लहर, आवर्त आदि पृथक् रूप से स्फुरित होती है ॥४१॥

अभिन्न पदार्थराशियाँ परमब्रह्म में वैसे ही स्फुरित होती हैं जैसे सागर में सागरकुक्षिस्थित जलराशि द्रव-रूप से स्फुरित होती है ॥४२॥

यथास्थित जगद्रूप प्रतिमाओं की अत्यन्त शून्यता को धारण करनेवाला चित्रूपी यह स्तम्भ, आद्यन्त-विहीन अटल होकर खड़ा है ॥४३॥

स्वप्नभूमि के तुल्य संविदाकाश में यथास्थित यह सारा का विश्व अपने शान्त निर्मल स्वरूप का त्याग किये बिना स्थित है ॥४४॥

इस विश्व और संवित् की परस्पर समता, सत्यता, सत्ता, एकता, निर्विकारता—पांच प्रकारों से भेद की प्रतीति न होने के कारण वह शान्त है और आधाराधेय भाव से स्तम्भ और प्रतिमा के तुल्य थोड़ा-बहुत भेद का आभास होने से वह स्वरूप का त्याग नहीं करता यह अर्थ है ॥४५॥

स्वप्नसंकल्पसंसारवरशापदृशामिह ।
सरोऽब्धिसरिदम्बूनामिवाऽन्यत्वं न वाऽथवा ॥४६॥

श्रीराम उवाच

वरशापार्थसंवित्तौ कार्यकारणता कथम्।
उपादानं विना कार्यं नाऽस्त्येव किल कथ्यताम् ॥४७॥

वसिष्ठ उवाच

स्ववदातचिदाकाशकचनं जगदुच्यते।
स्फुरणे पयसामब्धावावर्तचलनं यथा ॥४८॥
ध्वनन्तोऽब्धिजलानीव भान्ति भावाश्चिदात्मकाः।
संकल्पादीनि नामानि तेषामाहुर्मनीषिणः ॥४९॥

स्वप्न और संकल्प के संसार की तरह वर और शाप से नन्दी और नहुष के देवत्व और सर्पत्व प्रतिभान दृष्टियों का तालाब, सागर और नदी के जलों की तरह व्यवहार योग्य भेद है, परमार्थतः भेद नहीं है अर्थात् विश्व और संवित् में प्रातिभासिक भेद है वास्तव में तो भेद का अभाव है ॥४६॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा - हे ब्रह्मन् ! वर और शाप-रूप अर्थसंवित् में कार्यकारणता कैसे हो सकती है ? उपादान के बिना कार्य हो ही नहीं सकता इसे आप कृपाकर कहें। नन्दी के मनुष्य-शरीर में देव-शरीर का उपादानभूत चन्द्रामृत नहीं है इसी तरह चन्द्रामृतरचित नहुष के देव-शरीर में सांप के शरीर के उपादानभूत सर्प अंडे आदि नहीं हैं। उपादान के बिना संसार में कहीं पर भी कार्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में वहाँ दोनों जगह नन्दी और नहुष में देवता और सर्प के शरीर की सिद्धि कैसे हुई ? यह श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का अभिप्राय है ॥४७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! अत्यन्त निर्मल तत्त्वज्ञान से खूब विमृष्ट होने के कारण अत्यन्त निर्मल चिदाकाश का सत्यसंकल्पानुसारी स्फुरण वैसे ही जगत् कहा जाता है जैसे सागर में जलराशि स्फुरण होनेपर आवर्तगति होती है यह बात मैं अनेक बार कह आया हूँ ॥४८॥

विधाता की आत्मचित् में समुद्र में जलराशि की तरह जगद्भावों का, चिदात्मस्वरूप ही अकस्मात् भान होता है। उन भानों की 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत', 'समकल्पतां द्यावापृथिवी' इत्यादि श्रुतियाँ और मनीषी ऋषि लोग संकल्प आदि नाम कहते हैं ॥४९॥

कालेनाऽभ्यासयोगेन विचारेण समेन च।
जातेर्वा सात्त्विकत्वेन सात्त्विकेनाऽमलात्मना ॥५०॥

सम्यग्ज्ञानवतो ज्ञस्य यथाभूतार्थदर्शिनः।
बुद्धिर्भवति चिन्मात्ररूपा द्वैतैक्यवर्जिता ॥५१॥

निरावरणविज्ञानमयी चिद् ब्रह्मरूपिणी।
सवित्प्रकाशमात्रैकदेहा देहविवर्जिता ॥५२॥

सोऽयं पश्यत्यशेषेण यावत्संकल्पमात्रकम्।
स्वमात्मकचनं शान्तमनन्यत्परमार्थतः ॥५३॥

अस्या इदं हि संकल्पमात्रमेवाऽखिलं जगत्।
यथा संकल्पनगरं यथा स्वप्नमहापुरम् ॥५४॥

आत्मा स्वसंकल्पवरः स्ववदातो यथा यथा।
यद्यथा संकल्पयति तथा भवति तस्य तत् ॥५५॥

संकल्पनगरे बालः शिलाप्रोड्डयनं यथा।
सत्यं वेत्त्यनुभूयाऽऽशु स्वविधेयनियन्त्रणम् ॥५६॥

स्वसंकल्पात्मभूतेऽस्मिन्परमात्मा जगत्त्रये।
वरशापादिकं सत्यं वेत्त्यनन्यत्तथाऽऽत्मनः ॥५७॥

स्वसंकल्पपुरे तैलं यथा सिद्धयति सैकतात्।
कल्पनात्सर्गसंकल्पैर्वरादीह तथाऽऽत्मनः ॥५८॥

अनिरावणज्ञप्तेयंतः शान्ता न भेदधीः।
ततः संकल्पनाद् द्वैताद्वराद्यस्य न सिद्धयति ॥५९॥

या यथा कलना रूढा तावत्साऽद्याऽपि संस्थिता।
न परावर्तिता यावद्यत्नात्कल्पनयाऽन्यया ॥६०॥

ब्रह्मण्यवयवोन्मुक्ते द्वितैकत्वे तथा स्थिरे।
यथा सावयवे तत्त्वे विचित्रावयवक्रमः ॥६१॥

श्रीराम उवाच

अनिरावरणज्ञानाः केवलं धर्मचारिणः।
शापादीन्संप्रयच्छन्ति यथा ब्रह्मंस्तथा वद ॥६२॥

दीर्घकाल के अभ्यास से, विचार से, शत्रु मित्र आदि में समदर्शन से, देवता की जाति की सात्त्विकता से और सात्त्विक निर्मल स्वरूप से सम्यक् ज्ञानवान् वास्तविक अर्थ को देखने वाले ज्ञानी पुरुष की बुद्धि द्वैत और ऐक्य से हित चिन्मात्ररूप होती है ॥५०, ५१॥

आवरण रहित विज्ञानमयी ब्रह्मरूपिणी चित्त का एकमात्र संवित् प्रकाश ही शरीर है उसके अतिरिक्त उसका कोई शरीर नहीं है ॥५२॥

आवरण शून्य विज्ञान वाला पुरुष शान्त अपने आत्म-स्फुरणरूप सम्पूर्ण संकल्पमात्र को देखता है उस सबको परमार्थ से अभिन्न देखता है, यह सम्पूर्णरूप से उसके संकल्प की सत्यता मे उपपत्ति है ॥५३॥

इस प्रकार के निरावरण ज्ञान वाले ब्रह्मा का चारों ओर दिखाई दे रहा यह साराजगत् वैसे ही संकल्पमात्र ही है जैसे हमारा संकल्प नगर संकल्प मात्र है जैसे स्वप्न का शहर संकल्पमात्र है ॥५४॥

इस प्रकार दूसरा भी अपने संकल्प में श्रेष्ठ निरावरण आत्मा ही जैसे-जैसे जिसका संकल्प करता है उसके प्रति वह वैसा-वैसा होता है ॥५५॥

हिरण्यगर्भादि निरावरणात्मा भी अपने संकल्परूप इस त्रिजगत् में वर, शाप आदि को अपने से वैसे ही अभिन्न सत्य जानता है जैसे बालक संकल्प-नगर में उड़ाने का, जिसमें स्वाधीन नियन्त्रण है, अनुभव कर शीघ्र ही उसे सत्य समझता है ॥५६,५७॥

यहाँ पर ब्रह्मा के संकल्परूप जगत् में सृष्टि के संकल्पों से कल्पनावास हिरण्यगर्भादि आत्मा से वर, शाप आदि अर्थ की वैसे ही बिना उपादान कारण के सिद्धि होती है जैसे संकल्पनगर में अपनी कल्पना से बालू से तेल निकालता है ॥५८॥

जिसके ज्ञान का आवरण नहीं हटा उसकी भेद-बुद्धि शान्त नहीं होती, इसलिए द्वैत के संकल्प से उस उस अज्ञानी के वर, शाप आदि अर्थ सिद्ध नहीं होते ॥५९॥

निवारण ज्ञानवाले ब्रह्मा की जिस कल्पना की पहले जड़ जमी वह आज भी ज्यों की त्यों स्थित है तबतक ज्यों की त्यों रहेगी जबतक अन्य कल्पना द्वारा प्रयत्न से परिवर्तित नहीं होगी अर्थात निवारण ज्ञानवालों की कल्पना वैसी दूसरी कल्पना की उदय होने तक नहीं मिटती ॥६०॥

जैसे सावयव वस्तु में विचित्र अवयवों का क्रम स्थित रहता है वैसे ही अवयवशून्य ब्रह्म में द्वित्व और एकत्व स्थित है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! निवारण ज्ञान से शून्य केवल उग्र तप आदि धर्म करनेवाले तपस्वी जैसे क्रोधवश शाप और अनुग्रह से वर आदि देते हैं वैसा मुझसे कहे अर्थात् तब तो निवारणज्ञानशून्य केवल उग्र तपस्वियों के वर, शाप आदि निष्फल होंगे? ॥६२॥

वसिष्ठ उवाच

संकल्पयति यन्नाम सर्गादौ ब्रह्म ब्रह्मणि।
तत्तदेवाऽनुभवति यस्मात्तत्ताऽस्ति नेतरत् ॥६३॥

ब्रह्म वेत्ति यदात्मानं स ब्रह्माऽयं प्रजापतिः।
स च नो ब्रह्मणो भिन्नं द्रवत्वमिव वारिणः ॥६४॥

संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः।
तत्तदेवाऽऽशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥६५॥

निराधारं निरालम्बं व्योमात्म व्योम्नि भासते।
दुर्दृष्टेरिव केशोण्ड्रं दृष्टमुक्तावलीव च ॥६६॥

संकल्पिताः प्रजास्तेन धर्मो दानं तपो गुणाः।
वेदाः शास्त्राणि भूतानि पञ्च ज्ञानोपदेशनाः ॥६७॥

तपस्विनोऽथ वादैश्च यद् ब्रूयुरविलम्बितम्।
यद्यद्वेदविदस्तत्तस्यादिति तेनाऽथ कल्पितम् ॥६८॥

इदं चिद् ब्रह्म चिच्छद्रं खं वायुश्चेष्टाऽग्निरुष्णता।
द्रवोऽम्भः कठिनं भूमिरिति तेनाऽथ कल्पिताः ॥६९॥

चिद्धातुरीदृशो वाऽसौ यद्यत्खात्माऽपि चेतति।
तत्तथाऽनुभवत्याशु त्वमहं स इवाऽखिलम् ॥७०॥

यद्यथा वेत्ति चिद्व्योम तत्तथा तद्भवत्यलम्।
स्वप्ने त्वमहमादीव सदात्माऽप्यसदात्मकम् ॥७१॥

शिलानृत्तं यथा सत्यं संकल्पनगरे तथा।
जगत्संकल्पनगरं सत्यं ब्रह्मण ईप्सितम् ॥७२॥

चित्स्वभावेन शुद्धेन यद् बुद्धं यच्च यादृशम्।
तदशुद्धोऽन्यथा कर्तुं न शक्तः कीटको यथा ॥७३॥

अभ्यस्तं बहुलं संवित्पश्यतीतरदल्पकम्।
स्वप्ने जाग्रत्स्वरूपे च वर्तमानेऽखिलं च सत् ॥७४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! आदिम सृष्टि ब्रह्म में जिसका संकल्प करता है उसी का अनुभव करता इसलिए सबकी ब्रह्मता है, प्रतिबन्धक अन्य नहीं है ॥६३॥

यह प्रजापति ब्रह्मा अपने को ब्रह्म जानता है, इसलिए यह ब्रह्म ही है,। यह भी ब्रह्म से वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे जल से द्रवत्व भिन्न नहीं है श्रुति भी कहती है—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्धचत स एव तदभवत्' इत्यादि ॥६४॥

यह प्रथम प्रजापति जो संकल्प करता है वह शीघ्र वैसा ही हो जाता है। उसी की कल्पना यह जगत् है ॥६५॥

जैसे किसी दूषित दृष्टिवाले पुरुष को आकाश में वर्तुलाकार केशों का गुच्छ या मुक्ताओं की पङ्क्ति दीखती है वैसे ही आधार रहित, निरालम्ब चिदाकाश ही अपने स्वरूप में जगत्‌रूप से भासमान होता है।॥६६॥

उस ब्रह्मा ने विविध प्रजा, धर्म, दान, तपस्या, गुण और ज्ञान का उपदेश करनेवाले वेद, शास्त्र तथा पञ्चभूतों का संकल्प सृष्टि किया है ॥६७॥

उस प्रजापति ने यह भी कल्पना की कि वेदवेत्ता तपस्वी लोग वादों से अथवा स्वाभाविक वृत्ति से जो कहें वह शीघ्र ही हो जाय ॥६८॥

इस ब्रह्म की चेतनता, आकाश की सच्छिद्रता, वायु की सचेष्टता, अग्नि की उष्णता, जल का द्रवत्व, भूमि का काठिन्य यदि सब उसी ने रचा है अर्थात् इस प्रकार समग्र वस्तुओं के भिन्न-भिन्न स्वभावों की भी उसी ने रचना की है ॥६९॥

इस चिदात्मा का ऐसा स्वभाव है कि आकाशात्मा भी यह जो विचार करता है सत्यसंकल्प होने से उस सबका शीघ्र ही तुम्हारे, मेरे और उसके सदृश अनुभव करता है अर्थात् इस प्रकार यह सब कल्पना प्रजापतिरूप चिदाकाश की ही रचना है ॥७०॥

वह चिदाकाश जिस वस्तु को जैसा समझता है वह वस्तु पूर्णरूप से वैसी ही हो जाती है, जैसे स्वप्न में तुम, हम आदि स्वप्न पदार्थ हो जाते हैं, सद् आत्मा भी वह जगत्स्वरूप हो जाता है ॥७१॥

ब्रह्मा के अधिकाररूप प्रारब्ध के भोग के लिए अभीष्ट संकल्पनगररूप यह जगत् उसी प्रकार भी सत्य है जिस प्रकार संकल्प नगर में शिलानृत्य भी सत्य होता है ॥७२॥

शुद्ध चित्स्वभाव वाले प्रजापति आदि ने जो जाना है और जो जैसा है उसे कीड़े की तरह अशुद्ध कोई पुरुष अन्यथा करने के लिए समर्थ नहीं है ॥७३॥

जिसे जाग्रत काल में 'मैं लोहे की सिकड़ियों से जकड़ा हुआ हूँ' ऐसा दृढ़तर संस्कार है वह जैसे स्वप्न में भी अपने को लोहे की सिकड़ियों में जकड़ा हुआ देखता है वैसे ही वर्तमान जाग्रत् में भी यह सब सत् है यों बारबार अभ्यस्त को ही संवित् देखती है अनभ्यस्त 'यह असत् है' यह नहीं देखती है अर्थात् अशुद्ध स्वभाव वालों को अस्वतन्त्र कल्पनाओं के अभ्यास की दृढ़ता रहती है। इससे भी तद्विरुद्ध कल्पना की स्वतन्त्रता उनमें नहीं हैं ॥७४॥

सदा चिद्व्योम चिद्व्योम्नि कचदेकमिदं निजम्।
द्रष्टृदृश्यात्मकं रूपं पश्यदाभाति नेतरत् ॥७५॥

एकं द्रष्टा च दृश्यं च चिन्नभः सर्वगं यतः।
तस्माद्यथेष्टं यद्यत्र दृष्टं तत्तत्र सत्सदा ॥७६॥

वाय्वङ्गगस्पन्दनवज्जलाङ्गद्रवभाववत् ।
यथा ब्रह्मणि ब्रह्मत्वं तथाऽजस्याऽङ्गजं जगत् ॥७७॥

ब्रह्मैवाऽहं विराडात्मा विराडात्मवपुर्जगत्।
भेदो न ब्रह्मजगतोः शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥७८॥

यथा प्रपाते पयसो विचित्राः कणपङ्क्तयः।
विचित्रदेशकालान्ता निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥७९॥

चिदाकाश चिदाकाश में स्फुरित हो रहे एक इस अपने द्रष्टृदृश्यात्मक स्वरूप को देखता हुआ सर्वदा प्रकाशित होता है। वह उससे भिन्न नहीं है अर्थात् इसी प्रकार कल्पित त्रिपुटीवेष से स्फुरण होता ही है ॥७५।

एकचित्सत्ता के उपजीवी होने से द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं, क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है। इसलिए जो-जो अभिलषित पदार्थ जहाँ दीखे वह वहाँ सर्वदा सत् ही है अर्थात् साक्षिचैतन्य त्रिपुटी की (द्रष्टृ, दृश्य और दर्शन की) व्याप्ति के बल से ही उसकी सत्ता का सम्पादक है ॥७६॥

वायु-शरीरवर्ती स्पन्दन की तरह तथा जलाङ्गवर्ती द्रवत्व की तरह जन्म रहित इस विराट के अङ्ग से उत्पन्न यह जगत् वैसे ही है जैसे ब्रह्मा में ब्रह्मत्व अर्थात् जगदाकार से परिणत होने में हेतुभूत माया शक्तिमत्त्व है ॥७७॥

विराट्रूप ब्रह्म ही मैं हूँ, विराट्रूप आत्मा का देह ही जगत् है। ब्रह्म और जगत् में शून्यत्व और आकाश की तरह कोई भेद नहीं है ॥७८॥

विचित्र देश और काल भी इस ब्रह्मा में ही आविर्भूत और तिरोहित होते वैसे ही दिखाई देते हैं जैसे पर्वत से गिरने वाले आने में जल की विचित्र कणपङ्क्तियाँ गिरती है ऊपर उछलती है ॥७९॥

निपत्यैवैकया कल्पं मनोबुद्ध्यादिवर्जिताः।
आत्मन्येवाऽऽत्मनो भान्ति तथा या ब्रह्मसंविदः ॥८०॥

ताभिः स्वयं स्वदेहेषु बुद्ध्यादिपरिकल्पनाः।
कृत्वोररीकृता सर्गश्रीरद्भिर्द्रवता यथा ॥८१॥

तदेवं जगदित्यस्ति दुर्बोधेन मम त्विदम्।
अकारणकमद्वैतमजातं कर्म केवलम् ॥८२॥

अस्तस्थितिः शरीरेऽस्मिन्यादृग्रूपाऽनुभूयते।
उपलादौ जडा सत्ता तादृशी परमात्मनः ॥८३॥

यथैकस्यां सुनिद्रायां सुषुप्तस्वप्नकौ स्थितौ।
तथैते सर्गसंहारभासौ ब्रह्मणि संस्थिते ॥८४॥

जैसे कल्पपर्यन्त एक ही धारा से गिरकर जलकण, मन, बुद्धि आदि से रहित हैं, सहस्रों करोड़ भेदों में विभक्त होकर भी फिर अपने एक प्रवाहरूप में ही भावभास हैं वैसे ही विचित्र ब्रह्मसंविद् जगद् भेद भी आत्मा से निकलकर करोड़ों भेदों में विभक्त होकर फिर स्वात्मा में ही भासती हैं ॥८०॥

केवल इतनी ही वैशिष्ट्य है कि कणपङ्क्तियाँ मनोबुद्ध्यादि से वर्जित हैं किन्तु उन ब्रह्मसंविदों ने तो स्वस्वदेहों में मनोबुद्ध्यादि की स्वयं कल्पना करके, जलों की द्रवता की भाँति सर्ग की शोभा को भोग्यरूप से स्वीकार किया है ॥८१॥

इस प्रकार मनोबुद्ध्यादिविक्षिप्त अज्ञान स्वरूप दुर्बोध से यह जगत् है। अज्ञान से रहित मेरी दृष्टि में तो यह सारा जगद्रूपी कर्म कारण रहित, द्वैतविहीन त्रिकाल में अनुत्पन्न केवल ब्रह्म ही है अर्थात् मनोबुद्ध्यादि कल्पना का त्याग होने पर तो जगत् अज्ञानमात्र पर्यवसित होता है ॥८२॥

इस शरीर में मृतावस्था जिस तरह मनोबुद्ध्यादि रहित ही अनुभूत होती है, उपल आदि में जड़ सत्ता ही परमात्मा की भी मनोबुद्ध्यादि रहित के समान निर्विक्षेप सत्ता समझनी चाहिए ॥८३॥

सृष्टि और प्रलय के आभास भी वैसे ही ब्रह्म में स्थित हैं जैसे सुन्दर गाढ़निद्रा में सुषुप्ति और स्वप्न स्थित हैं अर्थात् इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ये दोनों अज्ञाननिद्रा के अवान्तर भेद हैं ॥८४॥

सुषुप्तस्वप्नयोर्भातः प्रकाशतमसी यथा।
एकस्यामेव निद्रायां सर्गासर्गौ तथा परे ॥८५॥

यथा नरोऽनुभवति निद्रायां दृषदः स्थितिम्।
परमात्माऽनुभवति तथैतज्जडसंस्थितिम् ॥८६॥

अङ्गुष्ठस्याऽथवाऽङ्गुल्या वाताद्यस्पर्शने सति।
योऽन्यचित्तस्याऽनुभवो दृषदादौ स आत्मनः ॥८७॥

व्योमोपलजलादीनां यथा देहानुभूतयः।
तथाऽस्माकमचित्तानामद्य नानाऽनुभूतयः ॥८८॥

काले कल्पेषु भान्त्येता यथाऽहोरात्रसंविदः।
तथाऽसंख्याः परे भान्ति सर्गसंहारसंविदः ॥८९॥

आलोकरूपमननानुभवैषणेच्छा-
मुक्तात्मनि स्फुरति वारिघने स्वभावात्।
आवर्तवीचिवलयादि यथा तथाऽयं
शान्ते परे स्फुरति संहृतिसर्गपूगः ॥९०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मगीतासु सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिपादनयोगोपदेशो नाम षडशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८६॥

परब्रह्म में सर्ग और प्रलय का वैसे ही भान भी होता है जैसे एक ही निद्रा में स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में प्रकाश और अन्धकारक भान होता है ॥८५॥

परमात्मा भी इस जड़ पदार्थों की स्थिति का वैसे ही अनुभव करता है जैसे मनुष्य निद्रावस्था में निज पाषाण की स्थिति का अनुभव करता है अर्थात् चित् में ही जड़ और अजड़ भेद की कल्पना में भी स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥८६॥

पाषाण आदि में विद्यमान भी अविद्यमानप्राय अनुभव जडतारूप वैसी ही है जैसे विषयान्तर में आसक्तचित्त वाले पुरुष के अङ्गुष्ठ या अन्य अंगुली से पवन, आतप या धूलि का स्पर्श होने पर उत्पन्न हुआ भी अनुभव अनुत्पन्न प्राय ही होता है यह प्रसिद्ध है ॥८७॥

प्रलयकाल में चित्तादि से रहित हम लोगों को आज सृष्टिकाल में वैसे ही नाना प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं जैसे आकाश, उपल, जलादि का जंसे विराट् देहभाव में अथवा तदत्तधिष्ठातृदेवता- देहभाव में अनुभव होता है अर्थात् ऐसे ही जड़ को भी चेततभाव का अनुभव प्रसिद्ध है ॥८८॥

अखण्डकाल में ब्रह्मा के दिनभेदरूप कल्प के समान ही हमारे असंख्य दिन रात्रि की प्रतीति परमब्रह्म में भी असंख्य सृष्टि और प्रलय संविदों का भान होता है ॥८९॥

जिस प्रकार एकमात्र जलस्वभाववाले समुद्र में स्वभाव से ही आवर्त और तरङ्गवलय आदि का स्फुरण होता है उसी प्रकार विषयों का दर्शन, उनका मनन, उनका भोगरूप अनुभव और उनकी एषणा राग, उनकी प्राप्ति की इच्छा आदि विक्षेपों से निर्मुक्तस्वरूप शान्त परमपद में यह प्रलय और सृष्टि का पुञ्ज भी स्वभाव से ही भासमान होता है प्रमाण से तत्त्वदर्शन हो जाने-पर वह स्फुरित नहीं होता ॥९०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" प्रतिपादनयोगोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छियासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८६॥

१८७

श्रीराम उवाच

विचित्राणामसंख्यानां भावानां नियतिः कुतः।
कथं स्वभावो भावानामेकरूपः स्थितोऽचलः ॥१॥

सत्स्वसंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्।
दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम् ॥२॥

१८७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! विचित्र असंख्य पदार्थों का कार्यकारण भावादि नियमरूप नियति तथा अग्निजलादि का उष्णता, द्रवत्व आदिरूप स्वभाव इस संसार में किस हेतु से एकरूप और अचल होकर स्थित हैं। क्योंकि स्वप्न, मनोरथ आदि अन्य मिथ्या पदार्थों में तो यह स्थिर नहीं दिखाई देता है ॥१॥

असंख्य देवताओं में सूर्य ही इतनी उग्र प्रभा कैसे हुई और दिवसों की दीर्घता लम्बा होना और ह्रस्वता छोटा होना किसने की ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

काकतालीयवद्भागं यत् परे नियतं स्वतः।
यथास्थितं यथारूपं स्थितं तज्जगदुच्यते ॥३॥

सर्वशक्तेर्यथा यद्भाति तत्तत्तथैव सत्।
संवित्सारतया यायात्कथं भातमभातताम् ॥४॥

यथा स्थितं यथा भाति चित्त्वाद् ब्रह्म चिराय यत्।
तस्य भानमभानाभं नियत्यभिधमेव तत् ॥५॥

इदमित्थमिदं चेत्थं स्वयं ब्रह्मेति भाति यत्।
तन्नियत्यभिधं प्रोक्तं सर्गसंहाररूपधृक् ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! आदि सृष्टि में उस निश्चल परम ब्रह्म में स्वभाव से ही काकतालीयवत् नियत जो भान हुआ वह जैसा था और जिस प्रकार के कार्यकारणभाव से स्थित था वैसा ही आज भी स्थित वह जगत् शब्द से कहलाता है अर्थात् आदि सृष्टि में जो-जो काकतालीयन्याय से विधाता को जैसा जैसा प्रतीत हुआ वह वैसे ही अर्थक्रियादि द्वारा नियत रूप से स्थित है, विधाता की इच्छा ही उसके अव्यभिचार में हेतु है यही बात वस्तुओं के स्वभाव के विषय में भी जाननी चाहिए, ॥३॥

सर्वशक्तिमान परमात्मा को जिस जिसका जैसे भान होता है वह वैसे ही सत् है। सत्यसंकल्पसंवित् संवितसार है उसे जिसका भान होता है वह अभान कैसे होगा। उक्त संवित्सार सत्यसंकल्प संवित् हम लोगों के स्वप्न और मनोरथ की संवित् के समान असार नहीं है जिससे उसका भान अभानता को प्राप्त हो। अर्थात् नियत ईश्वर शक्ति का अन्यथाभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए नियति में कोई व्यभिचार नहीं हुआ ॥४॥

ज्यों के त्यों अपने स्वरूप में स्थित ब्रह्म का, चित् होने के कारण, चिरकाल तक स्फुरण होता है माया के उदर में स्थित उसी का सृष्टिकाल में भान होता है तथा प्रलयकाल में सूक्ष्म होने के कारण वही अभान सदृश हो जाता है। वहां अनादि सकल वस्तुओं की अर्थ क्रिया शक्ति है और वही नियति है ॥५॥

यह इस प्रकार का है और यह इस प्रकार का है यों स्वयं ब्रह्म का ही जो स्फुरण है सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करने वाला वही नियति नाम वाला कहा गया है अर्थात् नियत सकल अर्थक्रिया में समर्थ ब्रह्म ही जगदाकारता धारण करता है, इसलिए भी नियति प्रतिष्ठा की सिद्धि होती है ॥६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं यत्स्वतः कचनं चिति।
तत्ततोऽनन्यदेकाच्छं द्रवत्वमिव वारिणि ॥७॥

यथा शून्यत्वमाकाशे कर्पूरे सौरभं यथा।
यथौष्ण्यमातपे नाऽन्यज्जाग्रदादि तथा चिति ॥८॥

सर्गप्रलयनाम्न्येकप्रवाहानन्यसत्तया ।
चिन्मात्रगगनात्मैकब्रह्मात्मन्येव संस्थितम् ॥९॥

सर्गोऽयमिति तद् बुद्धं क्षणं यत्कचनं चितः।
कल्पोऽयमिति तद्बुद्धं क्षणं तत्कचनं चितः ॥१०॥

तत्कालस्तत्क्रिया तत्खं देशद्रव्योदयादि तत्।
यत्स्वप्न इव चिन्मात्रकचनं स्वस्वभावतः ॥११॥

चित् में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का जो स्वतः स्फुरण है अत्यन्त निर्मल वह उससे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि जल से द्रवत्व अभिन्न है अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं अज्ञात आत्मा ही स्वभाव है, इसलिए यथादृष्ट नियति का व्यभिचार नहीं होता है ॥७॥

चित् में जाग्रत् आदि अवस्थाएँ वैसे ही भिन्न नहीं हैं जैसे आकाश में शून्यता भिन्न नहीं है, जैसे कपूर में सुगन्धि अतिरिक्त नहीं है तथा जैसे घाम में उष्णता भिन्न नहीं है ॥८॥

बीजाङ्कुरन्याय से सृष्टि और प्रलय प्रवाह के अनादि होने से चिन्मात्राकाशरूप सृष्टि-प्रलय नामक एक ब्रह्म-स्वरूप में ही यह एक प्रवाह की अनन्य सत्ता से स्थित है इससे भी नियत अर्थक्रिया की सिद्धि है, यह अर्थ है ॥९॥

क्षणभर चित् का स्फुरण ही यह सर्ग है ऐसा जाना गया है और क्षणभर चित् का स्फुरण ही यह कल्प है इस प्रकार जाना गया है अर्थात् चित् के स्फुरण के अनुसार से ही सब नियमव्यवस्था है। क्षण में भी 'यह कल्प है' यों चित् का स्फुरण होने पर उसके अकल्पत्व का साधक दूसरा कुछ नहीं है ॥१०॥

जो स्वप्न के समान अपने स्वभाव से चित् का स्फुरण है वह काल है, वह क्रिया है, वह आकाश है, वह देश, द्रव्य आदि का आविर्भाव है। अर्थात् अतएव काल, क्रिया, देश, द्रव्य आदि वस्तुभेद रूप से चित्कचन ही सकल वस्तुओं का स्वभाव और नियति है ॥११॥

रूपालोकमनस्कारदेशकालक्रियादि तत्।
चित्त्वं कचति चिद्व्योम्नि यन्नामाऽनाकृति स्वतः ॥१२॥
यद्यथा कचितं कालं यत्किंचित्कल्पितं तथा।
तेनैवेयं हि नियतिरित्यप्याकाशरूपकम् ॥१३॥
आकल्पाख्यं निमेषं यत्कचनं चैकरूपकम्।
स्वाभाविकाः स्वभावं तं प्राहुः प्रसृतबुद्धयः ॥१४॥
एकस्य संविन्मात्रस्य पदार्थशतता तथा।
यथेदं संविदं॰स्य रूपं स्वं स्वमनुज्झतः ॥१५॥
संविन्मये संविदो याः कचन्तीव परे तथा।
ताभिस्तेषां स्वदेहानां यासां सा कलना कृता ॥१६॥

चिदाकाश में निराकार चित्ता का जो स्वाभाविक स्फुरण है, वह बाह्य पदार्थ दर्शन, आन्तरिक पदार्थ मनन, देश, काल, क्रिया आदि है ॥१२॥

जो पदार्थ जिस काल में जैसा चित् से स्फुरित है जिसकी उसी ने वैसी कल्पना कर रक्खी है वह नियति भी आकाशरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥१३॥

कल्पनाम के ब्रह्म के निमेष तक पदार्थों का एक रूप से (अग्नि उष्ण, जल शीत आदि रूप से) स्फुरण को स्वभावतत्त्ववेत्ता मतिमान् पुरुष प्रत्येक वस्तु में नियम से रहने वाला स्वभाव कहते हैं ॥१४॥

अपने स्वरूप का त्याग न कर रहे वह्नि आदि एक ही वस्तु का, देश, काल आदि भेद से अनेकता प्राप्त होने पर भी, एक सर्वानुगत उष्णत्व, प्रकाशरूप स्वभाव है वही उसके विविध भेदों में वैसे ही अनुगत स्वभाव है जैसे संवित् अंशभूत जीव का सर्वानुगत चित्स्वरूप ही स्वभाव है ॥१५॥

हे भद्र! संविन्मय विभिन्न वृत्तियों में भी जो चिदाभाससंविदों का स्फुरण होता है वही उनका स्वभाव है। वृत्तियों के विषय पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि में उन वृत्त्याभास संविदों ने अपने शरीर-तुल्य उन वृत्तिभेदों के मध्य में जिन-जिन वृत्तियों की जैसे आकार की कल्पना की, वह आकार ही उनका स्वभाव है ॥१६॥

पृथिवी आदि प्रत्येक अपने अपने कार्यों के आकर हैं। यथा—पार्थिव सब वस्तुओं का पृथिवी अनुगत स्वभाव है, जलीय सकल वस्तुओं का जल अनुगत स्वभाव है, तैजस सकल वस्तुओं का तेज अनुगत स्वभाव है, स्पन्द आदि वायवीय सकल वस्तुओं का वायु अनुगत स्वभाव

चिदुर्वी सलिलं तेजः स्पन्दः शून्यत्वमेव च।
प्रत्येकमाकरस्त्वेषां तानि स्वप्न इवाऽम्बरम् ॥१७॥
तत्र सप्रतिघस्याऽस्य कठिनस्याऽऽकरो महान्।
भूपीठं जनताधारो राजत्राजेव राजते ॥१८॥
अपामब्धिः प्रधानानां तेजसामेष भास्करः।
स्पन्दस्य पवनो व्योम शून्यताया जगद्गतम् ॥१९॥
पञ्चानामिति भूतानामाकरत्वेन संविदः।
पञ्च तान्युदिता ब्राह्म्यः प्रश्नः किं भास्करं प्रति ॥२०॥
बुधा संविच्चिदित्युक्ता सर्वगा सर्वरूपिणी।
सर्वत्र स्वमहिम्नैषा सर्वेणैवाऽनुभूयते ॥२१॥

है और शून्यत्वादि आकाशीय सकल पदार्थों का आकाश अनुगत स्वभाव है। उन सबका स्वप्न की तरह मायाशबल ब्रह्म ही आकर है अर्थात् विविध आकारों को दिखाकर उनका पारमार्थिक स्वभाव अधिष्ठानभूत चिदाकाश ही है ॥१७॥

हे राजन्! उनमें इस कठिन समूर्त भाग का महान् आकर भूमि है वह जनता का आधार और राजा की तरह जीवनदाता है ॥१८॥

गङ्गा आदि प्रधानभूत जलों का सकल स्व स्व विशेषों में अनुगत सागर महान् आकर तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, अग्नि आदि तेजों का अपने अपने विशेषों में अनुगत यह सूर्य महान् आकार तथा राजा की तरह जीवनप्रद है, स्पन्द का अपने-अपने विशेषों में अनुगत पवन महान् आकर तथा जीवनप्रद है तथा शून्यता का स्व स्व-विशेषों में अनुगत आकाश महान् आकर है ॥१९॥

इस प्रकार संवित् के आकर होने से वे पञ्चमहाभूत ब्राह्मी संवित् रूप से ही उदित हैं इस प्रकार ब्रह्म ही उनके अनुगत होकर उनका स्वभाव है। इससे 'असंख्येषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया। स्वभाव-प्रश्न के उत्तर से ही उसका भी समाधान हो गया; अतः सूर्य के प्रति पृथक प्रश्न नहीं उठता है, ॥२०॥

चित् ही संवित् कही गई है। सब कुछ प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञ सर्वरूप सर्वगामिनी वह स्वप्रकाशतारूप स्वमहिमा से ही सर्वत्र स्वभावरूप परमाकार और नियति रूप से सबके द्वारा अनुभूत होती है ॥२१॥

ब्रह्मात्मा ब्रह्मबालोऽयं स्वसंवित्स्फुरणामिमाम्।
व्योमात्मक्षौमभूनाम्नीं स्फारयत्यम्बराकृतिः ॥२२॥
सा यदैतत्तथैतच्च चिरमत्त्यजसंविदा।
तदा तदङ्गस्याऽर्कादेर्नाऽतो नोत्पादि चञ्चलम् ॥२३॥
संकल्पपूर्वमशकजालवद्धिष्ण्यचक्रकम् ।
आवर्तवर्तिना भाति चिद्व्योमेदं च दृश्यवत् ॥२४॥
तत्र प्रभास्वराः केचित् केचिदप्यल्पभास्वराः।
केचिच्चाऽभास्वरा भाताः पदार्थाश्चित्ररूपिणः ॥२५॥
पदार्थजातं त्वेतावन्न जातं न च दृश्यते।
ज्ञस्याऽजातमिदं भाति खमात्मा स्वप्नदृश्यवत् ॥२६॥

यह चतुर्मुखनामधारी ब्रह्म-बालक स्वात्मभूत संवित् के स्फुरण आकाशरूप आवरणवाली इस पृथिवी को भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण आकाशाकृति ही होकर अपने में विस्तार करता है ॥२२॥

मायाशबल सर्वज्ञसंवित् ब्रह्मा की संवित् के साथ स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च का अपने में संहार कर चतुर्मुख-संवित् के अङ्गभूत सूर्य आदि का चञ्चलरूप उसने उत्पन्न नहीं किया। ऐसा है अतः उपसंहार से भक्षक पुरुष ही होता है ॥२३॥

मकड़ी द्वारा सकल्पपूर्वक बाह्य साधनों के बिना ही विरचित मक्खियों का बांधने के जाल की तरह ब्रह्मा से केवल विविध सकल्पों द्वारा निर्मित ग्रह, नक्षत्र आदि का गृहभूत शिशुमारचक्र ज्योतिषशास्त्र आदि में प्रसिद्ध ही है। सूर्य द्वारा उसी के दक्षिणायण और उत्तरायण मार्गों का अवलम्बन करने के कारण आप से पूछा गया दिवसों का ह्रस्वत्व और दीर्घत्व जैसे यह चिदाकाश दृश्य के समान प्रतीत है वैसे ही प्रतीत होता है अर्थात् 'दीर्घत्वमथ ह्रस्वत्वं दिवसानां तु किंकृतम्' इस प्रश्न का उत्तर तो ज्योतिश्चक्र में सूर्य के दक्षिणायण और उत्तरायण गति के भेद की प्रसिद्धि से ही हो गया, यों सूचित करते हुए ज्योतिश्चक्र को कहा ॥२४॥

[अर्थात् 'सत्स्वनेकेषु देवेषु सूर्य एवोग्रभाः कथम्' इस प्रश्न में जो अनेक देवता कहे गये हैं, उनको ज्योतिश्चक्र में नक्षत्ररूप से स्थित हैं—]

उनमें सूर्य आदि अत्यन्त भास्वर हैं, चन्द्र आदि अल्प भास्वर हैं और राहु आदि तामस नक्षत्र अभास्वर हैं। सब पदार्थ विविध रूप से भासित होते हैं ॥२५॥

वास्तव में तो ये सकल पदार्थ न उत्पन्न ही हुए हैं और न दिखाई ही देते हैं। ज्ञानी पुरुष को यह सब स्वप्न के दृश्य के समान चिदाकाश ही प्रतीत होता है ॥२६॥

चिन्मात्रमात्मा सर्वेशः सव एवाऽतिदृश्यवत्।
नश्यतीव विदेहे स्वे न च भाति न नश्यति ॥२७॥
स्वप्नदर्शनवद्भाति यच्चिद्व्योम चिदम्बरे।
चिद्व्योमत्वादृते रूपं तदस्य जगतः कुतः ॥२८॥
यद्यथा स्फुरितं तस्य यावत्सत्तं स्फुरद्वपुः।
तत्स्वभावनियत्याख्यैः शब्दैरिह निगद्यते ॥२९॥
गगनाङ्गस्य सत्ताऽन्तः शब्दतन्मात्रकल्पया।
कुशूलबीजाङ्कुरवत्तिष्ठत्याशान्तरूपिणी ॥३०॥
संपद्यते तत इदमितीयं रचनेह या।
कृता सा मुग्धबोधाय मूर्खैर्विरचिता मुधा ॥३१॥

चिन्मात्रस्वरूप सर्वेश्वर आप में और सब रूप से अत्यन्त दृश्य के समान प्रसिद्ध होकर स्फुरित होता है। वास्तव में न स्फुरित ही होता है और न नष्ट ही होता है ॥२७॥

चिदाकाश का चिदाकाश में स्वप्न दर्शन की भांति स्फुरण होता है अतएव चिदाकाशता के सिवा इस जगत् का पारमार्थिक रूप क्या हो सकता है ॥२८॥

वह परमार्थिक सद्रूप ही अध्यस्त में जितने समय तक घट आदि की विद्यमानता रहती है तबतक तद्रूप से स्फुरित होता है उसी का स्वभाव, नियति आदि विविध शब्दों से कथन होता है ॥२९॥

वह ब्रह्मसत्ता आकाशरूप प्रथम उत्पन्न अपने अङ्ग के अन्दर शब्दतन्मात्र रूप स्थिति से कुसुल के भीतर रक्खे बीजों में आविर्भूत न हुई अंकुर शक्ति के तुल्य वायु आदि जगत् की बीज भूतशक्ति के रूप से अनाविर्भूत होकर रहती है ॥३०॥

उससे यह वायु, तेज, जल, पृथिवीरूप भूत-भौतिक जगत् क्रम से उत्पन्न होता है इस तरह की जो यहाँ कल्पना है वह अज्ञानी लोगों के तत्त्वबोध के लिए जगत् सृष्टि-प्रतिपादन की इच्छा से श्रुतियों और मुनियों द्वारा की गई है न कि सृष्टि ही तात्त्विकी वास्तवी है, यह प्रतिपादन के लिए की गई है। यदि सृष्टि ही वास्तविकी है यह प्रतिपादन के लिए हो तो यह सृष्टिकथा मूर्खों द्वारा ही विरचित और व्यर्थ होगी, क्योंकि यह सृष्टि वास्तविक है यह ज्ञान होने पर किसी का न तो कोई प्रयोजन शास्त्रों में सुना गया है और न लोक में कहीं देखा गया है ॥३१॥

नाऽस्तमेतीह नोदेति तत्कदाचन किंचन।
शिलाजडरवच्छान्तमिदं नित्यं सदप्यसत् ॥३२॥
यथाऽवयविनो नाऽन्तः सदैवाऽऽवयवाणवः।
नाऽस्तं यान्ति न चोद्यन्ति जगन्त्यात्मपदे तथा ॥३३॥
ब्रह्मव्योम्नि जगद्व्योम व्योम व्योम्नीव विद्यते।
तत्कथं किल संशुद्धमस्तमायात्युदेति वा ॥३४॥
तस्याऽनन्तप्रकाशात्मरूपस्याऽऽततचिन्मणेः ।
सत्तामात्रात्मकचनं यदजस्रं स्वभावतः ॥३५॥
तदात्मना स्वयं किंचिच्चेत्यतामिव गच्छति।
अगृहीतात्मकं संविदूहामर्शनसूचकम् ॥३६॥
भाविनामार्थकलनैः किंचिदूहितरूपकम्।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाविबोधनम् ॥३७॥

वह यहाँ कभी न तो अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। शिलागर्भ के समान नित्य शान्त यह सत् भी असत् है, क्योंकि तात्त्विक ब्रह्मरूप न अस्त को प्राप्त होता है और न उदित होता है। इस कारण परसत्ता से सत् भी यह प्रपञ्चरूप स्वतः असत् है ॥३२॥

परमात्म पद में अनन्त जगत भी वैसे ही न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं। जैसे अवयवी के अन्दर अवयवाणु सदा ही न तो अस्त को प्राप्त होते हैं और न उदित होते हैं अर्थात् सत्ता वाला होने पर ब्रह्म के अन्दर जगत् अवयववत् उदय और अस्तमय रहित ही है, यह सिद्ध होता है ॥३३॥

ब्रह्माकाश मे वैसे ही जगताकाश रहता है जैसे आकाश आकाश में रहता है इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध जगत् का कैसे विनाश होता है, कैसे उदय होता है अर्थात् ब्रह्मसत्ता से अरिरिक्त जगत्सत्ता का अपलाप करने पर जगत् शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही सिद्ध होता है, इसलिए इसके उदय, अस्तमय आदि वैचित्र्य का विनाश हुआ ॥३४॥

अनन्त प्रकाशरूप उस निस्सीम चिन्मणि का निरन्तर स्वभावतः जो सत्तामात्ररूप आत्मस्फुरण है अज्ञात अतएव प्रथम-प्रथम अन्यथाभाव होने के कारण ऊह के अविमर्श का सूचक अर्थात् अतर्कित वह उस रूप से स्वयं कुछ चेत्यता को जैसा प्राप्त होता है ॥३५, ३६॥

अनन्तर भावी नाम और अर्थों की कल्पनाओं द्वारा कुछ तर्कितरूप वाला आकाश से भी अणु और शुद्ध वह भावी प्रपञ्च के पर्यालोचन से उसका सब में बोध करने वाला होता है ॥३७॥

ततः सा परमा सत्ता सती तच्चेतनोन्मुखी।
चिन्नामयोग्या भवति किंचिल्लभ्यतया तया ॥३८॥
घनसंवेदनात्पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
सा भवत्यात्मकलना यद्भवन्ती परं पदम् ॥३९॥
गर्भीकृत्य स्थिताऽनाख्या चिदाकाशापिधानताम्।
संप्रति स्वतिशुद्धस्य पदस्याऽनन्यरूपिणी ॥४०॥
स्वतैकभावनामात्रसारसंसरणोन्मुखी ।
तदा विनाभावकृता अनुछिन्ति तामिमाः ॥४१॥
शून्यरूपा स्वसत्तैका शब्दादिगुणगर्भिणी।
चिद्भावनाभिसंपन्ना भविष्यदभिधार्थता ॥४२॥
अहन्तोदेति तदनु सह वै कालसत्तया।
भविष्यदभिधार्थे ते बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥४३॥

अनन्तर उस किञ्चित् चेत्यता से वह परम सत्ता पर्यालोचित पदार्थ को भलीभाँति चेतन बनाने में तत्पर होकर 'चत' चेतयतीति चित् इस व्युत्पत्ति के अवसर की प्राप्ति से नाम के योग्य होती है ॥३८॥

घनसंवेदन के बाद जीव नाम वाली वह आत्म कल्पना जीवादि रूपों को प्राप्त होती हुई अधिकारी शरीर की प्राप्ति होने पर फिर परमपद ब्रह्म हो जाती है ॥३९॥

वह परम सत्ता जीवत्वदशा में चिदाकाश का आवरण करने वाली अविद्या को धारण करके स्थित है अतएव उसका परमपद स्वभाव प्रकट नहीं रहता इस समय ज्ञान प्राप्ति होने पर अतिविशुद्ध वह परमपद की ब्रह्म की अभिन्नरूपिणी प्राप्त-अभेद वाली हो जाती है ॥४०॥

उस समय जब कि उसकी अविद्या से आवृत अवस्था रहती है, वह एकमात्र आत्मतादात्म्याध्यास की भावनारूप सारवाले देह, इन्द्रिय आदि से संसारोन्मुखी हो निज स्वरूप के विरह से उत्पन्न हुई ग्लानि से होनेवाली विविध चेष्टाएँ करती है ॥४१॥

अद्वितीय तथा अन्य वस्तुओं से शून्यस्वरूपवाली ही वह स्वसत्ता सविकल्प चित् की भावना की भ्रान्ति से शब्द आदि गुणो से पूर्ण गर्भवाली होकर होनेवाले आकाश आदि पञ्चभूतों की प्रवृत्तिनिमित्तभूत सूक्ष्मभूतात्मिकता हो गई ॥४२॥

उसके बाद लिङ्गदेहवर्ती प्राणक्रिया से होनेवाली कालसत्ता के साथ अहन्ता का उदय होता है होनेवाले व्यवहार के प्रयोजनभूत वे दोनों कालसत्ता और अहन्ता जगत् की स्थिति के बीजभूत हैं अर्थात् उससे अहङ्कार-प्रधान लिङ्गदेह-कल्पना होती है ॥४३॥

चितिशक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
जगज्जालमसद्रूपं चेतनात्सदिव स्थितम् ॥४४॥
एवंप्रायात्मिका सा चिद्बीजं संकल्पशाखिनः ।
अहन्तां भावयत्यन्तः सैवेह भवति क्षणात् ॥४५॥
जीवाभिधाना सैषाऽद्य भावाभावलपवभ्रमैः ।
भ्रमत्यात्मपदे वीचिरूपैर्वारीव वारिणि ॥४६॥
चिदेवंभावनवती व्योम तन्मात्रभावनाम् ।
स्वतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं प्रचेतति ॥४७॥
भाविनामार्थरूपं तद्बीजं शब्दौघशाखिनः ।
तद्वाक्यप्रमाणाढ्यवेदार्थादिविकारि च ॥४८॥
तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वतः ।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणी ॥४९॥

परम चितिशक्ति का स्वस्फुरण असद्रूप यह जगज्जाल उसके चेतन से सत् के समान स्थित है ॥४४॥

इस तरह की संकल्परूपी महावृक्ष की बीजभूत वह चित् अपने अन्दर अहन्ता की भावना करती है और क्षणभर में अहन्तास्वरूप हो जाती है ॥४५॥

वही यह आज हिरण्यगर्भरूप से समष्टि-जीव नाम को प्राप्तकर उत्पत्ति, नाशरूप भ्रान्तियों से मायाशबल ब्रह्म में वैसे ही भ्रमण करती है जैसे जल में जल लहरियों से भ्रमण करता है ॥४६॥

इस प्रकार भावनावाली चित् सूक्ष्म आकाशतन्मात्र भावना को धीरे-धीरे घनी करके स्वयं स्थूल आकाश की भावना करती है अर्थात् उसी जीवसमष्टिहिरण्यगर्भरूप से स्थूल पञ्चभूत कल्पना को कहते हैं ॥४७॥

वह स्थूलाकाशरूप चित् भावी नाम और अर्थरूप शब्दराशिलक्षण महावृक्ष की बीजभूत और पद, वाक्य, प्रमाणों से पूर्ण वेद, शास्त्र के अर्थ की आधारभूत है ॥४८॥

उस वेदरूप शब्दसार से शब्दराशि से निर्मित अर्थों की राशि के परिणाम से विस्तार वाली सम्पूर्ण जगत्-शोभा उदित होगी, क्योंकि 'स भूरिति व्याहरत् भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवान् । इन्दव इति पितॄन्' (प्रजाप्रति ने 'भू' का उच्चारण कर देवताओं की सृष्टि की 'असृग्' इससे मनुष्यों की सृष्टि की, 'इन्दवः' इसका उच्चारण कर पितरों की सृष्टि की ऐसी श्रुति है ॥४९॥

चिदेवंव्यवसाया सा जीवशब्देन कथ्यते ।
भाविशब्दार्थजालेन बीजं भूतौघशाखिनः ॥५०॥
चतुर्दशविधं भूतजातमावलिताम्बरम् ।
जगज्जठरकर्णौघं तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥५१॥
असंप्राप्ताभिधाचारा जीवत्वाच्चेतनेन चित् ।
काकतालीयवत्स्पन्दचिन्मात्रं चेतति स्वयम् ॥५२॥
पवनस्कन्धरूपस्य बीजं त्वक्स्पर्शशाखिनः ।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्संप्रसरिष्यति ॥५३॥
तत्र यच्चिद्विलासस्य प्रकाशानुभवो भवेत् ।
रूपतन्मात्रकं तद्भाविष्यदभिधार्थदम् ॥५४॥
प्रकाशचेतनं तेजो न तेजोऽन्यकृतं भवेत् ।
स्पर्शसंवेदनं स्पर्शो नेतरस्पर्शसंभवः ॥५५॥

इस प्रकार के विचित्र संकल्प वाली ब्रह्म चित् ही जीव शब्द से कही जाती है, उससे अन्य नहीं है । वही भावी शब्द और अर्थ राशि से भूतसंघरूपी वृक्ष की बीजभूत है ॥५०॥

चौदह भुवनों में निवास करने के कारण चौदह प्रकार की भूतराशि और आकाश को व्याप्त किये हुए जगत्-रूप जीर्णपत्रों की राशि उक्त समष्टिजीवभूत हिरण्यगर्भ रूप चित् से प्रकट होगी ॥५१॥

चित् अद्यावधि शब्द व्यवहार और शरीरादि द्वारा व्यवहार को प्राप्त न होकर, जीव होने के कारण, चेतन से काकतालीय के समान स्वयं स्पन्द-चिन्मात्र की कल्पना करती है अर्थात उसके स्वनिर्मित भूतभौतिक प्रपञ्च के भोग के लिए समष्टित्वग आदि इन्द्रियों की कल्पना का प्रकार कहा है ॥५२॥

चित् वायु समूहरूप त्वक्स्पर्शरूपी वृक्ष की बीजभूत है, क्योंकि उससे सब प्राणियों की क्रियारूपी स्पन्द का हेतु वायु उत्पन्न होगा ॥५३॥

उसी तरह पवनस्कन्धभूत उस हिरण्यगर्भ चित् में चिद्विलास के प्रकाश से जो अनुभव होता है वह रूपतन्मात्र है वह भावी तेज आदि भूतों का स्वरूपप्रद है ॥५४॥

प्रकाश चेतन ही तेज है । तेज अन्यकृत नहीं है, स्पर्श की कल्पना ही स्पर्श है अन्य स्पर्श का कारण नहीं है अर्थात् प्रकाशानुभव की ही रूपतन्मात्रता का उपपादन किया है ॥५५॥

शब्दसंवेदनं शब्दः स्वत एवाऽनुभूयते।
खं खेनेव स्वयं कोशो नाऽन्यच्छब्दकृदस्ति हि ॥५६॥
किल तस्यामवस्थायां कोऽपरः शब्दकृद्भवेत्।
यथा तथा तदाऽद्याऽपि द्वैतैक्यस्यात्यसंभवात् ॥५७॥
एवं हि रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमेव च।
असत्यमेव सदिव स्वप्नाभमिव चेत्यते ॥५८॥
तेजः सूर्यादिजृम्भाभिर्बीजमालोकशाखिनः।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥५९॥
भविष्यदभिधस्याऽस्य खतः स्वत इवाऽसतः।
स्वदनं तस्य संघस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥६०॥
भविष्यद्रूपसंकल्पनामाऽसौ सकलो गणः।
संकल्पात्माऽथ तन्मात्रं गन्धाद्यमनुचेतति ॥६१॥
भासिभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥६२॥
अजात एव संजातस्तन्मात्राणां गणस्त्विति।
अनाकारोऽपि साकारः संपन्नः कल्पनावशात् ॥६३॥
एष तन्मात्रकगणः काकतालीयवत्स्वयम्।
रूपं येन प्रदेशेन वेत्त्यक्षीति तदुच्यते ॥६४॥
शब्दं येन प्रदेशेन वेत्ति श्रोत्रं तदुच्यते।
स्पर्शं येन प्रदेशेन वेत्ति तत्तु त्वगिन्द्रियम् ॥६५॥
रसं येन प्रदेशेन वेत्ति तद्रसनेन्द्रियम्।
गन्धं येन प्रदेशेन वेत्ति घ्राणेन्द्रियं तु तत् ॥६६॥
दिक्कालभेदाज्जीवोऽयं नियतामाकृतिं गतः।
सर्वेणाऽङ्गेन नो सर्वं वेत्त्यसर्वात्मतावशात् ॥६७॥
इति कलनमनन्तमात्मनोऽन्तर्गत-
मनुमेयमनन्यदात्मभूतम्।
न तदुदयमुपैति नाऽस्तमेति
स्थितमुपलोदरवद्घनं सुमौनम् ॥६८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवत्वसंसृतिप्रतिपादनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८७॥

शब्द संवेदनरूप शब्द स्वतः ही अनुभूत होता है। संवेदन भी आकाशात्मक ही शब्द से वैसे ही शब्द ग्राहक है, उससे अन्य नहीं है जैसे आकाश आकाश से ही आकाश रूप कोश में अवकाश पाकर स्थित होता है अन्य से नहीं है ॥५६॥

उस अवस्था में दूसरा शब्दकर्ता कौन होगा जैसे उस समय द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव था वैसे ही इस समय भी द्वैत और ऐक्य का अत्यन्त असंभव है अर्थात् सृष्टि के आदि में समष्टि की तरह इस समय व्यष्टि में भी तत् तत् की संवित् ही अपने में तत् तत् अर्थ के आकार का अध्यासकर जगत् के स्वरूप से भासती है अन्य नहीं भासता है, ऐसा समझना चाहिये ॥५७॥

इस प्रकार रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र की भी, जो निपट असत्य होते हुए भी सत् के तुल्य हैं, स्वप्न के समान कल्पना की जाती है अर्थात् शब्द प्रदर्शित न्याय रस आदि में भी समझना चाहिये ॥५८॥

तेज सूर्य आदि के विकासों से प्रकाशरूपी महावृक्ष का बीजभूत है, उसमें रूपभेद द्वारा संसार की उत्पत्ति होगी ॥५९॥

विकारशून्य आकाश से जैसा आगे होनेवाले उस पञ्चीकृत अन्नपान आदि का स्वतः माधुर्य-स्वदन होता है वह रसतन्मात्र कहलाता है ॥६०॥

अनन्तर जिसका रूप, संकल्प नाम आगे होनेवाला है ऐसा यह कार्यकारणसमुदायरूप जीव संकल्पभूत गन्धादि तन्मात्र की कल्पना करता है ॥६१॥

भावी भूगोल के रूप से आधाररूपी महावृक्ष का बीजभूत सकल के आधाररूप उस गन्धतन्मात्र से संसार का प्रसार होगा ॥६२॥

वास्तव में अनुत्पन्न ही शब्दस्पर्शरूप आदि तन्मात्रों का समूह इस प्रकार उत्पन्न हुआ वास्तव में निराकार भी वह कल्पनावश साकार हो गया ॥६३॥

यह तन्मात्रों का समूह काकतालीय के समान जिस प्रदेश से स्वयं रूप को जानता है वह नेत्र कहलाता है, जिस प्रदेश से शब्द सुनता है वह श्रोत (कान) कहलाता है, जिस प्रदेश से स्पर्श का अनुभव करता है वह त्वगिन्द्रिय कहलाता है, जिस प्रदेश से रस का स्वाद लेता वह रसनेन्द्रिय कहलाता है, एवं जिस प्रदेश से गन्ध का अनुभव करता है वह घ्राणेन्द्रिय कहलाता है ॥६४-६६॥

नियत आकृति को प्राप्त हुआ यह जीव दिक्काल की कल्पना करता है। और असर्वात्मा के दोष से सकल अङ्ग से अर्थात् नेत्र, श्रोत; आदि से रस, गन्ध आदि सब कुछ नहीं जानता है अर्थात् द्विविध परिच्छेद की तरह देहपिण्ड में अहंभावप्रयुक्त इसकी दिक्काल के भेद की कल्पना कहते हैं ॥६७॥

इस प्रकार प्रत्येक जीव में अनुक्त भी अनन्त सांसारिक कल्पना आत्मा के अन्तर्गत ही अनुमेय हैं अनन्त होने के कारण प्रत्येक का पृथक्-पृथक् कथन अशक्य है और वे अनन्त कल्पनाएँ आत्मा से अभिन्न अर्थात् आत्मभूत ही हैं, इसलिए वे परमार्थरूप से न उदित होती हैं और नष्ट होती हैं किन्तु पत्थर के गर्भ के समान सच्चिदानन्दैकघन निर्व्यापार ही स्थित हैं ॥६८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में जीवत्वसंसृतिप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सतासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८७॥

१८८

वसिष्ठ उवाच

आदिमत्त्वमिदं प्रोक्तमेतस्य कलनस्य यत् ।
परस्मादद्वितीयं तत्त्वद्बोधाय न वास्तवम् ॥१॥

एवंविधं तत्कलनमात्मनोऽङ्गमकृत्रिमम् ।
चेत्योन्मुखचिदाभासं जीवशब्देन कथ्यते ॥२॥

कलनस्याऽस्य नामानि बहूनि रघुनन्दन ! ।
शृणु तानि विचित्राणि चेत्योन्मुखचिदात्मनः ॥३॥

जीवनाच्चेतनाज्जीवो जीव इत्येव कथ्यते ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चिदित्येव निगद्यते ॥४॥

इदमित्थमिति स्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ।
कल्पनान्मनज्ञत्वान्मन इत्यभिधीयते ॥५॥

अस्मीति प्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते ।
चेतनाढ्यमृतं चित्तमिति शास्त्रविचारिभिः ॥६॥

प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् ।
संसृतेः प्रकृतत्वेन प्राथम्यात्प्रकृतिः स्मृता ॥७॥

बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः ।
इत्यादिकलनस्याऽस्य नामानि कथितानि ते ॥८॥

१८८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! इस चिदाभासात्मक जीव की जो वह उत्पत्ति कही है वह चिदाभासात्मक जीव ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा आपको बोध कराने के लिए कही है, किन्तु जीव की उत्पत्ति आदि वास्तव है अर्थात् पिछले सर्ग में 'घनसंवेदनात् पश्चाद् भाविजीवादिनामिका' इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का उपपादन किया गया है। वह उचित नहीं है, क्योंकि नवीन उत्पन्न हुए जीव के संसार के (आवागमन के) हेतु काम, कर्म, वासना आदि के अभाव से संसार की सिद्धि नहीं होगी और घट, पट आदि के समान मिथ्या होने से ब्रह्मात्मभाव न होने के कारण मोक्ष की सिद्धि भी नहीं होगी ऐसी आशङ्का श्रीरामचन्द्रजी को न हो, इसलिए उक्त जीवोत्पत्तिप्रतिपादन का तात्पर्य भगवान् श्रीवसिष्ठजी कहते हैं ॥१॥

वह कलन चिदाभास परब्रह्म का इस प्रकार का औपाधिक अवयव है, अतएव अकृत्रिम है। चेत्य की ओर प्रवण चिदाभास जीवशब्द से कहा जाता है, ऐसी दशा में ब्रह्म से चिदाभास का जो पृथकत्व है वह औपाधिक है, उससे होने वाले जीव आदि भिन्न-भिन्न नाम परम ब्रह्म के ही हैं जैसे कि आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न-भिन्न रूप और नाम हैं अर्थात् किस रीति से जीव परम ब्रह्म से अभिन्न है यह बोध कराने के लिए कहते हैं ॥२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस चिदाभासात्मक जीव के बहुत से नाम हैं। चेत्य की ओर प्रवण चिदात्मा के उन विचित्र नामों को आप सुनें अर्थात् जीव के औपाधिक प्रवृत्तिनिमित्त और उनके भेदों से जनित विविध नामों को सुनाते हैं ॥३॥

जीवन से अर्थात् मुख्य प्राण और कर्मेन्द्रियों के धारण से तथा चेतन से अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के धारण से वह जीव कहलाता है, पहले अनुभव में आये हुए भूत और भावी चेत्यों की ओर प्रवण होने से वह चित्त कहलाता है एवं निकटवर्ती चेत्यों की ओर प्रवण होने के कारण वह चित् कहलाता है ॥४॥

यह इस प्रकार का है स्पष्टरूप से बोधन के कारण वह यहाँ बुद्धि कहलाता है, संकल्प करने तथा ऊहापोह रूप मनन का ज्ञाता होने के कारण वह मन कहलाता है ॥५॥

अपने अन्दर 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करने से अहंकार कहलाता है। पामर, लोगों की साधारण व्युत्पत्ति से 'चित्त' नाम की व्याख्या की जा चुकी है, किन्तु विद्वानों की प्रसिद्धि से 'चिति संज्ञा ने' इस धातु-व्युत्पत्ति से स्वतत्त्व चेतना से पूर्ण परमार्थवस्तु आत्मा ही चित्त-पद का मुख्य वाच्य है ऐसा शास्त्रों का विचार करने वाले पुरुषों ने कहा है ॥६॥

वह जीव प्रौढ संकल्प राशि से पुर्यष्टक संकल्पादिभिः पूर्यन्ते इति पुर्यस्तासाम् अष्टकम् अर्थात् संकल्प आदि से जो पूर्ण की जाती हैं वे पुरियाँ हैं, उनका अष्टक अर्थात् आठ पुरियाँ इस व्युत्पत्ति से कहा गया है। सृष्टि के आदिकाल में प्रस्तुत होने से प्रथम होने के कारण वह प्रकृति कहा गया है, तत्त्वदर्शन से औपाधिकरूप से अविद्यमान होने के कारण विद्वानों द्वारा 'अविद्या' कहा जाता है। चिदाभासरूप जीव के इत्यादि अनेक नाम मैंने आपसे कहे हैं ॥७, ८॥

एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाह्रियते बुधैः ॥९॥
इत्येवं स्वप्नसंकल्पपुरवत्त्रिजगद्भ्रमः ।
भात्यर्थकार्यप्यवपुः शून्यमप्रतिघात्मकम् ॥१०॥
इत्यातिवाहिकः प्रोक्तो देहो देहभृतां वर ! ।
चिन्नभश्चित्तदेहोऽसौ शून्य आकाशतोपि च ॥११॥
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत्यामोक्षसंविदः ।
चतुर्दशविधस्यैका भूतसर्गस्य चित्तभूः ॥१२॥
अत्र संसारलक्षाणि भविष्यन्ति भवन्ति च ।
भूतानि च फलानीव यथा कालव्यवस्थया ॥१३॥
एष चित्तमयो देहो जगन्त्यन्तर्बहिस्त्वपि ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शः शून्य एव नभो यथा ॥१४॥
महाकल्पस्य पर्यन्ते सर्वनाशे स्थिरे स्थिते ।
महाशून्यपदे प्रौढे ब्रह्मात्मनि निरामये ॥१५॥

स्वतश्चितीघनोऽचित्त्वाच्चिद्भानमिदमात्मनः ।
आतिवाहिकदेहाभं क्रमेणाऽनेन चेतति ॥१६॥
स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
कश्चिद् ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कश्चिद्विराडिति ॥१७॥
कश्चित्सनातनाभिख्यः कश्चिन्नारायणाभिधः ।
कश्चिदीश इति ख्यातः कश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥१८॥
काकतालीयवद्भाताः पञ्च स्वेन्द्रियसंविदः ।
यत्र यत्र तथा तेषां स्थितास्तत्र तथा स्थिताः ॥१९॥
एवमत्यन्तवितते संपन्ने दृश्यविभ्रमे ।
न किंचिदपि संपन्नं सर्वशून्यं ततं यतः ॥२०॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सद्यन्नाऽसदुच्यते ।
तदेवेदमनाद्यन्तं तथा स्थितमवेदनम् ॥२१॥
आतिवाहिकदेहस्य तस्याऽनुभवतः स्वयम् ।
याति व्यसनिनः स्वप्नः कान्तेव परिपुष्टताम् ॥२२॥

निराकार निर्विकार यह चिदाभासरूप जीव आतिवाहिक देह के नाम से विद्वानों द्वारा उप्पित्तिनाशवान् कहा जाता है ॥९॥

स्वप्ननगर और संकल्पपुर के समान यह त्रिजगद्भ्रम भोग और मोक्षरूप अर्थ का कर्त्ता होनेपर भी निस्स्वरूप, शून्य और अमूर्तरूप प्रतिघात के अयोग्य प्रतीत होता है ॥१०॥

हे देहधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ! इस प्रकार यह आतिवाहिक शरीर चिदाकाशभूत चित्तशरीरवाला और आकाश से भी शून्य कहा गया है ॥११॥

यह आतिवाहिक शरीर मोक्षसंवित्पर्यन्त जगत् में नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है। चौदह भुवनों के निवासी होने से चौदह प्रकार के प्राणियों का एकमात्र यह प्ररोहस्थान है ॥१२॥

ऋतु की व्यवस्था से वृक्षों में फलों की तरह लाखों संसार इस चित्तरूपी भूमि में हो गये हैं, होंगे और होते हैं ॥१३॥

यह चित्तमय शरी अन्दर और बाहर जगतों को जैसे कि दर्पण प्रतिबिम्बों को धारण करता है वैसे ही धारण करता है ॥१४॥

जब महाकल्प में प्राकृत प्रलय के अन्तिम क्षण में सर्वनाश स्थिर हो जाता है, उस समय महाशून्यपद अवकाशदायक प्रौढ निरामय निर्विकार ब्रह्मात्मा शेष रहता है ॥१५॥

तब चैतन्यघन परमात्मा चैतन्य का आवरण करनेवाले अज्ञानरूप निमित्त से क्रम से आत्मा के आतिवाहिक देहतुल्य चिद्भान की स्वतः कल्पना करता है ॥१६॥

वह जीव ही आतिवाहिक देह है, उसका जो जगदालोचनरूप आलोक है उससे प्रवर्तित कोई भाग शास्त्रों में मैं चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ इस तरह और कोई भाग मैं विराट् हूँ इस तरह वर्णित है ॥१७॥

कोई भाग सनातन, सनक, सनन्दन आदि कहा गया है कोई भाग ईश्वर के नाम से प्रख्यात है, कोई भाग प्रजापति कहा गया है ॥१८॥

जिस भाग में पांच स्वेन्द्रियसंवितों का काकतालीयवत् भान हुआ वहाँ उन इन्द्रियों के विषय वैसे ही व्यवस्थित हुए ॥१९॥

अत्यन्त विस्तारयुक्त इस दृश्यभ्रम के सम्पन्न होनेपर कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह सब सर्वदृश्यशून्य आत्मा ही विस्तृत है ॥२०॥

जन्म, विनाश आदि शून्य परब्रह्म न आविर्भूत है और न तिरोभूत है। आदि-अन्तरहित वही जब स्वरूपसाक्षात्कार से विहीन होता है तब सत् आविर्भूत और और असत् के तिरोभूत के आकार से अर्थात् जगद्रूप से स्थित होता है ॥२१॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म आतिवाहिक देहधारी ब्रह्म के स्वानुभव से यह प्रपञ्च निरन्तर कान्ता का अनुसन्धान करनेवाले विधुर पुरुष की स्वप्नकान्ता के समान परिपुष्ट हो जाता है ॥२२॥

शून्योऽप्यनाकृतिरपि घटाकारोऽनुभूयते ।
स्वप्नसंकल्पयोः स्वस्य देहस्य जगतो यथा ॥२३॥

भवत्ययंकरोऽत्युच्चैस्तच्चित्खस्वप्नवस्तुवत् ।
आकाशात्मक एवोग्रः पदार्थ इव भासते ॥२४॥

आतिवाहिकदेहोऽसौ स्वतोऽनुभवति क्रमात् ।
अनाकारोऽपि शून्योऽपि स्वप्नाभोऽसन्नपि स्थितः ॥२५॥

चेतत्यस्थिगणैः स्थूलं कराद्यवयवावलिम् ।
त्रिकलोमशिरास्नायुसंनिवेशतया स्थितम् ॥२६॥

जन्मकर्मेहितस्थानं परिणामवयःस्थितम् ।
देशकालक्रमाभोगभावार्थायोद्भवभ्रमम् ॥२७॥

जरामरणमाधानदशदिङ्मण्डलक्रमम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञातृभावमादिमध्यान्तवेदनम् ॥२८॥

क्षितिजलगगनदिवाकर-
जनताव्यवहारनगरशिखरात्मा ।
स्वाधाराधेयमयं
पश्यति वपुषः पुरातनः पुरुषः ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवरूपवर्णनं नामाऽष्टाशीत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८८॥

स्वप्न और मनोरथ में शून्य भी निराकार भी घटाकार का अनुभव होता है, यही स्वदेह और जगत् के भान में दृष्टान्त है अर्थात् जगत् से सर्वथा शून्य ब्रह्म का भान होने में दूसरा दृष्टान्त दिया है ॥२३॥

जगत्प्रपञ्च चिदाकाशस्वरूप स्वप्नपदार्थ के समान पूर्णतया अर्थक्रियाकारी होता है, आकाशात्मक होता हुआ ही कठिन पदार्थ के समान प्रतीत होता है ॥२४॥

यह आतिवाहिक जीव निराकार, शून्य स्वप्नतुल्य असत् होनेपर भी क्रम से अपने देहादि आकार का स्वयं अनुभव करता है ॥२५॥

आतिवाहिक देहरूप जीव अस्थिपञ्जर से स्थूल, रीढ़, रोम, नसों और नाड़ियों के संनिवेशरूप से स्थित हस्त, पाद आदि अवयवों से युक्त स्थूल शरीर जन्म, कर्म और अभिलाषा का स्थान है और परिणामावस्था में स्थित है, उसकी देश, काल क्रम, शब्द इत्यादि विषयों के भोग के लिए कल्पना करता है। और उस स्थूल देह में जन्म-भ्रम की कल्पना करता है ॥२६,२७॥

वृद्धावस्था और मृत्यु की, गुण, दोष आदि के आधान की, दश दिशाओं में भ्रमण की, ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञानस्वरूप त्रिपुटी की तथा सब पदार्थों के जन्म, स्थिति और नाश के ज्ञान की भी कल्पना करता है ॥२८॥

आतिवाहिक देहभूत पुराण पुरुष अपने से कल्पित ही व्यष्टि समष्टिरूप स्थूल शरीर से स्वयं ही पृथिवी, जल, आकाश, सूर्य, जनता-व्यवहार, नगर और शिखर-रूप होकर पृथिवी आदि मेरे आधार हैं और स्वयं मैं उनका आधेय हूँ इस प्रकार भ्रान्तिरूप संसार को स्वप्न को देखता है ॥२९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में जीवरूप नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अठासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८८॥

१८९

वसिष्ठ उवाच

आतिवाहिकदेहोऽसौ तस्याऽऽद्यस्य प्रजापतेः ।
काकतालीयवच्चित्त्वाद्यथेत्यादि चेतति ॥१॥

तत्तथा स्थितिमायाति चिरं संवित्स्वभावतः ।
बत विश्वमिदं भातमत्राऽसत्ये कुतः स्मयः ॥२॥

१८९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! आद्य प्रजापति का यह आतिवाहिक शरीर चित् होने के कारण 'कश्चित् महोति कथितः स्मृतः कश्चिद् विराडिति' विस्तार से वर्णित रीति से जिस जिसकी जैसी कल्पना करता है काकतालीय न्याय से वह चिरकाल तक उसी रूप में स्थित होता है, सत्य संकल्पवती संवित् के स्वभाव से इस विश्व का भान होता है। अतः जगत् की असत्यता के विषय में क्या आश्चर्य है ॥१, २॥

द्रष्टाऽसत्यमसत्यं दृगसत्यं दर्शनं ततम् ।
सत्यमेवाऽथवा सर्वं ब्रह्मैवाऽऽत्मतया तथा ॥३॥

श्रीराम उवाच

इत्यातिवाहिकालोकः स तस्याऽऽद्यप्रजापतेः ।
कठिनत्वं कथं यातः कथं स्वप्नस्य सत्यता ॥४॥

वसिष्ठ उवाच

आतिवाहिक आलोकः स्वत एवानुभूयते ।
सदाऽनवरतं तेन स एवाऽऽभाति पुष्टवत् ॥५॥
यथा स्वप्नस्य पुष्टत्वं चिरानुभवनोचितम् ।
अतिसत्यमिवाऽऽभाति स्वातिवाहिकता तथा ॥६॥
आतिवाहिकदेहस्य चिरस्वानुभवोदये ।
आधिभौतिकताबुद्धिरुदेति मृगवारिवत् ॥७॥
जगत्स्वप्नभ्रमाभासं मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ।
असदेवेदमाभाति सत्यप्रत्ययकार्यपि ॥८॥

केवल भ्रमस्वरूप होने से द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी भी असत्य है द्रष्टा असत्य है, दृश्य असत्य है और दर्शन (वृत्ति) असत्य है, अथवा ब्रह्मात्मता के कारण सब कुछ ब्रह्म ही है और सत्य ही है ॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! इस रूप से केवल आतिवाहिक शरीर यदि भ्रान्तिदर्शनमात्र है, अतः वह कठिनता को (शिलादि के तुल्य पुष्टता को) कैसे प्राप्त हुआ ? भला स्वप्न में पारलौकिक फल आदि की अर्थ-क्रियाकारिता कैसे संभव है है ? ॥४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! आतिवाहिक शरीर के भ्रमरूप दर्शन की स्वतः ही अनुभूति होती है। निरन्तर भान स वह चिरकाल के अभ्यास से घनीभूत की तरह मालूम पड़ता है ॥५॥

ब्रह्मा को अपनी आतिवाहिकता वैसे ही अत्यन्त सत्य सी प्रतीत होती है जैसे राजा हरिश्चन्द्र आदि के स्वप्न की चिरानुभूत के अनुरूप पुष्टता हुई ॥६॥

आतिवाहिक शरीर के चिरकाल तक स्वानुभव में आरूढ़ होने पर मरुभूमि में मृगतृष्णा के तुल्य उसमें फिर आधिभौतिकता-बुद्धि उदित होती है ॥७॥

स्वप्न और भ्रम के सदृश भासमान होने वाला मृग-तृष्णा जल के समान यह जगत् सत्य प्रतीतिकारी होने पर भी असत् ही स्फुरित होता है ॥८॥

आतिवाहिकरूपाणामाधिभौतिकता स्वयम् ।
असती सत्यवद्दूरमर्वाग्दर्शिभिरर्थिता ॥९॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इमा गिरिनभोदिशः ।
इति मिथ्याभ्रमो भाति भास्वरस्वप्नशैलवत् ॥१०॥
आतिवाहिकदेहोऽसौ स्रष्टुराद्यस्य भावितः ।
आधिभौतिकतां चैतत्पिण्डाकारं प्रपश्यति ॥११॥
चिन्नभश्चेतनं त्यक्त्वा ब्रह्माऽहमिति पश्यति ।
अयं देहोऽयमाधार इति बध्नाति भावनाम् ॥१२॥
असत्ये सत्यबुद्ध्यैव बद्धो भवति भावनात् ।
बहुशो भावयत्यन्तर्नानात्वमनुधावति ॥१३॥
शब्दान्करोति संकेतं संज्ञाश्च स्पन्दनानि च ।
ओमित्युक्ते ततो वेदाञ्छब्दराशीन्प्रगायति ॥१४॥
तैरेव कल्पयत्याशु व्यवहारमितस्ततः ।
मनो ह्यसौ कल्पयति यच्चेतति तदेव हि ॥१५॥

संकल्पमय स्वरूप वाले पदार्थों की आधिभौतिकता असत्य होने से अविवेकी पुरुषों ने सत्यवत् के समान माना है ॥९॥

यह मैं, ये मेरे शरीर आदि, ये मुझसे भिन्न, ये पर्वत, आकाश, दिशाएँ इस प्रकार का मिथ्याभ्रम देदीप्यमान स्वाप्न पर्वत के समान प्रतीत होता है ॥१०॥

आदि प्रजापति का यह आतिवाहिक शरीर आधि-भौतिक रूप से भासमान हो पृथिवी, शरीर आदि रूप पिंडाकार को देखता है ॥११॥

चिदाकाश 'मैं ब्रह्मा हूँ' यह यथार्थ चेतना छोड़कर यह मनुष्य आदि शरीर मैं हूँ' यह पृथिवी आदि मेरा आधार है, इस प्रकार देखता है और उसमें वैसी ही आस्था करता है ॥१२॥

असत्य वस्तु में यह सत्य है इस बुद्धि से भावना करने के कारण जीव बन्धन में पड़ता है अपने अन्दर पुनः-पुनः भावना करता है उससे द्वैत का अनुसरण करता है ॥१३॥

पहले वैदिक, लौकिक शब्दों की सृष्टि करता है और उनका जाति आदि उपाधियुक्त अर्थ में संकेत करता है अर्थात् यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, ऐसा संकेत करता है। संकेत से संज्ञाएँ और चेष्टाएँ करता है। अनन्तर ॐ उच्चारण करने के उपरान्त शब्द राशिरूप वेदों का गान करता है ॥१४॥

शब्द राशिस्वरूप वेदों से ही इतस्ततः चारों ओर के व्यवहारों की कल्पना करता है, क्योंकि समष्टि मन रूप यह प्रजापति की कुछ भी कल्पना निश्चयरूप से वही हो जाती है ॥१५॥

यो हि यन्मय एवाऽसौ स न पश्यति तत्कथम् ।
असत्यैव जगद्भ्रान्तिरेवं प्रौढिमुपागता ॥१६॥
आब्रह्मणो मुधा भाति चिरस्वप्नेन्द्रजालवत् ।
इत्यातिवाहिकस्येयमाधिभौतिकतोचिता ॥१७॥
आधिभौतिकता नास्ति काचित्किंचिदपि क्वचित् ।
आतिवाहिकतैवैनामभ्यासाद्याति भावनाम् ॥१८॥
मूलादेवेवमायातो मिथ्यानुभवनात्मकः ।
मोहो ब्रह्मण एवाऽयमित्यस्त्येष महात्मनाम् ॥१९॥

एवमित्थं दशा राम पिण्डबन्धः क्व विद्यते ।
भ्रान्तिरेवेदमखिलं ब्रह्मैवाऽऽभातमेव वा ॥२०॥

न शाश्वतादन्यदिहाऽस्ति कारणान्न
कारणं तत्खलु कार्यतां विना ।
न कार्यताकारणतादिसंभवोऽ-
स्त्यनामये तत्किमपीदमाततम् ॥२१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
ब्रह्मैकताप्रतिपादनं नामैकोननवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१८९॥

जो जिसमें अत्यन्त आसक्तिमान् पुरुष उसे क्यों न देखेगा ? इस प्रकार असत्यरूपा ही जगद्भ्रान्ति प्रौढ़ता को प्राप्त है ॥१६॥

ब्रह्म से लेकर मच्छर तक यह चिरकालिक स्वप्न के समान और इन्द्रजाल के समान असत् जगत् मिथ्या ही स्फुरित होता है । इस लिए आतिवाहिक की आधिभौतिकता कठिनस्वभावता उचित ही है, अनुचित नहीं है ॥१७॥

कहीं पर कुछ भी आधिभौतिकता नहीं है । आतिवाहिकता ही अभ्यासवश इस आधिभौतिक भावना को प्राप्त है ॥१८॥

मूलभूत सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से ही इस प्रकार का यह मिथ्यानुभवरूप महान् मोह चला आया है, इसलिए यह जगद्दर्शनरूप भ्रम प्रारब्ध को क्षय नहीं होने तक तत्त्वज्ञों में भी रहता ही है ॥१९॥

चिदेकरस ब्रह्म की इस तरह की दुर्दशा कहाँ संभव है, किन्तु यह सब संसार दुर्दशादि भ्रान्ति ही है । ब्रह्म ही कौतुक से जगत्, जीव आदि के आकार में स्फुरित होता है । अपना आकार अपनी दुर्दशा कदापि नहीं कही जा सकती है ॥२०॥

जगत् का अव्यय सकलकारण-कारण ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कारण नहीं है । वह कार्यता के बिना कारण नहीं है । निर्विकार कूटस्थ-चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म में कार्य-कारण भाव कदापि संभव ही नहीं है । इस लिए यह जगदाकार कुछ भ्रान्तिमात्ररूप ही विस्तृत है । वास्तविक नहीं है ॥२१॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मैकताप्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ नवासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८९॥

१९०

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यभिधीयते ।
तस्यैव ज्ञेयताशान्तिर्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥१॥

श्रीराम उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयताशान्तिः कथं ब्रह्मन्प्रवर्तते ।
सा रूढा बन्धताबुद्धिः कथं वाऽत्र निवर्तते ॥२॥

१९०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामजी ! ज्ञान की ज्ञेयता बन्ध है और ज्ञान की ही ज्ञेयता-शान्ति मोक्ष है ॥१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! यहाँ पर ज्ञान की ज्ञेयता शान्ति कैसे होती है और उसका दृढाभ्यास होने पर बन्धता-बुद्धि कैसे निवृत्त होती है अर्थात् यहाँ पर श्रीरामचन्द्रजी की जिन शङ्काओं का पहले समाधान हो चुका था उनका भी सबके उपकार के लिए प्रश्नोत्तर माला के क्रम से उद्घाटनकर समाधान क्रम को प्रख्यात कराने के लिए उनका उपाय पूछा है ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

सम्यग्ज्ञानेन बोधेन मन्दबुद्धिर्निवर्तते ।
निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेवं प्रवर्तते ॥३॥

श्रीराम उवाच

बोधः केवलतारूपः सम्यग्ज्ञानं विमुच्यते ।
येन बन्धादयं जन्तुरशेषेण विमुच्यते ॥४॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
अवाच्यमिति बोधोऽन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम् ॥५॥

श्रीराम उवाच

ज्ञानस्य ज्ञेयता भिन्ना त्वन्तः केति मुने ! वद ।
उत्पाद्यो ज्ञानशब्दश्च भावे वा करणेऽथ किम् ॥६॥

वसिष्ठ उवाच

बोधमात्रं भवेज्ज्ञानं भावसाधनमात्रकम् ।
न ज्ञानज्ञेययोर्भेदः पवनस्पन्दयोरिव ॥७॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तत्कथमयं ज्ञानज्ञेयादिविभ्रमः ।
सिद्धः शशविषाणाभो भविष्यद्भूतभव्यशः ॥८॥

वसिष्ठ उवाच

बाह्यार्थभ्रान्तितो ज्ञेया भ्रमबुद्धिरिहोदिता ।
बाह्यश्चाऽऽभ्यन्तरश्चाऽर्थो न संभवति कश्चन ॥९॥

श्रीराम उवाच

योऽयं प्रत्यक्षदृश्योऽर्थो मुने ! त्वमहमादिकः ।
भूतादिरनुभूतात्मा स कथं नाऽस्ति मे वद ॥१०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! शम, दम आदि साधनों से युक्त सम्यक् ज्ञानरूप प्रबोध से भ्रान्ति हट जाती है । भ्रान्तिरूप स्वप्न के हट जाने पर इस प्रकार की ज्ञेयताशान्तिरूप मुक्ति भूमिका की पुष्टि क्रम से होती है ॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! सम्यक् ज्ञानमय कैवल्यरूप बोध क्या है ? जिस यह जीव बन्धन से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है । शङ्का का अनेक विशेषताओं से युक्त रत्न आदि के कतिपय विशेषों का ज्ञान होने पर भी अन्य विशेषताओं के ज्ञान के लिए पर्यालोचनजन्य सम्यक् ज्ञान दूसरा हो, किन्तु ब्रह्मरूप निर्विशेष वस्तु में आपात ज्ञान की अपेक्षा सम्यक् ज्ञान दूसरा क्या होगा जिससे कि जीव के बन्धन की निवृत्ति होगी ॥४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! अधिष्ठानभूत चिन्मात्र ज्ञान की ज्ञेयता किसी भी काल में भी नहीं है अर्थात् तीनों कालों में नहीं है । अव्यय केवल ज्ञान अवाच्य है, इसलिए सर्वदृश्यबाधपर्यन्त ही तत्त्व-साक्षात्कार कहा गया है । आपात ज्ञान वसा नहीं है ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! चिदेकरस आत्मा के अन्दर उससे भिन्न ज्ञेयता कौन है यह मुझसे कहने की कृपा करें । इस ज्ञान शब्द की 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' भाव में व्युत्पत्ति करनी चाहिये अथवा 'ज्ञायतेऽनेन तत् ज्ञानम्' यों करण में ? ॥६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्र ! 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' भाव में व्युत्पन्न ज्ञान केवल बोधमात्ररूप है । पवन और स्पन्द के समान ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है । भाव अर्थ में ही ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति करनी चाहिये ज्ञेय जगद्‌रूता ज्ञान का ही मायिक भेद है वह ज्ञान की एकरसना का विघातक नहीं है ॥७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर ! यदि ऐसी बात है तो ज्ञान, ज्ञेय आदि भ्रम कैसे सिद्ध हुआ ? वह ज्ञान का ज्ञेय जगद्रूपताभूत विकल्प शश के सींगों की तरह है । वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भूत, वर्तमान और भविष्यत् विभागों से व्यवहार योग्य कैसे मालूम होता है ? ॥८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! बाहरी पदार्थों की भ्रान्ति से यहाँ पर भ्रमबुद्धि उदित है यह बाह्य और आभ्यन्तर किसी भी पदार्थ का सम्भव नहीं है । भाव यह है कि असत्ता अभाव अथवा अर्थ-क्रिया की असामर्थ्य में कारण नहीं है क्योंकि स्वप्न और भ्रान्ति ज्ञान में हजारो असत् पदार्थों मे भान और अर्थक्रिया सामर्थ्य देखी जाती किन्तु बाध ही अभाव और अर्थक्रिया की असामर्थ्य में प्रयोजन है । बाध विचारवानों को प्रत्यक्ष ही है ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! यह प्रत्यक्ष दृश्य त्वम्, अहम् आदि भूतादि अर्थ अनुभूत कैसे नहीं है यह मुझसे कहे अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थ का अपलाप कैसे संभव है ? यह कहने की कृपा करें ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

आदिसर्गविधावेव विराडात्मादिकोऽनघ ! ।
जातो न कश्चिदेवाऽर्थो ज्ञेयस्याऽतो न संभवः ॥११॥

श्रीराम उवाच

भविष्यद्भूतभव्यस्था जागदृष्टिरियं मुने ! ।
नित्यानुभूयमानाऽपि न जातेति किमुच्यते ॥१२॥

वसिष्ठ उवाच

स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसंकल्पितार्थवत् ।
मिथ्या जगदहं त्वं च भाति केशोण्ड्रकं यथा ॥१३॥

श्रीराम उवाच

अहं त्वमयमित्यादिजगज्जठरमप्यलम् ।
कथं न जातं भगवन्सर्गादावनुभूतिमत् ॥१४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे निष्पाप ! आदि सृष्टि में ही विराट् आदिरूप कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए ज्ञेय सम्भव नहीं है। आदि सृष्टि में जगत् की माया से अतिरिक्त सामग्री कथमपि नहीं कही जा सकती, इसलिए उस समय मायिक जगत् की भ्रान्ति से अतिरिक्त न था यह अवश्य मानना होगा इस समय भी वह वैसे ही भ्रान्तिमात्र ही है यह कहना होगा। लौकिक प्रत्यक्ष आदि केवल व्यवहार के अविसंवाद से चरितार्थ हैं, अतः तत्त्वपूर्ण युक्तियों और श्रुतियों द्वारा बाधित हो जाते हैं। इस विषय में भगवती श्रुति भी है—'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता—अर्थात् न विनाश है, न उत्पत्ति न कोई बद्ध है और न कोई साधक है एवं न कोई मुमुक्षु है और न मुक्त है यह परमार्थता है ॥११

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में स्थित यह जगद्दृष्टि, जिसका कि प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, उत्पन्न नहीं हुई यह आप क्या कहते हैं ? भूत, भविष्यत् आदि अनन्त वस्तु गोचर अनन्त सर्वजनहित प्रत्यक्ष आदि का एक तत्त्वज्ञान से कैसे बाध हो सकता है ? ॥१२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! स्वप्न पदार्थ, मृगतृष्णा, जल, द्विचन्द्र तथा संकल्पित पदार्थों की तरह अहं त्वम् आदि मिथ्या जगत् केशोण्ड्रक के समान स्फुरित होता है। उस प्रकार के अनन्त स्वाप्न ज्ञानों का एक जागरण से बाध दिखाई देता है ॥१३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! अयम्, त्वम्; अयम् इत्यादि पूर्णरूप से अनुभूयमान जगज्जठर सर्ग के आदि में कैसे उत्पन्न नहीं हुआ ॥१४॥

वसिष्ठ उवाच

कारणाज्जायते कार्यं नाऽन्यथेत्येव निश्चयः ।
सर्वोपशान्तौ जगतामुत्पत्तौ नास्ति कारणम् ॥१५॥

श्रीराम उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ शिष्टं यदजमव्ययम् ।
तत्कथं नाम सर्गस्य न भवेत्कारणं मुने ! ॥१६॥

वसिष्ठ उवाच

यदस्ति कारणे कार्यं तत्तस्मात्संप्रवर्तते ।
न त्वसज्जायते राम ! न घटाज्जायते पटः ॥१७॥

श्रीराम उवाच

जगत्सूक्ष्मेण रूपेण महाप्रलय आगते ।
आस्ते ब्रह्मणि तत्तस्मात्पुनरेव प्रवर्तते ॥१८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा वह उत्पन्न नहीं होता यह ही निश्चय है प्रलयकाल में सबका विलय होने पर जगतों की उत्पत्ति में कारण नहीं है ॥१५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! महाप्रलय होने पर जो जन्म-नाश-विहीन परमतत्त्व अवशिष्ट रहता है वह सृष्टि का कारण क्यों नहीं होगा ? ॥१६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! कारण में जो कार्य है वह उससे उत्पन्न होता है किन्तु कारण में असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ! घट से पट की उत्पत्ति कदापि नहीं होती है। ब्रह्म चिदेकरस है उसमें जगद्बीज शक्ति नहीं है ॥१७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! महाप्रलय होने पर जगत् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में रहता है, वह उससे फिर उत्पन्न होता है। भाव यह कि जैसे सांख्यों के अभिमत गुणों में सूक्ष्मरूप से जगत् रहता है वैसे ही ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से जगत् रहे ॥१८॥

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते केन सर्गास्तिताऽनघ ! ।
अनुभूता महाबुद्धे ! तत्रस्था सा च कीदृशी ॥१९॥

श्रीराम उवाच

ज्ञप्त्यात्मिका श्रीस्तत्रस्था तादृशैरनुभूयते ।
व्योमात्मिका तु न भवेन्न सत्तामसदेति हि ॥२०॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चेत्तन्महाबाहो ज्ञप्तिरेव जगत्त्रयम् ।
विशुद्धज्ञानदेहस्य कुतो मरणजन्मनी ॥२१॥

श्रीराम उवाच

तदेवमाहितो नास्ति सर्गस्तदियमागता ।
कुतः कथमिव भ्रान्तिरिति मे भगवन् वद ॥२२॥

वसिष्ठ उवाच

कार्यकारणताभावाद् भावाभावौ स्त एव नो ।
इदं च चेत्यते यद्यत्स्वात्मा चेतति चेतितम् ॥२३॥

श्रीराम उवाच

चेतिता चेतति यन्त्रं द्रष्टा दृश्यत्वमीश्वरः ।
कथमेति कथं वह्नि दहेत्काष्ठं कदा किल ॥२४॥

वसिष्ठ उवाच

द्रष्टा न याति दृश्यत्वं दृश्यस्याऽसंभवादतः ।
द्रष्टैव केवलो भाति सर्वात्मैकघनाकृतिः ॥२५॥

श्रीराम उवाच

चिन्मात्रं तदनाद्यन्तं चेत्यं चेतयते तदा ।
तदिदं जगदाभानं कुतः स्याच्चेत्यसंभवः ॥२६॥

वसिष्ठ उवाच

चेत्यं हि कारणाभावान्न संभवति किंचन ।
चेत्याभावाच्चेतनस्य मुक्तताऽवाच्यता सदा ॥२७॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे अनघ ! महाप्रलय पर्यन्त उस ब्रह्म में स्थित इस सर्ग की सत्ता का कौन अनुभव करता है और हे महाबुद्धे, वह सत्ता कैसी है ॥१९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—उस ब्रह्म में स्थित ज्ञप्ति-रूपा का तो ज्ञानियों से अनुभव होता है और वह स्वयं प्रकाश चिद्रूपाभिन्न सत्ता ही उस समय रहती है माया-काशरूपा नहीं रहती क्योंकि मायाकाशरूप तो असत् भगत्सत्ता को कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२०॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! यदि इस प्रकार चिद्रूप ही जगत् की सत्ता मानोगे तो चिद्रूप ही यह तीनों लोक हैं। फिर विशुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा के जनम, मरण आदि कैसे हो सकते हैं ? ॥२१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! यदि सृष्टि उस ब्रह्म में स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँ से कैसे आ गई, यह मुझसे कहिए। अर्थात् यह जगत् का भ्रम क्यों होता है ॥२२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! कार्यकारणता का अभाव होने से ब्रह्म में न तो भाव उत्पत्ति) है और न अभाव (प्रलय) ही, भासमान जगत् जिसको भासमान होता है और जिस रूप में भासमान होता है वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह असमंजस है, यन्त्र के सदृश इस अचेतन (कार्यकारणसंघात देहेन्द्रियादि) रूपता को वह चेतिता (चेतना करने वाला चलाने वाला) कैसे प्राप्त कर सकता है। चैतन्यरूप सर्वद्रष्टा अचेतन (जड़) दृश्यत्व को कैसे प्राप्त हो सकता है। भला काष्ठ जो दाह्य (जलने वाला) है वह दग्धा (जलाने वाला) होकर वह्नि को दाह्य बनाकर कब और कैसे जला सकता है ॥२४॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! द्रष्टा दृश्यत्व को नहीं प्राप्त होता क्योंकि दृश्य का सर्वथा असम्भव है, इसलिए केवल द्रष्टा ही सर्वात्मा एकघनाकृति रूप से भासमान होता है अतः कोई असामञ्जस्य नहीं है सब असमञ्जस्यों की निवृत्ति ही हो जाती है ॥२५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! सृष्टि के आदि के अचेतित जगत् के भान की सिद्धि नहीं है, अतः अनादि अनन्त शुद्ध चिन्मात्र ही सृष्टि के आदि में जगत् का संकल्प करता है तब इस जगत् का भान होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा। उस चिन्मात्र में चेत्य का संभव कैसे हो सकता है। यह मुझसे कहने की कृपा करें ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! कारण का अस्तित्व न होने के कारण चेत्य का तनिक भी संभव नहीं है। चेत्य का अभाव होने से चेतन की सदा मुक्तता तथा वर्णनातीतता सिद्ध हुई। चेत्य यदि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होता तो वह किससे उत्पन्न हुआ इस प्रश्न का अवसर आता। अत्यन्त असंभूत वन्ध्यापुत्र की उपपत्ति-जिज्ञासा से क्या प्रयोजन है ? नित्यमुक्त ही आत्मा को स्वीकार करना चाहिये ॥२७॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्त्वहन्तादि चेत्यं कथमिदं कुतः।
कथं जगद्वेदनं च कथं स्पन्दादिवेदनम् ॥२८॥

वसिष्ठ उवाच

कारणासंभवादादावेवोत्पन्नं न किंचन।
कुतश्चेत्यमतः शान्तं सर्वं सर्गस्तु विभ्रमः ॥२९॥

श्रीराम उवाच

अत्र मे विगतोल्लेखे निश्चेत्यचलनादिके।
सकृद्विभाते विमले विभ्रमः कस्य कीदृशः ॥३०॥

वसिष्ठ उवाच

कारणाभावतो राम ! नास्त्येव खलु विभ्रमः।
सर्वं त्वमहमित्यादि शान्तमेकमनामयम् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर ! यदि चेतन की नित्य मुक्तता है तो यह अहन्ता आदि चेत्य कहाँ से और कैसे है ? यह जगद्वेदन कैसे तथा स्पन्द आदि का ज्ञान कैसे है ? शङ्का का यह है कि यदि नित्यमुक्तता है तो अहन्ता का प्रतिभास ही कदापि न होगा। इस तरह गुरु, शास्त्र आदि की निष्फलता होगी ॥२८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! कारण का संभव न होने के कारण सृष्टि के आदि में कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ। ऐसी परिस्थिति में चेत्य का संभव कहाँ से होगा ? इसलिए सब कुछ शान्त है। सृष्टि तो रज्जु में सर्पत्वभान की तरह सीप में रजत बुद्धि की तरह तथा मरु में जल-भान की तरह भ्रममात्र है ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! वचनों के अगोचर, चेत्य और चलनादि क्रिया शून्य, सदा स्वप्रकाश, नित्यमुक्त, निर्विकार ब्रह्म में भ्रम ही किसको, किस निमित्त से तथा किस तरह का हो सकता है ? इस विषय में मुझे उत्तर है। अद्वितीय द्वैतलेश का भी सहन नहीं कर सकता है ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! कारण का अभाव होने से सृष्टिरूप विशिष्ट भ्रम का अस्तित्व ही नहीं है। त्वम्, अहम् इत्यादि सब कुछ अद्वितीय निर्विकार शान्त ब्रह्म ही है। भाव यह कि शास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात ब्रह्म तत्त्व की दृष्टि से विभ्रम भी अनुपपन्न हो, इससे कृतकृत्य शास्त्र विफल नहीं कहा जा सकता है, यह उत्तर का आशय है ॥३१॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्भ्रममिवाऽऽपन्नः प्रष्टुं जानामि नाऽधिकम्।
नाऽत्यन्तं च प्रबुद्धोऽस्मि पृच्छामि किमिहाऽधुना ॥३२॥

वसिष्ठ उवाच

कारणस्यैव निकषं पृच्छ मा कारणक्षयात्।
परे स्वभावेऽनिर्वाच्ये स्वयं विश्रान्तिमेष्यसि ॥३३॥

श्रीराम उवाच

मन्येऽहंकारणाभावात्पूर्वमेव न सर्गता।
उदिता तेन कस्याऽयं चेत्यचेतनविभ्रमः ॥३४॥

वसिष्ठ उवाच

अकारणत्वात्सर्वत्र शान्तत्वाद् भ्रान्तिरस्ति नो।
अनभ्यासवशादेव न विश्राम्यति केवलम् ॥३५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! भ्रान्ति को जैसा प्राप्त हुआ मैं अब और क्या पूछूँ यह नहीं जान रहा हूँ मैं पूर्णरूप से प्रबुद्ध नहीं हुआ हूँ इस विषय में अब क्या पूछूँ इस पद्य से श्रीवसिष्ठजी द्वारा निरुत्तर किये गये श्रीरामचन्द्रजी प्रबोध की दृढ़ता के अभाव से पूर्णरूप से निस्सन्देह न होने के कारण प्रश्न करने में अपनी अशक्ति ही दिखलाते हैं ॥३२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! निरुत्तर करने के कारण केवल अप्रतिभा से प्रश्न करने से विरत न हो किन्तु प्रश्न करने में कारणभूत सन्देहबीज के निकषोपल के समान कसौटी के तुल्य सार और असार की परीक्षा का स्थान मुझसे तब तक पूछते जाओ जब तक कि कारण का नाश होने से आप निश्शङ्क न हो। तब क्रम से प्रश्न के कारणभूत सन्देहों का और उनके कारण अज्ञान का पूर्णरूप से विनाश होने के कारण आप परम स्वभाव में विश्रान्ति को प्राप्त करोगे ॥३३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! कारण का अस्तित्व न होने से पहले सृष्टि के आदि में ही सृष्टि का आविर्भाव नहीं हुआ यह आपका कहा हुआ सिद्धान्त यद्यपि मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ तथापि मेरा यह चेत्यचेतन भ्रम किसको है यह सन्देह नहीं मिट रहा है। इसका क्या कारण है ? ॥३४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! कारण का अस्तित्व न होने तथा सर्वत्र शान्त ब्रह्म की सत्ता होने से दृश्य आदि की भ्रान्ति नहीं है। आपको केवल अभ्यास न होने के कारण ही परमपद में विश्रान्ति नहीं प्राप्त हो रही है। यदि आप मेरे द्वारा वर्णित सिद्धान्त को जानते हैं तो अनभ्यासवश ज्ञान की परिपक्वता न होने से परमपद में अविश्रान्ति ही आपके वृथा विविध सन्देहों की जननी है, श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का यह अर्थ है ॥३५॥

श्रीराम उवाच

कुतो भवेदनभ्यासो भवेदभ्यसनं कुतः ।
कुतोऽभ्यासात्मिका भ्रान्तिरेषा पुनरुपस्थिता ॥३६॥

वसिष्ठ उवाच

अनन्तत्वादनन्तस्य भ्रान्तिर्नाऽस्ति च संप्रति ।
अभ्यासभ्रान्तिरखिलं महाचिद्घनमक्षतम् ॥३७॥

श्रीराम उवाच

उपदेश्योपदेशादावनया शब्दसंपदा ।
किमन्यद्वद मे ब्रह्मन्सर्वस्मिञ्छान्ततां गते ॥३८॥

वसिष्ठ उवाच

उपदेश्योपदेशात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
बोधात्मनि मोक्षोऽस्ति न बन्धोऽस्तीति निश्चयः ॥३९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! कहाँ से अनभ्यास होगा, कहाँ से अभ्यास होगा तथा अभ्यासात्मक यह जगद्भ्रान्ति ही कहाँ से उदित हुई है जब कि जगद्-भ्रान्ति का कोई कारण ही नहीं है ॥३६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! यथार्थतः कोई भ्रान्ति नहीं है। यद्यपि अनन्त (असीम परमब्रह्म) निज माया से अनन्त भासता है उसी में सम्पूर्ण अक्षत महा-चिद्घन अभ्यास भ्रान्ति है। जैसे जीवन्मुक्त पुरुषों की चिदघनस्वरूप सकल वस्तुओं से व्यवहार-प्रवृत्ति होती है वैसे ही आपकी भी उनसे अभ्यास-प्रवृत्ति हो, इसमें क्या क्षति है ॥३७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आप सरीखे जीवन्मुक्त पुरुषों के इस सकल जगद्भ्रम के शान्त होने पर इस अध्यात्मशास्त्ररूप शब्द शम्पत्ति से उपदेश योग्य हम लोगों के उपदेश, कायप्रवेश, शक्तिपात आदि द्वारा प्रबोधन रूप व्यवहार में क्या कारण है ? यह कहे ॥३८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! हमारे सदृश जीवन्मुक्त लोगों के उपदेश आदि सकल व्यवहार रूप से ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। बोधात्मा में (चिदात्मा में) न मोक्ष है, न बन्धन है और न बन्धन निवृत्ति के उपाय हैं। अर्थात् भिन्नवत् दिखाई देने वाले बन्ध, मोक्ष और मुक्ति के उपायों की तत्त्वदृष्टि से अत्यन्त अप्रसिद्धि है ॥३९॥

श्रीराम उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यभेदवेदनचेतसाम् ।
सर्वस्याऽसंभवे सर्वसत्ता कथमुपस्थिता ॥४०॥

वसिष्ठ उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यभेदवेदनचेतसाम् ।
अज्ञानमात्रादितरा सत्ता नाऽन्याऽस्ति नो पुरा ॥४१॥

श्रीराम उवाच

बोध्यबोधकृतापत्तेरभावाद्बोधता कथम् ।
द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् ! कारणासंभवे सति ॥४२॥

वसिष्ठ उवाच

बोधेन बोधतामेति बोधशब्दस्तु बोध्यताम् ।
भवद्विषयमेवाऽयमुचितो नाऽस्मदादिषु ॥४३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! देश, काल, क्रिया और द्रव्य का भेदज्ञान रखने वाले अज्ञानियों को सबका संभव न होने से यह जगद्दृष्टि कैसे उपस्थित हुई ? भाव यह कि तब अज्ञानियों की दृष्टि में प्रख्यात यह जगत्सत्ता किस कारण से उपस्थित हुई ? ॥४०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! जीवन्मुक्ति के पूर्व देश, काल, क्रिया और द्रव्य के भेद ज्ञानी अज्ञों की दृश्य सत्ता अज्ञानमात्र से अन्य नहीं है अर्थात् अज्ञान से ही यह जगत्सत्ता उपस्थित है, इसका अन्य कारण नहीं है ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् तत्त्वदृष्टि से कारण के अभाव में द्वैत और ऐक्य का संभव न होने पर बोध्यबोधकता का अभाव होने से ज्ञान कैसे हो सकती है। जिसका बोध हो वह कर्म अवश्य होना चाहिये। लोक में अकर्मक बोध शब्द प्रसिद्ध नहीं है ॥४२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! अज्ञात ब्रह्म बोध से अपने अज्ञान विनाशरूप फल का आश्रय होने से बोधता को (बोधकर्मता को) प्राप्त होता है उसी से बोध-शब्द भी बोध्यता को बोधफलवत्तारूप सकर्मकता को प्राप्त होता है। यह सब अज्ञानवान् जो आप लोग हैं आप लोगों के विषय में ही लागू होता है जीवन्मुक्त हम लोगों में अज्ञान न रहने के कारण बोध की सकर्मकता का निरूपण नहीं किया जा सकता है ॥४३॥

श्रीराम उवाच

बोध एव यदाऽहन्त्वमेति बोधान्यता तदा।
कुत एषा परेऽनन्ते नाऽसावतिजलेऽमले ॥४४॥

वसिष्ठ उवाच

यत्तद्बोधस्य बोनत्वं तदेवाऽहन्त्वमुच्यते।
द्वित्वमत्राऽखिलस्पन्दवृशोरिव निगद्यते ॥४५॥

श्रीराम उवाच

सौम्याऽब्ध्यन्तस्तरङ्गादिर्यथाऽऽस्ते यथास्थितम्।
तथा स्वरूपमात्रात्म बोध्यं बोधोऽवबुद्धवान् ॥४६॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चेत्तत्कथं कः स्याद्दोषो द्वित्वाविदोषतः।
अनन्ते स्थित एकस्मिञ्छान्ते पूर्णे परे पदे ॥४७॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे भगवन्! 'जीवन्मुक्त हम लोगों में नहीं' यह कह रहे आपने जीवन्मुक्तों में भी अस्मत्-शब्द की प्रवृत्ति में निमित्तभूत अहन्ता प्रदर्शित की है। और वह अहन्ता अबोध का कार्य नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उनमें अबोध की प्रसिद्धि नहीं है। अतः बोध ही अहन्तारूप परिणाम को प्राप्त होता है, यह कहना पड़ेगा। उस अवस्था में उसकी बोधभिन्नता का निवारण करना कठिन ही नहीं असंभव है। यह अहन्ता जब जीवाख्य पुरुष नहीं है तब इसका अनन्त त्रिविध परिच्छेदशून्य निर्मल चिन्मात्र आप में कहाँ से संभव है? ॥४४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! एकमात्र बोधस्वरूप हम लोगों की स्वरूपभूत जो बोधता है वही वायु के स्पन्दन की तरह वैकल्पिक व्यपदेश से हम लोगों से अहम् और त्वम् कही जाती है अज्ञानवान् अभिमान-प्रधान पुरुष से नहीं कही जाती है ॥४५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! ऐसी यदि बात है तो जैसे शान्त सागर में तरङ्ग आदि अपना आकार धारण करता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों की दृष्टि में स्वरूपमात्ररूप चिन्मय ही अहन्तादि रूप जगत् तथा बोध्य, बोध आदि त्रिपुटी का आकार धारण करता है ॥४६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! यदि ऐसी स्थिति ही तत्त्व है तो 'द्वैतैक्यासंभवे ब्रह्मन् कारणासंभवे सति।', इस प्रकार आपने द्वित्व आदि की प्रसक्ति से जिस अद्वैतहानिरूप दोष का उद्घाटन किया वह कैसे होगा और क्या होगा है? इसलिए ऐसा मानना ठीक नहीं है। इस कारण आप शुद्ध अद्वैत का ही अवलम्बन करें ॥४७॥

श्रीराम उवाच

कोऽत्र कल्पयिताऽहन्त्वं भुङ्क्ते भोक्ता च कश्च वा।
यन्मूलं यज्जगद्भ्रान्तिरनन्ता प्रविजृम्भते ॥४८॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञेयसत्तावबोधे हि बन्धनं तच्च नास्त्यलम्।
ज्ञप्तेः सर्वार्थरूपत्वाद् बन्धमोक्षावतः कुतः ॥४९॥

श्रीराम उवाच

ज्ञप्तेर्बाह्यार्थता दीपान्नीलादीव प्रवर्तते।
बाह्यस्त्वर्थोऽस्ति सद्रूपो ननु दृष्टोपलम्भतः ॥५०॥

वसिष्ठ उवाच

अकारणस्य कार्यस्य बाह्यस्याऽर्थस्य सत्यता।
येयं सा भ्रान्तिमात्रात्मरूपिणी नेतराङ्गिका ॥५१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! तब शुद्ध अद्वैतपक्ष में पवन के स्पन्दन की तरह अहन्ता विकल्प की कल्पनाकर कौन व्यवहार का भोग करता है अथवा भोक्ता ही कौन है जिसके कारण यह अनन्त जगद्भ्रान्ति का उल्लास होता है। जगद्भ्रान्ति विकल्प का भी वैसे निषेध न होनेपर फिर बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी होगी? ॥४८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! ज्ञेय अर्थ में सत्यता का आग्रह होनेपर पुनः बन्धन की प्रसक्ति होती है। किन्तु तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में वह (ज्ञेय) निपट नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उसका बाध हो जाता है। ज्ञप्ति ही उनके प्रारब्ध के भोग के लिए सकल पदार्थों के आकार से भासती है, इसलिए उनके पुनर्बन्धन आदि की कल्पना का प्रसंग नहीं है ॥४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! ज्ञप्ति सर्वार्थरूपा नहीं है, क्योंकि जैसे प्रकाशक दीपक या नील, पीत आदि रूप या घट, पट आदि अपनी स्थिति को प्राप्त होते हैं वैसे ही ज्ञप्तिवश बाह्य घट, पट आदि पदार्थस्थिति प्रथित होती है अतः प्रत्यक्षरूप से ग्रहण होने से बाह्य पदार्थों की चेतन से पृथक् सत्ता सिद्ध हो गई ॥५०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! कारण रहित बाह्यार्थरूप कार्य की जो यह सत्यता है वह केवल भ्रान्तिरूपी है उसका, भ्रान्तिरूप से अतिरिक्त दूसरा स्वरूप नहीं है ॥५१॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नः सत्योऽस्त्वसत्यो वा दुःखं तावत्प्रयच्छति।
तथैवेयं जगद्भ्रान्तिः क्व उपायोऽत्र कथ्यताम् ॥५२॥

वसिष्ठ उवाच

एवं तावद्यथा स्वप्नस्तथेयं चेज्जगत्स्थितिः।
तत्पिण्डग्रहताऽर्थानां सर्वैव भ्रान्तितोदिता ॥५३॥

श्रीराम उवाच

किमेतावति संपन्ने संपन्नं भवति प्रियम्।
कथं च शाम्यत्यर्थानां स्वप्नादौ पिण्डरूपता ॥५४॥

वसिष्ठ उवाच

पूर्वापरपरामर्शात्पिण्डतार्थेषु शाम्यति।
स्वप्नेऽप्येवं स्थिते स्थूला भावना विनिवर्तते ॥५५॥

श्रीराम उवाच

भावना तनुतां याता यस्याऽसौ किं प्रपश्यति।
कथं शाम्यति तस्याऽयं संसारकुहरभ्रमः ॥५६॥

वसिष्ठ उवाच

उद्ध्वस्तमसदाभासमुत्पन्ननगरोपमम् ।
वर्षप्रोन्मृष्टचित्राभं जगत्पश्यत्यवासनः ॥५७॥

श्रीराम उवाच

ततः किं तस्य भवति वासानातानवे स्थिते।
पिण्डग्रहे गतेऽर्थानां स्वप्नोपमजगत्स्थितेः ॥५८॥

श्रीराम उवाच

संकल्परूपजगतः क्रमात्साऽपि विलीयते।
वासना तस्य तेनाऽऽशु स निर्वाति विवासनः ॥५९॥

श्रीराम उवाच

अनेकजन्मसंरूढा शाखाप्रसवशालिनी।
भवबन्धकरी घोरा कथं शाम्यति वासना ॥६०॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मण्! जब तक अर्थ-क्रियाकारी होने से स्वप्न सत्य हो चाहे प्रबोध से बाध्य होने के कारण असत्य होता रहने तक दुःख देता है वैसे ही यह जगद्भ्रान्ति जब तक रहती है तब तक दुःख देती है। इसकी चिकित्सा का कौन उपाय है ? ? ॥५२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी! इस प्रकार स्वप्न के अनुसार ही जगत्-स्थिति है जगत् की स्वप्न तुल्यता है जब सिद्ध हैं, तब जैसे जागरण होने पर स्वप्न के पदार्थों का बाध हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर जागतिक पदार्थों में पिण्डग्रहता का साकारता अर्थात् स्थूलता का बाध हो जाने से सब दुःख शान्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पदार्थों की पिण्डग्रहता (स्थूलता) सारी की सारी भ्रान्तिरूप ही है ॥५३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! संसार को स्वप्नवत् एकमात्र मिथ्या मानने से आनन्दावाप्तिरूप अभीष्ट कैसे सिद्ध होता है ? केवल मिथ्या ज्ञान से स्वप्न आदि में पदार्थों की पिण्डरूपता साकारता कैसे शान्त होती है ? ॥५४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी! अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापार के विचार से ज्ञानोदय होने पर पदार्थों में साकारता निवृत्त होती है और इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थों में जाग्रत् होने पर स्थूल भावना निवृत्त हो जाती है ॥५५॥

जिसकी अध्यात्मशास्त्र के पूर्वापर के पर्यालोचन से जगत्स्थूलता की भावना सूक्ष्मता को प्राप्त हो चुकी वह जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को कैसा देखता है ? और उसकी यह संसारगर्तरूपी भ्रान्ति कैसे मिटती है ? ॥५६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी! वासना-विहीन जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को उजड़ा हुआ, असत् के सदृश, गन्धर्वनगरोपम और वृष्टि से मिटाये गये चित्र के तुल्य देखता है ॥५७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर! तदुपरान्त वासनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर स्वप्नोपम जगत्स्थिति वाले जिस पुरुष की दृष्टि में जगत् के पदार्थों की स्थूलता विनष्ट हो चुकी उस जीवन्मुक्त का फिर क्या होता है ? ॥५८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्र! जगत् को संकल्परूप जानने वाले जीवन्मुक्त पुरुष की वह अति-सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर भूमिकाओं क परिपाकक्रम से विलीन हो जाती है। इससे वासना विहीन वह शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त होता है ॥५९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्! अनेक जन्म जन्मान्तरों से बद्धमूल, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, जन्म-मरणरूपी बन्धन में डालने वाली भीषण वासना कैसे शीघ्र शान्त हो जाती है ? ॥६०॥

वसिष्ठ उवाच

यथाभूतार्थविज्ञानाद् भ्रान्तिमात्रात्मनि स्थिते ।
पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमात्क्षयः ॥६१॥

श्रीराम उवाच

पिण्डग्रहविमुक्तेऽस्मिन्दृश्यचक्रे क्रमान्मुने ! ।
संपद्यते किमपरं कथं शान्तिः प्रजायते ॥६२॥

वसिष्ठ उवाच

पिण्डग्रहभ्रमे शान्ते चित्तमात्रात्मतां गते ।
निरोधगौरवोन्मुक्ते जगत्यास्थोपशाम्यति ॥६३॥

श्रीराम उवाच

बालसंकल्परूपेऽस्मिन्स्थिते जगति भासुरे ।
कथमास्थोपशमनं तादृग्दुःखाय किं नरः ॥६४॥

वसिष्ठ उवाच

संकल्पमात्रसंपन्ने नष्टे दुःखं कथं भवेत् ।
संकल्पचित्तमात्रं यत्तत्तावत्प्रविचार्यताम् ॥६५॥

श्रीराम उवाच

कीदृशो भगवंश्चित्तं कथं तत्प्रविचार्यते ।
किंच संपद्यते ब्रूहि तस्मिन्सम्यग्विचारिते ॥६६॥

वसिष्ठ उवाच

चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तमिति कथ्यते ।
विचार एष एवाऽस्य वासनाऽनेन शाम्यति ॥६७॥

श्रीराम उवाच

कियन्नाम भवेद् ब्रह्मन्नचेत्योन्मुखता चितेः ।
चित्तस्याऽचित्ततोदेति कथं निर्वाणकारिणी ॥६८॥

वसिष्ठ उवाच

चेत्यं न संभवत्येव चित्किं चेतयते कुतः ।
चेत्यासंभवतश्चित्तसत्ता नास्ति ततश्चिरम् ॥६९॥

श्रीराम उवाच

कथं न संभवत्येतच्चेत्यं यदनुभूयते ।
अपह्नवश्चाऽनुभवे क्रियते कथमीदृशः ॥७०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स रघुवर ! केवल भ्रममात्रस्वरूप यह दृश्यचक्र संसारचक्र यथार्थ तत्त्वज्ञान से स्थूलाकारता से विमुक्त हो जाता है अर्थात् जले हुए वस्त्र के समान इसका केवल ढाँचा ही शेष रह जाता है। अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के क्रम से उसका भी विनाश हो जाता है ॥६१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! इस संसार चक्र के क्रमशः पिंडग्रह विहीन स्थूलाकार शून्य होने पर निर्विक्षेपता का साधक दूसरा क्या है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ? ॥६२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुपुङ्गव ! साकारता भ्रम के निवृत्त होने पर जब जगत् केवल चित्तमात्रता को प्राप्त हो जाता है, विनाशाभावरूप गौरव से उन्मुक्त हो जाता है तब जगत् में भोगों की आस्था का शमनरूप परम वैराग्य हो जाता है ॥६३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! बालक के संकल्पभूत अवितुच्छ रूप से स्थित देदीप्यमान इस जगत् में दुःख हेतुभूत आस्था की निवृत्ति कैसे होती है ? अत्यन्त तुच्छ संकल्प वाला बालकरूप नर भी दुःख का अनुभव करता हुआ कैसे दिखाई देता है ! ॥६४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—संकल्पमात्र से संपन्न जगत् के नष्ट होने पर दुःख कैसे हो सकता है। जो जगत् संकल्पमात्र तथा चित्तमात्र है उस चित्त का आप भी विचार करें। अर्थात् अविचार से तुच्छता का ज्ञान न होने के कारण ही बालक को भी दुःख होता है, किन्तु विचार द्वारा तुच्छता का ज्ञान होने पर उसके नाश आदि में दुःख नहीं होता है यह आप भी विचार कीजिये ॥६५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! चित्त कैसा है कैसे उसका विचार किया जाता है ? उक्त चित्त का भली भाँति विचार करने पर क्या होता है ? यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥६६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! चित् का जो विषयों की ओर झुकना है वही चित्त कहलाता है। इस समय मेरे सामने आपसे किया जा रहा महारामायण श्रवण ही इसका विचार है। इससे वासना निवृत्त हो जाती है ॥६७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! चित्त के स्थिति काल में चित्त के तिरोध से होने वाली चित् की अचेत्यो-न्मुखता परमात्मा की ओर प्रवण होना कितने काल तक रहेगी ? अर्थात् बहुत थोड़े समय तक रहेगी, इसलिए निर्वाणपद प्रदान करने वाली चित्त की अचित्तता कैसे उदित होती है ? यह मुझसे कहिये अर्थात् चित्त के नाश का ही उपाय मुझसे कहने की कृपा करें ॥६८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! चेत्य का जब संभव ही नहीं है तब चित् कैसे और कहाँ से चेत्य की कल्पना करती है। इस कारण चेत्य के असंभव से चित्त सत्ता नितरां नहीं। चेत्य के असंभव के दर्शन से चेत्य का परिमार्जन ही चित्तनाश का उत्तम उपाय है, यही श्रीवसिष्ठजी के उत्तर का आशय है ॥६९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! जिस चेत्य का (दृश्य का) सबको अनुभव होता है, उसका कैसे संभव नहीं है। सकल जनों से और अपने से अनुभूत विषय में इस प्रकार का अपलाप आप कैसे करते हैं अर्थात् चेत्य का सर्वथा असंभव है तो लोगों के अनुभव का विषय कौन होगा ? ॥७०॥

वसिष्ठ उवाच

यादृक्स्यादज्ञविषयं जगत्तस्य न सत्यता।
यादृक्च तज्ज्ञविषयं तदनाख्यं यदद्वयम् ॥७१॥

श्रीराम उवाच

त्रिजगत्कीदृगज्ञानां कथं तस्य न सत्यता।
तज्ज्ञानां तु जगद्यादृक्तद्वक्तुं किं न युज्यते ॥७२॥

वसिष्ठ उवाच

आद्यन्तद्वैतमज्ञानां तज्ज्ञानां तच्च विद्यते।
जगच्च नो संभवति नित्यानुत्पन्नमादितः ॥७३॥

श्रीराम उवाच

आदितो यदनुत्पन्नं न संभवति कर्हिचित्।
असद्रूपमनाभासं कथं तदनुभूयते ॥७४॥

वसिष्ठ उवाच

असदेव सदाभासमनुत्पन्नमकारणम्।
जाग्रत्स्वप्नवदुद्भूतमर्थकृच्चाऽनुभूयते ॥७५॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नादौ कल्पनादौ च यद्दृश्यमनुभूयते।
तज्जाग्रद्रूपसंस्कारादनुष्ठानानुभूतितः ॥७६॥

वसिष्ठ उवाच

किं जाग्रद्रूपमाहोस्विदन्यत्स्वप्नेऽनुभूयते।
संकल्पे च मनोराज्ये इति मे वद राघव ॥७७॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेषु कल्पनाद्येषु जाग्रदेवाऽवभासते।
संस्कारात्मतया नित्यं मनोराज्यभ्रमेषु च ॥७८॥

वसिष्ठ उवाच

तदेव जाग्रत्संस्कारात्स्वप्नश्चेदवभासते।
तत्स्वप्ने लुठितं गेहं कथं प्रातरवाप्यते ॥७९॥

श्रीराम उवाच

न जाग्रद्राजते स्वप्ने तद्ब्रह्माऽन्यत्तदेव हि।
बुद्धमेतत्कथं त्वन्यदपूर्वमिव भासते ॥८०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुवर! अज्ञानियों का दृष्टिगोचर जैसा जगत् है वह सत्य नहीं है, ज्ञानियों का ज्ञावगोचर जो है वह अद्वितीय तथा वाणी का अगोचर है। अज्ञपरिज्ञात भौतिक जगत् का अपलाप करने पर उसकी (अज्ञ की) तत्त्वज्ञानियों द्वारा परिज्ञात नामरूप विहीन तत्त्ववस्तु विषय होगी ॥७१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! अज्ञानियों का त्रैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है? और ज्ञानियों का जैसा जगत् है वह वाणी का विषय कैसे नहीं हो सकता है? ॥७२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! अज्ञानियों का जो जगत् है वह देश, काल, और वस्तुकृत परिच्छेद से युक्त है किन्तु उस तरह का अर्थात् देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेद वाला जगत् ज्ञानियों की दृष्टि में न इस समय है और न सृष्टि के आदि में ही उसका संभव है, अतएव ज्ञानियों की दृष्टि में वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या है ॥७३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने का—हे भगवन्! जो जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ और जिसका कभी संभव नहीं है, जो असद्रूप और आभास शून्य है उसका अनुभव कैसे होता है? यदि वह अत्यन्त असत् है तो वह अर्थक्रिया समर्थरूप से अनुभूत कैसे होता है ॥७४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! जाग्रत्-जगत् स्वप्न जगत के समान असत् होता हुआ भी सत्सा प्रतीत होता है इसका कोई कारण नहीं है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है और स्वप्न के समान उद्भूत हुआ यह स्वप्नवत् अर्थ क्रियाकारी भी प्रतीत होता है ॥७५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! स्वप्न आदि में और मनोरथ; वितर्क आदि में जो दृश्य का अनुभव होता है वह जगद् व्यवहार के अनुभव से उत्पन्न जाग्रद्रूप संस्कार से होता है, किन्तु यह जाग्रत् किससे अनुभव में आता है ॥७६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स! संस्कार से स्वप्न में क्या जाग्रत् में प्रसिद्ध ही अर्थ का अनुभव होता है अथवा अन्य अर्थ का वैसे ही स्वप्न और मनोराज्य में जाग्रत् प्रसिद्ध ही अर्थ का अनुभव होता है अथवा अन्य पदार्थ का यह मुझसे कहिये ॥७७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! स्वप्न और मनोराज्य आदि कल्पनाओं में संस्कार रूप से जाग्रत् में प्रसिद्ध अर्थ का ही नित्य भान होता है यही बात मनोरथ, भ्रम आदि में भी समझनी चाहिये ॥७८॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा—हे रघुनाथ! जाग्रत् के संस्कार से जाग्रत्प्रसिद्ध अर्थ का ही स्वप्न में यदि भान होता है तो स्वप्न में गिरा हुआ घर प्रातः काल जागने पर कैसे प्राप्त होता है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् के पदार्थों के अभिन्न होने पर स्वाप्न पातन जाग्रत् पातनरूप ही है ॥७९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! जाग्रत् पदार्थ का स्वप्न में भान नहीं होता, किन्तु अन्य अर्थ ही स्वप्न में भासमान होता है किन्तु वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है यह आपका अभिमत अर्थ मेरी समझ में आ गया है। किन्तु इतना सन्देह अभी शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म जगत् सा कैसे भासता है ॥८०॥

वसिष्ठ उवाच

नाऽनुभूतोऽनुभूतश्च चेतस्यर्थोऽवभासते ।
सर्गाद्यन्तादिमध्येषु स्वभ्यस्तस्त्विति भासते ॥८१॥

श्रीराम उवाच

एवं स्वप्नात्मकं भाति जगदित्येव बुद्धवान् ।
गृहवत्स्वप्नयक्षोऽयं कथं ब्रह्मंश्चिकित्स्यते ॥८२॥

वसिष्ठ उवाच

योऽयं संसरणस्वप्नः स किंकारणको भवेत् ।
कार्यान्न कारणं भिन्नमिति दृष्टं विचारय ॥८३॥

श्रीराम उवाच

चित्तं स्वप्नोपलम्भानां हेतुस्तस्मात्तदेव ते ।
विश्वं चाऽऽद्यन्तरहितमनासारमनामयम् ॥८४॥

वसिष्ठ उवाच

एवं चित्तं महाबुद्धे ! महाचिद्घनमेव तत् ।
तथा स्थितं न स्वप्नादि किं च नाऽस्तीतरात्मकम् ॥८५॥

श्रीराम उवाच

अवयवावयविनोर्यथा भिन्नस्तथा स हि ।
तत्राऽनवयवे ब्रह्मण्येकता जगदादिना ॥८६॥

वसिष्ठ उवाच

एवं न संभवत्येव नित्यानुत्पन्नमादितः ।
जगत्तेनाऽजरं शान्तमजं सर्वमवेधितम् ॥८७॥

श्रीराम उवाच

काकतालीयवन्मन्ये सर्गाद्यन्तादयो भ्रमाः ।
भ्रान्तिद्रष्टृत्वभोक्तृत्वसहिताः परमे पदे ॥८८॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! सब कुछ अपूर्व सा भासमान होता है ऐसा ही नियम नहीं है, किन्तु कोइ अर्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ, चित्त में अपूर्व प्रतीत होता है कोई तो जिसका पहले अनुभव हो चुका; अपूर्व प्रतीत नहीं होता और वह अनुभव जिस आकार से सृष्टि के आदि, अन्त और मध्य में अभ्यास होता है उस आकार से भासता है। ब्रह्माकारता के अभ्यास के खूब अभ्यस्त होने पर वैसे ही भासमान होगा ॥८१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! इस प्रकार से आपसे बोधित हुआ मैं जाग्रत् जगत् भी स्वप्न जगत्स्वरूप ही भासमान होता है यह जान गया हूँ स्वप्नवत् ज्ञात हुआ भी यह जगद्रूपी पिशाच क्रूर ग्रह की तरह मुझे दुःख देता है अतः किस तरह उसकी चिकित्सा की जाय अर्थात् निवृत्ति की जाय ? ॥८२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! यह संसाररूपी स्वप्न है इसका क्या कारण है ? कार्य से कारण भिन्न नहीं होता यह बात शतशः देखी गई है, इसी का आप विचार करें ॥८३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—इस प्रकार कारण चित्त ही है, अतएव स्वप्नज्ञान चित्तरूपी हो हैं आद्यन्त विहीन असार विकार विश्व भी चित्त ही है ॥८४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महामते श्रीरामजी ! चेत्य के उन्मुख चित् ही चित्त है यह बात मैं पीछे अनेक बार कह चुका हूं। ऐसी स्थिति में चित्त महाचिद्घन ही है और वही जगत् के आकार की तरह स्थित है यह सिद्ध हुआ। अतएव स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है ॥८५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—ब्रह्मन्, जैसे शाखादि अवयवों और वृक्षरूप अवयवी का तादात्म्यरूप एकता (अभेद) भेदसहिष्णु है वैसे ही चित्त और जगत् का भी तादात्म्यरूप अभेद भेदसहिष्णु हो उस स्थिति में समष्टि चित्तरूप जगत् आदि से अवयव रहित ब्रह्म में एकता हो अर्थात् जब चित् जगत् है और विषयाभिमुख चित् ही चित् है तब जैसा शाखाप्रशाखारूप अवयव और वृक्षरूप अवयवी का भेदसहिष्णु अभेद है इसी प्रकार भेदाभेद से ब्रह्म जगत् स्थित है ऐसा ही क्यों नहीं कहते हैं, स्वप्न आदि कुछ नहीं है यों निषेध क्यों करते हैं ? ॥८६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! ऐसी कल्पना कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि विचार विमर्श किया जाय तो सृष्टि के आरम्भ में जगत् कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, इसलिए समाव हो रहा यह सब प्रपञ्च अजर, शान्त, अजन्मा; अखण्ड परमात्मारूप ही है ॥८७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आप के सदुपदेश से मैं यह मानता हूँ कि भ्रान्ति से द्रष्टृत्व और और भोक्तृत्व आदि सहित सृष्टि के जन्म, नाश आदि भ्रम परम पदरूप ब्रह्म में काकतालीयन्याय से अकस्मात् उदित हुए हैं ॥८८॥

वसिष्ठ उवाच

या व्यापारवती रसाद्रसविदां काचित् कवीनां नवा।
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ॥८९॥
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमखिलं निर्वर्णितं निवृतं।
यावद्दृष्टिदृशो न सन्ति कलिता नो शून्यता नो भ्रमः ॥९०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविश्रान्तिर्नाम नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स, लोक में तीन प्रकार की दृष्टियाँ प्रसिद्ध हैं— (१) पामरदृष्टि, (२) यौक्तिकदृष्टि और (३) तत्त्वदृष्टि। उनमें से प्रथम दृष्टि का दूसरी और तीसरी दो दृष्टियों से खंडन करना चाहिये। इस अभिप्राय से पिछली दो दृष्टियों का अवलम्बन कर मैंने इस समय विश्व का यथार्थरूप से अवलोकन किया है। दो दृष्टियों में सार में से भी निमर्थन करके मुख्य सारभूत पदार्थ का ग्रहण करने में समर्थ तथा प्रमाण और प्रमेय तत्त्व की परीक्षा करने में कुशल विद्वानों की दुरूतर विचार करनेवाली अति निष्कर्षभूत होने से अभिनव जो लोकोत्तर दृष्टि है वह पहली है और अध्यात्मशास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के परिपाक से सिद्ध परमतत्त्वरूप अर्थमात्र का अपरोक्षरूप से जिसमें स्फुरण होता है ऐसी जीवन्मुक्त पुरुषों में पाई जानेवाली दृष्टि दूसरी है। उक्त दो दृष्टियों का अवलम्बन करके इस शास्त्र में मैंने तबतक निरीक्षण किया है तबतक कि सकल दृष्टियाँ: द्रष्टा, जीव तीनों कालों में नहीं रहे, जगत् की शून्यता का भी ग्रहण नहीं हुआ और भ्रम का ज्ञान भी नहीं हुआ एवं जबतक नित्य अपरोक्ष परमानन्दरूप ब्रह्मात्मैक्यवस्तु स्थित नहीं हुई ॥८९-९०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में रामविश्रान्ति नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ नब्बेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९०॥

१९१

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तन्मुनिश्रेष्ठ ! परमार्थमयं जगत्।
सर्वदा सर्वभावात्मा नोदेति न च शाम्यति ॥१॥
भ्रान्तिरेवेयमाभाति जगदाभासरूपिणी।
भ्रान्तिरेवाऽपि वा नैव ब्रह्मसत्तेव केवला ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

काकतालीयवद् ब्रह्म यद् भातीवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि।
स तेनैवाऽऽत्मनाऽऽत्मैव जगदित्यवबुध्यते ॥३॥

श्रीराम उवाच

कथं तपत्यहोऽदिक्कं सर्गस्याऽऽदौ परत्र च।
कथं भित्त्या विना भाति वद दीपप्रभा मुने ! ॥४॥

१९१

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! ऐसी यदि बात है तो परतत्त्व विवर्तभूत यह जगत् सदा सर्वपदार्थात्मा ब्रह्म ही है। यह न कभी उदित होता है और न कभी नष्ट होता है ॥१॥

यौक्तिक दृष्टि से जगदाकार दिखाई देने वाली यह भ्रान्ति विक्षेपशक्ति प्रधान अविद्या ही स्फुरित होती है। तत्त्वदृष्टि से तो वह भ्रान्ति भी नहीं ही है, केवल ब्रह्मसत्ता ही है ॥२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपने ठीक समझा है। काकतालीय के समान अतर्कनीय अविद्या से अपने में अपने से जिस ब्रह्म का भान होता है जीवभूत उसी ब्रह्म से आत्मा ही (स्वरूप ही) 'जगत्' जाना जाता है अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन कर रहे श्रीवसिष्ठ जी वही कहते हैं ॥३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! अविच्छिन्न चित्प्रकाश बिना विभाग के सृष्टि के आदि में, प्रलयकाल में और मोक्ष में कैसे प्रकाशित होता है ? यह महान् आश्चर्य है। आलम्बनरूप दीवार के बिना दीपप्रभा का कैसे भान होता है ? आलम्बन के बिना जैसे प्रभा असंभव है वैसे ही दिग्विभागरूप आलम्बन के बिना परमात्मा असंभाव्य है ॥४॥

वसिष्ठ उवाच

इत्थंरूपमिदं भाति चितिरूपप्रभाप्रभा ।
पश्य सैवाऽऽत्मनाऽऽस्ते यत्प्रकाशादिभिरेव च ॥५॥

भित्तौ प्रकाशो भातीव तत्कुड्यं भासनं च तत् ।
दृश्यस्याऽसंभवादादौ वक्ता द्रष्टा प्रदृश्यताम् ॥६॥

तस्माद्द्रष्टाऽस्ति नो दृश्यं नैवाऽस्तीदमनामयम् ।
चित्प्रभैवाऽऽत्मना भित्तिर्भवत्याभासनं तथा ॥७॥

द्रष्टृदृश्यात्मिकैकैव स्वात्मनैव विराजते ।
स्वप्नादिषु यथेहाऽद्य द्रष्टृदृश्यात्मिका सती ॥८॥

चित्प्रभैव हि सर्गादौ कचन्ती भाति सर्गवत् ।
भासनीयं च भानं च रूपं यत्र स्वयंप्रभा ॥९॥

एकैव चित् त्रयं भूत्वा सर्गादौ भाति सर्गवत् ।
एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा ॥१०॥

एतत्तु स्वप्नसंकल्पननगरेष्वनुभूयते ।
इत्थंनाम तपत्येषा चिद्दीप्तिः प्रथमोदिता ॥११॥

नभस्येव नभोरूपा यदिदं भासते जगत् ।
अनाद्यन्तमिदं तस्याः सर्गाः सर्गात्मभासनम् ॥१२॥

स्वभावभूतमस्माकं त्विदं भाति महात्मनाम् ।
भास्यभासकसंवित्तिर्नश्यति प्रतिभामिता ॥१३॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीरामजी ! यह इस प्रकार का अत्यन्त आश्चर्यरूप ही है, क्योंकि 'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' (सर्वव्यापक चिदानन्दस्वरूप रूपरहित अद्भुत) ऐसी श्रुति है और 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (कोई इसे आश्चर्य सा देखता है) इस प्रकार भगवान् का वाक्य है तथापि असंभावना नहीं करनी चाहिये । अन्वय और व्यतिरेकरूप से परीक्षा कर आप देखे । क्योंकि वही चितिरूप सूर्यादि प्रभा की भी प्रभा अन्धकार काल में अपने से ही प्रथित होती है । सूर्योदय होने के बाद प्रकाश आदि के साथ भी वह रहती है ॥५॥

सूर्यादि का प्रकाश भी भित्ति आदि में निरपेक्ष स्वभाव वाला हो भित्ति में प्रकाशित के समान है । उसकी प्रकाशता में भित्ति का कोई हाथ नहीं है । वरन् भित्ति और भित्ति का भासमान होना उसकी स्वप्रकाशता के बल से ही होता है । प्रकाश की स्वरसता से ही भित्ति प्रतीति होती है । वहाँ पर जैसे भित्ति आदि के सम्बन्ध से पहले आकाश में प्रकाश दिखाई देता है जैसे सृष्टि के आदि में और प्रलय में भी वक्ता श्रोता इस निर्विषय आत्मा को ही आप देखे ॥६॥

न द्रष्टा है और न दृश्य ही है । द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि त्रिपुटी कुछ नहीं है केवल निर्विकार चिदाकाश ही है । चित्प्रभा ही अपने से भित्ति (मूर्त आलम्बन) तथा उसका भासन आदि रूप धारण करती है अर्थात् इस तरह निरालम्ब चित् की संभावना की सिद्धि होने सेव ही सृष्टि के आदि में जगत् के आकार से सम्पन्न हुई यह आप संभावना कीजिये ॥७॥

जाग्रत् में भी एकमात्ररूपा वह चित् द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी को वैसे ही धारण कर विराजमान होती है जैसे एक ही चित्प्रभा स्वप्न आदि में द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप होती है अर्थात् एक रूप ही चित् की द्रष्टा; दृश्य, दर्शनरूप त्रिपुटी स्वप्न आदि में भी प्रसिद्ध ही है ॥८॥

जिस सृष्टिकाल में भासमान होने योग्य पदार्थ, भान तथा भासयित्री (भासिका) स्वयं चित्प्रभा ही है उस सर्गादि में सृष्टि के तुल्य भासमान रहा चित्प्रभा ही है विराजमान है ॥९॥

एक ही चित्प्रभा द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन त्रिपुटीरूप सृष्टि के आदि में सृष्टि के सदृश स्फुरित होती है । यही स्वभाव माया शक्ति है कि यह इस तरह देदीप्यमान रूप में भासमान होती है ॥१०॥

यह बात जाग्रत् में ही नहीं अपितु स्वप्न, संकल्प मनोराज्य और गन्धर्वनगर में भी अनुभव में आती है अर्थात् वहाँ भी एक ही चित् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य होकर स्फुरित होती है । प्रथम उदित हुई यह चित्प्रभा इस प्रकार प्रकासित होती है ॥११॥

अपने चिदाकाशरूप में चिदाकाशस्वरूपा यह इस जगत् के रूप से भासमान होती है । सृष्टिरूप से इसका यह आदि-अन्त शून्य भी सृष्टियाँ हैं ॥१२॥

अज्ञानी लोगों को ही यह सृष्टि आश्चर्य के तुल्य प्रतीत होती है, किन्तु हमारे सदृश ज्ञानियों की दृष्टि में तो यह स्वभावभूत (ब्रह्मरूप) ही है, क्योंकि कदाचित् अकस्मात् इस भास्य-भासक-भानरूप त्रिपुटी के हम लोगों की दृष्टि में प्रतिभात होने पर भी तत्त्वज्ञान के अनुसन्धान से वह शीघ्र ही मिट जाती है अर्थात् अज्ञानियों को ही यह आश्चर्यवत् मालूम होता है हम ज्ञानियों का तो यह स्वभावभूत ही है आश्चर्यवत् नहीं है ॥१३॥

तदा तु नाम सर्गादौ नाऽऽसीद् भास्यो न भासकः।
मिथ्याज्ञानवशादेव स्थाणौ पुंस्प्रत्ययो यथा ॥१४॥

तथाऽऽत्मनि द्वित्वाभानाच्चित्ते द्वैतविभासनम्।
सर्गादौ न च भास्योऽस्ति न च वा नास्ति भासकः॥१५॥

कारणाभावतोऽद्वैतं चिद्व्योमाऽऽभाति केवलम्।
किं नाम कारणं ब्रूहि सर्गादौ चिति वस्तुतः ॥१६॥

अभावादर्थदृष्टीनां चिदेवेत्थं प्रकाशते।
जगद्भानमिदं यत्तन्न जाग्रन्न सुषुप्तकम् ॥१७॥

न स्वप्नोऽसंभवाद् दृश्यं केवलं ब्रह्म भासते।
चिन्मात्रव्योम सर्गादावित्थं कचकचायते ॥१८॥

यत्स्वमेव वपुर्वेत्ति जगदित्यजगन्मयम्।
चिन्मात्रव्योम सर्गादावित्थं भाति विकासनम् ॥१९॥
यदिदं जगदित्येव शून्यत्वाम्बरयोरिव ॥२०॥

बुद्ध्वा च यावत्स्वनुभूतियुक्तं
स्थातव्यमेतेन विकल्पमुक्तम्।
पाषाणमौनं कुजनेन तूक्तं
न ग्राह्यमज्ञेन हि भुक्तमुक्तम् ॥२१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
महावादबोधनं (तत्त्वानुसंधानं) नामैकनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९१॥

उस समय सर्ग के आदि में न दृश्य था, न दर्शक था और न दर्शन ही था। मिथ्याज्ञान के कारण आत्मा में द्वैत का भान होने के कारण चित्त में भेद का वैसे ही भाव होता है सृष्टि के आदि में भास्य आदि नहीं है भासक चिदात्मा तो अवश्य है जैसे स्थाणु में पुरुष प्रतीति होती है। उस समय कारण का अभाव होने से केवल चिदाकाश ही द्वैत के रूप में भासमान होता है। भला बतलाइये तो सृष्टि के आदि में शुद्ध चेतन में वस्तुतः क्या कारण हो सकता है? पदार्थ-दृष्टि के अभाव से चित् ही इस प्रकार जगत् के रूप से प्रकाशित होती है। जो यह जगत् का भान है, यह न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है और न स्वप्न है, किन्तु तुरीय चित् ही वैसे ही प्रकाशित होती है। दृश्य का कथमपि संभव न होने से केवल ब्रह्म ही द्वैत के रूप से भासमान होता है ॥१४-१८॥

चिदाकाशस्वरूप परमात्मा अजगन्मय अपने ही स्वरूप को जगत् जानता है और वह सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार जगत् के रूप से भासमान होता है। यह जगत् परमात्मा ही है। शून्यता और आकाश के भेद विकल्प के विकासन के समान जगत् और परमात्मा का भेद विकल्प विकासन अज्ञान विजृम्भित है ॥१९, २०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी! मेरे द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञानानुसन्धानोपाय से तत्त्व का ज्ञान प्राप्तकर भूमिकाओं के परिपाक के क्रम से यह सुन्दर अनुभव से युक्त हो दृढ़ नहीं होने तक विकल्पमुक्त हो पाषाण की तरह सकल व्यापारों को त्याग कर जीवनयापन करना चाहिए। अनादि संसार में बार-बार भोगे इस काल में वैराग्यातिशय वश त्यागे हुए बाह्य विषय का अज्ञानी कुपुरुष द्वारा इसका भोग करो ऐसा कहने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥२१॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीता में महावादबोधन (तत्त्वानुसंधान) नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ एकानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९१॥

१९२

श्रीराम उवाच

अहो नु सुचिरं कालं संभ्रान्ता वयमन्तरे।
अपरिज्ञातमात्रेण संसारपरमाम्बरे ॥१॥

बुद्धे यावदियं नाम जगद्भ्रान्तिर्न किंचन।
न चाऽभून्न च वा वाऽस्तीयं न च नाम भविष्यति ॥२॥

१९२

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर! महान् आश्चर्य है हम लोग चिरकाल तक संसाररूप निःसीम आकाश में वर्तमान इस ब्रह्माण्ड के एक प्रदेश में एकमात्र आत्मतत्त्व के अपरिज्ञात होने के कारण भ्रान्ति में पड़े हैं ॥१॥

किन्तु आत्मतत्त्व के परिज्ञात होने पर यह सम्पूर्ण जगद्भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। न तो यह कभी हुई, न है और न होगी बृहदारण्यवार्तिक में श्रीसुरेश्वराचार्यजी ने कहा है—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति॥'

अर्थात् 'तत् त्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के उत्पन्न हो जाने से अपने कार्यभूत जगत् के साथ अविद्या (भ्रान्ति) नहीं थी, न है और न भविष्य में रहेगी ॥२॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं विज्ञानं केवलं स्थितम् ।
अनन्तं चिद्घनं व्योम नीरागमपकल्पनम् ॥३॥

परमाकाशमेवेदमपरिज्ञातमात्रकम् ।
संसारतामिवाऽस्माकं गतं चित्रमहो नु भोः ॥४॥

इत्थं द्वैतमिदं भातमिमे लोका इमेऽद्रयः ।
परमाकाशमित्यच्छमेवाऽनच्छमिव स्थितम् ॥५॥

सर्गादौ परलोकादौ स्वप्नादौ कल्पनादिके ।
चिदेव चेत्यवद् भाति कुतोऽन्या किल दृश्यधीः ॥६॥

स्वर्गे वा नरके वाऽपि स्थितोऽस्मीति मतिर्यदि ।
तत्तस्या नरकस्याऽन्तो दृश्यं संविन्मयात्मकम् ॥७॥

नेदं दृश्यं न च द्रष्टा न सर्गो न जगन्न चित् ।
न जाग्रत्स्वप्नसिद्धादि किमपीदं तदप्यसत् ॥८॥

यह सारा जगत् शान्त, आलम्बन रहित, विज्ञानघन, असीम, कल्पना शून्य, नीराग, अद्वितीय, चिद्घनाकाश ही स्थित है ॥३॥

हे गुरुवर ! यथार्थरूप से अपरिज्ञात यह परमाकाश ही हम लोगों की दृष्टि में संसार सदृश बन गया है, यह महान् आश्चर्य है ॥४॥

अत्यन्त सुनिर्मल चिदाकाश का ही ये लोक हैं, ये पर्वत हैं इस प्रकार द्वैतरूप से भान हुआ है। निर्मल परमाकाश ही अनिर्मल सा होकर द्वैतरूप से स्थित है ॥५॥

हे भगवन् ! सृष्टि के आदि में, परलोक आदि में, स्वप्न आदि में, काव्यरचना में तथा मनोराज्य आदि में चित् का ही चेत्य की भाँति भान होता है। अन्य दृश्य का कहाँ से संभव है ? ॥६॥

मैं नरक में स्थित हूँ अथवा स्वर्ग में स्थित हूँ ऐसी यदि पुरुष को भ्रान्ति हो तो उस भ्रान्ति के कारण ही उसको नरकबन्धन अथवा स्वर्गबन्धन प्राप्त होता है, अतः स्वर्ग या नरक रूप दृश्य संविन्मय काल्पनिक है ॥७॥

न यह दृश्य है; न द्रष्टा जीव है, न सृष्टि है, न जगत् है, न चिदाभास है और न जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि ही हैं। जो कुछ भी यह अज्ञानियों का दृग्-विषय अविद्या अथवा अविद्याकार्य है वह भी सब शशशृङ्ग के समान असत् है अर्थात् असीम है ॥८॥

कुतोऽस्याः संभवो भ्रान्तेरिति चेद्दृश्यते मुने ! ।
तदेतदपि नो युक्तं भ्रान्त्यभावानुभूतितः ॥९॥

भ्रान्तिर्न संभवत्येव निर्विकारे ज्ञतापदे ।
यत्त्विदं भ्रान्तिताज्ञानं तत्तदेवेतरन्न तत् ॥१०॥

निरन्तरे निराद्यन्ते व्योम्नि शैलोदरेऽथवा ।
कुतोऽन्यताकल्पकं स्याज्ज्ञपदे चाऽविकारिणि ॥११॥

मिथ्यैवाऽनुभवो भ्रान्तेः स्वप्ने स्वमरणोपमः ।
यदनालोकनं नाम शाम्यतीदं विलोकनात् ॥१२॥

मृगतृष्णाम्बुगन्धर्वनगरद्वीन्दुविभ्रमः ।
तथा विद्याभ्रमश्चाऽयं विचारान्नोपलभ्यते ॥१३॥

बालवेतालवद् भ्रान्तिर्न विद्या जाग्रताऽपि हि ।
अविचारेण संरूढा विचारेणोपशाम्यति ॥१४॥

हे मुनिनायक ! इस भ्रान्ति की कहाँ से उत्पत्ति होती है ऐसी यदि आलोचना की जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति के अभाव का अनुभव होने से अर्थात् भ्रान्ति के असत् होने से उसके कारण का विचार करना कहाँ उचित है ? ॥९॥

विकार विहीन तत्त्वज्ञान के आस्पद में भ्रान्ति का कदापि संभव नहीं है। जो कुछ भी यह भ्रमज्ञान है वह भी चित्स्वरूप परमात्मा ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥१०॥

निरवकाश आदि-अन्त शून्य असीम आकाश में या पर्वत के मध्य में अथवा स्फटिक शिला के गर्भ में और निर्विकार ज्ञानरूप परमपद में भेद की कल्पना करने वाला अन्य कौन हो सकता है ? ॥११॥

हे ब्रह्मन् ! स्वप्न में अपने मरण के अनुभव की तरह भ्रान्ति का अनुभव मिथ्या ही है भ्रमानुभव अविचार-है विचार करने से उसकी शान्ति हो जाती है ॥१२॥

यह सत्य है कि मृगतृष्णा जल, गन्धर्व नगर और द्विचन्द्र का भ्रम विचार करने से प्रतीत नहीं होता यह अविद्याजनित भ्रम भी तत्त्व विचार विमर्श करने से शेष नहीं रहता है ॥१३॥

बालक के वेताल की तरह जागरण काल में प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी यह भ्रान्ति यथार्थ नहीं है। अविचार से बद्धमूल भी यह विचार से शान्त हो जाती है ॥१४॥

कुत आसीदिति मुने ! नाऽत्र प्रश्नो विराजते ।
सत एव विचारेण लाभो भवति नाऽसतः ॥१५॥
प्रामाणिकविचारेण प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
तदेतदसदेवाऽऽदि तत्तदनुभवो भ्रमः ॥१६॥
यन्नास्तीति परिच्छिन्नं प्रमाणैः सुविचारितम् ।
खपुष्पशशशृङ्गाभं तत्कथं लभ्यतेऽसतः ॥१७॥
सर्वतः प्रेक्ष्यमाणोऽपि यः कुतश्चिन्न लभ्यते ।
तस्य स्यात्कीदृशी सत्ता वन्ध्यातनयरूपिणः ॥१८॥
भ्रान्तिर्न संभवत्येव तस्मात्काचित्कदाचन ।
निरावरणविज्ञानघनमेवेदमाततम् ॥१९॥

यत्किंचिज्जगदद्याऽत्र भातीदं परमेव तत् ।
परं परे परापूर्णे पूर्णमेवाऽतिष्ठते ॥२०॥

न भातं न च नाऽभातमिह किंचित्कदाचन ।
इदमित्थं स्थितं स्वच्छं शान्तमेव जगद्वपुः ॥२१॥

अजममरमहार्यमार्यजुष्टं
परमविकारि निरामयं समन्तात् ।
पदमहमुदितं ततं हि शुद्धं
निरहमनेकमथाऽद्वयं विकासि ॥२२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे विश्रान्त्युपगमवर्णनं नाम द्विनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९२॥

हे मुनिवर ! यह भ्रान्ति किस कारण से थी यह प्रश्न भी इसके विषय में शोभा नहीं देता । विचार के लिए ही प्रश्न है वह इस विषय में सफल नहीं है, क्योंकि विचार से सत् का ही लाभ होता है असत् का नहीं होता । भ्रान्तिमूल अज्ञान असत् है उसका निर्णय ही नहीं हो सकता, यह भाव है ॥१५॥

प्रामाणिक विचार से निरीक्षण करने पर जिसकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा यह जगत् का मूलभूत अज्ञान असत् ही है । इसी कारण उसका अनुभव भ्रम है अर्थात् अज्ञान की असत्ता प्रमाणपूर्वक विचार से अलभ्य होने के कारण ही है ॥१६॥

श्रुति आदि प्रामाणिक विचारों से सुविचारित होने पर भी परिच्छिन्नरूप से प्राप्त नहीं आकाश पुष्प, शशशृङ्गवत् असत् के समान है ॥१७॥

चारों ओर से विचारपूर्वक देखने पर भी जो कहीं से भी नहीं प्राप्त होता वन्ध्या के पुत्र के तुल्य उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? ॥१८॥

इसलिए कदापि किसी प्रकार भी भ्रान्ति संभव नहीं ही है । यह निरावरण विज्ञानघन ही सर्वतः व्याप्त है ॥१९॥

जगत्-नाम-धारी यह जो कुछ भी भासमान होता है। वह परम ब्रह्म ही है । निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण परम ब्रह्मस्वरूप में वह पूर्ण परम ब्रह्म ही अपनी महिमा में स्थित है ॥२०॥

इस जगत् में कभी कुछ भी न भासमान है और न अभासमान है यह सुनिर्मल शान्त ब्रह्म ही इस प्रकार जगत् के रूप में स्थित है ॥२१॥

जन्म रहित, मरणशून्य, अन्य लोगों द्वारा हरने के अयोग्य, विद्वान् पुरुषों द्वारा सेवित, अविकारी, निर्दोष, चारों ओर से परिपूर्ण, 'अहम्' ही निरहङ्कार बोध से उदित, सर्वत्र व्याप्त, शुद्ध आवरण-परिच्छेद का नाश होने से विकास युक्त, अनेक और अद्वितीय रूप से परम-पद स्थित रहता है ॥२२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में विश्रान्त्युपगमवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ बावनबेवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१९२॥

१९३

श्रीराम उवाच

अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ।
यत्पदं तदिदं भाति क्व जगत्क्व च दृश्यता ॥१॥

द्वैताद्वैतसमुद्भेदवाक्यसंदेहविभ्रमैः ।
अलमस्माकमाशान्तमाद्यं रूपमनामयम् ॥२॥

१९३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आदि और अन्त रहित जिस परमपद रूप ब्रह्म को न तो कर्म की उपासना से सिद्धि प्राप्त देवता लोग जानते हैं और न तपोयोग से सिद्ध ऋषि लोग जानते हैं अथवा यहाँ पर चक्षु आदि बाहरी और आभ्यन्तर इन्द्रियाँ करण ही देवता और ऋषि कहे गये हैं । ते ह देवा उद्गीथमाजह्रुः । इत्यादि श्रुति ... वही जगत् के रूप में स्फुरित है, कहाँ जगत् है और कहाँ दृश्यता है ॥१॥

द्वैत और अद्वैत का अनुसन्धान करने पर मन में उदित हुआ जो द्वैत और अद्वैत का समुन्मेष है उससे जनित वाक्य व्यवहारों, सन्देहों और विभ्रमों से हमको लाभ कोई नहीं है । सबसे पहले 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो निर्मल परब्रह्म है, उसी का यह सब कुछ भाव है ॥२॥

व्योमनि व्योमभावानां प्रशान्तं यादृगासितम् ।
तादृक्चिद्व्योमनि स्फारत्रिजगद्व्योमभासनम् ॥३॥

यथा व्योमनि व्योमत्वं दृषत्त्वं दृषदि स्थितम् ।
जलत्वं च जलस्याऽन्तर्जगत्त्वं चिद्घने तथा ॥४॥

साऽहन्तादिजगद्दृश्यमाशाकाशविसार्यपि ।
महाचिदुदरं विद्धि खं शान्तं शून्यतोदितम् ॥५॥

जीवस्याऽस्मिन्विमूढस्य परेऽपरिमितोदये ।
प्रस्फुरंश्चाऽपि संसारपिशाच उपशाम्यति ॥६॥

भेदोपलब्धिर्गलति व्यवहारवतोऽप्यलम् ।
जडस्येवाऽजडस्यैव वीचेरिव जलोदरे ॥७॥

क्वाऽप्यज्ञानरवौ याते प्रतापाद्याकरे भृशम् ।
संसारसत्तादिवसो यात्यस्तं स निशागमः ॥८॥

भावाभावेषु कार्येषु जरामरणजन्मसु ।
ज्ञ आजवं जवीभावे तिष्ठन्नपि न तिष्ठति ॥९॥

नाऽविद्याऽस्तीह न भ्रान्तिर्न दुःखं न सुखोदयः ।
विद्याऽविद्या सुखं दुःखमिति ब्रह्मैव निर्मलम् ॥१०॥

परिज्ञातं सदेतत्तु यावद् ब्रह्मैव निर्मलम् ।
अपरिज्ञातमस्माकमब्रह्मात्म न विद्यते ॥११॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रशान्ता मे सर्वा एव कुदृष्टयः ।
शान्तं समं सोऽहमिदं खं पश्यामि जगत्त्रयम् ॥१२॥

सम्यग्ज्ञातं यावदिदं जगद् ब्रह्मैव केवलम् ।
अज्ञातात्माऽभवद् ब्रह्म ज्ञातात्मन्यधुना स्थितम् ॥१३॥

ज्ञाताज्ञातमनिर्भासं ब्रह्मैकमजरं तथा ।
शून्यत्वैकत्वनीलत्वरूपमेकं नभो यथा ॥१४॥

चिदाकाश में त्रिजगत्‌रूप आकाश की वैसे ही अभेद से स्थिति है जैसे आकाश में केशोण्ड्रक, मोती की माला, गन्धर्व नगर आदि की अभेद से स्थिति है ॥३॥

आकाश में आकाशत्व अभेद से सामान्यरूप से और आकाशरूप से जिस प्रकार स्थित है, जैसे पाषाण में पाषाणत्व, जल में जलत्व अभेद से स्थित है चिद्घन ब्रह्म में जगत् वैसे ही अभेद से ब्रह्मरूप से स्थित है ॥४॥

हे भगवन् ! दिशाओं में और आकाश में असंख्य-रूप से विस्तृत भी अहङ्कारादिसहित त्रिलोकीरूप दृश्य को आप शान्त आकाशरूप शून्यता से उदित महाचेतन का उदर ही समझें ॥५॥

अपरिच्छिन्न उदयवाले अर्थात् सर्वव्यापी इस परम ब्रह्म का शास्त्राभ्यास तथा गुरुकृपा से साक्षात्कार होनेपर अज्ञ जीव की दृष्टि में देदीप्यमान भी यह संसाररूपी पिशाच शान्त हो जाता है ॥६॥

जैसे कि जल के अन्दर तरङ्ग नष्ट हो जाती है वैसे ही मूर्ख की तरह सांसारिक व्यवहार में अत्यन्त लिप्त भी ज्ञानी पुरुष की भेदबुद्धि द्वैतबुद्धि अवश्य विनष्ट हो जाती है ॥७॥

आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध संतापों के आकार स्वरूप अज्ञानरूपी सूर्य जब सर्वदा के लिए कहीं विदा हो जाता है तब संसाररूपी दिन सर्वथा अदृष्ट हो जाता है अर्थात् लुप्त हो जाता है वह मोक्षसुख में विश्रामहेतु रात्रि का आगमन है ॥८॥

उत्पत्ति और विनाशयुक्त कार्यों में जरा, जन्म, मरण आदि में तथा व्यवहारविक्षेपों में वेग से स्थित भी ज्ञानी पुरुष उनमें स्थित नहीं रहता ॥९॥

यहाँ वास्तव में न अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखोदय है। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है ॥१०॥

यथार्थरूप से परिज्ञात यह सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। हम तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में अपरिज्ञात ब्रह्मभिन्न कुछ नहीं है अर्थात् सब कुछ परिज्ञात ब्रह्मरूप ही है ॥११॥

हे गुरुवर ! आप की कृपा से मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मेरी सकल कुदृष्टियाँ शान्त हो गई हैं। इस प्रकार ज्ञानवान् मैं त्रैलोक्य को शान्त सकलद्वैतवैषम्य-शून्य चिदाकाशरूप देखता हूँ ॥१२॥

सम्यक् परिज्ञात यह सारा जगत् केवल ब्रह्म ही है। न मैं पहले कोई दूसरा था और न इस समय कोई दूसरा हूँ पहले मैं अपने रूप को नहीं जाननेवाला ब्रह्म था इस समय ज्ञात आत्मा में ब्रह्म ही स्थित है ॥१३॥

एक अजर अमर ब्रह्म अपने से अतिरिक्त वैसे ही ज्ञान अज्ञाननिर्भास से शून्य है जैसे शून्यत्व, एकत्व तथा नीलता में आकाश एकमात्र है ॥१४॥

निर्वाणमासे गतशङ्कमासे
निरीहमासे सुसुखेऽहमासे ।
यथास्थितं नित्यमनन्तमासे
तदेवमासे न कथं समासे ॥१५॥
सर्वं सदैवाऽहमनन्तमेकं
न किंचिदेवाऽप्यथवाऽतिशान्तः ।
सर्वं न किंचिच्च सदेकमस्मि
न चाऽस्मि चेतीयमहो नु शान्तिः ॥१६॥
अधिगतमधिगम्यं प्राप्तमप्राप्तमन्यै-
र्गतमिदमलमस्तं वस्तुजातं समस्तम् ।
उदितमुदितबोधं तादृशं यत्र भूयोऽ-
स्तमयसमुदयानां नाम नामाऽपि नास्ति॥१७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तिकथनं नाम त्रिनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९३॥

ज्ञान होने के कारण मैं निर्वाणरूप हो स्थित हूँ, अज्ञान की निवृत्ति से ही सकल शङ्काओं की निवृत्ति होने के कारण निःशङ्क होकर स्थित हूँ, सभी अभिलाषाओं की निवृत्ति से मैं निरभिलाष अनासक्त होकर स्थित हूँ, विक्षेपशून्य आत्मसुख में ही धारा प्रवाह से चित्तवृत्ति मैं स्थित हूँ। यथास्थित स्वरूप होकर निश्य मैं अनेक रूप से स्थित हूँ। इस प्रकार प्रबुद्ध मैं समस्तात्मरूप ब्रह्म में क्यों नहीं स्थित हूँ, क्योंकि ब्रह्मभाव से प्रच्युति के हेतुभूत मेरे अज्ञान का बाध हो चुका है ॥१५॥

हे भगवन् ! सदा ही सब कुछ एक अनन्त मैं ही हूँ अथवा सब कुछ और कुछ भी नहीं तथा सकल उपद्रवों से रहित एक होकर मैं ही हूँ अथवा देश, काल रूप आधार की अप्रसिद्धिवश मैं कहीं पर नहीं हूँ इस प्रकार की यह निर्वाण नाम की सकल शान्ति अत्याश्चर्य रूप है ॥१६॥

हे गुरुवर ! जानने योग्य परमपुरुषार्थरूप वस्तु को मैं जान चुका हूँ; अज्ञानी पुरुषों को दुष्प्राप्य मोक्षसुख मुझे मिल गया है; संसारानर्थरूप वस्तु राशियाँ सबकी सब चली गई हैं। चरम साक्षात्कार से उदित बोधरूप वह निज स्वरूप मेरा उदित हो गया है जिस स्वरूप में फिर मृत्यु, तिरोधान; दुःख आदि अनर्थों का नाम-निशान तक नहीं रहता है ॥१७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में विश्रान्तिकथन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९३॥

१९४

श्रीराम उवाच

सर्वात्मसर्वभावेषु येन येन यदा यदा ।
यथा भाति स्वयं बोधस्तथाऽनुभवति स्वयम् ॥१॥
स्वभाव एव तिष्ठन्ति सर्गाः संमिलिता अपि ।
अत्राऽपि स्वीकृता एव नानारत्नांशवो यथा ॥२॥

१९४

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! सब जीवों की सब मनोवृत्तियों में जब जिस भोग के लिए जिस प्रकार स्वप्रकाश चिदात्मा का भान होता है अर्थात् विवर्त होता है उस प्रकार स्वयं ही भोक्ता नाना जीवों के रूप से अनुभव करता है अर्थात् द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटी बनकर अपनी माया से उस रूप में विवर्तित होता है ॥१॥

एकमात्र निरवयव परम सूक्ष्म ब्रह्म में सब जीवों से एक ही समय में अभ्यास के कारण प्राप्त अनन्त सृष्टियाँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड, भुवन आदि भेद से विस्तीर्ण स्वभाव में ही परस्पर असंलग्न होकर रहती हैं, क्योंकि वे जीव-सृष्टियाँ इस प्रकार के निरवयव ब्रह्म में तादात्म्याध्यास से आत्मीकृत हैं अर्थात् परम सूक्ष्म रूप से अपने स्वरूप में किसी को अनवकाशता अथवा अवरोध नहीं है। ब्रह्म में जीव सृष्टियाँ भी वैसे ही अलग-अलग स्थित हैं जैसे सूक्ष्मतम विभिन्न रत्नों की किरणें एक घर में मिलकर भी अलग-अलग रहती हैं ॥२॥

अत्र दृष्टमदृष्टं च मिथो विशति गच्छति ।
जगद्रश्मिघनं रत्नं नानारत्नघनं यथा ॥३॥
दीपानामिव सर्गाणां बहूनां ज्वलतां परम् ।
केषांचिदस्त्यनुभवो मिथः केषांचिदेव नो ॥४॥
अप्स्वब्धिवद्रसोऽम्भोघावावर्तरसणावनौ ।
सर्गेऽस्ति प्रत्यणु तस्मिन्नाऽपि सर्गास्तथा क्रमः ॥५॥
सर्वत्र सर्वतो नित्यं चिद्घनस्याऽम्बुवेदनम् ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते सर्गाधारपरम्पराः ॥६॥
यथाऽवयविता भिन्ना नैवाऽवयविनः क्वचित् ।
शब्दभेदादृते भिन्ना न तथा सर्गता परे ॥७॥

दृष्ट समीपवर्ती प्रत्यक्ष देश और काल के व्यवधान से परोक्ष जगद्रूपी रश्मियाँ इस परमात्मा में परस्पर पृथक्-पृथक् रूप में जैसे एक घर में नाना रत्नों की रश्मियाँ वैसे ही प्रवेश करती हैं, संचार करती हैं ॥३॥

उनमें जिन जीवों का समान कर्मवासनानिमित्त अभ्यास होता है उनको आपस में एक दूसरे का अनुभव होता है उनसे अतिरिक्तों का नहीं होता है ।

हे भगवन् ! देदीप्यमान हो रहे बहुत से सर्गों का समान कर्मवासनाजनित अभ्यासवाले कतिपय लोगों को परस्पर अनुभव होता होता है उनसे अतिरिक्तों को नहीं ही होता है जैसे जल रहे बहुत से दीपकों का नेत्रवान् लोगों को अनुभव होता है नेत्रहीन लोगों को नहीं होता है ॥४॥

उस सृष्टि में भी जर्रे-जर्रे में वैसे ही ब्रह्माण्ड है तथा उन ब्रह्माण्डों में प्रत्येक अणु में सृष्टियाँ हैं । जैसे भँवरों के क्रीडास्थलभूत सागर में प्रत्येक जलीय भाग में लवण आदि रस जैसे रहता है ॥५॥

समुद्र में जलपरमाणु के रस के समान सर्वत्र सर्वतः व्याप्त चिद्घन परमात्मा का नित्य आत्मवेदन सृष्टि के आधारपरम्परारूप गणना कौन कर सकता है ? ॥६॥

परमब्रह्म परमात्मा में सृष्टि शब्दभेद के सिवा वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे कहीं पर भी अवयविता से शब्द-भेद से अतिरिक्त भिन्न नहीं है ॥७॥

वास्तव में एक रूप अद्वितीय माया से अनन्त रूप-वाले परमात्मा की जगदधिष्ठानस्वभावता कारण का अभाव होने से न उदित होती है और न अस्त होती है ॥८॥

एकस्याऽनन्तरूपस्य कारणाभावतः स्वयम् ।
नोदेति न च यात्यस्तं जगदादिस्वभावता ॥८॥
तपन्ती ज्ञप्तिरेवेयमखण्डज्ञेयतामिमाम् ।
करोत्यकर्तृरूपैव समालोकमिवाऽर्कभाः ॥९॥
वैतृष्ण्यात्सर्वभावानां समाप्त्यैवाऽक्षयं स्वयम् ।
संपद्यते समाधानं यत्तन्निर्वाणमुच्यते ॥१०॥
न बुद्ध्या बुद्ध्यते बोधो बोधाबुद्ध्येनं बोध्यते ।
न बुद्ध्यते वा तेनाऽपि बोध्यो बोधः कथं भवेत् ॥११॥

अकर्तृरूपा यह ज्ञप्ति ही इस सम्पूर्ण ज्ञेय घट, पट आदि पदार्थों का वैसे ही निर्माण करती है जैसे स्फुरित हो रही सूर्य की दीप्ति घट, पट आदि का प्रकाश करती है ॥९॥

तत्त्वज्ञान के कारण बाध होने से सकल पदार्थों की निवृत्ति होने से ही स्वयं अक्षयस्वरूप विनाशी देहादि के तादात्म्याभ्यास से उन्मुक्त होता है । इस प्रकार का वह स्वरूप ही सकल विक्षेपों के विनाश से समाधान और सुख रूप होने से निर्वाण कहलाता है ॥१०॥

परमपुरुषार्थरूप बोध परमात्मबुद्धि से अर्थात् चरम साक्षात्कार वृत्ति से ज्ञात नहीं होता है, क्योंकि जड़ बुद्धि में बोधशक्ति नहीं है और बोधबुद्धि का विषय नहीं हो सकता । इस आशङ्का का यह उत्तर है अभ्यास परम्पराओं की समाप्ति से ही स्वयं अपना परमपुरुषार्थ अवशिष्ट रहता है, यह कैसे संभव है ? क्योंकि बुद्धि से जिसका अनुभव हो रहा हो वही पुरुषार्थ है । बुद्धि से जो अननुभूयमान है उसमें पुरुषार्थता नहीं देखी जाती है । इसलिए पुरुषार्थता की प्रयोजिका चरमसाक्षात्कार-वृत्ति मुक्ति में परमावश्यक है, इसलिए सर्व पदार्थों की निवृत्ति मुक्ति है यह मानना ठीक नहीं है ।

[शङ्का—तब बोधशक्तिमान् परमात्मा का जैसे सोये हुए राजा का बन्दियों द्वारा बोध कराया जाता है वैसे ही बुद्धि द्वारा बोध कराया जाय ।

समाधन—नहीं, बुद्धि द्वारा आत्मा का बोधन नहीं होता, क्योंकि जैसे राजा को सोया हुआ जानकर उसके बोधन के लिए बन्दीजन प्रवृत्त होते हैं वैसे बुद्धि को सोये हुए बोध का परिज्ञान ही नहीं होता ऐसी परिस्थिति में उसके बोधन के लिए वह कैसे प्रवृत्त होगी ?

शङ्का—तब बोध ही बोध को जाने ।

समा०—बोध भी बोध को नहीं जान पाता, क्योंकि बोध स्वयं बोध्य (बोध-कर्म) कैसे हो सकता है । क्रिया से जन्य अतिशय का आधार कर्म है बोध में न तो क्रिया जन्य अतिशय की आधारता का ही संभव है । बोध निष्क्रिय, निर्विकार है] ॥११॥

प्रबुद्ध एव सुप्ताभः स्वयं बोधो विबुध्यते।
देशकालाद्यभावेऽपि मध्याह्नेऽर्कातपो यथा ॥१२॥

सर्वकर्मवितृष्णानां शान्तेच्छानां प्रबोधतः।
सतामनिच्छतामेव निर्वाणं संप्रवर्तते ॥१३॥

प्रबुद्धबोधो ध्यानस्थः स्वभावे केवले स्थितः।
न किंचिदपि गृह्णाति न किंचिदपि चोज्झति ॥१४॥

यो यथास्थित एवाऽऽस्ते पश्यन्दीप इवाऽक्रियः।
अमनोमानमननो मनोमननवानपि ॥१५॥

व्युत्थाने विश्वरूपाख्यमन्यत्र ब्रह्मसंज्ञितम्।
सर्गासर्गात्म चिन्मात्रं सत्यं सर्वत्र भासते ॥१६॥

अभिन्नबोधसद्रूपस्वरूपानुभवे स्थितः।
व्युत्थितः संनिरुद्धश्च यः पश्यति स काम्यति ॥१७॥

जगत्पदार्थसार्थानां बोधमात्रैकनिष्ठताम्।
विना नास्त्यपरा सत्ता व्योम्नः शून्येतरा यथा ॥१८॥

शिष्यते स्फीतबोधानां केवलाऽनन्तबोधता।
साऽपि स्वपरिणामेन परेणाऽऽयात्यवाच्यताम् ॥१९॥

तद्विश्रान्तौ परा सत्ता शिष्यते वा न शिष्यते।
या काऽप्यत्यन्तशान्तानां न वाग्गोचरमेति सा ॥२०॥

या समस्य परा काष्ठा सैव बोधस्य सन्मयी।
सर्गस्तन्मय एवाऽतः सकलं शान्तमव्ययम् ॥२१॥

प्रबुद्ध ही बोध देश, काल आदि का अभाव होने पर भी अभ्यासवश सुप्त के तुल्य वैसे ही प्रतीत होता है। जैसे प्रातःकाल में कुहरे के आगमन से सोया हुआ-सा प्रतीत होने वाला सूर्य और सूर्यातप मध्याह्न में कुहरे के विश्लेष होने पर प्रबुद्ध हो जाता है। अभ्यास के हट जाने से स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है। इसलिए अभ्यास परम्परा चरम साक्षात्कार बुद्धिपर्यन्त की परिणाम परम्परा से अपने आप ही समाप्त हो जाती है। उसके समाप्त होने पर स्वप्रकाश होने के कारण प्रबुद्ध ही आत्मा कुहरे के आगमन से सोये हुए से मध्याह्न में कुहरे के बिलकुल हट जाने पर सूर्य के समान और सूर्य के आतप के समान प्रबुद्ध होता हैं। वही जीव का नित्य प्राप्त निरतिशय आनन्दाभिव्यक्तिरूप परम पुरुषार्थ है ॥१२॥

बोध होने के कारण ऐहिक और पारलौकिक कर्म-फलों में तृष्णा न रखने वाले, प्रशान्त इच्छा वाले सज्जन पुरुषों को इच्छा न करने पर भी निर्वाण मोक्ष अपने आप प्राप्त है ॥१३॥

जिसका चिदात्मा मोहरूप निद्रा से जाग चुका है तथा जिसकी बाह्य वृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी हैं इस तरह का महात्मा पुरुष केवल अपने चित् स्वभाव में स्थित होकर न तो कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है ॥१४॥

व्युत्थान के समय मन के मनन से युक्त भी अर्थात् लोक-व्यवहार में तत्पर भी ज्ञानी पुरुष विषयों में आसक्ति न होने से मन के मनन से रहित है अतएव दीपक के तुल्य प्रकाश करता हुआ भी निष्क्रिय वह यथास्थित स्वरूप ही रहता है ॥१५॥

उस योगी को व्युत्थान काल में विश्वरूप नामक और समाधि काल में ब्रह्म नामक सृष्टि-असृष्टिरूप चिन्मात्र सर्वत्र भासमान है ॥१६॥

जिस योगी ने समाधि से व्युत्थित तथा समाधिस्थ होकर अभिन्नबोधरूप सद्रूपस्वरूपानुभव में ही स्थित हो व्युत्थान और समाधि को उदासीन वृत्ति से देखा है अर्थात् किसी एक में विशेष आसक्ति नहीं रखता, वही संसाररूपी विक्षेप से शान्ति प्राप्त करता है, अन्य पुरुष नहीं ॥१७॥

जगत् के समस्त पदार्थों की केवल बोधमात्र यथार्थ-रूपता के बिना वैसे ही अन्य वस्तु के स्थिति नहीं है। जैसे आकाश की शून्य से अतिरिक्त दूसरी वास्तविकता नहीं हैं इस प्रकार का जिसमें बोध होता है इस प्रकार की उस योगी की सद् स्वरूपानुभव में स्थिति है ॥१८॥

पूर्णरूप से प्रबुद्ध अपरिच्छिन्न ब्रह्मावगाहन में प्रसृत होने वाले बोध से पूर्ण महात्माओं की वह केवल प्रत्यगात्मरूप बोधता भी अपने ब्रह्म सन्मात्र परिशेषरूप अखण्डाकार वाक्यार्थलक्षण दूसरे परिणाम से अण्डार्थक लक्ष्यता को प्राप्त करती है। अर्थात् अन्य सत्ता क्यों नहीं है ऐसा यदि कहो तो तत्त्वसाक्षात्कार से जगद्रूपका बाध होने पर चिन्मात्रसत्ता का ही परिशेष रहता है ॥१९॥

अखण्डार्थक वाक्यलक्ष्यता की विश्रान्ति होने पर अर्थात् अण्डार्थक वाक्यलक्ष्यत्वेन स्थिति होने पर अत्यन्त शान्त योगियों जो अवर्णनीय परासत्ता है वह शेष रहती है अथवा नहीं भी रहती है। दोनों ही प्रकारों में वाणियों की भी गोचर वह दशा नहीं होती है ॥२०॥

जो सत्तासामान्य की परम अवधि शोधित तत्पदार्थ-स्वरूपा है वही बोध की भी शोधित त्वम्पदार्थस्वरूप परम अवधि है। आकाश आदिरूप तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप सृष्टि सत्ताबोधमय ही है, इसलिए सब कुछ शान्त अविनाशी ही है ॥२१॥

निर्वाणाय वितृष्णाय स्वच्छशीतलसंविदे ।
स्पृहयन्ति सदा सत्तां ब्रह्मविष्णुहरा अपि ॥२२॥
सर्वार्थात्मैव सर्वत्र सर्वता सर्वथोदितम् ।
चेतनं शुद्धमेवाऽस्ति नाशो नाऽस्योपपद्यते ॥२३॥
अत्यन्ततप्तः संसारो निर्वाणमतिशीतलम् ।
अतिशीतलमेवाऽस्ति तप्तस्त्वेव न विद्यते ॥२४॥
संचेतन्ति शिलान्तस्था यथाऽलं शालभञ्जिकाः ।
अनुत्कीर्णास्तथा ब्रह्म चेततीदमखण्डितम् ॥२५॥
यथा चेतति सौम्याम्बुकोशस्थं वीचिमण्डलम् ।
तथा चेतति कोशस्थं महाचिच्चेत्यमव्ययम् ॥२६॥
अविभक्तो विभागस्थैरिव शान्तैरनन्तकैः ।
परमार्थस्वराभोगैस्त्वबोधात्मत्वमन्थरैः ॥२७॥

निर्वाण के लिए, वैतृष्ण्य के लिए तथा निर्मल शीतल बोध के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा प्राणी भी मैं सदा ही रहूँ कदापि मेरा अभाव न हो इस प्रकार सदा उस सत्ता की स्पृहा करते हैं ॥२२॥

सब लोगों का सार्वकालिक स्पृहास्पद वस्तुभूत सकल प्रदेश में, सकल काल में सकल वस्तु रूप से उदित चेतन स्वतः स्फुरित रूपवाला शुद्ध ही है उसका विनाश क्षणभर के लिए भी नहीं हो सकता है ॥२३॥

संसार निरतिशय दुःख स्वरूप है और निर्वाण आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप है। अतिशीतल निर्वाण का ही अस्तित्व है। वस्तुतः निरतिशय दुःखरूप संसार नहीं ही है ॥२४॥

भावोपहित अखंडित अविच्छिन्न ही ब्रह्म जगत् के रूप में वैसे ही स्फुरित होता है जैसे शिल्पी की बुद्धि में न गढ़ी हुई शिला के भीतर स्थित प्रतिमाएँ यथेष्ट रूप स्फुरित होती हैं ॥२५॥

महाचित् स्वयं अन्नमयादिकोश में स्थित तथा ब्रह्माण्डकोश में स्थित चेत्य वैसे ही स्फुरित होती है जैसे जलाशय में स्थित लहरियाँ स्फुरित होती हैं ॥२६॥

अज्ञानावृत आत्मा के रूप से जड़ तुल्य परमार्थाकाश के अर्थात् सन्मात्र के कृत्रिमवेष से युक्त अद्वितीय आत्मा की विभक्त रूपता ऐसे शान्त अनन्त जिन-जिन जीवों ने जैसा भीतर भावना की और जैसा संकल्प किया उन-उन

यैर्यैर्यथा स्व आत्माऽन्तर्भावितश्चेतितश्चिरम् ।
भोगमोक्षप्रभेदेषु तेषां तेषां तथोदितः ॥२८॥
मृते वाऽप्यमृते बन्धौ स्वप्ने स्वप्नविबोधिनः ।
न यथोदेति सत्याख्या तथा दृश्येषु तद्विदः ॥२९॥
यदिदं किल दृश्यादि तच्छान्तमखिलं शिवम् ।
भाविते ऽवगतेऽप्यन्तरिति भ्रान्तेः क उद्भवः ॥३०॥
सर्वथा देहसंस्थेषु वैतृष्ण्यमुपजायते ।
सम्यग्बोधे सति स्वप्न इवाऽपि स्वार्थकादिषु ॥३१॥
वैतृष्ण्याद्वर्धते बोधो बोधाद्वैतृष्ण्यवर्धनम् ।
परस्परेण प्रकटे एते कुड्यप्रकाशवत् ॥३२॥
येन बोधेन वैतृष्ण्यं धनदारसुतादि वा ।
स्वनूनमपि संपन्नं जाड्यं तत्संस्थितं तथा ॥३३॥

जीवों के भोग और मोक्ष के भेदों में वह वैसे ही उदित हुआ है ॥२७, २८॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष की सकल दृश्य पदार्थों में वैसे ही सत्यता बुद्धि उदित नहीं होती है जैसे स्वप्न में अपने बन्धुबान्धव के मरने अथवा जीने पर भी स्वप्न से जागे हुए पुरुष की स्वप्न में सत्यता बुद्धि उदित नहीं होती अतएव उससे उनके लाभ और नाश से हर्ष और शोक की प्राप्ति नहीं होती है ॥२९॥

जो दृश्य, द्रष्टा और दर्शन यह त्रिपुटीरूप है वह सबका सब शान्त शिव सन्मात्र ही है इस प्रकार भीतर भावना करने और भलीभाँति ज्ञात होने पर फिर भ्रान्ति का उद्भव कैसा ? अर्थात् भ्रम का उद्भव नहीं होता है ॥३०॥

हे भगवन् ! जैसे कि यह स्वप्न है यह जानने पर स्वप्न के पदार्थों में विरक्ति होती है सम्यग् ज्ञान वैसे ही होने पर देह से सम्बन्ध रखने वाले भोग और भोगों के उपायों में ही अवितृष्णा (विरक्ति) हो जाती है ॥३१॥

वैराग्य से बोध की अभिवृद्धि होती है और बोध से वैतृष्ण्य की वृद्धि होती है। बोध और अवैतृष्ण्य ये दोनों भय और प्रकाश के समान एक दूसरे से प्रगट होते हैं ॥३२॥

जिस कारण वैतृष्ण्य वैराग्य अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि तत्त्वाभिनिवेशरूप बोध से ही पूर्णरूप से सम्पन्न है उसका वैतृष्ण्य का विरोधी अथवा उसका धन दारादि का अनुकूल जाड्य भी अभिनिवेश के अनुसार ही स्थित है ॥३३॥

एतावदेव बोधस्य बोधत्वं यद्वितृष्णता ।
पाण्डित्यं नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ॥३४॥
न तु वैतृष्ण्यबोधाढ्यौ न परस्परवर्धितौ ।
असत्यावेव तौ नाम नष्टौ चित्रहुताशवत् ॥३५॥
परमा बोधवैतृष्ण्यसंपत्तिर्मोक्ष उच्यते ।
तत्राऽनन्ते पदे शान्ते वसता च न शोच्यते ॥३६॥
गतं गम्यं कृतं कार्यं दृष्टं दृश्यमशेषतः ।
यावत्सर्वं शिवं शान्तमेकमाद्यमनामयम् ॥३७॥
आत्मारामस्य शान्तस्य वैतृष्ण्यस्याऽनहंकृतेः ।
असंकल्पैव भवति स्थितिः खस्येव निर्मला ॥३८॥
सहस्रेभ्यः सहस्रेभ्यः कश्चिदुत्थाय वीर्यवान् ।
भिनत्ति वासनाजालं पञ्जरं केसरी यथा ॥३९॥
प्राप्तज्योतिर्बोधशुद्धिः परमन्तःप्रकाशवान् ।
नीहारः शरदीवाऽऽशु स्वयमेवोपशाम्यति ॥४०॥
ज्ञातज्ञेयस्त्वसंकल्पः संकल्पातिशयाशयः ।
अवासनो व्यवहृतौ वातवत्स्पन्दते न वा ॥४१॥
आसीद्धीरान्तःसंस्कारैर्भ्रान्तिमात्रैकनिश्चयात् ।
यः सर्वत्र खवद्भावस्तदवासनमासितम् ॥४२॥
निर्वासने भाव उदारसत्त्वे
ब्रह्माऽखिलं दृश्यमिति प्रबुद्धे ।
स्थिरैकनिर्वाणमतावनन्तो
मोक्षाभिधानः प्रशमोऽभ्युदेति ॥४३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे रामविश्रान्त्युपगमो नाम चतुर्नवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९४॥

वितृष्णा होना ही बोध की बोधता अर्थात् सार्थकता है। वह पाण्डित्य केवल मूर्खता ही है जिसमें वितृष्णता नहीं है ॥३४॥

वैतृष्ण्य और बोध पूर्ण होने पर भी परस्पर से वर्धित न हों तो असत्य ही हैं चित्रलिखित अग्नि की भाँति स्वकार्य में अक्षम ही हैं। वे नष्ट हैं लुप्त हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये ॥३५॥

बोध और वैतृष्ण्य की निरतिशयसम्पत्ति ही निरतिशय आनन्दरूप होने और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप होने से भी मोक्ष है, क्योंकि अज्ञान ही बन्धनमूल है और तृष्णा ही बन्धन है उन दोनों का विनाश ही मोक्ष है। मोक्षरूप अनन्त शान्त पद में स्थित पुरुष को शोक नहीं होता ॥३६॥

मेरी निराकरणीय खण्डनीय दृश्यरूपी वस्तु का निराकरण हो चुका है, सम्पादनीय कार्य मैंने कर लिया है, तथा दर्शनीय वस्तु पूर्णतया देख ली है। यह सब मंगलमय; शान्त अद्वितीय चिन्मात्र ही है अर्थात् बोध और वैतृष्ण्य के परस्पर से परिवर्धित होने के कारण मैं कृतकृत्य हो गया हूँ ॥३७॥

आत्मा में रमण करने वाले शान्त, निरभिलाष, अहङ्कार शून्य ज्ञानी पुरुष की आकाश की निर्मल स्थिति की तरह संकल्प-विकल्प रहित ही स्थिति होती है ॥३८॥

प्रयत्न कर रहे कई हजार लोगों में से कोई विरला ही बलवान् उत्साही पुरुष ही वासना जाल के टुकड़े टुकड़े कर डालता है जैसे शेर लोहे के पिंजड़े को तोड़ डालता है ॥३९॥

वह ज्ञानी पुरुष जिसे पूर्णतया आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका ज्ञान से जिसका हृदय देदीप्यमान है वह वैसे ही अपने आप शान्त हो जाता है जैसे शरत् ऋतु में वह कुहरा जिसे सूर्य आदि का बोध हो गया जिसके भीतर तक प्रकाश पड़ चुका अपने आप विलीन हो जाता है ॥४०॥

जिसको ज्ञातव्य सद् वस्तु का ज्ञान है; संकल्प-विकल्प जिसके मन में नहीं उठते तथा जिसका हृदय संकल्पों का अतिक्रमण कर चुका है इस प्रकार का वासनाविहीन महात्मा पुरुष लोकव्यवहार में वायु की तरह चेष्टा करता है अथवा व्यवहार नहीं करता है अर्थात् समाधि में ही विश्राम लेता है ॥४१॥

तत्त्व के मनन से स्थिर ये केवल भ्रमरूप हैं इस प्रकार दृढ़ निश्चय से सभी वस्तुओं में शून्यता बुद्धि वासना ही स्थिति है ॥४२॥

पूर्ववर्णित वासनाविहीन भाव के उदय होने पर और सकल जगत् ब्रह्मरूप है यह ज्ञान होने पर एकमात्र निर्वाण में स्थिरमति वाले शुद्धान्तःकरण पुरुष में मोक्ष नामक असीम प्रशम उदित होता है ॥४३॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में, रामविश्रान्त्युपगम नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९४॥

१९५

वसिष्ठ उवाच

अहो नु संप्रबुद्धोऽसि राघवाऽघविघातिनी ।
वागियं तव संपन्ना प्रबुद्धेष्ववहासिनी ॥१॥

विभातीवाऽसदेवेदमसंकल्पेन शाम्यति ।
एतच्छान्तिस्तु निर्वाणमित्येव परमार्थता ॥२॥

कल्पनाकल्पने रूपं परस्यैवेतरस्य नो ।
स्पन्दनास्पन्दने वायोर्यथा नाऽत्रैकताद्विते ॥३॥

प्रबुद्धस्यैव या पुंसः शिलाजठरवत्स्थितिः ।
शान्तो व्यवहृतो वाऽपि साऽमला मुक्तताच्यते ॥४॥

वयमस्मिन्पदे स्थित्वा राघवाऽघविघातिनि ।
शान्तत्वे व्यवहारे च सममित्थमवस्थिताः ॥५॥

अस्मिन्नैव पदे नित्यं ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तिष्ठन्ति व्यवहारस्था अपि शान्ता ज्ञरूपिणः ॥६॥

शैलोदरस्थितिमतां प्रबुद्धानामनामयम् ।
अस्माकं पदमेवं तदालम्ब्यैतविहोष्यताम् ॥७॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मण्येवमसद्रूपमनुत्पन्नमभासुरम् ।
अनारम्भमनाकारमेवेदं भासते जगत् ॥८॥

मृगतृष्णाम्बुसदृशं तरङ्गावर्तिवारिवत् ।
रुचकादीव कनके स्वप्नसंकल्पशैलवत् ॥९॥

वसिष्ठ उवाच

बुद्धवानसि चेद्राम ! तत्स्वबोधविवृद्धये ।
कुरु संशयविच्छेदं पृच्छतः प्रच्छकस्य मे ॥१०॥

१९५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! बड़े हर्ष की बात है कि आप प्रबुद्ध हो गये हैं । आपकी यह वाणी अप्रबुद्ध लोगों के पापों का नाश करने वाली तथा अनुभव सिद्ध अर्थ का अनुवादरूप और युक्तियुक्त होने से प्रबुद्ध पुरुषों की प्रहर्ष से प्रसन्नवदन बनाने वाली हैं ॥१॥

असत् ही यह जगत् अज्ञान जनित संकल्पवश के समान है यही बन्धन है । असंकल्प की दृढ़ता से परिपुष्ट तत्त्वज्ञाव से शान्त होना मुक्तिसाधान है । इसकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही निर्वाण है यही मोक्ष-निष्कर्ष है । वही परमार्थता है ॥२॥

हे वत्स ! वैसे ही कल्पन और अकल्पन वैसे ही परब्रह्म के ही रूप हैं, अन्य के नहीं जैसे स्पन्दन और अस्पदन दोनों वायु के ही रूप हैं अर्थात् कल्पन और अकल्पनरूप बन्धन और मोक्ष अज्ञात और ज्ञात ब्रह्म के ही रूप हैं यह निष्कर्ष भी फलित हुआ ॥३॥

ज्ञानवान् पुरुष की ही समाधि-अवस्था में अथवा व्यवहार काल में शिलागर्भ के समान स्थिति ही निर्मल मुक्तता कही जाती है ॥४॥

हे राघव ! दुःखविनाशक इस पद में स्थित होकर हम लोग समाधि और व्यवहार में समान रूप से इस तरह स्थित हैं अर्थात् इस पद में स्थिति ही हम ऐसे जीवन्मुक्तों की समाधि और व्युत्थान में तुल्यरूप स्थिति है ॥५॥

प्रबुद्ध अतएव प्रशान्तस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि व्यवहार परायण होते हुए भी सदा इसी परम पद में स्थित रहते हैं ॥६॥

शिला के गर्भ के समान विक्षेप शून्य स्थिति वाले हम प्रबुद्ध लोगों का यह निर्दोष पद है । आप भी आज से लेकर हमारे समान ही इसे प्राप्त कर जीवन्मुक्ति में विराजमान होएँ ॥७॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जैसे मृगतृष्णा में जल भासमान है, जैसे जल में तरङ्ग, आवर्त आदि पृथक् भासमान हैं वैसे ही असद्रूप, कभी उत्पन्न न हुआ, उत्पन्न न होने कारण ही अप्रकाशमान पृथक् प्रतीत न होने वाला आरम्भ रहित और आकारशून्य ही यह जगत् वैसे ही भासमान होता है जैसे सुवर्ण में कटक, कुण्डल आदि भासमान हैं और जैसे स्वप्न और संकल्प का पर्वत भासमान है अर्थात् इस प्रकार श्रीवसिष्ठजी की उक्ति से जीवन्मुक्ति पद में प्रतिष्ठित श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्त पुरुषों को जैसा जगत् भासमान होता है उसका वर्णन किया है ॥८, ९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! यदि आप तत्त्वबोध प्राप्त कर चुके हैं तो अपने बोध की अभिवृद्धि के लिए प्रश्नकर्ता के रूप में पूछ रहे मेरा संशय दूर कीजिये अर्थात् अब श्रीवसिष्ठजी महाराज श्रीरामचन्द्रजी को जीवन्मुक्ति-स्थिति का वर्णन करने के लिए वक्ता के सिंहासन पर आरूढ़ कर मैं आपसे शिष्य की भाँति पूछता हूँ आप अपना संशय दूर कीजिये ॥१०॥

इत्थं नित्यानुभूतोऽपि शिरस्थोऽप्यतिभासुरः ।
जगदाख्योऽयमाभासः कथं नाम न विद्यते ॥११॥

श्रीराम उवाच

पूर्वमेवेदमुत्पन्नं न किंचन कदाचन ।
तेन वन्ध्यासुतस्याऽस्य न सत्ता कल्पनादृते ॥१२॥

किमिवाऽस्या जगद्भ्रान्तेः कारणं प्रोत्थिता यतः ।
न कारणं विना कार्यं किंचित्संभवति क्वचित् ॥१३॥

न चाऽविकारमजरं सविकारं क्षयादृते ।
कारणं क्वचिदेवेह किंचिद् भवितुमर्हति ॥१४॥

ब्रह्मैवेदमनाख्यात्म कारणं प्रविजृम्भते ।
तत्रैव कस्य कथं नाम जगच्छब्दार्थसंविदः ॥१५॥

तदनाख्ये पदे शान्ते चिरात्प्रथमचेतनम् ।
क्वचित्काललवं तिष्ठत्यातिवाहिकदेहभृत् ॥१६॥

क्षणे वत्सरसंवित्ति स्वप्ने त्वमिव चेतति ।
काकतालीयवत्तत्र चन्द्रार्कादींश्च पश्यति ॥१७॥

संकल्पैकात्मनस्तस्य देशकालक्रियान्वितम् ।
अत्यन्तमेव व्योम्न्येव भुवनं भासते स्वयम् ॥१८॥

तस्मिन् मिथ्योपसंपन्ने स मिथ्यापुरुषस्ततः ।
मिथ्यैव तत्समाचारं कुर्वन्विपरिवर्तते ॥१९॥

अधस्तादूर्ध्वमायाति पुनरूर्ध्वाद् व्रजत्यधः ।
कल्पितानन्तसंभारपदार्थानर्थसंभ्रमः ॥२०॥

काकतालीयवत्तस्य संकल्पस्य भवेद्यदि ।
यद्यथा तत्तथाऽद्याऽपि सुस्थिरामात्तवान्स्थितिम् ॥२१॥

शिला वन्ध्यासुतमुखे व्योमचूर्णेन रञ्जनम् ।
करोतीत्यादिवदिदं मिथ्या जगदुपस्थितम् ॥२२॥

हे श्रीरामजी ! इस प्रकार नित्य अनुभूत भी सिर पर सदा सवार हुआ भी अत्यन्त जगमगा रहा यह 'जगत्' नामक आभास कैसे नहीं है ? ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे गुरुवर ! यह पहले ही कभी कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है । अतः वन्ध्या पुत्र के सदा इस जगत् का अस्तित्व कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है । यदि इसकी सत्ता है तो काल्पनिकी सत्ता ही है वास्तविक सत्ता इसकी नहीं है ॥१२॥

इस जगद् भ्रान्ति का कारण ही क्या है जिससे कि इसका आविर्भाव हुआ है ? कारण के बिना कहीं कोई कार्य हो ही नहीं सकता है ॥१३॥

अविकार अजर अमर ब्रह्म कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्व अवस्था के नाश के बिना यहाँ कोई भी वस्तु कहीं पर भी सविकार नहीं हो सकती है ॥१४॥

यदि निर्विकार अजर अमर यह ब्रह्म ही विवर्तोपादन कारण है जगत् शब्दार्थ की यथार्थ प्रतीतियाँ कहाँ पर किसको कैसे होंगी अर्थात् यदि यह कहा जाय कि निर्विकार ब्रह्म ही विवर्तोपादानकारण होकर माया से जगत् के आकार में स्फुरित होता है तो जगत् शब्द का अर्थ सत्य प्राप्त नहीं होता ॥१५॥

उस निर्विकार शान्त पद में हिरण्यगर्भ नामधारी पहला चेतन द्विपरार्धपरिमित कुछ काल तक विवर्तरूप आतिवाहिक देह धारण कर स्थित-सा होता है इसलिए वही जगत् की भ्रान्ति का विषय सिद्ध होता है ॥१६॥

उसे भी एक क्षण में वर्ष आदि कालविस्तार की वैसे ही भ्रान्ति होती है उसमें वह काकतालीय के समान चन्द्र, सूर्य आदि को देखता है जैसे आपको स्वप्न में एक क्षण काल में एक वर्ष की प्रतीति होती है ॥१७॥

एकमात्र संकल्पस्वरूप उस हिरण्यगर्भनामक प्रथम चेतन को देश, काल और कर्म से युक्त सम्पूर्ण भुवन एकमात्र चिदाकाश में ही अपने आप समान होता है ॥१८॥

तदुपरान्त यह मिथ्या पुरुष अर्थात् काल्पनिक पुरुष हिरण्यगर्भ मिथ्या ही सम्पन्न भुवन में मिथ्या ही भूत, भुवन आदि की सृष्टि करता विवर्तता को प्राप्त है ॥१९॥

वही हिरण्यगर्भ अनन्त पदार्थों के अनर्थरूपी भ्रम की कल्पना कर सुकृत आदि फल का भोग करने के लिए नीचे से ऊपर जाता है और फिर ऊपर से नीचे जाता है ॥२०॥

यदि उसके संकल्प की काकतालीय के समान जैसी पहले स्थिति थी वैसी ही आज भी स्थिति हुई तो उसी से 'वही यह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कर उसने जगत् में भ्रान्ति से दृढ़ स्थिति ग्रहण की है ॥२१॥

इस प्रकार भ्रान्ति से उपस्थित यह मिथ्या जगत् शिलारूपी नायिका वन्ध्यापुत्ररूपी अपने पति के ललाट में आकाश के चूर्ण से तिलक लगाकर शोभाभिवृद्धि करती है इत्यादि वाक्यार्थ के समान केवल पदार्थशून्य विकल्प ही है ॥२२॥

सत्यमेवेदमथवा मिथ्यात्वं तु कुतः किल।
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥२३॥

आकाशकोशवत्स्वच्छं शिलाजठरवद्घनम्।
पाषाणमौनवच्चेदं शान्तमेवाऽक्षयं जगत् ॥२४॥

चिन्मात्रे सर्वसंकल्पे विराडात्मातिवाहिके।
देहे संवेदनं व्योम जगदित्यवभासते ॥२५॥

एवं ब्रह्ममहाकाशमेवेदं क्व जगत्कथा।
शान्तं समसमाभोगमेकमाद्यन्तवर्जितम् ॥२६॥

यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः पदे ॥२७॥

परावरविदः केचिदेतस्मिन् परमे पदे।
शुद्धे परिणमन्त्यन्तर्वारिबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥२८॥

हे भगवन् ! अथवा यह सत्य ही है इसका मिथ्यात्व कहाँ से हो सकता है ? यदि निवर्तनीय मिथ्यातत्व की अप्रसिद्धि से व्यावर्तक सत्यत्व की कल्पना भी उसमें नहीं घटती ऐसा विचार करते हैं तो निर्वचन वाणी का प्रसार न होने से यह अवर्णनीय कुछ अजन्मा विस्तृत है अर्थात् यदि अत्यन्त असत् में मिथ्यातत्व धर्म की भी अप्रसिद्धि अवलोकन करें तो केवल अधिष्ठानमात्र होने से यह सत्य ही है ॥२३॥

यह जगत् आकाशकोश के सदृश निर्मल, शिलागर्भ के समान ठोस और पाषाण के समान मौन शान्त अक्षय ब्रह्म ही है ॥२४॥

चिदात्मा के मायिक सर्वाकार संकल्परूप विराट् आतिवाहिक देह में संवेदनरूप आकाश जगत् के रूप में भासमान होता है ॥२५॥

इस प्रकार यह समों से भी सम अर्थात् सर्वथा वैषम्य रहित विग्रह वाला जन्मनाशशून्य अद्वितीय शान्त ब्रह्म महाकाश ही है, जगत्कथा कहाँ है ? ॥२६॥

ब्रह्म में अन्य जन्म और विनाशों से सृष्टि और प्रलयों से वैसे ही भिन्नता अन्यता नहीं आती है जैसे जल में लहरियों के उतराने और डूबने से जल में भिन्नता नहीं आती है ॥२७॥

सारासारविवेकवान् कोई महात्मा पुरुष इस शुद्ध परम पद में ऐकरस्य को वैसे ही प्राप्त होते हैं जैसे जल में जलबिन्दु एकरस हो जाता है ॥२८॥

परमब्रह्म में परब्रह्म के वेष के समान के भान अथवा अवयव के समान यह जगज्जीवरूप का भान होता है, वास्तविक विचार करने पर वह परब्रह्म ही

परेऽपरमिदं भाति परस्येव परात्मकम्।
संभवन्त्यमले शान्ते न जगन्ति न तत्क्रियाः ॥२९॥

स्वप्ने स्वप्न इति ज्ञाते दृश्ये ब्रह्मतयाऽपि च।
मृगाम्बुनि परत्वेन को भावयति भावनाम् ॥३०॥

परमार्थचमत्कारमन्तःस्थानुभवं विना।
अन्यस्याऽन्यं न जानाति सीधुस्वादुमिव द्विजः ॥३१॥

निर्वाय निज आत्माऽयं परिवृत्याऽवलोकितः।
चेत्योन्मुखत्वमुत्सृज्य संतिष्ठेच्छान्त आत्मनि ॥३२॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्यं बीजाङ्कुर इव स्थितं ब्रह्मणि कारणे।
इति सर्गादिसद्भावः कस्मान्नेहोपपद्यते ॥३३॥

हो जाता है। निर्मल शान्त परब्रह्म में न जगतों का संभव है और जागतिक व्यवहारों का ही संभव है ॥२९॥

स्वप्न के 'यह स्वप्न है' यह ज्ञात होने पर, मृगतृष्णा के 'यह केवल ऊषर भूमि है' यों परिज्ञात होने पर इसी प्रकार दृश्य के भी ब्रह्मरूप से ज्ञात होने पर फिर उसमें सत्यताबुद्धि की भावना कौन करता है अर्थात् जैसे स्वप्न के 'यह स्वप्न है' यह ज्ञात होने तथा मरीचिका के 'यह केवल ऊषर भूमि है' यह ज्ञात होने पर फिर उनमें सत्यताबुद्धि किसी को भी नहीं होती वैसे ही दृश्य के ब्रह्मरूप से परिज्ञात होनेपर उसमें सत्यताबुद्धि किस मूढ़ को होगी ? ॥३०॥

प्रबुद्ध पुरुष चमत्कार से अपने अन्दर के अनुभव के बिना अपवित्र प्रपञ्च के भोग-रस को वैसे ही नहीं जानता है जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता अथवा पुरुष अपने अन्दर के अनुभव के बिना प्रबुद्ध के परमार्थचमत्कार को वैसे ही नहीं जानता है जैसे ब्राह्मण मदिरा के माधुर्य को नहीं जानता है [यह अर्थ है इस अर्थ में 'अन्यस्याऽन्यं न जानाति' पाठ के स्थान पर 'अन्यस्याऽन्यो न जानाति' पाठ मानना पड़ेगा] ॥३१॥

यह अपनी आत्मा बाह्यदृष्टि से लौटकर, चेत्योन्मुखता का त्यागकर समाधि में चरमसाक्षात्कारात्मक वृत्ति से अवलोकित हो शान्त मुक्तात्मा में स्थित होता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।' अर्थात् मोक्ष की इच्छा कर रहे किसी धीर महात्मा ने विषयोन्मुखता का त्यागकर अन्तर्मुख-इन्द्रिय प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार किया है ॥३२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! दृश्य कारणभूत ब्रह्म में बीज में अङ्कुर के समान स्थित है। ऐसी स्थिति में यहाँ सर्गादि के अस्तित्व की उपपत्ति क्यों नहीं होती है ? ॥३३॥

श्रीराम उवाच

बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संस्थितो नोपलभ्यते।
बीजोदरं तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ॥३४॥
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्त्वैवं जगत्त्वेवोपलभ्यते।
अस्ति चेत्तद् भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाऽविकारि तत् ॥३५॥
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम्।
उदेतीति किलाऽस्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥३६॥
अनाकृतावाकृतिमन्न चैतत्स्थातुमर्हति।
परमाणौ न चैवाऽन्तरिव संभान्ति मेरवः ॥३७॥
समुद्गकेरत्नमिव जगद् ब्रह्मणि तिष्ठति।
महाकारं निराकार इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥३८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! यदि अंकुर सत्य हो तो बीज के अन्दर स्थित ही वह बीजपुट को तोड़कर वाहर निकलता है यह मानना होगा किन्तु ऐसी बात नहीं है। बीज को फोड़नेपर उसके अन्दर अंकुर-रूप से स्थित अंकुर दिखाई नहीं देता है। बीज के अन्दर सूक्ष्म अवयवों का अस्तित्व बीज ही है; अंकुर नहीं है ॥३४॥

ब्रह्म के अन्दर जगत्सत्ता बीज में अंकुर के तुल्य नहीं है, किन्तु जगत्ता ही उपलब्ध होती है। यह बीज और अंकुर की अपेक्षा ब्रह्म और जगत् में वैशिष्ट्य है। यदि कहा जाय कि प्रलयकाल में ब्रह्म में जगत् बीज में अंकुर की तरह ही है तो वह जगत्सत्ता नित्य ब्रह्म ही होगी, क्योंकि ब्रह्म अविकारी है। इसलिए बीजांकुरन्याय की यहाँ पर उतपत्ति नहीं हो सकता है ॥३५॥

निर्विकार निराकार से विकारवान् और साकार का आविर्भाव होता है यह हमने कहीं लोक में न देखा है और न शास्त्रों में सुना ही है ॥३६॥

निराकार निरवयव ब्रह्म में साकार और सावयव इस दृश्य की स्थिति वैसे ही असंभाव्य है जैसे कि परमाणु के अन्दर अनेक सुमेरु पर्वतों का भासना असंभाव्य है अर्थात् इसी प्रकार निर्विकार और निरवयव में साकार और सावयव की (स्थूल की) स्थिति भी प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से विरुद्ध है ॥३७॥

पेटी में रत्न की तरह निराकार ब्रह्म में विशाल जगत् स्थित है यह कथन तो उन्मत्त के प्रलाप के समान ही होगा, अतएव अबद्ध है ॥३८॥

शान्तं परं च साकारस्याऽऽधार इति राजते।
न वक्तुं राजते क्वेव साकारस्याऽविनाशिता ॥३९॥
बोध एवाऽयमाकार इति कल्पनयाऽपि धीः।
अपूर्वैः स्वप्नवद्रूढैः संसारैर्नोपलभ्यते ॥४०॥
अपूर्व एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते।
स्वप्नः किलाऽनुभूतार्थः स्वभ्यस्त इव दृश्यते ॥४१॥
यदेव जाग्रत्तत्स्वप्न इति नाऽत्रोपपद्यते।
स्वप्ने प्रदग्धः पुरुषः कथं प्रातर्विलोक्यते ॥४२॥
अशरीरस्य न स्वप्न इत्येतदपि नोचितम्।
संभवन्ति पिशाचाद्यास्तेषां च स्वप्नवत्स्थितिः ॥४३॥

शान्त सर्वोपरतिरूप परमब्रह्म साकार जगत् का तादात्य से अभेद सम्बन्ध से आधार है यह कथन शोभा नहीं देता, क्योंकि साकार पदार्थ अविनाशी है यह कथन कहाँ शोभा पा सकता है? ॥३९॥

बौद्धों की कल्पना से भी अपूर्व स्वप्न के समान बद्धमूल हुए संसारों के रूप से क्षणिक बोध ही साकार होता है, यह बुद्धि उपपन्न नहीं होती अर्थात् ऐसी स्थिति में अपूर्व, स्वप्न के समान बद्धमूल आकारों से क्षणिक बोध ही साकार होता है यह उपपत्तिशून्य है ॥४०॥

क्योंकि यह सर्गरूप स्वप्न अपूर्व पहले से अननुभूत ही चक्षु आदि प्राणों से अनुभूत होता है किन्तु स्वप्न जाग्रत्काल में अनुभूत अर्थवाला संस्कार मात्र से भासमानार्थ है अर्थात जगत् में खूब अभ्यस्त अर्थ ही स्वप्न में दिखाई देता है ऐसा लोक में सर्वजनप्रसिद्ध है ॥४१॥

जो जाग्रत् है वही स्वप्न है इस प्रकार का बौद्धाभिमत जाग्रत् और स्वप्न का अभेद यहाँ उपपन्न नहीं होता है क्योंकि स्वप्न में मरा हुआ श्मशान में ले जाकर जलाया गया पुरुष प्रातःकाल में फिर कैसे दिखाई देता है। यदि जाग्रत् और स्वप्न का अभेद होता तो स्वप्न में मरे हुए जलाये गये पुरुष का फिर दर्शन न होता। इसलिए चित् की साकारत्व, क्षणिकत्व आदि की कल्पना से प्रपञ्च की स्वप्न तुल्यता सकल प्रमाणों से विरुद्ध सिद्ध होती है अतः कूटस्थ ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही बाध्य होने से प्रपञ्च की स्वप्नतुल्यता सिद्ध है, अर्थात् इसलिए बौद्ध लोगों का जाग्रत् और स्वप्न के भेद का अभाव कथन भी असंगत ही है ॥४२॥

जिसका स्थूल शरीर नहीं होता उसका स्वप्न देखने में नहीं आता है अतः अशरीर प्रत्यगात्मा में तीन अवस्थारूप स्वप्न का आरोप है यह उक्ति उचित नहीं है, यह चार्वाकों का कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि पिशाच आदि स्थूल शरीर रहित होते हैं और उनकी स्वप्नवत् स्थिति रहती है ॥४३॥

तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥४४॥

स्वप्ने चिदेव शैलादिरूपेणाऽऽत्मनि तिष्ठति।
ब्रह्मात्माऽखिलमुक्तोऽसावन्येनाऽसौ कृतो यदि ॥४५॥

नेहाऽस्तित्वं न नास्तित्वमुपलब्धेऽनुभूयते।
नैवाऽनुभवितृत्वं च न चाऽनुभवनक्रमः ॥४६॥

किमपीदमनाख्येयं बुद्धेनैवाऽनुभूयते।
स्वसंवेदनसंवेद्यं सत्तासत्ताविजृम्भितम् ॥४७॥

अभावरूपिणो भावा अभावा भावरूपिणः।
सर्वदा सर्वथा सर्वे भान्ति भासुरतां गताः ॥४८॥

बृंहति ब्रह्मणि ब्रह्म व्योम व्योमनि वर्धते।
न चोपपद्यते किंचिद् ब्रह्मव्योम्नि विबृंहणम् ॥४९॥

इसलिए निराकार परमात्मा ही सर्ग आदि नानाकारों के रूप से संविद्रूप स्वात्मा में स्वप्न के समान वैसे ही स्थित है जैसे स्वप्न में चित् ही पर्वत आदि के रूप से आत्मस्वरूप में स्थित रहती है ॥४४॥

यदि यह प्रत्यगात्मा सकल बन्धनों से रहित ब्रह्म ही है और यह प्रपञ्च अज्ञान द्वारा ही स्वप्नवत् है यह सिद्धान्त है तो इस सिद्धान्त में उस प्रकार के ब्रह्मात्मा के उपलब्ध होने पर इस प्रपञ्च में अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का अनुभव नहीं ही होता है तथा इसमें अनुभविता और अनुभव आदि का क्रम भी उपलब्ध नहीं होता अर्थात् ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान होने पर प्रपञ्च का स्वप्न की तरह ही बोध होने से सत्ता और असत्ता से निर्वचन करने के अयोग्य तुच्छता ही परिशिष्ट रहती है ॥४५; ४६॥

अतः अनिर्वचनीय यह जगत् परमात्मा के स्वरूप के ज्ञानवान् होने पर कदापि अनुभूत नहीं होता है। उस समय ब्रह्मस्वरूप ही शेष रहता है। अज्ञानता दशा में भी सत्ता और असत्ता में परिपुष्ट स्वसंवेदनवेद्यरूप यह अनिर्वचनीय ही है ॥४७॥

आत्मा के अस्तित्व, प्रियत्व आदि धर्म अभावरूप तथा अभाव (जगत् के आदि धर्म) भावरूप हो सबके सब सदा सर्वथा देदीप्यमान हो भासमान होते हैं ॥४८॥

ब्रह्म में ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त है और आकाश में आकाश वृद्धि को प्राप्त है। जगत् के आकार से वृद्धि ब्रह्मरूपी आकाश में निराकार ब्रह्म में कुछ भी उपपन्न नहीं हो सकती ॥४९॥

द्रष्टृदृश्यदृगात्माऽयमहं सर्गादिविभ्रमः।
शान्तचिद्व्योमविस्तारो न कुड्याद्युपपद्यते ॥५०॥

यथा न सन्न कुड्यादि स्वसंकल्पनपत्तनम्।
तथैवाऽयं जगदिति शान्तमेकमनामयम् ॥५१॥

पूर्णं हि परमं शान्तमिदं सर्वमखण्डितम्।
अनिङ्गनमनाभासमनाद्यन्तमचेतितम् ॥५२॥

अजन्ममरणं शान्तमनादिनिधनं महत्।
अनुपाधि निराकारं स्वपदं बुद्धवानहम् ॥५३॥

या संविदन्तः स्फुरति सैवोपायाति वाक्यताम्।
यद्बीजं लीनमवनौ तद्यात्यङ्कुरतां किल ॥५४॥

शुद्धज्ञानामयैकात्मा द्वैतैक्यपरिवर्जितः।
मनागपि न जानामि द्वैतैक्यकलनाकलाम् ॥५५॥

सर्वे तूष्णीमया एव जीवन्मुक्ता इमे जनाः।
संशान्तसर्वसंरम्भाः खे खभाव इव स्थिताः ॥५६॥

द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप यह मैं इत्याकारक सृष्टि आदि का भ्रम शान्त चिदाकाश का ही विस्तार है; यह कुड्य आदि साकार नहीं हो सकता ॥५०॥

वैसे ही यह जगत् भी सुतरां वैसे ही असत् है जैसे अपना मनोरथ कल्पित नगर सत् नहीं है और उसमें दीवार आदि तो सर्वथा ही असत् हैं ॥५१॥

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च परम शान्त, निष्क्रिय, वैषयिक आभासहीन, आदि-अन्तशून्य स्वप्रकाश अखण्ड ब्रह्म ही है ॥५२॥

जन्म-मृत्युविहीन, शान्त, आदि अन्तरहित, असीम; निरुपाधि, निराकार निज परमात्मपद को मैं जान चुका हूँ ॥५३॥

भगवन्, जैसी संवित् (वृत्ति) भीतर स्फुरित होती है वही वाक्यरूप में परिणत होती है जो बीज भूमि में पड़ता है वही अंकुरता को प्राप्त होता है अर्थात् मेरा यह वाक्य यथार्थ ही है, क्योंकि यह अनुभवमूलक है ॥५४॥

शुद्ध ज्ञानमय अद्वितीय आत्मारूप द्वैत और ऐक्य से परिवर्जित मैं द्वैत और ऐक्य की कल्पना का तनिक लेश भी नहीं जानता हूँ ॥५५॥

ये सब लोग अपने अज्ञान से जीते हुए भी मेरी दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म होने मौनमय सकल चेष्टाओं से रहित जीवन्मुक्त ही हैं। वे भी मौन तथा सकल चेष्टाओं से रहित वैसे ही स्थित हैं जैसे आकाश में शून्यता स्थित है ॥५६॥

जगत्स्पर्शमहारम्भमपि तूष्णीमिदं स्थितम् ।
चित्रं भित्ताविव कृतं मनोराज्य इवोदितम् ॥५७॥

शैलादिवोत्कीर्णसमं कथायामिव वर्णितम् ।
शम्बरेणेव रचितं व्योम्नि स्वप्न इवोदितम् ॥५८॥

किल स्वप्नवदेवेदं सर्गादावेव भाति यत् ।
अभित्तिकं निष्प्रतिघं जगत्केवाऽस्य सत्यता ॥५९॥

जगद्बुद्धाविदं सत्यं परिज्ञानवतो मृषा ।
ब्रह्मात्मक इदं ब्रह्म शान्ते शान्तं परास्बरम् ॥६०॥

सर्व एव इमे भावाः सह स्थावरजंगमाः ।
अस्मदादय आकाशं जगज्ज्ञविषयं तथा ॥६१॥

खमहं खं भवांस्त्विखं जगत्खं खं खमेव च ।
चिदाकाशैकतामेत्य भजैकाकाशरूपताम् ॥६२॥

उनका भोग्य यह जगत् त्वगिन्द्रिय से वेद्य होने पर भी भीतपर अङ्कित चित्र की तरह तथा मनोरथ में उदित हुए नगर की तरह चुपचाप स्थित है ॥५७॥

पत्थर से गढ़ी हुई प्रतिमा के तुल्य; उपन्यासमयी काल्पनिक कथा में वर्णित वृत्त की भाँति, शम्बर से रचित जैसा यह जगत् आकाश में स्वप्न की तरह उदित है ॥५८॥

जो यह जगत् सृष्टि के आरम्भ में ही स्वप्न की तरह ही निराधार (आधार स्तम्भ, भित्ति आदि के बिना भास- की भला क्या सत्यता हो सकती है ? ॥५९॥

यह जगत् अज्ञानी की दृष्टि में सत्य है, विवेकवान् पुरुष की दृष्टि में मिथ्या है। इसे ब्रह्मरूप देख रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म, है तथा पहली, दूसरी, तीसरी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में आरोहण क्रम से शान्त हुए पुरुष में अन्धकार की तरह क्रम से शान्त होकर अन्त में शून्य ही हो जाता है अर्थात् दृष्टि भेद से जगत् चार प्रकार का सम्पन्न हुआ ॥६०॥

स्थावर और जंगम सहित सकल अस्मदादि भावरूप जगत् तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में आकाशरूप ही है ॥६१॥

हे गुरुवर ! मैं आकाश हूँ, आप आकाश हैं, चित् आकाश है, आकाश-आकाश ही है। आप चिदाकाशरूपता को प्राप्त हो मेरे कथन की परीक्षा के लिए एकाकाशरूपता का भजन कीजिये ॥६२॥

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन सर्वात्म गगनोपमम् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबोधात्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥६३॥

चिद्रूपत्वाद्उदेतीदं जगत्तत्रैव लीयते ।
अकारणकमेवाऽतः परं व्योमैव निर्मलम् ॥६४॥

एतत्सर्वपदातीतं सर्वशास्त्रकलातिगम् ।
पदमासाद्य निर्द्वन्द्वं त्वमाकाशात्मकोऽभवः ॥६५॥

अहं जगच्च नो पादपाण्यादि न घटादि च ।
सर्वमाकाशमाकाशमेवाऽच्छं सूक्ष्मबिद् भवेत् ॥६६॥

सर्वापह्नव एवाऽयं मया यो दर्शितस्तव ।
स निन्द्यो वादिनां वादेष्वात्मज्ञानेषु राजते ॥६७॥

हे गुरुवर ! ब्रह्माकाशभाव से स्थित, आकाशकल्प स्वरूप-ज्ञान से सर्वात्मकचिदाकाश सदृश दो चरण वाले जीवों में सर्वश्रेष्ठ आपको मैं ज्ञेय पूर्णानन्द ब्रह्म के अभेद से जानने के कारण प्रणाम करता हूँ ॥६३॥

ब्रह्म के चिद्रूप होने से यह जगत् अकारण ही उसमें उदित होता है और उसी में लीन हो जाता है, इसलिए यह निर्मल परम व्योम ही है ॥६४॥

सकल शास्त्रीय युक्तियों का अतिक्रमण करने वाला अर्थात् सकल शास्त्र-युक्तियों का अगम्य सकल पदों से अतीत उस निर्द्वन्द्व पद को प्राप्तकर आप सदा ब्रह्माकाश-स्वरूप थे ॥६५॥

मैं राम और उसके अवयव पैर, हाथ आदि तथा उसके बाह्य घट आदि प्रसिद्ध जगत् नहीं ही है, क्योंकि सब कुछ निर्मल सूक्ष्म चिदाकाश ही है ॥६६॥

यद्यपि यह सकल पदार्थों का अपलाप मेरी माता बांझ है, मेरे मुँह में जीभ नहीं है इत्यादि वाक्य के समान व्याघात, वैतण्डिकत्व आदि दोषों का आधायक होने से तार्किक लोगों की दृष्टि में निन्दनीय है, इसलिए तार्किकों की सभा में शोभा नहीं पा सकता तथापि बहुत से वादियों द्वारा बहुत प्रकार से उपन्यस्त आत्मज्ञानों में परम पुरुषार्थपर्यवसायी ज्ञान कौन होगा ऐसी परीक्षा (विवेचन) करने वालों की सभा में शोभा देता ही है। सर्वापह्नव के बिना अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति से उपलक्षित निरतिशय आनन्द में प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं हो हो सकती है ॥६७॥

काष्ठमौनात्मको वादे न सर्वापह्नवो यदा।
क्रियते तेन वादेषु नाऽऽत्मज्ञानं प्रसीदति ॥६८॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितम्।
स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥६९॥

सर्वागमार्थसमतीतमचिह्नमच्छ-
माकाशमेकमजमाद्यमनामरूपम्।
शुद्धं चिदात्मकमिहाऽस्त्यनुभूतिमात्रं
शान्ताभिधानकलनं मलशङ्कयाऽलम् ॥७०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेशो नाम पञ्चनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९५॥

काष्ठमौनपर्यवसायी होने से काष्ठमौनरूप सर्वापह्नव वादविवाद में नहीं हो सकता है, इसलिए सर्वापह्नव के न करने से निर्विशेषरूप आत्मा का परिचय न होने के कारण वादों में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता ॥६८॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अगम्य निराकार निर्विकार स्वानुभववेद्य वह ब्रह्म वादविवादों से कैसे ज्ञात हो सकता है? ॥६९॥

सकल शास्त्रों के अर्थों से अतीत, अनुभवमात्रैकगम्य, आकृति रहित, अतएव नाम और कल्पना से रहित, शुद्ध, चिदात्मक, एक, निर्भय, नामरूप रहित आद्य चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है। उसके मल की शङ्का के लिए तनिक भी स्थान नहीं है ॥७०॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में बोधप्रकाशीकरणयोगोपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ पचानवेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९५॥

१९६

वाल्मीकिरुवाच

एवमुक्त्वा महाबुद्धे! रामो राजीवलोचनः।
मुहूर्तमात्रं विश्रम्य तूष्णीं स्थित्वा परे पदे ॥१॥

परमां तृप्तिमापन्नो विश्रान्तः परमात्मनि।
मुनि पुनरपृच्छत्तं जानन्नपि हि लीलया ॥२॥

श्रीराम उवाच

भगवन्संशयाम्भोदशरत्काल मुनीश्वर!।
इदानीं संशयोऽयं मे जातो मनसि पेलवः ॥३॥

एवमेतन्महाज्ञानं संसारार्णवतारणम्।
समस्तमेव वाग्जालं समतीत्याऽवतिष्ठते ॥४॥

यदिदं किल सद्ब्रह्म स्वसंविन्मात्रनिश्चयम्।
तदवाच्यं किल गिरां महतामपि मानद! ॥५॥

एवं स्थिते परं ज्ञेयं सर्वसंकल्पनोज्झितम्।
स्वसंवित्तुर्यतन्मात्रलभ्यं दुर्गमतां गतम् ॥६॥

१९६

वाल्मीकिजी ने कहा—हे महाबुद्धिसम्पन्न भरद्वाज! यह कहकर मुहूर्त भर चुप रहकर परमपद में विश्राम लेकर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ने परमपद में विश्रान्त हो परमतृप्त थे, जानते हुए भी गुरुमुख से सुनने के कौतुक से श्रीवसिष्ठमुनीजी से पुनः पूछा ॥१, २॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! हे मुनिनायक! आप संशयरूपी मेघ के लिए शरत्काल के सदृश हैं। इस समय मेरे मन में एक हलका-सा सन्देह उत्पन्न हो गया है। पूर्वोक्त प्रकार से संसाररूपी सागर से पार लगाने वाला महाज्ञान सकल वाक्प्रपञ्च के परे है। अर्थात् वाक्प्रपञ्च का विषय नहीं है ॥३, ४॥

हे सम्मानकारिन्! यह सद् ब्रह्म केवल स्वानुभवमात्रज्ञेय महान् पुरुषों की वाणी से भी अवाच्य है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुति से वह शब्दप्रवृत्तिनिमित्त धर्म से रहित है ॥५॥

अतः सकल संकल्प-विकल्पों से शून्य परम ज्ञेय ब्रह्म केवल संविद्रूप तीनों अवस्थाओं से अतीत स्वप्रकाश वस्तु से लभ्य है, अतएव जाग्रत् अवस्था के अन्तर्गत गुरु और शास्त्र आदि का अगम्य होने के कारण अतिदुर्गमता को प्राप्त है ॥६॥

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्याभेदैषिणां किल।
कथं शास्त्रपदैस्तुच्छैः सविकल्पैरवाप्यते ॥७॥
विकल्पसारशब्दार्थैर्ज्ञानं शास्त्रैर्नं लभ्यते।
तत्किमर्थमनर्थाय गुरुशास्त्रादि कल्पितम् ॥८॥
गुरुशास्त्रादिविज्ञाने कारणं वाऽस्त्यकारणम्।
तदत्र निश्चयं ब्रह्मन्ब्रूहि मे वदतां वर ॥९॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो! न शास्त्रं ज्ञानकारणम्।
नानाशब्दमयं शास्त्रमनाम च परं पदम् ॥१०॥
तथापि राघवश्रेष्ठ! यथैतद्धेतुतां गतम्।
शास्त्राद्युत्तमबोधस्य तत्समासेन मे शृणु ॥११॥
सन्ति क्वचिद्वैवधिकाः कीरकाश्चिरदुर्भगाः।
दुःखेनाऽभ्यागताः शोषं ग्रीष्मेणेव जरद्द्रुमाः ॥१२॥
दारिद्र्येण दुरन्तेन कन्यासंस्थानकारिणा।
दीनाननाशयाः पद्मा निर्गतेनेव वारिणा ॥१३॥
दौर्गत्यपरितप्तास्ते जीवितार्थमचिन्तयन्।
जठरस्य कया युक्त्या वयं कुर्मः प्रपूरणम् ॥१४॥
इति संचिन्त्य विधिना दिनान्तेन दिनंप्रति।
दारुभारेण जीवामो विक्रीतेनेति संस्थिताः ॥१५॥
इति संचिन्त्य ते जग्मुर्दार्वर्थं विपिनान्तरम्।
ययैवाऽऽजीव्यते युक्त्या सैवाऽऽपदि विराजते ॥१६॥
इति ते प्रत्यहं गत्वा काननं भवचारिणः।
दारूण्यानीय विक्रीय चक्रुर्देहस्य धारणम् ॥१७॥
यत्प्रयान्ति वनान्तं ते तस्मिन्सन्त्यखिलानि हि।
गुप्तागुप्तानि रत्नानि दारूणि कनकानि च ॥१८॥

वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद और संख्याभेद मानने वाले वादियों के तुच्छातितुच्छ अर्थात् क्षुद्रतर प्रतियोगी, व्यवच्छेद आदि की अपेक्षा रखने के कारण उसका बोध कराने में असमर्थ सविकल्प शास्त्रों से कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥७॥

विकल्परूपी सार वाले शब्द-अर्थरूप शास्त्रों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, फिर हजारहाँ विकल्पों के अनुसंधान और भ्रान्ति परम्परारूप अनर्थ के लिए गुरु, शास्त्र आदि की कल्पना क्यों की है ? ॥८॥

हे ब्रह्मन् ! इसलिए तत्त्व के विज्ञान में गुरु, शास्त्र आदि कारण हैं, अथवा अकारण है ? इस संशय के विषय में मुझसे निश्चय कहने की कृपा कीजिये, क्योंकि आप वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं, अतः आप ही मेरे संशय का उच्छेद करने में समर्थ हैं ॥९॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो ! यद्यपि यह शास्त्र ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि शास्त्र नाना शब्दों और अर्थों का भण्डार है और परमपद अनाम है। अर्थात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्य होने और असंसृष्ट होने के कारण परमपद न पदार्थ है और न वाक्यार्थ ही है ॥१०॥

हे रघुकुल दीपक ! जैसे यह शास्त्र आदि उत्तम ज्ञान तथा उसके फल मोक्ष के प्रति कारण है वह संक्षेप-रूप में मुझसे सुनें ॥११॥

कहीं पर चिरकाल से दुर्भाग्य में पड़े हुए बंहगी ढोने वाले कीरक देश के लोग थे। उन्होंने जैसे ग्रीष्म से पुराने वृक्ष सूख जाते हैं वैसे ही दुःख से कृशता को प्राप्त किया था ॥१२॥

चिथड़ों की कन्था से ओढ़नी बनवाने वाले दुरन्त दारिद्र्य ने वैसे ही उनका मुँह और अन्तःकरण दीन-हीन बना दिया जैसे कि बाँध टूट जाने से निकल गये जल से कमल निष्प्रभ हो जाते हैं ॥१३॥

दारिद्र्य से अत्यन्त सन्तप्त हुए उन लोगों ने आजीविका के लिए विचार किया कि हम लोग किस युक्ति से अपने उदर की पूर्ति करें ॥१४॥

ऐसा विचार कर प्रतिदिन दिवभर के परिश्रम से साध्य लकड़ी के बोझ के विक्रय कार्य से हम अपनी आजीविका करेंगे, यह उन्होंने निश्चय किया ॥१५॥

ऐसा निश्चय कर वे लकड़ियाँ काटने के लिए जंगल में गये जिस वृत्ति से आजीविका चलती है वही वृत्ति आपत्ति में विराजती है ॥१६॥

उस दिन की कमाई को उसी दिन खाने वाले वे प्रतिदिन जंगल में जाकर; लकड़ियाँ लाकर और उन्हें बेचकर अपना जीवननिर्वाह करते थे ॥१७॥

जिस वनप्रान्त में वे जाते थे उसमें गुप्त और अगुप्त सम्पूर्ण रत्न; सुवर्ण और लकड़ियाँ थीं ॥१८॥

तेषां भारभूतां मध्यात्केचित्कतिपयैर्वनात् ।
जातरूपाणि रत्नानि तानि संप्राप्नुवन्ति हि ॥१९॥
केचिच्चन्दनदारूणि केचित्पुष्पाणि मानद ! ।
केचित्फलानि विक्रीय जीवन्ति चिरकीरकाः ॥२०॥
केचित्सर्वमनासाद्य दुर्दारूण्येव दुर्धियः ।
नीत्वा विक्रीय जीवन्ति वनवीथ्युपजीविनः ॥२१॥
दार्वर्थमुद्यताः सर्वे ते संप्राप्य महावनम् ।
केचित्प्राप्य स्थिताः सर्वे झटित्येवं गतज्वरम् ॥२२॥
इति यावदजस्रं ते सेवन्ते तन्महावनम् ।
प्रदेशात्तावदेकस्मात्प्राप्तश्चिन्तामणिर्मणिः ॥२३॥
तस्माच्चिन्तामणेः प्राप्ताः समग्रा विभवश्रियः ।
परमं सुखमायातास्तत्र ते संस्थिताः सुखम् ॥२४॥
दार्वर्थमुद्यताः सन्तः प्राप्य सर्वार्थदं मणिम् ।
सुखं तिष्ठन्ति निर्द्वन्द्वा दिवि देववरा इव ॥२५॥
सर्वार्थसारपरिपूर्णतया तया ते
काष्ठोद्यमार्जितसन्मणयो महान्तः ।
तिष्ठन्ति शान्तभयमोहविषाददुःख-
मानन्दमन्थरधियः समतामुपेताः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे काष्ठवैवधिकोपाख्याने चिन्तामणिलाभोनाम षण्णवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९६॥

उन लकड़हारों में से कुछ भाग्यशाली लोग कुछ ही दिनों में वन से उन विविध-रत्नों और सुवर्ण को पा गये। कुछ कीराक लोग चन्दन की लकड़ियाँ, कुछ केवड़े और चम्पा के फूल, कुछ लोग अच्छे-अच्छे फल बेचकर चिरकाल तक आजीविका चलाते थे ॥१९; २०॥

कुछ अभागे और अच्छी चीजों को खोजने में अकुशल जंगली कीरक अच्छी वस्तुएँ न पाकर खराब-खराब जलावन की लकड़ियाँ लाकर; बेचकर जीवनयापन करते थे ॥२१॥

लकड़ियाँ बीनने के लिए उद्योगशील वे सबके सब जंगल में पहुँचे। वहाँ जाकर उनमें से कुछ लोग रत्न आदि पाकर सबके सब दारिद्र्यरूपी ज्वर से शीघ्र ही उन्मुक्त हो स्थित हुए ॥२२॥

इस प्रकार जब तक कि वे लोग नित्य उस वन में आते जाते थे इसी बीच में एक स्थान पर उन्हें मणिश्रेष्ठ चिन्तामणि मिली ॥२३॥

उक्त चिन्तामणि से उन्हें समग्र विभूतियाँ प्राप्त हुईं अतः परम सुखी होकर वे वहाँ सुख से रहने लगे ॥२४॥

वे लकड़ियों के पाने के लिए उद्योगशील हुए थे। सब पदार्थों को देने वाली बहुमूल्य मणि को पाकर शीतोष्णादि दुःख रहित होकर वैसे ही रहने लगे जैसे देवता स्वर्ग में सुख से रहते हैं ॥२५॥

उन कीरक देश निवासी वंहगी ढोने वाले लोगों को लकड़ियों के लिए किये गये उद्योग से ही बहुमूल्य उत्तम मणि मिली उक्त सकल पदार्थों तथा उत्तमोत्तम धनों से प्राप्त हुई पूर्णतावश भय, मोह, विषाद और क्लेश से रहित हो आनन्दपूर्ण बुद्धि वाले वे अन्य लाभ-हानियों के विषय में समता को प्राप्त होकर रहते थे ॥२६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में काष्ठवैवधिकोपाख्यान में चिन्तामणिलाभ नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ छानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९६॥

१९७

श्रीराम उवाच

तथा कुरु मुनिश्रेष्ठ ! यथा वैवधिकक्रमम् ।
असंदेहमिमं सम्यगवगच्छामि मानद ! ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

ये ते वैवधिका राम ! ते एते मानवा भुवि ।
तेषां दारिद्र्यदुःखं यत्तदज्ञानं महातपः ॥२॥

१९७

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! जैसे मैं इस वंहगी ढोने वाले कीरकों के क्रम का तात्पर्य भली-भाँति निस्संदेहरूप से समझ जाऊँ, हे सम्मानकारिन् कृपया आप वैसा स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करें ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामजी ! जिन वंहगी ढोने वालों का जिक्र मैंने आपसे किया है हे महा-तपस्विन् ! उन्हें आप ये भूतलवर्ती मानव जानें और उनका जो दारिद्र्य दुःख है उसे आप अज्ञान जानें ॥२॥

यत्तन्महावनं प्रोक्तं गुरुशास्त्रक्रमादि तत् ।
यदुद्यतास्ते ग्रासार्थं जना भोगार्थिनो हि ते ॥३॥
भोगौघाः सिद्धिमायान्तु मम निष्कृपणो जनः ।
अनपेक्षितकार्यार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥४॥
भोगार्थं संप्रवृत्तोऽपि प्राप्नोत्यभ्यासतः क्रमात् ।
जन्तुश्चिन्तितमेवाऽऽद्यपदं परवशोऽपि सन् ॥५॥
दार्वर्थमुद्यतो भावी यथा संप्राप्तवान्मणिम् ।
भोगार्थमात्तशास्त्रोऽयं तथाऽऽप्नोति जनः पदम् ॥६॥
किं स्याच्छास्त्रविचाराभ्यामिति संदेहलीलया ।
कश्चित्प्रवर्तते पश्चादाप्नोति पदमुत्तमम् ॥७॥
अदृष्टोत्तमतत्त्वार्थः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ।
संदेहेनाऽर्थभोगार्थं जनः प्राप्नोति तत्पदम् ॥८॥

जो वह महावन मैंने कहा है उसे आप गुरु, शास्त्र आदि जानें। जो उन्हें भोजन के लिए उद्यत कहा वह भोगार्थी लोगों की ओर संकेत है ॥३॥

अत्यन्त कृपण पुरुष अन्य कार्यों की उपेक्षा कर मेरी भोगराशियाँ सिद्धि को प्राप्त हों इस बुद्धि से शास्त्र-प्रतिपादित उपायों में प्रवृत्त होता है ॥४॥

भोगपरवश भोगार्थी पुरुष पहले भोग के लिए ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता। शास्त्र से पहले भोगरूप फल की प्राप्ति होने पर उनमें क्रमशः दृढ़ विश्वास हो जाने से उनमें वर्णित साधनों के अभ्यास से भिन्न भिन्न भूमिकाओं के आरोहण क्रम से चिन्तित शास्त्र के परम तात्पर्य के विषयभूत मोक्षनामक ब्रह्म को परवश होता हुआ भी अवश्य प्राप्त होता है अर्थात् अत्यन्त कृपण मानव अपने भोगों की इच्छा से ही शास्त्रों में प्रवृत्त होता है तथापि शास्त्र गुड़जिह्विका के न्याय से इस पहले फलास्वादों द्वारा (भोगलाभ द्वारा) आकृष्ट कर अन्त में अपने परम पद में अवश्य ले ही जाता है ॥५॥

पुरुष भोग के लिए शास्त्र को ग्रहण कर परमपद को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे सार असार के विचार और अन्वेषणादि युक्त वैवधिक काष्ठ ढूंढ़ने को उद्यत हो वन में गया पर वहाँ उसे मणि प्राप्त हुई ॥६॥

पहले शास्त्र और विचारों से क्या होगा इस सन्देह के कौतूहल से पुरुष शास्त्रों में प्रवृत्त होता है अनन्तर उस उत्तम पद को प्राप्त करता है ॥७॥

जिस पुरुष को परमब्रह्मरूप उत्तम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ वह विषयभोग के लिए सन्देह से अर्थात् इससे विषयभोग की प्राप्ति होगी या नहीं यों संशय से शास्त्र आदि में प्रवृत्त होता है फिर उससे परम पद को प्राप्त करता है ॥८॥

अन्यथा संप्रवर्तन्ते शास्त्रैर्वासनया जनाः ।
अन्यदासादयन्त्याद्यं मणिं वैवधिका इव ॥९॥
परोपकारेऽविरतं स्वभावेन प्रवर्तते ।
यः स साधुरिति प्रोक्तः प्रमाणं त्वस्य चेष्टितम् ॥१०॥
साध्वाचारवशाल्लोको भोगसंप्राप्तिशङ्कया ।
संदेहश्चाऽप्यतत्त्वज्ञः शास्त्रादौ संप्रवर्तते ॥११॥
भोगार्थं संप्रवृत्तोऽसौ भोगमोक्षावुभावपि ।
तस्मात्प्राप्नोति दार्वर्थी वनाच्चिन्तामणिं यथा ॥१२॥
केचिच्चन्दनदारूणि केचिच्चिन्तामणिं मणिम् ।
केचित्सामान्यरत्नानि प्राप्नुवन्ति यथा वनात् ॥१३॥
केचित्कामं केचिदर्थं केचिद्धर्मं त्रयं तु वा ।
केचिन्मोक्षमशेषं च लभन्ते शास्त्रतस्तथा ॥१४॥

अपनी अपनी वासना के अनुसार शास्त्र के अन्य-प्रकार के फल की संभावना कर लोग उसमें प्रवृत्त होते हैं पर शास्त्रों से वाणी और मन का अगोचर निर्विषय निरतिशय सुख वैसे ही प्राप्त करते हैं जैसे वैवधिक लोगों को मणि मिली थी अर्थात् जैसे वैवधिक लकड़ियों के लिए वन में गये थे मिली उन्हें मणि वैसे ही शास्त्रों द्वारा लोगों को अन्य परमोत्तम फल प्राप्त हो जाता है ॥९॥

जो निरन्तर परोपकार में प्रवृत्त साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा सब लोगों के लिए प्रमाण है अर्थात् सब लोगों की स्वभावतः सन्मार्गप्रवृत्ति में साधुओं का सदाचार दर्शन ही कारण है, इसलिए साधुओं का लक्षण प्रदर्शित करते हैं ॥१०॥

साधुओं के आचार के कारण ही अज्ञानी लोग शास्त्र-फल में सन्देह रहने पर भी भोगप्राप्ति की आशा आदि से प्रवृत्त होते हैं ॥११॥

भोग के लिए शास्त्र आदि में प्रवृत्त अज्ञानी पुरुष जैसे काष्ठार्थी वैवधिक को जंगल में चिन्तामणि मिली थी वैसे ही उससे भोग और मोक्ष दोनों पाता है ॥१२॥

जैसे वैवधिकों में से किन्हीं को वन से चन्दन की कीमती लकड़ियां मिलीं, किन्हीं को चिन्तामणि नाम की उत्तम मणि मिली और किन्हीं को सामान्य रत्न मिले वैसे ही शास्त्र आदि में प्रवृत्त होनेवालों में से किन्हीं को काम की प्राप्ति होती है, किन्हीं को अर्थ की प्राप्ति होती है, किन्हीं को धर्म की प्राप्ति है और किन्हीं को धर्म, अर्थ और काम तीनों मिलते हैं एवं कोई शास्त्र से पूर्ण मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१३,१४॥

वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव ! ।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥१५॥
केवलं सर्ववाक्यार्थैर्ध्वन्यमानाऽवगम्यते ।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा ॥१६॥
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम् ।
सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति ॥१७॥
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात् ।
एष सर्वपदातीतो बोधः संप्राप्यते परः ॥१८॥
एतान्यकारणान्येव कारणत्वं गतान्यलम् ।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव ! तच्छृणु ॥१९॥

शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाऽऽशु पदं पश्यति पावनम् ॥२०॥
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनाऽस्या भागेनाऽऽयाति संक्षयम् ॥२१॥
नूनं मलं प्रधानेन क्षालयञ्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥२२॥
अनिच्छयोरेव यथा सम्प्रसप्तिसमुद्रयोः ।
प्रागदृश्यं तृतीयन्तु स्वभाववशतः स्वतः ॥२३॥
स्वसंनिधानमात्रेण विदितप्रतिभासनम् ।
सदसन्मयमाभोगि प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ॥२४॥
मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः संबन्धमात्रतः ।
सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥२५॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! शास्त्र आदि में त्रिवर्ग का धर्म, अर्थ और काम का मुख्य वृत्ति से ही उपदेश है लेकिन ब्रह्मप्राप्ति अवाच्य होने के कारण ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में भी पद और वाक्य की मुख्यवृत्ति से नहीं है ॥१५॥

ब्रह्मप्राप्ति केवल सकल वाक्यार्थों से आलङ्कारिकों के मत में व्यञ्जनावृत्ति से और अन्यों के मत में लक्षणा वृत्ति से वैसे ही सूचित ध्वनित होती हुई स्वयं अपने अनुभव से अवगत होती है जैसे वसन्त आदि काल-शोभा तत्-तत् ऋतुओं के फूल, फल, पल्लव आदि की उत्पत्ति से सूचित होती हुई स्वानुभव से प्रतीत होती है ॥१६॥

अर्थात् यद्यपि शास्त्र में मुख्यवृत्ति से (अभिधा से) ब्रह्म-बोधन की सामर्थ्य नहीं है तथापि लक्षणा आदि उपायों से बोधन में सामर्थ्य है ही, इसलिए उससे अधिकारी लोगों को ब्रह्मज्ञान होता ही है अतः शास्त्र व्यर्थ नहीं है ।

सकल दृश्यवर्ग अथवा त्रिवर्ग को मातकर सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थित निर्मल ब्रह्मबोध शास्त्र में वैसे ही विद्यमान है जैसे स्त्रीरत्न में मणि, दर्पण, चन्द्रमा आदि सबकी सुन्दरता को मात करनेवाली निर्मल लुनाई रहती है ॥१७॥

सब पदों को मातकर उत्कृष्टता को प्राप्त यह परम बोध न शास्त्र से, न गुरुजी के उपदेशवाक्य से, न दान से और न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है अर्थात् इन सबसे ब्रह्मबोध साक्षात् प्राप्त नहीं होता परम्परया तो ये उसकी प्राप्ति में साधन हैं ही ॥१८॥

हे श्रीरामचन्द्र जी, अकारण ही ये शास्त्र, गुरु- उपदेश आदि एकमात्र परमात्मा में विश्रान्ति में परमब्रह्मावाप्ति में जैसे चित्तशुद्धि आदि साधनों की वृद्धि द्वारा पूर्णतया कारण हुए हैं, यह मुझसे सुनिए ॥१९॥

बार-बार अभ्यास करने से शास्त्र से विशुद्ध, सकल भोगों की इच्छा से रहित तथा प्रतिदिन अन्तर्मुख होने के कारण प्रत्यगात्मा की ओर झुका हुआ चित्त परम पुनीत ब्रह्मपद का साक्षात्कार करता है ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ! इस शास्त्र से अविद्या का सात्त्विक अंश (उन्नत) बनाया जाता है अविद्या के अभ्युन्नत हुए सात्त्विक भाग से तामसिक अंश क्षीण हो जाता है ॥२१॥

शास्त्ररूपी जल से मल को धोने वाला पुरुष अचिन्त्य शास्त्रादि के प्रभाव से ज्ञेय नित्य शुद्ध आत्मवस्तु की सामर्थ्य से परम शुद्धि को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२२॥

मुमुक्षु मुक्ति चाहने वाले और शास्त्र का परस्पर सम्बन्ध होने से ही सकल ज्ञानों के विषय से परे वैसे ही आत्मज्ञान होता है जैसे सूर्य और समुद्र का आमना-सामना होने पर उनकी इच्छा न होने पर भी पहले से अदृश्य भी तीसरा प्रतिबिम्ब स्वच्छ और प्रकाश स्वभाव से स्वतः हो जाता है । वहाँ पर जैसे केवल अपनी सन्निधि से सदसन्मय विशाल अनुभव सिद्ध स्फुरण वाला प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥२३-२५॥

अनयोः प्रेक्षणाद्देहे विवेको जायते यथा।
तथा स्वभावतः शास्त्रविवेकाज्ज्ञेयवेदनम् ॥२६॥
लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा।
क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥२७॥
तथा शास्त्रविकल्पोघैर्विकल्पांश्चेतनाद् बुधः।
क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥२८॥
महावाक्यार्थनिष्यन्दं स्वात्मज्ञानमवाप्यते।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥२९॥
प्रभाभित्त्योः समासङ्गाद्यथा लोकोऽनुभूयते।
श्रुतश्रुतवतोः सङ्गादात्मज्ञानं तथा भवेत् ॥३०॥
त्रिवर्गमात्रसंसिद्ध्यै यन्न मोक्षाय च तच्छ्रुतम्।
विपुलश्रुतचर्चासु तुच्छमश्रुतमेव तत् ॥३१॥
तच्छ्रुतं यत्किल ज्ञप्त्यै सा ज्ञप्तिः समता यया।
तत्साम्यं यत्र सौषुप्ती स्थितिर्जाग्रति जायते ॥३२॥
एवं हि सर्वमेतत्तच्छास्त्रादेः समवाप्यते।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्राद्यभ्यासमाहरेत् ॥३३॥
शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां
सत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम !।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं
सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे
शास्त्रमाहात्म्यं नाम सप्तनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९७॥

शास्त्रकृत विवेक से भी देह में स्वभावतः सकल उपाधियों से असंस्पृष्ट अद्वितीय ज्ञेय का वैसे ही ज्ञान होता है जैसे सूर्य और समुद्र के दर्शन से देह में उनके वैधर्म्य आदि का बोधरूप विवेक होता है ॥२६॥

शास्त्रीय विचाररूप अनेक विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों को पुनः पुनः आत्मतत्त्व के परीक्षण से धो रहे विद्वान् को अपने विचार से परम शुद्धता प्राप्त होती है जैसे जल में एक ढेले से दूसरे ढेले को धो रहे बालक को ढेलों के क्षय से हाथ में परम निर्मलता प्राप्त होती है अर्थात् शास्त्रकृत विचाररूप विकल्पों से भ्रान्तिजनित विकल्पों के क्षालन से आत्मनैर्मल्य की प्राप्ति में भी दृष्टान्त देते हैं ॥२७; २८॥

सूत्र, भाष्य, उनके विविध व्याख्यान, महारामायण योगवासिष्ठ आदि शास्त्र और गुरु के उपदेशरूप उपाय से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थ का साररूप 'तत्' पद और 'त्वम्' पद वाच्य अर्थ के परिशोधन से प्राप्त रसभूत अखण्ड वाक्यार्थ का अपरोक्ष अनुभवरूप स्वात्मज्ञान वैसे ही प्राप्त होता है जैसे कोल्हू में पेरने से निकले हुए ईख के रस से स्वादिष्ट माधुर्यास्वाद अपने अनुभव से प्राप्त होता है ॥२९॥

जैसे यद्यपि आकाश में आलोक चारों ओर फैला रहता है तथापि प्रभा और भीत के संग से ही अभिव्यक्त होकर साफ-साफ अनुभव में आता है वैसे ही नित्य स्वप्रकाशरूप भी आत्मज्ञान महावाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी के मेलन से स्पष्टतः अनुभव में आता है ॥३०॥

जिस शास्त्र श्रवण का केवल त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि ही फल है मोक्षफल नहीं है तत्त्ववेत्ताओं की तत्त्वबोधोपाय चर्चा में वह शास्त्रश्रवण केवल मूर्खता ही है क्योंकि मिथ्याविषय फल वाला होने से वह तुच्छ ही है अर्थात् आत्मज्ञानावाप्ति में अन्यान्य (आत्मज्ञानानुपयोगी) शास्त्रों के श्रवण अथवा उनकी विद्वत्ता का कदापि उपयोग नहीं होता है ॥३१॥

जो शास्त्रश्रवण ज्ञान की प्राप्ति के लिए होता है वही शास्त्रश्रवण है, वही ज्ञान है जिससे समता होती है, वही समता है जिसमें जाग्रत् में भी सुषुप्ति की स्थिति निर्विकल्पस्वरूप स्थिति होती है ॥३२॥

पूर्वोक्त यह सब ज्ञान, समता, निर्विकल्प स्वरूप स्थिति आदि शास्त्र आदि से प्राप्त होता है, इसलिए सकल प्रयत्नों से शास्त्र आदि का अभ्यास करें अर्थात् पूर्वोक्त सब कुछ शास्त्र के अधीन है, इसलिए शास्त्राध्ययन आवश्यक है ॥३३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! ब्रह्मलोक पर्यन्त के ऐश्वर्य से भी बढ़ा चढ़ा हुआ परम पवित्र मोक्ष नाम का अनादि सुख गुरुओं की वाणी से शास्त्रार्थबोधन द्वारा ही प्राप्त होता है और शास्त्रार्थ बोध सन्त पुरुषों की संगति, नियम और शम से प्राप्त होता है ॥३४॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में शास्त्रमाहात्म्य नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ सत्तानवेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९७॥

१९८

वसिष्ठ उवाच

भूयो निपुणबोधाय शृणु किंचिद्रघूद्वह ! ।
पुनः पुनर्यत्कथितं तदज्ञेऽप्यवतिष्ठते ॥१॥
राघव ! प्रथमं प्रोक्तं स्थितिप्रकरणं मया ।
येनेदमित्थमुत्पन्नमिति विज्ञायते जगत् ॥२॥
ततो जगति जातेन परोपशमशालिना ।
भवितव्यमिति प्रोक्तं मयोपशमयुक्तिभिः ॥३॥
उपशान्तिप्रकरणे प्रोक्तैरुपशमक्रमैः ।
परमोपशमं गत्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥४॥
प्राप्तप्राप्येन तज्ज्ञेन यथा संसारदृष्टिषु ।
विहर्तव्यं हि नः किंचित्स्वल्पं श्रोतव्यमस्ति ते ॥५॥
जन्म संप्राप्य जगति बाल्य एव जगत्स्थितिम् ।
यथाभूतामिमां बुद्ध्वा वस्तव्यमिह विज्वरम् ॥६॥
सर्वसौहार्दजननीं सर्वस्याऽऽश्वासकारिणीम् ।
समतामलमाश्रित्य विहर्तव्यमिहाऽनघ ॥७॥
सर्वसंपत्तिसुभगं सर्वसौभाग्यवर्धनम् ।
समतासुलतायास्तु फलं भवति पावनम् ॥८॥
समतासुभगेहानां कुर्वतां प्रकृतं क्रमम् ।
सर्वैवेयं जगल्लक्ष्मीर्भृत्यतामेति राघव ! ॥९॥
न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसंगमात् ।
अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥१०॥

१९८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! बोध दृढ़ बनाने वाली निर्विक्षेपता की सिद्धि के लिए कुछ कहे जा रहे रहस्य को आप पुनः सुनें।

शङ्का—जो बात पुनः पुनः उपशमप्रकरण में कही जा चुकी है उसी का यहाँ क्यों वर्णन करते हैं ?

समाधान—जो बात बार-बार कही जाती है वह निपट मूर्ख के भी हृदय में जम जाती है विद्वान् के हृदय में तो कहना ही क्या है ? इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ ॥१॥

हे रघुवर ! पहले मैंने आपसे स्थिति प्रकरण का वर्णन किया जिससे उत्पन्न हुआ यह जगत् इस प्रकार केवल भ्रान्तिमात्र है यह ज्ञान होता है। अर्थात् उत्पन्न हुआ जगत् यों केवल भ्रम ही है उत्पत्ति और स्थिति प्रकरण से यह ज्ञात होने पर समदर्शन की प्रतिष्ठा से उपशम प्रकरण में समदर्शन का वर्णन किया। उसी का यहाँ पर जीवन्मुक्ति सुख की प्रतिष्ठा के लिए पुनः वर्णन किया जाना है ॥२॥

अनन्तर उपशमप्रकरण में वर्णित युक्तियों द्वारा मैंने जगत् में उत्पन्न हुए व्यक्ति को अत्यन्त उपशमवान् होना चाहिये यह बात उपशमप्रकरण में कही है। उपशान्ति-प्रकरण में कहे गये उपशम के क्रमों से परम शान्ति को प्राप्त होकर इस प्रकरण में कहे जाने वाले निर्वाणसुख में सन्तापरहित होकर रहना चाहिये ॥३, ४॥

ज्ञातव्य परम ब्रह्म को प्राप्त तत्त्वज्ञानी को सांसारिक व्यवहारों में जिस प्रकार व्यवहार करना चाहिये वह थोड़ा-बहुत रहस्य आपको हमारे मुँह से सुनना बाकी है, उसे मैं कहता हूँ ॥५॥

जगत् में जन्म पाकर बाल्यावस्था में ही जगत् की इस वास्तविक स्थिति का परिज्ञान कर आगे कहे जा रहे प्रकार से विक्षेप शून्य होकर रहना चाहिए ॥६॥

हे निष्पाप श्रीरामजी ! सबका सौहार्द उत्पन्न करनेवाली सबको आश्वासित करनेवाली समता का अर्थात् सकल जीवों में एक आत्मा के दर्शन से गुण-दोष-दर्शनरूप वैषम्यशून्यता, अपने शरीर के समान सबका सुख-दुःखदर्शन और सकल विषमताओं से शून्य ब्रह्मदृष्टि का पूर्णरूप से अवलम्बन कर इस संसार में विचरण करना चाहिये ॥७॥

समतारूपी सुन्दर लता का सुफल परम पवित्र; सम्पूर्ण बाह्य सम्पत्तियों से मनोहर और सकल कल्याण गुणों का वर्द्धक है ॥८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! सकल प्राणियों की हितावह समता से सुन्दर चेष्टा वाले प्रस्तुत क्रम पर आचरण कर रहे अर्थात् यथाप्राप्त वर्णाश्रम-व्यवहार कर रहे महापुरुषों की यह सारी की सारी जगद्विभूति भृत्यता को प्राप्त होती ॥९॥

समता से प्राप्त अक्षय सारभूत सुख न तो राज्य से प्राप्त होता है और न कान्ता के संग से ही प्राप्त होता है ॥१०॥

द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ! ॥११॥

मित्रीभूताखिलरिपुर्यथाभूतार्थदर्शनः ।
दुर्लभो जगतां मध्ये साम्यामृतमयो जनः ॥१२॥

प्रबुद्धस्य स्वचित्तेन्दोर्निष्यन्दममृताधिकम् ।
साम्यमास्वाद्य जीवन्ति सर्वे वै जनकादयः ॥१३॥

साम्यमभ्यस्यतो जन्तोः स्वदोषोऽपि गुणायते ।
दुःखं सुखायते नित्यं मरणं जीवितायते ॥१४॥

साम्यसौन्दर्यसुभगं वनिता मुदितादिकाः ।
आलिङ्गन्ति महात्मानं नित्यं व्यसनिता इव ॥१५॥

समः समुदितो नित्यं समोऽनुदितधीः सदा ।
न काश्चिदिह ताः सन्ति याः समस्य हि नर्धयः ॥१६॥

सर्वकार्यसमं साधुं प्रकृतव्यवहारिणम् ।
चिन्तामणिमिवोदारं प्रवाञ्छन्ति नरामराः ॥१७॥

सम्यक्कारिणमुद्दाममुदितं समचेतसम् ।
न दहन्त्यग्नयो राम ! नाऽऽपः क्लिन्दन्ति मानवम् ॥१८॥

यद्यथा तत्तथा येन क्रियते दृश्यते तथा ।
आनन्दोद्वेगमुक्तेन कस्तं तोलयितुं क्षमः ॥१९॥

मित्राणि बन्धुरिपवो राजानो व्यवहारिणः ।
सम्यक्कारिणि तत्त्वज्ञे विश्वसन्ति महाधियः ॥२०॥

नाऽनिष्टात्प्रपलायन्ते नेष्टादायान्ति तुष्टताम् ।
प्रकृतक्रमसंप्राप्तास्तत्त्वज्ञाः समदर्शिनः ॥२१॥

त्यक्त्वासर्वानुपादेयान् राम भावाननिन्दितान् ।
समतायामदुःखायां दधाना वृत्तिमुत्तमाम् ॥२२॥

विहसन्ति जगज्जालं जीवयन्ति निरामयाः ।
पूज्यन्ते विबुधैः सर्वैः समतामुदिताशयाः ॥२३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप समता को सुख-दुःख, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों की शान्ति की परमसीमा, संशयरूपी ज्वर की विनाशक तथा सकल दुःखरूपी आतप के लिए मेघरूप जाने अर्थात् समता से सकल दुःख और उनके हेतुओं का विनाश भी सिद्ध होता है ॥११॥

समतारूपी अमृत से ओतप्रोत अतएव समतावश जिसके सकल शत्रु मित्र रूप हो चुके हैं ऐसा यथार्थदर्शी पुरुष त्रिलोकी में दुर्लभ है ॥१२॥

प्रबुद्ध स्वचित्तरूपी चन्द्रमा के निष्यन्दरूप सारभूत अमृत से भी बढ़े-चढ़े साम्य का आस्वाद लेकर सब जनक आदि तत्त्वज्ञ जीते हैं ॥१३॥

साम्य का अभ्यास कर रहे जन्तु का क्रोध, लोभ आदि स्वदोष भी शान्ति, औदार्य के रूप में परिणत होकर गुण हो जाता है, दुःख नित्य सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है ॥१४॥

समतारूपी सौन्दर्य से मनोहर पुरुष को योगशास्त्र में प्रसिद्ध मैत्री, करुणा, उपेक्षा, मुदिता आदि महिलाएँ पति के समागम में व्यसनवती-सी होकर उत्सुकता से आलिङ्गन करती हैं ॥१५॥

समतारूपी गुण से सम्पन्न पुरुष सदा सकल कल्याण गुणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियों से युक्त है तथा समता से युक्त पुरुष सदा चिन्ताशून्य है । इस त्रिलोकी में शायद ही कोई सम्पत्ति होगी जो कि समता सम्पन्न पुरुष को प्राप्त न हुई हो ॥१६॥

स्वकार्य और परकार्य में सम अपराधियों पर भी क्षमा करने वाले, चिन्तामणि के समान त्यागशील (उदार), परम ब्रह्मावाप्ति में उद्योगशील पुरुष को नर और अमर सभी चाहते हैं ॥१७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! सदाचार सम्पन्न सब लोगों का हित करने वाले पूर्णरूप से प्रसन्न समचित्त वाले पुरुष को न अग्नि जलाती है और न जल नष्ट करता है ॥१८॥

जो कार्य रूप से जैसा करना चाहिए वैसा करने से तथा आनन्द और क्रोध से रहित जो सब कुछ सम रूप से देखता है उस मनुष्य की बराबरी करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥

सदाचार सम्पन्न सर्वजन हितकारी तत्त्वज्ञानी पुरुष का मित्र, बन्धु-बान्धव, शत्रु, राजा और व्यवहारपरायण महामति सभी विश्वास करते हैं ॥२०॥

प्रस्तुत ब्रह्मावाप्तिरूप क्रम में पहुँचे हुए अथवा यथा प्राप्त व्यवहार करने वाले समदर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष अनिष्ट से भागते नहीं, घबराते नहीं और इष्ट से सुखप्रद मित्र आदि से प्रसन्न नहीं हो है। तत्त्वज्ञानी महापुरुष अन्य लोगों द्वारा इष्टरूप से परिगृहीत गृह, क्षेत्र आदि पदार्थों का त्यागकर निर्लोभ सन्तोषरूप वृत्ति को धारण करते हुए दुःखलेशशून्य समता में विराजमान हो जगत् जंजाल पर हँसते हैं । समता से प्रसन्न चित्तवाले तत्त्वज्ञानी पुरुष निरामय होकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करते हैं और सकल देवताओं द्वारा पूजे जाते हैं ॥२१-२३॥

प्रकृतक्रमसंप्राप्तं मुखेन्दौ कोपमेव यः।
समाशयो धारयति स्यात्सौम्यामृतवज्जनः ॥२४॥

यत्करोति यदश्नाति यदाक्रामति निन्दति।
समदृष्टिस्तदस्येयं स्तौति नित्यं जनावलिः ॥२५॥

यच्छुभं वाऽशुभं यच्च यच्चिरेण यदद्य वा।
समदृष्टिकृतं सम्यगभिनन्दति तज्जनः ॥२६॥

सुखदुःखेषु भीमेषु संततेषु महत्स्वपि।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥२७॥

शिबिर्भूपः कपोताय मांसमङ्गविकर्तनम्।
ददौ मुदितया बुद्ध्या समदृष्टितयाऽनया ॥२८॥

प्राणेभ्योऽपि प्रियतमां कान्तामग्रे विकालिताम्।
दृष्ट्वाऽप्यङ्ग महीपालो न मुमोह समाशयः ॥२९॥

समता से परिपूर्ण जन इसके हित के लिए अपने मुखरूपी चन्द्रमा में यथा प्राप्त व्यवहार से उत्पन्न क्रोध भी यदि धारण करता है तो वह भी अमृत के सदृश ही होता है उसमें किसी को क्लेश कदापि नहीं होता है ॥२४॥

समदृष्टि पुरुष का कार्य भोजन आक्रमण करता है और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है उसके उस सबकी जनता नित्य स्तुति करती है ॥२५॥

समदृष्टि द्वारा किया गया कार्य चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो चाहे चिरकाल में किया गया हो अथवा आज किया गया हो उस सबका सब लोग पूर्णरूप से अभिनन्दन करते हैं ॥२६॥

सदा घोर महान् सुख-दुःखों के उपस्थित होने पर भी समदृष्टि पुरुषों के चित्त में थोड़ा भी उद्वेग नहीं होता है ॥२७॥

राजा शिवि ने इस समदृष्टि के कारण शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए कबूतर के मांस के बदले में अपना शरीर काटकर प्रसन्न बुद्धि से अपना मांस दे दिया था ॥२८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषमता से रहित अन्तःकरण वाले राजा युधिष्ठिर अपने सामने शत्रुओं द्वारा केशपाश और वस्त्रों के आकर्षण से क्लेशित प्राणों से भी प्रियतम अपनी पत्नी द्रौपदी को देखकर मोह को नहीं प्राप्त करता है ॥२९॥

मनोरथशतप्राप्तं तनयं समया धिया।
राक्षसाय त्रिगर्तेशो ददौ स्वपणहारितम् ॥३०॥

नगर्यां दह्यमानायां भूषितायां तथोत्सवे।
सम एव महीपालो जनको भूभृतां वरः ॥३१॥

न्यायतः परिविक्रीतं साल्वराट् समदर्शनः।
स्वमेव विचकर्ताऽऽशु शिरः पद्मदलं यथा ॥३२॥

कुन्दप्रकरनिर्भासं यज्ञे पाण्डुमिवाऽचलम्।
जहौ जरत्तृणमिव सौवीरः समया धिया ॥३३॥

समयैव धिया नित्यं निजमभ्याहरत्क्रमम्।
मातङ्ग कुण्डपो नाम प्राप वैमानिकस्थितिम् ॥३४॥

सर्वभूतक्षयकरीं साम्याभ्यासेन भूरिणा।
तत्याज राक्षसीं वृत्तिं कदम्बवनराक्षसः ॥३५॥

समबुद्धि से ही त्रिगर्त देश के अधिपति ने सैंकड़ों मनोरथों से प्राप्त अपने एकलौते पुत्र को, जिसे वाग्द्यूत में वह हार चुका था अर्थात् जो राक्षस द्वारा जीता गया था, बिना हिचकिचाहट के राक्षस को दे ॥३०॥

उत्सव के सिलसिले में खूब सजाई गई नगरी के जलने पर राजाओं में सर्व श्रेष्ठ महाराजाधिराज जनक सम ही रहे उनमें किसी प्रकार की विषमता नहीं आई ॥३१॥

समदृष्टि वाले साल्वराट् ने तुम्हें मुँह माँगी दक्षिणा दूँगा इस प्रतिज्ञावश ब्राह्मण के लिए बेचा गया अर्थात् दिया गया अपना सिर कमल के पत्र के समान तुरन्त काट डाला ॥३२॥

राजा सौवीर ने समबुद्धि से ही कुन्द पुष्पों की राशि के समान शुभ्र कैलास पर्वत के समान ऐरावत हाथी, जिसे कि उसने इन्द्र विजय से पाया था, यज्ञ में ऋत्विजों के वचन से फिर इन्द्र को दे डाला ॥३३॥

अपना देहयात्रा के लिए समबुद्धि से ही कर रहे कुण्डप नामक शूद्र ने एक गाय को अपनी मजदूरी का निष्क्रय बनाकर ब्राह्मण की पाँच कीचड़ में फँसी गउएँ निकालकर अपनी मजदूरी की निष्क्रयभूत गऊ पुष्कर तीर्थ में उस ब्राह्मण को देकर तुरन्त स्वर्ग से आये हुए विमान पर चढ़कर देवत्व प्राप्त किया ॥३४॥

कदम्बवन में निवास करने वाले राक्षस ने प्रचुर साम्याभ्यास से ही सब प्राणियों का विनाश करने वाली राक्षसी वृत्ति का त्याग किया ॥३५॥

बालचन्द्राभिजातोऽपि समबुद्धितया जडः।
गुणमोदकवन्न्यायप्राप्तमग्निमभक्षयत् ॥३६॥

समबुद्धितया क्रूरव्यवहारपरोऽपि सन्।
धर्मव्याधस्तनुं त्यक्त्वा जगाम परमं पदम् ॥३७॥

नन्दनोद्यानसंस्थोऽपि पुरुषोऽपि कपर्दनः।
लुलुभे न सुरस्त्रीषु नूनं प्रणयिनीष्वपि ॥३८॥

समचित्ततयाऽस्पन्दः करञ्जगहनेष्वपि।
विन्ध्यकान्तारकच्छेषु राज्यं त्यक्त्वाऽवसच्चिरम् ॥३९॥

ऋषयो मुनयश्चैव ये सिद्धाः सुरपूजिताः।
समदृष्टितयोद्विग्ना न ते तासु व्रतर्द्धिसु ॥४०॥

राजानः प्राकृताश्चैव धर्मव्याधादयोऽपरे।
समदृष्टिपदाभ्यासान्महतां पूज्यतां गताः ॥४१॥

इहाऽमुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थप्रवृत्तये।
समदृष्टितया नित्यं विचरन्ति सुबुद्धयः ॥४२॥

अभिवाञ्छेन्न मरणमभिवाञ्छेन्न जीवितम्।
यथाप्राप्तसमाचारो विचरेदविहिंसकः ॥४३॥

समकलितगुणागुणैकभावः
समसुखदुःखपरावरो विलासी।
प्रविचरति समावमानः
प्रकृतवरव्यवहारपूतमूर्तिः ॥४४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
समदृष्टिप्रशंसा नामाष्टनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९८॥

बाल चन्द्रमा के समान सुन्दर जड़ भरत ने समबुद्धि से ही भिक्षापात्र में भैक्ष्यन्याय से प्राप्त अग्नि का गुड़-मोदक के समान भक्षण किया ॥३६॥

यद्यपि धर्मव्याध मृगवध, मांसकर्तन आदि क्रूर व्यवहार में परायण था फिर भी समदृष्टि होने के कारण वह अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग कर परम पद को सिधारा ॥३७॥

कपर्दन नाम का राजर्षि पुरुष होने के कारण अप्सराओं के संभोग में समर्थ था और अप्सराएँ भी उस पर प्रेम करती थीं परमोद्दीपक नन्दनवन में वह रहता था फिर भी वह समदृष्टिवश सुरस्त्रियों में मोहित नहीं हुआ ॥३८॥

राजर्षि कपर्दन सम चित्त वाला होने के कारण विस्तृत राज्य को तिलाञ्जलि देकर विन्ध्याचल के दुर्गम जलप्राय प्रदेशों में तथा करीर के वनों में निश्चेष्ट होकर चिरकाल तक रहा ॥३९॥

ऋषि, मुनि और देवपूजित सिद्ध पुरुष तपस्या प्रयुक्त क्लेशों और भोगों में, समदृष्टि होने के कारण ही, उद्विग्न नहीं होते हैं ॥४०॥

शिवि आदि राजाधिराज और दूसरे धर्मव्याध आदि साधारण लोग भी समदृष्टिता का दृढ़ अभ्यास करने से महापुरुषों के भी पूजनीय हो गये हैं ॥४१॥

ऐहिक और पारलौकिक सुख सिद्धि के लिए और मोक्षरूप परम पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने के लिए मतिमान् पुरुष समदृष्टता से व्यवहार करते हैं ॥४२॥

किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाने वाला पुरुष मरण की आकाङ्क्षा न करे और जीवन की अभिवाञ्छा भी न करे किन्तु यथाप्राप्त सुन्दर व्यवहार करता हुआ विचरण करे ॥४३॥

समता के कारण गुण और दोषों को समान जानता हुआ जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख तथा ऊँच और नीच योनियाँ समान हैं एवं मान और अपमान भी जिसके लिए समान है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष प्राकृत व्यवहारों में भी आसक्ति न होने के कारण पवित्र मूर्ति अतएव प्रकाशमान होकर लोकोपकार के लिए देश-विदेशों में विचरण करता है ॥४४॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में समदृष्टिप्रशंसा नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ अठानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९८॥

१९९

श्रीराम उवाच

नित्यं ज्ञानैकनिष्ठत्वादात्मारामतया तथा।
मुक्तैः कर्मपरित्यागः कस्मान्न क्रियते मुने ! ॥१॥

वसिष्ठ उवाच

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥२॥

न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत्।
न वाऽस्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥३॥

ज्ञस्य नाऽर्थः कर्मत्यागैर्नाऽर्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥४॥

यावदायुरियं राम ! निश्चितं स्पन्दते तनुः।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥५॥

अन्यथाऽन्यत्र चेत्कार्या क्रिया त्यक्त्वा निजं क्रमम्।
समाने हि क्रियास्पन्दे को दोषः सत्क्रमे किल ॥६॥

समया स्वच्छया बुद्धया सततं निर्विकारया।
यथा यत्क्रियते राम ! तददोषाय सर्वदा ॥७॥

इह मह्यां महाबाहो ! बहवो बहुदृष्टयः।
बहुधा बहुदोषेषु विहरन्ति विचक्षणाः ॥८॥

गतसङ्गतया बुद्धया विहरन्ति यथा स्थितेः।
गृहस्थारम्भिणः केचिज्जीवन्मुक्ताः स्थिता भुवि ॥९॥

१९९

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिवर ! जीवन्मुक्त पुरुष नित्य सदा ज्ञान में तल्लीन रहते हैं तथा आत्मक्रीड रहते हैं अतएव वे कर्मों का परित्याग क्यों नहीं करते हैं ॥१॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! जिस महापुरुष की यह हेय है यह उपादेय है दोनों हेयोपादेय दृष्टियाँ क्षीण होने से उसका नित्यनैमित्तिक क्रिया के त्याग से क्या प्रयोजन है अथवा क्रिया के संश्रयण से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसके लिए कर्मसंश्रयण दोनों समान हैं अर्थात् खूब अभ्यस्त कर्म करने में मुक्त पुरुषों को कोई श्रम नहीं होता है और कर्मत्याग का कोई प्रयोजन नहीं है अतएव लोकानुग्रहवश वे कर्म-त्याग नहीं करते हैं ॥२॥

ज्ञानी को कष्टप्रद हेय वस्तु यहाँ नहीं है तथा तत्त्वज्ञानी का संश्रयणीय अवश्य अनुष्ठातव्य उपादेय वस्तु भी नहीं है क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' श्रुति के अनुसार उसकी दृष्टि में परब्रह्म के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं है ॥३॥

ज्ञानी पुरुष का न तो कर्म-त्याग से कोई प्रयोजन है और न कर्मों के आश्रयण से कोई प्रयोजन है वर्ण और आश्रम के उचितरूप से जैसे स्थित है उसको वह वैसे ही करता है ॥४॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! यह शरीर आयुपर्यन्त अवश्य ही चेष्टा करता है इसलिए वह यथा प्राप्त चेष्टा के बिना हिचकिचाहट के करे चेष्टा के त्याग से और अन्यथा चेष्टा से क्या करना है अर्थात् जीवत्-शरीर में चेष्टा होना अवश्यम्भावी होने पर खूब अभ्यस्त सदाचाररूप चेष्टा ही उसके शरीर में होती है ॥५॥

जैसे अपना घर निर्दोष है तो अन्य जगह बैठने की क्या आवश्यकता है वैसे ही अन्यत्र अन्य कोई न कोई कार्य करना ही है तो शास्त्रीय और अशास्त्रीय कर्मों के क्रम के समान होने पर भी शास्त्रीय सत्कर्म में कौन दोष है जिससे अपने क्रम का त्यागकर अन्यथा आचरण किया जाय ॥६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! विषमतारूप दोष से निर्मुक्त निर्विकार स्वच्छ बुद्धि से निरन्तर किया गया कार्य कभी दोषाधायक नहीं होता है ॥७॥

हे महाबाहो ! इस पृथिवी में सकल शास्त्रों तथा लोक का रहस्य जानने वाले विचक्षण पुरुष प्रचुर दोषों में भी अपनी समदर्शनतावश पूर्णरूप से विहार करते हैं अर्थात् यद्यपि कर्मों में प्रवृत्त लोगों को द्रव्योपार्जन, ऋत्विजों को प्रसन्न करना आदि तथा अनुष्ठानयोग्य कार्य के निर्णय के श्रम साध्य होने के कारण बहुत से दोषों की प्राप्ति होती है तथापि समदर्शनता और विचक्षणता के बल से उसका परिहार हो सकता है ॥८॥

भूलोक में स्थित कुछ गृहस्थ, जीवन्मुक्त गतसंग होने के कारण बुद्धि से यथा प्राप्त वर्णाश्रम की अनुवृत्तिवश व्यवहार करते हैं ॥९॥

तज्ज्ञा राजर्षयश्चाऽन्ये वीतरागा भवादृशाः।
असंसक्तधियो राज्यं कुर्वन्ति विगतज्वराः ॥१०॥

केचित्प्रकृतवेदार्थव्यवहारानुसारिणः ।
यज्ञशिष्टाशिनो नित्यमग्निहोत्रे व्यवस्थिताः ॥११॥

केचिच्चतुर्षु वर्णेषु ध्यानदेवार्चनादिकाम्।
स्वक्रियामनुतिष्ठन्तः स्थिता विविधयेहया ॥१२॥

केचित्सर्वपरित्यागमन्तः कृत्वा महाशयाः।
सर्वकर्मपरा नित्यं तज्ज्ञा एवाऽवज्ञवत्स्थिताः ॥१३॥

स्वप्नेऽप्यदृष्टलोकासु मुग्धमुग्धमृगासु च।
वनावनीषु शून्यासु केचिद्ध्यानपरायणाः ॥१४॥

पुण्यवद्भिः सदा जुष्टे पुण्योपचयकारिणि।
शमशालिसमाचारे केचिदायतने स्थिताः ॥१५॥

रागद्वेषप्रहाणार्थं त्यक्त्वा देशं समाशयाः।
केचिदन्यत्र देशे च पदमालम्ब्य संस्थिताः ॥१६॥

जनक आदि तत्त्वज्ञानी राजर्षि तथा आपके सदृश वीतराग और राजा लोग अनासक्त बुद्धि हैं अतएव त्रिविध सन्ताप शून्य हो राज्य करते हैं ॥१०॥

अपने वर्णाश्रमानुरूप प्राप्त वेदार्थ का अनुसरण करने वाले कतिपय व्यक्ति देव-पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मों में निरत हैं ॥११॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में कतिपय व्यक्ति नित्य ध्यान, देवार्चन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए विविधचेष्टा से स्थित हैं ॥१२॥

कतिपय महान् आशय वाले महापुरुष अपने अन्तः-करण में फलासक्ति का त्याग कर नित्य सकल नित्य-नैमित्तिक कर्मों मे परतन्त्र हो तत्त्वज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी की तरह स्थित हैं ॥१३॥

कतिपय व्यक्ति अत्यन्त निर्जन वनभूमियों में, जिनमें स्वप्न में भी लोगों का दर्शन नहीं होता तथा अत्यन्त रमणीय मृगछौने भरे रहते हैं ध्यान मग्न रहते हैं ॥१४॥

कतिपय व्यक्ति सदा पुण्यात्माओं से परिवेष्टित पुण्य की वृद्धि करने वाले शमपूर्ण सदाचार सम्पन्न पुण्यतीर्थ तथा मुनियों के आश्रम आदि में स्थित हैं ॥१५॥

कतिपय समचित्त पुरुष राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए बन्धुजनावृत स्वदेश का त्यागकर अन्य देश में स्थान बनाकर स्थित हैं ॥१६॥

वनाद्वनं पुराद्ग्रामं स्थानात्स्थानं गिरेर्गिरिम्।
भ्रमन्तः संस्थिताः केचित्संसारोच्छित्तये बुधाः ॥१७॥

वाराणस्यां महापुर्यां प्रयागे चैव पावने।
श्रीपर्वते सिद्धपुरे बदर्याश्रमके तथा ॥१८॥

शालग्रामे महापुण्ये कलापग्रामकोटरे।
मथुरायां च पुण्यायां तथा कालञ्जरे गिरौ ॥१९॥

महेन्द्रवनगुल्मेषु गन्धमादनसानुषु।
दर्दुराचलवप्रेषु सह्याकाचलभूमिषु ॥२०॥

विन्ध्यशैलस्य कच्छेषु मलयस्योदरेषु च।
कैलासवनजालेषु ऋक्षवत्कुहरे च ॥२१॥

एतेष्वन्येषु चाऽन्येषु वनेष्वायतनेषु च।
तपस्विनस्तथा राम! बहवो बहुदृष्टयः ॥२२॥

केचित्त्यक्तनिजाचाराः केचिच्च क्रमसंस्थिताः।
केचित्प्रबुद्धमतयो नित्यमुन्मत्तचेष्टिताः ॥२३॥

केचित्स्वदेशरहिताः केचित्त्यक्तनिजास्पदाः।
एकस्थानरताः केचिद् भ्रमन्तः केचिदास्थिताः ॥२४॥

कतिपय ज्ञानी पुरुष संसार की निवृत्ति के लिए एक वन से दूसरे वन में, एक नगर से दूसरे नगर में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत में घूमते हुए स्थित हैं ॥१७॥

महानगरी काशी में, परम पावन तीर्थराज प्रयाग में, सिद्धपुरुषों के निवासभूत श्रीपर्वत तथा बदरिकाश्रम में, महापवित्र शालग्राम में, पवित्रतम मथुरा नगरी में, कालञ्जर पर्वत पर, महेन्द्र वन की झाड़ियों में गन्धमादन पर्वत की चोटियों पर, दर्दुर पर्वत के शिखरों पर, सह्य पर्वत की वनभूमि में, विन्ध्याचल के जलप्राय प्रदेशों में मलयाचल के मध्य में, कैलास पर्वत के वनों में, ऋक्षवान् पर्वत की गुफाओं में इन तथा अन्यान्य तपोवनों में, मुनिजनों के आश्रमों में विविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टि वाले बहुत से तपस्वी निवास करते हैं ॥१८-२२॥

उनमें कतिपय लोगों ने संन्यास विधि से अपने पूर्वाश्रम के आचार का परित्याग कर दिया है और कोई ब्रह्मचर्य आदि आश्रमधर्मों में स्थित हैं। कतिपय लोग प्रबुद्धमति हैं और कोई नित्य उन्मत्तकी-सी चेष्टा करते हैं ॥२३॥

कतिपय स्वदेश रहित हैं; किन्हीं ने विक्षेपनिवृत्ति के लिए अपने घरद्वार का त्याग कर दिया है, कोई लोग एक अपने घर में ही रत प्रीतियुक्त हैं अर्थात् सब लोगों की अनुकूलता द्वारा विक्षेपशून्य हैं तथा कोई सदा इतस्ततः भ्रमण करते हुए स्थित हैं ॥२४॥

एतेषां महतां मध्ये नभस्तलनिवासिनाम् ।
पातालनिरतानां च दैत्यादीनां महामते ! ॥२५॥
विज्ञातलोकपर्यायाः सम्यग्दर्शननिर्मलाः ।
केचित्प्रबुद्धमतयो दृष्टदृश्यपरावराः ॥२६॥
अप्रबुद्धधियः केचिद्दोलान्दोलितचेतसः ।
निवृत्ताः पापकाचारात्सुजनानुगताः स्थिताः ॥२७॥
अर्धप्रबुद्धमतयः केचिज्ज्ञानावलेपतः ।
परित्यक्तक्रियाचारा उभयभ्रष्टतां गताः ॥२८॥
इत्थमस्मिञ्जनानीके जन्मसंतरणार्थिनः ।
बहवः संस्थिता राम ! बहुधा बहुदृष्टयः ॥२९॥
संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतपःक्रियाः ॥३०॥
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
नाऽऽचारेषु समारम्भविचित्रफलपालयः ॥३१॥

हे महामति रामजी ! आकाश में निवास करनेवाले देव आदि तथा पाताल में रहनेवाले दानव आदि इन महात्माओं में से कोई लोकरहस्य को जाननेवाले तथा यथार्थ दर्शन से निर्मल तथा परतत्त्व का साक्षात्कार कर चुके प्रबुद्धमति हैं। कतिपय अप्रबुद्धबुद्धिवाले अतएव सन्देहवश झूले के समान कभी इस पक्ष में तो कभी दूसरे पक्ष में आन्दोलित चित्तवाले पापाचरण से निवृत्त होकर सज्जनपुरुषों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए स्थित हैं अर्थात् स्वर्ग आदि ऊर्ध्व लोकों और पातालादि अधोलोकों में भी देव, दैत्य आदि जीवन्मुक्त बहुत हैं ॥२६,२७॥

कतिपय अर्द्धप्रबुद्धमति वाले "मैं तत्त्वज्ञानी हूँ निषिद्धाचरण मेरा क्या बिगाड़ सकता है" इस अभिमान से सदाचार का परित्याग कर उभयभ्रष्ट हुए हैं ॥२८॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस प्रकार इस विपुल जनसमुदाय में जन्ममरणरूप संसार से छुटकारा पाने की इच्छा करनेवाले बहुविध प्रारब्धभोगानुकूल दृष्टिवाले बहुत से लोग विविध प्रकार से स्थित हैं ॥२९॥

न वनवास संसार को पार करने में हेतु है, न स्वदेशनिवास संसार से मुक्ति पाने में कारण है और न कष्टप्रद विधि तपस्याएँ हो संसारनिवृत्ति में कारण हैं ॥३०॥

न तो कर्म का परित्याग संसारनिवृत्ति में कारण है और न सत्कर्मों के आचरणों से पीछे होनेवाले जो ख्याति-लाभ, ऐश्वर्य, वरशापसामर्थ्यरूप विचित्र फलराशियाँ हैं, वे संसार से छुटकारा पाने के कारण हैं ॥३१॥

स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
असंसक्तं मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥३२॥
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥३३॥
शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥३४॥
मक्षिकेवाऽन्तःसारज्ञा दुःखादुःखप्रदायिनी ।
न निवारयितुं शक्या न च मारयितुं मतिः ॥३५॥
काकतालीययोगेन कदाचित्स्वस्य चेतसः ।
प्रवृत्तिर्जायते सिद्धयै स्वयमात्मावलोकने ॥३६॥
अवलोकनतो लब्ध्वा तत्त्वं नैर्मल्यमागतम् ।
चेतो भवति निर्द्वन्द्वमसंसक्तमनामयम् ॥३७॥
अचित्तत्वं प्रयातेन सत्त्वरूपेण चेतसा ।
समो भूत्वा सुखं तिष्ठ पराकाशांशरूपभृत् ॥३८॥

संसार से छुटकारा पाने का एकमात्र हेतु तत्त्वज्ञानरूप स्वभाव यथार्थरूप से स्थित है। उक्त स्वभाव मन की आत्यन्तिक अनासक्ति से लभ्य है। जिसका मन आसक्ति रहित है वह निश्चय भवसागर से पार हो चुका ॥३२॥

मनवाला आसक्ति रहित मुनि नित्य शुभ और अशुभ करता हुआ और उनका परिहार करता हुआ भी संसार में नहीं आता अर्थात् जीवन्मुक्त को शुभ-अशुभ कर्म करने पर भी अनासक्तिवश ही उनका स्पर्श नहीं होता है ॥३३॥

जिसने अपना मन विषयों में छोड़ दिया है ऐसा शठ दुर्मति पुरुष शुभ-अशुभ कर्मों का आचरण न करता हुआ भी संसारसमुद्र में अवश्य ही निमग्न होता है ॥३४॥

विषयों का स्वाद चखनेवाले मति, अत्यन्त दुःखदायिनी शहद के घड़े पर लुब्ध हुई मधुमक्खी की तरह न तो हटाई जा सकती है और न मारी जा सकती है ॥३५॥

कभी भाग्यवश साधनचतुष्टय की प्राप्ति होने पर काकतालीययोग से अपने चित्त की श्रवण आदि उपायों द्वारा आत्मा के अवलोकन में (आत्मसाक्षात्कार में स्वयं ही प्रवृत्ति हो जाती है ॥३६॥

आत्मसाक्षात्कार होने पर निर्मल चित्त के अवलोकन से तत्त्व पाकर निर्द्वन्द्व अतएव अनासक्त और अनामय ब्रह्म ही हो जाता है ॥३७॥

अचित्तता को प्राप्त सत्त्वरूप चित्त से सम होकर आप पराकाशरूप चित्त आदि सकल प्रपञ्चाधिष्ठानांश है तद्रूप बनकर सुखपूर्वक स्थित होजाय ॥३८॥

अधिगतपरमार्थस्त्यक्तरागादिदोषः
समगतिरुदितात्मा त्वं महात्मा महात्मन् ।
रघुतनय विशोकस्तिष्ठ निःशङ्कमेको
जननमरणमुक्तं पावनं तत्पदं त्वम् ॥३९॥

प्रकृतिमलविकारोपाधिबोधादिरूपं
जगति विमलरूपे नास्ति किंचित्क्वचिच्च ।
स्फुटमकृतकमस्ति ब्रह्म चिद्धाम तच्च
स्वयमहमिति मत्वा तिष्ठ निःशङ्कमेकः ॥४०॥

अधिकवचनगम्यं नाऽन्यदस्त्यङ्ग किंचि-
त्तव शुभमुपदेश्यं ज्ञानसंबोधनाय ।
उदितमखिलमाद्यं ज्ञानसारं समग्रं
विदितसकलवेद्यो राघव ! त्वं हि जातः ॥४१॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा मुनिनायको व्यपगताशेषैषणे राघवे
सर्वस्मिंश्च सभाजने स्थितवति ध्यानैकतानोपमे ।
प्राप्ते ब्रह्मपदं धिया धवलया तूष्णीमभूत्षट्पदः ।
कृत्वेवाऽऽरणितं सरोजपटले पातुं प्रवृत्तो रसम् ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुक्तपुरुषस्थितिवर्णनं नाम नवनवत्यधिकशततमः सर्गः ॥१९९॥

हे महात्मन् ! हे श्रीरामचन्द्रजी ! परमार्थ तत्त्वका ज्ञात प्राप्त, रागादि दोषों का त्यागी आत्मज्ञानसम्पन्न आप समबुद्धि शोकरहित महात्मा हो निश्शङ्क रहें। क्योंकि जन्ममृत्युशून्य परम पवित्र वह ब्रह्मपद आप ही हैं ॥३९॥

विमल ब्रह्मरूप जगत् में प्रकृतिरूप, मलरूप, विकारप, उपाधिरूप, उसका बोधरूप, उसकी इच्छा, प्रयत्न, ज्ञान, उपादान और भोगादिरूप कुछ भी कहीं नहीं है। किन्तु वह स्पष्ट ही अकृत्रिम चैतन्यधाम ब्रह्म ही है, इसलिए आप अपने अनुभव से 'एक मैं ही हूँ' यह मानकर एकाकी निःशङ्क रहे ॥४०॥

हे सौभाग्यशाली राघव ! आपके ज्ञानबोधन के लिए इससे भिन्न शुभ उपदेशयोग्य कुछ नहीं है, क्योंकि आपका आद्य ज्ञानतत्त्व पूर्णतया उदय हो गया है और आपने सब सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान ली है ॥४१॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी यह अन्त में कहकर श्रीरामचन्द्रजी के निर्मल बुद्धि से ब्रह्मपद को प्राप्त होने अतएव सकल एषणाओं से विहीन होनेपर और सभा में स्थित सब लोगों के समाधिस्थ-से होनेपर उस सभा में स्वयं ब्रह्मरसायन के आस्वाद में तत्पर हो कि भ्रमर कमलराशि में गुञ्जनकर रस पीने को प्रवृत्त होता है वैसे ही मुनिजी चुप हो गये ॥४२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में मुक्तपुरुषस्थितिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का एक सौ निन्नानवे सर्ग समाप्त हुआ ॥१९९॥

२००

वाल्मीकिरुवाच

निर्वाणवाक्यसंदर्भसमाप्तौ मुनिनायके ! ।
पाश्चात्यवाक्यविरतिं कुर्वति क्रमपालिताम् ॥१॥
निर्विकल्पसमाधानसमतां समुपागते ।
शान्तस्वच्छमनोवृत्तौ सर्वस्मिंश्च सभाजने ॥२॥
सत्त्वकोटिमुपारूढे परां पावनतां गते ।
संवित्तत्त्वे समग्रस्य जनस्य श्रुतशालिनः ॥३॥

झटित्येवाऽम्बरहृता पूर्वमुक्तधियां मुखात् ।
सिद्धानां साधुवादेन व्यामकोटरवासिनाम् ॥४॥
तथा सभास्थितानां च मुनीनां भवितात्मनाम् ।
गाधेयप्रमुखानां च साधुवादगिरोच्चया ॥५॥
कोलाहलः समुदभूद् भूरिपूरितदिङ्मुखः ।
मधुरः पवनात्तानां कीचकानामिवाऽऽरवः ॥६॥

२००

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकरण के—निर्वाणवाक्यसन्दर्भ के समाप्त होने पर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने जब क्रमप्राप्त अन्तिम वाक्य का विराम किया, सभास्थित सभी लोगों ने तथा आकाशचारी देवता आदि ने मुनिमहाराज के वचनों के श्रवण से शान्त स्वच्छ मनोवृत्ति हो जब निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्मैकरसता को प्राप्त किया। शास्त्रज्ञानी सब लोगों का निर्विकल्प समाधि के क्रम से प्रत्यक्आत्मा सत्त्वकोटि में—सन्मात्र-पराकाष्ठा में—पहुँच चुका अतएव परम पावन हो चुका तब आकाशतल में निवास करनेवाले पहले से मुक्त सनक आदि सिद्ध पुरुषों के मुख से निकले आकाशव्यापि साधुवाद से तथा सभामध्य में स्थित विश्वामित्र प्रभृति आत्मज्ञानी मुनियों की जोर की वाहवाही से झटपट ऐसा कोलाहल हुआ कि उसने दिङ्मण्डल को एकदम भर दिया। वह कोलाहलध्वनि वायु से पूर्ण रन्ध्रवाले कीचकों की पूर्णछिद्र बांसों की ध्वनि के समान मधुर थी ॥१-६॥

सिद्धानां साधुवादेन सह वै सहसा ततः।
देवदुन्दुभयो नेदुः प्रतिश्रुत्पूरिताचलाः ॥७॥
देवदुन्दुभिभिः सार्धं तुषारासारसुन्दरी।
दिग्भ्यः स्थगितदिक्चक्रा पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥८॥
पुष्पौघपूरितस्थानः शब्दापूरितकन्दरः।
रजःसंरञ्जिताकाशो गन्धरञ्जितमारुतः ॥९॥
ससाधुवादशब्दस्य देवतूर्यरवस्य च।
कुसुमासारघोषस्य समवायो रराज ह ॥१०॥
उन्मुखाखिलसभ्याक्षिरश्मिश्यामलितान्तरः।
उत्कर्णमृगमातङ्गहयपक्षिपशुश्रुतः ॥११॥
सविस्मयभयोन्नेत्रबालकान्ताजनेक्षितः।
विस्मयस्मेरवदनराजलोकावलोकितः ॥१२॥
कुसुमासारसारेण शब्दशोभातिशायिना।
संरम्भेण जगामाऽऽशु रोदोरन्ध्रमपूर्वताम् ॥१३॥

सनकादि सिद्धपुरुषों के धन्यवाद के साथ सहसा देवताओं के नगाड़े बजने लगे। उन्होंने अपनी गहरी प्रतिध्वनियों से पर्वतों को पूर्ण कर दिया ॥७॥

देवताओं के नगाड़े बजाने के साथ ही साथ निरवच्छिन्न गिर रहे हिमपात के समान मनोमोहक पुष्पवृष्टि दसों दिशाओं से होने लगी। इतनी प्रचुर पुष्पवृष्टि हुई कि उसने दिङ्मण्डल को आच्छादित कर दिया ॥८॥

धन्यवाद सहित देवताओं के नगाड़े, तुरी आदि के शब्द का और फूलों की निरवच्छिन्न वृष्टि की ध्वनि का समुदाय, जिसने फूलों की वृष्टि से सभामध्य को खचाखच भर दिया था, शब्दों से पर्वत की गुफाएँ भर दी थीं, फूलों के पराग से आकाश को रँग दिया था और सुगन्ध से पवन में सुवास भर दी थी; खूब सुशोभित हुआ ॥९,१०॥

पूर्वोक्त शब्दराशि ऊपर की ओर टकटकी लगाये सभी सभासदों की नेत्ररश्मियों से कुछ श्यामरंग की-सी मालूम होती थी, भौचक्के-से होकर ऊपर को कान उठाये हुए मृग, हाथी, घोड़े, पशु-पक्षी आदि उसे सुनते थे, विस्मय और भय से ऊपर को दृष्टि लगाये हुए बालक तथा स्त्रीजन उसे देखते थे तथा राजा के भृत्यवर्ग आश्चर्य से प्रसन्नवदन हो उसपर दृष्टिपात करते थे ॥११,१२॥

पुष्पराशि की निरवच्छिन्न वृष्टि से संमिश्रित, शब्दशोभा से उल्लसित, उत्सव से पृथिवी और अन्तरिक्ष का अन्तराल अपूर्व चमत्कारपूर्ण हो गया ॥१३॥

पुष्पवर्षसुधाधौतं रटद्भूतसुघुंघुमम्।
समतां सदनेनाऽगात् ध्मातशङ्खशतेन खम् ॥१४॥
भुवनं भूरिभांकारभासुरं सुरचारणैः।
वृतं मत्तोत्सवं रेजे समं कुसुममण्डितम् ॥१५॥
शनैर्दुन्दुभिसिद्धौघवाक्यपुष्पभरः समम्।
प्रययौ रोदसीरन्ध्रे वेलाचलमिवाऽम्बुधौ ॥१६॥
तस्मिन्विबुधसंरम्भे क्षणेन समये गते।
वाक्यानीमानि सिद्धानामभिव्यक्तिमुपाययुः ॥१७॥

सिद्धा ऊचुः

आकल्पं सिद्धसङ्घेषु मोक्षोपायाः सहस्रशः।
व्याख्याताश्च श्रुताश्चाऽलमीदृशास्तु न केचन ॥१८॥
तिर्यञ्चो वनिता बाला व्यालाश्चाऽनेन निर्वृतिम्।
मुनेर्वाक्यविलासेन यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥१९॥

पुष्पवृष्टिरूपी सफेदी से प्रक्षालित, शब्दायमान प्राणियों से पुण्यशब्दयुक्त आकाश बजाये गये सैकड़ों शङ्खों से महाराज दशरथ के राजप्रसाद की समता को प्राप्त किया ॥१४॥

प्रचुर भांकार से भासुर, देववृन्द और चारणों से परिवृत, पुष्पराशि से विभूषित, परिपूर्ण उत्सववाला जगत् भी महाराज दशरथ के घर के समान सुशोभित हुआ ॥१५॥

जैसे सागर में कल्लोल तटवर्ती पर्वत के समीप पहुँचती है वैसे ही देवताओं के नगाड़ों की ध्वनियाँ, सिद्धपुरुषों के साधुवाद के शब्द तथा पुष्पराशियाँ धीरे-धीरे दिगन्त में पहुँचती है ॥१६॥

उस समय देवताओं के पुष्पवर्षा के उद्योग के कोलाहल के क्षणभर में शान्त होनेपर सिद्ध पुरुषों के ये वाक्य अभिव्यक्त हुए ॥१७॥

सिद्धों ने कहा—सिद्ध पुरुषों के बीच में कल्पपर्यन्त हजारों बार मोक्षोपायों का हमने खूब व्याख्यान किया और दूसरों के मुख से उन्हें खूब सुना, किन्तु उनमें इस तरह के मोक्षोपाय कोई भी न थे ॥१८॥

पक्षि योनि के श्वान, शृगाल आदि जीव, निसर्गतः जड़ स्त्रियाँ, बालक, सर्प सबके सब भगवान् वसिष्ठजी के इस वचनविलास से परम शान्ति को प्राप्त किया इसमें सन्देह नहीं है ॥१९॥

दृष्टान्तैर्हेतुभिर्युक्त्या यथा रामोऽवबोधितः ।
तथा चारुन्धतीं साक्षात्संबोधयति वा न वा ॥२०॥

अनेन मोक्षोपायेन तिर्यञ्चोऽपि गतामयाः ।
स्थिता मुक्ता भविष्यन्ति के नाम भुवि नो नराः ॥२१॥

श्रवणाञ्जलिभिः पीत्वा ज्ञानामृतमिदं वयम् ।
परां पूर्णनवीभूतसिद्धयः श्रियमागताः ॥२२॥

इति शृण्वन्सभां लोको विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
कुसुमासारसंपूर्णां राजीवानां ददर्श ताम् ॥२३॥

मन्दारादिमहापुष्पच्छन्नच्छादनसंचयाम् ।
पारिभद्रलतागुच्छनीरन्ध्राजिरभूमिकाम् ॥२४॥

पारिजातप्रसूनाढ्यमहीतलविराजिताम् ।
संतानकमहाम्भोदव्याप्तसभ्यशिरःकराम् ॥२५॥

मौलिरत्नविटंकाग्रविश्रान्तहरिचन्दनाम् ।
वारिपूरप्रलम्बाभ्रबद्धलम्बिवितानकाम् ॥२६॥

भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने विविध दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियों से जैसे श्रीरामचन्द्रजी को आत्मावबोध कराया वैसा साक्षात् श्रीअरुन्धतीजी को भी आत्मावबोध कराते हैं या नहीं इसमें संशय है। इस श्लोक से मुख्याधिकारी रामचन्द्रजी में भगवान् श्रीवसिष्ठजी के स्नेहातिशय की प्रशंसा की गई है ॥२०॥

इस मोक्षोपायभूत सदुपदेश से पशु, पक्षी आदि भी त्रिविध दुःख शून्य हो गये हैं, यदि इसे सुनेंगे तो पृथिवी में कौन मनुष्य मुक्त न होंगे ? ॥२१॥

हम लोगों ने इस ज्ञानामृत का कर्णरूपी अञ्जलि से पानकर पूर्ण तथा नूतन सिद्धि वाले होकर परमशोभा को प्राप्त किया है ॥२२॥

इस प्रकार के सिद्ध वचनों को सुनकर अयोध्यावासी लोगों ने उस सभा को कमलों के पुष्पों की वृष्टि से परिपूर्ण देखा ॥२३॥

सभा के छत आदि मन्दार आदि के बड़े-बड़े फूलों से आच्छन्न थे, उसके आँगन की भूमि कल्पवृक्ष की लता के गुच्छों से ठसाठस भरी थी, परिजात के फूलों से सुशोभित भूमितल से वह विराजमान थी, सन्तानक पुष्परूपी महामेघ से सब सभासदों के सिर और हाथ व्याप्त थे। शिरोरत्नरूपी विटङ्क के अग्रभाग में हरिचन्दन के फूल बिखरे थे। उस सभा में जल से भरे हुए लम्बायमान मेघ के समान चंदवा लटक रहा था ॥२४-२६॥

इति पश्यन्सभां लोकः साधुवादेन भूरिणा ।
तत्कालोचितवाक्येन तेन तेन तथोद्यतः ॥२७॥

वसिष्ठं पूजयामास सर्वेन्द्रियगणानतः ।
कुसुमाञ्जलिमिश्रेण प्रणामसहितेन च ॥२८॥

नृपप्रणाममालासु किंचिच्छान्तासु तास्वथ ।
मुनिमापूजयन्नाह सार्घ्यपात्रकरो नृपः ॥२९॥

दशरथ उवाच

क्षयातिशयमुक्तेन परमेणाऽऽत्मवस्तुना ।
पराऽन्तः पूर्णतोत्पन्ना बोधेनाऽरुन्धतीपते ! ॥३०॥

न तदस्ति महीपीठे दिवि देवेषु वाऽपि च ।
महत्किंचिद्यदप्राप्तं तव पूज्यस्य पूजनम् ॥३१॥

तथाप्यात्मक्रमं ब्रह्मन्निमं नेतुमवन्ध्यताम् ।
अहं वच्मि यथाप्राप्तं न कोपं कर्तुमर्हसि ॥३२॥

आत्मना सकलत्रेण लोकद्वयशुभेन च ।
राज्येनाऽखिलभृत्येन भवन्तं पूजयाम्यहम् ॥३३॥

इस प्रकार की अपूर्व सभा का अवलोकन कर अयोध्यावासी लोगों ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रचुर साधुवादों से तथा तत्कालोचित प्रशंसा वचनों से सम्पन्न हो प्रणाम सहित कुसुमाञ्जलि से श्रीवसिष्ठजी की पूजा की ॥२७, २८॥

अनन्तर जब नृपतियों को प्रणाम परम्पराएँ कुछ शान्त हुई तब हाथ में पूजा सामग्री लेकर राजा दशरथ ने मुनि महाराज की पूजा करते हुए कहा ॥२९॥

राजा दशरथ ने कहा—हे गुरुवर ! आपके सदुप्रदेश से प्राप्त क्षयवृद्धिविहीन बोधमय निरतिशयानन्दरूप आत्मवस्तु से मेरे अन्दर सर्वोत्कृष्ट पूर्णता प्राप्त हो गई है ॥३०॥

हे गुरुवर ! यद्यपि इस प्रकार के निरतिशय परम पुरुषार्थ को प्रदान करने वाले पूजनीय आपके पूजन योग्य कोई महावस्तु न तो पृथिवीतल में मनुष्यों के पास है और न स्वर्ग में देवताओं के पास है अथवा न पाताल में नाग लोगों के पास ही है तथापि मैं अपना अवश्य कर्तव्यरूप इस शास्त्र तथा लोक में प्रसिद्ध गुरुपूजा क्रम को सफल बनाने के लिए समयानुसार कुछ प्रार्थना करता हूँ कृपया आप अप्रसन्न न हों ॥३१, ३२॥

स्वर्ग और भूतल में भोग के लिए जिसका मैंने संचय किया है उस सुकृत से, पुत्रकलत्र सहित अपने शरीर से तथा सम्पूर्ण भृत्य और सामन्त सहित सारे राज्य से, जिनको मैंने आपको समर्पण कर दिया है मैं आपकी पूजा करना चाहता हूँ ॥३३॥

एतत्सर्वं तव विभो स्वायत्तं स्व इवाऽऽश्रमः ।
नियोजय यथाऽऽदेशं यथाभिमतयेच्छया ॥३४॥

वसिष्ठ उवाच

प्रणाममात्रसंतुष्टा ब्राह्मणा भूपते ! वयम् ।
प्रणामेनैव तुष्यामः स एव भवता कृतः ॥३५॥
पातुं त्वमेव जानासि राज्यं भाति तवैव च ।
भवत्वेतत्तवैवेह ब्राह्मणाः क्व महीभृतः ॥३६॥

दशरथ उवाच

कियन्मात्रं तु राज्यं स्यादिति लज्जामहे मुने ! ।
प्रकर्षेणाऽत्र तेनेश यथा जानासि तत्कुरु ॥३७॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवति भूपाले रामः पुष्पाञ्जलिं ददत् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं पुरस्तस्य महागुरोः ॥३८॥

निरुत्तरीकृतमहाराज ब्रह्मन्प्रणौमि ते ।
प्रणाममात्रसारोऽहं रामः पादाविमौ प्रभो ॥३९॥
इत्युक्त्वा पादयोस्तस्य शिरोवन्दनपूर्वकम् ।
तत्याजाऽञ्जलिपुष्पाणि हिमानीव वनं गिरेः ॥४०॥
आनन्दबाष्पसंपूर्णनयनो नयकोविदः ।
गुरुं परमया भक्त्या प्रणनाम पुनः पुनः ॥४१॥
शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चैव तथाऽन्ये तत्समाश्च ये ।
निकटस्थास्तथैवाऽऽशु ते प्रणेमुर्मुनीश्वरम् ॥४२॥
दूरप्रणामैर्दूरस्थाः पुष्पाञ्जलिसमीरणैः ।
राजानो राजपुत्राश्च प्रणेमुर्मुनयश्च तम् ॥४३॥
अस्मिन्नवसरे तत्र कुसुमाञ्जलिवर्षणैः ।
हिमैरिव हिमाद्रीन्द्रो मुनिरन्तर्धिमाययौ ॥४४॥
अथ शान्ते सभाक्षोभे प्रणामनिवहे तथा ।
संस्मरञ्छासनं किंचित्सत्ये कृष्णसिताशयम् ॥४५॥

हे भगवन् ! यह सब मैंने आपको अर्पण कर दिया है। आपके आश्रम की तरह यह आपके अधीन है। आप स्वामी बनकर अपनी इच्छा से मुझे आदेश दें ॥३४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे भूपते ! हम ब्राह्मण लोग केवल प्रणाम से सन्तुष्ट हैं। केवल प्रणाम से ही हमारी सन्तुष्टि होती है और प्रणाम आप कर ही चुके हैं ॥३५॥

राज्य की रक्षा करना आप ही जानते हैं और यह आपको ही शोभा देता है। यहाँ यह राज्य आपका ही रहे। तपस्यारत ब्राह्मण महीपाल नहीं होते हैं ॥३६॥

दशरथजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! इस परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष के प्रदानस्वरूप महान् उपकार के लिए प्रत्युप-कार रूप से दीयमान राज्य कौन सी वस्तु है, क्योंकि मानुषाआनन्द की परम अवधि है निष्कण्टकवित्त पूर्ण निरामय सप्तद्वीपाधिपत्य। उससे सौ गुना अधिक मनुष्य-गन्धर्वों का आनन्द है, उससे भी सौ गुना अधिक देव-गन्धर्वों का आनन्द है इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त विषयानन्दों में हिरण्यगर्भ का आनन्द चरम है। वह सर्वोत्कृष्ट हिरण्यगर्भानन्द भी जिस मोक्षानन्द समुद्र में जलकण के समान है उसके लिए इसकी क्या गणना है; इसलिए हे मुनिवर ! उसके लिए इसे देने में मुझे लज्जा मालूम होती है; इसलिए हे देव ! जैसा आप समझिये वैसा कीजिये ॥३७॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे महाराज दशरथ के यह कहने के बाद गुरु के चरणों पर पुष्पाञ्जलि अर्पित कर श्रीरामचन्द्रजी ने महागुरु श्रीवसिष्ठजी के आगे नतमस्तक हो यह वाक्य कहा ॥३८॥

हे ब्रह्मन् ! आपने महाराज को निरुत्तर कर दिया है। मेरे पास प्रणाम को छोड़कर अन्य उत्तम दातव्य वस्तु नहीं है अतएव हे प्रभो, केवल प्रणाममात्रसारभूत-वस्तुवाला मैं राम आपके इन चरणों को प्रणाम करता हूँ ॥३९॥

यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने शिर से वन्दना करते हुए वसिष्ठजी के चरणों पर वैसे ही पुष्पाञ्जलि अर्पण की जैसे वन पर्वत के पादों पर (अधोदेशवर्ती छोटे पर्वतों पर पल्लवों में लगी हुई ओस की बूँदों को अर्पण करता है ॥४०॥

आनन्दजनित अश्रुधारा से नीतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजी का मुखपूर्ण गया उन्होंने परम भक्ति से बार-बार श्रीगुरुजी को प्रणाम किया ॥४१॥

शत्रुघ्न और लक्ष्मण तथा भरत और भरत के तुल्य जो रामचन्द्रजी के अन्य सहचर निकटस्थित थे उन्होंने भी वैसे ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी को प्रणाम किया ॥४२॥

दूर दूर बैठे हुए मुनि, राजा या राजकुमार लोगों ने दूरस्थों के योग्य प्रणामों तथा पुष्पाञ्जलियों द्वारा मुनिवर वसिष्ठ जी को प्रणाम किया ॥४३॥

इस अवसर पर वहाँ पुष्पाञ्जलियों की वर्षाओं से मुनिमहाराज, जैसे हिमवृष्टि से पर्वतराज हिमालय आच्छन्न हो जाता है आच्छादित हो गये ॥४४॥

अनन्तर जब सभा का कोलाहल और प्रणाम परम्पराओं के समाप्त हो जाने पर तब वसिष्ठजी ने माननीय मुनियों के सम्मुख स्वकृत उपदेशात्मक शास्त्रीय सत्य वस्तु के विषय में बुद्धिमालिन्य के कारण यह सदोष

मुनिः कुसुमराशिं तं बाहुभ्यां प्रविचाल्य सः ।
मुखं संदर्शयामास सिताभ्रादिव चन्द्रमाः ॥४६॥

शान्ते सिद्धवचोराशौ तथा दुन्दुभिनिःस्वने ।
नभःकुसुमवर्षे च सभाकलकले तथा ॥४७॥

प्रणामानन्तरं तस्मिन्रामाद्यैः स्वसभाजने ।
शान्तवात इवाऽम्भोदे जने सौम्यत्वमागते ॥४८॥

आकर्णयन्साधुवादं विश्वामित्रं मृदुस्वनम् ।
उवाचेदमनिन्द्यात्मा वसिष्ठो मुनिनायकः ॥४९॥

मुने ! गाधिकुलाम्भोज ! वामदेव निमे ! क्रतो ! ।
भरद्वाज ! पुलस्त्याऽत्रे ! घृष्टे ! नारद ! शाण्डिले ! ॥५०॥

हे भासभृगुभारण्डवत्सवात्स्यातनादयः ।
मुनयस्तुच्छमेतत्तु भवद्भिर्मद्वचः श्रुतम् ॥५१॥

यदत्राऽनुदितं किंचित्तदनुग्रहतोऽधुना ।
दुरर्थं विगतार्थं वा भवन्तः कथयन्तु मे ॥५२॥

है अथवा स्वच्छबुद्धि के कारण यह निर्दोष है इस प्रकार सन्देह करते हुए अपने चरित्र से लोगों को विनय सिखाने के लिए मुनियों से आगे वर्णन किये जा रहे कुछ प्रष्टव्य का स्मरण करते हुए उस पुष्प राशि को बाहुओं से हटाकर वैसे ही अपना मुख दिखलाया जैसे सफेद बादलों को फाड़कर चन्द्रमा अपना मुख दिखाता है जब सिद्धों की वाणियाँ, नगाड़ों की ध्वनियाँ, आकाश से पुष्प वृष्टियाँ तथा सभा का कोलाहल शान्त हो गया एवं प्रणाम करने के उपरान्त अपना पूजन करने वाले अर्थात् अपनी कृत-कृत्यता मानने वाले राम आदि लोग शान्त पवन वाले मेघ की तरह सौम्यता को प्राप्त हो गये तब साधुवाद का श्रवण कर रहे मुनि श्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठजी ने मधुर वचन पूर्वक विश्वामित्रजी से कहा ॥४५-४९॥

गाधिजी के कुल में यशोरूपी सौरभ उत्पन्न करने वाले कमलरूप हे मुनिवर ! हे वामदेव ! हे निमिजी ! हे क्रतुजी ! हे भरद्वाज ! हे पुलस्त्य ! हे अत्रे ! हे घृष्टे ! हे नारद ! हे शाण्डिलि ! हे भास ! हे भृगु ! हे भारण्ड ! हे वत्सवात्स्यायन आदि ऋषि गण ! आप लोगों ने मेरा जो यह तुच्छ वचन सुना है जो बात इसमें छूट गई हो, जो अनुचित हो, निरर्थक हो, दुष्टार्थ हो वह आप इस समय शिष्य रहित मुझपर अनुग्रह कर कृपया कहें ॥५०-५२॥

सभ्या ऊचुः

वसिष्ठवचने ब्रह्मन्परमार्थैकशालिनि ।
दुरर्थो भवतीत्यद्य नवैव खलु गीः श्रुता ॥५३॥

यत्संभूतमनन्तेन जन्मदोषेण नो मलम् ।
तत्प्रमृष्टं त्वयेहाऽद्य हेम्नामिव हविर्भुजा ॥५४॥

ब्रह्मबृंहितया वाचा विभो ! विकसिता वयम् ।
कुमुदानीन्दुदीप्त्येव परमामृतशीतया ॥५५॥

सर्वसत्त्वमहाबोधदायिनं मुनिनायकम् ।
भवन्तमेकान्तगुरुं प्रणमाम इमे वयम् ॥५६॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा मुनिनाथाय नमस्त इति ते पुनः ।
वदन्त एकशब्देन तारेणाऽब्दरवौजसा ॥५७॥

अर्वाक्पुष्पाञ्जलिव्रातैः खात्सिद्धैः सममुज्झितैः ।
वसिष्ठं पूरयामासुर्हिमैरब्दा इवाऽचलम् ॥५८॥

सभ्य लोगों ने कहा—हे ब्रह्मन् एकमात्र परमार्थ तत्त्व से सुशोभित होने वाले श्रीवसिष्ठजी के वचन में कोई अनुचित या दुष्ट अर्थ होता है यह बात आज एकदम नवीन सुनने में आई है, क्योंकि आज तक इस तरह की बात जगत् में कहीं भी दृष्ट या श्रुत नहीं है ॥५३॥

हम लोगों का अनन्त जन्म दोषों से जो पाप संचित था उसका आपने जैसे सुवर्ण के मल का अग्नि परिमार्जन करती है वैसे ही परिमार्जन किया है ॥५४॥

हे विभो ! हम लोग परम ब्रह्म में विस्तारित परमामृतशीतल आपकी वाणी से वैसे ही विकसित हुए हैं जैसे कुमुद ब्रह्म सदृश आकाश में विस्तारित तथा परमामृत से शीतल चन्द्रमा की दीप्ति से विकसित होते हैं ॥५५॥

ये हम लोग सकल प्राणियों को महाबोध देने वाले मुनिश्रेष्ठ आप गुरु को ही, किसी अगुरु को नहीं, प्रणाम करते हैं। इससे अपर विद्या के गुरुओं की अपेक्षा पर विद्याप्रद गुरु के उत्कर्ष की पराकाष्ठा सूचित की गई ॥५६॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे मुने ! मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी से यह कहकर मेघ के सदृश गम्भीर शब्द से एक साथ पुनः पुनः नमस्ते कहते हुए उन मुनिजनों ने आकाश से सिद्धों के साथ स्वयं भी वर्षाये गये पुष्पाञ्जलियों से वसिष्ठजी को पुनः पुनः वैसे ही आच्छन्न कर दिया जैसे कि मेघ हिमवृष्टि से हिमाचल को आच्छन्न करते हैं ॥५७-५८॥

इत्थं दशरथं भूपं शशंसुश्चाऽथ राघवम् ।
माधवं चतुरात्मानं राघवोदन्तकोविदाः ॥५९॥

सिद्धा ऊचुः

नमाम चतुरात्मानं नारायणमिवाऽपरम् ।
रामं सभ्रातरं जीवन्मुक्तं राजकुमारकम् ॥६०॥
चतुरब्धिनिखातान्तधरावलयपालकम् ।
त्रिकालस्थमहीपालचिह्नं दशरथं नृपम् ॥६१॥
मुनिसेनाधिपं भूपं भास्वरं भूरितेजसम् ।
वसिष्ठं सुप्रवादाढ्यं विश्वामित्रं तपोनिधिम् ॥६२॥
एषामेव प्रभावेण ज्ञानयुक्तिं परामिमाम् ।
श्रुतवन्तो वयं सर्वे भ्रान्तिसंरम्भनाशिनीम् ॥६३॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा गगनात्सिद्धा भूयः पुष्पाणि चिक्षिपुः ।
सभायामथ तूष्णीं च तस्थुर्मुदितचेतसः ॥६४॥
तथैव व्योमगाः सिद्धा शशंसुस्तं जनं पुनः ।
तथैव सभ्यास्तांस्तत्र समानर्चुर्घनस्तवम् ॥६५॥
नभश्चरा धरणिचरा मुनिश्वरा
महर्षयो विबुधगणा द्विजा नृपाः ।
अपूजयन्निति जनमोजसैव ते
गिररोच्चया सह कुसुमार्घ्यदानया ॥६६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साधुवादसपर्यादिवर्णनं नाम द्विशततमः सर्गः ॥२००॥

मुनिजनों ने इसी प्रकार राजा दशरथ की प्रशंसा की। इसके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी का विष्णु के अवतारत्व रूप वृत्त जानने वाले उन लोगों ने चाररूप वाले भगवान् श्रीहरिरूप श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा की ॥५९॥

सिद्धों ने कहा—चार स्वरूप वाले दूसरे नारायण के तुल्य स्थित भ्राता सहित श्रीरामचन्द्ररूपी जीवन्मुक्त राजकुमार को हम नमस्कार करते हैं ॥६०॥

सिद्धों ने चतुःसागरपर्यन्त भूमिमण्डल के पालक भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में कभी विलय न होनेवाले राजचिह्नों से युक्त महाराज दशरथ की आप रामसदृश पुत्र के पिता होने से अत्यन्त धन्य हैं इस प्रकार प्रशंसा की तथा मुनि संघ के स्वामी भूरितेजस्वी अतएव भगवान् सूर्य के समान स्थित मुनिवर श्रीवसिष्ठजी की तथा महायशस्वी तपोनिधि श्रीविश्वामित्र की प्रशंसा की और कहा इन्हीं के महान् प्रभाव से हम सब लोग भ्रान्ति को दूर करने वाली उत्तम ज्ञानप्रदान करनेवाली वसिष्ठजी की यह वाणी सुन पाये हैं ॥६१-६३॥

वाल्मीकिजी ने कहा—ऐसा कहकर सिद्धों ने फिर आकाश से फूलों की वर्षा की तथा सभास्थान में प्रसन्नचित्त हो चुपचाप बैठ गये ॥६४॥

आकाशस्थ सिद्ध पुरुषों ने श्रीवसिष्ठजी की उसी तरह प्रशंसा की, सभा स्थित पुरुषों ने भी उन सिद्धों का प्रचुर स्तुतियों के साथ पूजन किया ॥६५॥

आकाशस्थित महर्षि तथा देवताओं ने, भूमि में स्थित ब्राह्मणों तथा राजाओं ने तथा पृथिवी और आकाश में स्थित मुनीश्वरों ने पूर्ववर्णित रूप से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक पुरुष की पुष्पार्घ्यदान युक्त उच्च जय जयकार वाणी से पूजा की ॥६६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में साधुवादसपर्यादिवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२००॥

२०१

वाल्मीकिरुवाच

अथाऽर्वाक्साधुवादेषु प्रशान्तेषु शनैः शनैः ।
ज्ञानोपदेशमासाद्य प्रोल्लसत्स्विव राजसु ॥१॥
प्रशान्तसंसृतिभ्रान्तौ जने चरितमात्मनः ।
स्वयं हसति चित्तेन सत्यं समनुधावता ॥२॥
वलच्चित्तकलं ज्ञानसमास्वादनतत्परे ।
विवेकिनि सभालोके शान्ते ध्यानमिवाऽऽस्थिते ॥३॥
बद्धपद्मासने रामे सभ्रातरि गुरोः पुरः ।
स्थिते कृताञ्जलौ दीप्तगुरुवक्त्रगतेक्षणे ॥४॥

२०१

श्रीवाल्मीकीजी ने कहा—अनन्तर नीचे सभाप्रदेश में जब धीरे-धीरे साधुवादों का तांता शान्त हुआ ज्ञानोपदेश पाकर राजगण विकसित वदन हो गये, संसार-भ्रान्ति के विलीन होनेपर लोग अपनी अज्ञानावस्था के चरित्र को स्वयं ही तत्त्व की ओर पूर्णतया अग्रसर चित्त से हँसने लगे, सभागत विवेकी लोग चित्तवृत्ति के प्रत्यकप्रवणपूर्वक चिदेकरसानन्द के सम्यक् आस्वादन में तत्पर हो ध्यानावस्थित की तरह शान्त

पार्थिवे किमपि ध्यानमिवाऽऽस्वादयति स्थितिम् ।
जीवन्मुक्तात्मिकामन्तरादिमध्यान्तपावनीम् ॥५॥

ग्रहीतुमर्चां भक्तानां मानितार्थजनो मुनिः ।
तूष्णीं क्षणमिव स्थित्वा प्रोवाचाऽनाकुलाक्षरम् ॥६॥

स्वकुलाकाशशीतांशो राम राजीवलोचन ।
किमन्यदिच्छसि श्रोतुं कथयाऽभिमतेच्छया ॥७॥

स्थितिं च कीदृशीमेनामद्याऽनुभवसि स्वयम् ।
किंरूपमिदमाभासं जागतं वद पश्यसि ॥८॥

इत्युक्ते मुनिना तेन प्राह राजकुमारकः ।
अविह्वलं मृदु स्पष्टं गुरोरालोकयन्मुखम् ॥९॥

श्रीराम उवाच

त्वत्प्रसादेन यतोऽस्मि परां निर्मलतां प्रभो ।
शान्ताशेषकलङ्काङ्कं शरदीव नभस्तलम् ॥१०॥

सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवभङ्गदाः ।
स्वरूपेणाऽवदातेन तिष्ठाम्यच्छमिवाऽम्बरम् ॥११॥

स्थितोऽहं गलितग्रन्थिः शान्ताशेषविशेषणः ।
स्फटिकालयमध्यस्थस्फटिकामलधीरहम् ॥१२॥

अन्यच्छ्रोतुमथाऽऽहर्तुं शान्तं नेच्छति मे मनः ।
परां तृप्तिमुपायातं सुषुप्तमिव संस्थितम् ॥१३॥

शान्ताशेषपरामर्शं विगताशेषकौतुकम् ।
संत्यक्ताशेषसंकल्पं शान्तं मम मुने मनः ॥१४॥

परिनिर्वामि शाम्यामि जाग्रदेव जगत्स्थितौ ।
अस्वप्नमपुनर्बोधं स्वपिमीव निरामयम् ॥१५॥

आशाविधुरितामात्मसंस्थितिं प्राक्तनीं तनौ ।
प्रविहस्य स्फुरत्सूक्तैः स्वस्थस्तिष्ठाम्यसंशयम् ॥१६॥

हो गये, भ्रातृसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरु के आगे गुरुजी के दीप्तिमान् मुखपर टकटकी लगाकर हाथ जोड़े पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ के समान हो अपने अन्दर आदि, मध्य और अन्त में पवित्रता बढ़ाने वाली अलौकिक जीवन्मुक्तस्थिति का, अनुभव कर उस समय मुनि वसिष्ठजी भक्त राजा आदि की पूजा ग्रहण करने के लिए क्षणभर चुपचाप ठहरकर धीरे-धीरे बोले ॥१,६॥

हे राम ! आप अपने विशाल कुलरूप आकाश के चन्द्रमा हैं, हे कमलनेत्र ! आप इससे अतिरिक्त क्या सुनना चाहते हे अपनी इच्छा के अनुसार बतलाइए ॥७॥

हे रामजी ! आज इस स्थिति का स्वयं आप कैसा अनुभव करते हैं ? इस जागतिक आभास को आप कैसा देखते है ? यह बतइये ॥८॥

भगवान् वसिष्ठजी के यह कहने पर गुरु के मुंह को देख रहे राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी ने बिना घबड़ाहट या हिचकिचाहट के मृदु तथा स्पष्ट वचन कहा ॥९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे प्रभो ! जैसे कलङ्क पूर्णतया विरहित चन्द्रमा से सुचिह्नित आकाशतल निर्मल होता है वैसे ही आप के अनुग्रह से मैं परम निर्मलता को प्राप्त हो चुका हूं ॥१०॥

मेरी संसाररूपी दुःख प्रदान करनेवाली सभी भ्रान्तियाँ शान्त हो गई हैं। मैं निर्मल आकाश के समान अतिनिर्मल अपने स्वरूप से स्थित हूँ ॥११॥

मेरी चिदचिद् ग्रन्थि शान्त हो गई है, मेरे सकल उपाधियाँ विलीन हो गई हैं तथा ब्रह्मभाव से विशुद्ध जगत् में मेरी बुद्धि स्फाटिक के मन्दिर के मध्य में स्थित स्फटिक मणि की तरह निर्मलतम है ॥१२॥

मेरा शान्त मन इसके बाद और कुछ उपदेश सुनना तथा कर्म-सम्पादन करना नहीं चाहता है। परम तृप्ति को प्राप्त वह सुषुप्त के समान स्थित है ॥१३॥

हे मुनिवर ! परम शान्ति को प्राप्त मेरे मन के सकल विषयस्मरण शान्त हो चुके हैं, उसका विषयभोग का कौतुक चला गया है तथा उसने विषयसंकल्पों का त्याग कर दिया है ॥१४॥

मैं जगत् के विषय में मानसिक विषयालोचन रहित फिर संसार का बोध नहीं है ऐसा ऐन्द्रियक विषयालोचन रहित निरामय होकर सोता सा हूँ, पूर्णरूप से निर्वाण को प्राप्त हूँ, शान्त हूँ। यहाँपर इव शब्द सुषुप्तमान के भी मिथ्या होने से तुरीयावस्था में अवस्थिति का द्योतक है ॥१५॥

पूर्व की आशाओं से विह्वल शरीर में आत्मबुद्धि से स्थिति का उपहासकर देदीप्यमान आप की सूक्तियों से इस समय स्वस्थ हो निस्सन्देह स्थित हूँ ॥१६॥

नोपदेशेन नाऽर्थेन न शास्त्रैर्न च बन्धुभिः ।
त्यागेन च न चैतेषामघुना मम कारणम् ॥१७॥
साम्राज्यस्याऽथवा व्योम्नि या स्थितिः क्षोभवर्जिता ।
तामेवाऽनुभवाम्यत्र मच्चित्तामनपायिनीम् ॥१८॥
खादप्यतितरामच्छं चिदाकाशांशमात्रकम् ।
जगदित्येव पश्यामि लोचनाद्यङ्गतां गतः ॥१९॥
आकाशमात्रमेवेदं जगदित्येकनिश्चयः ।
दृश्यनाम्नि नभस्यस्मिन्क्षये जागर्मि चाऽक्षयः ॥२०॥
यथाकामं यथाप्राप्तं यथास्थितमिव स्थितम् ।
यद्वक्ति तदविघ्नेन करोम्यपगतैषणम् ॥२१॥
न तुष्यामि न हृष्यामि न पुष्यामि न रोदिमि ।
कार्यं कार्यं करोम्येको भ्रान्तिर्दूरं गता मम ॥२२॥

अन्यतामेतु सर्गोऽयं वातु वा प्रलयानिलः ।
सौम्यो भवतु वा देशः स्वस्थोऽहं स्वात्मनि स्थितः ॥२३॥
विश्रान्तोऽस्मि विलक्ष्योऽस्मि दुर्लक्ष्योऽस्मि निरामयः ।
नाऽऽशाभिर्बन्धमाप्नोमि मुने ! खमिव मुष्टिभिः ॥२४॥
यथा तरुगतात्पुष्पाद्गन्धः प्राप्य नभःपदम् ।
तिष्ठत्येवमहं देहादतीतः संस्थितः समः ॥२५॥
यथैव सर्वे राजानो विहरन्ति यथासुखम् ।
अप्रबुद्धाः प्रबुद्धाश्च राज्येषु बहुकर्मसु ॥२६॥
शान्तहर्षविषादाशः स्थिरैकसमदर्शनः ।
स्थित आत्मनि निःशङ्कं तथैव विहराम्यहम् ॥२७॥
सर्वस्योपर्यपि सुखी सुखं नेहामि मे प्रभो ! ।
जनसाम्येन तिष्ठामि यथेच्छं मां नियोजय ॥२८॥

न उपदेश से, उपदेशप्रयुक्त अन्य प्रयोजन से, न शास्त्रों से, न बन्धु-बान्धवों से और न इन सबके त्याग से ही मेरा कोई प्रयोजन है ॥१७॥

जिसमें केवल प्रत्यगात्मात्र में चित्त प्रतिष्ठित रहता ऐसी अविनाशिनी नित्य जीवन्मुक्त स्थिति का मैं स्वर्ग में साम्राज्य की असुरादि के क्षोभ से वर्जित जो स्थिति है उसके तुल्य ही अनुभव करता हूं ॥१८॥

मैं वाह्य दृष्टि से नेत्र आदि अङ्ग से उस स्थिति को प्राप्त होकर भी जगत् को आकाश से भी अत्यन्त निर्मल एकमात्र चिन्मात्राकाशरूप ही देखता हूं अज्ञानी पुरुष की तरह जगत् को जड़ नहीं देखता हूं ॥१९॥

यह जगत् केवल आकाशमात्र ही है ऐसा दृढ़ निश्चय वाला मैं इस जगत् के मोह-निद्रा के साथ बाधित होने पर अक्षय स्वरूप हो सदा ही जागता हूं ॥२०॥

भावी कार्य को यथाकाम, वर्तमान कार्य को यथा-प्राप्त तथा पूर्वास्थित कार्य को यथास्थित जो आप कहते हैं उसको मैं फलाभिसन्धि से शून्य होकर अविघ्नतया गुरु तथा शास्त्र के अनुसार करता हूं । 'यथाकामं यथारम्भ यथाप्राप्त यथास्थितम्' इस तरह के पाठान्तर में—अपने कार्य के विषय में यथाकाम (यथेच्छ) तथा प्रारब्धानुसार' पर के कार्य के विषय में यथाप्राप्त तथा यथास्थित जो आप कहते हैं उसका मैं गुरु और शास्त्र के अनुसार निर्विघ्न सम्पादन करता हूं ॥२१॥

इष्ट वस्तु की प्राप्ति से न तो मैं अन्दर मन में सन्तुष्ट होता हूं और न बाहर शरीर से हर्षित होता हूं तथा न पुष्ट होता हूं एवं अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से न रोता हूं । अवश्यकर्तव्य लौकिक और वैदिक कार्य करता हूं । मैं केवल एक ही हूं । मेरा भ्रमजाल दूर चला चुका है ॥२२॥

यह सृष्टि उलट जाय अथवा प्रलयकाल के पवन बहें, या देश सोममार्ग के समान जनशून्य हो जाय लेकिन मैं निर्विक्षेपरूप से अपनी आत्मा में स्थित हूं अर्थात् इस प्रकार से स्थित हुए मुझे, अज्ञानियों के अभिमत बन्धु,, जन, राज्य आदि के नाशों से अथवा वृद्धि, ह्रास आदि अवस्थाओं से अनर्थप्राप्ति की आशङ्का नहीं है ॥२३॥

हे मुनिवर ! मैं आत्माराम हूं बाह्य इन्द्रियों से अलक्ष्य हूं, मनसे भी दुर्लक्ष्य हूं, निरामय हूं, आशाओं से मैं वैसे ही बन्धन को प्राप्त नहीं होता जैसे कि आकाश मुष्टियों के द्वारा बन्धन को प्राप्त नहीं करता है ॥२४॥

मैं देह में अभिव्यक्त होकर देहातीत सम (यह इस पुष्प का है अथवा इस देह का है यों विशेषण के योग्य न होने से साधारण) रूप से वैसे ही स्थित हूं जैसे वृक्षगत पुष्प में अभिव्यक्त गन्ध आकाश में पहुंचकर पुष्पातीत रहता है ॥२५॥

वैसे ही हर्ष, विषाद और आशा से विरहित, स्थिर, एक, समदर्शन मैं आत्मा में स्थित होकर निश्शङ्क हो वैसे ही व्यवहार करता हूं जैसे प्रबुद्ध तथा अप्रबुद्ध सब राजा विविध कामधामवाले राज्यों में व्यवहार करते हैं अप्रबुद्ध से प्रबुद्ध में यही अन्तर है कि वह हर्ष, विषाद और आशापाश से बद्ध, अस्थिर तथा विषमदृष्टि रहता है ज्ञानी हर्षादि से रहित स्थिर तथा समदृष्टि रहता है ॥२६,२७॥

हे प्रभो ! सकलविषयैश्वर्यानन्द के ऊपर स्थित ब्रह्मानन्द से मैं सुखी हूं अतएव अपने शरीर में विषयसुख की मुझे इच्छा नहीं है । बाह्य दृष्टि से सर्वसाधारण जन की तरह मैं स्थित हूं मुझे अपनी इच्छा के अनुसार सेवा आदि जिस किसी भी विषय में नियोजित कीजिये ॥२८॥

बालो लीलामिव त्यक्तशङ्कं संसारसंस्थितिम् ।
यावद्देहमिमं साधो ! पालयाम्यमलैकदृक् ॥२९॥

भुञ्जे पिबामि तिष्ठामि पालयामि निजक्रियाम् ।
जातोऽहं विगताशङ्कस्त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ! ॥३०॥

वसिष्ठ उवाच

अहो बत महापुण्यं पदमासादितं त्वया ।
अनादिमध्यपर्यन्तमिदं यत्र न शोच्यते ॥३१॥

सम्यक्समसमाभोगे शीतले स्वात्मनि स्वयम् ।
नभसीव नभः शान्ते विश्रान्तिमसि लब्धवान् ॥३२॥

दिष्टचा जतो विशोकस्त्वं दिष्टचा सम्यगवस्थितः ।
दिष्टचा लोकद्वयेऽनर्थशङ्का ते शममागता ॥३३॥

दिष्टचा रघूणां तनय ! संज्ञः पावितवानसि ।
भूतभव्यभविष्यस्थां बोधेन कुलसंततिम् ॥३४॥

अधुना मुनिनाथस्य विश्वामित्रस्य राघव ! ।
पूरयित्वार्थितां भुक्त्वा पित्रा सह महीमिमाम् ॥३५॥

त्वयाऽन्विताः सतनयभृत्यबान्धवाः
पदातयः सरथगजाश्वमण्डलाः ।
निरामया विगतभयाः स्थिरश्रियः
सदोदयाः सुभग ! भवन्तु राघवाः ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तिप्रकटीकरणं नामैकाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०१॥

हे सज्जन शिरोमणे ! एकमात्र निर्मलब्रह्मरूपलक्ष्य में दृष्टि वाला मैं जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक सांसारिक स्थिति का निश्शङ्क हो जैसे बालक अपनी अवस्था के अनुरूप क्रीड़ा का अनुवर्तन करता है वैसे ही पालन करूंगा ॥२९॥

हे मुनिनायक ! मैं भोजन करता हूँ, पीता हूँ, बैठता हूँ, अपने कर्तव्य का पालन करता हूँ। आपके अनुग्रह से मेरी सब शङ्काएँ निवृत्त हो चुकी हैं ॥३०॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि आपने आदि, मध्य और अन्त रहित वह महापुण्य सर्वश्रेष्ठ पद पा लिया है जिस पद में स्थित हुए पुरुषों को पुनः शोक-दुःख नहीं रहता ॥३१॥

पूर्ण विश्रान्ति को वैसे प्राप्त हुए हैं आप अत्यन्त सम अर्थात् विषमता से शून्य शीतल स्वात्मा में जैसे आकाश शान्त आकाश में विश्राम प्राप्त करता है ॥३२॥

बड़े हर्ष की बात है आप सर्वथा शोकदुःखशून्य हो गये हैं, बड़े आनन्द का विषय है कि आपको उत्तम स्थिति प्राप्त हो गई है एवं महासौभाग्य की बात है कि आपकी इस लोक और परलोक में दृष्ट, अदृष्ट और श्रुत अनर्थशङ्का की निवृत्ति हो गई है ॥३३॥

हे पुत्र ! हर्ष है आपने आत्मतत्त्वज्ञानी होकर बोध से रघुवंशियों की अतीत, वर्तमान और भावी कुलसन्तति को पवित्र कर दिया है। हे रघुनाथ ! इस समय आप मुनिनायक श्रीविश्वामित्र की इस यज्ञविघ्ननिवृत्ति की अभ्यर्थना को पूर्णकर पिता के जीतेजी उनकी आज्ञा से राक्षसवध द्वारा पृथिवी का पालन कर स्थित होइये ॥३४-३५॥

हे सौभाग्यशाली राघव ! आप सरीखे महापुरुष कुलदीप से युक्त पुत्र-पौत्र, बन्धुबान्धव, पदाति, रथ, गज और अश्वसमुदाय के साथ सब रघुवंशी शरीर में नीरोग, चित्त में निर्भय और घरों में सदा उदयवाले हों ॥३६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ब्रह्मगीताओं में विश्रान्तिप्रकटीकरण नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ एक सर्ग समाप्त हुआ ॥२०१॥

२०२

वाल्मीकिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य वचः संसदि पार्थिवाः ।
सिक्ता इवाऽमृतापूरैरन्तःशीतलतां ययुः ॥१॥

रामः कमलपत्राक्षो रराज वदनेन्दुना ।
क्षीरोद इव संपूर्णः सुधापूरेण चारुणा ॥२॥

२०२

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! सभा में श्रीवसिष्ठजी का यह वचन सुनकर सब राजा तथा अन्य लोग अमृतप्रवाह से सींचे हुए की तरह अन्दर अत्यन्त शीतलता को प्राप्त किया ॥१॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी अपने मनोज्ञ चन्द्रवदन से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे अमृत से पूर्ण मनोहर चन्द्रमा के उदय से सम्पूर्ण क्षीरसागर सुशोभित होता है ॥२॥

वामदेवादयः सर्वे तत्त्वज्ञानविशारदाः।
अहो भगवता ज्ञानमुक्तमित्यूचुरादरात् ॥३॥
शान्तान्तःकरणो राजा मुदा दशरथो बभौ।
तुष्ट्यैव संप्रहृष्टाङ्गो नवां द्युतिमुपागतः ॥४॥
ज्ञातज्ञेयेषु बहुषु साधुवादकथास्वथ।
उवाच गलिताज्ञानो रामो वाक्यमिदं पुनः ॥५॥

श्रीराम उवाच

भगवन्भूतभव्येश ! त्वयाऽस्माकमलं मलम्।
संप्रमृष्टमिदं हेम्नः श्यामत्वमिव वह्निना ॥६॥
अभूम वयमात्मीयकायमात्रदृशः पुरा।
प्रभो ! संप्रति संपन्ना विश्वविश्वावलोकिनः ॥७॥
स्थितोऽस्मि सर्वसंपूर्णः संपन्नोऽस्मि निरामयः।
जातोऽस्मि विगताशङ्को बुधो जागर्मि संप्रति ॥८॥
आनन्दितोऽस्म्यखेदाय सुखितोऽस्मि चिराय च।
स्थितोऽनस्तमयायैव शाश्वतार्थोदयो मम ॥९॥

अहो बत पवित्रेण शीतेन ज्ञानवारिणा।
त्वया सिक्तोऽस्मि हृष्यामि पद्मवद्धृदये स्वयम् ॥१०॥

इयमद्य मया लब्धा पदवी त्वत्प्रसादतः।
यस्यां स्थितस्य मे सर्वममृतत्वं गतं जगत् ॥११॥

अन्तः प्रसन्नमतिरस्तसमस्तशोकः
शोभां गतोऽहममलाशय एव शान्त्या।
आनन्दमात्मनि गतः स्वयमात्मनैव
नैर्मल्यमभ्युपगतोऽस्मि नमोऽस्तु मह्यम् ॥१२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे आत्मविश्रामाङ्गीकरणं नाम द्व्यधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०२॥

तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि सब लोगों ने वाह भगवान् श्रीवसिष्ठजी ने क्या ही उत्तम ज्ञान का वर्णन किया, यह बड़े सम्मान से कहा ॥३॥

शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ प्रसन्नता से अत्यन्त सुशोभित हुए। वे अत्यन्त सन्तोष से पूर्णतया रोमाञ्चितशरीर हो एक अपूर्व शोभा को प्राप्त हुए ॥४॥

इसके पश्चात् ज्ञानी पुरुषों में बहुत सी साधुवाद कथाओं के प्रवृत्त होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने, जिनका अज्ञान छूट गया था, पुनः यह वचन कहा ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवान् ! आप अतीत और वर्तमान के अधिपति हैं, आप ने हमारा यह अज्ञान वैसे ही पूर्णतया मिटा दिया है जैसे अग्नि सुवर्ण का मल अन्य धातुओं की मिलावट पूर्णतया मिटा देता है ॥६॥

हे प्रभो ! हम लोग पहले केवल शरीर में आत्म-दृष्टिवाले थे इस समय आपके अनुग्रह से सर्वत्र सर्वात्म-दर्शी हो गये हैं ॥७॥

मैं सर्वात्मा होकर सम्पूर्ण रूप से स्थित हूं, नीरोग हो गया हूं, मेरी सकल आशङ्काएं मिट चुकी हैं। इस समय मैं ज्ञानवान् होकर जागरूक हूं ॥८॥

कभी खेदयुक्त न होने के लिए मैं आनन्दित हूं, चिरकाल के लिए मैं सुखी हूं, कभी अस्त न होने के लिए मैं स्थित हूं मेरे परमपुरुषार्थ का उदय आविर्भूत हो गया है ॥९॥

अहा पवित्रतम शीतल ज्ञानरूपीजल से आपने मुझको सींचा है अतएव मैं हृदय में शरत्काल के कमल के समान प्रहृष्ट हूं, विकसित हूं ॥१०॥

आपके अनुग्रह से आज मुझे यह दिव्य साम्राज्य पदवी प्राप्त हो चुकी है जिसमें स्थित हुए मेरे लिए यह सारा जगत् अमृत बन गया है ॥११॥

मेरी मति पूर्णतया प्रसन्न हो चुकी है, मेरा समस्त शोक निवृत्त हो गया है मैं अलौकिक शान्ति से अर्थात् सकार्य मूलज्ञान के नाश से अमलाशयरूप आत्मा में आनन्द को प्राप्त हो गया हूं। भलीभांति परीक्षा करके देखे गये आत्मा से ही स्वतःसिद्ध निर्मलता को मैं प्राप्त कर चुका हूं अतएव मेरे लिए नमस्कार है ॥१२॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायणोपाय में मोक्ष निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में आत्मविश्रामाङ्गीकरण नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ दो अध्याय समाप्त हुआ ॥२०२॥

२०३

वाल्मीकिरुवाच
इत्थं विचारपरयोर्मुनिराघवयोस्तयोः ।
भास्करः श्रवणायेव व्योममध्यमुपाययौ ॥१॥
तीक्ष्णतामाजगामाऽऽशु सर्वंविक्रमथाऽऽतपः ।
पदार्थौघविकासार्थं रामस्येव महामतिः ॥२॥
उत्फुल्लहृदयाम्भोजस्फाराकारतया तदा ।
लीलापद्माकरा रेजुस्तत्रस्थाः पार्थिवा इव ॥३॥
जालं मुक्ताकलापानन्तरमाक्रान्तभास्करम् ।
ननर्तेव तरद्व्योम विज्ञानश्रवणादिव ॥४॥
पुस्फुरुः पद्मरागेषु लग्नार्कतरुणत्विषः ।
भासो व्योमतलोड्डीना धियो ज्ञानकला इव ॥५॥
एवं निर्वृतिमायाते रामे स्वकुलकैरवे ।
मुनीन्द्रवदनालोकात्सविकासमिव स्थिते ॥६॥
रवावौर्वोपमे व्योम महाब्धेर्नाभितां गते ।
तेजःपुञ्जलसज्ज्वाले समग्ररसपायिनि ॥७॥
नभोनीलोत्पले नीले गलद्रजसि राजति ।
घर्मांशुकर्णिकाकान्ते स्फुरत्किरणकेसरे ॥८॥
अवतंसे जगल्लक्ष्म्यास्त्रिलोकीकर्णकुण्डले ।
अन्तर्लीनस्फुरत्ताराररत्नराजिविराजिते ॥९॥
दिग्वधूभिर्बृहच्छृङ्गपाणिभिर्मुकुरेष्विव ।
धृतेषु तापभिन्नेषु महाभ्रेषु निरम्बुषु ॥१०॥
सूर्यकान्तवरोत्थेन वह्निनेव समेधिते ।
द्विगुणं प्रज्वलत्यर्कशून्ये गगनधामनि ॥११॥
विनेदुर्मेदुरोद्दाममुखमारुतपूरिताः ।
मध्याह्नशङ्खाः कल्पान्तवातपूर्णा इवाऽर्णवाः ॥१२॥

२०३

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—इस प्रकार जब भगवान् वसिष्ठजी तथा श्रीरामचन्द्रजी आपस में विचारकर रहे थे उस समय मानों उनके विचार-विमर्श को सुनने के लिए भगवान् सूर्य आकाश के मध्य में पहुंचे ॥१॥

इसके पश्चात् दसों दिशाओं में घाम श्रीरामचन्द्रजी की महामति के समान पदार्थ-राशि के स्पष्ट रूप से दर्शन के लिए जल्दी तेज हो गया ॥२॥

उस समय उद्यान के तड़ाग विकसित कमलों से विशालकाय होने के कारण—प्रफुल्ल-हृदय कमल होने के कारण विकसिताकार वहांपर बैठे हुए राजाओं की तरह—खूब सुशोभित हुए ॥३॥

मोतियों की घनी झालरवाला स्फटिकमणि का झरोखा जिसमें भगवान् सूर्य का प्रतिबिम्ब संक्रान्त था, आकाश में तैरते हुए के समान नाचता था ॥४॥

पद्मराग मणियों में संक्रान्त सूर्य की आकाश में फैली हुई तेज दीप्तीवाली किरणें अर्थात् प्रतिबिम्बित-क्रान्तियां ऐसी स्फुरित होती हैं जैसे कि स्वच्छ उपदेश ज्ञानकला स्फुरित होती हैं ॥५॥

मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ, विश्वमित्र आदि की मुखा-कान्तिरूप चन्द्रमा से विकसित से हुए अपने कुल के कैरवभूत श्रीरामचन्द्रजी महाराज जब इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त हो गये, जब वड़वानल के तुल्य भगवान् सूर्य जो तेजःपुञ्जरूपी देदीप्यमान ज्वालाओं से युक्त तथा बड़वानल के समान ही समग्र रसों का पान करने वाले हैं, आकाशरूपी महासागर के नाभि के सदृश हो गये अर्थात् मध्य आकाश में स्थित हो गये, जब आकाशरूपी नीलकमल, जो सूर्यरूपी कर्णिका से मनोहर, देदीप्यमान किरणरूपी केसरों से सुशोभित था तथा जिससे रजरूपी पराग गिर रहा था, अत्यन्त सुहावना मालूम होता था, वह आकाशरूपी नीलकमल मानों जगत्-लक्ष्मी का शिर का भूषण था, त्रिलोकरूपी नायिका का कर्णाभरण था। वह कर्णाभरण और शिरोभूषण भीतर जड़े हुए चमकीले सितारेरूपी विविध रत्नों से सुशोभित था, जब दिशारूपी नायिकाओं ने विशाल पर्वतशिखररूपी हाथों से धूप से मिश्रित जल रहित महा-मेघों को दर्पणों की तरह पकड़ रखा था तथा जब सूर्य रहित भी आकाश श्रेष्ठतम सूर्यकान्त मणियों से निकली हुई आग से प्रदीप्त होने के कारण सूर्य से भी दुगुना सा जल रहा था उस मध्याह्न समय में समय की सूचना देने के लिए बजनेवाले शङ्ख प्रलय काल की वायु से पूर्ण सागरों की तरह, प्रचुर मुख वायु से पूरित होकर बजे ॥६-१२॥

प्रालेयश्रीरिवाऽब्जेषु धर्मश्रीर्वदनेष्विव ।
चकार पदमाकीर्णंशुद्धमुक्ताफलोपमा ॥१३॥
गृहभित्तिपरावृत्ता सत्वसंरम्भमांसला ।
शब्दश्रीः पूरयामास कर्णमर्णं इवाऽर्णवम् ॥१४॥
पुरन्ध्रीभिर्निदाघौघशान्तये समुदीरिता ।
उल्ललास नवा पाण्डुकर्पूरजलदावलिः ॥१५॥
स राजा सहसामन्तः सभूपः सपरिच्छदः ।
सवसिष्ठः समुत्तस्थौ सहरामः ससंसदः ॥१६॥
राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
अन्योन्यं पूजिता जग्मुर्मुदिताः स्वं निवेशनम् ॥१७॥
अन्तःपुरगृहाग्रेषु तालवृन्तानिलाहृतैः ।
कर्पूरधूलिभिरभून्नवैवाऽबुदमालिका ॥१८॥
अथ मध्याह्नतूर्याणां रवे स्फूर्जति भित्तिषु ।
उवाच वचनं वाक्यकोविदो मुनिनायकः ॥१९॥

कमलों पर ओस की बूंदों के समान लोगों के मुख मण्डलों पर पसीने की बूंदों ने, जिनका आकार-प्रकार इधर उधर बिखरे हुए मोतियों के समान था, स्थिति की ॥१३॥

घर की दीवारों मे टक्कर लगने से प्रतिध्वनि के रूप में लौटे हुए तथा प्राणियों के कर्मत्वराप्रयुक्त शब्द-संभ्रम से पुष्ट हुए शब्द ने लोगों के कानों को वैसे ही भर दिया जैसे वृष्टि और नदी का जल सागर को भरता है ॥१४॥

मध्याह्न काल में सुवासिनी सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा गर्मी की प्रखरता को शान्त करने के लिए उड़ाई हुई सफेद कर्पूरयुक्त जलसेचनरूपी नूतनमेघ-माला उल्लास को प्राप्त हुई ॥१५॥

महाराज दशरथ सब समन्तों, भूपालों, अपने अङ्ग-रक्षक, भृत्य आदि, महामुनि वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी के साथ सभा से उठे ॥१६॥

सब राजा और राजकुमार, मन्त्रि-गण; मुनिवृन्द परस्पर पूजा-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने-अपने घर को गये ॥१७॥

अन्तःपुर के प्रमुख गृहों में पङ्खों की वायु से उड़ाई गई कपूर की धूली से अपूर्व ही मेघमाला उदित हुई ॥१८॥

अनन्तर जब मध्याह्नकाल की तूरियों की ध्वनि भित्तियों में टकराकर प्रतिध्वनित हुई तब वाक्यप्रयोग में निपुण मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने ये वाक्य कहे ॥१९॥

सर्वमेव श्रुतं श्राव्यं ज्ञेयं ज्ञातमशेषतः ।
त्वया राघव ! भो नास्ति ज्ञातव्यमपरं वरम् ॥२०॥
यथा मयोपदिष्टोऽसि यथा पश्यसि शास्त्रतः ।
यथाऽनुभवसि श्रेष्ठमेकवाक्यं तथा कुरु ॥२१॥
उत्तिष्ठ तावत्कार्याय वयं स्नातुं महामते ! ।
मध्याह्नसमयोऽस्माकमयमङ्गाऽतिवर्तते ॥२२॥
अपरं यत्त्वया भद्र ! स्वाकाङ्क्षाविनिवृत्तये ।
प्रष्टव्यं तच्छुभं प्रातः प्रष्टव्यं भवता पुनः ॥२३॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा दशरथः स्वयम् ।
पूजयामास तान्सभ्यान्सर्वान्साधून्सपर्यया ॥२४॥
सह रामेण धर्मात्मा मुनिविप्रान्नृपांश्च सः ।
वसिष्ठाद्युपविष्टेन क्रमेण व्योमगांस्तथा ॥२५॥
मणिमुक्तागणार्घेण दिव्येन कुसुमेन च ।
मणिरत्नप्रदानेन मुक्ताहारार्पणेन च ॥२६॥

हे रामचन्द्रजी आपने श्रोतव्य सब-कुछ सुन लिया है और ज्ञातव्य सब-कुछ जान लिया है इसके अतिरिक्त उत्तम ज्ञातव्य कुछ भी नहीं है ॥२०॥

हे राम ! जिस प्रकार मैंने आपको उपदेश दिया है, जिस प्रकार आपने वेदान्तशास्त्रों से जाना है और जैसा आपका अपना अनुभव है उस प्रकार सबकी एकवाक्यता कीजिए, अर्थात् अब आपको गुरु के उपदेश, वेदान्त आदि शास्त्र तथा स्वानुभव के अविसंवाद के लिए एकार्थ-निष्ठतारूप एकवाक्यता करनी चाहिए ॥२१॥

हे महामते ! यथाप्राप्त कर्तव्य का पालन करने के लिए आप उठिये । हम लोग मध्याह्नस्नान के लिए जाते हैं। यह हम लोगों का मध्याह्न का समय व्यतीत हो रहा है ॥२२॥

हे भद्र ! अपनी आकाङ्क्षा की विनिवृत्ति के लिए आपको जो सुन्दर वस्तु पूछनी हो वह प्रातःकाल आप पुनः पूछ लीजियेगा ॥२३॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी के यह कहने पर श्लाघनीय धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र जी के साथ सभा में समुपस्थित उन सकल साधुपुरुषों की, मुनियों की, ब्राह्मणों की, राजाओं की तथा आकाशचारी सिद्ध और देवगणों की श्रीवसिष्ठ;

प्रणयेन प्रणामेन प्रदानेनाऽर्थशालिना ।
वस्त्रासनान्नपानेन कनकेन तथा भुवा ॥२७॥
धूपेन गन्धमाल्याभ्यां यथोदितमनिन्दितः ।
पूर्वान्संपूजयामास सर्वानेव महीपतिः ॥२८॥
अथोत्तस्थौ सभामध्यात्सभया सह मानदः ।
सवसिष्ठादिदेवर्षिः सायमिन्दुरिवाऽम्बरात् ॥२९॥
स सभोत्थानसमयः ससंरम्भो व्यराजत ।
जानुदघ्नसुरोन्मुक्तपुष्पसंजातकर्दमः ॥३०॥
संघट्टाघट्टकेयूररत्नचूर्णारुणावनिः ।
छिन्नहारस्फुरन्मुक्तताराजितनिशाम्बरः ॥३१॥
देवर्षिमुनिविप्रेन्द्रपार्थिवस्पन्दसंकुलः ।
व्यग्रभृत्याङ्गनाहस्तकेशचञ्चलचामरः ॥३२॥
ज्ञानप्रमेयीकरणस्पन्दमानो न दारुणः ।
शिरःकरत्रिनयनजिह्वेष्वेव विराजितः ॥३३॥

विश्वामित्र आदि मुनियों द्वारा उपदिष्ट क्रम से मणि-मोती आदि के निष्क्रयरूप धन से, दिव्य फूलों से, मणि-रत्न आदि के प्रदान से, मुक्तामाला के समर्पण से, विनय, प्रणाम, धनसहित कन्याप्रदान, वस्त्र, आसन, अन्न, पान, सुवर्ण, भूमि धूप, गन्ध, माला आदि से यथायोग्य पूजा की ॥२४-२८॥

पूजा करने के बाद सभा के बीच से दूसरों का सम्मान करनेवाले महाराज दशरथ वसिष्ठ आदि देवर्षियों के सहित सारी सभा के साथ वैसे ही उठे जैसे कि सायंकाल के समय आकाश से चन्द्रमा उठता है ॥२९॥

वह त्वरायुक्त सभा से उठने का समय अत्यन्त सुशोभित हुआ जिसमें घुटनों तक देवताओं द्वारा वर्षाये गये फूलों से चारों ओर कीचड़ हो गया था, परस्पर घिसने और टकराने से केयूरों में जड़े हुए रत्नों के चूरे से पृथ्वी लाल हो गई थी, टूटे हुए हारों से स्फुरित हो रही मोतीरूपी तारिकाओं ने रात्रिकाल में प्रसिद्ध नक्षत्र-युक्त आकाश को जीत लिया था, देवर्षि, मुनि, ब्राह्मण तथा राजाओं के इधर-उधर संचार से, जो अत्यन्त भीड़-भाड़वाला था, व्यग्र भृत्याङ्गनाओं के हाथों में चँवर केशों से चञ्चल थे, वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के क्रम के मनन आदि द्वारा भूमिका के क्रम से प्रमेयीकरण के लिए ही स्पन्दमान, अन्य स्वार्थत्वरा से नहीं, इस कारण जो दारुण न था, कभी जरा सा धक्का लगनेपर भी परस्पर क्षमायाचना के लिए सिर में अञ्जलि बाँधे हुए आगे और बगल-बगल तीनों भागों में देखने तथा क्षमा माँगने के लिए प्रवृत्त नेत्र और जीभवाले सकल जनों से विराजित था, पागल निष्ठुर लोगों से विषम नहीं था, इसलिए वहाँ पर पीड़ा आदि दोषों का लेश भी न था ॥३०-३३॥

परस्परमथाऽऽपृच्छ्य पूजिताः पेशलोक्तयः ।
राजानो मुनयश्चैव सर्वे दशरथादयः ॥३४॥
स्वाश्रमान्साधवो जग्मुस्तुष्टस्निग्धाशया मिथः ।
लोकसप्तकवास्तव्या देवाः शक्रपुरादिव ॥३५॥
अन्योन्यं प्रणयात्सर्वे पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
तद्विसृष्टा स्वमागत्य गृहं चक्रुर्दिनक्रियाम् ॥३६॥
अथ सर्वे वसिष्ठाद्यास्तथा दशरथादयः ।
चक्रुर्दिवसकार्याणि राजानो मुनयस्तथा ॥३७॥
यथाप्राप्तं क्रियां तेषु कृतवत्स्वथ दैवसीम् ।
क्रमेणाऽऽकाशपथिको भास्करोऽस्तमुपाययौ ॥३८॥
तथैव कथया तेषां रामस्य च महामतेः ।
प्रबोधवशतः शीघ्रं सा व्यतीताय शर्वरी ॥३९॥
उत्सारिततमःपांसुताराकुसुमनिर्भरम् ।
भुवनं भवनीकुर्वन्नाजगाम दिवाकरः ॥४०॥
करवीरकुसुम्भाभैः करैररुणयन् दिशः ।
विवेश गगनाम्भोधिमथ बालदिवाकरः ॥४१॥

मृदु-मधुर वचनवाले सत्कृत दशरथ आदि सब सज्जन पुरुष, जो सातों लोकों के निवासी थे, परस्पर पूछकर इन्द्रपुरी से देवताओं की तरह परस्पर स्नेहपूर्ण हृदय होकर अपने-अपने आश्रमों को गये ॥३४-३५॥

क्रमानुसार प्रेम से एक दूसरे का सत्कारकर उनसे विदा लेकर अपने घर में आकर उन्होंने दिन का कृत्य किया ॥३६॥

अनन्तर श्रीवसिष्ठ आदि मुनि तथा दशरथ आदि राजा—सबने दिवस के कृत्य किये ॥३७॥

अनन्तर उनके दिवससम्बन्धी क्रिया करनेपर क्रम से आकाश का पथिक सूर्य अस्त को प्राप्त हुआ ॥३८॥

उनकी तथा महामति श्रीरामचन्द्रजी की उसी कथा से जागरणवश वह रात्रि शीघ्र व्यतीत हुई ॥३९॥

प्रातःकाल घर में झाड़ बुहारी देने की तरह अन्धकार-रूपी पांसु तारा रूपी फूलों की राशियाँ जिसमें से हटा दी गई हैं ऐसे जगद् रूपी भवन को घर की तरह साफ सुथरा बना रहे भगवान् सूर्य का उदय हुआ ॥४०॥

अनन्तर करवीर और कुसुम्भ के सदृश किरणों से दिशाओं को लाल बना रहे बाल सूर्य आकाशरूपी सागर में प्रविष्ट हुए ॥४१॥

राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो मुनयस्तथा ।
वसिष्ठाद्याः समाजग्मुः पुनर्दाशरथीं सभाम् ॥४२॥

यथाक्रमं यथासंस्थं यथादेशं यथासनम् ।
सा विवेश सभा तत्र धिष्ण्यश्रीरम्बरे यथा ॥४३॥

ततो दशरथाद्येषु सुमन्त्रादिषु वाऽप्यलम् ।
वसिष्ठं संप्रशंशत्सु मुनिमासनसंस्थितम् ॥४४॥

वसिष्ठस्य पितुश्चाऽग्रे राजीवदललोचनः ।
उवाच राघवो धीमान्मृदुवर्णमिदं वचः ॥४५॥

श्रीराम उवाच

भगवन्सर्वधर्मज्ञ ! सर्वज्ञानमहार्णव ! ।
सर्वसंदेहपरशो ! परशोकभयापह ! ॥४६॥

श्रोतव्यमपरं किं मे विद्यते वेद्यमेव वा ।
श्रोतव्यं विद्यते यद्वा तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥४७॥

वसिष्ठ उवाच

राम ! संप्राप्तबुद्धिस्त्वं श्रोतव्यं ते न विद्यते ।
कृतकृत्या तवैषा धीः प्राप्तप्राप्या स्थिताऽऽत्मनि ॥४८॥

त्वमेव तावत्कथय प्रविचार्य धियाऽऽत्मना ।
कीदृशोऽद्य भवानन्तः किं शेषं श्राव्यमस्ति ते ॥४९॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्नेवमहं मन्ये यथाऽहं कृतकृत्यधीः ।
निर्वाणोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि नाऽऽकाङ्क्षा मम विद्यते ॥५०॥

वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाऽखिलम् ।
तव विश्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती ॥५१॥

अधिगतमधिगम्यं ज्ञेयमाप्तं मयेदं
विगतमखिलमैक्यं द्वैतमस्तं प्रयातम् ।
परिगलितमशेषं दृश्यभेदावभानं
ननु निपुणमपास्ताऽशेषसंसारितास्था ॥५२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
निर्वाणवर्णनं नाम त्र्यधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०३॥

राजा, राजकुमार, मन्त्री लोग तथा श्रीवसिष्ठ आदि मुनिगण फिर महाराज दशरथ की सभा में आये ॥४२॥

अपने अपने क्रम, स्थान, देश और आसन के अनुसार जैसे आकाश में नक्षत्रशोभा प्रविष्ट होती है वैसे ही वहांपर वह सभा प्रविष्ट हुई ॥४३॥

तदनन्तर दशरथ आदि भूपालों तथा सुमन्त्र आदि मन्त्रियों के आसन पर आसीन मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी की प्रचुर स्तुति करने पर महामुनि वसिष्ठजी तथा अपने पिताजी के सन्मुख कमलनयन श्रीमान् श्रीरामचन्द्रजी ने यह मधुर वचन कहा ॥४४,४५॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सकल धर्मों के ज्ञाता ! हे सकल ज्ञानों के महासागर ! हे सकल सन्देहरूपी वृक्षों का उच्छेद करने के लिए परशु स्वरूप ! रूप तथा हे शत्रुओं के भी शोक और भय की निवृति करनेवाले ! हे ब्रह्मन् ! मेरे लिए अन्य श्रवणीय अथवा ज्ञातव्य क्या शेष है। जो कुछ भी श्रोतव्य या ज्ञातव्य मेरे लिए अवशिष्ट हो सब आप मुझसे कहने की कृपा कीजिए ॥४६,४७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपको बोध प्राप्त हो गया आप के लिए अब श्रोतव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। आपकी बुद्धि कृतकृत्य हो गई है और यह प्रातव्य वस्तु को प्राप्तकर आत्मा में स्थित है ॥४८॥

आप ही अपनी बुद्धि से विचार कर स्वयं कहिये कि आज आप स्वानुभव से कैसे हैं और आप के लिए शेष श्रोत क्या है ॥४९॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जैसा आप कहते हैं वैसा ही मैं अपने को कृतकृत्य समझता हूं मैं निर्वाण को प्राप्त हो चुका हूं, प्रशान्त हो चुका हूं, मुझमें किसी बात की आकाङ्क्षा नहीं है ॥५०॥

जो कुछ वक्तव्य था उसे आप कह चुके हैं, मैं सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तु जान चुका हूं अब कृतकृत्यता को प्राप्त हुई आप की वाणी विश्राम को प्राप्त हो ॥५१॥

मैं जानने योग्य तत्त्व को जान चुका हूं, यह ज्ञातव्य वस्तु मुझे मिल गई है। सम्पूर्ण जगत् ऐक्य को (ब्रह्मैकरसता को) प्राप्त हो चुका है। जीव ब्रह्म भेदरूपी द्वैत अस्त को प्राप्त हो गया है मेरा दृश्य भेद भान मिट गया है क्योंकि मैंने खूब विचारविमर्शकर सारीसांसारिता की आस्था का त्याग कर दिया है ॥५२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपायों में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में
निर्वाणवर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ तीनवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०३॥

२०४

वसिष्ठ उवाच

भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः।
आदर्शो रजतेऽत्यर्थं पौनःपुन्येन मार्जितः ॥१॥
अर्थो वेदनसंकेतः शब्दो जलरवोपमः।
दृश्यमेतच्चिदाभानं स्वप्नवत्काऽभवज्जगत् ॥२॥
जाग्रद्वै स्वप्नसंदृष्टः स्मरणात्म स्थितं पुरः।
संविद्वेदनमात्रं सत्तदन्याकारवत्ततम् ॥३॥
यथाऽच्छं संविदाकाशं मयि स्वप्नपुरात्मकम्।
सरूपमपि नीरूपं तथेदं भुवनत्रयम् ॥४॥

श्रीराम उवाच

संपन्नेयं कथं भूमिः संपन्ना गिरयः कथम्।
कथं संपन्नमम्भश्च संपन्ना उपलाः कथम् ॥५॥
कथं च तेजः संपन्नं संपन्ना च कथं क्रिया।
कथं च कालः संपन्नः संपन्नः पवनः कथम् ॥६॥
कथं च शून्यं संपन्नं चिन्नभः कथम्।
इति ज्ञातं मया भूयो बोधाय वदो मे प्रभ ! ॥७॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रूहि राघव ! तत्त्वेन स्वप्नदृष्टमहापुरे।
संपन्नाः भूः कथमिव संपन्नं कथमम्बरम् ॥८॥
कथं वारि च संपन्नं संपन्नं उपलाः कथम्।
कथं च तेजः संपन्नं संपन्नाश्च कथं दिशः ॥९॥
संपन्नश्च कथं कालः संपन्ना च कथं क्रिया।
कथमेतन्निमित्तादि सर्वं संपन्नमुच्यताम् ॥१०॥
केनेदं निर्मितं दग्धमानीतं रचितं चितम्।
उत्पादितं प्रकटितं किमाचारं किमात्मकम् ॥११॥

२०४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महाबाहो, हे श्रीरामचन्द्रजी मेरा परम संक्षिप्त युक्तियों से स्पष्ट तथा दृश्य के परिमार्जन का उपदेशक होने के कारण उत्कृष्ट वचन सुने, क्योंकि बार-बार खूब पोंछने से दर्पण अत्यन्त शोभित होता है ॥१॥

अर्थात् रूप और नाम के भेद से दो प्रकार का दृश्य है। उनमें से पहले के मार्जन का उपाय कहा गया है।

जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्दों के इन चार प्रकार के शब्दों के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार प्रकार के अर्थ होते हैं। जैसे नीली, चञ्चल भद्रा नाम की गौ। यहाँ पर गौ जातिवाचक शब्द है। वे एक ही वस्तु में व्यावर्त्यभेद के अधीन भेदकल्पना रूप शब्दभेदप्रवृत्तीनिमित्तता से कल्पित भ्रान्तिवेदनसंकेतरूप हो वास्तविक नहीं। इस प्रकार अर्थ का परिमार्जन हुआ। अब शब्द के मार्जन का उपाय कहते हैं। अर्थ के परिमार्जित होने पर निरर्थक शब्द जलध्वनि के समान होकर नामता का त्यागकर अर्थता को प्राप्त हुआ, इसलिए अर्थ के परिमार्जन से शब्द का भी परिमार्जन हो गया इस प्रकार अर्थ और शब्दरूप दो प्रकार का ही दृश्य स्वप्न के ही समान चिदाभानमात्र सिद्ध हुआ। ऐसी अवस्था में जगत् की उत्पत्ति कहाँ हुई ॥२॥

जब जाग्रत् ही मिथ्या है तब जाग्रत् ही संस्कार द्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बन जाता है और स्मरण के समान पदार्थशून्य स्वरूप होकर सामने आता है, इसलिए वह संविद्‌संवेदनमात्र होकर अन्याकार की भाँति विस्तृत है उसमें संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥३॥

वैसे ही यह त्रिभुवन भी सरूप होता हुआ भी वैसे ही नीरूप है जैसे प्रत्यक चैतन्यरूप मुझमें स्वप्नजगत्‌रूप निर्मल संविदाकाश रूपवान् होता हुआ भी नीरूप है ॥४॥

श्री रामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! चित् में यह यह भूमि कैसे संपन्न हुई, पर्वत कैसे सम्पन्न हुए, कैसे जल हुआ, कैसे पत्थर हुए, कैसे तेज हुआ, कैसे क्रिया हुई कैसे काल हुआ, कैसे वायु हो गया और कैसे चिदाकाश हो गया चित् में जड़ता और भूमि आदि विचित्रता कैसे हुई ? यद्यपि यह सब मैं आपके उपदेश से जान चुका हूं मेरे विशद बोध के लिए फिर मुझसे कहने की कृपा करें ॥५-७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रघुवर ! जरा कहिये तो तो सही स्वप्न में दिखाई दिये महानगर में कैसे वास्तविक रूप से भूमि हो गई, कैसे आकाश हो गया, कैसे जल हो गया, कैसे पत्थर हो गये, कैसे तेज हो गया, कैसे दिशाएं हो गईं, कैसे काल हो गया और कैसे क्रिया हो गई ? उन सब के निमित्त आदि सब कैसे हो गये यह मुझ से कहिये। किसने इस स्वप्न में दृश्यजंजाल का निर्माण किया, किसने इसको जलाया, कौन इसको लाया, किसने इसकी रचना की, किसने इसको विविध पदार्थों से भरा, कौन इसका उत्पादक है, किसने इसे प्रकट किया, इसका क्या स्वरूप है और क्या आकार-प्रकार है ? यानी स्वप्नदृश्य के समान ही इसकी संभावना करनी चाहिये इस अभिप्राय को मन में रखकर प्रतिवन्दी से स्वयं प्रश्न के व्याज से श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी के प्रश्न का उत्तर दिया ॥८-११॥

श्रीराम उवाच

आत्माऽस्य केवलं व्योम न सद् भूम्यचलादिकम् ।
जगतः स्वप्नरूपस्य निराकारो निरास्पदः ॥१२॥

आत्मैव व्योमरूपोऽस्य निराकारो निराकृतिः ।
विनाऽऽकृतेर्वा व्योम्नोऽस्य किमाधारेण कारणम् ॥१३॥

न किंचिदेतत्संपन्नं सद्यथैतन्न संविदः ।
एतच्चित्कचनं नाम मन एव तथा स्थितम् ॥१४॥

दिक्कालाद्यत्र चिद्भानं चिद्भानमचलादिकम् ।
चिज्जलादि तथा बोधाच्चित्खं वाय्वादि तद्विदः ॥१५॥

संविदेव किल व्योम तिष्ठति व्योमतामिता ।
दृषत्तयाऽऽस्ते काठिन्याद् द्रवाज्जलमिव स्थिता ॥१६॥

वस्तुतस्तु न भूम्यादि किंचित्तन्न च दृश्यता ।
चिदाकाशमनन्तं तत्सर्वमेकं तदात्मकम् ॥१७॥

द्रवत्वादम्बुहृद्याब्धेर्नानावृत्तितया यथा ।
अनानैव भवेन्नाना चिद्व्योमाऽऽत्मनि वै तथा ॥१८॥

काठिन्यवेदनापूर्वी गिरितामागतेव चित् ।
शून्यतावेदनाच्छून्यं वेत्ति व्योमेव चिद्वपुः ॥१९॥

द्रवत्ववेदनाद्वेत्ति वारि स्पन्दतयाऽनिलम् ।
औष्ण्यसंवित्त्वतो वह्निमत्यजन्ती निजं वपुः ॥२०॥

एवंस्वभाव एवाऽयं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
यदेवं नाम कचति निष्कारणगुणक्रमम् ॥२१॥

न चैतद्व्यतिरेकेण किंचिन्नाऽपीह विद्यते ।
अन्यच्छून्यत्ववारिभ्यामृते खार्णवयोरिव ॥२२॥

नतु चिद्गगनादन्यन्न संभवति किंचन ।
इदं त्वमहमित्यादि तस्मादाशान्तमास्यताम् ॥२३॥

त्वं यथाऽस्मिन् गृहे कुर्वन्नग्निशैलादिकां विदम् ।
तदेव पश्यस्यवपुरेवं चिद्गगनं तथा ॥२४॥

स्वप्नरूप इस जगत् का स्वरूप निराकर निराधार आकाश ही है । भूमि, पर्वत आदि सत्य नहीं है, अर्थात् स्वप्नदृश्य समान ही दार्ष्टान्तिक जाग्रत् दृश्य में भी पृथिवी आदि की सम्पत्ति की संभावना कर रहे श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं भी जगत् की असत्यता का वर्णन किया हैं ॥१२॥

इसका निराधार निराकार आत्मा ही व्योमरूप है आकृति के अभाव में इस व्योम का आधार से क्या प्रयोजन है ॥१३॥

यह पृथिवी आदि कुछ भी सम्पन्न नहीं हुए यह संवित् अतिरिक्त सत् नहीं हैं । यह जगदाकार चित् का स्फुरण स्वप्न के समान मन ही जगत् रूप से स्थित है, उससे अतिरिक्त नहीं है, अर्थात् पृथिवी आदि आकार-सम्पत्ति को मानकर यह कहा गया है, वास्तव में पृथिवी आदि सम्पत्ति भी नहीं है ॥१४॥

सकल तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में उस प्रकार का बोध होने से यहां पर दिशा, काल आदि चित् का भान है, पर्वत आदि चिद्भान हैं, जल आदि चित् है, एवं वायु आदि चिदाकाश हैं, अर्थात् और मन भी केवल चित् का स्फुरण है, अतः वही सब कुछ है ॥१५॥

संवित् ही आकाशता को प्राप्त होकर आकाशरूप से स्थित है, काठिन्य से वह पत्थर के रूप से स्थित है और द्रव्यवश वह जल के समान स्थित है ॥१६॥

वास्तव में भूमि आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए वह एक अनन्त चिदाकाश पृथिवी आदि के रूप से स्थित है ॥१७॥

चिदाकाश भी अभिन्न होता हुआ ही अपने में वैसे ही नाना होता है, प्रसन्न निश्चल सागर का जल द्रव्यरूप होने के कारण ही जैसे तरङ्ग फेन, आवर्त आदि रूप से एक ही भिन्न होता है ॥१८॥

चित् अपने में काठिन्य के संकल्प से पृथिवी की तरह गिरिता को प्राप्त हुई है, चित् अपने में शून्यता के वेदन से आकाश की तरह अपने को शून्य जानती है। अपने में द्रवत्व के वेदन से जल जानती है, अपने में स्पंदता के वेदन से वायु जानती है, अधिष्ठान चिद्रूप अपने स्वरूप का त्याग न कर रही चित् उष्णता के वेदन से अग्नि को जानती है ॥ १९, २० ॥

जैसे कि आकाश और सागर में शून्यता और जल के सिवा अन्य तत्त्व कुछ नहीं है वैसे ही इस प्रकार के स्वभाव वाला ही यह आकाशरूप चिद्धातु बिना कारण, बिना गुण और बिना क्रम के जो कुछ इस प्रकार स्फुरित होता है उसके अतिरिक्त जगत् का तत्त्व वैसे ही यहाँ कुछ नहीं है ॥ २१ ॥

'इदम्' (यह) 'त्वम्' (तुम) और 'अहम्' (मैं) इत्यादि जगत् चिदाकाश के अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि उसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। इसलिए आप पूर्ण शान्त हो स्थित हों ॥ २२-२३ ॥

आप निराकार चिदाकाश को जगत् के रूप में वैसे ही देखते हैं जैसे इस घर में स्वप्न, मनोरथ आदि से अग्नि पर्वत आदि की बुद्धि करते हुए अग्नि पर्वत न होते हुए भी उसको अग्नि पर्वत देखते हैं ॥ २४ ॥

चिद्व्योम भाति देहाभं सर्गादौ न तु देहकः।
आकारणत्वादसतश्चिदुदेतीति चिन्त्यताम् ॥२५॥
मनोबुद्धिरहंकारो भूतानि गिरयो दिशः।
शिलाजठरवन्मौनमयं सर्वं यथास्थितम् ॥२६॥
एवं न किंचिदुत्पन्नं नष्टं न च न किंचन।
यथास्थितं जगद्रूपं चिद्ब्रह्मात्मनि तिष्ठति ॥२७॥
चितौ यत्कचनं नाम स्वरूपप्रविजृम्भणम्।
तदेतज्जगदित्युक्तं द्रव एव यथा जलम् ॥२८॥
इदं जगद्भानमभानमेव
चिद्व्योम शून्यं परमार्थं एव।
यथार्थसंदर्शनबुद्धबुद्धे-
रबुद्धबुद्धेस्तु यथा तथाऽस्तु ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे चिदाकाशैकताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०४॥

सृष्टि के आदि में चिदाकाश ही देहतुल्य प्रतीत होता है वास्तव में उस समय देह नहीं है। जब तुच्छ देह नहीं है तब बिना कारण के अज्ञान से देहाकार चित् उदित नहीं होता है यह ज्ञानीजनों को विचार करना चाहिए ॥२५॥

मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्च महाभूत, पर्वत और दिशाएँ ये सब शिलागर्भ के समान यथास्थित अनिर्वचनीय हैं ॥ २६ ॥

इस तरह न कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट हुआ है यथास्थित यह जगत्रूप चिद् ब्रह्मात्मा में स्थित है। जैसे द्रव ही जल है (द्रव से अतिरिक्त जल नहीं है वैसे ही चित् में स्फुरण नामक स्वरूप के प्रकर्ष से बृंहण यह जगत् वैसे ही कहा गया है ॥ २७–२८ ॥

यथार्थ सम्यक् दर्शन से प्रबुद्ध बुद्धि वाले दृष्टि से यह जगद्भाव से भान भी अभान ही है यानी वास्तव में शून्य चिदाकाश ही है अप्रबुद्ध बुद्धि वाले यानी मूर्ख की दृष्टि से जैसा-तैसा हो उसके विचार से क्या प्रयोजन है ॥२९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में चिदाकाशैकता प्रतिपादन नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ चारवें सर्ग समाप्त हुआ ॥२०४॥

२०५

श्रीराम उवाच

एवं यथैतद्भगवन्स्वप्ने दृश्यं परं नभः।
तथैव जाग्रतीत्यत्र न चेत्संदेहजालिका ॥१॥
इदं मे भगवन्ब्रूहि महाप्रश्नमनुत्तमम्।
कथं भवत्यदेहा चिज्जाग्रत्स्वप्ने सदेहवत् ॥२॥

वसिष्ठ उवाच

दृश्यं जाग्रत्यथ स्वप्ने खाधारं खात्मकं खजम्।
खं च नाऽन्यत्परं जातु संदेहोऽस्त्युपपत्तितः ॥३॥
समस्तकारणाकारप्रत्यस्तमयरूपिणि।
सर्गादावेव भूतानि संभवन्ति न कानिचित् ॥४॥

२०५

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! जैसे परमाकाश स्वप्न में दृश्यरूप होता है वैसे ही यह जाग्रत् में वैसे ही दृश्यरूप होता है। इस विषय में यदि सन्देह नहीं है तो यह सर्वश्रेष्ठ महाप्रश्न मुझसे कहने की कृपा कीजिए। अदेह चित् जगद्रूप स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है ? ॥१–२॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! यह दृश्य जाग्रत् और स्वप्न में हेतुशून्य आकाश से उत्पन्न हुआ है, अतः शून्याधार शून्यरूप ही होगा ऐसा ही सिद्ध करना चाहिए। और ख—शून्य परम ब्रह्म ही है अन्य नहीं, इसलिए उत्पत्ति आदि से शून्य ब्रह्माद्वैत के विरोधी विवर्त में अनुपपत्ति का सन्देह उत्पन्न नहीं होता, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

समस्त कारणाकारों में अस्तमय रूप वाले सर्गादि में ही कोई भूत उत्पन्न नहीं होते यानी उस समय पृथ्वी आदि किसी भूत का सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

पृथ्व्यादिनियतस्तेन देहोऽयं नास्ति किंचन।
भूतान्येव किलैतानि देहस्तानि न सन्त्यलम् ॥५॥
तेन स्वप्नवदाभासमिदं पश्यति चिन्नभः।
स्वरूपमात्रकचनमाकारवदिवाऽऽकुलम् ॥६॥
भानमाभामात्रत्वमिदं यत्तच्चिदात्मना।
नभसा स्वप्नशब्देन कथ्यते जगदाकृतिः ॥७॥
यदेतद्वेदनं नाम चिद्व्योम्नो व्योमनिर्मलम्।
एतदन्तश्रितो रूपं स्वप्नो जगदिति स्थितम् ॥८॥
एतस्मिन्नेव तेनाऽथ स्वभावकचने तते।
चिद्रूपेण कृताः संज्ञाः पृथक्पृथ्व्यादिका इमाः ॥९॥
चिद्भानमेव तत्स्वप्नजगच्छब्दैः प्रकथ्यते।
भानं चाऽस्याः स्वभावः खं तत्कदाचिन्न शाम्यति ॥१०॥

इसलिए पृथिवी आदि के अस्तित्व में ही होने वाला यह शरीर कुछ भी नहीं है। ये भूत ही निश्चय करके देह हैं और उनका सर्वथा अभाव है अर्थात् अदेह चित् जाग्रत् और स्वप्न में सदेहवत् कैसे होती है, यह प्रश्न भी अनुत्पन्न है क्योंकि पृथिवी आदि के अभाव में जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकारों के भूतों के शरीर भी असत् ही हैं ॥ ५ ॥

इसलिए चिदाकाश स्वप्नवत् प्रतीत होने वाले स्वरूप मात्र स्फुरण रूप जगदादि आकारवान् जैसे माया गुण से विक्षुब्ध इस दृश्य को देखता है ॥ ६ ॥

यह जो चिदात्मा का भानमात्र है वही स्वप्नभान है और वही जगदाकृति चिदाकाशरूप ही स्वप्न विवर्त, जगदादि शब्द से कहा जाता है ॥ ७ ॥

चिदाकाश का यह वेदन आकाश के समान निर्मल है इस वेदन के अन्दर भासमान चित् का रूप सूक्ष्म होने पर स्वप्न और स्थूल होने पर जगत् के रूप से स्थित है यानी वेदन ही स्वप्न और जगत् के रूप में स्थित है ॥ ८ ॥

अनन्तर चारों ओर व्याप्त हुए अपने स्वभावकचन में उस चिद्रूप चिदात्मा ने ये पृथ्वी आदि पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ की हैं अर्थात् इस प्रकार रूपप्रपञ्च के वेदनमात्र होने पर नामप्रपञ्च भी वेदन का ही एक नामभेद प्रसिद्ध होता है ॥ ९ ॥

चिद्भान ही स्वप्न और जगत् शब्दों से निर्दिष्ट होता है। चित् का भान स्वभाव तत्त्व है। वह चिदाकाशरूपी भान कभी शान्त नहीं होता अर्थात् स्वप्न आदि की निवृत्ति होने पर भी वह तत्त्व भान कभी शान्त नहीं होता ॥ १० ॥

बह्व्यः सर्गदृशो भिन्ना ब्रह्मैव ब्रह्मखे च ताः।
शून्यता नभसीवाऽतस्तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥११॥

श्रीराम उवाच

सर्गाणां कोटयः प्रोक्ता भगवन्भवता किल।
काश्चिद् ब्रह्माण्डकोशस्थाः काश्चिदण्डविवर्जिताः ॥१२॥
काश्चिन्महीकबोशगताः काश्चिदाकाशसंस्थिताः।
तेजःकोशगताः काश्चित्काश्चित्पवनकोशगाः ॥१३॥
काश्चिद्व्योकस्थभूपीठा ऊर्ध्वाधस्थविनिश्चयाः।
बु्नाकाशादूर्ध्वखुरा लम्बमानवनाचलाः ॥१४॥
काश्चिद्वातात्मभूतौघाः काश्चिन्नित्यं तमोधराः।
व्योमसंस्थानकाः काश्चित्काश्चित्कृमिकुलाकुलाः ॥१५॥

बहुत सी भिन्न-भिन्न सृष्टि दृष्टियां ब्रह्मरूप ही है जैसे आकाश में शून्यता स्थित है वैसे ही वे ब्रह्माकाश में वैसे ही स्थित हैं और प्रवेश करती है अर्थात् उसके चिद्भान के सद्भाव से ही उसमें बहुत से विवर्त हुए हैं ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! आपने लीलोपाख्यान, भुशुण्डाख्यान आदि में करोड़ों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया है। उनमें से कुछ ब्रह्माण्डकोश में स्थित हैं, कुछ उससे रहित यानि मन आदि में स्थित हैं, कुछ भूकोश में स्थित हैं, कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ तेजकोश में स्थित हैं और कुछ वायुकोश में स्थित हैं ॥१२–१३॥

कुछ आकाशतल में स्थित गोलाकार भूमिपीठ हैं, उनमें रहने वाले ऊर्ध्व तथा अधोभाग में स्थित चीटियों के समान भूगोल से चिपके हुए देव, असुर आदि हम ही ऊपर हैं इस प्रकार विविध निश्चय वाले हैं, क्योंकि सबकी दृष्टि भूमि के अधोभाग के जन, भूमि के मूलाकाश से जिनके पैर ऊपर की ओर और सिर नीचे की ओर रहता है, ऐसे प्रतीत होते हैं। इस तरह उन लोकों में ऊर्ध्वमूल अधः शाखा और शिखर वाले होने के कारण वन और पर्वत लटके हुए से मालूम होते हैं ॥ १४ ॥

कुछ वायु शरीर वाले प्राणियों से परिपूर्ण हैं, कुछ निरन्तर अन्धकार से व्याप्त हैं, कुछ आकाशमय शरीर धारण करने वाले जीवों से भरे हैं और कुछ सृष्टियाँ गूलर के फल के समान कोटि-कोटि कीड़ों से व्याप्त हैं ॥ १५ ॥

काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः ।
काश्चित्सकुण्डकोशस्थाः काश्चित्खे खगवत्स्थिताः ॥१६॥

तासां मध्ये यथा हीदं ब्रह्माण्डं यादृशं स्थितम् ।
अस्माकं भगवंस्तन्मे ब्रूहि तत्त्वविदां वर ! ॥१७॥

वसिष्ठ उवाच

यदपूर्वमदृष्टं वा नाऽनुभूतं न वा श्रुतम् ।
तद्वर्ण्यते सुदृष्टान्तैर्गृह्यते च तदूह्यते ॥१८॥

इदं तु राम ! ब्रह्माण्डमागमैर्मुनिभिः सुरैः ।
शतशो वर्णितं तच्च ज्ञातमेतत्त्वयाऽखिलम् ॥१९॥

कुछ आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ सृष्टियाँ शिलाओं के गर्भ में स्थित हैं, कुछ भाण्ड-बर्तन युक्त घर, मण्डप आदि के कोश में स्थित हैं और कुछ आकाश में पक्षियों के समान स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! उनमें से हमारा आश्रयभूत यह ब्रह्माण्ड जिस प्रकार का जैसा स्थित है, वह मुझसे कहने की कृपा करें ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स ! अपूर्व वस्तु अन्य प्रमाणों का गोचर न हो दृष्ट न हो, अनुभूत न हो अथवा श्रुत न हो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का विषय न हो तो गुरु सुन्दर-सुन्दर दृष्टान्तों से प्रतिपादन करता है तथा शिष्य श्रवण द्वारा उसी का ग्रहण और मनन द्वारा उसी का ऊहन करता है अन्य का नहीं, अर्थात् यह आपका प्रश्न तत्त्वज्ञानविषयक अथवा तत्त्वज्ञानोपयोगी नहीं है, न इसका कोई प्रयोजन है, न प्रकृत वेदान्त-चर्चा के उपयुक्त है, न अपूर्व और न नियत सदा सबके मत से एकरूप है, क्योंकि मुनियों द्वारा विभिन्न ज्योतिष-सिद्धान्तों में भूमि, वन आदि की स्थिति अन्यथा अन्यान्य प्रकार से वर्णित है। यह सब मैं पहले दिखला चुका हूँ, अतएव माया-मय स्वप्नतुल्य इसके विषय में किसी एक का पक्षपात कर सिद्धान्त कथन का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा समझ रहे श्रीवसिष्ठजी यह विषय अन्य शास्त्रों का है उनसे आपको ज्ञात हो ही चुका है, इसलिये यह विषय प्रश्न-योग्य नहीं है, यह समाधान किया ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस ब्रह्माण्ड का तो ज्योतिष आदि वेद-शास्त्रों ने तथा शास्त्र के प्रवर्तक मुनियों तथा

यथेदं भवता ज्ञातमागमैर्वर्णितं यथा ।
स्थितं तदेतदखिलं किमन्यदिह वर्ण्यते ॥२०॥

श्रीराम उवाच

कथमेतद्वद ब्रह्मन्संपन्नं चिन्महानभः ।
कियत्प्रमाणमेतद्वा कियत्कालं च वा स्थितम् ॥२१॥

वसिष्ठ उवाच

अनादिनिधनं ब्रह्म नित्यमस्त्येतदव्ययम् ।
आदिमध्यान्तता नास्ति नाऽऽकाराः परमाम्बरे ॥२२॥
ब्रह्माकाशमनाद्यन्तमेतदव्ययमाततम् ।
एतन्मयमिदं विश्वं विश्वगाद्यन्तवर्जितम् ॥२३॥
परमस्याऽस्य चिद्व्योम्नः स्वयं यद्भानमात्मनि ।
तदेतद्विश्वमित्युक्तं स्वयं तेनैव तन्मृषा ॥२४॥
पुरुषस्य यथा स्वप्नपुरसंदर्शनं तथा ।
तत्तस्य भानं पुरवत्तदिदं विश्वमुच्यते ॥२५॥

देवताओं ने शतशः अनेक प्रकारों से वर्णन किया है यह अपूर्व नहीं है और आपको ज्ञात ही है ॥ १९ ॥

जैसा यह आपने जाना है, जैसा आगमों द्वारा वर्णित है वह सब ज्यों का त्यों स्थित है इसके विषय में और क्या वर्णन करें। अर्थात् आपको जो प्रकार ज्ञात है उसी का आपके प्रति कथन अपूर्व नहीं है, इसलिये उसका वर्णन उचित नहीं है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! चिन्महाकाश यह ब्रह्माण्ड कैसे बना, यह कितना विशाल है अथवा कितने काल तक स्थित रहेगा यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥२१॥

यह अविनाशी ब्रह्म आदि अन्त शून्य नित्य है। परमाकाश में न आदित्व, मध्यत्व और अन्तत्व है तथा न विविध आकार हैं अर्थात् ब्रह्म कभी साकार नहीं हुआ ? न उसका कालिक परिच्छेद ही है किन्तु अज्ञानी जीव जब तक अज्ञान रहता है जब तक सुप्त पुरुष की तरह अपने आत्मा को जगत् के आकार में देखता है ॥ २२ ॥

यह ब्रह्माकाश आदि अन्त रहित, अक्षर सर्वव्यापी है, अतएव ब्रह्माकाशमय आदि-अन्त विहीन यह विश्व चारों ओर फैला है ॥ २३ ॥

इस परम चिदाकाश का स्वतः स्वात्मा में जो भान है, उसको उसी ने स्वयं विश्व कहा है, वह मिथ्या है ॥२४॥

नगरवत् उसका यह वैसे ही भान है वही विश्व कह-लाता है जैसे पुरुष का स्वप्न-नगरदर्शन ॥ २५ ॥

कठिना नेह गिरयो न द्रवाणि जलानि च।
न शून्यमेतदाकाशं कालो न कलनात्मकः ॥२६॥
यद्यथा चाऽव्ययं यत्र स्वतः संचेतितं चिता।
तत्तथा तत्र चित्तत्त्वे अलं शैलादिवत्स्थितम् ॥२७॥
अशिलैव शिला स्वप्ने नभ एवाऽनभो यथा।
भवेत्तथेह सर्गादिस्वप्ने दृश्यस्थितिश्चितौ ॥२८॥
अनाकारैव चिच्छान्ता स्वप्नवद्यत्स्वचेतनम्।
वेत्ति तज्जगदित्युक्तं तच्चाऽनाकारमेव सत् ॥२९॥
वायोः स्पन्दो यथाऽन्तस्थो वात एव निरन्तरः।
तथेदं ब्रह्मणि ब्रह्म न चोदेति न शाम्यति ॥३०॥
द्रवत्वमम्भसि यथा शून्यत्वं नभसो यथा।
यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा ॥३१॥
न प्रयातं न, वा यातमकारणमकारणात्।
न च नास्ति न वाऽस्तीदं भिन्नं ब्रह्मपदे जगत् ॥३२॥
न चाऽनादि निराभासं निराकारं चिदम्बरम्।
दृशः कारणमन्यस्याः क्वचिद्भवितुमर्हति ॥३३॥

तस्माद्यथाऽवयविनोऽवयवा स्वात्ममात्रकाः।
तथाऽनवयवे ब्रह्मव्योम्नि व्योम जगत्स्थितम् ॥३४॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं ज्ञप्तिमात्रमनामयम्।
नेह सत्ता न वाऽसत्ता न च नानाऽस्ति किंचन ॥३५॥

संकल्पस्वप्ननगरवृत्तवत्सर्वमाततम् ।
स्थितमेव समं शान्तमाकाशमजमव्ययम् ॥३६॥

परमचिदम्बरहृदयं
चित्त्वाच्चत्कचति कान्तममलमलम्।
तदिदं जगदिति कलितं
तेनैव तदात्मरूपमाकल्पम् ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्गकारणनिरासो नाम पञ्चाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०५॥

यहाँ न कठिन पर्वत हैं, न द्रवरूप जल है, न शून्य यह आकाश है और न सबको कवलित करनेवाला काल ही है अर्थात् चिदेकस्वभाव ब्रह्म में चित्स्वभाव से विरुद्ध पर्वत-काठिन्य आदि स्वभाव कैसे सत्य हो सकते हैं ॥ २६ ॥

चित् ने जिस पदार्थ का जिस प्रकार जहाँ पर चिन्तन किया वह उस प्रकार वहाँ चित्तत्त्व में पर्वत, नदी आदि के रूप में पूर्णतया स्थित है अर्थात् चित् ही भ्रान्त चेतन को तथा उस रूप से स्थित सी प्रतीत होती है वस्तुतः वह उस रूप में नहीं है ॥ २७ ॥

यहाँ सर्गादिरूपी स्वप्न में चेतन में दृश्य जगत् की वैसे ही स्थिति है जैसे स्वप्न में अशिला ही शिला होती है, अनाकाश ही आकाश होता है शिला तथा आकाश से अतिरिक्त चैतन्य ही शिला और आकाश होता है ॥ २८ ॥

निराकार शान्त चित् जिस स्वस्फुरण को ही स्वप्न के समान जानती है वह जगत् कहा जाता है, अतः चिद्रूप जगत् निराकार ही है यह बात मैं आपसे शतशः कह चुका हूँ ॥ २९ ॥

यह ब्रह्म में वैसे ही ब्रह्म है जैसे वायु के अन्दर स्थित स्पन्द एकमात्र केवल वायु ही है यह न तो उदित होता है और न शान्त होता है ॥ ३० ॥

ब्रह्म में यह जगत् वैसे ही है जैसे जल में द्रवत्व रहता है, जैसे आकाश में शून्यत्व है और जैसे पदार्थ में पदार्थत्व रहता है ॥ ३१ ॥

न तो यह प्रलय में तिरोहित होता है अथवा न सर्गादि में जगत् के अकारण ब्रह्म से निष्कारण उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मपद में यह जगत् न तो भिन्न नहीं है अथवा न भिन्न ही है ॥ ३२ ॥

अनादि निराभास निराकार चिदाकाश अन्य विसदृश, जड़ सर्ग दृष्टि का कारण कदापि नहीं हो सकता है ॥३३॥

निरवयव अखण्ड ब्रह्माकाश में जगत्‌रूपी आकाश वैसे ही स्थित है ब्रह्माकाश से जगदाकाश पृथक् नहीं है जैसे अवयवी के अवयव केवल स्वात्ममात्र हैं उससे पृथक् नहीं हैं ॥ ३४ ॥

सब कुछ दृश्य शान्त, निराधार, निरामय निर्दोष ज्ञानमात्र है यहाँ न जगत् की सत्ता है अथवा न असत्ता है तथा यहाँ किंचित् भी भेद नहीं है। दृश्य के इस अपलाप में 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति प्रमाण है ॥ ३५ ॥

मनोरथ से कल्पित नगर के तथा स्वप्न में दृष्ट नगर के वृत्तान्त के समान सारा दृश्य फैला है। वास्तव में विषमताशून्य, शान्त, अजन्मा अविनाशी ब्रह्माकाश ही दृश्य के रूप में स्थित है ॥ ३६ ॥

परम चिदाकाश स्वच्छ, चमकदार, सारभूत स्वरूप ही चित्स्वभाव होने से कारण भ्रमवश जिस जिस आकार में पूर्णरूप में विकसित होता है, स्फुरित होता है उसी स्वकल्पित आत्मरूप की प्रलयपर्यन्त उसी ने (चिदाकाश ही) जगत् के रूप से जाना है अन्य को नहीं ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में सर्गकारणनिरास नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सो पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २०५॥

२०६

वसिष्ठ उवाच

यदकारणकं भाति भानं तन्नैव किंचन।
तत्तथा परमार्थेन परमार्थः स्थितोऽनघ! ॥१॥
अत्रेमं केनचित्पृष्ठोऽयमहं तं महामते!।
सम्यग्बोधस्य पुष्टचर्थं महाप्रश्नं परं शृणु ॥२॥
अस्त्यब्धिस्यामुभयतो व्याप्तं ख्यातं जगत्त्रये।
कुशद्वीपमिति द्वीपं भूमौ वलयवत्स्थितम् ॥३॥
तत्राऽस्तीलावती नाम हैमो पूर्वोत्तरे पुरी।
दीप्तिज्वालामयस्तम्भप्रोतावनिनभस्तला ॥४॥
पूर्वे तस्यामभूद्राजा प्रज्ञप्तिरिति विश्रुतः।
अनुरक्तजगद्भूतः शक्रः सर्गं इवाऽपरः ॥५॥
केनचित्कारणेनाऽहं कदाचित्तस्य भूपतेः।
प्राप्तः समी नभतः प्रलयार्क इव च्युतः ॥६॥
पुष्पार्घ्याचमनीयैर्मां पूजयित्वोपविश्य सः।
मध्ये कथायां कस्यांचिदपृच्छत्प्रणयादिदम् ॥७॥
भगवन्सर्वसंहारे जाते शून्यतते स्थिते।
अवाच्ये परमे व्योम्नि सर्वकारणसंक्षये ॥८॥
सर्गारम्भस्य भूयः स्याद्वद किं मूलकारणम्।
कानि वा सहकारीणि कारणानि कुतः कथम् ॥९॥
किं जगत्किं च सर्गादि काश्चिन्नित्यं तमोधरा।
व्योमसंस्थार्णवाः काश्चित्काश्चित्कृमिकुलाकुलाः ॥१०॥
काश्चिदाकाशकोशस्थाः काश्चिच्चोपलकोशगाः।
किंच वा भूतभूतादि कुतो बुद्धचादय कथम् ॥११॥

२०६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे भद्र श्रीरामजी! बिना कारण के जिस जगद्भान का स्फुरण होता है वह कुछ भी नहीं ही है। वास्तव में परमार्थभूत ब्रह्म ही जगत् के रूप में स्थित है॥ १॥

हे महाबुद्धे, कभी किसी ने मुझ से प्रश्न किये थे। इस विषय में सम्यग् ज्ञान की खूब पुष्टि के लिये आगे कहे जा रहे इस महाप्रश्न को और सुनिये॥ २॥

दोनों ओर से सुरोदक तथा घृतोदकवाले महासागरों से कंकण के तुल्य घिरा हुआ, त्रिलोकी में विख्यात कुशद्वीप नाम का द्वीप भूलोक में स्थित है॥ ३॥

वहाँ पर पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य में इलावती नाम की सुवर्णमय नगरी है, जिसमें कान्तिरूपी ज्वालावली के खम्भों से भूतल और आकाश गुंथे हुए हैं॥ ४॥

उन नगरी में पूर्व भाग में प्रज्ञप्ति नाम से विख्यात राजा हुआ। सब जगत् के प्राणी उस पर अनुरक्त थे, स्वर्ग में दूसरे इन्द्र के समान वह सर्वप्रिय तथा समृद्ध था॥ ५॥

किसी समय की बात है कि मैं प्रलयकाल में आकाश से गिरे सूर्य के समान किसी प्रयोजन से उस राजा के समीप में पहुँचा॥ ६॥

पुष्प, अर्घ्य और आचमनों द्वारा मेरी पूजा कर वह बैठा। किसी कथा के सिलसिले में उसने बड़े विनय से मुझ से यह पूछा॥ ७॥

हे भगवन्! सारे दृश्य का संहार होने तथा सबके कारणभूत बीज आदि तथा पृथिवी आदि का क्षय होने पर शून्यरूप से विस्तीर्ण नाम के भी प्रवृत्तिनिमित्तभूत जाति, गुण, क्रिया और संस्थान के अभाव से अवाच्य परमाकाश में सृष्टि के आरम्भ का कौन मूल कारण उपादान कारण फिर हुआ अथवा कौन सहकारी निमित्त कारण हुए। वे किसी उपादान से हुए और किस उपाय से हुए॥ ८–९॥

उत्पन्न हुआ जगत् वास्तव में क्या है? उसके सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त विकार क्या है? उसमें भी कुछ भूमियाँ नित्य अन्धकार से आच्छन्न रहती हैं, कुछ ब्रह्मलोक आदि आकाश में स्थित हैं तथा कुछ नरकादि भूमियाँ कृमिकीटों से भरी हैं, कुछ अन्तरिक्ष आदि लोक आकाशकोश में स्थित हैं, कुछ दैत्य, दानव आदि की नगरीरूप भूमियाँ शिला के गर्भ में स्थित हैं इत्यादि विचित्रता क्या है? पृथिवी आदि पञ्चभूत तथा उनमें रहनेवाले जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विधभूतसंघ आदि तत्त्वतः क्या हैं? उनके बुद्धि आदि आध्यात्मिक पदार्थ क्या तथा कैसे होते हैं? इन सबकी रचना करनेवाला अथवा द्रष्टा कौन है तथा इनकी परस्पर आधाराधेयता क्या है? यदि कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डरूप वेद तथा शास्त्रों के अविरोध के लिए जगतों का कभी भी प्रलय नहीं है, किन्तु तत्-तत् प्राणियों के कर्मों के अनुसार सदा ही जगद्-व्यवहार चलते रहते है कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था इस निश्चय का समर्थन किया जाय तो जैसा संवेदन होता है वैसा ही अनुभूतियाँ होती हैं इस प्रसिद्धि से संवेदन देह आदि हेतु कहा जाय या आगे? कुछ प्रथम प्रश्न में वह संवेदन सदा स्थायी है अथवा नश्वर है? यदि वह सदा स्थायी है तो वह कूटस्थ ही है। वह देह आदि विकार कदापि नहीं होगा। यदि वह नश्वर है तो उसकी उत्पत्ति में कारण कहना चाहिये। उसका निर्वचन होना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि संवेदन के बिना उसकी सिद्धि

कः कर्ता कोऽथवा द्रष्टा काऽऽधाराधेयता कथम् ।
न कदाचिन्महानाशो जगतामिति निश्चयः ॥१२॥
समस्तवेदशास्त्रार्थाविरोधाय समर्थितः ।
यथा संवेदनं नाम तथा नामाऽनुभूतयः ॥१३॥
यतस्ततो वेदनं स्यात्किमनाशमसन्मयम् ।
अन्यच्च जम्बूद्वीपादौ देशेऽद्य मुनिनायक ! ॥१४॥
मृतानामग्निदग्धानामिह वा देहनाशिनाम् ।
नरकस्वर्गभोगाय विदेहे देहकारणम् ॥१५॥
किं तत्स्यात्सहकारीणि कारणान्यथ कानि वा ।
धर्माधर्मावमूर्तौ द्वौ तस्याऽमूर्तस्य मूर्तता ॥१६॥
निर्द्रव्यं कुरुते द्रव्यैर्युक्तिरित्यसमञ्जसा ।
मातापित्राद्यभावो हि बीजं किं तत्र कारणम् ॥१७॥
अन्ये वा हेतवः के स्युः कथं द्रव्यादिसंभवः ।
परलोकोऽस्य नास्तीति यथासंवेदनं स्थितेः ॥१८॥

नहीं हो सकती है । हे मुनिनायक, मुझे दूसरी शङ्का यह है कि आज जम्बूद्वीप आदि देश में अथवा इस कुशद्वीप में मरे हुए तथा अग्नि में जलाये गये देहनाशवालों के नरक-स्वर्ग के भोग के लिए देह को उत्पन्न करनेवाले माता, पिता आदि से शून्य प्रदेश में शरीर के प्रति उपादान कारण कौन होगा अथवा निमित्त कारण कौन होंगे ? शङ्का—धर्म और अधर्म ही देह के आकार में परिणत हो जायँगे ? समाधान—धर्म और अधर्म दोनों अमूर्त हैं । उन अमूर्तों की मूर्तता असमञ्जस है ॥ १०–१६ ॥

अद्रव्य (द्रव्यभिन्न) धर्म और अधर्म द्रव्यों के द्वारा अर्थात् पार्थिव आदि अङ्गों द्वारा अर्थात् देह आदि का निर्माण करते हैं, यह युक्ति भी समञ्जस अर्थात् युक्ति-युक्त नहीं है । वहाँ माता-पिता आदि का अभाव है, अतः क्या उपादान कारण होगा और क्या अन्य निमित्त आदि कारण होंगे । द्रव्य आदि की उत्पत्ति कैसे होगी अर्थात् बीजाभाव से उपर्युक्त धर्माधर्म का देहाकार में परिणाम असमञ्जस है । धर्म और अधर्म करनेवाले का परलोक नहीं है यह नास्तिक पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यही वर्तमान जन्म पूर्व जन्म की अपेक्षा परलोक है और यह जन्म संवेदन के अनुसार स्थित है ॥ १७, १८ ॥

किञ्च, प्रजाजन राजाज्ञा आदि से, जो स्वेच्छा चेष्टा आदि के अगोचर हैं, दूर देशान्तर में हैं, अतएव सम्बन्ध-रहित हैं और अमूर्त भी हैं, वध, बन्धन, दण्ड आदि फल पाते हैं इसमें कौन उपपत्ति है ? दूसरी बात यह है कि पत्थर, लोहे आदि का खम्भा देवता, मुनि आदि के वर-

समस्तलोकवेदादिविरोधाच्चाऽसमञ्जसम् ।
अनिच्छितेहितैर्दूरदेशान्तरगतैः फलम् ॥१९॥
प्रजा प्राप्नोत्यसंबन्धैरमूर्तैरत्र कः क्रमः ।
स्तम्भो वरेण सौवर्णो विना हेमगमागमैः ॥२०॥
क्षणात्संपद्यते तत्र संपत्तिः कथमुच्यताम् ।
विधीनां प्रतिषेधानां निर्निमित्तं विवल्गताम् ।
रूढानामप्यरूढानां किं प्रयोजनमुच्यताम् ॥२१॥
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्संपन्नमनन्तरम् ।
इति श्रुतेः कथं ब्रह्मन्कथ्यतां संगतार्थता ॥२२॥
अयं भवेत्कथं ब्रह्मा भवेच्चेत्तन्महामुने ! ।
एवंप्रभावान्नभसः किं सर्वस्मान्न जायते ॥२३॥
ओषधीनामथार्थानां सर्वेषां वा स्थितिं गताः ।
कथं स्वभावाः कथय यथाबोधं मुनिश्वर ! ॥२४॥

दान से सुवर्ण की प्राप्ति के लिए गमन, आगमन आदि किये बिना ही जहाँ पर क्षण भर में सोने का हो जाता है वहा पर व सम्पत्ति किस उपपत्ति से है ? यह कहिये । और भी सुनिये, अचेतन होने के कारण प्रयोजन सिद्धि रूप निमित्त के बिना ही प्रवृत्त हो रहे विधि प्रतिषेधरूप शास्त्रों का, जो कि प्रचार द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं किसी के द्वारा अनुष्ठान न होने से अप्रसिद्ध हैं, क्या प्रयोजन है, यह बताने की कृपा कीजिये ? ॥ १९–२१ ॥

हे ब्रह्मन् ! जगत् पहले असत् था पश्चात् सत् हुआ जैसे—'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (यह पहले असत् था असत् से सत् उत्पन्न हुआ), 'असदेवेदमग्र आसीत्' (यह पहले असत् ही था), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (हे सोम्य, यह पहले एक अद्वितीय सत् ही था), 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' (उस समय न असत् था और न सत् था) इत्यादि श्रुतियों की परस्पर सङ्गतार्थता (एक वाक्यता) कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

और सुनिये, सृष्टि के आरम्भ में शून्य आकाश से यह ब्रह्मा कैसे होगा ? यदि आकाश का ऐसा प्रभाव मानें, तो इस तरह के प्रभाव वाले सब प्रदेशों में भिन्न आकाश से सब जगह अन्य ब्रह्मा क्यों नहीं पैदा होते ॥ २३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, ओषधियों के अपने अपने से पूर्व बीज आदि से उत्पन्न होने के स्वभाव तथा अग्नि आदि अन्यान्य सकल पदार्थों के उष्णत्व आदि स्वभाव कैसे स्थित हैं यह मुझसे अपने बोध के अनुसार कहने की कृपा कीजिये ॥ २४ ॥

एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वाऽर्थितं प्रयागादौ क्षेत्रे तत्कथमुच्यताम् ॥२५॥

खे स्यामक्षयपूर्णेन्दुरिति ध्यायिचितैः फलैः ।
तुल्यकालमनुप्राप्तैः सहस्रेन्दु न किं नभः ॥२६॥

अन्यच्च ध्यायिनां लक्षैर्ध्यातैका स्त्री यथाक्रमम् ।
जायात्वेन समं कालं लब्धं ध्यानफलं च तैः ॥२७॥

साध्व्यसाध्वी गृहे भर्तुः संस्थिता तपसा परा ।
तेषां च जाया संपन्ना कथमेतन्महामुने ! ॥२८॥

गृहान्निर्गच्छमाकल्पं नृपः स द्वीपसप्तके ।
वरत्वं वरशापाभ्यामिति अन्तः क्व तिष्ठति ॥२९॥

दानधर्मादितपसामौर्ध्वदेहिककर्मणाम् ।
इहस्थानाममूर्तानां मूर्तं प्रोत्याऽस्ति सत्फलम् ॥३०॥

व्यवहर्ता न मूर्तोऽत्र विद्यते लोकयोर्द्वयोः ।
देशान्तरे भृशं जीवो भृशं कालान्तरेऽपि वा ॥३१॥

फलं संभवतीयत्तद्विनाऽनुभवनं मुने ! ।
असमञ्जसमेवाऽति कथं स्यात्सुसमञ्जसम् ॥३२॥

इत्यादिसंशयगणं गिरा शीतावदातया ।
छिन्धि मेऽभ्युदितं भासा सान्ध्यमान्ध्यमिवोडुपः ॥३३॥

परमवस्तुनि संशयनाशनाद्-
भयलोकहितं भवति स्फुटम् ।
तदिह मे कुरु साधुसमागम-
स्तनुफलो भवतो ह न कस्यचित् ॥३४॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नो नाम षडधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०६॥

भगवन्, एक ही पुरुष के मित्र ने प्रयाग आदि मनोवाञ्छित फल देने वाले क्षेत्र में उसके जीवन की कामना कर मृत्यु का आलिङ्गन किया और शत्रु ने वहीं पर उसके मरण की कामना कर अन्तिम साँस लीं । दोनों के मरण के पश्चात् विरुद्ध स्वभाव वाले कार्य कैसे होंगे यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥ २५ ॥

तथा एक ही समय में 'मैं आकाश में पूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से चन्द्रत्व प्राप्त कराने वाली उपासना विधि के अनुसार ध्यान करने वाले बहुत से उपासकों द्वारा एक ही काल में प्राप्त अवश्यम्भावी चन्द्रत्व प्राप्ति रूप फलों से आकाश एक साथ अनेकों चन्द्रों से युक्त क्यों नहीं होता ? ॥ २६ ॥

तथा एक ही स्त्री के रूप में प्राप्त करने के लिए जब लाखों पुरुषों ने एक साथ ध्यान किया तब उन पुरुषों के ध्यान को फलभूत वह एक ही स्त्री उन पुरुषों को भिन्न देशों में स्थित भिन्न-भिन्न घरों में एक ही समय कैसे प्राप्त हुई ॥ २७ ॥

तथा हे महामुनिजी, वह एक ही स्त्री अपनी तपश्चर्या से परम ब्रह्मचारिणी, उनमें से प्रत्येक पति के घर में रहने से प्रत्येक के प्रति तपस्या से साध्वी एवं बहुजन भोग्य होने के कारण असाध्वी कैसे तथा वह उन सबकी स्त्री कैसे हुई यह मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥ २८ ॥

भगवन्, मैं घर से बाहर नहीं निकलता हुआ भी कल्प पर्यन्त सप्तद्वीपों का अधीश्वर होकर घर पर स्थित होऊँ यह विरुद्ध है । किसी ने वरदान आदि द्वारा जहाँ प्राप्त किया वहाँ घर के भीतर भोग्यवर की वरता कैसे उपपन्न होती है ? ॥ २९ ॥

दान, धर्म आदि तपस्याओं तथा अन्त्येष्टि क्रिया, श्राद्ध आदि कर्मों का अदृष्ट जहाँ क्रिया हुई उसी प्रदेश में यदि उत्पन्न होता है तो यहाँ पर स्थित लोगों को क्रिया का फल परलोक मे, जो उक्त क्रियोत्पत्ति से शून्य है, कैसे होगा ? तथा अदृष्ट मूर्त देह आदि में प्रीतिजनन से सफल है यह कहिये तो परलोक में स्थित देह में अदृष्ट का अस्तित्व कहाँ है ? अर्थात् सम्पूर्ण लोक, वेद आदि का विरोध होने से भी नास्तिक पक्ष ग्राह्य नहीं है ॥३०॥

व्यवहार करने वाला जीव और उसमें समवाय सम्बन्ध से स्थित उसका अदृष्ट जिस जगह उसका भोग होता है वहाँ है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस लोक के देह आदि मूर्त पदार्थ अन्य लोक तथा अन्य काल में नहीं रहते जिनके आश्रय से व्यवहार करने वालों को फल हो सकेगा, ॥ ३१–३२ ॥

यह असमञ्जस कैसे समञ्जस होगा ? मेरे मन में उठे हुए इन सकल सन्देहों को शीतल और उज्ज्वल वाणी से ऐसे काट डालिये जैसे कि चन्द्रमा सायंकाल में होने वाले अन्धकार को शीतल तथा उज्ज्वल कान्ति से काट देता है ॥ ३३ ॥

हे भगवन् ! परमात्मा के विषय में उपदेश द्वारा सकल संशयों का विनाश करने से हजारों विरुद्ध फलवाला भी दोनों इस लोक और परलोक में हितकर तथा अविरुद्ध हो जाता है, इसलिए परमात्मबोध मुझे दीजिये । आपके सदृश महापुरुषों का समागम मेरे सदृश किसी को साधारण फलप्रद नहीं होता है, यह अर्थ है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायणोपाय में मोक्ष निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में महाप्रश्न नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ छठवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०६॥

२०७

वसिष्ठ उवाच

शृणु राजन्यथा स्पष्टमेतत्ते कथयाम्यहम् ।
येन ते सर्वसंदेहा यास्यन्त्यलममूलताम् ॥१॥
सर्वे तावगज्जद्भावा असद्रूपाः सदैव हि ।
सद्रूपाश्च सदैवेमे यथासंवेदनं स्थितेः ॥२॥
इदमित्थमिति प्रोता यत्र संवित्तदेव तत् ।
भवत्यवश्यं तत्त्वज्ञ सदेवाऽस्त्वसदेव वा ॥३॥
ईदृक्स्वभावा संवित्तिस्तया देहो विभाव्यते ।
एक एव स्वरूपेण तस्यास्तेन च तद्विदा ॥४॥
विदमेव विदुर्देहं स्वप्नादावितरेतरा ।
संवित्काचित्संभवति नचाऽन्याऽस्ति शरीरता ॥५॥
आश्रितस्वप्नसंदर्शस्तथेदं भासते जगत् ।
समस्तकारणाभावात्सर्गादावन्यतात्र का ॥६॥
एवं यदेव विमलं वेदनं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
तदेवेदं जगद्भाति तत्केव जगतोऽन्यता ॥७॥
एवं पूर्वापरं शुद्धमविकार्यंजगत्स्थितेः ।
लोकवेदमहाशास्त्रैरनुभूतमुदाहृतम् ॥८॥
अपलाप्यैव ये मूढा अन्धकूपकभेकवत् ।
समस्तभूतसंवित्तौ रूढ़पूर्णं महात्मभिः ॥९॥

२०७

हे राजन् ! जिस प्रकार मैं हथेली में रक्खे आँवले की तरह स्पष्टरूप से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करता हूँ उसे तुम सुनो । जिससे तुम्हारे सकल सन्देह सर्वथा पूर्णरूप से निर्मूल हो जायंगे ॥ १ ॥

सभी जगत् के पदार्थ सदा ही असद्रूप हैं और सदा ही ये सद्रूप हैं, क्योंकि इनकी स्थिति संवेदन के अनुसार है । जहाँ पर जिसके अस्तित्व की प्रतीति होती है और जहाँ पर जिसके नास्तित्व प्रतीति होती है वहाँ दोनों ही स्थलों में भगवती संवित् द्वारा ही उनके अस्तित्व और नास्तित्व स्वरूप का समर्थन किया जाता है अर्थात् सर्व-प्रथम स्वयंप्रमाण स्व संवेदन का अनुसरण करने वाले पुरुषों को पदार्थों के तत्त्व की व्यवस्था करने में कहीं भी किसी भी सन्देह की उपपत्ति नहीं होती है ॥ २ ॥

जिस विषय में यह पदार्थ है, नीला है, पीला है, घड़ा है, वस्त्र है, अथवा नहीं है इस प्रकार का ही है इस प्रकार के अवधारण से निश्चय से संवित् व्याप्त है उस विषय का वह रूप अवश्य होता ही है । वह सत् हो अथवा असत् हो इस विषय में आग्रह नहीं है ॥ ३ ॥

संवित् का ऐसा स्वभाव ही है संवित् के द्वारा आत्म-रूप में शरीर की पहले भावना की जाती है । उस देह से उस संवित् की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् देह की आत्मता और संवित् की देहधर्मता यों विपरीतता का अभ्यास किया जाता है । इस प्रकार नरक और स्वर्ग के भोग के लिए देह के उत्पादक माता-पिता आदि से शून्य प्रदेश में देह के प्रति कौन उपादान कारण है और कौन निमित्त आदि कारण हैं ? प्रज्ञप्ति के इस प्रश्न का समाधान किया गया ॥ ४ ॥

इसीलिए लोग स्वप्न और जाग्रत् में देह का आत्मा के रूप में ही अनुभव करते हैं अन्य यानी संवित् को चेतयिता का देह का धर्म जानते हैं वह स्वयं चेतयित्री है ऐसा नहीं जानते हैं । इसलिए कोई यानी भ्रान्तिरूप संवित् ही शरीरता है उससे अन्य शरीरता नहीं है ॥ ५ ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में समस्त कारणों का अभाव था, अतएव अवश्य आश्रणीय स्वप्नद्रष्टा संविदात्मा ही यों जगत् के रूप में भासता है । ऐसी अवस्था में इस जगत् में स्वप्नवैधर्म्यरूप अन्यथा कौन है अर्थात् कोई नहीं है । जगत् स्वप्न-सदृश ही है अर्थात् आदि के तीन प्रश्नों का भी इसी तरह समाधान करना चाहिये, क्योंकि जगत् की सिद्धि संवेदन के बल पर ही हुई है ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो ही ब्रह्मनामक निर्मल संवेदन है, वही इस जगत् के रूप में भासता है, इसलिए जगत् में ब्रह्म-भिन्नता कैसी है ? ॥ ७ ॥

इस प्रकार सदा एकरस अर्थात् कभी विकृत न होने-वाले ब्रह्म की जगत्रूप से स्थिति होने के कारण जगत् ब्रह्म ही है विद्वान्, वेद और अध्यात्मशास्त्ररूप प्रमाणों से ऐसा ही हमने अनुभव किया है वही यहाँ पर कहा है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा है ॥ ८ ॥

जगत् नित्य संविन्मात्र ही है, यह बात सभी प्राणियों की बुद्धि में बद्धमूल है, दृढ़ अनुभव से सिद्ध है, नित्य

वर्तमानानुभवनमात्रमोहप्रमाणकाः ।
शरीरकारणा संविदिति मोहमुपागताः ॥१०॥
उन्मत्ता एव तेऽज्ञास्ते योग्या नाऽस्मत्कथासु ते ।
अक्षीबक्षीबयोर्मूढबुद्धयोः कैव संकथा ॥११॥
यया विपश्चित्कथया सर्वसंशयसंक्षयः ।
न भवेत् त्रिषु लोकेषु ज्ञेया मूर्खकथैव सा ॥१२॥
प्रत्यक्षमात्रनिष्ठोऽसौ मूढास्थ इति वक्ति यत् ।
तेन निर्युक्तिनोक्तेन शिलासदृशवृत्तिना ॥१३॥
प्रोक्तः सर्वविरुद्धेन सोऽज्ञः कूपान्धदर्दुरः ।
पूर्वापरधियं त्यक्त्वा वर्तमाने मतिस्थितः ॥१४॥
लोकावेदादयश्चैते पृष्टाः स्वानुभवान्विताम् ।
वदन्तीमां दृशं सर्वे यथा नश्यन्ति संशयाः ॥१५॥
संविदेव शरीरं चेच्छवं कस्मान्न चेतति ।
इति यस्य मतिस्तस्मै मूढायेदमिहोच्यते ॥१६॥
ब्रह्मणो ब्रह्मरूपस्य संकल्पनगरं ततम् ।
इदं तावज्जगद्भानं तव स्वप्नपुरं यथा ॥१७॥
तत्समस्तं सदेवेदं चिन्मात्रात्म निरन्तरम् ।
भवत्यत्र न ते भ्रान्तिः स्वे स्वप्ननगरे यथा ॥१८॥
तत्र तावद्दिशः शैलाः पृथ्व्यादिनगरादि च ।
सर्वं चिन्मयमाकाशमिति ते स्वानुभूतिमत् ॥१९॥
संविद्व्योमघनं ब्रह्म तत्संकल्पपुरं विराट् ।
शुद्धसंविन्मयो ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥२०॥

संविदात्मा ही सत्तारूप से सर्वत्रपूर्ण है तथा महात्माओं ने अनेक बार यह कहा है फिर भी जगत् की नित्य संविन्मात्रता का अपलाप करके अन्धकूप के मेढक से जो मूढ़ पुरुष आपाततः वर्तमान नाम और रूप के अनुभव को ही प्रमाण मानकर संवित् नित्य नहीं है, किन्तु उसका कारण शरीर ही है वह जड़ोंपादन तथा जड़ात्मा की गुण है। इस प्रकार मोह को प्राप्त किया वे नैयायिक, चार्वाक आदि अज्ञ उन्मत्त ही हैं। वे हम लोगों की ज्ञानचर्चा में भाग लेने के योग्य नहीं हैं। भले चंगे मस्तिष्कवाले पुरुषों तथा पागलों का एवं मूढ़ तथा प्रबुद्धों का परस्पर संलाप कैसा ? किसी भी प्रकार उसका संभव नहीं है ॥ ९—११ ॥

जिस मनीषी कथनोपकथन से सकल सन्देहों का विनाश न हो उसे इस लोक में क्या अन्य लोकों में क्या यानी तीनों लोकों में मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये ॥ १२ ॥

मूढ़बुद्धि चार्वाक की दृष्टि में यह प्रपञ्च एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाणवाला ही है प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंवाला नहीं है, इसलिए श्रुति आदि से सिद्ध जगत् का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा कहता है उस युक्ति-विहिन, सर्वविरुद्ध तथा अभिज्ञजनों का कर्णकटु होने से पत्थर के समान कठोर अपने वचन से ही सकल विद्वानों द्वारा अज्ञानी तथा अन्धे कुएं का मेढक कहा गया है, क्योंकि वह पूर्वापर विचारबुद्धि को दूर रखकर केवल वर्तमान मात्रगोचर प्रत्यक्ष प्रमाण में ही अपनी बुद्धि से पशु के सदृश स्थित है ॥ १३–१४ ॥

वेद तथा तत्त्वज्ञानी जन सब पूछे जाते हैं तब अपने अनुभव से परिपूर्ण इस मेरे द्वारा कही गई दृष्टि का ऐसे प्रतिपादन करते हैं जैसे कि ये सब संशय नष्ट हो जाते हैं अर्थात् चार्वाक आदि की उक्ति से सन्देहों की कदापि निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणों का अङ्गीकार न करने के कारण उसकी उक्ति युक्तिशून्य है। वेद आदि तो गुरुमुख से पूछे जानेपर सकल सन्देहों की निवृत्ति द्वारा परम पुरुषार्थ के प्रदान करने में समर्थ हैं, कारण वे अपने अनुभव से पूर्ण इस मेरे द्वारा कही हुई दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं 'वेदा' इत्यादि से ॥ १५ ॥

यदि प्रत्यगात्मसंवित् ही देहादि जगत् है तो शरीर भी संवित् होने से क्यों नहीं चैतन्य प्राप्त करता है ? इस शङ्का पर उस मूढ़ श्रोता के लिए यहां पर कहा जाता है, तुम सुनो ॥ १६ ॥

हिरण्यगर्भ का वेष धारण किये हुए परमब्रह्म का स्वप्ननगर यह जगद्-भान वैसे ही जैसे तुम्हारा स्वप्ननगर विस्तृत होता है ॥ १७ ॥

यद्यपि यह सम्पूर्ण जगद्-भान वास्तव में निरन्तर चिन्मात्रस्वरूप ही है तथापि इसमें शवादि जड़ में भी वैसे ही नहीं होती है जैसे तुम्हें अपने स्वप्ननगर में चेतन भ्रान्ति नहीं होती वह जानना चाहिये ॥ १८ ॥

अपने स्वप्न में दसों दिशाएँ, विविध पर्वत, पृथिवी आदि, नगर आदि सब कुछ चिन्मय आकाश ही हैं यह विचार करनेपर तुम्हारे अनुभव से सिद्ध है ॥ १९ ॥

ब्रह्म संविदाकाशमय है, उसका संकल्पनगर विराट् है, ब्रह्मा भी एकमात्रसंवित्-मय ही है वैसा ही उसका बनाया हुआ यह जगत् भी शुद्ध संवित्मय ही कहा जाता है अर्थात् वैसे ही जगत् में भी चिन्मयता की सम्भावना करनी चाहिये ॥ २० ॥

ब्राह्मे संकल्पनगरे यद्यत्संकल्पितं यथा।
तथाऽनुभूयते तत्तत्त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥२१॥
संकल्पनगरे यद्यद्यथा संकल्प्यते तथा।
तत्तथाऽस्त्येव च तदा त्वत्संकल्पपुरे यथा ॥२२॥
तस्माद्देहस्य नियतौ यथैतौ ब्रह्मणा चिता।
स्पन्दास्पन्दौ कल्पितौ द्वौ स तथैवाऽनुभूतवान् ॥२३॥
महाप्रलयपर्यन्ते पुनः सर्गः प्रवर्तते।
समस्तकारणाभावाद्द्रव्यं तावन्न विद्यते ॥२४॥
विमुक्तत्वात्प्रजेशस्य न च संभवति स्मृतिः।
ब्रह्मैवेयमतो दीप्तिर्जगदित्येव भासते ॥२५॥
तस्मादाद्यात्मना भातं स्वमेव ब्रह्मणा स्वतः।
जगत्संकल्पनगरमिति बुद्धं च खेन खम् ॥२६॥
यथा संकल्पनगरं चिन्मात्रं भाति केवलम्।
तथैवाऽकारणं भाति चिन्मात्रोन्मेषणं जगत् ॥२७॥
शरीरमस्तु वा माऽस्तु यत्र यत्राऽस्ति चिन्नभः।
वेत्त्यात्मानं तत्र तत्र द्वैताद्वैतमयं जगत् ॥२८॥
तस्माद्यथा स्वप्नपुरं यथा संकल्पपत्तनम्।
तथा पश्यति चिद्व्योम मरणानन्तरं जगत् ॥२९॥
अपृथ्व्यादिमयं भाति पृथ्व्यादिमयवज्जगत्।
यथेदमाप्रथमतो मृतस्याऽप्यखिलं तथा ॥३०॥
देशकालौ न सर्गेण प्रबुद्धस्येव तौ यथा।
अणुमात्रमपि व्याप्तौ तथैव परलोकिनः ॥३१॥
इदं प्रबुद्धविषये स्वानुभूतमपि स्फुटम्।
जगन्न विद्यते किंचित्कारणं गगने यथा ॥३२॥

ब्रह्म के संकल्पनगररूप इस जगत् में चित् द्वारा जिस जिसका जैसा संकल्प किया जाता है उस उसका वैसा वैसे ही अनुभव होता है जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में तुमसे जिस जिस पदार्थ का जैसा संकल्प किया जाता है वैसा ही तुम्हें उसका अनुभव होता है ॥ २१ ॥

इस संकल्पनगर में जिस जिसका जैसे संकल्प किया जाता है वह उस समय वैसे ही वैसा रहता है जैसे तुम्हारे संकल्पनगर में जिस पदार्थ का जैसे संकल्प किया जाता है उस समय वह वह वैसा रहता ही है ॥ २२ ॥

जैसे जीवित देह की चेष्टा होती है मृत शरीर की चेष्टा नहीं होती यों नियत इस चेष्टा और चेष्टा का अभाव दोनों की हिरण्यगर्भरूप चित् ने कल्पना की है वैसे ही उसने उनका स्वयं अनुभव किया इसलिये शव में चेतना की अभिव्यञ्जक चेष्टा की प्राप्ति नहीं होती है ॥ २३ ॥

महाप्रलय के अन्त में पुनः सृष्टि चलती है। लेकिन समस्त कारणों का अभाव होने से वह सृष्टि में उपयोग होगा, अतः वह निर्द्रव्य कैसे है ? यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कल्प के प्रलय से पहले ही पूर्व कल्प का प्रजापति मुक्त हो चुका है इसलिए उसके द्वारा निर्मित जगत् का पूर्व रूप से प्रलय होने के कारण पूर्व जगत् के प्रकार स्मृति आदि निमित्तकारण नहीं है, यह तुम्हारा आशय है। लेकिन तुम्हरा यह आशय हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है, क्योंकि स्वयंज्योति ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासमान होता है ॥ २४,२५ ॥

ब्रह्म का पहले हिरण्यगर्भ के रूप में स्फुरण हुआ उसके बाद आकाशरूप उसने स्वयं ही आकाशरूप संकल्पनगर में जगत् जाना ॥ २६ ॥

निष्कारण चिन्मात्र उन्मेष वैसे ही जगत् के रूप में होता है जैसे केवल चिन्मात्र रूप संकल्प नगर का भान होता है ॥ २७ ॥

शरीर हो चाहे मन हो जहाँ-जहाँ चिदाकाश है वहाँ वहाँ वह द्वैताद्वैतमय जगत्रूप आत्मा को जानता है अर्थात् इससे 'माता पित्राद्यभावोऽपि' इस प्रश्न का भी समाधान हो गया ॥ २८ ॥

जैसे चिदाकाश स्वप्न नगर को देखता है जैसे संकल्पपुर को देखता है मरने के बाद जगत् को वैसे ही देखता है अर्थात् मरण के पश्चात् जगत् के दर्शन में भी यही न्याय जानना चाहिये ॥ २९ ॥

मृत पुरुष का भी सम्पूर्ण जगत् अपृथिवी आदिमय होता हुआ भी वैसे ही पृथिवी-आदिमय भासमान होता है जैसे सर्ग के आदि से अपृथिवीमय यह जगत् पृथिवी आदिमय के समान भासमान होता हैं ॥ ३० ॥

परलोकगामी पुरुष के भी ऐहिक देश-काल परलोक में वैसे ही व्याप्त नहीं होते जैसे तत्त्वज्ञानी के अथवा स्वप्न से जागे हुए पुरुष के देश और काल जाग्रत् सृष्टि से तनिक भी नहीं रहते ॥ ३१ ॥

जैसे आकाश के विषय में कारण कुछ नहीं है वैसे ही स्पष्ट रूप से अपने द्वारा अनुभूत भी यह जगत् तत्त्वज्ञानी के विषय में कुछ नहीं है अर्थात् इसी तरह तत्त्वज्ञानी के विषय में जगत् भी नहीं व्याप्त होता ॥ ३२ ॥

अप्रबुद्धस्याऽसदेव यथेदं भाति भासुरम्।
तथैव सर्गवद्भाति व्योमैव परलोकिनः ॥३३॥
द्युधराद्यिमाद्याढ्यं खमेव परलोकिनः।
अभूतपूर्वमाभाति भूतपूर्ववदाततम् ॥३४॥
मृतोऽयं पुनरुत्पन्नो यमलोके शुभाशुभम्।
भुञ्जेऽहमित्यतिघनं मृतो भ्रान्तिं प्रपश्यति ॥३५॥
मोक्षोपायानादरिणामेष मोहो न शाम्यति।
बोधादवासनत्वेन मोह एष प्रशाम्यति ॥३६॥
अप्रबुद्धस्य या संवित्सा धर्माधर्मवासना।
ख एव खात्मिका भाति यत्तदेव जगत्स्थितम् ॥३७॥
न शून्यरूपं न च सत्स्वरूपं
ब्रह्माभिधं भाति जगत्स्वरूपम्।
तच्चाऽपरिज्ञानवशादनर्थं-
भूतं परिज्ञातवतः शिवात्म ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नोत्तरं नाम सप्ताधिकद्विशततमः सर्गः ॥२०७॥

परलोकगत पुरुष को चिदाकाश ही सर्गवत् वैसे ही प्रतीत होता है जैसे अप्रबुद्ध पुरुष को असत् ही यह जगत् देदीप्यमान मालूम होता है ॥ ३३ ॥

परलोकगत पुरुष को अभूतपूर्व चिदाकाश ही द्युलोक, पृथिवी, यम आदि से युक्त पूर्वसिद्ध के समान व्याप्त प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

यहाँ मैं मरा, फिर नारकी जीव के रूप में उत्पन्न हुआ, यमलोक में आया और वहाँ पर शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोगता हूँ यों मृत पुरुष अतिनिबिड़ भ्रान्ति को देखता है ॥ ३५ ॥

मोक्ष के उपाय श्रुश्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अनादर करने वाले पुरुषों का यह अज्ञान कभी भी शान्त नहीं होता है बोध होने से वासना के मिट जाने पर यह मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उक्त भ्रान्ति मोक्ष के उपायभूत अध्यात्म शास्त्रों के परिशीलन आदि से ही पूर्णरूप से नष्ट होती है उसके विनाश का दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ३६ ॥

अप्रबुद्ध पुरुष की जो संवित् है वह धर्म-अधर्मवासना है जो आकाश में ही आकाशरूप में भासमान है वही यह जगत् के रूप में स्थित है अर्थात् इससे और अधर्म ही जगत् के आकार में परिणत होते हैं यह आस्तिक लोगों का पक्ष भी अनुगृहीत हुआ ॥ ३७ ॥

जगत् का स्वरूप स्वतः शून्यरूप भी नहीं है और सत्स्वरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मनाम का चैतन्य ही जगत्-स्वरूप है और अज्ञान के कारण ही अनर्थभूत है तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए तो परमकल्याण निरतिशय आनन्दरूप ही है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्ध में महाप्रश्नोत्तर नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सो सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०७॥

२०८

वसिष्ठ उवाच

शुभाशुभं यथोदेति प्रजानां गृहसंगमे।
असंबद्धैरप्रतिघैर्दूरस्थैस्तदिदं शृणु ॥१॥
ब्रह्मसंकल्पनगरं जगत्तावदिदं स्थितम्।
यद्दृश्यं दृश्यबोधेन ब्रह्मैव ब्रह्मबोधतः ॥२॥
यद्यत्संकल्पनगरे यदा संकल्प्यते यथा।
तथाऽनुभूयते तत्तत्तादृग्विरचनं तदा ॥३॥
एवमस्मिन्गृहे याते संपन्नैवमियं प्रजा।
एवं संकल्पसंपन्ने जगत्येवं भवत्यलम् ॥४॥

२०८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! प्रजाओं को अमूर्त, दूर स्थित अतएव सम्बन्धरहित राजाज्ञादि से अपने ही घर में जैसे शुभाशुभ फल अर्थात् निग्रहानुग्रहरूप प्राप्त होता है उसको सुनो, मैं कहता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्यबोध से दृश्य के रूप में प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञान ब्रह्म ही है, इसलिए यह जगत्-संकल्पनगररूप से स्थित है ॥ २ ॥

संकल्पनगर में जिस-जिस वस्तु का जिस समय जैसा संकल्प किया जाता है वह वस्तु उस समय वैसे ही अनुभूत होती है ॥ ३ ॥

ब्रह्म के संकल्प से सम्पन्न जगत् में भी यह प्रजा पूर्णरूप से ब्रह्मसंकल्प के अनुसार वैसे ही होता है जैसे तुम्हारे इस संकल्पमय घर में जो यह प्रजा है वह तुम्हारे संकल्प के अनुसार हुई है ॥ ४ ॥

एतत्स्वसंकल्पपुरे यादृशं ते तथा स्थितम् ।
यथा संकल्पयसि यत्तत्तथा किल पश्यसि ॥५॥

यथैव वरशापाभ्यां शुद्धसंविदवाप्यते ।
संवित्तथैव भवति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥६॥

प्रजाविधिनिषेधाभ्यामेकयाऽऽस्थाव्यवस्था ।
तथैव फलमाप्नोति ब्राह्ममेवेति कल्पनम् ॥७॥

देहिनो ये जगत्यस्मिंस्तान्प्रत्यनुपलम्भतः ।
असदासीज्जगत्पूर्वं सत्यमित्युपलभ्यते ॥८॥

चिद्रूपब्रह्मसंकल्पवशादेवैतदङ्ग सत् ।
चिदुन्मेषनिमेषौ यौ तावेतौ प्रलयोदयौ ॥९॥

राजोवाच

किं नोपलभ्यते पूर्वं किं पश्चादुपलभ्यते ।
जगच्चलद्वपुरिदं सुस्थिरारम्भभास्वरम् ॥१०॥

वसिष्ठ उवाच

अस्मिंश्चिद्व्योमसंकल्पपुरस्थे भाव ईदृशः ।
यद्भूत्वा न भवत्येव पुनर्भवति च क्षणात् ॥११॥

बालसंकल्पपुरवद्व्योमकेशोण्ड्रकादिवत् ।
किलैते सदसद्रूपा भान्ति सर्गाश्चिदात्मनि ॥१२॥

त्वं संकल्पपुरं कृत्वा विनाशयसि तत्क्षणात् ।
स्वतोऽन्यसंविद्वशतः स्वस्वभावः स ते यथा ॥१३॥

चिद्व्योमकल्पनपुरे यदुन्मज्जनमज्जनम् ।
स्वभावकचनं तस्य तद्विद्धि विमलं तथा ॥१४॥

संविद्घनस्त्वनाद्यन्तव्योमैव त्रिजगन्नभः ।
तेनाऽसावद्य यन्नाम करोत्यपि च चेतति ॥१५॥

तदनावरणस्याऽस्य योजनानां शतेष्वपि ।
युगैरपि स्वप्न इव कार्यकृद्वर्तमानवत् ॥१६॥

तुम्हारा अपने संकल्प नगर में यह जिस प्रकार स्थित है। तुम अपने संकल्प नगर में जिसका जैसा संकल्प करते हो उसको वैसा ही देखते हो ॥ ५ ॥

अर्थात् जो जगत् में हमारे संकल्प नगर की विलक्षणता का अनुभव होता है उसे वर-शाप संकल्प तुल्य समझना चाहिये।

मुनियों की यम, नियम आदि के सेवन से शुद्ध हुई संवित् वर और शाप से जैसे तत्-तत् व्यवहार क्षम अर्थात् निग्रहानुग्रह समर्थ होती है ब्रह्म संवित् भी वैसे ही होती है, जो वर और शाप द्वारा होता है उसे भी तपस्वियों के वर और शाप सिद्ध हों इस प्रकार ब्रह्म की कल्पना से ब्रह्म सम्बन्धी ही सत्य सङ्कल्प समझना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रजागण विधि-निषेध शास्त्रों द्वारा बोधित धर्म और अधर्म से एक आस्थावश धर्म अथवा अधर्म का फल प्राप्त करते हैं वह भी ब्रह्म के ही इस प्रकार के सङ्कल्प कारण ही होता है ॥ ७ ॥

इस जगत् जो जीव हैं उनकी सृष्टिरूप अभिव्यक्ति के पूर्व उपलब्धि न होने के कारण पहले यह जगत् असत् था सृष्टि के उपरान्त सत्यरूप से इसकी उपलब्धि होती है ॥ ८ ॥

हे राजन् यह जगत् चिद्रूप ब्रह्म के सङ्कल्प से ही कुछ काल के लिए सत् है, अतः ब्रह्म के जगत् रूप से उन्मेष और निमेष ही इस जगत् के उदय और प्रलय हैं असत् जगत् का कुछ काल तक सत्तारूप किञ्चित् भान भी ब्रह्म के सत्य सङ्कल्प से ही होता है ॥ ९ ॥

राजा ने कहा—हे भगवन् यदि जगत् ब्रह्म के सङ्कल्प वश सत् है तो सुषुप्ति और प्रलय काल में क्यों प्रतीत नहीं होता ? जाग्रत् और सृष्टिकाल में क्यों दिखाई देता है सदा विकार को प्राप्त यह जगत् सदा स्थायी कार्य के समान भासमान कैसे है ? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राजन् ! इस चिदाकाश के सङ्कल्प नगर में स्थित जगत् में इस प्रकार का स्वभाव ही है कि यह सृष्टि में यानी स्वप्न और जाग्रत् में उत्पन्न होकर प्रलय, सुषुप्ति और मोक्ष में आविर्भूत नहीं ही होता है और फिर क्षणभर में आविर्भूत हो जाता है ॥ ११ ॥

बालक के सङ्कल्प के नगर के समान तथा आकाश में स्थित केशों के वर्तुलाकार गोले आदि के समान ये सदसद्रूप सृष्टियाँ चिदात्मा में भासमान होती हैं ॥ १२ ॥

चिदाकाश के सङ्कल्प नगर में जो उन्मज्जन निमज्जन है अर्थात् उन्मेष तथा निमेष है वह ब्रह्म का वैसे ही निर्मल स्वभाव कचन ही है। तुम सङ्कल्प नगर का निर्माण कर अन्य संवित् से अर्थात् उसके प्रलय सङ्कल्पवश स्वयं उसी क्षण में उसका विनाश करते हो यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है ॥ १३–१४ ॥

इसलिए त्रिजगदाकाश केवल एकमात्र संविन्मय होकर आदि, अन्त शून्य ब्रह्माकाश ही है। वह स्वयं ही जगत् है, इस कारण वह परमेश्वर जो सोचता है वह करता भी है। आवरणरहित उसके सत्य सङ्कल्प से हजारों योजनों में बहुत से युगों व्यवहित भी पुण्य, पाप आदि कर्म परलोक आदि में समीप में विद्यमान की तरह वैसे ही स्वर्ग, नरक, भोग, ऐश्वर्य आदि कार्यकारी होते हैं जैसे कि स्वप्न कार्यकारी होता है ॥ १५–१६ ॥

किल देशान्तरे नित्यमथ लोकान्तरेऽपि च।
निरावृतो य एकात्मा स किं नाम न चेतति ॥१७॥
यथा मणौ प्रकचति प्रोन्मज्जननिमज्जने।
परावर्तः स्वभासाऽस्य चिन्मणौ जगतां तथा ॥१८॥
विधीनां प्रतिषेधानां लोकसंस्थाप्रयोजनम्।
सैव संविदि रूढत्वात्प्रेत्यापि फलदा स्थिता ॥१९॥
न कदाचन यात्यस्तमुदेति न कदाचन।
ब्रह्म ब्रह्मचिदाभानं सर्वदात्मन्यवस्थितम् ॥२०॥
यथा तु द्रष्टृदृश्यादिकल्पना कल्पनापुरम्।
स्वयं जगदिवाऽऽभाति जातमित्युच्यते तथा ॥२१॥
यदा स्वभावात्कचनं संहृत्याऽऽत्मनि तिष्ठति।
ब्रह्मचिद्गगनैकात्मा शान्त इत्युच्यते तथा ॥२२॥

वैसे ही चिदाकाश रूपी मणि में जगतों के सृष्टि प्रलय रूप परिवर्तन तथा नाना कर्मों के विचित्र विविध फलयोग रूप परिवर्तन भी वैसे ही अनुभव होते हैं जैसे स्फुरित हो रही चमक रही मणि में अपनी दीप्ति से ही कान्ति के उन्मज्जन का आविर्भाव और तिरोभाव का अनुभव होता है ॥ १८ ॥

विधिशास्त्र और निषेध शास्त्रों का लोक मर्यादा संरक्षण ही एकमात्र प्रयोजन है, लोक स्थिति ही, जो ब्रह्म में उगी हुई है, मरकर परलोक में गये हुए पुरुष को फल देने वाली है अर्थात् विधि प्रतिषेधरूप शास्त्रों की सफल बनाने वाली लोक मर्यादा ही ब्रह्म में बद्धमूल है अतः वह दूर स्थित कर्मों के भी फल की कल्पना करती है ॥ १९ ॥

ब्रह्म का न तो कभी अस्त होता है और न कभी उदय होता है। ब्रह्मचिदाभास सदा ही आत्मा में स्थित है अर्थात् वास्तव में तो आत्मा के जन्म मरण ही नहीं होते हैं, किन्तु आत्मा स्वयं ही भ्रान्तिवश जन्म और मरण की कल्पना करता है ॥ २० ॥

वह स्वयं जगत् के समान वैसे ही प्रतीत होता है जैसे द्रष्टा, दृश्य आदि जगत् कल्पना नगर एकमात्र कल्पना ही है। उसके जन्म का भी वाणी से व्यपदेश होता है, वास्तव में वह नहीं होता है ॥ २१ ॥

जब चिदाकाश स्वरूप जीव स्वभावतः स्फुरण का त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित होता है तब वह मृत कहा जाता है अर्थात् वैसे ही मरण भी पूर्वदेह भ्रान्ति के स्फुरण का उपसंहार ही है और कुछ नहीं है ॥ २२ ॥

कचनाकचने यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः।
यथैतावात्मनो नान्यो स्पन्दास्पन्दौ नभस्वतः ॥२३॥

जरामरणहन्तॄणि क्षणान्यत्र पृथक्पृथक्।
भवन्त्विति यथैतानि सन्ति त्वत्कल्पनापुरे ॥२४॥

ब्रह्मसंकल्पनगरे स्वभावा उदितास्तथा।
ओषधीनां पदार्थानां सर्वेषां च जगत्त्रये ॥२५॥

न संकल्पयिता राजन्संकल्पनगरे स्वयम्।
तृणं तृणं कल्पयति बालः क्रीडनकानिव ॥२६॥

स्वयं स्वभाव एवैष चिद्घनस्याऽस्य सुस्फुटम्।
यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि ॥२७॥

ये स्फुरण और अस्फुरण उस आत्मा के वैसे ही निर्मल और अक्षय स्वभाव ही हैं, अन्य नहीं हैं अर्थात् दृश्य जगत् के आकार में स्फुरण और अस्फुरण अज्ञानोपहित चित् का स्वभाव ही है, जैसे ये स्पन्द और अस्पन्दन वायु के स्वभाव ही हैं अन्य नहीं हैं ॥ २३ ॥

तुम्हारे कल्पना नगर के समान यहाँ जरा, मृत्यु और विनाश करने वाले मणि, मन्त्र आदि के पृथक् स्वभाव अमुक मन्त्र या ओषधि इस प्रकार के प्रभाव से युक्त हों यों ब्रह्म संकल्प से ही उदित होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म के संकल्परूप त्रिलोकी में सब ओषधियों तथा सब पदार्थों के स्वभाव संकल्पवश उदित हैं अर्थात् मणि, मन्त्र और ओषधियों के विविध प्रभाव भी ब्रह्म के सत्य संकल्पवश ही वैसे ही होते हैं ॥ २४–२५ ॥

ईश्वर, प्रत्येक अपने संकल्पनगररूप त्रिजगत् में प्रत्येक वस्तु का स्वयं संकल्प करता है ऐसी ईश्वर की कल्पना हम नहीं करते अपितु ईश्वर अमुक वर्ग का पदार्थ अमुक वर्ग के कार्य को करने वाला हो, अमुक जाति के पदार्थ इस प्रकार उत्पन्न हों ऐसी कल्पना वैसे ही करता है जैसे बालक अपने खिलौनों का एक ही बार संकल्प करता है। उससे ही बीज, अंकुर आदि के क्रम से पूर्व-पूर्व तृण आदि पदार्थ उत्तरोत्तर तृण आदि पदार्थों की जल्पना करता है ॥ २६ ॥

इस चिद्घन का यह स्पष्ट स्वभाव है कि यह स्वयं जिसका सकल्प करता है क्षणभर में ही वहाँ पर वे पदार्थ अपने अवयवों के साथ तथा शक्ति, कार्य आदि भेद और कार्यपरम्पराएँ एक बार के संकल्प से ही सिद्ध हो जाती हैं ॥ २७ ॥

चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयाऽऽत्मना ।
अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥२८॥
प्रत्येकं किल तत्राऽस्ति ब्रह्म चिन्मात्रतात्मनि ।
सर्वात्मिका सा यत्राऽऽस्ते यथाऽन्तर्भाति तत्तथा ॥२९॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं
किंचिन्न किंचिच्च सदप्यसत्यम् ।
स्थितं यथा यत्र तदात्म तत्र
सर्वात्मभूर्भूततृणादिजातौ ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नमोक्षणे अष्टोत्तरद्विशततमः सर्गः ॥२०८॥

संकल्प कल्पित पदार्थ स्वभाववश नाना रूप से स्थित होने पर भी स्फुरण स्वभाव ब्रह्म में चिदात्मरूप से भासमान होते हैं इसी प्रकार स्वतः नानाकार स्वभाव वाले होने पर भी सद्रूप से एक तत्त्व वाले एकाकार स्थित हैं ॥ २८ ॥

उन पदार्थों में प्रत्येक में अस्ति; भाति और प्रिय रूप से ब्रह्म चिन्मात्रता है, क्योंकि चित् सर्वात्मक है जहाँ पर जैसे रहती है वहाँ पर वैसी भासमान होती है ॥ २९ ॥

इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त रहित अपरिमेय शक्तिशाली ब्रह्म सदसत् दोनों रूप से स्थित है, क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (सत्य परमात्मा सत्य और असत्य हुआ) ऐसी श्रुति है। वह सर्वात्मक है, अतः प्राणियों में, तृण, गुल्म, पेड़-पौधे आदि में जहाँ पर जो वस्तु जिस स्वभाववान् के रूप में प्रसिद्ध है वहाँ पर स्वयं ही उस स्वभान का होकर स्थित है ॥ ३० ॥

इस प्रकार प्रणीत बाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में महाप्रश्नमोक्ष नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ आठवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०८

२०९

वसिष्ठ उवाच

एकस्य जीवितं पुंसः सुहृदा मरणं द्विषा ।
मृत्वार्ऽथितं प्रयागादौ क्षेत्रे यत्तदिदं शृणु ॥१॥
क्षेत्राणामर्थधर्माणां सर्वेषां प्रति तं फलम् ।
ब्रह्मणा कल्पितं सर्गे स्वके संकल्पपत्तने ॥२॥
यत्र पुण्यं यदर्थं च क्षेत्रं ताभ्यां तथा कृतम् ।
यदि तद्विनियोज्यस्य तस्योन्नमति निष्कृतात् ॥३॥
तत्तस्मान्महतः पापाद्भागमेनोऽखिलं च वा ।
चितिशक्त्यात्म तत्पुण्यं परिभ्राम्योपशाम्यति ॥४॥

२०९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—अभीष्ट फल देनेवाले वाराणसी आदि क्षेत्र में एक ही पुरुष के मित्र ने उसके दीर्घजीवन की प्रार्थना कर अन्तिम साँस छोड़ी और शत्रु ने उसके शीघ्र मरण की कामना कर मृत्यु का आलिङ्गन किया। यह दोनों की दीर्घ जीवन और शीघ्र मरणरूप विरुद्ध कामनाएँ कैसे सम्पन्न होंगी ? यह तुमने प्रश्न किया था, अब उसका उत्तर सुनो ॥ १ ॥

हे राजन् ! ब्रह्म ने सृष्टिरूप अपने संकल्पनगर में वाराणसी आदि कामनाप्रद क्षेत्रों तथा सब पदार्थों के फल का, उस अधिकारी पुरुष के लिए, संकल्प से समर्थन किया है ॥ २ ॥

संकल्पनगर में अधिकारी की अभीष्ट फल सिद्धि के लिए अभिलषित फल देनेवाले वाराणसी आदि पुण्यतीर्थ, उनमें किये गये स्नान, दान, तप, यज्ञ आदि पुण्य तथा पुण्यतीर्थ और स्नानादि पुण्य से संस्कृत शरीर ये तीनों यदि शास्त्रानुकूल आचरण करनेवाले अधिकारी के रहते हैं तो उसके द्वारा यहाँ पर मेरे द्वारा किये गये पुण्य से मेरा अभीष्ट फल अवश्य होगा इस विश्वास से अनुष्ठित काशी मरण आदि प्रार्थित फल अवश्य होता ही है ॥ ३ ॥

पापी श्रद्धालु पुरुष का प्रयाग आदि पुण्य क्षेत्र के मरण से उत्पन्न चितिशक्तिरूप वह पुण्य ब्रह्महत्यादि महापाप से अंशतः अथवा सम्पूर्णतः जैसा क्षेत्र का माहात्म्य हो पुरुष को अलगकर स्वयं भी शान्त हो जाता है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म से पाप को नष्ट करता है) इत्यादि श्रुति है ॥ ४ ॥

विनेयपापमल्पं चेत्क्षेत्रधर्मोऽधिकस्ततः ।
तत्पापं नाशयित्वा तच्छब्द एव विवलगति ॥५॥
क्षेत्रधर्मेण तेनाऽस्य विनेयस्य महीपते ! ।
द्वे शरीरे विदौ सम्यक्कचतः प्रतिभात्मिके ॥६॥
इत्येवमादि पापानां पुण्यानां च फलं महत् ।
ब्रह्मसंकल्पकचितं यथा यद्यत्तथैव तत् ॥७॥
ब्रह्मोच्यतेऽसौ चिद्धातुः सोऽब्जजाद्यहमादि च ।
स यथाऽऽस्ते तथा तत्तस्य संकल्पनं जगत् ॥८॥
प्रतिभैव विनेयस्य क्षेत्रपुण्येन तादृशी ।
तथैवोदेति सा धातुर्विपरीतवतो यथा ॥९॥
एकात्मनाऽहमद्येष मृतोऽस्मी मम बन्धवः ।
रुदन्तीमे परं लोकं प्राप्तोऽयमहमेककः ॥१०॥

यदि शास्त्रों द्वारा शिक्षा प्राप्तियोग्य पुरुष में पाप की मात्रा कम हो और तीर्थक्षेत्र में स्नान, दान आदि से होनेवाला धर्म अधिक मात्रा में हो तो वह उस पाप को विनष्टकर श्रुति द्वारा प्रतिपादित फल के विषय में अंशतः असर डालता ही है उसे सिद्ध करता ही है ॥ ५ ॥

हे राजन् ! जहाँ पर शास्त्र द्वारा शिक्षणीय पुरुष का पाप पुण्यक्षेत्रार्जिय धर्म के बराबर ही होता है वहाँ पर तुल्यबल होने के कारण उस धर्म से उस पाप की निवृत्ति नहीं हो सकती अब पुण्य और पाप के भोग के लिए उसके दो शरीर और उनके चिदाभास दो भ्रान्ति और प्रतिभात्मक स्फुरित होते हैं ॥ ६ ॥

पापों और पुण्यों का महान् फलस्वरूप इस प्रकारका जो जैसे ब्रह्मसंकल्प से स्फुरित होता है वह वैसे ही व्यवस्थित है, उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

यह चिद्धातु ब्रह्म कहा जाता है। वही ब्रह्मा आदि समष्टि जीव और अहमादि व्यष्टि जीव कहलाता है। वह जैसे सङ्कल्प करता है समष्टि-व्यष्टि उपाधि में उसका सङ्कल्प रूप जगत् भी वैसे ही स्थित है ॥ ८ ॥

जैसे पुण्य विपरीत पाप वाले की नरकादि प्रतिभा उत्पन्न होती है वैसे ही सङ्कल्प के अनुसार ही शासन योग्य पुरुष को पुण्य क्षेत्रों में उपार्जित पुण्य के अनुसार उसके फलभोग रूप प्रतिभा स्वप्न के समान उदित होती है ॥ ९ ॥

यह मैं आज अकेला ही मर गया, ये मेरे बन्धु-बान्धव सब जीते हैं, ये सब मेरे लिये रोते हैं, मैं यह अकेला ही परलोक में पहुँच गया हूँ ॥ १० ॥

जैसे इसका मरण प्रतिभा रूप है वैसे ही इसके बन्धुओं

बन्धूनामपि तत्रैव तदैवाऽस्य तथैव च ।
प्रतिभा तादृशैवेति धातुक्षोभवतामिव ॥११॥
अत्युग्रैः पुण्यपापैः स्वैर्वा महात्मभिरीक्षिते ।
लक्ष्याण्यप्यन्यथा सन्ति नृणां चित्कल्पनावशात् ॥१२॥
अचेतनं शवीभूतं तेऽपि पश्यन्ति तं मृतम् ।
रुदन्ति तं च दहने क्षिपन्ति सह बान्धवैः ॥१३॥
विनेयः स यथाऽन्येन संविद्रूपेण देहिना ।
ऽजरामरणमात्मानं वेत्ति स्थितमदुःखितम् ॥१४॥
यथास्थितेन देहेन वेत्त्यसौ जीवितस्थितिम् ।
मृतिं त्वदृश्येनाऽन्येन क्षेत्रपुण्यविदेरितः ॥१५॥

का भी मरने पर सर्वत्र प्रसिद्ध रोना, शव को ले जाना, श्मशान में जाना, जलाना आदि सब कुछ धातु क्षोभ वाले लोगों की संनिपात से जिनके वायु, पित्त आदि धातु क्षुब्ध हो गये हैं ऐसे लोगों की तरह वैसी प्रतिभा ही है ॥ ११ ॥

जब मनुष्यों के अतिशय उत्कट पाप अथवा पुण्य होते हैं तब क्षुब्ध हुए अपने पुण्यों से महात्मा पुरुषों द्वारा निग्रह-अनुग्रह दृष्टि से देखे जानेपर दूसरे पुरुषों द्वारा देखने योग्य अथवा अन्य पुरुषों द्वारा देखने के अयोग्य पुण्य अथवा पापों के फलभूत शरीर आदि चित्संकल्पवश होते हैं ॥ १२ ॥

सर्व साधारण लोग भी कहीं पर अतिशय उत्कट पुण्य अथवा पापों से शासन योग्य को अचेतन शवरूप में पड़ा मरा हुआ देखते हैं, रोते हैं और उसके बन्धु-बान्धवों के साथ उसे चिता की अग्नि में डालते हैं ॥ १३ ॥

मित्र और शत्रु के पृथक्-पृथक् कर्मों से शासन योग्य एक पुरुष स्नेहसंवित्रूप जीवने यानी मित्र ने प्रयागादि तीर्थक्षेत्र में जैसी प्रार्थना की थी वैसे स्थित जरा और मृत्यु से रहित अपने को सुखी जानता है ॥ १४ ॥

वह वर्तमान देह से अपनी जीवितावस्था का अनुभव करता है। तब उसके शत्रु का मनोरथ कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् जिसने प्रयाग आदि कामनाप्रद प्रदेश में मृत्यु के समय उसके शीघ्र मरण की कामना की थी उसके संकल्प की सिद्धि कैसे होगी ? यह यदि शङ्का हो तो सुनो। प्रयाग आदि पुण्यतीर्थ में शत्रु की मृत्यु करानेवाले पुण्य का आचरण करनेवाले शत्रु से जबर्दस्ती मरने के लिए प्रेरित हो वह दूसरे मित्र, स्वजन आदि से अदृश्य शरीर से उसी समय में मृत्यु का भी अनुभव करता है ॥ १५ ॥

आविला संविदा संविच्छून्यया वेद्यते क्षणात् ।
नहि सन्नद्धगात्रस्य क्लेशोऽसन्नद्धभेदने ॥१६॥
पश्यन्ति बन्धवोऽप्येनं तथैवाऽमरतां गतम् ।
द्वयमित्येष लभते जीवितं मरणं समम् ॥१७॥
इदमप्रतिघारम्भं भ्रान्तिमात्रं जगत्त्रयम् ।
न संभवति को नाम भ्रान्तौ भ्रान्तिविपर्ययः ॥१८॥
संकल्पस्वप्नपुरयोर्या भ्रान्तिरनुभूयते ।
ततोऽधिकेयं न न्यूना जाग्रत्स्वप्नेऽनुभूयते ॥१९॥

राजोवाच

धर्माधर्मौ कथं ब्रह्मञ्कारणं देहसंविदः ।
तस्यामूर्तौ कथं चैको द्विशरीरत्वमृच्छति ॥२०॥

वसिष्ठ उवाच

संकल्पनगरे ब्राह्मे जगत्यस्मिन्महामते ।
किं नाम नो संभवति सत्यं वाऽप्यसमञ्जसम् ॥२१॥

यथैव संकल्पपुरे यत्न संभवतीह हि ।
तत्रास्त्येव तदेतस्मिंश्चिवाऽस्तु ब्रह्मकल्पने ॥२२॥
स्वप्नसंकल्पपुरयोरेका गच्छति लक्षताम् ।
तथा चैकैव चित्स्वप्ने सेनात्वमुपगच्छति ॥२३॥
सहस्राण्येकतां यान्ति तथा सैव सुषुप्तकम् ।
अन्यथा स्वप्नसंकल्पसेनानुभवसंस्मृतौ ॥२४॥
संकल्पस्वप्नपुरयोरिति को नाऽनुभूतवान् ।
संविदाकाशमात्रेऽस्मिञ्जगत्यनुभवात्मनि ॥२५॥
तस्मादस्मिंश्चिदाकाशसंकल्पे जगदात्मनि ।
न संभवति किं नाम तत्संभवति वाऽपि किम् ॥२६॥
एवमेवमियं भ्रान्तिर्भाति भास्वन्नभोमयम् ।
नेह किंचन सन्नाऽसन्न वाऽऽसदिह किंचन ॥२७॥
यथाऽनुभूयते यद्यत्तत्तथा तत्त्वदर्शिनः ।
प्रबुद्धस्याऽत्र किं नाम तत्स एवाऽङ्गतेत्यलम् ॥२८॥

शत्रु द्वारा किए गये अभिचार के तन्त्र, मन्त्र, शाप आदि द्वारा मारण के प्रतीकार से रहित शास्य की संवित् शत्रु की कलुषित शीघ्र मरण आदि को उसी समय जान जाती है। कवच पहने तथा शस्त्रास्त्र से लैस शत्रु को कवच न पहने हुए शस्त्रास्त्रविहीन विश्वस्त पुरुष के शरीर को बाण, तलवार, भाले आदि से घायल करने में क्या देर लग सकती है ? ॥ १६ ॥

उसके सब बन्धुबान्धव भी उसको वैसे ही अमर देखते हैं इस तरह जीवन और मरण दोनों उसको एक साथ प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

यह अप्रविहत रूप से आविर्भूत त्रैलोक्य केवल भ्रमरूप है। भ्रान्ति में क्या भ्रान्ति विपरीत नहीं हो सकती है। स्वप्न, सन्निपात आदि में लाखों विरुद्ध बातें एक साथ होती दिखायी देती हैं अर्थात् इसी न्याय से सब विरुद्ध प्रश्नों का समाधान समझना चाहिये ॥ १८ ॥

संकल्पनगर और स्वप्ननगर में जो भ्रान्ति मालूम होती है जगत् रूप स्वप्न में उससे अधिक ही भ्रान्ति है यह अनुभूत होती है उससे कम अनुभूत नहीं होती ॥१९॥

हे ब्रह्मन् ! धर्म और अधर्म ब्रह्मसंवित् के कारण कैसे होते हैं। धर्म-अधर्म दोनों जब मूर्तिमान् नहीं हैं तब उनमें से एक द्वितीय शरीर कैसे बन जाता है ॥ २० ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे महामते, ब्रह्मा के संकल्पनगर-रूप इस जगत् में क्या सत्य (संगत) नहीं हो सकता अथवा क्या असंगत नहीं हो सकता ? ॥ २१ ॥

इस ब्रह्मलोक के संकल्पनगररूप त्रिलोकी में वैसे ही कुछ भी असम्भव नहीं है जैसे हम लोगों के संकल्पनगर में ऐसा कोई नहीं है जो सम्भव न हो सके अर्थात् सब कुछ हो सकता है ॥ २२ ॥

जाग्रत्स्वप्न में एक ही चित् महासेना के आकार को वैसे ही प्राप्त होती है जैसे स्वप्ननगर और कल्पनानगर में एक ही चित् लाखों रूप धारण करती है ॥ २३ ॥

जहाँ पर लाखों एकरूप होते हैं वह सुषुप्ति भी वैसे ही होती है जैसे चित् जाग्रत् में एक से अनेक रूप होती है। एक ही चित् अनेक रूप होती है और अनेक रूप से एकरूपता को प्राप्त होती है। इस बात का स्वप्न तथा संकल्प में अनुभूत सेना के स्मरण में, समूहरूप की एका-कारता में तथा 'इदम्' के (यह के) स्थान में 'तत्' (वह) कल्पना से अन्यथा अनुभव होता है। इत्यादि संकल्पनगर और स्वप्ननगर में किसको अनुभूत नहीं है। इसलिए इस जगत्रूप चिदाकाश संकल्प में क्या सम्भव नहीं है अथवा क्या सम्भव है ? ॥ २४–२५–२६ ॥

इस प्रकार यह भ्रान्ति देदीप्यमान चिदाकाशमय ही प्रतीत होती है यहाँ पर न कुछ सत् है, न असत् है अथवा न सदसत् है ॥ २७ ॥

जिस जिस का जैसे अनुभव होता है वह वैसा ही है। तत्त्वदर्शी पुरुष को इस विषय में किसी प्रकार का अस-मञ्जस नहीं है ॥ २८ ॥

इह चेद्विहितो धर्मस्तत्स्वर्गाऽमृतपर्वताः।
स्थिता इतीह संकल्पे कस्मान्न प्राप्नवाङ्गिरीन् ॥२९॥
इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुज्यते।
इतीह संकल्पपुरे सर्वमेवाऽसमञ्जसम् ॥३०॥
यदि स्यात्सुस्थिरं किंचिद्वस्तु तद्द्दृश्यको भवेत्।
न्याय एषोऽखिलः किन्तु संवित्त्वात्स्वस्वकं स्थितः ॥३१॥
इत्येष कथितो न्यायः सिद्धास्वनुभवस्ततः।
यतो जगन्ति संकल्पश्चितो ब्रह्मस्वरूपतः ॥३२॥
तव संकल्पनगरे नास्त्येवाऽसंभवो यथा।
सर्वार्थानां तथा ब्रह्मे संकल्पे नास्त्यसंभवः ॥३३॥
यद्यथा कल्पितं तत्र यावत्संकल्पमेव तत्।
स्वभावेन तथैवाऽस्ति यतस्तत्संनिवेशवत् ॥३४॥
ततः संप्रेक्षणमिह संकरो न प्रवर्तते।
विनाऽन्यचित्प्रयत्नेन भवत्यर्थस्तु नाऽन्यथा ॥३५॥
आकल्पमजसंकल्पे यथा भातं जगत्स्थितम्।
पुनरन्येन संकल्परूपेणाऽन्यदुपैष्यति ॥३६॥
संकल्पात्म स्वयं भाति कल्पे कल्पे जगत्तथा।
प्रतिजीवं चितिस्वप्ने स्वप्ने स्वाप्नपुरं यथा ॥३७॥

संकल्पपत्तनतनोर्न तदस्ति किंच-
द्यद्यन्न संभवति तच्च चिदात्मनोऽस्मात्।
नाऽन्यत्प्रकल्पयितुराद्यपरस्वरूपा-
द्ब्रह्मैव तेन सकलं जगदङ्ग विद्धि ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धे महा० सर्वास्तित्वानुभूतिदर्शनं नाम नवाधिकशततम सर्गः ॥२०९॥

वहाँ स्वर्ग में देवताओं के उपभोग्य तथा अमृतमय जल वाले झरने, तालाब, फल, फूल आदि से पूर्ण पर्वत हैं। यह शास्त्र से जानकर उसके अनुसार संकल्प होने पर यहीं धर्म का अनुष्ठान किया जाय तो वहाँ पर पहुँचकर धर्मानुष्ठानकर्ता वैसे पर्वतों को क्या प्राप्त नहीं हुआ यानी उनको प्राप्त हुए स्वात्मा का अनुभव क्यों नहीं करता है? अर्थात् धर्म और अधर्म का आचरण करने वाले लोग भी शास्त्र द्वारा अर्जित अपने अपने निश्चय के अनुसारी स्वर्गों को ही प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

इस जगत् में जो कार्य किया जाता है, उसका फल-भोग परलोक में प्राप्त होता है? इस प्रकार इस सङ्कल्प नगर में सब कुछ ही असमञ्जस है यदि मिथ्या होने के कारण यह असमञ्जस है, ऐसी आपकी मति है तो यह लोक, इसमें किया गया धर्मादि का अनुष्ठान, उससे परलोक की प्राप्ति और उसमें सुख-दुःख भोग यह सारा का सारा जगत् असमञ्जस ही है ॥ ३० ॥

यदि जगत् में कुछ भी भूत, भुवन आदि वस्तु सत्य हो तो उसमें यह विरोध होता तब यह समञ्जस है यह असमञ्जस है इस प्रकार का न्याय सम्पूर्ण अकुण्ठित होता किन्तु सभी द्रष्टा संवित् रूप हैं, अतः उनका अपना सङ्कल्प ही दृश्य के रूप से स्थित है, वास्तविक नहीं है ॥ ३१ ॥

जगत् भी ब्रह्म स्वरूप से स्थित चित् के सङ्कल्प रूप ही हैं, अतः इस असमञ्जसता का परिहार करने वाले न्याय की जो स्वप्न और संकल्प की कल्पनाओं में अनुभव के अनुसार स्थित है, जगतों में भी योजना करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

ब्रह्म के संकल्प रूप जगत् में भी किसी पदार्थ का वैसे असम्भव नहीं है जैसे तुम्हारे संकल्प नगर में सकल पदार्थों का असम्भव नहीं ही है अर्थात् सकल पदार्थों का वहाँ पर सम्भव है ॥ ३३ ॥

ब्रह्म के संकल्प में जिसकी जिस प्रकार कल्पना की वह जब तक संकल्प रहता है तब तक उस प्रकार के संनिवेश से युक्त वैसे ही स्वभाव से रहती है ॥ ३४ ॥

उस प्रकार के सन्निवेश नियम से ही यहाँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सब वस्तुओं का ठीक ठीक अविसंवादरूप से दर्शन होता है तथा कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में सांकर्य भी नहीं होता। चित् के पूर्ण प्रयत्न से नियत शरीर-संगठन वाला आकार-प्रकार वाला पदार्थ चित् के अन्य प्रयत्न के विना अन्यथा भी नहीं होता ॥ ३५ ॥

वैसे ही वह प्रलयपर्यन्त स्थित रहा जैसे ब्रह्म के संकल्प में वैसे ही जगत् का भान हुआ फिर प्रलय के बाद अन्य संकल्प के रूप से अन्य ब्रह्माण्ड प्राप्त होगा ॥ ३६ ॥

कल्प-कल्प में चितिरूप चितिस्वप्न में संकल्परूप जगत् का प्रत्येक जीव के प्रति वैसे ही भान होता है जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर का भान होता है ॥ ३७ ॥

हे राजन्! तुम संकल्पनगररूप इस जगत् में जो नहीं हो सकता है समझते हो वह कुछ नहीं है अर्थात् इसमें सब कुछ का संभव है। वह सब कुछ कल्पना करने वाले इस परमब्रह्म चिदात्मा से पृथक् नहीं है, इसलिए तुम सकल जगत् को ब्रह्म ही जानो ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में सर्वास्ति अनुभूतिदर्शन नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ नौवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २०९ ॥

२१०

वसिष्ठ उवाच

फलेऽक्षयेन्दुभारूपे प्राप्ते ध्यातृशतैर्नभः।
यथा न शतपूर्णेन्दु तथेदं कथनं शृणु ॥१॥

चन्द्रबिम्बस्य ध्यातारः प्राप्ताः प्राप्तव्यसुस्थिताः।
नेदं नभस्तलं प्राप्ता न चेमं शशिनं श्रिताः ॥२॥

क्वेवाऽन्यसंकल्पपुरमन्यः प्राप्नोति कथ्यताम्।
संकल्पपुर्यामर्थाप्तिस्तज्जन्तावेव नाऽपरे ॥३॥

पृथक्पृथक्स्वसंकल्पसर्गखेष्वेव ते स्थिताः।
चन्द्रास्तपन्ति तत्रैव कलाक्षयविवर्जिताः ॥४॥

विशेयमस्मिन्नेवेन्दाविति ध्याता निशाकरे।
अस्मिन्नेव विशत्यन्तरात्मबुद्धिसुखोज्झितः ॥५॥

अहमिन्दुं प्रविष्टः स्यामिन्दुबिम्बसुखान्वितः।
ध्यातेति तादृक्सुखभाग्भवतीति विनिश्चयः ॥६॥

यथाऽयमनुसंधत्ते स्वभावं संविदव्यया।
तं तथैवाऽनुभवति भवेच्चेद् दृढनिश्चयः ॥७॥

यथेन्दुत्वं स्वसंकल्पात्सर्वध्यातुः पृथक्पृथक्।
भात्येवमेव वनितालाभः काल्पनिकः स्वतः ॥८॥

या ध्याने ध्यातृलक्षाणां साध्वी भार्यात्वमागता।
तत्कल्पनानुभवनं तेषां सत्त्वात्मनि स्थितम् ॥९॥

गृहादनिर्गतो जीवः सप्तद्वीपपतिः स्थितः।
तस्याऽपि तत्काल्पनिकं राज्यं व्योम्नि स्वमन्दिरे ॥१०॥

समस्तं कल्पनामात्रमिदमाद्यजजन्मनः।
शून्यमप्रतिघं शान्तं तेष्वपि स्यात्किमन्यथा ॥११॥

दानौर्ध्वदेहिकतपोजपादीनां परत्र यत्।
अमूर्तानां फलं मूर्तं तदिदं कथ्यते शृणु ॥१२॥

२१०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे राजन्! सैंकड़ों ध्यान करने वाले लोगों से अक्षय चन्द्रत्वरूप फल प्राप्त होने पर भी आकाश सैंकड़ों पूर्ण चन्द्रों से युक्त नहीं होता वैसे ही मेरे इस कथन को सुनो ॥ १ ॥

यद्यपि सत्यचन्द्रबिम्ब का अहंभाव से ध्यान करने वाले पुरुष प्राप्तव्य चन्द्रत्व में चिरकालीन ध्यान से अन्य भाव का विस्मरण होने के कारण ऐन्दवों के उपाख्यान में उक्त ऐन्दवन्याय से सुस्थित हो चन्द्रत्व को प्राप्त ही हैं तथापि वे न तो इस आकाशतल में प्राप्त हुए हैं और न इस चन्द्र में प्रविष्ट हुए हैं ॥ २ ॥

दूसरे के संकल्पनगर में दूसरा प्रविष्ट हो यह बात कहाँ देखी गई है यह बताओ। संकल्पनगर में पदार्थों की प्राप्ति उसी व्यक्ति को होगी जिसका कि वह संकल्पनगर है। अन्य को अन्य के संकल्प नगर में कदापि पदार्थों की उपलब्धि नहीं हो सकती है? ॥ ३ ॥

अलग-अलग अपनी-अपनी संकल्पसृष्टि के आकाशों में ही स्थित चन्द्रमा की कला का कदापि क्षय नहीं होता है, वहीं पर वे प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

'इसी चन्द्रमा में मैं प्रविष्ट होऊँ' ऐसा ध्यान करने वाला अन्दर आत्म-बुद्धि सुख से शून्य उपासक, इसी चन्द्रमा में प्रविष्ट होता है ॥ ५ ॥

मैं चन्द्रबिम्ब के सुख से युक्त हो चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ, ऐसा ध्यान करने वाला पुरुष उस प्रकार के सुख का भागी बनता है, ऐसा निश्चय है। उन सबने वैसा ध्यान नहीं किया अर्थात् एक ही अमुक चन्द्रमा में प्रविष्ट होऊँ' सबने ऐसा ध्यान नहीं किया, किन्तु तुम्हारे प्रश्न के अनुसार 'आकाश में अक्षयपूर्ण चन्द्रमा होऊँ' इस कामना से सबने ध्यान किया ॥ ६ ॥

ध्यानकर्ता जैसा दृढ़संकल्प हो स्वभाव का ध्यान करता है उस स्वभाव का अविनाशिनी साक्षिसंवित् वैसे ही अनुभव करती है उससे विपरीत अनुभव नहीं करती है ॥ ७ ॥

अपनी कल्पना से सिद्ध काल्पनिक स्त्री-लाभ भी वैसे ही पृथक्-पृथक् भासमान होता है जैसे सकल ध्यानकर्ताओं का अपने-अपने संकल्पानुसार चन्द्रत्व पृथक्-पृथक् भासता है ॥ ८ ॥

जो साध्वी स्त्री ध्यान में लाखों ध्यानकर्ताओं की स्त्री बनी उसकी काल्पनिक अनुभूति उनके अन्तःकरणोपहित साक्षी में स्थित है ॥ ९ ॥

जो घर से बाहर न निकला हुआ जीव सप्तद्वीपेश्वर होकर स्थित है उसका भी अपने चिदाकाश में वह कल्पना सिद्ध राज्य भासता है अर्थात् घर से बाहर निकले बिना जीव सप्तद्वीप का पति कैसे हुआ? इस प्रश्न का भी इससे समाधान हो चुका ॥ १० ॥

जब यह हम लोगों का दृष्टिगोचर जगत् भी सारा का सारा जन्मतः सर्वज्ञ ब्रह्मा की कल्पनामात्र, शून्य, निराकार और शान्त है तब उपासकों द्वारा कल्पित जगतों में क्या अन्यथा इससे विलक्षण सत्यता होगी जिससे वहाँ असमञ्जसता होगी ॥ ११ ॥

हे राजन्! दान, अन्त्येष्टिकर्म, तप, जप आदि मूर्ति-रहित कर्मों का परलोक में मूर्तिमान् फल कैसे होता है? यह जो तुमने कहा उसका उत्तर यह कहा जाता है, सुनो ॥ १२ ॥

दानादिचिह्नितधियः परत्र स्वप्नवत्फलम् ।
पश्यन्त्यमूर्ता मूर्ताभमजं चिन्मूर्तिकल्पनात् ॥१३॥
वेदनावेदनाकारा स्पन्दास्पन्दात्म वै पुनः ।
चिन्मात्रस्याऽस्य तद्भ्रान्तिशान्तौ शान्तात्म निर्मलम् १४
चिन्मात्रामभितो दानादमुत्राऽऽत्तमवाप्नुयात् ।
संकल्पात्मेति कवयः कथं तन्नोपलभ्यते ॥१५॥
कल्पनात्मनि संसारे संकल्पोकृत्रिमः फलम् ।
चिन्मात्रमभितोऽदानाद्दानाद्वाऽस्तु यथोदितः ॥१६॥
एतत्ते कथितं सर्वं यथापृष्टं महीपते ! ।
जगत्प्रतिघं सर्वमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ॥१७॥

राजोवाच

सर्गादौ भगवन्देहमिदं चिन्मात्रकल्पनम् ।
कथं भाति कथं कुड्यं विना दीपः प्रकाशते ॥१८॥

वसिष्ठ उवाच

त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य यो बुद्धः स महामते ! ।
तत्त्वज्ञं प्रति नास्त्येव शिलानृत्तमिवाऽम्बरे ॥१९॥
य एव ब्रह्मशब्दार्थो देहशब्दार्थं एव सः ।
नाऽर्थयोरनयोर्भेदो विद्यतेऽम्बवम्भसोरिव ॥२०॥
यदेव ब्रह्मदेहोऽसौ स्वप्नाभः स्वप्न एव तु ।
त्वद्बोधायोच्यते युक्तिर्न तु तत्स्वप्न एव तु ॥२१॥
स्वप्नस्तवाऽनुभूतार्थस्तेनाऽतस्त्वं प्रबोध्यसे ।
नतु सर्गे चिदाभाते सादृश्यं स्वप्नभस्मना ॥२२॥
कस्तत्र नाम देहोऽयं कस्यैते स्वप्नधीः क्व वा ।
स्वप्नेन ज्ञावबुद्धेन भ्रमेणाऽज्ञोऽवबोध्यते ॥२३॥

दान आदि से अङ्कित बुद्धिवाले अमूर्त जीव परलोक में स्वप्न के समान मूर्तिमान् से प्रतीत हो रहे अनुत्पन्न फल को, जिसकी मूर्ति के आकार की कल्पना चित् से ही की जाती है, देखते हैं ॥ १३ ॥

हे राजन् ! मन और ज्ञानेन्द्रियों से वेदना तथा अवेदनाकार भ्रान्ति होती है, उस भ्रान्ति की विषय-प्राप्ति के लिये वह चिन्मात्र मन सहित कर्मेन्द्रियों से स्पन्द और अस्पन्दरूप होती है, उस भ्रान्ति की विषय-प्राप्ति के लिये वह चिन्मात्र मन सहित कर्मेन्द्रियों से स्पन्द और अस्पन्दरूप होता है। किन्तु उस भ्रान्ति की निवृत्ति होनेपर निर्मल शान्त चिद्रूप आत्मा ही शेष रहता है ॥ १४ ॥

इस लोक में किये गये दान से परलोक में चित्प्रतिभासस्वरूप वैसा फल प्राप्त होता है। उसको संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं फिर फल परलोक के क्यों न मिले ॥ १५ ॥

इस कल्पनामय संसार में अनुष्ठित दान से पूर्वोक्त अकृत्रिम संकल्प ही परलोक में चारों ओर चिन्मात्ररूप भोग, ऐश्वर्य आदि दान-फल हो अथवा अदान से इस प्रकार दरिद्रता आदि अदान का फल हो इसमें कोई विरोध नहीं है सब असमञ्जसों का परिहार हो गया ॥ १६ ॥

हे राजन् ! जैसा तुमने मुझसे पूछा था उसके अनुसार यह सब मैंने तुमसे कहा। यह सारा का सारा निराकार जगत् चिन्मात्र की कल्पना ही है ॥ १७ ॥

अर्थात् देह में ही चित्त की अभिव्यक्ति दिखाई देती है अनभिव्यक्त चित् में भ्रान्ति आदि दिखाई नहीं देती। सृष्टि के आदि में भ्रान्ति की यदि सिद्धि हो तो देह की सिद्धि होवे और देहसिद्धि से भ्रान्ति की सिद्धि हो यों अन्योन्याश्रय दोष समझ रहे प्रज्ञप्ति राजा ने प्रश्न किया।

राजा ने कहा—हे भगवन् ! सृष्टि के आदि में देहशून्य चैतन्य और उसके द्वारा की गई देह कल्पना कैसे भासमान होती है। देह के बिना चित् की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती है क्या कहीं दीवार के बिना दीपप्रभा प्रकाशमान होती है ॥ १८ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे महाबुद्धे ! तुमने देह शब्द का जो अर्थ जाना है वह तत्त्वज्ञानी के प्रति वैसे ही असम्भव है जैसे कि आकाश में पत्थरों का नाचना असम्भव है अर्थात् जड़ शरीर चित् का अभिव्यञ्जक नहीं है, यह तत्त्वज्ञानी का पक्ष है, क्योंकि उसकी दृष्टि में जड़ की ही प्रसिद्धि नहीं है। ब्रह्मा सर्वज्ञ होने से सदा ही अभिव्यक्त चैतन्यवाले देह आदि सबकी कल्पना करता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मशब्द का जो अर्थ है वही देहशब्द का अर्थ है वैसे ही ब्रह्म और देह शब्दों के अर्थों में भी वैसे ही भेद नहीं है जैसे जम्बु और अम्भस शब्दों के अर्थ का भेद नहीं है अर्थात् दोनों शब्दों का अर्थ एक 'जल' ही है ॥ २० ॥

स्वप्नदेह के सदृश यह शरीर ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं है। शङ्का—स्वप्न में भी यह न्याय समान है अतः स्वप्नदेह भी इस देह के समान ही ब्रह्मरूप होगा ऐसी दशा में 'स्वप्नाभ' इस भेद को सिद्धसा बनाकर दृष्टान्तोक्ति कैसी है ? समाधान—स्वप्न का दृष्टान्त तुम्हारे समझने के लिए दिया है वास्तव में स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है ॥ २१ ॥

स्वप्न का अर्थ तुम्हें अनुभूत है, इसलिये स्वप्न के द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। स्वप्नरूप बाधित अर्थ के साथ चिद्रूप से भासमान सृष्टि में सादृश्य कदापि नहीं है ॥२२॥

स्वप्न में कौन यह देह है, किसके ये स्वाप्न पदार्थ हैं, अथवा कहाँ स्वप्नबुद्धि है। ज्ञानी द्वारा अवबुद्ध भ्रमरूप स्वप्न से अज्ञानी को बोध कराया जाता है ॥ २३ ॥

तत्र जाग्रन्न च स्वप्नो न सुषुप्तं न चेतरत् ।
किमपीत्थमिदं भानं खमात्रं मौनमोमलम् ॥२४॥

अभातमेव भातीव यदद्येत्थमिदं तु तत् ।
प्राग्विभातं तथाऽत्यच्छं जाग्रतस्स्वप्नादि नो यथा ॥२५॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
तन्मयं सर्वमेवेदं द्वैतमद्वैतमेव च ॥२६॥

अन्यत्र चिन्मयं स्वप्नं द्वैताद्वैतं शुभाशुभम् ।
निरावरणचिन्मात्रनभसैवोपमीयते ॥२७॥

शून्यमर्थोपलम्भश्च भानं चाऽभानमेव च ।
द्वैतमैक्यमसत्सच्च सर्वं चिद्गगनं परम् ॥२८॥

पूर्णात्पूर्णं प्रसरति पूर्णमेव स्थितं जगत् ।
न च भातं न चाऽऽभातं शिलावद्धोदरोपमम् ॥२९॥

ब्रह्मपदवी में न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, और न अन्य कुछ है किन्तु मनवाणी से अगोचर विराट्, विश्व तथा तेजस सबका प्रलय होनेपर अवशिष्ट अर्थात् सबके प्रलय का अधिष्ठान तुरीय ओंकारलक्षण परमपुरुषार्थ स्वयंप्रकाश चिदाकाश ही इस तरह विश्व के रूप में भासमान होता है ॥ २४ ॥

जो यह विश्व आज इस प्रकार भासमान के समान दृष्टिगोचर होता वह भासमान नहीं होता है। सच्चिदानन्दरूप से पूर्वभासा हुआ भी वह स्वरूपतः वैसे ही अभासमान ही है। जाग्रत्, स्वप्न आदि जैसे कदापि नहीं ही हैं अत्यन्त निर्मल ब्रह्म वैसा है ॥ २५ ॥

द्वैत, अद्वैत आदि यह सब कुछ वैसे ही निर्विषय चिन्मात्रमय है जैसे संवित् की एक प्रदेश में प्राप्ति होनेपर दो प्रदेशों के अन्तराल में संवित् का स्वरूप निर्विषय रहता है ॥ २६ ॥

अज्ञानी की दृष्टि से अन्यत्र अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में चिन्मय स्वप्न, द्वैत, अद्वैत, शुभ, अशुभ आदि सभी वस्तु की आवरण शून्य चिन्मात्र से तुलना की जा सकती है ॥ २७ ॥

शून्य, पदार्थों की उपलब्धि, भान सृष्टि अभान प्रलत द्वैत, अद्वैत, असत् और सत् सब कुछ परम चिदाकाश ही है ॥ २८ ॥

पूर्ण परमब्रह्म परमात्मा से पूर्ण जगत् का आविर्भाव होता है। पूर्ण ही यह स्थित है न तो इसका भान हुआ है और न अभान हुआ है, किन्तु स्फाटिक शिला के घनीभूत मध्य के समान यह चिन्मात्र घन है ॥ २९ ॥

यतो जगच्चिदुन्मेषो व्योमात्माऽप्रतिघं ततः ।
चिन्मात्रं यत्र यत्राऽस्ति तत्र तत्रोचितं जगत् ॥३०॥

चिद्व्योम चाऽस्ति सर्वत्र सर्वं चैतज्जगन्मयम् ।
सर्वं ब्रह्ममयं शान्तं जगदित्यपि शब्दितम् ॥३१॥

यथास्थितमिदं विश्वं तथासंस्थमनामयम् ।
ब्रह्मैव निरवद्यात्म चित्संकल्पपुराकृति ॥३२॥

असंभवादन्ययुक्तेर्युक्तिरेषैव शोभना ।
अयुक्त्यनुभवं तूक्तं नार्थिनामिह शोभते ॥३३॥

लोके शास्त्रेऽथ वेदादौ यत्सिद्धं सिद्धमेव तत् ।
सदस्त्वसद्वाऽऽत्मनि तद्धातुं शक्यं न वा क्वचित् ॥३४॥

तदेवेत्थं परिज्ञातं ब्रह्मतामुपगच्छति ।
यदा तेन समं विश्वं स्थितमेव विलीयते ॥३५॥

यह जगत् चित् का स्फुरणमात्र है, इसलिए निराकार चिदाकाशमात्र ही है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ-जहाँ चिन्मात्र है वहाँ वहाँ जगत् का रहना उचित ही है ॥ ३० ॥

चिदाकाश सर्वत्र है सर्वव्यापक है। सब जगन्मय यह है इसलिए 'जगत्' शब्द से कथित होनेपर भी यह सब शान्त ब्रह्म ही है ॥ ३१ ॥

चिदाकाश के संकल्पनगराकार यथास्थित जगत् सम्पूर्ण जगत् तथोक्त निर्विकार निर्दोष निर्मल ब्रह्म ही है ॥ ३२ ॥

इस विषय में अन्य युक्ति का सम्भव न होने से यही युक्ति सुन्दर है। यहाँ युक्ति तथा स्वानुभव के बिना पुरुषार्थ चाहनेवाले श्रोताओं के सम्मुख उपदेश शोभा नहीं देता ॥ ३३ ॥

हे राजन्! लोक, शास्त्र, वेद आदि में वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभव से सिद्ध ही है उसका त्याग करना उचित नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सद्रूप से वेद आदि में सिद्ध ब्रह्म का सद्रूप से ही स्वीकार करना चाहिये तथा वेदादि में असद्रूप से सिद्ध द्वैत का असत्‌रूप से स्वीकार करना चाहिये ॥ ३४ ॥

जब परमसाक्षात्कार वृत्तिरूप ज्ञान से सम्पूर्ण विश्व यथास्थित ही विलीन हो जाता है तब पहले ब्रह्मभिन्नरूप से परिज्ञात विश्व ही ब्रह्मरूप से परिज्ञात होकर ब्रह्मता को प्राप्त है ॥ ३५ ॥

न्यायेनैतदिहोक्तेन लोकवेदादि सिद्धयति।
सर्वं सजीवन्मुक्तत्वमेष एवोचितस्ततः ॥३६॥
परिज्ञातं चिदाकाशमपरिज्ञातपादपे।
सोऽहं त्रिजगदित्येव बन्धमोक्षविनिर्णयः ॥३७॥
यथास्थितमिदं दृश्यं परिज्ञानाद्विलीयते।
तज्ज्ञस्याऽस्तंगतस्यैव शिलामौन तु शिष्यते ॥३८॥
लोके शास्त्रे च वेदे च यत्सिद्धं सिद्धमेव तत्।
संवेद्यते तदेवाऽतस्तदेवं फलति स्फुटम् ॥३९॥
सकलार्थनिरासेन यद्यत्संवेद्यते चिरम्।
तदेव प्राप्यतेऽवश्यं सर्वत्रैवाऽन्यभावितम् ॥४०॥
यथाऽनुभूतं यत्तत्तथा नामाऽनुभूयते।
तत्सत्यमस्त्वसत्यं वा यावल्लाभं तथा नु तत् ॥४१॥
इत्थं महाप्रश्नविचारणं ते
मयेदमुक्तं मतिमन्महात्मन्!।
अनेन गच्छाऽऽशु पथा निराधि-
निरामयो निर्व्यसनो भवोच्चैः ॥४२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्तिर्नाम द्वैतैकोपलम्भनिरासेन दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१०॥

'त्वयाऽर्थो देहशब्दस्य' से लेकर यहाँ तक मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय से जीवन्मुक्ति सहित लोक; वेद आदि सारा जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है, इसलिए यह मेरे द्वारा प्रतिपादित न्याय परमपुरुषार्थ का साधन होने से ग्रहण करने योग्य है ॥ ३६ ॥

इस केवल अपरिज्ञात आत्मरूप संसाररूपी पीपल के पेड़ में परिज्ञात चिदाकाश ही है उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं है। वह परिज्ञात चिदाकाशरूप मैं ही क्रमशः त्रिजगत्रूप बन्धन और मोक्ष हूँ यह निर्णय है। अर्थात् अपरिज्ञात चिदाकाश ही त्रिलोकीरूप बन्धन है और परिज्ञात चिदाकाश ही मोक्ष है ॥ ३७ ॥

परिज्ञान से यथास्थित यह दृश्य पानी में डाले हुए नमक के ढेले की तरह विलीन हो जाता है। दृश्यरूप से अस्त को प्राप्त ज्ञानी का शिला की तरह मौन वाणी आदि से अगम्य दृङ्मात्र स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ३८ ॥

लोक में जीवन्मुक्त पुरुष में शास्त्र में और वेद आदि में सिद्ध वस्तु सिद्ध ही है, सैकड़ों विचारों से निश्चित है वही वस्तु स्वानुभव से जानी जाती है। अतः वह परम पुरुषार्थरूप से फल देती है ॥ ३९ ॥

सभी वस्तुओं के निरास द्वारा जिस-जिस वस्तु का चिरकाल तक ध्यान किया जाता है उसकी अवश्य ही प्राप्ति होती है। लौकिक कार्यों में भी अन्यभावित वस्तु वैसे ही अवश्य प्राप्त होती है अर्थात् उसकी प्राप्ति होने पर अन्य अर्थ के परित्यागमात्र से एकमात्र तन्निष्ठ होना ही उपाय है उससे अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

जैसे जो वस्तु अनुभव में आती है उसकी प्रतीति भी वैसे ही होती है। वह सत्य हो चाहे असत्य हो जब तक उसकी उपलब्धि रहती है तब तक वैसी ही रहती है अर्थात् लौकिक कार्य असत्य है लेकिन मोक्ष सत्य है इन दोनों में वह अवान्तर भेद भले ही हो किन्तु साधन के उद्योग और उनके फल का अनुभव दोनों में समान है उनमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ४१ ॥

हे मतिमन! हे महात्मन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे महाप्रश्नों का विचार-फलभूत निर्णयरूप यह समाधान कहा। तुम इस मार्ग के पथिक बनो। इससे शीघ्र ही तुम मन में शान्त, शरीर में नीरोग और इन्द्रियों में निर्व्यसन होकर और अधिक सर्वश्रेष्ठ होओ ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में महाप्रश्नोत्तरवाक्यसमाप्ति नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१०॥

२११

वसिष्ठ उवाच

इति तत्रोपविश्याऽहं पूजितस्तेन भूभुजा।
प्रयोजनं स्वं सपाद्य स्वर्गन्तुं गगनं प्लुतः ॥१॥
अद्येतद्भवता प्रोक्तं मया मतिमतां वर!।
अनया सुदृशा शान्तमनाः खात्मा भविष्यसि ॥२॥

२११

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी! उस राजा के द्वारा पूजित मैंने वहाँ कुशद्वीप की इलावती नगरी में बैठ कर राजा प्रज्ञप्ति पर अनुग्रह करने का अपना प्रयोजन सिद्ध कर स्वर्ग में जाने के लिए आकाशमार्ग का अवलम्बन किया ॥ १ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी! आज यहाँ अयोध्या नगरी में वर्तमान मैंने आप से यह कहा। यह सुन्दर दृष्टि रखने से शान्तमन हो आप चिदाकाश हो जायेंगे ॥ २ ॥

ब्रह्मैव तदिदं सर्वं निर्नामैवाऽमलं नभः।
किमप्येवाऽजमाशान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥३॥
चिद्भानमात्रमित्युक्तं ब्रह्मेति कलिताभिधम्।
परात्परमिति प्रोक्तं तत्तु निर्नामकं पदम् ॥४॥

श्रीराम उवाच

सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
ब्रह्मन्कथय दृश्यन्ते लोका लोकधराः कथम् ॥५॥

वसिष्ठ उवाच

सिद्धसाध्ययमब्रह्मविद्याधरदिवौकसाम् ।
अन्येषामपि भूतानामपूर्वाणां महात्मनाम् ॥६॥
प्रतिरात्रं प्रतिदिनं पुरः पश्चादुपर्यधः।
पश्यस्यालोकयंल्लोकानपश्यंश्च न पश्यसि ॥७॥

कारण, वाणी का अगम्य, अज, परमशान्त, आदि, मध्य और अन्त से शून्य यह सब कुछ निःशब्द ब्रह्माकाश ही है ॥ ३ ॥

चित्स्फुरणरूप कहा गया 'ब्रह्म' इस प्रकार कल्पित नाम वाला कहा गया है, परात्पर कहा गया है, वह निर्नाम शब्द की पहुँच से परे पद है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओं के लोक और उनके निवासी लोग कैसे दिखाई देते हैं, यह मुझको बताने की कृपा करें ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्य अपूर्व महामहिम प्राणियों के लोकों को प्रत्येक रात में, प्रत्येक दिन में, सामने, पीछे, ऊपर और नीचे चूड़ाला के उपाख्यान में कही गई धारणाओं से देखने से आप देखते हैं और उक्त रीति से न देखने पर नहीं देखते हैं ॥ ६–७ ॥

सिद्धों के लोक दो प्रकार के हैं एक तो हैं ये महर्लोक जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक नामधारी, ये बहुत दूर हैं और दूसरे हैं सर्वत्र संचार करने वाले सिद्धों के संकल्प से बने हुए। वे संकल्पलोक कहलाते हैं और वे सर्वत्र हैं इनसे सारा विश्व व्याप्त है। उन दोनों प्रकार के सिद्ध लोकों के दर्शन में धारणाभ्यास ही कारण है और वह धारणाभ्यास आपको प्राप्त नहीं है। अर्थात् पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते'—अर्थात् वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो केवलमात्र कल्पना से ही उसके पितर लोक उपस्थित हो जाते हैं उस पितृलोक से वह सम्पन्न होकर पूजा जाता है ऐसी श्रुति है ॥ ८ ॥

एते लोकाः किलैतेषां नाऽभ्यासः स्थानदूरगाः।
एते संकल्पलोकाख्या व्याप्तमेभिः किलाऽखिलम् ॥८॥
यथैते कल्पनालोका अयं लोकस्तथैव नः।
यथा काल्पनिको वातो लोका लोकास्तथैव ते ॥९॥
संकल्पस्वप्नलोका ये तव भान्ति दिवानिशम्।
त एव तादृशाश्चाऽन्ये संकल्पेन स्थिरीकृताः ॥१०॥
ध्यानेन त्वमपीतांश्चेत्स्थिरतां सुस्थिरात्मना।
नयस्याशु तदेवैते स्थिरतां यान्त्यविघ्नतः ॥११॥
यथाभिमतविस्तारा यथाभिमतसंपदः।
संकल्पभाववलितो जनः पश्यति सिद्धवत् ॥१२॥
किंतु ते स्थिरतां नीताः सिद्धैः स्वर्यानसंपदा।
अस्थिरैर्ध्यानविश्रान्तौ तैर्दुःखैस्तदमी कृताः ॥१३॥

जैसे सिद्धों के ये लोक काल्पनिक हैं वैसे ही हमारा यह लोक भी केवल कल्पनामात्र सिद्ध है जैसे काल्पनिक भी वायु सब जगह घूमती है—डोलती है, वैसे ही वे घूमते हैं, भ्रमण करते हैं, हमारे लोक में केवल इतनी विशेषता है यह वैसा नहीं है। आपको रात-दिन स्वप्नलोक, संकल्पलोक प्रतीत होते हैं ही सिद्धलोक के रूप से प्रसिद्ध हैं। वैसे ही और भी लोकों की रचना कर अपने संकल्प से उनको उन्होंने स्थिर किया है अर्थात् क्या मुझे उनके दर्शन के लिए धारणाभ्यास करना चाहिये ? इस प्रश्न पर नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे लोक निस्सार हैं ॥ १० ॥

इसी प्रकार आप भी यदि योगधारणा से स्थिरीकृत ध्यान से संकल्पवश प्राप्त लोकों को स्थिर बनाएँ तो ये भी शीघ्र बिना किसी विघ्न-बाधा से स्थिर बन जायेंगे ॥११॥

जैसा चाहे उनका विस्तार हो जाता है और जैसी चाहें वैसी उनमें सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। यदि पुरुष दृढ़तम संकल्प से अर्थात् अन्य ध्यानकर्ता से बढ़े-चढ़े संकल्प से वेष्टित रहता है तो वह सिद्धों के समान ही उन्हें स्थिर देखता है ॥ १२ ॥

उन सिद्ध लोगों ने जिन पूर्वजन्म की धर्मसम्पत्तियों से लोग स्वर्ग में जाते हैं उन साधनसम्पत्तियों से उन लोकों को चिरस्थायी बनाया है उनके वे लोक अनायास सिद्ध हैं, किन्तु जिन अन्य लोगों ने अनित्य आधुनिक धारणाभ्यासों से ध्यानविश्राम के विषय में प्रयत्न किया है वे बड़े क्लेश से लोकों को स्थिर कर पावेंगे ॥ १३ ॥

जगदप्रतिघं सर्वं शान्तचिद्व्योम सर्वदा ।
यथा दृढं संविदितं तथैवाऽऽभाति नाऽन्यथा ॥१४॥
न भात्येवाऽसंविदितमस्ति नास्ति न चोद्यता ।
शून्यं ह्यप्रतिघं चैतत्पराकाशमरोधकम् ॥१५॥
चित्स्वभावतया भातं भारूपमिव दृश्यते ।
अस्मिंश्चिदभिमानश्च विद्यते न स्वभावतः ॥१६॥
कार्यकारणभावाच्चेत्कथैवाऽत्र न विद्यते ।
व्योम्नोऽनन्तस्य सिद्धस्य किं कथं किल जायते ॥१७॥
यच्च जातमिवाऽऽभाति व्योम्नि व्योमैव तत्तथा ।
तत्रैकद्वित्वकलना कीदृशी स्यादरूपिणी ॥१८॥
तद्धि यादृशमेवाऽऽसीत्तादृगेवाऽवतिष्ठते ।
निर्विकारं यथा स्वप्ने व्योमैवाऽचलवद्भवेत् ॥१९॥
संकल्पे चित्तमाकारं यथोदेत्यद्रिलीलया ।
न च सोऽद्रिर्न तद्व्योम तथा ब्रह्म जगत्स्थितिः ।२०॥
काष्ठवन्मौनमास्थाय रटन्तोऽपि महाधियः ।
इह व्यवहरन्त्येते बुधा दारुनरा इव ॥२१॥
यथा वारिणि वर्तन्ते तरङ्गावर्तवृत्तयः ।
अनन्याः परिवर्तन्ते तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥२२॥
यथा वायौ परिस्पन्दा यथा व्योमनि शून्यता ।
अनन्याश्चाऽप्यमूर्ताश्च तथा ब्रह्मणि सृष्टयः ॥२३॥
यथा संकल्पनगरं शून्यमेव पुरः स्थितम् ।
साकारमप्यनाकारं ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥२४॥
चिरानुभूतमप्यर्थकार्यपीदं जगत्त्रयम् ।
शून्यमेव निराकारं संकल्पनगरं यथा ॥२५॥

सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार संशान्त चिदाकाश ही है जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया उसकी दृष्टि से वैसा ही स्फुरित होता है, उससे अन्यथा नहीं होता ॥ १४ ॥

अनिश्चित यह जगत् नहीं ही भासमान होता अनिश्चित जगत् में 'है' या 'नहीं है' इस प्रकार का तर्क ही नहीं उठता है। अतएव शून्य, निराकार तथा विरोध न करने वाला यह जगत् परमाकाश ही है॥ १५ ॥

जो वस्तु दृढ़ निश्चय से भासमान होती है वह चित्स्वभाव होने से भारूप की तरह मान ही भासमान दिखाई देती है। किन्तु असंविदित इस विश्व में स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्ति की व्याप्ति नहीं है, इसलिए यह शून्य और निराकार है ॥ १६ ॥

कार्य कारण भाव से इसकी अन्य सत्ता होगी ऐसा यदि कहो तो उसकी तो यहाँ कथा ही क्या है ? सृष्टि के आदि में प्रलय को प्राप्त आकाश से अनन्त विश्व की उत्पत्ति क्या और कैसे सम्भव है ? अर्थात् कार्यकारण के बल से ही उसकी दूसरी सत्ता होगी, ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं है, ॥ १७ ॥

आकाश में भूत, भुवन आदि वस्तु उत्पन्न सी दिखाई देती है। आकाश में आकाश ही उस प्रकार उत्पन्न के समान है। इसलिए उसमें एकत्व-द्वित्व की कल्पना भी दुर्लभ है कार्यकारण भाव तो बहुत दूर की बात रही ॥ १८ ॥

वह ब्रह्म जैसा था ठीक वैसा ही रहता है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत या विकृत हुए बिना वैसे ही विवर्ताधिष्ठान ही है न तो कारण है और न विकारी है जैसे स्वप्न में चिदाकाश अपने स्वरूप से प्रच्युत हुए बिना स्वप्न पदार्थ का विवर्ताधिष्ठान है ॥ १९ ॥

ब्रह्म में जगत् की वैसे ही स्थित है जैसे संकल्प मे चित्त आकार की कल्पना कर पर्वत लीला से उदित होता है, वास्तव में न वह पर्वत है और न वह आकाश है ॥ २० ॥

काष्ठ के समान मौन धारण कर रटते हुए भी ये महामति जीवन्मुक्त पुरुष कठपुतली की तरह व्यवहार करते हुए से प्रतीत होते हैं अर्थात् अतएव अपनी दृष्टि से व्यापारशून्य भी जीवन्मुक्त पुरुष व्यवहार में तत्पर से प्रतीत होते हैं वास्तव में वे व्यवहारपरायण नहीं रहते है ॥ २१ ॥

वैसे ही ब्रह्म में ब्रह्माभिन्न सृष्टियाँ वैसे ही स्थित हैं जैसे जल में जल से अभिन्न भी तरङ्ग, आवर्त आदि वृत्तियाँ रहती हैं ॥ २२ ॥

ब्रह्म से अनन्य तथा अमूर्त सृष्टियाँ वैसे हैं जैसे वायु में वायु से अभिन्न तथा अमूर्त स्पन्दन रहता है और जैसे आकाश में अनन्य तथा अमूर्त शून्यता है ॥ २३ ॥

ब्रह्म में स्थित यह जगत् भी निराकार होने पर भी सामने साकार सा खड़ा है। साकार होने पर भी वास्तव में निराकार वैसे ही है जैसे संकल्पनगर निराकार होते भी सामने स्थित होता है। साकार होने पर भी निराकार ही है ॥ २४ ॥

यह त्रिजगत् भले ही चिरकाल से अनुभूत हो और भले ही अर्थ क्रियाकारी भी हो फिर भी यह स्वप्न नगर के समान निराकार तथा शून्य है ॥ २५ ॥

यदेव चित्तसंकल्पस्तदेव नगरं यथा।
तदा तथाऽयं ब्रह्माच्छं तदेव जगदुच्यते ॥२६॥
चिरं नित्यानुभूतोऽपि जगदर्थो न किंचन।
विद्यते पुरुषस्येह स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥२७॥
स्वप्ने पुंसा मृतेनाऽपि स्वदाहो दृश्यते यथा।
असदेव सदाभासं जगदृष्टं परे तथा ॥२८॥
जगत्ता चाऽजगत्ता च परस्यैवाऽमलं वपुः।
पराभिधानं च परं न सत्परमार्थतः ॥२९॥
इत्थमस्तु यदि वाऽन्यथाऽस्तु वा
मैव भून्द्रवतु कोऽत्र संभ्रमः।
मुञ्च फल्गुनि फले फलग्रहं
बुद्धवानसि कृतं परिश्रमैः ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपदेशो नामैकादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२११॥

यह निर्मल ब्रह्म यह दृश्यमान संसार और जगत् वैसे ही कहा जाता है जैसे संकल्प नगर के व्यवहार काल में जो चित्त का सङ्कल्प है वही सङ्कल्प नगर है ॥ २६ ॥

जैसे पुरुष का स्वप्न में अपना मरना स्वयं चिर अनुभूत होने पर भी कुछ नहीं ही है वैसे ही चिरकाल से नित्य अनुभूत यह जगत् रूपी पदार्थ वैसे ही कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

परब्रह्म में दिखाई दिया जगत् सत् के समान भासमान होने पर भी वैसे ही असत् ही है जैसे स्वप्न में मरे हुए पुरुष को दाह-संस्कार भी असत् ही दिखाई देता है ॥ २८ ॥

जगद्भाव और अजगद्भाव परब्रह्म ही निर्मल शरीर हैं अन्य रज्जु आदि वस्तु सर्प आदि नाम वाली नहीं हो सकती अतः परमार्थ रूप से सत् नहीं है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! सिद्ध लोकों के भोग आदि का फल मेरे द्वारा वर्णित रीति से ही कल्पना मात्र हो अथवा अन्य मुनियों द्वारा वर्णित तन से अन्य प्रकार का हो अथवा नहीं ही हो तथापि जीवन्मुक्ति को प्राप्त आपका उनके विषय में कौन आदर है। सिद्धि आदि रूप तुच्छ फल में आप पुरुषार्थ बुद्धि का त्याग करें क्योंकि आपको ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो चुका है। अतः आपको केवल मात्र माया रूप वाले सिद्ध-लोकों के वैभव को जानने के लिए वृथा परिश्रम नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायणोपाय में मोक्ष निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में परमार्थ उपदेश नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२११॥

२१२

वसिष्ठ उवाच

चित्त्वाद्ब्रह्म खमेवाऽहमिति वेत्तीव यत्स्वयम्।
तदेव परमेष्ठित्वं तस्योदरमिदं जगत् ॥१॥
एवं स्थिते न च ब्रह्मा न च जातं जगत्स्थितम्।
स्थितं यथास्थितमजं परं ब्रह्मैव पूर्ववत् ॥२॥
संवित्तौ तु जगद्रूपं भासतेऽप्येवमेव तत्।
मृगतृष्णेव मिथ्यैव दृश्यमानमपि त्वसत् ॥३॥
अतःप्रभृति शून्येयं भ्रान्तिरभ्युदिता न वा।
कुतः केव किल भ्रान्तिर्ब्रह्मैव तदनामयम् ॥४॥

२१२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! ब्रह्माकाश चित् होने से स्वयं ही पहले मैं अहङ्कार समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ यों अपने को जानता-सा है उसका वैसा स्फुरणरूप वेदन ही परमेष्ठिरूपता अर्थात् हिरण्यगर्भता है। उस हिरण्यगर्भ का संकल्प यह त्रिजगत् है ॥ १ ॥

ऐसी स्थिति में न तो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ और न यह दृष्टि का विषय जगत् ही उत्पन्न हुआ, आज परमब्रह्म ही पूर्ववत् ज्यों का त्यों स्थित है अर्थात् केवल माया के इतने से अपराध से ब्रह्म अब्रह्म नहीं हो सकता अतएव हिरण्यगर्भ आदि कुछ भी अन्य नहीं ही था ॥ २ ॥

संवित् में भासमान जगद्रूप प्रातिभासिक ही सत् है उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है वह मृगतृष्णा के समान मिथ्या ही है दिखाई देने पर भी असत् ही है ॥ ३ ॥

सृष्टिकाल से ही शून्य यह भ्रान्ति उदित हुई है वस्तुतः वह भी उदित नहीं हुई है। भ्रान्ति कहाँ से है और क्या है वह जगत् निर्विकार ब्रह्म ही है ॥ ४ ॥

जगद्ब्रह्मजलावर्तौ द्वित्वैकत्वे किलाऽत्र के।
क्वाऽऽवर्तपयसोर्द्वित्वं द्वित्वाभावात्क्व चैकता ॥५॥
तद्ब्रह्म घनमाशान्तं चित्त्वाच्चेतत्यहं विदत्।
निजं शून्यत्वमन्तस्थं व्योमेव विततान्तरम् ॥६॥
पवनः स्पन्दनमिव हुताशन इवोष्णताम्।
स्वशैत्यमिव पूर्णेन्दुः सत्तामर्थं इवाऽऽत्मनः ॥७॥

श्रीराम उवाच

एतद्ब्रह्माहङ्कृदा नाम तन्न चेतितवन्मुने!।
निरावृतमनाद्यन्तं किमिदानीं प्रचेतति ॥८॥

वसिष्ठ उवाच

एवमेतत्सदैवैतदहमाद्यपि चेतति।
नह्यनादेरजस्याऽस्य काऽप्यपेक्षा स्वसंविदा ॥९॥

सर्गासर्गनभोरूपं ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा।
न कदाचिदिदं नेदं ज्ञातं नेदं न किंचन ॥१०॥
पवनस्पन्दनं चन्द्रशैत्यं शून्यत्वमम्बरम्।
ब्रह्माहं त्वमनन्यात्म न कदाचिन्न चेतति ॥११॥
सर्वदैवेदृशी सत्ता न कदाचिदनीदृशी।
जगद्यस्मादनाद्यन्तं ब्रह्मात्मैव निरामयम् ॥१२॥
केवलं त्वमबुद्धत्वाच्छब्दश्रवणवेधितः।
अद्वये ब्रह्मबोधेऽस्मिन्द्वितामभ्युपगच्छसि ॥१३॥
न कश्चित्किंचिदेवेह न कदाचिन्न चेतति।
न कश्चिच्च तदन्यात्मा न कदाचिच्च चेतति ॥१४॥

जगत् ब्रह्मरूपी जल का आवर्त है। इसमें एकत्व और द्वित्व कौन? क्या कहीं आवर्त और जल में द्वित्व=भेद है? और जब द्विता का अभाव है तब अद्वितीयत्व कहाँ? क्योंकि एकता द्वित्व की अपेक्षा करती है ॥ ५ ॥

अखण्ड परमशान्त वह ब्रह्मचित् होने से परस्फुरण-स्वभाववश 'अहम्' अहङ्कार समष्टिरूपता को हिरण्यगर्भता को जानता हुआ वैसे ही जैसे कि वितत (विस्तृत) आकाश अपने अन्दर स्थित अपनी शून्यता को जानता है वैसे ही अपने को अर्थ सा चेतता है ॥ ६ ॥

ब्रह्म अपनी सत्ता को वैसे ही अर्थ सा जानता है जैसे पवन अपने अन्दर स्थित अपने स्पन्दन को जानता है, जैसे अग्नि अन्दर स्थित अपनी उष्णता को जानती है और जैसे पूर्णेन्दु अन्दर स्थित अपनी शीतता को जानता है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! इसने अहम् आदि का कभी चैतन्य नहीं किया, क्योंकि यह सदा ही आवरणरहित आदि-अन्त शून्य और नित्य है। यह इस समय सृष्टिकाल से लेकर चैतन्य है, ऐसा आपने कैसे कहा? ॥ ८ ॥

इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही इस स्वरूपस्फुरण तथा अहमादि अहङ्कार समष्टि को चैतन्यप्रदान है, क्योंकि अनादि अजन्मा चिन्मात्र को स्वरूप चैतन्य से विद्या से स्वरूप स्फूर्ति में और अविद्या से अहम् आदि के स्फुरण में दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं है। यह ऐसा ही युक्तिदृष्टि से ब्रह्म सदा ही 'अहम्' आदि तथा निज तत्त्व को चेतता है। तभी तो सृष्टि और असृष्टि दोनों रूप दोनों ब्रह्म-दृष्टियों में प्रमाण सिद्ध होते हैं। तथापि दोनों दृष्टियों में विषय की सत्ता और असत्ता से उत्पन्न महान् अन्तर है, इसलिए प्रामाण्य से वे तुल्य नहीं हैं इस आशय से स्वीकार कर यह उत्तर दिया गया है ॥ ९ ॥

सर्ग और असर्ग आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र और सर्वदा है। अविद्या दृष्टि से यह कदापि ज्ञात नहीं होता और विद्या दृष्टि से यह कुछ नहीं है ॥ १० ॥

ब्रह्म तथा अहङ्कार आदि जगत् वैसे ही अभिन्नरूप है जैसे पवन और स्पन्दन, चन्द्र और शैत्य, शून्यता तथा आकाश है अतः वह कब अपने स्वरूप को नहीं चेतता है ॥ ११ ॥

जगत् निर्विकार आदि-अन्त रहित ब्रह्मरूप ही है, इसलिए जगत् की सदा ही ऐसी ही सत्ता है कभी भी इससे विलक्षण सत्ता नहीं है, क्योंकि विपश्चित् उपाख्यान में कही गयी युक्ति के अनुसार सकल जीवों के संसार के उच्छेद का अवसर प्रसिद्ध नहीं है ॥ १२ ॥

अर्थात् इस मिश्रदृष्टि को भी आप अपने बोध की अनुवृत्ति तक ही शब्द श्रवण आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकार करते हैं, तो स्वीकार कीजिये पर परमार्थ-रूप से स्वीकार मत कीजिए। आप अद्वितीय ब्रह्मबोध को प्राप्त कर चुके हैं फिर भी अज्ञान को स्वीकार कर मेरे उपदेश शब्दश्रवण में आसक्तचित्त हो आप मिश्रदृष्टि से प्राप्त सप्रपञ्च-निष्प्रपञ्चरूपता को स्वीकार करके भी तत्त्व दृष्टि से कदापि नहीं करते। मिश्रदृष्टि में तो ब्रह्म सर्वात्मक है, उसके अन्तर्गत कोई जीव कुछ चेतता है तो वह उस जीव से अभिन्नरूप ब्रह्म ही चेतता है इसप्रकार उसके रूप से सब कुछ चेतता है। किन्तु निर्विशेष ब्रह्मरूप से कोई कुछ भी कभी नहीं चेतता है क्योंकि उससे अन्य स्वरूप वाला कोई नहीं है अतः कदाचित् नहीं चेतता। ॥ १३-१४ ॥

इदं त्रिभुवनाभासमीदृशं भाति सर्वदा ।
शान्तं राम ! समं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन ॥१५॥
न कदाचन जायन्ते नभसः पादपाद्रयः ।
ब्रह्मणश्च जगन्तीति मत्वा शान्तिं परां व्रज ॥१६॥
उपदेश्योपदेशार्थं संदेहावसरेऽल्पधीः ।
यावन्न बुद्धस्तावत्त्वं भेदमभ्युपगच्छसि ॥१७॥
बोध्यस्य तु विबुद्धस्य न शास्त्रादि न शब्दधीः ।
न भेदबुद्धिर्नो भेदः किमप्येष प्रजापतेः ॥१८॥

श्रीराम उवाच

बुद्धमेतन्मया ब्रह्मन्प्रकृतं तदुदाहर ।
वचो मदवबोधार्थं यदुदाहृतवानसि ॥१९॥
किं तस्मिश्चेतितेऽहंत्वे पदे संपद्यते परे ।
बुद्धवानसि शुश्रूषुर्नाऽहं तृप्तिमुपैमि हि ॥२०॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! बद्ध की दृष्टि से ब्रह्म सदा त्रिभुवन की तरह भासमान होता है। मुक्त की दृष्टि से यह सब शान्त ब्रह्म ही है उसके अतिरिक्त भेद तनिक भी नहीं है ॥ १५ ॥

ब्रह्म से जगत् वैसे ही उत्पन्न नहीं होते जैसे आकाश से वृक्ष, पर्वत आदि कदापि नहीं होते हैं यह निश्चय कर आप परम शान्ति को प्राप्त करें ॥ १६ ॥

यदि सन्देह के अवसर हर उपदेश्य के उपदेश के लिए अल्पमति बनकर ज्ञानप्राप्ति न होने तक भेद मानते हैं तो माने इसमें कोई हानि नहीं है अर्थात् जबतक उपदेश श्रवण में प्रवृत्ति है तभी तक मैंने मिश्रदृष्टि को स्वीकार किया है ॥ १७ ॥

प्रबुद्ध तत्त्वज्ञानी होने पर आपके लिए न शास्त्र आदि हैं, न शब्द बुद्धि है तथा अहंकार और उसके संकल्प जगद्रूप प्रजापति की यह भेद बुद्धि तथा भेदभाव बुद्धि भी आपको न होगी सब कुछ भेदबुद्धि शान्त हो जायगी ॥१८॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! 'एतद्ब्रह्मन् कदा नाम' इत्यादि जो मैंने आपसे प्रश्न किया था उसका हल मैंने आपके कथन से पा लिया है अब आप कृपा करके प्रस्तुत समष्टि अहंकार आदि के अध्यास का निरूपण करें, जिसका कि आपने मेरे बोध के लिए पहले प्रस्ताव किया था ॥ १९ ॥

उस परम पद में अहङ्कार के चेतित होने पर आगे क्या होता है ? आप सर्वज्ञ होने के कारण सब कुछ जान चुके हैं और मैं आपके उपदेश के श्रवण के लिए लालायित हूँ, अतः मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंत्वे सत्यथैतस्मिन्व्योमसत्ता प्रवर्तते ।
दिक्सत्ता कालसत्ता च भेदसत्ताऽभ्युदेति च ॥२१॥
यदा किलेहाऽहमिति तदा नाऽत्राऽहमित्यपि ।
भातीत्युदेति नाना खे स्वात्मैव द्वैतमक्रमम् ॥२२॥
व्योमात्मिकानामेतासां सत्तानामभिधानधीः ।
भविष्यत्युत्तरं कालं तदा त्वाकाशमेव तत् ॥२३॥
एतस्मिन्परिसंपन्ने दिक्कालकलनात्मनि ।
अहंभावे निराकारे व्योम तन्मात्रवेदिनि ॥२४॥
इदमाभाति भारूपं वेदनं दृश्यनाम यत् ।
भूत्वा ब्रह्मैव निर्बाधमब्रह्मेव विराजते ॥२५॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! इस परम पद में अहङ्कार का स्फुरण होने पर उसमें आकाश का अध्यास होता है। पुनः दिशाओं का अध्यास, काल का अध्यास तथा त्रिविध देशकृत तथा वस्तुकृत परिच्छेद का अध्यास होता है ॥ २१ ॥

जब आत्मा को देह आदि में 'अहम्' का भान होता है, तब देह से शून्य स्थल में यहाँ पर मैं नहीं हूँ, इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद है। इस रीति से आत्मा ही नाना प्रकार का परिच्छेद कालकृत परिच्छेद और वस्तुकृत परिच्छेद बिना क्रम के द्वैतरूप होकर आकाश में उदित होता है। अहङ्काराध्यास परिच्छेदाध्यास का कारण है ॥ २२ ॥

अनन्तर इन चिदाकाशमय पदार्थ भेदसत्ताओं के परस्पर भेदक जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्त के भेद से नाम बुद्धि अर्थात् वाचक शब्दों का अध्यास होता है, पर वास्तव में यह सब चिदाकाश ही है अनन्तर परस्पर आवृत्ति करने वाले जाति, गुण, क्रिया आदि प्रवृत्ति निमित्तों के भेद की कल्पना से उत्पन्न नामभेदाध्यास होता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार निराकार इस परमपद में अहं भाव से देश, काल आदि की कल्पनाओं के सिद्ध होने से उस परम पद के देश, काल कल्पना रूप होने पर जो यह दृश्य नाम का प्रकाश रूप वेदन भासमान होता है उसमें अहंभाव से जीव-साक्षी चित् में आवरण के अभाव से सर्वत्र स्वाभाविक चित् की अभिव्यक्ति होने से तत्-तत् स्थान में जगत के आकार से ब्रह्म ही संसार रूप से विराजमान होता है ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मैव शान्तमजमेकमनादिमध्यं
व्योमैव जीवकलनामिव भावयित्वा ।
व्योम्न्येव पश्यति निरावरणे विसारि
दृश्यं स्वरूपमपि चाऽन्यदिवाऽऽत्मवित्त्वात् ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
परमार्थनिरूपणं नाम द्वादशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१२॥

हे श्रीरामचन्द्र जी ! जीव और जगद्भाव से शून्य शान्त, जन्मरहित, एक, अविनाशी ब्रह्म ही जीव कल्पना की तरह भावना कर जीव भाव का अभ्यास कर आवरण शून्य जीवसाक्षी चिदाकाश में ही अत्यन्त विस्तृत दृश्य को देखता है जबतक कि आत्मज्ञान होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में
परमार्थ निरूपणम् नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१२॥

२१३

वसिष्ठ उवाच

यथा यत्पृष्टवानद्य त्वं मामरिनिषूदन ।
शिष्येणैव सता पूर्वमहं पृष्टो गुरुस्त्वया ॥१॥
पुरा कल्पे हि कस्मिंश्चित्तत्त्वमात्मादिकात्मिका ।
आसीदियं चित्प्रतिभा गुरुशिष्यात्मना वने ॥२॥
गुरुस्तत्राऽहमभवं शिष्यस्त्वमभवस्तदा ।
पृष्टवान्मां त्वमप्रस्थ इदमुद्दामधीरधीः ॥३॥

शिष्य उवाच

सर्वस्य भगवञ्छिन्धि ममेममतिसंशयम् ।
किं नश्यति महाकल्पे किं वस्तु न विनश्यति ॥४॥

गुरुरुवाच

पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति ।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमीयुषः ॥५॥
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश ।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किंचिदत्रशिष्यते ॥६॥

२१३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी ! (आत्मतत्त्व) के द्वारा आज आप मुझसे पूछा गया आत्मतत्त्व विषय अन्य रामावतार में भी आपने मुझसे पूछा था । उस समय भी मैं गुरु ही था और आप शिष्य रूप से ही स्थित थे अर्थात् विस्तारपूर्वक उपदेश देने से हथेली में रखे हुए आँवले के समान साक्षात् कराये गये आत्मतत्त्व को जन्मान्तर में स्वयं उपदिष्ट आत्मतत्त्व का ही फिर मैंने तुम्हें उपदेश दिया है । इस तरह स्मरण दिला- कर स्थूणानिखनन न्याय से दृढ़ करने की इच्छा कर रहे श्रीवसिष्ठजी जगत् के उपकार के लिए सर्वशास्त्रार्थ संग्रह रूप शिष्यकथा का शास्त्र के अन्त में मङ्गलाचरण रूप से उपदेश दिया है ॥ १ ॥

किसी पूर्वकल्प में आप राम थे, मैं वसिष्ठ था, उस समय भी आपको वैराग्य हुआ था, अतः आप मेरे समीप वन में आये थे तथा मुझसे प्रश्न किया था इत्यादि रूप यह चित्प्रतिभा गुरु शिष्य रूप से आज की तरह हुई थी ॥ २ ॥

हे वत्स श्रीरामचन्द्र जी, वहाँ पर भी मैं गुरु था और आप शिष्य थे । मेरे सामने बैठकर उदार बुद्धि वाले आपने अबुद्धि की तरह आपने मुझसे यह पूछा था ॥ ३ ॥

शिष्य ने कहा—हे गुरुवर ! सम्पूर्ण जगत् के विषय में मेरा इस महान सन्देह को आपसे निवेदन करता हूँ, इसे आप निवृत्त करने की कृपा करें । महाकल्प में कौन वस्तु नष्ट होती है और कौन नहीं ॥ ४ ॥

गुरुजी ने कहा—हे पुत्र ! काल में यह सारा दृश्य चिन्मात्र शेष होकर सम्पूर्णतः वैसे ही विनष्ट हो जाता है जैसे स्वप्न-नगर सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त आत्मा का आत्ममात्र शेष हो सम्पूर्णतया शीघ्र विनष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

प्रलयकाल में समस्त पृथिवी, सभी पर्वत, दसों दिशाएँ, क्रिया, काल और क्रम सब कुछ समान रूप से नष्ट हो जाते हैं, कुछ भी शेष नहीं रहता है ॥ ६ ॥

नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमाऽपि परिणश्यति।
स सर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात् ॥७॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम्।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामाऽपीह न विद्यते ॥८॥
शिष्यते हि चिदाकाशव्ययस्याऽनुमीयते।
तत्कालशेषताऽनेन सर्गानुभवहेतुना ॥९॥

शिष्य उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
इदं तत्कथमाभोगि विद्यमानं क्व गच्छति ॥१०॥

गुरुरुवाच

न विनश्यत एवेदं ततः पुत्र न विद्यते।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥११॥

सब भूत नष्ट तो जाते हैं। सकल जगतों के भान के साथ आकाश का भी अव्याकृत में लय होने से नाश हो जाता है, क्योंकि भोग्य की स्थिति भोक्ता की स्थिति के अधीन है, प्रलय काल में भोक्ता का ही संभव नहीं है ॥७॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि जो कारणों के भी कारण हैं उनका महाकल्प के अन्त में तथा विज्ञानजन्य प्राकृतिक प्रलय में नाम-निशान तक नहीं रह जाता है, अतः वे भोग्य वस्तु के भोक्ता कैसे रहेंगे ? ॥ ८ ॥

अविनाशी चिद्वस्तु के विवर्त के विनष्ट होने पर चिदाकाश ही अवशेष रहता है ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि अपने में अध्यस्त जगत् के अनुभव में हेतुभूत चिदात्मा से ही सर्वप्रपञ्चशून्य अवशिष्ट प्रलयकाल सिद्ध होता है। यदि उसका भी प्रलय में नाश मानें तो निःसाक्षिक प्रलय ही सिद्ध न होगा, अर्थात् आत्ममात्र शेष रहकर विनष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

शिष्य ने कहा—हे गुरुवर ! असत् पदार्थ की सत्ता नहीं है और सत् पदार्थ का अभाव नहीं है यह नियम है। ऐसी परिस्थिति में यह विद्यमान सत् विशाल जगत् कैसे कहाँ चला जाता है ॥ १० ॥

श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदि से जगत् का नाश सिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। इसलिए उक्त श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के बल से स्थूल दृष्टि से सत्य प्रतीत का ही अपलाप किया जाता है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है। इस आशय से गुरु समाधान करते हैं।

हे वत्स ! तुम्हा कहना युक्तियुक्त नहीं है, यह जगत् अवश्य विनष्ट होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से

यत्तु वस्तुत एवाऽस्ति न कदाचन किंचन।
तदभावात्म तद्भावः कथं नाम विनश्यति ॥१२॥
क्व स्थिरं मृगतृष्णाम्बु क्व स्थिरो द्वीन्दुविभ्रमः।
क्व स्थिरा केशदृग्व्योम्नि क्व भ्रान्त्यनुभवः स्थिरः ॥१३॥
सर्वं दृश्यमिदं पुत्र भ्रान्तिमात्रमसन्मयम्।
स्वप्ने पुरमिवाऽऽभाति कथमेतन्न शाम्यति ॥१४॥
शाम्यतीदमशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा।
यथा जाग्रद्विधौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥१५॥
यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति।
शान्तं तथा जगद्दृश्यं न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥१६॥

सावयव पदार्थों के नाश की प्रसिद्धि है इसलिए वह नहीं ही है अतः इस असत् अस्तित्व नहीं है यह तुमने अनुकूल ही कहा है और सत् का तो अभाव होता नहीं है ॥११॥

जो वास्तव में है ही वह कभी भी कुछ अभावात्मक असत् नहीं है उसका अस्तित्व कैसे असत् हो सकता है ॥ १२ ॥

मृगतृष्णा का मरुमरीचिका जल कहाँ स्थिर है अर्थात् अर्थक्रियाकारी है प्यास बुझाने में समर्थ है आकाश में चन्द्र की भ्रान्ति कहाँ स्थिर रहती है आकाश में केशों के गोलों का दर्शन कहाँ वास्तविक है, भ्रान्ति का अनुभव कहाँ स्थायी रहता है। हे पुत्र ! यह सारा दृश्य केवल भ्रान्तिस्वरूप अतः असन्मय है स्वप्नदृष्ट नगर के समान इसका भान होता है अतः यह क्यों न विनष्ट होगा ? असत् के विनाश में क्या आश्चर्य है ? अर्थात् केवल आपातदर्शन से जगत् की सत्ता का निश्चय कर लेना उचित नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत, मरुमरीचि में जल आदि बहुत से आपातदृष्ट पदार्थों की सत्ता नहीं दिखाई देती है ॥ १३,१४ ॥

जैसे जाग्रत् में सदा और सर्वत्र स्वप्न विनष्ट हो जाता है अथवा जैसे स्वप्न काल में जाग्रत् विनष्ट हो जाता है यह सर्वात्मना पूर्णरूप से वैसे ही विनष्ट होता है। अर्थात् इसको बाध्य सिद्ध करने में जाग्रत् और स्वप्न का परस्पर दृष्टान्तभाव प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

जैसे जाग्रत् काल में बाधित होकर स्वप्ननगर न मालूम शीघ्र कहाँ चला जाता है ज्ञान से बाधित हुआ जगद्रूप दृश्य वैसे ही न जाने शीघ्र कहाँ चला जाता है। अर्थात् दृश्य बाधित होकर कहाँ जाता है, कहाँ रहता

शिष्य उवाच

किमिदं भाति भगवन्न विभाति च किं पुनः।
कस्येदं वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो वितताकृतेः ॥१७॥

गुरुरुवाच

चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥१८॥
अस्यैतद्वस्तुनो रूपं चिद्व्योम्नो वितताकृतेः।
रूपमत्यजदेवाऽच्छं यदित्थमवभासते ॥१९॥
कचनाकचनं सर्गक्षयात्माऽस्य निजं वपुः।
व्योमात्म शुक्लकृष्णं स्याद्यथाऽवयविनो वपुः ॥२०॥
यथाऽयं त्वं सितोदान्तरेक एवाऽऽदितः कचैः।
तथा ब्रह्मैवमच्छात्म सर्गे सर्गक्षयेऽक्षयम् ॥२१॥
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाऽक्षयाऽनिशम्।
सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥२२॥
यथा स्वप्ने जगद्द्रष्टुः शान्तं शाम्यत्यशेषतः।
तद्वदस्मज्जगदिदं शान्तं शाम्यत्यशेषतः ॥२३॥
तदन्यत्राऽस्ति खे खाख्यं तथेत्यङ्ग न विद्महे।
अशङ्क्यं परखे त्वेतदस्मच्चिद्व्योम्नि संभवात् ॥२४॥
यथेहाऽस्मच्चिदाकाशकचनं सर्गसंक्षये।
तथाऽन्यत्संविदाकाशं नैवमित्यत्र का प्रमा ॥२५॥

शिष्य उवाच

एवं चेत्तद्यथा स्वप्ने द्रष्टुरन्यः स दृश्यधीः।
विद्यते तद्वदन्यत्र मन्येऽस्ति जगदादिधीः ॥२६॥

है यह योगियों को भी ज्ञात नहीं होता, इसलिये उसकी असत्ता ही शरण है ॥ १६ ॥

शिष्य ने कहा—हे भगवन्! यदि दृश्य नहीं है तो दृश्य के वेष से कुछ काल तक परमार्थरूप से वस्तु के समान यह कैसे प्रतीत होता है और वही फिर बोध होने के बाद वैसा प्रतीत नहीं होता है वह किस कारण? यह किस विस्तृत आकारवाले चिकादाशरूप वस्तु का रूप है? ॥ १७ ॥

गुरु ने कहा—हे वत्स! जो प्रतीत यह जगत् वैसे ही चिदाकाश का वैसे ही अतिशय स्फुरण ही है उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है जैसे मुक्ति अपनी चमक-दमक से चाँदी की तरह स्फुरित होती है ॥ १८ ॥

यह जगत् विस्तृत आकारवाले इस चिदाकाशरूप वस्तु का स्वरूप है, क्योंकि 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (ब्रह्म के मूर्त अमूर्त दो रूप हैं) ऐसी भगवती श्रुति है। अपने निर्मल स्वरूप का त्याग न करता हुआ ही चिदाकाश इस प्रकार जगत् के रूप से भासता है ॥ १९ ॥

जैसे अवयवी का स्वरूप अवयव के भेद से भिन्न-सा होता है वैसे ही स्फुरण और अस्फुरण रूप सृष्टि और प्रलय इसके वैसे ही आकाश लक्षण स्वरूप ही हैं ॥ २० ॥

ब्रह्म भी सृष्टि और सृष्टि क्षय में अक्षय एक वैसे ही है जैसे स्वच्छ जल वाले तालाब के अन्दर प्रविष्ट हुए यह तुम बिम्ब-प्रतिबिम्ब भेद के क्षय से एक ही हो तालाब में प्रविष्ट होने के पहले भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव आदि भेदों के स्फुरणों से भी क्षय और क्षय और उदयरहित एक ही थे ॥ २१ ॥

इस सृष्टि में और प्रलय में चित्स्वभाव अविकार एक ब्रह्म वैसे ही है जैसे स्वप्न और सुषुप्ति में सदा एक ही अक्षय निद्रा रहती है ॥ २२ ॥

वैसे ही यह हमारा जगत् भी ज्ञान बाधित होने पर वैसे ही शान्त हो जाता है जैसे स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न में प्रसिद्ध जगत् जाग्रत् और सुषुप्ति में बाधित होकर सम्पूर्णतः शान्त हो जाता है ॥ २३ ॥

हे वत्स! बाधित अतएव शून्य नामक वह स्वप्न जगत् दूसरे स्थान में वैसे ही रहता है यह बात बोध दृष्टि से हम नहीं जानते। अन्य पुरुषों के जीवाकाश में वह रहेगा ऐसी आशङ्का तो कदापि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हमारे चिदाकाश में ही हमारे वासनामय स्वप्न जगत् का सम्भव है। उसे बाधित न भी मानें तो भी दूसरों के चिदाकाश में उनके गमन का सम्भव नहीं है ॥ २४ ॥

अर्थात् यदि हमारे अनुभव से सिद्ध सृष्टि प्रबोध से बाधित होकर दूसरे के संविदाकाश में प्रविष्ट हो तो दूसरों को बोध से शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण नहीं ही होता है ऐसी कल्पना करनी होगी उसमें कल्पक कोई प्रमाण नहीं है।

बोध से दूसरे के संविदाकाश में शुद्ध चिदाकाश का स्फुरण वैसे ही नहीं होता है जैसे बोध से सृष्टि का क्षय होने पर हमारे संविदाकाश का स्फुरण होता है इसमें क्या प्रमाण है? ॥ २५ ॥

शिष्य ने कहा—हे भगवन्! आपके कथानुसार हमारी संविद् की विषयभूत सृष्टि का यदि दूसरे की संविद् में भान नहीं होता है तो जैसे स्वप्नद्रष्टा से अन्य जाग्रत् पुरुष दृश्य की बुद्धि से युक्त दृश्यधीसहित रहता है वैसे ही प्रलय काल में भी दूसरे पुरुष में जगत् आदि दृश्यबुद्धि है

गुरुरुवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ स्वरूपं तु न तज्जगत्।
चिति भाति स्वरूपं तत्तद्वदेव न भाति च ॥२७॥

न भाति न च तत्किंचिन्न च तत्किंचिदेव सत्।
तच्चिदाकाशकचनं के तत्र सदसद्दृशौ ॥२८॥

विद्यते तद्धि सर्वत्र सर्वं सर्वेण सर्वदा।
न विद्यते च तत्किंचित्सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥२९॥

तत्सत्तत्सर्वदा सर्वमसच्चाऽसदिवाऽखिलम्।
तन्मयं तच्चिदाकाशं द नाशि न च नाशि तत् ॥३०॥

यन्नाम सच्चिदाकाशं सर्गप्रलयरूपि तत्।
तद्दुःखायाऽपरिज्ञातं परिज्ञातं परः शमः ॥३१॥

विद्यते सर्वथैवेदं सर्वं सर्वत्र सर्वदा।
न विद्यते सर्वथा च सर्वं सर्वत्र सर्वदा ॥३२॥

एष देवो घटः शैलः पटः स्फोटस्तटो वटः।
तृणमग्निः स्थावरं च जंगमं सर्वमेव च ॥३३॥

अस्ति नास्ति च शून्यं च क्रिया कालो नभो मही।
भावाभावौ भवो भूतिर्नाशः पाशः शुभाशुभः ॥३४॥

तन्नास्त्येव न यन्नाम नित्यमेकस्तथा बहिः।
आदिमध्यमथाऽन्तं तु कालत्रितयमेव च ॥३५॥

सर्व सर्वेण सर्वत्र सर्वदैवाऽत्र विद्यते।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदाऽत्र न विद्यते ॥३६॥

यदेवं राम सर्वात्म सर्वमेवाऽस्ति सर्वदा।
ब्रह्मात्मत्वात्स्वप्नसंवित्पुरन्यायेन वै तदा ॥३७॥

अर्थात् दूसरा पुरुष दृश्यधीसहित है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ २६ ॥

गुरु ने कहा—हे वत्स ! तुम्हारा कहना ठीक है, इसीलिए प्रलय में भी ऐन्दव जगतों के सद्भाव का दर्शन ब्रह्मा को है, ऐसा पहले हम वर्णन कर आये हैं। यदि जगत् चित् का स्वरूप नहीं है अपितु चित् में अध्यस्त वह द्रष्टाओं को भासमान होता है अन्य को वैसा नहीं भासमान होता, इसलिए उस पुरुषों के अनुसार उसका स्वरूप व्यवस्थित है ॥ २७ ॥

सबको एक समान प्रतीत नहीं होता है, इसलिए वह न तो तुच्छ है और न कुछ सत् ही है किन्तु तत् जीवों के चिदाकाश का स्फुरण मात्र ही है। उसमें सत् और असत् दृष्टियाँ कैसी ? ॥२८॥

यदि वह चिदाकाश के रूप से है ऐसा कहो तो ऐसी अवस्था में वह सम्पूर्ण जगत् सब प्रकार से सब जगह है किन्तु जगत्स्वरूप से वह सम्पूर्ण कुछ नहीं है, कभी भी और कहीं पर भी उसकी सत्ता नहीं है ॥२९॥

वह ब्रह्म सत् और असत् स्वरूपवाला है अर्थात् स्वरूप से सत्तवृत्तियों से तिरोहित होने के कारण असत् है अतएव सम्पूर्ण जगत् भी सदा सत् और असत् भासमान होता है चूंकि चिदाकाश अविनाशी है, अतएव तन्मय जगत् भी अविनाशी ही है ॥३०॥

सत् चिदाकाश ही सृष्टि और प्रलय का रूप धारण करता है। वही स्वरूपतः अपरिज्ञात होने से दुःखदायक होता है यह चिदाकाश है इस प्रकार ज्ञात हो जाने पर तो सकल दुःखों का क्षय होता है ॥३१॥

यह सब चिदाकाश अपने परिज्ञान के अनुसार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में क्रमशः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान है और सर्वत्र सर्वदा सर्वथा विद्यमान नहीं है ॥३२॥

यह स्वयं ज्योति स्वयं प्रकाश घड़ा, पर्वत, वस्त्र, शब्द, तट, गर्त या वटवृक्ष, तृण, अग्नि, स्थावर, जंगम सब कुछ ही है। अस्ति, नास्ति, शून्य, क्रिया, काल, आकाश, पृथ्वी, भाव, अभाव, जन्म, विभूति, नाश, शुभ अशुभ कर्म सब कुछ यही है ॥३३, ३४॥

वह वस्तु नहीं ही है जिसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों कालों में नित्य एक ही चिदाकाश उस तरह का रूप न धारण करता हो ॥३५॥

ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें है और अज्ञानी की दृष्टि में सब प्रकार से सब जगह सदा इसमें नहीं है ॥३६॥

हे श्रीरामजी ! जब इस प्रकार ब्रह्मात्मक होने से स्वप्नानुभूत नगर के समान सब कुछ सदा सर्वात्मक ही है तब ब्रह्मरूप होने से तृण कर्ता है, तृण भोक्ता है और तृण विभु है। घड़ा कर्ता है, घड़ा भोक्ता है और घड़ा सब इन्द्र आदि ईश्वरों का ईश्वर है। वस्त्र कर्ता है, वस्त्र भोक्ता है और वस्त्र सब ईश्वरों का भी ईश्वर है। द्रष्टा कर्ता है, द्रष्टा भोक्ता है और द्रष्टा सब ईश्वरों का ईश्वर है। पर्वत कर्ता है, पर्वत भोक्ता है और पर्वत सब ईश्वरों

तृणं कर्तृ तृणं भोक्तृ ब्रह्मात्मत्वात्तृणं विभुः।
घटः कर्ता घटो भोक्ता घटः सर्वेश्वरेश्वरः ॥३८॥
पटः कर्ता पटो भोक्ता पटः सर्वेश्वरेश्वरः।
दृशिः कर्ता दृशिर्भोक्ता दृशिः सर्वेश्वरेश्वरः ॥३९॥
गिरिः कर्ता गिरिर्भोक्ता गिरिः सर्वेश्वरेश्वरः।
नरः कर्ता नरो भोक्ता नरः सर्वेश्वरेश्वरः ॥४०॥
प्रत्येकं सर्ववस्तूनां कर्ता भोक्ता परात्परः।
अनादिनिधनो धाता सव ब्रह्मात्मकं यतः ॥४१॥
तृणकुम्भादयस्त्वेते स्वया विभुतया विभुः।
एवंरूपा स्थिता रूपं यद्विभातः क्षयोदयौ ॥४२॥
बाह्योऽर्थोऽस्ति स एवेह कर्ता भोक्ता तथाविधः।
विज्ञानमात्रमेवाऽस्ति कर्तृ भोक्तृ तथाविदाम् ॥४३॥
न कश्चिच्चैव कर्तेह न च भोक्ता तथाविदाम्।
कश्चिदीश्वर एवेह कर्ता भोक्ता तथाविदाम् ॥४४॥

का ईश्वर है। नर कर्ता है, नर भोक्ता है और नर सब ईश्वरों का ईश्वर है। बहुत क्या कहें सब वस्तुओं में से हर एक कर्ता, भोक्ता और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है एवं अनादि जन्मरहित तथा विनाशशून्य धाता है, क्योंकि सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है। भाव यह कि ब्रह्मभाव से दर्शन करने पर तृण आदि सकल पदार्थ अलग-अलग सब कर्ता, सब भोक्ता और सब सर्वेश्वरे हैं ॥३७-४१॥

ये तृण, घट, पट आदि प्रत्यगात्मरूप विभुता से विभु हैं। जिस रूप में क्षय और नाश प्रतीत होते हैं वैसा सब रूप इस प्रकार की विभुतारूप से ही स्थित है ॥४२॥

जिनके मत में विज्ञानातिरिक्त बाह्य अर्थ है उनके मत में वही कर्ता और भोक्ता है जैसे कि वैशेषिक और सौत्रान्तिकों के मत में प्रसिद्ध है। लेकिन जिन वादियों के मत में विज्ञानमात्र ही बाह्य अर्थ है उन विज्ञानमात्र वादियों के मत में विज्ञानमात्र ही कर्ता और भोक्ता है। शून्यवादियों के मत में शून्य ही कर्ता और भोक्ता है अर्थात् न कोई कर्ता है और न कोई भोक्ता है। पाशुपत आदि के मत में उनकी दर्शन-प्रक्रिया से सिद्ध ईश्वर ही कर्ता तथा भोक्ता है ॥४३, ४४॥

इस प्रकार मतभेद रहने पर भी वादियों में से कोई भी असम्भव अर्थ वादी नहीं है, क्योंकि सर्वोत्तम सर्वशक्तिमान् उस सर्वात्मक परम पद में सब कुछ संभव है। उस पद में उन वादियों द्वारा अङ्गीकृत परस्पर विलक्षण

सर्वमेव पदे तस्मिन्संभवत्युत्तमोत्तमे।
विषयः प्रतिषेधाश्च के ते सन्ति न सन्ति के ॥४५॥

शुद्धे द्रष्टेव चिद्व्योम दृश्यतामिव भासयत्।
स्वमात्मानं जगदिति पश्येत्तिष्ठेदनामयम् ॥४६॥

सर्वा दृशो विधिनिषेधदृशश्च सर्वाः
संकल्पवेदनविशेषसदेषपूर्वाः ।
सत्यात्मिकाः सततमेव न चैव सत्या
रूपं यथानुभवमत्र यतः स्वरूपम् ॥४७॥

इति त्वया शिष्यतया मदन्तिका-
च्छ्रुतं पुरा तेन न चाऽसि बुद्धवान्।
ततोऽनुभूयान्यजगद्भ्रुवाद्भ्रुवा
निहाद्य जातोऽसि तदेव पृच्छसि ॥४८॥

पदार्थ प्रक्रिया के साधन, अनुष्ठान, फल आदि की विधियों तथा परस्पर द्वारा किये गये उनके निषेध सभी का बिना विरोध के अलग-अलग संभव है। बुद्धयवच्छिन्न चैतन्य में वर शाप के न्याय से अपने संकल्पानुसार व्यवस्थित विवर्त का संभव है ॥४५॥

चिदाकाश शुद्ध स्वात्मा में उन वासनाओं के अनुसार दृश्य की भावना कर द्रष्टा-सा बनकर अपने शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप को जगत् के रूप में देखता हुआ उन-उन उपाधियों में वस्तुतः निज निर्विकार रूप से रहने में समर्थ है ॥४६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी! सब जीवों को अपने-अपने अनुभव से सिद्ध सब पदार्थ दृष्टियाँ और सब परस्पर विलक्षण विधिनिषेध दृष्टियां तत् तत् संकल्प, तत तत् अनुभव, तत् तत् वासना सहित तत् तत् काम-कर्म पूर्वक हैं इसलिये उस व्यवहार में सदा ही विभिन्न अर्थ क्रिया में समर्थ होने से सत्यरूप हैं किन्तु आत्मदृष्टि से शशशृङ्ग तुल्य असत्य हैं, क्योंकि प्रत्यगात्मा का रूप अपने अनुभव के अनुसार जगत् का रूप धारण करता है ॥४७॥

हे श्रीरामचन्द्रजी! पहले युग में आपने शिष्य के रूप में स्थित हो गुरुस्वरूप मेरे मुख से निःसृत इस प्रकार का उपदेश सुना था, उस उपदेश से उस समय आपको बोध नहीं हुआ। अन्तर अज्ञानरूप दोष से फिर आप पुनर्जन्म से अन्य जगत् का अनुभव कर आज इस त्रेतायुग में महाराज दशरथ के घर में उत्पन्न हुए हैं। जो आपने पहले जन्म में मुझसे पूछा था, उसी को आज पूछते हैं ॥४८॥

ज्ञानं सदेतदखिलं श्रुतमुत्तमं चि-
त्संसारदीर्घरजनीसितरश्मिबिम्बम् ।
जातस्त्वमभ्युदयवानमलैकबोध
उत्सार्य मोहमनुतिष्ठ यथागतं त्वम् ॥४९॥

तिष्ठंस्तदात्मनि परे विमलस्वभावे
सर्वात्मके तपति सर्वपदार्थमुक्तः ।
निर्वाणशान्तमतिरम्बरकोशकान्तो
धर्मेण राज्यमनुपालय तीर्णतृष्णः ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख्यानं नाम त्रयोदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१३॥

हे श्रीरामजी ! इस जन्म में भी आपने मेरे द्वारा उपदिष्ठ अति उत्तम परमार्थवस्तुविषयक ज्ञान, संसार-रूपी लम्बी रात्रि के अन्धकार की अज्ञान की निवृत्ति करने के कारण पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब के समान स्थित है, सम्पूर्णतः सुन लिया है उससे आप अज्ञानान्धकार को हटाकर निरतिशय आन्दरूप परमपुरुषार्थ के लाभरूप अभ्युदयवान् होकर निर्मल बोधरूप हो गये हैं इसप्रकार कृतकृत्य हुए आप कुलाचार प्राप्त राज्यपालन आदि कार्य कीजिये ॥४९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप सकल दृश्य पदार्थों से मुक्त होकर चारों ओर प्रकाशमान सर्वस्वरूप आत्मा में स्थित निरतिशय आनन्द में मग्न अतएव शान्तमति सम्पन्न आकाशकोश के समान मनोहर और वितृष्ण हो धर्म से राज्य का परिपालन करें ॥५०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत बाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध में रामशिष्यत्व उपाख्यान नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१३

२१४

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ नभसो ननाद
वर्षामृताभ्रमिव दुन्दुभिरामरो द्राक् ।
शुक्लीकृताखिलककुब्वदना तुषार-
वर्षोपमा भुवि पपात च पुष्पवृष्टिः ॥१॥

किंजल्कजालदिवसान्तघनाङ्गरागा
वातावधूतसितकेसरगौरहारा ।
पुष्पोदरोत्थमृदुसीकरशीतलाङ्गा
प्राप्ता स्वयं सुरपुरादिव पुण्यलक्ष्मीः ॥२॥

कल्पान्तकालकपिकम्पितशुष्कशाखा-
स्स्वर्गद्रुमात्पतितमाशु विडम्बयन्ती ।
तारागणं प्रथितभासमनल्पहास-
माशामुखप्रसृतभैरवमम्बरस्था ॥३॥

सा पुष्पवृष्टिरथ दुन्दुभिनादगर्ज-
त्किंजल्कपुञ्जजलदा शममाजगाम ।
आपूरिताखिलसभा हिमहारिपुष्प-
पूरेण कौतुकविकासकरी क्षणेन ॥४॥

२१४

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे भारद्वाज महामुनि ! श्रीवसिष्ठजी के इस वर्णन के बाद आकाश से वर्षा करने के लिए जल से भरे हुए मेघ के समान देवताओं के नगाड़े बजने लगे और आकाश से भूमि में हिमवृष्टि के समान पुष्पवृष्टि होने लगी अनन्तर सब दिङ्मुखों को चारों ओर सफेद बना दिया महान् अध्यात्मशास्त्र की समाप्ति होने पर देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा दिये गये गुरु, ब्राह्मण, देवता, पितर आदि की वेषभूषा से सजावट, पूजा आदि महोत्सवरूप मङ्गल का वर्णन करने के लिए वाल्मीकीजी ने भारद्वाज से कहा है ॥१॥

उस पुष्पवृष्टि का लाल लाल केसरपुञ्ज ही सन्ध्याकाल के मेघों के समान लाल अङ्गराग था, फूलों के अन्दर से निकले हुए कोमल कोमल जलकण ही शीतल अङ्ग थे तथा वायु से हिलाये गये सफेद केसर ही स्वच्छ मोती के हार थे, ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो उत्सव देखने के लिए साक्षात् पुण्यलक्ष्मी ही पुष्पवृष्टि के रूप में स्वर्ग से उतरी है ॥२॥

आकाश की पुष्पवृष्टि प्रलयकालरूपी बन्दर द्वारा झकझोरी गई सुखी कल्पवृक्षशाखावाले और लोकपालों के नगर और भिन्न भिन्न लोकरूप शाखा वाले स्वर्गरूप वृक्ष से शीघ्र भूमि में गिरे हुए खूब चमकते हुए सितारों का, जिन्हें गिराने के लिए दिङ्मुखों की ओर संहाररुद्र शीघ्र झपटे, मन्द मन्द मुस्कान के साथ परिहास कर रही थी अर्थात् वह तारों के समान पूर्ण चमक-दमकवाली थी ॥३॥

दर्शन से आनन्द का विस्तार करनेवाली पुष्पवृष्टि, की दुन्दुभि की ध्वनि से गरज रहा केसरपुञ्ज ही मेघ था तथा जिसने हिम के समान मनोहर पुष्पराशि से सम्पूर्ण सभा भर दी थी ॥४॥

तानि दिव्यानि पुष्पाणि यथास्थानमधःस्थिताः ।
वसिष्ठाय नमस्कृत्वा सभ्याः संशोकितां जहुः ॥५॥

दशरथ उवाच

अहो नु सुविशात्मा नः संसारविततापकुतेः ।
विश्रान्ताः स्मश्चिरं श्रान्ताः शुद्धा मेघा इवाऽचले ॥६॥
कर्मणामवधिः पूर्णो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
ज्ञातं ज्ञेयमशेषेण विश्रान्ताः स्मः परे पदे ॥७॥
ध्यानलब्धपरव्योमचिरानुभवनभ्रमैः ।
धारणाधारविश्रान्त्या देहसन्त्यजनक्रमैः ॥८॥
संकल्पनवनिर्माणैः स्वप्नदृष्टजगज्ज्वरैः ।
शुक्तिरूप्यानुभवनैः स्वप्नात्ममृतिदर्शनैः ॥९॥
अनन्यैः पवनस्पन्दैरनन्यैः सलिलद्रवैः ।
इन्द्रजालपुरापूरैर्गन्धर्वनगरोत्करैः ॥१०॥
मायापूर्णपुराभोगैर्मृगतृष्णानदीरयैः ।
आयतो पवनस्पर्शैर्द्विचन्द्रानुभवोदयैः ॥११॥
मदभ्रंशपुरस्पन्दैर्मुधाः स्ववनिकम्पनैः ।
बालयक्षाद्यनुभवे खकेशोण्डुकदर्शनैः ॥१२॥
एवमादिभिरन्यैश्च दृष्टान्तैः स्वानुभूतिदैः ।
अहो नु मार्जिता दृश्यदृष्टिर्भगवता मम ॥१३॥

श्रीराम उवाच

नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर ! ।
संपन्नोऽहमहं सत्यमत्यन्तमवदातधीः ॥१४॥
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि ।
निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव ॥१५॥

स्थान के अनुसार अर्थात् सबसे ऊँचे स्थान में श्रीवसिष्ठजी विराजमान थे। उनके समीप में अन्यान्य मुनिगण, उनके निकट महाराज दशरथ, राजकुमार रामचन्द्र आदि, उनके निकटवर्ती निम्न स्थान में मन्त्री, सामन्त आदि तथा उनके बाद सर्वसाधारण श्रोताजन यों क्रम से नीचे बैठे हुए थे। क्रम से नीचे बैठे हुए सभासदों ने उन दिव्य फूलों को लेकर वसिष्ठजी के चरणों में पुष्पाञ्जलि देकर वसिष्ठजी को नमस्कार कर फूलों की सुगन्धि, शीतलता आदि के सम्पर्क से स्वेद, दौर्गन्ध्य आदि से शोक, रोग, भूख, प्यास, श्रम आदि से दुःख और और जन्म, मरण आदि, सकल क्लेशों से छुटकारा पाया ॥५॥

महाराज दशरथ ने कहा—हे भगवन् ! आप के उपदेश के श्रवण से मेरी आत्मा परम पद में सुख से प्रवेश पाने योग्य बन गयी है। संसाररूपी अत्यन्त दीर्घ दुर्गम मार्ग पार करने से चिरकाल से श्रान्त हम लोग आपके उपदेश श्रवण से जड़ता और मलिनता से रहित परम पद में पूर्ण रूप से वैसे ही विश्राम पा चुके हैं जैसे कि जल और कालिमा से रहित शरत् काल के मेघ हिमालय आदि पर्वतपर विश्राम पाते हैं ॥६॥

हे मुनिवर ! आपके अनुग्रह से आज हमारे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अवश्य कर्तव्य कर्मों की अवधि पूर्ण हो गयी है, हम कृतकृत्य हो चुके हैं आपत्तियों की परम सीमा हम देख चुके हैं, हमने ज्ञातव्य तत्त्व पूर्णरूप से जान लिया है तथा आज हम परम पद में विश्राम पा रहे हैं ॥७॥

ध्यान से कल्पित अन्य आकाश में चिरकाम तक विहार आदि की अनुभूति के भ्रमों को लीलोपाख्यान आदि में विस्तार से प्रदर्शन किया गया है, धारणा से सर्वाधार ब्रह्म में विश्राम से देहत्याग के क्रमों से, संकल्पमय नवीन निर्माणों से, स्वप्न में देखे गये जगत् के दुःखों में, शुक्तिरजतों के रनुभावों से, स्वप्न में अपनी मृत्यु के दर्शनों से, अभिन्नरूप पवनस्पन्दों से, अनन्य जलद्रवों से, इन्द्रजाल नगरों की राशियों से, गन्धर्व-नगर के समूहों से, माया से प्रदर्शित जलपूर्ण महा प्रवाहवाले मृगतृष्णानदी के वेगों से, सृष्टि के उत्तर काल में प्रलय में वर्णित महान् वेगवाले वायु के स्पर्शों से, द्विचन्द्र के अनुभवों के उदयों से, मद से बेहोशी होने पर मालूम पड़ रहे नगर-कम्पनों से, उत्पात आदि से शुभाशुभ सुचना के विना ही भ्रान्ति से प्रतीयमान भू-कम्पों से, बालक के यक्ष आदि के अनुभवों से, आकाश में केशों के वर्तुलाकार गोलों के दर्शनों से इत्यादि तथा इनसे अतिरिक्त अपने को अनुभूति कराने वाले दृष्टान्तों से आपने मेरी दृश्य दृष्टि का परिमार्जन कर दिया है यह मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है ॥८-१३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! हे गुरुवर ! आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, मुझे परमपद प्राप्त हो गया है, मैं अत्यन्त निर्मल बुद्धि हो गया हूँ साक्षात् परमब्रह्म ही हो गया हूँ ॥१४॥

मेरे सब सन्देह निवृत्त हो चुके हैं, मेरे ज्ञान का पर्दा हट गया है, मैं स्वात्मरूप ब्रह्म से स्थित हूँ मैं आपका आदेश वैसे ही पालन करूँगा जैसे आपने मुझे यथाप्राप्त व्यवहार राज्यपालन आदि करने के लिये कहा है ॥१५॥

स्मृत्वा स्मृत्वाऽमृतासेकसौख्यदं वचनं तव।
अर्हितोऽपि च शान्तोऽपि हृष्यामीव मुहुर्मुहुः ॥१६॥

नैव मेऽद्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन।
यथास्थितोऽस्मि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरः ॥१७॥

उपायस्तु तथा तेन दृष्टिर्वाऽत्तीह कीदृशी।
अहो नु वितता भूमिः कष्टमेतादृशी दशा ॥१८॥

न शत्रुर्न च मित्रं मे न क्षेत्रं दुर्जनो जनः।
दुर्बोधैषा जगत्क्षुब्धा शान्ता सर्वार्थसुन्दरी ॥१९॥

कथमेतां जनो वेत्ति विना भवदनुग्रहम्।
विनैव सेतुं पोतं वा बालोऽब्धिं लङ्घयेत्कथम् ॥२०॥

अमृत से सींचने के तुल्य परमसुख देने वाले आपके वचन का बारबार स्मरण कर पूजे जाने तथा अपमानित होने पर हर्ष, विषाद आदि का उदय न होने से शान्त हुआ भी मैं बार-बार हर्षित के समान होता हूँ ॥१६॥

आज मेरा यहाँ न तो कर्म से कोई प्रयोजन है और न ज्ञान से कोई प्रयोजन है फिर भी जैसे पहले व्यवहार में स्थित था वैसे ही स्थित हूँ लेकिन व्यवहार में प्रसक्ति से होने वाला सन्ताप मुझमें बिलकुल नहीं है ॥१७॥

अहो! असीम विश्रान्तिसुख भूमि मुझे मिल गई है। जन्म, मरण आदि अनन्त अनर्थों से व्याप्त संसारदशा प्राणियों को अत्यन्त क्लेशदायक है ॥१८॥

हे भगवन्! न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र है, न मेरा शरीर है और न बाहरी खेत है, न दुर्जन है और सुजन है। यह आत्मचित् दुर्बोध रहने तक समझ में नहीं आने तक दुःख-दायीनी यह जगत् रूप है किन्तु इस समय तो जगत् का ज्ञान से बोध होने के कारण यह सर्वार्थ सुन्दर हो गई है अर्थात् अब मेरे दुःख के कारण कोई भी नहीं रह गये हैं ॥१९॥

हे भगवन्! आपके अनुग्रह के बिना इस दृष्टि को मनुष्य कैसे जान सकता है? पुल अथवा जहाज के बिना ही बालक समुद्र को कैसे पार कर सकता है? ॥२०॥

श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—अहो! अनन्त जन्म जन्मान्तरों में बढ़ी चढ़ी दुर्वासनाओं के कारण उत्पन्न सन्देहों का नाश करनेवाले तथा अनेक जन्मजन्मान्तरों में संचित सैकड़ों पुण्यों को फलोन्मुख बनानेवाले मुनि महाराज के उपदेश से किये गये प्रतिबोधन से विचार

लक्ष्मण उवाच

जन्मान्तरोपचितसंशयनाशनेन
जन्मान्तरोपचितपुण्यशतोदितेन।
जातोद्यमे मुनिवचःपरिबोधनेन
जातोऽद्य मे मनसि चन्द्र इव प्रकाशः ॥२१॥

ईदृश्यां दृश्यमानायां दृशि दोषदशाशतैः।
काष्ठवद्दह्यते लोकः स्वदुर्भगतया तया ॥२२॥

विश्वामित्र उवाच

अहो बत महत्पुण्यं श्रुतं ज्ञानं मुनेर्मुखात्।
येन गङ्गासहस्रेण स्नाता इव वयं स्थिताः ॥२३॥

श्रीराम उवाच

संपदामथ दृष्टीनां शास्त्राणामापदां गिराम्।
देशानामथ दृष्टानां दृष्टः सीमान्त उत्तमः ॥२४॥

के लिए उद्यमशील मेरे मन में आज चन्द्रमा के तुल्य परम आह्लाद देनेवाला परमात्म प्रकाश हो गया है ॥२१॥

भगवन्, आपके सदृश महानुभावों के उपदेश से इस प्रकार की निरतिशय आनन्दप्रकाशरूप आत्मदृष्टि के प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान होनेपर भी मनुष्य लोग सर्वत्र प्रसिद्ध अपने दौर्भाग्य से महापुरुषों की सेवा शुश्रूषा से वञ्चित रहकर राग, द्वेष, अहंकार, जन्म, मरण आदि सैंकड़ों दोषपूर्ण अवस्थाओं से रात दिन काठ के समान जलते हैं यह महान् आश्चर्य है ॥२२॥

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा—अहो! हमारे लिए बड़े हर्ष की बात है कि हमने मुनि महाराज के श्रीमुख से अत्यन्त पुण्यमय ज्ञान सुना है जिसके प्रभाव से हमलोग हजार बार गङ्गा में स्नान किये हुए से अत्यन्त पूत होकर बैठे हैं ॥ २३॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—सम्पत्तियों के उत्कर्ष में आत्मा चरमसीमा देखा गया है, क्योंकि वह निरतिशय आनन्दरूप है, दृष्टियों की चरमसीमा आत्मदृष्टि देखी गई है, क्योंकि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान हो जाता है, शास्त्रों की चरमसीमा अध्यात्मशास्त्र देखा गया है, क्योंकि वही चरम प्रमाण है, पशु, पुत्र, धन, आदि के विनाशरूप विपदाओं की चरमसीमा सर्वसंसारनाश देखा गया है, क्योंकि उसके बाद दूसरा नाश नहीं हो सकता है, काव्य, रस, अलङ्कार आदि से शोभित वाणियों की चरमसीमा श्रीवसिष्ठजी महाराज की उपदेशोक्ति देखी गई है तथा दृष्ट सुखविश्रान्ति के कारण

नारद उवाच

यन्न श्रुतं ब्रह्मलोके स्वर्गे भूमितले तथा।
कर्णौ तज्ज्ञानमाकर्ण्य यातौ मेऽद्य पवित्रताम् ॥२५॥

लक्ष्मण उवाच

हार्दं बाह्यं च तिमिरमपमृष्टवता त्वया।
मुने! परमभानुत्वं नूनं नः संप्रदर्शितम् ॥२६॥

शत्रुघ्न उवाच

निर्वृतोऽस्मि प्रशान्तोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि परमं पदम्।
चिराय परिपूर्णोऽस्मि सुखमासे च केवलम् ॥२७॥

दशरथ उवाच

बहुजन्मोपलब्धेन पुण्येनाऽयं मुनीश्वरः।
घोरः कथितवान्नस्तद्येन पावनतां गताः ॥२८॥

वाल्मीकिरुवाच

इति तेषु वदत्स्वत्र सभ्येषु सह भूभृता।
वसिष्ठः स उवाचेदं ज्ञानपावनया गिरा ॥२९॥

राजन् रघुकुलैकेन्दो यदहं वच्मि तत्कुरु।
इतिहासकथान्ते हि पूजनीया द्विजातयः ॥३०॥

तदद्य ब्राह्मणौघांस्त्वं सर्वकामैः प्रपूरय।
वेदार्थसमनुष्ठानफलं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥३१॥

मोक्षोपायकथावस्तुसमाप्तौ द्विजपूजनम्।
शक्तितः कीटकेनाऽपि कार्यं किमु महीभृता ॥३२॥

इति मौनं वचः श्रुत्वा सहस्राणि नृपो दश।
दूतैराकारयामास द्विजानां वेदवादिनाम् ॥३३॥

महल, बाग बगीचा, पर्वत, नदी, बालूमय तटभूमि आदि आदि प्रदेशों की चरमसीमा परमात्मरूप प्रदेश देखा गया है, क्योंकि वही परम विश्रान्ति हेतु है ॥२४॥

देवर्षि श्रीनारदजी ने कहा—अहो! उत्तम तत्त्व ब्रह्मलोक में सुनने को नहीं मिला, स्वर्ग में नहीं मिला अन्यत्र भूतल में भी नहीं मिला आप के उत्तम तत्त्वज्ञान को सुनकर मेरे कान आज परम पवित्र हो गये हैं ॥२५॥

श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनिवर! हमारे हृदय का तथा बाहर का अज्ञानन्धकार पूर्णरूप से आपने निवृत्त कर किया है। हम लोगों के सन्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि आप प्रसिद्ध सूर्य की अपेक्षा कई गुना अधिक उत्कृष्ट सूर्य हैं, क्योंकि सूर्य केवल बाहर का ही अन्धकार निवृत्त करता है वह भी उससे आत्यन्तिक निवृत्त नहीं होता किन्तु आपने भीतर बाहर के अन्धकार की आत्यन्तिक निवृत्ति कर दिया है ॥२६॥

श्रीशत्रुघ्नजी ने कहा—हे भगवन्! आपके अनुग्रह से मैंने निरतिशयानन्दस्वरूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त किया है अत्यन्त प्रशान्त हूँ, परम पद को प्राप्त हो गया हूँ, सदा के लिए प्राप्तकाम हूँ, केवल निरतिशय सुख स्वरूप हूँ ॥२७॥

महाराज दशरथ ने कहा—अनेक जन्मों के संचित पुण्यों से परमज्ञानी मुनिश्रेष्ठ इन कुलगुरु महाराज ने हम लोगों को परमपावन तत्त्व अथवा अध्यात्मशास्त्र का उपदेश दिया है इस उपदेश से हम लोग परम पवित्र हो गये हैं ॥२८॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे भारद्वज! राजा दशरथ के साथ समास्थित सभ्यगण के द्वारा इस प्रकार के प्रशंसा वाक्य कहने के समय भगवान् वसिष्ठजी ने ज्ञान से पावन वाणी से यह कहा ॥२९॥

अब महामुनि श्रीवसिष्ठजी ने 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युः'—अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि में, मध्य में और अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है वे लोक में खूब प्रसिद्ध होते हैं, उन्हें बनाने तथा पढ़ानेवाले पुरुष वीर और दीर्घजीवी होते हैं, उनका अध्ययन करने वाले भी वैसे ही होते हैं—भाष्य में भगवान् पतञ्जलिजी द्वारा उदघृत श्रुति के अनुसार निर्विघ्न सम्पूर्ण महान् शास्त्र के उक्त फल की सिद्धि के लिए श्रीवसिष्ठजी ब्राह्मण, देवता, पितर, मुनिवृन्द के पूजनोत्सव आदि मङ्गल की औचित्यज्ञापन द्वारा आज्ञा दिया है।

हे महाराज! हे रघुकुल को आह्लादित करने वाले चन्द्ररूप! इतिहास कथा के अन्त में द्विजातियों की पूजा करना मेरे कथन के अनुसार विधि प्राप्त तथा उचित है, इसलिए आज आप विप्रवृन्दों को उनकी सकल कामनाओं परिपूर्ण करे। इससे आपको अध्यात्मशास्त्र की श्रवण विधि की साङ्गोपाङ्गनिष्पत्ति का अक्षय फल प्राप्त होगा ॥३०-३१॥

मोक्ष के उपायभूत कथा की समाप्ति होने पर कीड़े की तरह नगण्य दरिद्र को भी अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणपूजन अवश्य करना चाहिये आप महाराज के लिए तो कहना ही क्या है? ॥३२॥

महामुनि श्रीवसिष्ठजी का यह कथन सुनकर महाराज दशरथ ने दस हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों को दूतों द्वारा

मथुरायां सुराष्ट्रेषु गौडेषु च वसन्ति ये ।
तेभ्यः कुलेभ्यः सोऽभ्यर्च्य समानीय द्विजन्मनाम् ॥३४॥
अधिकात्यधिकज्ञानप्रकृतद्विजभोजनः ।
तदा दशसहस्राणि भोजयामास भूपतिः ॥३५॥
यथाभिमतभोज्यान्नदानदक्षिणया तया ।
एवं सपूज्य तान्विप्रान्पितॄन्देवान्नृपांस्तथा ॥३६॥
पौरामात्यांस्तथा भृत्यान्दीनान्धकृपणांश्च तान् ।
तस्मिन्दशरथो राजा दिने सह सुहृज्जनैः ॥३७॥
लब्धसमृतिसीमान्तश्चकारोत्सवमुत्तमम् ।
तथा नृपगृहे तस्मिन्कौशेयमणिकाञ्चने ॥३८॥
भूषिते नगरे चैव गीर्वाणनगसुन्दरे ।
ननृतुर्मत्तकामिन्यो विलासिन्यो गृहे गृहे ॥३९॥
लसद्वंशलताकांस्यवीणामुरजमर्दलम् ।
ताण्डवेनोद्धतारावमन्योन्येतरशेखराः ॥४०॥

क्षुब्धीकृतापणकरभ्रान्तिपल्लविताम्बराः ।
मुग्धाट्टहासविक्षिप्तदन्तेन्दुकिरणच्छटाः ॥४१॥
मदाकुलितहुंकारा लीलासु तरलस्वराः ।
एकपादतलाघातहेलाहतधरातलाः ॥४२॥
स्रग्दामतारविगलत्कुसुमासारपाण्डुराः ।
धारापातितविच्छन्नहारमुक्तास्खलत्पदाः ॥४३॥
लीलाभरणसाकारं कामं ननृतुरङ्गनाः ।
पेठुः स्फुटपदं विप्रा वन्दिनोऽप्यङ्गनाश्च ताः ॥४४॥
पपुरुत्ताण्डवं पानं पानपा मदशालिनः ।
भोज्यं बुभुजिरे चित्रं भूषिता भोजनार्थिनः ॥४५॥
सुधादिपरिलेपेन रञ्जिता गृहभित्तयः ।
रेजू रामेन्दुभानेन पुष्पधूपविलेपनैः ॥४६॥
वासांसि वसिताश्चित्राण्युत्तमस्रग्विभूषणाः ।
चेरुः परिचराश्चेट्यश्चारुगन्धा नृपाध्वरे ॥४७॥

निमन्त्रित किया। मथुरा, सौराष्ट्र देश, गौड़देश में निवास करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक बुलाकर अधिकाधिक ज्ञानविज्ञानवाले ब्राह्मणों को प्रमुखता देकर राजा ने दस हजार ब्राह्मणों को विधिपूर्वक भोजन कराया ॥३४-३५॥

अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भोज्य, अन्न, दक्षिणा से तथा श्राद्ध, उपहार, मणि, माणिक्य आदि से क्रमशः उन ब्राह्मणों, पितृगणों, देवताओं, राजाओं, नागरिकों, मन्त्रियों, नौकरचाकरों, दीन, अन्धे, लूले, लंगड़े आदि का पूर्ण सत्कार कर संसार की सीमा के अन्त में पहुँचे हुए राजा दशरथ ने सुहृत् जनों के साथ उस दिन उत्तम महोत्सव किया। रेशमी वस्त्र, मणि और सुवर्ण से विभूषित सुमेरु के तुल्य सुन्दर राजप्रासाद में तथा खूब सजाये गये सुमेरु सदृश अयोध्या नगरी में विलासवती यौवनमत्त कामिनियों ने घर घर में नाच किया ॥३६-३९॥

उस नाच में बाँसुरियाँ, कांस्यताल, वीणा, पखावज, तबले आदि बज रहे थे, ताण्डव नृत्य से जोर की ध्वनि हो रही थी। नाच करनेवाली महिलाओं के शेखर परस्पर विलक्षण केशबन्ध के विभिन्न आभूषणों से विरचित थे, इधर उधर नचाये गये विविध अभिनय करनेवाले हाथों के भ्रमणों से उनके आसपास का आकाश तथा उनके वस्त्र पल्लवित से लगते थे, हास्यरस के अभिनय के समय वे दन्तरूपि चन्द्रमा की शुभ्र रश्मियाँ मनोहर अट्टहासों द्वारा चारों ओर बखेरती थीं, वीर रस के अभिनय के समय मदपूर्वक हुंकार करती थीं, करुण, अद्भुत आदि रसों के अभिनय की लीलाओं के अवसर पर उनका स्वर चञ्चल हो उठता था, शृङ्गार-रस में मान के अभिनय के अवसरपर वे एक पैर के तलुवे से लीलापूर्वक धरातलपर आघात करती थीं, मोतीमालाओं या पुष्पमालाओं के फटकारने से नक्षत्रों की तरह बिखर रहे पुष्पों की वृष्टियों से सफेद थीं, जलधारा के समान गिराये गये टूटे हुए हारोंपर दैवात् पैर रखने से उनके पैर फिसल जाते थे। अपने चञ्चल आभरणों से कामदेव को मूर्तिमान् सा दिखला रहीं उन ललनाओं ने जीभर कर नाच किया। ब्राह्मणों ने वेदपाठ किया, वन्दियों ने स्तुतिपाठ किया और उन स्त्रियों ने गीत गाया ॥४०-४४॥

उनमें से जो आसव आदि मादकद्रव्य का सेवन करनेवाले द्विज से अतिरिक्त थे उन्होंने आसव आदि का पान किया किन्तु वस्त्र, आभूषण आदि से विभूषित भोजनार्थी विप्रों ने भोजनयोग्य विविध प्रकार के भक्ष्यों के वैचित्र्य से युक्त चार प्रकार का अन्न ग्रहण किया ॥४५॥

चूना आदि की पुताई से स्वच्छ गृहभित्तियाँ रामरूपी चन्द्रमा की देहकान्तिरूपी चाँदनी से तथा पुष्पोपहार, धूप, अन्य रंगों के लेप से खूब चमक उठीं ॥४६॥

राजा दशरथ के उत्सवरूपी यज्ञ में रंग विरंग के कपड़े पहने हुए तथा उत्तम उत्तम माला धारण किये हुए परिचर और परिचारिकाएँ, जिनके शरीर से मनोहर गन्ध गमक रही थी, इधर से उधर जा रही थीं ॥४७॥

देहयष्टिषु संयोज्य वनिता यक्षकर्दमम् ।
जग्मुस्ताण्डवनर्तक्यः शृङ्गारात्माङ्गणान्तरण ॥४८॥
दिति धनमुत्सवमेव सप्तरात्रम् ।
दशरथनृपतिः सदानभोग-
भवबहुलनिशावसानहर्षा-
श्रियमकरोत्पदमक्षयं समेतः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे महोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१४॥

ताण्डव नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ कपूर, अगरु, कस्तूरी और कंकोल मिर्च मिश्रित चन्दन लगाकर खूब सजाये गये राजसभा के दूसरे आंगन में गई ॥४८॥

महाराज दशरथ ने अविनाशी परमपद को प्राप्त बोधरूपी सूर्योदय हो जाने के कारण संसाररूपी कृष्णपक्ष की रात्रि का अन्त होने से उत्पन्न हर्ष से लगातार सात रात्रि तक महान् उत्सव मनाया, जिसमें दान, भोग और सजावट का भी बोलवाला था ॥४९॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में महोत्सव वर्णन नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१४॥

२१५

वाल्मीकिरुवाच

भरद्वाज महाबुद्धे मम शिष्याधिनायक ।
इति रामादयो ज्ञातज्ञेया निःशोकतां गताः ॥१॥
एतामेव दृशं कान्तामवष्टभ्य यथासुखम् ।
नीरागस्तिष्ठ निःशङ्को जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥२॥
धीरनस्यस्तसङ्गा हि रामादीनामिवाऽनघ ।
मनमोहनिमग्नाऽपि विमूढाऽपि न मुह्यति ॥३॥
एवमेते महासत्त्वा जीवन्मुक्तपदं गताः ।
राजपुत्रा राघवाद्या राजा दशरथादयः ॥४॥
त्वं च पुत्र भरद्वाज स्वयमेऽसि मुक्तधीः ।
सत्यं मुक्ततरोऽस्यद्य श्रुत्वेमां मोक्षसंहिताम् ॥५॥
मोक्षोपायानिमान्पुण्यान्प्रत्यक्षानुभवार्थदान् ।
बालोऽप्याकर्ण्य तज्ज्ञत्वं याति का त्वादृशे कथा ॥६॥

२१५

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे मेरे शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ ! हे महामते भरद्वाज ! श्रीरामचन्द्र आदि पूर्वोक्त रीति के अनुसार ज्ञातव्य परमतत्त्व को जानकर शोकरहित हुए ॥१॥

हे वत्स ! तुम भी इसी निर्दोष पूर्ण ब्रह्मात्म दृष्टि का दृढता से अवलम्ब कर सांसारिक सुखों से विरक्त सन्देहरहित जीवन्मुक्त शान्त बुद्धि सुख से रहो ॥२॥

हे पवित्रात्मा भरद्वाज ! जैसे श्रीरामचन्द्रजी को वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट ज्ञान दुःसङ्ग तथा विषयभोग की आसक्ति से रहित रहा अतएव वह ज्यों का त्यों रहा विकृत नहीं हुआ वैसे ही तुम्हारी बुद्धि भी दुःसङ्ग और विषयभोगासक्ति से शून्य रही तो घने अज्ञान में पड़ने पर भी तथा विमूढ होने पर भी वह नष्ट नहीं होगी यह मेरा उपदेश संसारनाशक ज्ञान दुष्टजनों की संगति से नष्ट न हो उसकी रक्षा करो ॥३॥

इसी प्रकार ये महामना दशरथ आदि राजा तथा रामचन्द्र आदि राजकुमार ने जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त किया ॥४॥

हे पुत्र भरद्वाज ! तुम स्वयं अपने विचार से ही रामचन्द्र आदि के समान पहले से ही जीवन्मुक्त हो। आज इस मोक्ष संहिता को सुनकर सचमुच मुक्तवर हो गये हो, क्योंकि जिस शङ्कारूपी पङ्क की संभावना थी, उसका भी इससे क्षालन हो गया ॥५॥

साक्षात् परब्रह्मानुभूति प्रदान कराने वाले परम पुण्य इन मोक्षोपायों को यदि बालक भी सुने; तो वह भी तत्त्वज्ञानी हो जाय, आप ऐसे मुख्य अधिकारी में ये फलोपधायक हैं, इसमें कहना ही क्या है, इसके श्रवण से आप तो अवश्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं अर्थात् इस शास्त्र का परम पुरुषार्थरूप फल दृष्ट है, अतः यह सकल शास्त्रों श्रेष्ठतम है और अभ्यास करने पर मन्द अधिकारियों को मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ देने में समर्थ है ॥६॥

यथा पदं पुण्यमनुप्रयाता
महानुभावा रघवो विशोकाः ।
वसिष्ठवाक्यप्रसरेण साधो
गन्तव्यमाद्यं पदमेवमेव ॥७॥

सतां नयेनोत्तमसेवया च
प्रश्नेन चोदारकथागतेन ।
विन्दति वेद्यं सुधियोऽप्रमत्ता
वसिष्ठसङ्गाविव राघवाद्याः ॥८॥

तृष्णावरत्रादृढबन्धबद्धा
ये ग्रन्थयोऽज्ञस्य हृदि प्ररूढाः ।
सं हि ते मोक्षकथाविचारा-
द्बाला ह्यबाला इव यान्त्यभेदम् ॥९॥

हे साधो ! तुम्हें भी नित्यसिद्ध ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्त-पद को वैसे ही प्राप्त होना चाहिये तथा शोकरहित होना चाहिये जैसे श्रीवसिष्ठजी के उपदेशवचनों के हृदय में प्रसार से सकल सन्देहों के साथ अज्ञान का विनाश होने के कारण महानुभाव राम आदि रघुवंशी परम पवित्रतम जीवन्मुक्तिपद को प्राप्त हो शोकविहीन हो गये ॥७॥

जैसे श्रीवसिष्ठजी की सत्संगति से श्रीरामचन्द्र आदि को ज्ञात हुआ वैसे ही सन्त महात्मावों की शिक्षा से, लोभ, आलस्य, निद्रा आदि से रहित समीचीन सप्रेम निरन्तर सेवा से तथा बोधोपायभूत कथाओं से भरे हुए उनके सदुपदेश से सावधान सन्मति अधिकारियों को ज्ञातव्य आत्मतत्त्व वैसे ही ज्ञात हो जाता है अर्थात् नित्य-सिद्ध ब्रह्मात्मभावरूप जीवन्मुक्तपद की प्राप्ति के लिये और लोगों को भी सत्संगति, सत्सेवा, सन्तों से पूछना आदि उपाय का आश्रय करना चाहिये ॥८॥

तृष्णारूपी चमड़े की रस्सी से कसकर बंधी हुई अज्ञानी के हृदय में जगी हुई देह, इन्द्रिय आदि में तादात्म्याध्यासरूप ग्रन्थियाँ, गृह, पुत्र, कलत्र आदि में ममता ग्रहरूप ग्रन्थियाँ तथा सब प्राणियों में एकात्मता के अनुभव से अभेद न होने के कारण द्वेष आदि की साधनभूत ग्रन्थियां इस मोक्षशास्त्र की कथाओं के विचार विमर्श से जैसे नवोढा स्त्रियाँ पहले बाल्यावस्थावश खेलकूद में चित्त रहने तथा रसानभिज्ञ होने के कारण पति के विषय में विशेष दिलचस्पी नहीं रखतीं लेकिन समय पाकर प्रौढ़ होने पर पति के साथ हिलमिल जाती हैं वैसे ही सब भूतों में अभेद को प्राप्त हो जाती हैं ॥९॥

मोक्षाभ्युपायात्सुमहानुभावात्
ज्ञास्यन्ति ये तत्त्वविदां वरिष्ठाः ।
पुनः समेष्यन्ति न संसृतिं ते
कोऽर्थः सुताऽन्येन बहूदितेन ॥१०॥

बहुश्रुताग्रे प्रविचार्य सम्य-
क्प्रबोधितार्थे कथया जनाय ।
सन्तो वदिष्यन्ति पुनः शिशुत्वं
नते प्रयास्यन्ति किमन्यवाक्यैः ॥११॥

ये वाचयिष्यन्त्यनपेक्षितार्था
ये लेखयिष्यन्ति च पुस्तकं वा ।
ये कारयिष्यन्त्यपि वाचकं वा
व्याख्यातृयुक्तं शुभमार्यदेशे ॥१२॥

हे पुत्रतुल्य कृपाभाजन भरद्वाज ! ये मुक्ति के उपाय मन्द अधिकारी पुरुष भी यदि इनका श्रवणाभ्यास करें तो उनके भी अज्ञानान्धकार को हटाने की सामर्थ्य रखते हैं ऐसे महामहिमशाली इन मोक्षोपायों को गुरुमुख से अधिकारी के सुनने पर श्रेष्ठ पुरुष तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठतम होकर फिर भवचक्र में कदापि नहीं पड़ेंगे। यह मेरी संक्षिप्त रहस्य उक्ति है, इसके अतिरिक्त अधिक कथन से क्या प्रयोजन है ॥१०॥

जो सन्त पुरुष इस ग्रन्थ को बहुश्रुत गुरुजनों के सामने स्वयं भलीभाँति विचार कर उनसे संवाद से जब यह ग्रन्थ भलीभाँति ज्ञात हो जाय तब पीछे स्वयं भी सुनने की इच्छा करने वाले लोगों को सम्प्रदायानुसार कहेंगे, उपदेश देंगे, तो वे मूर्खता अथवा पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करेंगे—अवश्य ही तत्त्वज्ञानरूप फल को प्राप्त होंगे। संप्रदाय के अनुसार न जाने गये वचनों के श्रवण अथवा दूसरों को श्रवण कराने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उपदेश देने वाले भी गुरुमुख से विचार कर ही सम्प्रदायतः अर्थ को भली-भाँति जानकर औरों को सुनावें, उपदेश दें, तो उन्हें बोधरूप फल की प्राप्ति हो सकती है औरों को नहीं हो सकती ॥११॥

जो व्युत्पत्ति न होने के कारण अर्थ के अनुसन्धान के के बिना तथा पारायण की दक्षिणा द्रव्य की अपेक्षा न कर निर्लोभ होकर पारायण करायेंगे अथवा जो पुस्तक लिखायेंगे, जो उत्तम तीर्थक्षेत्र में वृत्ति बाँधकर व्याख्या करनेवाले पुरुष के साथ वाचक को नियुक्त करेंगे या केवल ही वाचक को नियुक्त करेंगे वे यदि सकाम होकर ये सब काम करेंगे तो राजसूय यज्ञ के फल से सम्पन्न

ते राजसूयस्य फलेन युक्ता
मुहुर्मुहुः स्वर्गमुदारसत्वाः ।
मोक्षं प्रयास्यन्ति तृतीयजन्म-
लाभेन लक्ष्मीमिव पुण्यवन्तः ॥१३॥

इमां पुरा मोक्षमयीं विचार्य
सुसंहितां सद्वचनाद्विरिञ्चः ।
प्रत्युक्तवानेतदचिन्त्यरूपो
भवन्त्यसत्याश्च न तस्य वाचः ॥१४॥

मोक्षाभ्युपायाख्यकथाप्रबन्धे
याते समाप्तिं सुधिया प्रयत्नात् ।
सुवेश्म दत्त्वाऽभिमतान्नपान-
दानेन विप्राः परिपूजनीयाः ॥१५॥

देयं च तेभ्यः खलु दक्षिणादि
चित्तेप्सितं स्वस्य धनस्य शक्त्या ।
मत्वाऽनुरूपं कृतमेव सङ्ग-
पुण्यं यथाशास्त्रमुपैत्यसौ तत् ॥१६॥

एतत्ते कथितं कथाक्रमशतैर्बोधाय बुद्धेर्बृंह-
च्छास्त्रं बृंहितब्रह्मतत्त्वममल दृष्टान्तयुक्त्याऽञ्चितम् ।
श्रुत्वैतच्चिरनिर्वृतिं भज भृशं जीवद्विमुक्ताशयो
लक्ष्मीं ज्ञानतपःक्रियाक्रमयुतां भुक्त्वाऽक्षयामक्षयः ॥१७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ग्रन्थप्रशंसातद्वाचनादिविधिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१५॥

होकर बार-बार स्वर्ग जायेंगे यदि निष्काम होकर यह कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्‌गुरु के मुखारविन्द से सत् शास्त्र का श्रवण प्राप्त कर वैसे ही तीसरे जन्म में मोक्ष को प्राप्त होंगे जैसे कि पुण्यवान् पुरुष तीसरे जन्म में लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं। अब अर्थबोध के बिना ही ग्रन्थ के पारायण का, ग्रन्थ लेखन तथा वाचक को वृत्ति देकर व्याख्यान कराने का फल कहा है ॥१२,१३॥

पुराने समय में अचिन्त्यस्वरूपी ब्रह्मा ने मेरे द्वारा विरचित इस मोक्षमयी संहिता को मुनियों की सभा में आद्योपान्त स्वयं देखकर यह वचन सबके प्रति कहा कि सत्यवक्ता वाल्मीकिजी, वसिष्ठजी तथा मेरे वचन असत्य कदापि नहीं हो सकते तथा पूर्व रामायण में मुझे उन्होंने वरदान दिया था कि 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' इस काव्य में तुम्हारी वाणी थोड़ा असत्य न होगी। श्लोक में स्थित 'च' इसको सूचित करता है ॥१४॥

बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्षोपायरूप इस कथाप्रबन्ध की समाप्ति होनेपर प्रयत्नतः वक्ता को सुन्दर भवन देकर अभीमत अन्न, पान, दान द्वारा ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिये अर्थात् इस शास्त्र की समाप्ति होने पर गृह, अन्न, धन आदि का दान ब्राह्मणों को अवश्य देना चाहिये ॥१५॥

दान आदि का कर्ता पुरुष शास्त्रानुसार स्वकृत पुण्य को उसके अनुरूप फलरूप से अवश्य प्राप्त होता है ऐसा समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अभीष्ट दक्षिणा आदि देनी चाहिये ॥१६॥

हे भरद्वाज! तुम्हारी बुद्धि को बोध कराने के लिये सैकड़ों कथाक्रमों से विशालकलेवर यह शास्त्र, जिसमें ब्रह्मतत्त्व का विस्तार से वर्णन है तथा जो दृष्टान्त युक्तियों से सुशोभित है, मैंने तुमसे कहा। इसका श्रवणकर जीतेजी ही विमुक्ताशय हो लोकानुग्रह के लिये ज्ञान, तपस्या और कर्मफल से युक्त प्रारब्ध भोग के सत्कर्मों की फलरूप योग, ज्ञानसिद्धि और ऐश्वर्य की अक्षय शोभा को भोगकर पूर्णरूप से चिरविश्रान्ति को प्राप्त होओ ॥१७॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकिय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध में ग्रन्थ प्रशंसा एवं वाचनादि विधि नामक कुसुमलता अनुवाद का दो सौ पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१५॥

२१६

वाल्मीकिरुवाच

एतत्ते कथितं राजन्कुम्भयोनेः सुभाषितम् ।
अमुना तत्त्वमार्गेण तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥१॥

राजोवाच

भगवन्भतो दृष्टिर्भवबन्धविनाशनी ।
आलोकितो यया चाऽहमुत्तीर्णोऽस्मि भवाम्बुधेः ॥२॥

देवदूत उवाच

इत्युक्त्वाऽसौ ततो राजा विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
उवाच वचनं मां तु मधुरं श्लक्ष्णया गिरा ॥३॥

राजोवाच

देवदूत नमस्तुभ्यं कुशलं चाऽस्तु ते विभो ।
सतां साप्तपदं मैत्रमित्युक्तं तत्त्वया कृतम् ॥४॥

इदानीं गच्छ भद्रं ते देवराजनिवेशनम् ।
अनेन श्रवणेनाऽहं निर्वृतो मुदितोऽपि च ॥५॥

श्रुतार्थं चिन्तयन्नत्र स्थास्यामि विगतज्वरः ।
इत्युक्तोऽहं ततो भद्रे परं विस्मयमागतः ॥६॥

न श्रुतं पूर्वमेवैतज्ज्ञानसारं श्रुतं मया ।
तेनैव मुदितश्चाऽन्तः पीतामृत इवाऽधुना ॥७॥

ततो वाल्मीकिमापृच्छ्य आगतोऽस्मि त्वदन्तिके ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं त्वया पृष्टं ममाऽनघे ।
इतः परं गमिष्यामि शक्रस्य सदनं प्रति ॥८॥

अप्सरा उवाच

नमोऽस्तु ते महाभाग देवदूत त्वया मम ।
श्रावितादर्थविज्ञानात्परां निर्वृतिमागता ॥९॥

कृतार्थावीतशोकाऽस्मिस्थास्यामि विगतज्वरा ।
इदानीं गच्छ भद्रं ते यथेच्छं शक्रसंनिधौ ॥१०॥

२१६

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा—हे राजन् ! वसिष्ठजी का राम आदि के प्रति तथा अगस्त्यजी का सुतीक्ष्ण आदि के प्रति यह सदुपदेश मैंने आप से कहा। इस ग्रन्थरूप तत्त्वमार्ग से उस परम पद को आप अवश्य प्राप्त करें ॥१॥

राजा ने कहा—हे भगवन् ! आपकी जो कृपादृष्टि वह भवरूपी बन्धन का विनाश करनेवाली है, इसलिये उस कृपामयी दृष्टि से मैं भवसागर से पार हो गया हूँ ॥२॥

देवदूत ने कहा—तदनन्तर ऐसा कहकर राजा के नेत्र आश्चर्य से विकसित हो गये। उसने मुझसे मृदु स्वर से मधुर वचन कहा ॥३॥

राजा ने कहा—हे देवदूत ! तुम्हारे लिये नमस्कार है, हे प्रभो ! तुम्हारा कल्याण हो, सज्जन पुरुषों की मैत्री सात कदम साथ चलने से हो जाती है ऐसा सज्जनों का कथन है, उसको आपने सत्य कर डाला है ॥४॥

अब आप देवराज के प्रासाद को जाइये, आपका भला हो। इस मोक्षशास्त्र-कथा के श्रवण से सब तापों की निवृत्ति हो जाने के कारण मैं आनन्दमग्न हो गया हूँ निरतिशय हर्ष निर्भर हो गया हूँ ॥५॥

सब प्रकार के तापों से रहित मैं मुनिजी के मुख से सुने गये अर्थ का चिन्तन कर यहीं पर रहूँगा। राजा के इस प्रकार कहने पर [उसके विनय सौजन्य आदि गुणों से मैं अत्यन्त आश्चर्य]में पड़ गया, अर्थात् सत्सङ्ग के कारण श्रवणलाभ होने से मैं भी कृतकृत्य हो गया हूँ ॥६॥

पहले कभी भी मुझे यह ज्ञानशास्त्र सुनने को नहीं मिला था अपूर्व ही यह ज्ञानसार सत्संगवश मुझे सुनने को मिला है। इसी से मेरा अन्तःकरण अत्यन्त प्रसन्न है। मैं इस समय अमृत छककर पिया हो उस पुरुष के समान परितृप्त हो गया हूँ ॥७॥

हे पापरहित ! अनन्तर वाल्मीकिजी से आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे निकट तुम्हें उपदेश देने के लिए आया हूँ। तुमने जो मुझसे पूछा था वह सब मैं तुमसे कह चुका हूँ। अब मुझे आज्ञा दो देवराज इन्द्र के प्रासाद की ओर मैं जाऊँगा ॥८॥

अप्सरा ने कहा—हे महाभाग्यशाली देवदूत ! तुम्हारे लिए नमस्कार है, तुम्हारे द्वारा सुनाये गये इस अध्यात्म शास्त्र से मैं परम सुखविश्रान्ति को प्राप्त हो गई हूँ, मुझमें दुःख-क्लेश का नाम-निशान नहीं रह गया है, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ताप मुझसे कोसों दूर भाग गये हैं। हे देवदूत ! अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्र के समीप जाओ। तुम्हारा भला हो ॥९, १०॥

अग्निवेश्य उवाच

ततः सा सुरुचिः श्रेष्ठा तमेवार्थमचिन्तयत् ।
स्थिता सा हिमवत्पृष्ठे समीपे गन्धमादने ॥११॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पुत्र वसिष्ठस्योपदेशनम् ।
तत्सर्वमवधार्याऽथ यथेच्छसि तथा कुरु ॥१२॥

कारुण्य उवाच

स्मृतिर्वाग्दृष्टिसत्ता च स्वप्ने वन्ध्यासुतेऽजले ।
मरीचिका यथा तद्वज्ज्ञानात्सांसारिकी स्थितिः ॥१३॥
मम नाऽस्ति कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ॥१४॥

अगस्तिरुवाच

इत्युक्त्वा नाम कारुण्य अग्निवेश्यसुतः कृती ।
प्राप्तकर्मा यथान्यायं काले काले ह्युपाहरत् ॥१५॥

संदेहोऽत्र न कर्तव्यः सुतीक्ष्ण ज्ञानकर्मणि ।
संशयाद्भ्रश्यते स्वार्थात्संशयात्मा विनश्यति ॥१६॥
एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यमनेकार्थैक्यबोधनम् ।
नमस्कृत्य गुरुं प्राह अन्तिके विनयान्वितः ॥१७॥

सुतीक्ष्ण उवाच

नष्टमज्ञानतत्कार्यं प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।
साक्षिणि स्फुरिताभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ॥१८॥
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दमूर्तयः ।
काटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥१९॥
पयसीव तरङ्गाली यस्मात्स्फुरति दृश्यभूः ।
तदेवेदं जगत्सर्वं पूर्णं पूर्णं व्यवस्थितम् ॥२०॥
यथाप्राप्तोऽनुवर्तामि को लङ्घयति सद्वचः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन ज्ञातज्ञेयोऽस्मि संस्थितः ॥२१॥

अग्निवेश्य ने कहा—हे वत्स ! तदुपरान्त वह सुरुचि नाम की अप्सरा गन्धमादन के समीप हिमालय के शिखर पर बैठकर देवदूत द्वारा उपदिष्ट उसी ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थ का चिन्तन करने लगी ॥११॥

हे पुत्र ! क्या तुमने श्रीवसिष्ठजी का उपदेश स्वरूप यह शास्त्र सुन मोक्ष का साधन कर्म है अथवा ज्ञान है ? ऐसा तुम्हारा जो सन्देह था, उसका मूलभूत अज्ञान के विनाश से उच्छेद हो गया। अब जैसा तुम चाहो वैसा करो ॥१२॥

कारुण्य ने कहा—हे भगवन् ! जैसे स्वप्न में प्रतीत वन्ध्यापुत्र के विषय में निर्विषय होते हैं वैसे ही इस समय तत्त्वज्ञान होने से अतीत, अनागत और दूरवर्ती विषयों में मेरी स्मृति, वाणी का व्यवहार तथा वर्तमान विषय में प्रत्यक्ष निर्विषय हो गये हैं जैसे निर्जल मरुभूमि में मरीचिका की स्थिति होती है वैसे ही मेरी सारी सांसारिकी स्थिति की गति हो गई है। किसी भी विषय में मेरा अब कुछ सन्देह शेष नहीं रह गया है। अब मेरा इस संसार में न तो कर्म से कुछ प्रयोजन है और न ज्ञान से कोई प्रयोजन है, क्योंकि मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ। फिर भी मैं लोक शिक्षा के लिए श्रीरामचन्द्र आदि के समान ही यथाप्राप्त वर्ण और आश्रम के अनुकूल व्यवहार करता रहूँगा जबर्दस्ती कर्म त्याग में कौन आग्रह है ॥१३, १४॥

अगस्ति ने कहा—हे सुतीक्ष्ण ! कृतकृत्य अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य ने यह कहकर विवाह द्वारा कर्माधिकारी बनकर यथोचित समय में शास्त्रानुसार वर्णाश्रमोचित स्नान, दान, अग्निहोत्र, अतिथिपूजन आदि कर्म किया ॥१५॥

हे सुतीक्ष्ण ! ज्ञान के पश्चात् कर्मानुष्ठान के विषय में कर्म बन्धन का हेतु होगा, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशयवश जीव परमपुरुषार्थरूप स्वार्थ से च्युत हो जाता है, संशयात्मा विनष्ट हो जाता है, ऐसा वृद्धों का अनुशासन है ॥१६॥

संशय विषय विरुद्ध अनेक कोटिरूप सांसारिक पदार्थों का पारमार्थिक ब्रह्मतत्त्वरूप से सकल विरोधों के त्याग से एकता बोधनरूप मुनि अगस्त्यजी का यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण ने समीप में गुरुजी को अत्यन्त विनय से नमस्कार कर गुरुजी से कहा ॥१७॥

सुतीक्ष्ण ने कहा—हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया है। मुझे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान प्राप्त हो गया है। जिस सबके साक्षी परमात्मा के स्वयंज्योति होने के कारण नित्य स्फुरित और निष्क्रियरूप से स्थित होने-पर सब स्पन्दमूर्तियाँ (सचेष्ट मूर्तियाँ) तथा लौकिक और वैदिक क्रियाएँ वैसे ही होती हैं, जैसे नाट्यशाला में दीप के रहनेपर उसके प्रकाश के सहारे नट, नर्तक आदि की नाचकूद, अभिनय आदि क्रियाएँ होती हैं एवं जैसे सुवर्ण ही कड़ा, बाजूबद, केयूर और नूपुरों के रूप में स्फुरित होता है तथा जैसे जल में लहरें स्फुरित होती हैं वैसे ही जिससे यह दृश्य स्फुरित होता है, यह सारा

कृतार्थोऽहं नमस्तेऽस्तु दण्डवत्पतितो भुवि ।
गुरोरुत्तीर्णता केन शिष्याणामस्ति कर्मणा ॥२२॥

कायवाङ्मनसा तस्माच्छिष्यैरात्मनिवेदनम् ।
गुरोरुत्तीर्णता सैव नाऽन्या केनाऽपि कर्मणा ॥२३॥

स्वामिस्तव प्रसादेन उत्तीर्णोऽहं भवाम्बुधेः ।
आपूरितजगज्जालं स्थितोऽस्मि गतसंशयः ॥२४॥

यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् ।
श्रुत्वा हृद्युदीयते साम्नि तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥२५॥

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्मः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे
बालकाण्डे द्वात्रिंशच्छतसाहस्र्यां संहितायां षोडशाधिकद्विशततमः सर्गः ॥२१६॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

जगत् वही है उसमें पूर्णरूप से व्यवस्थित है, उससे रञ्चभर भी पृथक् नहीं है । ऐसा विचारकर जिस आश्रम में जो व्यवहार जैसा प्राप्त है उस व्यवहार का अनुवर्तन (अनुसरण) करता हूँ, सन्तों के वचन का कौन उल्लङ्घन कर सकता है । हे भगवन् ! आपके असीम अनुग्रह से मैं ज्ञातव्य तत्त्व का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त कर चुका हूँ ॥१८-२१॥

हे गुरुवर ! मैं कृतार्थ हो गया आपके सन्मुख भूमि में दण्डवत् पड़ा हूँ । शिष्य गुरु के ऋण से किस प्रत्युपकार द्वारा ऋण रहित हो सकते हैं ? अर्थात् किसी से भी नहीं हो सकते, इसलिए शिष्यों को चाहिये मन, वचन और कर्म से गुरु के सन्मुख आत्मसमर्पण कर दें । वही उनका गुरु के उपकार से निस्तार है । अन्य किसी भी कर्म से गुरुजी के उपकार से निस्तार नहीं हो सकता इस समय गुरु द्वारा किये गये परमपुरुषार्थ देनेवाले ज्ञान के प्रदानरूप परम उपकार का जगत् में प्रत्युपकार न देखकर उनके चरणों में साष्टाङ्ग नमस्कार कर अपने को यावज्जीवन उनकी दासता के लिए समर्पित करते हैं ॥२२,२३॥

हे भगवन् ! आपके असीम अनुग्रह से निस्सन्देह हो मैं भवसागर से पार होकर पूर्णानन्दरूप से सम्पूर्ण जगज्जाल को व्याप्तकर स्थित हूं इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२४॥

जो ब्रह्म सामवेद में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला' इस श्रुति द्वारा अधिकारी पुरुषों के लिए हाथ में रक्खे आंवले के समान प्रत्यक्षरूप से परमतात्पर्यतया उपदिष्ट है उस रूप से अवशिष्ट प्रत्यक् चिदानन्दघन परमात्मा के लिए नमस्कार है । यह ग्रन्थ सकल उपनिषदों के सारभूत उनके अर्थों का उपबृंहणरूप है अतः इसका मुमुक्षु व्यक्ति समादर यह सूचित करते हुए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'—अर्थात यह सारा जगत् ब्रह्म से उत्पन्न ब्रह्म में लीन और ब्रह्म में स्थित होने के कारण ब्रह्म ही है शान्त होकर उपासना करनी चाहिये—इस प्रकार छान्दोग्योपनिषत् में प्रदर्शित स्पष्ट उपाय सहित ज्ञान से ज्ञात सर्वात्मक सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का अनुसन्धान कर अन्त में मङ्गल के लिए नमस्कार करते हैं ॥२५॥

ज्ञानोपदेश द्वारा परमसुखदायक, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से रहित, आकाश के समान स्वच्छ 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्तमहावाक्यों के लक्ष्यार्थरूप, एक, निर्मल, निश्चल, सकल बुद्धिवृत्तियों के साक्षी, भावातीत, त्रिगुणरहित, ब्रह्मानन्दरूप श्रीवसिष्ठजी को हम नमस्कार करते हैं ॥२६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में देवदूतोक्त मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में उत्तरार्द्ध में बालकाण्ड में द्वात्रिंशत् सहस्र संहिता में कुसुमलता अनुवाद का दो सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१६॥

॥ ग्रन्थ समाप्त ॥

